भारत का इतिहास

(152[illegible]–1967)



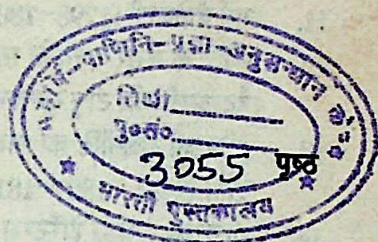
एल. पी. शर्मा

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक का मूल उद्देश्य बी.ए. (पास तथा ऑनर्स) और आधार के रूप में एम.ए. के मुगल काल एवं आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए हिन्दी में पाठ्य-पुस्तक उपलब्ध कराना है। संक्षेप में, इसमें भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और संवैधानिक विकास का विवरण भी उपलब्ध है। पुस्तक की रचना में मौलिकता का दावा नहीं किया जा सकता; मैंने अंग्रेजी में उपलब्ध विभिन्न श्रेष्ठ पुस्तकों से ही सामग्री प्राप्त की है परन्तु भाषा, विषयों का चुनाव, संकलन तथा प्रस्तुतीकरण स्वयं मेरा अपना है; और मैंने प्रयत्न किया है कि यह सरल, रुचिकर और पर्याप्त हो तथा अनावश्यक विस्तृत विवरणों से भी मुक्त हो।

पुस्तक में अनेक कमियाँ हो सकती हैं। इनके विषय में जो मेरे साथी और गुरुजन मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे, उनका मैं विशेष आभारी हूंगा।

—एल.पी. शर्मा



विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

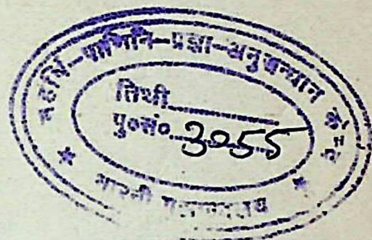
भाग 1

1. बाबर (1526-1530 ई.) 3
2. हुमायूँ (1530-1556 ई.) 21
3. शेरशाह सूरी और उसके उत्तराधिकारी (1540-1555 ई.) 34
4. अकबर महान (1556-1605 ई.) 60
5. जहाँगीर (1605-1627 ई.) 82
6. शाहजहाँ (1627-1658 ई.) 104
7. औरंगजेब (1658-1707 ई.) 129
8. मराठा-शक्ति का उत्कर्ष (1627-1707 ई.) 166
9. मुगल-साम्राज्य का विघटन (1707-1740 ई.) 192
10. मराठा शक्ति का विस्तार और प्रथम तीन पेशवा (1707-1761 ई.) 209
11. मुगल-बादशाहों की विभिन्न महत्वपूर्ण नीतियाँ 220
12. मुगल शासन-व्यवस्था 260
13. मुगल सभ्यता और संस्कृति 287
14. 18वीं सदी में भारत की स्थिति 322
15. मुगल-साम्राज्य की सफलताएँ एवं असफलताएँ 349

भाग 2

1. मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण 1
2. अठारहवीं सदी में भारतीय राज्य और समाज 11
3. मराठा-शक्ति का उत्कर्ष और विकास 20
4. यूरोपीय जातियों का भारत में प्रवेश 53
5. आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिस्पर्धा और कर्नाटक के तीन युद्ध 57
6. बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार : प्लासी और बक्सर का युद्ध 74
7. क्लाइव दुबारा बंगाल का गवर्नर (मई 1765-फरवरी 1767) 89
8. वारेन हेस्टिंग्स (1772-1785 ई.) 100
9. लॉर्ड कार्नवालिस (1786-1793 ई.) 120
10. हस्तक्षेप न करने अथवा शान्तिपूर्ण तटस्थता की नीति [सर जान शोर (1793-98 ई.) तथा उससे आगे] 131

अध्याय		पृष्ठ
11.	लार्ड वैलेजली (1798–1805 ई.)	134
12.	अंग्रेजों के मैसूर राज्य के साथ सम्बन्ध [हैदरअली और टीपू सुल्तान]	152
13.	यूरोप की राजनीति का भारत की विदेश–नीति पर प्रभाव [लार्ड मिण्टो : 1807–1813 ई.]	164
14.	मारक्वेस (लॉर्ड) हेस्टिंग्स (1813–1823 ई.)	167
15.	विलियम बैंटिंक (1828–1835 ई.)	184
16.	अंग्रेजों के बर्मा के साथ सम्बन्ध	190
17.	अंग्रेजों के सिखों के साथ सम्बन्ध	203
18.	सिन्ध की विजय	221
19.	आंग्ल–अफगान सम्बन्ध	226
20.	लॉर्ड डलहौजी (1848–1856 ई.)	242
21.	अवध के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध और अवध का अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया जाना	252
22.	भारतीय शक्तियों के विरुद्ध अंग्रेजों की सफलता के कारण	259
23.	1857 ई. का विद्रोह	263
24.	लॉर्ड लिटन और लॉर्ड रिपन	292
25.	लार्ड कर्जन (1899–1905 ई.)	299
26.	अंग्रेजी शासन का भारत की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव	309
27.	अंग्रेजी प्रशासन और आर्थिक नीतियाँ	316
28.	शिक्षा और प्रेस का विकास	336
29.	अंग्रेजों के भारतीय राज्यों से सम्बन्ध	347
30.	भारतीय पुनरुद्धार–आन्दोलन और उन्नीसवीं सदी के धार्मिक व सामाजिक आन्दोलन	357
31.	भारत का संवैधानिक विकास	384
32.	राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक आन्दोलन	403
33.	मुस्लिम साम्प्रदायिकता और भारत–विभाजन के कारण	433
34.	भारत में किसान और मजदूर आन्दोलन	444
35.	भारत में वामपंथी आन्दोलनों का विकास	450
36.	स्वाधीनता के बीस वर्ष (1947–1967 ई.)	453
परिशिष्ट	: 1. कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न और उनके उत्तर	473
	2. आधुनिक भारत के इतिहास की प्रमुख तिथियाँ	477
Suggested Readings		479

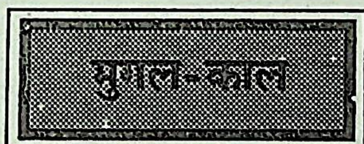


भाग 1

मध्यकालीन भारत

[मुगल–काल]




मुगल-काल

1

बाबर (1526-1530 ई.)

1175 ई. में मुहम्मद गोरी के प्रथम आक्रमण से लेकर 1526 ई. में मुगल-साम्राज्य की स्थापना तक विभिन्न मुसलमान शासकों ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों पर राज्य किया। उनमें से प्रत्येक का प्रयत्न अपने साम्राज्य का अधिक से अधिक विस्तार करना था। इस साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल भारत के हिन्दू-शासकों से ही युद्ध किये बल्कि आपस में भी युद्ध किये। तुर्क और अफगानों के विभिन्न राजवंश भारत की सत्ता के लिए निरंन्तर संघर्ष करते रहे और गुलाम (ममलूक), खलजी, तुगलक, सैयद तथा लोदी, आदि राजवंशों में निरन्तर परिवर्तन होते रहे। परन्तु उनमें से कोई भी न तो भारत की राजनीति को व्यवस्थित कर सका और न सम्पूर्ण भारत को जीतने में सफल हो सका। निस्सन्देह, मुसलमान शासकों ने न केवल उत्तर-भारत में ही अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की बल्कि दक्षिण-भारत में भी वह अपने राज्य स्थापित करने में सफल हुए। परन्तु वे न तो हिन्दू-शासकों को समाप्त करने में सफल हुए और न ही भारत को एकता और व्यवस्थित शासन प्रदान कर सके। उनके समय में एक बात अवश्य निश्चित हुई कि मुसलमान भारत में बस गये। इससे हिन्दू और मुसलमानों ने साथ रहना सीखा, दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित करना आरम्भ किया और प्रारम्भिक धार्मिक कटुता नष्ट होने लगी। परन्तु भारत की राजनीति में कोई परिवर्तन न आया।

इस कारण जिस समय बाबर ने भारत पर आक्रमण किया उस समय भारत की राजनीतिक अवस्था मुसलमानी आक्रमणों के आरम्भ के समय की भाँति ही दुर्बल और अस्थिर थी। इब्राहीम लोदी के समय में दिल्ली-सुल्तान का वैभव नष्टप्राय था और उसका साम्राज्य बहुत छोटा हो गया था। बिहार प्रायः स्वतन्त्र हो गया था और पंजाब का सूबेदार दौलतखाँ लोदी एक स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार कर रहा था। उत्तर-भारत में बंगाल, मालवा, गुजरात, सिन्ध, कश्मीर और खानदेश तथा दक्षिण-भारत में बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य थे। परन्तु इनमें से किसी की भी स्थिति दृढ़ और व्यवस्थित न थी। पारस्परिक संघर्ष, आन्तरिक विद्रोह, राजवंशों में परिवर्तन और राज्य की सीमाओं एवं राजनीति में परिवर्तन इनके लिए सामान्य बात थी। निस्सन्देह, राणा संग्रामसिंह के नेतृत्व में राजपूतों की शक्ति राजस्थान में श्रेष्ठ थी। वह दिल्ली, गुजरात और मालवा के शासकों के लिए भय का कारण बना हुआ था। दक्षिण-भारत में कृष्णदेवराय के नेतृत्व में विजयनगर का संगठित और शक्तिशाली राज्य था तथा उड़ीसा में भी हिन्दू-राज्य स्थापित था। परन्तु अपने-अपने क्षेत्र में शक्तिशाली होते हुए भी ये हिन्दू-राज्य भारत को राजनीतिक एकता और स्थिरता प्रदान करने में असफल थे।

आर्थिक दृष्टि से भारत बाबर के आक्रमण के समय में भी धनवान था। कृषि, व्यापार और उद्योगों की दृष्टि से भारत सम्पन्न था। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में समन्वय का समय आरम्भ हो चुका था। हिन्दू और मुसलमान, सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से, एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न आरम्भ कर चुके थे और एक-दूसरे के सामाजिक रीति-रिवाजों और धार्मिक विचारों को प्रभावित कर रहे थे। अनेक सन्त और धर्म-प्रचारकों ने हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था जिसने मुगलों के समय की धार्मिक सहनशीलता की भावना की आधारशिला का निर्माण किया। अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू भाषा का आरम्भ भी इस समय में हो चुका था। सूफी मत भी भारत में बढ़ रहा था और यह माना जाता है कि उस पर हिन्दू धर्म का प्रभाव परलक्षित होने लगा था।

[1]

मुगल-वंश

1526 ई. में बाबर ने भारत में जिस राजवंश की स्थापना की वह तुर्की नस्ल का चगताई-वंश था परन्तु आमतौर पर उसे 'मुगल' पुकारा गया है। मुगल-वंश भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। इस वंश ने भारत में एक बड़े साम्राज्य का निर्माण किया, भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र को राजनीतिक एकता प्रदान की और इसे एक श्रेष्ठ शासन प्रदान किया। इस वंश में बाबर से लेकर औरंगजेब तक एक से एक योग्य और प्रतिभाशाली शासक हुए जिन्होंने शासक के यश और सम्मान में वृद्धि की। मुगल बादशाहों ने 'खलीफा' के आधिपत्य को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया। वे सभी अपने आपको पूर्ण स्वतन्त्र 'बादशाह' मानते थे। मुगलों ने भारतीय युद्ध-प्रणाली में परिवर्तन किये तथा पहली बार तोपखाने और घुड़सवार-सेना के सन्तुलित प्रयोग की उपयोगिता को सिद्ध किया। मुगल-वंश की स्थापना के समय से भारत में धार्मिक उदारता की नीति आरम्भ हुई। मुगल-वंश के समय में भारत ने पुनः विदेशों से सम्पर्क स्थापित किया। भारत ने विदेशों और मुख्यतया उत्तर-पश्चिम के दूरस्थ देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। भारत के व्यापार, उद्योग और सम्पत्ति में भी वृद्धि हुई। इसका प्रभाव कला और साहित्य पर पड़ा। मुगल-काल में वास्तुकला, चित्रकला, नृत्यकला, संगीतकला आदि सभी कलाओं और फारसी, उर्दू, हिन्दी आदि विभिन्न भाषाओं के साहित्य की प्रगति हुई। इन सभी कारणों से मुगल-वंश वैभवपूर्ण रहा और उसने भारत के वैभव को बढ़ाने में सहायता दी। इस कारण भारत में मुगल-वंश और उसके साम्राज्य की स्थापना भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी।

[2]

बाबर का प्रारम्भिक जीवन

बाबर भारत में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। वह मुगल-वंश का प्रथम बादशाह था जिसने न केवल दिल्ली को अफगानों से छीनकर अपनी राजधानी बनाया बल्कि उसे मुगल-शक्ति का केन्द्र-स्थान भी बनाया। उसके पश्चात् के मुगल बादशाह यह कभी न भूल सके थे कि उनकी शक्ति का स्रोत और राज्य का केन्द्र दिल्ली था।

14 फरवरी, 1483 ई. को फरगना के एक छोटे से राज्य में जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर का जन्म हुआ। वह पितृ-वंश की ओर से तैमूर का पाँचवाँ वंशज और मातृ-वंश की ओर से चंगेजखाँ का चौदहवाँ वंशज था। इस प्रकार, मध्य-एशिया के ही नहीं बल्कि संसार में प्रसिद्ध दो महान विजेताओं का रक्त उसके शरीर में बहता था। उसके पिता का नाम उमर शेख मिर्जा था जो अपने छोटे राज्य से सन्तुष्ट न था और जिसने अपने रिश्तेदारों से सम्बन्ध खराब कर लिये थे। 1494 ई. में जबकि उसके साले अहमदखाँ और महमूदखाँ ने उसके राज्य पर आक्रमण किया हुआ था, उमर शेख मिर्जा की मृत्यु हो गयी। उसी वर्ष (1494 ई.) अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बाबर 11 वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। जिस समय से वह गद्दी पर बैठा उसी समय से उसकी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयीं। उसके राज्य पर दो शत्रुओं ने आक्रमण कर रखा था। परन्तु अपनी कूटनीति और दृढ़ता से उसने उन्हें वापस जाने के लिए विवश किया और वह अपनी गद्दी पर सुरक्षित रह सका। अगले दस वर्ष बाबर के लिए अत्यधिक कठिनाई के थे। सम्बन्धियों का विरोध और आन्तरिक षड्यन्त्र ही उसकी कठिनाई के कारण न थे बल्कि उसकी स्वयं की महत्वाकांक्षाएँ भी उसका कारण थीं। बाबर प्रारम्भ से ही अपने पूर्वज तिमूर की विजयों से प्रभावित था और उसकी राजधानी समरकन्द को प्राप्त करने के लिए लालायित था। समरकन्द को जीतने का उसका पहला प्रयत्न (1494 ई. में) असफल हुआ। 1497 ई. में उसने उसे पहली बार जीता परन्तु वह उसे केवल 100 दिन ही अपने अधिकार में रख सका। 1501 ई. में एक बार फिर उसने समरकन्द को जीता परन्तु इस बार भी उसे आठ महीने के पश्चात् उसको छोड़ना पड़ा। इस प्रकार दो बार जीतकर भी बाबर समरकन्द को अपने अधिकार में न रख सका। इसका मुख्य कारण अपने नेता शैबानीखाँ के नेतृत्व में उठती हुई उजबेग-जाति की शक्ति थी। शैबानीखाँ के नेतृत्व में उजबेगों ने प्रायः सम्पूर्ण मध्य-एशिया को अपने अधिकार में कर लिया। इस कारण बाबर मध्य-एशिया की राजनीति में सफलता न पा सका। बल्कि यह समय ऐसा था जबकि बाबर ने दो बार फरगना को खोया, अपनी राजधानी अन्दिजान को खोया और वह अनेक अवसरों पर इधर-उधर खोहों और घाटियों में अपने कुछ साथियों के साथ अथवा अकेला ही भटकता रहा। उसने स्वयं लिखा था : "मैंने रमजान का त्यौहार दो बार एक ही स्थान पर नहीं मनाया।"

1501 ई. में शैबानीखाँ से पराजित होकर जब बाबर इधर-उधर भटक रहा था, तभी अफगानिस्तान की अस्थिर और दुर्बल राजनीति ने उसे वहाँ हस्तक्षेप करने का अवसर प्रदान किया। उसी वर्ष काबुल के शासक और बाबर के चाचा उलुग बेग मिर्जा की मृत्यु हो गयी। उसके छोटे बेटे अब्दुर्रज्जाक को एक सरदार मुकीम आरगो ने सिंहासन से हटा दिया, उसकी बहन से विवाह कर लिया और पुराने सरदारों को उनके पदों से हटाकर अपने पक्ष के सरदारों को शक्ति प्रदान करने का प्रयत्न किया। इसका विरोध हुआ और अफगानिस्तान में अव्यवस्था फैल गयी। बाबर ने इसका लाभ उठाया और 1504 ई. में काबुल पर आक्रमण किया। बिना किसी महत्वपूर्ण विरोध के काबुल और गजनी पर बाबर का अधिकार हो गया तथा बाबर के अधिकार में एक बड़ा राज्य आ गया। काबुल में उसने अपनी शक्ति को संचित किया और सेना की संख्या में वृद्धि की। 1507 ई. में उसने 'बादशाह' की पदवी ग्रहण की।

काबुल का शासक होने के पश्चात् भी बाबर समरकन्द को जीतने की लालसा को समाप्त नहीं कर सका था। 1510 ई. में मर्व के युद्ध में ईरान के शाह इस्माइल से लड़ते

हुए अपने मुख्य शत्रु शैबानीखाँ उजबेग की पराजय और मृत्यु का समाचार उसे प्राप्त हुआ। बाबर ने एक बार फिर समरकन्द को जीतने का निर्णय किया। उसने शाह इस्माइल से सन्धि कर ली और उससे सहायता प्राप्त की। **1511 ई. में उसने एक बार फिर समरकन्द पर ही नहीं बल्कि बुखारा और खुरासान पर भी अधिकार कर लिया।** बाबर के अधिकार में ताशकन्द से लेकर काबुल तक का सम्पूर्ण मध्य-एशिया का विस्तृत साम्राज्य आ गया, परन्तु बाबर अधिक समय तक उस ऐश्वर्य का उपभोग न कर सका। शाह इस्माइल से उसके सम्बन्ध इसलिए खराब हो गये कि वह शिया मत का समर्थन बहुत अधिक नहीं कर सकता था और समरकन्द की सुन्नी प्रजा उससे इसलिए अप्रसन्न हो गयी कि उसका विचार बन गया कि बाबर कट्टर शियाओं के हाथ की कठपुतली बन गया था और अपने वंश तथा अपनी प्रजा के सम्मान और धर्म की रक्षा करने में असमर्थ था। उजबेगों ने इस परिस्थिति का लाभ उठाया। अपने नवीन नेता उबैदुल्लाखाँ के नेतृत्व में उजबेगों ने समरकन्द पर आक्रमण किया। बाबर ने शहर से बाहर निकलकर कुल-ए-मलिक नामक स्थान पर उनका मुकाबला किया। उसकी पराजय हुई और उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा। इस प्रकार **1512 ई. में समरकन्द पुनः बाबर के हाथ से निकल गया।** यही नहीं, इसके पश्चात् बदखशां को छोड़कर सम्पूर्ण मध्य-एशिया का साम्राज्य बाबर के हाथ से निकल गया। 1513 ई. में बाबर काबुल वापस आ गया।

[3]
बाबर की भारत-विजय

[अ] लोदी-सुल्तान से संघर्ष

1. आक्रमण अथवा पानीपत के प्रथम युद्ध के कारण—बाबर आरम्भ से ही महत्वाकांक्षी था। **एक बड़े साम्राज्य की स्थापना की लालसा उसे प्रारम्भ से ही थी।** उसने इसी आशय से समरकन्द और मध्य-एशिया को जीतने के निरन्तर प्रयत्न किये थे। **भारत-विजय उसकी इसी महत्वाकांक्षा का परिणाम थी।** 1503 ई. में उसने एक बुढ़िया से तिमूर के द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण की कहानी सुनी थी । उससे भी उसे भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

परन्तु, सम्भवतया, बाबर भारत पर आक्रमण करने की योजना न बनाता यदि उसे मध्य-एशिया की राजनीति में सफलता मिल जाती। **उत्तर-पश्चिम की ओर की असफलता ने उसे विश्वास दिला दिया कि यदि उसे साम्राज्य स्थापित करना है तो दक्षिण-पूर्व अर्थात् भारत की ओर बढ़ना होगा।** उत्तर-पश्चिम की राजनीति भी उसके इस प्रयत्न के अनुकूल थी। उस समय मध्य और पश्चिमी-एशिया में एक ऐसा शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया था जिसके कारण ईरानी या उजबेग काबुल पर आक्रमण करने की स्थिति में न थे। इसलिए बाबर भारत-विजय की योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए स्वतन्त्र था।

बाबर का चरित्र और क्षमता उसे भारत पर आक्रमण करने में सहायक थे। निरन्तर प्रयत्न करते रहना बाबर के जीवन का लक्ष्य था। उसने अपनी क्षमता और साधनों में वृद्धि की थी। अपने विरोधी तुर्क, मंगोल, उजबेग, ईरानी और अफगानों से युद्ध करते हुए उसने युद्ध के विभिन्न तरीके सीख लिये थे। उस्ताद अली और मुस्तफा नाम के तुर्की तोपचियों की सहायता से उसने एक बड़ा अच्छा तोपखाना तैयार कर लिया था जो भारत में

उसकी सफलता का एक मुख्य कारण बना। इस प्रकार, काबुल में रहते हुए बाबर ने उस क्षमता और साधनों को प्राप्त कर लिया था जिनके द्वारा वह अपनी साम्राज्य-विस्तार की लालसा की पूर्ति करने में समर्थ था।

भारत की सम्पत्ति बाबर की लालसा को बढ़ावा देने वाली थी। आर्थिक दृष्टि से भारत उस समय भी सम्पन्न था और बाबर को इसका ज्ञान था। यद्यपि धन की लालसा बाबर के आक्रमण का प्रमुख कारण न थी परन्तु सहायक कारण अवश्य थी क्योंकि वह उसके साथियों और सैनिकों को प्रेरणा प्रदान करने का साधन थी।

भारत की दुर्बल राजनीति ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने की प्रेरणा और अवसर प्रदान किया। भारत राजनीतिक दृष्टि से विभक्त था। दिल्ली और आगरा की शासन-सत्ता अफगानों के हाथों में थी। परन्तु दिल्ली का अफगान बादशाह इब्राहीम लोदी सम्पूर्ण भारत तो क्या उत्तर-भारत का भी बादशाह न था। बिहार में लोहानी-वंश के अफगान सरदार स्वतन्त्र होने का प्रयत्न कर रहे थे और पंजाब में दौलतखाँ लोदी एक प्रकार से स्वतन्त्र शासक के समान व्यवहार कर रहा था। इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी ने दिल्ली के सिंहासन पर दावा कर रखा था और दौलतखाँ लोदी के संरक्षण में रहकर दिल्ली को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। गुजरात, मालवा और बंगाल में भी अफ़ग़ान शासक थे परन्तु इनमें से प्रत्येक अपने-अपने स्वार्थों और राज्य-विस्तार की लालसा में लिप्त था। उत्तर-भारत में अफगान-शक्ति प्रमुख होते हुए भी छोटी-छोटी विरोधी शक्तियों में बँटकर दुर्बल हो चुकी थी। भारत के अफगान शासकों में एकत्र होकर किसी विदेशी शत्रु का मुकाबला करने की क्षमता न थी। लेनपूल ने लिखा है : "16वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत राज्यों का समूह मात्र था जो किसी भी आक्रमणकारी के द्वारा सरलता से जीता जा सकता था। सार्वभौमिक सत्ता के अभाव में देश में साधारण राजाओं का बोलबाला था और सुल्तान के आदेश का कोई सम्मान नहीं था।"

सिन्ध, कश्मीर, उड़ीसा और खानदेश उत्तर-भारत के अन्य स्वतन्त्र राज्य थे परन्तु उनमें से कोई भी शक्तिशाली न था। उत्तर-भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य राजस्थान में मेवाड़ का था। मेवाड़ के शासक राणा संग्रामसिंह (राणा साँगा) ने युद्ध, कौशल और कूटनीति से न केवल राजस्थान के समस्त राजपूत राजाओं को ही अपने साथ या अपनी अधीनता में कर रखा था बल्कि वह पड़ौस के गुजरात और मालवा के मुसलमान शासकों की शक्ति को दुर्बल करने के लिए भी प्रयत्नशील था। यही नहीं बल्कि उसकी महत्वाकांक्षा दिल्ली और आगरा को भी अपने अधिकार में करने की थी। परन्तु वह उस समय तक आन्तरिक संघर्षों से मुक्त नहीं हो सका था।

दक्षिण-भारत में शक्तिशाली विजयनगर-साम्राज्य था जो राजा कृष्णदेवराय के नेतृत्व में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। दक्षिण-भारत का मुसलमानी बहमनी-राज्य पाँच राज्यों में बँट चुका था। ये राज्य बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर थे। दक्षिण के ये मुस्लिम राज्य न केवल आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहते थे बल्कि इनका संघर्ष निरन्तर विजयनगर-राज्य से भी चलता रहता था। इस प्रकार, दक्षिण के राज्य अपने आन्तरिक संघर्षों में लगे हुए थे और उन्हें उत्तर-भारत की राजनीति की ओर ध्यान देने का अवसर न था।

इस प्रकार, भारत की राजनीति में उस समय एकता और स्थिरता का अभाव था। हिन्दू और मुसलमान, मुसलमान और मुसलमान तथा अफगान और अफगान एक-दूसरे के शत्रु हो रहे थे और इनमें से कोई भी ऐसा न था जो शक्ति या कौशल से एक बड़ा साम्राज्य स्थापित

करने में सफलता प्राप्त कर सका होता। निस्सन्देह, ऐसी स्थिति बाबर के आक्रमण के लिए सुअवसर था।

पंजाब के सूबेदार दौलतखाँ लोदी और इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रण दिया। सम्भवतया, बाबर के पंजाब में आ जाने के पश्चात् राणा संग्रामसिंह ने भी इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता देने का आश्वासन दिया।दौलतखाँ लोदी पंजाब में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता था और आलमखाँ लोदी दिल्ली का सुल्तान बनना चाहता था। इस कारण इन्होंने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर से सहायता माँगी। राणा संग्रामसिंह को इस आक्रमण से दिल्ली के अफगानों की शक्ति के समाप्त अथवा दुर्बल होने की आशा थी। बाबर और इब्राहीम लोदी में युद्ध होने पर दोनों में से एक समाप्त हो सकता था या दोनों दुर्बल हो सकते थे, और तब राणा संग्रामसिंह को दिल्ली को जीतने में सुविधा हो जाती। उनके आमन्त्रणों ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन दिया।

बाबर ने पहले पंजाब में प्रवेश करके भारतीय स्थिति को समझने का प्रयत्न किया। इसी कारण भारत पर उसने चार आक्रमण पहले किये और तब पाँचवें आक्रमण में उसने दिल्ली को जीतने का प्रयत्न किया जिसका परिणाम पानीपत का प्रथम युद्ध था।

पहले के चार आक्रमण—बाबर ने अपने प्रथम आक्रमण (1519 ई.) में सीमा के निकट के दो स्थानों—बाजौर और भेरा—को जीता और वापस चला गया। उसके वापस जाते ही ये स्थान मुगलों के हाथ से निकल गये। उसका दूसरा आक्रमण सितम्बर 1519 ई. में हुआ। परन्तु इस बार वह पेशावर से वापस चला गया। बाबर ने तीसरा आक्रमण 1520 ई. में किया। इस बार बाजौर और भेरा के अतिरिक्त उसने पंजाब में प्रवेश करके सियालकोट और सैयदपुर पर भी अधिकार किया। बाबर का चौथा आक्रमण 1524 ई. में हुआ। इस बार उसने पंजाब में प्रवेश किया। लाहौर और दिपालपुर को जीतकर उसने पंजाब के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया। वह दौलतखाँ लोदी से असन्तुष्ट हो गया था। इस कारण उसने उसके लड़के दिलावरखाँ और इब्राहीम लोदी के चाचा आलमखाँ लोदी को संरक्षण दिया और उन्हीं को मंजाब की देखरेख का उत्तरदायित्व सौंपकर वह वापस चला गया। उसके वापस जाते ही दौलतखाँ लोदी ने दिलावरखाँ और आलमखाँ को मार भगाया तथा पंजाब के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया।

2. पाँचवाँ आक्रमण और पानीपत का प्रथम युद्ध (21 अप्रैल, 1526 ई.)—नवम्बर 1525 ई. में बाबर भारत को जीतने के उद्देश्य से काबुल से चला। दौलतखाँ को शीघ्र ही आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसे बन्दी बनाकर भेरा नगर भेज दिया गया परन्तु मार्ग में उसकी मृत्यु हो गयी। आलमखाँ भी शीघ्र बाबर की शरण में चला गया। बाबर दिल्ली की ओर बढ़ा। इब्राहीम लोदी उसका मुकाबला करने के लिए पंजाब की ओर बढ़ा। दोनों की सेनाएँ पानीपत के मैदान में एक-दूसरे के सम्मुख पहुँच गयीं। बाबर ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि उसने केवल 12,000 सैनिकों की सहायता से इब्राहीम लोदी को परास्त किया। इतिहासकार रशब्रुक विलियम्स ने उसकी सेना की संख्या को केवल 8,000 बताया है। परन्तु सम्भवतया बाबर की सेना की यह संख्या उस समय होगी जबकि वह भारत पर आक्रमण करने के लिए चला था। डॉ. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि पंजाब को जीतने के बाद बाबर की सेना की संख्या में वृद्धि हो गयी थी और युद्ध के अवसर पर उसकी संख्या 25,000 के लगभग होगी। उसी प्रकार इब्राहीम लोदी की सेना में 1,000 हाथी और 1,00,000 सैनिक बताये जाते हैं परन्तु, सम्भवतया, उसके सैनिकों की

वास्तविक संख्या लगभग 40,000 होगी। दोनों पक्षों की वास्तविक संख्या कुछ भी हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इब्राहीम लोदी की सेना की संख्या बाबर की सेना की संख्या से अधिक थी। एक सप्ताह तक दोनों पक्षों की सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। उसके बाद छुटपुट युद्ध भी हुए। परन्तु वास्तविक युद्ध का आरम्भ 21 अप्रैल, 1526 को प्रातःकाल से हुआ और दोपहर तक उसका निर्णय हो गया। **युद्ध में बाबर की विजय हुई, इब्राहीम लोदी मारा गया और अफगान सेना नष्ट हो गयी।**

3. बाबर की सफलता के कारण—बाबर का तोपखाना, उसकी युद्ध-नीति, मुख्यतया 'तुलगमा युद्ध-नीति' का प्रयोग और उसकी सेनापति की योग्यता उसकी विजय के मुख्य कारण थे। बाबर के पास एक अच्छा तोपखाना और बन्दूकें थीं जबकि इब्राहीम लोदी के पास उनका सर्वथा अभाव था। बाबर ने अपनी सेना की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की थी और अपने तुलगमा-घुड़सवारों का प्रयोग समय पर और ठीक ढंग से किया था, जबकि इब्राहीम लोदी के युद्ध करने का तरीका पुराना था। इब्राहीम लोदी की सेना के हाथी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुए क्योंकि उन्हें तोपों और गोला-बारूद के सामने युद्ध करने की शिक्षा नहीं थी। उनसे घबड़ाकर उन्होंने स्वयं अपनी ही सेना का नाश किया। बाबर के सैनिक इब्राहीम के सैनिकों की तुलना में अधिक अनुशासित और युद्ध-प्रशिक्षित थे। बाबर की सेना और उसके सरदार उचित संगठन, योग्य नेतृत्व और विजय की लालसा के कारण अधिक उत्साहित थे, जबकि इब्राहीम की सेना में एकता और उत्साह का अभाव था। यही नहीं बल्कि उसके अनेक सरदार क्षुब्ध और असंतोष की भावना से त्रस्त थे। इस कारण व्यक्तिगत साहस और शौर्य के होते हुए भी इब्राहीम के सैनिक बाबर के सैनिकों की तुलना में दुर्बल थे। इब्राहीम एक कुशल सेनापति न था। बाबर ने उसके बारे में लिखा था : "वह एक अनुभवहीन जवान आदमी था जो अपनी गतिविधियों के प्रति लापरवाह था, जो बिना किसी व्यवस्था के आगे बढ़ता था, बिना किसी कारण के रुकता अथवा लौटता था, और जो बिना दूरदर्शिता के लड़ जाता था।" इब्राहीम की तुलना में बाबर एक बहुत योग्य और अनुभवी सेनापति था। विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए उसने न केवल अपने साहस में ही वृद्धि की थी बल्कि अपने युद्ध-कौशल को भी बढ़ाया था। उसके सैनिक उसकी योग्यता और सैन्य-संचालन में विश्वास करते थे।

4. युद्ध के परिणाम—पानीपत के युद्ध ने भारत के भाग्य का तो नहीं किन्तु लोदी-वंश के भाग्य का निर्णय अवश्य कर दिया। अफगानों की शक्ति समाप्त नहीं हुई लेकिन दुर्बल हो गयी। युद्ध के पश्चात् बाबर ने दिल्ली तथा आगरा पर ही नहीं बल्कि धीरे-धीरे लोदी-साम्राज्य के सभी भागों पर अधिकार कर लिया। उसने इस युद्ध की विजय से भारत में मुगल-वंश की नींव डाल दी।

[ब] पानीपत के युद्ध के पश्चात्

पानीपत के युद्ध के पश्चात् बाबर की मुख्य समस्या विजित प्रदेशों को संगठित करने और लोदी-वंश के अधीन अन्य क्षेत्रों को अपने अधिकार में करने की थी। इब्राहीम लोदी की पराजय के पश्चात् विभिन्न अफगान सरदारों ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया था। इब्राहीम लोदी का छोटा भाई महमूद लोदी अभी जीवित था और अफगानों एवं राजपूतों की सहायता लेकर मुगल-वंश को भारत से निकालने के लिए प्रयत्नशील था। गुजरात और बंगाल के अफगान-शासक न केवल इन विभिन्न अफगान सरदारों को सहायता ही दे सकते थे बल्कि स्वयं भी दिल्ली को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे। मेवाड़ का शासक राणा साँगा भी पानीपत के युद्ध के परिणामों के प्रति उदासीन न था और बाबर का विरोध कर

सकता था। उत्तर-भारत की साधारण जनता के लिए बाबर आक्रमणकारी था। अपने सम्मान और धन की सुरक्षा के लिए लोगों ने गाँव खाली कर दिये थे और नगरों में अपनी सुरक्षा हेतु जनता ने फाटक बन्द कर लिये थे। सड़कों और रास्तों पर लूटमार होने लगी थी तथा जन-जीवन अशान्त और आरक्षित हो गया था। बाबर ने स्वयं लिखा कि "नागरिक मुगलों से घृणा करते थे, सैनिकों के लिए गल्ला और घोड़ों के लिए खाना उपलब्ध करना सम्भव नहीं था तथा दिल्ली और आगरा के अतिरिक्त सभी स्थानों पर किलेबन्दी कर ली गयी थी तथा आज्ञा मानने के लिए कोई भी तत्पर न था।" बाबर के स्वयं के सैनिक और प्रभावशाली सरदार भी भारत की जलवायु से परेशान होकर काबुल जाने के लिए उत्सुक थे। इस प्रकार, पानीपत के युद्ध ने बाबर की कठिनाइयों को समाप्त न करके वास्तव में संगठन और व्यवस्था की दृष्टि से उन्हें आरम्भ किया था।

बाबर ने भारत में रहने और इन कठिनाइयों का मुकाबला करने का निर्णय किया। उसके इस निर्णय ने उसके सैनिकों एवं सरदारों को प्रभावित किया और उनकी दुविधा समाप्त हो गयी। जनसाधारण में भी मुगलों के प्रति विश्वास बढ़ा। बाबर ने उन सभी अफगान सरदारों को अपनी सेवा में ले लिया जिन्होंने स्वेच्छा से आत्मसमर्पण किया। बाबर के इस व्यवहार से अनेक अफगान सरदारों ने आत्मसमर्पण कर दिया। बाबर ने विभिन्न प्रदेशों को अपने सरदारों में बाँट दिया और उन्हीं को उन प्रदेशों के शासन का उत्तरदायित्व सौंपा। इससे मुगल-सरदारों को विजय के लिए प्रोत्साहन मिला और उन्होंने विभिन्न प्रदेशों को जीतकर मुगल-राज्य के अधीन किया। बाबर ने अपने पुत्रों और सरदारों में भारत में मिले धन को उदारता से वितरित किया। उसने हुमायूँ को कोहनूर हीरा दिया और अन्य सरदारों को भी उचित इनाम दिये गये। बाबर के इन प्रयत्नों से उसे सफलता मिली। राज्य में न केवल शान्ति स्थापित हुई बल्कि उसका विस्तार और संगठन भी हुआ। धीरे-धीरे आसपास के सभी अफगान सरदार या तो बाबर के अधीन हो गये या उनके प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया। शीघ्र ही सम्भल, इटावा, धौलपुर, जौनपुर, रापरी, गाजीपुर, बयाना, ग्वालियर आदि विभिन्न स्थान बाबर के आधिपत्य में चले गये। परन्तु इससे पहले कि बाबर अफगानों की शक्ति को पूरी तरह से कुचल पाता, उसका संघर्ष राजपूतों से हुआ।

[स] खानुवा का युद्ध (17 मार्च, 1527 ई.)

राजपूतों के विरुद्ध खानुवा के युद्ध का मुख्य कारण बाबर का भारत में रहने का निश्चय था। राणा साँगा की धारणा थी कि बाबर भी अन्य विदेशी आक्रमणकारियों की भाँति देश को लूटकर वापस चला जायगा। सम्भवतया, इसी कारण उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध बाबर को सहायता देने का आश्वासन दिया था। परन्तु जब बाबर का भारत में रहने का निश्चय स्पष्ट हो गया तब उसने एक विदेशी की तुलना में स्थानीय अफगानों को अधिक ठीक समझा। इस कारण उसने हसनखाँ मेवाती से बाबर को भारत से बाहर निकालने के लिए सहायता माँगी, महमूद लोदी को दिल्ली का बादशाह स्वीकार किया और आलमखाँ लोदी को अपने यहाँ शरण दी। इसी कारण डॉ. एस.आर. शर्मा ने लिखा है : "यह युद्ध मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं का युद्ध न था बल्कि एक विदेशी शत्रु के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रीय प्रयत्न था।" ऐसी स्थिति में बाबर से राजपूतों का युद्ध आवश्यक हो गया। युद्ध के अन्य सभी कारण गौण थे। बाबर ने राणा साँगा पर यह दोष लगाया कि उसने इब्राहीम लोदी के विरुद्ध उसे सहायता नहीं दी और राणा ने बाबर पर यह दोष लगाया कि बाबर ने बयाना, धौलपुर और कालपी पर अवैध अधिकार किया है।

राजपूतों ने बयाना और आगरा को जीतने के उद्देश्य से आगे बढ़ना आरम्भ किया। हसनखाँ मेवाती और महमूद लोदी भी उनसे आ मिले। बाबर ने, जो उस समय आगरा में था, इस युद्ध के लिए पूर्ण तैयारी की। बाबर के दो अग्रगामी सैनिक-दलों को राजपूतों ने पराजित करके भगा दिया। उन सैनिकों ने राजपूतों की संख्या, शौर्य और साहस के बारे में जो चर्चाएँ कीं उससे मुगल सैनिक पहली बार भयभीत हुए। काबुल के किसी ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि यह युद्ध मुगलों के विपक्ष में जायगा। इस युद्ध में बाबर का मुकाबला भी राणा साँगा से था जिसके बारे में यह विख्यात था कि उसने अपने जीवन में 100 युद्ध लड़े थे और जिसके शरीर पर 80 घावों के चिन्ह थे। निस्संदेह, राणा साँगा बाबर की भाँति ही एक अनुभवी सेनापति था। ये सभी बातें मुगल सेना के नैतिक मनोबल को कम कर रही थीं। ऐसी स्थिति में बाबर ने सेनापति, नेता और मानव-बुद्धि का पारखी होने की सहज-बुद्धि का प्रयोग किया। उसने अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए बहुत ही नाटकीय ढंग से सभी के सम्मुख कभी शराब न पीने की शपथ ली, शराब के प्याले और बर्तन तुड़वा दिये, गजनी से आई हुई शराब में नमक डलवा दिया, बची हुई शराब को जमीन पर उड़ेल दिया, मुसलमानों को 'तमगा' अथवा व्यापारिक-कर से मुक्त कर दिया, अपने सैनिकों के सामने एक जोशीला भाषण दिया, युद्ध के पश्चात् स्वदेश जाने के इच्छुक सैनिकों को वापस जाने देने का आश्वासन दिया और 11 फरवरी, 1527 ई. को 'जिहाद' (इस्लाम की रक्षा के लिए धर्मयुद्ध) घोषित कर दिया। उसके इन कार्यों का उचित एवं अपेक्षित प्रभाव पड़ा। बाबर के सभी सैनिकों और सरदारों ने कुरान पर हाथ रखकर मरते दम तक युद्ध करने की शपथ ली ।

17 मार्च, 1627 ई. को फतेहपुर सीकरी से 10 मील दूर खानुवा नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। रशब्रुक विलियम्स का यह कहना निराधार है कि बाबर और राणा साँगा की सेनाओं का अनुपात 1 : 8 का था। डॉ. ए.एल.श्रीवास्तव के अनुसार यह अनुपात 1 : 2 का था जो अधिक तर्कसंगत है। बाबर की सेना में लगभग 40,000 सैनिक थे जबकि राणा साँगा के पास लगभग 80,000 सैनिक थे। 17 मार्च को प्रातः 9 बजे युद्ध आरम्भ हुआ और 10 घण्टे तक चलता रहा। राणा साँगा युद्ध में घायल हुआ और युद्ध के बीच में ही उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाना पड़ा। राजपूतों ने मुगल-घुड़सवारों और तोपखाने के आक्रमणों का साहस और शौर्य से मुकाबला किया परन्तु अन्त में राजपूत सेना तितर-बितर हो गयी और बाबर की विजय हुई ।

एक बार फिर श्रेष्ठ सेनापतित्व, श्रेष्ठ युद्ध-नीति, श्रेष्ठ सैन्य-संचालन, अवसर के अनुकूल साहस और तोपखाने के कारण बाबर की जीत हुई। राणा के घायल हो जाने के कारण राजपूत सेना को राणा का कुशल नेतृत्व प्राप्त न हो सका। इस प्रकार राणा के घायल हो जाने से राजपूतों के मनोबल की कमी और कुशल नेतृत्व का अभाव भी बाबर की सफलता के सहायक कारण हुए।

यह युद्ध महत्वपूर्ण और निर्णयात्मक हुआ। सैनिक दृष्टि से इस युद्ध ने मुगल शस्त्रों और युद्ध के तरीकों की श्रेष्ठता को सिद्ध कर दिया। राजपूत शौर्य और साहस में मुगलों से कम न थे। उनका अनुशासन और संगठन भी ठीक था। उनमें से कोई भी देशद्रोही या शत्रु का गुप्तचर न था। फिर भी उनकी पराजय हुई। राजनीतिक दृष्टि से इस युद्ध से राजपूतों की शक्ति दुर्बल हो गयी। बाबर ने युद्ध में मारे गये राजपूतों के सिरों की एक मीनार खड़ी की और 'गाजी' (काफिरों को मारने वाला) की उपाधि ग्रहण की। स्वयं राणा संग्रामसिंह बहुत बुरी तरह से घायल हुआ और जनवरी 1628 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

मेवाड़ का वह गौरव नष्ट हो गया जिसने राजपूतों को एकता प्रदान की थी। इसके प्रश्चात् राजपूत कभी भी संयुक्त न हो सके और उनका दिल्ली पर आधिपत्य करने का स्वप्न नष्ट हो गया। राजपूतों की शक्ति क्षीण हो जाने से अफगानों की मुगलों से संघर्ष करने की शक्ति दुर्बल हो गयी। हसनखाँ मेवाती इस युद्ध में मारा गया और आलमखाँ लोदी तथा महमूद लोदी भाग गये। मुगलों और बाबर के लिए यह युद्ध निर्णयात्मक था। मुगल-वंश की स्थिति भारत में दृढ़ हो गयी तथा बाबर की शक्ति का केन्द्र काबुल से हटकर हिन्दुस्तान हो गया। बाबर का घुमक्कड़ और अस्थिर जीवन समाप्त हो गया।

[द] चन्देरी की विजय (1528 ई.)

खानुवा के युद्ध के पश्चात् बाबर की दूसरी मुख्य विजय चन्देरी की थी। चन्देरी व्यापार और राजनीति दोनों ही दृष्टि से महत्वपूर्ण था। वह मालवा और बुन्देलखण्ड की सीमा पर था तथा मालवा और उत्तर-भारत की मुख्य सड़क वहाँ से गुजरती थी। चन्देरी पहले मालवा के अधीन था परन्तु बाद में वहाँ के सूबूदार मेदिनीराय ने राणा साँगा की अधीनता को स्वीकार कर लिया था और उसकी ओर से खानुवा के युद्ध में भाग लिया था। बाबर ने उस शक्तिशाली राजपूत सरदार को स्वतन्त्र छोड़ना उपयुक्त नहीं समझा। चन्देरी को जीतने से न केवल राजपूत-शक्ति अधिक दुर्बल होती बल्कि बाबर को मालवा को जीतने में भी सुविधा हो सकती थी। बाबर ने शमसाबाद के बदले में मेदिनीराय से चन्देरी माँगा। उसके इन्कार करने पर उसने 1528 ई. में उस पर आक्रमण किया। 29 जनवरी, 1528 ई. को प्रायः एक घण्टे के युद्ध के पश्चात् किले पर अधिकार कर लिया गया। मेदिनीराय युद्ध में मारा गया और हजारों की संख्या में राजपूत कत्ल कर दिये गये। मेदिनीराय की एक लड़की कामरान को और दूसरी लड़की हुमायूँ को भेंट-स्वरूप दे दी गयी। इस युद्ध के अवसर पर भी बाबर ने 'जिहाद' घोषित किया और युद्ध के पश्चात् राजपूतों के सिरों की मीनार बनवाई। चन्देरी को मालवा-राजवंश के एक वंशज अहमदशाह को दे दिया गया।

[इ] पुनः अफगानों से घाघरा का युद्ध (1529 ई.)

अफगान उस समय तक पूर्व में एकत्रित होकर कन्नौज तक बढ़ आये थे। अफगानों ने महमूद लोदी को पूर्व में बुला लिया था और बिहार उनके अधिकार में था। सम्भवतया, बंगाल का अफगान शासक नुसरतशाह उनकी सहायता कर रहा था। बाबर ने अफगानों की शक्ति को समाप्त करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ना आरम्भ किया। अफगानों ने सरवार, बनारस और चन्देरी इन तीनों तरफ से आक्रमण कर रखा था परन्तु जब उन्हें बाबर के आगमन की सूचना मिली तब वे भागने लगे। उनमें से महमूदखाँ लोहानी, जलालखाँ, शेरखाँ सूर और फरीदखाँ जैसे सरदारों ने बाबर को आत्मसमर्पण के पत्र लिखे। परन्तु बिहार में अफगानों का व्यवहार अभी उदण्डता का था और वे नुसरतशाह से बातचीत कर रहे थे। इस कारण बाबर आगे बढ़ता गया। बाबर बंगाल की राजनीति में बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं करना चाहता था। उसने पत्र-व्यवहार के द्वारा नुसरतशाह से समझौता करने का प्रयत्न किया जिससे वह महमूद लोदी और उसके समर्थकों की सहायता न करे। परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में, 6 मई, 1529 ई. को घाघरा के तट पर अफगानों से उसका युद्ध हुआ। बाबर को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। अनेक अफगान सरदार उसकी शरण में आ गये। महमूद लोदी बंगाल भाग गया। बिहार का कुछ भाग मुहम्मदखाँ लोहानी को और अधिकांश भाग जलालुद्दीन को दे दिया गया। केवल कुछ भाग बाबर ने अपने अधीन रखा। शेरखाँ सूर को माफ कर दिया गया और जलालुद्दीन ने उसे अपना मन्त्री बनाना स्वीकार कर लिया। बंगाल के शासक नुसरतशाह ने बाबर से सन्धि कर ली जिसके द्वारा दोनों ने एक-दूसरे की सम्प्रभुता

तथा सीमाओं को स्वीकार कर लिया और नुसरतशाह ने यह आश्वासन दिया कि वह बाबर के शत्रुओं को अपने यहाँ शरण नहीं देगा।

[ई] अन्तिम दिन और मृत्यु

घाघरा का युद्ध बाबर का अन्तिम महत्वपूर्ण युद्ध था। तीन बड़े युद्धों को जीत कर बाबर ने भारत में सिन्धु नदी से लेकर बिहार तक और हिमालय से लेकर ग्वालियर और चन्देरी तक अपना राज्य स्थापित कर लिया था। उत्तर-भारत में मुगल-शक्ति को चुनौती देने वाली कोई ताकत नहीं रह गयी थी। इस प्रकार मुगल-राज्य भारत में स्थापित हो चुका था।

परन्तु बाबर का अन्त समय निकट आ गया था। उसने हुमायूँ को सम्भल की जागीर प्रदान की थी। हुमायूँ वहाँ बीमार हो गया और उसे आगरा लाया गया। यह कहानी कि बाबर ने अपनी जिन्दगी के बदले में हुमायूँ की जिन्दगी ईश्वर से माँगी, अब इतिहासकारों के द्वारा स्वीकार नहीं की जाती। डॉ.एस.आर.शर्मा की नवीन खोज ने यह सिद्ध कर दिया है कि हुमायूँ की बीमारी के ठीक हो जाने के छः माह पश्चात् बाबर बीमार हुआ। बाबर की बीमारी का हुमायूँ की बीमारी से कोई सम्बन्ध न था और बाबर की मृत्यु अपनी स्वयं की बीमारी से हुई थी। अधिकांश इतिहासकार इसी मत को स्वीकार करते हैं। डॉ. आर.पी. त्रिपाठी ने भी बाबर की बीमारी और मृत्यु का मुख्य कारण उसके व्यस्त जीवन, भारत की गर्म जलवायु, एक षड्यन्त्र द्वारा इब्राहीम लोदी की माँ के द्वारा उसे दिलवाया गया जहर (जिसे वह झेल गया था) तथा शराब और अन्य नशीली चीजों का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग बताया है। 26 दिसम्बर, 1530 ई. को बाबर की मृत्यु हो गयी। अपने मरने से पहले उसने हुमायूँ को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उसके शव को पहले आगरा के आरामबाग में परन्तु बाद में उसे काबुल में उसी के द्वारा चुने गये स्थान पर दफना दिया गया।

[4]
बाबर का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान
(भारत में मुगल-वंश का संस्थापक)

1. चरित्र—तत्कालीन और आधुनिक सभी यूरोपियन एवं भारतीय इतिहासकारों ने बाबर के चरित्र की अत्यधिक प्रशंसा की है। 'तारीखे-रशीदी' के लेखक मिर्जा हैदर ने बाबर को "अनेक गुणों और अनगिनत विशेषताओं से परिपूर्ण, जिनमें बहादुरी और मानवता श्रेष्ठ थीं" बताया। बाबर की लड़की गुलबदन बेगम ने 'हुमायूँनामा' में बाबर की इसी प्रकार से प्रशंसा की। लेनपूल ने बाबर के व्यक्तित्व को "पूर्व के इतिहास में सबसे अधिक आकर्षक व्यक्तित्व" बताया। **व्यक्ति के रूप में बाबर का चरित्र सराहनीय था।** शारीरिक दृष्टि से वह बहुत बलवान था। वह अपनी दोनों बगलों में दो आदमियों को दबाकर सरलता से किले की दीवार पर दौड़ सकता था। उसने भारत की सभी नदियों को तैरकर पार किया था। वह निरन्तर 80 मील तक घोड़े की पीठ पर सफर कर लेता था। अत्यधिक शराब और अन्य मादक-द्रव्यों का प्रयोग करते हुए भी उसके शरीर ने अन्त समय तक उसका साथ दिया था। इब्राहीम लोदी की माँ के द्वारा दिये गये जहर को वह झेल गया था। वह आज्ञाकारी पुत्र, योग्य एवं प्रिय पिता, अच्छा सम्बन्धी, वफादार मित्र, स्नेही पति, कर्तव्यपरायण मनुष्य और सुशिक्षित व्यक्ति था। अपने पिता, माँ, नानी, दादी आदि सभी का उसने सम्मान किया था और उनको सर्वदा प्रेम और सम्मान से याद करता था। उसने अपने बच्चों की शिक्षा और योग्यता को बढ़ाने का पूर्ण प्रयत्न किया था। उसने हुमायूँ को सलाह दी थी कि "संसार उसका है जो परिश्रम करता है। किसी भी आपत्ति का मुकाबला करने से मत चूकना।

परिश्रमहीनता और आराम बादशाह के लिए हानिकारक हैं।" उसे अपने सभी बच्चों से प्रेम था। अपनी मृत्यु के अवसर पर उसने हुमायूँ से कहा था : "चाहे तुम्हारे भाई दोषी ही हों परन्तु उनके विरुद्ध कुछ न करना।" उसने सर्वदा अपने भाई और रिश्तेदारों की सहायता की। वह अपने मित्रों के साथ प्रत्येक कठिनाई और हर्ष में साझीदार हुआ करता था। मुसलमान शासकों की परम्परा के अनुसार कई विवाह करते हुए भी उसने अपनी प्रत्येक पत्नी से प्यार किया था। वह बेहद शराब पीता था तथा अन्य मादक-द्रव्यों का भी प्रयोग करता था परन्तु वह नशे का गुलाम कभी नहीं बना। वह अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व के प्रति पूर्णतः जाग्रत था। उसने अपने व्यक्तिगत दोषों को उनमें कभी भी हस्तक्षेप नहीं करने दिया था। उदारता, प्रेम, साहस, बहादुरी, सहानुभूति, दया और सद्व्यवहार के गुण बाबर में थे। बाबर मनुष्य-स्वभाव और परिस्थितियों को समझने वाला तथा विभिन्न भाषाओं और ज्ञान के अध्ययन का शौकीन एक सुसंस्कृत व्यक्ति था। बाबर को बगीचे लगाने और इमारतें बनवाने का शौक था और वह स्वयं उनकी देखभाल करता था। उसे गाने का भी शौक था।

धार्मिक दृष्टि से बाबर सुन्नी मुसलमान था और ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। उसने अपनी प्रत्येक सफलता का श्रेय ईश्वर को दिया था। वह कहा करता था : "ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ नहीं होता। उसकी दया पर निर्भर करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।" परन्तु बाबर में धार्मिक असहनशीलता न थी। उसने ईरान के शिया बादशाह शाह इस्माइल से जो सन्धि की थी उसकी एक शर्त यह भी थी कि वह शिया मत का अपने राज्य में प्रसार करेगा । उसके दरबार में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान न था। निस्सन्देह, भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। उसने राणा साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' की घोषणा की, युद्धों के पश्चात् 'गाजी' की उपाधि ग्रहण की, राजपूतों के सिरों की मीनारें खड़ी कीं, मुसलमानों को 'तमगा' नामक कर से मुक्त किया और अयोध्या में एक ऐसे स्थान पर मस्जिद बनवायी जिसे श्री रामचन्द्र का जन्म-स्थान मानकर हिन्दू पूजते थे। भारत में बाबर की इस नीति के कारण एक विद्वान ने लिखा है : "बाबर का चरित्र इस्लाम की सभ्यता के एकाकीपन की भावना से पूर्ण था।" परन्तु भारत में बाबर की इस नीति का मूल उद्देश्य धार्मिक न होकर राजनीतिक था। बाबर ने उपर्युक्त कार्य कुछ विशेष अवसरों और मुख्यतया युद्धों के अवसर पर किये थे। शासन की ओर से भारतीय जनता के प्रति धार्मिक कट्टरता की कोई नीति नहीं अपनायी गयी थी। डॉ.ए.एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा न था।" डॉ. एस.आर.शर्मा ने लिखा है : "ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उसने धर्म के आधार पर कभी भी हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किया हो।" उसके कार्यों पर दृष्टिपात करते हुए डॉ.आर.पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "निकट और मध्य-पूर्व में जो कुछ शियाओं और सुन्नियों के बीच हुआ तथा जो पश्चिमी देशों में हुआ, उसकी तुलना में ये कार्य बहुत साधारण थे।" इस कारण स्वीकार किया जाता है कि बाबर व्यक्तिगत दृष्टि से धार्मिक था किन्तु कट्टर नहीं था और शासन की दृष्टि से वह धर्मान्ध न था।

बाबर एक विद्वान शासक था। निस्सन्देह, बाबर एक जन्मजात सैनिक था और इतिहास में उसका स्थान मुख्यतया उसकी भारत की विजय के कारण है। परन्तु यदि बाबर ने भारत को न जीता होता तो भी एक विद्वान के रूप में उसे सर्वदा याद किया जाता। 11 वर्ष की अल्पायु में उसने शासन का उत्तरदायित्व सँभाला और उसके पश्चात् उसका जीवन निरन्तर युद्धों, संकटों एवं संघर्षों का रहा। परन्तु तब भी जो योग्यता उसने शिक्षा और ज्ञान

की दृष्टि से प्राप्त की, वह अद्वितीय थी। उसे पर्शियन और अरबी भाषा का ज्ञान था और वह तुर्की भाषा का विद्वान था। गद्य में उसकी तुलना तत्कालीन किसी भी व्यक्ति से नहीं की जा सकती। वह उनमें सर्वश्रेष्ठ था। तुर्की भाषा में लिखी हुई उसकी 'आत्मकथा' साहित्य और इतिहास दोनों ही दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। बैवरिज ने उसके बारे में लिखा है : "बेशकीमती एक ऐसा संकलन जो हर युग के लिए है।" भाषा और तथ्यों का वर्णन दोनों ही इसमें श्रेष्ठ हैं। बाबर का जो शौक, ज्ञान और सहजज्ञान मनुष्यों, परिस्थितियों और प्रकृति के बारे में था, उस सभी का वर्णन उसने इसमें किया है। वह सभी कुछ इतना सत्य, स्पष्ट, बुद्धिमत्तापूर्ण और रोचक है कि 'तुज्के-बाबरी' (बाबरनामा) संसार की श्रेष्ठतम आत्मकथाओं में स्थान रखती है। तुर्की पद्य की रचना में तत्कालीन विद्वानों में बाबर का स्थान केवल मीरअली शेरबेग के पश्चात् माना गया है। तत्कालीन लेखक और बाबर के एक सम्बन्धी, मिर्जा हैदर दगलात ने लिखा था : "तुर्की-रचना में केवल मीरअली शेरबेग ही उससे बढ़कर था।" पद्य की रचनाओं में उसके द्वारा किया गया संकलन 'दीवान' था जो तुर्की पद्य में श्रेष्ठ स्थान रखता है। पद्य में उसने एक नवीन शैली में 'मुबइयान' को लिखा जो मुस्लिम-कानून की पुस्तक है। उसने ख्वाज़ा उबैदुल्ला द्वारा लिखी हुई पुस्तक 'रिसाला-ए-वालीदिया' को तुर्की पद्य में लिखा था। न्याय पर भी उसने एक पुस्तक लिखी थी जिसे सभी ने श्रेष्ठ स्वीकार किया था। उसकी एक रचना 'रिसाल-ए-उसज' थी जिसके लिखने की शैली को नवीन माना गया था और जिसे 'खत-ए-बाबरी' पुकारा गया। बाबर के ये सभी कार्य श्रेष्ठ थे। भाषा और शैली की दृष्टि से ही नहीं बल्कि ज्ञान की दृष्टि से भी इनको श्रेष्ठ माना गया है। इन सभी से बाबर की प्रतिभा का पता लगता है जो उसने भूगोल, प्रकृति-विज्ञान, प्राणी-विज्ञान जीव-विज्ञान तथा मनुष्यों की प्रकृति और परिस्थितियों को समझने आदि में प्राप्त की थी। निस्सन्देह, बाबर का स्थान एक विद्वान की दृष्टि से श्रेष्ठ था। लेनपूल ने लिखा है : "वह भाग्यशाली सैनिक था परन्तु एक श्रेष्ठ साहित्यिक रुचि और अनुभवी एवं आलोचनात्मक सहज-बुद्धि वाले व्यक्ति की दृष्टि से भी बाबर कम न था। उसके युद्ध और आमोद-प्रमोद के उत्सव पद्य की भावना से मानवीय बने हुए थे।"

एक सैनिक और सेनापति के रूप में बाबर प्रशंसनीय था। बाबर एक साहसी और कुशल सैनिक था। अपने प्रारम्भिक जीवन में उसने एक सैनिक की भाँति अपने साथियों के कन्धे से कन्धा मिलाकर युद्ध किये थे। उसमें असीम शारीरिक बल था। वह खतरा उठाने से कभी भयभीत नहीं होता था और घुड़सवारी करने तथा हथियार चलाने में कुशल था। डॉ. एस.आर. शर्मा ने लिखा है : "वह एक प्रशंसनीय घुड़सवार, अच्छा निशानची, कुशल तलवारबाज और जबर्दस्त शिकारी था।" इस प्रकार, बाबर एक जन्मजात सैनिक था। सेनापति की योग्यता को बाबर ने अपने संघर्षमय जीवन के अनुभव से प्राप्त किया। बाबर अपने प्रारम्भिक जीवन में अनेक बार पराजित हुआ। इस कारण यह कहना भूल होगी कि वह चंगेजखाँ अथवा तिमूर जैसा जन्मजात सेनापति था। परन्तु बाबर में तुर्कों की शक्ति, मंगोलों की कट्टरता और ईरानियों का उद्वेग एवं साहस सम्मिलित था। उसने निरन्तर युद्ध किये और परास्त भी हुआ उसने कभी साहस नहीं छोड़ा। बाबर ने अपने युद्धों और पराजयों से लाभ उठाया। उसने उजबेगों से 'तुलगमा' युद्ध-नीति सीखी, मंगोलों और अफगानों से शत्रु को लालच देकर फँसाना और फिर उस पर प्रत्येक ओर से आक्रमण करना सीखा, तुर्कों से तीव्रगामी घुड़सवार-सेना का सफल प्रयोग सीखा, ईरानियों से बन्दूकों का प्रयोग सीखा और उस्ताद अली तथा मुस्तफा नामक दो तुर्की अधिकारियों की सेवा प्राप्त करके न केवल तोपखाने का प्रयोग सीखा बल्कि स्वयं एक बहुत अच्छा तोपखाना तैयार कराया। उसने

विभिन्न जातियों से युद्ध करते हुए न केवल उनके अस्त्र-शस्त्रों को चलाना सीखा बल्कि उनके सैन्य-संचालन को भी समझा। उसके इन अनुभवों ने उसे एक ऐसी युद्ध-नीति और विभिन्न हथियारों के ऐसे सफल प्रयोग को सिखा दिया जिसके कारण वह बाद के समय में एक सफल सेनापति बन गया। भारत में उसकी सभी विजयों का कारण यही था। इसके अतिरिक्त बाबर को अपने साथियों में विश्वास उत्पन्न करना आता था। वह उनकी वफादारी प्राप्त करना जानता था और उन्हें किसी भी लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रेरणा प्रदान कर सकता था। उसमें नेतृत्व करने का स्वाभाविक गुण था। वह अपनी सेना से बड़ी सेनाओं का मुकाबला करने में डरता न था। वह अपने शत्रु की शक्ति और दुर्बलता दोनों को ही ठीक प्रकार से आँकने का प्रयत्न करता था और उसका सदुपयोग अपने हित के लिए कर पाता था। अपने गुणों के कारण वह अपने अमीरों और सैनिकों में प्रिय था। परन्तु वह सम्मान प्राप्त करना भी जानता था। अनुशासनहीनता उसे पसन्द न थी और उसकी अवहेलना होने पर वह अपने सैनिकों को कठोर दण्ड देता था। उसने भेरू में लूटमार करने वाले सैनिकों को कठोर दण्ड दिया था। उसने स्वयं लिखा : "उनमें से कुछ को मैंने मृत्युदण्ड दिया और कुछ अन्य की नाक कटवाकर उसी हालत में उनको खेमों में घुमाया।" इस कारण बाबर की सेना में न तो अनुशासनहीनता थी और न ही भगोड़ापन। इस प्रकार, बाबर एक योग्य सैनिक और सफल सेनापति था।

एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ के रूप में बाबर पर्याप्त सफल था। बाबर ने सिंहासन पर बैठते ही इन गुणों का परिचय दिया था। अपनी दुर्बल स्थिति को देखकर उसने अपने मामाओं से समझौते के प्रस्ताव किये थे। ईरान के शिया बादशाह से सन्धि करना और समरकन्द को जीतने (तीसरी बार) से पहले ही ईरानी सेना को वापस भेज देना इसके प्रमाण थे। परन्तु एक राजनीतिज्ञ और कूटनीति की दृष्टि से उसका प्रमुख कार्य भारत में शुरू हुआ। जिस प्रकार उसने भारतीय और अफगान अमीरों में सन्तुलन बनाकर रखा और जिस प्रकार उसने बिहार और बंगाल के शासकों से व्यवहार किया, वह सफल था। अनेक अफगान सरदार उसकी कूटनीति के कारण उसके साथ मिल गये। कम से कम छः हिन्दू राजाओं ने भी स्वेच्छा से उसके आधिपत्य को स्वीकार किया था। बाबर ने विरोधी अफगानों में फूट डालने में भी सफलता प्राप्त की थी। डेनीसन रॉस ने लिखा : "जिस नीति से उसने सुल्तान इब्राहीम के विद्रोही सामन्तों को आपस में भिड़ाया, वह मैकियावेली की योग्यता से कम न थी।"

बाबर एक अच्छा शासन-प्रबन्धक नहीं था। यह केवल इसी से स्पष्ट नहीं होता कि उसने भारत के शासन-प्रबन्ध में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किये बल्कि काबुल के शासक के रूप में भी वह सफल नहीं हुआ था। भारत में उसने अपने साम्राज्य को सरदारों और अमीरों में बाँट दिया था और उन्हीं के द्वारा शासन चलाया था। एक प्रकार से यह एक ऐसी सैनिक शासन-व्यवस्था थी जिसमें प्रत्येक अमीर अपने-अपने क्षेत्र में शासन करने के लिए स्वतन्त्र था। समान शासन-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, कर-व्यवस्था और समुचित न्याय-व्यवस्था करने का प्रयत्न बाबर ने नहीं किया। शक्तिशाली बाबर का व्यक्तित्व ही उस साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधने वाला था। धन सम्बन्धी मामलों में भी बाबर लापरवाह था। उसने दिल्ली, आगरा और ग्वालियर में प्राप्त हुए खजानों को अपने साथियों में बाँट दिया और बाद में भी राज्य की आय के साधनों में वृद्धि करने का उचित प्रबन्ध नहीं किया। इस कारण उसे अपने बड़े-बड़े अमीरों से उनकी आय का 30% भाग लेना पड़ा। उस समय तो इससे कार्य चल गया परन्तु उसके पश्चात् हुमायूँ के समय में राज्य को निरन्तर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसी कारण डॉ. आर.सी.मजूमदार ने लिखा है : "हुमायूँ को बाबर की विरासत बहुत ही अस्थिर प्रकृति की थी।"

परन्तु **शासक के रूप में बाबर सफल था।** इस दृष्टि से बाबर का एक प्रमुख कार्य 'बादशाह' के सम्मान में वृद्धि करना था। बाबर नें अपने को 'सुल्तान' के स्थान पर 'बादशाह' पुकारा था। इस विषय में उसका विचार हिन्दू-राजाओं के निकट था और उन्हीं की भाँति वह बादशाह को ईश्वर का अंश मानता था। बाबर ने इस विश्वास के आधार पर बादशाह के सम्मान में वृद्धि की। सल्तनत-युग के बलबन, अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासकों से प्रजा प्रेम नहीं करती थी बल्कि उनसे भयभीत थी, फीरोज तुगलक से प्रजा भयभीत नहीं थी बल्कि उदासीन थी, फीरोज तुगलक के पश्चात् बादशाह के सम्मान में बहुत कमी हो गयी थी और अफगान अमीर अपने सुल्तान को कोई भी विशेष सम्मान देने को तैयार न थे। बाबर ने बादशाहत को ऐसी स्थिति से निकालकर उसे श्रेष्ठ बनाया। बाबर की प्रजा उससे प्रेम करती थी और डरती भी थी। एक शासक के रूप में उसने प्रजा की भलाई का भी प्रयत्न किया। बदखशां से बिहार तक फैले हुए अपने विस्तृत साम्राज्य में उसने शान्ति-व्यवस्था स्थापित की, सड़कों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया, सरायें बनवायीं, डाक-व्यवस्था का प्रबन्ध किया, चोर-डाकुओं से अपनी प्रजा के जीवन और सम्मान की सुरक्षा की, स्थानीय अधिकारियों को आदेश दिये कि वह प्रजा के साथ अत्याचार न करें, और इस प्रकार उसने अपनी प्रजा को आन्तरिक अशान्ति और विदेशी आक्रमण से सुरक्षा प्रदान करने में सफलता पायी। उसने सड़कों को नापने के लिए 'गज-ए-बाबरी' का प्रयोग कराया जो जहाँगीर के समय तक प्रयोग में आता रहा। वह प्रजा की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखता था। राज्य का सबसे बड़ा अधिकारी होने के नाते वह प्रजा का रक्षक था। उसकी प्रजा न्याय और सहानुभूति के लिए उसी की ओर देखती थी। स्वयं शासन न करते हुए भी बाबर यह देखभाल करता था कि शासन करने वाले ठीक प्रकार से शासन करें। उसने आगरा, फतेहपुर सीकरी, बयाना, धौलपुर आदि में अनेक इमारतें बनवायीं, उत्तम कोटि के फलों के अनेक बाग लगवाये तथा अनेक झरने और फव्वारे बनवाये। उसका दरबार अनुशासन का ही नहीं बल्कि संस्कृति का भी केन्द्र-स्थल था। एक शासक के रूप में बाबर ने न केवल अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखा बल्कि उसकी पूर्ति में सफलता पायी और प्रजा का प्रेम प्राप्त किया।

2. मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (भारत में मुगल-वंश का संस्थापक)— इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "बाबर अपने युग का एशिया का सबसे शानदार बादशाह था और वह किसी भी युग के और किसी भी देश के शासकों के बीच एक सम्मानित स्थान प्राप्त करने योग्य था।" इतिहासकार हैवेल ने उसे "इस्लाम के इतिहास का सबसे आकर्षक व्यक्ति" कहा और उसकी 'आत्मकथा' के अनुवादक इर्स्किन ने लिखा है : "एशिया के बादशाहों में, सम्भवतया, हम एक भी ऐसा नहीं पा सकते जिसे हम न्यायपूर्वक उसके समान कह सकें।" इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न प्रकार से बाबर की प्रशंसा की है। बाबर का चरित्र और व्यक्तित्व, निस्सन्देह, इस प्रशंसा के योग्य है। उसका प्रारम्भिक जीवन और उसके संघर्ष की कहानी भी इतनी ही प्रशंसनीय और रोचक है। परन्तु, सम्भवतया, बाबर को कोई अधिक याद न करता यदि बाबर ने भारत में संफलता प्राप्त न की होती। मध्य-एशिया में उसका जीवन सफल न था और अफगानिस्तान की विजय कोई महत्वपूर्ण नहीं मानी जा सकती थी। इस कारण **इतिहास में बाबर का महत्वपूर्ण स्थान उसकी भारत की विजय के कारण है।**

16वीं सदी में जबकि सम्पूर्ण संसार में राजतन्त्र ही एकमात्र मान्य शासन-व्यवस्था थी, भारत एक शक्तिशाली राजतन्त्र के अन्तर्गत ही पनप सकता था। बाबर के भारत में आने से पहले भारत की राजनीति ऐसी न थी। बाबर ने अफगानों और राजपूतों की शक्ति को तोड़कर

एक नवीन साम्राज्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। बाबर ने तीन महत्वपूर्ण युद्धों (पानीपत, खानुवा और घाघरा) को जीतकर भारत में **मुगल-वंश के साम्राज्य की नींव डाली।** बाबर मुगल-साम्राज्य को दृढ़ नहीं कर सका था, इस कारण यह कहा जाता है कि भारत में मुगल-राज्य का वास्तविक संस्थापक बाबर न होकर अकबर था जिसने इस वंश के राज्य को पुनःस्थापित किया, विस्तृत किया और उसे दृढ़ बनाया। निस्सन्देह, अकबर को इन सभी बातों का श्रेय है और मुगल बादशाहों में वह सबसे महान माना गया है। परन्तु बाबर मुगल बादशाहों में प्रथम बादशाह था जिसने भारत पर आक्रमण किया, दिल्ली और आगरा पर अधिकार किया, अफगानों की एकता और शक्ति के आधार को नष्ट किया तथा राजपूतों की शक्ति को दुर्बल किया। इस कारण भारत में मुगल-वंश की नींव डालने वाला बाबर था और इसी रूप में वह मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। डॉ. एस.आर. शर्मा ने बाबर की तुलना इंगलैण्ड के ट्यूडर-वंश के शासक हेनरी सप्तम से की है। उनके कथनानुसार हेनरी सप्तम का इंगलैण्ड में और बाबर का भारत में प्रारम्भिक कार्य एक-दूसरे से पृथक न था। दोनों को अपने नवीन प्राप्त किये हुए सिंहासनों पर अपने को जमाना था और दोनों को हटायी गयी शक्तियों के वैध अथवा अवैध उत्तराधिकारियों के विरुद्ध संघर्ष करना था। संक्षेप में, दोनों ने अपने नवीन प्रदेशों में एक शक्तिशाली लेकिन उदार राजतन्त्र को स्थापित करने का लक्ष्य बनाया। उन्हीं के शब्दों में, "सन् 1526 ई. में जहीरुद्दीन बाबर ने इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रथम युद्ध में परास्त करके भारत में एक नवीन युग को और दिल्ली के सिंहासन पर एक नवीन वंश को उसी प्रकार आरम्भ किया जिस प्रकार सिर्फ चालीस वर्ष पहले (1485 ई.) बोसवर्थ के मैदान के युद्ध को जीतकर हेनरी सप्तम ने इंगलैण्ड में किया था।" डॉ.आर.पी. त्रिपाठी ने बाबर के बारे में कुछ और भी लिखा है। उसके अनुसार, "मुगल-साम्राज्य का वैभव उसकी सैनिक-शक्ति पर ही निर्भर न था बल्कि उसकी गैर-मुस्लिमों, मुख्यतया राजपूतों के प्रति उदार धार्मिक नीति और सांस्कृतिक पक्ष पर बल देने पर निर्भर था। अकबर की महानता को स्वीकार करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि उसकी इस नीति का बीज उसके महान बाबा (बाबर) ने डाला था।"

विश्व-इतिहास में बाबर का स्थान एक विद्वान की दृष्टि से भी है। उसकी रचनाएँ, मुख्यतया उसकी 'आत्मकथा' विश्व की श्रेष्ठतम रचनाओं में से एक स्वीकार की गयी है। यह विश्वास किया जा सकता है कि यदि बाबर ने किसी अन्य प्रकार से सफलता न भी प्राप्त की होती, तो भी विश्व उसे उसकी आत्मकथा के कारण सर्वदा याद रखता। इस कारण इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "बाबर के राजवंश का वैभव और शक्ति तो समाप्त हो गयी किन्तु समय को चुनौती देती हुई उसकी साहित्यिक कृति—उसके जीवन का विवरण—अभी तक विद्यमान है।"

[5]

बाबर की आत्मकथा और उसका भारत-विवरण

"899वें वर्ष रमजान के महीने में 12 वर्ष की आयु में मैं फरगना के देश में शासक बना।" इन शब्दों से बाबर की आत्मकथा आरम्भ होती है जो साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टि से संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं में स्थान रखती है। 'तुज्के बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' को बाबर ने अपनी मातृभाषा तुर्की में लिखा था। पायन्दाखाँ और अब्दुर्रहीम खानखाना ने फारसी में इसका अनुवाद किया। कई यूरोपीय भाषाओं, मुख्यतया फ्रेंच और अंग्रेजी में भी इसका अनुवाद हो चुका है। इनमें सबसे श्रेष्ठ अनुवाद श्रीमती बेवरिज का माना गया है जो मूल तुर्की भाषा से किया गया है। बाबर कुछ समय की घटनाओं का विवरण नहीं लिख सका था। इस

कारण 1508-19, 1520-25 और 1529-30 तक की घटनाओं का विवरण इसमें प्राप्त नहीं होता।

बाबर के जीवन की घटनाओं को जानने का प्रमुख साधन उसकी स्वयं की आत्मकथा है। उसकी बुद्धि, योग्यता और शौक के बारे में भी हमें उससे पता लगता है। बाबर के लिखने की शैली बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली थी। इसके अतिरिक्त उसमें प्रत्येक स्थान पर सत्यता प्रतीत होती है। बाबर ने कभी व्यक्ति और परिस्थिति को समझने में भूल की हो और उस भूल के कारण उसका विवरण गलत हो गया हो (जैसा कि उसके भारत-विवरण के बारे में कहा जा सकता है), यह अन्य बात है परन्तु सत्यता उसके लिए प्रमुख थी यह मानना पड़ता है। अपने चरित्र की दुर्बलताओं और अपनी भूलों को भी उसने स्पष्ट रूप से लिखा है। अपने ऐश के उत्सवों और अनेक नशों के प्रयोग को भी वह लिखना नहीं भूला है। इस कारण लेनपूल ने लिखा है : "बिना किसी सहायक प्रमाण के यदि किसी एक ऐतिहासिक विवरण को समुचित प्रमाण स्वीकार किया जा सकता है तो वह बाबर की आत्मकथा है।" बाबर ने केवल अपने जीवन की घटनाओं का ही विवरण नहीं दिया बल्कि समय-समय पर जो भावनाएँ उसकी रहीं और जिस प्रकार विभिन्न घटनाओं की प्रतिक्रिया उसके हृदय में हुई, उसने उनको भी लिखा। विभिन्न व्यक्ति, मित्र या शत्रु जो भी उसके सम्पर्क या विरोध में आये, उनके बारे में उसने बहुत ही ईमानदारी और बारीकी से लिखा। दौलतखाँ लोदी, इब्राहीम लोदी, आलमखाँ, राणा साँगा आदि के बारे में भी उसने लिखा। उसने अपने द्वारा देखे गये सभी देशों की जलवायु, झरनों, फूल-पत्तों, पहाड़ों, नदियों, जंगलों, वनस्पति, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि सभी के बारे में लिखा। यह सब कुछ इतने सुन्दर ढंग से लिखा गया है कि पढ़ने वाला इसे पढ़कर आत्म-विभोर हो जाता है। बाबर की स्पष्टवादिता, प्रकृति में रुचि, मनुष्य के चरित्र और परिस्थितियों को समझने की बारीक बुद्धि आदि सभी का पता हमें उसकी इस आत्मकथा से लगता है। बाबर की इस आत्मकथा के बारे में एल्फिन्सटन ने लिखा है कि वास्तविक इतिहास का "एशिया में पाया जाने वाला यह अकेला ग्रन्थ है।"

बाबर ने अपनी आत्मकथा में भारत का विवरण भी दिया। भारत की जलवायु, प्रकृति, भारतीयों के घर, वेशभूषा तथा भोजन, राजनीतिक घटनाओं, राज्यों और राजाओं आदि सभी के बारे में उसने लिखा। बाबर ने लिखा : "भारत प्रथम, द्वितीय और तृतीय जलवायु के बीच में है। इसका कोई भी अंश चौथे भाग में नहीं है।" उसने लिखा : "सिन्धु नदी को पार करते ही देश, पेड़, पत्थर, घुमक्कड़ जातियाँ और व्यक्तियों के रिवाज और तौर-तरीके सभी हिन्दुस्तानी हैं।" भारत के प्रथम सम्पर्क का प्रभाव उस पर अच्छा नहीं पड़ा था। उसने लिखा : "यहाँ व्यक्ति न सुन्दर हैं और न सुसंस्कृत। यहाँ न अच्छे घोड़े हैं, न अच्छे कुत्ते, न अच्छे अंगूर, न खरबूजे और न अन्य फल। यहाँ अच्छी रोटी नहीं मिलती, गरम पानी के हम्माम नहीं मिलते और न यहाँ उच्च विद्यालय हैं। यहाँ बत्तियों और मशालों का प्रयोग नहीं होता। मशालों के स्थान पर ये तेल के दीपकों का प्रयोग करते हैं जिनको नौकर अपने हाथों में लिये रहते हैं। बड़ी-बड़ी नदियों और पहाड़ी झरनों के पानी को छोड़कर यहाँ पानी का अभाव है। यहाँ बगीचों के चारों तरफ दीवारें नहीं हैं। लोगों के रहने के मकान अच्छे नहीं हैं और न उनमें हवा का उचित प्रबन्ध है। किसान और निम्न श्रेणी के व्यक्ति अधिकांश नंगे रहते हैं। पुरुष केवल लँगोट का प्रयोग करते हैं और स्त्रियाँ एक ही कपड़े से अपने कमर के नीचे के भाग और सिर को ढकती हैं।"

उसने लिखा : "हिन्दुस्तान की सबसे अच्छी बात यह है कि यह देश विस्तृत है और यहाँ सोना और चाँदी की भरमार है।" बाबर यहाँ की वर्षा से बड़ा प्रसन्न होता था। उसने

लिखा : "यहाँ कभी-कभी एक दिन में 10, 15 या 20 बार वर्षा हो जाती है। अचानक यहाँ मूसलाधार वर्षा हो जाती है और वे नदियाँ जिनमें बिल्कुल पानी नहीं होता, पानी से भरकर बहने लगती हैं। वर्षा के समय यहाँ की हवा बहुत ही मजेदार हो जाती है परन्तु इसका सबसे बड़ा दोष सीलन और जंग लग जाना है। वर्षा के मौसम में हम अपने देश की कमानों का प्रयोग नहीं कर सकते। कवच, पुस्तकें, वस्त्र, बर्तन आदि सभी पर इसका प्रभाव हो जाता है और सभी बेकार हो जाते हैं। वर्षा के अतिरिक्त गर्मी और जाड़ों में भी यहाँ अच्छी हवा चलती है। वर्षा से पहले यहाँ हवा 5 या 6 बार बहुत तेजी से चलती है और काफी धूल उड़ती है जिसे ये लोग आँधी पुकारते हैं। हिन्दुस्तान की एक बड़ी अच्छाई यहाँ बहुत बड़ी संख्या में हर प्रकार के काम करने वालों का मिलना है।" उसने लिखा : "यहाँ अलग-अलग काम करने वालों की अलग-अलग जातियाँ हैं और प्रत्येक जाति अपने कार्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी करती है। आगरा में इमारतें बनवाते समय मेरे यहाँ 680 कारीगरों ने काम किया था। आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर, ग्वालियर और कोल आदि में मेरी इमारतों के लिए पत्थर काटने हेतु 1491 कारीगर कार्य करते थे। इसी तरह यहाँ हर तरह का कार्य करने के लिए अनगिनत दस्तकार और कारीगर हैं।"

भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करते हुए उसने लिखा : "भारत की राजधानी दिल्ली है। जब मैंने इस देश को विजय किया तो वहाँ पाँच मुस्लिम और दो हिन्दू शासक राज्य करते थे।" दिल्ली, गुजरात, बहमनी-शासक, मालवा और बंगाल के मुसलमान-शासकों तथा विजयनगर और मेवाड़ के हिन्दू-शासकों का विवरण उसने दिया था।

बाबर का उपर्युक्त वर्णन न तो पूर्ण है और न ठीक ही। खानदेश, उड़ीसा, सिन्ध और कश्मीर राज्यों का बाबर ने वर्णन नहीं किया। पुर्तगाली भी दक्षिण-भारत में प्रवेश कर चुके थे जिनका विवरण बाबर ने नहीं दिया। इस कारण बाबर का भारत-विवरण पर्याप्त नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार, बाबर का भारत-विवरण पूर्णतया सत्य भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। बाबर को भारत में बहुत कम समय मिला। वह अधिकांश समय युद्धों में लगा रहा और जो कुछ भी उसने देखा एक विजेता की दृष्टि से देखा। यदि उसे थोड़ा समय और मिलता, जब तक भारत की स्थिति स्थिर हो जाती और उसे भारत के सुसंस्कृत वर्ग के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त हो जाता तब सम्भवतया स्वयं उसकी धारणा बदल जाती और वह भारत और भारत के निवासियों के बारे में ठीक निर्णय कर पाता। भारत के निवासी बाबर के आक्रमण के समय मिलनसार और सुसभ्य न थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार, बाबर का भारत-विवरण हमें भारतीय इतिहास को जानने की सहायक सामग्री अवश्य प्रदान करता है परन्तु उसे पूर्णतया मान्य स्वीकार नहीं किया जा सकता।

2

हुमायूँ (1530-1556 ई.)

बाबर के सबसे बड़े पुत्र हुमायूँ का जन्म 6 मार्च, 1508 ई. को काबुल में हुआ। उसकी माँ का नाम माहम सुल्ताना था। उसके छोटे भाई कामरान और अस्करी गुलरुख बेगम से तथा सबसे छोटा हिन्दाल दिलदार बेगम से उत्पन्न, बाबर की सन्तान थे। हुमायूँ की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया था जिसमें सैनिक शिक्षा प्रमुख थी। पानीपत के प्रथम युद्ध और खानुवा के युद्ध में भाग लेने के अतिरिक्त हुमायूँ ने अन्य कई स्थानों पर अफगानों से संघर्ष करके अपनी सैनिक-प्रतिभा का परिचय दिया। हिसार-फिरोजा, बदख्शां और सम्भल की अपनी जागीरों की देखभाल करते हुए भी उसने युद्ध और शासन का अनुभव प्राप्त किया। अपनी मृत्यु के अवसर पर बाबर ने उसे अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

बाबर के प्रमुख मन्त्री निजामुद्दीन अली मुहम्मद खलीफा ने हुमायूँ को अयोग्य समझा और उसके स्थान पर बाबर के बहनोई मेहदी ख्वाजा को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया। परन्तु बाद में अपने जीवन को खतरे में समझकर उसने यह विचार त्याग दिया और हुमायूँ का समर्थन किया। 26 दिसम्बर को बाबर की मृत्यु हुई और चार दिन के पश्चात् 30 दिसम्बर, 1530 ई. को बिना किसी विरोध के 23 वर्ष की आयु में हुमायूँ मुगल-सिंहासन पर बैठा।

[1]
हुमायूँ की प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अपने शासन के आरम्भ से ही हुमायूँ को विभिन्न कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा। हुमायूँ को कुछ कठिनाइयाँ अपने पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुईं और कुछ उसके सम्बन्धी मिर्जाओं और भाइयों ने खड़ी कीं। लेकिन उसकी सबसे बड़ी कठिनाई उसके अफगान शत्रु थे जो उस समय भी मुगल-वंश को भारत से बाहर निकालने के लिए प्रयत्नशील थे। इन कठिनाइयों के साथ-साथ हुमायूँ का अपना व्यक्तिगत चरित्र भी उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ।

1. बाबर की विरासत—निस्सन्देह, बाबर ने हुमायूँ के लिए एक विस्तृत साम्राज्य छोड़ा था परन्तु वह उस साम्राज्य की जड़ों को दृढ़ न कर सका था। बाबर अपने साम्राज्य को संगठित करने और उसकी उचित शासन-व्यवस्था करने में सफल नहीं हुआ था। मेलसन ने लिखा है : "जब उसकी (बाबर) मृत्यु हुई तो पूर्वकालीन मुसलमान-राजवंशों की भाँति मुगल-राजवंश की जड़ें भी भारतीय भूमि में जम नहीं सकी थीं।" बाबर ने दिल्ली और आगरा में प्राप्त हुए खजानों को बाँट दिया था। उसने अन्य अवसरों पर भी ऐसी ही उदारता का

परिचय दिया था जबकि वह राज्य की आय के साधनों में वृद्धि न कर सका था। अपने समय में स्वयं बाबर ने आर्थिक कठिनाइयों का अनुभव किया और हुमायूँ को ये कठिनाइयाँ विरासत के रूप में मिलीं। बाबर द्वारा हुमायूँ को अपने भाइयों के साथ अच्छा व्यवहार करने हेतु दी गयी सलाह भी हुमायूँ के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

2. हुमायूँ के भाई—हुमायूँ के तीन छोटे भाई अयोग्य और बेवफा सिद्ध हुए। जब मुगल-वंश को एकता की आवश्यकता थी तब उन्होंने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, अधिकारों और महत्वाकांक्षाओं पर बल दिया और जब उनके भाई को उनकी सहायता की सबसे अधिक आवश्यकता हुई तभी वे उसके विरोध में खड़े हुए अथवा उसकी तरफ से उदासीन हो गये। उनमें से प्रत्येक हुमायूँ की कठिनाइयों में वृद्धि करने वाला सिद्ध हुआ।

3. मिर्जा-वर्ग और उसके सम्बन्धी—मुगल-राजवंश से सम्बन्धित विभिन्न चगताई तुर्क बड़ी-बड़ी जागीरों को प्राप्त करके महत्वाकांक्षी हो गये थे। उनमें से कुछ ने, मुख्यतया हुमायूँ के सम्बन्धियों ने राजसिंहासन को प्राप्त करने की लालसा की। बाबर के बहनोई मेहदी ख्वाजा ने बाबर की मृत्यु पर सिंहासन को अपने अधिकार में करने का स्वप्न देखा था यद्यपि वह सफल न हो सका। हुमायूँ के दो अन्य निकटतम सम्बन्धियों—मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा—ने समय-समय पर हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह किये और उसके शत्रुओं का साथ दिया। वे हुमायूँ के सहायक न होकर उसके शत्रु सिद्ध हुए।

4. अफगान—हुमायूँ के सबसे प्रबल एवं प्रमुख शत्रु अफगान थे। वे यह नहीं भूल सके थे कि कुछ वर्षों पहले ही दिल्ली पर उनका आधिपत्य था। इस कारण उनमें से कई दिल्ली को अफगानों के आधिपत्य में करने का स्वप्न देखते थे। इब्राहीम लोदी का भाई महमूद लोदी भागकर बिहार चला गया था जहाँ सभी विद्रोही अफगान सरदार एकत्रित हो रहे थे। बंगाल का शासक खुले तौर से उनकी सहायता कर रहा था। गुजरात का शासक बहादुरशाह न केवल जवान था, बल्कि शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी भी था। उसके पास एक बड़ी सेना, एक अच्छा तोपखाना और गुजरात जैसे धनाढ्य सूबे की आर्थिक शक्ति थी। मालवा को उसने जीत लिया था और राजस्थान पर उसका दबाव बढ़ता जा रहा था। फतहखाँ, कुतुबखाँ, आलमखाँ लोदी जैसे अफगान उसके यहाँ संरक्षण प्राप्त किये हुए थे। शेरखाँ और बंगाल के शासक से उसका पत्र-व्यवहार था। हुमायूँ का प्रत्येक शत्रु और विद्रोही बहादुरशाह से सहायता और संरक्षण की आशा करता था।

अफगानों में से ही एक अफगान सरदार शेरखाँ धीरे-धीरे दक्षिणी बिहार में अपनी शक्ति को संगठित कर रहा था। आरम्भ में तो नहीं परन्तु कुछ समय पश्चात् वही हुमायूँ का सबसे कट्टर, योग्य और शक्तिशाली शत्रु सिद्ध हुआ।

5. सेना का राष्ट्रीय स्वरूप न होना—मुगलों की सेना राष्ट्रीय न थी। उसमें उजबेग, मुगल, तुर्क, ईरानी, अफगान, भारतीय आदि सम्मिलित थे जो अपनी ही जाति के सरदारों की अधीनता में थे। ऐसी सेना में एकता के स्थान पर ईर्ष्या और द्वेष की सम्भावना अधिक थी। ऐसी सेना केवल बाबर सदृश प्रभावशाली सेनापति के नेतृत्व में ही उपयोगी हो सकती थी अन्यथा योग्य सेनापतित्व के अभाव में वह दुर्बल थी।

6. हुमायूँ की व्यक्तिगत दुर्बलताएँ—मुगल-साम्राज्य जब इतने संकटों से घिरा हुआ था तब उसे एक कठोर, अनुशासनप्रिय और योग्य सेनापति-शासक की आवश्यकता थी। हुमायूँ में इन गुणों का पूर्ण अभाव था। हुमायूँ साहसी होते हुए भी योग्य सेनापति न था और बुद्धिमान होते हुए भी नीतिज्ञ न था। उसमें परिस्थितियों को ठीक तरह समझने की योग्यता न थी। उसमें दृढ़ता और निरन्तर प्रयत्न करते रहने की शक्ति का अभाव था और

उसमें नेतृत्व करने की योग्यता न थी। हुमायूँ की सबसे बड़ी दुर्बलता उसकी अत्यधिक उदारता थी। लेनपूल ने लिखा है : "हुमायूँ की असफलता का एक मुख्य कारण उसकी सुन्दर परन्तु विवेकरहित दयालुता थी।" इस कारण **हुमायूँ के चरित्र के कुछ दोष भी उसकी प्रमुख कठिनाई थे।**

7. हुमायूँ का साम्राज्य-विभाजन—हुमायूँ ने अपने भाइयों को विस्तृत भू-प्रदेश दिये। आरम्भ में ही उसने अस्करी को सम्भल, हिन्दाल को मेवात और कामरान को काबुल तथा कन्धार प्रदान कर दिये। बाद में उसने कामरान को पंजाब और हिसार-फीरोजा पर भी अधिकार कर लेने दिया। डॉ. ए.एल.श्रीवास्तव के अनुसार यह हुमायूँ की एक बड़ी भूल थी, क्योंकि जब मुगल-राज्य को एकता की आवश्यकता थी, हुमायूँ ने उसे टुकड़ों में बाँट दिया। परन्तु डॉ. आर.पी. त्रिपाठी के अनुसार यह कार्य हुमायूँ को प्राचीन तुर्क-मंगोल परम्परा के कारण बाध्य होकर करना पड़ा था। यदि वह ऐसा न करता तो चारों भाइयों में गृह-युद्ध की सम्भावना थी। इस बँटवारे का कारण चाहे हुमायूँ की उदारता हो और चाहे उसकी बाध्यता परन्तु एक भूल हुमायूँ ने अवश्य की थी। उसे कामरान को अपने उत्तर-पश्चिम के प्रदेश नहीं देने चाहिए थे जहाँ से मुगल-सेना को अच्छे सैनिक प्राप्त होते रहते थे। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है : "ये सुविधाएँ देना हुमायूँ की भूल थी क्योंकि उन्होंने उसे अफगान पहाड़ियों के दूसरी तरफ के भू-क्षेत्रों से पृथक कर दिया।" कामरान के हाथों में हिसार-फीरोजा के चले जाने से दिल्ली-कन्धार की मुख्य सड़क पर उसका अधिकार हो गया।

[2]

कठिनाइयों को दूर करने के प्रयत्न और अफगानों से संघर्ष

1. कालिंजर पर आक्रमण (1531 ई.)—सिंहासन पर बैठने के कुछ माह पश्चात् ही हुमायूँ को संघर्ष में फँसना पड़ा। उसके मुख्य शत्रु अफगान थे और उन्हीं से उसका संघर्ष प्रारम्भ हुआ। कालिंजर पर आक्रमण उस संघर्ष की एक कड़ी थी। कालिंजर के शासक प्रतापरुद्रदेव के बारे में यह अनुमान किया गया था कि वह अफगानों के प्रति सहानुभूति रखता था। इस अवसर पर वह कालपी पर अपना दबाव बढ़ा रहा था। यदि प्रतापरुद्रदेव के अधिकार में कालपी आ जाता और वह गुजरात के शासक बहादुरशाह के पक्ष में हो जाता तो हुमायूँ को बहुत कठिनाई होती। इस कारण, मूलतया बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए हुमायूँ को कालिंजर पर आक्रमण करने की आवश्यकता अनुभव हुई। 1531 ई. में उसने कालिंजर पर आक्रमण किया। जब हुमायूँ किले का घेरा डाले हुए था उसे सूचना मिली कि महमूद लोदी के नेतृत्व में अफगान बिहार से आगे बढ़कर जौनपुर की तरफ बढ़ते चले आ रहे थे। इससे पहले शेरखाँ ने चालाकी से चुनार से दृढ़ किले पर अधिकार कर लिया था। अफगानों की यह कार्यवाई हुमायूँ के लिए ज्यादा खतरनाक थी। इस कारण **कालिंजर के राजा से धन और सैनिकों की क्षतिपूर्ति लेकर और उससे एक सन्धि करके हुमायूँ वापस चला आया।**

2. दोहरिया का युद्ध और चुनार का प्रथम घेरा (1532 ई.)—उस समय तक अफगानों ने महमूद लोदी के नेतृत्व में जौनपुर तक अपना अधिकार कर लिया था और अवध में अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहे थे। हुमायूँ जब अपनी सेना के साथ उधर पहुँचा तो दोहरिया नामक स्थान पर अफगानों ने उसका मुकाबला किया। शेरखाँ ने उस समय महमूद लोदी का साथ छोड़ दिया। **अफगानों ने बहादुरी से मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उनकी पराजय हुई।** महमूद लोदी भाग गया और इसके पश्चात् राजनीति से पृथक हो गया।

इसके उपरान्त हुमायूँ ने चुनारगढ़ का घेरा डाला। चुनार का किला न केवल दृढ़ था बल्कि महत्वपूर्ण भी थ। हुमायूँ ने उसे शेरखाँ के हाथों से छीनने का प्रयत्न किया। चार माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जीतने की कोई आशा दिखायी न दी। इस बीच में गुजरात के शासक बहादुरशाह का दबाव राजस्थान पर बढ़ गया। ऐसी स्थिति में हुमायूँ ने शेरखाँ से समझौता कर लिया। किला शेरखाँ के आधिपत्य में छोड़ दिया गया परन्तु शेरखाँ ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और अपने लड़के कुतुबुखाँ के नेतृत्व में एक सेना हुमायूँ की सेवा में छोड़ दी।

हुमायूँ आगरा वापस आ गया जहाँ उसने करीब डेढ़ वर्ष ऐशो-आराम में व्यतीत किया और बहुत-सा धन 'दीनपनाह' नामक एक किले के निर्माण में खर्च किया। डॉ. आर.पी. त्रिपाठी के अनुसार, यह किला और नगर कामरान और बहादुरशाह की महत्वाकांक्षाओं को देखते हुए सुरक्षा के दृष्टिकोण से बनवाया गया था। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यदि हुमायूँ इस धन और समय का उपयोग बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति के लिए करता तो अधिक उचित था।

इसी अवसर पर (1534 ई.) मुहम्मद जमान मिर्जा और मुहम्मद सुल्तान मिर्जा ने मिलकर बिहार में विद्रोह कियां। वे असफल हुए और गिरफ्तार कर लिये गये (यद्यपि बाद में वे कैद से भाग गये)।

3. बहादुरशाह से संघर्ष (1535-36 ई.)—उस समय तक गुजरात के शासक बहादुरशाह की शक्ति में बहुत वृद्धि हो गयी थी। दक्षिण-भारत के कई राजाओं ने उससे सन्धियाँ कर ली थीं, 1531 ई. में वह मालवा को जीत चुका था, 1532 ई. में उसने रायसीन के महत्वपूर्ण किले को जीत लिया था और 1535 ई. में उसने मेवाड़ को सन्धि करने के लिए बाध्य किया था। टर्की के एक प्रसिद्ध तोपची रूमीखाँ की सहायता से उसने एक अच्छा तोपखाना तैयार कर लिया था। दिल्ली को जीतना उसकी एक महत्वाकांक्षा थी। बंगाल के शासक और बिहार के शेरखाँ से उसका पत्र-व्यवहार था। हुमायूँ के सभी शत्रुओं को उसने शरण दी थी और उस अवसर पर मुहम्मद जमान मिर्जा को भी उसने शरण दी तथा हुमायूँ द्वारा उसे वापस माँगने पर लौटाने से इंकार कर दिया। उस अवसर पर शेरखाँ न केवल दक्षिण-बिहार का वास्तविक मालिक बन बैठा बल्कि वह बंगाल को भी अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील था। सूरजगढ़ के युद्ध (1534 ई.) में बंगाल की सेना को परास्त करने के कारण उसके सम्मान और शक्ति में वृद्धि हुई थी और विभिन्न अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो रहे थे।

हुमायूँ को शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति चुनौती दे सकती थी परन्तु गुजरात का शासक बहादुरशाह उसे चुनौती दे रहा था। हुमायूँ ने बहादुरशाह से निर्णयात्मक युद्ध करने का निश्चय किया और अपनी सेना के साथ मालवा में प्रवेश किया। उस समय बहादुरशाह चित्तौड़ के किले का घेरा डाले हुआ था। उस अवसर पर चित्तौड़ का शासक राणा संग्रामसिंह का पुत्र विक्रमाजीत था। उस कठिनाई के अवसर पर उसकी माँ और राजमाता कर्णवती ने राखी भेजकर हुमायूँ से सहायता माँगी जबकि बहादुरशाह ने हुमायूँ से प्रार्थना की कि वह उस समय तक उस पर आक्रमण न करे जब तक कि वह काफिरों के विरुद्ध 'जिहाद' में व्यस्त था। हुमायूँ ने धर्म के नाम पर की गयी बहादुरशाह की प्रार्थना स्वीकार कर ली परन्तु धीरे-धीरे चित्तौड़ की तरफ बढ़ता रहा और जनवरी 1535 ई. में सारंगपुर पहुँच गया। डॉ. आर.पी. त्रिपाठी के अनुसार, धर्म के अतिरिक्त हुमायूँ के सारंगपुर में रुक जाने के कुछ अन्य कारण थे। हुमायूँ बहादुरशाह का मुकाबला करने से पहले अपनी सेना को व्यवस्थित करना

चाहता था और मालवा में बहादुरशाह के विरोधी तत्वों को अपनी तरफ करने के लिए उसे समय की आवश्यकता थी। हुमायूँ बहादुरशाह के दक्षिण-भारत के मित्र-राज्यों से शंकित था। वह ऐसा स्थान भी चाहता था जहाँ से वह माँडू या अहमदाबाद से बहादुरशाह के लिए आने वाली सहायता को रोक सके और बहादुरशाह के वापस जाने के मार्ग को बन्द कर सके। आलमखाँ लोदी कालिंजर की तरफ गया हुआ था और यह सम्भव था कि वह हुमायूँ पर पीछे से आक्रमण कर देता। उपर्युक्त कारणों से हुमायूँ ने बहादुरशाह पर आक्रमण नहीं किया और प्रतीक्षा की। दस दिन के पश्चात् बहादुरशाह के तोपखाने के मुकाबले चित्तौड़ का किला झुक गया। बहादुरशाह ने तीन दिन तक वहाँ लूटमार की। चित्तौड़ के पतन का समाचार प्राप्त होते ही हुमायूँ आगे बढ़ा और मन्दसौर के निकट पहुँच गया। बहादुरशाह की विजयी सेना हुमायूँ के मुकाबले में आयी परन्तु बहादुरशाह ने रूमीखाँ की सलाह और अपने तोपखाने पर विश्वास करते हुए रक्षात्मक नीति अपनायी और हुमायूँ पर तुरन्त आक्रमण नहीं किया। हुमायूँ ने अपनी सेना को गुजराती सेना की तोपों से दूर रखा और उसकी रसद के मार्ग को बन्द कर दिया। बहादुरशाह की सेना अपने ही जाल में फँस गयी। अकर्मण्यता और भुखमरी ने उसके साहस और आत्मविश्वास को नष्ट कर दिया। एक रात अपने तोपखाने और अन्य बहुत सी वस्तुओं को बर्बाद करके या छोड़कर बहादुरशाह माँडू की तरफ भाग गया। हुमायूँ ने उसका पीछा किया। बहादुरशाह माँडू से चम्पानेर, चम्पानेर से काम्बे और काम्बे से ड्यू भाग गया। हुमायूँ ने काम्बे तक उसका पीछा किया परन्तु वहाँ से चम्पानेर के दुर्ग को जीतने के लिए वापस आ गया। किलेदार इख्तियारखाँ को आत्मसमर्पण करना पड़ा। हुमायूँ को वहाँ बहुत धन प्राप्त हुआ जिसे उसने अपने सरदारों और सैनिकों में उदारता से बाँटा।

उस समय तक प्रायः सम्पूर्ण मालवा और गुजरात हुमायूँ के अधिकार में जा चुका था। माँडू और चम्पानेर के किलों की विजयें हुमायूँ की महान् विजयें थीं। अपने भाई अस्करी को गुजरात का सूबेदार बनाकर और हिन्दूबेग को उसकी सहायता के लिए छोड़कर हुमायूँ मालवा चला गया। अस्करी गुजरात में ठीक व्यवस्था न कर सका बल्कि मुगल सैनिकों और सरदारों के व्यवहार से वहाँ के नागरिक असन्तुष्ट हो गये। इससे बहादुरशाह के एक बड़े अधिकारी इमाद-उल-मुल्क को एक बड़ी सेना एकत्रित करने का अवसर मिला। बहादुरशाह भी गुजरात वापस आ गया। अस्करी ने अपनी बिखरी हुई सेना को अहमदाबाद में एकत्रित कर लिया। छुटपुट युद्ध के पश्चात् मुगल सेना ने चम्पानेर के दुर्ग में लौटना ठीक समझा। एक प्रकार से यह सम्पूर्ण गुजरात को खोना था। परन्तु इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग न था। चम्पानेर के दुर्गरक्षक तार्दीबेग ने अस्करी का सम्मान तो किया परन्तु न तो उसे किले में शरण दी और न हुमायूँ की आज्ञा के बिना उसे सहायता देना स्वीकार किया। तार्दीबेग अस्करी से शंकित हो गया था। अस्करी ने अपनी सेना को लेकर आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। तार्दीबेग स्वयं भी किले की रक्षा न कर सका। जब बहादुरशाह ने किले पर आक्रमण किया तब तार्दीबेग माँडू चला गया। हुमायूँ को तार्दीबेग ने सूचना दी कि, सम्भवतया, अस्करी आगरा पर अधिकार करने के लिए आगे बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में हुमायूँ भी माँडू को छोड़कर आगरा की तरफ चल दिया। दोनों भाइयों की मार्ग में भेंट हुई और हुमायूँ की शंकाएँ समाप्त हो गयीं। हुमायूँ ने अस्करी और हिन्दूबेग आदि सभी को उदारता से माफ कर दिया। हुमायूँ के माँडू को छोड़ते ही मालवा भी मुगलों के हाथ से निकल गया। मल्लूखाँ ने शीघ्र ही माँडू को जीत लिया और बहादुरशाह के नाम से सम्पूर्ण मालवा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार प्रायः एक ही वर्ष में मुगलों ने सम्पूर्ण गुजरात

और मालवा को विजय किया और खो भी दिया। बहादुरशाह पुनः वहाँ का स्वामी बन गया यद्यपि बहुत समय तक वह उस सत्ता का उपभोग न कर सका क्योंकि फरवरी 1537 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। अस्करी की अयोग्यता, उसकी स्वतन्त्रता की इच्छा, अनुभवहीन अधिकारियों की नियुक्ति और हुमायूँ का विजय के पश्चात् स्वयं शासन की देखभाल के स्थान पर ऐशो-आराम में लिप्त हो जाना मुगलों की इस बड़ी हानि के कारण थे। इस हानि के बारे में लेनपूल ने लिखा है : "मालवा और गुजरात के सूबे जो हुमायूँ के शेष सम्पूर्ण साम्राज्य के बराबर थे, एक पके फल की भाँति उसके हाथों में आ गिरे थे। कोई भी विजय इतनी सरल नहीं हो सकती थी। साथ ही साथ कोई भी विजय इतनी लापरवाही से नष्ट नहीं की गयी थी।"

4. शेरखाँ से संघर्ष (1537-40 ई.)—जिस समय हुमायूँ बहादुरशाह के साथ संघर्ष कर रहा था, शेरखाँ बिहार और बंगाल में अपनी शक्ति को दृढ़ कर रहा था। दक्षिणी बिहार उसके आधिपत्य में आ चुका था, उसका लड़का कुतुबखाँ हुमायूँ की सेना को छोड़कर सुरक्षित वापस पहुँच गया था और विभिन्न अफगान सरदार उसके नेतृत्व में एकत्रित हो रहे थे। शेरखाँ ने बंगाल की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाया। नुसरतशाह की मृत्यु हो चुकी थी और महमूदशाह योग्य शासक सिद्ध नहीं हुआ था। 1536 ई. में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी गौड़ को घेर लिया। दुर्बल महमूदशाह ने 13 लाख दीनार देकर शेरखाँ से सन्धि कर ली। हुमायूँ ने शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति की ओर उस समय तक ध्यान नहीं दिया जब तक कि उसे यह सूचना नहीं मिल गयी कि शेरखाँ ने बंगाल की राजधानी गौड़ पर पुनः आक्रमण (1537 ई.) कर दिया है।

चुनारगढ़ की विजय (1538 ई.)—जुलाई 1537 ई. हुमायूँ पूर्व की ओर बढ़ा। अक्टूबर में उसने चुनारगढ़ का घेरा डाला जहाँ कुतुबखाँ ने शेरखाँ की योजना के अनुसार हुमायूँ को अधिक से अधिक समय तक रोकने का निश्चय कर रखा था। छः माह के पश्चात् मार्च 1538 ई. में चालाकी और तोपखाने की सहायता से किले पर अधिकार किया जा सका। उस समय तक शेरखाँ ने गौड़ को जीत लिया था और उसके खजाने को लूटकर रोहतासगढ़ के किले में सुरक्षित रख दिया था। चुनार को जीतने में जो समय हुमायूँ ने लगाया, वह उसकी एक बड़ी भूल मानी गयी है। डॉ.आर.पी.त्रिपाठी भी यह स्वीकार करते हैं कि "यद्यपि चुनार को अफगानों के हाथ में छोड़कर बंगाल की ओर बढ़ जाना हुमायूँ के लिए उपयुक्त न था परन्तु अपनी सम्पूर्ण सेना को लेकर चुनार के किले के सामने पड़ा रहना भी एक भूल थी" जिसके कारण शेरखाँ अपनी बंगाल-विजय को सरलता से पूर्ण कर सका।

बंगाल की विजय—चुनार से आगे बढ़कर हुमायूँ बनारस में रुका। वहाँ उसने शेरखाँ से सन्धि की बातचीत आरम्भ् की। यह निश्चय हुआ कि बिहार हुमायूँ को और मुगलों की अधीनता में बंगाल शेरखाँ को दे दिया जायेगा जिसके बदले में शेरखाँ हुमायूँ को प्रति वर्ष थत लाख रुपया देगा। शेरखाँ ने इन शर्तों को स्वीकार कर लिया। परन्तु उसी समय बंगाल के शासक महमूदशाह के एक राजदूत ने आकर हुमायूँ से अपने सुल्तान के लिए सहायता माँगी और बंगाल पर आक्रमण करने की प्रार्थना की। हुमायूँ ने बंगाल की ओर बढ़ने का निश्चय किया। शेरखाँ ने हुमायूँ के अपने वायदे को तोड़ने का लाभ उठाया। उसने अफगानों को यह विश्वास दिला दिया कि मुगल अफगानों का सर्वनाश करना चाहते हैं और मुगलों से की गयी सन्धि पर विश्वास नहीं किया जा सकता। हुमायूँ के रास्ते में शेरखाँ के पुत्र जलालखाँ ने बाधा डाली परन्तु उसका उद्देश्य हुमायूँ से युद्ध करना न था बल्कि थोड़े समय तक उसको रोके रखना था। इस कार्य की पूर्ति के पश्चात् जलालखाँ अपने पिता के

पास चला गया। उसके पश्चात् हुमायूँ को गौड़ का मार्ग साफ मिल गया। शेरखाँ और उसकी सेना पहले ही बंगाल छोड़ चुके थे, सुल्तान महमूद की मृत्यु हो चुकी थी और उसके पुत्रों का वध कर दिया गया था। इस कारण **बंगाल पर हुमायूँ ने सरलता से अधिकार कर लिया।**

डॉ.ए.एल.श्रीवास्तव के अनुसार, "हुमायूँ ने आठ महीने बंगाल में ऐशो-आराम किया और दिल्ली, आगरा या बनारस तक से अपना सम्पर्क नहीं रखा।" डॉ.आर.पी.त्रिपाठी के अनुसार, "हुमायूँ ने उस समय बंगाल में व्यवस्था स्थापित की और अपनी सेना का पुनर्गठन किया।" स्थिति दोनों में से कोई भी रही हो परन्तु जो समय हुमायूँ ने बंगाल में नष्ट किया, शेरखाँ ने उसी का सदुपयोग किया। उस समय में अफगानों ने बनारस, कड़ा, कन्नौज, सम्भल आदि स्थानों पर अधिकार कर लिया, जौनपुर और चुनारगढ़ को घेर लिया तथा इस प्रकार हुमायूँ के वापस लौटने के मार्ग को बन्द कर दिया। कई माह पश्चात् हुमायूँ को ये सूचनाएँ प्राप्त हुईं और साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि उसके भाई हिन्दाल ने उसके विश्वासपात्र शेख बहलोल का वध कर दिया है और आगरा में अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया है। ये सूचनाएँ मिलते ही हुमायूँ ने वापस लौटने का निर्णय किया। बंगाल में जहाँगीर कुलीबेग को केवल 500 सैनिकों के साथ छोड़कर **मार्च 1539 ई. में हुमायूँ गौड़ से चला।**

चौसा का युद्ध (26 जून, 1539 ई.)—वापस आने के लिए हुमायूँ ने गंगा का दक्षिणी तट चुना और मुख्य सड़क ग्राण्ड ट्रंक रोड से वापस लौटा। डॉ. ए.एल.श्रीवास्तव के अनुसार, "यह हुमायूँ की बड़ी भूल थी" क्योंकि इस भाग पर अफगानों का अधिकार था। डॉ.आर.पी.त्रिपाठी के अनुसार, "यह रास्ता ठीक था क्योंकि मुगल सेना इसी मार्ग से बंगाल गयी थी और इससे परिचित थी। इसके अतिरिक्त यह मार्ग हुमायूँ को चुनारगढ़ ले जाता जहाँ मुगल-सेना उस समय भी अफगानों का मुकाबला कर रही थी।" उस मार्ग से आगे बढ़ते हुए हुमायूँ ने एक बार फिर गंगा को पार किया और उसके उत्तरी तट पर चला गया जहाँ चौसा का मैदान था। शेरखाँ भी अपनी सेनाओं को लेकर उसी स्थान पर पहुँच गया। हुमायूँ को अपने भाइयों से कोई सहायता न मिली और न उसकी सेना व्यवस्थित थी। शेरखाँ वर्षा की प्रतीक्षा कर रहा था क्योंकि मुगल-सेना गंगा और कर्मनासा नदियों के बीच में थी और वह भाग नीचा था जिससे वर्षा का पानी आने पर उन नदियों में बाढ़ आ सकती थी तथा मुगल-सेना कठिनाई में फँस सकती थी। तीन महीनों तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पड़ी रहीं। उस समय सन्धि की बातचीत भी हुई परन्तु उसका कोई लाभ न निकला। वर्षा के आरम्भ होते ही मुगलों की सेना को कठिनाई होने लगी। ऐसे समय में 26 जून को प्रातःकाल अँधेरे में ही शेरखाँ ने अचानक मुगल-सेना पर आक्रमण कर दिया। मुगलों में भगदड़ मच गयी और वह बड़ी संख्या में मारे गये अथवा भाग गये। **हुमायूँ बड़ी कठिनाई से एक भिश्ती की सहायता लेकर गंगा पार कर सका।** हुमायूँ और अस्करी आगरा चले गये। शेरखाँ ने मुगल बेगमों और स्त्रियों को सम्मान सहित वापस भेज दिया।

शेरखाँ ने इस युद्ध के पश्चात् अपने को सुल्तान घोषित किया और 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण की। उसने बहुत शीघ्र बंगाल पर भी अधिकार कर लिया और पूर्व में मुगलों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करके कन्नौज पहुँच गया जिस पर उसके सैनिक पहले ही अधिकार कर चुके थे।

कन्नौज या बिलग्राम का युद्ध (17 मई, 1540 ई.)—जब शेरशाह पूर्व में अपनी स्थिति दृढ़ करने में व्यस्त था, हुमायूँ और उसके भाई अपने मतभेदों में समय नष्ट कर रहे थे। हुमायूँ ने हिन्दाल को ही माफ नहीं कर दिया था बल्कि विद्रोही सुल्तान मिर्जा को भी

माफ कर दिया। परन्तु तब भी हुमायूँ की यह उदारता उसके भाइयों को एक न कर सकी। कामरान की तबियत खराब हो गयी। उसे सन्देह हुआ कि हुमायूँ उसे धीरे-धीरे जहर दिलवा रहा था। इस कारण वह अपनी अधिकांश सेना को लेकर लाहौर चला गया। इसी बीच मुगलों की एक सेना ने मालवा में कुतुबखाँ के नेतृत्व में भेजी गयी अफगान सेना को परास्त कर दिया और कुतुबखाँ को मार दिया। परन्तु उस समय उसने शेरशाह के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाया। अन्त में, हुमायूँ ने देर करना ठीक न समझा और अपनी सेना को लेकर कन्नौज की तरफ चल दिया। कन्नौज के निकट दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने आ गयीं। परन्तु डेढ़ माह तक दोनों ने एक-दूसरे पर आक्रमण नहीं किया। 15 मई को घनघोर वर्षा हुई जिसमें मुगल खेमों में पानी भर गया। 17 मई को जब मुगल अपनी सेना और खेमों को ऊँची भूमि पर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे, अफगानों ने आक्रमण कर दिया। मुगलों ने डटकर मुकाबला किया परन्तु वे अपने तोपखाने का प्रयोग न कर सके। शेरशाह ने मुगलों के मुकाबले में मुगल युद्ध-नीति का ही प्रयोग किया और सफल हुआ। अन्त में, मुगल सेना के पैर उखड़ गये और वह भाग खड़ी हुई। हुमायूँ और उसके भाई बड़ी कठिनाई से जान बचाकर भाग सके।

यह युद्ध निर्णायक था। हुमायूँ भागकर आगरा पहुँचा परन्तु वहाँ ठहर न सका। इस बार शेरशाह उसका पीछा करता हुआ आ रहा था। हुमायूँ भागकर लौहार गया जहाँ उसके भाई उसे मिले परन्तु अब भी वह मिलकर कोई कार्य न कर सके। शेरशाह ने सरलता से आगरा और दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार उसने मुगलों से उत्तर-भारत की राजसत्ता छीन ली। हुमायूँ पंजाब में भी न ठहर सका। वहाँ से उसने कश्मीर या बदख्शां जाने का प्रयत्न किया परन्तु प्रत्येक बार उसके रास्ते में कामरान ने रुकावट डाली। अन्त में, हुमायूँ सिन्ध चला गया जहाँ उसका छोटा भाई हिन्दाल पहले से गया हुआ था।

5. हुमायूँ की असफलता के कारण

शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की पराजय के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। विभिन्न भूलें जो हुमायूँ ने अपने शासन के आरम्भ में कीं, वे अन्त में हुमायूँ की पराजय और असफलता के लिए उत्तरदायी हुईं। इस सम्बन्ध में हुमायूँ के प्रति डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का दृष्टिकोण सबसे उदार है। उनके कथनानुसार हुमायूँ की असफलता के लिए उसके भाइयों के विरोध और उसके चरित्र के दोषों को बहुत महत्व दिया गया है जो अनुचित एवं अन्यायपूर्ण है। उसे अपने भाइयों में साम्राज्य का विभाजन प्राचीन तिमूरी परम्परा के कारण करना पड़ा था अन्यथा गृह-युद्ध का भय था। उसने गुजरात को जीतने के पश्चात् माँडू में और बंगाल को जीतने के पश्चात् गौड़ में जो समय व्यतीत किया उसका कारण ऐशो-आराम अथवा आलस्य न था बल्कि विजित प्रदेशों की व्यवस्था करने की आवश्यकता थी। उसके भाइयों में से कामरान ने आरम्भ के दस वर्षों में उसके विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया। कन्नौज के युद्ध के पश्चात् कामरान को अपने भाई की योग्यता में विश्वास नहीं रहा था और अपने अधीन क्षेत्रों को बचाने की भावना से उसने अपना मार्ग हुमायूँ से अलग कर लिया। अस्करी ने हुमायूँ के विरुद्ध कभी भी विद्रोह नहीं किया बल्कि वह प्रायः सभी बड़े युद्धों में हुमायूँ के साथ रहा। जब कामरान हुमायूँ से अलग हुआ तब अस्करी भी कामरान के साथ चला गया क्योंकि वह दोनों एक ही माँ के पुत्र थे। तब भी उसने चालाकी से हुमायूँ को ईरान भागने में सहायता दी और उसके पुत्र अकबर की देखभाल और सुरक्षा की। छोटा भाई हिन्दाल दुर्बल बुद्धि का था और शीघ्र ही दूसरों के प्रभाव में आ जाता था। इस कारण उसने हुमायूँ के विरुद्ध विद्रोह तो किये परन्तु संकोची हृदय से। कई अवसरों पर उसने भूलें तो कीं परन्तु तब भी उसके सम्बन्ध हुमायूँ

से प्रेम के रहे और अन्त में हुमायूँ की तरफ से युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। निस्सन्देह, यदि कामरान और हिन्दाल ने समय रहते चौसा के युद्ध से पहले ही हुमायूँ की सहायता की होती तो हुमायूँ का भाग्य बच जाता परन्तु उस समय भी इसका कारण उनकी दुर्भावना नहीं बल्कि भूल थी। जिस समय हुमायूँ युद्ध में पराजित होकर वापस लौटा उस समय भी उन्होंने उसकी दुर्बलता का कोई लाभ नहीं उठाया। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से भी हुमायूँ में ऐसी कोई दुर्बलता न थी जिससे वह एक सफल शासक न होता। वह एक साहसी सैनिक और अनुभवी सेनापति था। उसका अफीम का नशा बाबर के विभिन्न नशों की तुलना में बहुत कम था। बाबर की सफलता हुमायूँ की तुलना में कम होती यदि उसने पानीपत के युद्ध को न जीता होता अथवा उसका मुकाबला शेरशाह से होता। इस कारण हुमायूँ की असफलता के कारण ये न थे। हुमायूँ की पराजय का कारण यह था कि उसके शत्रुओं के पास भी अच्छा तोपखाना था जो बाबर के शत्रुओं के पास न था और शेरशाह हुमायूँ की तुलना में, निस्सन्देह, अधिक अनुभवी और योग्य था। हुमायूँ की एक दुर्बलता उसकी दुर्बल आर्थिक व्यवस्था थी। बाबर की भाँति वह अपव्ययी और उदार था । हुमायूँ के चरित्र की यह दुर्बलता भी उसके लिए हानिकारक थी कि वह दूसरे के शब्दों पर अत्यधिक विश्वास कर लिया करता था। हुमायूँ अपने भाग्य का भी शिकार था। तार्दीबेग का अस्करी की सहायता न करना गुजरात और मालवा के खो जाने का कारण बना, बंगाल का शासक महमूदशाह कुछ महीने भी अपनी रक्षा न कर सका और कन्नौज के युद्ध के अवसर पर घनघोर वर्षा हो गयी जो हुमायूँ की पराजय का मुख्य कारण बनी। उसके राजनीतिक निर्णय भी दोषपूर्ण थे। वे यह सिद्ध करते हैं कि वह मनुष्य और उनके उद्देश्यों को समझने का पारखी न था और न वह राजनीतिक परिस्थितियों और प्रशासकीय समस्याओं का उचित आँकलन ही कर पाता था। वह लिखते हैं : "एक कूटनीतिज्ञ और राजनीतिज्ञ की दृष्टि से वह बाबर अथवा शेरशाह के समकक्ष न था।"

डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार, "हुमायूँ का अपने साम्राज्य के उत्तर-पश्चिमी भाग को कामरान के हाथों में छोड़ना, अपनी अर्थ-व्यवस्था को ठीक न करना, समय पर चित्तौड़ की सहायता न करना तथा राजपूतों की सहानुभूति पाने के अवसर को खो देना, दोहरिया के युद्ध के पश्चात् चुनार को अपने आधिपत्य में न लेना, मालवा और गुजरात की विजय के पश्चात् अपनी विजय को संगठित न करना और उसके पश्चात् ऐशो-आराम में डूब जाना, समय रहते शेरशाह को न दबाना आदि उसकी असफलता के कारण थे। हुमायूँ के चरित्र की अत्यधिक उदारता, सैनिक परिस्थितियों को ठीक प्रकार न समझ पाना, निर्णय लेने की शक्ति का अभाव आदि दुर्बलताएँ भी उसकी असफलता का कारण थीं।"

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "हुमायूँ का अपने भाइयों में राज्य का बँटवारा, रचनात्मक कार्य करने की बजाय आरम्भ से ही युद्ध-नीति को अपनाना, उसका कालिंजर-अभियान, शेरशाह की शक्ति का ठीक आंकलन न करना, 1532 ई. में चुनार का घेरा डालने के पश्चात् अधूरी सन्धि करके वापस आ जाना, बहादुरशाह और शेरखाँ के पारस्परिक सहयोग को न समझ पाना, बहादुरशाह पर उसी समय आक्रमण न करना जबकि वह चित्तौड़ से संघर्ष कर रहा था, गुजरात और मालवा को जीतकर उसका समुचित संगठन न करना, चुनारगढ़ के दूसरे आक्रमण के अवसर पर 6–7 महीने का समय उसके घेरे में नष्ट करना, बिहार में शेरखाँ की शक्ति को समाप्त किये बिना बंगाल चले जाना, चौसा के युद्ध के पश्चात् शेरखाँ को विजित प्रदेशों को संगठित करने का अवसर प्रदान करना, कन्नौज के युद्ध के अवसर पर अपनी सेना को नीची भूमि पर रखना, आदि उसकी असफलता के कारण थे।

इसके अतिरिक्त, नेतृत्व का अभाव, संगठन-क्षमता की कमी, धन का अपव्यय, समय-समय पर विलासिता में फँस जाना और दृढ़तापूर्वक निरन्तर कार्य करने की क्षमता न होना आदि चारित्रिक दोष भी उसकी असफलता के कारण थे।

इस प्रकार, हुमायूँ की असफलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि **हुमायूँ की विभिन्न दुर्बलताएँ और विभिन्न भूलें तथा इनके विपरीत शेरशाह की योग्यता और उसका व्यक्तित्व हुमायूँ की असफलता के मुख्य कारण बने।** लेनपूल ने लिखा है : "हुमायूँ जीवनपर्यन्त लड़खड़ाता रहा और लड़खड़ाते हुए ही उसकी मृत्यु हुई।"

[3]

हुमायूँ का निष्कासित जीवन (1540-1555 ई.)

हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर सिन्ध चला गया। अगले 15 वर्ष हुमायूँ के कठिनतम संघर्ष के रहे। उसने सिन्ध को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। उसी अवसर पर 1541 ई. में उसने हिन्दाल के गुरु मीरअली अकबर की पुत्री हमीदाबानू बेगम से शादी की। उस समय हिन्दाल उसका साथ छोड़ गया और उसके पश्चात् उसका विश्वासपात्र यादगार मिर्जा भी उसका साथ छोड़ गया। यहाँ उसे जोधपुर के शक्तिशाली शासक मालदेव की सहायता का आश्वासन प्राप्त हुआ और हुमायूँ उससे मिलने जोधपुर की तरफ चल दिया। बाद में, सम्भवतया, शेरशाह की बढ़ती हुई शक्ति और हुमायूँ की दुर्बल स्थिति को देखकर मालदेव का विचार बदल गया और हुमायूँ उससे बिना मिले ही वापस लौट पड़ा। मार्ग में अमरकोट के राजा वीरसाल ने उसे संरक्षण व सहायता दी । यहीं उसके लड़के अकबर का जन्म हुआ। परन्तु हुमायूँ वहाँ पर भी न रह सका। उस समय सिन्ध के शासक शाह हुसैन अरगों ने हुमायूँ से छुटकारा पाने हेतु कन्धार के लिए मार्ग देने और रसद तथा धन से सहायता देने का आश्वासन दिया। हुमायूँ ने उसे स्वीकार कर लिया और कन्धार की ओर चल पड़ा। उस समय कन्धार में कामरान की ओर से अस्करी सूबेदार था और कामरान के आदेश से उसने हुमायूँ को पकड़ने का प्रयत्न किया। हुमायूँ बड़ी कठिनाई से अपने एक वर्ष के बच्चे अकबर को वहीं छोड़कर अपनी जान बचाकर भाग सका। 1544 ई. में हुमायूँ ईरान के शाह तहमास्प के संरक्षण में चला गया। उसी वर्ष इन शर्तों के बाद कि हुमायूँ शिया बन जायेगा, अपने राज्य की सीमाओं में शिया धर्म का प्रसार करेगा और कन्धार जीतने के पश्चात् उसे ईरान को दे देगा, शाह ने उसे एक सेना की सहायता कन्धार जीतने के लिए दी। हुमायूँ ने अस्करी और कामरान से कन्धार और काबुल जीत लिया (1545 ई.)। कन्धार को जीतकर एक बार ईरानियों के हाथों में दे दिया गया परन्तु शाह के पुत्र की मृत्यु हो जाने के पश्चात् हुमायूँ ने उसे पुनः अपने अधीन कर लिया। लेकिन काबुल और कन्धार को जीतने से हुमायूँ की समस्याओं का हल नहीं निकला। यद्यपि हिन्दाल और यादगार मिर्जा हुमायूँ के साथ आ गये थे और बैरमखाँ हुमायूँ का योग्य वफादार सरदार सिद्ध हुआ था परन्तु कामरान और अस्करी हुमायूँ का विरोध करते रहे। दो बार कामरान ने काबुल पर अधिकार किया। उसने कभी अफगानों की सहायता ली, कभी उजबेगों की और कभी सिन्ध के अमीर की, परन्तु प्रत्येक बार वह परास्त हुआ और प्रत्येक बार हुमायूँ कामरान और अस्करी को माफ करता रहा। उसने बहुत बाद में ही उनको दण्डित किया। कामरान की आँखें निकाल ली गयीं और उसे मक्का जाने की आज्ञा दे दी गयी जहाँ 1557 ई. में उसकी मृत्यु हुई। उसी प्रकार अस्करी को भी कैद से मुक्त कर मक्का जाने की आज्ञा दे दी गयी। 1558 ई. में उसकी मृत्यु हुई। हिन्दाल हुमायूँ की तरफ से युद्ध करता हुआ 1551 ई. में मारा जा चुका था। इस प्रकार 1554 ई. तक हुमायूँ अपने

भाइयों से छुटकारा पा चुका था और अफगानिस्तान को अपनी अंधीनता में लेने में सफल हुआ था। उस समय एक बार फिर उसे भारत के खोये हुए साम्राज्य को प्राप्त करने का अवसर मिला।

[4]

भारत की विजय और मृत्यु (1555-1556 ई.)

नवम्बर 1553 ई. में शेरशाह के उत्तराधिकारी इस्लामशाह की मृत्यु हो गयी। इस्लामशाह अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को नष्ट करने में असमर्थ रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में फूट पड़ गयी। इस्लामशाह के पुत्र फीरोजशाह की हत्या करके उसके मामा मुबारिजखाँ ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि ग्रहण की। वह अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ जिससे उसके विरुद्ध विद्रोह हुए। लाहौर में सिकन्दरशाह ने, बयाना में इब्राहीमशाह ने और बंगाल में मुहम्मदशाह ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। दिल्ली पर पहले इब्राहीमशाह ने और फिर उसके पश्चात् सिकन्दरशाह ने अपना अधिकार कर लिया। ऐसी स्थिति में **जबकि अफगानों में आपस में संघर्ष चल रहा था, हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण करने की योजना बनायी। नवम्बर 1554 ई. में हुमायूँ पेशावर की ओर बढ़ा और** 1555 ई. के प्रारम्भ में लौहार तक का प्रदेश सरलता से उसके अधिकार में चला गया। सिकन्दरशाह ने, जिसने थोड़े समय पहले ही इब्राहीम सूर को परास्त करके दिल्ली पर अधिकार किया था, एक बड़ी सेना तातारखाँ और हैबतखाँ के नेतृत्व में मुगलों का मुकबला करने के लिए भेजी। **15 मई, 1555 ई. को मच्छीवाड़ा का युद्ध हुआ जिसमें मुगलों की विजय हुई।** इस युद्ध के पश्चात् सम्पूर्ण पंजाब मुगलों के अधिकार में चला गया। इसके पश्चात् मुगलों का मुकाबला करने के लिए सिकन्दर सूर स्वयं गया। **22 जून, 1555 ई. को सरहिन्द का युद्ध हुआ। इसमें भी मुगलों की जीत हुई** और सिकन्दर सूर भागकर पंजाब की पहाड़ियों में जा छिंपा। सरहिन्द का युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ। अफगानों ने भारत की सत्ता को सदा के लिए खो दिया। हुमायूँ ने आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (जुलाई 1555 ई.)। आगरा, सम्भल और आसपास के क्षेत्रों पर भी मुगलों ने अधिकार कर लिया।

अभी हुमायूँ अपने जीते हुए भारत के राज्य की सुरक्षा का प्रबन्ध भी न कर पाया था कि उसका अन्त समय आ गया। एक दिन जब वह 'दीनपनाह' के पुस्तकालय की सीढ़ियों से उतर रहा था, उसका पैर फिसल गया और वह लुढ़कता हुआ नीचे जा गिरा। उसकी खोपड़ी की हड्डी टूट गयी और उसी चोट से 27 जनवरी, 1556 ई. को हुमायूँ की मृत्यु हो गयी। अपनी मृत्यु के अवसर पर उसने अपने पुत्र अकबर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

[5]

हुमायूँ का चरित्र और मूल्यांकन

व्यक्ति की दृष्टि से हुमायूँ का चरित्र निर्दोष ही नहीं बल्कि प्रशंसनीय था। वह अपने पिता बाबर की भाँति ही सुसंस्कृत और शिक्षित था। तुर्की और फारसी साहित्य के अतिरिक्त उसे भूगोल, गणित, ज्योतिष, मुस्लिम-धर्मशास्त्र आदि में भी रुचि थी। वह आज्ञाकारी पुत्र, स्नेही सम्बन्धी और प्रेमी पति एवं पिता था। वह अपने सैनिकों और सरदारों के प्रति उदार था तथा उनके साथ सफलताओं और असफलताओं में भाग लेता था। उसका व्यवहार सभी के प्रति बहुत स्नेही और सुसंस्कृत था। धर्म में उसकी पूर्ण आस्था थी परन्तु वह

धर्मान्ध न था। अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने ईरान के शिया शासक से सन्धि की थी तथा शिया धर्म को मानने और उसका प्रसार करने की शर्त को स्वीकार कर लिया था। उसकी पत्नी हमीदाबानू बेगम तथा उसका मुख्य सलाहकार और समर्थक बैरमखाँ शिया थे। निस्सन्देह, उसने युद्ध के अवसर पर हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया था, परन्तु हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति कठोर नहीं कही जा सकती। वह सभी विद्वानों को संरक्षण प्रदान करता था और उसका दरबार शान-शौकत का ही नहीं बल्कि शिक्षा और विद्या का भी केन्द्र था। हुमायूँ अत्यधिक उदार और क्षमाशील था। जिस भिश्ती ने चौसा के युद्ध के पश्चात् गंगा पार करने में उसकी सहायता की थी और उसकी जान बचायी थी, उसने उसे एक दिन के लिए दिल्ली का बादशाह बना दिया था। उसके भाइयों, मिर्जा-सम्बन्धियों और बड़े-बड़े सरदारों ने बार-बार हुमायूँ का साथ छोड़ा, उसकी आज्ञाओं की अवहेलना की और उसके विरुद्ध विद्रोह भी किये परन्तु हुमायूँ ने निरन्तर उनको माफ किया और सम्मान दिया। हुमायूँ शारीरिक दृष्टि से बलवान, साहसी और कुशल सैनिक था। वह कठिन से कठिन परिस्थितियों को बर्दाश्त कर सकता था। एक भी युद्ध ऐसा न था जिसमें उसने साहसपूर्वक भाग न लिया हो और अपने जीवन को खतरे में न डाला हो। अन्त तक धैर्य रखने की क्षमता भी उसमें थी ,अतएव हुमायूँ का चरित्र प्रशंसनीय ही नहीं बल्कि आकर्षक भी था।

परन्तु हुमायूँ में कुछेक दुर्बलताएँ भी थीं जो व्यक्ति और शासक दोनों की दृष्टि से हानिकारक थीं। उसने विभिन्न विद्याओं का अध्ययन किया था परन्तु विद्धत्ता वह किसी में भी प्राप्त न कर सका था। भाषा और लेखन-शैली में भी उसे विशेष योग्यता प्राप्त नहीं थी। उसकी उदारता और क्षमाशीलता उसके भाइयों, सरदारों और सम्बन्धियों के उद्दण्ड व्यवहार और विद्रोहों का कारण बनी थी। इसी कारण शासक की दृष्टि से हुमायूँ असफल हुआ। लेनपूल ने लिखा है : "उसका चरित्र आकर्षक है परन्तु प्रभावशाली नहीं। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह एक प्रसन्नतावर्धक साथी और एक वफादार मित्र हो सकता था। उसके गुण एक ईसाई की भाँति थे और उसका सम्पूर्ण जीवन एक सज्जन व्यक्ति का जीवन था। लेकिन एक बादशाह की दृष्टि से वह असफल था।" हुमायूँ एक योग्य सेनापति और सैन्य-संगठनकर्ता न था। जिस सेना ने बाबर के समय में पानीपत, खानुवा और घाघरा के युद्धों को विजय किया और हुमायूँ के आरम्भिक समय में भी जिसने गुजरात और मालवा के विस्तृत राज्य को सरलता से अपने अधिकार में किया, वह बाद में नेतृत्व के अभाव में दुर्बल हो गयी। चौसा और कन्नौज के युद्धों में मुगलों की पराजय का मुख्य कारण कुशल नेतृत्व और रणनीति का अभाव था। हुमायूँ एक योग्य सेनापति की भाँति न तो अपनी दुर्बलताओं को छिपा सकता था और न ही अपने शत्रु की दुर्बलताओं को समझ पाता था। हुमायूँ में कूटनीतिज्ञता का अभाव था। वह राजनीतिक दाँव-पेचों और परिस्थितियों को समय रहते न समझ पाता था। शेरशाह के विरुद्ध उसकी असफलता का यह मूल कारण रहा। वह न तो अपने शत्रु को समय रहते पहचान पाया और न युक्तिपूर्वक अपने भाइयों को अपने साथ रख सका। मुगलों की शक्ति उसके नेतृत्व में बिखर गयी और वह अफगानों के विरुद्ध उसकी पराजय का मुख्य कारण बना। हुमायूँ योग्य शासन-प्रबन्धक न था। अपने विजित प्रदेशों की शासन-व्यवस्था वह कभी भी ठीक प्रकार से न कर सका। अपने अन्तिम दिनों में भारत के शासन के लिए जो योजना उसने बनायी थी, वह न तो कभी लागू की जा सकी और न ही सैद्धान्तिक आधार पर वह लाभदायक अथवा प्रभावपूर्ण थी। हुमायूँ ने आर्थिक व्यवस्था पर भी कभी नियन्त्रण नहीं रखा। बाबर के समय से उत्पन्न हुई आर्थिक दुर्व्यवस्था उसके समय में ठीक होने की बजाय और खराब हुई। इसी कारण मेलीसन ने लिखा है : "बहादुर, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, सुखद

मित्र, उच्च शिक्षा-प्राप्त, उदार और करुणापूर्ण हुमायूँ दृढ़ सिद्धान्तों के आधार पर एक राजवंश की स्थापना करने में अपने पिता से भी कम योग्य था।" हुमायूँ की ये दुर्बलताएँ उसकी असफलता का कारण थीं।

परन्तु फिर भी हुमायूँ के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि हुमायूँ में अपने पिता की भाँति दृढ़ता थी। असफलताओं ने उसे निराश और अकर्मण्य नहीं बनाया। पर्शिया के शाह की प्रारम्भिक सहायता मात्र से उसने अपने भाइयों से अफगानिस्तान का राज्य छीन लिया और उसके पश्चात् जैसे ही उसे अवसर मिला उसने अफगानों से भारत को पुनः जीत लिया। भारत की पुनर्विजय हुमायूँ को भारतीय इतिहास में स्थान प्रदान कर देती है क्योंकि वह पुनः अफगानों की शक्ति को तोड़कर मुगल-वंश को दिल्ली में स्थापित कर देती है। इस कारण हुमायूँ का चरित्र, उसकी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ, उसकी सफलताएँ और असफलताएँ—सभी कुछ मिलकर हुमायूँ के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण बनाती हैं और इसी कारण इतिहासकार उसे 'भाग्यहीन हुमायूँ' पुकारते हैं।

3

शेरशाह सूर और उसके उत्तराधिकारी (1540-1555 ई.)

[1]

शेरशाह सूर (1540-1545 ई.)

1. प्रारम्भिक जीवन (1472-1530 ई.)

"अगर भाग्य ने मेरी सहायता की और सौभाग्य मेरा मित्र रहा, तो मैं मुगलों को सरलता से हिन्दुस्तान से बाहर निकाल दूँगा।" यह शेरशाह ने उस समय कहा था जबकि वह मुगल सेना में था और बाबर को चन्देरी के आक्रमण में सहयोग दे रहा था। शेरशाह ने अपने शब्दों को सत्य सिद्ध किया और उसने उत्तर-भारत में सूर-वंश के द्वितीय अफगान-साम्राज्य की स्थापना की। शेरशाह इतिहास के उन महान् व्यक्तियों में से एक था जो केवल अपने परिश्रम, योग्यता और अपनी तलवार की शक्ति के आधार पर साधारण व्यक्ति के स्तर से उठ कर राजपद तक पहुँचा। शेरशाह न तो किसी राजवंश से, न किसी धनाढ्य परिवार से और न किसी ख्याति-प्राप्त धार्मिक अथवा सैनिक नेता से सम्बन्धित था। जो कुछ भी उसने प्राप्त किया वह केवल अपने स्वयं के पौरुष और पुरुषार्थ से प्राप्त किया। इस कारण शेरशाह की गणना महान् व्यक्तियों में की जाती है।

शेरशाह का बचपन का नाम फरीद था। उसका बाबा इब्राहीम घोड़ों का व्यापार करता था। इब्राहीम सूर और उसके लड़के हसन सूर ने हिसार-फिरोजा के अफगान सरदार जमालखाँ के यहाँ सैनिक नौकरी की और वहीं पर हसन की अफगान पत्नी से बजवाड़ा नामक स्थान पर अथवा डॉ.कानूनगो के अनुसार नारनौल परगने में 1472 ई. (डॉ. कानूनगो के अनुसार 1486 ई.) में फरीद का जन्म हुआ। जब सिकन्दर लोदी के समय में जमालखाँ को बिहार में जौनपुर की जागीर दी गयी तब हसन भी उसके साथ गया और जमालखाँ ने उसे सहसराम, हाजीपुर, खवासपुर और टाँडा की जागीर प्रदान की। हसन के चार पत्नी और आठ पुत्र थे। फरीद और निजाम पहली पत्नी से तथा सुलेमान और अहमद उसकी चौथी पत्नी से पैदा हुए थे। हसन अपनी चौथी पत्नी से अधिक प्रभावित था। उसने अपनी पहली पत्नी के बच्चों की कभी परवाह नहीं की। इस कारण फरीद का प्रारम्भिक जीवन सुखमय न रहा। अपने पिता से झगड़ा करके फरीद 22 वर्ष की आयु में जौनपुर भाग गया जो उस समय शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र माना जाता था। उसने वहाँ तीन वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की, अरबी और फारसी का ज्ञान प्राप्त किया तथा अपनी प्रतिभा से अपने पिता के मालिक जमालखाँ को प्रभावित कर दिया। जमालखाँ ने बाप-बेटे में समझौता करा दिया। उसी के कहने से हसन ने

अपनी जागीर का प्रबन्ध फरीद को सौंप दिया। **1497 से 1518 ई. तक निरन्तर 21 वर्ष फरीद ने अपने पिता की जागीर की देखभाल की, उसको समृद्धि व शान्ति प्रदान की तथा शासन का अनुभव प्राप्त किया।** 1518 ई. में अपनी सौतेली माँ और भाइयों के कारण उसका अपने पिता से पुनः झगड़ा हो गया और उसी वर्ष वह दौलतखाँ की सेवा में आगरा चला गया जिसने इब्राहीम लोदी से उसे उसके बाप की जागीर दे देने की सिफारिश की। इब्राहीम ने उस समय तो नहीं परन्तु 1520 ई. में हसन की मृत्यु के पश्चात् फरीद को उसके पिता की जागीर दे दी और फरीद ने अपनी जागीर पर अधिकार कर लिया। उसके सौतेले भाई सुलेमान ने एक शक्तिशाली अफगान सरदार मुहम्मद खाँ की सहायता लेकर फरीद से जागीर के बँटवारे की बात की। फरीद ने इससे इन्कार कर दिया और अपनी रक्षा के लिए दक्षिण- बिहार के सूबेदार बहारखाँ लोहानी के यहाँ नौकरी कर ली। **वहाँ एक शेर को मारने के उपलक्ष्य में फरीद को 'शेरखाँ' की उपाधि दी गयी।** बहारखाँ ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे अपने लड़के जलालखाँ का संरक्षक और उसके पश्चात् दक्षिण-बिहार का उप-सूबेदार नियुक्त कर दिया।

शेरखाँ की इतनी शीघ्र उन्नति से ईर्ष्या मानते हुए लोहानी सरदारों ने बहारखाँ के कान भरने शुरू कर दिये। उसी अवसर पर पानीपत के युद्ध (1526 ई.) के पश्चात् मुगलों ने दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार कर लिया और बहारखाँ ने अपने आप को मुहम्मदशाह के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। शेरखाँ के शत्रुओं ने मुहम्मदशाह को भड़काने में सफलता प्राप्त की और शेरखाँ को दक्षिण-बिहार छोड़ना पड़ा। **शेरखाँ बाबर की सेवा में चला गया जहाँ उसने मुगलों के सैनिक-संगठन और रणनीति को समझा।** वह चन्देरी के युद्ध में सम्मिलित हुआ। **बाद में वह वहाँ से भाग कर बिहार चला गया। मुहम्मदशाह ने उसे पुनः अपने पुत्र जलालखाँ का संरक्षक नियुक्त कर दिया।** 1528 ई. में मुहम्मदशाह की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा पत्नी 'दूदू' ने शेरखाँ को अपने पुत्र जलालखाँ का संरक्षक और शासन का प्रधान नियुक्त कर दिया क्योंकि उसका लड़का जलालखाँ अभी बच्चा ही था। एक प्रकार से उस समय से दक्षिण-बिहार का शासन-प्रबन्ध शेरखाँ ने ही किया। उस अवसर का उपयोग उसने अपने योग्य और विश्वासपात्र व्यक्तियों को अच्छे-अच्छे पद प्रदान करके किया जिससे वह उसके प्रति वफादार हों और शासन पर उसका अधिकार बरकरार रहे। 1529 ई. में इब्राहीम लोदी के छोटे भाई महमूद लोदी की तरफ से उसने अनिच्छा से मुगलों से लड़ना स्वीकार किया। युद्ध (घाघरा का युद्ध) में अफगानों की पराजय हुई और जलालखाँ के साथ-साथ मुगलों की अधीनता स्वीकार करने से उसे भी अपनी जागीर वापस मिल गयी और वह पुनः जलालखाँ के संरक्षक के रूप में कार्य करने लगा। 1529 ई. में बंगाल के शासक नुसरतशाह ने दक्षिण-बिहार पर आक्रमण किया परन्तु शेरखाँ ने उसे परास्त कर दिया। लोहानी-वंश के सरदार शेरखाँ की बढ़ती हुई शक्ति को बर्दाश्त न कर सके और उन्होंने उसकी हत्या का प्रयत्न किया। उसमें असफल होने पर उन्होंने नुसरतशाह से सहायता माँगी और जब उससे भी कोई लाभ न हुआ तब वह अल्पायु जलालखाँ को लेकर बंगाल भाग गये। **जलालखाँ के स्वयं भाग जाने से शेरखाँ का मार्ग स्वतः ही साफ हो गया। उसने 'हजरत-ए-आला' की उपाधि ग्रहण की और दक्षिण-बिहार का वास्तविक स्वामी बन बैठा।** 1530 ई. में उसने चुनार के किलेदार ताजखाँ की विधवा पत्नी 'लाड मलिका' से विवाह करके न केवल चुनार के मजबूत किले पर ही अधिकार कर लिया बल्कि अपार सम्पत्ति भी प्राप्त की।

2. साम्राज्य के लिए संघर्ष (1530-40 ई.)

दक्षिण-बिहार के आधिपत्य और बंगाल की सेना पर विजय ने शेरखाँ की महत्वाकांक्षाओं को बढ़ा दिया। उसने नियमित रूप से अफगानों को संगठित करना प्रारम्भ किया और सभी अफगानों को सैनिक बनने के लिए बाध्य किया। उसने अफगानों की मुगलों के प्रति घृणा का लाभ उठाया और दूर-दूर से अफगानों को अपना साथ देने के लिए आव्हान किया। उसकी शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। परन्तु तब भी उस समय शेरखाँ अफगानों का एकमात्र नेता न था। 1530 ई. में हुमायूँ मुगल बादशाह बन चुका था और अफगानों ने महमूद लोदी के नेतृत्व में पुनः मुगलों से संघर्ष का निर्णय किया। बिहार में अफगान सरदार एकत्र होने लगे। शेरखाँ को यह सिद्ध करने के लिए कि वह मुगलों के विरुद्ध अफगान-एकता को आवश्यक मानता है, उनका साथ देना पड़ा। 1532 ई. में हुए दोहरिया के युद्ध में शेरखाँ हुमायूँ के विरुद्ध अफगानों के साथ रहा। परन्तु युद्ध में उसका भाग महत्वपूर्ण न था। अफगानों की पराजय हुई और महमूद लोदी सर्वदा के लिए भाग गया। महमूद लोदी के राजनीति से हटते ही शेरखाँ को अफगानों का नेतृत्व करने का अवसर प्राप्त हो गया।

1532 ई. में हुमायूँ ने चुनार का घेरा डाला परन्तु चार महीने के घेरे के पश्चात् भी उसे सफलता न मिली। गुजरात के शासक बहादुरशाह की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर हुमायूँ ने शेरखाँ से सन्धि करना उचित समझा। चुनार का किला शेरखाँ के पास ही रहने दिया गया। शेरखाँ ने अपने बेटे कुतुबखाँ के नेतृत्व में 500 सैनिक हुमायूँ की सेवा में भेज दिये। शेरखाँ के लिए यह समझौता हानिकारक न था। उसका बेटा कुतुबखाँ मन्दसौर के युद्ध के बाद हुमायूँ को छोड़कर उसी के साथ आ मिला।

उस समय जब हुमायूँ गुजरात और मालवा में व्यस्त था तब शेरखाँ ने बंगाल की ओर अपने कदम बढ़ाये। बंगाल का शासक महमूदशाह अयोग्य था। उसके समय में बंगाल की स्थिति दुर्बल हो रही थी। परन्तु उसने दक्षिणी बिहार पर आक्रमण करने का दुःसाहस किया। 1534 ई. में सूरजगढ़ का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ जिसमें शेरखाँ की पूर्ण विजय हुई और उसे भूमि, तोपखाना, हथियार, हाथी और सभी कुछ मिले। 1535 ई. में शेरखाँ ने बंगाल पर आक्रमण किया और महमूदशाह ने 13 लाख सोने के सिक्के देकर उससे सन्धि कर ली। 1537 ई. में शेरखाँ ने इस आधार पर कि महमूदशाह ने उसे वार्षिक कर नहीं दिया था, बंगाल पर पुनः आक्रमण किया। महमूदशाह अपनी सुरक्षा न कर सका और राजधानी गौड़ भाग गया तथा हुमायूँ से सहायता की प्रार्थना की।

1537 ई. में हुमायूँ शेरशाह की शक्ति को दबाने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा। 1537-38 ई. में हुमायूँ ने 6 माह चुनार के किले को जीतने में लगाये। उस समय तक शेरखाँ ने गौड़ को जीतकर लूट लिया और उसकी सेना वहाँ से वापस आ गयी। 1530 ई. में शेरखाँ ने चालाकी से दक्षिण-बिहार के एक दृढ़ किले रोहतासगढ़ पर अपना अधिकार कर लिया। इसी किले में उसने अपने परिवार और खजाने को सुरक्षित किया और हुमायूँ से संघर्ष की तैयारी की। हुमायूँ बिहार को बिना जीते हुए बंगाल चला गया और वहाँ 6 या 7 माह रहा। इस बीच शेरखाँ ने उसके वापस लौटने के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। 1539 ई. में चौसा का युद्ध हुआ जिसमें हुमायूँ पराजित होकर भाग गया। इस विजय के पश्चात् अपने सरदारों की सम्मति से शेरखाँ ने 'शेरशाह सुल्तान-ए-आदिल' की उपाधि ग्रहण की और सुल्तान बन गया। बंगाल में जिस छोटी सी सेना को हुमायूँ छोड़ आया था, उसे परास्त करके बंगाल पर अधिकार कर लिया गया और इस प्रकार चौसा के युद्ध के पश्चात् शेरशाह बंगाल और बिहार का सुल्तान बन गया। 1540 ई. में कन्नौज या बिलग्राम के युद्ध में शेरशाह ने

हुमायूँ को पुनः परास्त किया। उसके पश्चात् शेरशाह ने आगरा, दिल्ली, सम्भल, ग्वालियर, लाहौर आदि सभी स्थानों पर अपना अधिकार कर लिया, हुमायूँ को भारत से बाहर निकालने के लिए एक सेना भेज दी और इस प्रकार मुगलों को भारत से बाहर निकालकर पुनः उत्तर-भारत में अफगान-साम्राज्य को स्थापित किया। (हुमायूँ के साथ संघर्ष के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 2 पढ़िए।)

3. साम्राज्य-विस्तार (अन्तिम समय और मृत्यु—1540-45 ई.)

दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् शेरशाह का प्रमुख लक्ष्य हुमायूँ को भारत से बाहर निकालना तथा उत्तर-पश्चिम की ओर से मुगलों के पुनः प्रवेश को असंभव बनाना था। उसे उन सभी प्रदेशों को जीतना था जो किसी समय मुगलों अथवा लोदी सुल्तानों के आधिपत्य में थे। इसके अतिरिक्त शेरशाह ने अपने साम्राज्य की सुदृढ़ता के लिए अन्य प्रदेशों को भी अपने अधिकार में करना आवश्यक समझा। इसी कारण, 1545 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक एक अच्छी शासन-व्यवस्था को स्थापित करने के अतिरिक्त शेरशाह निरन्तर युद्धों और राज्य-विस्तार में लगा रहा।

शेरशाह ने खवासखाँ और कुतुबखाँ को हुमायूँ को भारत से बाहर निकालने के लिए नियुक्त किया और स्वयं आगरा और दिल्ली की व्यवस्था करने के पश्चात् लाहौर और उसके पश्चात् खुशाव तक गया। वहाँ पर बहुत से बलूची सरदारों ने उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और जब वह हुमायूँ की ओर से निश्चिन्त हो गया तब उत्तर-पश्चिम सीमा के गक्खर प्रदेश को जीतने के लिए गया।

1. गक्खर प्रदेश (1541 ई.)— शेरशाह का उद्देश्य बोलन दर्रे और पेशावर से आने वाले मार्गों को मुगलों के आक्रमणों से सुरक्षित करना था। विभिन्न बलूची सरदारों और सिन्ध के कुछ भाग पर अधिकार करने से कुछ सुरक्षा उसे प्राप्त हो गयी थी परन्तु गक्खर जाति मुगलों के प्रति वफादार थी। शेरशाह ने गक्खरों को समाप्त करने का निश्चय किया। उसने उनके प्रदेश पर आक्रमण किया, उनके मुख्य स्थानों को बर्बाद कर दिया और अनेक गक्खरों को कैद कर लिया। वह गक्खरों की शक्ति को तोड़ सका परन्तु समाप्त न कर सका। अनेक गक्खर सरदार इसके बाद भी शेरशाह का विरोध करते रहे और एक लम्बे समय तक यह संघर्ष चलता रहा।

अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए शेरशाह ने वहाँ एक दृढ़ किला बनवाया जिसका नाम उसने 'रोहतासगढ़' रखा। उसने वहाँ हैबतखाँ और खवासखाँ के नेतृत्व में एक शक्तिशाली अफगान सेना नियत की। वहीं से शेरशाह ने एक भागे हुए राजकुमार की सहायता करके कश्मीर के शासक मिर्जा हैदर को गद्दी से हटाने का प्रयत्न किया यद्यपि उसे सफलता न मिली।

2. बंगाल का विद्रोह (1541 ई.)—अभी शेरशाह पंजाब को ठीक प्रकार से व्यवस्थित भी न कर सका था कि उसे बंगाल से चिन्ताजनक सूचनाएँ प्राप्त हुईं। सूबेदार खिज्रखाँ ने मृत सुल्तान महमूदशाह की पुत्री से शादी कर ली थी और एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार कर रहा था। शेरशाह स्वयं वहाँ गया और खिज्रखाँ को कैद कर लिया। बंगाल जैसे दूरस्थ और धनवान सूबे में विद्रोह की आशंकाओं को समाप्त करने के लिए शेरशाह ने वहाँ एक अन्य प्रकार की शासन-व्यवस्था स्थापित की। उसने बंगाल को सरकारों (जिलों) में बाँटकर उनमें से प्रत्येक को एक छोटी सेना के साथ शिकदारों के नियन्त्रण में दे दिया और शिकदारों

की देखभाल के लिए एक असैनिक अधिकारी 'आमीन-ए-बंगला' अथवा 'अमीर-ए-बंगाल' को नियुक्त किया। सर्वप्रथम काजी फजीलात नामक व्यक्ति को यह पद दिया गया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत बंगाल में किसी भी अधिकारी के पास एक बड़ी सेना न रही जिससे उनमें से कोई भी विद्रोह करने की स्थिति में ने रहा।

3. मालवा (1542 ई.)—मालवा में मल्लूखाँ गुजरात के सूबेदार के रूप में कार्य कर रहा था। परन्तु बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसने स्वतन्त्र शासक के रूप में मालवा पर अधिकार करके अपने को 'कादिरशाह' की उपाधि से विभूषित कर लिया (1537 ई.)। माँडू, सारंगपुर, उज्जैन और रणथम्भौर के दृढ़ किले उसके अधिकार में थे। उसने 1540 ई. में शेरशाह के बेटे कुतुबखाँ को सहायता देने से इन्कार किया था जिसके कारण कालपी के युद्ध में अस्करी और हिन्दाल ने उसकी हत्या कर दी। उसने शेरशाह के आधिपत्य को भी मानने से इन्कार कर दिया था। परन्तु शेरशाह को इसका अधिक भय था कि कहीं दुर्बल कादिरखाँ जोधपुर के शासक मालदेव अथवा हुमायूँ के संक्षरण में न चला जाय, जिनसे शेरशाह को खतरा हो सकता था। इस कारण शेरशाह मालवा पर आक्रमण करने के लिए गया। मार्ग में उसने ग्वालियर के किले को अपने आधिपत्य में किया। कादिरशाह डर गया और सारंगपुर आकर उसने शेरशाह को आत्मसमर्पण कर दिया। माँडू, उज्जैन, सारंगपुर आदि सभी स्थान शेरशाह के अधिकार में चले गये। शुजातखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया और कादिरशाह को लखनौती व कालपी की जागीरें दी गयीं। परन्तु कादिरशाह अपनी जान बचाकर गुजरात भाग गया। वापस आते हुए शेरशाह ने रणथम्भौर के किलेदार को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया और यह दृढ़ किला भी शेरशाह को प्राप्त हो गया। बाद में मालवा को पुनः जीतने का कादिरशाह का प्रयत्न असफल हुआ।

4. रायसीन (1543 ई.)—मालवा को जीतने के पश्चात् शेरशाह बिहार गया। वहाँ उसने पटना नगर बसाया और वहाँ एक दृढ़ किला बनवाया। वहीं उसे यह समाचार मिला कि रायसीन के राजा पूरनमल ने मुसलमानों पर इतने अत्याचार किये थे कि सम्मानित मुस्लिम परिवारों की स्त्रियों को नाचने-गाने का पेशा करना पड़ रहा था। शेरशाह ने पूरनमल को दण्ड देने की शपथ ली। डॉ. कानूनगो के अनुसार, "शेरशाह का रायसीन पर आक्रमण करने का कारण धार्मिक न होकर राजनीतिक था।" पूरनमल के अधिकार में रायसीन और चन्देरी के दृढ़ किले थे जिनका शासन वह अपने बड़े भाई के छोटे बेटे के नाम से करता था। मालवा में उन शक्तिशाली किलों को राजपूतों के आधिपत्य में छोड़ना शेरशाह के लिए कभी भी खतरनाक हो सकता था। यद्यपि शेरशाह के मालवा-आक्रमण के अवसर पर पूरनमल ने शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था परन्तु शेरशाह इतने से सन्तुष्ट न रह सका। राजनीतिक और धार्मिक कारणों के अतिरिक्त शेरशाह की निगाहें रायसीन राज्य की सम्पत्ति पर भी थीं।

1543 ई. में शेरशाह ने रायसीन पर आक्रमण किया। कई माह तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु शेरशाह को सफलता न मिली। अन्त में, शेरशाह ने चालाकी से काम लिया। उसने कुरान पर हाथ रखकर शपथ ली कि यदि किला उसे सौंप दिया जाय तो वह पूरनमल और उसके सरदारों के परिवारों के सम्मान और जीवन को हानि नहीं पहुँचायेगा। कुतुबखाँ और शाहजादा आदिलखाँ इस शर्त को पूरा करने के गवाह बने। इस आश्वासन पर पूरनमल ने आत्मसमर्पण कर दिया। वह अपने राजपूत सैनिकों के साथ किले से बाहर आ

गया तथा शेरशाह के खेमों के निकट ही ठहर गया। किला अफगानों को सौंप दिया गया। तत्पश्चात् रायसीन के मुस्लिम परिवारों और स्त्रियों ने शेरशाह से रो-रोकर पूरनमल को सजा देने की प्रार्थना की और मुल्लाओं ने शेरशाह को अपनी शपथ तोड़ देने की सलाह दी। शेरशाह को भी केवल बहाना चाहिए था। एक रात राजपूतों के खेमों को घेर लिया गया। प्रातःकाल होते-होते राजपूतों को अफगानों का उद्देश्य समझ में आ गया और उन्होंने अपने बच्चों व स्त्रियों को कत्ल करना आरम्भ कर दिया जिससे उनके सम्मान की रक्षा हो सके। उसी अवसर पर अफगानों ने राजपूतों पर आक्रमण किया। सभी राजपूत बहादुरी से युद्ध करते हुए मारे गये तथा स्त्रियों ने 'जौहर' कर लिया। दुर्भाग्य से जो कुछ जीवित बचे उन्हें अफगानों ने गुलाम बना लिया। इन्हीं में पूरनमल की एक छोटी लड़की थी जिसे बाजार में नाचने के लिए छोड़ दिया गया। शेरशाह ने कम से कम कीमत देकर रायसीन के दृढ़ किले को जीत लिया था। परन्तु इस घटना ने "शेरशाह के नाम पर सबसे गहरा धब्बा छोड़ा" (Left the deepest blot on Sher Shah's memory)। इस विश्वासघात से कुतुबखाँ ने इतनी शर्म अनुभव की कि आत्महत्या कर ली।

5. मुल्तान (1543 ई.)—शेरशाह ने खवासखाँ को पंजाब से वापस बुला लिया था और हैबतखाँ को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया था। हैबतखाँ ने फतहखाँ जाट को परास्त करके कैद किया और शेरशाह के आदेश से मुल्तान को भी विजय किया। वहाँ पर शेरशाह ने बलूचियों की परम्पराओं का ध्यान रखते हुए ही शासन-व्यवस्था की। सम्भवतया, सिन्ध के कुछ भाग पर शेरशाह का अधिकार पहले ही हो चुका था। दोनों ही स्थानों पर शेरशाह ने अपने अधिकारियों की नियुक्ति की।

6. राजस्थान : मालदेव से युद्ध (1544 ई.)—1532 ई. में अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् मालदेव मारवाड़ का शासक बना था। उसकी राजधानी जोधपुर थी। वह योग्य, साहसी और महत्वाकांक्षी था। मेवाड़ के पतन के पश्चात् राजस्थान में कोई एक बड़ी शक्ति नहीं रह गयी थी। मालदेव ने इसका लाभ उठाया। वह शेरशाह के दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने तक राजस्थान का सबसे शक्तिशाली राजा बन गया। उसने मेड़ता, सिवाना, जालौर, टोंक, नागौर तथा अजमेर जैसे महत्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया था और झाझर, जो उसकी सीमाओं में था, दिल्ली से केवल तीस मील दूर था। शेरशाह किसी भी राजपूत राजा की बढ़ती हुई शक्ति को पसन्द नहीं करता था। मालदेव कभी भी उसके लिए संकट उपस्थित कर सकता था। मालदेव ने एक बार हुमायूँ को सहायता देने का आश्वासन दिया था, परन्तु बाद में शेरशाह की शक्ति की यथार्थता को देखकर उसने हुमायूँ को सहायता तो न दी परन्तु जैसी कि शेरशाह की इच्छा थी, उसने हुमायूँ को कैद करने का प्रयत्न भी नहीं किया। इस कारण शेरशाह मालदेव की शक्ति को समाप्त करने का उत्सुक था। जब बीकानेर के राजा राव कल्याणमल और मेड़ता के राजा वीरमदेव ने मालदेव के विरुद्ध शेरशाह से सहायता माँगी तब शेरशाह को बहाना मिल गया और उसने 80,000 की विशाल सेना के साथ राजस्थान में प्रवेश किया। जोधपुर से 70 मील दूर मालदेव और शेरशाह की सेनाएँ एक-दूसरे से सम्मुख पहुँच गयीं। शेरशाह को रसद की कठिनाई थी और राजपूतों की सेना दृढ़ और शक्तिशाली थी। मालदेव भी अवसर की तलाश में था। इस कारण प्रायः एक माह तक दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख पड़ी रहीं। शेरशाह ने एक बार फिर शौर्य के स्थान पर चालाकी का सहारा लिया। उसने एक झूठा पत्र तैयार कराया जो मालदेव के कुछ राजपूत सरदारों की तरफ से शेरशाह को लिखा गया था और जिसमें उनकी तरफ से यह आश्वासन दिया गया था कि वे युद्ध के अवसर पर मालदेव का साथ छोड़ देंगे तथा मालदेव

को कैद करके शेरशाह को सौंप देंगे। इस पत्र को मालदेव के खेमों के निकट डलवा दिया गया जिससे वह सुविधा से मालदेव को मिल जाये। मालदेव के एक सरदार को वह मिल गया और उसे मालदेव तक पहुँचा दिया गया। उस पत्र का वैसा ही परिणाम हुआ जैसा शेरशाह चाहता था। मालदेव को अपने सरदारों पर भरोसा न रहा। उसने युद्ध करने का निश्चय छोड़ दिया और वापस लौटने का निर्णय लिया। कुछ सम्मानित सरदारों जैसे जयता और कुम्पा ने इस विश्वासघात के कलंक और आरोप को धोने का निर्णय किया और अपने कुछ हजार राजपूतों को लेकर शेरशाह पर आक्रमण किया। एक-एक राजपूत अन्त तक बहादुरी से लड़ता हुआ मारा गया। मालदेव पर सत्यता प्रकट हो गयी परन्तु तब तक काफी देर हो चुकी थी। उसकी सेना की व्यवस्था नष्ट हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में उसे वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा। **शेरशाह की यह विजय कूटनीतिक विजय थी** अन्यथा राजपूतों के शौर्य से शेरशाह इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने कहा कि "मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान के साम्राज्य को प्रायः खो चुका था।" **शेरशाह ने मालदेव का पीछा किया तथा अजमेर, जोधपुर, नागौर, मेड़ता, आबू आदि सभी नगर और किले उसने जीत लिये।** मालदेव के पास मारवाड़ की भूमि का बहुत छोटा-सा भाग रह गया। शेरशाह ने वीरमदेव को मेड़ता और कल्याणमल को बीकानेर दिया तथा जोधपुर से मेवात तक के बाकी सभी क्षेत्र को खवासखाँ की सूबेदारी में सौंप दिया। **परन्तु शेरशाह की मारवाड़-विजय स्थायी न रह सकी। शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् ख़वासखाँ ने विद्रोह कर दिया और मालदेव ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण मारवाड़ पर पुनः अधिकार कर लिया।** परन्तु यह कार्य शेरशाह की मृत्यु के पश्चात् 1545 ई. में ही सम्भव हो सका।

मारवाड़ को विजय करके वापस लौटते हुए **शेरशाह ने मेवाड़ को अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।** राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ की स्थिति निरन्तर दुर्बल होती गयी थी। बलबीर नामक एक व्यक्ति ने तत्कालीन राजा विक्रमाजीत को मारकर गद्दी पर अपना अधिकार किया था। उसने उसके छोटे बच्चे उदयसिंह को भी मारने का प्रयत्न किया था परन्तु राजकुमार की धाय पन्ना ने अपने बच्चे का जीवन देकर राजकुमार को बचा लिया। वही बच्चा उदयसिंह 1542 ई. में राजा बना। परन्तु राज्य की स्थिति ठीक न थी। जब शेरशाह ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तब उदयसिंह के मन्त्रियों ने चित्तौड़ को स्वेच्छा से शेरशाह को समर्पित कर दिया और शेरशाह के स्वामित्व को स्वीकार कर लिया। चित्तौड़ को शेरशाह ने 'सरकार' में परिवर्तित कर दिया जिससे राणा ने अपनी राजधानी कुम्भलगढ़ बना ली। शेरशाह ने रणथम्भौर को भी अपने अधीन किया और, **सम्भवतया, जयपुर के कछवाहा राजपूत सरदारों ने भी उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था।**

इस प्रकार, शेरशाह ने राजस्थान को अपने अधीन करने में सफलता पायी। मारवाड़ के अतिरिक्त शेरशाह ने राजपूत राजाओं को उनके राज्यों से वंचित नहीं किया बल्कि उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराने के पश्चात् उन्हें उनके राज्य वापस कर दिये। उसने उनको एक दूसरे से पृथक किया और विभिन्न दृढ़ किलों पर अधिकार करके और वहाँ अफगान सेना की नियुक्ति करके **अफगान-साम्राज्य की सुरक्षा और उसके आधिपत्य को स्थायी रखने का प्रयत्न किया। इसी कारण उसकी राजपूत-नीति सफल हुई।**

7. बुन्देलखण्ड (कालिंजर : 1545 ई.)—कालिंजर का दृढ़ किला कीरतसिंह के अधिकार में था। मालवा और राजस्थान की विजय के पश्चात्, प्रशासकीय और सैनिक महत्व के कारण, शेरशाह ने उसको जीतना आवश्यक समझा। राजा कीरतसिंह ने हुमायूँ के

आधिपत्य को स्वीकार किया था और, सम्भवतया, उसके लड़के वीरभानु ने चौसा के युद्ध के पश्चात् हुमायूँ को कंड़ा तक सुरक्षित पहुँचाने में सहायता दी थी। इस कारण जब तक वह शेरशाह के आधिपत्य को स्वीकार न कर लेता, यह विश्वास किया जा सकता था कि उसकी सहानुभूति मुगल-वंश के प्रति थी। यह भी कहा जाता है कि शेरशाह कीरतसिंह की एक नाचने-गाने वाली दासी को हथियाना चाहता था जिसकी उसने बहुत प्रशंसा सुनी थी। जब रीवां के राजा वीरभान बघेला ने शेरशाह की आज्ञा ठुकराकर राजा कीरतसिंह के यहाँ शरण ली तब शेरशाह ने उसे वापस माँगा। कीरतसिंह के इंकार करने पर शेरशाह को कालिंजर पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। नवम्बर 1544 ई. में शेरशाह ने किले का घेरा डाल दिया। लगभग छः-सात माह के घेरे के पश्चात् भी किले को जीता न जा सका। 22 मई, 1545 ई. को शेरशाह ने किले की दीवार को गोला-बारुद्ध से उड़ा देने की आज्ञा दी। इन्हीं में से बारूद का एक गोला किले की दीवार से टकराकर वापस आया और गोला-बारूद के ढेर में आकर गिरा जिससे उसमें आग लग गयी। शेरशाह पास ही खड़ा था। वह बुरी तरह से जल गया। उसने किले को जीतने की आज्ञा दी। अफगानों को सफलता मिली और शाम तक किले पर अधिकार कर लिया गया। मृत्यु से पहले किले पर अधिकार की सूचना पाकर शेरशाह सन्तोष प्रकट करता हुआ 22 मई, 1545 ई. को मर गया। डॉ. कानूनगो के शब्दों में, "इस प्रकार, एक महान् सैनिक और राजनीतिज्ञ का अन्त अपने जीवन की विजयों और लोकहितकारी कार्यों के मध्य में ही हो गया······ ।"

अपनी मृत्यु के समय तक शेरशाह ने गुजरात, असम और कश्मीर को छोड़ कर उत्तर-भारत के प्रायः सम्पूर्ण भू-प्रदेश पर अपनी सत्ता स्थापित करने में सफलता पायी। **शेरशाह ने एक मामूली जागीरदार के पुत्र की स्थिति से उठकर सुल्तान का पद प्राप्त किया और एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया।** अफगान शासकों में श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए शेरशाह का यही कार्य पर्याप्त था। परन्तु शेरशाह की योग्यता इससे भी अधिक थी। **वह एक महान् शासन-प्रबन्धक भी सिद्ध हुआ।** अतः वह मध्य-युग के श्रेष्ठ शासकों में से एक माना जाता है।

4. शासन-प्रबन्ध (शेरशाह अकबर का अग्रणी)

ई. बी. हैवेल के अनुसार, "सैनिक और असैनिक दोनों ही मामलों में शेरशाह ने संगठनकर्ता की दृष्टि से शानदार योग्यता का परिचय दिया।" इर्स्किन ने लिखा है : "अकबर से पहले के सभी शासकों की तुलना में शेरशाह में अपनी प्रजा के लिए कानून-निर्माण और संरक्षक की दृष्टि से कार्य करने की सबसे अधिक भावना थी।" ये कथन स्पष्ट करते हैं कि इतिहासकारों को शेरशाह की शासन-क्षमता ज्ञात थी परन्तु शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से शेरशाह को उसके उपयुक्त स्थान दिलाने का श्रेय 20वीं सदी में की गयी डॉ. कालिकारंजन कानूनगो की महत्वपूर्ण खोजों को है। डॉ. कानूनगो ने अपना मत अकबर के समय में अब्बासखाँ सरवानी द्वारा रचित 'तारीख-ए-शेरशाही' के ही आधार पर बनाया है। आज से 40 वर्ष पहले शेरशाह का मुख्य स्थान एक सैनिक और साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से था। परन्तु डॉ.कानूनगो ने सिद्ध किया है कि "शासन-प्रबन्धक और सैनिक-प्रतिभा की दृष्टि से शेरशाह अफगानों में सर्वश्रेष्ठ था।" डॉ. कानूनगो ने शेरशाह को अकबर से भी श्रेष्ठ रचनात्मक बुद्धि वाला और राष्ट्र-निर्माता बताया। सर वूल्जले हेग ने उसके बारे में लिखा है : "सत्यता से देखा जाय तो शेरशाह दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाले महान् शासकों में से एक था। ऐबक से लेकर औरंगजेब तक हुए शासकों में से किसी को भी शासन की विस्तृत बातों का इतना ज्ञान न था अथवा सार्वजनिक कार्यों पर इतना बारीकी से अधिकार और प्रभाव

न था जितना कि शेरशाह को।" इस प्रकार, योग्य शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से इतिहास में शेरशाह का स्थान महत्वपूर्ण माना गया है। परन्तु डॉ. कानूनगो के पश्चात् इतिहासकारों ने इस सम्बन्ध में और भी खोजें की हैं। रामप्रसाद त्रिपाठी और डॉ. परमात्मा सरन जैसे इतिहासकारों ने यह विचार प्रकट किया है कि "शेरशाह एक कुशल शासन-प्रबन्धक तो था परन्तु उसमें मौलिकता का अभाव था।" अब इसी मत को स्वीकार किया जाता है। निस्सन्देह, **शेरशाह मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में से एक था परन्तु उसने किसी नवीन शासन-व्यवस्था को जन्म नहीं दिया।** उदाहरण के तौर पर, उसने अपनी सैनिक-व्यवस्था के सिद्धान्त अलाउद्दीन खलजी से प्राप्त किये थे और उसकी लगान-व्यवस्था भी नितान्त नवीन न थी। परन्तु शेरशाह ने अपने से पहले के योग्य शासकों के अनुभवों का लाभ उठाया। उसने उन पुराने सिद्धान्तों और संस्थाओं को इस कुशलता से लागू किया कि उनका स्वरूप नवीन दिखायी दिया और वह इतनी सफलता से लागू किये गये कि उनसे जनकल्याण सम्भव हो सका तथा शासन स्थिर और व्यवस्थित हुआ।

शेरशाह ने शासन का प्रथम अनुभव उस समय प्राप्त किया था जब उसने अपने पिता की जागीर की देखभाल की थी। उसके पश्चात् शेरशाह ने अपने मालिक जलालखाँ के संरक्षक के रूप में दक्षिण-बिहार पर शासन किया। वह मुगलों के सम्पर्क में आया था और उनकी शासन और सैनिक-व्यवस्था को भी उसने समझा था। इस प्रकार, दिल्ली का सुल्तान बनने से पहले शेरशाह ने शासन का गंभीर अनुभव प्राप्त कर लिया था। बादशाह बनने के पश्चात् शेरशाह ने इस भावना और अनुभव के साथ परिश्रम को भी सम्मिलित कर दिया। वह प्रतिदिन 16 घण्टे कार्य करता था और सेना, संगठन, भर्ती, कवायद, न्याय, लगान के कागज आदि शासन के सभी कार्यों की स्वयं देखभाल करता था। युद्धों के अवसर पर भी उसके कार्यक्रम में शायद ही अन्तर पड़ता था। इसी कारण शेरशाह शासन-प्रबन्ध को व्यवस्थित करने में सफल हुआ।

(1) केन्द्रीय शासन

सुल्तान—शेरशाह ने अफगानों की भावनाओं और परम्पराओं का ध्यान रखा परन्तु वह यह जानता था कि वे भारत में पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती थीं। इस कारण उसने व्यवहार में उनमें परिवर्तन कर दिया। **उसका राजत्व–सिद्धान्त तुर्क और अफगानों का मिलाजुला स्वरूप था। यदि व्यवहार में देखा जाय तो वह तुर्कों के सिद्धान्त के अधिक निकट था। शेरशाह स्वयं शासन का प्रधान था। शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं।** शेरशाह की सहायता के लिए निश्चय ही मन्त्रियों की भाँति उच्च पदाधिकारी थे परन्तु शेरशाह ने मुगल-शासकों की भाँति अपने मन्त्रियों को विस्तृत अधिकार नहीं दिये थे। मन्त्री स्वयं निर्णय नहीं लेते थे बल्कि केवल उसकी आज्ञा का पालन करते थे और उसके द्वारा सौंपे गये कार्यों की पूर्ति करते थे। सम्भवतया, शेरशाह ने केन्द्रीय शासन-व्यवस्था की विस्तृत योजना बनाने की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया था (अथवा उसके बारे में पूर्णतया पता नहीं लग सका है)। यह उसके शासन की एक दुर्बलता भी मानी गयी है क्योंकि ऐसी स्थिति में केन्द्रीय व्यवस्था पूर्णतया सुल्तान की योग्यता पर निर्भर करती थी और सुल्तान के अयोग्य होने पर उसके नष्ट होने की सम्भावना थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसकी केन्द्रीय व्यवस्था के बारे में कुछ तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

मन्त्री—यद्यपि शेरशाह ने शासन में मन्त्रियों को कोई विशेष स्थान नहीं दिया था तथापि जैसा कि ए. एल. श्रीवास्तव का कहना है कि "इतने विशाल साम्राज्य की देखभाल,

मन्त्रियों की सहायता के बिना एक ही व्यक्ति के द्वारा करना मानव-शक्ति की सामर्थ्य की दृष्टि से असम्भव था।" उनका कहना है कि "इस कारण शासन की सुविधा की दृष्टि से शेरशाह को सल्तनत-काल की व्यवस्था के आधार पर चार मन्त्री-विभाग बनाने पड़े थे।" उनके अनुसार यह विभाग निम्नवत् थे :

(i) **दीवाने-वजारत**—यह लगान और अर्थ-व्यवस्था का प्रधान था। राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना इसका दायित्व था। इसे अन्य मन्त्रियों के कार्यों की देखभाल का भी अधिकार था।

(ii) **दीवाने-आरिज**—यह सेना के संगठन, भर्ती, रसद, शिक्षा और नियन्त्रण की देखभाल करता था। परन्तु यह सेना का सेनापति न था। शेरशाह स्वयं ही सेना का सेनापति था और स्वयं सेना के संगठन और सैनिकों की भर्ती आदि में दिलचस्पी लेता था।

(iii) **दीवाने-रसालत**—यह विदेश-मन्त्री की भाँति कार्य करता था। अन्य राज्यों से पत्र-व्यवहार करना और उनसे सम्पर्क रखना इसका दायित्व था। यह कभी-कभी राज्य की ओर से दिये जाने वाले दान की देखभाल भी करता था।

(iv) **दीवाने-इंशा**—इसका कार्य सुल्तान के आदेशों को लिखना, उनका लेखा रखना, राज्य के विभिन्न भागों में उनकी सूचना पहुँचाना और उनसे पत्र-व्यवहार करना था।

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार 'दीवाने-काजा' और 'दीवाने-बरीद' नामक दो अधिकारी भी मन्त्री-पद के समान ही थे। 'दीवाने-काजा' सुल्तान के पश्चात् राज्य के मुख्य न्यायाधीश की भाँति कार्य करता था और 'दीवाने-बरीद' राज्य के गुप्तचर–विभाग और डाक-व्यवस्था की देखभाल करता था। इनके अतिरिक्त एक अधिकारी ऐसा भी होगा जो सुल्तान के महल, उसकी रक्षा और उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की देखभाल करता होगा और सुल्तान के निकट सम्पर्क में रहने के कारण प्रभावशाली होगा।

(2) प्रान्तीय शासन

(i) **सूबा या इक्ता**—शेरशाह के प्रान्तीय शासन के बारे में बहुत कम पता लग सका है और जो कुछ भी पता लगा है उसके बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। डॉ. कानूनगो के अनुसार, "शेरशाह के समय में सरकारों से ऊँचा विभाजन नहीं किया गया था और उसके समय में प्रान्त या सूबा जैसी शासन की कोई इकाई न थी।" डॉ. परमात्मा सरन के अनुसार, "प्रान्त और फौजी गवर्नरों की व्यवस्था थी।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "शेरशाह के समय में एक तो उन हिन्दू-राजाओं के राज्य थे जिन्होंने शेरशाह के आधिपत्य को तो स्वीकार कर लिया था किन्तु जिन्हें अपने राज्य का शासन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था। इसके अतिरिक्त ऐसे सूबे थे जिन्हें 'इक्ता' पुकारा जाता था और जिनमें फौजी गवर्नर या सूबेदारों की नियुक्ति की गयी थी। लौहार, मालवा और अजमेर में सूबेदारों की नियुक्ति की गयी थी।" डॉ. ए. बी. पाण्डे का कहना है कि "सूबों के प्रधान को हाकिम, अमीर या फौजदार पुकारते थे। पंजाब के हाकिम हैबतखाँ को 'मसनद-ए-आला' की उपाधि दी गयी थी और उसे 30,000 की सेना रखने तथा अपने अधिकारियों में जागीर बाँटने का अधिकार था। इसी प्रकार, खवासखाँ को राजपूताने का सूबेदार नियुक्त किया गया था और उसे 20,000 सैनिक रखने का अधिकार था।" इसके अतिरिक्त, बंगाल के सूबे में शेरशाह ने एक अन्य प्रकार की व्यवस्था की थी। सम्पूर्ण सूबे को 'सरकारों' में बाँटकर प्रत्येक को एक सैनिक अधिकारी की देखरेख में छोड़ दिया गया था। उनकी देखभाल करने के लिए सूबे में एक असैनिक अधिकारी 'अमीर-ए-बंगाल' की नियुक्ति की गयी थी। इस प्रकार, बंगाल में

कोई फौजी सूबेदार न था जिसके पास कोई बड़ी सेना होती। यह प्रबन्ध विद्रोह की आशंका को समाप्त करने के उद्देश्य से भी किया गया था।

इस प्रकार, शेरशाह के समय में सूबों अथवा इक्ताओं के शासन की व्यवस्था समान न थी और न विभिन्न अधिकारियों को समान अधिकार ही प्राप्त थे। शेरशाह इन अधिकारियों पर कठोर नियन्त्रण रखता था। 1541 ई. में बंगाल में विद्रोह अवश्य हुआ था परन्तु वह शेरशाह के वहाँ पहुँचते ही समाप्त हो गया था। इसके पश्चात् किसी भी सूबेदार ने शेरशाह के विरुद्ध विद्रोह करने का साहस नहीं किया।

(ii) सरकारें (जिले)—प्रत्येक इक्ता या सूबा सरकारों में बँटा होता था। प्रत्येक सरकार में दो प्रमुख अधिकारी होते थे—'शिकदार-ए-शिकदारां' और 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां'। 'शिकदार-ए-शिकदारां' का पद अधिक सम्मान का था। वह एक सैनिक-अधिकारी था और सैनिकों का एक सुदृढ़ दल उसके साथ रहता था। अपने सरकार में शान्ति स्थापित रखना और अधीनस्थ शिकदारों के कार्यों की देखभाल करना उसका कर्तव्य था। 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' मुख्यतया न्याय-अधिकारी था। दीवानी मुकदमों का फैसला करना और अपने अधीन मुन्सिफों के कार्यों की देखभाल करना उसका दायित्व था। इन दो बड़े अधिकारियों के अतिरिक्त इनकी सहायता के लिए अन्य बहुत से छोटे अधिकारी भी प्रत्येक सरकार में अवश्य होते होंगे।

(iii) परगने—प्रत्येक सरकार कई परगनों में बँटा होता था। प्रत्येक परगने में एक शिकदार, एक मुन्सिफ, एक फोतदार (खजांची) और दो कारकुन (क्लर्क) होते थे। शिकदार के साथ एक सैनिक दस्ता होता था और उसका कर्तव्य परगने में शान्ति स्थापित रखना था। मुन्सिफ का कार्य दीवानी मुकदमों का निर्णय करना और भूमि की नाप एवं लगान-व्यवस्था की देखभाल करना था। फोतदार परगने का खजांची था और कारकुनों का कार्य हिसाब-किताब लिखना था।

(iv) गाँव—प्रत्येक गाँव स्वयं शासन की एक इकाई था। सरकार की ओर से वहाँ कोई अधिकारी नियुक्त नहीं किया जाता था परन्तु गाँव के चौकीदार, पटवारी और प्रधान को सरकार स्वीकार करती थी और शासन में उनसे सहायता लेती थी। गाँव की अपनी पंचायत होती थी जो गाँव में सुरक्षा, शिक्षा, सफाई आदि का प्रबन्ध करती थी। शेरशाह ने गाँव की परम्परागत व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया था परन्तु गाँव के इन अधिकारियों को अपने कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था अन्यथा इन्हें दण्ड दिया जाता था।

(3) अर्थ-व्यवस्था (लगान)

केन्द्रीय सरकार की आय के मुख्य साधन लगान, लावारिस-सम्पत्ति, व्यापारिक कर, टकसाल, नमक-कर, अधीनस्थ राजाओं, सरदारों एवं व्यापारियों आदि के द्वारा दिये गये उपहार, युद्ध में लूटे गये माल का 1/5 भाग, जजिया, आदि थे। सरकार के व्यय के मुख्य स्रोत सेना, अधिकारियों के वेतन तथा सुल्तान व उसके परिवार के व्यक्तिगत खर्च थे।

निस्सन्देह, राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमि-कर अथवा लगान था। शेरशाह ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया था। अबुल फजल ने लिखा था कि "उसने अलाउद्दीन की व्यवस्था को पुनः लागू किया जिसे उसने 'तारीख-ए-फीरोजशाही' में पढ़ा था और आगे आने वाली पीढ़ियों की प्रशंसा का पात्र बन गया।" परन्तु शेरशाह के बारे में व्यक्त किये यह विचार ठीक नहीं हैं। शेरशाह ने अन्धा होकर अलाउद्दीन की लगान-व्यवस्था को लागू नहीं किया था। उसने जो ठीक समझा वही किया। वह किसानों की भलाई में ही राज्य की भलाई

मानता था। जब वह अपने पिता की जागीर का प्रबन्ध कर रहा था तभी उसने किसानों की भलाई को प्रमुखता दी थी। **शेरशाह की लगान-व्यवस्था बहुत अच्छी मानी जाती है।** उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :

(i) शेरशाह की लगान-व्यवस्था मुख्यतया रैयतवाड़ी थी जिसमें किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया गया था। मुल्तान के अतिरिक्त राज्य के सभी भागों में इस लगान-व्यवस्था को लागू किया गया। इस कार्य में शेरशाह को पूर्ण सफलता नहीं मिली और जागीरदारी प्रथा भी चलती रही। मालवा और राजस्थान में भी व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव न हो सका परन्तु फिर भी उसने इस दिशा में पर्याप्त सफलता प्राप्त की।

(ii) उत्पादन के आधार पर भूमि को तीन श्रेणियों में बाँटा गया—अच्छी, मध्यम और बुरी।

(iii) खेती योग्य सभी भूमि की नाप की जाती थी और पता लगाया जाता था कि किस किसान के पास कितनी और किस श्रेणी की भूमि है। उस आधार पर पैदावार का औसत (Average) निकाला जाता था और तब डॉ. कानूनगो और आई. एच. कुरैशी के अनुसार औसत पैदावार का आधा (1/2) भाग लगान के रूप में किसान से लिया जाता था। परन्तु डॉ. परमात्मा सरन, डॉ. आर. पी. त्रिपाठी तथा अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार औसत पैदावार का एक-तिहाई (1/3) भाग किसान से लगान के रूप में लिया जाता था।

(iv) किसानों को सुविधा थी कि वह अपना लगान सिक्के की शक्ल में दें या गल्ले की शक्ल में यद्यपि सिक्के की शक्ल में लगान लेना सरकार अधिक ठीक समझती थी। स्थानीय बाजार में जो मूल्य गल्ले का होता था उसी के आधार पर सिक्के की शक्ल में किसान सरकार को लगान देता था। निस्सन्देह, ऐसी स्थिति में विभिन्न स्थानों पर गल्ले की भिन्न-भिन्न कीमतें होती थीं। इस कारण विभिन्न स्थानों पर गल्ले को सिक्के की शक्ल में बदलने की कीमतें भी भिन्न होती थीं।

(v) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का लगान सिक्के की शक्ल में ही देना होता था।

(vi) किसानों को फसल के अनुसार वर्ष में दो बार लगान जमा करने की सुविधा थी।

(vii) किसानों को सरकार की ओर से 'पट्टे' दिये जाते थे जिनमें स्पष्ट किया गया होता था कि उस वर्ष उन्हें कितना लगान देना है। किसान 'कबूलियात-पत्र' के द्वारा इन्हें स्वीकार करते थे।

(viii) लगान के अतिरिक्त किसानों की जमीन की पैमाइश और लगान वसूल करने में संलग्न अधिकारियों के वेतन आदि के लिए सरकार को 'जरीबाना' और 'महासीलाना' नामक अतिरिक्त कर देने पड़ते थे जो पैदावार का 2-1/2% से 5% तक होते थे

(ix) इसके अतिरिक्त, किसान को पैदावार का 2-1/2 % अकाल, बाढ़ आदि जैसे समय में सुरक्षा के दृष्टिकोण से स्थानीय सरकारी गल्लाघरों में गल्ले की शक्ल में जमा कराना पड़ता था जो आवश्यकता के समय उनको वापस कर दिया जाता था।

(x) शेरशाह का स्पष्ट आदेश था कि लगान लगाते समय किसानों के साथ सहानुभूति का बर्ताव किया जाय लेकिन लगान वसूल करते समय कोई नरमी न बरती जाय।

(xi) शेरशाह यह ध्यान रखता था कि युद्ध के अवसर पर कृषि की कोई हानि न हो और जो हानि हो जाती थी उसकी पूर्ति कर दी जाती थी।

शेरशाह की लगान-व्यवस्था पूर्णतया दोषरहित न थी। इसमें मध्यम और बुरी भूमि के मालिक किसानों को अच्छी भूमि के मालिक किसानों की तुलना में अधिक लगान देना पड़ता था। पैदावार का 1/3 भाग लगान, जरीबाना, महासीलाना और सुरक्षा-कर आदि सभी कुछ मिलकर पर्याप्त अधिक हो जाते थे। विभिन्न स्थानों पर गल्लों की भिन्न-भिन्न कीमतें होती थीं जिससे सिक्के की शक्ल में लगान देने में किसानों को असुविधा होती होगी। लगान प्रति वर्ष निश्चित किया जाता था, इस कारण किसानों को असुविधा होती होगी। जागीरदारी प्रथा को शेरशाह समाप्त नहीं कर सका था। इस कारण जागीरदारों की भूमि में निवास करने वाले किसानों को उसकी व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हुआ था। शेरशाह अपने कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को भी पूर्णतया नहीं रोक सका था। वे बहुत लाभ प्राप्त करते थे। स्वयं शेरशाह इस बात को जानता था और उसकी नीति थी कि वह प्रत्येक वर्ष या दो वर्ष पश्चात् लगान-अधिकारियों का स्थानान्तरण कर दिया करता था जिससे उसके अधिकाधिक कर्मचारी लाभ उठा सकें।

तब भी शेरशाह की लगान-व्यवस्था तुलनात्मक दृष्टि से बहुत अच्छी मानी गयी है। मध्य-युग के उससे पहले के शासकों में से फीरोज तुगलक को छोड़कर अन्य किसी भी शासक ने अपने किसानों की भलाई का इतना अधिक ध्यान नहीं रखा था जितना कि शेरशाह ने। वह किसानों की समृद्धि में राज्य की भलाई मानता था और किसानों को तकलीफ देने वालों को कठोर दण्ड देता था। उसने तुलनात्मक दृष्टि से किसानों से बहुत अधिक कर नहीं लिये थे। शेरशाह का आतंक था और वह स्वयं विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करता था। इस कारण उसने पर्याप्त मात्रा में किसानों की भलाई करने में सफलता प्राप्त की थी। यह सभी स्वीकार करते हैं कि शेरशाह ने सरकार और किसानों के बीच लगान को निश्चित करके किसानों को सरकारी कर्मचारियों के एकपक्षीय निर्णय और कठोरता से बचाया था। अफगानों में वही एक ऐसा शासक हुआ जिसने लगान-व्यवस्था की ओर इतना अधिक ध्यान दिया। डॉ. कानूनगो ने लिखा है :"यदि शेरशाह 10 या 20 वर्ष और जीवित रहा होता तो जमींदार-वर्ग समाप्त हो गया होता और हिन्दुस्तान उत्साही एवं परिश्रमी किसानों द्वारा खेती किया जाने वाला तथा सिंचाई-युक्त एक ऐसा विस्तृत भू-प्रदेश होता जिसमें कहीं भी झाड़ी या घास न होती।"

(4) न्याय-व्यवस्था

शेरशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और वह प्रत्येक बुधवार की शाम को स्वयं न्याय के लिए बैठता था। लगान सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय परगनों में मुन्सिफ और सरकारों में 'मुन्सिफ-ए-मुन्सिफां' किया करते थे। इसके अतिरिक्त काजी असैनिक मुकदमों का निर्णय करते थे। फौजदारी मुकदमों का निर्णय शिकदार और 'शिकदार-ए-शिकदारां' करते थे और उनके पश्चात् सूबेदार करते थे। सुल्तान की अदालतों में नीचे की अदालतों की अपीलें सुनी जाती थीं और मुकदमे आरम्भ भी हो सकते थे। फौजदारी कानून कठोर था और सभी पर समान रूप से लागू होता था। कैद, कोड़े से पीटा जाना, शरीर के अंगों को काट दिया जाना, जुर्माना आदि सभी प्रकार के दण्ड दिये जाते थे।

शेरशाह एक न्यायप्रिय शासक था और न्याय करते समय धर्म या धन अथवा किसी अन्य अन्तर को स्वीकार नहीं करता था। उसका कहना था कि "न्याय करना धार्मिक कार्यों में सर्वश्रेष्ठ है और इसे सभी काफिर और मुसलमान बादशाह स्वीकार करते हैं।" उसने पुनः कहा था कि "न्याय का तात्पर्य यह नहीं है कि अन्याय न किया जाय, बल्कि मनुष्यों के साथ निष्पक्षता और ईमानदारी से व्यवहार करना है।" इस कारण शेरशाह न्याय करते समय गरीब-अमीर अथवा सम्मानित और साधारण व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं करता था।

(5) पुलिस-व्यवस्था

शेरशाह के समय में पुलिस की कोई पृथक व्यवस्था न थी। विभिन्न सैनिक-अधिकारी अपने-अपने क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करते थे, चोरों एवं लुटेरों को पकड़ते थे तथा जनसाधारण के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करते थे। इस विषय में शेरशाह ने स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य किया था। जिस क्षेत्र में जो अधिकारी था उसी का उत्तरदायित्व उस क्षेत्र में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रखना था। गाँव के चौधरियों और मुकदम का इसमें मुख्य भाग होता था। जिस गाँव में चोरी या हत्या होती थी उस गाँव के चौधरी या मुखिया को ही अपराधी का पता लगाना पड़ता था और यदि वह इस कार्य में सफल नहीं होता था तो चोरी की क्षतिपूर्ति उसे ही करनी पड़ती थी और हत्या के बदले में उसको मृत्यु-दण्ड दिया जाता था। यह व्यवस्था कठोर थी परन्तु सफल थी। यह कहा गया है कि "शेरशाह के समय में एक वृद्धा स्त्री अपने सिर पर आभूषणों से भरी हुई टोकरी लेकर यात्रा कर सकती थी....।"

(6) व्यापार

शेरशाह ने स्थान-स्थान पर दिये जाने वाले करों को समाप्त कर दिया। उसके समय में व्यापारिक वस्तुओं से केवल दो ही स्थानों पर कर लिया करता था। एक उस स्थान पर जहाँ से वे वस्तुएँ उसके राज्य की सीमा में प्रवेश करती थीं और दूसरे उस स्थान पर जहाँ पर वे वस्तुएँ बिक्री के लिए जाती थीं। इस व्यवस्था से व्यापार को लाभ हुआ। शेरशाह की पुलिस-व्यवस्था, सड़कों और सरायों की व्यवस्था तथा अच्छे सिक्कों के प्रचलन ने भी व्यापार को प्रोत्साहन दिया। शेरशाह व्यापारियों की सम्पत्ति की सुरक्षा का भी ध्यान रखता था। उसके सभी अधिकारियों को यह आदेश थे कि व्यापारियों की सुरक्षा की जाय और उनके साथ सद्व्यवहार किया जाय।

(7) मुद्रा

शेरशाह ने पुराने और घिसे-पिटे तथा पूर्ववर्ती विभिन्न शासकों के द्वारा चलाये गये सिक्कों का चलन बन्द कर दिया। उसने सोने, चाँदी और ताँबे के नये सिक्के चलाये, उनका आपस का अनुपात निश्चित किया और चाँदी के रुपये और ताँबे के सिक्के 'दाम' के आधे, चौथाई, आठवें और सोलहवें भाग के भी सिक्के चलाये। सभी सिक्कों में अच्छी धातु का प्रयोग किया गया था और उन पर शेरशाह का नाम, पद और टकसाल का नाम अरबी या नागरी लिपि में अंकित किया गया था। शेरशाह की मुद्रा-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ थी। शेरशाह के रुपये के बारे में इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "यह रुपया वर्तमान ब्रिटिश मुद्रा-प्रणाली का आधार है।"

(8) सड़कें और सरायें

शेरशाह ने अपने समय में कई सड़कों का निर्माण कराया और पुरानी सड़कों की मरम्मत करायी। सड़कों के दोनों तरफ छायादार और फलों वाले पेड़ लगाये गये। शेरशाह ने मुख्यतया चार प्राचीन सड़कों को ठीक कराया। ये सड़कें निम्नवत् थीं :

(1) एक बंगाल में सोनारगाँव से आगरा, दिल्ली, लौहार होती हुई पंजाब में अटक तक जाती थी ;

(2) दूसरी आगरा से बुरहानपुर तक जाती थी ;

(3) तीसरी आगरा से जोधपुर और चित्तौड़ तक जाती थी ; और

(4) चौथी लाहौर से मुल्तान तक जाती थी।

ये सड़कें यातायात, डाक, व्यापार आदि के लिए बहुत लाभदायक थीं। शेरशाह ने इन सभी सड़कों पर प्रायः दो-दो कोस के फासले से सरायों का निर्माण कराया। उसने अपने समय में करीब 1,700 सरायों का निर्माण कराया। इन सभी सरायों में हिन्दू और मुसलमानों के ठहरने के लिए अलग-अलग प्रबन्ध था। प्रत्येक सराय की देखभाल एक शिकदार करता था। व्यापारी, यात्री, डाक-कर्मचारी आदि सभी यहाँ संरक्षण और भोजन प्राप्त करते थे। इनके व्यय के लिए सरायों के आसपास की भूमि सराय के नाम कर दी गयी थी। डॉ. कानूनगो के शब्दों में ये सरायें 'साम्राज्य-रूपी शरीर की धमनियाँ थीं।'

(9) गुप्तचर और सूचना-विभाग

शेरशाह का गुप्तचर और सूचना-विभाग बहुत श्रेष्ठ था। प्रत्येक सूबेदार, सेना-अधिकारी, सेना आदि के साथ गुप्तचर नियुक्त किये गये थे। प्रत्येक नगर और राज्य के दूर-दूर भागों में भी गुप्तचर एवं समाचार भेजने वालों की नियुक्ति की गयी थी। जो गुप्तचर महत्वपूर्ण सूचनाएँ समय पर नहीं भेज पाता था उसे दण्डित किया जाता था। प्रत्येक सराय में दो घोड़े सूचना देने वालों के प्रयोग के लिए रहते थे जिससे एक हरकारे को निरन्तर स्थान-स्थान पर नवीन घोड़ा मिलता जाय और वह तेजी से यात्रा कर सके। शेरशाह अपने गुप्तचरों और तेज चलने वाले सन्देशवाहकों के माध्यम से अपने सम्पूर्ण राज्य के शासन पर नियन्त्रण रखता था और उसमें सफल था। बहुत से अवसरों पर जो सूचनाएँ उसके सूबेदारों या स्थानीय अधिकारियों को भी नहीं मिल पाती थीं वह शेरशाह के पास पहले पहुँच जाती थीं।

(10) धार्मिक विचार और दान-व्यवस्था

व्यक्तिगत दृष्टि से शेरशाह सुन्नी मुसलमान था। वह अपने व्यक्तिगत जीवन में इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन करता था। इसी कारण उसने दान-दक्षिणा का प्रबन्ध किया था। सरकारी भोजनालय का प्रतिदिन का व्यय 500 अशर्फी था। प्रत्येक सैनिक, किसान, व्यापारी, धार्मिक व्यक्ति आदि को वहाँ से मुफ्त भोजन प्राप्त होता था। शासक की दृष्टि से वह सभी के प्रति उदार था।

हिन्दुओं के प्रति उसकी नीति के बारे में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार, "शेरशाह के विचार दिल्ली-सल्तनत के अन्य तुर्क या अफगान शासकों से पृथक नहीं थे।" डॉ. कानूनगो के अनुसार, "हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार सहिष्णुता और आदर का था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "शेरशाह की सहिष्णुता का पता उसके समय में धार्मिक, साहित्यिक और वास्तु-कला की दृष्टि से हुए कार्यों से लगता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने इसी समय में 'पद्मावत' की रचना की थी। इसी समय में मथुरा के आसपास वैष्णव धर्म का बहुत प्रचार हुआ। शेरशाह की इमारतें भी स्पष्ट करती हैं कि उसने हिन्दू, मुस्लिम, अफ़गान, तुर्क और पर्शियन कलाओं में कोई भेद नहीं किया था।" परन्तु वह भी उसे मुख्यतया अफगानों का शासक मानते हैं। शेरशाह ने अनेक अवसरों पर असहिष्णुता का परिचय दिया था। उसने राजपूत शासकों से युद्ध करते हुए 'जिहाद' घोषित किये थे, रायसीन के शासक पूरनमल के प्रति उसका दुर्व्यवहार धार्मिक असहिष्णुता का ही परिणाम था और जोधपुर में उसने हिन्दू-मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवायी थी। शेरशाह के शासन-काल में जजिया और तीर्थयात्रा-कर पहले की भाँति ही हिन्दुओं से लिये जाते थे। तब भी इन विभिन्न तथ्यों और मतों के आधार पर यह समझा जाता है कि शेरशाह ने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवश्य ही धर्म का सहारा लिया था।

परन्तु शासन की नीति की दृष्टि से उसने धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी। शेरशाह का धार्मिक व्यवहार न तो पहले के तुर्क और पठान शासकों की भाँति असहिष्णु माना जा सकता है और न अपने से बाद में होने वाले शासक अकबर की भाँति उदार ही। इनके मध्य में शेरशाह को कहीं भी स्थान प्रदान किया जा सकता है। इस प्रकार यह मानना ठीक होगा कि व्यक्तिगत दृष्टि से कट्टर होते हुए भी शेरशाह शासक की दृष्टि से धार्मिक कट्टरता की नीति में विश्वास नहीं करता था और उसके समय में हिन्दुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति को आरम्भ किया गया था।

(11) शेरशाह की इमारतें

शेरशाह ने अपने अल्प-शासनकाल में इमारतें बनवाने का कार्य भी किया। उसने अपनी उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा के लिए 'रोहतासगढ़' नाम का एक दृढ़ दुर्ग बनवाया, दिल्ली का पुराना किला बनवाया, वहीं यमुना नदी के निकट नगर बनाने का प्रयत्न किया और कन्नौज नगर को बर्बाद करके 'शेरसूर' नामक नगर बसाया। दिल्ली के पुराने किले में बनायी गयी उसकी मस्जिद भारतीय और इस्लामी कला का मिलाजुला एक अच्छा उदाहरण है। परन्तु शेरशाह की सर्वश्रेष्ठ कृति उसका सहसराम (बिहार) का स्वयं का मकबरा है। डॉ. कानूनगो ने उसके बारे में लिखा है : "बाहर से मुस्लिम और अन्दर से हिन्दू।" हैवेल ने उसमें "शेरशाह के चरित्र और व्यक्तित्व को देखा।" पर्सी ब्राउन ने शेरशाह की सभी इमारतों की प्रशंसा की है। कनिंघम ने उसके मकबरे को ताजमहल से भी सुन्दर बताया है। झील के बीच में एक चबूतरे पर बना हुआ शेरशाह का यह मकबरा, निस्सन्देह, भारत की श्रेष्ठतम इमारतों में से एक है।

(12) शेरशाह का सैनिक–प्रबन्ध

शेरशाह ने एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया था। अलाउद्दीन खलजी की भाँति उसने केन्द्र पर एक शक्तिशाली सेना रखी जो सुल्तान की सेना थी और जिसके सैनिक अपने को बादशाह के सैनिक मानते थे। घुड़सवार-सेना, पैदल-सेना, हाथी और तोपखाना उसकी सेना के मुख्य भाग थे। केन्द्र की सेना में 1,50,000 घुड़सवार, 25,000 पैदल और 5,000 हाथी थे। सम्भवतया, शेरशाह का तोपखाना बहुत श्रेष्ठ न था। उसकी घुड़सवार-सेना में मुख्यतया अफगान थे। बाकी अन्य वर्गों के मुसलमान और हिन्दू भी उसकी सेना में थे। शेरशाह सैनिकों की भर्ती, वस्त्र, घोड़े, हथियार, वेतन, पद-वृद्धि आदि सभी की स्वयं देखभाल करता था। सैनिकों को वेतन नकद दिया जाता था यद्यपि सरदारों को जागीरें दी जाती थीं। बेईमानी को रोकने के लिए उसने 'घोड़ों को दागने' और 'सैनिकों का हुलिया लिखे जाने' की प्रथाओं को अपनाया था। केन्द्र की इस विशाल सेना के अतिरिक्त अधीनस्थ राजाओं और सूबेदारों की अपनी सेनाएँ पृथक थीं जो आवश्यकता के अनुसार सुल्तान की सेवा के लिए प्रस्तुत की जाती थीं। विभिन्न किलों और सैनिक-चौकियों में भी बहुत से सैनिक रहते थे। 16 बड़ी-बड़ी सैनिक-चौकियों का विवरण तो प्राप्त होता है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि सैनिक-चौकियों की संख्या भी लाखों होगी, यह विश्वास किया जा सकता है। डॉ. कानूनगो ने लिखा है :"शेरशाह ने अलाउद्दीन खलजी की पद्धति को पुनर्जीवित किया और सेना को सही अर्थों में शाही संस्था बना दिया।"

इस प्रकार शेरशाह की असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्था बहुत श्रेष्ठ मानी गयी है। जो इतिहासकार बाबर की प्रशासकीय अयोग्यता को समय की कमी कहकर माफ कर देते हैं, शेरशाह उनके लिए एक श्रेष्ठ उदाहरण है। शेरशाह का स्थान

मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में आता है। अब्बासखाँ सरवानी ने शेरशाह के विवरण को समाप्त करते हुए लिखा : "बुद्धिमत्ता और अनुभव में शेरशाह दूसरा हैदर था।" इसी प्रकार कीन ने लिखा है : "किसी भी सरकार ने, यहाँ तक कि अंग्रेजों तक ने इतनी बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया जितना कि इस पठान ने।" इस प्रकार, शेरशाह एक सफल शासन-प्रबन्धक सिद्ध हुआ। दिल्ली-सल्तनत के बाद के समय में शासन में उत्पन्न हुई अव्यवस्था मुगलों एवं अफगानों के संघर्ष-काल में और अधिक हो गयी थी। शेरशाह ने उसको ठीक करके जनसाधारण के जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाया। इस प्रकार शेरशाह ने अकबर के कार्य को भी सरल कर दिया क्योंकि अपने थोड़े समय में ही शेरशाह ने एक श्रेष्ठ शासन की पृष्ठभूमि का निर्माण किया जिससे अकबर के लिए एक स्पष्ट रास्ता बन गया।

शेरशाह को अकबर का अग्रणी (पथ-प्रदर्शक) माना गया है। एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से शेरशाह को यह स्थान दिया ज़ा सकता है। उसने एक अच्छा शासन-प्रबन्ध करके न केवल अकबर के शासन की आधारशिला का ही निर्माण किया अपितु शासन में कई ऐसे कार्य आरम्भ किये जिनसे अकबर को सहायता प्राप्त हुई। रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है : "तैमूर-वंश का यह दुर्लभ सौभाग्य था कि उन्होंने अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लिया जिसे एक मौलिक शासन-प्रबन्धक शेरशाह अफगान ने दृढ़ कर दिया था और जिसने न चाहते हुए भी मुगलों के लिए एक ऐसी शासन-व्यवस्था का निर्माण कर दिया था जो बादशाह के उस नवीन आदर्श की सफलता के लिए आदर्श तो थी जिसका वे प्रतिनिधित्व करते थे परन्तु जिसको बनाने में स्वयं पूर्णतया असफल रहे थे।" शेरशाह के सैनिक-प्रबन्ध, सरदारों पर उसके नियन्त्रण, उसकी न्याय की भावना, उसकी प्रजा के हित की भावना और शासन के मूल सिद्धान्त आदि सभी का अकबर ने पूर्ण लाभ उठाया। शेरशाह ने राजपूतों से अधीनता स्वीकार करा कर उनके राज्य उन्हें वापस कर दिये थे। अकबर ने इसको और विस्तार से अपनाया। शेरशाह की लगान-व्यवस्था भी अकबर के लिए मार्गदर्शक बनी। अपनी हिन्दू-प्रजा के लिए शेरशाह साधारणतया सहिष्णु था। वह उन्हें उनके उत्सवों, त्यौहारों और धार्मिक कार्यों को करने में स्वतन्त्रता प्रदान करता था। न्याय भी सभी को समान रूप से प्रदान किया जाता था। इन सबसे भी अधिक शेरशाह में प्रजा की भलाई करने की भावना थी। शेरशाह ने उस सिद्धात को अपनाया जिसके अनुसार शासक का कार्य केवल शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना ही नहीं बल्कि जन-कल्याण करना भी है। इसी कारण किसानों, व्यापारियों, सैनिकों और जन-साधारण की भलाई के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना उसका प्रमुख उद्देश्य था। इसी भावना के कारण वह इतने थोड़े समय में एक अच्छा शासन-प्रबन्ध और जन-हित के कार्य कर सका था। मि. डब्लू. क्रुक ने लिखा है : "शेरशाह प्रथम शासक था जिसने प्रजा की रक्षा के आधार पर भारतीय साम्राज्य को स्थापित करने का प्रयत्न किया।" अकबर ने भी मूलतया इसी भावना के आधार पर कार्य किया। निस्सन्देह, अकबर ने शेरशाह के द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों में परिवर्तन किया, सुधार किया और उन्हें श्रेष्ठ बनाया। अकबर की लगान-नीति शेरशाह से श्रेष्ठ थी, अकबर की राजपूत-नीति शेरशाह से अधिक उदार थी और अकबर की धार्मिक-नीति का आधार शेरशाह से बहुत अधिक विस्तृत और विशाल था। इस कारण अकबर एक कुशल शासन-प्रबन्धक और एक श्रेष्ठ शासक की दृष्टि से अधिक महान् था। परन्तु शेरशाह ने अकबर से पहले एक उच्च आदर्श और एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था को स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। इस प्रकार, उसने अकबर के शासन की आधारशिला का निर्माण किया और उसका अग्रणी अथवा पथ-प्रदर्शक बना। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है :

"यदि शेरशाह अधिक समय जीवित रहता तो सम्भवतया वह अकबर से महान् हो जाता। निस्सन्देह, वह दिल्ली के सर्वश्रेष्ठ सुल्तान-राजनीतिज्ञों में से एक था। निश्चय ही उसने अकबर की महान् उदार नीति के मार्ग का निर्माण किया और वह सही अर्थों में उसका अग्रणी था।"

5. शेरशाह का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान (अफगानों में श्रेष्ठतम शासक)

शेरशाह का चरित्र आकर्षक न था। आरम्भ से ही कठिनाइयों में पला होने के कारण उसके चरित्र की विशेषता उदारता या मानवता नहीं रह सकी थी। मुख्यतया वह एक व्यावहारिक व्यक्ति रहा। वह अपने लक्ष्य को ठीक प्रकार समझता था और उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शान्तिपूर्वक एवं नियोजित प्रयत्न करता था। उसके जीवन में असफलता का कोई प्रयोजन नहीं था क्योंकि एक ही असफलता उसके सम्पूर्ण भविष्य को नष्ट कर सकती थी। इस कारण उसके चरित्र में अनुपात से अधिक साहस, भावना, मानवता और सब कुछ दाँव पर लगा देने का उत्साह नहीं आ सका था जिससे एक व्यक्ति का चरित्र आकर्षक बन पाता है, चाहे वह उसकी असफलता का ही कारण क्यों न बन जाय। **शेरशाह का चरित्र शान्त, नीतिपूर्ण, बुद्धिमत्तापूर्ण, कुशलता, स्वार्थ और उसकी पूर्ति के लिए सभी आवश्यक साधनों के प्रयोग करने की भावना से पूर्ण था।** अपने परिवार के व्यक्तियों से भी उसके व्यवहार का आधार यही था। उसकी शिक्षा का आधार भी यही था। उसे अरबी और फारसी भाषा का ज्ञान था और इतिहास के अध्ययन का उसे शौक था। उसे सुशिक्षित कहा गया है और विद्वानों के संरक्षण का भी उसे ध्यान था। **परन्तु उसे न तो विद्वान स्वीकार किया जा सकता है और न ही उसके संरक्षण में किसी विद्वान की प्रगति हुई। उसकी शिक्षा का लक्ष्य भी व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना था।** इस प्रकार उसके चरित्र के निर्माण का सम्पूर्ण आधार सांसारिक सफलता थी और शेरशाह ने उसे प्राप्त किया। उसने विभिन्न अवसरों पर अपनी सफलता के लिए चालाकी का सहारा लिया। रोहतासगढ़ (बिहार), चुनार तथा रायसीन के किलों पर अधिकार और मालदेव के विरुद्ध उसकी सफलता का कारण उसकी चालाकी थी। इसके अतिरिक्त **वह सभी युद्धों में शौर्य के साथ चालाकी का प्रयोग भी करता था।** वह अपने शुत्र को दुर्बल और असावधान करने के बाद ही उस पर आक्रमण करता था। जब तक उसे शत्रु को जीत लेने की पूर्ण आशा नहीं होती थी तब तक वह उस पर आक्रमण नहीं करता था। इसी प्रकार उसने धीरे-धीरे अपनी शक्ति को संचित किया था।

परन्तु शेरशाह में मानवीय गुण बिल्कुल न थे, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। चौसा के युद्ध के पश्चात् जब मुगल-बेगमें और उनके परिवार के सदस्य उसके सामने लाये गये तो उसकी आँखों में आँसू आ गये थे और उसने उनको सम्मान सहित वापस भेज दिया था। **एक धार्मिक मुसलमान की दृष्टि से वह अपने धार्मिक कृत्यों को नियमपूर्वक करता था।** ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। उसने राजधानी में भोजन का मुफ्त प्रबन्ध कर रखा था। उसे अपनी प्रजा और उसकी प्रसन्नता का पूर्ण ध्यान था और वह उसके लिए कठोर परिश्रम करता था। वह न्याय करने में किसी भी आधार पर भेदभाव नहीं करता था। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टि से भावनात्मक न होते हुए भी **शेरशाह जनसाधारण के प्रति उदार और कर्तव्यपरायण था।**

शेरशाह में एक सैनिक और सेनापति के गुणों का अभाव न था। वह साहसी, परिश्रमी और अस्त्र-शस्त्र चलाने में कुशल था। एक शेर को अकेले मारने के उपलक्ष्य में उसे

'शेरखाँ' की उपाधि दी गयी। एक सैनिक की दृष्टि से उसने अनेक युद्धों में भाग लिया था। एक सेनापति की दृष्टि से वह जन्मजात सेनापति तो न था परन्तु अपने अनुभव से वह एक योग्य सेनापति अवश्य बन गया था। कम से कम मूल्य पर किस प्रकार शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, यह उसे आता था। उसका लक्ष्य विजय होता था केवल युद्ध नहीं। इस दृष्टि से वह सफल भी रहा। सेनापति के रूप में अपने जीवन में वह एक भी युद्ध में पराजित नहीं हुआ। शेरशाह एक महान् संगठनकर्ता था। मुगलों के विरुद्ध अफगानों की शक्ति को एकत्रित करने और समय से मुगलों पर आक्रमण करके उसने एक बार फिर अफगान-साम्राज्य को भारत में स्थापित किया था। यह शेरशाह का एक गौरवपूर्ण कार्य था। इस प्रकार, शेरशाह के चरित्र में चाहे आकर्षण न हो परन्तु सफलता के गुण अवश्य थे।

इतिहास में शेरशाह का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वूल्जले हेग ने कहा है : "वह भारत के मुसलमान सम्राटों में सर्वश्रेष्ठ था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव उसे अकबर के बाद दूसरा स्थान देते हैं। डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "शिवाजी और शेरशाह चरित्र और योग्यता की दृष्टि से ही समान न थे वरन् समान परिस्थितियों में ही उनका विकास हुआ था।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी इस मत से सहमत हैं। वह लिखते हैं : "शेरशाह के सबसे निकट आने वाला व्यक्तित्व मराठा-राष्ट्र के महान् निर्माता शिवाजी का है।" इस प्रकार शेरशाह मध्य-युग के शासकों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यह तो नहीं माना जा सकता कि वह उनमें सर्वश्रेष्ठ था क्योंकि अकबर, निस्सन्देह, उसकी तुलना में श्रेष्ठ स्थान रखता है। परन्तु यह अवश्य माना जा सकता है कि वह मध्य-युग के महान् शासकों में से एक था।

शेरशाह की मुख्य सफलताएँ अफगानों का एकत्रित करना, राजवंश से सम्बन्धित न होते हुए केवल अपने परिश्रम से राजपद को प्राप्त करना और अपने राज्य का श्रेष्ठ शासन-प्रबन्ध करना था। प्रथम, शेरशाह अफगानों का राष्ट्र-निर्माता था। अफगानों में कभी भी एकता की भावना न थी। वे अपने-अपने विभिन्न फिरकों और वंशों में बँटे हुए थे और प्रत्येक फिरका और वंश अपने को एक-दूसरे से श्रेष्ठ मानता था तथा शक्ति के लिए एक-दूसरे से संघर्ष करता था। अफगानों का राजत्व-सिद्धान्त भी पृथक था। उनके लिए सुल्तान एक बड़ा सरदार मात्र था। वे उसे इससे अधिक सम्मान देने के लिए तत्पर न थे। इसी कारण प्रत्येक शक्तिशाली अफगान सरदार अपने को सुल्तान बनने के योग्य समझता था, इसके लिए शक्ति-संचय करता था और अवसर की तलाश में रहता था। अफगानों की यह प्रवृत्ति उनकी दुर्बलता का मुख्य कारण थी। मुगलों से परास्त होकर भी अफगानों में एकता की भावना नहीं आयी थी। शेरशाह ने अफगानों की एकता का प्रयत्न किया और उसमें सफलता प्राप्त की। इसके लिए उसने मुगलों के प्रति अफगानों की घृणा का लाभ उठाया। धीरे-धीरे समय के अनुकूल कार्य करते हुए, अफगानों को प्रोत्साहन देते हुए और सफलता प्राप्त करते हुए उसने अफगानों को आत्मविश्वास प्रदान किया और उन्हें संगठित कर लिया। उसने प्रत्येक स्थान से अफगानों को आमन्त्रित किया, उनको अपने संरक्षण में सेवाएँ दीं, उनकी स्वतन्त्रता एवं स्वच्छन्दता की प्रवृत्तियों को अपने अधिकार में रखा और, अन्त में, उनकी एकत्रित शक्ति का प्रयोग मुगलों के विरुद्ध करके सफलता प्राप्त की। सुल्तान बनकर भी वह अफगानों की शक्ति को एकत्रित और दृढ़ करता रहा। इस दृष्टि से शेरशाह अफगानों का संगठनकर्ता या राष्ट्र-निर्माता था। परन्तु शेरशाह अफगानों की इस एकता को स्थायित्व प्रदान न कर सका। उसकी मृत्यु होते ही अफगानों की एकता छिन्न-भिन्न होने लगी।

इस कारण शेरशाह शिवाजी के निकट तो आ सकता है परन्तु उनके समान नहीं हो सकता। शिवाजी ने जिस राष्ट्र का निर्माण किया वह उनकी मृत्यु के पश्चात् भी राष्ट्र बना रहा। शम्भाजी की मृत्यु के उपरान्त और महाराष्ट्र पर औरंगजेब का अधिकार हो जाने के पश्चात् जिस स्वतन्त्रता-संग्राम को मराठों ने आरम्भ किया वह राष्ट्रीय भावना से प्रेरित था। इसी कारण उन्होंने औरंगजेब की शक्ति को तोड़ दिया और उसके पश्चात् अपना विकास करने में भी सफलता पायी। शेरशाह अफगानों को ऐसी स्थायी भावना प्रदान नहीं कर सका था। उसके पक्ष में केवल इतना कहा जा सकता है कि वह अपने समय में सफल अवश्य रहा था।

शेरशाह का दूसरा कार्य अपनी योग्यता से दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करना था। उसका यह कार्य अद्वितीय था और केवल स्वयं अपना था। उसका पिता एक साधारण जागीरदार था और उस पर भी उसके सम्बन्ध अपने पिता से अच्छे न थे। उसके सौतेले भाई उसकी जागीर का बँटवारा चाहते थे। दिल्ली के शासक इब्राहीम लोदी का चाचा आलमखाँ लोदी और उसका भाई महमूद लोदी उसके समय तक जीवित थे। अफगान यदि मान सकते थे तो दिल्ली के सिंहासन पर उन्हीं के अधिकार को मान सकते थे। गुजरात का शासक बहादुरशाह भी अफगान था, शक्तिशाली था और दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने की इच्छा रखता था। दक्षिण-बिहार में बहारखाँ ने मुहम्मदशाह के नाम से स्वतन्त्र अफगान राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था और बंगाल के अफगान शासक नुसरतशाह और बाद में महमूदशाह बिहार को अपने राज्य में सम्मिलित करना चाहते थे। इनमें से प्रत्येक राजवंश से सम्बन्धित था, प्रत्येक शक्तिशाली था और प्रत्येक शेरशाह से अधिक अफगानों के नेतृत्व का दावा कर सकता था। परन्तु इनमें से प्रत्येक असफल रहा और एक मामूली जागीरदार के पुत्र ने शेरशाह के नाम से दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त किया। यह शेरशाह की एक महान् उपलब्धि थी और यही उसे इतिहास में एक सम्मानित स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

शेरशाह की तीसरी और महान् सफलता एक शासन-प्रबन्धक के रूप में है। उसने अपने थोड़े से समय में जो सफलता शासन में प्राप्त की और जिस व्यवस्था को उसने स्थापित किया, वह अद्वितीय थी। अलाउद्दीन खलजी मौलिक सिद्धान्तों की दृष्टि से उससे श्रेष्ठ था। निस्सन्देह, अकबर शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से उससे श्रेष्ठ सिद्ध हुआ। परन्तु कई प्रकार से शेरशाह शासन-प्रबन्ध में अकबर का अग्रणी था। इनके अतिरिक्त मध्य-युग के अन्य शासकों में से कोई भी शेरशाह से तुलना करने के योग्य नहीं है। इस कारण शेरशाह मध्य-युग के महान् शासन-प्रबन्धकों में से एक है।

इस प्रकार, **शेरशाह का स्थान मध्य-युग के महान् शासकों में है और अफगान शासकों में वह, निस्सन्देह, सर्वश्रेष्ठ था।**

[2]

शेरशाह के उत्तराधिकारी (1545-1555 ई.)

1. इस्लामशाह (1545-53 ई.)

जिस समय शेरशाह की मृत्यु हुई उसके दोनों पुत्रों में से कोई भी उसके पास न था। उसका बड़ा लड़का आदिलखाँ रणथम्भौर में और छोटा लड़का जलालखाँ रीवा के निकट था। शेरशाह ने अपने बड़े पुत्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। परन्तु बहुत से सरदारों ने जलालखाँ को बादशाह बनाना उपयुक्त समझा क्योंकि आदिलखाँ विलासी और आरामपसन्द था। उसके विपरीत, जलालखाँ परिश्रमी और योग्य सैनिक व सेनापति था।

जलालखाँ को शीघ्र बुलाने के लिए दूत भेजा गया और उसके आ जाने पर 27 मई, 1545 ई. को उसे इस्लामशाह के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया गया।

(1) आदिलखाँ से संघर्ष—जब तब उसका बड़ा भाई आदिलखाँ जीवित था इस्लामशाह अपने आपको सुरक्षित अनुभव नहीं कर सकता था। उसने आदिलखाँ से आग्रह किया कि यदि वह दरबार में उपस्थित होकर उसके आधिपत्य को स्वीकार कर ले तो उसे सुरक्षा सहित वापस चला जाने दिया जायेगा और बयाना की जागीर भी उसे दे दी जायेगी। खवासखाँ और ईसाखाँ जैसे सम्मानित सरदारों के आश्वासन पर आदिलखाँ आगरा गया और अपने भाई से मिलकर तुरन्त बयाना की जागीर पर वापस चला गया। इसी बीच में उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया गया परन्तु वह असफल हुआ। इसके पश्चात् भी इस्लामशाह ने अपने भाई को अपमानित करने और उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। आदिलखाँ ने खवासखाँ से संरक्षण और सहायता की माँग की। खवासखाँ ने उसे आगरा पर आक्रमण करने की सलाह दी। ईसाखाँ भी उनके साथ हो गया। इस्लामशाह के दरबार के अन्य बहुत से सरदारों ने भी युद्ध के समय इस्लामशाह का साथ छोड़ने का वायदा किया। परन्तु आगरा शहर के बाहर जो युद्ध हुए उनमें आदिलखाँ की पराजय हुई। आदिलखाँ पन्ना की ओर भाग गया और उसके पश्चात् उसका नाम भी सुनने को नहीं मिला। खवासखाँ भागकर सरहिन्द की तरफ चला गया। इस प्रकार, इस्लामशाह का सिंहासन सुरक्षित हो गया।

(2) सरदारों का विद्रोह और दमन—इस्लामशाह ने उन सभी सरदारों को समाप्त करने का निश्चय किया जिन पर उसे शंका थी। वे सभी शेरशाह के समय के पुराने सरदार थे जो आदिलखाँ के पक्ष में कहे जा सकते थे। जलालखाँ और खुदादादखाँ को मार दिया गया और करीब 13 सरदार ग्वालियर के किले में ले जाकर मार दिये गये। सईदखाँ नियाजी अपने भाई तथा पंजाब के सूबेदार आजम हुमायूँ के पास भाग गया। इस्लामशाह ने शुजातखाँ को मालवा से और आजम हुमायूँ को पंजाब से दरबार में आने के आदेश दिये। उसका इरादा उनको भी समाप्त करने का था। शुजातखाँ दरबार में गया जहाँ उसके दत्तक पुत्र के हस्तक्षेप के कारण उसे सम्मान दिया गया परन्तु आजम हुमायूँ से आने से इन्कार कर दिया। इस्लामशाह की इस नीति से सभी पुराने सरदार शंकित और भयभीत हो गये। उनमें से जो शक्तिशाली थे वे विद्रोह करने को तत्पर हो गये। इनमें से पहला विद्रोह आजम हुमायूँ का था।

(i) आजम हुमायूँ नियाजी—आजम हुमायूँ ने न केवल दरबार में आने से ही इंकार किया बल्कि उसने विद्रोह किया। खवासखाँ भी अपने सैनिकों के साथ उससे मिल गया। आजम हुमायूँ नियाजी एक विशाल सेना के साथ राजधानी की तरफ बढ़ा। इस्लामशाह उसका मुकाबला करने के लिए अम्बाला पहुँचा। खवासखाँ युद्ध से पहले ही नियाजियों का साथ छोड़ गया क्योंकि वह आदिलखाँ के नाम से युद्ध करना चाहता था, जबकि नियाजियों ने घोषणा की कि "सुल्तान का फैसला तलवार से होगा।" युद्ध में नियाजियों की पराजय हुई और वे बुरी तरह के कत्ल किये गये। आजम हुमायूँ भाग गया। उसके पश्चात् भी नियाजी पंजाब में उपद्रव करते रहे और उन्होंने गक्खरों से सहायता ली। इस्लामशाह दो वर्ष तक गक्खर प्रदेश को बरबाद करता रहा यद्यपि वह गक्खरों को पूर्णतया समाप्त न कर सका। इसके पश्चात् आजम हुमायूँ ने कश्मीर में प्रवेश किया और वहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने के कारण एक युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया। इस्लामशाह ने नियाजी स्त्रियों के साथ बुरा व्यवहार किया। बन्दी स्त्रियों को महीनों तक नंगा रखा गया और बाद में उन्हें वेश्यावृत्ति के लिए छोड़ दिया गया।

(ii) **शुजातखाँ**—शुजातखाँ मालवा का सूबेदार था परन्तु सुल्तान के आग्रह पर वह ग्वालियर चला गया था। वहाँ एक अफगान ने उसकी हत्या करने का प्रयत्न किया। उसे इस्लामशाह पर सन्देह हुआ और वह वहाँ से मालवा भाग गया। इस्लामशाह ने मालवा पर आक्रमण किया। शुजातखाँ बिना विरोध के भाग खड़ा हुआ। बाद में नियाजी-विद्रोह और शुजातखाँ के लड़के के हस्तक्षेप के कारण शुजातखाँ को माफ कर दिया गया और मुख्य भागों को छोड़कर मालवा का अधिकांश भाग उसे वापस दे दिया गया।

(iii) **खवासखाँ**—खवासखाँ आदिलखाँ का समर्थक रहा था। युद्ध में आदिलखाँ की पराजय के पश्चात् वह सरहिन्द की तरफ भाग गया था। उसने नियाजियों की सहायता करने का प्रयत्न किया था परन्तु उनकी स्वतन्त्रता की भावना को देखकर वह उनका साथ छोड़ गया था और उसने कुमायूँ के राजा के यहाँ शरण ले ली थी। इस्लामशाह ने उसे राजा से वापस माँगा और इस माँग की अस्वीकृति पर खवासखाँ को स्वयं दरबार में आने के लिए कहा। सुल्तान के व्यक्तिगत आश्वासन पर खवासखाँ दरबार में आने के लिए तैयार हो गया। जब वह दरबार में आ रहा था तो रास्ते में सम्भल के सूबेदार ने इस्लामशाह के इशारे पर उस पर अचानक आक्रमण किया और उसे मार दिया। इस्लामशाह ने उसकी लाश को दिल्ली के बाजार में फिंकवा दिया जिससे विद्रोही उससे सबक ले सकें। परन्तु दिल्ली के नागरिकों ने उस बहादुर व्यक्ति का सम्मान किया और सैनिकों की उपस्थिति के बावजूद भी वे तीन रात तक लगातार उसकी लाश को फूलों से ढँकते रहे। इस प्रकार शेरशाह के एक अन्य योग्य और स्वामिभक्त सरदार का अन्त हुआ।

विद्रोहों का परिणाम—विद्रोहों को दबाकर और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों को दण्डित करके इस्लामशाह ने सुल्तान के सम्मान और शक्ति में वृद्धि की तथा अफगानों की स्वतन्त्र प्रकृति को पूर्णतया दबा दिया। इस्लामशाह के समय में प्रान्तीय सूबेदार सुल्तान का तो क्या, सुल्तान के जूतों का भी सम्मान करते थे। सुल्तान के आदेशों का पूर्णतया पालन किया जाता था। यह उसकी शेरशाह से भी बड़ी सफलता थी। परन्तु पुराने सरदारों के प्रति इतनी कठोरता की नीति के दुष्परिणाम भी हुए। दो बार इस्लामशाह की हत्या का प्रयत्न किया गया जिससे वह और भी अधिक कठोर और शंकालु हो गया। उसने प्रायः सभी सूबों से पुराने सूबेदारों को हटाकर नये सूबेदारों की नियुक्ति की। बंगाल से काजी फजीलात को हटाकर महमूदखाँ सूर की नियुक्ति की गयी। उसकी इस नीति से अफगान सरदारों में असन्तोष फैला। उसके समय में तो वे शान्त रहे परन्तु उनमें राजवंश के प्रति भक्ति न रही। इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सिंहासन का फैसला तलवार के आधार पर किया गया। **इस प्रकार इस्लामशाह की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि जिस अफगान-एकता के लिए शेरशाह प्रयत्नशील रहा था उसके लिए वह कोई कार्य न कर सका, बल्कि इसके विपरीत अपनी कठोर नीति से उसने उस पर प्रबल आघात किया।**

(3) **अन्तिम दिन और मृत्यु**—अपने समय में इस्लामशाह सफल रहा। उसने न केवल राज्य की सुरक्षा की अपितु उसका विस्तार भी किया। उसके समय में पूर्वी बंगाल को विजय किया गया। उसके समय के सभी विद्रोह असफल हुए और 1553 ई. में जब हुमायूँ ने सीमा पर आने का प्रयत्न किया तब बीमारी की स्थिति में भी इस्लामशाह युद्ध के लिए चल दिया और हुमायूँ को वापस जाना पड़ा। उसके समय में उसका भय और सम्मान था और उसके आदेशों का अक्षरशः पालन किया जाता था। उसने शासन-व्यवस्था में विभिन्न सुधार

किये जिनमें से अनेक लाभदायक भी थे। परन्तु इस्लामशाह अधिक समय जीवित न रह सका। बीमारी के कारण 30 अक्टूबर, 1553 ई. को इस्लामशाह की मृत्यु हो गयी।

(4) शासन-प्रबन्ध—इस्लामशाह एक योग्य पिता का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ। उसने न केवल अपने पिता के समय की अच्छी शासन-व्यवस्था को ही स्थापित रखा बल्कि उसमें कुछ महत्वपूर्ण सुधार भी किये। उसकी शासन-व्यवस्था और लगान-व्यवस्था वही रही जो शेरशाह के समय में थी। उसने उन्हें दृढ़तर किया। शेरशाह ने प्रत्येक चार मील पर एक सराय बनवायी थी, इस्लामशाह ने प्रत्येक दो मील पर सरायें बनवा दीं। शेरशाह के समय में मुफ्त भोजन की व्यवस्था केवल राजधानी में थी, इस्लामशाह ने प्रत्येक सराय में मुफ्त भोजन की व्यवस्था की। इस्लामशाह जागीरदारी प्रथा को समाप्त न कर सका परन्तु उसने पुराने जागीरदारों से जागीरें छीनकर नवीन जगीरदारों को दीं। इससे एक तो नये जागीरदार उसके प्रति वफादार हो गये और दूसरे जागीरदारी प्रथा के स्थायित्व पर चोट पहुँची। उसने पुलिस-व्यवस्था के लिए गाँव के मुखिया और मुकदम के अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों को भी उत्तरदायी बना दिया।

उसने सेना की व्यवस्था में सुधार किये। घुड़सवार-सेना को 50, 200, 250 और 500 घुड़सवारों की टुकड़ियों में बाँटा गया और पैदल-सैनिकों को 5,000, 10,000 और 20,000 तक की बड़ी-बड़ी टुकड़ियों में संगठित किया गया। उसकी इच्छा, सम्भवतया, दशमलव पद्धति के आधार पर सेना को विभिन्न टुकड़ियों एवं विभिन्न अधिकारियों के नेतृत्व में बाँटने की थी। बाद में अकबर की मनसबदारी प्रथा में इस व्यवस्था को विस्तृत रूप प्रदान किया गया। उत्तर-पश्चिम की सीमा की सुरक्षा के लिए उसने वहाँ पर पाँच किलों की एक श्रृंखला खड़ी की। ये किले शेरगढ़, इस्लामगढ़, रसीदगढ़, फीरोजगढ़ और मानकोट में थे। इनको संयुक्त रूप से 'मानकोट के किले' कहा जाता था।

इस्लामशाह ने अपने सरदारों को कठोर नियन्त्रण में रखा। वे सभी उससे डरते थे। इस्लामशाह के आदेशों को प्रत्येक जिले में हर शुक्रवार को एक दरबार करके सुनाया जाता था। उस दरबार में इस्लामशाह के जूते एक सिंहासन पर रखे जाते थे और उसी के सम्मुख आदेश सुनाये जाते थे। शासन के बड़े-बड़े अधिकारी मीलों आगे आकर इस्लामशाह के आदेश-पत्रों को ग्रहण करते थे और सम्मान सहित अपने सिरों पर रखकर उन्हें ले जाते थे। सरदारों के प्रभाव को कम करने के लिए उसने आज्ञा दी थी कि कोई भी सरदार हाथी नहीं रखेगा, नर्तकियाँ नहीं रखेगा और लाल रंग के खेमे का प्रयोग नहीं करेगा। यह सुल्तान के विशेषाधिकार थे। इस प्रकार, इस्लामशाह ने अफगान सरदारों की स्वतन्त्रता की भावना को कठोरता से दबाकर रखा। अपने समय में वह सफल रहा यद्यपि उसके पश्चात् इसके दुष्परिणाम निकले। अफगान सरदारों ने उसके वंश के प्रति भक्ति-भाव नहीं रखा और उसकी मृत्यु होते ही सिंहासन के भाग्य का फैसला तलवार के आधार पर किया।

इस्लामशाह के शासन सम्बन्धी सुधारों में सबसे महत्वपूर्ण सुधार उसका विभिन्न कानूनों का निर्माण और उनका सभी स्थानों पर लागू किया जाना था। उसने कानून-व्यवस्था को राज्य की शक्ति के आधार पर लागू करने का प्रयत्न किया। उसने सैनिक, लगान, व्यापार आदि के सम्बन्ध में विस्तृत कानून बनायें और उन्हें समान रूप से लागू किया। उससे पहले भी इनके विषय में विभिन्न कानून थे परन्तु उनके पीछे धर्म की शक्ति थी। इस्लामशाह ने राज्य की तरफ से कानून बनाकर उनको समान बनाया और धर्म के प्रभाव को कानून-व्यवस्था से समाप्त करने का प्रयत्न किया। ऐसा प्रयत्न

अलाउद्दीन खलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे शासक तो क्या, उसका पिता शेरशाह भी नहीं कर सका था।

इस प्रकार, इस्लामशाह एक योग्य शासन-प्रबन्धक था। कुछ इतिहासकारों ने यह लिखा है कि उसके कुछ सुधार, यथा—नवीन सरायों का निर्माण और वहाँ पर मुफ्त भोजन की व्यवस्था—केवल इस दृष्टिकोण से किये गये थे कि जनसाधारण उसके पिता की कीर्ति को भूल जायें। परन्तु इस दृष्टिकोण को स्वीकार करना कठिन है। इस्लामशाह के सुधार शेरशाह के सुधारों में परिवर्तन करने के लिए न थे बल्कि उनको और अच्छा बनाने के लिए थे और यदि इस्लामशाह में दम्भ की भावना रही भी हो तो उससे जनसाधारण का लाभ ही हुआ था।

(5) चरित्र—इस्लामशाह एक शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति था। उसने अच्छी शिक्षा पायी थी और वह फारसी में स्वयं कविता करता था। व्यक्तिगत दृष्टि से वह कट्टर मुसलमान था परन्तु धर्मान्ध न था। एक सैनिक, एक सेनापति और एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से वह योग्य सिद्ध हुआ था। वह साहसी और परिश्रमी भी था। परन्तु इस्लामशाह ईर्ष्यालु, कठोर, निर्दयी, धोखेबाज और प्रतिहिंसात्मक था। मानवीय गुणों की दृष्टि से उसमें बहुत त्रुटियाँ थीं। सम्भवतया, उसकी ये दुर्बलताएँ ही उसके वंश और अफगानों के लिए हानिकारक हुईं। उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में इन्हीं प्रवृत्तियों की प्रधानता परिलक्षित होती है।

2. फीरोजशाह व मुहम्मद आदिलशाह : सूर-साम्राज्य का पतन

इस्लामशाह की मृत्यु होते ही सूर-साम्राज्य की एकता नष्ट हो गयी और उसके पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ। इस्लामशाह के पश्चात् उसका 12 वर्षीय पुत्र फीरोजशाह गद्दी पर बैठा (1553 ई.)। परन्तु तीन दिन बाद ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने उसकी हत्या करके गद्दी पर अधिकार कर लिया और मुहम्मद आदिलशाह की उपाधि ग्रहण की। आदिलशाह ने गद्दी पर अवैध तरीके से अधिकार किया था और वह अयोग्य भी था। अफगानों की स्वतन्त्रता और शक्ति-संघर्ष की भावना को इससे खुला मार्ग मिल गया तथा विभिन्न सरदारों ने विद्रोह करने आरम्भ कर दिये। आरम्भ में आदिलशाह ने कुछ सफलता प्राप्त की परन्तु साम्राज्य के विभाजन को रोकने में वह पूर्णतः असफल रहा। उसी के बहनोई इब्राहीम सूर ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार करके अपने को इब्राहीमशाह के नाम से बादशाह घोषित कर दिया। उस समय आदिलशाह चुनार में था और उसका मुख्य सहायक और सेनापति हेमू पूर्व में युद्ध करने गया हुआ था। इस कारण आदिलशाह कुछ न कर सका। इन परिस्थितियों में आदिलशाह के एक अन्य बहनोई अहमदखाँ को प्रोत्साहन मिला। वह पंजाब का सूबेदार था। उसने अपने आप को सिकन्दरशाह के नाम से स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। इसी प्रकार, बंगाल में मुहम्मदखाँ सूर ने और मालवा में बाजबहादुर ने अपने-अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। थोड़े समय पश्चात् सिकन्दरशाह ने दिल्ली और आगरा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, सूर-साम्राज्य पाँच भागों में बँट गया। सिकन्दरशाह के अधिकार में पंजाब, दिल्ली और आगरा थे, इब्राहीमशाह का अधिकार दोआब और सम्भल पर था, चुनार से बिहार तक के प्रदेश पर आदिलशाह का अधिकार था, बंगाल में मुहम्मदशाह का आधिपत्य था और मालवा में बाजबहादुर की स्वतन्त्र सत्ता थी। इनमें से प्रत्येक शासक सम्पूर्ण सूर-साम्राज्य को अपने अधिकार में करने के लिए प्रयत्नशील था।

ऐसी परिस्थिति में जबकि सूर-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था और विभिन्न सूर-सरदार आपस में संघर्ष कर रहे थे, हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया। इनके संघर्षों के कारण हुमायूँ लौहार तक सरलता से पहुँच गया और फिर मच्छीवारा तथा सरहिन्द के युद्धों को जीतकर उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

[3]

द्वितीय अफगान-साम्राज्य के पतन के कारण

भारत में दिल्ली में अफगान-साम्राज्य को सर्वप्रथम लोदी-वंश ने स्थापित किया था। उसी वंश के इब्राहीम लोदी को परास्त करने के पश्चात् बाबर ने 1526 ई. में दिल्ली में मुगल-वंश के राज्य की स्थापना की। परन्तु शेरशाह सूर ने 1540 ई. में बाबर के उत्तराधिकारी बादशाह हुमायूँ को दो युद्धों में परास्त करके भारत छोड़ने के लिए बाध्य किया और दिल्ली में पुनः अफगान-साम्राज्य की स्थापना की। इस कारण शेरशाह द्वारा स्थापित किया गया साम्राज्य द्वितीय अफगान-साम्राज्य कहलाया। परन्तु अफगानों का यह द्वितीय साम्राज्य लगभग पन्द्रह वर्ष ही रह पाया। 1555 ई. में मुगल-बादशाह हुमायूँ वापस लौटा और उसने क्रमशः मच्छीवारा और सरहिन्द के युद्धों को जीतकर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार द्वितीय अफगान-साम्राज्य को समाप्त कर दिया। इस द्वितीय अफगान-साम्राज्य के पतन के निम्नलिखित कारण रहे :

1. प्रशासकीय कठिनाइयाँ—निस्सन्देह, शेरशाह ने अपने अल्प-शासनकाल में ही एक श्रेष्ठ शासन की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की थी। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी इस्लामशाह ने भी उसकी शासन-व्यवस्था को बनाये रखा। लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात् अफगानों में सिंहासन को प्राप्त करने के लिए जो पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हुआ, उससे वह व्यवस्था नष्ट हो गयी। ऐसी परिस्थिति में नागरिकों का किसी भी शासक के प्रति वफादार होना सम्भव नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, मुख्य कठिनाई आर्थिक थी। अफगान-साम्राज्य के विभाजित हो जाने के कारण दिल्ली के शासक सिकन्दर लोदी के पास पर्याप्त सैनिक-साधन भी उपलब्ध नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में मुगल-सेना अफगान-सेना से श्रेष्ठ सिद्ध हुई तथा हुमायूँ ने सिकन्दर लोदी को सरलता से परास्त करके दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

2. इस्लामशाह का उत्तरदायित्व—इस्लामशाह, निस्सन्देह, शेरशाह का योग्य उत्तराधिकारी था। परन्तु उसी के शासन-काल में अफगानों में आपस में तीव्र विभाजन हो गया। इस्लामशाह ने अपने भाई आदिलखाँ की शक्ति को समाप्त करके साम्राज्य के विभाजन को तो बचा लिया परन्तु अफगानों की एकता को उसने नष्ट कर दिया। वह अपने सरदारों के प्रति शंकालु हो गया और उनमें से कई सरदारों को उसने मरवा भी दिया। इसी कारण उसके विरुद्ध विद्रोह हुआ। वह उस विद्रोह को दबाने में भी सफल हुआ परन्तु अफगान-सरदारों की वफादारी पाने में असफल रहा। उसकी सफलता अपनी शक्ति पर आधारित व्यक्तिगत सफलता थी। अफगान-सरदार उसके वंश के प्रति वफादार नहीं रह सके। अपने समय में वह अफगानों की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने में अवश्य सफल रहा परन्तु उसे नष्ट नहीं कर सका। ऐसी स्थिति में ही उसकी मृत्यु भी शीघ्र हो गयी जबकि उसका पुत्र और उत्तराधिकारी फीरोज अल्पायु था। उसकी मृत्यु होते ही अफगान-सरदारों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएँ और स्वतन्त्र प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से सामने आ गयीं और उनमें पारस्परिक संघर्ष आरम्भ हो गये। इस प्रकार, अफगानों को अपने नेतृत्व में एकता प्रदान करने में इस्लामशाह असफल हुआ था और वह उसके वंश और साम्राज्य के पतन का एक कारण बना।

3. इस्लामशाह के अयोग्य उत्तराधिकारी—इस्लामशाह का उत्तराधिकारी उसका अल्पायु पुत्र फीरोज था जिसको तीन दिन पश्चात् ही उसके मामा मुबारिजखाँ ने मरवा दिया और आदिलशाह के नाम से स्वयं सुल्तान बन गया। परन्तु आदिलशाह अयोग्य सिद्ध हुआ। इसी प्रकार, इब्राहीमशाह और सिकन्दरशाह, जिन्होंने क्रमशः दिल्ली और आगरा पर अपना अधिकार स्थापित किया, अयोग्य सिद्ध हुए। उनमें से कोई भी अफगान-साम्राज्य के विघटन को रोकने में सफल नहीं हुआ और सूर-साम्राज्य खण्डित हो गया। जिस समय मुगल-बादशाह हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया उस समय आदिलशाह, इब्राहीमशाह और सिकन्दरशाह ही आपस में संघर्षरत नहीं थे बल्कि बंगाल में मुहम्मदशाह और मालवा में बाज बहादुर ने अफगानों के स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये थे। इस प्रकार, हुमायूँ के आक्रमण से पहले ही अफगान अपनी शक्ति को विभाजित कर चुके थे।

4. अफगानों की स्वतन्त्रता और संघर्ष की प्रवृत्ति—द्वितीय अफगान-साम्राज्य की असफलता का मूल कारण अफगानों का एक केन्द्रीय शासन-व्यवस्था को स्वीकार न करना था। अफगान आवश्यकता से अधिक अपने अधिकारों की स्वतन्त्रता पर बल देते थे जिसके कारण वे एक सुल्तान के शासन के अधीन रहना पसन्द नहीं करते थे। सुल्तान उन्हें अपने नियन्त्रण में रखने के लिए शक्ति के आधार पर बाध्य तो कर सकता था परन्तु उनकी स्वतन्त्रता की भावना पर स्थायी अंकुश नहीं लगा सकता था। इस कारण सुल्तान के दुर्बल या अयोग्य होते ही उनकी स्वतन्त्रता की महत्वाकांक्षाएँ सम्मुख आ जाती थीं और वे पारस्परिक संघर्ष में फँस जाते थे। लोदी-वंश के पतन का भी यह एक मुख्य कारण रहा था और द्वितीय अफगान-साम्राज्य के पतन में भी इसने मुख्य भाग लिया।

उपर्युक्त कारणों से शेरशाह द्वारा स्थापित द्वितीय अफगान-साम्राज्य उसकी मृत्यु के पन्द्रह वर्ष पश्चात् ही समाप्त हो गया।

4

अकबर महान् (1556-1605 ई.)

केवल मुगल शासकों में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मध्य-युग के भारतीय शासकों में अकबर को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। मुगल-साम्राज्य को वास्तव में भारत में स्थापित करने, उसका विस्तार करने और उसे स्थायित्व प्रदान करने का श्रेय अकबर को है। इसके अतिरिक्त, राजस्व और शासन में जिन नवीन और उदार सिद्धान्तों का उसने प्रतिपादन किया वह उसे भारत के ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के महान् शासकों में स्थान प्रदान करता है। प्रायः 350 वर्ष का मुसलमानी शासन उस समय तक भारत में अस्थिर था और एक भी मुसलमान शासक न तो अपने राजवंश को स्थिरता प्रदान कर सका था और न ही शासन के उन सिद्धान्तों को व्यवहार में ला सका था जिनके आधार पर एक विदेशी सत्ता और भिन्न धर्म के मतावलम्बी एक अन्य देश में स्थायी रूप से निवास करने या शासन करने का अधिकार प्राप्त कर पाते। अकबर से पहले केवल शेरशाह ने, निस्सन्देह, प्रजा की भलाई के आधार पर शासन-सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु शेरशाह को बहुत थोड़ा समय मिल सका था। उसकी नीति अभी अस्पष्ट ही थी और उसके प्रभाव के परिणामों को समझने का अवसर भी प्राप्त नहीं हुआ था कि उसकी मृत्यु हो गयी। अकबर को अपनी नीतियों एवं उनके प्रभाव को देखने के लिए एक लम्बा समय प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, वह निश्चय ही शेरशाह की तुलना में अधिक उदार, अधिक दृढ़, अधिक नीतिज्ञ और अधिक विशाल दृष्टिकोण वाला सिद्ध हुआ। निस्सन्देह, अकबर ने अपने राजवंश को स्थायित्व प्रदान किया और शासन के उन सिद्धान्तों का व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोग किया जिनके आधार पर मुगल-वंश और इस्लाम के समर्थक शासकों को एक विदेशी देश अथवा अपने से पृथक धर्म के मतावलम्बियों पर शासन करने का नैतिक अधिकार प्राप्त हो सका। इसी में अकबर की महानता थी। लेनपूल ने लिखा है : "वह भारतीय बादशाहों में सबसे महान् था।" डॉ. ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं : "अकबर भारतीय इतिहास का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व का एक महत्वपूर्ण शासक था.......अकबर की मौलिक योग्यता और सफलताओं की तुलना तत्कालीन यूरोपीय शासकों से करने से उसकी श्रेष्ठता सरलता से स्थापित हो जाती है।"

[1]

राज्याभिषेक और प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

अमरकोट के राजा वीरसाल के यहाँ 15 अक्टूबर, 1542 ई. को अकबर का जन्म हुआ। यह वह समय था जब हुमायूँ शेरशाह से परास्त होकर सिन्ध में इधर-उधर भटक रहा था। जिस समय हुमायूँ भारत से भागकर पर्शिया के शाह के यहाँ शरण के लिए गया उस समय वह

अपने बेटे अकबर को कन्धार के निकट छोड़कर भागा। अस्करी ने अकबर को अपने संरक्षण में ले लिया। 3 वर्ष की आयु में अकबर की भेंट अपने पिता से पुनः उस समय हुई जब हुमायूँ ने कन्धार और काबुल पर अधिकार किया। यहीं उसका नाम 'जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर' रखा गया। परन्तु एक बार पुनः अकबर को अपने पिता से बिछुड़ना पड़ा। एक युद्ध में कामरान ने बालक अकबर को कन्धार के किले की दीवार पर लटका दिया जबकि हुमायूँ की तोपें किले पर आग बरसा रही थीं। भाग्य से ही अकबर बच गया। पाँच वर्ष की आयु से अकबर पिता के साथ ही रहा और उसकी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अकबर ने साहित्यिक शिक्षा में कोई रुचि नहीं दिखायी यद्यपि घुड़सवारी और अस्त्र-शस्त्र चलाने में वह निपुण हो गया। उसने गजनी और लाहौर के सूबेदार के रूप में कार्य किया और हुमायूँ की मृत्यु के अवसर पर वह पंजाब में सिकन्दर सूर को समाप्त करने के प्रयत्न में संलिप्त था। उस अवसर पर बैरमखाँ उसके संरक्षक के रूप में कार्य कर रहा था। हुमायूँ की मृत्यु की सूचना मिलने पर पंजाब में गुरुदासपुर जिले के निकट कलानौर नामक स्थान पर 14 फरवरी, 1556 ई. को अकबर को मुगल बादशाह घोषित किया गया। उस समय अकबर 14 वर्ष की आयु को भी पूरा नहीं कर पाया था।

अकबर को अपने पिता से काँटों का ताज प्राप्त हुआ था। भारत से बाहर मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत काबुल, बदख्शां और कन्धार थे। काबुल में अकबर का सौतेला भाई मिर्जा हकीम मुनीमखाँ के संरक्षण में शासन कर रहा था। हुमायूँ की मृत्यु की सूचना पाते ही बदख्शां के सूबेदार मिर्जा सुलेमान ने अपने को केवल स्वतन्त्र ही घोषित नहीं किया अपितु वह मिर्जा हकीम और अकबर को अपने आधिपत्य में करने के लिए उत्सुक हो गया। उसने इस आशय से काबुल पर आक्रमण किया। कन्धार पर, जो बैरमखाँ की जागीर में था, पर्शिया के आक्रमण का निरन्तर खतरा रहता था। ऐसी स्थिति में अकबर को अफगानिस्तान से कोई सहायता मिलने की आशा न थी बल्कि वहाँ कभी भी सहायता की आवश्यकता हो सकती थी। भारत में दिल्ली, आगरा और इनके निकट के भागों के अतिरिक्त मुगलों के हाथ में कुछ न था। पंजाब मुगलों के अधिकार में होते हुए भी सिकन्दर सूर की उपस्थिति के कारण अरक्षित था। इस मुगल भू-प्रदेश में अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए मुगल सरदार और सेना विभिन्न स्थानों पर बिखरी हुई थी। ग्वालियर, मालवा, बिहार, बंगाल, गुजरात आदि विभिन्न प्रदेशों में अफगान स्वतन्त्र हो गये थे और उत्तर-भारत का अधिकांश भाग विद्रोही अफगान सरदारों के अधिकार में था। सूर-वंश के उत्तराधिकारी सिकन्दरशाह सूर, इब्राहीम सूर और मुहम्मद आदिल सूर अभी तक जीवित थे, विभिन्न प्रदेशों पर अधिकार किये हुए थे और दिल्ली के सिंहासन को प्राप्त करने के लिए लालायित थे। राजस्थान में जोधपुर (मारवाड़) का शासक मालदेव अभी जीवित था और उसके अतिरिक्त मेवाड़, अम्बर, जैसलमेर आदि के शासकों ने अपनी शक्ति को पुनः एकत्रित कर लिया था। मुगल सरदारों की आपस की एकता और स्वामिभक्ति पर अधिक निर्भर रहना कठिन था। शाह अब्दुल माली ने जिसे हुमायूँ 'फर्जन्द' (पुत्र) पुकारता था, अकबर के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया था। आर्थिक दृष्टि से अकबर की स्थिति बहुत दुर्बल थी। हुमायूँ ने खजाने में धन नहीं छोड़ा था, अधीनस्थ प्रदेशों से तलवार के बूते पर ही लगान या अन्य कर वसूल किये जा सकते थे और दिल्ली एवं आगरा के निकट क्षेत्रों में भयंकर अकाल पड़ रहा था। इस प्रकार 13 वर्षीय अकबर के लिए ये सभी परिस्थितियाँ कठिन थीं। अकबर के लिए प्रथम संकट मुहम्मद आदिलशाह सूर ने खड़ा किया जिसके अधिकार में सम्भल से बिहार तक का क्षेत्र था। स्वयं आदिलशाह तो योग्य न था परन्तु

उसका वजीर एवं सेनापति हेमू, निस्सन्देह, योग्य था और आदिलशाह के आदेश से उसने आगरा और दिल्ली पर अधिकार करने हेतु आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया था।

[2]

बैरमखाँ की संरक्षता का समय (1556-1560 ई.)

अकबर ने अपने संरक्षक बैरमखाँ को अपना 'वकील' (वजीर) नियुक्त किया और उसे 'खान-ए-खाना' की उपाधि से विभूषित किया। अगले चार वर्ष एक प्रकार से अकबर की नहीं बल्कि बैरमखाँ की सत्ता के थे। अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों का हल निकालने और भारत में मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करने का श्रेय बैरमखाँ को था। बैरमखाँ का वंश पर्शिया का रहने वाला था। उसके पिता सैफ अलीबेग ने बाबर के यहाँ नौकरी की थी और स्वयं बैरमखाँ 16 वर्ष की आयु से हुमायूँ की सेवा में आ गया था। वह अत्यन्त सुसंस्कृत, शिक्षित, वफादार, साहसी, बहादुर व योग्य सैनिक और सेनापति था। उसने हुमायूँ की तरफ से कन्नौज के युद्ध में भाग लिया था और उस समय जबकि हुमायूँ कन्धार भागने की तैयारी कर रहा था, वह उससे जाकर मिल गया था। उसके पश्चात् वह निरन्तर हुमायूँ के साथ रहा और पर्शिया, कन्धार, काबुल तथा हुमायूँ की भारत की पुनर्विजय के अवसर पर उसने हुमायूँ की प्रत्येक प्रकार से सेवा की। उसने हुमायूँ की भारत की पुनर्विजय में ही नहीं बल्कि अकबर की प्रारम्भिक कठिनाइयों को समाप्त करने में पूर्ण सहयोग दिया। वास्तव में आरम्भ में अकबर की स्थिति को दृढ़ करने में सबसे बड़ा भाग उसी का था।

1. पानीपत का द्वितीय युद्ध (5 नवम्बर, 1556 ई.)

जबकि अकबर पंजाब में ही था, हेमू ने ग्वालियर से आगरा को ओर बढ़ना आरम्भ किया । आगरा के सूबेदार इस्कन्दरखाँ उजबेग ने हेमू की शक्तिशाली सेना से युद्ध करना बेकार समझा और वह भागकर दिल्ली चला गया । आगरा पर अधिकार करने के पश्चात् हेमू दिल्ली की ओर बढ़ा । वहाँ के सूबेदार तार्दीबेग ने किले से निकलकर उसका मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई । तार्दीबेग किले को छोड़कर पंजाब की ओर भाग गया । इस प्रकार, दिल्ली, आगरा और सम्भल का सम्पूर्ण क्षेत्र हेमू के अधिकार में चला गया । **दिल्ली में हेमू ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया और विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की ।**

उस समय मुगलों की स्थिति बहुत दुर्बल थी और अनेक सरदारों ने अकबर को काबुल चले जाने का परामर्श दिया । परन्तु अकबर और बैरमखाँ ने इसे स्वीकार नहीं किया और पंजाब की सुरक्षा का प्रबन्ध करके मुगल-सेना ने दिल्ली की ओर बढ़ना आरम्भ किया। सरहिन्द के निकट तार्दीबेग, इस्कन्दरखाँ उजबेग और अलीकुलीखाँ अकबर से मिले । इस अवसर पर बैरमखाँ ने चुपके से तार्दीबेग को मरवा दिया और बाद में अकबर को इसकी सूचना दी । तत्कालीन इतिहासकारों ने बैरमखाँ के इस कार्य को व्यक्तिगत प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या का कारण बताया है । आधुनिक इतिहासकारों का कहना है कि इस अवसर पर उसकी हत्या किया जाना भगोड़ों को सबक देने, मुगल सेना के आत्मबल को बढ़ाने और उन सलाहकारों की आवाज को समाप्त करने के लिए आवश्यक था जो अकबर को काबुल जाने की सलाह दे रहे थे । इस कारण वह कार्य एक हत्या होते हुए भी राजनीतिक दृष्टि से उचित था ।

हेमू ने अपने तोपखाने को साधारण संरक्षण में आगे भेज दिया था जिस पर अलीकुलीखाँ के नेतृत्व में मुगलों के अग्रगामी दल ने अधिकार कर लिया । 5 नवम्बर, 1556 ई. को पानीपत के मैदान में हेमू का मुगलों से मुकाबला हुआ । तोपखाना न होते हुए भी

हेमू के आक्रमण से मुगल सेना में खलबली मच गयी । परन्तु उसी अवसर पर हेमू की आँख में एक तीर लगा और वह मूर्च्छित होकर अपने हाथी के हौदे में गिर गया । उसके महावत ने उसे सुरक्षित स्थान पर ले जाने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ और हेमू पकड़ा गया। हेमु की सेना इधर-उधर भाग गयी अथवा मारी गयी । हेमू को अकबर के सामने ले जाया गया। अकबर ने सम्भवतया अपनी तलवार उसकी गर्दन से छुआई और बैरमखाँ ने उसका सिर काट दिया । इस प्रकार हेमू की पराजय और मृत्यु हुई । हेमू की पराजय के मुख्य कारण उसके तोपखाने का पहले ही मुगलों के हाथों में चला जाना और युद्ध के दौरान उसकी आँख में तीर लग जाना था । डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "उसकी पराजय एक दुर्घटना थी और अकबर को विजय दैवी संयोग से मिली थी ।"

हेमू अथवा हेमराज मध्य-युग के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है । तत्कालीन स्रोतों के अनुसार हेमू वैश्य था और रेवाड़ी के बाजार में नमक बेचता था यद्यपि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने उसे ब्राह्मणों की भार्गव उपजाति का बताया है । इस्लामशाह ने उसे अपनी सेवा में लिया था और आदिलशाह के समय में उसका सम्मान बढ़ा और पदोन्नति हुई । धीरे-धीरे उसने अपनी योग्यता से राजकीय सम्मान प्राप्त किया । आदिलशाह ने उसकी सैनिक प्रतिभा से सन्तुष्ट होकर उसे अपना वजीर और सेनापति बना लिया । आदिलशाह की तरफ से उसने 24 युद्धों में भाग लिया जिनमें से उसने 22 युद्धों में सफलता प्राप्त की । उसकी सेना में हिन्दू ही नहीं बल्कि अफगान भी थे और वे सभी उसमें विश्वास करते थे । दिल्ली पर अधिकार करने के पश्चात् उसने विक्रमादित्य के नाम से अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित किया था । हेमू पर अपने मालिक आदिलशाह से गद्दारी करने का आरोप लगाना गलत होगा। मध्य-युग में तलवार के आधार पर राज्य-शक्ति प्राप्त करना साधारण परम्परा थी । मुहम्मद आदिलशाह ने न केवल अपने भानजे को मारकर गद्दी पर अधिकार किया था बल्कि उस समय दिल्ली भी उसके अधिकार में न थी । इसके अतिरिक्त, आदिलशाह विलासी और अयोग्य था । स्वयं उसके सम्बन्धियों ने उससे शासन-सत्ता छीनने का प्रयत्न किया था । ऐसी स्थिति में हेमू द्वारा अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित करना गलत नहीं माना जा सकता । हेमू ने साधारण स्थिति से उठकर अपने को सम्राट बनाया था, इससे उसकी योग्यता स्पष्ट होती है । यह बात और है कि उसकी सफलता अल्पकालीन थी ।

2. सूर-वंश के दावेदारों की समाप्ति

अप्रैल 1559 ई. में बंगाल के खिज्रखाँ ने आदिलशाह सूर को एक युद्ध में मार दिया । इसके बाद मुगलों को बंगाल और बिहार की ओर बढ़ने का अवसर मिला । पंजाब में सिकन्दरशाह सूर ने कुछ माह के पश्चात् आत्म-समर्पण कर दिया । उसे बिहार में एक साधारण जागीर दी गयी परन्तु बाद में वह बंगाल की तरफ भाग गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई। इब्राहीमशाह सूर को खान-ए-जमान ने जौनपुर से निकाल बाहर किया और वह उड़ीसा की ओर भाग गया । वहीं उसकी मृत्यु हुई । इस प्रकार, 1559 ई. तक दिल्ली के सिंहासन पर दावा करने वाले सूर-वंश के सभी उत्तराधिकारी समाप्त कर दिये गये और मुगलों को उनकी ओर से कोई भय न रहा ।

3. खोये हुए भू-क्षेत्रों की प्राप्ति और सुरक्षा

पानीपत के युद्ध को जीतने के पश्चात् मुगलों ने सरलता से दिल्ली और आगरा पर अपना अधिकार कर लिया । इसके पश्चात् मेवात पर अधिकार किया गया और हेमू के पिता को मृत्यु-दण्ड दिया गया । तत्पश्चात् अजमेर, सम्भल, लखनऊ, ग्वालियर और जौनपुर पर मुगलों का आधिपत्य हो गया । चुनार, रणथम्भौर और मालवा को भी जीतने के

प्रयत्न किये गये परन्तु चुनार और रणथम्भौर पर अधिकार न हो सका तथा मालवा को जीतने के लिए भेजी गयी सेना को अकबर और बैरमखाँ के सम्बन्ध खराब हो जाने के कारण वापस बुलाना पड़ा ।

सुलेमान मिर्जा कई माह तक काबुल को घेरे रहा, परन्तु जब उसे जीतने की आशा दिखायी न दी तो वह उजबेगों के भय तथा आने वाले जाड़े और बर्फ की सम्भावना को देखकर केवल इस शर्त पर चला गया कि उसका नाम केवल एक दिन के लिए 'खुतबा' में पढ़ दिया जाये। इस प्रकार मुगलों की उत्तर-पश्चिम की सीमाएँ सुरक्षित हो गयीं। परन्तु इस समय कन्धार मुगलों के हाथ से निकल गया जिसे वहाँ के सूबेदार शाह मुहम्मद को बाध्य होकर पर्शिया को सौंपना पड़ा।

इस प्रकार बैरमखाँ के संरक्षण का चार वर्ष का समय कन्धार की हानि के अतिरिक्त सफलता, सुरक्षा और संगठन का था। काबुल से लेकर जौनपुर तक और पंजाब की पहाड़ियों से लेकर अजमेर तक अकबर की सत्ता को स्वीकार कर लिया गया। गक्खरों को भी मुगल-आधिपत्य स्वीकार करने के लिए मना लिया गया।

4. बैरमखाँ का पतन

यद्यपि बैरमखाँ ने मुगल-वंश की काफी सेवा की थी और राज्य में उसका बहुत प्रभाव था परन्तु 1560 ई. में उसका पतन हो गया । निजामुद्दीन ने उसके पतन का कारण 'विभिन्न सरदारों द्वारा अकबर को भड़काना' बताया था। 'अकबरनामा' में लिखा है कि "उसके पतन का कारण उसका दम्भ था ।" अबुल फजल ने लिखा था कि "उसका व्यवहार बर्दाश्त से बाहर हो गया था और उसका दिमाग उसके खुशामदियों ने खराब कर दिया था।" फरिश्ता ने लिखा था कि "बैरमखाँ पर कामरान मिर्जा के लड़के अब्दुल कासिम मिर्जा का पक्ष लेने का सन्देह किया गया था।" इस प्रकार, तत्कालीन इतिहासकारों ने बैरमखाँ के पतन के विभिन्न कारण बताये थे। यद्यपि बैरमखाँ की वफादारी पर सन्देह करना तो अनुचित होगा परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि **बैरमखाँ का व्यक्तिगत व्यवहार, तुर्की सरदारों और मुख्यतया अकबर के निकट के सम्बन्धियों द्वारा अकबर को भड़काना और शासन-सत्ता को स्वयं अपने हाथों में लेने की अकबर की इच्छा आदि बैरमखाँ के पतन के कारण बने।** अनेक तुर्की सरदार और, मुख्यतया, अकबर के निकट-सम्बन्धी जिनमें से अकबर की धाय-माँ माहम अनगा और उसका पुत्र आधमखाँ, माहम अनगा की लड़की जीजी अनगा और उसका पति शम्सुद्दीन आदि यह अनुभव करते थे कि उन्हें अपेक्षित पद और सम्मान न मिलने का प्रमुख कारण बैरमखाँ था। पीर मुहम्मद जिसे बैरमखाँ ने उसके पद से हटा दिया था, उनके साथ हो गया था और उसे उसके पद से हटाये जाने से अन्य तुर्की सरदारों को अपने बारे में आशंकाएँ हो गयी थीं। बैरमखाँ शिया था जबकि अकबर के सम्बन्धी सुन्नी थे। उन्होंने बैरमखाँ पर दोषारोपण किया कि वह सुन्नी मत के विरुद्ध कार्य कर रहा था। सुन्नियों द्वारा मान्यता-प्राप्त शेख मुहम्मद गयास को हटाकर शिया शेख गदाई को 'सद्र' का पद देना भी सन्देह और असन्तोष का कारण बना। तार्दी बेग का कत्ल और अब्दुल माली एवं पीर मुहम्मद को कैद किया जाना भी सुन्नी सरदारों के प्रति शंका का कारण हो गया था। इसके अतिरिक्त, बैरमखाँ ने हुमायूँ की भतीजी सलीमा सुल्तान बेगम से विवाह करके राजपरिवार से सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। वह भी सुन्नी सरदारों की ईर्ष्या का एक कारण बन गया था। बैरमखाँ का व्यवहार अकबर के प्रति एक अल्पायु बालक जैसा था जबकि अकबर जवान होता जा रहा था। अकबर और उसके परिवारीजनों को व्यक्तिगत व्यय हेतु समुचित धनराशि नहीं मिल रही थी । अकबर के स्वयं के सेवकों और सम्बन्धियों को उचित सम्मान और पद भी

प्राप्त नहीं हो रहे थे, जबकि बैरमखाँ के सेवकों को अच्छे पद दिये जा रहे थे। एक-दो घटनाएँ ऐसी भी हुईं जिनके कारण अकबर को अनुभव हुआ कि बैरमखाँ उसका उचित सम्मान नहीं करता। अनेक अवसरों पर ऐसा हुआ था जबकि बैरमखाँ ने बिना अकबर की सलाह के महत्वपूर्ण निर्णय ले लिये थे। यह सभी अकबर को रुचिकर नहीं था। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि अकबर वयस्क हो गया था और अपने अधिकारों का प्रयोग स्वयं करना चाहता था। बैरमखाँ अकबर की इस मनःस्थिति को समझने में असफल रहा। बैरमखाँ के विरोधियों की संख्या में वृद्धि हो गयी थी और वे सभी अकबर के साथ थे।

अकबर ने बैरमखाँ से खुलकर झगड़ा करना उचित न समझा। एक बार जबकि अकबर आगरा में था, वह शिकार के लिए गया। वहीं उसे समाचार मिला कि उसकी माँ बीमार है। बैरमखाँ को सूचना भेजकर वह वहीं से दिल्ली पहुँच गया जहाँ सभी बेगमों और बादशाह के सम्बन्धियों ने बैरमखाँ को उसके पद से हटाने की माँग की। अन्त में, अकबर ने बैरमखाँ को पद से हटाने के आदेश भेज दिये। बैरमखाँ ने बादशाह की आज्ञा का पालन किया और मक्का जाने को तैयार हो गया। वह धीरे-धीरे पंजाब की ओर चल दिया जहाँ से, सम्भवतया, उसे अपना खजाना लेना था। बैरमखाँ के विरोधियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ और अकबर ने बैरमखाँ के शत्रु मुल्ला पीर मुहम्मद को एक सेना के साथ उसे भारत से शीघ्र निकालने के लिए भेज दिया। बैरमखाँ ने इसे अपना अपमान समझा और उसने मुगल सेना का विरोध करने का निश्चय किया। तिलवाड़ा नामक स्थान पर एक युद्ध में बैरमखाँ की पराजय हुई और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे अकबर के सामने ले जाया गया। अकबर ने उसका सम्मान सहित स्वागत किया और उसके सम्मुख तीन प्रस्ताव रखे, यथा—वह चाहे तो कालपी और चन्देरी का सूबेदार बन जाय अथवा बादशाह के व्यक्तिगत सलाहकार के रूप में दरबार में रहे अथवा मक्का चला जाय। बैरमखाँ ने जो किसी भी निम्न स्थिति में कार्य करने को तैयार न था, मक्का जाने का निर्णय किया। परन्तु बैरमखाँ मक्का न पहुँच सका। गुजरात में अफगानों के एक दल ने उस पर अचानक आक्रमण किया और मुबारकखाँ नामक एक व्यक्ति ने, जिसके पिता को बैरमखाँ ने मच्छीवारा के युद्ध में कत्ल किया था, उसे मार डाला। बैरमखाँ के परिवार को बड़ी कठिनाई से दयनीय स्थिति में अहमदाबाद पहुँचाया जा सका। अकबर ने उनको दरबार में बुला लिया, बैरमखाँ की विधवा पत्नी सलीमा बेगम से विवाह कर लिया और उसके बच्चे अर्ब्दुरहीम का पालन-पोषण अपने पुत्र की तरह किया। बाद में यही लड़का अपनी योग्यता के कारण 'खानखाना' के पद तक पहुँचा।

स्मिथ ने लिखा है : "बैरमखाँ के पतन और मृत्यु की कहानी एक दुःखद प्रभाव छोड़ती है।" निस्सन्देह, जिस व्यक्ति ने मुगल-वंश की जड़ों को भारत में स्थापित करने में इतना सहयोग दिया हो, उसका ऐसा अन्त कि उसकी लाश को फकीरों ने दफनाया, दर्दनाक था। परन्तु इसका अधिक दोष अकबर पर न था। बैरमखाँ के शत्रु, मुख्यतया हरम के दल और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, अकबर की धाय-माँ माहम अनगा इसके लिए सबसे अधिक उत्तरदायी थे।

[3]

तथाकथित पर्दा-शासन (1560-1564 ई.)

बैरमखाँ के पतन में अकबर के सम्बन्धियों और हरम की स्त्रियों का बड़ा भाग था। इसके पश्चात् कुछ वर्षों तक अकबर ने अपने सम्बन्धियों को शासन में कुछ हस्तक्षेप करने का अधिकार दिया। इस कारण कुछ इतिहासकारों ने उस समय को पर्दा-शासन अथवा

'पेटीकोट-सरकार' का समय पुकारा है। यह कहना तो भूल होगी कि इस समय में अकबर पूर्णतया हरम की स्त्रियों के प्रभाव में था। यदि ऐसा होता तो अकबर की उदार और साम्राज्यवादी नीति का आरम्भ इस समय में नहीं हुआ होता। इसी समय अकबर ने 1562 ई. में 'दास-प्रथा' (युद्धबन्दियों को दास बनाना) को समाप्त किया, 1563 ई. में 'तीर्थयात्रा-कर' (हिन्दुओं के तीर्थस्थानों पर लिया जाने वाला यात्री-कर) और 1564 ई. में 'जजिया-कर' समाप्त किया था। इन उदार सुधारों का किया जाना हरम की स्त्रियों के प्रभाव के कारण हो, यह सोचना भूल होगी। इसी प्रकार अकबर की विस्तारवादी नीति भी इसी समय में आरम्भ की गयी। मालवा, चुनार, मेड़ता और गोंडवाना पर आधिपत्य किया गया और आमेर (जयपुर) के राजपूत-वंश से विवाह-सम्बन्ध किये गये। निस्सन्देह, इस विस्तारवादी नीति का श्रेय मुख्यतया अकबर को ही दिया जा सकता है। इस कारण यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि अकबर चार वर्षों (1560-1564 ई.) तक हरम की स्त्रियों के प्रभाव में रहा। हाँ, यह स्वीकार किया जा सकता है कि इन चार वर्षों में उसकी नीति पर हरम की स्त्रियों और उसके सम्बन्धियों का कुछ प्रभाव अवश्य रहा होगा और अकबर अपने स्वयं के प्रभाव को अवसर के अनुकूल प्रयोग में न ला सका होगा। उसमें भी आरम्भ के दो वर्षों को ही सम्मिलित करना अधिक ठीक है। शम्सुद्दीन का कत्ल, आधमखाँ को मृत्यु-दण्ड (1562 ई.) और माहम अनगा की मृत्यु (1562 ई.) के बाद से अकबर ने अपने आप को अपने निकटस्थ सम्बन्धियों के प्रभाव से मुक्त कर लिया। 1564 ई. में ख्वाजा मुअज्जम को दिये गये मृत्यु-दण्ड ने इस अध्याय को पूर्णतया समाप्त कर दिया।

[4]

साम्राज्य-विस्तार

अकबर को विजय और साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी। मुगल-शासकों में अकबर प्रथम शासक था जिसने सम्पूर्ण भारत में मुगल-वंश का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। वह इसे राज्य की प्रगति और सुरक्षा के लिए आवश्यक मानता था। उसका विश्वास था कि "यदि पड़ौसी राज्यों के साथ युद्ध नहीं किया जायेगा तो वे उसके विरुद्ध युद्ध करेंगे।" इस कारण अकबर जीवनपर्यन्त राज्य-विस्तार में लगा रहा। उसे इस कार्य के लिए समय भी मिला और सफलता भी। उसने अपने जीवन में काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर विन्ध्याचल पर्वत तक के क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया। दक्षिण-भारत की विजय की ओर भी अकबर ने अपना कदम उठा लिया था और कुछ सफलता भी उसे प्राप्त हुई थी, किन्तु तभी उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार अकबर ने भारत के बहुत बड़े भाग में मुगल-साम्राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी।

1. मालवा

मालवा में बाजबहादुर शासक था। वह संगीत और कला का प्रेमी था। अपनी प्रेयसी और पत्नी रूपवती के साथ वह संगीत और नृत्य में लीन रहता था। शासन का न उसे शौक था और न उस ओर उसका ध्यान था। 1561 ई. में आधमखाँ को मालवा पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। जब मुगल सेना उसकी राजधानी सारंगपुर से केवल 20 मील दूर रह गयी तब बाजबहादुर उसका मुकाबला करने के लिए निकला। सारंगपुर से कुछ मील दूर एक युद्ध हुआ जिसमें बाजबहादुर परास्त हुआ और भाग गया। आधमखाँ ने उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति और स्त्रियों पर अपना अधिकार कर लिया। रूपमती ने जहर खाकर अपने सतीत्व की रक्षा की। आधमखाँ ने लूटी हुई सम्पत्ति का अधिकांश भाग अपने पास रख लिया जिससे अकबर

नाराज हो गया और स्वयं सारंगपुर गया। आधमखाँ के माफी माँगने पर अकबर ने उसे माफ कर दिया और उसी को सूबेदार बनाकर वह वापस आ गया।

1562 ई. में मालवा का सूबेदार मुल्ला पीर मुहम्मद था। उसने वहाँ की प्रजा पर बहुत अत्याचार किये। दक्षिण-भारत के शासकों की सहायता लेकर बाजबहादुर ने मालवा पर आक्रमण किया। पीर मुहम्मद उसका मुकाबला करने के लिए गया परन्तु उसे परास्त होकर भागना पड़ा। नर्मदा नदी को पार करते हुए उसका घोड़ा गिर गया और पीर मुहम्मद नदी में डूबकर मर गया। मालवा पर पुनः बाजबहादुर का अधिकार हो गया। परन्तु अकबर ने अब्दुल्लाखाँ उजबेग के नेतृत्व में एक मुगल-सेना मालवा को जीतने के लिए भेजी जिसने बाजबहादुर को परास्त करके मालवा को अपने अधीन कर लिया। बाजबहादुर काफी समय तक इधर-उधर भटकता रहा, परन्तु अन्त में उसने मुगल-सेवा स्वीकार कर ली और उसे मुगल-मनसबदार बना दिया गया।

2. चुनार

1561 ई. में अकबर ने आसफखाँ को चुनार का किला जीतने के लिए नियुक्त किया। उसी वर्ष उस पर अधिकार कर लिया गया।

3. गोंडवाना

गोंडवाना का हिन्दू-राज्य वर्तमान मध्य-प्रदेश के उत्तरी जिलों से लेकर दक्षिण-भारत की सीमा तक फैला हुआ था। वहाँ का शासक वीरनारायण था लेकिन उसके वयस्क हो जाने के पश्चात् भी उसकी माता दुर्गावती उसके संरक्षक के रूप में शासन की देखभाल कर रही थी। दुर्गावती बहुत ही साहसी, बहादुर और योग्य शासिका थी। अपनी योग्यता के कारण ही वह मालवा और दक्षिण-भारत के मुसलमान शासकों के मुकाबले अपने राज्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में समर्थ हो सकी थी। अकबर की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत गोंडवाना के स्वतन्त्र राज्य का कोई स्थान न था। अकबर ने आसफखाँ को गोंडवाना की विजय के लिए नियुक्त किया। चौरागढ़ के निकट रानी दुर्गावती ने मुगलों की विशाल सेना का मुकाबला किया। प्रेमनारायण को घायल हो जाने के कारण युद्ध से हटना पड़ा। रानी दुर्गावती भी तीरों से घायल हो गयी और उसने वहीं पर अपनी छाती में कटार भोंककर आत्महत्या कर ली। आसफखाँ ने राजधानी चौरागढ़ पर आक्रमण किया। राजपूत स्त्रियों ने जौहर कर लिया, प्रेमनारायण और अनेक राजपूत युद्ध करते हुए मारे गये और 1654 ई. में किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। बहुत-सा धन, हाथी और सामान आसफखाँ के हाथ लगा। आसफखाँ ने बहुत थोड़ा हिस्सा अकबर के पास भेजा और अधिकांश स्वयं अपने पास रख लिया।

रानी दुर्गावती के साहस, योग्यता और बहादुरी की सभी तत्कालीन और वर्तमान इतिहासकारों ने प्रशंसा की है। महोबा के चन्देल-वंश से सम्बन्धित इस रानी की प्रजा भी उसके शासन से पूर्ण सन्तुष्ट थी। अकबर का साम्राज्य-विस्तार के अतिरिक्त उसके राज्य पर आक्रमण करने का कोई अन्य कारण न था।

4. राजस्थान

राजस्थान को अपनी अधीनता में लाना भी अकबर की विस्तारवादी नीति का परिणाम था। राजपूत-शासकों के प्रति अकबर की नीति अन्य शासकों से भिन्न रही। राजस्थान में राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में उसकी नीति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं : (अ) महत्वपूर्ण दुर्गों पर आधिपत्य ; (ब) स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करने वाले अथवा विवाह-सम्बन्धों के

इच्छुक राजपूत राजाओं को अपनी अधीनता में लेना और उनको मुगल-सेवा में लेकर उनके राज्य उन्हीं को वापस कर देना ; तथा (स) विरोधी राजाओं से युद्ध करके उन्हें अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न। इस नीति का पालन करते हुए अकबर ने राजस्थान में बहुत सफलता प्राप्त की। राजस्थान के सभी महत्वपूर्ण किले मुगलों के अधिकार में चले गये और मेवाड़ के अतिरिक्त प्रायः सभी राजपूतों शासकों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली।

(i) आमेर (जयपुर)—आमेर का शासक भारमल (बिहारीमल) पहला राजपूत राजा था जिसने स्वेच्छा से अकब्बर की अधीमता स्वीकार की। 1562 ई. में जब अकबर अजमेर के शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की यात्रा पर गया तो मार्ग में राजा भारमल ने उससे भेंट की और अपनी पुत्री का विवाह अकबर से करने की इच्छा प्रकट की। अकबर ने इसे स्वीकार कर लिया। इसी राजपूत राजकुमारी से अकबर के उत्तराधिकारी जहाँगीर का जन्म हुआ। अकबर ने भारमल के पुत्र भगवानदास और पोते मानसिंह को मुगल-सेवा में रख लिया और उन्हें उच्च मनसबदार बनाया।

(ii) मेड़ता—मेड़ता मेवाड़ के राजा उदयसिंह के अधीन जागीरदार जयमल के अधिकार में था। ज़ब मुगल अधिकारी सर्फुउद्दीन ने उस पर आक्रमण किया तो जयमल किले को छोड़कर चला गया। देवदास ने मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उसे उसके 200 साथियों के साथ समाप्त कर दिया गया और मेड़ता का किला 1562 ई. में मुगलों के हाथ में चला गया।

(iii) मेवाड़—मेवाड़ के शासकों ने निरन्तर मुगल-सत्ता का विरोध किया था। राणा साँगा की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के सम्मान में कमी आयी थी परन्तु धीरे-धीरे उसने पुनः अपनी शक्ति और सम्मान में वृद्धि कर ली थी। मेवाड़ का सिसोदिया-वंश उस समय भी राजस्थान में सम्मानित था। तत्कालीन शासक उदयसिंह ने भी उसकी शक्ति के विकास में सहयोग दिया था। उसने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने से इंकार कर दिया। वह आमेर के कछवाह-राजवंश को हेय-दृष्टि से देखता था क्योंकि उस वंश ने अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे। राणा ने अकबर के शत्रु बाजबहादुर को शरण दी थी और विद्रोही मिर्जाओं ने भी उसका संरक्षण प्राप्त किया था। मेवाड़ गुजरात और उत्तर-भारत के मार्ग पर स्थित था। गुजरात की विजय के लिए उसे जीतना आवश्यक था। परन्तु सबसे बड़ी बात यह थी कि मेवाड़ की सत्ता और सम्मान को समाप्त किये बिना राजस्थान और उत्तर-भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। इस कारण 1567 ई. में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सरदारों के परामर्श को मानकर राणा उदयसिंह चित्तौड़ के किले से निकलकर जंगलों में चला गया और जयमल को किले की रक्षा का उत्तरदायित्व दिया गया। करीब पाँच महीने तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु मुगलों को सफलता न मिली। एक रात जब जयमल किले की टूटी हुई दीवार की मरम्मत करा रहा था तभी अकबर ने अपनी बन्दूक से निशाना लगाया जिससे जयमल घायल हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी। रात को राजपूत स्त्रियों ने 'जौहर' किया और प्रातःकाल फतहसिंह (फत्ता), उसकी माँ और पत्नी के नेतृत्व में राजपूतों ने मुगलों पर आक्रमण किया और अन्त तक लड़ते हुए मारे गये। अकबर ने किले में प्रवेश करके हत्याकाण्ड का आदेश दिया जिसमें हजारों राजपूत मारे गये। यह उसके नाम पर एक बड़ा धब्बा है यद्यपि बाद में उसने आगरा के किले के द्वार पर जयमल और फतहसिंह की हाथी पर बैठी हुई मूर्तियाँ बनवायीं। आसफखाँ को किलेदार बनाकर अकबर आगरा चला गया।

कर्नल टॉड ने लिखा है कि उदयसिंह दुर्बल और डरपोक था। परन्तु यह विचार गलत है। राणा उदयसिंह न तो दुर्बल था और न ही डरपोक। उसने कभी भी अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की और मेवाड़ के पतन के पश्चात् भी उसने अपने देश के सम्मान के साथ समझौता नहीं किया। चित्तौड़ के किले को उसने अपने सरदारों की सलाह से छोड़ा था। सम्भवतया, राजपूत जानते थे कि किला मुगल-आक्रमण के सम्मुख टिक न सकेगा। इस कारण अपने राजवंश की सुरक्षा के लिए उन्होंने राणा और उसके परिवार को किला छोड़ने का परामर्श दिया था। इस प्रकार राणा उदयसिंह पर कायरता का दोष नहीं लगाया जा सकता। यह बात दूसरी है कि उसका लड़का प्रतापसिंह साहस और संघर्ष में उससे अधिक दृढ़ सिद्ध हुआ।

1568 ई. में मुगलों ने मेवाड़ की राजधानी और उसके किले चित्तौड़ पर तो अधिकार कर लिया परन्तु मेवाड़ का अधिकांश भू-प्रदेश राणा उदयसिंह के अधिकार में रहा। 1572 ई. में राणा उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र प्रतापसिंह गद्दी पर बैठा। राणा प्रताप ने गद्दी पर बैठते ही शपथ ली कि जब तक वह अपनी राजधानी को स्वतन्त्र नहीं कर लेगा तब तक न तो थाली में रोटी खायेगा और न ही बिस्तर पर लेटेगा। राणा ने आजीवन इस शपथ का पालन किया। समझौते के सभी प्रयत्न असफल हुए। अकबर ने राजा मानसिंह को भेजकर राणा से मुगल-आधिपत्य को मानने के लिए कहा परन्तु राणा ने इसे स्वीकार नहीं किया। 1576 ई. में मानसिंह और आसफखाँ के नेतृत्व में एक सेना मेवाड़ पर आक्रमण के लिए भेजी गयी। 18 जून, 1576 ई. को राणा प्रताप ने हल्दीघाटी में उस सेना का मुकाबला किया। थोड़ी संख्या में होते हुए भी राणा ने मुगल-सेना में उथल-पुथल मचा दी परन्तु जब राणा शत्रुओं से घिर गया तब सरदार झाला ने राणा का मुकुट उतार कर स्वयं पहन लिया और राणा को भगाने में सहायता दी। हल्दीघाटी में राणा की पराजय हुई परन्तु मुगल इतने थक गये थे कि वे आगे न बढ़ सके। गोलकुण्डा, जिसे राणा खाली कर गया था, राजा मानसिंह के अधिकार में चला गया परन्तु उससे आगे उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। अकबर ने मानसिंह को वापस बुला लिया। उसके पश्चात् भी अकबर विभिन्न सरदारों को भेजकर मेवाड़ से युद्ध करता रहा परन्तु राणा प्रताप ने उसका आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। राणा भूखा रहा, जंगलों में घूमा और उसके परिवारीजनों को विभिन्न स्थानों पर छिपकर रहना पड़ा, परन्तु राणा ने संघर्ष जारी रखा। 1597 ई. में राणा प्रताप की मृत्यु हुई और अपनी मृत्यु से पहले उसने मेवाड़ के अधिकांश भू-भाग पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त की। मेवाड़ और राणा प्रताप का मुगल-साम्राज्य से युद्ध राजस्थान के इतिहास की ही नहीं बल्कि भारत के इतिहास की एक गौरवगाथा है।

(iv) रणथम्भौर—रणथम्भौर का किला राजा सुरजनराय के अधिकार में था जो मेवाड़ के अधीन था। 1569 ई. में मुगलों ने उस पर आक्रमण किया। डेढ़ महीने के घेरे के पश्चात् किला मुगलों को सौंप दिया गया।

(v) कालिंजर—1569 ई. में कालिंजर के दृढ़ किले पर अकबर का आधिपत्य हो गया। अकबर ने मजनूखाँ को किले पर आक्रमण करने के लिए भेजा था परन्तु किले के स्वामी राजा रामचन्द्र ने चित्तौड़ और रणथम्भौर के किलों के पतन से सबक लिया था अतः बिना किसी विरोध के उसने किले को मुगलों को सौंप दिया।

(vi) मारवाड़—1570 ई. में मारवाड़ ने स्वेच्छा से अकबर का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। अकबर के दृढ़-निश्चय और चित्तौड़ एवं रणथम्भौर के किलों के पतन ने

राजपूत शासकों की विरोध करने की शक्ति क्षीण कर दी थी। इसके अतिरिक्त, राजपूत शासकों के प्रति अकबर की उदारता की नीति भी विभिन्न राजपूत राजाओं के आत्मसमर्पण के लिए उत्तरदायी रही। जोधपुर के शासक मालदेव की मृत्यु हो चुकी थी। उसके लड़के और तत्कालीन शासक राजा चन्द्रेसन ने (उसके पश्चात् उदयसिंह ने) अकबर से भेंट की और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। बीकानेर के शासक राय कल्याणमल और जैसलमेर के शासक हरराय ने भी अकबर से भेंट की और न केवल अकबर की अधीनता ही स्वीकार की बल्कि अकबर से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये।

इस प्रकार, 1570 ई. तक मेवाड़ के अधीन कुछ किलों और अधीन प्रदेशों के अतिरिक्त राजस्थान के सभी शासकों ने मुगल-अधीनता स्वीकार कर ली। अकबर पहला मुसलमान शासक था जिसने राजस्थान में इतनी अधिक सफलता प्राप्त की। राजपूत शासकों ने अकबर की अधीनता को ही स्वीकार नहीं किया था बल्कि वे उसकी सेवा में भी चले गये। अकबर ने राजस्थान के कुछ महत्वपूर्ण किलों पर ही मुगल-आधिपत्य स्थापित किया था अन्यथा प्रायः सभी राजपूत शासकों के राज्य उनको वापस कर दिये थे। उनकी विदेश-नीति अकबर ने अवश्य अपने हाथों में ले ली और उन सभी को या उनके सम्बन्धियों को मुगल-मनसबदार बना दिया। क़र्नल टॉड ने लिखा है : "वास्तव में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक अकबर था। वह राजपूत-स्वतन्त्रता का प्रथम सफल विजेता था।"

5. गुजरात

गुजरात एक धनी प्रदेश था। पश्चिमी देशों से व्यापार करने का केन्द्र-स्थल गुजरात को माना जाता था। मक्का की यात्रा करने वाले मुसलमान यात्रियों को यहीं होकर जाना पड़ता था। राजस्थान को जीतने के पश्चात् गुजरात की विजय सम्भव थी। अकबर के विद्रोही सम्बन्धी मिर्जाओं ने वहाँ शरण ले रखी थी और गुजरात की अव्यवस्था का लाभ उठाकर वे शक्तिशाली बन चुके थे। गुजरात का शासक मुजफ्फरखाँ तृतीय अयोग्य था और एक प्रकार से अपने अधिकारी इतमादखाँ का कैदी था। राज्य की स्थिति अत्यन्त अव्यवस्थित थी और वहाँ की प्रजा में असन्तोष था। ऐसी परिस्थिति में अकबर ने गुजरात को जीतने का निश्चय किया और 1572 ई. में स्वयं वहाँ आक्रमण के लिए गया। मुगलों का कोई विशेष विरोध न हुआ और एक साधारण युद्ध के पश्चात् अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया गया। मुजफ्फरखाँ, इतमादखाँ आदि सभी ने आत्मसमर्पण कर दिया। अकबर ने आगे बढ़कर काम्बे तक अधिकार किया, इब्राहीम मिर्जा का पीछा किया और पर्याप्त खतरा उठाकर सरनाल के युद्ध में उसे परास्त किया। वापस आते हुए उसने सूरत के किले पर अधिकार किया। इस प्रकार गुजरात की विजय पूर्ण हो गयी और 'खान-ए-आजम' (मिर्जा अजीज कोका) को गुजरात का सूबेदार बनाकर अकबर वापस आ गया।

अकबर आगरा वापस पहुँचा ही था कि गुजरात में विद्रोह हो गया (1573 ई.)। मुहम्मद हुसैन मिर्जा जो दौलताबाद भाग गया था, गुजरात वापस आ गया और उसने असन्तुष्ट सरदारों को एकत्रित करके अहमदाबाद पर आक्रमण कर दिया। 'खान-ए-आजम' ने अकबर से सहायता माँगी। अकबर ने फतेहपुरसीकरी से अहमदाबाद तक के 450 मील लम्बे रास्ते को केवल नौ दिन में तय किया। स्वयं अकबर की उपस्थिति से विद्रोही भौचक्के रह गये। अहमदाबाद के निकट जो युद्ध हुआ उसमें विद्रोही परास्त हुए, शाह मिर्जा भाग गया और गुजरात का विद्रोह समाप्त हो गया। 'खान-ए-आजम' को ही गुजरात का सूबेदार रखा गया। टोडरमल को गुजरात की लगान-व्यवस्था का उत्तरदायित्व सौंपा गया जिसने छः माह में उसे

व्यवस्थित कर दिया। गुजरात का दूसरा आक्रमण अकबर के ही नहीं बल्कि संसार के इतिहास में बहुत ही 'द्रुतगामी आक्रमण' माना गया है। गुजरात मुगल-साम्राज्य का भाग बन गया। यहीं पर पहली बार अकबर की भेंट पुर्तगाली व्यापारियों से हुई।

6. बिहार और बंगाल

सूर-वंश के पतन के उपरान्त बिहार के अफगान सूबेदार सुलेमान किरानी ने अपने को स्वतन्त्र शासक बना लिया था। उसने बंगाल को जीतकर असम की सीमा तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। उसने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। 1572 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका जवान लड़का दाऊद उसकी गद्दी का मालिक बना। दाऊद ने अपने को स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया और पटना के मुगल किले पर आक्रमण करके उसे बर्बाद कर दिया। अकबर ने मुनीमखाँ खानखाना को दाऊद पर आक्रमण करने तथा बिहार को जीतने के आदेश दिये। 1574 ई. में मुनीमखाँ ने दाऊद पर आक्रमण किया। स्वयं अकबर भी उसकी सहायता के लिए गया। हाजीपुर के किले को जीतकर अकबर ने सम्पूर्ण बिहार पर अपना अधिकार कर लिया। दाऊद बंगाल भाग गया। मुनीमखाँ को बंगाल को जीतने का दायित्व सौंपकर अकबर फतेहपुरसीकरी वापस आ गया। मुनीमखाँ ने गढ़ी और उसके पश्चात् बंगाल की राजधानी टाँडा को जीत लिया। उस समय तक दाऊद ने एक भी स्थान पर मुगलों का मुकाबला नहीं किया था। 1575 ई. में उसने पहली बार तुकरोई नामक स्थान पर मुगलों का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग गया। दाऊद ने मुनीमखाँ से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और उड़ीसा की जागीर उसे दे दी गयी। परन्तु शीघ्र ही मुनीमखाँ की मृत्यु हो गयी और दाऊदखाँ ने मुगलों से की गयी सन्धि को ठुकरा दिया तथा टाँडा पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। अकबर ने खानेजहान को बंगाल को सूबेदार बनाकर भेजा। अन्त में, राजमहल के निकट हुए एक युद्ध में दाऊदखाँ पकड़ा गया और उसे मार दिया गया। बंगाल पर मुगलों का अधिकार हो गया। इस प्रकार **दो वर्ष (1574-1576) के संघर्ष के पश्चात् बिहार और बंगाल पर मुगलों का अधिकार हुआ।**

7. काबुल

अकबर का सौतेला भाई हकीम मिर्जा काबुल का शासक था। 1566-67 ई. में उसने पंजाब पर आक्रमण किया था परन्तु उसे विफल कर दिया गया था। 1581 ई. में उसने भारत पर पुनः आक्रमण किया। उस समय बंगाल और बिहार में विद्रोह हो रहे थे और विद्रोही सरदार अकबर के स्थान पर हकीम मिर्जा को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने के लिए सन्नद्ध थे। अकबर की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट होकर कुछ मुल्ला-मौलवियों ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करना धार्मिक कर्तव्य बता दिया था। अकबर के कुछ प्रतिष्ठित सरदार भी अकबर के विरुद्ध हकीम मिर्जा से पत्र-व्यवहार कर रहे थे। ऐसी स्थिति में हकीम मिर्जा को लाभ होने की आशा थी। परन्तु जब वह सिन्धु नदी पार करके लाहौर की तरफ बढ़ा तभी अपनी आशा के विपरीत उसने देखा कि पंजाब में उसे कोई सहायता नहीं मिल रही। इस बीच अकबर स्वयं उसका मुकाबला करने के लिए आगे बढ़ा। हकीम मिर्जा ने जब यह देखा कि भारत में अकबर की स्थिति दृढ़ है और यहाँ से उसे कोई सहायता नहीं मिल सकेगी तो वह काबुल वापस लौट गया। अकबर ने राजा मानसिंह को काबुल पर अधिकार करने के लिए आगे भेजा और स्वयं भी धीरे-धीरे उधर बढ़ा। राजा मानसिंह ने काबुल पर अधिकार कर लिया और हकीम मिर्जा बिना लड़े हुए भाग गया। उसने अकबर की अधीनता स्वीकार करने

का सन्देश भेजा परन्तु अकबर ने उससे व्यक्तिगत रूप में उपस्थित होने की माँग की जिसे उसने स्वीकार नहीं किया। अकबर उसकी बहन बख्तुन्निसा बेगम को काबुल का सूबेदार बनाकर वापस आ गया।

अकबर के वापस आ जाने पर हकीम मिर्जा काबुल पहुँच गया और स्वयं शासन की देखभाल करने लगा यद्यपि नाम उसकी बहन का ही रहा। परन्तु उसी वर्ष जुलाई 1581 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। **अकबर ने काबुल को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया** (1581 ई.) और राजा मानसिंह को वहाँ का सूबेदार बनाया।

8. कश्मीर

कश्मीर के शासक यूसुफखाँ ने अकबर की अधीनता तो स्वीकार कर ली थी परन्तु वह स्वयं अकबर से भेंट करने नहीं आया था। इस कारण अकबर उससे सन्तुष्ट न था। उसने कश्मीर को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने का निश्चय किया। 1585 ई. में वह स्वयं एक बड़ी सेना लेकर लौहार की ओर बढ़ा। 1586 ई. में कासिमखाँ और राजा भगवानदास को कश्मीर-विजय के लिए भेजा गया। यूसुफखाँ ने मुगलों का मुकाबला किया परन्तु युद्ध अधिक न चला। यूसुफखाँ अपनी दुर्बलता समझता था और मुगल-सेना जाड़े, बर्फ और रसद की कमी से परेशान थी। यूसुफखाँ सन्धि को तैयार हो गया परन्तु जब वह अकबर ने सामने प्रस्तुत हुआ तो उसे कैद कर लिया गया क्योंकि सन्धि की शर्तें अकबर को स्वीकार नहीं थीं। यूसुफखाँ के लड़के याकूबखाँ ने मुकाबले की तैयारी की परन्तु राजधानी श्रीनगर में विद्रोह हो जाने के कारण उसे वापस जाना पड़ा। अकबर के आदेश से आगे बढ़ती हुई मुगल सेमा ने श्रीनगर पर अधिकार कर लिया और याकूबखाँ भाग गया। बाद में उसने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे कैद कर लिया गया। इस प्रकार **1586 ई. में कश्मीर को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।**

9. सिन्ध

अकबर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को मुल्तान का सूबेदार बनाकर उसे सिन्ध को जीतने का उत्तरदायित्व सौंपा। 1591 ई. में खानखाना ने सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध के शासक जानीबेग ने साहसपूर्वक मुगलों का मुकाबला किया परन्तु दो युद्धों में उसकी पराजय हुई और उसने **मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया।** थट्टा और सेहवान के किले तथा सम्पूर्ण सिन्ध मुगलों के अधिकार में चला गया।

10. उड़ीसा

कुतलूखाँ ने अपने को उड़ीसा में स्वतन्त्र शासक बना लिया था। उस समय राजा मानसिंह बिहार का सूबेदार था। 1590 ई. में राजा मानसिंह ने उड़ीसा पर आक्रमण किया। तब तक कुतलूखाँ की मृत्यु हो चुकी थी। उसके पुत्र निसारखाँ ने राजा मानसिंह का मुकाबला किया परन्तु पराजित होकर आत्मसमर्पण कर दिया। उड़ीसा की जागीर उसी को दे दी गयी। परन्तु 1592 ई. में उसने विद्रोह किया। इस बार राजा मानसिंह ने उसे परास्त करके भगा दिया और **उड़ीसा को उसी वर्ष मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।**

11. बलूचिस्तान

1595 ई. में मीर मासूम को बलूचिस्तान पर आक्रमण के लिए भेजा गया जिसने उसी वर्ष सीदी के किले पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। बलूचिस्तान से मुगलों ने कन्धार की सीमा तक के सभी भू-क्षेत्र छीन लिये। इस प्रकार **बलूचिस्तान मुगल-साम्राज्य का भाग बन गया।**

12. कन्धार

1595 ई. में कन्धार बिना किसी युद्ध के मुगलों को प्राप्त हो गया। कन्धार पर्शिया के हाथ में था परन्तु वहाँ के तत्कालीन किलेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्जा के सम्बन्ध पर्शिया दरबार से खराब हो गये। अपनी स्वरक्षा के लिए उसने किला स्वेच्छा से मुगल सरदार शाहबेग को सौंप दिया और स्वयं मुगलों की सेवा में चला गया।

13. मध्य-एशिया और उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त

मध्य-एशिया में बदख्शां बाबर के राज्य की सीमाओं में था यद्यपि हुमायूँ के शासन-काल में सुलेमान मिर्जा वहाँ एक स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन करने लगा था। अकबर के शासन-काल में मध्य-एशिया में उजबेगों की शक्ति उनके नेता अब्दुल्ला के नेतृत्व में बढ़ गयी थी तथा उसने बल्ख और बदख्शां को भी अपने अधिकार में कर लिया था जिससे उसके राज्य की सीमाएँ अफगानिस्तान की सीमाओं से मिल गयी थीं जो अकबर के अधीन था। अकबर मध्य-एशिया में राज्य-विस्तार का विचार रखता था परन्तु वह भारत में ही इतना व्यस्त रहा कि उसे उस ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। परन्तु उसने उजबेगों को भी अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का अवसर प्रदान नहीं किया। अकबर ने अब्दुल्लाखाँ के खुरासान के आक्रमण का समर्थन किया जो पर्शिया के अधीन था, जबकि अब्दुल्लाखाँ ने उसे अफगानिस्तान की मुगलों की विरोधी जातियों को समर्थन न देने का आश्वासन दिया। इस प्रकार, अकबर के शासन-काल में उजबेगों और मुगलों के सम्बन्ध ठीक रहे यद्यपि दोनों शक्तियाँ एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से अवश्य देखती रहीं। इस काल में हिन्दूकुश-पर्वतमाला दोनों राज्यों की विभाजन-रेखा रही।

अफगानिस्तान और भारत के मध्य उत्तर-पश्चिम सीमा पर विभिन्न कबाइली जातियाँ निवास करती थीं। ये जातियाँ स्वतन्त्र प्रकृति की थीं और इनकी जीविका का मुख्य साधन मार्ग पर जाते हुए व्यापारिक काफिलों को लूटना अथवा मैदानी भागों पर अचानक आक्रमण करके लूटमार करना था। अकबर ने इन्हें अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। 1600 ई. में रोशनिया-कबीले के सरदार जलालखाँ को गजनी के निकट मार दिया गया। यूसुफजई भी मुगलों को बहुत परेशान कर रहे थे। अकबर ने एक बड़ी सेना राजा बीरबल और जैनखाँ के नेतृत्व में यूसुफजई-कबीले को दबाने के लिए भी भेजी। उस सेना पर धोखे से आक्रमण किया गया। उस लड़ाई में राजा बीरबल मारा गया। उसके पश्चात् अकबर ने राजा टोडरमल और शाहजादा मुराद के नेतृत्व में एक अन्य सेना भेजी जिसने यूसुफजइयों को बुरी तरह से परास्त किया। परन्तु तब भी उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में लूटमार और उपद्रव होते रहे।

14. यूरोप-निवासी

अकबर के शासन-काल में पुर्तगाली, अंग्रेज और डच भारत में पहुँच गये थे परन्तु 16वीं सदी में भारतीय समुद्र-तट पर पुर्तगाली ही प्रभावपूर्ण थे। अंग्रेजों और डचों को इस सदी में कोई व्यापारिक सुविधा प्राप्त नहीं हुई। पुर्तगालियों नें गोआ, चौल, बम्बई तथा निकट के समुद्र-तट पर अपना प्रभाव अवश्य स्थापित कर लिया था। अकबर के दरबार में उन्होंने समय-समय पर ईसाई पादरी भेजे, चर्च स्थापित करने की आज्ञा ली और अकबर को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। परन्तु अच्छे सम्बन्धों के अतिरिक्त पुर्तगाली अन्य लाभ नहीं पा सके।

15. दक्षिण-भारत (अहमदनगर और खानदेश)

अकबर दक्षिण-भारत को अपनी अधीनता में लानें के लिए उत्सुक था। 1591 ई. में उसने दक्षिण के खानदेश, बीजापुर, अहमदनगर और गोलकुण्डा राज्यों के शासकों के पास

सन्देश भेजा कि वे उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें। खानदेश का राज्य मुगलों की सीमा के सबसे अधिक निकट था और एक प्रकार से दक्षिण-भारत का प्रवेश-द्वार था। उसके राजा अलीखाँ ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया और वार्षिक कर देना स्वीकार किया। अन्य तीनों राज्यों ने अकबर का प्रस्ताव विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया। अकबर ने 1593 ई. में शाहजादा मुराद और अब्दुर्रहीम खानखाना को अहमदनगर पर आक्रमण करने के लिए भेजा। 1545 ई. में अहमदनगर के शासक बुरहान-उल-मुल्क की मृत्यु हो जाने से राज्य में आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था और राज्य के एक दल ने मुराद को अपनी सहायता के लिए आमन्त्रित भी किया। परन्तु मुगलों के वहाँ पहुँचने के पहले ही वजीर मिंदान मंजू ने विद्रोह को दबा दिया, स्वयं बीजापुर की सीमा पर जा पहुँचा और किले की सुरक्षा का दायित्व चाँदबीबी को सौंप दिया । 1595 ई. में मुगलों ने अहमदनगर का घेरा डाला। कई महीनों तक चाँदबीबी ने बड़ी योग्यता से किले की रक्षा की। 1596 ई. में पारस्परिक मतभेदों, रसद की कमी और बीजापुर एवं गोलकुण्डा से अहमदनगर के लिए सहायता आ जाने की सम्भावना के कारण मुगलों ने सन्धि करना ठीक समझा। चाँदबीबी इसके लिए तैयार थी। एक सन्धि के द्वारा बुरहान-उल-मुल्क के पोते बहादुरशाह को अहमदनगर का शासक स्वीकार कर लिया गया। उसने अकबर की अधीनता को स्वीकार कर लिया तथा बरार का प्रदेश और अन्य बहुत सी भेंटें मुगलों को दीं। परन्तु यह सन्धि अधिक समय न रह सकी। चाँदबीबी ने अपने को शासन से पृथक कर लिया और अन्य सरदारों ने सन्धि को ठुकराकर बरार को मुगलों से छीनने का प्रयत्न किया। अकबर ने खानखाना और मुराद को अहमदनगर पर पुनः आक्रमण करने के आदेश दिये परन्तु दोनों के मतभेदों को देखकर बाद में खानखाना के स्थान पर अबुल फजल को भेजा गया। 1597 ई. में शाहजादा मुराद की मृत्यु हो गयी और खानखाना को शाहजादा दानियाल के साथ भेजा गया। स्वयं अकबर भी दक्षिण की ओर चल दिया। 1599 ई. में दौलताबाद पर मुगलों का अधिकार हो गया और 1600 ई. में अहमदनगर के किले को जीत लिया गया। इससे पहले ही चाँदबीबी को, जिसने मुगलों से सन्धि करने का प्रस्ताव रखा था, या तो उसी के सरदारों ने मार दिया अथवा उसने स्वयं आत्महत्या कर ली। बालक निजामशाह को ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर भेज दिया गया। इस प्रकार, **वर्षों के संघर्ष के पश्चात् बरार, दौलताबाद और अहमदनगर के किले मुगलों को प्राप्त हो गये।** परन्तु इससे अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ। अहमदनगर के सरदार एक अन्य बालक-शासक के नाम से मुगलों से संघर्ष करते रहे और अहमदनगर-राज्य का अधिकांश भाग मुगल-सत्ता से स्वतन्त्र रहा।

खानदेश का शासक राजा अलीखाँ वफादारी से मुगलों की तरफ से अहमदनगर के युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया था। उसके लड़के मीरन बहादुरशाह ने मुगल-आधिपत्य को मानने से इंकार कर दिया तथा अपने पिता से की गयी मुगलों की सन्धि को ठुकरा दिया। अहमदनगर से युद्ध चल रहा था कि खानदेश ने स्वतन्त्रता के रुख को अपना लिया। 1599 ई. में स्वयं अकबर ने खानदेश की राजधानी बुरहानपुर पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। परन्तु मीरन बहादुरशाह ने अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध असीरगढ़ के किले में किया। अकबर ने असीरगढ़ का घेरा डाल दिया। कई माह के घेरे के पश्चात् मीरन बहादुरशाह ने डरकर 1600 ई. में आत्मसमर्पण कर दिया। उसे ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर भेज दिया गया और 4000 अशर्फियाँ उसके वार्षिक निर्वाह के लिए निश्चित कर दी गयीं।

इस प्रकार, 1600 ई. तक मुगलों ने खानदेश के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया और अहमदनगर से बरार तथा कुछ अन्य भू-प्रदेश छीन लिये। बुरहानपुर, असीरगढ़, दौलताबाद और अहमदनगर के नगर और दृढ़ किलों पर भी अधिकार कर लिया गया।

इस प्रकार अकबर ने अपने समय में न केवल मुगल-साम्राज्य को उत्तर-भारत में स्थायित्व प्रदान किया बल्कि उसका विस्तार भी किया। अपनी विजयों में अकबर ने कन्धार और काबुल से लेकर बंगाल तक और कश्मीर से लेकर बरार तक का भू-क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया। उसके समय में मुगल-साम्राज्य भारत में सर्वाधिक विस्तृत और सर्वशक्तिशाली साम्राज्य बन गया। मुगलों के विरोधी अफगान पूर्णतया समाप्त कर दिये गये। अब वे केवल अधीन जागीरदार मात्र रह गये और स्वतन्त्र राज्य की इच्छा उनकी शक्ति के बाहर की बात हो गयी। राजपूत शासक (मेवाड़ को छोड़कर) मुगलों के विरोधी न रहकर सहायक बन गये और मुगलों की अधीनता में चले गये। अकबर सम्पूर्ण भारत को विजय न कर सका, परन्तु उत्तर-भारत पूर्णतया उसके अधीन हो गया तथा दक्षिण-भारत में वह प्रवेश पा गया। इसके अतिरिक्त उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए सम्पूर्ण भारत की विजय का मार्ग प्रशस्त किया।

[5]
अकबर के समय के विद्रोह

1. उजबेग-वर्ग

अकबर के पुराने अमीरों में एक शक्तिशाली वर्ग उजबेग अमीरों का था। जौनपुर का सूबेदार खानमखाँ, उसका भाई बहादुरखाँ और चाचा इब्राहीमखाँ, अवध का सूबेदार खाने आलम और मालवा का सूबेदार अब्दुल्लाखाँ उसके महत्वपूर्ण नेता थे। वे सभी महत्वाकांक्षी और स्वतन्त्र प्रकृति के थे। सत्ता को अपने हाथ में केन्द्रित करने की अकबर की नीति उन्हें पसन्द न थी और वे अनुभव करते थे कि अकबर ने उन्हें उनकी योग्यता का उचित पुरस्कार नहीं दिया था।

1564 ई. में अब्दुल्लाखाँ ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति का परिचय दिया। उसके पश्चात् 1564 से 1567 ई. तक उजबेगों ने अकबर को तंग किया परन्तु अन्त में वे परास्त हुए।

2. मिर्जा-वर्ग

अकबर के विभिन्न सम्बन्धियों और मिर्जा-वर्ग के व्यक्तियों ने भी प्रायः उसी समय विद्रोह किया जबकि उजबेगों ने विद्रोह किया। इब्राहीम मिर्जा, मुहम्मद हुसैन मिर्जा, मसूद हुसैन मिर्जा, सिकन्दर मिर्जा और महमूद मिर्जा अकबर के रक्त-सम्बन्धी थे और शाही-वंश के सदस्य होने के नाते अधिक सम्मान और पद की आकांक्षा करते थे। उन्होंने राज्य की भूमि पर बिना शाही आज्ञा के अधिकार कर लिया। मुनीमखाँ ने उन्हें मालवा की ओर भगा दिया और वहाँ से वे गुजरात भाग गये। वे उस समय तक निरन्तर उपद्रव करते रहे जब तक कि अकबर ने गुजरात पर दुबारा आक्रमण (1573 ई.) करके उनकी शक्ति को न तोड़ दिया।

3. बंगाल और बिहार में विद्रोह

बंगाल और बिहार में 1580 ई. में विद्रोह हुआ। वहाँ के सूबेदारों की कठोरता इस विद्रोह का कारण बनी। बंगाल में बाबाखाँ काकशल ने और बिहार में मुहम्मद मासूम काबुली तथा अरब बहादुर ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। वे सभी विद्रोही मिलकर एक हो गये।

उन्होंने बंगाल के सूबेदार मुजफ्फरखाँ को धोखे से मार डाला और टाँडा के किले पर अधिकार कर लिया। सम्पूर्ण बिहार और बंगाल विद्रोहियों के हाथों में चला गया। अकबर ने राजा टोडरमल को इस विद्रोह को दबाने के लिए भेजा और उसने बड़ी नीति और बहादुरी से 1581 ई. तक इस विद्रोह को समाप्त कर दिया। अधिकांश विद्रोही भाग गये अथवा मार दिये गये।

4. शाहजादा सलीम का विद्रोह

अकबर के अन्तिम दिनों में गद्दी के उत्तराधिकारी शाहजादा सलीम ने अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया। लाड़-प्यार में पला होने के कारण सलीम विलासी और आरामपसन्द था। अकबर बहुत समय जीवित रहा, इस कारण सलीम गद्दी पर बैठने के लिए अधीर हो उठा। 1599 ई. में वह बिना आज्ञा के अजमेर से इलाहाबाद चला गया। वहाँ उसने एक स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। अकबर ने जो उस समय असीरगढ़ के किले के घेरे में व्यस्त था, उस तरफ कोई ध्यान न दिया और चुपके-चुपके सलीम को मनाने की कोशिश की। 1602 ई. में जब अकबर अपनी राजधानी वापस आया तब भी उसने उसे समझाने का प्रयत्न किया और इसी हेतु अपने मित्र अबुल फजल को दक्षिण से बुलाया, किन्तु सलीम के इशारे पर ओरछा के बुन्देला सरदार वीरसिंह देव ने मार्ग में अबुल फजल की हत्या कर दी जिससे अकबर बहुत दुःखी और क्रोधित हुआ। उस अवसर पर सलीमा बेगम ने इलाहाबाद जाकर सलीम को समझाया। सलीम ने आगरा आकर (1603 ई.) अपने पिता से माफी माँग ली और अकबर ने उसे माफ कर दिया। उसी वर्ष उसे मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। परन्तु वह अकबर से आज्ञा लेकर इलाहाबाद चला गया जहाँ वह शराब और नाच-रंग में डूबा रहा। उसकी पहली पत्नी और मानसिंह की बहन ने उसकी आदतों से दुःखी होकर आत्महत्या कर ली। अकबर इन सभी आदतों से अप्रसन्न था। परन्तु अकबर के दोनों छोटे पुत्रों मुराद और दानियाल की मृत्यु हो चुकी थी। इस कारण अकबर ने सलीम की सभी आदतों को बर्दाश्त किया। जब सलीम 1604 ई. में अपनी दादी की मृत्यु पर आगरा आया तब भी अकबर ने उसे माफ कर दिया। उसके पश्चात् सलीम अपने पिता के पास ही रहा। यद्यपि सलीम ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह करके कोई युद्ध तो नहीं किया परन्तु अपने गलत और स्वतन्त्र व्यवहार से अकबर को उसके अन्तिम दिनों में दुःखी अवश्य किया।

इस प्रकार अकबर के विरुद्ध विभिन्न विद्रोह हुए परन्तु उनमें से कोई भी न तो सफल हुआ और न ही राज्य को कोई जबर्दस्त आघात पहुँचा सका।

[6]
अकबर की मृत्यु

3 अक्टूबर, 1605 ई. को अकबर बीमार हो गया। उसे पेचिश अथवा इसी प्रकार की कोई अन्य बीमारी थी। उसके मर्ज को ठीक प्रकार न समझा जा सका और 25 अक्टूबर, 1605 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी।

[7]
अकबर का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में स्थान

(अकबर एक राष्ट्रीय सम्राट)

अकबर मुगल-शासकों में सर्वश्रेष्ठ, भारतीय शासकों में महान् और विश्व के शासकों में एक श्रेष्ठ और सम्मानित पद का अधिकारी है। सभी तत्कालीन और आधुनिक

इतिहासकारों ने अकबर की प्रशंसा की है। लेनपूल ने उसे "भारत के बादशाहों में सर्वश्रेष्ठ बादशाह" और "साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक एवं व्यवस्थापक" तथा उसके युग को "मुगल-साम्राज्य का स्वर्णकाल" कहा, यहाँ तक कि इतिहासकार स्मिथ जो कई दृष्टिकोणों से अकबर की आलोचना करता है, इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि "वह मनुष्यों का जन्मजात बादशाह था। इतिहास के सर्वशक्तिशाली बादशाहों में से एक होने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है। निस्सन्देह, उसके इस अधिकार का आधार उसके प्रकृतिदत्त असाधारण गुण, उसके मौलिक विचार और उसकी सफलताएँ थीं।"

इस प्रकार, इतिहास में अकबर को एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। **अकबर का व्यक्तित्व सुन्दर और प्रभावशाली था।** वह एक आज्ञाकारी पुत्र, प्रिय पति और आदरणीय पिता था। वह अपने समस्त सम्बन्धियों एवं मित्रों से प्रेम और आदर का व्यवहार करता था। वह अबुल फजल की मृत्यु पर बहुत रोया था और दो दिन तक उसने भोजन ग्रहण नहीं किया था। उसके गुण मानवीय थे जिसके कारण वह अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य को समझता था और जनसाधारण तथा निर्धनों के प्रति अत्यधिक प्रेम और उदारता का व्यवहार करता था। वह स्वस्थ और शक्तिशाली था। वह शिक्षित न था, परन्तु उसने विद्वानों को सम्मान और आश्रय दिया। उसने एक पुस्तकालय बनाया जिसमें 24,000 ग्रन्थ थे जिनकी कीमत लगभग 65 लाख रुपये थी। उसे खेलकूद और शिकार का शौक था। हथियार चलाने, बन्दूक का निशाना लगाने तथा घुड़सवारी में वह अद्वितीय था। कठोर परिश्रम करने तथा कठिनाइयों को बर्दाश्त करना उसका स्वभाव था। उसमें साहस और धैर्य कूट-कूट कर भरे हुए थे। उसने अनेक अवसरों पर युद्ध में अपने स्वयं के जीवन को संकट में डाला था। ईश्वर में उसका अटूट विश्वास था परन्तु सभी धर्मों के प्रति उसका व्यवहार उदारता का था। वह धार्मिक दृष्टि से अपने युग का प्रवर्तक था। अकबर शिक्षित न था परन्तु विभिन्न विद्वानों के निकट सम्पर्क में आकर उसने दर्शन, धर्म, साहित्य, इतिहास आदि विभिन्न शास्त्रों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उसके व्यावहारिक ज्ञान की योग्यता इससे स्पष्ट होती है कि उसने धर्म, राजनीति, समाज-सुधार और सैनिक तथा असैनिक शासन में मौलिक नीतियों, विचारों एवं सिद्धान्तों को जन्म दिया और उनका सफल व्यावहारिक प्रयोग भी किया। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। वह सुनकर अनेक चीजों को विस्तृत रूप से याद कर लेता था। अकबर भी शराब, अफीम आदि मादक-द्रव्यों का सेवन करता था परन्तु वह उनका आदी न था और जैसे-जैसे उसकी आयु बढ़ती गयी वह संयमी होता गया, यहाँ तक कि उसने अपने बाद के जीवन में माँस का प्रयोग भी कम कर दिया अथवा समाप्त ही कर दिया। अकबर ने तत्कालीन अन्य शासकों की भाँति बहुत विवाह किये थे। उसके हरम में करीब 5,000 स्त्रियाँ थीं और उनमें उसकी रखैलों की संख्या भी बहुत रही होगी। परन्तु जैसा कि प्रति सप्ताह मीना बाजार लगाकर सुन्दर स्त्रियों को खोजना और बीकानेर के पृथ्वीराज राठौर की पत्नी के शील पर आक्रमण करने की चेष्टा, आदि किंवदन्तियाँ अकबर के चरित्र के साथ जोड़ी जाती हैं, वे ठीक प्रतीत नहीं होतीं सम्भवतया, युवावस्था में उसका जीवन उच्छृंखल रहा हो परन्तु जैसे-जैसे अकबर की आयु बढ़ती गयी वह गम्भीर और संयमी होता गया। उसके आरम्भिक जीवन की ऐसी घटनाएँ भी प्राप्त होती हैं जबकि उसने उत्तेजना और क्रोध-वश कार्य किये थे परन्तु उसके बाद के जीवन में ऐसी घटनाएँ प्राप्त नहीं होतीं।

अकबर एक कुशल सैनिक और प्रतिभाशाली सेनापति था। उसने अनेक युद्धों में साहस और दृढ़ता से भाग लिया। उसने सेनापति के रूप में अनेक सैनिक अभियानों में

सफलता प्राप्त की। उसके समय में मुगल सेना अत्यन्त द्रुतगामी थी। गुजरात के विद्रोह को दबाने के लिए वह जिस तीव्र गति से गया था वह एक 'ऐतिहासिक सैनिक-अभियान' माना गया है। उसने सेना का अति श्रेष्ठ संगठन किया। उसके समय में मुगल सेना अजेय बन गयी। संगठन और युद्ध-नीति दोनों ही इसके लिए उत्तरदायी थीं और अकबर का इसमें बहुत बड़ा भाग था। अकबर के समय का इतिहास निरन्तर सफल युद्धों और राज्य-विस्तार का रहा।

एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से अकबर में मौलिकता एवं व्यावहारिकता दोनों ही थीं। मुगल-व्यवस्था को स्थापित करने का श्रेय उसी को है। उसकी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा बादशाह के पद और अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्याख्या, उसका प्रान्तीय शासन, उसकी लगान-व्यवस्था, उसकी मुद्रा-व्यवस्था, उसकी सैनिक-शासन की मनसबदारी व्यवस्था, आदि सभी को उसके समय में सफलता प्राप्त हुई और वह उसके उत्तराधिकारियों के लिए आधार-स्वरूप बनीं। बाद में मुगल शासक उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव न कर सके अथवा उससे श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था की तलाश में असफल रहे। अकबर के शासन की एक मुख्य विशेषता यह थी कि उसने साम्राज्य के शासन-सूत्र को एक धागे में पिरो दिया था जिससे मुगल-साम्राज्य राजनीतिक स्थायित्व प्राप्त कर सका और शासन की सुविधा समस्त प्रजा को समान रूप से प्राप्त हो सकी।।

एक शासक और नीतिज्ञ की दृष्टि से अकबर की धार्मिक उदारता की नीति और राजपूत-नीति अद्वितीय थीं। उन्होंने मुगल-राज्य को एक नवीन आधार और शासन को एक नवीन दृष्टिकोण दिया। मुगल-साम्राज्य की शक्ति का विस्तार और उसका वैभव उसकी इन्हीं नीतियों पर आधारित था। सांस्कृतिक दृष्टि से अकबर की नीति श्रेष्ठ थी। भाषा, साहित्य और कला की दृष्टि से जो प्रगति और समन्वय का दृष्टिकोण उसने अपनाया उससे मुगल-साम्राज्य की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक प्रगति का आधार बना।

इस प्रकार, अकबर का चरित्र उदार और प्रभावशाली था तथा उसका व्यक्तित्व एक महान् व्यक्ति और एक महान् बादशाह का व्यक्तित्व था। एक व्यक्ति, एक विजेता, एक शासक, एक नीतिज्ञ और एक बादशाह की दृष्टि से उसका जीवन सफल और प्रेरणा प्रदान करने वाला था। इसी कारण अकबर को 'महान' की पदवी से विभूषित किया गया है। इतिहासकार एडवर्ड्स और गैरेट ने लिखा है : "अकबर ने अपनी योग्यता जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सिद्ध की। वह एक बहादुर सैनिक, एक महान् सेनापति, एक बुद्धिमान शासन-प्रबन्धक, एक लोकहितकारी शासक और मनुष्य-चरित्र का पारखी था। वह मनुष्यों का जन्मजात नेता था और इतिहास के सर्वशक्तिशाली शासकों में एक स्थान प्राप्त करने का उसका न्यायपूर्ण अधिकार है—उसने अपने पचास वर्ष के शासन-काल में एक ऐसा शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किया जो शक्तिशाली से शक्तिशाली राज्य से समानता का दावा कर सकता था और उसने एक ऐसे राजवंश की स्थापना की जिसका मुकाबला प्रायःएक सौ वर्ष तक भारत में किसी विरोधी ने नहीं किया। उसके शासन-काल में मुगल एक सैनिक-आक्रमणकारी मात्र से एक स्थायी भारतीय राजवंश के रूप में बदल गये।"

अकबर की महानता का एक मुख्य कारण यह था कि वह एक राष्ट्रीय सम्राट (National King) था। एक शासक को राष्ट्रीय सम्राट तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि उसके शासन में उसकी सम्पूर्ण प्रजा के साथ शासन के सभी क्षेत्रों में समान व्यवहार किया जाय और राज्य की ओर से व्यक्ति और व्यक्ति में धर्म, जाति, वंश आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाय। अकबर ऐसा ही सम्राट था। उसने न केवल अपनी प्रजा की

भलाई के लिए ही प्रयत्न किये थे बल्कि सभी के साथ समान व्यवहार किया था। उससे पहले के सभी मुलसमान शासकों ने अपनी प्रजा को दो मुख्य भागों में बाँट रखा था—मुसलमान और हिन्दू। मुसलमान-वर्ग को सिर्फ मुसलमान होने के नाते राज्य की ओर से कुछ विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं और हिन्दू-वर्ग को सिर्फ हिन्दू होने के कारण कुछ विशेष कठिनाइयों और उत्तरदायित्वों को भुगतना पड़ता था। अकबर ने इस अन्तर को समाप्त कर दिया। वह भारत का पहला मुसलमान शासक था जिसने अपनी सम्पूर्ण प्रजा के साथ समान व्यवहार किया और राष्ट्रीय हित को राज्य की नीति का आधार स्वीकार किया। अकबर का भारत को राजनीतिक एकता प्रदान करने का प्रयत्न, उसकी समान शासन-व्यवस्था, समान अर्थ एवं लगान-व्यवस्था, समान कर-व्यवस्था, सभी को योग्यता के आधार पर राज्य की सेवाओं में उच्चतम स्थान प्राप्त करने की सुविधा, राजपूतों से विवाह-सम्बध और सम्मान की नीति, सभी धर्मों को समान सुविधा और आदर तथा धार्मिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयत्न, फारसी भाषा को राजभाषा बनाना और सभी भाषाओं की प्रगति में सहयोग, विभिन्न ललित-कलाओं की प्रगति तथा उनकी कलाविधियों के समन्वय का प्रयत्न, सांस्कृतिक एकता का प्रयत्न आदि सभी ऐसे कार्य थे जो राष्ट्रीय हित और प्रगति के आधार पर किये गये थे। इस कारण अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट स्वीकार किया गया है।

डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने तो यहाँ तक लिखा है कि "अकबर का भारत की एकता का प्रयत्न पहला कदम था। इस्लाम और चंगेजखाँ के आदर्शों से प्रभावित होकर वह सम्पूर्ण संसार को अपनी सत्ता के अधीन करने के लिए उत्सुक था।" वह लिखते हैं : "यदि दक्षिण के राज्यों ने उसकी योजना को पूर्णतया समझा होता और उसके साथ सहयोग किया होता तो, सम्भवतया, भारत यूरेशिया में सर्वाधिक शक्तिशाली और धनवान देश होता और उसका इतिहास भिन्न होता। भारत की एकता को पूर्ण करने के पश्चात् अकबर विश्व-साम्राज्य की स्थापना करने के उद्देश्य से मध्य-पूर्व और पश्चिमी एशिया को भी भारत के साथ सम्मिलित करना चाहता था।" डॉ. त्रिपाठी का यह मत सभी इतिहासकारों को मान्य नहीं है, परन्तु सभी इतिहासकार यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि अकबर का उद्देश्य भारत की एकता, उसकी उन्नति और उसके सभी निवासियों की समान प्रगति और उन्हें समान सुविधाएँ प्रदान करना अवश्य था। इस दृष्टि से प्रायः सभी इतिहासकार उसे राष्ट्रीय सम्राट स्वीकार करते हैं। अकबर की महानता का सबसे बड़ा यही कारण था। के. टी. शाह लिखते हैं : "अकबर मंगलों में सर्वश्रेष्ठ और, सम्भवतया, शक्तिशाली मौर्यों के पश्चात् एक हजार वर्ष के भारतीय शासकों में सबसे महान् था। यह सरलता से कहा जा सकता है कि जन्मजात पैतृक संस्कारों से प्राप्त अद्भुत योग्यता के अतिरिक्त अकबर की महानता का कारण यह था कि उसने अपने आपको पूर्ण भारतीय बना लिया था।"

जिस समय अकबर ने अपने कार्य को आरम्भ किया उस समय उसकी सबसे बड़ी कठिनाई मुगल-साम्राज्य की रक्षा करना था। उसे समाप्त करने के पश्चात् उसका लक्ष्य सम्पूर्ण भारत को एक राज्य और एक शासन के अन्तर्गत संगठित करने का था। उसके इस मार्ग में बहुत कठिनाइयाँ थीं। वह स्वयं एक विदेशी तुर्क-मुसलमान था जबकि उसे भारत में अफगान, हिन्दू, पर्शियन, तुर्क आदि सभी से व्यवहार करना था। परन्तु अकबर ने सफलता प्राप्त की। उसने अपने जीवन-काल में सम्पूर्ण उत्तर-भारत और दक्षिण-भारत के कुछ भाग पर अपना अधिकार कर लिया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए सम्पूर्ण दक्षिण-भारत की विजय का मार्ग प्रशस्त किया। परन्तु अकबर ने विजय मात्र से ही सन्तोष नहीं किया। उसने

एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ शासन भी स्थापित किया। उसने अपने प्रदेशों का शासन राज्य की सुरक्षा तथा शक्ति के विस्तार के आधार पर ही नहीं किया बल्कि सम्पूर्ण राज्य की प्रगति और सम्पूर्ण प्रजा की भलाई के उद्देश्य से किया। अकबर का प्रान्तीय शासन, अर्थ-व्यवस्था, लगान-व्यवस्था, कर-प्रणाली आदि सम्पूर्ण राज्य में समान थीं। हिन्दुओं से तीर्थयात्रा-कर और जजिया समाप्त कर दिये गये थे। व्यापारिक-कर सभी पर समान रूप से था और जागीरदारों की भूमि की लगान-व्यवस्था भी वही थी जो खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) की थी। राज्य के सभी असैनिक और सैनिक कर्मचारियों का स्थानान्तरण किया जाता था। बिना किसी जाति, धर्म या प्रदेश के भेदभाव के सभी व्यक्तियों को अपनी योग्यतानुसार राज्य की सेवा में स्थान प्राप्त करने का अधिकार था। राजा मानसिंह को सातहजारी मनसबदार का पद दिया गया था और राजा टोडरमल तथा राजा बीरबल मन्त्री-पद पर पहुँच गये थे। राज्य की सेवाओं में सभी जाति और धर्म के व्यक्ति सम्मिलित किये गये थे। इस प्रकार अकबर की शासन-व्यवस्था ऐसी थी जिसमें उसके सभी नागरिक अपने को एक राज्य का नागरिक मान सकते थे और राज्य से समान सुविधाओं और सुरक्षा की आशा करते थे। अकबर की इस शासन-नीति ने राज्य को एकता और शक्ति प्रदान की। इसके अतिरिक्त, उसने राज्य के व्यवसाय और व्यापार को भी नियंत्रित किया। एक बड़ा राज्य, आवागमन के साधनों की सुविधा, सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा तथा राज्य की ओर से व्यवसाय और व्यापार को प्रोत्साहन आदि ऐसे साधन बने जिससे राज्य धनवान बना। उसकी लगान-व्यवस्था से कृषि और किसानों की स्थिति में सुधार हुआ। इन प्रयत्नों से प्रजा और राज्य दोनों ही सुखी व सम्पन्न हुए। इससे प्रजा में एकता और राज्य के प्रति उनकी श्रद्धा में वृद्धि हुई।

अकबर ने भारत की सांस्कृतिक एकता की उन्नति के लिए प्रयत्न किये। फारसी भाषा को राजभाषा बनाया गया और विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठ ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। इस कार्य के लिए अकबर ने एक 'अनुवाद' विभाग खोला। इस विभाग की देखभाल में संस्कृत, अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषा के अनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। इसी प्रकार, अकबर ने ललित-कलाओं की विभिन्न पद्धतियों के समन्वय और उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न किये। उसके समय में 'स्थापत्य-कला स्कूल', 'गान-कला स्कूल', 'चित्रकला स्कूल', आदि स्थापित किये गये जहाँ सभी कलाओं की विभिन्न पद्धतियों का समन्वय हो सका और पर्शियन, मुस्लिम तथा हिन्दू कला एक-दूसरे के निकट आ सकीं और मुगल-कला को एक विशेष स्वरूप प्रदान कर सकीं जिसमें विदेशीपन कम और भारतीयता अधिक थी।

अकबर ने अनेक सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। दास-प्रथा समाप्त कर दी गयी और सती-प्रथा, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि को रोकने का उसने प्रयत्न किया। उसने 12 वर्ष की आयु से पहले ही खतना करने की प्रथा को रोका। इस प्रकार, सामाजिक कुरीतियों को रोकने का प्रयत्न करके उसने न केवल मानवीयता का परिचय दिया था बल्कि समाज को शक्तिशाली बनाने का भी प्रयत्न किया था।

परन्तु अकबर ने जिस उदार और नवीन सिद्धान्तों को जन्म दिया था उनमें सर्वप्रमुख हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का था। यह नहीं कहा जा सकता कि इस दिशा में उसका प्रयत्न पूर्णतः सफल रहा परन्तु वह पहला मुस्लिम शासक था जिसने इस आवश्यकता को समझा और उसके लिए कुछ ठोस कदम उठाये। उसकी उदार धार्मिक और राजपूत नीति का एक महत्वपूर्ण आधार यह भी था। हिन्दुओं की सभी

सामाजिक और आर्थिक कठिनाइयाँ समाप्त कर दी गयी थीं। उन्हें राज्य की सेवाओं में स्थान प्राप्त करने और सम्मान से रहने का अधिकार दिया गया। जजिया, तीर्थयात्रा-कर तथा अन्य सभी अतिरिक्त कर हिन्दुओं से लेना समाप्त कर दिया गया। न्याय में हिन्दुओं के साथ समान व्यवहार किया गया। जिन राजपूतों से अकबर ने विवाह-सम्बन्ध किये थे, वे स्वेच्छा से किये गये थे और उसके पश्चात् अपनी राजपूत पत्नियों और सम्बन्धियों से अकबर ने सर्वदा सम्मान का व्यवहार किया था। अकबर ने विवाह के अवसर पर यह शर्त तक नहीं रखी थी कि राजपूत राजकुमारियों को पहले मुसलमान बनाया जाय। इसी प्रकार, उसकी हिन्दू पत्नियों को अपने धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतन्त्रता थी। उसकी धार्मिक नीति सभी धर्मों को समान स्वतन्त्रता और समान सम्मान प्रदान करने की थी। इसके लिए उसने धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वास को समाप्त करने का प्रयत्न किया। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में उसका एकमात्र उद्देश्य यही था। उसने दरबार में सामूहिक रूप से हिन्दू और मुसलमान दोनों के त्यौहारों को मनाना आरम्भ भी इसी उद्देश्य से किया कि वे एक दूसरे के निकट आ सकें। सम्भवतया, इसी उद्देश्य की रक्षा और पूर्ति के लिए उसने इस्लाम के विवादों का निर्णय करने का अधिकार अपने हाथों में ले लिया तथा 'दीनइलाही' के प्रसार का प्रयत्न किया। शासक और व्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से अकबर धार्मिक मामलों में बहुत उदार था। सभी धर्मावलम्बी अपनी पूजा, उत्सव आदि करने के लिए स्वतन्त्र ही न थे बल्कि बादशाह स्वयं होली, दीवाली, बसन्त आदि जैसे महत्वपूर्ण त्यौहारों और उत्सवों में भाग लिया करता था। अकबर ने तुलादान, झरोखा-दर्शन आदि जैसी विभिन्न हिन्दू-प्रथाओं को भी स्वीकार कर लिया था। अकबर की राजपूत-नीति सफल रही। जो राजपूत शासक सदियों से मुस्लिम सत्ता का निरन्तर विरोध करते आये थे, वे मुगल-साम्राज्य के सबसे अधिक वफादार सेवक बन गये। लेनपूल ने लिखा है :"हिन्दू राजाओं को एकजुट कर लेना अकबर के समय की सबसे स्पष्ट विशेषता थी।" इसी प्रकार, अकबर की उदार धार्मिक नीति मुगल-शासकों की नीति को एक नवीन मोड़ देने वाली सफल नीति थी। विभिन्न धर्मों में समन्वय करने का और हिन्दू व मुसलमानों के अन्तरों को समाप्त करने का अकबर का उद्देश्य सफल नहीं हुआ परन्तु विभिन्न धर्मों और हिन्दू-मुसलमानों में एक साथ रहने की प्रवृत्ति और साथ-साथ कार्य करने की क्षमता प्रदान करने में अकबर अवश्य सफल हुआ। यह उस युग की भावना और आवश्यकता थी और अकबर ने ठीक प्रकार से उसका पोषण किया। इसी कारण डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "अकबर अपने युग की सन्तान और पिता दोनों था।"

इस कारण, **अकबर को एक राष्ट्रीय सम्राट माना जाता है। उसे अपने प्रयत्नों में पूर्ण सफलता नहीं मिली और भारत एक राष्ट्र की भावना प्राप्त न कर सका, यह अन्य बात है। इसी कारण उसे राष्ट्र-निर्माता नहीं पुकारा जाता। परन्तु उसकी नीति, भावना और प्रयत्नों के कारण मध्य-युग के शासकों में उस अकेले को ही राष्ट्रीय सम्राट का सम्मान प्रदान किया गया है।** उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यदि हम अकबर के कार्यों का मूल्यांकन करें तो उसे यह सम्मान देना अनुचित नहीं है।



5

जहाँगीर (1605-1627 ई.)

अनेक सन्तों एवं फकीरों की मिन्नतों तथा फतेहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती के आशीर्वाद से अकबर की पत्नी और जयपुर की राजकुमारी मरियम उज्जमानी ने 30 अगस्त, 1569 ई. को मुहम्मद सलीम को जन्म दिया। सलीम की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। उसके विभिन्न शिक्षकों में से सबसे महत्वपूर्ण अपने समय का प्रमुख विद्वान अब्दुर्रहीम खानखाना था। विभिन्न भाषाओं और शास्त्रों के ज्ञान के अतिरिक्त सलीम ने सैनिक-शिक्षा भी प्राप्त की। यद्यपि तत्कालीन बादशाहों की परम्पराओं के अनुसार सलीम (बादशाह जहाँगीर) ने अनेक विवाह किये परन्तु उसका पहला विवाह अम्बर (जयपुर) के राजा भगवानदास की पुत्री और राजा मानसिंह की बहन मानबाई से 1585 ई. में हुआ। सलीम का सबसे बड़ा पुत्र खुसरो इसी की सन्तान था। 1586 ई. में उसका दूसरा महत्वपूर्ण विवाह राजा उदयसिंह की लड़की जगतगोसाईं (जोधाबाई) से हुआ जिसकी सन्तान शाहजादा खुर्रम (बादशाह शाहजहाँ) था। जहाँगीर के तीसरे पुत्र परवेज का जन्म उसकी बेगम 'साहिब-ए-जमाल' से और चौथे पुत्र शहरयार का जन्म एक रखैल से हुआ।

सलीम को बहुत लाड़-प्यार से पाला गया था। इस कारण वह आरम्भ से ही ऐशो-आराम और शराब का शौकीन हो गया। अपने पिता के अन्तिम दिनों में उसने उसकी अवज्ञा की और अपने को स्वतन्त्र शासक बनाने का प्रयत्न किया। अन्त में बाप-बेटे में समझौता हो गया। अकबर के दो अन्य पुत्रों—दानियाल और मुराद—की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। अपनी मृत्यु के अवसर पर अकबर ने सलीम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और वही उसकी मृत्यु के पश्चात् जहाँगीर के नाम से बादशाह बना।

3 नवम्बर, 1605 ई. को आगरा के किले में जहाँगीर का राज्याभिषेक हुआ और उसने 'नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह गाजी' की उपाधि धारण की। जहाँगीर ने अपने पक्ष के सरदारों को उच्च पद प्रदान किये जिनमें से एक अबुल फजल का हत्यारा राजा वीरसिंह बुन्देला भी था। अकबर की परम्परा को स्थापित रखते हुए जहाँगीर ने अपना शासन उदारता से आरम्भ किया और गद्दी पर बैठते ही उसने विभिन्न लोकहितकारी आदेश दिये, जैसे—जागीरदार और सरकारी अधिकारी गाँवों और सड़कों के निकट कुएँ और सराएँ बनवायें, व्यापारियों के सामान की बिना उनकी इच्छा के तलाशी न ली जाये, किसी के घर पर जबर्दस्ती अधिकार न किया जाये, अपराध के दण्ड-स्वरूप किसी के नाक-कान न काटे जायें, किसानों की भूमि पर कोई भी जबर्दस्ती अधिकार न करे, राज्य के खर्चे से बड़े नगरों में अस्पताल खोले जायें और वहाँ चिकित्सकों की नियुक्ति की जाये, आदि।

इस प्रकार, जहाँगीर ने अपने शासन का आरम्भ उदारता और जनहित की भावना से किया। उसने आगरा के किले के शाह-बुर्ज से बाहर यमुना नदी के तट पर एक सोने की जंजीर डलवा दी जिसे खींचकर कोई भी व्यक्ति बादशाह से न्याय की माँग कर सकता था।

[1]

खुसरो का विद्रोह (1606 ई.)

खुसरो जहाँगीर का सबसे बड़ा पुत्र, राजा मानसिंह का भानजा और मिर्जा अजीज कोका का दामाद था। वह सुशिक्षित, सुन्दर, उदार और चरित्रवान था। अकबर के अन्तिम दिनों में राजा मानसिंह और मिर्जा अजीज कोका ने सलीम के दुर्बल चरित्र को दृष्टिगत रखते हुए खुसरो को गद्दी पर बैठाने का प्रयत्न किया। परन्तु जब अन्य सरदार इसके लिए तैयार न हुए तब यह प्रयत्न छोड़ दिया गया। अजीज कोका ने जहाँगीर से क्षमा माँग ली और उसे बादशाह स्वीकार कर लिया। राजा मानसिंह ने खुसरो को लेकर बंगाल भागने की तैयारी की परन्तु जहाँगीर के आश्वासन पर वह वापस आ गया और खुसरो को जहाँगीर को सौंप दिया गया। जहाँगीर ने उन दोनों को क्षमा कर दिया परन्तु खुसरो को अर्द्ध-बन्दी रूप में रखा और कुछ समय पश्चात् राजा मानसिंह को बंगाल की सूबेदारी से पृथक कर दिया।

खुसरो 17 वर्ष की आयु का था। वह बादशाह बनने के सपने देखने लगा। वह 5 अप्रैल, 1606 ई. को आगरा के किले से भाग निकला। दिल्ली होता हुआ वह लौहार की तरफ गया। उस समय तक उसके समर्थकों की संख्या करीब 12,000 हो गयी। उसने सिख-गुरु अर्जुन सिंह का आशीर्वाद प्राप्त किया। परन्तु लौहार के किलेदार ने उसके लिए किले के फाटक न खोले। खुसरो के भागने की सूचना जहाँगीर को कुछ घण्टों में ही मिल गयी। उसने एक सेना शाहजादे का पीछा करने के लिए भेजी और स्वयं भी लौहार की तरफ चल दिया। खुसरो ने भैरावल के मैदान में जहाँगीर का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। चिनाब नदी को पार करते हुए वह अपने साथियों के साथ पकड़ा गया। इस अवसर पर खुसरो को सिर्फ कैद कर दिया गया। इस प्रकार एक माह में ही खुसरो का विद्रोह समाप्त हो गया।

1607 ई. में जब जहाँगीर काबुल से लाहौर वापस आ रहा था, तभी मार्ग में उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा गया। खुसरो के अतिरिक्त इसमें राज्य के कुछ अन्य सरदार भी शामिल थे। परन्तु शाहजादा खुर्रम को इसकी सूचना मिल गयी और उसने जहाँगीर को यह सूचना दे दी। जहाँगीर ने इसके बारे में विस्तृत जानकारी की और जब सभी षड्यन्त्रकारियों के बारे में उसे ठीक पता लग गया तब उसने उनको कठोर दण्ड दिये और खुसरो को अन्धा करा दिया। बाद में शाहजादे पर दया करके उसकी आँखों का इलाज कराया गया परन्तु उसकी एक ही आँख में थोड़ी रोशनी आ सकी। उसके पश्चात् खुसरो प्रायः बन्दी ही रहा। अन्त में, दक्षिण-युद्ध के अवसर पर खुर्रम ने बादशाह से उसे अपने साथ ले चलने की प्रार्थना की। बादशाह उससे इन्कार न कर सका और खुर्रम ने, जिसे शाहजहाँ की उपाधि से विभूषित किया जा चुका था, एक हत्यारे के द्वारा गला घोंटकर खुसरो को 1621 ई. में मरवा दिया।

खुसरो के विद्रोह ने कुछ अन्य छोटे-छोटे विद्रोहों को भी जन्म दिया, जैसे बीकानेर के राजा जयसिंह का, बिहार के संग्राम का और बिहार में ही कुतुब का जिसने स्वयं को खुसरो घोषित किया। ये सभी विद्रोह दबा दिये गये। परन्तु खुसरो के विद्रोह का एक परिणाम मुगलों और सिखों के सम्बन्धों का खराब होना भी था क्योंकि जहाँगीर ने सिखों के गुरु अर्जुन पर खुसरो को सहायता देने के अपराध में दो लाख रुपया जुर्माना किया और जब गुरु

अर्जुन ने उस जुर्माने को देने से इन्कार कर दिया तब उन्हें मृत्यु-दण्ड दे दिया। इसे सिखों ने अपने धर्म पर अत्याचार माना।

[2]

साम्राज्य-विस्तार

अकबर ने जिस साम्राज्य-विस्तार की परम्परा को स्थापित किया था, जहाँगीर ने उसकेअनुकूल कार्य करने का प्रयत्न किया। उत्तर-भारत की विजय छोटे-छोटे कुछ राज्यों के अतिरिक्त प्रायः पूर्ण थी। अकेला मेवाड़ ही एक ऐसा राज्य था जिसने उस समय तक मुगलों की सत्ता को मानने से इन्कार किया था। दक्षिण-भारत में राज्य-विस्तार की सम्भावना थी जहाँ उस समय तक अहमदनगर के राज्य को भी समाप्त नहीं किया जा सका था। जहाँगीर के समय में इन्हीं राज्यों को विजय करने के प्रयत्न किये गये।

1. मेवाड़ से युद्ध और सन्धि

अकबर ने अपने समय में मेवाड़ को जीतने का निरन्तर प्रयत्न किया था। परन्तु महाराणा प्रताप के दृढ़ विरोध और निरन्तर संघर्ष के कारण सम्पूर्ण मेवाड़ पर मुगलों का अधिकार न हो सका था बल्कि अपनी मृत्यु से पहले राणा प्रताप ने चित्तौड़ को छोड़कर मेवाड़ के प्रायः सभी भू-क्षेत्रों को अपने अधिकार में कर लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अमरसिंह राणा बना। जहाँगीर के शासन-काल में वही मेवाड़ का शासक था।

गद्दी पर बैठते ही 1605 ई. में जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को एक बड़ी सेना के साथ मेवाड़-विजय के लिए भेजा। राणा अमरसिंह ने आधिपत्य स्वीकार करने के स्थान पर युद्ध का निर्णय किया। देवार के दर्रे में एक युद्ध हुआ जिसमें कोई निर्णय न हो सका और युद्ध चलता रहा। खुसरो के विद्रोह के कारण शाहजादा परवेज को आसफखाँ सहित वापस बुला लिया गया। इस प्रकार 1606 ई. में युद्ध प्रायः समाप्त हो गया, परन्तु 1608 ई. में महाबतखाँ को पुनः इसी उद्देश्य से भेजा गया। उसने राणा को जंगलों में शरण लेने के लिए बाध्य किया। वह इससे अधिक सफलता न पा सका। 1609 ई. में उसके स्थान पर अब्दुल्लाखाँ को नियुक्त किया गया। अब्दुल्लाखाँ 1611 ई. में रानपुर के दर्रे में परास्त हुआ यद्यपि थोड़े समय के पश्चात् उसने राजकुमार करन को एक युद्ध में परास्त करके अपने सम्मान को पुनः स्थापित कर लिया। परन्तु वह अधिक सफलता न पा सका। उसके पश्चात् राजा बसु और उसके असफल होने पर मिर्जा अजीज कोका को इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया। 1613 ई. में स्वयं जहाँगीर अजमेर गया और शाहजादा खुर्रम को मेवाड़ पर आक्रमण करने के लिए भेजा। बाद में अजीज कोका को वापस बुला लिया गया और शाहजादा खुर्रम को इस कार्य के लिए सम्पूर्ण अधिकार दे दिये गये। खुर्रम ने राणा पर प्रत्येक प्रकार से द्रबाव डाला। खेती बर्बाद कर दी गयी, रसद के मार्ग बन्द कर दिये गये, स्थान-स्थान पर राजा का पीछा किया गया और उसकी सूचना प्राप्त करने के लिए चौकियाँ बना दी गयीं। राजपूत निरन्तर साहसपूर्वक युद्ध करते रहे परन्तु परिस्थितियाँ प्रायः वही हो गयीं जो राणा प्रताप के समय में हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् हो गयी थीं। अन्त में, राजकुमार करन और अन्य राजपूत सरदारों ने राणा को मुगलों से सन्धि करने की सलाह दी। राणा ने इसे स्वीकार कर लिया और अपना एक राजदूत शाहजादा खुर्रम के पास भेजा। खुर्रम ने उसका स्वागत किया और उसे जहाँगीर के पास भेजा। जहाँगीर ने प्रसन्नता से राजा के सन्धि-प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और **1615 ई. में मेवाड़ और मुगलों में निम्नलिखित शर्तों पर सन्धि हो गयी :**

1. राणा ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

2. राणा से मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्धों के लिए नहीं कहा गया। राणा ने स्वयं के स्थान पर अपने पुत्र करन को दरबार में भेजने की स्वीकृति माँगी जिसे जहाँगीर ने स्वीकार कर लिया।

3. जहाँगीर ने मेवाड़ का सम्पूर्ण भू-प्रदेश और चित्तौड़ का किला उदारतापूर्वक राणा को दे दिया। शर्त सिर्फ यह थी कि चित्तौड़ के किले को सुदृढ़ नहीं किया जायेगा।

इस प्रकार, मेवाड़ और मुगलों का दीर्घकालीन संघर्ष समाप्त हुआ। मेवाड़ के राणाओं ने इस सन्धि का उस समय तक पालन किया जब तक कि औरंगजेब की नीतियों के कारण राणा राजसिंह को मुगलों का विरोध करने के लिए बाध्य न होना पड़ा। मेवाड़ और मुगलों का संघर्ष राजस्थान के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण अध्याय है। शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य से मुकाबला करने में राजपूतों का मुख्य साधन उनका दृढ़ निश्चय और सम्मान-रक्षा की भावना मात्र ही थी। मेवाड़ के सिसोदिया-वंश ने राणा कुम्भा और राणा साँगा के गौरव की रक्षा राणा प्रताप और राणा अमरसिंह के समय में भी की। इसी में उनकी महानता और मेवाड़ का गौरव था।

यह कहना भूल होगी कि राणा अमरसिंह ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया और मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके राणा प्रताप के नाम को कलंकित कर दिया। **राणा अमरसिंह ने मुगलों से उसी प्रकार और उन्हीं परिस्थितियों में रहते हुए युद्ध किया जैसे राणा प्रताप ने किया था।** कई अवसरों पर उसने मुगल सेना को परास्त किया। युवराज करनसिंह और अपने सरदारों के कहने पर ही उसने मुगलों से सन्धि करना स्वीकार किया। **सन्धि की शर्तें भी सम्मानित थीं, वह स्वयं कभी भी मुगल दरबार में नहीं गया और न उसने मुगलों से विवाह-सम्बन्ध किया। परन्तु इससे भी उसे सन्तोष न हुआ। कुछ समय के पश्चात् उसने अपना सिंहासन युवराज करन को सौंप दिया और एक एकान्त स्थान नौ-चौकी में जाकर उसने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये।** यह कहना भी अनुचित नहीं है कि मेवाड़ का मुगलों से संघर्ष मेवाड़ की प्रजा के लिए लाभदायक न था। निरन्तर संघर्ष के कारण राज्य में शान्ति, समृद्धि और सुख सम्भव न था। शक्तिशाली और समृद्धशाली मुगल-साम्राज्य से युद्ध करते हुए मेवाड़ कब तक सफलता पा सकता था तथा सम्मान की रक्षा के अतिरिक्त और क्या प्राप्त कर सकता था? मुगलों के आधिपत्य मात्र को स्वीकार करने से राणा को मेवाड़ की सम्पूर्ण भूमि और चित्तौड़ का किला प्राप्त हो गया तथा उसकी प्रजा को शान्ति मिल गयी।

मेवाड़ के प्रति जहाँगीर का व्यवहार भी सराहनीय था। शाहजादा खुर्रम ने राणा अमरसिंह और युवराज करन का सम्मान व स्वागत किया। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें सम्मानित रहने दीं। उसने राणा के सम्मान को कहीं भी चोट नहीं पहुँचाई और मेवाड़ के जीते हुए भू-प्रदेश तथा चित्तौड़ उदारतापूर्वक राणा को वापस कर दिये। युवराज करन को मुगल-दरबार में बादशाह के दाहिनी ओर स्थान दिया गया, उसे 5,000 सवार और 5,000 जात का पद दिया गया तथा अनेक बहुमूल्य उपहार जहाँगीर और नूरजहाँ की ओर से दिये गये। साधारणतया, ऐसा सम्मान मुगल बादशाह की ओर से किसी को नहीं दिया जाता था।

2. दक्षिण-भारत

दक्षिण-भारत में जहाँगीर ने अपने पिता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। अकबर के समय में खानदेश और अहमदनगर राज्य के कुछ भागों

को जीत लिया गया था परन्तु अहमदनगर का राज्य समाप्त नहीं हुआ था तथा बीजापुर और गोलकुण्डा पूर्णतया स्वतन्त्र थे। जहाँगीर के समय में उनको जीतने या आधिपत्य में लेने का कार्य पुनः आरम्भ किया गया।

उस समय मुगलों की दक्षिण-भारत की विजय में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर ने प्रस्तुत की। मलिक अम्बर अपने समय के योग्यतम व्यक्तियों में से था। अबीसीनियन मलिक अम्बर को कासिम ख्वाजा नामक एक व्यक्ति ने बगदाद के बाजार से खरीदा था। उसने उसे अहमदनगर के मुर्तजा निजामशाह प्रथम के योग्य मन्त्री मीरक दबीर चंगेजखाँ को बेचा। जब बरार और खानदेश मुगलों के अधिकार में चले गये तब मलिक अम्बर ने बीजापुर राज्य में जाकर नौकरी कर ली। परन्तु वह पुनः अहमदनगर वापस आ गया और उसने आनगखाँ की सेवा में 150 घुड़सवारों के मनसबदार का पद स्वीकार कर लिया। जब अकबर के समय में शाहजादा दानियाल ने अहमदनगर-राज्य पर आक्रमण किया तब मलिक अम्बर और मलिक राजू को मुगलों पर आक्रमण करने तथा उन्हें तंग करने का जिम्मेदारी सौंपी गयी थी। उसने इस कार्य की पूर्ति सफलतापूर्वक की। उसने अपने सैनिकों की संख्या में वृद्धि की और अहमदनगर-राज्य के उन प्रदेशों को, जो मुगल-आधिपत्य में चले गये थे, मुगलों से छीनने में भाग लिया। 1601-1602 ई. में मलिक अम्बर ने मण्डेर में सबसे पहली बार मुगलों का प्रत्यक्ष रूप से कड़ा मुकाबला किया जिसमें वह बुरी तरह से घायल हुआ परन्तु जीवित बच गया। अपने साथी सरदार मलिक राजू से मलिक अम्बर की नहीं पट सकी क्योंकि दोनों ही अहमदनगर-राज्य में अपना-अपना प्रभाव चाहते थे। मलिक राजू की प्रतिद्वन्द्विता के कारण मलिक अम्बर ने दो बार अहमदनगर-राज्य का साथ छोड़ा और मुगलों की सेवा स्वीकार की। परन्तु मुगलों की अधीनता में मलिक अम्बर का भविष्य न था। 1607 ई. में निजामशाह ने राजू को कैद कर लिया और मलिक अम्बर से साथ देने की माँग की। राजू के हटते ही मलिक अम्बर का मार्ग साफ हो गया और वह निजामशाह की सेवा में चला गया।

जहाँगीर के बादशाह बनने और खुसरो के विद्रोह के समय कुछ वर्ष दक्षिण-भारत में शान्ति रही। मलिक अम्बर ने उस समय का उपयोग विभिन्न सुधारों तथा अहमदनगर-राज्य की शक्ति को दृढ़ करने के लिए किया। उसने सैनिक और असैनिक दोनों प्रकार के सुधार किये। उसने टोडरमल की लगान-व्यवस्था से सबक लिया। लगान-व्यवस्था को लागू करने में उसके तीन प्रमुख उद्देश्य थे—(1) वह किसानों की भलाई चाहता था, (2) वह कृषि-उत्पादन में वृद्धि करना चाहता था, और (3) वह राज्य की आय में वृद्धि करना चाहता था। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने भूमि को ठेके पर देने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया और रैयतवारी-व्यवस्था को आरम्भ किया जिसमें राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया और स्वयं ही उनसे लगान वसूल करना आरम्भ किया। उसने उत्पादन के आधार पर भूमि को कई भागों में बाँटा। उसने भूमि की पैमाइश की व्यवस्था की और पैदावार का 2/3 अथवा 1/3 भाग लगान के रूप में किसानों से लिया। बाद में उसने किसानों से सिक्के की शक्ल में लगान लेना आरम्भ कर दिया। उसने किसानों और गाँवों की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। इन सुधारों से अहमदनगर-राज्य की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। मलिक अम्बर ने यह जान लिया था कि मुगल-साम्राज्य की विशाल शक्ति से अहमदनगर-राज्य उस युद्ध-नीति से लड़कर लाभ नहीं उठा सकता जिसका प्रयोग उस समय तक होता रहा था। सामने के युद्ध में मुगलों की विशाल सेना का मुकाबला करना असम्भव

था। इस कारण उसने मुगलों से युद्ध करने के लिए 'गुरिल्ला युद्ध-पद्धति' को अपनाया जिसे मेवाड़ और बुन्देलखण्ड के हिन्दू-राजाओं और अफगानिस्तान की कबाइली जातियों ने सफलता से मुगलों के विरुद्ध अपनाया था। इसके लिए उसने स्थानीय निवासी मराठों को सेना में भर्ती किया। मराठे अपने निवास-स्थानों के भू-प्रदेशों से पूर्णतया परिचित थे और दक्षिण के पठारी भू-प्रदेशों में 'गुरिल्ला युद्ध-नीति' उनके लिए बहुत अनुकूल थी। मलिक अम्बर ने शत्रु पर अचानक आक्रमण करना, उसकी रसद को रोकना, उस पर असावधान स्थिति में आक्रमण करना, समय पाकर भाग जाना, रात्रि को उसके खेमों पर आक्रमण करना और उसे लालच देकर अपनी सुविधा के अनुकूल स्थानों पर ले जाकर उससे लड़ना, आदि विभिन्न गुरिल्ला युद्ध-नीति के तरीके अपनी सेना को सिखाये। मराठा सैनिक इस युद्ध-नीति में बहुत कुशल हो गये क्योंकि वह अपने देश की भौगोलिक परिस्थितियों से परिचित थे, छिपने और आक्रमण करने के स्थान सरलता से प्राप्त कर लेते थे और आमने-सामने का युद्ध करके सम्मान प्राप्त करना उनका लक्ष्य न था। राजधानी की सुरक्षा के लिए मलिक अम्बर ने कई बार राजधानी को बदला। उसने पहले परेन्द्र के स्थान पर जुनार को राजधानी बनाया, उसके पश्चात् उसने दौलताबाद को राजधानी बनाया और अन्त में खिर्की को राजधानी बनाया जो भौगोलिक दृष्टि से बहुत सुरक्षित स्थान था। मलिक अम्बर ने पर्शिया से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और राजगढ़ से करीब 20 मील दूर जंजीरा के द्वीप में उसने अपनी नौ-सेना को स्थापित किया। उसने अपनी नौ-सेना को अबीसीनिया के अरब सीदियों (सैयद) की सहायता से दृढ़ किया और उन्हीं को नौ-सेना में भर्ती किया। यही वे सीदी थे जिन्होंने बाद में मराठों और यूरोपियन जातियों का समुद्र में मुकाबला किया। इस प्रकार **मलिक अम्बर ने आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ सेना और नौ-सैना आदि सभी प्रकार से अहमदनगर-राज्य को दृढ़ करके मुगलों से मुकाबला करने के लिए तैयार किया।** यह कहना उचित है कि "युद्ध, सेनापतित्व, उचित निर्णय और शासन-कुशलता में न कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी था और न कोई उसकी बराबरी करने वाला।"

अहमदनगर-राज्य की स्थिति को विभिन्न प्रकार से दृढ़ करके मलिक अम्बर ने मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का प्रयत्न किया, और वह इसमें सफल हुआ। 1608 ई. में जहाँगीर ने अब्दुर्रहीम खानखाना को दस लाख रुपया और बारह हजार घुड़सवार अतिरिक्त रूप से दिये तथा दक्षिण भेजा। परन्तु उसे कोई सफलता न मिल सकी। इस कारण, 1610 ई. में शाहजादा परवेज और आसफखाँ को एक बड़ी सेना के साथ भेजा गया। परन्तु इससे पहले कि वह सेना दक्षिण में पहुँच पाती, मलिक अम्बर ने खानखाना को सन्धि करने तथा बुरहानपुर वापस जाने के लिए बाध्य कर दिया और अहमदनगर के किले पर अधिकार (1610 ई.) कर लिया। खानखाना को दक्षिण से बुला लिया गया और ख़ानेजहान को दक्षिण भेजा गया। 1611 ई. में मुगलों ने अहमदनगर को जीतने का पुनः प्रयास किया। खानेजहान और राजा मानसिंह ने बरार और खानदेश की ओर से बढ़ना आरम्भ किया तथा अब्दुल्लाखाँ ने नासिक की ओर से बढ़ना आरम्भ किया। दोनों सेनाओं को दौलताबाद में मिलना था। परन्तु अब्दुल्लाखाँ युद्ध की सफलता का सम्पूर्ण श्रेय स्वयं लेने के उत्साह में अकेला दौलताबाद तक बढ़ गया और मुख्य सेना की प्रतीक्षा नहीं की। उसे इसका परिणाम भुगतना पड़ा। अहमदनगर की सेना ने उस पर आक्रमण करके उसे गुजरात की ओर वापस लौटने के लिए बाध्य किया। जहाँगीर ने खानेजहान को वापस बुला लिया और खानखाना को पुनः दक्षिण भेजा गया (1612 ई.)।

इसके पश्चात् मुगलों का ध्यान मेवाड़ की ओर लगा रहा। दक्षिण में खानखाना ने कूटनीति से मलिक अम्बर के कुछ वफादार सरदारों को अपनी ओर मिलाने में अवश्य सफलता प्राप्त की परन्तु कोई महत्वपूर्ण युद्ध नहीं हुआ। 1615 ई. में मुगलों ने रोशनगाँव के निकट एक युद्ध में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा की एक संयुक्त सेना को परास्त करने में पहली बड़ी सफलता पायी। मलिक अम्बर को भागकर दौलताबाद के किले में शरण लेनी पड़ी। परन्तु शाहजादा परवेज और खानखाना के पारस्परिक मतभेदों के कारण इस विजय से कोई विशेष लाभ नहीं उठाया गया। थोड़े समय के पश्चात् मलिक अम्बर ने फिर मुगल-क्षेत्रों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। जब 1615 ई. में मेवाड़ से सन्धि हो गयी तब जहाँगीर ने 1616 ई. में शाहजादा खुर्रम को 'शाह' की उपाधि देकर एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण-भारत भेजा। स्वयं जहाँगीर भी दक्षिण की देखभाल करने के लिए माँडू गया (1617 ई.)। खुर्रम बुरहानपुर तक पहुँच गया। खुर्रम का दक्षिण में जाना और स्वयं जहाँगीर का माँडू पहुँचना प्रभावपूर्ण हुआ। बाकी कार्य की पूर्ति खानखाना की कूटनीति और मुगलों के धन ने कर दी। बीजापुर के राजा ने मध्यस्थता की। मलिक अम्बर सन्धि के लिए तैयार हो गया। बालाघाट का भू-क्षेत्र, अहमदनगर का किला तथा कुछ अन्य किले मुगलों को दे दिये और 1617 ई. में अहमदनगर-राज्य और मुगलों में सन्धि हो गयी। बीजापुर के राजा ने खुर्रम को मूल्यवान उपहार दिये और बदले में जहाँगीर ने उसे 'फर्जन्द' (पुत्र) की उपाधि दी। खानखाना को दक्षिण का सूबेदार रखा गया और शाहजादा खुर्रम वापस आ गया। खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि दी गयी। परन्तु शाहजहाँ की दक्षिण की विजय केवल नाम की थी। डॉ. त्रिपाठी ने लिखा है : "मुगल-शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहाँ अकबर ने दक्षिण से लौटते समय छोड़ी थी।"

मलिक अम्बर ने इस सन्धि का पालन बहुत समय तक नहीं किया। उसने गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों से समझौता कर लिया और 1620 ई. में अहमदनगर के किले को घेर लिया। उसने बरार और आसपास के प्रदेशों को जीत लिया। एक बार फिर शाहजहाँ को एक बड़ी सेना और धन देकर दक्षिण में भेजा गया। शाहजहाँ ने बुरहानपुर पहुँचकर आक्रमण की तैयारी की। अहमदनगर की नवीन राजधानी खिर्की पर अधिकार कर लिया गया। तत्पश्चात् मुगलों ने अहमदनगर के किलेदार की सहायता के लिए एक सेना भेजी और दौलताबाद पर भी दबाव डाला। मुगलों की इस सफलता से मलिक अम्बर भयभीत हो गया और सन्धि को तैयार हो गया। 1621 ई. में हुई सन्धि के अनुसार अहमदनगर-राज्य ने मुगलों से जीते हुए सम्पूर्ण प्रदेश वापस कर दिये। इसके अतिरिक्त उसने प्रायः 14 लाख रुपये की वार्षिक आय का भू-क्षेत्र और 18 लाख रुपये नकद मुगलों को दिये। बीजापुर और गोलकुण्डा ने अहमदनगर-राज्य की सहायता की थी अतएव बीजापुर ने 12 लाख और गोलकुण्डा ने 20 लाख रुपये हर्जाने के रूप में मुगलों को दिये।

इस प्रकार, 1621 ई. में दक्षिण का युद्ध समाप्त हो गया। इसके पश्चात् शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह के कारण मुगलों को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर जहाँगीर के समय में प्राप्त न हो सका। वास्तव में सीमा-विस्तार की दृष्टि से जहाँगीर के समय में दक्षिण में मुगलों को कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण के राज्यों पर मुगलों का दबाव बढ़ गया। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर मलिक अम्बर ने एक बार शाहजहाँ को सहायता दी और मुगल बादशाह का विरोध किया। स्पष्ट था कि अहमदनगर-राज्य अभी मुगल-सत्ता को स्वीकार करने को तैयार न था। 1626 ई.

में मलिक अम्बर की मृत्यु हो गयी। परन्तु दक्षिण में मुगलों की स्थिति प्रायः पहले जैसी ही रही। उस समय तक अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा मुगलों के आधिपत्य में न थे। ऐसी ही स्थिति में 1627 ई. में जहाँगीर की मृत्यु हो गयी।

3. काँगड़ा

उत्तर-पूर्व पंजाब में काँगड़ा की सुन्दर घाटी है। काँगड़ा का किला एक पहाड़ी पर बना हुआ दृढ़ किला था। अकबर के समय में पंजाब के सूबेदार हसनकुलीखाँ ने इसे जीतने का प्रयास किया था परन्तु वह असफल हुआ था। 1620 ई. में शाहजादा खुर्रम के नेतृत्व में राजा विक्रमाजीत ने इस किले का घेरा डाला और लगभग चार माह के घेरे के पश्चात् इस पर अधिकार कर लिया।

4. अन्य विजयें

1611 ई. में टोडरमल के पुत्र राजा कल्याणमल ने खर्दा (उड़ीसा) को राजा पुरुषोत्तमदास से जीता और राजा ने अपनी पुत्री जहाँगीर को भेंट की। 1615 ई. में नूरजहाँ के भाई इब्राहीमखाँ ने खोखर (बिहार) को राजा दुर्जनसाल से जीता। वहाँ हीरे की खानें थीं जो राज्य की सम्पत्ति बना ली गयीं। 1617 ई. में पुरुषोत्तमदास के विद्रोह करने पर उसे पराजित किया गया और उसके राज्य को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। 1620 ई. में कश्मीर के दक्षिण में एक छोटे-से राज्य किशतवार को मुगलों ने विजय किया। 1622 ई. में राजा ने विद्रोह किया और उसके राज्य को मुग़ल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रदेश में फलों और केसर की खेती अच्छी होती थी। 1613 ई. में उत्तर-पूर्व में मुगलों ने कामरूप पर अपना अधिकार कर लिया था।

इस प्रकार, **जहाँगीर के समय में राज्य-विस्तार के जो प्रयत्न किये गये वह आंशिक रूप में सफल रहे।** ज़हाँगीर के समय की सबसे महत्वपूर्ण घटना मेवाड़ से सन्धि थी। दक्षिण में राज्य-विस्तार मुख्यतया मलिक अम्बर के विरोध के कारण सफल न हो सका। जहाँगीर के समय की अन्य विजयें साधारण थीं।

[3]

जहाँगीर और यूरोपीय-निवासी

इस समय में भी यूरोपीय-निवासियों में से मुगल-दरबार से सम्बन्ध रखने वालों में पुर्तगाली ही प्रमुख रहे। जहाँगीर के समय में अधिकांशतया पुर्तगलियों से मुगलों के सम्बन्ध अच्छे ही रहे। जहाँगीर ने उन्हें अपना धर्म मानने, गिरजे बनवाने और व्यक्तियों को इच्छानुसार ईसाई बनाने की आज्ञा दे रखी थी और कई बार ईसाई पादरियों के मिशन जहाँगीर के दरबार में उपस्थित हुए थे। जहाँगीर ने उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता के अतिरिक्त आर्थिक सहायता भी दी। परन्तु 1610 ई. में पुर्तगालियों ने कुछ शाही जहाजों को पकड़ लिया। अपनी नौ-सेना की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए पुर्तगाली उद्दण्ड हो गये थे। यह घटना उसी उद्दण्डता का परिणाम थी। जहाँगीर ने अप्रसन्न होकर आगरा और लाहौर के गिरजे बन्द करा दिये, बहुत से पुर्तगालियों को जेल में डाल दिया और उनकी व्यापारिक सुविधाएँ समाप्त कर दीं। पुर्तगालियों को, अन्त में, बादशाह से माफी माँग कर समझौता करना पड़ा। जहाँगीर के काल में पुर्तगालियों ने अन्य कोई दुर्घटना नहीं की।

जहाँगीर के शासन-काल में अंग्रेजों ने भी बादशाह से व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया और विलियम हॉकिन्स और सर टामस रो ब्रिटेन के प्रतिनिधि के रूप में

बादशाह से मिले। मुगल-दरबार में पुर्तगालियों के प्रभावशाली होने के कारण उन्हें अधिक सुविधाएँ नहीं मिल सकीं। तब भी सर टामस रो ने जहाँगीर से सूरत में अंग्रेज-फैक्टरी स्थापित करने की आज्ञा प्राप्त की।

[4]

कन्धार

जहाँगीर के समय में कन्धार मुगलों के हाथ से निकलकर पर्शिया के हाथ में चला गया। 1606 ई. में खुसरो के विद्रोह के अवसर पर पर्शिया के बादशाह शाह अब्बास ने खुरासान और निकट के अन्य अमीरों को कन्धार पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उन्होंने किले को घेर लिया। परन्तु मुगल किलेदार शाहबेगखाँ ने उनका डटकर मुकाबला किया। 1607 ई. के आरम्भ में मुगल सेना भी किले की सहायता के लिए पहुँच गयी और ईरानियों को किले का घेरा उठाना पड़ा। शाह अब्बास ने इस आक्रमण के प्रति अपना असन्तोष व्यक्त किया, उसे अपने सरदारों की नादानी बताया और जहाँगीर से मित्रता का दावा किया। उसके पश्चात् शाह अब्बास ने निरन्तर 1611, 1615, 1616 और 1620 ई. में मुगल दरबार में मूल्यवान उपहारों सहित अपने राजदूत भेजे तथा जहाँगीर से मित्रता और प्रेम का दावा किया। परन्तु 1621 ई. में पर्शिया ने पुनः कन्धार का घेरा डाला और 1622 ई. में उसे जीत लिया। शाहजहाँ के विद्रोह के कारण जहाँगीर कन्धार की रक्षा और उसे पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न न कर सका।

[5]

नूरजहाँ तथा तत्कालीन राजनीति और इतिहास पर उसका प्रभाव

1. प्रारम्भिक जीवन

जहाँगीर के जीवन और उसके इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण घटना नूरजहाँ से उसका विवाह था। नूरजहाँ का बचपन का नाम मेहरुन्निसा था। उसका पिता गियासबेग पर्शिया का रहने वाला था। अपने पिता ख्वाजा मुहम्मद शरीफ की मृत्यु के पश्चात् मिर्जा गियासबेग पर्शिया के अलावा अन्यत्र अपने भाग्य को आजमाने की नीयत से अपने दो पुत्रों एवं एक पुत्री के साथ भारत के लिए रवाना हुआ । मार्ग में उसे अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं परन्तु काफिले के मालिक मलिक मसूद ने उसकी बहुत सहायता की। कन्धार के निकट उसकी पत्नी ने एक और लड़की को जन्म दिया और यही लड़की मेहरुन्निसा थी। मिर्जा गियासबेग को अकबर की सेवा में जगह मिल गयी और वह अपनी योग्यता से प्रगति करता गया। उसे काबुल के दीवान का पद दिया गया परन्तु बाद में वह अकबर के व्यक्तिगत कारखाने की सेवा में ले लिया गया। जहाँगीर ने अपने प्रारम्भिक काल में ही उसे 'एत्मातुद्दौला' की उपाधि प्रदान की। 1594 ई. में मेहरुन्निसा की शादी अलीकुलीबेग के साथ कर दी गयी। 1599 ई. में मेवाड़ के आक्रमण के अवसर पर एक शेर को मारने के उपलक्ष्य में अलीकुलीखाँ को शाहजादा सलीम ने 'शेर अफगन' की उपाधि से विभूषित किया, परन्तु जब सलीम ने विद्रोह किया तब शेर अफगन उसका साथ छोड़कर बादशाह अकबर के पास चला गया। जब जहाँगीर बादशाह बना तब उसने शेर अफगन को क्षमा कर दिया परन्तु उसे बंगाल में बर्दवान की जागीर सौंपी। शेर अफगन अपनी नवीन जागीर से सन्तुष्ट न हुआ और, सम्भवतया, उसने वहाँ पर हो रहे अफगानों के विद्रोह को दबाने में कोई विशेष उत्साह नहीं

दिखाया। 1606 ई. में राजा मानसिंह को हटाकर कुतुबुद्दीन को बंगाल का सूबेदार बनाया गया। उसी समय शेर अफगन पर राजद्रोह का अपराध लगाया गया और कुतुबुद्दीन ने उसे मिलने के लिए बुलाया। शेर अफगन केवल दो व्यक्तियों को लेकर उससे मिलने गया। कुतुबुद्दीन ने उससे अपमानजनक व्यवहार किया जिससे क्रोधित होकर शेर अफगन ने उस पर कटार से घातक प्रहार किया । उसने उसके मुख्य अंगरक्षक अम्बखाँ को भी मार डाला । परन्तु कुतुबुद्दीन के सैनिकों ने उसके और उसके साथियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। मेहरुन्निसा और उसकी पुत्री लाड़ली बेगम को कैद कर लिया गया।

जहाँगीर के आदेश से मेहरुन्निसा को दरबार में लाया गया और उसे अकबर की विधवा सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त कर दिया गया। 1611 ई. में नौरोज के त्यौहार पर जहाँगीर ने उसे देखा और उस पर आसक्त हो गया। मई 1611 ई. में जहाँगीर ने उससे विवाह कर लिया। बाद में जहाँगीर ने उसे क्रमशः 'नूरमहल' और 'नूरजहाँ' की उपाधियाँ प्रदान कीं।

2. जहाँगीर और नूरजहाँ के सम्बन्धों पर विचार

नूरजहाँ और जहाँगीर के विवाह को लेकर इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकार यह कहते हैं कि जहाँगीर ने पहली बार मेहरुन्निसा को 1611 ई. में देखा था, उसका उससे बचपन का प्रेम न था और शेर अफगन के कत्ल में जहाँगीर का कोई हाथ न था। कुछ अन्य इतिहासकार यह कहते हैं कि जहाँगीर जब युवराज था तभी मेहरुन्निसा से उसे प्यार था, अपने पिता के समय में वह अपनी इच्छा की पूर्ति न कर सका और मेहरुन्निसा के विधवा होने पर उससे विवाह कर लिया। वही इतिहासकार यह भी कहते हैं कि क्योंकि जहाँगीर मेहरुन्निसा को कभी भूल न सका था, इस कारण उसने शेर अफगन को कत्ल कराकर अपनी इच्छा की पूर्ति की हो, यह सम्भव है।

डॉ. बेनीप्रसाद उन इतिहासकारों में प्रमुख हैं, जो जहाँगीर से नूरजहाँ के पहले सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते और अपने विचार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं :

(i) तत्कालीन ग्रन्थों में इस प्रकार का कोई विवरण नहीं मिलता।

(ii) शाहजहाँ के समय के ग्रन्थों में ऐसा कोई विवरण नहीं मिलता।

(iii) तत्कालीन यूरोपीय लेखकों ने ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं किया है यद्यपि शाही परिवार के बारे में उन्होंने अनेक विभिन्न किंवदन्तियों का वर्णन किया है।

(iv) उस समय बहु-विवाह की प्रथा थी। ऐसी स्थिति में अकबर सलीम को मेहरुन्निसा से विवाह करने से क्यों रोकता ?

(v) यदि सलीम का मेहरुन्निसा से प्रेम होता तो अकबर शेर अफगन को सलीम की सेवा में नियुक्त न करता और सलीम बादशाह बनने के पश्चात् शेर अफगन की पद-वृद्धि न करता।

(vi) राजा मानसिंह सलीम के स्थान पर खुसरो को गद्दी पर बैठाना चाहता था। इस कारण उसे बंगाल जैसे धनवान और दूरस्थ प्रान्त की सूबेदारी से हटाकर जहाँगीर ने अपने विश्वासपात्र सरदार कुतुबुद्दीन को बंगाल का सूबेदार बनाया था। उसका इस स्थान-परिवर्तन में कोई अन्य आशय न था।

(vii) नूरजहाँ जैसे श्रेष्ठ चरित्र की स्त्री अपने पति के हत्यारे को क्षमा नहीं कर सकती थीं जबकि यह स्पष्ट है कि नूरजहाँ जहाँगीर से प्रेम करती थी।

(viii) मेहरुन्निसा को राजदरबार में इसलिए लाया गया था क्योंकि उसके भाई और पति वहीं थे।

इस प्रकार डॉ. बेनीप्रसाद जहाँगीर और नूरजहाँ में पहले से प्रेम की घटना का खण्डन करते हैं और जहाँगीर को शेर अफगन के कत्ल के उत्तरदायित्व से भी मुक्त करते हैं। वह लिखते हैं : "तत्कालीन प्रमाणों का गम्भीर अध्ययन और स्वीकृत तथ्य स्वयं इस प्रेम-कथा को निराधार सिद्ध कर देते हैं तथा जहाँगीर और नूरजहाँ का चरित्र अधिक सत्य व अच्छे स्वरूप में प्रकट हो जाता है।" इसी प्रकार, डॉ. आर. पी. त्रिपाठी भी जहाँगीर तथा नूरजहाँ के पहले के प्रेम-सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते। वह लिखते हैं : "जहाँगीर ने असन्तुष्ट होकर शेर अफगन को बर्दवान की दूरस्थ जागीर दी थी। शेर अफगन इस नियुक्ति से असन्तुष्ट था और राजा मानसिंह की भाँति उसने भी वहाँ के अफगान विद्रोहियों को दबाने में कोई तत्परता नहीं दिखायी थी। कुतुबुद्दीन ने शेर अफगन को प्रान्तीय राजधानी राजमहल बुलाया था जिसकी उसने परवाह नहीं की। इस कारण कुतुबुद्दीन स्वयं बर्दवान गया और उसे अपने पास बुलाया जहाँ उसका कत्ल हो गया। जिस समय शेर अफगन का कत्ल हुआ उस अवसर पर एत्मातुद्दौला (नूरजहाँ का पिता), उसका पुत्र और जहाँगीर काबुल में थे, तथा जहाँगीर ने एत्मातुद्दौला से असन्तुष्ट होकर उसे उसके पद से हटा दिया था। इसी कारण मेहरुन्निसा को दरबार में रोका गया था और उसे सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त किया गया था ।" डॉ. एस. आर. शर्मा भी इसी पक्ष का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने लिखा है : "डॉ. बेनीप्रसाद ने बड़ी योग्यता के साथ छानबीन करके जहाँगीर को इस अपराध से मुक्त कर दिया है और यह छानबीन ग्राह्य प्रतीत होती है।" जबकि इस विचार के विपक्षी इतिहासकार डॉ. ईश्वरीप्रसाद के मत के बारे में वह लिखते हैं : "इस विषय में डॉ. ईश्वरीप्रसाद की आलोचना दुर्बल है। वह अधिक सन्तोषप्रद नहीं है।"

परन्तु इस मत के विपक्ष में डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं :

(i) जहाँगीर के पक्ष में दिये गये डॉ. बेनीप्रसाद के तर्क नकारात्मक हैं।

(ii) तत्कालीन इतिहासकार बादशाह के सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट करने के लिए स्वतन्त्र न थे। आधुनिक इतिहासकार उसकी तुलना में अधिक स्पष्ट लिखने की स्थिति में हैं।

(iii) केवल सन्देह मात्र के आधार पर शेर अफगन को दण्डित करने के आदेश कुतुबुद्दीन को दिये गये थे । कुतुबुद्दीन को बादशाह के असन्तोष के कारण भी नहीं बताये गये थे।

(iv) जहाँगीर ने जिसने अपने जीवन की न्यूनतम घटनाओं का वर्णन किया था, नूरजहाँ के बारे में तीन वर्ष बाद लिखा । उसने अपने इस विवाह की परिस्थितियों का भी वर्णन नहीं किया है।

(v) जहाँगीर द्वारा शेर अफगन के कत्ल की घटना के विवरण में शेर अफगन का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

(vi) मेहरुन्निसा को उसके पिता और भाई के पास न भेजकर दरबार में रखना और सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त करना सन्देहजनक है।

(vii) जहाँगीर ने मेहरुन्निसा से चार वर्ष के बाद इस कारण विवाह किया जिससे एक तो मेहरुन्निसा को अपनी भावनाओं को शान्त करने का अवसर मिल जाय और दूसरे अन्य व्यक्तियों को सन्देह का कोई कारण न रहे।

इस प्रकार के तर्क देते हुए डॉ. ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं : "तत्कालीन तथ्यों का ठीक प्रकार अध्ययन करने से मस्तिष्क पर यह प्रभाव पड़ता है कि शेर अफगन की मृत्यु की परिस्थितियाँ बहुत ही सन्देहजनक हैं यद्यपि इस बात को सिद्ध करने का कोई ठोस प्रमाण नहीं है कि बादशाह इस अपराध के लिए दोषी था।" एक तत्कालीन डच लेखक डी लायट ने जहाँगीर के शाहजादा-काल में मेहरुन्निसा के प्रति उसके प्रेम का वर्णन किया है। उसे उसने लिखा था : "क्योंकि उसकी मँगनी शेर अफगन से हो गयी थी, इस कारण उसके पिता ने उसे उससे वि ाह करने की आज्ञा नहीं दी। परन्तु वह उसके प्रति अपने प्रेम को कभी भूल न सका।"

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का झुकाव भी जहाँगीर और नूरजहाँ के पहले प्रेम-सम्बन्धों की ओर है। वह लिखते हैं : "इस कथानक में दो विचारणीय विषय हैं—एक जहाँगीर का अपने शाहजादा-काल में मेहरुन्निसा से विवाह की इच्छा और दूसरा शेर अफगन की मृत्यु में उसका उत्तरदायित्व। पहले के विषय में डॉ. बेनीप्रसाद की धारणा का कोई स्पष्ट आधार नहीं है। अकबर ने जैनखाँ कोका की पुत्री से सलीम के विवाह के लिए पहले एक बार इन्कार कर दिया था। शेर अफगन से मेहरुन्निसा की मँगनी हो जाना तो उसके मना करने का कारण हो ही सकता था।" वह लिखते हैं : "डी लायट के कथन में पक्षपात की कोई गुंजाइश नहीं है और उसका विवरण उत्तरकालीन मुस्लिम इतिहासकारों के विवरणों की पुष्टि करता है। जहाँगीर के चरित्र को देखते हुए यह कोई असम्भव बात भी नहीं लगती।" दूसरे के विषय में वह लिखते हैं : "यद्यपि शेर अंफगन की मृत्यु के लिए जहाँगीर को दोषी ठहराने के लिए कोई स्पष्ट एवं अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते और राजा मानसिंह को बंगाल की सूबेदारी से हटाने का कारण यह नहीं माना जा सकता परन्तु यह भी स्पष्ट है कि शेर अफगन पर कोई निश्चित आरोप न था और यदि था भी तो वह उससे अनभिज्ञ था और अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए उसे कोई अवसर नहीं दिया गया था। उसका आकस्मिक अन्त, उसका अन्त करने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधन, जहाँगीर की मृत शेर अफगन के प्रति प्रकट की गयी घृणा और उसका नूरजहाँ के विषय में उल्लेख न करना आदि सभी सन्देहजनक हैं।" वह लिखते हैं : "मेहरुन्निसा को सलीमा बेगम की सेविका नियुक्त करने का कारण मेहरुन्निसा को इस विवाह के लिए तैयार करना था और चार वर्ष बाद विवाह करना तथा उसका उल्लेख तीन वर्ष बाद करना सन्देह-निवारण के लिए थे।"

3. नूरजहाँ का चरित्र

जिस समय जहाँगीर से नूरजहाँ का विवाह हुआ था, उस समय जहाँगीर की आयु प्रायः 42 और नूरजहाँ की आयु 34 वर्ष थी। नूरजहाँ इस आयु में भी बहुत सुन्दर दिखती थी। वह शिक्षित और तीक्ष्ण बुद्धि की थी। कविता, संगीत और चित्रकला का उसे शौक था। फारसी में उसने कविताएँ लिखी थीं। उसने एक पुस्तकालय बनवाया था जिसमें अनेक अमूल्य पुस्तकों का संग्रह किया गया था। वस्त्र, श्रृंगार और आभूषणों का उसे शौक था और उनमें उसने नये-नये ढंग और तरीके निकाले थे। जहाँगीर से अपने विवाह के अवसर पर उसने एक अत्यन्त सुन्दर पोशाक का निर्माण कराया था जिसे 'नूरमहली' के नाम से पुकारा गया और जो वर्षों तक हरम की स्त्रियों में लोकप्रिय रही। शासन में उसे रुचि थी और उसमें समस्याओं का हल निकालने की कुशलता थी। वह धैर्यवान और साहसी थी। वह धार्मिक, सदाचारी और चरित्रवान थी। जहाँगीर के प्रति उसे प्रेम था। उसी के कारण जहाँगीर ने अपनी शराब पीने की मात्रा कम कर दी थी। उसका एक विशेष गुण करुणा और उदारता था। वह विद्वानों और निर्धनों की सहायता करती थी तथा उसने सैकड़ों निर्धन लड़कियों के विवाह

कराये थे। परन्तु नूरजहाँ के चरित्र की एक विशेषता उसकी महत्वाकांक्षा थी। उसने शासन में हस्तक्षेप किया, अपने प्रभाव को बढ़ाया और सत्ता को अपने हाथ में रखने का प्रयत्न किया। कहा गया है कि सम्पूर्ण मुगल-इतिहास में मुगल बेगमों का शासन में प्रभाव रहा। यह बात नूरजहाँ से अधिक किसी अन्य पर इतनी अधिक सत्यता से लागू नहीं होती।

4. नूरजहाँ का राजनीति और इतिहास पर प्रभाव

विवाह के समय से ही नूरजहाँ का प्रभाव बढ़ने लगा। वह जहाँगीर की प्रमुख बेगम बन गयी और उसके पिता, भाई और अन्य सम्बन्धियों के पदों में वृद्धि हुई। यह कहना तो अनुचित होगा कि उसके पिता एत्मातुद्दौला और भाई आसफखाँ को राज्य में श्रेष्ठ पद प्रदान किये जाने का कारण वही थी, क्योंकि वे स्वयं भी योग्य और वफादार सिद्ध हुए थे, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नूरजहाँ उनकी उन्नति के लिए उत्तरदायी थी। शासन में उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। किसी भी स्त्री को भूमि उस समय तक दान नहीं की जाती थी जब तक नूरजहाँ की स्वीकृति न ले ली गयी हो। उसने जहाँगीर के साथ 'झरोखा-दर्शन' में भाग लेना आरम्भ कर दिया, बहुत से सिक्कों पर उसका नाम आने लगा और बादशाह के आदेश-पत्रों पर बादशाह के हस्ताक्षरों के अतिरिक्त बेगम नूरजहाँ का नाम लिखा जाने लगा। एक प्रकार से शासन-सत्ता बेगम नूरजहाँ के हाथों में चली गयी। राज्य सम्बन्धी कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय बिना नूरजहाँ की स्वीकृति के सम्भव न रह गया। जहाँगीर प्रायः कहा करता था कि बादशाहत उसने बेगम नूरजहाँ को दे दी है।

नूरजहाँ के प्रभुत्व-काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, 1611 ई. से 1622 ई. तक का समय जबकि उसके माता-पिता जीवित थे और उसकी महत्वाकांक्षा को सीमित रखने में सफल हुए। यह समय ऐसा था जबकि नूरजहाँ और शाहजहाँ एक-दूसरे के साथ थे। दूसरा समय 1622 से 1627 ई. तक था। 1621 ई. में नूरजहाँ की माँ अस्मत बेगम की मृत्यु हो गयी और 1622 ई. में उसके पिता एत्मातुद्दौला की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार उसकी महत्वाकांक्षाओं को सीमित करने वाले उसके माता-पिता इस समय में न रहे जबकि जहाँगीर ने अपना स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण नूरजहाँ को शासन में अधिक स्वतन्त्रता दे दी। यह समय ऐसा रहा जबकि नूरजहाँ और शाहजहाँ एक-दूसरे के विरोध में हो गये।

अपने विवाह के बाद कुछ वर्षों में ही नूरजहाँ ने अपना एक दल बना लिया था जिसे 'नूरजहाँ गुट' के नाम से पुकारा गया। इस गुट में नूरजहाँ, उसका पिता एत्मातुद्दौला, उसकी माँ अस्मत बेगम, उसका भाई आसफखाँ और शाहजादा खुर्रम थे। इनमें से प्रत्येक योग्य था और प्रत्येक राज्य में प्रतिष्ठित पद प्राप्त किये हुए था। शाहजादा खुर्रम जिसे बाद में 'शाहजहाँ' की पदवी से विभूषित किया गया, राज्य का उत्तराधिकारी समझा जाता था और आसफखाँ की लड़की अर्जुमन्दबानू बेगम से उसका विवाह हुआ था (1612 ई.)। एत्मातुद्दौला ने 1619 ई. तक ही 7,000 जात और 7,000 सवार का पद प्राप्त कर लिया था, आसफखाँ ने 1622 ई. तक 6,000 सवार और 6,000 जात का पद प्राप्त कर लिया था और शाहजादा खुर्रम को बादशाह के दाहिनी ओर बैठने का स्थान, शाहजहाँ की उपाधि तथा 30,000 जात और 20,000 सवार का पद दिया गया था। यह समय इस गुट और नूरजहाँ की प्रभुसत्ता का था। इस दल के विरोधी वे पुराने सरदार थे जो शासन में नूरजहाँ बेगम के बढ़ते हुए प्रभाव को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु वे दुर्बल स्थिति में थे और जहाँगीर उनकी सलाह सुनने के लिए तैयार न था। इस प्रकार, **1622 ई. तक नूरजहाँ ने इस दल की सहायता से अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव को स्थापित रखा।**

1621 ई. में नूरजहाँ ने शेर अफगन से पैदा हुई अपनी पुत्री लाड़ली बेगम की शादी शाहजादा शहरयार से कर दी और उसे 8,000 जात तथा 4,000 सवार का पद दिया गया। उस समय से उसकी इच्छा में परिवर्तन हो गया। उसने शाहजहाँ की शक्ति को समाप्त करने का निश्चय किया। जहाँगीर का स्वास्थ्य खराब होता जा रहा था और बहुत लम्बे समय तक उसके जीवन की आशा नहीं की जा सकती थी। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ के बादशाह बन जाने से नूरजहाँ शासन-सत्ता का उपभोग नहीं कर सकती थी क्योंकि शाहजहाँ जैसा योग्य और अहंवादी व्यक्ति सत्ता में साझेदारी करने को तैयार नहीं हो सकता था। इसके विपरीत, शाहजादा शहरयार अल्पायु और दुर्बल चरित्र का था। यदि शहरयार बादशाह बन सकता तो सत्ता नूरजहाँ के हाथों में रह सकती थी। डॉ. बेनीप्रसाद ने लिखा है : "अल्पायु (16 वर्ष), आज्ञाकारी स्वभाव, दुर्बल मस्तिष्क और दुर्बल चरित्र का शहरयार एक सत्ताप्रिय महिला के लिए उपयुक्त साधन था।" इस कारण नूरजहाँ ने जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शहरयार को गद्दी पर बैठाने की योजना बनायी। इस समय तक उसके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी जो उसे समझा सकते थे। ऐसी स्थिति में जब नूरजहाँ ने शाहजहाँ की स्थिति को नष्ट करने का प्रयत्न किया तो शाहजहाँ ने विद्रोह कर दिया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का इस विचार से मतभेद है। वे लिखते हैं : "शाहजहाँ का स्वयं का व्यवहार, बादशाह की आज्ञा का पालन करने में टालमटोल करना और सत्ता को प्राप्त करने की लालसा उसके विद्रोह का कारण थे।" परन्तु **तब भी अधिकांश इतिहासकार यह मानते हैं कि शाहजहाँ के विद्रोह का प्रमुख कारण नूरजहाँ की सत्ता-प्रियता था।** शाहजहाँ का विद्रोह तीन वर्ष तक रहा। उसने जहाँगीर के अन्तिम दिनों को कष्टप्रद बनाया और साम्राज्य की शक्ति को दुर्बल किया।

1626 ई. में महाबतखाँ ने विद्रोह किया और उसने बादशाह जहाँगीर को व्यक्तिगत रूप से बन्दी बनाकर नूरजहाँ के प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया। महाबतखाँ सिंहासन के प्रति वफादार था और एक योग्य सेनापति था। परन्तु वह उन व्यक्तियों में से था जो जहाँगीर पर नूरजहाँ के बढ़ते हुए प्रभाव से अप्रसन्न थे। नूरजहाँ इस बात को जानती थी। इस कारण जिस महाबतखाँ ने अपनी योग्यता से नूरजहाँ से पहले के समय में निरन्तर पदोन्नति पायी थी, नूरजहाँ के समय में कोई पद-वृद्धि न पा सका बल्कि उसे अफगानिस्तान की सीमाओं पर नियुक्त कर दिया गया था। परन्तु महाबतखाँ अपने समय का योग्यतम सेनापति था। शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने के लिए शाहजादा परवेज के साथ उसे नियत किया गया। महाबतखाँ के द्वारा ही शाहजहाँ का विद्रोह दबाया जा सका। इससे उसके सम्मान में वृद्धि हुई और वह शाहजादा परवेज का समर्थक भी बन गया। नूरजहाँ इन दोनों बातों का बर्दाश्त न कर सकी। उसने महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने और उसे अपमानित करने का निश्चय किया जिसके कारण महाबतखाँ को जहाँगीर को बन्दी बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। यह विद्रोह नूरजहाँ की योग्यता केकारण असफल हो गया । प्रायः एक माह केपश्चात् ही महाबतखाँ को भागना पड़ा। अन्त में उसने शाहजहाँ की सेवा स्वीकार कर ली। परन्तु इससे बादशाह जहाँगीर को दुःख और अपमान सहना पड़ा तथा उसने राज्य के एक वफादार एवं योग्य सेनापति को खो दिया। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का कहना है कि इस सम्पूर्ण घटना में मुख्य हाथ आसफखाँ का था जो महाबतखाँ और परवेज की शक्ति को समाप्त करना चाहता था जिससे उसके दामाद (शाहजहाँ) के गद्दी पर बैठने में कोई बाधा न आये। नूरजहाँ अपने भाई की इस कूटनीति को न समझ सकी और महाबतखाँ को खो बैठी। यह माना जा सकता है कि महाबतखाँ के पतन में आसफखाँ का हाथ रहा हो परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि स्वयं नूरजहाँ भी महाबतखाँ की शक्ति को समाप्त करना चाहती थी।

इस प्रकार, राजनीति में नूरजहाँ के हस्तक्षेप ने जहाँगीर के अन्तिम दिनों में दो विद्रोहों को जन्म दिया जिन्होंने साम्राज्य की शक्ति और सम्मान को कम किया। यदि नूरजहाँ शासन-शक्ति को अपने हाथों में रखने के उद्देश्य से शहरयार को राजसिंहासन दिलाने के लिए लालायित न होती तो, सम्भवतया, शाहजहाँ विद्रोह के लिए सन्नद्ध न होता और महाबतखाँ के विद्रोह का प्रश्न ही न उठता। इस प्रकार, नूरजहाँ का राजनीति में हस्तक्षेप हानिकारक हुआ। डॉ. एस. आर. शर्मा, डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव और डॉ. सक्सेना का यही मत है यद्यपि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए नूरजहाँ को इस दोष से पूर्णतया मुक्त करते हैं।

[6]

शाहजहाँ और महाबतखाँ के विद्रोह

1. शाहजहाँ का विद्रोह (1623-26 ई.)

जब से नूरजहाँ ने अपनी पुत्री (शेर अफगन से उत्पन्न) लाड़ली बेगम की शादी शहरयार से की तब से शाहजहाँ के प्रति उसके व्यवहार में अन्तर आ गया। उसने जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् शाहजहाँ के स्थान पर शहरयार को गद्दी पर बैठाने की लालसा की। इस कारण उसने शाहजहाँ की प्रतिष्ठा और शक्ति को कम करने की योजना बनायी। 1621 ई. में उसकी माँ अस्मत बेगम की मृत्यु हो गयी और 1622 ई. के आरम्भ में उसके पिता एत्मातुद्दौला की मृत्यु हो गयी। एत्मातुद्दौला की मृत्यु के पश्चात् उसके शासन सम्बन्धी अधिकार नूरजहाँ को दे दिये गये। इससे नूरजहाँ की शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई परन्तु उसको समझाने वाला कोई न रहा। शाहजहाँ स्वयं भी नूरजहाँ बेगम की बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो गया। जहाँगीर का स्वास्थ्य खराब चल रहा था। ऐसी स्थिति में इन दोनों महत्वाकांक्षी व्यक्तियों में टकराव के कारण उपस्थित हो गये।

1621 ई. के अन्तिम दिनों में पर्शिया ने कन्धार पर आक्रमण किया और 1622 ई. के आरम्भ में किले का घेरा डाल दिया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को कन्धार की रक्षा के लिए कूच के आदेश दिये। शाहजहाँ ने, जो नूरजहाँ की ओर से शंकित था; इस बात की माँग की कि सम्पूर्ण पंजाब और रोहतासगढ़ का दुर्ग उसे दे दिये जायें, तभी वर्षा के पश्चात् वह कन्धार जायेगा। नूरजहाँ ने शाहजहाँ की टालमटोल का लाभ उठाया और जहाँगीर को उसके विरुद्ध भड़काया। परन्तु डॉ. आर. पी. त्रिपाठी का यह मत भी ठीक है कि "यदि शाहजहाँ के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाता तो वास्तव में उसे सम्पूर्ण गुजरात, राजस्थान का अधिकांश भाग, मालवा, दक्षिण-भारत और पंजाब की सत्ता प्राप्त हो जाती। हो सकता था कि वह बाद में क़ाबुल पर आधिपत्य भी माँगता। ऐसी स्थिति में मुगल बादशाह के पास दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद, बंगाल और बिहार के अतिरिक्त कुछ न रहता। शाहजहाँ की इस माँग को स्वीकार नहीं किया गया और उसे अपनी सेना के साथ कन्धार जाने के आदेश दिये गये।" इसी समय शाहजहाँ ने अपने सैनिकों को धौलपुर की जागीर पर अधिकार करने के लिए भेजा। शाहजहाँ ने इस जागीर को जहाँगीर से माँगा था और उसे आशा थी कि वह उसे प्राप्त हो जायेगी। परन्तु नूरजहाँ ने उससे पहले ही उस जागीर को शहरयार के नाम करा दिया। इस कारण, जब शाहजहाँ के सैनिक धौलपुर पहुँचे तो शहरयार के फौजदार से उनका झगड़ा हो गया। इससे भी जहाँगीर असन्तुष्ट हुआ और उसने शाहजहाँ को अपनी सम्पूर्ण सेना सहित दरबार में उपस्थित होने केआदेश दिये (शाहजहाँ ने इस आज्ञा का पालन नहीं किया। बल्कि जैसा कि डॉ. त्रिपाठी लिखते हैं : "उसने अपने राजदूत जहीदबेग को पर्शिया के शाह के

पास नजराने लेकर भेजा और दक्षिण तथा गोंडवाना के राज्यों से रसद एकत्रित करनी आरम्भ कर दी।" जहाँगीर ने शहरयार को 12,000 जात और 8,000 सवार का पद दिया और उसे कन्धार की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार शाहजहाँ के क्षमा माँगने के बाद भी पंजाब की जागीर, जिसमें हिसार भी था, शहरयार को सौंप दी गयी, जबकि डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार शाहजहाँ के पत्रों की भाषा उद्दण्डता और नूरजहाँ के प्रति घृणा से पूर्ण थी। जिस प्रकार भी हो, यह निश्चित है कि शाहजहाँ ने बादशाह की आज्ञा का पालन नहीं किया और विद्रोह के लिए तत्पर हो गया। शाहजहाँ के व्यवहार से शंकित होकर नूरजहाँ ने महाबतखाँ को काबुल से बुला लिया और उसे 6,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया। आसफखाँ को आगरा से शाही खजाने को लाने के लिए भेजा गया।

कन्धार के लिए समय से सहायता न पहुँच सकी और 1622 ई. में पर्शिया ने कन्धार पर अधिकार कर लिया। उसी समय शाहजहाँ ने खुला विद्रोह कर दिया। जहाँगीर ने शाहजादा परवेज को बिहार से बुलाया, सभी स्वामिभक्त सरदारों को एकत्रित होने के आदेश दिये और महाबतखाँ और शाहजादा परवेज को विद्रोह को दबाने के हेतु नियुक्त किया। स्वयं जहाँगीर और नूरजहाँ भी 1623 ई. में अजमेर पहुँच गये।

शाहजहाँ ने माँडू से आगे बढ़कर अचानक आगरा पर आक्रमण किया। परन्तु बिल्लोचपुरा के निकट उसकी पराजय हुई और उसे माँडू वापस लौटना पड़ा। शाहजादा परवेज और महाबतखाँ ने उसका पीछा किया। शाहजहाँ असीरगढ़ चला गया और सम्पूर्ण गुजरात उसके हाथों से निकल गया। शाहजहाँ असीरगढ़ से बुरहानपुर गया और उसने अहमदनगर के मलिक अम्बर तथा बीजापुर के सुल्तान से सहायता की याचना की। परन्तु उसे सहायता न मिली। महाबतखाँ ने बुरहानपुर पर अधिकार कर लिया। शाहजहाँ की स्थिति बहुत खराब थी और उसके साथी उसका साथ छोड़ रहे थे। शाहजहाँ बीजापुर, तेलंगाना आदि स्थानों पर होता हुआ उड़ीसा पहुँचा। उड़ीसा पर उसका सरलता से अधिकार हो गया और बंगाल को उसने युद्ध करके जीत लिया। उसके पश्चात् शाहजहाँ ने बिहार की ओर कदम बढ़ाये। सम्पूर्ण बिहार, रोहतासगढ़ का दुर्ग, जौनपुर, पटना आदि उसके अधिकार में चले गये। शाहजहाँ जब इलाहाबाद का घेरा डाले हुए था, उसी समय बुरहानपुर को सुरक्षित करके महाबतखाँ इलाहाबाद के निकट पहुँचा और शाहजहाँ को युद्ध के लिए बाध्य किया। शाहजहाँ की पराजय हुई और उसे भागना पड़ा। एक बार फिर शाहजहाँ बिहार, बंगाल, तेलंगाना और बीजापुर होता हुआ अहमदनगर पहुँचा। परन्तु महाबतखाँ उसका पीछा कर रहा था। उस अवसर पर बीजापुर और अहमदनगर में युद्ध चल रहा था तथा मुगल बीजापुर की सहायता कर रहे थे। इस कारण मलिक अम्बर ने शाहजहाँ को सहायता दी। शाहजहाँ ने बुरहानपुर का घेरा डाला परन्तु महाबतखाँ के पहुँच जाने के कारण उसे घेरा उठाना पड़ा और उसने बालाघाट में रोहनगढ़ के किले में जाकर शरण ली। उसी समय शाहजहाँ बीमार पड़ गया। उसका मुख्य सहायक अब्दुल्लाखाँ उसे छोड़कर संन्यासी हो गया। ऐसी परिस्थिति में शाहजहाँ ने बादशाह से क्षमा माँगी। उसे रोहतासगढ़ और असीरगढ़ के किले बादशाह को देने पड़े तथा अपने पुत्र दाराशिकोह और औरंगजेब को दरबार में भेजना पड़ा। इन शर्तों पर जहाँगीर ने उसे क्षमा कर दिया और बालाघाट की सूबेदारी उसे दे दी।

इस प्रकार, तीन वर्ष के संघर्ष के पश्चात् शाहजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ। शाहजहाँ की असफलता का कारण उसकी गलत अपेक्षाएँ थीं। उसने सोचा था कि जहाँगीर अपनी बीमारी के कारण स्वयं नेतृत्व न कर सकेगा, उसका श्वसुर आसफखाँ जो राज्य के दीवान था

उसकी सहायता करेगा, बेगम नूरजहाँ से असन्तुष्ट सरदार उसका साथ देंगे, उसके सेनापतित्व की ख्याति के कारण अन्य विभिन्न सरदार भी उसके साथ हो जायेंगे, स्वयं उसकी सेना बहुत बड़ी थी जबकि बादशाह से इतनी बड़ी सेना को एकत्रित करने की आशा न थी, पर्शिया के कन्धार को जीतने में साम्राज्य की उत्तर-पश्चिम सीमाएँ अरक्षित हो गयी थीं जिससे बादशाह को वहाँ से सेनाएँ हटाने का अवसर न मिल सकेगा और इन परिस्थितियों में उसे शीघ्र ही सफलता प्राप्त हो जायेगी। परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। जहाँगीर ने बीमारी के बावजूद भी उत्साह दिखाया, महाबतखाँ जैसा योग्य सेनापति और अन्य विभिन्न सरदार तुरन्त बादशाह की सेवा में पहुँच गये, आसफखाँ ने उस समय शाहजहाँ को सहायता देना ठीक न समझा, दक्षिण-भारत से शाहजहाँ को कोई विशेष सहायता न मिली और पर्शिया ने कन्धार को जीतकर आगे कोई कदम नहीं उठाया। इस कारण, शाहजहाँ को असफलता मिली और उसे बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करना पड़ा।

2. महाबतखाँ का विद्रोह (मार्च 1626 ई.)

महाबतखाँ राजभक्त था यद्यपि वह उन सरदारों में से था जो शासन में नूरजहाँ के बढ़ते हुए हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते थे। परन्तु शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह प्रसन्नता से जहाँगीर के साथ हो गया। शाहजहाँ के विद्रोह को समाप्त करने का मुख्य श्रेय महाबतखाँ को था। इससे महाबतखाँ के सम्मान और शक्ति में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त उस समय में उसने शाहजादा परवेज के साथ रहकर कार्य किया। इस कारण वह परवेज के बहुत निकट हो गया। नूरजहाँ को यह पसन्द न था। वह जानती थी कि महाबतखाँ राजभक्त है परन्तु उसकी सत्ता को पसन्द नहीं करता। वह यह भी नहीं चाहती थी कि महाबतखाँ जैसा योग्य सरदार परवेज का सहायक बन जाय। ऐसी स्थिति में परवेज उसके दामाद शहरयार का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बन सकता था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "नूरजहाँ ने महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने का निश्चय किया।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार, "महाबतखाँ का मुख्य शत्रु नूरजहाँ का भाई आसफखाँ था जो अपने दामाद (शाहजहाँ) के पक्ष को दृढ़ करने के लिए महाबतखाँ का विनाश चाहता था। नूरजहाँ अपने भाई की कूटनीति को न समझ सकी और इस कार्य में वह आसफखाँ की सहायक बन गयी।" जैसा भी हो परन्तु यह स्पष्ट है कि महाबतखाँ की शक्ति को तोड़ने के प्रयत्न शाही दरबार द्वारा किये गये।

महाबतखाँ को बंगाल जाने के आदेश दिये गये, शाहजादा परवेज को बुरहानपुर भेजा गया तथा खानजहाँ को परवेज के साथ भेजा गया। यह सभी कुछ परवेज और महाबतखाँ को एक-दूसरे के पृथक करने से उद्देश्य से किया गया। महाबतखाँ और परवेज दोनों ने इसे स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् महाबतखाँ को आदेश दिया गया कि वह बंगाल और बिहार के युद्ध के अवसर पर पकड़े हुए हाथियों को दरबार में भेजे और युद्ध के अवसर पर प्राप्त किये गये धन का हिसाब दे। महाबतखाँ ने हाथी तो भेज दिये परन्तु उसने यह समझ लिया कि यह उसके विनाश का प्रयत्न है। इस कारण वह स्वयं बादशाह से मिलने चल दिया। उस समय जहाँगीर काबुल जा रहा था और पंजाब में बेहत नदी के तट पर था। उसी समय जहाँगीर ने महाबतखाँ के दामाद बरखुरदार को अपमानित किया और उसकी सम्पत्ति छीन ली। उसका कारण यह बताया गया कि महाबतखाँ ने बिना शाही आज्ञा के अपनी पुत्री की शादी उससे की थी।

जिस समय महाबतखाँ अपने राजपूत सैनिकों को लेकर शाही शिविर के निकट पहुँचा, उस समय बादशाह की अधिकांश सेना, आसफखाँ और नूरजहाँ स्वयं नदी पार कर

चुके थे परन्तु जहाँगीर शिविर में था। महाबतखाँ ने बादशाह के सामने पहुँचकर उससे न्याय की माँग की और अपने साथ चलने के लिए कहा। जहाँगीर को उसकी बात माननी पड़ी और इस प्रकार वह एक प्रकार से महाबतखाँ का बन्दी हो गया, यद्यपि महाबतखाँ का कहना था कि बादशाह को उसके सम्बन्धियों के कुप्रभाव से बचाने के लिए उसने यह कार्य किया था। जब नूरजहाँ को इस बात की सूचना मिली कि महाबतखाँ ने जहाँगीर को कैद कर लिया है तो उसने आसफखाँ को इसके लिए दोषी ठहराया। सर्वसम्मति से यह निश्चय किया गया कि नदी पार करके महाबतखाँ पर आक्रमण किया जाय। जहाँगीर ने नूरजहाँ को समाचार भेजा कि वह ऐसा कोई कार्य न करे जिससे साम्राज्य की प्रतिष्ठा को धक्का लगे। परन्तु तब भी नूरजहाँ ने अपनी सेना को नदी पार करने के आदेश दिये और स्वयं सेना का नेतृत्व किया। नूरजहाँ की सेना का कुछ ही भाग नदी पार कर सका और उसे भी राजपूतों ने मार कर भगा दिया। बेगम की दासी को तीर लगा तथा उसके हाथी पर हमला किया गया जिसके कारण वह भाग खड़ा हुआ। आसफखाँ ने भागकर अटक के किले में शरण ली। परन्तु नूरजहाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया और जहाँगीर के साथ रहने के लिए आ गयी। महाबतखाँ ने अटक को घेर कर आसफखाँ को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया। इस प्रकार बादशाह, बेगम और आसफखाँ आदि सभी महाबतखाँ के हाथ में आ गये और उसका उद्देश्य पूरा हो गया।

महाबतखाँ का मंशा सिर्फ इतना ही था और यह भी वह जोश में परिस्थितियोंवश कर गया था। आगे उसकी कोई योजना न थी। पूर्व-निश्चित कार्यक्रम के अनुसार शाही परिवार काबुल की तरफ चल दिया। साम्राज्य में यथावत् शान्ति रही। परन्तु महाबतखाँ सैनिक था, कूटनीतिज्ञ नहीं, जबकि नूरजहाँ ने आरम्भ से ही अपना जाल फैलाना आरम्भ कर दिया। इस कारण महाबतखाँ बहुत थोड़े समय इस स्थिति का उपयोग कर सका। काबुल में घोड़ों को घास चराने के स्थल पर राजपूतों और बादशाह के अहदी सैनिकों में झगड़ा हो गया और एक बड़ी संख्या में राजपूत सैनिक मारे गये। महाबतखाँ ने विद्रोह को तो दबा दिया परन्तु उसकी शक्ति दुर्बल हुई और उसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी। काबुल से वापस आते हुए रोहतासगढ़ के निकट महाबतखाँ को बताया गया कि जहाँगीर स्वयं अपनी सेना का निरीक्षण करेगा और उस अवसर पर महाबतखाँ अपनी सेना को दूर रखे। उस समय तक नूरजहाँ ने बादशाह के सैनिकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि कर ली थी। सेना का निरीक्षण करने के बहाने जहाँगीर ने सेना का स्वामित्व अपने हाथों में ले लिया । महाबतखाँ जिसने बादशाह की आज्ञा का पालन करते हुए अपनी सेना को दूर रखा था, नूरजहाँ की इस चालाकी को न समझ सका । सेना का स्वामित्व ग्रहण करते ही जहाँगीर ने महाबतखाँ को शाही शिविर छोड़ देने केआदेश दिये। उस समय बादशाह की सेना का मुकाबला करना शाही विद्रोह था जिसके लिए महाबतखाँ न तो तैयार था और न ही उसके पास शक्ति रह गयी थी। महाबतखाँ थट्टा की ओर भाग खड़ा हुआ। वह अपनी जीवन-रक्षा के हेतु आसफखाँ और दानियाल के पुत्रों को अपने साथ लेता गया। जैसे ही उसने अपने जीवन को सुरक्षित समझा, उसने उन सभी को छोड़ दिया। उस समय शाहजहाँ बादशाह की कठिनाई से लाभ उठाने के लिए थट्टा की तरफ आया किन्तु उसे सफलता न मिली और बीमारी के कारण वह पुनः दक्षिण वापस चला गया। वापस जाते हुए गुजरात में ही शाहजादा परवेज की मृत्यु (28 अक्टूबर, 1626 ई.) और महाबतखाँ के पतन की सूचना उसे मिल गयी थी। जहाँगीर ने शाहजहाँ को दबाने के लिए महाबतखाँ को नियुक्त किया परन्तु महाबतखाँ बादशाह का साथ देने के स्थान पर शाहजहाँ के पास चला गया जिसने उसका स्वागत किया।

इस प्रकार महाबतखाँ का अल्पकालीन प्रभुत्व समाप्त हुआ। देखा जाय तो महाबतखाँ ने यह कार्य क्षणिक उत्साह में किया था, उसकी पहले से निश्चित की गयी कोई योजना न थी, बादशाह और बेगम को कैद करने के पश्चात् भी वह उनका सम्मान करता रहा था और वह कभी बादशाह जहाँगीर को समाप्त करने या उसे भारत से बाहर निकालकर स्वयं अथवा किसी अन्य को गद्दी पर बैठाने के लिए तैयार न था। ऐसी स्थिति में वह कूटनीति के द्वारा ही बादशाह पर प्रभाव रख सकता था और वह योग्यता उसमें न थी। उसकी तुलना में नूरजहाँ अधिक चालाक थी और उसने अपनी चालाकी से जहाँगीर को मुक्त करा लिया।

[7]

जहाँगीर की मृत्यु

1620 ई. से जहाँगीर का स्वास्थ्य निरन्तर खराब होता जा रहा था। निरन्तर कश्मीर की यात्राएँ और वहाँ की अच्छी जलवायु भी उसके स्वास्थ्य को ठीक न कर सकी थी। मार्च 1627 ई. में जहाँगीर कश्मीर गया। उसका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। कश्मीर की जलवायु से भी उसके स्वास्थ्य में सुधार न हुआ और वह लौहार वापस चल दिया। मार्ग में 7 नवम्बर, 1627 ई. को भीमवार नामक स्थान पर जहाँगीर की मृत्यु हो गयी। लौहार के निकट एक बाग में उसे दफना दिया गया जहाँ बाद में नूरजहाँ ने एक सुन्दर स्मारक बनवाया।

[8]

जहाँगीर का चरित्र, व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

जहाँगीर के चरित्र के विषय में इतिहासकारों में विवाद है। यूरोपियन इतिहासकारों ने प्रायः उसे एक विलासी और असफल शासक कहा है, जबकि अनेक भारतीय इतिहासकारों ने उसे एक न्यायप्रिय और प्रजापालक शासक बताया है। डॉ. स्मिथ ने जहाँगीर के चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा है : "वह कोमलता और निष्ठुरता, न्याय और बुद्धि की चंचलता, सुसभ्यता और पशुता, बुद्धिमत्ता और बचपने का अजीब मिश्रण था।" सर हेनरी इलियट ने लिखा है : "उसके बनाये हुए कानून न नवीन थे और न व्यवहार में लाये गये थे।" लेनपूल ने उसके आरम्भिक दोषों को बताते हुए बाद में उसे उन दोषों से पर्याप्त मात्रा में मुक्त बताया है और ऐल्फिन्सटन ने भी उदारतापूर्ण बादशाह की दृष्टि से उसके द्वारा अपने प्रारम्भिक काल में बनाये गये कानूनों की प्रशंसा की है। **इससे स्पष्ट होता है कि यूरोपियन इतिहासकारों ने मुख्यतया उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं की ओर दृष्टिपात किया है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसके व्यक्तिगत चरित्र के दोषों का प्रभाव शासन पर पड़ा था ? इस दृष्टिकोण से देखने पर ही हम जहाँगीर का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।**

जहाँगीर एक अच्छा पुत्र, अच्छा पिता, अच्छा सम्बन्धी और अच्छा मित्र था। वह सभी का आदर करता था और सभी से उसे प्रेम था। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया था परन्तु यह विद्रोह उसकी महत्वाकांक्षा और सिंहासन को तुरन्त प्राप्त करने की लालसा की अपेक्षा अपने लिए व्यक्तिगत रूप से स्वतन्त्र व्यवहार करने की इच्छा से था। इसके अतिरिक्त, जहाँगीर के चरित्र की यह एक दुर्बलता थी कि वह अपने निकट के आत्मीय-जनों से प्रभावित हो जाता था। इस विद्रोह के लिए भी उसके सहयोगियों का कुप्रभाव अधिक उत्तरदायी था। इसी प्रकार बाद में नूरजहाँ को शासन-सत्ता सौंप देने में भी उसके चरित्र की यह दुर्बलता ही प्रमुख थी। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि उसने अपने पिता के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह नहीं किया, बाद में उससे समझौता कर लिया और पिता के द्वारा की गयी भर्त्सना को भी सहर्ष स्वीकार किया। इसी प्रकार, **नूरजहाँ के प्रभाव से उसने**

शासन के ढाँचे में कोई परिवर्तन नहीं किया था और न अयोग्य अधिकारियों या अन्य स्त्रियों के प्रभाव को शासन में आने दिया था। नूरजहाँ से उसका प्रेम व्यक्तिगत था और सिर्फ नूरजहाँ ही उसके प्रेम और सत्ता की अधिकारिणी थी। बाद में अपने पिता के बारे में जहाँगीर ने सर्वदा सम्मान प्रदर्शित किया और वह उसके मकबरे तक पैदल जाया करता था। इसी प्रकार, जहाँगीर ने अपनी सभी पत्नियों के साथ सम्मानपूर्ण व्यवहार किया। अपनी पत्नी मानबाई की मृत्यु पर उसने कई दिनों तक अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। अपने पुत्र ख़ुसरो को विद्रोह करने के बावजूद भी उसने पहली बार माफ कर दिया और दूसरी बार षड्यन्त्र करने पर उसे अन्धा मात्र किया था। उसके पश्चात् उसने उसके नेत्रों का इलाज भी कराया। उसने बाध्य होकर ही शाहजहाँ को खुसरो को सौंपा था और उसकी मृत्यु पर उसे दुःख हुआ था। अपने अन्य पुत्रों परवेज, खुर्रम और शहरयार के प्रति उसका दृष्टिकोण उदार था और समय-समय पर उनके कार्यों के अनुसार उसने उन्हें पद और सम्मान प्रदान किये। अपने मित्रों और वफादार व्यक्तियों को भी उसने राज्य में प्रतिष्ठित पद प्रदान किये। **व्यक्तिगत दृष्टि से जहाँगीर का एक दोष अत्यधिक शराब पीना था। स्त्रियों से उसके सम्बन्ध तत्कालीन शासकों की भाँति ही थे बल्कि देखा जाय तो उसमें अपनी पत्नियों के प्रति प्रेम की भावना उनसे कहीं अधिक थी। ऐसी स्थिति में जहाँगीर को विलासप्रिय कह देना उसके साथ अन्याय करना होगा।** यह पृथक बात है कि वह आरामपसन्द था और अन्य मुगल शासकों की भाँति युद्ध-स्थल पर जाना और सेनापतित्व करना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात थी।

जहाँगीर सुशिक्षित एवं सुसभ्य था। फारसी और तुर्की पर उसका आधिपत्य था और हिन्दी, अरबी और अन्य भाषाओं को भी वह जानता था। उसकी जीवन-गाथा 'तुजुके-जहाँगीरी' आरम्भ के 7 वर्षों में स्वयं उसके द्वारा लिखी गयी थी और उसके पश्चात् उसने अन्य व्यक्तियों से स्वयं लिखायी थी। यद्यपि उसे 'तुंजुके-बाबरी' के समकक्ष स्थान तो नहीं दिया जा सकता परन्तु उससे जहाँगीर का फारसी भाषा का ज्ञान, उसकी लेखन-शैली और विभिन्न विषयों के बारे में उसके विस्तृत ज्ञान का पता अवश्य लगता है। जहाँगीर ने विभिन्न पक्षियों, पशुओं और वनस्पति का (मुख्यतया कश्मीर की) जो वर्णन किया है, वह सुन्दर और ज्ञानवर्धक है। प्राकृतिक सौन्दर्य का उसका वर्णन अद्वितीय है। इसके अतिरिक्त, जहाँगीर विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण प्रदान करता था। वह प्रत्येक शुक्रवार की शाम साहित्यकारों एवं विद्वानों के साथ व्यतीत करता था। उसके समय के विद्वानों में नियामतुल्ला, नजीबखाँ, अब्दुल्ला हक देहलवी आदि प्रमुख थे। उसके समय में अनेक व्यक्तियों ने कला और साहित्य के क्षेत्र में प्रगति की। जहाँगीर ने सबसे अधिक रुचि चित्रकला में ली जो उसके समय में श्रेष्ठता की स्थिति में पहुँच गयी। स्वयं जहाँगीर को उसका बहुत अच्छा ज्ञान था और उसका दावा था कि यदि उसके सामने कोई भी चित्र प्रस्तुत किया जाय तो वह बता देगा कि उसे किस कलाकार ने बनाया है और यदि एक चित्र को कई कलाकारों ने मिलकर बनाया हो तो वह बता देगा कि उस चित्र का कौन-सा अंग किस कलाकार ने बनाया है। स्थापत्य-कला का भी जहाँगीर को शौक था। आगरा के निकट सिंकन्दरा में उसके पिता का मकबरा उसकी देखरेख में ही बनवाया गया जो अकबर के उदार एंव स्पष्ट चरित्र का प्रतीक है । उसके समय में बनवायी गयी लौहार की मस्जिद की तुलना शाहजहाँ द्वारा बनवायी गयी दिल्ली की जामा मस्जिद से की जा सकती है और नूरजहाँ द्वारा आगरा में बनवाया गया उसके पिता एत्मातुद्दौला का मकबरा पच्चीकारी और सफेद संगमरमर के पत्थर के प्रयोग के कारण अद्वितीय है। जहाँगीर ने अनेक स्थानों, मुख्यतया

लौहार और कश्मीर में सुन्दर बाग लगवाये। उसने अपने समय के सिक्कों को कलात्मक शक्ल प्रदान की। उसे अच्छी वेशभूषा का शौक था और उसने उसमें सुधार किये।

जहाँगीर ने शस्त्र-विद्या प्राप्त की थी और वह घुड़सवारी एवं शस्त्र चलाने में कुशल था। परन्तु जहाँगीर में एक कट्टर सैनिक की भाँति कष्ट उठाने की क्षमता न थी। उसी प्रकार वह एक अच्छा सेनापति भी न था। अपने पिता के समय में उसने किसी भी युद्ध-अभियान में रुचि नहीं ली। उसके शासन-काल की विजयों का श्रेय उसके पुत्र शाहजहाँ और अन्य योग्य सरदारों को था। **जहाँगीर ने सेना की सुव्यवस्था और रण-कुशलता को बढ़ाने के लिए कोई प्रयत्न किया हो, ऐसा भी कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता।**

धार्मिक नीति की दृष्टि से जहाँगीर का स्थान अपने पिता अकबर और अपने पुत्र शाहजहाँ के मध्य में आता है। जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था और, साधारणतया, अपने धर्म की मुख्य बातों का पालन करता था। परन्तु धर्म में उसे विशेष रुचि न थी। वह इस्लाम के सिद्धान्तों का भी बहुत कट्टरता से पालन नहीं करता था। वह सभी धर्मों के मानने वालों से मिलता था जिससे उसका दृष्टिकोण उदार बन गया था। ईश्वर एक है, इसमें उसका विश्वास था। इस कारण, **जहाँगीर अपने व्यक्तिगत व्यवहार और नीति की दृष्टि से धार्मिक मामलों में उदार रहा।** हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों के मानने वालों को राज्य की ओर से समान सुविधाएँ प्राप्त थीं और शासन में राज्य की ओर से धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण रखा गया जो अकबर के समय में था। हिन्दुओं को राज्य में सम्मानित पद दिये गये थे और उन पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया गया था। जहाँगीर ईसाइयों के घनिष्ठ सम्पर्क में आया था और उसने अपने पौत्रों की शिक्षा का प्रबन्ध उनकी देखरेख में किया था। **परन्तु जहाँगीर के समय में कुछ घटनाएँ ऐसी अवश्य हुईं जो यह स्पष्ट करती हैं कि कभी-कभी जहाँगीर ने इस्लाम धर्म का पक्ष लिया था।** रजौरी के हिन्दुओं को उसने इसलिए दण्ड दिया क्योंकि वह मुस्लिम लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे, काँगड़ा के किले को जीतकर वहाँ उसने एक गाय को कटवाकर जश्न मनाया था, अजमेर में वाराह के मन्दिर की मूर्तियों को उसने तालाब में फिंकवा दिया था और पुर्तगालियों से युद्ध के अवसर पर राज्य के सभी गिरजे बन्द कर दिये गये थे। इसी प्रकार, गुरु अर्जुन को दण्ड देने का एक कारण यह भी था कि उसे उनके विचारों से चिढ़ थी। एक बार उसने जैनियों से अप्रसन्न होकर उन्हें गुजरात से बाहर चले जाने के आदेश दिये थे। परन्तु ये सभी घटनाएँ एक विशेष अवसर अथवा स्थिति के कारण थीं। गुरु अर्जुन को दण्ड देने का कारण राजनीतिक भी था। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। इसी प्रकार जैनियों से असन्तुष्ट होने का कारण भी आंशिक रूप से राजनीतिक था। इसके अतिरिक्त, जब हम यह देखते हैं कि असन्तुष्ट होने पर उसने शेख रहीम, काजी नूरुल्ला और शेख अहमद सरहिन्दी जैसे मुस्लिम धर्म-प्रचारकों को भी दण्ड दिया था तब यह स्पष्ट हो जाता है कि **उसका हिन्दू, जैन, सिख अथवा ईसाइयों के साथ कठोरता करने का कारण राजनीतिक होने के साथ-साथ परिस्थितियोंवश था, न कि धार्मिक कट्टरता।** साधारणतया, जहाँगीर सभी धर्मों के प्रति उदार रहा और सभी से उसका सम्पर्क रहा। मुख्यतया हिन्दुओं से उसकेघनिष्ठ सम्बन्ध थे और वह उनके सभी त्यौहारों एवं उत्सवों में भाग लेता था। इस प्रकार, **अपने पिता के समान न होते हुए भी जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और उसने अपने पिता के समय की अधिकांश परम्पराओं को पूर्ववत् स्थापित रखा। परन्तु उसके समय में अकबर की नीति में थोड़ा परिवर्तन अवश्य हो गया।**

जहाँगीर एक सफल और प्रजापालक शासक माना गया है। उसकी सफलता इसी में थी कि उसने अकबर के समय में स्थापित की गयी शासन-व्यवस्था को यथावत् रखा। अकबर द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था पूर्णतः सफल रही थी। जहाँगीर को उसमें परिवर्तन करने की आवश्यकता न थी। इसके अतिरिक्त समय और परिस्थितियों को समझने की क्षमता जहाँगीर में थी। 22 वर्ष का उसका शासन-काल असफल नहीं माना जा सकता। उसके समय में बादशाह और साम्राज्य की प्रतिष्ठा बनी रही। एक शासक की दृष्टि से जहाँगीर अपनी प्रजा के हित का पूर्ण ध्यान रखता था और उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहता था। उसके समय में किसान सम्पन्न थे, उन पर कर का कोई अतिरिक्त भार न था और यदि उनकी हानि होती थी तो राज्य उसकी पूर्ति कर देता था। जहाँगीर के समय में जुआ, शराब पीना आदि को बन्द करने के प्रयत्न किये गये थे। परन्तु **उसका सबसे बड़ा गुण उसकी न्यायप्रियता था।** मध्य-युग में न्याय बादशाह का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व माना जाता था। जहाँगीर ने इसकी ओर पूरा ध्यान दिया था। मृत्यु-दण्ड सिर्फ बादशाह ही देता था और उस पर भी यह आदेश थे कि शाम होने से पहले उस दण्ड को कार्यरूप में परिणित न किया जाय। बादशाह जहाँगीर न्यायप्रिय था और अपने इस उत्तरदायित्व को ईश्वर के प्रति अपना कर्तव्य मानता था।

इस प्रकार, जहाँगीर को एक अच्छा शासक माना गया है। डॉ. ईश्वरीप्रसाद ने उसके बारे में लिखा है : "मुगल इतिहास में जहाँगीर का व्यक्तित्व एक आकर्षक व्यक्तित्व है। साधारण दृष्टि से आँका गया यह विचार कि वह विलासप्रिय और हृदयहीन अत्याचारी, था, न्यायपूर्ण नहीं है। सभी विवरण इससे सहमत हैं कि वह बुद्धिमान, तीक्ष्ण बुद्धि वाला, और राज्य की जटिलतम कठिनाइयों को सरलता से समझने वाला था ।......उसके चरित्र में बहुत कुछ निन्दा करने के योग्य है परन्तु उसमें बहुत अधिक ऐसा है जो उसे भारतीय इतिहास के रोचक व्यक्तियों मे स्थान प्रदान करता है।" डॉ. बेनीप्रसाद ने जहाँगीर के प्रति और भी अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है। वह लिखते हैं : "सर्वांगिक रूप से जहाँगीर का शासन-काल साम्राज्य के लिए शान्ति और समृद्धि का रहा। उसकी संरक्षता में उद्योग और व्यापार की उन्नति हुई, स्थापत्य-कला ने महत्वपूर्ण सफलता पायी, चित्रकला अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गयी, साहित्य की इतनी प्रगति हुई जितनी पहले कभी नहीं थी और तुलसीदास ने 'रामायण' की रचना की जो उत्तर-भारत के लाखों व्यक्तियों के लिए होमर, शेक्सपियर और मिल्टन की रचनाओं के समान है। फारसी और प्रादेशिक भाषाओं के अनेक कवियों की रचनाओं ने मिलकर इस युग को मध्ययुगीन भारतीय साहित्य का 'ऑगस्टन-युग' बना दिया। जहाँगीर के समय का राजनीतिक इतिहास रोचक है परन्तु उसका मुख्य आकर्षण उसकी सांस्कृतिक प्रगति है।"

जहाँगीर मुगल बादशाहों में महान् न था। उसे हम एक योग्य सेनापति, कुशल राजनीतिज्ञ और मेधावी शासन-प्रबन्धक स्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु यह भी सत्य है कि वह एक सफल और उदार शासक था जिसने अपने पिता से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित और सम्पन्न रखा तथा जिसने अपनी प्रजा की भलाई का सर्वदा ध्यान रखा। अकबर महान् की सफलताओं और शाहजहाँ की चमक-दमक के बीच में घिरकर जहाँगीर के व्यक्तित्व और उसके युग को समझने का प्रयत्न करना उचित नहीं होगा। अपने आप में जहाँगीर व्यक्तिगत दृष्टि से कुछ मामलों में दुर्बल होते हुए भी सफल रहा था। कन्धार की हानि मुख्यतया शाहजहाँ के विद्रोह के कारण हुई थी, शाहजहाँ का विद्रोह उस शाहजादे की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं के कारण भी था और महाबतखाँ का विद्रोह शाहजहाँ के विद्रोह का ही दुष्परिणाम था। बाकी अन्य सभी प्रकार से जहाँगीर का समय शान्ति, प्रगति और समृद्धि का था।

6

शाहजहाँ (1627-1658 ई.)

प्रायः तीस वर्ष का शाहजहाँ का शासन-काल मुगल-साम्राज्य के वैभव और शक्ति की पराकाष्ठा का था जिसके कारण उसे मुगल-काल का स्वर्ण-काल कहा गया है। अकबर के समय में स्थापित हुई मुगलों की श्रेष्ठता शाहजहाँ के समय में न केवल स्थापित रही बल्कि विकसित भी हुई। निस्सन्देह, औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य का विस्तार किया परन्तु वह मुगलों की शक्ति को संचित और संगठित नहीं रख सका। उसके समय के विद्रोहों ने मुगल-साम्राज्य की एकता और शक्ति में छिद्र कर दिये। शाहजहाँ के समय तक ऐसा सम्भव नहीं हो सका। शाहजहाँ के समय के सभी विद्रोह सरलता से दबा दिये गये और मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ शान्त और सुरक्षित रहीं। जब तक शाहजहाँ बीमार नहीं हुआ और उसके पुत्रों में राजसिंहासन के लिए युद्ध नहीं हुआ तब तक मुगल-साम्राज्य की एकता दृढ़ रही और शाहजहाँ की शक्ति का मुकाबला सरलता से भारत में कोई नहीं कर सका। शान्ति, सुरक्षा और सम्पन्नता की दृष्टि से भारत में उसके समय में कोई दुर्बलता न थी।

परन्तु दूसरी तरफ शाहजहाँ का समय दुर्बलताओं के आरम्भ होने का समय भी था चाहे वे प्रकट रूप से उसके समय में नहीं आयी। रक्तपात के द्वारा सिंहासन पर अधिकार, कन्धार और मध्य-एशिया में मुगलों की सैनिक असफलता, युद्धों, शान-शौकत और इमारतों पर किया गया अपव्यय तथा धार्मिक असहिष्णुता का आरम्भ कुछ ऐसी बातें थीं जिन्होंने भविष्य को प्रभावित किया और जो प्रभाव उनका पड़ा वह मुगल-साम्राज्य के लिए हितकर न था।

5 जनवरी, 1592 ई. को लौहार में शाहजादा खुर्रम का जन्म हुआ था। उसकी माता मारवाड़ के शासक उदयसिंह की पुत्री जगतगोसाईं (जोधाबाई और भानमती के नामों से भी पुकारा गया है) थी। खुर्रम अपने महापिता अकबर का लाड़ला था। खुसरो के विद्रोह के अवसर पर खुर्रम को राजधानी की देखभाल के लिए नियुक्त किया गया था। 1606 ई. में उसे 8,000 जात और 5,000 सवार का पद दिया गया। 1612 ई. में अर्जुमन्दबानू बेगम से उसका विवाह हुआ। खुसरो के विद्रोह के पश्चात् से खुर्रम को गद्दी का उत्तराधिकारी समझा जाने लगा था। उसने अपनी योग्यता से उसे सिद्ध भी किया। मेवाड़, काँगड़ा और दक्षिण के अभियानों में जो सफलता उसने प्राप्त की उससे उसकी योग्यता स्पष्ट हुई। वह नूरजहाँ के गुट का सदस्य भी रहा और 1622 ई. तक निरन्तर राज्य में सम्मान और पद प्राप्त करता रहा। उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि से विभूषित किया गया और बड़ी से बड़ी जागीर उसे प्राप्त हुई। परन्तु उसके पश्चात् उसकी कठिनाइयाँ आरम्भ हो गयीं। नूरजहाँ ने शाहजहाँ के पक्ष को

छोड़कर शहरयार का पक्ष लेना आरम्भ कर दिया। कन्धार की रक्षा के लिए मुगल सेना को भेजने के प्रश्न पर शाहजहाँ जहाँगीर की नजरों से गिर गया। 1623 ई. में उसने विद्रोह किया परन्तु वह असफल हुआ और 1626 ई. में उसे बादशाह की शर्तों को मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1627 ई. में जहाँगीर की मृत्यु के अवसर पर शाहजहाँ दक्षिण-भारत में था। उस समय उसकी सहायता उसके श्वसुर और राज्य के 'वकील' आसफखाँ ने की। राज्य का दीवान ख्वाजा अबुल हसन भी उसके पक्ष में था। इन व्यक्तियों ने शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह, शुजा और औरंगजेब को नूरजहाँ के आधिपत्य से मुक्त करा लिया और खुसरो के पुत्र दाबरबक्स को बादशाह घोषित कर दिया जिससे सिंहासन खाली न रहे। आसफखाँ ने शाहजहाँ को शीघ्र राजधानी आने की सूचना भेज दी। नूरजहाँ उस अवसर पर कुछ न कर सकी। वह आसफखाँ के विरुद्ध कोई कदम न उठा सकी। उसी अवसर पर शहरयार ने अपने को लाहौर में बादशाह घोषित कर दिया और लाहौर के खजाने को सरदारों एवं सैनिकों में बाँटकर अपने पक्ष को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह अयोग्य था। आसफखाँ ने उस पर आक्रमण किया, उसे परास्त करके बन्दी बना लिया तथा उसकी आँखें फोड़ दी गयीं। शाहजहाँ शीघ्रता से आगरा की ओर बढ़ रहा था और जब उसे इस सफलता की सूचना मिली तब उसने शहरयार, दाबरबक्स और शाही परिवार के सभी जीवित राजकुमारों को समाप्त कर देने के आदेश आसफखाँ को दिये । आसफखाँ ने ऐसा ही किया और शाहजहाँ के आगरा पहुँचने से पहले ही राजगद्दी के सभी उत्तराधिकारी कत्ल कर दिये गये। इस प्रकार, अपने सम्बन्धी राजकुमारों का वध करके 24 फरवरी, 1628 ई. को शाहजहाँ 'अबुल मुजफ्फर शहाबुद्दीन मुहम्मदसाहिब किरन-ए-सानी' की उपाधि लेकर गद्दी पर बैठा। आगरा में उसका राज्याभिषेक हुआ। आसफखाँ को 7,000 जात और 7,000 सवार तथा राज्य के वजीर का पद दिया गया। महाबतखाँ को 7,000 जात और 7,000 सवार का पद तथा खानखाना की उपाधि दी गयी। बेगम नूरजहाँ को 2 लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दी गयी। नूरजहाँ ने अपने जीवन के अन्तिम दिन शान्तिपूर्वक लाहौर व्यतीत किये और वहीं 1645 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

[1]

शाहजहाँ के समय के विद्रोह

शाहजहाँ के समय में पुर्तगालियों और सिखों से हुए साधारण संघर्षों के अतिरिक्त दो बड़े विद्रोह हुए। उनसे से एक बुन्देलखण्ड के शासक जूझरसिंह का था और दूसरा दक्षिण के सूबेदार खानजहाँ लोदी का।

1. बुन्देलखण्ड का विद्रोह (1628-35 ई.)

वीरसिंह बुन्देला जहाँगीर का कृपापात्र था। अकबर के समय में इसी ने शाहजादा सलीम (जहाँगीर) के इशारे पर अबुल फजल का कत्ल किया था। जहाँगीर ने अपने समय में इसे उच्च पद और सम्मान दिया था। वीरसिंह की मृत्यु जहाँगीर की मृत्यु से तीन या चार माह पूर्व हो गयी.और उसके पुत्र जूझरसिंह को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया गया। जूझरसिंह दरबार में था और उसका पुत्र विक्रमजीतसिंह शासन की देखभाल करता था। उसने अपनी प्रजा पर कठोरता की और बहुत धन एकत्र कर लिया। शाहजहाँ ने बादशाह बनने पर जूझरसिंह द्वारा एकत्र किये गये करों की जाँच करने की आज्ञा दी जिससे शंकित होकर जूझरसिंह दरबार छोड़कर बुन्देलखण्ड भाग गया।

1628 ई. में जूझरसिंह पर आक्रमण किया गया। वह शाहजहाँ के समय का पहला सैनिक-अभियान था। शाहजहाँ बुन्देलखण्ड की कठिन भौगोलिक परिस्थितियों और बुन्देला-शौर्य से परिचित था। इस कारण उसने हर तरफ से बुन्देलखण्ड पर आक्रमण करने के आदेश दिये। स्वयं शाहजहाँ भी शिकार के बहाने ग्वालियर पहुँच गया। जूझरसिंह ने शीघ्र अपनी स्थिति की दुर्बलता को समझ लिया। 1629 ई. के आरम्भ में उसने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने एक हजार अशर्फियाँ, पन्द्रह लाख रुपया, चालीस हाथी और अपनी जागीर का कुछ भाग शाहजहाँ को दिया। शाहजहाँ ने उसे क्षमा कर दिया तथा उसे दक्षिण-भारत के युद्ध के लिए नियुक्त कर दिया।

जूझरसिंह ने पाँच वर्ष तक वफादारी से मुगल बादशाह की सेवा की और दक्षिण के युद्धों में महत्वपूर्ण भाग लिया। 1634 ई. में वह अपनी राजधानी ओरछा वापस चला गया। 1635 ई. में उसने गोंडवाना पर आक्रमण किया, उसकी राजधानी चौरागढ़ को जीत लिया और राजा प्रेमनारायण को मार दिया। एक अधीनस्थ राजा को दूसरे अधीनस्थ राजा पर बिना बादशाह की आज्ञा के आक्रमण करना मुगलों की नीति के अनुसार अपराध था। प्रेमनारायण के पुत्र ने शाहजहाँ से इसके विरुद्ध रक्षा की प्रार्थना की। शाहजहाँ ने जूझरसिंह से माँग की कि वह गोंडवाना और दस लाख रुपया बादशाह को दे अथवा बुन्देलखण्ड की अपनी जागीर में से गोंडवाना के बराबर की जागीर बादशाह को दे। जूझरसिंह ने इन शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया। शाहजहाँ ने औरंगजेब को एक बड़ी सेना के साथ आक्रमण के लिए भेजा। मुगलों ने ओरछा पर अधिकार कर लिया और भरतसिंह के पुत्र देवीसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। जूझरसिंह और उसका पुत्र विक्रमजीत जबकि वे जंगल में आराम कर रहे थे, गोंडों के द्वारा मार दिये गये तथा उनके सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिये गये। जूझरसिंह के दो पुत्रों एवं एक पोते को मुसलमान बना लिया गया, एक पुत्र और वृद्ध मन्त्री का वध कर दिया गया क्योंकि उन्होंने इस्लाम को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तथा बुन्देला स्त्रियों को महल या सरदारों की सेवा में दे दिया गया। इसके अतिरिक्त, ओरछा के मन्दिर बर्बाद कर दिये गये अथवा मस्जिदों में बदल दिये गये। शाहजहाँ की विजय पूर्ण थी और उसे बहुत सी भूमि और धन प्राप्त हुआ था। इस प्रकार 1635 ई. में यह विद्रोह समाप्त हुआ।

परन्तु बुन्देलों ने देशद्रोही देवीसिंह को अपना राजा मानने से इन्कार कर दिया। महोबा के राजा चम्पतराय और उसके पश्चात् उसके पुत्र छत्रसाल ने मुगलों का निरन्तर विरोध किया और बुन्देलों के स्वतन्त्रता-संग्राम को जारी रखा।

2. खानजहाँ लोदी का विद्रोह (1628-31 ई.)

पीरखाँ उर्फ खानजहाँ लोदी एक योग्य और सम्मानित अफगान सरदार था। जहाँगीर के अन्तिम दिनों में वह दक्षिण की सूबेदारी के महत्वपूर्ण पद पर था। शाहजहाँ के विद्रोह के अवसर पर वह उदासीन रहा। शाहजहाँ के सहायता माँगने पर उसने उसे कोई सहायता न दी। उसी अवसर पर उसने दक्षिण के राज्यों से समझौता करने का प्रयत्न किया और तीन लाख रुपया लेकर बालाघाट अहमदनगर को सौंप दिया। सम्भवतया, अपनी अफगान प्रवृत्ति के अनुकूल वह जहाँगीर की मृत्यु के अवसर की अव्यवस्थित स्थिति से लाभ उठाकर दक्षिण में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित करने के लिए लालायित हो गया था। शाहजहाँ ने महाबतखाँ को खानखाना का पद दे दिया था। इससे भी वह असन्तुष्ट था क्योंकि जहाँगीर के समय में यह पद उसे दिया गया था। परन्तु जब शाहजहाँ को आगरा में बादशाह घोषित कर दिया गया तो उसने तुरन्त शाहजहाँ को बादशाह स्वीकार कर लिया। शाहजहाँ ने उसे

बालाघाट को पुनः प्राप्त करने के आदेश दिये। उसी वर्ष जूझरसिंह के विद्रोह को दबाने के लिए भी उसकी सहायता ली गयी। परन्तु खानजहाँ बालाघाट को जीतने में असफल रहा। शाहजहाँ ने दक्षिण की सूबेदारी महाबतखाँ को दी और मालवा खानजहाँ को दिया।

बुन्देला-विद्रोह के शान्त हो जाने पर (1629 ई.) खानजहाँ को दरबार में आने के आदेश दिये गये। यहाँ उसे वह सम्मान प्राप्त नहीं हुआ जो जहाँगीर के समय में प्राप्त होता था। शाहजहाँ के आश्वासन के बाद भी खानजहाँ को अपने जीवन का खतरा रहा और इस भय से आशंकित होकर अक्टूबर 1629 ई. में वह बिना बादशाह की आज्ञा के दक्षिण की ओर भाग खड़ा हुआ। शाही सेना ने उसका पीछा किया। चम्बल नदी के किनारे पर एक युद्ध हुआ और खानजहाँ को अपने कुछेक सम्बन्धियों एवं स्त्रियों को छोड़कर भागना पड़ा। खानजहाँ अहमदनगर पहुँच गया। मुर्तजा निजामशाह ने उसका स्वागत किया, उसे 'बीर' की जागीर दी और मुगलों के आधिपत्य में चली गयी अहमदनगर की भूमि को वापस लेने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा। खानजहाँ के दक्षिण में पहुँच जाने से दक्षिण की समस्या जटिल हो गयी। अहमदनगर ने मुगलों से कुछ भू-प्रदेश छीन लिये। दक्षिण की स्थिति ऐसी हो गयी कि स्वयं शाहजहाँ को 1629 ई. में दक्षिण-भारत जाना पड़ा। शाहजहाँ ने सर्वप्रथम खानजहाँ को दबाने की योजना बनायी और उस पर तीन तरफ से आक्रमण किया। खानजहाँ को स्थान-स्थान पर भागना पड़ा। वह भागकर दौलताबाद की ओर गया और बीजापुर से सहायता लेने का प्रयत्न किया। परन्तु वह नहीं मिल सकी। मुगलों के दबाव के कारण निजामशाह भी तटस्थ हो गया और खानजहाँ के पास दक्षिण को छोड़कर भागने के अलावा कोई अन्य मार्ग न रहा। उत्तर-पश्चिम में उसे अफगानों से सहायता मिलने की आशा थी। खानजहाँ ने नर्वदा नदी को पार किया और मालवा होकर उत्तर की ओर जाने का प्रयत्न किया। मार्ग में जूझरसिंह के पुत्र विक्रमजीत ने उस पर आक्रमण किया और खानजहाँ के अधिकांश साथियों को मार दिया। परन्तु खानजहाँ यहाँ से भी बच निकला। तब मुजफ्फरखाँ सैयद ने उसका पीछा किया। मार्ग में एक-एक करके उसके सभी साथी और पुत्र मारे गये, कालिंजर के किलेदार ने उसके हाथी छीन लिये और अन्त में बाँदा जिले में सिंहोदा नामक स्थान पर खानजहाँ ने अन्तिम युद्ध किया और माधोसिंह के हाथों मारा गया। उसका सिर काटकर शाहजहाँ के पास भेज दिया गया। इस प्रकार 1631 ई. में खानजहाँ का विद्रोह समाप्त हुआ।

3. पुर्तगाली

बंगाल में पुर्तगाली पर्याप्त समय पहले से व्यापार करते थे। मुगल बादशाह की तरफ से उनको नमक के व्यापार का एकाधिपत्य दिया हुआ था। परन्तु धीरे-धीरे पुर्तगालियों का व्यवहार उद्दण्ड हो गया। उन्होंने भारतीयों को जबरदस्ती ईसाई बनाना आरम्भ किया और समय-समय पर शाही भूमि और बाजारों में लूटमार करनी आरम्भ कर दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने मुगलों के विरुद्ध अराकान के राजा को सहायता दी। अतएव धार्मिक और राजनीतिक कारणों के साथ-साथ स्थानीय उपद्रवों की वजह से शाहजहाँ ने 1632 ई. में उनको समाप्त करने के आदेश दे दिये। 3-1/2 महीने के घेरे के पश्चात् हुगली पर अधिकार कर लिया गया। हजारों ईसाई मारे गये और सैकड़ों बन्दी बना लिये गये। उनमें से अनेक ने इस्लाम धर्म को स्वीकार कर लिया और उनकी जवान स्त्रियों को हरम में ले लिया गया।

4. सिख

शाहजहाँ के आरम्भ-काल में 1628 ई. में एक साधारण घटना से सिखों और शाहजहाँ में शत्रु-भाव उत्पन्न हो गया। अमृतसर के निकट शाहजहाँ शिकार करने गया हुआ था। उसका

एक प्रिय बाज उड़कर गुरु के खेमे में चला गया। सिखों ने उसे पकड़ लिया तथा वापस लौटाने से इन्कार कर दिया। मुगल सैनिकों ने कई बार सिखों पर आक्रमण किया परन्तु वे असफल रहे। गुरु हरगोविन्द के कुछ मित्र बादशाह के दरबार में भी थे। उन्होंने बीच में पड़कर इस झगड़े को समाप्त कर दिया।

गुरु हरगोविन्द ने व्यास नदी के तट पर श्री गोविन्दपुर नामक एक शहर बसाना आरम्भ किया था। गुरु के दुश्मनों ने जालन्धर के फौजदार अब्दुल्लाखाँ को गुरु पर आक्रमण करने के लिए भड़काया। सम्भवतया, इस नवीन नगर का निर्माण मुगलों के हित में भी न था। गुरु को आज्ञा दी गयी कि वह नगर-निर्माण के कार्य को बन्द कर दें। उनके इन्कार करने पर उन पर आक्रमण किया गया। परन्तु इस बार भी गुरु ने फौजदार की सेना को परास्त कर दिया।

गुरु से मुगलों का तीसरा झगड़ा इस कारण हुआ कि बीधीचन्द्र नामक एक विख्यात डकैत ने, जो गुरु का शिष्य था, शाही घुड़साल से दो बहुत अच्छे घोड़े चुराकर गुरु को भेंट किये और गुरु ने उन्हें स्वीकार कर लिया। एक शक्तिशाली मुगल सेना गुरु के विरुद्ध भेजी गयी परन्तु गुरु ने उसे परास्त कर दिया (1613 ई.)। एक और बड़ी सेना को गुरु ने कर्तारपुर नामक स्थान पर परास्त किया। इसके उपरान्त मुगलों और सिखों का संघर्ष चलता रहा। गुरु ने यह अनुभव करके कि मुगल-सत्ता से निरन्तर संघर्ष करने में नवीन सिख-सम्प्रदाय के समाप्त हो जाने का भय है, पंजाब छोड़ दिया और कश्मीर की पहाड़ियों में कीरतपुर नामक स्थान पर रहना आरम्भ कर दिया। वहीं 1645 ई. में उनकी मृत्यु हुई। अपने मरने से पहले उन्होंने हरराय को गुरु की गद्दी सौंप दी। इस प्रकार शाहजहाँ के समय में सिखों के छठे गुरु हरगोविन्द से मुगलों का संघर्ष रहा।

[2]
साम्राज्य-विस्तार

1. दक्षिण-भारत

अकबर और जहाँगीर के समय में दक्षिण को जीतने के प्रयत्न किये गये थे। मुगलों की साम्राज्यवादी नीति का वह एक भाग था। शाहजहाँ ने भी इस कार्य को करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त दक्षिण-भारत के राज्यों में मुगलों के विद्रोहियों को शरण प्राप्त होती थी। शाहजहाँ इस स्थिति को समाप्त करना चाहता था।

(i) अहमदनगर— शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने से पहले खानजहाँ ने बालाघाट का प्रदेश अहमदनगर को सौंप दिया था। बाद में खानजहाँ ने विद्रोह करके अहमदनगर में शरण प्राप्त की थी। उसी अवसर पर 1629 ई. में एक शक्तिशाली सेना को दक्षिण भेजा गया और स्वयं शाहजहाँ बुरहानपुर पहुँच गया। मुगलों ने आंशिक सफलता प्राप्त की। उसी अवसर पर निजामशाह ने मलिक अम्बर के अयोग्य पुत्र फतहखाँ को राज्य का वजीर बना दिया। फतहखाँ दुर्बल बुद्धि का स्वार्थी व्यक्ति था। कभी उसने मुगलों से बात की और कभी बीजापुर तथा गोलकुण्डा से मित्रता करने का प्रयत्न किया। उसने सुल्तान मुर्तजा निजामशाह द्वितीय को कैद करके मार डाला तथा 10 वर्ष के एक छोटे बालक हुसैन को निजाम बना दिया। शाहजहाँ फतहखाँ पर विश्वास नहीं करता था। उसने मुगल सेना को दौलताबाद पर आक्रमण करने के आदेश दिये। इससे डरकर फतहखाँ ने शाहजहाँ को बहुमूल्य उपहार भेजे तथा मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। शाहजहाँ इससे सन्तुष्ट हो गया। उसका मन दक्षिण के युद्ध में नहीं लग रहा था क्योंकि 17 जनवरी, 1631 ई. को उसकी प्रिय पत्नी मुमताजमहल की मृत्यु

हो गयी थी। इस कारण अपने अधिकारियों को दक्षिण का उत्तरदायित्व सौंपकर शाहजहाँ स्वयं उत्तर में चला गया (1632 ई.)।

परन्तु अभी अहमदनगर की विजय पूर्ण नहीं हुई थी। 1633 ई. में जब महाबतखाँ दक्षिण पहुँचा तो वह फतहखाँ की दोहरी नीति से बहुत असन्तुष्ट हुआ। उसने दौलताबाद का घेरा डाल दिया। 3-1/2 महीने के घेरे के पश्चात् दौलताबाद के किले को जीत लिया गया। फतहखाँ और अहमदनगर के अन्तिम शासक हुसैनशाह को राजदरबार में भेज दिया गया और अहमदनगर को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1633 ई.)। शाहजहाँ ने फतहखाँ को 2 लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दे दी और उसे राज्य की सेवा में ले लिया। हुसैनशाह को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। इस प्रकार अहमदनगर का राज्य समाप्त हो गया। परन्तु तब भी निजामशाही सरदार और मुख्यतया शाहजी भौंसले ने एक बच्चे (मुर्तजा तृतीय) के नाम से मुगलों से कई वर्षों तक संघर्ष किया। 1636 ई. में मुगलों ने शाहजी को चुनार के किले में घेर लिया। अन्त में, उसने अपने बहुत से किले और मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंप दिया। मुर्तजा तृतीय को भी ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। शाहजी ने बीजापुर राज्य की सेवा स्वीकार कर ली।

(ii) गोलकुण्डा— गोलकुण्डा के शासक शिया थे और मुगल बादशाह के आधिपत्य को उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया था। इस कारण शाहजहाँ के समय में उसे मुगल-आधिपत्य में लेने का प्रयत्न किया गया। 1626 ई. में मुहम्मद कुतुबशाह की मृत्यु हो गयी और 11 वर्ष की आयु का अब्दुल्ला कुतुबशाह बना। उसके समय में गोलकुण्डा की स्थिति दुर्बल हो गयी क्योंकि राज्य के विभिन्न सरदारों में एकता न रही। शाहजहाँ ने इस दुर्बलता का लाभ उठाया। 1631 ई. में जब बीजापुर पर आक्रमण किया गया तब गोलकुण्डा से भी वार्षिक कर माँगा गया। गोलकुण्डा ने धन देने से इन्कार कर दिया। 1636 ई. में मराठों और बीजापुर को सन्धि करने के लिए बाध्य करने के पश्चात् गोलकुण्डा पर दबाव डाला गया। अब्दुल्ला कुतुबशाह ने भयभीत होकर 1636 ई. में मुगलों से सन्धि कर ली जिसके अनुसार—

(अ) पहले चार खलीफाओं के नाम के अतिरिक्त शाहजहाँ का नाम खुतबे में और गोलकुण्डा के सिक्कों पर सम्मिलित किया गया।

(ब) गोलकुण्डा ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और 8 लाख रुपया प्रति वर्ष मुगल बादशाह को देना स्वीकार किया। उसने पिछले वर्षों में न दिये गये प्रायः 32 लाख रुपयों को भी देना स्वीकार किया।

(स) बीजापुर या मराठों के आक्रमण के अवसर पर मुगल गोलकुण्डा की सहायता करेंगे और यदि सहायता नहीं कर सकेंगे तो जो हानि गोलकुण्डा की होगी उसकी पूर्ति करेंगे।

दक्षिण के सूबेदार के रूप में औरंगजेब—शाहजहाँ स्वयं उस समय दक्षिण में था। परन्तु इस संधि के पश्चात् वह औरंगजेब को दक्षिण का सूबेदार बनाकर दिल्ली चला आया। 1636 से 1644 ई. तक औरंगजेब पहली बार दक्षिण का सूबेदार रहा और औरंगाबाद को मुगलों की दक्षिण के सूबे की राजधानी बनाया गया। औरंगजेब ने अपने इस शासन-काल में दक्षिण-भारत की मुगल-भूमि को चार प्रान्तों में विभाजित किया—1. खानदेश, जिसकी राजधानी बुरहानपुर थी और जिसके अनतर्गत असीरगढ़ का दृढ़ किला था, 2. बरार, जिसकी राजधानी इलिचपुर थी, 3. तेलंगाना, जिसकी राजधानी नन्देर थी, और 4. अहमदनगर, जिसमें

अहमदनगर राज्य से छीनी गयी भूमि थी। इस भू-प्रदेश में 64 दृढ़ किले थे। अपने इस काल में औरंगजेब का एकमात्र कार्य बगलाना के छोटे-से राज्य को विजय करना था।

1652 से 1657 ई. तक औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार रहा। उस समय दक्षिण के मुगल-सूबों की स्थिति शोचनीय थी। अयोग्य एवं निरन्तर बदलते रहते सूबेदारों ने इन सूबों की आर्थिक स्थिति को नष्ट कर दिया था। जिन सूबों से चार करोड़ रुपया वार्षिक आय की आशा की जाती थी, उनसे 1652 ई. में केवल एक करोड़ की ही आय हुई थी। पड़ौस में शत्रु-राज्यों के होने के कारण मुगलों को वहाँ एक बड़ी सेना रखनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त भी शासन का व्यय अधिक था। इस कारण, इन सूबों की आय सूबों के व्यय की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं थी। इसी प्रकार, आय में कमी होने के कारण जागीरदार उतनी मात्रा में सैनिक नहीं रख पा रहे थे जितनी मात्रा में उनसे आशा की जाती थी। ऐसी स्थिति में औरंगजेब ने सर्वप्रथम आर्थिक और प्रशासकीय सुधारों की ओर ध्यान दिया। उसने मुर्शिदकुलीखाँ खुरासानी की सहायता से दक्षिण की लगान-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था को ठीक किया। मुर्शिदकुलीखाँ ने राजा टोडरमल और मलिक अम्बर की लगान-व्यवस्था के आधार पर भूमि-सुधार किये।

मुर्शिदकुलीखाँ ने लगान-व्यवस्था के लिए मुगलों की भूमि को दो भागों में बाँटा—1. पेनघाट, जिसमें खानदेश और बरार का आधा भाग सम्मिलित था, और 2. बालघाट, जिसमें मुगलों का बाकी सभी भू-क्षेत्र सम्मिलित था। दोनों भागों के शासन के लिए उसने दो उप-दीवान नियुक्त किये। उसने भूमि की पैमाइश करायी, उत्पादन के आधार पर भूमि को अलग-अलग वर्गों में बाँटा तथा किस किसान के पास कितनी और किस प्रकार की भूमि है, इसका पता लगाया। उसने प्रत्येक स्थान पर ईमानदार और विश्वासपात्र अधिकारियों की नियुक्ति की। किसानों से तकावी के रूप में उधार लिये गये धन को वसूल किये जाने पर उसे गरीब किसानों में बाँट दिया गया जिससे वे बैल व बीज खरीद सकें। किसानों से लगान के रूप में उत्पादन का 1/4 भाग लिया गया। स्थानीय परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए लगान वसूल करने के लिए विभिन्न तरीके अपनाये गये। कहीं पर हलों की संख्या के प्रयोग के आधार पर उत्पादन का अनुमान करके लगान वसूल किया गया और कहीं पर वस्तु के उत्पादन के आधार पर लगान वसूल किया गया। मुर्शिदकुलीखाँ के ये सुधार लाभकारी सिद्ध हुए। कुछ ही वर्षों में कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो गयी और उसके अनुसार राज्य की आय में भी वृद्धि हुई। इतिहासकार भीमसेन ने लिखा है कि 1658 ई. में "औरंगाबाद के निकट भूमि का कोई भी टुकड़ा ऐसा नहीं रहा जिस पर कृषि न हो रही हो।" लगान सम्बन्धी सुधारों के अतिरिक्त, औरंगजेब ने असैनिक और सैनिक-व्यवस्था में भी सुधार किये। उसने शासन से अयोग्य व्यक्तियों को हटा दिया और उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की। सेना के दोषों को भी औरंगजेब ने दूर किया।

पुनः गोलकुण्डा—उसी अवसर पर औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के प्रभुत्व को पूर्णतया समाप्त करने का प्रयत्न किया। गोलकुण्डा 1636 ई. में की गयी सन्धि की शर्तों की पूर्ति नहीं कर रहा था। औरंगजेब के लिए यह एक सुअवसर था, उसकी निगाहें गोलकुण्डा की सम्पत्ति पर लगी हुई थीं, वह मध्य-एशिया और कन्धार में हुए अपने असफल आक्रमणों के अपमान को धोना चाहता था तथा दक्षिण के राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति और प्रभाव में वृद्धि करना चाहता था। गोलकुण्डा द्वारा वार्षिक कर को पूरी तरह से न देने का बहाना उसके पास था ही। मीर जुमला की घटना से उसे शाहजहाँ की आज्ञा से गोलकुण्डा पर

आक्रमण करने की आज्ञा प्राप्त हो गयी। मीर जुमला का असली नाम मीर मुहम्मद सैयद था जो 25 वर्ष पहले गोलकुण्डा आया था। उसने अपनी योग्यता से अब्दुल्ला कुतुबशाह को प्रसन्न कर लिया और राज्य का वजीर बन गया । उसने शक्ति और धन एकत्रित करने में सफलता प्राप्त की और वह राज्य का एक प्रमुख व्यक्ति बन गया। उसने कर्नाटक पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। एक प्रकार से कर्नाटक की भूमि, जो 300 मील लम्बी और 50 मील चौड़ी थी, उसकी व्यक्तिगत जागीर बन गयी। उसने व्यापार और लूटमार से अतुल सम्पत्ति भी एकत्रित कर ली। एक फ्रान्सीसी यात्री थोवेनॉट ने लिखा है कि 'उसके पास 20 मन वजन के हीरे थे।' मीर जुमला ने अपनी एक व्यक्तिगत सेना भी तैयार कर ली थी जिसमें 5,000 घुड़सवार, 20,000 पैदल और एक अच्छा तोपखाना था। कुतुबशाह उसकी बढ़ती हुई शक्ति से शंकित हो गया और जब मीर जुमला ने कर्नाटक को कुतुबशाह के आधिपत्य में देने से इंकार कर दिया तब उसका सन्देह विश्वास में परिणत हो गया। उसने मीर जुमला को कैद करने का प्रयत्न किया। मीर जुमला ने फारस, बीजापुर और मुगलों से बातचीत आरम्भ की। शाहजहाँ ने मीर जुमला को अपनी सेवा में ले लिया और कुतुबशाह को आदेश दिये कि वह मीर जुमला को दिल्ली भेज दे। इसी बीच में मीर जुमला के पुत्र मोहम्मद अमीन के अशिष्ट व्यवहार के कारण कुतुबशाह ने उसे और उसके परिवार के सदस्यों को कैद कर लिया तथा उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली। शाहजहाँ की स्वीकृति लेकर औरंगजेब ने अपने पुत्र शाहजादा मोहम्मद को जनवरी 1656 ई. में गोलकुण्डा पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। मीर जुमला पहले ही मुगलों से आकर मिल गया था । शाहजहाँ के आदेश से कुतुबशाह ने उसकेपुत्र और परिवार केसदस्यों को भी छोड़ दिया । परन्तु औरंगजेब मीर जुमला की सम्पत्ति और बकाया मुगल-कर को गोलकुण्डा से लेने के उद्देश्य से स्वयं गोलकुण्डा की ओर चल दिया। मुगलों ने हैदराबाद को जीत लिया और कुतुबशाह को गोलकुण्डा के किले में घेर लिया गया। कुतुबशाह ने बीजापुर से सहायता माँगी और शाहजहाँ से क्षमायाचना की। इसी समय औरंगजेब को गोलकुण्डा से अपनी सेनाएँ हटा लेने के शाहजहाँ के आदेश प्राप्त हुए । कुछ समय औरंगजेब ने इस आदेश को गुप्त रखा और किले का घेरा डाले रखा। परन्तु शीघ्र ही सन्धि करना आवश्यक हो गया। इस कारण उसी वर्ष 1656 ई. में गोलकुण्डा से सन्धि कर ली गयी। कुतुबशाह ने अपनी एक पुत्री की शादी शाहजादा मोहम्मद से कर दी, 10 लाख रुपया दहेज में दिया, 16 लाख रुपया युद्ध के जुर्माने का दिया, मीर जुमला की सम्पत्ति वापस कर दी, अवशिष्ट कर देने का वायदा किया और मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

(iii) बीजापुर—बीजापुर ने सर्वदा मुगल बादशाह के विरुद्ध अहमदनगर को सहायता दी थी। इस कारण बीजापुर स्पष्ट रूप से दक्षिण में मुगल-प्रभाव को बढ़ने देने के विरोध में रहा था। जहाँगीर की मृत्यु से कुछ माह पहले सुल्तान इब्राहीमशाह की मृत्यु हो गयी और मुहम्मद आदिलशाह सुल्तान बना। 1631 ई. में शाहजहाँ ने आसफखाँ को बीजापुर पर आक्रमण करने के आदेश दिये। परन्तु आसफखाँ का आक्रमण विफल रहा। शाहजहाँ ने आसफखाँ को वापस बुला लिया और महाबतखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया । महाबतखाँ ने दौलतबाद को जीतने और अहमदनगर के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करने में सफलता पायी परन्तु वह परेन्द्र के किले को जीतने में असफल रहा। अक्टूबर 1634 ई. में बीमारी और इस असफलता के धक्के के कारण महाबतखाँ की मृत्यु हो गयी। इसके पश्चात् शाहजहाँ का ध्यान जूझरसिंह के विद्रोह की तरफ लग गया और बीजापुर के विरुद्ध सफलता न मिल सकी।

1636 ई. में शाहजहाँ स्वयं दौलताबाद गया। बीजापुर की स्थिति उस समय दुर्बल थी। मुहम्मद आदिलशाह अपने सरदारों को नियन्त्रण में रखने में असमर्थ रहा था। ऐसी स्थिति में शाहजहाँ ने बीजापुर पर आक्रमण किया। शाहजहाँ के इस आक्रमण ने बीजापुर को भयभीत कर दिया और वह सन्धि के लिए तैयार हो गया। 1636 ई. में इस सन्धि के अनुसार—

(अ) बीजापुर ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया और 20 लाख रुपया प्रति वर्ष मृगलों को देना स्वीकार किया।

(ब) बीजापुर ने वायदा किया कि यदि शाहजी भौंसले ने चुनार और त्रिम्बक के किले मुगलों को न सौंपे तो वह मुगलों की सहायता करेगा।

(स) बीजापुर ने गोलकुण्डा से मित्रता का और उससे होने वाले अपने झगड़ों का निर्णय मुगलों द्वारा कराने का वायदा किया।

(द) शाहजहाँ ने स्वेच्छा से परेन्द्र, बीदर, गुलबर्गा, शोलापुर आदि स्थान बीजापुर को दे दिये।

इस प्रकार 1636 ई. में बीजापुर ने मुगल-आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उसी वर्ष गोलकुण्डा ने भी मुगलों से सन्धि कर ली और शाहजी ने मुगलों से सन्धि करके बीजापुर की सेवाएँ स्वीकार कर लीं। 1636 ई. का समय मुगलों की दक्षिण-नीति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण रहा। डॉ. जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "इस प्रकार चालीस वर्ष (1595-1636 ई.) के संघर्ष के पश्चात् अन्त में दक्षिण के मामले का निर्णय हुआ। बादशाह की सत्ता निर्विवाद स्थापित हो गयी, उसकी सीमाएँ निश्चित हो गयीं और दक्षिण के राज्यों पर उसकी सम्प्रभुता विधिवत् स्थापित हो गयी।"

1636 ई. में हुई सन्धि के पश्चात् प्रायः 20 वर्षों तक बीजापुर में शान्ति रही। मुहम्मद आदिलशाह एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसने शाहजहाँ से अपने सम्बन्ध ठीक किये। नवम्बर 1656 ई. में आदिलशाह प्रथम की मृत्यु हो गयी। उसकी बेगम 'बड़ी साहिबा' की सहायता से उसके तथाकथित 18 वर्षीय पुत्र को आदिलशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया गया। यह विश्वास किया जाता था कि आदिलशाह के कोई पुत्र न था और 'बड़ी साहिबा' ने इस लड़के को वैसे ही अपना पुत्र मान लिया था। औरंगजेब ने इस बात की सूचना शाहजहाँ को दी। उस समय शाहजहाँ ने बीजापुर को पूर्णतया अपनी अधीनता में लाने का अवसर देखा था। बीजापुर पर यह दोष लगाया गया कि उसने वार्षिक कर पूरी मात्रा में नहीं दिया था, उसने गोलकुण्डा की सहायता के लिए सेना को संगठित किया था और उसने कर्नाटक की मीर जुमला की भूमि पर अधिकार कर लिया था। इस आधार पर शाहजहाँ ने औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया और मीर जुमला तथा अन्य अधिकारियों को उसकी सहायता के लिए भेजा। मुगल-सेना ने बीदर के किले को जीत लिया, गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर की सेना को नष्ट कर दिया और अगस्त 1657 ई. में कल्याणी के किले को भी जीत लिया। इसके पश्चात् औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया। परन्तु उसी समय शाहजहाँ के आदेश प्राप्त हुए कि बीजापुर से, जो सन्धि के लिए तैयार है, सन्धि कर ली जाय और मीर जुमला को दिल्ली वापस भेज दिया जाय। औरंगजेब को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। 1657 ई. में हुई इस सन्धि के अनुसार बीजापुर ने डेढ़ करोड़ रुपया मुगलों को देना स्वीकार किया। इसमें से 50 लाख रुपया शाहजहाँ ने उदारतापूर्वक माफ कर दिया। इसके अतिरिक्त, बीदर और कल्याणी के किले मुगलों की

अधीनता में रहे। परन्तु इसी अवसर पर शाहजहाँ की तबियत खराब हो जाने के कारण उसके पुत्रों में परस्पर युद्ध की आशंका हो गयी। इसका लाभ उठाकर आदिलशाह ने इस सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया। जो कुछ औरगंजेब औरंगाबाद वापस आते हुए (जनवरी 1658 ई.) बीजापुर से ले सका, वही मुगलों को प्राप्त हुआ।

उसी समय जबकि औरंगजेब बीजापुर और गोलकुण्डा के साथ युद्धों में व्यस्त था, शाहजी भौंसले के पुत्र शिवाजी ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का कार्य आरम्भ किया और मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ किये । औरंगजेब ने एक सेना शिवाजी पर आक्रमण करने के लिए भेजी जिसने शिवाजी को परास्त कर दिया। इसके पश्चात् बीजापुर से सन्धि हो जाने के बाद शिवाजी ने भी मुगलों से समझौता कर लिया और मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण की नीति सफल रही। अहमदनगर के राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया, बीजापुर तथा गोलकुण्डा से भूमि छीनी गयी, कुछ किले हस्तगत कर लिये गये, उनसे धन प्राप्त किया गया, उनकी शक्ति को दुर्बल कर दिया गया और उन्हें स्पष्ट रूप से मुगलों की अधीनता में ले लिया गया। सम्भवतया, बीजापुर और गोलकुण्डा के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया गया होता यदि स्वयं शाहजहाँ ने औरंगजेब के मार्ग में बाधा डालकर उनको जीवित रहने का अवसर प्रदान न किया होता। शाहजहाँ स्वयं दक्षिण की राजनीति से गम्भीरता से परिचित था और उसका यह अनुमान उचित ही था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति और अधिक जटिल हो जायेगी। इस कारण वह इन राज्यों को दुर्बल करके और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहानआरा इन राज्यों को समाप्त करने के पक्ष में न थे। दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था। इस कारण उनके प्रभाव से शाहजहाँ ने इन राज्यों का अस्तित्व कायम रहने दिया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तरदाधिकार के लिए युद्ध की सम्भावना भी इन राज्यों के जीवित रह जाने का कारण बनी।

2. कुछ छोटी विजयें

शाहजहाँ के समय में कुछ छोटे-छोटे प्रदेश भी जीते गये। मालवा और गौंड के भीलों को मुगल-आधिपत्य में लिया गया, पालामऊ के राजा प्रताप को मुगल-आधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया और छोटे तिब्बत को भी जीता गया। 1634 ई. में छोटे तिब्बत के राजा ने शाहजहाँ का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। 1628-1639 ई. के समय में असम से निरन्तर युद्ध होता रहा परन्तु अन्त में सीमाएँ निश्चित कर ली गयीं और असम से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये।

[3]

मध्य-एशिया

अपने से पहले के सभी मुगल बादशाहों की भाँति शाहजहाँ भी मध्य-एशिया को जीतने के लिए उत्सुक था। 1628 ई. और 1629 ई. में मध्य-एशिया के शासक इमामकुली उजबेग ने काबुल को जीतने का प्रयत्न किया था परन्तु असफल रहा था। बाद में इमामकुलीखाँ के भाई

नजरमुहम्मद ने समरकन्द पर अधिकार कर लिया। 1645 ई. में उसके पुत्र अब्दुल अजीज ने विद्रोह किया। शाहजहाँ ने इससे लाभ उठाने का प्रयत्न किया। पहले शाहजादा मुराद को मध्य-एशिया भेजा गया और उसने सफलता भी प्राप्त की। मुराद के वापस आ जाने पर शाहजादा औरंगजेब को भेजा गया। प्रारम्भिक सफलता के पश्चात् औरंगजेब को भी वापस आना पड़ा (1647 ई.)। इस प्रकार, मध्य-एशिया को अपने अधिकार में करने का शाहजहाँ का प्रयत्न असफल हुआ।

[4]
कन्धार

कन्धार सर्वदा से मुगलों और फारस (ईरान) के शासकों के बीच संघर्ष का कारण बना हुआ था। जहाँगीर के समय में 1622 ई. में कन्धार पर फारस ने अधिकार कर लिया था। 1628 ई. में उसके फारसी किलेदार अलीमर्दनखाँ ने स्वेच्छा से यह किला मुगलों को सौंप दिया। मध्य-एशिया में मुगलों के आक्रमण की असफलता से प्रोत्साहित होकर 1648 ई. में फारस ने कन्धार पर आक्रमण किया और इससे पहले कि किले को कोई सहायता पहुँच पाती, उस पर अधिकार कर लिया। 1649 ई. में औरंगजेब कन्धार पहुँचा परन्तु उसे जीतने में असफल रहा। 1652 ई. में औरंगजेब को पुनः कन्धार जीतने के लिए भेजा गया। वह पुनः असफल रहा। इसी प्रकार 1653 ई. में दाराशिकोह द्वारा कन्धार को जीतने का प्रयत्न भी असफल रहा। इस प्रकार शाहजहाँ के समय में कन्धार एक बार मुगलों को प्राप्त अवश्य हुआ परन्तु पुनः खो गया।

[5]
उत्तराधिकार का युद्ध

6 सितम्बर, 1657 ई. में शाहजहाँ बीमार पड़ा और उसकी तबियत इतनी अधिक खराब हो गयी कि उसने दरबार और झरोखा-दर्शन में जाना बन्द कर दिया। इससे राज्य में दुश्चिन्ताएँ उत्पन्न हो गयीं। बादशाह शक्ति, शान्ति और व्यवस्था का प्रतीक था। प्रत्येक बादशाह की मृत्यु पर संघर्ष और अव्यवस्था की आशंका रहती थी जिससे सभी को हानि की सम्भावना होती थी। इस अवसर पर भी ऐसा ही हुआ। शाहजहाँ की मृत्यु की सम्भावना मात्र से विभिन्न व्यक्ति और वर्ग अनेक प्रकार की चिन्ताएँ करने लगे। शाहजहाँ का प्रत्येक पुत्र गद्दी प्राप्त करने के लिए उत्सुक था, विभिन्न सरदार विरोधी शाहजादों का समर्थन करने के लिए तत्पर थे, हिन्दू ऐसे शाहजादे का समर्थन करना चाहते थे जो धार्मिक उदारता के पक्ष में हो, कट्टर मुसलमान ऐसे शाहजादे का पक्ष लेने के लिए तत्पर थे जो इस्लाम के सम्मान की रक्षा करे और जनसाधारण अशान्ति एवं अव्यवस्था की आशंका से भयभीत था। विभिन्न आशंकाओं और सन्देहों का निवारण करने के लिए शाहजहाँ ने कभी-कभी झरोखा-दर्शन के लिए जाना आरम्भ कर दिया और यह अनुभव करके कि उसका स्वास्थ्य शासन का उत्तरदायित्व सँभालने के योग्य नहीं है, उसने अपने सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह को अपने सभी सरदारों के सम्मुख अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और स्वयं के जीवित रहने तक अपनी ओर से शासन करने का उत्तरदायित्व उसे सौंप दिया। उसका आशय यह था कि ऐसा करने से, सम्भवतया, उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध नहीं होगा। परन्तु उत्तराधिकार के विषय में मुस्लिम कानून बहुत लचीला था और अधिकांशतया तलवार की शक्ति के आधार पर ही उसका निर्णय हुआ करता था। शाहजहाँ ने स्वयं इसी आधार पर अपने सभी

विरोधियों को समाप्त करके सिंहासन पर अधिकार किया था। शाहजहाँ के पुत्रों ने भी यही निश्चय किया।

सिंहासन के लिए शाहजहाँ के पुत्रों में जो युद्ध हुआ उसे मुगल-इतिहास में 'उत्तराधिकार के युद्ध' के नाम से पुकारा गया है। ऐसा नहीं है कि उत्तराधिकार के युद्ध इससे पहले या इसके बाद नहीं हुए। हुमायूँ को अपने भाइयों से युद्ध करना पड़ा था, अकबर का विरोध उसके सौतेले भाई मिर्जा हकीम ने किया था, जहाँगीर ने अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया था, शाहजहाँ ने भाइयों का कत्ल करके गद्दी प्राप्त की थी तथा औरंगजेब के पुत्रों में भी उत्तराधिकार के लिए युद्ध हुआ। परन्तु शाहजहाँ के पुत्रों में हुआ 'उत्तराधिकार का युद्ध' भीषणतम था। वह बादशाह के जीवित रहते हुए लड़ा गया था तथा, सम्भवतया, गंभीरतम प्रश्नों एवं प्रभावशाली व्यक्तियों के लाभ और हानियों से सम्बन्धित था। इस कारण इस युद्ध को स्पष्टतया 'उत्तराधिकार के युद्ध' की संज्ञा दी जाती है। शाहजहाँ की सभी महत्वपूर्ण सन्तानें, जिनका नाम इतिहास में उल्लेखनीय है, उसकी प्रिय बेगम मुमताजमहल से उत्पन्न हुई थीं। उसकी 14 सन्तानों में से 7 जीवित रहीं। इनमें से चार लड़के और तीन लड़कियाँ थीं। इनके नाम थे : जहानआरा (जन्म 1614 ई.), दाराशिकोह (जन्म 1615 ई.), शाहशुजा (जन्म 1616 ई.), रोशनआरा (जन्म 1617 ई.), औरंगजेब (जन्म 1618 ई.), मुरादबक्स (जन्म 1624 ई.), और गौहनआरा (जन्म 1631 ई.)। इनमें से प्रत्येक ने इस उत्तराधिकार के युद्ध में भाग लिया। चारों भाई ही सिंहासन के लिए प्रयत्नशील न थे बल्कि बहिनों ने भी किसी न किसी भाई का पक्ष लिया। जहानआरा दाराशिकोह के पक्ष में थी, रोशनआरा ने औरंगजेब की सहायता की और गौहनआरा ने मुरादबक्स का पक्ष लिया।

दाराशिकोह शिक्षित, सुसभ्य एवं उदार विचारों का था। वह सच्चरित्र, दयालु और पितृभक्त था। उसके धार्मिक विचार अत्यधिक उदार थे और बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रति उसे सद्भावना थी। उसे पंजाब की सूबेदारी प्राप्त थी परन्तु वह बादशाह के निकट ही रहता था। शासन का उसे अनुभव था। उसमें साहस, शौर्य एवं उत्साह की भी कमी न थी। अपने चरित्र और विचारों के लिए वह बादशाह और जनसाधारण का प्रिय था तथा, सम्भवतया, भारत के लिए सबसे उपयुक्त बादशाह सिद्ध होता। परन्तु, निस्सन्देह, दारा औरंगजेब की तुलना में सेनापति एवं कूटनीति की दृष्टि से दुर्बल था। शाहजहाँ ने जब उसे राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया तो जहाँ उसे इससे कुछ लाभ हुए वहीं कुछ कठिनाइयाँ भी हुईं। उसे बादशाह की सम्मति से राज्य का शासन करना था और अपने भाइयों से सिंहासन के लिए युद्ध भी करना था। बादशाह के प्रतिनिधि की दृष्टि से कार्य करते हुए वह अपनी इच्छानुसार कार्य करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र न था जबकि उसके प्रत्येक कार्य को उसके भाई और उनके समर्थक शंका और ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। उसके सभी भाइयों ने यह अनुभव किया कि दारा अपनी स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न कर रहा है। इस कारण वे शीघ्रातिशीघ्र उससे युद्ध करके सत्ता हथियाने के लिए उत्सुक हो गये और शाहजहाँ का प्रभाव समाप्त हो गया। शाहशुजा उस समय बंगाल का सूबेदार था। वह एक आकर्षक व्यक्ति और योग्य सैनिक था। परन्तु वह आरामपसन्द था और बंगाल की जलवायु और सम्पत्ति ने उसे विलासप्रिय बना दिया था। धार्मिक दृष्टि से वह शिया था और उसे शियाओं का समर्थन प्राप्त था। औरंगजेब दक्षिण का सूबेदार था। वह साहसी, कट्टर, परिश्रमी और दृढ़-निश्चयी था। कन्धार-और मुख्यतया मध्य-एशिया के युद्धों ने उसे एक योग्य सेनापति बना दिया। कूटनीति में वह अपने सभी भाइयों से श्रेष्ठ था और कलम एवं तलवार दोनों का

प्रयोग कुशलता से कर सकता था। धार्मिक दृष्टि से वह कट्टर सुन्नी मुसलमान था तथा कट्टर सुन्नी वर्ग और सरदार उसको बादशाह बनाकर इस्लाम की प्रतिष्ठा स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। पिछले कई दशकों से भारत में इस्लाम के प्रतिक्रियावादी तत्व प्रभावशाली होते जा रहे थे। जहाँगीर और शाहजहाँ की धार्मिक नीतियों को इन प्रतिक्रियावादी तत्वों ने प्रभावित किया था। शेख अहमद सरहिन्दी और अब्दुल हक देहलवी इन तत्वों को नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। इनका उद्देश्य भारत में इस्लाम के आदर्शों पर आधारित राज्य की स्थापना करना था। इस कारण इस मत के समर्थक दाराशिकोह के विरोध में औरंगजेब के समर्थक बन गये। इस कारण, उत्तराधिकार युद्ध का एक कारण विरोधी धार्मिक विचाराधाराएँ भी बन गयीं। मुराद भावना-प्रधान और अव्यावहारिक था। वह बहादुर और आरामपसन्द दोनों था। युद्ध-क्षेत्र में वह कट्टर, साहसी और प्रत्येक खतरे को निर्भीकतापूर्वक उठाने वाला सैनिक तथा सेनापति था परन्तु हरम में वह एक विलासी शाहजादा था । वह उदार और प्रसन्नचित्त था परन्तु उसमें चालाकी, कूटनीति, सन्तुलन और व्यावहारिकता की कमी थी। व्यावहारिक राजनीति का न तो उसे ज्ञान था और न उसने उसका ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न ही किया था। हठी और असंयमी बच्चे की भाँति वह किसी से भी लड़ सकता था तथा सरलता से दूसरे के हाथों में खिलौना भी बन सकता था। वह गुजरात का सूबेदार था। शाहजहाँ की बीमारी का समाचार प्राप्त करके इन चारों शाहजादों में से प्रत्येक ने अपने-अपने तरीके से बादशाह बनने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

शाहशुजा, औरंगजेब और मुराद ने बादशाह को देखने के बहाने राजधानी की ओर बढ़ने का आग्रह किया। शाहजहाँ ने यह सिद्ध करने के लिए कि वह जीवित है, सभी शाहजादों को अपने हस्ताक्षरों से युक्त पत्र भेजे। सभी शाहजादों का सेनाएँ लेकर राजधानी की ओर बढ़ना राज्य के लिए संकट उपस्थित कर सकता था । शाहजहाँ ने शाहजादों को यह सूचना भी भेजी कि वे स्वयं केवल अपने अंगरक्षकों को ही लेकर आगरा आयें। परन्तु शाहजादों ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें भय था कि दाराशिकोह उनके जीवन को खतरे में डाल सकता है। इस प्रकार स्थिति ऐसी हो गयी कि शाहजादों का विश्वास बादशाह और उसके सन्देशों से उठ गया अथवा उन्होंने उसकी परवाह नहीं की और वे बल-प्रयोग के लिए तत्पर हो गये। मुराद ने अपने को गुजरात में और शाहशुजा ने अपने को बंगाल में स्वतन्त्र बादशाह घोषित कर दिया। जनवरी 1658 ई. में, सर्वप्रथम, शाहशुजा अपनी सेनाओं को लेकर राजधानी की ओर बढ़ा। मुराद ने अपने दीवान अलीनकी को कत्ल करा दिया, सूरत को लूटा और फरवरी में आगरा की ओर बढ़ा। औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों से उनकी सामर्थ्यानुसार धन एकत्रित किया, अपने प्रमुख सहायक मीर जुमला से भी धन वसूल किया और दक्षिण में अपनी स्थिति दृढ़ करके फरवरी में आगरा की ओर बढ़ा। परन्तु औरंगजेब ने अपने को स्वतन्त्र बादशाह घोषित नहीं किया। उसने सिर्फ यह बहाना किया कि वह अपने बीमार पिता से मिलने जा रहा है। दारा के तीनों भाई दारा से ईर्ष्या करते थे और आपस में पत्र-व्यवहार कर रहे थे। औरंगजेब इसमें सर्वाधिक सफल रहा। उसने न केवल इस बात का सफल प्रयत्न किया कि उसकी गतिविधि की सूचना आगरा न पहुँच सके बल्कि उसने मुराद से एक समझौता करने में भी सफलता पायी। मुराद के साथ यह समझौता हुआ कि दोनों मिलकर दाराशिकोह को नष्ट करेंगे। उन्होंने यह घोषित किया कि उनका आशय इस्लाम की सुरक्षा के लिए विधर्मी दारा को समाप्त करना है। यह निश्चय हुआ कि सफलता के पश्चात् अफगानिस्तान, पंजाब, कश्मीर और सिन्ध मुराद को एक स्वतन्त्र शासक के रूप में प्राप्त होंगे और लूट के माल से से 1/3 भाग भी मुराद को मिलेगा।

बाकी साम्राज्य और धन औरंगजेब को प्राप्त होगा अथवा वह इनके बारे में जो भी चाहे वह समझौता शाहशुजा के साथ कर सकता था।

शाहजहाँ ने इन विद्रोही सेनाओं का मुकाबला करने के लिए एक सेना दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह और जयसिंह के नेतृत्व में पूर्व की ओर भेजी तथा दूसरी सेना राजा जसवन्तसिंह और कासिमखाँ के नेतृत्व में दक्षिण की ओर भेजी। इनको आदेश दिये गये थे कि पहले तो वह शाहजादों को समझा-बुझाकर अपने सूबों में वापस लौटने के लिए बाध्य करें और यदि युद्ध आवश्यक हो जाय तो भी शाहजादों का जीवन नष्ट नहीं किया जाय। शाही सेना का मुकाबला शाहशुजा से बनारस से पाँच मील दूर बहादुरपुर नामक स्थान पर 14 फरवरी, 1658 ई. को हुआ। शाहशुजा की पराजय हुई और वह बंगाल की ओर भाग गया। इसी अवसर पर दक्षिण में भी युद्ध हुआ। अप्रैल 1658 ई. में दीपालपुर नामक स्थान पर औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ मिल गयी थीं। राजा जसवन्तसिंह को इसका पता न लगा सका। उसे केवल मुराद से मुकाबला होने की आशा थी। वह मुराद और औरंगजेब की सम्मिलित सेनाओं से युद्ध करने के लिए तैयार न था। इसके अतिरिक्त, कासिमखाँ का व्यवहार सन्देहजनक था। परन्तु उस समय न तो सन्धि-चर्चा का समय रह गया था और न उसने वापस लौटना सम्मानपूर्ण माना। उज्जैन से 14 मील दूर धरमट नामक स्थान पर दोनों सेनाओं का मुकाबला हुआ। युद्ध में कासिमखाँ ने अपेक्षित सहयोग नहीं दिया और युद्ध के बीच में ही भाग खड़ा हुआ। राजा जसवन्तसिंह और उसके राजपूतों को ही युद्ध का सम्पूर्ण भार उठाना पड़ा। परन्तु डटकर मुकाबला करने के उपरान्त भी उनकी पराजय हुई। शाही सेना तितर-बितर हो गयी और राजा जसवन्तसिंह को घायल स्थिति में युद्ध-भूमि से हटाया गया। यही वह अवसर था जबकि उसके जोधपुर वापस लौटने पर उसकी रानी ने युद्ध-क्षेत्र से भागने के अपराध में उसे किले में नहीं घुसने दिया था। धरमट के युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ ग्वालियर होती हुई आगे बढ़ीं। दारा शाहजहाँ की आज्ञा प्राप्त करके उनका मुकाबला करने के लिए आगरा से बाहर निकला। आगरा से 8 मील दूर सामूगढ़ नामक स्थान पर 8 जून, 1668 ई. को दारा ने औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेनाओं का मुकाबला किया। दारा ने आरम्भ में ही एक भूल की। औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ लगातार चलते रहकर सामूगढ़ पहुँची थीं और थकी हुई थीं। दारा ने उसी समय उन पर आक्रमण नहीं किया बल्कि उनको एक दिन आराम करने का अवसर दे दिया। 8 जून को ही युद्ध का निर्णय हो गया। दारा की पराजय हुई और उसे युद्ध-स्थल छोड़कर भागना पड़ा। दारा ने शर्म के कारण शाहजहाँ से मिलना भी पसन्द नहीं किया। अपने परिवार के सदस्यों के साथ अधिक से अधिक धन लेकर वह दिल्ली की ओर चल दिया।

सामूगढ़ के युद्ध ने दारा और भारत के भाग्य का निर्णय कर दिया। औरंगजेब स्पष्ट रूप से विजयी हुआ था। उसने आगरा के किले का घेरा डाल दिया, यमुना नदी के पानी को किले में जाने से रोक दिया और शाहजहाँ को कुछ दिनों में ही किले के फाटक खोल देने के लिए बाध्य दिया। बाप-बेटे में पत्र-व्यवहार हुआ और समझौते का मार्ग खोजा गया। परन्तु जब औरंगजेब अपने पिता से मिलने जा रहा था तभी उसके हाथ एक पत्र लगा जिसे शाहजहाँ ने दारा को लिखा था और जिससे स्पष्ट होता था कि शाहजहाँ उस समय भी बड़े पुत्र के पक्ष में था। औरंगजेब अपने पिता से मिलने नहीं गया और उसके पश्चात् बाप-बेटे का पत्र-व्यवहार तो होता रहा परन्तु भेंट कभी नहीं हुई। अपने जीवन में अन्तिम वर्ष शाहजहाँ ने आगरा के किले में बन्दी की भाँति व्यतीत किये।

सामूगढ़ के युद्ध में दारा की पराजय के विभिन्न कारण थे। दारा अपने सम्पूर्ण तोपखाने को युद्ध-स्थल पर नहीं ले जा सका था, आरम्भ में उसका उपयोग भी उस समय किया गया जबकि शत्रु सेना उसकी मार में न थी । बाद में वह अपने तोपखाने और शत्रुओं के बीच फँस गया जिससे तोपखाने का प्रयोग ठीक प्रकार न हो सका। दारा ने शत्रुओं की थकी हुई सेना को एक दिन आराम करने का अवसर दे दिया था। उसकी सेना के बायें भाग का सेनापति रुस्तमखाँ ठीक समय पर सहायता न पहुँचने के कारण लड़ता हुआ मारा गया और उसका वाम पक्ष दुर्बल हो गया। अपने वाम पक्ष को सहायता देने के लिए जब दारा मध्य से हटा तो अपने ही तोपखाने के सामने आ गया। शत्रु के तोपखाने की मार से बचने के लिए अपने कुछ सरदारों के कहने से वह हाथी के हौदे से उतर कर घोड़े पर सवार हो गया। हौदे को खाली देखकर उसके सैनिकों का मनोबल समाप्त हो गया। उसके सैनिकों ने समझा कि दारा मारा गया और वे हतोत्साहित होकर भाग खड़े हुए। राजपूतों ने दारा का साथ दिया और युद्ध में अन्त तक लड़े लेकिन अनेक मुसलमान सरदारों ने दारा का साथ नहीं दिया, यहाँ तक कि उसके दाहिने पक्ष के सेनापति खलीलुल्लाखाँ और उसके सैनिकों ने युद्ध में केवल दिखावे के लिए ही भाग लिया। इन कारणों से दारा की पराजय हुई। यह कहना गलत होगा कि दारा की सेना दुर्बल थी। वास्तव सें, उसकी सेना शुत्र-सेना से श्रेष्ठ थी। उसके साथ शाही सेना की रीढ़ की हड्डी समझे जाने वाले सैयद और वफ़ादार एवं शूरवीर राजपूत थे। उसे रुस्तमखाँ, छत्रसाल हाड़ा और दिलेरखाँ अफगन सदृश योग्य एवं साहसी सेनापति प्राप्त थे। उसका तोपखाना भी शक्तिशाली था। परन्तु तब भी अनेक मुसलमान सरदारों द्वारा दारा के साथ विश्वासघात करना और औरंगजेब की सेनापतित्व की योग्यता दाराशिकोह की असफलता के मुख्य कारण बने।

आगरा के किले को हस्तगत करने के पश्चात् औरंगजेब ने दारा का पीछा करने की जल्दी नहीं की। सर्वप्रथम, उसे दारा के लड़के सुलेमान शिकोह को अपने पिता से मिलने से रोकना था क्योंकि उसके साथ अभी भी एक बड़ी सेना थी। इससे भी अधिक औरंगजेब को मुरादबक्स की ओर से चिन्ता थी। मुराद ने शाहजहाँ से अपने कार्यों के लिए क्षमा माँगी थी और शाहजहाँ को राजसिंहासन से हटाने का इरादा भी उसने त्याग दिया था। उसने औरंगजेब से स्वतन्त्र व्यवहार करना आरम्भ कर दिया। आगरा से औरंगजेब और मुराद की सेनाएँ दिल्ली की ओर बढ़ीं। इस अवसर पर मुराद भी औरंगजेब के व्यवहार से शंकित हो गया। औरंगजेब के स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार और अपने प्रति उसकी उदासीनता से मुराद असन्तुष्ट हो गया। औरंगजेब ने मुराद को अपने मार्ग से हटाने की योजना बनायी। उसने मुराद को कई बार दावत पर बुलाया परन्तु मुराद ने प्रत्येक बार आने से इंकार कर दिया। परन्तु मथुरा के निकट शिकार से वापस लौटते हुए औरंगजेब द्वारा धन से खरीदे गये और अपने एक सरदार के कहने से मुराद ने एक रात औरंगजेब के खेमे में गुजारना स्वीकार कर लिया। मुराद को खूब शराब पिलायी गयी, अच्छा भोजन कराया गया और उसके तम्बू में उसके पैरों की मालिश करने के लिए एक दासी को भेज दिया गया। मुराद के घोर निद्रा में सो जाने के पश्चात् उसके हथियार उससे अलग कर दिये गये और उसे बन्दी बना लिया गया।

मुराद से मुक्ति पाकर औरंगजेब दिल्ली की ओर बढ़ा। दारा उस समय तक दिल्ली में एक बड़ी सेना एकत्रित नहीं कर सका था। वह दिल्ली को छोड़कर लाहौर चला गया और औरंगजेब ने सरलता से दिल्ली पर अपना अधिकार क्रर लिया। यहाँ औरंगजेब ने अपना राज्याभिषेक किया और अपने को बादशाह घोषित किया। औरंगजेब ने एक सेना सुलेमान

शिकोह का मुकाबला करने के लिए पूर्व की ओर भेजी और स्वयं दारा का पीछा करने के लिए रवाना हुआ। यद्यपि दारा केपास 14,000 की सेना और पर्याप्त धन था परन्तु न तो वह इससे अधिक सेना एकत्रित कर सका और न ही उसने औरंगजेब का मुकाबला करने का साहस किया। वह लाहौर से मुल्तान और मुल्तान से बक्खर भाग गया। औरंगजेब ने मुल्तान तक उसका पीछा किया। उसके पश्चात् अपने सरदारों को उसका पीछा करने के लिए छोड़कर वह दिल्ली वापस लौटा और तब शाहशुजा का मुकाबला करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा। अधिक सेना एकत्रित कर सका और न ही उसने औरंगजेब का मुकाबला करने का साहस किया। वह लाहौर से मुल्तान और मुल्तान से बक्खर भाग गया। औरंगजेब ने मुल्तान तक उसका पीछा किया। उसके पश्चात् अपने सरदारों को उसका पीछा करने के लिए छोड़कर वह दिल्ली वापस लौटा और तब शाहशुजा का मुकाबला करने के लिए पूर्व की ओर बढ़ा।

शाहशुजा ने दारा की पराजय का समाचार प्राप्त करने के पश्चात् बिहार से आगे बढ़ना आरम्भ कर दिया था। औरंगजेब दारा का पीछा करने गया हुआ था। इस कारण उसे आशा थी कि वह सरलता से आगरा पर अधिकार कर लेगा। इलाहाबाद से आगे ख्वाजा नामक स्थान पर औरंगजेब के बड़े बेटे मुहम्मद ने उसके रास्ते को रोका। उसी समय औरंगजेब और (दक्षिण से) मीर जुमला भी पहुँच गये। यद्यपि राजा जसवन्तसिंह उस समय औरंगजेब की सेना का साथ छोड़कर मारवाड़ वापस चला गया था परन्तु तब भी औरंगजेब की सेना की संख्या शाहशुजा से दुगुनी थी। औरंगजेब ने शाहशुजा पर आक्रमण किया। शाहशुजा की पराजय हुई और वह भाग खड़ा हुआ। औरंगजेब ने अपने बेटे मुहम्मद और मीर जुमला को उसका पीछा करने के लिए नियुक्त किया जिन्होंने बंगाल तक उसका पीछा किया। शाहशुजा हताश होकर अराकान भाग गया। उसके बाद उसका पता नहीं लगा। कहा जाता है कि उसने वहाँ अराकान के राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का प्रयत्न किया जिसका पता लग गया और उसे मार डाला गया।

इस बीच में दारा बक्खर के किले से भाग निकला। वह कच्छ गया जहाँ के राजा ने उसका पीछा किया। वहाँ से वह गुजरात गया। वहाँ के सूबेदार ने उसका स्वागत किया। अब दारा या तो दक्षिण में जा सकता था अथवा राजस्थान से उसे सहायता मिल सकती थी। राजा जसवन्तसिंह ने उसे सहायता का आश्वासन दिया और दारा राजस्थान की ओर बढ़ा। परन्तु जब वह अजमेर पहुँचा तो उसे यह सूचना प्राप्त करके बड़ी निराशा हुई कि औरंगजेब शाहशुजा को परास्त करके वापस आ गया था और जयपुर के राजा जयसिंह के कहने से राजा जसवन्तसिंह ने औरंगजेब की सेवाएँ स्वीकार कर ली थीं। राजा जसवन्तसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने के अतिरिक्त औरंगजेब ने उसे गुजरात का सूबेदार भी नियुक्त कर दिया था। दारा ने अजमेर के निकट देवराई ने दर्रे में औरंगजेब का मुकाबला किया परन्तु उसकी पराजय हुई और उसे भागना पड़ा। इस बार उसे गुजरात में शरण प्राप्त हुई और वह अफगानिस्तान जाने के उद्देश्य से सिन्ध में मुड़ गया। बक्खर के किले की सुरक्षा अभी तक दारा का एक वफादार सेवक कर रहा था। दारा ने उसकी रक्षा के लिए जाने का निर्णय किया। उसी समय उसकी पत्नी नादिरा बेगम बीमार हो गयी। दारा ने मलिक जीवन नामक एक बलूची सरदार के यहाँ शरण ली। दारा ने एक बार शाहजहाँ के क्रोध से मलिक जीवन की रक्षा की थी। वहीं पर नादिरा बेगम की मृत्यु हो गयी और उसकी इच्छा के अनुसार दारा ने अपने बचे हुए अंगरक्षकों के साथ उसके शरीर को लौहार में दफनाने के लिए भेज दिया। दारा अपनी प्रिय बेगम की मृत्यु और अपनी परिस्थितियों के कारण पूर्णतया हताश हो चुका था। मलिक जीवन भी अहसान-फरामोश निकला। उसने दारा और उसके छोटे पुत्र सिपिर

शिकोह को औरंगजेब के सरदारों को सौंप दिया । दारा को दिल्ली ले जाकर गन्दे कपड़ों में एक गन्दे हाथी पर बैठाकर शहर में घुमाया गया। शहर में अनेक नागरिक रोये परन्तु कुछेक ने मलिक, जीवन और उसके साथियों पर आक्रमण कर दिया। दारा के प्रति जनता की सहानुभूति को देखकर औरंगजेब ने दारा को शीघ्र समाप्त करने का निर्णय किया। औरंगजेब ने एक विशेष न्याय-समिति नियुक्त की जिसने दारा को विधर्मी घोषित किया और मृत्यु-दण्ड की आज्ञा दी। 1659 ई. के अन्तिम दिनों में दारा का कत्ल कर दिया गया, उसके शरीर को सड़कों पर दिखाया गया और अन्त में हुमायूँ के मकबरे में उसे दफना दिया गया।

अब औरंगजेब का एक शत्रु बाकी रह गया था। दारा का बड़ा बेटा सुलेमान शिकोह अभी जीवित था। सामूगढ़ के युद्ध का उसकी सेना पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा था। राजा जयसिंह और दिलेरखाँ उसका साथ छोड़ गये थे और उसकी सेना की संख्या निरन्तर कम होती जा रही थी। उसने भागकर इलाहाबाद के किले में शरण ली, पंजाब में अपने पिता से मिलने का प्रयत्न किया परन्तु असफल होने पर गढ़वाल में जाकर शरण ली। गढ़वाल के राजा पृथ्वीसिंह ने उसे औरंगजेब को देने से इन्कार कर दिया परन्तु राजा जयसिंह ने राजा के लड़के मेदिनीसिंह को फुसला लिया जिसने चुपके से सुलेमान शिकोह को राजा जयसिंह को सौंप दिया। इस प्रकार 1660 ई. के अन्तिम दिनों में सुलेमान शिकोह पकड़ा गया । उसे ग्वालियर के किले में बन्दी रखा गया जहाँ धीर-धीरे जहर देकर उसे मार दिया गया (1662 ई.)। मुरादबक्स को 1661 ई. में दीवान अलीनकी की हत्या के अपराध में मृत्यु-दण्ड दिया जा चुका था। परन्तु औरंगजेब ने दारा के छोटे बेटे सिपिर शिकोह को जीवित छोड़ दिया। 12 वर्ष के कारावास के पश्चात् उसे मुक्त कर दिया गया और औरंगजेब ने अपनी तीसरी बेटी की शादी उसके साथ कर दी। इसी प्रकार औरंगजेब ने मुराद के बेटे इजीदबक्स को जीवित छोड़ दिया और अपनी पाँचवीं लड़की की शादी उसके साथ की।

इस प्रकार, अपने सभी विरोधियों को समाप्त करके और अपने पिता को कैद करके औरंगजेब ने मुगल-साम्राज्य के बादशाह का पद ग्रहण किया। यह केवल एक अनुमान का विषय है कि यदि औरंगजेब के स्थान पर दाराशिकोह इस उत्तराधिकार के युद्ध में विजयी होता तो भारत के इतिहास पर इसका क्या प्रभाव पड़ता ? औरंगजेब धार्मिक दृष्टि से कट्टर सिद्ध हुआ। उसकी धार्मिक कट्टरता की नीति अकबर की उदार धार्मिक नीति के विपरीत सिद्ध हुई। इससे भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता और बहादुर राजपूत मुगलों के विरोध में हो गये। औरंगजेब ने हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर करके राज्य की उस एकता को नष्ट कर दिया जिसे अकबर ने स्थापित किया था और जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने सुदृढ़ किया था। इससे राज्य में विभाजन हुआ, विद्रोह हुए और मुगल-साम्राज्य दुर्बल हुआ। दाराशिकोह के इस युद्ध में जीतने और मुगल सिंहासन प्राप्त करने से, सम्भवतया, यह न होता। दारा धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार था। इसी कारण हिन्दुओं और राजपूत सरदारों का उसे विश्वास प्राप्त था। यदि वह मुगल बादशाह बना होता तो, सम्भवतया, भारत में अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की विजय हो जाती और धार्मिक कट्टरता के प्रतिक्रियावादी तत्वों को शक्ति प्राप्त करने का अवसर न मिलता। ऐसी स्थिति में मुगल-साम्राज्य विभाजन, विद्रोह और दुर्बलता से बच जाता और, सम्भवतया, अधिक समय तक जीवित रह पाता। परन्तु यह सभी अनुमान का विषय है। औरंगजेब के पक्ष में एक बात यह अवश्य कही जा सकती है कि अपनी स्थिति को दृढ़ करने के उपरान्त उसने और अधिक रक्तपात नहीं किया। यह इससे स्पष्ट होता है कि उसने दारा और मुराद के छोटे पुत्रों को जीवित ही नहीं रहने दिया था बल्कि अपनी पुत्रियों के विवाह भी उनके साथ किये।

[6]

शाहजहाँ के अन्तिम वर्ष और मृत्यु

शाहजहाँ ने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्ष आगरा के किले के शाह बुर्ज में एक बन्दी की भाँति व्यतीत किये। औरंगजेब ने उसके हीरे-जवाहरात ही उससे नहीं छीने बल्कि उसे आराम की साधारण वस्तुओं से भी वंचित रखा। उसका एकमात्र सहारा उसकी पुत्री जहानआरा थी जिसने उसकी मृत्यु तक उसकी सेवा की। 1666 ई. में अपनी प्रिय पत्नी मुमताजमहल की याद करते हुए और ताजमहल को निहारते हुए शाहजहाँ की मृत्यु हो गयी। ताजमहल में उसकी प्रिय पत्नी की कब्र के निकट ही शाहजहाँ को साधारण नौकरों द्वारा दफना दिया गया।

[7]

मुमताजमहल

मुमताजमहल शाहजहाँ की सबसे प्रिय पत्नी थी। इतिहास में प्रख्यात शाहजहाँ के सभी पुत्रों एवं पुत्रियों का जन्म उसी से हुआ। उसका बचपन का नाम अर्जुमन्दबानू बेगम था। 1594 ई. में उसका जन्म हुआ और 1612 ई. में उसका विवाह हुआ । शाहजहाँ से उसके चौदह बच्चे हुए । 1631 ई. में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हुई। मुमताजमहल अपने पति के प्रत्येक सुख और दुख में उसके साथ रही। मुमताजमहल बहुत सुन्दर, सुयोग्य, शिक्षित और उदार स्त्री थी। उसका पिता आसफखाँ राज्य का प्रमुख सरदार था जिसने उसका लालन-पालन बहुत ही सहृदयता से किया था। मुमताजमहल का मुख्य गुण उसका पति-परायण होना था। इसके अतिरिक्त वह धर्म-परायण थी। वह इस्लाम धर्म के अनुसार पूजा-पाठ, उपवास आदि नियमपूर्वक करती थी। दान-दक्षिणा का भी उसने प्रबन्ध किया था। गरीबों, अपाहिजों, अनाथों और विधवाओं के प्रति वह बहुत कृपालु थी और दिल खोलकर दान करती थी। राजनीति में उसने कोई हस्तक्षेप नहीं किया था परन्तु यह कहा जाता है कि उसके कट्टर धार्मिक विचारों का प्रभाव शाहजहाँ पर पड़ा था। उसकी अन्तिम इच्छा की पूर्ति के लिए उसकी याद में शाहजहाँ ने आगरा में विश्व-प्रसिद्ध ताजमहल का निर्माण कराया।

[8]

शाहजहाँ का चरित्र, व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

शाहजहाँ के चरित्र, व्यक्तित्व और कार्यों के बारे में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। इसी कारण यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि 'शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं।' निश्चय ही तथ्य कुछ ऐसे हैं जिससे शाहजहाँ के चरित्र को समझना और उसके कार्यों का मूल्यांकन करना कुछ असुविधाजनक है। शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व के दो पहलू हैं। एक तरफ वह सुशिक्षित, सभ्य, शालीन, चरित्रवान, उदार, न्यायप्रिय, प्रजापालक, कला-प्रेमी और साहित्य की प्रगति में सहायता प्रदान करने वाला था और दूसरी तरफ वह कठोर, आतंकी, ऐश्वर्य-पसन्द, स्वार्थी और धर्मान्ध था। समय-समय पर प्रकट होने वाली इस विरोधी प्रकृति के कारण ही डॉ. एस. आर. शर्मा लिखते हैं : "कुछ मामलों में शाहजहाँ में विरोधाभास था।"

शाहजहाँ सुशिक्षित, सभ्य और मिलनसार था। उसने स्वयं अच्छी शिक्षा प्राप्त की थी और सभी विद्वानों का वह सम्मान करता था। फारसी और संस्कृत भाषा की प्रगति

उसके संरक्षण में हुई। ललित-कलाओं का उसे शौक था। उसने स्थापत्य-कला, चित्रकला और गायन-कला की उन्नति में सहयोग दिया। वह स्वयं अच्छा गायक था। बहु-विवाह करते हुए भी वह पत्नीव्रत था। मुमताजमहल के उसका प्रेम इतिहास की कहानी बन गया है। उसे अपने बच्चों में प्रेम था और उसने सभी को पूर्ण और उदारता से शिक्षा प्रदान की थी। **वह एक योग्य सैनिक और सेनापति था।** अपने पिता के समय में उसने अनेक युद्धों में भाग लिया और सफलता प्राप्त की। अपनी बादशाहत के समय में भी वह अन्त तक युद्ध की योजनाएँ स्वयं बनाता रहा था। **एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से उसने अहमदनगर के राज्य को जीतकर राज्य-विस्तार किया तथा बीजापुर और गोलकुण्डा को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया।** मध्य-एशिया और कन्धार की पुनः प्राप्ति के लिए उसने प्रयत्न किये थे। **शासन की दृष्टि से वह न्यायप्रिय और प्रजापालक था।** उसके समय में व्यापार, उद्योग और कृषि उन्नतशील स्थिति में थे और राज्य धन-धान्य से पूर्ण था। उसे शासन-प्रबन्ध में रुचि थी और वह उसके लिए अत्यधिक परिश्रम करता था। उसने मनसबदारी-प्रथा में सुधार किया। उसने अकाल और कठिनाइयों के अवसर पर प्रजा की सहायता की। धार्मिक दृष्टि से उसके विचार और उसके कार्य अकबर और जहाँगीर की तुलना में संकीर्ण और अनुदार सिद्ध हुए परन्तु तब भी हिन्दुओं और ईसाइयों के दैनिक धार्मिक जीवन में उसने कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मि. डेलावेल ने लिखा है : "काम्बे (खम्भात) में गौ-हत्या बन्द कर दी गयी थी।" मि. मेनरिक ने लिखा है : "हिन्दू जिलों में पशु-वध निषेध था।" शाहजहाँ हिन्दुओं के सभी उत्सवों एवं त्यौहारों में भाग लेता था और 'तुलादान', 'झरोखा-दर्शन' आदि जैसी हिन्दू-प्रथाएँ उसके समय में पहले शासकों की भाँति मानी जाती रही थीं। **उसने राजपूत सरदारों के साथ सम्मान और विश्वास का व्यवहार किया** जिसके कारण वे मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा के लिए पहले की भाँति ही तत्पर रहे। सभी बातें शाहजहाँ के पक्ष में ठीक मानी जा सकती हैं।

परन्तु शाहजहाँ के चरित्र और व्यक्तित्व का दूसरा पहलू भी है। अनेक ऐसे अवसर आये और ऐसी घटनाएँ हुईं जब शाहजहाँ ने कठोरता और बर्बरता से कार्य किया। अपने पिता के विरुद्ध उसने विद्रोह किया था तथा अपने सभी भाइयों और राज्य के सम्भावित उत्तराधिकारियों को क्रूरता से समाप्त करके उसने राज्य-सिंहासन प्राप्त किया था। एक पिता की दृष्टि से उसने दाराशिकोह के प्रति अधिक प्रेम दर्शाकर पक्षपात का परिचय दिया था और अपने पुत्रों पर नियन्त्रण रखने में वह असफल रहा था। कन्धार और मध्य-एशिया के असफल आक्रमणों ने उसकी सैनिक दुर्बलता को प्रकट किया जिससे राज्य के सम्मान में कमी आयी। इतिहासकार स्मिथ के अनुसार, "शाहजहाँ मनुष्य और शासक दोनों ही रूप में असफल रहा था।" **उसके समय में किसानों पर कर का भार अधिक हो** गया और उद्योग तथा व्यापार की उन्नति होने के पश्चात् भी राज्य की बढ़ती हुई सम्पत्ति का सदुपयोग नहीं किया गया। **शाहजहाँ ने अपने पितामह और पिता द्वारा संचित धन और राज्य की बढ़ती हुई आय का प्रयोग अपने व्यक्तिगत शौकों की पूर्ति के लिए किया।** उसकी विभिन्न इमारतें, तख्त-ए-ताऊस आदि इसके प्रमाण थे। धार्मिक दृष्टि से उसके समय से अकबर की उदारता का समय समाप्त हो गया। उसके समय में ओरछा के हिन्दू-मन्दिरों को नष्ट किया गया और युद्ध में पकड़े गये बन्दियों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। बनारस के अनेक हिन्दू-मन्दिरों को शाहजहाँ के आदेश से तोड़ दिया गया और उस अकेले शहर में ही, सम्भवतया, 76 हिन्दू-मन्दिर नष्ट किये गये। हिन्दुओं पर कर का भार बढ़ा दिया गया था। हिन्दुओं पर पुनः तीर्थयात्रा-कर लगा

दिया गया। पंजाब और कश्मीर में हिन्दू और मुसलमान विवाह-कर देते थे, जिसे रोक दिया गया। हिन्दुओं को मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनने से रोक दिया गया और हिन्दुओं के स्थान पर मुसलमानों को सरकारी सेवाओं में प्राथमिकता दी गयी। यद्यपि बाद के समय में दाराशिकोह के प्रभाव के कारण इस अनुदार नीति में कुछ परिवर्तन किया गया परन्तु तब भी उसके समय में धार्मिक अनुदारता का समय आरम्भ हो गया था। शाहजहाँ ने मक्का और मदीना के धार्मिक व्यक्तियों और निवासियों के लिए बहुमूल्य उपहार और दान के लिए धन भेजा। इस प्रकार **शाहजहाँ के चरित्र का दूसरा पहलू असफलता, अपव्यय और अनुदारता का है।**

उपर्युक्त दोनों पक्षों पर ठीक प्रकार विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि शाहजहाँ के चरित्र में कुछ दोष थे और कुछ क्षेत्रों में उसका समय असफलता और हानियों का था। परन्तु **यदि उसके जीवन से उन कार्यों को निकाल दिया जाय अथवा उनके महत्व को कम कर दिया जाय जो शाहजहाँ ने सिंहासन पर बैठने के अवसर पर किये अथवा कभी-कभी क्रोधवश अथवा परिस्थितियोंवश किये, तो शाहजहाँ का व्यक्तित्व, चरित्र और इतिहास में स्थान पर्याप्त अच्छा स्वीकार किया जा सकता है। उसके चरित्र में अवगुण कम और गुण अधिक स्वीकार किये जा सकते हैं।** निस्सन्देह, उसकी असफलताएँ कम और सफलताएँ अधिक थीं। शाहजहाँ के आलोचकों में यूरोपियन इतिहासकार अधिक हैं परन्तु वह भी उसके दोषों को गिनाने के पश्चात् उसके समय को श्रेष्ठ बताते हैं। इतिहासकार स्मिथ ने शाहजहाँ की कटु आलोचना की है, परन्तु उसने भी लिखा है : "शाहजहाँ के व्यक्तिगत चरित्र और उसके शासन की सफलता के बारे में चाहे जो भी धारणा रखी जाय परन्तु इसमें कोई विवाद नहीं है कि उसका समय मुगल-वंश और मुगल-साम्राज्य की पराकाष्ठा का था।" भारतीय इतिहाकारों में से अधिकांश उसको इतिहास में अच्छा स्थान प्रदान करने के पक्ष में हैं। शाहजहाँ का स्थान, निस्सन्देह, अपने पितामह अकबर से निम्न तथा अपने पिता जहाँगीर से श्रेष्ठ माना जा सकता है।

[9]

शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था ?

शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं, यह इतिहासकारों के लिए विवाद का प्रश्न है। अनेक इतिहासकार इसे मुगल-काल का ही नहीं वरन् मध्ययुगीन भारत के इतिहास का स्वर्ण-काल मानते हैं और इसमें सन्देह नहीं कि यदि शाहजहाँ के काल को मुगल-काल का स्वर्ण-काल मान लिया जाता है तो मध्ययुगीन भारत के इतिहास के स्वर्ण-काल का स्थान उसे स्वतः प्राप्त हो जाता है। परन्तु विभिन्न इतिहासकार ऐसे भी हैं जिनका यह कहना है कि शाहजहाँ के काल की बाहरी चमक-दमक के कारण उसे मुगल-काल का स्वर्ण-काल केवल भ्रमवश मान लिया जाता है अन्यथा यह स्थान उसे प्राप्त नहीं होना चाहिए। उन्हीं में से कुछ इतिहासकारों का यहाँ तक कहना है कि कुछ दृष्टिकोणों से तो मुगल-वंश की दुर्बलताओं का आरम्भ उसके समय से ही हो गया था। इस कारण शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था अथवा नहीं, यह प्रश्न विवादपूर्ण है।

शाहजहाँ के शासन-काल के आलोचकों में से अधिकांश यूरोपीय इतिहासकार हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार 1627 से 1658 ई. तक का प्रायः तीस वर्ष का शाहजहाँ का शासन-काल साधारणतया मुगल-शासन का स्वर्ण-काल कहलाता है। **निस्सन्देह, बाह्य दृष्टि से वह सम्पन्नता का युग था। उस समय में विदेशी युद्ध बहुत कम हुए, देश में शान्ति और**

समृद्धि थी तथा राजकोष भरपूर था। शाहजहाँ ने अपने पितामह और पिता से अतुल सम्पत्ति प्राप्त की थी, फारस में एक दृढ़ साम्राज्य की स्थापना हो जाने के कारण पश्चिमी देशों से भारत केव्यापार में वृद्धि हुई भी और यूरोप से होने वाले व्यापार से भारत को बहुत लाभ प्राप्त होता था। परन्तु इन सभी लाभों के होते हुए भी यथार्थ में शाहजहाँ के समय से मुगलों की शक्तिं और आर्थिक व्यवस्था पतन की ओर अग्रसर होने लगी। शाहजहाँ की फिजूलखर्ची और शासनाधिकारियों एवं उसकी शानदार इमारतों पर किये गये अपव्यय के कारण किसानों और मजदूरों पर (जिन पर साम्राज्य का जीवन निर्भर करता था) अत्यधिक बोझ डाल दिया गया। इससे राज्य पर जो आर्थिक संकट आया और जो उसके उत्तराधिकारी के समय में अधिक स्पष्ट हुआ, वह इस महान् संगठन के पतन का एक मुख्य कारण बना जिसे शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर से प्राप्त किया था।

इस प्रकार इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "आधुनिक इतिहासकारों, मुख्यतया एल्फिन्सटन ने शाहजहाँ के साथ अनावश्यक पक्षपात किया है। शाहजहाँ के दरबार को शान-शौकत, उसके साम्राज्य का विस्तार और सम्पत्ति, उसकी इमारतों के सौन्दर्य और मुख्यतया ताजमहल ने आधुनिक इतिहासकारों को चकाचौंध कर दिया है और वह उसके अनेक अपराधों को भुलाकर उसकी अत्यधिक प्रशंसा करते हैं···सेनापति की दृष्टि से वह अयोग्य था और उसकी सेना का संगठंन और नेतृत्व अनुपयुक्त था।" स्मिथ ने आगे लिखा हैः "राज्यों के कार्यों में वह निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहींन था।" शाहजहाँ के न्याय के बारे में स्मिथ लिखता है : "शाहजहाँ का न्याय बर्बर एवं भावनाहीन आतंक से पूर्ण, एशिया के साधारण निरंकुशी शासक का न्याय था जिसमें व्यक्तियों के सम्मान का कोई स्थान न था और जिसमें दयालुता नाममात्र के लिए भी न थी।" स्मिथ ने अपने तर्क के समर्थन में अन्य यात्रियों और इतिहासकारों के विचारों को भी प्रस्तुत किया है। वह लिखता है : "पीटर मुण्डी और अनेक यात्रियों के विवरण देश के कुशासन को सिद्ध करते हैं ।" इसी प्रकार वह लिखता है : "बर्नियर ने जिसे शाहजहाँ और औरंगजेब के पक्ष अथवा विपक्ष में होने का कोई कारण नहीं था और जिसने मुगल-शासन के उस समय का वर्णन लिखा है जबकि मुगल-वंश पूर्णरूप से स्थापित, अत्यन्त धनवान और विदेशी आक्रमण से मुक्त था, उत्तरी प्रान्तों की स्थिति के बारे में लिखा था कि प्रत्येक स्थान पर बरबादी फैली थी।" उसी प्रकार स्मिथ ने दरबार के इतिहासकार अब्दुल हमीद के वर्णन को भी अपने तर्क के समर्थन में प्रस्तुत किया है और कहा है : "अन्य इतिहासकारों की भाँति उसने विपत्तियों पर पर्दा डालने का प्रयत्न नहीं किया है।" इस प्रकार तत्कालीन यात्रियों एवं इतिहासकारों के वर्णनों को प्रमाण के रूप में देते हुए स्मिथ ने शाहजहाँ के शासन और उसके समय की आलोचना की है। उसने लिखा है : "जहाँ तक पीटर मुण्डी ने देखा, दक्षिण में अकाल पड़ने के समय राज्य की ओर पीड़ित जनता के लिए कोई कार्य नहीं किया गया था जबकि बुरहानपुर में शाहजहाँ के निवास-स्थल पर प्रत्येक प्रकार की वस्तुएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं।" डॉ. जदुनाथ सरकार का दृष्टिकोण शाहजहाँ के प्रति इतना अनुदार नहीं है परन्तु अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'मुगल भारत का अध्ययन'* (*Studies in Mughal India*) में शाहजहाँ के दैनिक कार्यक्रम का वर्णन उन्होंने किया है तथा लिखा है : "यद्यपि शाहजहाँ अत्यधिक परिश्रमी था तब भी उसके शासन-काल में मुगल-वंश की अवनति का बीजारोपण हुआ था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी अपनी पुस्तक *'मुगलकालीन भारत'* में लिखा है : "शाहजहाँ का राज्यकाल भारत के मध्यकालीन इतिहास में स्वर्ण-युग के नाम से प्रसिद्ध है। यह केवल कला और कला में भी वास्तुकला की दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता है।" वह पुनः लिखते हैं : "उसकी धर्मान्धता और अनुदारता

औरंगजेब के कट्टर शासन की अग्रदूत थी। उसकी भेंट तथा उपहार स्वीकार करने की प्रथा ने एक प्रकार से रिश्वत को प्रोत्साहन दिया और भेंट एवं उपहार देना राजकीय दरबार में ही नहीं वरन् राजकीय परिवार तथा अमीरों व सामन्तों में एक प्रथा का रूप धारण कर गयी। इससे राज्य-प्रबन्ध में भ्रष्टाचार फैल गया। अपनी बाहरी ठाठ-बाट के कारण वह जनता से अनुचित रूप से धन एकत्र करने के लिए बाध्य हुआ तथा उसकी विलासप्रियता ने जनता का नैतिक स्तर नीचा करने के लिए एक बहुत बुरा उदाहरण प्रस्तुत किया।" इसमें भी सन्देह नहीं कि शाहजहाँ के समय में धार्मिक अनुदारता की नीति आरम्भ हो चुकी थी, प्रतिक्रियावादी तत्वों का प्रभाव शासन और राजनीति में बढ़ गया था तथा राजपूतों को भी शासन में पहले की भाँति उचित सम्मान प्राप्त नहीं हो रहा था । इस प्रकार, शाहजहाँ के शासन-काल में अकबर द्वारा स्थापित राज्य के विस्तृत आधार को संकुचित कर दिया गया था जो, निस्सन्देह, हानिकारक था। इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने शाहजहाँ के समय की दुर्बलता की ओर अधिक या कम मात्रा में ध्यान दिलाया है और उसके आधार पर शाहजहाँ के काल को या तो स्वर्ण-काल स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है अथवा उसे केवल सीमित मात्रा में ही मुगल-काल का स्वर्ण-काल स्वीकार किया है।

परन्तु अन्य विभिन्न इतिहासकार ऐसे भी हैं जिन्होंने शाहजहाँ के काल को प्रत्येक प्रकार से देखकर यह निर्णय किया है कि शाहजहाँ का काल मुगल-काल का स्वर्ण-काल कहलाने का अधिकारी है। डॉ. एस. आर. शर्मा ने शाहजहाँ के काल को स्पष्ट रूप से मुगल-काल का स्वर्ण-काल स्वीकार किया है। वह लिखते हैं : "यद्यपि आरम्भ में विद्रोह हुए जो शीघ्रता से दबा दिये गये, यद्यपि राज्य की सीमाओं से बाहर आक्रमणकारी विदेशी युद्ध लड़े गये जो पूर्णतया असफल रहे और जिनमें अपार धन व्यय हुआ, यद्यपि दक्षिण और गुजरात में अकाल पड़ा जिन्होंने देश के विस्तृत भू-प्रदेश को बरबाद कर दिया, और यद्यपि दक्षिण में निरन्तर युद्ध हुआ जिसका परिणाम अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा पर आधिपत्य था परन्तु जिसने साम्राज्य के आर्थिक साधनों पर बहुत दबाव डाला, तब भी शाहजहाँ के युग में बहुत कुछ ऐसा था जो कीर्तिमय था तथा उसमें अद्वितीय सम्पन्नता के अनेक ऐसे संशय-रहित चिन्ह थे जिनके कारण उसे साम्राज्य का स्वर्ण-काल कहना न्यायपूर्ण है।" अपने पक्ष का पोषण करते हुए डॉ. शर्मा लिखते हैं : "हमारा आशय शाहजहाँ के युग की दुर्बलताओं और बुराइयों को छिपाने का नहीं है। उनको मानते हुए भी यह आवश्यक है कि हम उसके समय की संशयरहित सम्पन्नता को स्वीकार करें चाहे वह सम्पन्नता कितने ही थोड़े समय की क्यों न हो।" उनका कहना है : "अपव्ययपूर्ण नौकरशाही, किसानों और मजदूरों पर अत्यधिक बोझा, राष्ट्र का दिवालियापन आदि जैसे विचार विवादपूर्ण हैं और औरंगजेब के दोषों तथा मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उसे जिम्मेदार बताना तर्कपूर्ण नहीं है।" उनके अनुसार, "इतिहासकार स्मिथ ने शाहजहाँ के अत्यधिक पक्ष में प्रकट किये गये विचारों को दुर्बल करने के लिए उसकी अच्छाइयों को भुला दिया और उसके समय की बुराइयों पर बल दिया।" वह कहते हैं : "स्वयं स्मिथ जहाँ शाहजहाँ को निर्दयी, दगाबाज और सिद्धान्तहीन बताता है वहाँ वह यह भी स्वीकार करता है कि सम्भवतया शाहजहाँ अपने युग के अन्य अधिकांश बादशाहों से बुरा न था यद्यपि निस्सन्देह उनसे अच्छा भी न था।" वह कहते हैं : "स्मिथ ने पीटर मुण्डी और बर्नियर के विवरणों के उन भागों को उद्धृत किया है जो शाहजहाँ के समय की बुरी स्थिति के बारे में दिये गये थे परन्तु उन्हीं व्यक्तियों के विवरणों ने उन अंशों को भुला दिया है जिनमें शाहजहाँ के समय की

सम्पन्नता और गरीबों के लिए सहायता का वर्णन है। बर्नियर ने अपने विवरण में बंगाल के सूबे की सम्पन्नता का विस्तृत उल्लेख किया है।"

अन्य विभिन्न तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने भी शाहजहाँ के युग की विभिन्न प्रकार से प्रशंसा की है। तत्कालीन इतिहासकार राय भारमल ने अपनी पुस्तक 'लुब्ब-उत-तवारीख' में लिखा है : "अकबर के समय में जिस परगने की आय तीन लाख थी अब उसकी आय केवल 10 लाख है। यद्यपि इस शासन की तुलना में पिछले शासकों का व्यय 1/4 भी नहीं था तब भी बादशाह ने बहुत शीघ्र इतना बड़ा खजाना एकत्र कर लिया था जितना कि उससे पहले के शासक वर्षों में कर पाते।" तत्कालीन इतिहासकार खफीखाँ ने लिखा है: "यद्यपि विजेता और व्यवस्थापक की दृष्टि से अकबर श्रेष्ठतम था परन्तु अपनी भूमि और अर्थ-व्यवस्था, शान्ति और व्यवस्था तथा राज्य के प्रत्येक विभाग के अच्छे शासन-प्रबन्ध की दृष्टि से ऐसे किसी बादशाह ने भारत में शासन नहीं किया जिससे शाहजहाँ की तुलना की जा सके।" ट्रेवर्नियर जिसने निरन्तर भारत के अधिकांश भागों का भ्रमण किया था, लिखता है : "शाहजहाँ ने एक बादशाह की भाँति अपनी प्रजा पर शासन नहीं किया बल्कि ऐसे किया जैसे कि एक पिता अपने परिवार और बच्चों पर करता है।" शाहजहाँ के समय में शान्ति और व्यवस्था थी। वह स्वयं शासन की देखभाल करता था और उसका शासन सफल था। बर्नियर ने एक स्थान पर लिखा है : "हिन्दुस्तान में भूमि का प्रत्येक एकड़ बादशाह की सम्पत्ति समझा जाता है और एक किसान को बर्बाद करना बादशाह के राज्य पर डाका डालने के समान समझा जाता है।" मोरलैण्ड ने लिखा है : "शाहजहाँ का युग किसानों के लिए शान्ति का युग था।" शाहजहाँ का न्याय कठोर था परन्तु वह निष्पक्ष था। एल्फिन्सटन ने शाहजहाँ के समय के बारे में लिखा है : "शाहजहाँ का काल भारतीय इतिहास में सर्वाधिक समृद्धि का काल था।"

इस प्रकार विभिन्न इतिहासकारों ने शाहजहाँ के शासन-काल की प्रशंसा की है। शाहजहाँ परिश्रमी, योग्य और न्यायप्रिय था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उसके समय में शान्ति और व्यवस्था थी, व्यवसाय, उद्योग एवं व्यापार उन्नति पर थे, किसानों की भलाई का ध्यान रखा जाता था, अत्याचारी सरकारी कर्मचारियों और अपराधियों को कठोर दण्ड दिया जाता था तथा राज्य प्रगति-पथ पर था। शाहजहाँ ने जिस विपुल सम्पत्ति को एकत्रित किया और जिसका उसने प्रदर्शन भी किया, वह शासन की अव्यवस्थित स्थिति में अथवा जनसाधारण की निर्धनता की स्थिति में एकत्र नहीं की जा सकती थी। शाहजहाँ ऐश्वर्य-पसन्द था। उसने दो लाख पचास हजार रुपये की कीमत के हीरे-जवाहरातों से जुड़ी हुई एक मशाल मुहम्मद साहब के मकबरे को भेंट की थी, पचास हजार रुपये मक्का के धर्म-गुरु को भेंट किये थे और साठ हजार रुपये मक्का के निवासियों में तथा पचास हजार रुपये मदीना के निवासियों में बँटवाये थे। उसका तख्त-ए-ताऊस तीन गज लम्बा, ढाई गज चौड़ा, पाँच गज ऊँचा और 12 खम्भों वाला रत्नजड़ित सिंहासन था। उसके प्रत्येक खम्भे के ऊपर दो मोर थे और उसके बीच में एक वृक्ष बनाया गया था। सात वर्ष में तैयार किये गये इस सिंहासन में प्रायः एक करोड़ रुपया व्यय हुआ था। संसार-प्रसिद्ध कोहनूर हीरा भी शाहजहाँ के पास था। इन सभी से यह स्पष्ट होता है कि निरन्तर होने वाले युद्धों में धन का अपव्यय होने के बावजूद भी राज्य धनवान था। बादशाह के बड़े-बड़े सरदार और जागीरदार भी इसी प्रकार की शान-शौकत की स्थिति में रहते थे। आसफखाँ अतुल सम्पत्ति का मालिक था, शाहजहाँ के समय में आर्थिक कारणों से कोई असन्तोष और विद्रोह नहीं हुआ था,

दक्षिण और गुजरात के अकाल के अवसरों पर प्रजा को समुचित सहायता दी गयी थी और युद्ध के अवसर पर खेती की हानि हो जाने पर बादशाह उनकी पूर्ति कर दिया करता था—ऐसे प्रमाण और उदाहरण प्राप्त होते हैं। **ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि शाहजहाँ के समय में मुगल-राज्य की सम्पन्नता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।**

राज्य-विस्तार की दृष्टि से दक्षिण के राज्यों को अपनी अधीनता में लाने में शाहजहाँ सफल रहा था। मध्य-एशिया में सफलता न मिलना और कन्धार को जीतने के तीनों प्रयत्नों का असफल होना धन का अपव्यय और सैनिक दुर्बलता अवश्य माना जा सकता है परन्तु उनसे राज्य पर कोई संकट नहीं आया था।

साहित्यिक दृष्टि से शाहजहाँ के समय में फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि सभी भाषाओं को संरक्षण प्राप्त हुआ और उनकी प्रगति हुई। 'गंगाधर' और 'गंगा-लहरी' के लेखक जगन्नाथ पण्डित शाहजहाँ के राजकवि थे। आचार्य सरस्वती और 'सुन्दर श्रृंगार', 'सिंहासन-बत्तीसी' तथा 'बारहमासा' के लेखक सुन्दरदास को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। कवि चिन्तामणि पर भी शाहजहाँ की कृपा थी। डॉ. सक्सेना ने लिखा है : "शाहजहाँ का युग प्रायः उस समय से मिल जाता है जिसे हिन्दी-साहित्य और भाषा की प्रगति का सबसे देदीप्यमान युग कहा जाता है।" फारसी भाषा में भी अच्छे ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। अब्दुल हमीद लाहौरी ने 'पादशाहनामा' लिखा और अमीन काजवानी ने 'शाहजहाँनामा' की रचना की। शाहजहाँ का बड़ा पुत्र दाराशिकोह स्वयं अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। उसके संरक्षण में संस्कृत की अनेक पुस्तकों का फारसी में अनुवाद कराया गया। मुंशी बनवारीदास ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का अनुवाद किया और इब्न हरकिरन ने 'रामायण' का अनुवाद किया। साहित्य के अलावा शाहजहाँ के समय में ज्योतिषशास्त्र, अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित आदि की भी प्रगति हुई। राजकीय संरक्षण के साथ-साथ व्यक्तिगत प्रयत्नों से भी इन सभी क्षेत्रों में प्रगति हुई।

शाहजहाँ को सभी ललित-कलाओं का शौक था। चित्रकला में यद्यपि जहाँगीर के समय की भाँति प्रगति नहीं हुई परन्तु शाहजहाँ ने जहाँगीर की परम्परा को स्थापित रखा। शाहजहाँ गाना सुनने का शौकीन था और स्वयं भी बहुत अच्छा गाता था। उसने सुखसेन, सूरसेन और जगन्नाथ जैसे गायकों को राजकीय संरक्षण प्रदान किया।

परन्तु शाहजहाँ के समय में सबसे अधिक उन्नति वास्तु-कला (स्थापत्य-कला) की हुई। इस दृष्टि से उसका काल, निस्सन्देह, मुगल-काल का स्वर्ण-काल था, यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं। उसके समय में न केवल संख्या की दृष्टि से इमारतों की श्रेष्ठता रही बल्कि कलात्मक दृष्टि से भी प्रगति हुई। दिल्ली का लाल किला और जामा मस्जिद, आगरा के किले में मोती-मस्जिद, दीवाने-आम, दीवाने-खास और संसार-प्रसिद्ध ताजमहल, लौहार के किले में दीवाने-आम, मुसम्मम बुर्ज, शीशमहल, नौलक्खा और ख्वाबगाह तथा काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार आदि विभिन्न स्थानों पर बनवायी गयी इमारतें, महल, मकबरे और बगीचे आदि शाहजहाँ के युग को वास्तु-कला की दृष्टि से मुगल-काल में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करते हैं। ताजमहल को संसार की सुन्दरतम इमारतों में स्थान दिया गया है और मोती-मस्जिद का नाम उसकी सुन्दरता के कारण ही 'मोती-मस्जिद' रखा गया है। शाहजहाँ ने एक 98 मील लम्बी रावी-नहर लौहार तक बनवायी और एक दूसरी नहर

'नहर-ए-साहिब' (फीरोज-तुगलक द्वारा बनवायी गयी) को न केवल ठीक ही कराया बल्कि उसे 60 मील और लम्बा कराया तथा उसका नाम 'नहर-ए-शाह' रखा।

इस प्रकार, शाहजहाँ का समय साम्राज्य-विस्तार, शान्ति, सम्पन्नता और सांस्कृतिक दृष्टि से मुगल-काल का स्वर्ण-काल माना जा सकता है। अकबर ने जिस साम्राज्य और शासन की स्थापना की और जहाँगीर ने जिसे पल्लवित किया, उसके फल शाहजहाँ के समय में प्राप्त हुए। विलियम हन्टर ने लिखा है : "शाहजहाँ के समय में मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति और ऐश्वर्य की पराकाष्ठा पर पहुँच गया ।" उसी प्रकार सर रिचार्ड बर्न ने लिखा है : "शाहजहाँ ने 31 वर्ष शासन किया था। उस समय में उसके वंश का साम्राज्य प्रतिष्ठा और सम्पत्ति की चरम-सीमा पर पहुँच गया।"

परन्तु एक बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है कि राज्य में जो सम्पन्नता आयी उसका लाभ बादशाह और जागीरदारों को ही प्राप्त हुआ था। बहुसंख्यक किसानों का इससे कोई लाभ नहीं हुआ था क्योंकि शाहजहाँ के समय में लगान उत्पादन का आधा भाग होता था और राज्य की अधिकांश खालसा-भूमि (बादशाद की भूमि) को जागीरदारों की भूमि में परिवर्तित कर दिया गया था।

7

औरंगजेब (1658-1707 ई.)

शाहजादे की स्थिति में औरंगजेब ने एक योग्य सेनापति तथा कुशल शासन-प्रबन्धक होने का परिचय दिया। उत्तराधिकार के युद्ध में गतिशीलता, सैन्य-संगठन, नेतृत्व एवं अवसर का सदुपयोग करने की जिस क्षमता का परिचय उसने दिया, उसके कारण वह अपने भाइयों के विरुद्ध सफलता पा सका। निस्सन्देह, उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब की सफलता साम्राज्य के लिए आकांक्षी शाहजादों में से सबसे योग्य सेनापति और व्यावहारिक कूटनीतिज्ञ शाहजादे की सफलता थी। इस सफलता से मुगल-साम्राज्य का संचालन दृढ़ एवं शक्तिशाली हाथों में हो गया। औरंगजेब ने एक लम्बे समय तक भी शासन किया जिससे उसकी शक्ति, दृढ़ता और योग्यता का लाभ साम्राज्य को प्राप्त हो सकता था। औरंगजेब को शान्त, दृढ़, विस्तृत और समृद्धशाली साम्राज्य प्राप्त हुआ था। उसने उसका अत्यधिक विस्तार किया परन्तु तब भी औरंगजेब असफल हुआ। उसके समय के अन्तिम दिनों में मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो गया था। औरंगजेब एक महान् शासक था, परन्तु उसकी असफलता भी अभूतपूर्व थी।

3 नवम्बर, 1618 ई. को उज्जैन के निकट दोहद नामक स्थान पर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब का जन्म हुआ था। जिस समय शाहजहाँ का अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह असफल हुआ उस समय दाराशिकोह और औरंगजेब को नूरजहाँ के पास बन्धक के रूप में रखा गया। जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् उनको मुक्त किया गया। औरंगजेब की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया गया। सैनिक-शिक्षा के साथ-साथ उसने धार्मिक ग्रन्थों तथा अरबी, फारसी, तुर्की और हिन्दी भाषा को भी सीखा । उसका पहला सैनिक-अभियान बुन्देलखण्ड के शासक जूझरसिंह के विरुद्ध हुआ जिसमें उसने सफलता प्राप्त की। उसके पश्चात् औरंगजेब ने समय-समय पर दक्षिण के सूबेदार (दो बार), गुजरात का सूबेदार, बल्ख (मध्य-एशिया) और कन्धार के आक्रमण का सेनापति आदि के रूप में कार्य किया और सैनिक कूटनीतिज्ञ तथा शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से अनुभव प्राप्त किया। उत्तराधिकार के अवसर पर वह दक्षिण का सूबेदार था। अपने भाइयों को मारकर और शाहजहाँ को कैद करके उसने राज्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसका पहला राज्याभिषेक दिल्ली में 31 जुलाई, 1658 ई. को और दूसरा राज्याभिषेक भी दिल्ली में ही 15 जून, 1659 ई. को हुआ तथा 'अब्दुल मुजफ्फर मुहीउद्दीन मुहम्मद औरंगजेब बहादुर आलमगीर पादशाह गाजी' की उपाधि धारण कर वह मुगल बादशाह के सिंहासन पर आसीन हुआ।

[1]

औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त : धार्मिक असहिष्णुता और उसके परिणाम

एक पत्र में अपने पिता को औरंगजेब ने लिखा था : "जहाँपनाह अच्छी तरह जानते हैं कि अल्लाह उसी को उत्तरदायित्व सौंपता है जो अपनी प्रजा की भलाई और उसकी रक्षा करने के कर्तव्य की पूर्ति करता है····सम्प्रभुता का अर्थ प्रजा की रक्षा है, न कि भोग-विलास और अफीम।" औरंगजेब ने एक बार कहा था : "वास्तव में महान् बादशाह वह है जो अपनी प्रजा पर समानता से शासन करना अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझता है।"बादशाह के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के विषय में औरंगजेब के यह विचार सर्वथा निर्मूल न थे। उसने अपनी प्रजा की भलाई को अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य समझा था, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। अपनी प्रजा की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक स्थिति को ही नहीं अपितु धार्मिक और नैतिक स्थिति की उन्नति करना भी औरंगजेब अपना कर्तव्य मानता था। भारत जैसे कृषि-प्रधान देश में राज्य की समृद्धि किसानों की समृद्धि और एक अच्छी लगान-व्यवस्था पर निर्भर करती थी। औरंगजेब ने किसानों का पूरा ध्यान रखा और व्यापारियों, उद्योगपतियों आदि सभी की उन्नति का प्रयत्न किया और इसके लिए उसने विभिन्न कानून बनाये। सिंहासन पर बैठते ही औरंगजेब ने करीब 80 करों को समाप्त कर दिया। इन्हीं में से 'राहदारी' (परिवहन-कर), 'पानडारी' (चुंगी-कर) विभिन्न प्रमुख स्थानीय कर थे, जिन्हें 'आबवाब' पुकारते थे। इन करों का भार जनसाधारण पर था। इससे यद्यपि राज्य की आय में करोड़ों रुपया प्रति वर्ष की कमी हुई परन्तु जनसाधारण को इससे लाभ हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि स्थानीय अधिकारियों की बेईमानी के कारण इसमें से बहुत से कर जनसाधारण से इसके बाद भी लिये जाते रहे। परन्तु तब भी यह कार्य औरंगजेब की एक अच्छे शासन-प्रबन्धक की भावना के प्रतीक थे। औरंगजेब न्यायप्रिय था। ओविंगटन ने लिखा है : "महान् मुगल न्याय का सागर है।" औरंगजेब बहुत परिश्रमी था। प्रातःकाल 5 बजे से रात तक औरंगजेब सप्ताह के प्रायः सभी दिनों में शासन-कार्य में व्यस्त रहता था। अपने अन्तिम समय तक उसने कठिन युद्धों से भी मुख नहीं मोड़ा था। उसने स्वयं लिखा था : "जब तक जीवन की एक भी साँस बाकी है तब तक परिश्रम और कार्य से छुटकारा नहीं मिल सकता।" एल्फिन्सटन ने लिखा है : "जब बादशाह दक्षिण के युद्धों में लगा हुआ था उसकी आयु अधिक हो गयी थी। तब भी वह शासन के प्रत्येक विभाग की, प्रत्येक छोटे से छोटे अधिकारी की , प्रत्येक सन्देश की, प्रत्येक आक्रमण की और प्रत्येक किले को जीतने की योजना की ओर स्वयं ध्यान देता था।" इस प्रकार औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त महान् था और मध्य-युग के महान् शासक होने के सभी गुण उसमें थे।

परन्तु औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। बादशाहत उसे न केवल अच्छा शासन करने के लिए ही प्राप्त हुई थी बल्कि इस्लाम (और उसमें भी सुन्नी मत) की सुरक्षा और विस्तार के लिए भी प्राप्त हुई थी। औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। औरंगजेब का प्रमुख लक्ष्य इस (भारत) 'दार-उल-हर्ब (काफिरों का देश) को 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना था। औरंगजेब जीवनपर्यन्त इस उद्देश्य को न भूल सका और न कभी अपनी शासन-नीति को इससे पृथक रख सका। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने पुत्र अकबर को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए छोड़ दिया, राजपूतों, जाटों, सिखों एवं मराठों को संघर्ष करने के

लिए बाध्य कर दिया, दक्षिण के शिया-राज्य बीजापुर और गोलकुण्डा को समाप्त कर दिया और अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा पर शासन, सम्मान, धर्म, अर्थ आदि सभी प्रकार से इतना दबाव डालने का प्रयत्न किया कि वह धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हो जाये। औरंगजेब का विश्वास था कि उससे पहले के सभी मुगलों ने सबसे गंभीर भूल यह की थी कि उन्होंने भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। औरंगजेब ने अपने जीवन में इस कार्य को पूरा करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार यह इस्लाम के मानने वाले बादशाह का एक प्रमुख कर्तव्य था। इस धारणा से औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त संकीर्ण बन गया, उसका कर्तव्य सीमित हो गया, उसकी नीति असहिष्णु बन गयी और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का बादशाह न रहा। औरंगजेब स्वयं इस्लाम का विद्वान था, नियमपूर्वक उसके नियमों का पालन करता था, इस्लाम और वह भी उसकी सुन्नी शाखा की श्रेष्ठता में उसका विश्वास था और वह अन्य सभी व्यक्तियों को अपने इस सत्य-धर्म के मार्ग पर लाने के लिए जीवनभर प्रयत्नशील रहा।

यह विचार भी प्रकट किया गया है कि व्यक्तिगत धारणा के अतिरिक्त परिस्थितियों ने भी औरंगजेब को धार्मिक कट्टरता की नीति अपनाने के लिए बाध्य किया था। एक तरफ अकबर की उदार नीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं और राजपूतों को समाज और शासन में प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया था और दूसरी तरफ इस्लाम के प्रतिक्रियावादी तत्व जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में प्रभावपूर्ण बनते जा रहे थे। उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर इन विरोधी तत्वों ने विरोधी शाहजादों का युद्ध में पक्ष लिया । औरंगजेब को प्रतिक्रियावादी तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ जबकि राजपूतों ने उसका विरोध किया। ऐसी स्थिति में युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब का हिन्दुओं एवं राजपूतों के प्रति शंकालु होना और प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन करना स्वाभाविक था। यह विचार तर्कसंगत है परन्तु तब भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति का मुख्य आधार उसकी धार्मिक कट्टरता की स्वयं की धारणा थी।

औरंगजेब ने सिक्कों पर कलमा का खुदवाना बन्द कर दिया, नौरोज का त्यौहार मनाना बन्द कर दिया, तुलादान और झरोखा-दर्शन बन्द कर दिया, हिन्दू-राजाओं के माथे पर अपने साथ से तिलक लगाना बन्द कर दिया, जिन्हें अकबर ने आरम्भ किया था। दरबार से गाने-नाचने वालों को निकाल दिया, भंग का उत्पादन बन्द कर दिया, शराब पीना और जुआ खेलना बन्द करने का प्रयत्न किया, सती-प्रथा पर प्रतिबन्ध लगा दिया, वेश्याओं को शादी करने अथवा देश छोड़ देने के आदेश दिये और दरबार में होली, बसन्त, दीवाली आदि त्यौहार मनाने बन्द कर दिये। इनमें से कुछ कार्य लाभदायक थे, परन्तु इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य दरबार से शिया और हिन्दू रीति-रिवाजों को समाप्त करना था। इस बात की देखभाल के लिए कि उसके धार्मिक नियम माने जायें, औरंगजेब ने बड़े-बड़े नगरों में 'मुहतसिबों' (धर्म-निरीक्षकों) की नियुक्ति की। मुहतसिबों का कर्तव्य था कि वह देखें कि मुसलमान ठीक प्रकार से अपने धर्म का पालन करते हैं या नहीं। उनका कर्तव्य धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देना भी था। औरंगजेब के समय में उदार शियाओं और सूफियों को भी दण्डित किया गया।

अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत कठोर रहा। एक आदेश के अनुसार हिन्दुओं को अपने मन्दिरों की मरम्मत कराने का अधिकार न रहा और सूबेदारों तथा मुहतसिबों को सभी हिन्दू-मन्दिरों एवं पाठशालाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी गयी जिससे

हिन्दू अपने धर्म और शिक्षा का प्रसार न कर सकें। यह तो सम्भव नहीं हो सकता था कि हिन्दुओं के सभी मन्दिर और पाठशालाएँ समाप्त कर दिये जाते परन्तु बनारस का विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा का केशवदेव का मन्दिर, पाटन का सोमनाथ का मन्दिर और प्रायः सभी बड़े-बड़े मन्दिर, मुख्यतया उत्तर-भारत के, उसके समय में तोड़े गये। अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं के राज्यों में भी यही कार्य किया गया और अनेक स्थानों पर मन्दिरों की जगह मस्जिदें बना दी गयीं। 1679 ई. में सभी हिन्दुओं पर 'जजिया' (धार्मिक-कर) लगा दिया गया। इस कर के लिए सभी गैर-मुस्लिमों को तीन वर्गों में बाँटा गया। जिनकी आय 200 दिरहम प्रति वर्ष से कम थी उनको 12 दिरहम प्रति वर्ष, जिनकी आय 200-10,000 दिरहम प्रति वर्ष थी उनको 24 दिरहम प्रति वर्ष और 10,000 दिरहम प्रति वर्ष से ऊपर की आय के व्यक्तियों को 48 दिरहम प्रति वर्ष देने पड़ते थे। कारीगरों को अपने परिवार के व्यय को पूरा करने के बाद ही यह कर देना पड़ता था। स्त्रियाँ, गुलाम, 14 वर्ष से कम आयु के बच्चे, भिखारी और आय-रहित व्यक्ति इस कर से मुक्त थे। हिन्दुओं पर 'तीर्थयात्रा-कर' लगाया गया और जबकि मुसलमान व्यापारी व्यापारिक-कर के मुक्त रहे हिन्दू व्यापारियों से वस्तु के मूल्य का 5% कर के रूप में लिया गया। जहाँ तक सम्भव हुआ, हिन्दुओं को लगान-अधिकारियों के पदों से हटाया गया। 1674 ई. में गुजरात प्रान्त में धार्मिक अनुदान के रूप में दी गयी हिन्दुओं की भूमियाँ जब्त कर ली गयीं। 1688 ई. में हिन्दुओं के त्यौहारों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाया गया तथा उसी वर्ष राजपूतों के अतिरिक्त सभी हिन्दुओं को पालकी या अच्छे घ़ोड़े की सवारी करने और हथियार रखने से रोक दिया गया। इस प्रकार हिन्दुओं पर विभिन्न प्रकार से दबाव डालने का सिर्फ एक ही आशय हो सकता था और वह था धर्म-परिवर्तन। औरंगज़ेब ने धार्मिक दबाव, सामाजिक असम्मान और राजनीतिक सुविधाओं से वंचित करना आदि के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दू प्रजा को अन्य विभिन्न प्रकार के लालच भी दिये जाते थे। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि औरंगजेब ने राज्य की आर्थिक कठिनाइयों के कारण हिन्दुओं पर यह कर लगाये थे, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह बहुत से करों को समाप्त करने की नीति न अपनाता। औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ही मूल रूप से इसके लिए उत्तरदायी थी। इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "अपने इतिहास में मुगलों ने पहली बार एक कट्टर मुसलमान को बादशाह के रूप में देखा। एक ऐसा मुसलमान जो अपना दमन भी उतना ही करता था जितना कि अपनी प्रजा का और एक ऐसा बादशाह जो अपने धर्म के लिए अपने राज्य-सिंहासन को भी छोड़ने के लिए तत्पर था।" औरंगजेब 40 वर्ष की आयु में बादशाह बना था। वह व्यवहार-कुशल, चालाक और कूटनीतिज्ञ था। ऐसा सम्भव नहीं था कि वह अपनी नीति के दुष्परिणामों को न समझ सका हो, परन्तु तब भी वह मृत्यु-पर्यन्त दृढ़ता से अपनी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन करता रहा। उसका धार्मिक उत्साह ही इसका मूल कारण था। लेनपूल ने लिखा है : "दक्षिण की महान् सेना के क्षति-विक्षत अवशेषों के बीच पड़े हुए प्रायः 90 वर्ष के मरणासन्न औरंगजेब की आत्मा में धार्मिक उत्साह की वही अग्नि धधक रही थी जिसके कारण उसी प्रान्त में अपनी युवावस्था के समय में उसने अपनी सूबेदारी की पोशाक को फेंककर एक भिखारी फकीर के निकृष्ट वस्त्र पहन लिये थे।" उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए, डॉ. एस. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ये सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का विस्फोट था जो, निस्सन्देह, अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था।" इस प्रकार, औरंगजेब की योग्यता,

गुण और नीति आदि सभी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की भाँति किया। **औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी धार्मिक सहिष्णुता की नीति में आमूल परिवर्तन कर दिया और यही उसके लिए और मुगल-साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि के लिए घातक सिद्ध हुई।**

औरंगजेब के इस राजत्व-सिद्धान्त और धार्मिक असहिष्णुता की नीति के कारण साम्राज्य में अनेक विद्रोह हुए। सतनामियों, जाटों और सिखों के विद्रोह इसके कारण ही हुए। राजपूतों के विद्रोह और मराठों के संघर्ष का कारण राजनीति के साथ-साथ धार्मिक भी था। इनसे राज्य में अशान्ति, अन्यवस्था और निरन्तर संघर्ष हुए जिनके कारण स्वयं औरंगजेब असफल हुआ और मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ।

1. जाटों का विद्रोह

औरंगजेब की धार्मिक नीति के विरुद्ध पहला संगठित विद्रोह जाटों ने किया। मथुरा का स्थानीय अधिकारी अब्दुल नबी हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ रहा था और हिन्दू-स्त्रियों को अपमानित कर रहा था। 1661-62 ई. में उसने एक हिन्दू-मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनवायी थी और वह दाराशिकोह द्वारा केशवराय के मन्दिर को भेंट में दिये गये एक जंगले को भी उठा ले गया था। उसके अत्याचारों से दुखी होकर 1669 ई. में स्थानीय जाटों ने गोकुल के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया, अब्दुल नबी को मार दिया और सादाबाद की तहसील में लूटमार की। 1670 ई. में मुसलमानों ने बीरसिंह बुन्देला द्वारा बनवाये गये केशवराय के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ दिया और उसके स्थान पर मस्जिद की स्थापना की। इससे गोकुल का विद्रोह बढ़ता गया, उसके समर्थकों की संख्या 20,000 तक पहुँच गयी और उसने मुगलों की छोटी-छोटी सेनाओं को परास्त करने में सफलता प्राप्त की। अन्त में, तिलपत के युद्ध में जाट परास्त हुए, गोकुल पकड़ा गया, उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गये, उसके परिवार के सदस्यों तथा बन्दी बनाये गये जाटों को या तो इस्लाम में परिवर्तित कर लिया गया अथवा मार दिया गया। परन्तु जाटों का विद्रोह समाप्त नहीं हुआ। 1686 ई. में जाटों ने राजाराम के नेतृत्व में विद्रोह किया। राजाराम नें कई मुगल अधिकारियों को परास्त किया, आगरा तक आक्रमण किये और कहा जाता है कि उसने बादशाह अकबर के मकबरे सिकन्दरा को हानि पहुँचायी तथा अकबर की कब्र को खोदकर उसकी हड्डियों को जला दिया। परन्तु 1688 ई. में राजाराम एक युद्ध में परास्त हुआ और मारा गया । उसके पश्चात् राजाराम के भतीजे चूरामण ने विद्रोह का जारी रखा। जाटों का यह विद्रोह औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा और अन्ततोगत्वा जाटों ने मथुरा के निकट भरतपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की।

2. सतनामियों का विद्रोह

नारनौल और मेवात जिलों में सतनामियों का धार्मिक सम्प्रदाय पर्याप्त विख्यात था। सत्य-ईश्वर में विश्वास करने के कारण वे अपने को सतनामी पुकारते थे। वे अपने सम्पूर्ण शरीर के बालों को मूँड़ कर रखते थे। इस कारण उन्हें 'मुण्डिया' भी पुकारते थे। एक सतनामी साधु और मुगल सैनिक के झगड़े से यह विद्रोह आरम्भ हुआ। स्थानीय फौजदार उनके विद्रोह को न दबा सका और जो छोटी-छोटी सेनाएँ औरंगजेब ने भेजीं उन्हें परास्त कर दिया गया । यह भ्रान्ति फैल गयी कि सतनामी जादू-टोना जानते हैं और उनके शरीर पर बन्दूक की गोलियों का कोई प्रभाव नहीं होता। अन्त में, औरंगजेब ने कुछेक कागजों पर कुछ लिखकर उन्हें अपने सैनिकों में आत्मविश्वास उत्पन्न करने के लिए अपनी सेना के झण्डों

पर बँधवा दिया और तोपखाने के साथ उस सेना को भेजा। सतनामियों ने कट्टरता से युद्ध किया परन्तु वे परास्त हुए। करीब 2,000 सतनामी युद्ध में मारे गये और बाकी सतनामियों ने आत्मसमर्पण कर दिया।

3. सिख-सम्प्रदाय और उसका विद्रोह

1469 से 1708 ई. तक के समय में सिखों के दस गुरु हुए। सिख-सम्प्रदाय के प्रवर्तक और सिखों के प्रथम गुरु नानक थे। 15 अप्रैल, 1469 ई. को तलबंडी (अब उसे ननकाना पुकारते हैं) नामक स्थान पर इनका जन्म हुआ। इनके पिता मेहता कालू पटवारी थे। आरम्भ में इन्होंने राज्य-सेवा स्वीकार की, विवाह किया और इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। परन्तु 27 वर्ष की आयु में इन्होंने नौकरी और परिवार दोनों ही छोड़ दिये तथा वर्षों तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे। इन्होंने असम से लेकर बगदाद तक और तिब्बत से लेकर श्रीलंका तक भ्रमण किया। वह विभिन्न साधुओं और फकीरों के सम्पर्क में आये। उन पर हिन्दू और इस्लाम दोनों ही धर्मों का प्रभाव था। वह सभी धर्मों की समानता में विश्वास करते थे। अपने अन्तिम दिन उन्होंने अपने परिवार के साथ पंजाब में करतारपुर नामक स्थान पर व्यतीत किये। नानक एक धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक थे। अपने समय की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रति उन्हें तीव्र असन्तोष था। उनका कहना था : "यह युग एक कटार है और राजा कसाई, न्याय ने पंख लगा दिये हैं और भाग गया है । मैं दुख से रोता हूँ कि किस प्रकार उद्धार होगा ?" उन्होंने कहा था : "आजकल व्यक्ति केवल शक्ल और नाम से आदमी हैं अन्यथा कार्यों से वे कुत्ते हैं।" इन विचारों को लेकर उन्होंने धार्मिक समानता, एक ईश्वर और सत्कर्मों पर बल दिया। वह मूर्ति-पूजा, जाति-भेदभाव और मुल्ला व पण्डितों की श्रेष्ठता के विरुद्ध थे। उन्होंने अवतारवाद और कर्मकाण्ड का विरोध किया। वह हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर नहीं करते थे। उन्होंने समानता और सत्कर्मों पर सबसे अधिक बल दिया। नानक ने धर्म-प्रचार के लिए स्थान-स्थान पर 'संगतों' की स्थापना की और अपनी मृत्यु के पश्चात् अपने विचारों को फैलाने का उत्तरदायित्व अपने योग्य शिष्य 'लहना' को सौंपा। दूसरे गुरु अंगद (लहना) ने 1538 ई. में नानक की मृत्यु हो जाने पर इस कार्य को सफलता से किया। उन्होंने गुरु नानक के सरल उपदेशों का प्रचार किया और स्थानीय भाषा में उनके उपदेशों का संकलन किया। गुरु अंगद (1539-1552 ई.) के समय में लंगर की व्यवस्था को स्थायी रूप प्रदान किया गया। उससे अन्तर्जातीय खान-पान को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, जाति-बन्धन शिथिल हुए और सिखों में सामाजिक समानता की भावना का विकास हुआ। 1552 ई. में गुरु अंगद की मृत्यु हुई। उन्होंने भी अपनी मृत्यु के अवसर पर अपने गुरु की गद्दी अपने किसी पुत्र को न देकर एक शिष्य अमरदास को सौंपी। तीसरे गुरु अमरदास (1552-1574 ई.) स्वयं खेती और व्यापार करते थे और उन्होंने कभी भी अपने शिष्यों को संसार छोड़ने के लिए नहीं कहा। उन्होंने अपने शिष्यों को 'पारिवारिक सन्त' होने का उपदेश दिया। उन्होंने सिखों के सम्प्रदाय को संगठित किया। उन्होंने इस कार्य के लिए 22 गद्दियाँ बनायीं जिनमें से प्रत्येक गद्दी का प्रधान गुरु के द्वारा नियुक्त किया जाता था। उस प्रधान व्यक्ति का कर्तव्य सिखों की सुरक्षा और गुरु के उपदेशों का प्रचार करना था। गुरु अमरदास स्वयं बहुत साधारण भोजन करते थे जबकि उनके लंगर में प्रत्येक गरीब और अमीर तथा हिन्दू और मुसलमान को बहुत अच्छा भोजन मिलता था। गुरु अमरदास ने लंगर-व्यवस्था में एक और परिवर्तन कर दिया। वह उस व्यक्ति से नहीं मिलते थे जो उनके लंगर में भोजन नहीं करता था। इस प्रकार, उन्होंने जाति-व्यवस्था पर और अधिक कठोर

आघात किया। गुरु अंगद के पुत्र बाबा श्रीचन्द ने अपना एक सम्प्रदाय (उदासी) बना लिया था। उनके विरोध के कारण गुरु अमरदास ने अपने स्थान को बदल दिया और गोइन्दवाल चले गये। गुरु अमरदास ने सती-प्रथा का विरोध किया, विवाह की क्रियाओं को साधारण बनाया, पर्दा-प्रथा का विरोध किया और नशीली वस्तुओं, मुख्यतया शराब के प्रयोग का विरोध किया। उन्होंने विवाह-पद्धति को सरल बनाते हुए एक नवीन स्वरूप प्रदान किया जिसे 'लवन' पुकारा गया। उन्होंने, इसी प्रकार, मृतक-संस्कार को भी सरल बनाया। गुरु अमरदास ने अपने उत्तराधिकारी रामदास को 'देवत्व-गुणों' से युक्त बताया और उन्होंने सिखों से माँग की कि वे अपनी सम्पत्ति और आत्मा गुरु की इच्छा पर छोड़ दें। अकबर ने पंजाब में गुरु अमरदास से भेंट की थी और उनसे प्रभावित हुआ था। अकबर ने गुरु और उसके शिष्यों को तीर्थयात्रा-कर से मुक्त कर दिया था और उनकी पुत्री के नाम से कई गाँव दिये थे।1574 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी। चौथे गुरु रामदास (1574-1581 ई.) पर भी अकबर की कृपा रही और उसने उन्हें 1577 ई. में 500 बीघा जमीन दी जिसमें एक प्राकृतिक तालाब भी था। यहीं पर अमृतसर का नगर बसा और अमृतसर का स्वर्ण-मन्दिर बना। 1581 ई. में गुरु रामदास की मृत्यु हो गयी। उन्होंने अपने तीसरे पुत्र अर्जुन को गद्दी सौंपी। उस समय से गुरु की गद्दी पैतृक आधार पर निश्चित होने लगी। यह विचार भी गुरु रामदास ने दिया कि एक गुरु की आत्मा दूसरे गुरु में स्वतः ही चली जाती है। इस कारण प्रत्येक गुरु का सम्मान समान रूप से किया गया चाहिए। पाँचवें गुरु अर्जुन की आयु गद्दी प्राप्त करने के समय केवल 18 वर्ष थी। अपने समय (1581-1606 ई.) में उन्होंने सिख-सम्प्रदाय को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने जगह-जगह 'संगतों' की स्थापना की, स्थायी रूप से धर्म-प्रचारक (मसंद और मेउरा) नियुक्त किये और धर्म-प्रचार के अतिरिक्त उनसे सिखों से ईश्वर के लिए धन लेने का भी कार्य किया। उन्होंने सिखों को व्यापार और कृषि की ओर ध्यान देने को कहा। उन्होंने सिखों को शक्तिशाली बनने के लिए भी कहा। स्वयं गुरु का दरबार मुगल बादशाह की तरह शान-शौकत से भरपूर था यद्यपि गुरु को स्वयं उससे कोई लगाव न था। गुरु अपने शिष्यों से आध्यात्मिक और नैतिक प्रगति के साथ-साथ भौतिक और शारीरिक प्रगति की भी आशा करते थे। उनका कहना था : "जो व्यक्ति सैनिक प्रशिक्षण लेता है, वह युद्धस्थल में निर्भय हो जायेगा। जो व्यक्ति शस्त्र लेकर विजय या मृत्यु का निश्चय करता है और जो व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर सत्य-नाम (ईश्वर) का स्मरण करता है वह कई जन्मों के पापों से मुक्त हो जायेगा और निर्वाण प्राप्त करेगा।" उनके इन्हीं विचारों एवं प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सिख-सम्प्रदाय पंजाब में अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया। गुरु अर्जुन ने अपने और अपने पिछले गुरुओं के उपदेशों का संकलन कराया और 'आदिग्रन्थ' की रचना की जो सिखों की धार्मिक पुस्तक है। गुरु अर्जुन ने ही अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण कराया और 1604 ई. में वहाँ 'आदिग्रन्थ' की स्थापना की। वहीं पर उन्होंने हरि-मन्दिर का निर्माण कराया। खुसरो के विद्रोह के अवसर पर गुरु ने उसे आशीर्वाद दिया और कुछ आर्थिक सहायता भी प्रदान की। इससे बादशाह जहाँगीर उनसे असन्तुष्ट हो गया और उसने गुरु से दो अथवा ढाई लाख रुपया जुर्माना माँगा। गुरु ने उसे देने से इन्कार कर दिया। उनका कहना थाः "मेरे पास अपना कोई धन नहीं है। मेरा धन तो गरीबों और असहायों के लिए है।" जहाँगीर ने गुरु की सम्पत्ति को जब्त करने तथा गुरु और उसके परिवार के सदस्यों को बन्दी बनाने के आदेश दिये। बन्दीगृह में गुरु अर्जुन को कठोर यातनाएँ देकर मार दिया गया (1606 ई.)। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय पर कोई आक्रमण नहीं किया। परन्तु गुरु अर्जुन के साथ किया गया उसका व्यवहार अनुचित था और सिखों ने इसे मुगलों द्वारा अपने धर्म पर पहला

आक्रमण माना । उस समय से सिखों को शस्त्र रखने की आवश्यकता अनुभव हुई । गुरु अर्जुन की पीड़ायुक्त मृत्यु ने सिखों को सैनिक-सम्प्रदाय और गुरु को सैनिक-सन्त बनने की भावना प्रदान की। गुरु अर्जुन ने मरते समय अपने पुत्र और उत्तराधिकारी हरगोविन्द को सन्देश दिया था कि "उससे कहना कि वह शोक न मनाये और न पुरुषत्वहीन व्यक्ति की भाँति रोये बल्कि ईश्वर की प्रार्थना करे—अपने सिंहासन पर वह पूर्ण शस्त्र धारण करके बैठे और अपनी सामर्थ्य के अनुसार बड़ी से बड़ी सेना रखे।" छठे गुरु हरगोविन्द (1606-44 ई.) की आयु उस समय केवल 11 वर्ष की थी। उन्होंने अपने पिता की इच्छा का अक्षरशः पालन किया। दस दिन तक उन्होंने "ग्रन्थसाहिब" का पाठ कराया और उसके पश्चात् अपने कमर में दो तलवारें बाँधकर वह अपनी गद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने समर्थकों को माँस खाने की आज्ञा दी। उन्होंने 'तख्त अकाल बंगा' की नींव डाली और अमृतसर की किलेबन्दी की। उन्होंने धार्मिक-शिक्षा के साथ-साथ अपने शिष्यों को सैनिक-शिक्षा भी प्रदान की। उन्होंने ही दरबार में नगाड़ा बजाने की प्रथा को आरम्भ किया जो राजसत्ता का प्रतीक था। जहाँगीर ने उनसे उनके पिता पर किये गये जुर्माने को माँगा जिसे उन्होंने देने से इन्कार कर दिया जिसके कारण वे प्रायः दो वर्ष तक ग्वालियर के किले में बन्दी रहे। वहाँ से मुक्त होने के पश्चात् उनके सम्बन्ध जहाँगीर से ठीक रहे। शाहजहाँ के आरम्भ-काल (1628 ई.) में शाहजहाँ के एक प्रिय बाज के गुरु के खेमे में उड़कर आ जाने और गुरु के उसे वापस न देने के कारण गुरु का मुगलों से झगड़ा आरम्भ हो गया। उस समय तो गुरु ने शाही-सेना की टुकड़ियों को परास्त करने में सफलता पायी परन्तु अन्त में अपने धर्म को असुरक्षित समझकर वह कश्मीर की पहाड़ियों में स्थित कीरतपुर नामक स्थान पर चले गये। वहीं 1644 ई. में उनकी मृत्यु हुई। उनके पश्चात् सातवें गुरु हरराय (1644-61 ई.) हुए जिनसे दाराशिकोह अक्सर मिलता रहता था।

जब औरंगजेब मुगल बादशाह बना तब हरराय सिखों के गुरु थे। गुरु हरराय का दाराशिकोह से मेल-जोल था। इस कारण औरंगजेब ने गुरु को दरबार में आने के आदेश दिये। गुरु हरराय ने अपने पुत्र रामराय को दरबार में भेजा जिसे औरंगजेब ने अपने साथ मिला लिया। इस कारण गुरु हरराय ने गद्दी अपने दूसरे पुत्र हरकिशन को सौंपी। रामराय ने औरंगजेब की सहायता लेकर गद्दी पर अधिकार करने का प्रयत्न किया जिसके कारण गुरु हरकिशन को दरबार में बुलाया गया। परन्तु आठवें गुरु हरकिशन (1661-64 ई.) की 1664 ई. में मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सिख-सम्प्रदाय ने हरगोविन्द के पुत्र तेगबहादुर को अपना गुरु माना। तेगबहादुर (1664-1675 ई.) सिखों के नवें गुरु हुए। उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक नीति का खुले तौर से विरोध किया और स्थान-स्थान पर जाकर उसकी नीति के विरोध में प्रचार किया। औरंगजेब ने उन्हें दिल्ली बुलाया और बन्दी बना लिया। गुरु को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया और उनके इन्कार करने पर पाँच दिन तक विभिन्न यातनाएँ देते हुए उन्हें एक विद्रोही करार देकर कत्ल कर दिया गया। दिल्ली जाने से पहले गुरु तेगबहादुर ने अपने 19 वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह को अपनी गद्दी सौंप दी थी। गुरु गोविन्दसिंह सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए। अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया, और कहा : "जहाँ भी गुरु के उपदेशों को मानने वाले पाँच सिख एकत्रित होंगे मैं वहाँ उपस्थित हूँगा।" अपने समय (1675-1708 ई.) में गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को कट्टर सैनिक-सम्प्रदाय बनाने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने जीवनपर्यन्त औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता का विरोध किया। उन्होंने सिख-सम्प्रदाय को 'खालसा' पुकारा, सिखों को अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाने का आदेश दिया और प्रत्येक सिख को केश, कंघा,

कृपाण, कच्छा और कड़ा रखने के आदेश दिये। उन्होंने खाने-पहनने और विवाह-सम्बन्धों के बारे में सिखों को पूर्ण एकता और समानता प्रदान की। उन्होंने कहा : "मैं चारों वर्णों के व्यक्तियों को सिंह बना दूँगा और मुगलों को बर्बाद कर दूँगा।" उन्होंने सिखों को पूर्ण सैनिक-शिक्षा दी, उनमें आत्म-विश्वास व साहस उत्पन्न किया तथा बहुत शीघ्र प्रायः 80,000 सैनिकों की खालसा-सेना तैयार कर ली। गुरु गोविन्दसिंह अपने पिता की मृत्यु और औरंगजेब की कट्टर धर्मान्धता को कभी न भुला सके और उन्होंने औरंगजेब की धर्मान्धता का जवाब धर्मान्धता से दिया। गुरु गोविन्दसिंह के विरुद्ध औरंगेजब ने कई सेनाएँ भेजीं, स्थानीय मुगल-अधिकारियों ने निरन्तर उनसे युद्ध किये और पाँच बार उनके आनन्दपुर स्थित निवास को घेरा। परन्तु गुरु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर लड़ते रहे। इस संघर्ष में उनके दो पुत्र युद्ध में मारे गये, अन्य दो पुत्रों को जीवित दीवार में चिनवा दिया गया और स्वयं वह भी विभिन्न कठिनाइयों में रहे। अन्त में वह दक्षिण-भारत चले गये और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही उत्तर-भारत आये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध उनसे सहायता माँगी और वह उसकी तरफ से युद्ध करने के लिए दक्षिण-भारत गये। वहीं पर गोदावरी नदी के तट पर नादिर नामक स्थान पर एक पठान ने छुरा मारकर उन्हें गम्भीर रूप से घायल कर दिया। प्रायः दो माह पश्चात् उन्होंने अपना अन्त समय निकट जानकर अपने शरीर को चिता को सौंप दिया (अग्निदाह 7 अक्टूबर, 1708 ई.)। इस प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी मृत्युपर्यन्त औरंगजेब और उसकी धार्मिक धर्मान्धता की नीति के विरुद्ध संघर्ष किया। उन्होंने पंजाब में सिखों को एक शक्तिशाली सम्प्रदाय बनाने में सफलता पायी जिसके कारण आगे आने वाले समय में पंजाब की राजनीति में सिखों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। कनिंघम ने उनके बारे में लिखा है : "सिखों के अन्तिम गुरु अपने लक्ष्य की पूर्ति अपने जीवन में न देख सके परन्तु उन्होंने एक पराजित व्यक्ति-समूह की सोई हुई शक्तियों को जाग्रत कर दिया और उन्हें सामाजिक स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय महत्ता की उत्कृष्ट अभिलाषा के श्रेष्ठ और उपयुक्त आदर्श से प्रेरित किया।"

4. राजपूतों का विद्रोह और संघर्ष

राजपूतों से औरंगजेब के संघर्ष का कारण राजनीतिक और धार्मिक दोनों था। औरंगजेब राजपूतों के स्वतन्त्र अस्तित्व को समाप्त करना चाहता था, वह उनके राज्यों को मुगल-राज्य की सीमाओं में सम्मिलित करना चाहता था, वह उनमें से प्रत्येक को सन्देह की दृष्टि से देखता था और वह, जिन्दा-पीर और इस्लाम का कट्टर समर्थक, उन्हें अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा मानता था। राजपूतों की शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी और यदि सफल हो जाती तो स्थायी नहीं हो सकती थी। परन्तु औरंगजेब कूटनीतिज्ञ था। इसलिए उसने चालाकी और अवसर देखकर कार्य करना पसन्द किया। उसकी तरकीब कुछ भी हो परन्तु उसका लक्ष्य स्पष्ट था। राजपूतों से भी औरंगजेब का यह लक्ष्य छिप न सका कि औरंगजेब उनके सम्मान, शक्ति और राज्यों को समाप्त करने पर तुला हुआ था। जैसे ही राजपूतों को यह स्पष्ट हुआ, उन्होंने अपनी रक्षा के लिए हथियार उठा लिये जिसका परिणाम था राजपूतों का मुगलों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष और विद्रोह।

उस समय राणा राजसिंह मेवाड़ का, राजा जसवन्तसिंह मारवाड़ का और राजा जयसिंह अम्बर का शासक था। राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह दोनों मुगलों की सेवा में थे और उनका स्थान राज्य के योग्यतम सेनापतियों में था। उत्तराधिकार के युद्ध के आरम्भ

होने के अवसर पर राजा जयसिंह को सुलेमानशिकोह के साथ शाहशुजा के विरुद्ध भेजा गया था और शाहशुजा को परास्त करकेउसने उसे बंगाल तक खदेड़ दिया था। परन्तु सामूगढ़ के युद्ध में दाराशिकोह की पराजय के पश्चात् वह औरंगजेब के साथ हो गया था। जसवन्तसिंह ने औरंगजेब का मुकाबला धरमट के युद्ध में किया और औरंगजेब तथा शाहशुजा के युद्ध के समय भी वह औरंगजेब का साथ छोड़कर चला गया था। परन्तु उसके पश्चात् राजा जयसिंह के समझाने पर तथा दाराशिकोह की स्थिति को नष्टप्राय समझकर वह भी औरंगजेब के साथ हो गया था। इस प्रकार ये दोनों राजपूत शासक औरंगजेब की सेवा में चले गये थे। परन्तु औरंगजेब उन दोनों पर सन्देह करता था। उसने दक्षिण के कठिन अभियान में राजा जयसिंह को नियुक्त किया। बीजापुर के विरुद्ध अभियान में असफल होने पर जुलाई 1666 ई. में बुरहानपुर में राजा जयसिंह की मृत्यु हो गयी। राजा जसवन्तसिंह को औरंगजेब ने अफगानिस्तान की सीमा पर भेजा जहाँ अफगानों के विरुद्ध निरन्तर युद्ध करते हुए उसने अपने शौर्य और अपनी योग्यता को प्रकट किया।

(i) मारवाड़ पर आक्रमण—यह कहा जाता है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा, औरंगजेब ने सन्तोष की साँस नहीं ली। दिसम्बर 1678 ई. में अफगानिस्तान के जमरूद नामक स्थान पर राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु हो गयी। जसवन्तसिंह के बड़े पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह को औरंगजेब ने चालाकी से जहरीली पोशाक पहनाकर पहले ही मरवा दिया था और उसके दो पुत्र अफगानों से युद्ध करते हुए मारे गये थे। ऐसी स्थिति में राज्य का कोई भी उत्तराधिकारी जीवित न था। जसवन्तसिंह की मृत्यु के तीन सप्ताह पश्चात् औरंगजेब ने मारवाड़ को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने के लिए सेना भेज दी। मारवाड़ की राठौर सेना अपने राजा के साथ अफगानिस्तान में थी। इस कारण मारवाड़ में मुगलों का कोई विशेष विरोध नहीं हुआ और मुगलों ने मारवाड़ कर अधिकार कर लिया। स्वयं औरंगजेब इस कार्य के लिए अजमेर गया। मारवाड़ के मन्दिरों को गिरा दिया गया और वापस दिल्ली आने पर औरंगजेब ने 12 अप्रैल, 1679 ई. को हिन्दुओं पर 'जजिया' लगा दिया। मारवाड़ को और अधिक अपमानित करने के उद्देश्य से नागर के सरदार को 56 लाख रुपये में जसवन्तसिंह का राजसिंहासन बेच दिया गया और उसने मुगल सेना की सुरक्षा में जाकर सिंहासन को अपने अधिकार में ले लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि मारवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगा।

परन्तु मारवाड़ का भाग्य-सूर्य अस्त नहीं हुआ। अफगानिस्तान से वापस आते हुए लाहौर में राजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उन बच्चों में से एक की मृत्यु कुछ सप्ताह पश्चात् हो गयी परन्तु दूसरा बच्चा अजीतसिंह जीवित रहा। जसवन्तसिंह का सेनापति दुर्गादास अपने राजा की रानियों और अजीतसिंह को लेकर दिल्ली पहुँचा और औरंगजेब से माँग की कि मारवाड़ का राज्य अजीतसिंह को दे दिया जाय। औरंगजेब ने दुर्गादास से अजीतसिंह को उसे सौंप देने की माँग की और मारवाड़ को वापस देने की शर्त यह रखी कि अजीतसिंह इस्लाम धर्म को स्वीकार कर ले। उस समय से राठौरों और मुगलों का संघर्ष आरम्भ हुआ जो बीच-बीच में कुछ समय तक स्थगित रहने के बाद भी औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा। दुर्गादास ने रानियों को मर्दाने वस्त्र पहनाये, दासियों को रानियों के वस्त्र पहनाये, अजीतसिंह के स्थान पर एक दासी-पुत्र को छोड़ा और रानियों तथा अजीतसिंह को लेकर चुपके से दिल्ली से मारवाड़ की ओर भाग लिया। औरंगजेब को इसकी सूचना तब मिली जब दुर्गादास 9 मील का सफर तै कर चुका था।

औरंगजेब ने उसका पीछा करने के लिए मुगल सेना भेजी परन्तु मार्ग में राठौरों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ मुगलों के मार्ग में बाधा डालती रहीं जिससे दुर्गादास को समय मिलता गया और अन्त में वह मारवाड़ पहुँच गया। मारवाड़ के राजपूत अपनी रानी और अल्पायु शासक की सुरक्षा के लिए शस्त्र लेकर खड़े हो गये और मारवाड़ का स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हो गया। औरंगजेब ने एक ग्वाले के पुत्र को अजीतसिंह घोषित किया, उसे इस्लाम में परिवर्तित करके उसका नाम मुहम्मद राज रखा और असली अजीतसिंह को नकली बताया। परन्तु राठौरों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने दुर्गादास के नेतृत्व में मुगलों से युद्ध जारी रखा। दुर्गादास राठौरों के युद्ध का जीवन और आत्मा सिद्ध हुआ। राजपूत उसकी बहादुरी को अभी तक स्मरण करते हैं और कहते हैं कि "'हे माँ, पूत ऐसा जन जैसा दुर्गादास" (ए माँ, ऐसे पुत्र को जन्म दे जैसा कि दुर्गादास था)। टॉड ने उसको राठौरों का यूलीसेस (Ulysses—यूनान का महान् योद्धा) पुकारा है और डॉ. जदुनाथ सरकार ने उसके बारे में लिखा है : "भीषण विपत्तियों से संघर्ष करते हुए, चारों तरफ से शत्रुओं से घिरे हुए और अपने देश के निवासियों के द्वारा आत्म-विश्वास को खो देने और उनके अनिश्चित होने के उपरान्त भी उसने अपने स्वामी के पक्ष को जीवित रखा। मुगलों का स्वर्ण (gold) उसे लालायित न कर सका और मुगल-शस्त्र उसके साहस को न तोड़ सके। राठौरों में प्रायः वह अकेला ही था जिसने एक राजपूत सैनिक के साहस और शूरत्व तथा एक मुगल मन्त्री की चतुरता, कूटनीतिज्ञता और संगठनकर्ता की मिली-जुली योग्यता का परिचय दिया।"

औरंगजेब स्वयं अजमेर पहुँचा। उसने अपने पुत्र अकबर और अजमेर के फौजदार तहव्वरख़ाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना को मारवाड़ पर दुबारा आक्रमण करने के लिए भेजा। औरंगजेब के आदेश से मारवाड़ का एक-एक मन्दिर तोड़ दिया गया, उनके स्थानों पर मस्जिदें खड़ी कर दी गयीं, घर-घर में लड़ाई की गयी और सभी तरफ बरबादी फैला दी गयी। परन्तु अजीतसिंह और दुर्गादास अधिकार में न आ सके। राठौरों ने अपने नगरों और गाँवों को छोड़कर जंगलों और पहाड़ों में छिपकर युद्ध जारी रखा।

(ii) मेवाड़ का युद्ध में सम्मिलित होना—मेवाड़ के राणा राजसिंह ने उस अवसर पर मारवाड़ की तरफ से मुगलों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने का निश्चय किया। औरंगजेब ने राणा से 'जजिया' माँगा था, उसकी नीति में मेवाड़ की शक्ति को समाप्त करना आवश्यक था और अजीतसिंह की माता मेवाड़ की राजकुमारी थी। सबसे प्रमुख बात यह थी कि मारवाड़ के समाप्त हो जाने के पश्चात् मेवाड़ की सुरक्षा करना कठिन था। राणा राजसिंह ने चित्तौड़ के किलों की मरम्मत आरम्भ करा दी और देवबाड़ी के दर्रे की सुरक्षा के लिए सेना भेज दी। औरंगजेब भी चुपचाप नहीं बैठा हुआ था। उसने मेवाड़ पर आक्रमण किया। नवम्बर 1679 ई. में उसने अजमेर छोड़ दिया और मेवाड़ की नवीन राजधानी उदयपुर की ओर बढ़ा। देवबाड़ी के दर्रे पर मुगलों का अधिकार हो गया और राणा राजधानी को छोड़कर पहाड़ों में चला गया। मुगलों ने उदयपुर पर सरलता से अधिकार कर लिया। उदयपुर के सभी हिन्दू मन्दिर तोड़ दिये गये। यह विश्वास किया जाता है कि 173 मन्दिर उदयपुर में और 63 मन्दिर चित्तौड़ में तोड़े गये थे। 1680 ई. में एक युद्ध में राजसिंह की पराजय हुई। बाकी कार्य की पूर्ति के लिए अपने पुत्र अकबर को चित्तौड़ में छोड़कर औरंगज़ेब मार्च 1680 ई. में अजमेर वापस चला गया। परन्तु राजसिंह अभी तक समाप्त नहीं हुआ था। मई तक ही राजपूतों ने मुगलों को कठिन स्थिति में डाल दिया। औरंगजेब ने अकबर को हटाकर शाहजादा आजम को मेवाड़ के युद्ध का मुख्य

सेनापति नियुक्त किया तथा शाहजादा अकबर और शाहजादा मुअज्जम को शाहजादा आजम के साथ कार्य करने के आदेश दिये। इस बार मेवाड़ पर तीन तरफ से आक्रमण किया गया जिससे राणा राजसिंह को घेरकर पकड़ लिया जाय अथवा मार दिया जाय। परन्तु यह आक्रमण सफल न हो सका। राठौर और सीसोदिया मिलकर कार्य कर रहे थे जबकि मुगल शाहजादे योजना के अनुसार युद्ध को न चला सके। इसी अवसर पर मुगलों ने तीसरी बार मारवाड़ पर आक्रमण किया और युद्ध मेवाड़ तथा मारवाड़ दोनों स्थानों पर साथ-साथ चलता रहा।

(iii) शाहजादा अकबर का विद्रोह—अकबर राजपूतों के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध से निराश हो गया था। उसे अपने पिता की धर्मान्धता की नीति की सफलता में विश्वास न था। विचारों से भी वह उदार था। उसी अवसर पर राणा राजसिंह और दुर्गादास ने उसके सामने प्रस्ताव रखा कि यदि वह अपने को भारत का बादशाह घोषित कर दे तो मेवाड़ और मारवाड़ दोनों की सेनाएँ उसकी सहायता करेंगी। अकबर ने अपने पिता (औरंगजेब) के विरुद्ध विद्रोह का निश्चय कर लिया। परन्तु 1 नवम्बर, 1680 ई. को राणा राजसिंह की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र जयसिंह को मेवाड़ का राणा बनाया गया। उसके राज्याभिषेक के कारण अकबर की घोषणा में कुछ विलम्ब हुआ। परन्तु जैसे ही वह कार्य पूरा हुआ, अकबर ने 11 जनवरी, 1618 ई. को स्वयं को मुगल बादशाह घोषित कर दिया। घोषणा की गयी कि बादशाह औरंगजेब ने इस्लाम के कानूनों के विरुद्ध कार्य करके राजसिंहासन पर से अपना अधिकार खो दिया है। चार मुल्लाओं ने औरंगजेब के विरुद्ध और अकबर के पक्ष में 'फतवा' पढ़ा। राजपूत सेनाओं को साथ लेकर अकबर अजमेर की तरफ बढ़ा। औरंगजेब के पास उस समय बहुत थोड़ी सेना थी। उसने तुरन्त शाहजादा मुअज्जम को अपनी सेना के साथ आने का आदेश दिया और स्वयं भी अजमेर से 8 मील दूर रोहरा नामक स्थान पर अकबर के मुकाबले के लिए पहुँच गया। औरंगजेब ने अकबर के साथ के मुगल सरदारों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और कुछ अंशों में सफलता पायी। अकबर के मुख्य सलाहकार तहव्वरखाँ को उसने सूचना भेजी कि यदि वह उसके सामने शीघ्र प्रस्तुत नहीं हुआ तो उसके परिवार के सभी सदस्यों को कत्ल कर दिया जायेगा जो उस समय शाही डेरे में ही थे। तहव्वरखाँ एक रात चुपके से अकबर का साथ छोड़ गया और जब औरंगजेब के पास पहुँचा तो उसे शाही डेरे के सामने ही कत्ल कर दिया गया। औरंगजेब ने एक पत्र भी तैयार कराया जो औरंगजेब की तरफ से अकबर को लिखा गया था जिसमें अकबर की सराहना की गयी थी कि उसने बहुत चतुराई से राजपूतों को फँसाकर औरंगजेब तक पहुँचा दिया था। यह पत्र राजपूतों के खेमों के निकट डाल दिया गया। राजपूतों ने इस पत्र को देख लिया और उनमें से अधिकांश को अकबर पर सन्देह हो गया। वे राजपूत उसी रात अकबर का साथ छोड़कर चले गये और जब अकबर सुबह सो कर उठा तब दुर्गादास और कुछ वफादार राजपूत सरदारों तथा दो या तीन हजार सैनिकों के अतिरिक्त उसका साथ देने वाला कोई न था। औरंगजेब की चालाकी पूर्णतया सफल हुई। अकबर का सम्पूर्ण साहस और उत्साह समाप्त हो गया तथा वह मेवाड़ की तरफ भाग खड़ा हुआ। राजपूत अपनी भूल को बहुत देर से समझ सके। दुर्गादास ने अकबर को अपने संरक्षण में रखा, राजपूताना तथा खानदेश की कठोर यात्रा की, मुगल-सेना से उसकी रक्षा की और उसे शिवाजी के पुत्र शम्भाजी के दरबार में पहुँचाने में सफलता पायी। शम्भाजी ने अकबर को संरक्षण तो दिया परन्तु उसे उसके पिता के विरुद्ध युद्ध करने के लिए पर्याप्त सहायता न दे सका। 1682 ई. में औरंगजेब स्वयं अकबर का पीछा करता हुआ

दक्षिण-भारत गया। अपने जीवन को अरक्षित समझकर अकबर भारत छोड़कर फारस के लिए चल दिया। मार्ग में समुद्री तूफान के कारण उसे मस्कत के इमाम के यहाँ शरण लेनी पड़ी जो उसे औरंगजेब को दो लाख रुपयों के बदले में सौंपने को तैयार हो गया। परन्तु फारस के शाह के दबाव के कारण उसे अकबर को छोड़ना पड़ा और अकबर फारस पहुँच गया। वहीं पर औरंगजेब के अन्तिम दिनों में अकबर की मृत्यु हुई।

(iv) मेवाड़ और मुगलों की सन्धि—अकबर का विद्रोह तो सफल न हुआ परन्तु उसने मेवाड़ को बचा दिया। औरंगजेब को मेवाड़ से अपनी सेनाएँ हटानी पड़ी थीं। उनके लिए अकबर को समाप्त करना अधिक आवश्यक था। दूसरी तरफ राणा राजसिंह की मृत्यु हो गयी थी और राणा जयसिंह युद्ध को समाप्त करने के लिए उत्सुक था। इस कारण 24 जून, 1681 ई. को मेवाड़ और मुगलों में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार—

(1) राणा ने जजिया के बदले में मण्डल, पुर और बेदनूर के परगने मुगलों को दे दिये;

(2) मुगलों ने मेवाड़ से अपनी सेनाएँ हटा लेने का वायदा किया ; और

(3) राणा जयसिंह को पंचहजारी मनसबदार का पद दिया गया। युवराज भीमसिंह को राजा का पद दिया गया और उसे मुगल सेवा में ले लिया गया।

(v) मारवाड़ के युद्ध का जारी रहना—यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से सन्धि करके मारवाड़ का साथ छोड़ दिया परन्तु मारवाड़ ने साहस नहीं छोड़ा और युद्ध को जारी रखा। मारवाड़ की स्वतन्त्रता का युद्ध सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) 1681 से 1687 ई. तक का समय जिस समय में दुर्गादास दक्षिण में था और राठौरों ने बिना किसी नेतृत्व के युद्ध को जारी रखा ; (ब) 1687 से 1701 ई. तक का समय जिस समय में दुर्गादास दक्षिण से वापस आ चुका था और अजीतसिंह जवान हो चुका था तथा दोनों ने मिलकर राठौरों का नेतृत्व किया परन्तु मुगलों को मारवाड़ से बाहर निकालने में असफल रहे। (स) 1701 से 1707 ई. तक का समय जिस समय में राठौरों ने मारवाड़ को स्वतन्त्र कराने में सफलता पायी।

1681 से 1687 ई. तक के समय में राठौरों ने गुरिल्ला युद्ध-नीति का सहारा लिया। वे छिप-छिप कर मुगलों पर आक्रमण करते रहे और मुगलों की रसद एवं सेना को हानि पहुँचाते रहे। 1687 से 1701 ई. तक के समय में दुर्गादास और अजीतसिंह ने राठौरों का नेतृत्व किया और उन्हें बूँदी के दुर्जनसाल हाड़ा की भी सहायता प्राप्त हुई। उन्होंने अनेक मुगल चौकियों पर अधिकार कर लिया और मुगलों की सीमाओं में घुसकर दिल्ली के निकट तक आक्रमण किये। अजमेर के फौजदार को भी राठौरों ने परास्त किया परन्तु गुजरात के सूबेदार शुजातखाँ में उन्हें एक चालाक और कूटनीतिक शत्रु मिला। 1694 ई. में दुर्गादास ने अकबर की पुत्री शफीयातुन्निसा को और 1698 ई. में उसके पुत्र बुलन्दअख्तर को मुगलों को वापस कर दिया। दुर्गादास ने इन बच्चों की सुरक्षा ही नहीं की थी बल्कि उनकी शिक्षा, यहाँ तक कि इस्लाम की धार्मिक शिक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया था। धर्मान्ध औरंगजेब के लिए यह एक अच्छा सबक था। इसके बदले में अजीतसिंह को झालौर, संचोद और सिवाना के परगने तथा शाही सेवा प्रदान की गयी और दुर्गादास को 3,000 का मनसबदार और गुजरात में पाटन की फौजदारी दी गयी। यह राठौरों के लिए एक सम्मानपूर्ण समझौता नहीं माना जा सकता था परन्तु दुर्गादास और अजीतसिंह ने उस समय का सदुपयोग अपनी शक्ति को संगठित करने के लिए किया। 1701 से 1707 ई. तक के समय में अजीतसिंह और दुर्गादास ने पुनः विद्रोह कर दिया परन्तु मारवाड़ की दुर्बल स्थिति और अपनी कठिन

परिस्थितियों के कारण 1704-5 ई. में उन्हें मुगल-सत्ता को स्वीकार करना पड़ा। राठौरों का अगला कदम उस समय उठा जबकि औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण भारत में अव्यवस्था फैल गयी और औरंगजेब के पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ हो गया। 1707 ई. में अजीतसिंह ने जोधपुर (मारवाड़ की राजधानी) पर अपना अधिकार कर लिया और अपने को सम्राट घोषित कर दिया। प्रायः सम्पूर्ण मारवाड़ राठौरों के अधिकार में आ गया और दुर्गादास द्वारा आरम्भ किया हुआ कार्य सरलता से सम्पन्न हुआ।

5. अन्य विद्रोह

औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण मालवा, बिहार और बुन्देलखण्ड में भी विद्रोह हुए, मुख्यतया उस अवसर पर जबकि औरंगजेब दक्षिण-भारत में चला गया। इनमें से बुन्देलखण्ड का विद्रोह सफल हुआ। ओरछा के राजा चम्पतराय ने औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और 1661 ई. में उसने मुगल-आधिपत्य स्वीकार करने की बजाय आत्महत्या कर ली। जब उसका पुत्र छत्रसाल मुगलों की तरफ से दक्षिण के युद्धों में भाग लेने के लिए गया तो वह शिवाजी से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने अपनी सेवाएँ शिवाजी को अर्पित कीं। परन्तु शिवाजी ने उसे बुन्देलखण्ड में ही विद्रोह करने की सलाह दी। छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड में जाकर विद्रोह आरम्भ कर दिया और उसे सफलता मिली। उसने धमौनी और कालिंजर पर अधिकार कर लिया। 1705 ई. में औरंगजेब ने उससे सन्धि करना उचित समझा। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त वह बुन्देलखण्ड का स्वतन्त्र शासक बन गया। इसी प्रकार भारत के अन्य भागों में भी औरंगजेब के समय में अनेक उपद्रव और विद्रोह चलते रहे जिन्होंने राज्य की शक्ति को दुर्बल करने में बहुत बड़ा भाग लिया।

[2]

सिख-सम्प्रदाय का उत्थान और मुगलों से सम्बन्ध

सिख-सम्प्रदाय का निर्माण मुगल-शासनकाल में ही हुआ। सिखों के प्रथम गुरु नानक भक्ति-मार्ग के प्रचारकों में से एक थे। भक्ति-आन्दोलन ने जो मध्य-युग के धार्मिक जीवन की एक प्रमुख विशेषता रहा, पंजाब को भी प्रभावित किया। हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों की समानता में विश्वास करने वाले तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न करने वाले सन्तों में से एक महान् सन्त गुरु नानक हुए। पंजाब उनके कार्य-क्षेत्र का प्रमुख स्थान रहा, यद्यपि उन्होंने सम्पूर्ण भारत और भारत से बाहर के देशों का भी भ्रमण किया। गुरु नानक ने किसी नवीन धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की। उन्होंने न किसी धार्मिक पुस्तक की रचना की और न किसी स्थान को धार्मिक स्थल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने तो केवल शिष्य बनाये थे जो कालान्तर में 'सिख' कहलाये। अपनी मृत्यु के अवसर पर नानक ने अपने विचारों के प्रचार के लिए अंगद (पहला नाम लहना) को चुना जो सिखों के दूसरे गुरु हुए। गुरु नानक (1469-1539 ई.) बादशाह बाबर और हुमायूँ के समकालीन थे। (गुरु नानक के विचारों के अध्ययन हेतु 'तुर्क-अफगान-काल' के अन्तर्गत अध्याय 18 में वर्णित भक्ति-आन्दोलन को देखिए।)

गुरु अंगद (1539-1552 ई.)

गुरु नानक ने अपनी मृत्यु के अवसर पर अपने शिष्य लहना को गुरु की गद्दी के लिए चुना। लहना जाति से खत्री था और दुर्गादेवी का पुजारी था। गुरु नानक ने लहना का नाम अंगद अर्थात् अपने शरीर का ही एक भाग रखा और बताया कि उनकी आत्मा अंगद में प्रवेश

कर गयी है। गुरु अंगद ने गुरु नानक द्वारा आरम्भ की गयी लंगर-व्यवस्था को स्थायी बना दिया। इससे सिखों में जाति-मतभेद नष्ट हुए, भाई-चारे की भावना बढ़ी और सामाजिक समता का विकास हुआ। इससे सिखों और हिन्दुओं में अन्तर स्पष्ट हुआ क्योंकि हिन्दुओं में अन्तर्जातीय खान-पान सम्भव नहीं था। यह विश्वास किया गया है कि गुरु अंगद ने गुरुमुखी-लिपि को आरम्भ किया। इससे सिखों के एक पृथक साहित्य का निर्माण हुआ और सिख संस्कृत भाषा केअध्ययन से विमुख हो गये जिस भाषा में हिन्दुओं का अधिकांश धार्मिक साहित्य लिखा गया था। गुरु अंगद ने नानक के उपदेशों का संकलन भी आरम्भ किया जो बाद में गुरु अर्जुन द्वारा संकलित ग्रन्थ 'आदिग्रन्थ' में सम्मिलित कर लिया गया। गुरु अंगद ने कोई नवीन धार्मिक विचार प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने गुरु नानक के उपदेशों के आधार पर ही धर्म-प्रचार किया। 1552 ई. में गुरु अंगद की मृत्यु हो गयी।

हुमायूँ ने 1540 ई. में गुरु अंगद से पंजाब में उस समय भेंट की थी जब वह शेरशाह से बिलग्राम (कन्नौज) के युद्ध में परास्त होकर भाग रहा था। गुरु अंगद ने राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया और सूर-वंश के शासकों ने भी उनके धर्म-प्रचार के कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं किया।

गुरु अमरदास (1552-1574 ई.)

गुरु अंगद ने अपना उत्तराधिकारी अपने शिष्य अमरदास को चुना। गुरु अमरदास हिन्दुओं के वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। 60 वर्ष की आयु में वह गुरु की सेवा में आये। वह गुरु अंगद से आयु में 25 वर्ष बड़े थे और जब उन्होंने गुरु की गद्दी प्राप्त की तब उनकी आयु 73 वर्ष की थी।

उस समय तक सिखों का कोई केन्द्रीय तीर्थस्थान नहीं था। गुरु नानक ने अन्तिम वर्ष करतारपुर में व्यतीत किये थे और गुरु अंगद ने खादुर में अपना अधिकांश समय बिताया था। गुरु अमरदास ने गोइन्दवाल को अपना निवास-स्थान बनाया। वहाँ उन्होंने पानी की एक बाबड़ी का निर्माण किया। गोइन्दवाल वर्षों तक गुरु की गद्दी का स्थान बना रहा और बाबड़ी के पानी के बारे में यह किंवदती प्रचलित हो गयी गयी कि वह सभी प्रकार की बीमारियों को दूर कर सकता है।

गुरु अमरदास स्वयं बहुत साधारण भोजन करते थे जबकि उनके लंगर में सभी हिन्दू और मुसलमानों को बहुत अच्छा भोजन मिलता था। गुरु अमरदास ने लंगर-व्यवस्था में एक और परिवर्तन कर दिया। उन्होंने अपने मिलने से पहले प्रत्येक व्यक्ति के लिए लंगर में भोजन करना आवश्यक कर दिया। जो व्यक्ति लंगर में भोजन नहीं करता था उसे गुरु से मिलने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार, गुरु अमरदास ने हिन्दुओं की जातीय-व्यवस्था को समाप्त करने का आधार लंगर-व्यवस्था को बनाया। उन्होंने यह भी निश्चय किया कि दीवाली के त्यौहार के अतिरिक्त सिख-सम्प्रदाय के व्यक्तियों की सम्मिलित बैठकें वैशाख माह और माघ माह के पहले दिन हों। सम्भवतया, उनका उद्देश्य सिखों के उत्सवों और त्यौहारों को हिन्दुओं के उत्सवों और त्यौहारों से अलग करके सिखों को हिन्दुओं से पृथक अस्तित्व प्रदान करना था। गुरु अमरदास के समय में पारिवारिक-सिख और साधु-सिखों में स्पष्ट अन्तर किया गया। गुरु अमरदास ने हिन्दुओं में प्रचलित संती-प्रथा और पर्दा-प्रथा का विरोध किया तथा स्त्रियों को पुरुषों के समान स्थान दिया। उन्होंने नशीले पदार्थों, मुख्यतया शराब के प्रयोग का भी विरोध किया। उन्होंने विवाह-पद्धति को सरल बनाया और सिखों के लिए हिन्दुओं से पृथक विवाह-पद्धति जिसे 'लवन' पुकारा गया, प्रचलित

की जिसमें विवाह-पद्धति को कम खर्चीली बनाया गया। इसी प्रकार उन्होंने सिखों के मृतक-संस्कार को भी सरल बनाया। उन्होंने ऐसे अवसर पर सिर्फ गुरु के उपदेशों के पाठ की व्यवस्था की और मृतक की राख अथवा हड्डियों को गंगा में बहाने की आवश्यकता को नगण्य बताया। इस प्रकार, गुरु अमरदास ने कई ऐसे कार्य आरम्भ किये जो हिन्दुओं से सिखों को पृथक करते थे।

गुरु अमरदास ने सिख-धर्म के प्रसार के लिए भी बहुत कार्य किया । उन्होंने हिन्दुओं के तीर्थस्थानों की यात्राएँ कीं । गुरु नानक ने तीर्थ-यात्राओं को आवश्यक नहीं बताया था । गुरु अमरदास का आशय, सम्भवतया, तीर्थयात्रा का था भी नहीं । उन्होंने ये यात्राएँ इस कारण कीं ताकि वहाँ पर एकत्रित भीड़ में से उन्हें अधिक मात्रा में अपने शिष्य प्राप्त हो सकें। उनके समय में सिख-सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई, इसमें सन्देह नहीं है। अपने बढ़ते हुए अनुयायियों को धार्मिक उपदेश एक ही स्थान से दिया जाना सम्भव न होता देखकर गुरु अमरदास ने 22 गद्दियों की स्थापना की और प्रत्येक गद्दी पर एक महन्त की नियुक्ति की जिसका कर्त्तव्य गुरु के उपदेशों का प्रचार करना था। इससे भी सिख-अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हुई।

मुगल बादशाह अकबर ने गोइन्दवाल जाकर गुरु अमरदास से भेंट की थी। अकबर उनसे प्रभावित हुआ था। उसने गुरु के लंगर के व्यय के लिए उन्हें कुछ गाँव भेंटस्वरूप देने चाहे जिसके लिए गुरु ने मना कर दिया। तब अकबर ने गुरु की पुत्री, बीबी भानी के नाम से कई गाँव उन्हें प्रदान कर दिये ।

गुरु अमरदास ने भी नानक के उपदेशों को संकलित किये जाने के कार्य को ज़ारी रखा और स्वयं भी कुछ रचनाएँ कीं। उन्हें भी, बाद में, **आदिग्रन्थ** में सम्मिलित कर लिया गया। गुरु अमरदास की रचनाएँ बहुत सरल भाषा में तैयार की गयी थीं यद्यपि उन पर आध्यात्मवाद की झलक स्पष्ट है। उन रचनाओं में **'आनन्द'** नामक पद्य-रचना को बहुत श्रेष्ठ बताया गया है।

गुरु अमरदास ने अपनी मृत्यु से पहले अपनी पुत्री बीबी भानी के पति रामदास को गुरु का पद प्रदान किया ।

गुरु रामदास (1574-1581 ई.)

चौथे गुरु रामदास के समय में मुगल-बादशाह अकबर ने उन्हें 500 बीघे भूमि और दी जिसमें एक प्राकृतिक तालाब भी था। इस भूमि और उनकी पत्नी बीबी भानी को अकबर द्वारा प्रदान की गयी भूमि पर अमृतसर का शहर बना। उसका निर्माण गुरु अमरदास के समय में ही आरम्भ हो गया था। गुरु रामदास के समय में भी वह कार्य चलता रहा और वहीं पर एक तालाब 'अमृत-सर' के नाम से बनाया गया। पहले उस शहर का नाम रामदासपुर रखा गया था परन्तु बाद में वहाँ खुदे हुए तालाब के नाम पर उसका नाम अमृतसर पड़ गया।

गुरु रामदास का समय थोड़ा रहा परन्तु तब भी उनके समय में सिख-सम्प्रदाय की संगठन-शक्ति में वृद्धि हुई। गुरु रामदास ने ही यह विचार दिया कि एक गुरु की आत्मा स्वतः ही अगले गुरु के शरीर में प्रवेश कर जाती है । इस कारण सभी गुरु समान हैं, सभी गुरुओं की आत्मा समान है और यदि अन्तर है तो शरीर मात्र का। गुरु रामदास ने अपने तीसरे पुत्र अर्जुन को गुरु का पद सौंपा । उन्होंने ही, इस प्रकार, सिखों के गुरु के पद को पैतृक बनाये जाने की व्यवस्था को आरम्भ किया। उनके पश्चात् सिख-गुरु का पद उनके परिवार से बाहर के किसी भी व्यक्ति को प्रदान नहीं किया गया। अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने अपने सभी पुत्रों की मृत्यु हो जाने के कारण सिखों से गुरु-प्रथा को ही समाप्त कर दिया। उनके पश्चात् सिखों

का कोई गरु नहीं रहा। पैतृक आधार पर गुरु-परम्परा को आरम्भ किये जाने से सिख-सम्प्रदाय को संगठित करने में सहायता मिली क्योंकि अनुयायियों की आस्था एक विशेष परिवार के सदस्यों तक ही सीमित हो गयी।

गुरु अर्जुन (1581-1606 ई.)

गुरु-पद को प्राप्त करने के अवसर पर अर्जुन की आयु अठारह वर्ष की थी। तब भी उन्होंने अपने समय में सिख-सम्प्रदाय को शक्तिशाली बनाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। उनके बड़े भाई प्रिथीचन्द ने जिसे गुरु रामदास ने गुरु की गद्दी सौंपने से इन्कार कर दिया था, आरम्भ से ही उनके मार्ग में बाधाएँ डालीं । उसने स्वयं को गुरु घोषित किया, एक मन्दिर बनवाया, दो तालाब बनवाये और एक धार्मिक ग्रन्थ की रचना आरम्भ की। इस प्रकार, उसने एक विरोधी सिख-सम्प्रदाय बनाने का प्रयत्न किया और कुछ मात्रा में सफल भी हुआ। परन्तु इससे भी बड़ी कठिनाई सिख-सम्प्रदाय के विस्तार के कारण थी। स्वयं गुरु अर्जुन ने अपनी यात्राओं द्वारा तथा सिखों से धर्म के लिए धन लेकर सिख-अनुयायियों की संख्या में बहुत वृद्धि की जिसके कारण सिख-सम्प्रदाय में विभिन्न जातियों, व्यवसायों तथा गाँव और नगरों के व्यक्ति सम्मिलित हो गये। ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए समूह में एकता बनाये रखना कठिन कार्य था। परन्तु गुरु अर्जुन इस कार्य में सफल हुए।

गुरु अर्जुन ने रामदासपुर-नगर के निर्माण को पूर्ण किया और उसमें **अमृत-सर** और **सन्तोष-सर** नामक दो तालाब बनवाये। ये कार्य उनके पिता गुरु रामदास द्वारा अधूरे छोड़ दिये गये थे। इसके अतिरिक्त, उन्होंने **अमृत-सर** तालाब के मध्य में ईश्वर का मन्दिर (हरि-मन्दिर) बनवाया जिसमें चार दरवाजे रखे गये जिसका अर्थ था कि सिख-सम्प्रदाय में हिन्दुओं के चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र) के व्यक्ति सम्मिलित हो सकते थे। उनका आशय रामदासपुर को एक तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित करने का था जहाँ सभी स्थानों के सिख एकत्रित हो सकें । पवित्र तालाब, मन्दिर और गुरु सिख-अनुयायियों के आकर्षण के केन्द्रबिन्दु बनें और सिखों में एकता और समानता हो सके, यह गुरु अर्जुन का उद्देश्य था।

तालाब, मन्दिर और रामदासपुर के निर्माण के लिए गुरु अर्जुन को धन की आवश्यकता हुई। गुरु अमरदास के समय तक गुरु का लंगर उनके शिष्यों द्वारा स्वेच्छा से दिये गये धन के द्वारा चलाया जाता था। जब गुरु रामदास ने **अमृत-सर** के तालाब और रामदासपुर-नगर के निर्माण-कार्य को आरम्भ किया तब उन्होंने अपने अनुयायियों से धन एकत्रित करने के लिए विभिन्न स्थानों पर अपने प्रतिनिधि भेजे जिनको **रामदासी** पुकारा गया था। गुरु अर्जुन के समय में गुरु के इन प्रतिनिधियों को **मंसद** और **मेउरा** पुकारा गया। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर **संगतों** की स्थापना की जो धर्म-प्रचार का साधन बनीं और साथ ही साथ उन्होंने गुरु-कार्य के लिए अनुयायियों से धन भी एकत्रित किया। आरम्भ में अनुयायियों से धन स्वेच्छा के आधार पर लिया गया था परन्तु गुरु अर्जुन ने उसे अनिवार्य कर दिया और प्रत्येक सिख से उसकी आय का 1/10 हिस्सा माँगा। इससे गुरु के पास स्थायी आय की व्यवस्था हो गयी और उनके पास धन की कमी नहीं रही।

गुरु अर्जुन ने स्वयं भी धर्म-प्रचार का कार्य किया। उन्होंने मध्य-पंजाब का दौरा किया जहाँ जाट-किसानों का बाहुल्य था और बहुत बड़ी संख्या में उन्हें सिख-धर्म में परिवर्तित किया जिसका प्रभाव गम्भीर रूप से सिख-सम्प्रदाय पर आया। जब सिख-सम्प्रदाय को सैनिक-सम्प्रदाय में बदलने का प्रयत्न सिख-गुरुओं ने आरम्भ किया तब जाट-किसान ही इसमें सबसे आगे आये। गुरु अर्जुन ने वहाँ तरन-तराँ नामक नगर को बसाया और वहाँ पर भी

एक तालाब बनाने के कार्य को आरम्भ किया। धीरे-धीरे उस क्षेत्र में सिखों के चार तीर्थ बने। वे थे खादुर, गोइन्दवाल, अमृतसर और तरन-तराँ। गुरु अर्जुन ने जलन्धर-दोआब और लाहौर- गुरुदासपुर क्षेत्रों की भी यात्रा की और वहाँ बड़ी संख्या में अनुयायी बनाये।

गुरु अर्जुन के समय में कुछ ऐसी भी परम्पराएँ आरम्भ हुईं जिन्होंने सिख-सम्प्रदाय को पंजाब में लोकप्रिय बनाने में सहायता दी। उस समय तक गुरु का पद पैतृक तो बन ही गया था। इस समय में गुरु को देवत्व-गुणों से युक्त समझा गया। यद्यपि किसी भी गुरु ने अपने को ईश्वर अथवा ईश्वरीय प्रतिनिधि नहीं कहा परन्तु तब भी जनसाधारण के मन में इस प्रकार की विचारधारा पनप गयी। गुरु अर्जुन के समय में हुए कुछ परिवर्तनों ने इस विचारधारा के निर्माण में सहयोग दिया। गुरु अर्जुन से पहले के गुरु साधारण जीवन व्यतीत करते थे और धन भी अधिक एकत्रित नहीं करते थे। गुरु अर्जुन ने प्रत्येक सिख से उसकी आय का 1/10 हिस्सा अनिवार्य रूप से माँगा। इस कारण उनके पास धन की कमी नहीं रही। अकबर के शासन-काल में मुगल-शासन के स्थायित्व के कारण व्यापार और कृषि दोनों में ही उन्नति हुई थी। उत्तर-पश्चिम के मार्गों से विदेशी व्यापार पंजाब द्वारा ही होता था जिसमें पंजाब के खत्री प्रमुख भाग ले रहे थे। इस कारण वे धनवान थे। उनमें से अधिकांश सिख-सम्प्रदाय के अनुयायी थे जिसके कारण सिख-गुरु को उनसे बहुत धन मिलता था। इसी प्रकार, उत्तर-पश्चिम से किसी आक्रमण के न होने की सम्भावना के कारण और कृषि में सिंचाई की अच्छी व्यवस्था हो जाने से पंजाब में कृषि भी उन्नतशील स्थिति में थी जबकि जाट-किसानों में भी सिख-सम्प्रदाय लोकप्रिय था। इस कारण, गुरु की आय उनसे भी अच्छी हो जाती थी। ऐसी स्थिति में गुरु अर्जुन ने राजसी ठाठ-बाट से दरबार लगाना आरम्भ किया। इसके अतिरिक्त, गुरु अर्जुन ने विभिन्न तीर्थ-स्थलों और वहाँ गुरु-मन्दिरों (गुरुद्वारों) की स्थापना की, आदिग्रन्थ की रचना की, अमृतसर के गुरुद्वारे में उसकी स्थापना करायी और संगतों के माध्यम से जनसाधारण से सम्बन्ध बनाये। इन परिस्थितियों ने सिख-सम्प्रदाय को आत्मविश्वास प्रदान किया और उसके साथ-साथ गुरु के प्रति उनकी आस्था में भी वृद्धि हुई। धीरे-धीरे गुरु का स्थान श्रेष्ठता प्राप्त करता गया। गुरु अंगद और गुरु अमरदास के समय में भी गुरु के लिए 'सच्चा पादशाह' शब्द का प्रयोग किया गया था। अब गुरु अर्जुन के समय में गुरु को देवत्व-गुणों से युक्त माना जाने लगा और छत्र, तख्त, दरबार आदि शब्द भी गुरु के सम्बन्ध में प्रयोग किये जाने लगे, जैसे—गुरु का तख्त, गुरु-दरबार आदि। इससे सिख-सम्प्रदाय की एकता और शक्ति में वृद्धि हुई। इस प्रकार गुरु अर्जुन ने सिख-सम्प्रदाय को योग्य नेतृत्व प्रदान करके उसे पंजाब में लोकप्रिय बनाने में बहुत सहायता की।

गुरु अर्जुन ने अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति के साथ-साथ भौतिक और शारीरिक उन्नति करने का भी सन्देश दिया था। उनका कहना था कि "जो व्यक्ति शस्त्र लेकर विजय या मृत्यु का निश्चय करता है और जो व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर सत्य-नाम (ईश्वर) का स्मरण करता है वह कई जन्मों के पापों से मुक्त हो जायेगा और निर्वाण प्राप्त करेगा।" इससे स्पष्ट होता है कि गुरु अर्जुन अपने अनुयायियों से अवसर आने पर सशस्त्र संघर्ष की आशा भी करते थे।

गुरु अर्जुन का एक मुख्य कार्य आदिग्रन्थ की रचना भी था जिसने सिख-सम्प्रदाय को एक धार्मिक ग्रन्थ भी प्रदान किया जो एक धर्म की स्थापना और प्रसार के लिए आवश्यक होता है। गुरुओं के विचारों को संकलित किये जाने का कार्य गुरु अंगद और गुरु अमरदास ने भी किया था। गुरु अमरदास ने गुरु नानक और गुरु अंगद के विचारों को संकलित किया था

और उनके साथ अपने विचारों को भी संकलित किया था। उनको मिलाकर उन्होंने दो ग्रन्थ तैयार किये थे जिन्हें **'गोविन्दवाल-पोथियाँ'** के नाम से पुकारा गया था। गुरु अर्जुन ने उनके साथ अपने पिता गुरु रामदास, स्वयं अपने और भक्ति-मार्ग के हिन्दू अथवा मुसलमान सन्तों के उन विचारों को, जो सिख-सम्प्रदाय के विचारों से मिलते थे, संकलित किया। 1604 ई. में यह कार्य पूरा हुआ। सभी गुरुओं और अन्य सन्तों के विचारों को एक ग्रन्थ में संकलित किये गये ग्रन्थ को **आदिग्रन्थ** पुकारा गया और उसको अमृतसर के गुरुद्वारा में प्रतिष्ठित किया गया। इस ग्रन्थ का संकलन किया जाना एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करना था। सिख-सम्प्रदाय का विस्तार हो रहा था। इस कारण, स्वयं गुरु अथवा उनके प्रतिनिधि गुरु के विचारों को दूरस्थ क्षेत्रों तक फैले हुए जन-समुदाय तक नहीं पहुँचा सकते थे। जब इस ग्रन्थ की स्थापना विभिन्न गुरुद्वारों में हो गयी तब गुरुओं की वाणी उसके माध्यम से जन-साधारण तक पहुँच गयी। बाद में, गुरु गोविन्दसिंह ने अपने पिता और नवें गुरु तेगबहादुर के विचारों को भी आदि-ग्रन्थ में सम्मिलित किया यद्यपि उन्होंने अपने स्वयं के विचारों को एक पृथक ग्रन्थ में संकलित किया जिसे **दसम् पादशाह का ग्रन्थ** या **दसम् ग्रन्थ** के नाम से पुकारा गया। आदि-ग्रन्थ में सम्मिलित की गयी रचनाएँ पद्य में हैं जिन्हें गाकर पढ़ा जाता है। इसमें 12 वीं सदी से लेकर 17 वीं सदी तक हुए भक्ति-मार्ग के विभिन्न सन्तों की रचनाएँ हैं जिनमें सिख-गुरुओं की रचनाओं का बाहुल्य है। सबसे पहले की रचनाओं में बंगाल के वैष्णव-कवि जयदेव की रचनाएँ हैं और अन्तिम रचनाएँ सिख-गुरु तेगबहादुर की हैं। इनमें कुछ रचनाएँ नामदेव और रामानन्द जैसे सन्तों की भी हैं जो गुरु नानक से पहले हुए थे और कुछ ऐसे सन्तों की भी हैं जो विभिन्न सिख-गुरुओं के समकालीन थे। इससे स्पष्ट है कि सिख-गुरु मध्य-युग में हुए हिन्दू धर्म के भक्ति-आन्दोलन से गम्भीरता से प्रभावित थे। **आदिग्रन्थ** सिखों के धार्मिक-ग्रन्थ के रूप में ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु प्रायः छः सौ वर्षों (1200-1700 ई.) की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति का आभास भी इससे होता है।

जब मुगल-बादशाह जहाँगीर सिंहासन पर बैठा तब उसके पुत्र खुसरो ने विद्रोह किया। वह भागकर पंजाब गया जहाँ गुरु अर्जुन ने उसे आशीर्वाद दिया और, सम्भवतया, कुछ आर्थिक सहायता भी दी। जहाँगीर इस घटना के कारण गुरु से अप्रसन्न हो गया। सम्भवतया, उसे गुरु के धार्मिक विचारों से भी चिढ़ थी क्योंकि गुरु हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही अपना शिष्य बना रहे थे। जहाँगीर ने गुरु पर 2-1/2 लाख रुपये का जुर्माना किया। गुरु ने इसे देने से इन्कार किया। उनका कहना था : "मेरा अपना कोई धन नहीं है। मेरा धन तो गरीब और असहायों का है।" जहाँगीर ने गुरु की सम्पत्ति को जब्त करने तथा उन्हें कैद करने के आदेश दिये। बन्दीगृह में गुरु अर्जुन को कठोर यातनाएँ देकर मार दिया गया (1606 ई.)। जहाँगीर का गुरु के प्रति यह व्यवहार अनुचित था। सिखों ने इसे मुगलों द्वारा अपने धर्म पर प्रथम आक्रमण माना। उस समय से सिखों को शस्त्र रखने की आवश्यकता अनुभव हुई। गुरु अर्जुन की पीड़ायुक्त मृत्यु ने सिखों को सैनिक-सम्प्रदाय और गुरु को सैनिक-सन्त बनने की भावना प्रदान की।

गुरु हरगोविन्द (1606-1644 ई.)

जब गुरु हरगोविन्द ने गुरु की गद्दी सँभाली उस समय उनकी आयु ग्यारह वर्ष की थी। गुरु हरगोविन्द ने धर्म की रक्षा के लिए सिखों को सैनिक बनाने का कार्य आरम्भ किया। उनके पिता गुरु अर्जुन ने अपनी मृत्यु से पहले उन्हें सन्देश भेजा कि 'उससे कहना कि वह शोक न मनाये और न पुरुषत्वहीन व्यक्ति की भाँति रोये बल्कि ईश्वर की प्रार्थना करे। वह

अपने सिंहासन पर पूर्ण शस्त्र धारण करके बैठे और अपनी सामर्थ्य के अनुसार बड़ी से बड़ी सेना रखे।' गुरु हरगोविन्द ने अपने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। दस दिन तक उन्होंने **ग्रन्थ-साहिब** का पाठ कराया और अपनी कमर में दो तलवार बाँधकर वह गद्दी पर बैठे। उनके दो तलवारें धारण करने का अर्थ भौतिक (मीरी) और आध्यात्मिक (फकीरी) दोनों शक्तियों का प्रधान होना था। उन्होंने अपने अनुयायियों से धन के स्थान पर घोड़े और शस्त्र लेने आरम्भ किये, उन्हें माँस खाने की आज्ञा दी और उन्हें धार्मिक-शिक्षा के साथ-साथ सैनिक-शिक्षा भी प्रदान की। उन्होंने 12 फीट ऊँचा **'तख्त अकाल-बंगा'** का निर्माण किया और उस पर बैठकर अपने शिष्यों से मिलना आरम्भ किया। उनका आशय था कि जिस प्रकार बादशाह तख्त पर बैठकर दरबार करता है उसी प्रकार गुरु पवित्र तख्त पर बैठने का सम्मानित अधिकार रखता है। उन्होंने दरबार में नगाड़ा बजाने की व्यवस्था को आरम्भ किया जो राजसत्ता का प्रतीक था। उन्होंने अमृतसर शहर की किलेबन्दी भी की। उन्होंने शिकार करना भी आरम्भ किया और धार्मिक गानों के साथ-साथ सैनिक-गानों को गाना-बजाना भी आरम्भ किया। इस प्रकार, गुरु हरगोविन्द ने सिखों में सैनिक-भावना, सैनिक-शिक्षा और स्वरक्षा के लिए शस्त्र धारण करने की क्रियाएँ आरम्भ कीं।

गुरु हरगोविन्द द्वारा सिखों को सैनिक-भावना प्रदान करना परिस्थितियों के अनुकूल था। गुरु अर्जुन ने ही यह समझ लिया था कि, सम्भवतया, अकबर के पश्चात् मुगल-बादशाह की नीति धार्मिक उदारता की न रहे क्योंकि अकबर के शासन-काल में ही कट्टर इस्लाम के समर्थकों ने उसकी धार्मिक उदारता की नीति का विरोध करना आरम्भ कर दिया था। इस कारण, गुरु अर्जुन ने अपने अनुयायियों के धर्म की सुरक्षा के लिए उन्हें सैनिक-शिक्षा देना आरम्भ कर दिया था। जिन परिस्थितियों में गुरु अर्जुन की मृत्यु हुई वे भी स्पष्ट कर रही थीं कि धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र उठाने की आवश्यकता हो सकती है। इस कारण, गुरु हरगोविन्द ने सैनिक-शक्ति एकत्रित करनी आरम्भ की।

जहाँगीर ने गुरु हरगोविन्द से उनके पिता पर किये गये जुर्माने को माँगा और उनके मना करने पर उनको ग्वालियर के किले में बन्दी बना दिया। दो वर्ष या उससे भी अधिक समय गुरु हरगोविम्द वहाँ रहे परन्तु उसके पश्चात् उन्हें बिना किसी शर्त के छोड़ दिया गया। उसके पश्चात् जहाँगीर के काल में सिखों का कोई विवाद मुगलों से नहीं हुआ। परन्तु शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठते ही सिखों का मुगलों से संघर्ष आरम्भ हो गया। शाहजहाँ के प्रारम्भिक काल में मुगलों की धार्मिक-नीति अनुदार रही। उसने सिखों की भावना को उस समय चोट पहुँचाई जब लाहौर में स्थित **अर्जुन-बाबड़ी** को मिट्टी से भरवाकर वहाँ एक मस्जिद का निर्माण किया गया। बाद में एक साधारण घटना से सिखों और मुगलों का संघर्ष आरम्भ हो गया। शाहजहाँ का एक प्रिय बाज उड़कर गुरु के खेमे में पहुँच गया। गुरु ने उसे पकड़कर अपने पास रख लिया और जब मुगलों ने उसे वापस माँगा तब उसे देने से इन्कार कर दिया। उस समय थोड़े से झगड़े के बाद एक मुगल अधिकारी के मध्यस्थ बन जाने पर झगड़ा समाप्त हो गया। परन्तु 1634 ई. में अमृतसर के निकट सिखों और मुगल-सेना की एक टुकड़ी में युद्ध हुआ। इससे गुरु हरगोविन्द करतारपुर नामक स्थान पर चले गये जहाँ उन्होंने किलेबन्दी कर रखी थी। तब भी मुगलों से समय-समय पर झगड़े होते रहे। यह समझकर कि अभी सिख मुगलों की शक्ति का मुकाबला नहीं कर सकते और संघर्ष करने से धर्म की सुरक्षा करना कठिन होगा, गुरु हरगोविन्द कीरतपुर चले गये जो कहलूर-राज्य में एक हिन्दू राजा के अधीन था तथा जहाँ मुगलों का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। इस कारण, गुरु हरगोविन्द के बाद के समय में सिखों और मुगलों में संघर्ष नहीं हुआ।

गुरु हरगोविन्द ने एक विद्रोही के रूप में मुगल-शासन से प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं किया। उनका संघर्ष मुगल-बादशाह से तो क्या पंजाब के मुगल-सूबेदार से भी नहीं हुआ। मुगलों से उनका संघर्ष स्थानीय झगड़ों के रूप में हुआ। परन्तु धर्म की रक्षा के लिए सिखों को हथियार उठाने हैं, यह शिक्षा उन्होंने सिखों को अवश्य प्रदान की। वह समझते थे कि उस समय तब सिख-सम्प्रदाय प्रत्यक्ष रूप से मुगल-प्रशासन से संघर्ष करने की शक्ति नहीं रखता था। इस कारण, उन्होंने दो बार अपना निवास-स्थान बदला और पंजाब के मुख्य प्रदेश को छोड़कर पहाड़ियों में चले गये। मुगलों से उनके संघर्ष का समय भी बहुत थोड़ा रहा। कुछ वर्षों को छोड़कर प्रायः 40 वर्ष के गुरु की गद्दी पर बैठे रहने के समय में उनका मुगलों से संघर्ष नहीं हुआ । अपनी समझदारी और नीति से गुरु हरगोविन्द ने सिख-सम्प्रदाय को मुगलों की विनाशकारी शक्ति से बचाया और साथ ही साथ सिखों में धर्म के लिए मर-मिटने की भावना को जागृत करने तथा उसे बनाये रखने में भी सफलता प्राप्त की। 1645 ई. में कीरतपुर में ही गुरु हरगोविन्द की मृत्यु हुई।

गुरु हरराय (1644-1661 ई.)

गुरु हरगोविन्द ने अपने पुत्र के पुत्र हरराय को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। गुरु हरराय की उम्र उस समय चौदह वर्ष की थी। गुरु हरराय ने भी अपने साथ सेना रखी और एक अर्ध-स्वतन्त्र सैनिक-सरदार के रूप में अपना अस्तित्व बनाकर रखा परन्तु उन्होंने राजनीतिक गतिविधियों से अपने को पृथक रखा और यह ध्यान रखा कि मुगलों से उनका कोई संघर्ष न हो। परन्तु मुगल शाहजादा दाराशिकोह से उनका सम्पर्क हुआ। दाराशिकोह उदार धार्मिक विचारों का था तथा विभिन्न सम्प्रदायों के सन्तों से मिलता रहता था। इसी प्रकार वह गुरु हरराय से भी मिला था और उनसे प्रभावित हुआ था। उत्तराधिकार के युद्ध में औरंगजेब विजयी हुआ। दाराशिकोह सामूगढ़ के युद्ध में पराजित होकर जब पंजाब गया तब गुरु हरराय से मिला। सम्भवतया, गुरु हरराय से उसे कोई सहायता नहीं मिली। परन्तु तब भी औरंगजेब गुरु से अप्रसन्न हुआ और उसने उन्हें दिल्ली-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी। गुरु हरराय स्वयं तो औरंगजेब के दरबार में नहीं गये परन्तु उन्होंने अपने चौदह वर्षीय पुत्र रामराय को वहाँ भेज दिया। रामराय ने औरंगजेब को प्रसन्न करने के लिए कुछ ऐसे कार्य कर दिये जिनकी सूचना मिलने पर गुरु रामराय ने उसे अपना उत्तराधिकारी मानने से इन्कार कर दिया और अपने छः वर्षीय पुत्र हरकिशन को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। 1661 ई. में गुरु हरराय की मृत्यु हो गयी।

गुरु हरकिशन (1661-1664 ई.)

गुरु हरकिशन के बड़े भाई रामराय ने गुरु की गद्दी का दावा किया। उसे बादशाह औरंगजेब के समर्थन का विश्वास था। कुछेक मसन्द भी उसके पक्ष में हो गये। गुरु की गद्दी के विवाद पर निर्णय लेने के लिए औरगंजेब ने गुरु हरकिशन को अपने दरबार में बुलाया। गुरु हरकिशन दिल्ली आये परन्तु बादशाह से भेंट होने से पहले ही चेचक से उनकी मृत्यु हो गयी। बादशाह ने गुरु हरकिशन को ही गुरु हरराय का उत्तराधिकारी स्वीकार किया जिसके कारण रामराय देहरादून चला गया और वहाँ उसने अपनी पृथक गद्दी स्थापित कर ली। उसके अनुयायी 'रामरायी' कहलाये।

गुरु तेगबहादुर (1664-1675 ई.)

यह विश्वास किया जाता है कि अपनी मृत्यु से पहले गुरु हरकिशन ने गुरु हरगोविन्द के सबसे छोटे पुत्र तेगबहादुर को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था।

तेगबहादुर ने 1635 ई. में करतारपुर के युद्ध में मुगलों से युद्ध किया था परन्तु उनका झुकाव धार्मिक दर्शन की ओर अधिक था। इस कारण, उसके पश्चात् उन्होंने अपना ध्यान धार्मिक कृत्यों पर अधिक लगाया। उस समय गुरु की गद्दी के 22 दावेदार खड़े हो गये थे। परन्तु सिख-सम्प्रदाय ने तेगबहादुर को ही अपना गुरु स्वीकार किया। उस समय गुरु तेगबहादुर की आयु 43 वर्ष की थी।

गुरु तेगबहादुर के सम्मुख कुछ नवीन कठिनाइयाँ थीं। सिखों की एकता उस समय संकट में थी। मसन्द जो गुरु अर्जुन के समय में सिख-अनुयायियों से धन एकत्रित करने के लिए नियुक्त किये गये थे, लालची हो गये थे और पिछले दो गुरुओं की कठिनाइयों का लाभ उठाकर स्वतन्त्रता से व्यवहार करने के लिए उत्सुक थे। गुरु की गद्दी के 22 दावेदारों की उपस्थिति ने इस कठिनाई को बढ़ावा दिया था। इसके अतिरिक्त जब गुरु की गद्दी तेगबहादुर को प्राप्त हो गयी तब वे दावेदार गुरु तेगबहादुर के विरुद्ध हो गये। इस कारण, गुरु तेगबहादुर को आरम्भ में एक स्थान पर ठहरने में कठिनाई हुई। बाद में, इसी कारण, उन्होंने मखोवाल नामक स्थान पर अपनी गद्दी स्थापित की जहाँ आनन्दपुर नामक नगर बसा।

यह विचार प्रकट किया गया है कि गुरु तेगबहादुर को आरम्भ में ही औरंगजेब ने अपने दरबार में उपस्थित होने के लिए बुलाया था और उन पर शान्ति भंग करने का आरोप लगाया था परन्तु अम्बर के राजा जयसिंह के हस्तक्षेप के कारण उन्हें बादशाह ने माफ कर दिया। गुरु तेगबहादुर ने पूर्वी भारत का भ्रमण किया और जिस समय राजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह को असम पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया उस समय वह बिहार और बंगाल में भ्रमण कर रहे थे। वह रामसिंह के साथ असम तक गये। वहाँ से वापस आकर वह प्रायः एक वर्ष तक कीरतपुर में रहे। वहाँ से उन्होंने मध्य-पंजाब में भ्रमण किया और पंजाब के किसानों के सम्पर्क में आये। धर्म-प्रचार के अतिरिक्त उन्होंने किसानों के दैनिक-जीवन की समस्याओं में भी भाग लिया जैसा कि पहले किसी गुरु ने नहीं किया। उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक नीति का विरोध किया और किसानों से निडर रहने के लिए कहा। इससे किसानों में अत्याचार के विरुद्ध खड़े होने की भावना आई और उन्होंने अत्याचारी जमीदारों और लगान-अधिकारियों का विरोध करना आरम्भ कर दिया। मुगल-शासन के विरुद्ध जमींदार भी इस विरोध में सम्मिलित हो गये। उनमें अनेक ऐसे भी थे जिन्होंने विरोध में शस्त्रों का भी सहारा लिया। इससे मुगल-अधिकारी गुरु तेगबहादुर के प्रति शंकालु हो गये कि, सम्भवतया, गुरु ही जनसाधारण के विद्रोह के लिए उत्तरदायी हैं। औरंगजेब की दृष्टि में यह एक बड़ा अपराध और खतरा था। मथुरा में जाटों ने विद्रोह किया था और नारनौल में सतनामियों ने विद्रोह किया था। एक गुरु के नेतृत्व में, जो अपने को सच्चा पादशाह पुकारता था, पंजाब में हो सकने वाले विद्रोह को औरंगजेब बर्दाश्त करने के लिए तत्पर नहीं था। गुरु तेगबहादुर के विषय में मुगल-प्रशासन और औरंगजेब की आशंका निर्मूल थी। गुरु तेगबहादुर ने कभी भी सैनिक-शिक्षा पर बल नहीं दिया था और न उन्होंने अपने साथ शिष्यों की सेना रखी थी। उनके विचारों में भी सैनिक-प्रवृत्ति या संघर्ष की भावना प्रकट नहीं होती। वस्तुतः गुरु तेगबहादुर ने सैन्य-संचालन, मुगल-प्रशासन या बादशाह के विरुद्ध विद्रोह की भावना को फैलाने का प्रयत्न कभी नहीं किया था। उनका मुख्य भाव तो निर्भय रहकर अपने धर्म और कर्तव्य का पालन करना था। परन्तु तब भी उन पर राज्य के विरुद्ध होने का आरोप लगाया गया जो सर्वथा निराधार था। औरंगजेब द्वारा गुरु तेगबहादुर को कैद करने और उनको मृत्यु-दण्ड देने का कारण पूर्णतया धार्मिक था। यह विश्वास प्रकट किया गया है कि कश्मीर का मुगल-सूबेदार उस समय औरंगजेब के आदेशों पर मन्दिरों को तोड़ने और

हिन्दुओं को मुसलमान बनाने की नीति को कठोरता से लागू कर रहा था। उसने कश्मीरी पण्डितों को इस्लाम और मृत्यु इन दो में से एक को चुनने के लिए छः माह का समय दिया। कश्मीरी पण्डितों ने गुरु तेगबहादुर से सलाह माँगी। उन्होंने उनसे औरंगजेब से मिल कर यह शर्त रखने के लिए कहा कि यदि गुरु तेगबहादुर इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेंगे तो हम भी कर लेंगे। जब यह शर्त औरंगजेब को बतायी गयी तब उसने गुरु तेगबहादुर को कैद करने के आदेश दे दिये। गुरु तेगबहादुर को कैद करके दिल्ली ले जाया गया। उनसे इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए कहा गया जिसके मना करने पर गुरु तेगबहादुर को पाँच दिन तक विभिन्न यातनाएँ देने के पश्चात् विद्रोही घोषित करके कत्ल कर दिया गया (1675 ई.)। इस प्रकार, गुरु तेगबहादुर ने धर्म की रक्षा के लिए अपना जीवन होम दिया और यह सिख धर्म पर किया गया मुगलों का दूसरा गम्भीर धार्मिक अत्याचार था।

गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय और गुरु हरकिशन ने धार्मिक रचनाएँ नहीं की थीं। गुरु तेगबहादुर ने इस कार्य को किया। उनकी कविताएँ मुख्यतया वैराग्य की भावना से भरी हुई हैं। उनमें कहीं भी राजनीति का प्रभाव दिखाई नहीं देता। गुरु तेगबहादुर ने पर्याप्त समय उत्तर-प्रदेश और बिहार में व्यतीत किया था। इस कारण, उनकी रचनाओं पर बृजभाषा का पूर्ण प्रभाव है।

गुरु गोविन्दसिंह (1675-1708 ई.)

गोविन्दसिंह गुरु तेगबहादुर के एकमात्र पुत्र थे। बिहार में पटना में 1666 ई. में उनका जन्म हुआ था। 1672 ई. में जब गुरु तेगबहादुर अपनी असम की यात्रा से वापस पहुँचे तब यह भी पंजाब पहुँचे। उन्हें साहित्यिक और सैनिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा दी गयी। वह प्रायः 9 वर्ष के ही थे कि उनके पिता को कत्ल कर दिया गया। आरम्भ में वह मखोवाल (आनन्दपुर) में ही रहे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हें गुरु घोषित किया गया। उन्होंने आरम्भ से ही सैनिक और शस्त्र एकत्रित करने आरम्भ किये। गुरु गोविन्दसिंह अपने पिता के कत्ल को कभी नहीं भुला सके। धर्म की रक्षा के लिए शस्त्र उठाना और अत्याचारी का विनाश उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा। उन्होंने औरंगजेब की धर्मान्धता का उत्तर धर्मान्धता से दिया। उन्होंने अपने को सच्चा पादशाह कहा। वह एक बादशाह की भाँति दरबार करते थे।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों के उद्देश्य और उसकी पूर्ति के साधनों में परिवर्तन कर दिया। अभी तक सिख-गुरुओं का उद्देश्य धर्म-प्रचार और धर्म की रक्षा मात्र रहा था। गुरु गोविन्दसिंह ने 'सभी अत्याचारियों का दमन' अपना एक मुख्य उद्देश्य बनाया। उनका कहना था कि "ईश्वर ने उन्हें धर्म-प्रचार, सन्तों की रक्षा और अत्याचारियों के विनाश के लिए पृथ्वी पर भेजा है।" इसी कारण, उनके लिए शस्त्र धारण करना आवश्यक हो गया क्योंकि अत्याचारियों का विनाश बिना शस्त्र धारण किये हुए सम्भव नहीं था। उनका विश्वास था कि सिखों को एक नवीन उद्देश्य और उसकी पूर्ति के लिए एक नवीन साधन बनाने के लिए उनका जन्म हुआ है। गुरु गोविन्दसिंह ने, इसी कारण, ईश्वर के गुणों की परिभाषा बदली। उनसे पहले के सभी गुरु ईश्वर को दयावान, न्यायवान, शक्तिमान आदि गुणों से युक्त मानते थे। गुरु गोविन्दसिंह ने कहा कि ईश्वर में इन गुणों के अतिरिक्त अन्य गुण भी हैं। उनके अनुसार ईश्वर शस्त्रधारी और अत्याचारियों का विनाश करने वाला भी है। गुरु गोविन्दसिंह के अनुसार नैतिक और आध्यात्मिक शक्तियों की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि पहले दुर्जनों का विनाश किया जाय। सभी गुरुओं ने ईश्वर को सर्वशक्तिमान स्वीकार किया था परन्तु उन्होंने ईश्वर को दुर्जनों को नष्ट करने वाले के रूप में प्रस्तुत नहीं किया था। गुरु

गोविन्दसिंह ने इस कार्य की पूर्ति की। अपने इन विचारों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के लिए उन्हें **खालसा** के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को एक सैनिक-सम्प्रदाय **खालसा** में परिवर्तित कर दिया। सैनिकवाद की भावना सिखों में गुरु अर्जुन के समय में ही आरम्भ हो गयी थी। गुरु हरगोविन्द ने उसे पर्याप्त आगे बढ़ाया था। गुरु गोविन्दसिंह ने उसे पूर्णता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने सम्पूर्ण सिखों को **खालसा** पुकारा, प्रत्येक सिख को अपने नाम के आगे 'सिंह' लगाने के लिए कहा तथा प्रत्येक को केश, कंघा, कृपाण, कच्छा और कड़ा रखने के आदेश दिये। उन्होंने कहा : "मैं चारों वर्णों के व्यक्तियों को सिंह बना दूँगा और मुगलों को बर्बाद कर दूँगा।" उन्होंने सिखों को खाने-पहनने और विवाह-सम्बन्धों के बारे में समानता और एकता प्रदान की। उन्होंने सिखों को शस्त्र-शिक्षा लेने और युद्ध में पीठ न दिखाने के लिए कहा। उन्होंने सिखों से नशा करने वालों, शिशु-बालिकाओं को मारने वालों तथा **मीतास, धीर-मलियास** और **रामरायी** सम्प्रदायों के व्यक्तियों तथा **मसन्दों** से पृथक रहने और उनसे कोई भी सामाजिक तथा विवाह-सम्बन्ध रखने के लिए मना किया। गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों में आत्मविश्वास और साहस उत्पन्न किया तथा एक शक्तिशाली **खालसा-सेना** तैयार करने में सफलता पायी।

गुरु गोविन्दसिंह के विरुद्ध औरंगजेब ने कई सेनाएँ भेजीं, स्थानीय मुगल-अधिकारियों ने भी उनसे निरन्तर युद्ध किये और पाँच बार उनके आनन्दपुर में स्थित निवास-स्थान को घेरा। परन्तु उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर लड़ते रहे। इस संघर्ष में उनके दो बड़े पुत्र युद्ध में मारे गये और दो छोटे पुत्र सरहिन्द के मुगल-फौजदार वजीरखाँ के द्वारा कैद कर लिये गये और बाद में दीवार में जिन्दा चिनवा दिये गये। अन्त में गुरु गोविन्दसिंह दक्षिण-भारत चले गये और औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ही उत्तर-भारत आये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् हुए उत्तराधिकार के युद्ध में उसके एक पुत्र बहादुरशाह ने गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी और वह उसके साथ दक्षिण-भारत चले गये। वहीं पर गोदावरी नदी के तट पर एक पठान ने छुरा मारकर उन्हें गम्भीर रूप से घायल कर दिया। प्रायः दो माह पश्चात् अपना अन्तिम समय निकट जानकर उन्होंने अपने शरीर को चिता को सौंप दिया।

गुरु गोविन्दसिंह सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु हुए। अपनी मृत्यु से पहले उन्होंने गुरु की गद्दी को समाप्त कर दिया। उन्होंने कहा कि 'जहाँ भी गुरु के उपदेशों को मानने वाले पाँच सिख एकत्रित होंगे, मैं वहाँ उपस्थित हूँगा।' उन्होंने कहा कि **'गुरुबानी'** (जो आदि-ग्रन्थ में दी गयी है) ही सिख-सम्प्रदाय के गुरु का कार्य करेगी। इसी कारण, सिखों ने शीघ्र ही आदिग्रन्थ को **'गुरु-ग्रन्थ'** कहना आरम्भ कर दिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों का सैनिक-सम्प्रदाय, खालसा बनाया और उन्हें धर्म-युद्ध की शिक्षा दी। परन्तु यह नानक या अन्य गुरुओं की शिक्षा के विरुद्ध नहीं था। गुरु नानक के विचारों में ईश्वर को बुराइयों और दुराचारियों को नष्ट करने वाला स्वीकार किया गया था और गुरु तेगबहादुर ने सत्य की शिक्षा के लिए संघर्ष करते हुए अहिंसात्मक तरीके से अपना जीवन दिया था। गुरु गोविन्दसिंह ने भी धर्म की रक्षा के लिए ही शस्त्र धारण करना आवश्यक बताया। गुरु अर्जुन ने अपने पुत्र को शस्त्र धारण करने के लिए कहा था और उनकी आज्ञा को मानकर गुरु हरगोविन्द ने सिखों द्वारा शस्त्र धारण करने की परम्परा आरम्भ की थी। गुरु गोविन्दसिंह ने उसी परम्परा को पूर्णता प्रदान की थी। वह उस समय की

आवश्यकता भी थी। परन्तु गोविन्दसिंह के संघर्ष का आधार भी पूर्णतया नैतिक और आध्यात्मिक था। इसी कारण, सिख-सम्प्रदाय की भौतिक-शक्ति का आधार सर्वदा धर्म से जुड़ा रहा। पंजाब की राजनीति में जो स्थान सिखों ने प्राप्त किया उसमें गुरु गोविन्दसिंह की शिक्षा का बहुत बड़ा हाथ रहा। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह की योग्यता यही नहीं थी कि उन्होंने सिखों को एक कट्टर धार्मिक सम्प्रदाय में बदल दिया। वे विद्वान भी थे। उनके विचारों को **दसम् पादशाह का ग्रन्थ** में संकलित किया गया है। वे विचार तीन भाषाओं में लिखे गये थे—बृजभाषा, गुरुमुखी और फारसी। इसका अर्थ है कि गुरु गोविन्दसिंह को तीन भाषाओं का ज्ञान था। इसके अतिरिक्त दर्शन, ज्ञान और आध्यात्मवाद के विचारों की दृष्टि से भी **दसम् पादशाह का ग्रन्थ** को एक श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया है। इस प्रकार, सिख-सम्प्रदाय के प्रति गुरु गोविन्दसिंह का योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण रहा।

बंदा बहादुर और उसके पश्चात्

इसके लिए अध्याय 14 में 'पंजाब में सिख-शक्ति का उत्थान' देखिए।

[3]

औरंगजेब के समय में अन्य विद्रोह

औरंगजेब के समय में उसकी धार्मिक नीति के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से भी विद्रोह हुए। 1663 ई. में गुजरात में एक झूठा दारा हुआ, 1669 ई. कूच-बिहार में एक झूठा शाहशुजा हुआ, 1674 ई. में यूसुफजाई जाति ने विद्रोह किया, 1699 ई. में इलाहाबाद में शाहशुजा का एक झूठा पुत्र हुआ, 1699 ई. में दक्षिण में एक झूठा अकबर हुआ और 1707 ई. में कश्मीर में एक विद्रोह हुआ। बीकानेर के शासक, पालामऊ के राजा मोरंग के शाहजादे और कुमायूँ के राजा ने भी विद्रोह किये। परन्तु यह सभी विद्रोह साधारण रहे और सभी को सरलता से दबा दिया गया।

यूरोपियन जातियों में से पुर्तगालियों और अंग्रेजों से भी समय-समय पर औरंगजेब का संघर्ष हुआ। स्थल पर मुगल शक्तिशाली सिद्ध हुए और अधिकांशतया यूरोपियनों को सन्धि करने और कर देने के लिए बाध्य किया गया परन्तु समुद्र पर उनकी लूटमार रोकने में औरंगजेब असफल रहा।

औरंगजेब के समय का एक प्रमुख विद्रोह उत्तर-पश्चिम की सीमान्त जातियों का था। उत्तर-पश्चिम की सीमा पर रहने वाली वे अफगान जातियाँ पंजाब के मैदानों में आकर लूटमार करती थीं अथवा उत्तर-पश्चिम की तरफ से पश्चिम की ओर जाने वाले व्यापारिक काफिलों को लूटती थीं। यही उनकी जीविका का मुख्य साधन था। मुगल बादशाह समय-समय पर उनसे युद्ध करते थे अथवा समय-समय पर उनको शान्त रहने के बदले में धन देते थे। स्वयं औरंगजेब भी उनको धन देकर शान्त रखने का प्रयत्न करता रहा। परन्तु तब भी उन्होंने मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने की नीति को नहीं छोड़ा। विभिन्न अवसरों पर उनके विभिन्न नेता हुए जिन्होंने मुगलों को बहुत परेशान किया।

1667 ई. में यूसुफजाई कबीले के नेता भागू ने भयंकर लूटमार की। यूसुफजाई कबीला स्वात, बाजौर और उत्तरी पेशावर के मैदानी भाग में निवास करता था। भागू ने एक व्यक्ति को वहाँ के पुराने राजवंश का व्यक्ति बताकर मुहम्मदशाह के नाम से बादशाह घोषित किया, एक बड़ी सेना एकत्रित कर ली, सिन्धु नदी को पार करके मुगल सीमा में लूटमार की और मुगलों के काबुल तथा कश्मीर के मार्ग को बन्द कर दिया। औरंगजेब ने बड़ी सेनाएँ

यूसुफजाई-विद्रोह को दबाने के लिए भेजीं। उसी वर्ष भागू मुंगल-सरदार कामिलखाँ के द्वारा परास्त हुआ। अन्य कई स्थानों पर भी यूसुफजाइयों की पराजय हुई। अन्त में मुहम्मद अमीन खाँ उनके विद्रोह को कठोरता से दबाने में सफल हुआ और यूसुफजाइयों का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का स्वप्न समाप्त हुआ।

1672 ई. में अफ्रीदी-कबीले ने विद्रोह किया। यह कबीला खैबर दर्रे के निकट के क्षेत्र में रहता था। उनके नेता अकमालखाँ ने स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित किया और मुगलों के विरुद्ध एक राष्ट्रीय युद्ध घोषित करके सभी कबीलों को अपने झण्डे के नीचे एकत्रित होने के लिए आह्वान किया। अमीनखाँ ने, जो उस समय काबुल का सूबेदार बनाया जा चुका था, इस विद्रोह को दबाने का प्रयत्न किया परन्तु एक युद्ध में उसकी गंभीर पराजय हुई। मुगलों के प्रायः 10,000 सैनिक मारे गये, प्रायः 20,000 स्त्री-पुरुष कैद हो गये जिन्हें मध्य-एशिया में गुलामों की तरह बिकने के लिए भेज दिया गया और प्रायः दो करोड़ की सम्पत्ति लूटी गयी। इससे अकमालखाँ का नाम सम्पूर्ण पहाड़ी-क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गया और उसके सैनिकों की संख्या बढ़ने लगी। एक अन्य कबीला-जाति खट्टक भी अफ्रीदी-विद्रोहियों के साथ मिल गयी। यह कबीला कोहात, बन्नू और पेशावर के निकट के भागों में निवास करता था। उनका नेता खुशहालखाँ एक योद्धा और कवि दोनों था। खुशहालखाँ ने अपनी कलम और तलवार दोनों से इस विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया और यह विद्रोह कन्धार से अटक तक के क्षेत्र में सम्पूर्ण पठान-जाति का विद्रोह बन गया। आरम्भ में भेजे गये दो मुगल-सेनापति इस विद्रोह को दबाने में असफल रहे । औरंगजेब विद्रोह की गम्भीरता को देखकर स्वयं 1674 ई. में पेशावर के निकट हसनअब्दल नामक स्थान पर जाकर 1-1/2 वर्ष तक रहा। उसने इस विद्रोह को दबाने के लिए तोपखाना और सेना की सहायता ली परन्तु साथ ही साथ उसने कूटनीति का भी सहारा लिया। विद्रोही नेताओं को धन और बादशाह के मनसबदार बनने का लालच भी दिया गया। उनमें से कई ने शाही सेवाएँ स्वीकार कर लीं और कई ने शाही-सेना की शक्ति के मुकाबले समझौता कर लिया। 1675 ई. के अन्त तक मुगलों को इस विद्रोह को दबाने में सफलता मिल गयी। इस कारण, औरंगजेब उसी वर्ष अमीरखाँ को काबुल का सूबेदार नियुक्त करके दिल्ली वापस आ गया। अमीरखाँ प्रायः 20 वर्ष तक काबुल का सूबेदार रहा। वह और उसकी पत्नी साहिबी सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुए। अमीरखाँ ने धन, मित्रता, दबाव, आदि सभी साधनों का प्रयोग किया। उसके प्रयत्नों के फ़लस्वरूप अकमालखाँ के नेतृत्व में पठानों की सम्मिलित शक्ति टूट गयी। कुछ समय पश्चात् अकमालखाँ की मृत्यु हो जाने पर अफ्रीदियों ने मुगलों से समझौता कर लिया। उसके पश्चात् खुशहालखाँ खट्टक के नेतृत्व में पठान कुछ वर्षों तक मुगलों से संघर्ष करते रहे परन्तु विद्रोहियों की सम्मिलित शक्ति के टूट जाने से विद्रोह बहुत दुर्बल हो गया। खुशहालखाँ बाद में पकड़ा गया और उसका बाद का जीवन मुगलों की कैद में ग्वालियर में कटा। इस प्रकार, औरंगजेब उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के विद्रोह को वर्षों के सतत् प्रयत्न के बाद दबाने में सफल हुआ। परन्तु इस विद्रोह ने साम्राज्य को बहुत हानि पहुँचाई। औरंगजेब को अपनी सर्वश्रेष्ठ सेना उत्तर-पश्चिम में रखनी पड़ी जिसके कारण वह शिवाजी की ओर ध्यान न दे सका और उन्होंने 1677 ई. में कर्नाटक को जीत लिया। उसी प्रकार, जब 1679 ई. में राजपूतों ने विद्रोह किया, उस समय वह उनके विरुद्ध अफगान-सैनिकों का प्रयोग नहीं कर सका क्योंकि उसे उन पर पूर्ण विश्वास नहीं रहा था और न वह अफगान सैनिकों की भर्ती कर सका।

[4]

साम्राज्य-विस्तार

1. उत्तर-पूर्व : असम

शाहशुजा के अव्यवस्थित शासन और उत्तराधिकार के युद्ध के कारण असम और कूच-बिहार के शासकों को मुगलों के विरुद्ध खड़े होने का साहस हुआ। 1661 ई. तक मुगल इस ओर कोई ध्यान न दे सके। जब औरंगजेब अपने सिंहासन पर दृढ़ हो गया तब उसने मीरजुमला को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और उसे असमियों पर आक्रमण करने के आदेश दिये। नवम्बर 1661 ई. में मीरजुमला ने कूच-बिहार की राजधानी को जीत लिया, असम के पूर्वी और मध्य-भाग पर अधिकार कर लिया, 1662 ई. में गड़गाँव के राजा को परास्त करके उसकी राजधानी को जीत लिया तथा इस प्रकार मुगलों की सत्ता को असम में स्थापित कर दिया। 10 अप्रैल, 1663 ई. को बीमारी से मीरजुमला की मृत्यु हो गयी। मीरजुमला को असम की विजय का श्रेय जाता है। मीरजुमला के पश्चात् शाइस्ताखाँ को बंगाल का सबूदार नियुक्त किया गया। उसने भी अराकान के राजा को परास्त किया और अगले चार वर्ष तक असम पर मुगलों का अधिकार रहा। परन्तु उसके पश्चात् अपने राजा चक्रध्वज के नेतृत्व में असमियों ने असम और उसकी राजधानी गोहाटी को जीतने में सफलता पायी (1667 ई.)। परन्तु 1670 ई. में असम में आन्तरिक संघर्षों के कारण 11 वर्षों में सात राजा बदले। इसका लाभ मुगलों ने उठाया। यद्यपि कामरूप पर मुगलों का आधिपत्य न हो सका परन्तु कूच-बिहार के राजा ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली।

2. दक्षिण-भारत

1682 ई. में अपने पुत्र का पीछा करता हुआ औरंगजेब दक्षिण-भारत पहुँचा । उसके पश्चात् उसे उत्तर-भारत में आने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। दक्षिण-भारत औरंगजेब का कब्रिस्तान सिद्ध हुआ।

(i) बीजापुर की विजय—उत्तराधिकार के युद्ध से पहले शाहजहाँ के आदेश से औरंगजेब ने बीजापुर से एक सन्धि की थी जिसके अनुसार अली आदिलशाह द्वितीय ने मुगलों को डेढ़ करोड़ रुपया और बीदर, कल्याणी तथा परेन्द्र के किले देने का वायदा किया था। बीजापुर ने इस सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया। 1665 ई. में राजा जयसिंह को शिवाजी और बीजापुर-राज्य का दमन करने के लिए नियुक्त किया गया। उसी वर्ष जयसिंह ने शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इसके पश्चात् उसने बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर के 12 मील निकट तक पहुँच गया। परन्तु सफलता की आशा न देखकर जयसिंह को वापस लौटना पड़ा। जुलाई 1666 ई. में वापस आते हुए राजा जयसिंह की बुरहानपुर में मृत्यु हो गयी।

अगले दस वर्ष तक बीजापुर मुगलों के आक्रमण से बचा रहा। दिसम्बर 1672 ई. में अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो गयी और उसका चार वर्षीय पुत्र सिकन्दर आदिलशाह गद्दी पर बैठा। अल्पायु के इस शासक के समय में बीजापुर के सरदारों में राज्य के प्रभुत्व के लिए झगड़े आरम्भ हो गये। उस समय दक्षिण का मुगल-सूबेदार बहादुरखाँ था। 1676 ई. में उसने बीजापुर पर आक्रमण किया परन्तु वह विफल हुआ। औरंगजेब ने दिलेरखाँ को दक्षिण का सूबेदार नियुक्त किया। दिलेरखाँ ने पहले तो बीजापुर के मन्त्री

सिद्दी मसूद को अपनी तरफ मिलाकर एक सन्धि करने में सफलता पायी जिसके अनुसार बीजापुर ने मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया और सुल्तान की बहिन शाहजादी शहरबानू को औरंगजेब के पुत्र शाहजादा आजम से शादी करने के लिए दिल्ली भेज दिया। परन्तु बाद में बीजापुर और मराठों की मित्रता के प्रश्न को लेकर दिलेरखाँ और सिद्दी मसूद में झगड़ा हो गया तथा दिलेरखाँ ने 1679 ई. में बीजापुर पर आक्रमण किया। दिलेरखाँ ने बीजापुर राज्य में बहुत बरबादी की परन्तु वह कोई विशेष सफलता न पा सका। 1680 ई. में औरंगजेब ने दिलेरखाँ को दक्षिण से हटा दिया तथा उसके स्थान पर शाहजादा आजम को भेजा।

शाहजादा आजम ने अनेक कठिनाइयाँ उठायीं परन्तु वह दृढ़तापूर्वक बीजापुर से संघर्ष करता रहा। अप्रैल 1685 ई. में उसने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। 13 महीने तक किले का घेरा पड़ा रहा परन्तु किले को न जीता जा सका। जुलाई 1686 ई. में स्वयं औरंगजेब बीजापुर के किले के घेरे की देखभाल के लिए पहुँच गया। 22 सितम्बर, 1686 ई. को बीजापुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दरशाह स्वयं औरंगजेब से मिला। उसका स्वागत किया गया, उसे 'खान' का पद दिया गया तथा एक लाख रुपया प्रति वर्ष की पेन्शन दी गयी। बीजापुर राज्य को मुगल-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। बाद में आदिलशाही-वंश के अन्तिम सुल्तान सिकन्दरशाह की सतारा के निकट 32 वर्ष की आयु में मृत्यु हुई और उसकी अन्तिम इच्छा के अनुसार उसे धार्मिक गुरु शेख फहीमुल्ला की कब्र के चरणों में खुले कब्रिस्तान में दफना दिया गया।

(ii) गोलकुण्डा की विजय—गोलकुण्डा का शासक अबुलहसन कुतुबशाह था। गोलकुण्डा राज्य समय-समय पर बीजापुर राज्य और मराठों की सहायता करता रहा था। अबुलहसन शिया धर्म को संरक्षण देता था और उसने शासन-सत्ता दो ब्राह्मण मन्त्रियों, मदन्ना और अकन्ना को दे रखी थी। औरंगजेब दक्षिण के इन राज्यों को इसलिए भी समाप्त करना चाहता था क्योंकि इनको समाप्त किये बिना मराठों की शक्ति को समाप्त करना असम्भव हो रहा था और इन राज्यों को समाप्त किये बिना उसकी साम्राज्य-विस्तार की नीति पूर्ण नहीं हो सकती थी।

1685 ई. में औरंगजेब ने शाहजादा शाहआलम को गोलकुण्डा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। हैदराबाद के मार्ग में मलखेद नामक स्थान पर गोलकुण्डा की सेना ने मुगलों की सेना के मार्ग को रोका परन्तु सेनापति मुहम्मद इब्राहीम के मुगलों के साथ मिल जाने के कारण गोलकुण्डा की सेना को मुगलों के सामने से हटना पड़ा। कुतुबशाह सुल्तान अबुलहसन हैदराबाद को छोड़कर गोलकुण्डा के किले में भाग गया और मुगलों ने हैदराबाद पर अधिकार करके वहाँ बहुत बुरी तरह से लूटमार की। अबुलहसन ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की। जब सन्धि की बातचीत चल रही थी तभी कुछ सरदारों और हरम की प्रभावशाली स्त्रियों ने षड्यन्त्र करके मदन्ना और अकन्ना का सड़क पर वध करा दिया तथा उनके परिवार और घरों को लूट लिया गया। मदन्ना और अकन्ना के सिर काटकर शाहजादा शाहआलम के पास भेज दिये गये। इसके पश्चात् शाहआलम अपनी सेना को लेकर औरंगजेब के पास पहुँच गया। परन्तु औरंगजेब सन्धि करने के लिए तत्पर न हुआ। उसने बीजापुर के किले के पतन के पश्चात् 1687 ई. में गोलकुण्डा पर आक्रमण करके किले को घेर लिया। आठ महीने से भी अधिक समय तक किले का घेरा पड़ा रहा और मुगलों को सफलता न मिली। अन्त

में, औरंगजेब ने लालच देकर अब्दुल्ला गनी नामक एक अफगान सरदार को अपनी ओर मिला लिया और उसने अपने मालिक के साथ विश्वासघात करके 2 अक्टूबर, 1687 ई. को प्रातःकाल किले के फाटक खोल दिये और मुगल सेना ने किले में प्रवेश पा लिया।

औरंगजेब ने अबुलहसन को बन्दी बनाकर दौलताबाद के किले में भेज दिया। उसे पचास हजार रुपया वार्षिक पेन्शन दे दी गयी और उसके राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। इस प्रकार अक्टूबर 1687 ई. में गोलकुण्डा के स्वतन्त्र कुतुबशाही राज्य का अन्त हो गया।

(iii) मराठों से संघर्ष—मराठा-राष्ट्र के निर्माता और मराठों के स्वतन्त्र राज्य के संस्थापक शिवाजी को अपने पिता शाहजी से केवल पूना की जागीर प्राप्त हुई थी। परन्तु शिवाजी महत्वाकांक्षी थे। धर्म की रक्षा की भावना उनकी प्रेरणा थी और दक्षिण के बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की दुर्बलताएँ उनके उचित अवसर थे। 20 वर्ष की आयु से उन्होंने बिना किसी सहायता और संरक्षण के अपने स्वतन्त्र जीवन का आरम्भ किया तथा साहस, चालाकी और कौशल से आसपास की भूमि और किलों को जीतना आरम्भ किया। उन्हें बीजापुर और मुगलों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। मुगलों से शिवाजी का पहला संघर्ष 1656 ई. में आरम्भ हुआ जब शिवाजी ने अहमदनगर और चुनार पर आक्रमण किया। परन्तु 1657 ई. में उन्होंने मुगलों से सन्धि कर ली। उत्तराधिकार के युद्ध के कारण शिवाजी को कुछ समय के लिए मुगलों से मुक्ति मिल गयी और उस समय शिवाजी ने बीजापुर से संघर्ष करके अपनी सीमाओं का विस्तार किया। 1659 ई. में उन्होंने अफजलखाँ को मारने और उसकी सेनाओं को भगाने में सफलता पायी। परन्तु 1660 ई. में शिवाजी को बीजापुर के सरदार सिद्दी जौहर और दक्षिण के मुगल-सूबेदार शाइस्ताखाँ दोनों का एक साथ मुकाबला करना पड़ा। बीजापुर ने उससे पन्हाला का किला छीन लिया और मुगलों ने उनसे पूना, शिवपुर और चाकन आदि स्थानों को छीन लिया। तब भी शिवाजी साहसपूर्वक युद्ध करते रहे और उन्होंने जगह-जगह मुगलों पर आक्रमण करने, उनकी रसद को लूटने और उनके मनोबल को कम करने में सफलता पायी। अप्रैल 1663 ई. में शिवाजी ने पूना में घुसकर चुपके से शाइस्ताखाँ के महल पर आक्रमण करने में सफलता पायी। शाइस्ताखाँ बड़ी कठिनाई से अपनी जान बचाकर भाग सका। औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को वापस बुला लिया और राजा जयसिंह को दक्षिण भेजा। इस बीच में शिवाजी ने सूरत शहर को लूटने में सफलता पायी। 1665 ई. में राजा जयसिंह ने शिवाजी को पुरन्दर के किले में घेरकर सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि से शिवाजी को अपने तीन-चौथाई किले और भूमि मुगलों को देनी पड़ी, मुगलों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा और बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सहायता देनी पड़ी। राजा जयसिंह के समझाने से 1666 ई. में शिवाजी औरंगजेब से मिलने के लिए आगरा गये। वहाँ औरंगजेब ने उनको नजरबन्द कर दिया परन्तु अपनी चतुराई से शिवाजी वहाँ से भाग निकले और महाराष्ट्र पहुँच गये । महाराष्ट्र पहुँचकर शिवाजी ने औरंगजेब से सन्धि कर ली और प्रायः तीन वर्ष तक उन्होंने मुगल-सीमाओं के अन्तर्गत आक्रमण नहीं किये। 1670 ई. में शिवाजी ने पुनः मुगलों से युद्ध आरम्भ कर दिया, पुरन्दर की सन्धि द्वारा मुगलों को दिये गये प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, सूरत को दुबारा लूटा और मुगलों के औरंगाबाद, बगलाना, खानदेश, बरार आदि प्रदेशों पर सफल आक्रमण किये। औरंगजेब ने खानजहाँ (बहादुरखाँ) को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। परन्तु पाँच वर्ष के समय में वह कोई सफलता न पा सका। शिवाजी ने अनेक बार मुगल-प्रदेशों पर आक्रमण

किये और विभिन्न स्थानों से चौथ वसूल की। **16 जून, 1674 ई. को रायगढ़ में शिवाजी ने राज्याभिषेक किया और 'छत्रपति शिवाजी' की उपाधि धारण कर एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना की।** 14 अप्रैल, 1680 ई. को शिवाजी की मृत्यु हो गयी। इस प्रकार शिवाजी ने एक लम्बे समय तक बीजापुर तथा मुगलों का विरोध किया और महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने में सफलता पायी। **औरंगजेब शिवाजी के विरुद्ध सफलता न पा सका।**

शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी गद्दी पर बैठा। उसने भी मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने की नीति को जारी रखा। 1681 ई. में औरंगजेब के पुत्र अकबर को लेकर राठौर दुर्गादास शम्भाजी के दरबार में पहुँचा। परन्तु शम्भाजी में अपने पिता की भाँति दृढ़ता, परिश्रमशीलता, एकाग्रता और नीति-कुशलता नहीं थी। वह अकबर को सहायता देने में असफल रहा। 1682 ई. में औरंगजेब स्वयं दक्षिण पहुँचा और उसने हर तरफ से शम्भाजी पर आक्रमण शुरू कर दिये। दो वर्ष के प्रयत्नों का कोई लाभदायक परिणाम न निकला और 1682 ई. में औरंगजेब ने महाराष्ट्र से अपनी सेनाएँ वापस बुला लीं। शम्भाजी ने भी मुगलों से समझौता कर लिया। परन्तु यह समझौता स्थायी नहीं रहा। उसी वर्ष मराठा-मुगल संघर्ष पुनः आरम्भ हो गया। उसके पश्चात् 6 वर्ष तक शम्भाजी निरन्तर मुगलों से युद्ध करता रहा। अन्त में, अपनी असावधानी के कारण 1689 ई. में शम्भाजी अपने मन्त्री कवि कलश और कुछ अन्य प्रमुख अधिकारियों के साथ पकड़ा गया। उसके पुत्र शाहू को भी मुगलों ने कैद कर लिया। औरंगजेब ने शम्भाजी से उसके सभी किलों और खजानों को माँगा। शम्भाजी ने इससे इन्कार ही नहीं किया, बल्कि इस्लाम के पैगम्बर की बुराई भी की और औरंगजेब की एक पुत्री से विवाह करने की माँग की। इस कारण, कठोर यातनाएँ देने के पश्चात् **21 मार्च, 1689 ई. को शम्भाजी को कत्ल कर दिया गया।**

1689 ई. में औरंगजेब ने मराठा-छत्रपति शम्भाजी को कत्ल कर दिया, मराठों की राजधानी रायगढ़ पर अधिकार कर लिया और प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। **ऐसा प्रतीत हुआ कि शिवाजी द्वारा स्थापित किया गया मराठा-राज्य सर्वदा के लिए समाप्त हो गया और औरंगजेब की दक्षिण-विजय पूर्ण हो गयी** (बीजापुर और गोलकुण्डा को औरंगजेब इससे पहले ही विजय कर चुका था)। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। संकट की इस घड़ी में मराठों ने सिद्ध कर दिखाया कि शिवाजी द्वारा किया हुआ कार्य अत्यन्त दृढ़ नींव पर आधारित था। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया था, महाराष्ट्र-निवासियों को राष्ट्र-प्रेम सिखाया था और उन्हें स्वतन्त्र राज्य स्थापित रखने की अभिलाषा प्रदान की थी। इस कारण सम्पूर्ण महाराष्ट्र औरंगजेब के विरुद्ध खड़ा हो गया और **मराठों ने उस युद्ध को आरम्भ किया जो मराठों के इतिहास में स्वतन्त्रता-संग्राम के नाम से विख्यात है।** पहले इस संग्राम का नेतृत्व शम्भाजी के सौतेले भाई राजाराम ने किया जो एक साधु के वेष में जिंजी के किले (कर्नाटक में) तक पहुँचने में सफल हो गया था। 1700 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने तीन वर्षीय पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम से इस युद्ध का नेतृत्व किया। ताराबाई एक योग्य प्रशासक सिद्ध हुई। उस समय जबकि मराठों के सिंहासन के उत्तराधिकार का प्रश्न विवादग्रस्त था, मराठा-सरदारों में पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष फैला हुआ था, हजारों मावले मुगल-सेना में भर्ती किये जा चुके थे और औरंगजेब मराठों के विनाश के लिए कटिबद्ध था, ताराबाई ने अपने कौशल और कूटनीति से मराठों को सफल नेतृत्व प्रदान किया। मुसलमान इतिहासकार खफीखाँ तक ने

उसके बारे में लिखा है कि "यह उसके प्रयत्नों का ही परिणाम था कि मराठों ने दक्षिण के सूबों पर ही नहीं अपितु मुगलों के अधीन दूरस्थ प्रान्तों पर भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और अपने शासन के अन्त तक भी औरंगजेब मराठों को दबाने में विफल रहा।" इसके अतिरिक्त रामचन्द्र बाबदेकर, शंकरजी मल्हारकर, परशुराम त्रिम्बक और प्रहलाद नीराजी जैसे राजनीतिज्ञों तथा सन्ताजी घोरपदे और धानाजी जादव जैसे सेनापतियों ने इस संघर्ष को जीवन दिया। परन्तु इस संघर्ष की आत्मा महाराष्ट्र की जनता थी जिसने मुगलों द्वारा की गयी बरबादी को सहन करते हुए अपने सरदारों और नेताओं को जीवन, धन और शक्ति प्रदान की। एक प्रकार से महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक, प्रत्येक घर मराठा-सैनिकों का सुरक्षा-स्थल और प्रत्येक गाँव मुगलों के विरुद्ध एक किला था। औरंगजेब इस संघर्ष में सफल न हो सका। अपनी मृत्यु तक औरंगजेब मराठों की शक्ति को दबाने में लगा रहा परन्तु असफल रहा। जदुनाथ सरकार के अनुसार, "औरंगजेब की कठिनाइयाँ मराठा राज्य के एक प्रधान और एक केन्द्रीय सरकार की अनुपस्थिति में बहुत बढ़ गयी थीं, क्योंकि प्रत्येक मराठा सरदार स्वेच्छा से अपने सैनिकों के साथ विभिन्न स्थानों पर आक्रमण करता और युद्ध करता था। यह युद्ध जनता का युद्ध बन गया था और औरंगजेब इसे समाप्त न कर सका क्योंकि न तो वहाँ मराठों की सरकार थी और न मराठों की राजकीय सेना थी जिस पर औरंगजेब आक्रमण करता और उसे बरबाद करता।" 1706 ई. में औरंगजेब अहमदनगर उस स्थिति में पहुँचा जबकि मराठे निरन्तर उसकी सेना का पीछा कर रहे थे और उसकी छावनी पर छापे मार रहे थे।

इस प्रकार, **मराठों के विरुद्ध औरंगजेब असफल रहा।** यह उसकी दक्षिण-नीति की असफलता थी, यह उसकी स्वयं की असफलता थी और यह मुगल-साम्राज्य की भी असफलता थी।

[5]

औरंगजेब की मृत्यु

औरंगजेब की मृत्यु अत्यन्त दुखद परिस्थितियों में हुई। राजनीतिक दृष्टि से उत्तर-भारत में विभिन्न स्थानों पर विद्रोह हो रहे थे, दक्षिण-भारत में मराठे गुजरात, मालवा और खानदेश जैसे दूरस्थ मुगल-सूबों तथा बादशाह की छावनी पर भी आक्रमण कर रहे थे, शासन-व्यवस्था प्रायः नष्ट हो चुकी थी, आर्थिक दृष्टि से राज्य की स्थिति दुर्बल हो गयी थी और अपने पिता की राज्य को बाँटने की इच्छा को जानने के पश्चात् भी शाहजादा मुअज्जम, शाहजादा आजम और शाहजादा कामबक्स युद्ध को तत्पर हो रहे थे। औरंगजेब की धार्मिक नीति के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए विद्रोहों और दक्षिण के युद्धों ने मुगल-साम्राज्य की कमर तोड़ दी थी। स्वयं औरंगजेब ने मृत्यु के अवसर पर अपनी असफलता को अनुभव कर लिया था। पारिवारिक दृष्टि से भी औरंगजेब का दुर्भाग्य रहा। 1702 ई. में उसकी पुत्री जेबुन्निसा की मृत्यु हुई, 1704 ई. में उसके निष्कासित पुत्र अकबर की मृत्यु फारस में हुई, 1705 ई. में उसकी प्रिय पुत्रवधु जहाँजेब की मृत्यु हो गयी, 1706 ई. में उसकी अकेली जीवित बहन गौहनआरा की मृत्यु हो गयी, उनकी मृत्यु के एक माह पश्चात् अकबर के पुत्र बुलन्दअख्तर की मृत्यु हुई और उसके दो नातियों की मृत्यु उससे थोड़े समय पहले 1707 ई. में हुई। ऐसीं परिस्थितियों में 3 मार्च, 1707 ई. को औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। दौलताबाद से चार मील दूर शेख जैम-उल-हक के मजार के निकट औरंगजेब को दफना दिया गया। इस प्रकार औरंगजेब का अन्त हुआ, जिसे सर जदुनाथ सरकार ने **'एक के अतिरिक्त महान् मुगल बादशाहों में महान्' पुकारा है।**

[6]

औरंगजेब का चरित्र, व्यक्तित्व और मूल्यांकन

(असफलता और मुगल-साम्राज्य के पतन में उसका उत्तरदायित्व)

औरंगजेब शिक्षित, परिश्रमी, संयमी, दृढ़-निश्चयी, धार्मिक, योग्य सैनिक और सफल सेनापति था। उसे फारसी, तुर्की और हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। उसका अध्ययन अच्छा था और उसे विद्वान माना जा सकता था। वह अत्यधिक परिश्रमी था। उसे कठिनाई से 3 या 4 घण्टे सोने का अवसर मिलता था। शासन का कोई ऐसा विभाग न था, अधिकारी की कोई ऐसी नियुक्ति न थी और युद्ध की कोई ऐसी योजना न थी जिसे औरंगजेब स्वयं न देखता हो। **वह साहसी था।** जीवन की कठिनतम परिस्थितियों में उसने धैर्य नहीं छोड़ा। बचपन में हाथियों की एक लड़ाई को देखने के अवसर पर जब एक हाथी ने शाहजादे औरंगजेब पर आक्रमण किया तब भागने के स्थान पर शाहजादे ने हाथी पर तलवार से आक्रमण किया और उसे भगा दिया। बल्ख (मध्य-एशिया) में उजबेगों से युद्ध के समय में युद्ध के मैदान में घोड़े से उतरकर नमाज पढ़ने का साहस शाहजादे औरंगजेब में ही था। इसी प्रकार, अपने पुत्र अकबर के विद्रोह के अवसर पर बादशाह औरंगजेब के पास अजमेर में बहुत थोड़ी सेना थी परन्तु पीछे हटने के स्थान पर औरंगजेब युद्ध करने के लिए अजमेर के बाहर निकल आया था। **उसका व्यक्तिगत जीवन आदर्श था।** उसे अपने आचार-विचार पर कठोर नियन्त्रण था। वह बहुत सादा भोजन करता था और सादे वस्त्र पहनता था। वह शराब बिल्कुल नहीं पीता था। इस्लाम के कानून के अनुसार उसने कभी भी चार से अधिक शादियाँ नहीं कीं और एक प्रणय-प्रसंग (हीराबाई उर्फ जैनबदी महल के साथ बुरहानपुर में, जबकि वह शाहजहाँ के द्वारा दूसरी बार दक्षिण-भारत का सूबेदार नियुक्त किया गया था) के अतिरिक्त उसका जीवन स्त्रियों के सम्पर्क से निष्कलंक था। वह दृढ़-निश्चयी था और एक बार अपने लक्ष्य को निश्चित करने के पश्चात् उसके साथ समझौता करने को तैयार नहीं होता था। एक सैनिक की दृष्टि से औरंगजेब ने साहस और कौशल से अनेक युद्धों में भाग लिया था और प्रत्येक अस्त्र-शस्त्र चलाने में वह कुशल सिद्ध हुआ था। एक सेनापति की दृष्टि से वह चालाक और रण-कुशल सेनापति सिद्ध हुआ था। मध्य-एशिया और कन्धार के आक्रमणों के अवसर पर उसे अवश्य असफलता प्राप्त हुई थी परन्तु उनके लिए वह स्वयं ही उत्तरदायी न था। परिस्थितियों और एक अच्छे तोपखाने की कमी भी उसके कारण थे। उत्तराधिकार के युद्ध में जिस गतिशीलता और कौशल का उसने परिचय दिया था वह उसकी सफलता का कारण बने थे। उसके पश्चात् भी अनेक युद्धों में उसने भाग लिया और सफलता प्राप्त की। औरंगजेब युद्ध को जीतने के लिए कौशल और कूटनीति दोनों से काम लेता था। अपने भाइयों को पराजित करने, अकबर के विद्रोह को समाप्त करने और गोलकुण्डा के किले को जीतने में उसने कूटनीति का सहारा लिया था।

परन्तु औरंगजेब न एक अच्छा पुत्र, न एक अच्छा पिता, न एक अच्छा मित्र, न एक अच्छा भाई, न एक अच्छा बादशाह और न एक अच्छा शासन-प्रबन्धक सिद्ध हुआ। उसने अपने पिता को कैद में रखा, अपने भाइयों का वध कराया, उसका एक पुत्र विदेश भागने को बाध्य हुआ, उसके एक पुत्र और एक पुत्री की मृत्यु कैद में हुई, उसके एक अन्य पुत्र को आठ साल कैद में रहना पड़ा और उसका कोई अच्छा मित्र न था। **इसके लिए औरंगजेब स्वयं ही उत्तरदायी था। प्रथम, राजनीति में उदारता करना उसकी नीति के विरुद्ध था और दूसरे वह सन्देही प्रकृति का था।** उसने कभी किसी पर विश्वास नहीं

किया। इसी कारण, शासन का सभी कार्य उसे देखना पड़ा, कोई उसके प्रति वफादार नहीं हो सका और कोई भी उसके समय में योग्यता प्राप्त नहीं कर सका। औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य में योग्य सेनापतियों एवं योग्य शासन-प्रबन्धकों का अभाव हो गया। जो योग्य व्यक्ति उसे प्राप्त हुए उनका निर्माण उसके समय में नहीं बल्कि उसके पिता के समय में हो चुका था। औरंगजेब का सन्देही स्वभाव किसी भी व्यक्ति की योग्यता को बढ़ने देने के अनुकूल न था। औरंगजेब न तो एक अच्छा बादशाह सिद्ध हुआ और न ही अच्छा शासन-प्रबन्धक। **उसके व्यक्तिगत चरित्र की मुख्य विशेषता धर्मान्धता थी।** यह कहा जा सकता है कि औरंगजेब पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता था, नियमपूर्वक रोजे रखता था, इस्लाम के सभी धार्मिक नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करता था तथा जिस धर्म की सत्यता में उसे विश्वास था उस धर्म को उसने अपनी प्रजा में फैलाने का प्रयत्न किया था। इस कारण वह एक अच्छा मुसलमान शासक था। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है। इस मापदण्ड से अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ अच्छे मुसलमान शासक नहीं कहे जा सकते। **धर्म-पालन की इतनी संकुचित व्याख्या ने ही औरंगजेब को न अच्छा बादशाह बनने दिया और न अच्छा शासन-प्रबन्धक।** औरंगजेब ने इस्लाम धर्म को राज्य-धर्म बनाया और अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। हिन्दू, सिखों और बौहरों के साथ ही नहीं बल्कि शिया-मत मानने वाले मुसलमानों के प्रति भी उसकी नीति अनुदार थी। जिस प्रकार उसने उन सभी के प्रति आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दुर्व्यवहार और असमानता की नीति अपनायी उससे उसने राज्य की एकता को नष्ट कर दिया, हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध खराब कर दिये तथा अनेक विद्रोहों को जन्म दिया जिसके कारण राज्य की आर्थिक एवं सैनिक-शक्ति नष्ट हुई, शासन अव्यवस्थित हुआ और प्रजा का धन, सम्मान और सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। **औरंगजेब की भावनाएँ कितनी ही नेक रही हों परन्तु धर्म की संकुचित व्याख्या ने उसके आदर्श और कर्तव्यों की परिभाषाओं को बदल दिया था। वह न तो अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने वाला योग्य शासन-प्रबन्धक।** एक साम्राज्य-निर्माता की दृष्टि से भी औरंगजेब असफल रहा। निस्सन्देह, उसके समय में मुगल-साम्राज्य की सीमाएँ सबसे अधिक विस्तृत थीं, परन्तु उसकी दक्षिण की विजय अस्थायी और खोखली थी। साम्राज्य की श्रेष्ठता के समय से ही साम्राज्य के पतन का मार्ग प्रशस्त हुआ था। औरंगजेब दक्षिण-विजय को संगठित न कर सका बल्कि ऐसा करने के प्रयत्न में उसने उत्तर-भारत की विजय और एकता भी नष्ट कर दी। उसकी मृत्यु के समय उत्तर और दक्षिण दोनों ही भागों में स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण आरम्भ हो चुका था।

तब भी मध्य-युग के इतिहास में औरंगजेब का स्थान महान् है—उसकी सफलताओं के कारण भी और उसकी असफलताओं के कारण भी। इसी कारण जदुनाथ सरकार ने उसे 'एक के अतिरिक्त महान् मुगल बादशाहों में महान्' पुकारा है और सर जदुनाथ सरकार का औरंगजेब पर जो शोध-कार्य है उसे देखते हुए उनकी राय को प्रायः सभी इतिहासकारों को स्वीकार करना पड़ता है। औरंगजेब के समय की महानतम सफलता साम्राज्य का विस्तार था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "औरंगजेब का इतिहास प्रायः 60 वर्ष का भारत का इतिहास है......उसके समय में मुगल-साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया और एक इतना बड़ा राज्य हो गया जितना भारत में इतिहास के

आरम्भ होने से ब्रिटिश-साम्राज्य के निर्माण तक नहीं हुआ था।" परन्तु जदुनाथ सरकार ने यह भी लिखा है : "साम्राज्य का विस्तार उसके अन्त का आरम्भ होना था......।" इस प्रकार सर जदुनाथ सरकार के शब्दों से औरंगजेब की महान् सफलता और महान् असफलता स्पष्ट हो जाती है। इतिहासकार लेनपूल ने भी लिखा है : "निस्सन्देह, औरंगजेब का जीवन एक महान् विफलता थी लेकिन वह महानता से ही विफल हुआ था।" इस प्रकार औरंगजेब महान् था। परन्तु औरंगजेब असफल हुआ। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "जब हम औरंगजेब को एक बादशाह की दृष्टि से देखते हैं तो कहना पड़ता है कि वह असफल था।" इतिहासकार लेनपूल जो एक स्थान पर औरंगजेब को अपने पिता से अधिक बुद्धिमान, अधिक न्यायप्रिय और अधिक दयावान बताता है, एक अन्य स्थान पर उसके बारे में लिखता है : "उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही हिन्दुस्तान अंव्यवस्थित हो गया था और भविष्य में पतन के चिह्न प्रकट होने लगे थे।" सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में शासन बहुत शीघ्रता से गिरने लगा। शान्ति, समृद्धि और ललित-कलाओं का ह्रास हुआ तथा सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता पिछड़ गयी। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया और साम्राज्य के आर्थिक साधन इतने संकुचित हो गये कि वह साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गये। दक्षिण-भारत में बीजापुर, गोलकुण्डा, पूर्वी कर्नाटक और महाराष्ट्र की औरंगजेब की विस्तृत विजयें सभी भ्रमपूर्ण थीं। साम्राज्य की शक्ति और सम्पत्ति में वृद्धि करने के स्थान पर उन्होंने आर्थिक दृष्टि से साम्राज्य का विनाश कर दिया और उसकी सैनिक-शक्ति को नष्ट कर दिया। वास्तव में मुगल-साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत हो गया कि एक केन्द्र-स्थान से और एक व्यक्ति द्वारा उसका शासन करना असम्भव हो गया तथा उसका पतन आरम्भ हुआ जिसने 18वीं सदी में भारत के इतिहास को 'महान् अराजकता' की स्थिति में पहुँचा दिया।"

इस कारण, औरंगजेब का स्थान महान् शासकों में होते हुए भी ऐसे शासकों में आता है जो अपने जीवन के अन्तिम समय में अपनी असफलताओं को स्वयं देख सके और जिन्होंने अपनी दुर्बलताओं के कारण अपने शासन का अन्त अपने साम्राज्य को दुर्बल बनाकर किया। अन्त में, औरंगजेब असफल हुआ और अपनी असफलता के कारण वह मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। **औरंगजेब की असफलता के मुख्य कारण शासन का उसकेहाथों में केन्द्रीयकरण, उसकी सन्देही प्रकृति, उसकी धर्मान्धता की नीति और उसकी दक्षिण-नीति थी और इन्हीं कारणों से वह मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।** औरंगजेब ने शासन का अत्यधिक केन्द्रीयकरण किया। मध्य-युग के सभी निंकुश शासक ऐसा करते थे परन्तु औरंगजेब के शासन का केन्द्रीयकरण अन्य शासकों से इस कारण भिन्न हो गया कि औरंगजेब ने अपनी सन्देही प्रकृति के कारण किसी पर भी विश्वास नहीं किया और अपने उत्तरदायित्वों को योग्य एवं वफादार शाहजादों अथवा सरदारों में नहीं बाँटा। ऐसा उससे पहले के किसी अन्य मुगल बादशाह ने नहीं किया था। इससे एक तरफ औरंगजेब पर कार्य-भार इतना अधिक हो गया कि वह सभी कार्यों की सुचारु रूप से देखभाल करने में असफल हुआ और दूसरी तरफ वह अपने शाहजादों एवं सरदारों को योग्य न बना सका और न उनकी वफादारी प्राप्त कर सका। **औरंगजेब की असफलता का एक बड़ा कारण यह था कि उसे किसी भी योग्य व्यक्ति की सेवाएँ प्राप्त नहीं हो सकीं।** इसके लिए वह स्वयं भी दोषी था। औरंगजेब धर्मान्ध था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित न थी बल्कि

उसे शिया मुसलमानों से भी चिढ़ थी। बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों के अस्तित्व को समाप्त करने में औरंगजेब का एक उद्देश्य धार्मिक भी था। इसके अतिरिक्त, उसने राज्य की सेवाओं से शियाओं को वंचित रखने का प्रयत्न भी किया। मुगल-साम्राज्य को अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक अनेक योग्य शिया विद्वानों, शासन-प्रबन्धकों और सेनापतियों की सेवाएँ प्राप्त होती रही थीं। औरंगजेब के समय में यह सम्भव न हो सका। **अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा के प्रति भी औरंगजेब अत्यधिक अनुदार सिद्ध हुआ।** जजिया, तीर्थयात्रा-कर, व्यापारिक-कर, उनके साथ न्याय में कठोरता, उनको सम्मान से न रहने देना, उनको राज्य की सेवाओं से हटाने का प्रयत्न और खुले तौर से उनके मन्दिरों का विनाश तथा उनके देवी-देवताओं का अपमान आदि ऐसे कारण बने जिनसे औरंगजेब की हिन्दू-प्रजा उससे घृणा करने लगी और विभिन्न स्थानों पर अनेक विद्रोह हुए। जाट, सतनामी और सिखों के विद्रोहों का यही कारण था। बुन्देलखण्ड के विद्रोह, राजपूतों के विद्रोह और मराठों के निरन्तर संघर्ष के लिए भी औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थी। **औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी तथा जहाँगीर और शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी धार्मिक सहनशीलता की नीति को त्याग दिया। इससे राज्य की एकता समाप्त हो गयी, वफादार राजपूत-वर्ग मुगलों का शत्रु बन गया तथा जाट, सिख और मराठे जैसे युद्धप्रिय वर्गों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इन विद्रोहों ने औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की नींव को हिला दिया। औरंगजेब की दक्षिण-नीति भी उसकी असफलता का एक मुखय कारण बनी।** दक्षिण की विजय से उसका साम्राज्य इतना अधिक विस्तृत हो गया कि एक स्थान से उसका शासन करना असम्भव हो गया। भारतीय इतिहास ने कई बार यह सिद्ध किया था कि जिस शासक ने उत्तर और दक्षिण-भारत के दोनों भागों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लेने का प्रयत्न किया वह असफल हुआ और उत्तर-भारत के जिस बादशाह ने दक्षिण-भारत के राज्यों को केवल अपना स्वामित्व स्वीकार कराकर स्वतन्त्र छोड़ दिया, वह सफल रहा। औरंगजेब के समय में भारतीय इतिहास के इस सबक की पुनरावृत्ति हुई। दक्षिण-भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लेने के प्रयत्न के कारण औरंगजेब उत्तर-भारत के शासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण-भारत में उसके साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, उसके सर्वाधिक योग्य अधिकारी और उसकी सबसे अच्छी सेना लगी रही और उत्तर-भारत का शासन, अधिकार और सुरक्षा मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के हाथों में रही जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार न हो सका। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को तो खोया ही, साथ ही साथ उसने अपने और मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत उत्तर-भारत को भी खो दिया। इस प्रकार शासन-व्यवस्था, शान्ति, समृद्धि और उन्नति की दृष्टि से औरंगजेब ने सम्पूर्ण भारत को खो दिया। इसके अतिरिक्त औरंगजेब द्वारा बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय ने मराठों की उदीयमान शक्ति का प्रत्यक्ष संघर्ष मुगलों से करा दिया। यदि औरंगजेब ने इन शिया-राज्यों को समाप्त न किया होता तो, सम्भवतया, मराठे दक्षिण की राजनीति में ही व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने और उनकी दुर्बलताओं को समझ पाने की सुविधा प्राप्त न ही पाती। इस कारण, औरंगजेब की दक्षिण-नीति अव्यावहारिक और अविवेकपूर्ण सिद्ध हुई तथा उसने औरंगजेब की असफलता और मुगल-साम्राज्य के पतन में प्रमुख भाग लिया।

आधुनिक समय में औरंगजेब के चरित्र, व्यक्तित्व और सफलताओं एवं असफलताओं को लेकर इतिहासकारों में विवाद उत्पन्न हुआ है। औरंगजेब के पक्ष में मुख्यतया दो बातें बतायी जाती हैं। प्रथम, औरंगजेब की विजयों का उद्देश्य भारत की राजनीतिक एकता था और द्वितीय, औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णु न थी। औरंगजेब का जो भी व्यवहार शिया-राज्यों, राजपूतों और हिन्दुओं के प्रति रहा उसका मुख्य कारण राजनीतिक एवं आर्थिक था। भारत की एकता, एक सूत्र और एक शासन में बँधा हुआ राज्य और राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ उसकी नीति का मुख्य आधार थीं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने विभिन्न तर्क और उदाहरण दिये हैं, यथा—औरंगजेब ने हिन्दू-मन्दिरों को जागीरें दी थीं और उन्हीं हिन्दू-मन्दिरों को गिराया था जहाँ पहले मुसलमानों की मस्जिदें थीं। परन्तु ऐसे विद्वानों के तर्कों में विस्तृत रूप से जाये बिना यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश तत्कालीन लेखकों के विवरणों में उनके पक्ष का समर्थन प्राप्त नहीं होता। अधिकांश तत्कालीन विवरणों के आधार पर औरंगजेब की नीति असहिष्णुता की सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, महान् मुगल सम्राट अकबर की नीति भी भारत की राजनीति एवं प्रशासनिक एकता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए थी परन्तु उसे जजिया तथा तीर्थयात्रा-कर लगाने और मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत, अकबर ने भारत की धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये थे। ऐसी स्थिति में दो ही निर्णय हो सकते हैं—या तो अकबर की नीति को अव्यावहारिक, अनुचित और अपर्याप्त कहा जाय अथवा औरंगजेब की नीति को अव्यावहारिक और अनुचित कहा जाय ? विद्वान् इतिहासकार ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, एक बात अवश्य ध्यान में रखने की है—जबकि अकबर की नीति से अकबर के समय में ही नहीं बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी मुगल-साम्राज्य शक्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील रहा, औरंगजेब की नीति से औरंगजेब के समय में न तो शक्ति का स्थायी विस्तार हुआ, न राज्य में समृद्धि आयी और न कला, शिक्षा, साहित्य आदि की दृष्टि से कोई प्रगति हुई तथा औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में मुगल-साम्राज्य प्रत्येक दृष्टि से पतनोन्मुख हुआ। स्वयं औरंगजेब ने भी अपनी मृत्यु के अवसर पर अपनी असफलता को समझ लिया था।

इस कारण यह स्वीकार करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है कि यद्यपि औरंगजेब योग्य, प्रतिभाशाली, परिश्रमी, कर्तव्यपरायण, सदाचारी, साहसी और कुशल सेनापति था तथा महानता के गुण उसमें थे परन्तु अपनी व्यक्तिगत धारणाओं की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानकर तथा उसकी प्रगति में ही अपने जीवन की सार्थकता मानकर कर्तव्य, नैतिकता और बादशाह के आदर्शों की जो व्याख्या उसने की वह न उसके लिए लाभदायक रही और न उसके वंश अथवा साम्राज्य के लिए। औरंगजेब, सम्भवतया, उन व्यक्तियों में से एक था जो अपनी सद्भावनाओं में अटूट विश्वास रखते हुए अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नहीं करते बल्कि उनके विश्वासों, आदर्शों और सद्भावनाओं को बड़ी भूल मान बैठते हैं और उनको ठीक मार्ग पर लाना अपना धर्म बना लेते हैं, चाहे उनके स्वयं के आदर्श और भावनाओं में कितनी ही त्रुटि क्यों न हो। ऐसी एकांगी और संकुचित भावना की कट्टरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और न ऐसे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन सम्भव है। ऐसा व्यक्ति एक अच्छा फकीर या धर्म-प्रचारक तो हो

सकता है परन्तु अच्छा, कुशल और नीतिज्ञ बादशाह नहीं हो सकता। सम्भवतया इसीलिए औरंगजेब न तो अपनी परिस्थितियों को समझ सका और न ही अच्छा नीतिज्ञ सिद्ध हुआ और यदि वह समझ भी सका तो उसने उनकी परवाह न की। इसका मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता थी। लेनपूल ने कहा है :"यदि औरंगजेब ने अपनी क्रियाशील शक्ति और अद्भुत योग्यता को अपने विनाश और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए गौरवपूर्ण साम्राज्य का विनाश करने वाले कार्यों में व्यय न किया होता तो वह सरलता से सिंहासन का आभूषण बन गया होता। इसके स्थान पर उसने आलमगीर अथवा विश्वविजयी बनने के खोखले कार्य को करने का प्रयत्न किया और वह इसी बात से सन्तुष्ट था कि तत्कालीन रुढ़िवादी मुसलमान उसे 'जिन्दा पीर' समझते थे.........उसका गौरव सिर्फ उसके लिए था। उसके विशाल साम्राज्य के लिए उसका निष्ठावान धार्मिक उत्साह एक अभिशाप सिद्ध हुआ।"

8

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष (1627-1707 ई.)

[1]

मराठा-शक्ति के उत्कर्ष के कारण

वस्तुतः अंग्रेजों ने भारत का साम्राज्य मुगलों से नहीं बल्कि मराठों से प्राप्त किया। तत्कालीन मुगल बादशाहों की शक्ति अत्यन्त दुर्बल एवं सीमित हो गयी थी तथा 18वीं सदी में मराठे भारत की श्रेष्ठ शक्ति बन गये थे। इस कारण यह कहना अधिक उपयुक्त है कि भारत की राजसत्ता के लिए अंग्रेजों को वास्तव में हिन्दू-मराठों से संघर्ष करना पड़ा था।

जी.एस. सरदेसाई के अनुसार 'मराठा' शब्द की उत्पत्ति राठा (Ratthas) शब्द से हुई है। महाराष्ट्र में इनकी शक्ति का उदय हुआ। दक्षिण-पश्चिम भारत का वह भाग जो पश्चिम में अरब सागर से लेकर उत्तर में सतपुड़ा पर्वत तक फैला हुआ है और जिसमें आधुनिक बम्बई का राज्य, कोंकण, खानदेश, बरार, मध्य-भारत का कुछ भाग और हैदराबाद राज्य का प्रायः एक-तिहाई भाग सम्मिलित है, मराठावाद के नाम से जाना जाता था। भारत के इसी भाग को महाराष्ट्र पुकारा गया है, जहाँ के निवासियों की मुख्य भाषा मराठी है। यहीं पर मराठा-शक्ति का उदय हुआ।

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष किसी एक व्यक्ति अथवा विशेष व्यक्ति-समूह का कार्य न था और न किसी विशेष समय में उत्पन्न हुई कुछ अस्थायी परिस्थितियों का ही परिणाम था। मराठा-शक्ति के उदय का आधार महाराष्ट्र के सम्पूर्ण निवासी थे जिन्होंने जाति, भाषा, धर्म, साहित्य और निवास-स्थान की एकता के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया और उस राष्ट्रीयता को संगठित करने के लिए एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की इच्छा की। मुसलमानों द्वारा भारत की विजय पूर्ण हो जाने के पश्चात् स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिए हिन्दुओं का यह प्रथम प्रयत्न था और यह प्रयत्न एक ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन बन गया जिसमें सभी वर्गों और व्यक्तियों ने भाग लिया। मराठों के उत्कर्ष का इतिहास मुसलमानों की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर हिन्दू राष्ट्रीयता के निर्माण का ऐसा इतिहास है जिसमें सम्पूर्ण महाराष्ट्र के निवासियों ने भाग लिया। यही वह शक्ति थी जिसके आधार पर मराठा-नेताओं ने भारत में 'हिन्दू-पादशाही' के निर्माण का स्वप्न देखा और दिल्ली के साम्राज्य को अपने हाथों में लेकर भारत की शक्तियों को एक शक्ति की अधीनता में लाने का प्रयत्न किया तथा यही वह शक्ति थी जिसके बल पर मराठे बड़े से

बड़े संकट को बर्दाश्त कर सके। मराठा-शक्ति के उत्कर्ष का इतिहास एक जन-समूह के उत्कर्ष का इतिहास है और एक ऐसे जागरण का इतिहास है जो सम्पूर्ण महाराष्ट्र की जनता में व्याप्त था।

इस शक्ति के निर्माण और उत्कर्ष में विभिन्न परिस्थितियों ने भाग लिया। **महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में सहायक थीं।** महाराष्ट्र का अधिकांश भाग पठारी है जहाँ जीवन की सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को प्रकृति से कठोर संघर्ष करना पड़ता है। इससे वहाँ के निवासी परिश्रमी और साहसी बनते हैं। वहाँ आक्रमणकारी के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं तथा सेना को लेकर चलना और उसके लिए रसद प्राप्त करना कठिन था, जबकि सुरक्षा के लिए वहाँ अनेक सुविधाएँ थीं। स्थान-स्थान पर सरलता से पहाड़ी किले बनाये जा सकते थे जिनकी सुरक्षा करना सरल था परन्तु उनको जीतना कठिन था। गुरिल्ला युद्ध-पद्धति अथवा छापामार-नीति का प्रयोग वहाँ सरलता से सम्भव था। इसके अतिरिक्त, भारत के बीच में स्थित होने के कारण वहाँ के निवासियों के लिए उत्तर और दक्षिण दोनों दिशाओं में अपनी प्रगति करने की सुविधा थी।

आर्थिक दृष्टि से महाराष्ट्र के निवासियों में अधिक आर्थिक असमानताएँ न थीं। व्यापारी वर्ग के अतिरिक्त वहाँ धनवान व्यक्ति अधिक न थे। इसका कारण **आर्थिक शोषण करने वाले वर्ग का महाराष्ट्र में अभाव था।** इससे महाराष्ट्र- निवासियों का चरित्र दृढ़ बना था, वे परिश्रमी और साहसी थे, उनमें समानता की भावना थी, वे छोटे और बड़े की भावना से रहित थे तथा वे उस भोग-विलास से बचे रहे थे जिसके कारण उत्तर-भारत का समाज खोखला होता जा रहा था।

सामाजिक दृष्टि से महाराष्ट्र में तीव्र विभाजन न था। 15वीं और 16वीं सदी के धर्म-सुधार और भक्ति-आन्दोलन ने सामाजिक और धार्मिक सुधार किये थे तथा जातीय समानता को शक्तिशाली बनाया था। **महाराष्ट्र में राजनीतिक चेतना से पहले सामाजिक और धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गयी थी।** इसके अतिरिक्त, दक्षिण-भारत का वह धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन किसी एक वर्ग का आन्दोलन न था बल्कि वह जनसाधारण का आन्दोलन था। इस आन्दोलन का नेतृत्व उन व्यक्तियों ने किया था जिनमें से अधिकांश समाज के निम्न वर्ग में से थे। तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित और एकनाथ जैसे सन्त और दार्शनिक इसकी आत्मा थे। यह आन्दोलन ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, ऊँच-नीच की भावना, जाति-व्यवस्था और कर्मकाण्ड के विरुद्ध था। इसने विश्वास, आस्था और भक्ति के द्वारा सभी को ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग बताया। इस आन्दोलन ने धार्मिक और सामाजिक एकता तथा सरलता का मार्ग प्रशस्त किया, महाराष्ट्र के समाज और जन-जीवन को संगठित किया तथा उसे एकता की वह भावना प्रदान की जिससे राष्ट्रीय भावना का निर्माण होता है। इतिहासकार रानाडे ने महाराष्ट्र में उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल का एक मुख्य कारण वहाँ के धार्मिक-आन्दोलन को बताया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाराष्ट्र के विभिन्न सन्तों ने मराठों की राष्ट्रीय भावना का पोषण किया था। विभिन्न सन्तों के भजनों, उपदेशों आदि ने अशिक्षित मराठों की भावनाओं को गम्भीरता से प्रभावित किया और उनमें अपने धर्म और समाज की रक्षा की भावना को जन्म दिया।

भाषा की दृष्टि से मराठी भाषा बहुत सरल और व्यावहारिक थी। मराठी भाषा जनसाधारण की भाषा थी। **साधारण भाषा के प्रयोग से महाराष्ट्र के निवासियों में एकता और समानता थी।**

दक्षिण-भारत में हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन रहा। इसके कारण दक्षिण के निवासी अपने सम्मान और गौरव तथा अपने समाज और धर्म के प्रति प्रेम को जीवित रख सके। उत्तर-भारत में राजस्थान के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी भागों में मुसलमानों की विजय पूर्ण थी, इस्लाम ने हिन्दुओं की विरोध करने की शक्ति को प्रायः तोड़ दिया था और मुसलमान एक लम्बे समय तक पूर्ण राजनीतिक सत्ता का उपभोग कर सके थे। परन्तु दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति कभी नहीं आयी। इसी कारण जबकि उत्तर-भारत में जनसाधारण की भाषा फारसी या उर्दू होती जा रही थी, हिन्दू सामाजिक दृष्टि से अपने को हीन समझने लगे थे और हिन्दू-मन्दिर छोटी-छोटी गलियों और कोनों तक ही सीमित रह गये थे, दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति न थी। दक्षिण-भारत में हिन्दू न केवल अपनी सामाजिक परम्पराओं को जीवित रख सके थे और न केवल हिन्दू-मन्दिर ही सुरक्षित रहे थे बल्कि हिन्दू अपने गौरव और सम्मान को भी सुरक्षित रख सके थे। राजनीतिक शक्ति के सन्तुलन के कारण मुसलमान शासकों को हिन्दुओं से शासन में सहायता लेनी पड़ी थी और हिन्दू तथा मुसलमान समाज एक-दूसरे के साथ समानता से व्यवहार कर सका था। इतिहासकार ग्राण्ट डफ का कहना है : "शिवाजी के उत्कर्ष से पहले ही कम से कम आठ मराठा परिवार ऐसे थे जिनका दक्षिण की राजनीति में पर्याप्त प्रभाव था।" स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर राज्य के प्रभावशाली सरदार थे और शासकों को बनाने वालों में से एक थे। उन्होंने अहमदनगर के पतन के पश्चात् वहाँ के अल्पवयस्क-शासक की तरफ से बहुत समय तक मुगलों से संघर्ष किया और उसके पश्चात् बीजापुर राज्य में भी उनका पद और सम्मान प्रभावपूर्ण रहा।

मुगलों द्वारा दक्षिण-भारत की विजय की सम्भावना ने भी मराठों को एक होकर मुगलों से संघर्ष करने का विचार दिया। मराठे दक्षिण-भारत के मुसलमानी राज्यों में विभिन्न सुविधाएँ प्राप्त कर रहे थे। वहाँ के शासकों ने उनको प्रशासन में सम्मिलित किया था, उनके सामाजिक और धार्मिक जीवन में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं किया था और मराठे पर्याप्त संख्या में उनकी सेनाओं में थे। औरंगजेब के नेतृत्व में दक्षिण-भारत में मुगलों के प्रवेश से यह सभी कुछ नष्ट हो जाने की सम्भावना थी। औरंगजेब धर्मान्ध था और मुगलों की शक्ति विशाल थी। ऐसी स्थिति में मराठे उससे उन सुविधाओं की आशा नहीं करते थे जो उन्हें दक्षिण-भारत के दुर्बल मुसलमान शासकों से मिल रही थीं। इस व्यावहारिक दृष्टिकोण ने भी मराठों को शिवाजी के नेतृत्व में संगठित होने के लिए प्रेरित किया।

इसके अतिरिक्त, आरम्भ में औरंगजेब की दक्षिण के प्रति उदासीनता और बाद में सम्पूर्ण भारत को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न जिसमें मराठों को अपने 'वतन' और जागीरों को छिनने का भय हो गया तथा मराठा सैनिकों में सभी वर्गों के व्यक्तियों का सम्मिलित होना जिससे मराठा सेना राष्ट्रीय सेना बन सकी, आदि भी ऐसे कारण बने जिन्होंने मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में सहयोग दिया।

इस प्रकार, शिवाजी से पहले ही महाराष्ट्र में ऐसी परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिनसे मराठा-शक्ति के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। परन्तु महाराष्ट्र में एक कमी थी। महाराष्ट्र में इन तत्वों को एकत्रित नहीं किया गया था, इन तत्वों के आधार पर मराठों की एकता का प्रयत्न किसी ने संगठित रूप से नहीं किया था और स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार मराठों में नहीं आया था। इस कार्य की पूर्ति शिवाजी ने की। इस कारण वह मराठा-राष्ट्र और एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य के निर्माता बने।

[2]
छत्रपति शिवाजी (1627-1680 ई.)

(अ) जीवन और कार्य

20 अप्रैल, 1627 ई. को पूना के निकट शिवनेर के दुर्ग में शिवाजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम शाहजी भौंसले और माता का नाम जीजाबाई था। शाहजी भौंसले ने न केवल अहमदनगर राज्य में ही शक्ति और सम्मान प्राप्त किया था बल्कि उस अवसर पर वह बीजापुर राज्य में प्रतिष्ठित पद पर थे। उन्होंने युद्ध, शासन और विद्वानों को संरक्षण प्रदान करने की दृष्टि से बीजापुर में ख्याति प्राप्त की थी। इस कारण शिवाजी के पिता एक शक्तिशाजी और सम्मानित सामन्त थे। परन्तु शाहजी ने तुकाबाई मोहिते नामक एक अन्य स्त्री से विवाह कर लिया था और जीजाबाई अपने पुत्र शिवाजी को लेकर अपने पति से अलग रहती थीं, अतः शिवाजी को अपने पिता का संरक्षण प्राप्त न हो सका। परन्तु यह कहना भूल होगी कि शाहजी ने अपने पुत्र का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा था। शाहजी ने अपने योगय और वफादार सेवक दादाजी कोंणदेव को शिवाजी की देखभाल और शिक्षा के लिए नियुक्त किया था। 12 वर्ष की आयु में शिवाजी को अपने पिता से पूना की जागीर प्राप्त हुई थी। इसके अतिरिक्त शाहजी ने अपने पुत्र की सहायता के लिए, बाद में भी, कुछ योग्य अधिकारी भेजे थे जो उनके सहायक सिद्ध हुए। शिवाजी ने अपनी माँ से साहस, दृढ़-निश्चय, अत्याचार का विरोध और धर्म के प्रति रुचि प्राप्त की। पुस्तकीय शिक्षा में उनकी रुचि न थी परन्तु युद्ध और साहसिक कार्यों के लिए वह सदैव तत्पर रहते थे। यह कहना सर्वथा उचित है कि उनके चरित्र-निर्माण में जीजाबाई (उनकी माँ) का बहुत बड़ा हाथ था और यह उनकी सफलता का एक मुख्य कारण बना।

आरम्भ से ही शिवाजी का उद्देश्य एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना था। वह किसी भी मुसलमान शासक के जागीरदार के रूप में जीवन व्यतीत करने को तत्पर न थे। इस बात पर उनका अपने संरक्षक कोंणदेव से भी मतभेद था। महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करना उनका मुख्य लक्ष्य रहा। शिवाजी का प्रारम्भिक उद्देश्य मुसलमानी सत्ता से हिन्दुओं को मुक्ति दिलाना न था। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "उन्हें एक स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना की लालसा सदैव रही परन्तु अपने को हिन्दुओं का उद्धारकर्ता उन्होंने बहुत बाद में समय के अतिरिक्त कभी नहीं माना।" इस प्रकार हिन्दू-धर्म की रक्षा की भावना उनमें थी। परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य राजनीतिक था। साथ ही यह बात भी स्पष्ट है कि उन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक भावना से प्रेरणा प्राप्त की थी और वह धर्म की रक्षा करना भी अपना एक मुख्य लक्ष्य मानते थे।

एम.जी.रानाडे ने शिवाजी के जीवन को चार भागों में बाँटकर उनके उद्देश्य को स्पष्ट किया है। आरम्भ के छः वर्षों में शिवाजी का उद्देश्य आसपास के मराठा सरदारों को अपनी सत्ता में लेकर एकत्रित करना और अपनी रक्षा का प्रयत्न करना मात्र था। इस प्रारम्भिक कार्य की पूर्ति के पश्चात् उन्हें बीजापुर-राज्य से संघर्ष करना पड़ा। अगले दस वर्षों तक अपनी रक्षा, राष्ट्रीय तत्वों को एकत्रित करना और अपनी सीमाओं का विस्तार करना उनका लक्ष्य रहा। बीजापुर-राज्य के निरन्तर प्रयत्नों और उसके श्रेष्ठतम सेनापतियों से संघर्ष करते हुए भी शिवाजी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफलता प्राप्त की। उनके जीवन के तीसरे काल (1662-1672 ई.) में उनका मुख्य संघर्ष दक्षिण की ओर बढ़ती हुई मुगलों की शक्ति से हुआ और अन्त में इसमें भी उन्हें सफलता मिली। अपने जीवन के अन्तिम समय (1674-1680 ई.)

में शिवाजी ने अपने स्वतन्त्र राज्य को कानूनी रूप से स्थापित किया, अपना राज्याभिषेक किया और 'छत्रपति' की उपाधि धारण की। इस प्रकार, स्वरक्षा और स्वतन्त्र-राज्य की स्थापना की भावना आरम्भ से अन्त तक उनके जीवन का उद्देश्य रहा और इसी भावना के कारण बीजापुर और मुगलों से उनका संघर्ष हुआ। बीजापुर-राज्य अथवा मुगलों से उनका कोई झगड़ा न था बशर्ते बीजापुर अपने को कर्नाटक में सीमित रखता और मुगल अपने को उत्तर-भारत में सीमित रखते तथा उनमें से कोई भी महाराष्ट्र को अपनी अधीनता में लेने का प्रयत्न न करता। शिवाजी मुगल-आधिपत्य को भी स्वीकार करने के लिए तत्पर थे यदि मुगल बादशाह उनको उनके प्रदेश में स्वतन्त्र छोड़ देता। सम्भवतया, वह इसी उद्देश्य से आगरा भी गये थे। **शिवाजी ने हिन्दू-राजाओं को एकत्रित करके मुसलमानी राज्य को समाप्त करने का लक्ष्य कभी नहीं रखा। उनका मूल उद्देश्य दक्षिण-भारत में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करना था।** इस उद्देश्य की पूर्ति और मुगलों को ताप्ती नदी तक सीमित रखने के लिए वह बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों की सहायता करने के लिए तत्पर थे। इसी कारण जब मुगलों ने बीजापुर का घेरा डाला तब शिवाजी ने बीजापुर (जिससे उनका निरन्तर संघर्ष रहा था) की सहायता की। इस प्रकार, **शिवाजी का मूल उद्देश्य मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्रित करके महाराष्ट्र में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करना था।**

दादाजी कोंणदेव की संरक्षता के समय में शिवाजी ने पूना के आसपास के किलों को जीतना आरम्भ कर दिया। कोंणदेव शिवाजी के इस कार्य से सहमत न थे परन्तु वह शिवाजी को इस कार्य से रोक भी न सके। 1647 ई. में कोंणदेव की मृत्यु हो गयी और शिवाजी अपने लक्ष्य की पूर्ति करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र हो गये। उस समय शिवाजी की आयु 20 वर्ष थी। उनके साथ अनेक साहसी और योग्य मराठा सरदार एकत्रित हो गये। उनके पिता शाहजी ने 1639 ई. में श्यामजी नीलकण्ठ, बालकृष्ण दीक्षित, सोनाजी पन्त और रघुनाथराव बल्लाल जैसे योग्य व्यक्तियों को उनके पास भेजा था। शिवाजी ने तुकोजी और नरायन पन्त जैसे योग्य व्यक्तियों को स्वयं प्राप्त किया। 1643 ई. में शिवाजी ने बीजापुर से सिंहगढ़ के किले को जीता और उसके पश्चात् धीरे-धीरे उन्होंने चाकन, पुरन्दर, बारामती, तोर्ना, सूपा, तिकोना, लोहगढ़, रायरी (रायगढ़ जो बाद में उनकी राजधानी बना) आदि विभिन्न किलों पर अधिकार कर लिया। शिवाजी का उस समय तक बीजापुर से कोई खुला संघर्ष नहीं हुआ। सुल्तान मुहम्मद आदिलशाह उस समय (1646-1656 ई.) बीमार था और शिवाजी ने उसके दरबार के बहुत से सरदारों को रिश्वत देकर अपने पक्ष में कर रखा था। इस प्रकार, **1656 ई. तक शिवाजी बिना किसी बड़े संघर्ष के विभिन्न मराठा सरदारों को एकत्रित करने, विभिन्न दुर्गों को जीतने तथा महाराष्ट्र और कोंकण प्रदेश के कुछ भाग पर अधिकार करने में सफलता पा चुके थे।**

1656 ई. में शिवाजी की एक महत्वपूर्ण विजय जावली की थी। जावली एक मराठा सरदार चन्द्रराव के अधिकार में था और वह शिवाजी के विरुद्ध बीजापुर-राज्य से मिला हुआ था। शिवाजी ने चन्द्रराव की हत्या करा दी और किले पर अधिकार कर लिया। इससे उनका राज्य-विस्तार दक्षिण-पश्चिम की ओर सम्भव हो सका।

1657 ई. में शिवाजी का मुकाबला पहली बार मुगलों से हुआ। दक्षिण के सूबेदार शाहजादा औरंगजेब ने बीजापुर पर आक्रमण किया और बीजापुर ने शिवाजी से सहायता माँगी। यह अनुभव करके कि दक्षिण में मुगलों की बढ़ती हुई शक्ति को रोकना आवश्यक

है, शिवाजी ने बीजापुर की सहायता करने के उद्देश्य से मुगलों के दक्षिण-पश्चिम भाग पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। इसी समय शिवाजी ने जुन्नार को लूटा और स्थान-स्थान पर आक्रमण करके मुगलों को तंग किया। परन्तु जब बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली तब शिवाजी ने मुगलों पर आक्रमण करने समाप्त कर दिये। उत्तराधिकार के युद्ध के कारण मुगलों को प्रायः दो वर्ष तक दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवकाश न मिल सका। इस अवसर का उपयोग शिवाजी ने सर्वप्रथम कोंकण को विजय करके किया।

परन्तु बीजापुर मुगलों से मुक्त होकर शिवाजी की शक्ति को दबाने के लिए तत्पर हो गया। 1659 ई. में बीजापुर-राज्य ने अपने एक प्रख्यात सरदार अफजलखाँ को शिवाजी को कैद करने या मार डालने के लिए भेजा। उसके साथ करीब 10 हजार घुड़सवार और एक अच्छा तोपखाना था। मार्ग में आते हुए अफजलखाँ ने मन्दिरों को तोड़ा, गाँवों को उजाड़ दिया और ऐसे उत्पात किये कि शिवाजी आतंकित हो जायें। वाई नामक स्थान पर आकर अफजलखाँ रुका। अब उसने कूटनीति का सहारा लिया। उसने अपने दूत कृष्णाजी भास्कर को शिवाजी के पास भेजकर यह सन्देश दिया कि यदि शिवाजी स्वयं उससे आकर मिलें और बीजापुर के आधिपत्य को स्वीकार कर लें तो वह उन्हें आदिलशाह से क्षमा ही नहीं दिला देगा बल्कि जो भी भू-प्रदेश और किले शिवाजी के पास हैं उनको उन्हीं की जागीर के रूप में तथा कुछ अन्य प्रदेश भी जागीर के रूप में उन्हें दिला देगा। शिवाजी ने धर्म की दुहाई देकर कृष्णाजी भास्कर से अफजलखाँ की वास्तविक इच्छा को जानने का प्रयत्न किया और उससे उन्हें संकेत मिल गया कि अफजलखाँ का मन साफ न था। अफजलखाँ वैसे भी विश्वास के योग्य न था। शिवाजी के अफजलखाँ पर विश्वास नहीं किया और धूर्तता का जवाब धूर्तता से देने का निश्चय किया। मोरो पिंगले और नेताजी पालकर को शीघ्रता से परन्तु चुपके-चुपके प्रतापगढ़ के जंगलों में पहुँचने के आदेश दिये गये और गोपीनाथ को दूत बनाकर अफजलखाँ के पास भेजा गया। गोपीनाथ ने सूचना दी कि शिवाजी बहुत भयभीत हैं और यदि अफजलखाँ उन्हें क्षमा करने का आश्वासन दे तो प्रतापगढ़ के निकट वह उससे मिल सकते हैं। अफजलखाँ इस बात पर राजी हो गया और अपनी सेना को लेकर प्रतापगढ़ से एक मील दूर जाकर रुक गया। किले और अफजलखाँ की सेना के मध्य में शिवाजी और अफजलखाँ के मिलने के लिए स्थान निश्चित किया गया। यह भी निश्चित हुआ कि शिवाजी और अफजलखाँ केवल दो-दो अंगरक्षकों को लेकर एक-दूसरे से मिलने आयेंगे। शिवाजी को बिना अस्त्र-शस्त्र के आना था। शिवाजी ने अपनी सुरक्षा के लिए अपने अंगरखे के नीचे लोहे का कवच पहना, अपनी पगड़ी के नीचे लोहे की टोपी पहनी और अपने बायें हाथ में बघनख तथा सीधे हाथ की बाँह में एक तेज कटार को छिपा लिया। अपने अंगरक्षकों के रूप में उन्होंने जीवमहल और शम्भूजी कावजी को शस्त्रों सहित लिया। अफजलखाँ सशस्त्र आया और उसके साथ दो अंगरक्षक आये जिनमें एक प्रख्यात तलवारबाज सैयद बाँदा था। शिवाजी के दूत गोपीनाथ की प्रार्थना पर अफजलखाँ ने अपने 1,000 सैनिक बन्दूकचियों को मिलने के स्थान से कुछ दूर छोड़ दिया। अफजलखाँ शिवाजी से गले मिला। शिवाजी कद में उससे बहुत छोटे थे। उसने एक हाथ से शिवाजी के गले पर दबाव डाला और दूसरे हाथ से शिवाजी पर तलवार से प्रहार किया। शिवाजी के कवच ने उनकी रक्षा की और उन्होंने अपने बघनख और कटार को अफजलखाँ के पेट में घोंप दिया। अफजलखाँ ने घायल होकर शिवाजी को छोड़ दिया और ज़ोर से चीखा। सैयद बाँदा ने तलवार से शिवाजी के सर पर चोट की परन्तु उनकी लोहे की टोपी ने उनकी रक्षा की। जीवमहल ने सैयद बाँदा का दाहिना हाथ काटकर उसे मार गिराया। जंगल में छिपी हुई

मराठा सेना ने बीजापुर की सेना पर आक्रमण किया और उसे परास्त करके भगा दिया। शिवाजी को इस युद्ध के पश्चात् तोपखाना, गोला-बारूद, हाथी, घोड़े, ऊँट और करीब 10 लाख रुपया प्राप्त हुआ।

प्रो. फारुखी ने शिवाजी पर अफजलखाँ की हत्या का आरोप लगाया है। कुछ तत्कालीन फारसी ग्रन्थों और विदेशी यात्री मनुची के विवरण में भी इसी प्रकार का मत प्रकट किया गया है। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस बात को स्वीकार नहीं करते। यह विश्वास किया गया है कि स्वयं अफजलखाँ शिवाजी को धोखे से मारना चाहता था और शिवाजी ने उसकी इच्छा को जानकर अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध किया था। सर जदुनाथ सरकार का कहना है :"आक्रमण पहले अफजलखाँ ने किया था। ऐसी स्थिति में शिवाजी ने अपनी सुरक्षा के लिए अफजलखाँ की हत्या की थी। इस कारण शिवाजी को इस कार्य के लिए दोषी नहीं माना जा सकता।" अफजलखाँ की मृत्यु के पश्चात् शिवाजी ने कोंकण और कोल्हापुर के प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा पन्हाला और आसपास के क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया। अफजलखाँ की घटना ने शिवाजी की कीर्ति में वृद्धि की। 1662-63 ई. में शाहजी के हस्तक्षेप के कारण शिवाजी ने बीजापुर से यह समझौता कर लिया कि वे एक-दूसरे की सीमाओं पर आक्रमण नहीं करेंगे और मिलकर मुगलों का विरोध करेंगे। इसके पश्चात् शिवाजी का बीजापुर से कोई महत्वपूर्ण संघर्ष नहीं हुआ यद्यपि 1673 ई. में शिवाजी ने पन्हाला को पुनः जीत लिया और 1677-1680 ई. के समय में बीजापुर के उन किलों को भी छीन लिया जो बीजापुर ने गोलकुण्डा से जीते थे। इस प्रकार शिवाजी ने बीजापुर-राज्य से संघर्ष करते हुए सफलता प्राप्त की।

1660 ई. में मुगल-सूबेदार शाइस्ताखाँ को शिवाजी की समाप्त करने के आदेश दिये गये। उसने बीजापुर-राज्य से मिलकर शिवाजी को समाप्त करने की योजना बनायी और शिवाजी से पूना, चाकन और कल्याण को छीनने में सफलता प्राप्त की। प्रायः दो वर्ष के युद्ध में शाइस्ताखाँ ने शिवाजी के बहुत कुछ स्थानों और किलों को जीतने में सफलता पायी। परन्तु शिवाजी युद्ध करते रहे। 1663 ई. में शाइस्ताखाँ ने पूना में वर्षा बिताने की योजना बनायी। 15 अप्रैल, 1663 ई. को शिवाजी चुपके से पूना में प्रवेश कर गये और रात को शाइस्ताखाँ के महल पर आक्रमण करने में सफल हो गये। **शाइस्ताखाँ इस अचानक आक्रमण से घबराकर भाग खड़ा हुआ।** यद्यपि शिवाजी केवल उसका अंगूठा काटने में सफल हुए परन्तु उनका यह रात्रि का आक्रमण बहुत सफल हुआ। इससे उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई और उन्होंने मुगलों पर पुनः आक्रमण आरम्भ कर दिये। 10 फरवरी, 1664 ई. को शिवाजी ने सूरत पर आक्रमण किया। मुगल किलेदार भाग खड़ा हुआ। चार दिन तक पूना को अच्छी तरह लूटकर और अधिक से अधिक धन लेकर शिवाजी वापस चले गये। इसके पश्चात् प्रायः एक वर्ष तक शिवाजी मुगल-आक्रमण से मुक्त रहे।

1665 ई. में औरंगजेब ने राजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध भेजा। राजा जयसिंह अपने समय का योग्यतम सेनापति और कूटनीतिज्ञ था। वह तुर्की, फारसी, उर्दू और राजस्थानी भाषा का ज्ञाता था। शाहजहाँ के शासन-काल में उसने मुगल-साम्राज्य के प्रत्येक भाग में युद्ध किया था। मुगल-दरबार ने बल्ख से लेकर दक्षिण तक और कन्धार से लेकर बंगाल तक के युद्धों में उसकी सेवाओं का लाभ उठाया था। शाहजहाँ के काल का एक भी वर्ष ऐसा न था जबकि राजा जयसिंह ने किसी न किसी प्रकार की सफलता प्राप्त न की हो

और बादशाह से सम्मान और पद प्राप्त न किया हो। सैकड़ों युद्धों में भाग लिये हुए इस योग्य राजपूत सेनापति को 60 वर्ष की आयु में औरंगजेब ने शिवाजी के विरुद्ध भेजा। जयसिंह ने शक्ति और कूटनीति दोनों का सहारा लिया। एक शक्तिशाजी मुगल सेना के दक्षिण में प्रवेश करने से यह सम्भावना थी कि गोलकुण्डा और बीजापुर के राज्य तथा शिवाजी मुगलों के विरुद्ध एक हो जायेंगे। जयसिंह ने इसे रोकने के लिए कूटनीति का सहारा लिया। उसकी नीति सफल रही और बीजापुर ने शिवाजी का साथ नहीं दिया। वे सभी मराठा सरदार, जो शिवाजी से ईर्ष्या करते थे, मुगलों की सेवा करने के लिए प्रोत्साहित किये गये। जयसिंह ने शिवाजी के सरदारों को भी लालच देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। जयसिंह ने यूरोपियन जातियों और जंजीरा के सीदियों को भी शिवाजी के विरुद्ध साथ देने के लिए पत्र लिखे। इस प्रकार, पूरी तरह तैयारी करके जयसिंह ने शिवाजी पर आक्रमण किया। वज्रगढ़ को जीतकर जयसिंह ने पुरन्दर के किले में शिवाजी को घेर लिया। आसपास के मराठा प्रदेश को बरबाद करने के लिए मुगल सेना को भेजा गया और किले पर अत्यधिक दबाव डाला गया। यह निश्चय हो गया कि पुरन्दर के किले की रक्षा सम्भव न हो सकेगी। यह देखकर शिवाजी ने आत्मसमर्पण कर दिया और बिना किसी शर्त के राजा जयसिंह से मिलने गये। जून 1665 ई. में पुरन्दर की सन्धि हो गयी जिसके अनुसार—

1. शिवाजी ने अपने 23 किले और करीब 4 लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि मुगलों को दे दी।
2. रायगढ़ को सम्मिलित करके शिवाजी के पास केवल 12 किले और एक लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि रही।
3. शिवाजी ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया परन्तु अपने स्थान पर अपने पुत्र शम्भाजी को 5,000 घुड़सवारों के साथ मुगलों की सेवा में भेजना स्वीकार किया।
4. शिवाजी ने बीजापुर के विरुद्ध मुगलों को सैनिक सहायता देने का वायदा किया।

बाद में इस सन्धि में एक शर्त और जोड़ी गयी जिसके अनुसार—

5. शिवाजी ने वायदा किया कि यदि कोंकण में 4 लाख हूण की वार्षिक आय की भूमि और बालाघाट (जो बीजापुर के पास था) की 5 लाख हूण वार्षिक आय की भूमि उन्हें दे दी जाय तो वह मुगलों को 13 वर्षों में 40 लाख हूण देंगे। इन प्रदेशों को शिवाजी को स्वयं ही जीतना था। इस शर्त से मुगलों को बहुत लाभ था। प्रथम, शिवाजी और बीजापुर एक-दूसरे के शत्रु हो गये, और दूसरे, शिवाजी की शक्ति के इन प्रदेशों में ही लग जाने की सम्भावना हो गयी। यह जयसिंह की कूटनीति का परिणाम था।

इस प्रकार, तीन माह में ही जयसिंह की कूटनीति और शक्ति ने शिवाजी को मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य कर दिया। इस आक्रमण और सन्धि से शिवाजी को बहुत हानि हुई।

1666 ई. में शिवाजी औरंगजेब से मिलने आगरा गये। राजा जयसिंह ने उन्हें उनकी सुरक्षा के बारे में आश्वस्त किया और यह सुझाया कि, सम्भवतया, उनके स्वयं

बादशाह से मिलने से उन्हें दक्षिण के मुगल प्रदेश की सूबेदारी और सीदियों से जंजीरा का टापू प्राप्त हो जाय। सम्भवतया, शिवाजी स्वयं भी औरंगजेब के दरबार से सम्पर्क स्थापित करने और उत्तर-भारत की स्थिति को जानने के लिए उत्सुक हो गये थे। राजा जयसिंह ने शिवाजी को अपने पुत्र रामसिंह की व्यक्तिगत सुरक्षा में रखने का विश्वास दिलाया। शिवाजी अपने पुत्र शम्भाजी सहित आगरा गये। जब रामसिंह शिवाजी को लेकर दरबार में गया तब औरंगजेब ने उनके प्रति उदासीनता का व्यवहार किया और उन्हें पंचहजारी मनसबदारों में खड़े हो जाने का इशारा कर दिया। शिवाजी ने इसे अपना अपमान माना और वह उसी समय मनसबदारों की पंक्ति से निकल कर बाहर जाकर बैठ गये। औरंगजेब ने रामसिंह तथा अन्य दो सरदारों को शिवाजी को बुलाने के लिए भेजा परन्तु उन्होंने औरंगजेब के सम्मुख जाने से इन्कार कर दिया। रामसिंह ने शिवाजी की तबियत खराब हो जाने का बहाना कर दिया। इसके पश्चात् शिवाजी को रामसिंह की देखभाल में जयपुर भवन में रखा गया और उनको नजरबन्द कर दिया गया। शिवाजी औरंगजेब से भेंट करने के लिए फिर कभी नहीं गये। दरबार में अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो शिवाजी को मरवा देना चाहते थे। औरंगजेब भी अपने प्रमुख शत्रु को समाप्त करना चाहता था। औरंगजेब ने राजा जयसिंह से पूछा कि उसने शिवाजी को क्या आश्वासन दिया था ? राजा जयसिंह ने उत्तर दिया कि शिवाजी के जीवन की सुरक्षा के अतिरिक्त उसने उससे कोई अन्य वायदा नहीं किया था। परन्तु इस पत्र-व्यवहार में थोड़ा समय लगा। इस बीच में शिवाजी ने अनेक मुगल सरदारों को रिश्वत दी और भाग निकलने की योजना बनायी। शिवाजी ने बीमारी का बहाना किया और कुछ समय पश्चात् बीमारी के ठीक हो जाने की खुशी में मिठाई के बड़े-बड़े टोकरे गरीबों को बाँटने के लिए भेजने आरम्भ किये। एक दिन अपने सौतेले भाई हीरोजी को अपना सोने का कड़ा पहना कर और अपने बिस्तर पर लिटाकर शिवाजी और उनका पुत्र शम्भाजी मिठाई के टोकरों में बैठकर भाग निकलने में सफल हो गये। उसके पश्चात् साधुओं का भेष बनाकर, अपने पुत्र को मथुरा में एक मराठा परिवार के साथ छोड़कर तथा इलाहाबाद, बनारस, गोंडवाना और गोलकुण्डा होते हुए शिवाजी 25 दिन के पश्चात् रायगढ़ वापस पहुँच गये। इस प्रकार शिवाजी की आगरा की यात्रा निरर्थक सिद्ध हुई परन्तु उसने एक रोमांचकारी इतिहास का निर्माण किया। 1668 ई. में शिवाजी ने मुगलों से एक सन्धि कर ली।

1670 ई. में शिवाजी ने मुगलों से पुनः युद्ध आरम्भ किया। पुरन्दर की सन्धि द्वारा खोये गये अपने अनेक किलों को शिवाजी ने पुनः जीत लिया। इसी समय कोंगना के किले को नानाजी ने अपने साहस से जीता जिसे शिवाजी ने सिंहगढ़ का नाम दिया। विभिन्न मुगल प्रदेशों को सफलता से लूटने के अतिरिक्त शिवाजी ने पुरन्दर, कल्याण, माहुली आदि किलों को जीता। दिलेरखाँ और शाहजादा मुअज्जम के झगड़े का लाभ उठाते हुए शिवाजी ने 1670 ई. में सूरत के बन्दरगाह को दुबारा लूटा। मराठों ने उस समय बरार, बगलाना और खानदेश पर आक्रमण किये तथा सलहेर और मुलहेर के किलों को जीता। उसी समय उत्तर कोंकण पर आक्रमण करके मराठों ने जवाहरनगर और रामनगर को जीता। 1672 ई. में मराठों का झगड़ा बीजापुर से भी हुआ जबकि मराठों ने पन्हाला पर आक्रमण किया। मराठों ने पन्हाला, पार्ली और सतारा के दुर्गों को भी जीत लिया। इस प्रकार, **कुछ ही वर्षों में शिवाजी ने मुगलों और बीजापुर से अनेक दुर्गों और भू-प्रदेशों को जीतने में सफलता प्राप्त की।**

1674 ई. में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक किया, छत्रपति की उपाधि ग्रहण की और रायगढ़ को अपनी राजधानी बनाया। उस युग के महान् विद्वान, वेदों के ज्ञाता और बनारस के महान् पण्डित विश्वेश्वर उर्फ गागभट्ट ने शिवाजी को क्षत्री माना, उदयपुर के राजपूत-राजवंश से उनका सम्बन्ध बताया और शिवाजी का राज्याभिषेक स्वयं करना स्वीकार किया। 15 जून, 1674 ई. को वेद-मन्त्रों और हिन्दू रीति-रिवाजों के अनुसार बड़ी धूमधाम से शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने 'छत्रपति' की उपाधि ग्रहण की और भगवा-ध्वज उनका झण्डा बना। इस अवसर पर शिवाजी ने बहुत धन व्यय किया। परन्तु इस प्रसन्नता में थोड़ी बाधा 12 दिन पश्चात् तब हुई जबकि शिवाजी की माता जीजाबाई की मृत्यु हो गयी। इसके कारण कुछ समय पश्चात् शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक तान्त्रिक विधि से भी कराया।

अपने रिक्त खजाने की पूर्ति करने के उद्देश्य से शिवाजी ने मुगल-सेनापति बहादुरखाँ के शिविर पर आक्रमण किया और प्रायः एक करोड़ रुपया तथा 200 अच्छे घोड़े लूटने में सफलता पायी। शिवाजी ने बीजापुर के खानदेश और बगलाना के प्रदेशों को लूटने में भी सफलता पायी। इन आक्रमणों में शिवाजी को केवल धन ही प्राप्त नहीं हुआ बल्कि उनकी शक्ति में भी वृद्धि हुई।

1677-78 ई. में शिवाजी ने पूर्वी कर्नाटक पर आक्रमण किया। शिवाजी ने बहाना किया कि वह अपने भाई से अपनी पैतृक जागीर का हिस्सा लेने जा रहे हैं। उन्होंने युद्ध की पूरी तैयारी की। उन्होंने मुगल-सूबेदार बहादुरखाँ से एक समझौता कर लिया और गोलकुण्डा के मुख्य मन्त्री मदन्ना की सहायता से गोलकुण्डा से एक सन्धि कर ली। शिवाजी ने कर्नाटक में प्रवेश करके जिंजी और बेलूर के किलों को जीता तथा तुंगभद्रा से लेकर कावेरी नदी तक के कर्नाटक के भाग पर अपना अधिकार कर लिया। जिंजी को उन्होंने अपने इस भाग की राजधानी बनाया। अपने भाई व्यंकोजी से भी शिवाजी ने अपने पिता की पैतृक जागीर से आधा भाग माँगा और उसके इन्कार करने पर उसके प्रदेशों पर आक्रमण किया तथा कावेरी नदी के उत्तर के सभी भागों पर अधिकार कर लिया। प्रायः एक वर्ष के समय में शिवाजी ने कर्नाटक की 20 लाख हूण प्रति वर्ष आय की भूमि पर अधिकार किया और प्रायः 100 किले अपने अधिकार में किये अथवा बनवाये। कर्नाटक की सीमाओं की सुरक्षा और शासन का प्रबन्ध करके शिवाजी महाराष्ट्र वापस आ गये। बाद में व्यंकोजी ने अपने प्रदेश को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। अन्त में, व्यंकोजी के भूतपूर्व मुख्य-मन्त्री के बीच में पड़ने से दोनों भाइयों में समझौता हो गया। व्यंकोजी ने अपने बड़े भाई के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया, शिवाजी ने किलों के अतिरिक्त उसके भू-प्रदेश उसे वापस कर दिये और उसने सफलता से उनका शासन किया। इस प्रकार **शिवाजी ने कर्नाटक में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में सफलता पायी।**

शिवाजी का संघर्ष जंजीरा टापू के अधिपति सीदियों से भी हुआ। उत्तर-पश्चिम के समुद्री तट की जीतने की इच्छा शिवाजी की थी। इससे उनके साम्राज्य की सुरक्षा होती थी और पश्चिम से व्यापार करने के लिए मार्ग खुल जाता था। इस उद्देश्य से शिवाजी ने बीजापुर-राज्य से पोंडा और कारबार के समुद्री भागों को छीन लिया था, कोलाबा से मलवान तक के समुद्री-तट पर अधिकार कर लिया था और स्वर्णदुर्ग, विजयदुर्ग तथा सिन्धुदुर्ग जैसे समुद्र-तट के दृढ़ किलों को जीत लिया था। **इसी उद्देश्य से शिवाजी ने एक नौ-सेना का निर्माण किया।** परन्तु वह पुर्तगालियों से गोआ और सीदियों से चोल और जंजीरा को

न छीन सके। सीदी पहले अहमदनगर के आधिपत्य को मानते थे परन्तु 1636 ई. के पश्चात् से वह बीजापुर की अधीनता को मानने लगे थे। शिवाजी ने कोंकण प्रदेश को जीत लिया था जो उनकी आय और रसद का साधन था। इस कारण वे शिवाजी से शत्रुता मानते थे। दूसरी तरफ शिवाजी के लिए जंजीरा को जीतना अपने कोंकण प्रदेश की रक्षा के लिए आवश्यक था। इसके अतिरिक्त, सीदियों को बिना अपनी अधीनता में लाये शिवाजी की नौसेना का विकास सम्भव न था। 1669 ई. में शिवाजी ने दरिया-सारंग के नेतृत्व में अपने जल-बेड़े को जंजीरा पर आक्रमण करने के लिए भेजा। लगातार संघर्ष के पश्चात् फतहखाँ सीदी शिवाजी से सन्धि करने को तत्पर हो गया। परन्तु उसके दो सम्बन्धियों ने 1671 ई. में मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके न केवल शिवाजी का ही विरोध किया बल्कि फतहखाँ सीदी का भी विरोध किया। मुगलों की सहायता मिल जाने से सीदी शिवाजी से संघर्ष करते रहे। **कई वर्षों तक युद्ध करने के बाद शिवाजी कोंकण प्रदेश पर तो अपना अधिकार रख सके परन्तु जंजीरा के टापू को जीतने अथवा सीदियों को अपने आधिपत्य में लेने में असफल रहे।**

अपने अन्तिम समय में शिवाजी ने एक बार फिर बीजापुर को मुगलों के विरुद्ध सहायता दी। परन्तु अब शिवाजी का अन्तिम समय निकट आ गया था। वह बीमार हो गये और करीब 12 दिन की बीमारी के पश्चात् 12 अप्रैल, 1680 ई. को शिवाजी की मृत्यु हो गयी।

इस प्रकार, शिवाजी ने निरन्तर बीजापुर राज्य और मुगलों की दक्षिण की ओर बढ़ती हुई शक्ति के विरुद्ध संघर्ष किया। अपने इस संघर्ष में उन्होंने सफलता पायी। **अपनी मृत्यु के समय तक उन्होंने एक बड़े तथा स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर लिया।** शिवाजी के राज्य में महाराष्ट्र, कोंकण और कर्नाटक का बहुत बड़ा भाग सम्मिलित था। उत्तर में रामनगर से लेकर दक्षिण में कारबार तक और पूर्व में बगलाना, आधा नासिक, पूना के जिले, सतारा और कोल्हापुर का बहुत सा भाग इसमें सम्मिलित था। पश्चिमी कर्नाटक का वह भाग जिसमें आधुनिक मैसूर का उत्तरी, मध्यवर्ती और पूर्वी भाग था, बेलारी जिले का कुछ भाग और अर्काट शिवाजी के राज्य में सम्मिलित थे। अस्थायी रूप से उन्होंने कनारा प्रदेश को भी जीता था। इतिहासकार सभासद के अनुसार शिवाजी के राज्य की आय एक करोड़ हूण प्रति वर्ष थी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी के आसपास के क्षेत्रों से चौथ (वार्षिक आय का 1/4 भाग) वसूल करते थे जिनसे उनकी आय 80 लाख हूण प्रति वर्ष थी। यह प्रदेश उनके प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत था। इस प्रकार शिवाजी ने दक्षिण के एक विस्तृत भू-प्रदेश को अपने राज्य में सम्मिलित करने में सफलता पायी।

शिवाजी की यह सफलता इतिहास की एक आश्चर्यनक घटना मानी जा सकती है। शिवाजी को दक्षिण के बीजापुर-राज्य से संघर्ष करना पड़ा जो दुर्बल होते हुए भी दक्षिण का एक प्रमुख राज्य था। इसके अतिरिक्त, मुगल-साम्राज्य औरंगजेब के समय में अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था। औरंगजेब शिवाजी तो क्या दक्षिण की शिया-रियासतों को भी समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। उसने शिवाजी के विरुद्ध अपने एक से एक योग्य सेनापति को भेजा, कूटनीति और चालाकी का प्रयोग किया परन्तु तब भी शिवाजी न केवल अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में ही सफल हुए बल्कि उन्होंने मुगल सीमाओं से निरन्तर चौथ वसूल करने में भी सफलता पायी। यह शिवाजी की महान् सफलता थी। शिवाजी की इस सफलता में विभिन्न परिस्थितियाँ सहायक बनीं। **महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थितियाँ शिवाजी के**

पक्ष में थीं। महाराष्ट्र का पठारी प्रदेश शिवाजी की सुरक्षा और उनकी गुरिल्ला युद्ध-पद्धति के लिए सबसे अधिक उपयुक्त था। शिवाजी ने हिन्दुओं की धार्मिक भावना और महाराष्ट्र की भावना का सदुपयोग किया। शिवाजी ने अपना लक्ष्य और आदर्श इस प्रकार रखा कि वह हिन्दू धर्म, ब्राह्मणों और गायों के रक्षक माने गये। उनमें हिन्दुओं ने हिन्दू-राजत्व, 'हिन्दू-पादशाही' और हिन्दू-सभ्यता की रक्षा तथा स्थापना का स्वप्न साकार करने वाला व्यक्ति पाया। इस कारण **शिवाजी बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहानुभूति पा सके।** जिस समय शिवाजी आगरा गये थे तब जयसिंह ने औरंगजेब को उनके जीवन की सुरक्षा के बारे में लिखा था, राजा जसवन्तसिंह शिवाजी से सहानुभूति रखते थे, गोलकुण्डा के वजीर मदन्ना और अकन्ना शिवाजी की सहायता के लिए तत्पर थे और राजपूत सरदार एवं सैनिक शिवाजी के विरुद्ध उत्साहपूर्वक लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। जब औरंगजेब ने 1679 ई. में हिन्दुओं पर जजिया लगाया तब अकेले शिवाजी ही थे जिन्होंने इसका तीव्र विरोध करते हुए औरंगजेब को एक पत्र लिखा था। दक्षिण के अनेक सन्तों जैसे तुकाराम, रामदास, बाबा याकूत, जयराम स्वामी आदि ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से अपने शिष्यों को शिवाजी की सहायता करने की प्रेरणा दी थी। इसके अतिरिक्त, शिवाजी ने कभी किसी मस्जिद को नहीं तोड़ा, कभी कुरान का अपमान नहीं किया और न कभी मुस्लिम स्त्रियों व बच्चों को अपमानित किया। इस कारण **मुसलमान भी शिवाजी से असन्तुष्ट न थे और उनमें से अनेक उनका आदर करते थे। शिवाजी का गुप्तचर-विभाग बहुत श्रेष्ठ था।** उनके गुप्तचरों से कई भाषाओं को जानने और महाराष्ट्र के भू-प्रदेश की चप्पा-चप्पा भूमि से परिचित होने की आशा की जाती थी। इस कारण शिवाजी को अपने शत्रुओं की स्थिति को जानने, चुपके से उन पर आक्रमण करने और चुपके से भाग निकलने में सरलता होती थी। **बीजापुर-राज्य की दुर्बलता शिवाजी की प्रारम्भिक प्रगति में सहायक हुई।** आरम्भ में अपने सरदारों के पारस्परिक मतभेद और दुर्बलता के कारण बीजापुर कभी भी शिवाजी के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग न कर सका और बाद में औरंगजेब के भय से उसे अनेक अवसरों पर शिवाजी से सहायता लेने के लिए बाध्य होना पड़ा। **गोलकुण्डा-राज्य ने शिवाजी को अनेक अवसरों पर धन, सेना और तोपखाने से सहायता दी।** शिवाजी की कर्नाटक-विजय बिना गोलकुण्डा की सहायता के सम्भव न थी। **औरंगजेब का एक लम्बे समय तक उत्तर-भारत में व्यस्त रहना और उसके सरदारों का पारस्परिक मतभेद शिवाजी के लिए लाभदायक रहा।** औरंगजेब की धार्मिक नीति के कारण हुए विद्रोह, उसका राजपूतों से संघर्ष, उत्तर-पश्चिम की सीमान्त-जातियों के विद्रोह आदि के कारण मुगलों की सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग दक्षिण-भारत में नहीं हो सका। जो मुगल शाहजादे दक्षिण-भारत में भेजे गये वह आरामपसन्द थे और अनेक अवसरों पर मुगल-सरदार बेईमान और झगड़ालू सिद्ध हुए। **मुगलों की आन्तरिक दुर्बलता का ही यह परिणाम था जिसके कारण शिवाजी मुगल-दरबार में मुगल बादशाह का अपमान करने के बाद भी आगरा से भाग निकलने में सफल हुए, शाइस्ताखाँ पर उसके महल में आक्रमण कर सके, मुगल-सेनापतियों को परास्त कर सके, मुगलों के शहरों और खज़ानों को लूट सके और मुगलों की सीमाओं से चौथ वसूल कर सके।** परन्तु **शिवाजी की सफलता का मुख्य श्रेय उनके व्यक्तित्व और चरित्र को था।** एक व्यक्ति, एक जन्मजात नेता, एक सैनिक, एक सेनापति, एक शासन-प्रबन्धक आदि सभी दृष्टियों से शिवाजी की योग्यता उनकी सफलता का मुख्य कारण थी।

(ब) शासन-प्रबन्ध

1. राजा—मध्य-युग के अन्य शासकों की भाँति शिवाजी एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निरंकुश शासक थे। राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ उनमें केन्द्रित थीं। वही राज्य के अन्तिम कानून-निर्माता, प्रशासकीय प्रधान, न्यायाधीश और सेनापति थे। परन्तु शिवाजी ने अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए नहीं किया बल्कि वह एक प्रजापालक शासक सिद्ध हुए। इतिहासकार रानाडे के शब्दों में शिवाजी नैपोलियन की भाँति 'एक महान् संगठनकर्ता और असैनिक प्रशासन के निर्माणकर्ता थे।' शिवाजी के शासन की एक विशेषता यह भी रही कि उन्होंने मराठी को शासन की भाषा बनाया और उसकी प्रगति के लिए रघुनाथ पण्डित हनुमन्ते के सभापतित्व में विद्वानों की एक समिति की नियुक्ति करके उससे एक शब्दकोष—**राज्य-व्यवहार-कोष**—लिखवाया।

2. अष्ट-प्रधान—शासन में शिवाजी की सहायता के लिए आठ बड़े अधिकारी अथवा मन्त्री थे। वे एक मन्त्रि-परिषद् अथवा समिति की तरह से कार्य नहीं करते थे। प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने विभाग का प्रधान था और यह शिवाजी की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह उनसे पृथक-पृथक अथवा सम्मिलित रूप से सलाह लें। उनकी सलाह को मानने के लिए भी शिवाजी बाध्य न थे। ये आठ प्रधान शिवाजी के सचिवों की भाँति कार्य करते थे। शिवाजी द्वारा दिये गये आदेशों का पालन करना और विस्तृत रूप से शासन की देखभाल करना उनका प्रमुख दायित्व था। शिवाजी, वास्तव में, फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें और प्रशा के शासक फ्रेडरिक महान् की भाँति स्वयं ही अपने प्रधानमन्त्री थे और शासन की सभी शक्तियों को अपने हाथों में केन्द्रित रखते थे। उनके इन आठ प्रधानों में पेशवा की स्थिति, निस्सन्देह, कुछ श्रेष्ठ थी परन्तु शेष अन्य प्रधान किसी भी प्रकार उसके अधीन न थे। उनमें से प्रत्येक का उत्तरदायित्व केवल शिवाजी के प्रति था। ये आठ प्रधान निम्नलिखित थे :

(i) पेशवा अथवा मुख्य प्रधान—इसका कार्य सम्पूर्ण राज्य के शासन की देखभाल करना था। राजा की अनुपस्थिति में उसके कार्यों की देखभाल करना, शासन में एकरूपता लाने के लिए शासन के अधिकारियों पर नियन्त्रण रखना और प्रजा के हित के लिए प्रयत्न करना उसका मुख्य दायित्व था। राजा के सभी आदेशों और पत्रों पर राजा की मुहर के नीचे उसकी मुहर लगती थी।

(ii) अमात्य अथवा मजमुआदार—राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना तथा राजा को उससे अवगत कराना इसका कार्य था।

(iii) मन्त्री अथवा वाकिया-नवीस—राजा के दैनिक कार्यों को लेखबद्ध करना, मिलने-जुलने वालों की देखभाल करना और राजा के जीवन की सुरक्षा की देखभाल करना इसका कार्य था।

(iv) सचिव अथवा शुरु-नवीस—राजा के पत्रों की भाषा एवं शैली को ठीक करना तथा परगनों की आय-व्यय की देखभाल करना इसका कार्य था।

(v) सुमन्त अथवा दबीर—यह राज्य का विदेश-मन्त्री था। राजा को सन्धि अथवा युद्ध के बारे में सलाह देना, विदेशों से समाचार प्राप्त करना, विदेशों में राजा के सम्मान की सुरक्षा, विदेशी राजदूतों की देखभाल और अपने राजदूतों को विदेशों में भेजना तथा उनके कार्यों की देखभाल करना इसका कार्य था।

(vi) सेनापति अथवा सर-ए-नौबत—सेना की भर्ती, संगठन, शिक्षा, शस्त्रों और रसद की व्यवस्था आदि इसका कार्य था।

(vii) पण्डित राव—राजा की तरफ से विद्वान ब्राह्मणों को दान देना, धार्मिक कार्यों को निश्चित करना, पाप के लिए दण्ड देना, धर्म और जाति के झगड़ों का निर्णय करना और प्रजा के नैतिक चरित्र को सुधारना इसका कार्य था।

(viii) न्यायाधीश—सैनिक और असैनिक झगड़ों का हिन्दू-कानून के आधार पर न्याय करना, भूमि सम्बन्धी झगड़ों तथा गाँव के मुखिया के पद के झगड़ों का निर्णय करना इसका कार्य था।

सेनापति के अतिरिक्त ये सभी प्रधान ब्राह्मण थे और पण्डित राव तथा न्यायाधीश के अतिरिक्त सभी को अवसर पड़ने पर सेनाओं का नेतृत्व करना पड़ता था। राज्य के सभी पत्रों, आदेशों एवं सन्धियों पर राजा और पेशवा के अतिरिक्त चार अन्य मन्त्रियों के हस्ताक्षर होते थे परन्तु उनमें सेनापति, पण्डित राव और न्यायाधीश सम्मिलित नहीं थे।

इन आठ प्रधानों के अतिरिक्त राज्य क पत्र-व्यवहार की देखभाल करने वाले चिटनिस और मुंशी भी महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। वह एक प्रकार से सचिव का कार्य करते थे। मुंशी फारसी भाषा में लिखता था। शिवाजी के समय में बालाजी आवजी चिटनिस के रूप में और नीलोजी मुंशी के रूप में बहुत सम्मानित समझे गये थे। इन आठ प्रधानों की देखरेख में विभिन्न अधिकारी होते थे। प्रत्येक प्रधान की सहायता के लिए अनेक छोटे अधिकारियों के अतिरिक्त दावन, मजमुआदार, फडनिस, सुबनिस, कारखान, चिटनिस, जमादार और पोटनिस यह आठ प्रमुख अधिकारी होते थे। 18 कारखानों (जैसे तोपखाना, जवाहरात-घर, नकदी-घर, आदि) और 12 महलों (जैसे खजाना, व्यापारिक वस्तुएँ, घुड़साल आदि) की देखभाल भी इन आठ प्रधानों को करनी पड़ती थी और उनके सभी अधिकारी इनके अधीन होते थे। इस प्रकार शिवाजी ने केन्द्र के शासन की एक विस्तृत और सुनिश्चित योजना बनायी थी।

3. प्रान्त—शिवाजी द्वारा संगठित किया हुआ साम्राज्य तीन प्रान्तों में विभक्त था। उनमें से प्रत्येक में एक प्रान्तपति अथवा सूबेदार की नियुक्ति की गयी थी। उत्तरी प्रान्त में डाँग, बगलाना, कोली प्रदेश, दक्षिणी सूरत, उत्तरी बम्बई का कोंकण प्रदेश और पूना की ओर का दक्षिणी पठार सम्मिलित था। यहाँ त्रिम्बक पिंगले की नियुक्ति की गयी थी। दक्षिणी प्रान्त में दक्षिणी बम्बई का कोंकण प्रदेश, सामन्तवाड़ी और उत्तरी कनारा का समुद्र-तट सम्मिलित था। यह प्रान्त अन्नाजी दत्तो की अधीनता में था। दक्षिण-पूर्वी प्रान्त में सतारा और कोल्हापुर के जिले तथा कर्नाटक में तुंगभद्रा के पश्चिम में बेलगाँव, धारवार और कोसल के जिले थे। यह प्रान्त दत्तोजी पन्त के अधिकार में था।

शिवाजी ने अपने अन्तिम समय में तुंगभद्रा के दूसरी ओर का कोपल से लेकर बेलूर तथा जिंजी तक का प्रदेश जीता था। इसमें आधुनिक मैसूर राज्य का उत्तरी, मध्यवर्ती और पूर्वी भाग तथा मद्रास राज्य के बेलारी, चितूर और अर्काट के जिले सम्मिलित थे। परन्तु इस प्रदेश का संगठन नहीं हो सका था और यहाँ उनके समय में सेना की शक्ति पर ही शासन चलाया जाता था। इसके अतिरिक्त कनारा, दक्षिण धारवार, सोन्धा और बेदनूर के प्रदेश अभी ऐसे थे जहाँ से शिवाजी कर तो वसूल करते थे परन्तु जिनके स्वामित्व के बारे में निर्णय नहीं हो सका था। ये शिवाजी की मृत्यु के निकट के अवसर पर ही जीते गये प्रदेश थे।

4. सेना और नौ-सेना—शिवाजी की सेना के मुख्य भाग घुड़सवार और पैदल सेना थे। उनकी मृत्यु के अवसर पर उनकी सेना में 45,000 पागा (शाही घुड़सवार), 60,000

सिलेदार घुड़सवार तथा एक लाख मावले पैदल सैनिक थे। उनकी सेना में हाथी भी थे। सम्भवतया, उनकी संख्या 300 के लगभग थी। उनके पास एक छोटा तोपखाना भी था।

पागा या शाही घुड़सवारों को 'बरगीर' पुकारते थे। इन्हें राज्य की ओर से शस्त्र दिये जाते थे जबकि 'सिलेदार' घुड़सवार अपने घोड़ों और शस्त्रों को स्वयं खरीदते थे और कभी-कभी अपने साथ अपने साथियों को लाते थे तथा उनके शस्त्रों और घोड़ों का प्रबन्ध भी स्वयं करते थे। 'पागा' घुड़सवार सेना का नियमित संगठन था। 25 घुड़सवारों [illegible] एक हवलदार, 5 हवलदारों के ऊपर एक जमादार, 10 जमादारों पर एक एकहजारी औ [illegible] एकहजारियों के ऊपर पंचहजारी अधिकारी होता था। सम्पूर्ण घुड़सवार सेना का [illegible] घुड़सवार सेना का 'सर-ए-नौबत' कहलाता था।

इसी प्रकार, पैदल-सेना में भी अधिकारियों का पद-विभाजन किया गया [illegible] था। 9 सैनिकों या पाइकों का अधिकारी नायक, दस नायकों के ऊपर एक हव[illegible]दार, दो या तीन हवलदारों के ऊपर एक जुमलादार, दस जुमलादारों के [illegible] ऊपर एक एकहजारी और सात एकहजारियों के ऊपर एक सातहजारी अधिकारी होता था। पैदल-सेना में पंचहजारी का पद न था। सम्पूर्ण पैदल-सेना का प्रधान पैदल-सेना का 'सर-ए-नौबत' होता था। शिवाजी के अंगरक्षक 20,000 (बीस हजार) मावले सैनिक थे जिनके वस्त्रों और हथियारों पर पर्याप्त धन व्यय किया जाता था।

शिवाजी ने अपनी सेना में मुसलमान सैनिक भी रखे थे। बीजापुर की सेना से निका[illegible] गये 700 पठान-सैनिकों को उन्होंने अपनी सेवा में अपने विभिन्न अधिकारियों की सलाह [illegible] विरुद्ध भी रख लिया था।

शिवाजी की सेना अत्यन्त संगठित और नियमित थी। उनकी भर्ती, शिक्षा औ[illegible] नियन्त्रण का पूरा ध्यान रखा जाता था। सेना में भर्ती होने वाले व्यक्तियों को शिवाजी स्व[illegible] भी देखते थे। प्रत्येक नये सैनिक को अपनी जमानत किसी एक अन्य सैनिक से दिला[illegible] पड़ती थी। सैनिक और अधिकारियों को अधिकांशतया नकद वेतन दिया जाता था[illegible] पैदल-सेना के सैनिक और छोटे अधिकारियों का वेतन 3 रु. से 9 रु. प्रति माह औ[illegible] घुड़सवार-सेना में 6 रु. से लेकर 20 रु. प्रति माह तक था। पैदल-सेना के जुमलादार को 10[illegible] हूण प्रति वर्ष और एकहजारी को 500 हूण प्रति वर्ष मिलते थे। घुड़सवार-सेना के जुमलादार को 500 हूण प्रति वर्ष और एकहजारी को 1,000 हूण प्रति वर्ष मिलते थे। शिवाजी सैनिकों को ठीक समय पर वेतन देते थे। शिवाजी की सेना का नियन्त्रण कठोर था। किसी भी सैनिक को अपने साथ अनावश्यक सामान ले जाने की आज्ञा न थी, सैनिकों को आदेश थे कि वे खेतों और घरों के निकट आग न जलायें या हुक्का आदि न पीयें और स्त्रियों व नौकरों को सेना में साथ ले जाने की आज्ञा किसी को न थी। इन नियमों को तोड़ने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। वर्षा के चार महीनों में सेना छावनी में ही रहती थी तथा आठ महीने आक्रमण करने और रसद को एकत्रित करने हेतु बाहर निकलती थी। छावनी छोड़ने से पहले प्रत्येक सैनिक की वस्तुओं की गणना कर ली जाती थी और छावनी में वापस पहुँचने से पहले पुनः उन वस्तुओं की जाँच की जाती थी जिससे सैनिक लूट के सामान को छिपाकर न रख सकें। आक्रमण के दौरान स्त्रियों और बालकों को मारना या सताना, ब्राह्मणों को लूटना, कृषि को बर्बाद करना आदि भी दण्डनीय था। इस प्रकार, शिवाजी ने सेना के नियन्त्रण के लिए विभिन्न नियम बनाये थे और ये नियम कठोरता से लागू किये जाते थे। इन सभी के कारण शिवाजी की सेना शक्तिशाली बन गयी थी।

शिवाजी की सैनिक-व्यवस्था में किलों की व्यवस्था एक प्रमुख स्थान रखती । शिवाजी के राज्य में प्रायः 250 किले थे जो उनकी सुरक्षा और आक्रमणकारी नीति के आधार थे। शिवाजी ने किलों की रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किये थे। प्रत्येक किले मुख अधिकारी होते थे—एक 'हवलदार', एक 'सबनिस' और एक 'सर-ए-नौबत'। रक्षा और प्रशासन तीनों का संयुक्त उत्तरदायित्व था। 'हवलदार' तथा 'सर-ए-नौबत' होते थे जबकि 'सबनिस' ब्राह्मण होता था। इनके अलावा किले की रसद और सामग्री की देखभाल के लिए एक अन्य अधिकारी होता था जिसे 'कारखाना-नवीस' थे। वह आय और व्यय का पूर्ण विवरण रखता था। हवलदार को अपने अधीनस्थ धिकारियों को हटाने, सरकारी पत्रों को लेने और भेजने, शाम को किले के फाटक बन्द ने तथा सुबह के समय फाटक खोलने और बीच-बीच में अचानक जाकर देखभाल करने का यित्व सौंपा गया था। 'सर-ए-नौबत' पर रात में किले की सुरक्षा और प्रहरियों की देखभाल दायित्व था। 'सबनिस' किले के असैनिक शासन की देखभाल करता था। इस प्रकार भिन्न अधिकारियों और विभिन्न जातियों के अधिकारियों की नियुक्ति करके वाजी ने यह प्रयत्न किया था कि किसी एक अधिकारी के शत्रु-पक्ष के साथ मिल जाने किला शत्रुओं के हाथों में न चला जाय। शिवाजी ने विस्तृत रूप से यह निश्चित कर था कि किस किले में कितने सैनिक होंगे, कितनी रसद होगी, कितने शस्त्र होंगे, क को खोलने और बन्द करने का क्या समय होगा, इत्यादि। इन नियमों का कठोरता से न किया जाता था। इससे शिवाजी के किले जो प्राकृतिक ढंग से ही पहाड़ों पर बने हुए सरलता से शत्रु के हाथों में नहीं जा सकते थे।

शिवाजी ने नौ-सेना का भी निर्माण किया था। कोंकण प्रदेश को जीतने के पश्चात् रा के सीदियों के आक्रमण से अपने समुद्र-तट की रक्षा के लिए उन्हें इसका निर्माण ना आवश्यक हो गया था। सभासद के अनुसार शिवाजी की नौ-सेना में विभिन्न प्रकार के जहाज थे। यह जल-बेड़ा दो भागों में विभक्त था। दरिया-सारंग और माई नायक इनमें प्रत्येक एक भाग का प्रधान था। कुछ वर्षों के पश्चात् शिवाजी को दो अन्य योग्य व्यक्तियों 'मिसरी' और 'दौलतखाँ' की सेवाएँ भी प्राप्त हो गयी थीं। शिवाजी की नौ-सेना विदेशी व्यापारियों, जंजीरा के सीदियों और औरंगजेब के लिए चिन्ता का विषय बन गयी थी। उसने अनेक अवसरों पर पुर्तगाली, डच और अंग्रेज जहाजों से टक्कर ली और खण्डेरी के द्वीप को सीदी और अंग्रेजों के संयुक्त आक्रमण से बचाने में सफलता पायी। इसके अतिरिक्त **शिवाजी ने एक बड़ी व्यापारिक नौ-सेना का भी निर्माण किया था।** डॉ. एस. एन. सेन ने लिखा है : "अपने तत्कालीन शासकों से भिन्न उस महान् मराठा ने यह समझ लिया था कि बिना एक शक्तिशाली व्यापारिक नौ-शक्ति के एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण असम्भव था।" परन्तु **फिर भी शिवाजी की नौ-सेना यूरोपियन नौ-सेना की तुलना में दुर्बल थी। इसका मुख्य कारण उनकी नौ-सेना के पास तोपखाने का अभाव था।** इसी दुर्बलता के कारण शिवाजी को जंजीरा के सीदियों के विरुद्ध सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। सूरत की अंग्रेज फैक्टरी के प्रधान ने टिप्पणी की थी कि "एक अंग्रेजी जहाज अपने को बिना किसी खतरे में डाले हुए उनके एक सौ जहाजों को बर्बाद कर देगा।" इस कारण शिवाजी की नौ-सेना का मुख्य कार्य अपने समुद्र-तट की रक्षा करना, अपने तट पर आये हुए जहाजों से व्यापारिक-कर लेना और समुद्र-तट पर टूटे हुए जहाजों के सामान को अपने अधिकार में करने तक सीमित था।

भी थे।

5. अर्थ-व्यवस्था और लगान-व्यवस्था—मुद्रा, व्यापारिक-कर अ लगान शिवाजी की आय के स्थायी साधन थे। परन्तु ये उनकी सेना और दिये के लिए पर्याप्त न थे। इस कारण शिवाजी ने अपनी आय का मुख्य साधे और 'सरदेशमुखी' को बनाया था। ये 'कर' पड़ौसी राज्यों की सीमाओं और वे भी अपने प्रभाव-क्षेत्र के नागरिकों से वसूल किये जाते थे। 'चौथ' उस प्रदेश आय का एक-चौथाई भाग और 'सरदेशमुखी' उस प्रदेश की आय का 1/10वाँ भाग शिवाजी इन प्रदेशों के शासन का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेते थे और न ये प्रदे राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत आते थे। इन करों की वसूली शक्ति के आधार पर की और इनका मुख्य लक्ष्य अपने शत्रु-राज्यों की सम्पत्ति से अपनी सेना और शासन के व्य पूरा करना था। ये 'कर' शिवाजी की आय के मुख्य साधन थे और धीरे-धीरे शिवाज बाद में मराठों की शक्ति के विस्तार में सहायक भी हुए।

शिवाजी की लगान-व्यवस्था रैयतवाड़ी थी जिसमें राज्य ने किसानों से सम्पर्क स्थापित किया था। शिवाजी ने जागीरें देने की प्रथा को अधिकांशतया नहीं था और यदि भूमि जागीर के रूप में दी भी गयी थी तो उसकी आय का हिसाब राज्य कर्मचारी रखते थे और उसी के अनुरूप उस जागीरदार के वेतन में कमी कर दी जाती थी। प्रकार लगान-व्यवस्था और भूमि की आय की देखभाल जागीरदार के हाथों में नहीं रहत बल्कि राज्य के लगान-अधिकारियों के हाथों में रहती थी। शिवाजी ने पाटिल, कुल और देशमुख नामक पैतृक लगान-अधिकारियों को लगान वसूल करने के अधिका वंचित कर दिया और उनके स्थान पर वेतन-प्राप्त नवीन अधिकारी नियुक्त किये। तप लगान-अधिकारी को 'कारकुन' अथवा 'हवलदार' पुकारा गया, प्रान्त के अधिकारी 'सूबेदार' या 'मुखिया' कहा गया और कई प्रान्तों के लगान की देखभाल करने वाले अधि को 'सरसूबादार' पुकारा गया। शिवाजी ने अनुभव किया कि मलिक अम्बर द्वारा स्थ लगान-व्यवस्था उनके राज्य के लिए सर्वथा उपयुक्त रहेगी, इस कारण थोड़े परिवर्तन साथ उसी व्यवस्था को उन्होंने अपने राज्य में लागू किया था। इस व्यवस्था के अन प्रत्येक गाँव की भूमि की पैमाइश की जाती थी और पैदावार का अनुमान लगाया जाता पैमाइश के लिए रस्सी के स्थान पर लकड़ी के डण्डे का प्रयोग किया गया था। इस पै के आधार पर प्रत्येक किसान की पैदावार का अनुमान लगाकर उससे लगान माँगा जात **आरम्भ में शिवाजी ने पैदावार का 33% लगान के रूप में माँगा परन्तु बाद में जब अ स्थानीय करों को माफ कर दिया तब वह पैदवार का 40% लेने लगे।** शिवाजी ने 40 स्थानीय करों से किसानों को मुक्त कर दिया था, यह देखते हुए 40% लगान कोई अ न था। इससे किसानों को लाभ हुआ क्योंकि अब वे अनिश्चित करों के भार से मुक्त हो इसके अतिरिक्त, शिवाजी बाहर से आने वाले किसानों को मुफ्त भूमि देते थे और ज उस भूमि में समुचित पैदावार नहीं होती थी तब तक उस पर से लगान नहीं लेते थे। इस **शिवाजी ने किसानों को अपने राज्य में बसने के लिए प्रोत्साहन दिया था** किसानों को बीज और पशुओं की सहायता भी दी जाती थी जिसे सरकार धीरे-धीरे लेती थी। **शिवाजी लगान नकद और अन्न दोनों ही रूपों में लेते थे।**

लगान-व्यवस्था के लिए शिवाजी का राज्य 16 प्रान्तों में बाँटा गया था। प्रा 'तर्फ' और 'कौजों' में बाँटा गया था। 'तर्फ' का प्रधान कारकुन कहलाता था और प्रा अधिकारी सूबेदार होता था। कभी-कभी कई प्रान्तों की देखभाल के लिए एक सूबे

युक्ति भी की जाती थी। यद्यपि गाँव के प्राचीन पैतृक अधिकारी पाटिल और जिले के देशमुख अथवा देशपाण्डे पहले की भाँति अपने अधिकारों का उपभोग करते रहे परन्तु शिवाजी ने लगान की देखभाल के लिए नवीन अधिकारियों की नियुक्ति भी की थी।

शिवाजी की यह लगान-व्यवस्था किसानों के लिए लाभदायक रही। जार्विस ने लिखा है : "यह कहा जाता है कि उपद्रव, युद्ध और बेवफाई के होते हुए भी लगान में वृद्धि हुई और प्रजा समृद्धशाली हुई थी।"

6. धार्मिक नीति—शिवाजी एक सुसंस्कृत हिन्दू थे। हिन्दू धर्म की उदारता की भावना को उन्होंने ठीक प्रकार से समझा और अपने व्यवहार और नीति में उन्होंने उसका प्रयोग किया। समर्थ गुरु रामदास उनके आध्यात्मिक और धार्मिक गुरु थे। यह कहना तो उचित नहीं है कि गुरु रामदास ने शिवाजी के राजनीतिक उद्देश्यों के निर्माण में प्रमुख भाग लिया था परन्तु यह कहना सत्य है कि शिवाजी पर गुरु रामदास का प्रभाव धर्म और सदाचार का था और वे शिवाजी को प्रेरणा प्रदान करने वाली शक्ति थे। शिवाजी ने हिन्दुओं, ब्राह्मणों और गौरक्षा की दुहाई देते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति पूर्ण सहिष्णुता का व्यवहार किया था। वह दुर्गा-भवानी के पूजक थे परन्तु उन्होंने किसी धर्म के पैगम्बर या देवता का कभी अपमान नहीं किया। **इस्लाम के साथ उनका व्यवहार अत्यन्त उदार रहा।** मुहम्मद और कुरान के प्रति उनका व्यवहार आदरपूर्ण था। जब भी उन्हें कुरान की पुस्तक प्राप्त होती थी, वह उसे ससम्मान अपने मुसलमान साथियों को पढ़ने के लिए दे देते थे। उन्होंने कभी भी मस्जिदों को नहीं तोड़ा, मुसलमान स्त्रियों एवं बच्चों के प्रति युद्ध के अवसर पर भी सम्मानजनक व्यवहार किया तथा मस्जिदों, मुस्लिम सन्तों और पीरों को आर्थिक सहायता दी। राज्य की सेवा में मुसलमानों को लिया गया था, उनकी सेना और नौ-सेना में मुसलमान थे तथा उन्हें योग्यतानुसार उच्च पद दिये गये थे। इतिहासकार खफीखाँ ने भी, जो शिवाजी से सन्तुष्ट न था, उनकी धार्मिक नीति की प्रशंसा की है।

इस प्रकार, शिवाजी का शासन-प्रबन्ध बहुत श्रेष्ठ था। इतिहासकार स्मिथ जैसे इतिहासकारों का शिवाजी के राज्य को 'डाकू राज्य' (Robber State) कहना सर्वथा अनुचित है। साम्राज्य-निर्माण के साथ एक अच्छी शासन-व्यवस्था की स्थापना शिवाजी को इतिहास के महान् व्यक्तियों में स्थान प्रदान करती है। शिवाजी के शासन-प्रबन्ध की श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध होती है कि जब शिवाजी आगरा में औरंगजेब के द्वारा नजरबन्द कर लिये गये थे उस समय में भी उनके राज्य में कोई अव्यवस्था नहीं हुई और सम्पूर्ण शासन उसी प्रकार चलता रहा जैसे कि उनकी उपस्थिति में चलता था। इसे सर जदुनाथ सरकार ने 'मध्ययुगीन राजतन्त्र की एक अनौखी घटना' कहा है। एम.जी. रानाडे ने शिवाजी के असैनिक शासन-प्रबन्ध को निम्नलिखित विशेषताओं के कारण अन्य शासन-व्यवस्थाओं से पृथक माना है :

1. किलों के शासन-प्रबन्ध को विशेष महत्व देना।
2. किसी भी एक पद को एक ही परिवार तक सीमित न करना अथवा उस पद को पैतृक पद न बनाना।
3. अपने सैनिक और असैनिक अधिकारियों को जागीरें प्रदान न करना।
4. लगान-व्यवस्था में किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना।
5. ठेके पर भूमि न देना।

6. अष्ट-प्रधान का निर्माण जिसके प्रत्येक सदस्य को पृथक-पृथक कार्य दिया ग[illegible] था तथा जिनमें से प्रत्येक राजा और अपने साथियों के प्रति अपने कार्यों के लि[illegible] उत्तरदायी था।
7. शासन में सैनिक अधिकारियों की तुलना में असैनिक अधिकारियों को अधि[illegible] श्रेष्ठता प्रदान करना।
8. शासन में ब्राह्मण, प्रभु, मराठा आदि सभी जातियों को सम्मिलित करके उ[illegible] सन्तुलन बनाये रखने का प्रयत्न करना।

इस प्रकार, शिवाजी एक महान् राज्य-निर्माता ही न थे बल्कि एक महा[illegible] शासन-प्रबन्धक भी थे।

(स) एक स्थायी राज्य की स्थापना करने में शिवाजी की असफलता के कारण

शिवाजी की मृत्यु के 9 वर्ष पश्चात् ही उनके द्वारा स्थापित किया हुआ राज्य समाप्त हो गया, उनके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था नष्ट हो गयी, जागीरदारी प्रथा पुनः आरम्भ हो गयी, पद पुनः पैतृक आधार पर दिये जाने लगे तथा हिन्दू-समाज की विभिन्न परम्परागत ऐतिहासिक और सामाजिक कुप्रवृत्तियों ने पुनः अपना सिर उठा लिया। इसके विभिन्न कारण थे।

यह कहा जा सकता है कि शिवाजी का शासन-काल बहुत थोड़े समय का था। 1670 से 1680 ई. तक का समय उन्हें शासन-व्यवस्था के लिए प्राप्त हुआ था क्योंकि उससे पहले का समय मूलतः राज्य-संस्थापन का समय था। परन्तु यह उनके राज्य के पतन का मूल कारण नहीं माना जा सकता। उनके राज्य के अस्थायी होने के मूल कारण कुछ अन्य थे। **उनके हिन्दू-राज्य को सबसे पहला खतरा हिन्दू-रूढ़िवादिता से हुआ।** शिवाजी (और बाद के समय में बाजीराव प्रथम) की सफलताओं ने हिन्दू-रुढ़िवादिता को प्रोत्साहन दिया जिससे जातिवाद और कर्मकाण्ड को बल प्राप्त हुआ। इससे मराठा-समाज की एकता नष्ट हो गयी, उसमें छोटे और बड़े की भावना आ गयी, ब्राह्मणों और मराठों की श्रेष्ठता का विवाद खड़ा हो गया और ये अन्तर इतने बढ़ गये कि पूर्व और पश्चिम के ब्राह्मण तथा पहाड़ों के निवासी और मैदानों के निवासी आपस में अन्तर मानने लगे। स्वयं शिवाजी को भी इस जातिवाद के अपमान को सहन करना पड़ा। दक्षिण के ब्राह्मण उन्हें क्षत्री मानने को तैयार न थे। इसी कारण उन्होंने बनारस के पण्डित गागभट्ट को अपने राज्याभिषेक के लिए बुलाया था और इसी कारण वह बालाजी आवजी जैसे कायस्थ विद्वानों पर अधिक निर्भर करते थे। यह सभी बातें उनके राज्य की एकता और शक्ति में छेद करने वाली थीं। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "जाति जननक्रिया की भाँति बढ़ती है। यह राष्ट्रीय एकता के विरोध में है। जिस मात्रा में शिवाजी का हिन्दू-स्वराज्य का आदर्श रूढ़िवादिता पर आधारित था उसी मात्रा में उसकी मृत्यु के बीज उसमें स्वयं ही निहित थे।" **शिवाजी मराठों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और अपने 'वतनों' (जागीरों) से प्रेम करने की भावना को समाप्त नहीं कर सके थे।** अपने व्यक्तित्व के कारण वह उनकी सीमित वफादारी और पारस्परिक कलह की भावना को दबाने और उसे एक बड़े आदर्श के लिए प्रेरित करने में अवश्य सफल हुए थे परन्तु वह उसे समाप्त नहीं कर सके थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् मराठों की ये भावनाएँ पुनः जाग्रत होने लगीं। **शिवाजी के शासन की एक दुर्बलता यह भी थी कि उन्होंने जनसाधारण की शिक्षा, भावनात्मक एकता और सांस्कृतिक प्रगति के लिए ठोस**

कदम नहीं उठाये। उनका प्रभाव उनके स्वयं के व्यक्तित्व और चरित्र के कारण था जो सफल तो हुआ परन्तु उसमें चिरस्थायी होने वाले तत्वों का अभाव रह गया। **शिवाजी के शासन की एक दुर्बलता, मध्य-युग के सभी शासकों की भाँति, एकमात्र राजा के चरित्र और योग्यता पर निर्भर रहने की थी।** शिवाजी का उत्तराधिकारी शम्भाजी उनके समान योग्य सिद्ध न हुआ जिसके परिणामस्वरूप जो शक्ति शिवाजी ने स्थापित की थी वह उसे सुरक्षित न रख सका। **औरंगजेब का दक्षिण-भारत में आना और दक्षिण के सभी राज्यों को नष्ट करने के लिए मुगल-साम्राज्य की विशाल शक्ति का प्रयोग करना शिवाजी के द्वारा स्थापित किये हुए राज्य के विनाश का मूल कारण बना।** मुगल-साम्राज्य की शक्ति और सामर्थ्य मराठा-राज्य की तुलना में बहुत श्रेष्ठ थी। जब उसका प्रयोग कटिबद्ध होकर नव-स्थापित मराठा-राज्य के विनाश के लिए किया गया, तब मराठा-राज्य स्थिर न रह सका। शिवाजी के कार्य का महत्व तो इसी बात से बहुत था कि मराठे अपने राज्य के पतन के पश्चात् भी अपनी स्वतन्त्रता की भावना को न भूल सके और महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने के लिए कटिबद्ध होकर वर्षों तक मुगलों से संघर्ष कर सके तथा अन्त में न केवल महाराष्ट्र को ही स्वतन्त्र कर सके बल्कि मराठा-शक्ति के विस्तार के आधार का भी निर्माण करने में सफल हुए।

(द) शिवाजी का चरित्र, मूल्यांकन और इतिहास में उनका स्थान (शिवाजी एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में)

सरदेसाई ने शिवाजी के बारे में लिखा है : "निस्सन्देह, शिवाजी का व्यक्तित्व अपने ही युग का नहीं बल्कि सम्पूर्ण आधुनिक युग का भी असाधारण व्यक्तित्व है। अन्धकार के बीच में वह एक ऐसे नक्षत्र के समान चमकते हैं जो अपने समय से बहुत आगे थे ।" शिवाजी का चरित्र और व्यक्तित्व मराठा इतिहासकार के इस कथन की पुष्टि करता है। **शिवाजी का चरित्र प्रत्येक प्रकार से आदर्श माना जा सकता है। वह एक अच्छे पुत्र, वफादार मित्र, पत्नीप्रिय पति और प्रिय पिता थे।** वह अपनी माता का अत्यधिक सम्मान करते थे। उनके चरित्र के विकास में उनकी माता का बहुत बड़ा हाथ रहा। **दयालुता, सहिष्णुता, सद्व्यवहार, साहस, शौर्य, दृढ़-निश्चय, पवित्र विचार आदि सभी गुण उनमें थे।** अपने समय की परम्परा के अनुसार उन्होंने कई विवाह किये थे परन्तु अपनी सभी पत्नियों के प्रति उनका व्यवहार प्रेम का था। शिवाजी ने शिक्षा प्राप्त न की थी परन्तु अपने अनुभव से उन्होंने अच्छा व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया था। वह कुशल नीतिज्ञ, मनुष्यों के पारखी और परिस्थितियों को समझने वाले थे। शिवाजी एक अच्छे हिन्दू और दुर्गा-भवानी के पूजक थे। धर्म, धार्मिक ग्रन्थ और कहानियाँ उनके जीवन की प्रेरणा थे। उनका धर्म उनको सत्कार्य में लगाने वाला था। **उनकी धार्मिक प्रवृत्ति एक पहाड़ी झरने की भाँति स्वच्छ जल को अविरल गति से बहाने वाली थी जिसमें धर्मान्धता की गन्दगी न थी। उन्होंने सभी धर्मों का सम्मान किया और उनके साथ समान व्यवहार किया।** महाराष्ट्र के तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों और सन्तों से वह प्रभावित हुए थे और महाराष्ट्र का धार्मिक पुनर्जागरण इस बात पर आधारित था कि शक्ति के आधार पर लादी गयी मुसलमानी धार्मिक असहिष्णुता को सहन न किया जाय। शिवाजी के व्यक्तित्व पर धार्मिक पुनर्जागरण की उस भावना का प्रभाव स्पष्ट था। **शिवाजी एक कुशल और साहसी सैनिक थे।** अनेक युद्धों में उन्होंने अपने जीवन को संकट में डाला था। अफजलखाँ से भेंट करना, शाइस्ताखाँ पर अचानक उसके शहर और निवास-स्थान में प्रवेश करके आक्रमण करना, औरंगजेब से आगरा

मिलने जाना उनके जीवन की ऐसी घटनाएँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि शिवाजी अपने जीवन को खतरे में डालने से कभी नहीं झिझके। **शिवाजी एक योग्य सेनापति थे।** अपने देश की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल उन्होंने गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग किया और सुरक्षा के लिए अनेक दुर्गों का निर्माण कराया। शिवाजी किसी भी प्रकार की मादक वस्तुओं का प्रयोग नहीं करते थे और स्त्रियों के प्रति उनका व्यवहार आदरपूर्ण था। इस प्रकार शिवाजी सभी मानवीय गुणों से पूर्ण थे और अपने समय की नैतिकता से कहीं आगे थे।

शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी और वह भी ऐसी परिस्थितियों में जबकि औरंगजेब आलमगीर मुगल-साम्राज्य की सम्पूर्ण विशाल शक्ति को लेकर हिन्दू-राज्य तो क्या, दक्षिण के शिया-राज्यों को भी समाप्त करने पर तुला हुआ था। बीजापुर और मुगलों से निरन्तर युद्ध करके शिवाजी ने अपनी एक साधारण जागीर को दक्षिण-भारत के एक बड़े राज्य में परिवर्तित कर दिया। इस कार्य को करने में वह अकेले थे। उनसे पहले किसी भी मराठा सरदार ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की कल्पना भी नहीं की थी। स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी और संरक्षक कोंणदेव उनके इस विचार से सहमत न थे। यह कहना भूल होगी कि शिवाजी का राज्य एक 'युद्ध-राज्य' (Krieg State) था जो केवल युद्ध पर ही जीवित रह सकता था और युद्ध में ही आगे बढ़ सकता था। उनकी परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि अपने अस्तित्व को स्थापित करने और उसे स्थापित रखने के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध में लगना पड़ा था। बीजापुर से युद्ध किये बिना उनके राज्य का निर्माण सम्भव न था और बिना मुगलों से युद्ध किये उनके राज्य का अस्तित्व सम्भव न था। इस कारण युद्ध तो उन्होंने किये परन्तु युद्ध के साथ-साथ उनके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि शिवाजी का लक्ष्य केवल 'युद्ध-राज्य' तक ही सीमित न था।

शिवाजी एक महान् शासन-प्रबन्धक थे। असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार की शासन-व्यवस्था में उन्होंने अद्भुत योग्यता का परिचय दिया। शिवाजी ने शासन में पूर्णतया नवीन अन्वेषण किये हों, यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु उन्होंने दूसरों के ज्ञान से लाभ उठाकर अपनी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन किये थे। अकबर जैसे महान् शासन-प्रबन्धक ने भी शेरशाह के शासन से बहुत कुछ सीखा था। इस कारण शासन में नूतनता को जन्म देना ही एक शासक की योग्यता का मापदण्ड नहीं होता। शिवाजी की अष्टप्रधान-व्यवस्था, उनकी लगान-व्यवस्था, देशपाण्डे और देशमुख जैसे पैतृक पदाधिकारियों को बिना हटाये हुए उनकी शक्ति और प्रभाव को समाप्त करके किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करना, शासन में असैनिक अधिकारियों को महत्व देना तथा ऐसे शासन की स्थापना करना जो उनकी अनुपस्थिति में भी सुचारु रूप से चल सका, ऐसी बातें थीं जो उनके असैनिक शासन की श्रेष्ठता को सिद्ध करती हैं। **उनकी सैनिक-व्यवस्था भी उतनी ही श्रेष्ठ थी।** घुड़सवार-सेना और पैदल-सैनिकों में पदों का विभाजन, उनके वेतन को निश्चित करना, उनको ठीक समय से वेतन देना, उनकी भर्ती की स्वयं देखभाल करना, उनको योग्यतानुसार पद देना, आदि सभी कार्य ठीक थे। गुरिल्ला युद्ध-पद्धति उनकी सफलता के लिए उत्तरदायी थी, किलों की सुरक्षा का प्रबन्ध और उनके शासन की व्यवस्था शिवाजी की अपनी पृथक विशेषता थी और आठ महीने सेना को आक्रमणकारी युद्धों में लगाये रखना उनकी सर्वोत्तम सैनिक-शिक्षा थी। शिवाजी ने मराठा-सैनिकों को भारी हथियार रखने अथवा अधिक या भारी सामान ले जाने के लिए मना कर रखा था जिससे उनकी सेना में गतिशीलता अत्यधिक थी जो उनकी सफलता का मुख्य कारण थी।

मराठा-सैनिक स्त्रियों, दासियों आदि को अपने साथ नहीं ले जा सकते थे, अनावश्यक लूटमार नहीं कर सकते थे, कैम्प के नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकते थे और लूट के माल को छिपा नहीं सकते थे। शिवाजी ने इन सभी से सम्बन्धित विस्तृत नियम बनाये थे जिनका पालन कठोरता से किया जाता था। इसी कारण 17वीं शताब्दी में शिवाजी की सेना अजेय बन गयी थी। यही नहीं बल्कि **शिवाजी ने एक अच्छी नौ-सेना के निर्माण का भी प्रयत्न किया था।** शिवाजी की नौ-सेना अपने समुद्र-तट की रक्षा करने में ही समर्थ न थी बल्कि अपने व्यापार की सुरक्षा भी कर सकती थी। **शिवाजी ने मराठी भाषा को राजभाषा बनाया था** और एक राज्य-व्यावहारिक संस्कृत-कोष का भी निर्माण कराया था। इससे मराठी-साहित्य के निर्माण में सहायता मिली थी।

परन्तु इनसे भी अधिक शिवाजी की महानता एक राष्ट्र-निर्माता के रूप में है। शिवाजी का महानतम कार्य हिन्दू-मराठा-राष्ट्र का निर्माण करना और उनकी महानतम देन उसको स्वतन्त्रता की भावना प्रदान करना था। शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार किया। गुलाम रहकर वह बड़ी से बड़ी प्रतिष्ठा को स्वीकार करने के लिए तत्पर न थे। अपनी छः वर्ष की आयु में उन्होंने बीजापुर के सुल्तान के सम्मुख अपना सिर झुकाने से इंकार कर दिया था और औरंगजेब के दरबार में अपने को असम्मानित अनुभव करके उन्होंने दरबार की परम्परा को तोड़कर शक्तिशाली मुगल-बादशाह का उसके दरबार में (अप्रत्यक्ष रूप से) अपमान कर दिया था। अपने कार्य को उन्होंने बिना किसी विशेष सहायता के आरम्भ किया और यह अनुभव करके कि बढ़ती हुई मुस्लिम-शक्ति का विरोध मराठों की एकता के बिना सम्भव नहीं है, उन्होंने मराठों को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। अपने आकर्षक व्यक्तित्व और प्रारम्भिक सफलताओं के कारण वह शीघ्र ही योग्य मराठों को अपने नेतृत्व में एकत्र करने में सफल हो गये। आभाजी, रघुनाथ बल्लाल, समरजी पन्त, प्रतापराव गूजर, हमीरराव मोहिते, शिन्दोजी निम्बालकर, सम्बाजी मोर, तानाजी मालसुरे, सूर्यराव काकादे, सन्ताजी घोरपदे, धानाजी जादव, खाण्डेराव दाभादे, पार्सोजी भौंसले, सयाजी भौंसले, नेमाजी शिन्दे आदि अनेक ऐसे व्यक्ति थे जो शिवाजी के सहायक बने और जिनमें से अनेक ने शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् भी मराठों का नेतृत्व किया। सभी वर्गों से आये हुए इन योग्य व्यक्तियों ने शिवाजी के हिन्दू-राज्य की सेवाएँ कीं। खतरों के अवसरों पर इनमें से एक भी अपने कर्तव्य से विमुख नहीं हुआ, एक ने भी अपने राजा से बेवफाई नहीं की, अनेक ने अपने कर्तव्य की पूर्ति करते हुए सन्तोष से अपने जीवन को युद्धों में समाप्त किया और इस प्रकार सभी ने अपने त्याग और बलिदान से मराठा-राष्ट्र को जाग्रत करने में सहायता दी। **शिवाजी की मुख्य सफलता राज्य-विस्तार और धन की प्राप्ति में उतनी नहीं थी जितनी कि मराठों को एकता और आत्मविश्वास प्रदान करने में थी।** शिवाजी ने महाराष्ट्र और मराठा सरदारों को यह विश्वास दिया कि वह मुस्लिम शक्ति का सफलता से विरोध कर सकते थे और यही वह विश्वास था जिसके कारण मराठों ने 20 वर्षों (1687-1707 ई.) तक दृढ़तापूर्वक औरंगजेब की विशाल शक्ति का मुकाबला किया और मुगलों की कमर तोड़ दी। यह शिवाजी और प्रायः उनके एक सौ योग्य सरदारों की योग्यता और मुसलमानों से संघर्ष में प्राप्त सफलता का ही परिणाम था कि मराठा-राष्ट्र में एक नवीन साहस और आशा जागृत हुई थी तथा उनमें संघर्ष करने की शक्ति और अपनी अन्तिम विजय में विश्वास उत्पन्न हुआ था।

इस सभी का श्रेय शिवाजी को था। उन्होंने अकेले ही अपने संघर्ष को आरम्भ किया था, अपने आप ही अपने समर्थकों को एकत्र किया था, स्वयं अपनी सेना का संगठन किया था और

बिना किसी सहायता के एक संगठित राज्य, एक व्यवस्थित शासन और एक अंजेय सेना का निर्माण करने में सफलता पायी थी। शिवाजी से पहले मराठों की शक्ति दक्षिण के राज्यों में बिखरी हुई थी। उस समय तक मराठे या तो शान्तिप्रिय किसान थे अथवा दक्षिण के मुसलमानी राज्यों में सैनिक या सरदारों के रूप में सेवा-कार्य कर रहे थे। मराठे इन राज्यों की सेवा में अपनी शक्ति, योग्यता, वफादारी एवं रक्त की आहुति दे रहे थे परन्तु उन्हें नेतृत्व का अधिकार न था, वे सन्धि अथवा युद्ध का निश्चय नहीं करते थे और उनकी सेनाएँ अपनी सेनाएँ न थीं। शिवाजी ने मराठों की बिखरी हुई शक्ति को एकत्र किया तथा उनको एक राष्ट्र का स्वरूप प्रदान किया। शिवाजी ने उन्हें कट्टर और साहसी सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल शासन-प्रबन्धक बनाया तथा उन्हें यह सिद्ध करके दिखाया कि वे स्वयं अपने मालिक थे और स्वयं शासन कर सकते थे। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया, एक हिन्दू-राज्य का निर्माण किया और उस समय में किया जबकि मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था और उसका मुकाबला मुगलों से ही नहीं बल्कि दक्षिण की महत्वपूर्ण शक्तियों जैसे बीजापुर, पुर्तगाली और जंजीरा के सीदियों से भी था। **शिवाजी पहले हिन्दू थे जिन्होंने मध्य-युग की बदलती हुई युद्ध की नैतिकता को समझा।** उनके विरोधी इतिहासकार चाहे उन्हें डाकू कहें, चाहे उन्हें विद्रोही सामन्त पुकारें और चाहे औरंगजेब ने उनको 'पहाड़ी चूहा' कहकर अपनी सन्तुष्टि कर ली हो, परन्तु **शिवाजी ने हिन्दू युद्ध-नीति की नैतिकता में एक नवीन अध्याय जोड़ा कि 'युद्ध जीतने के लिए लड़ा जाता है न कि शौर्य-प्रदर्शन के लिए।'** उन्होंने युद्ध-नीति को अमानवीय, अनैतिक अथवा शौर्यरहित नहीं बनाया था बल्कि समय के अनुकूल उसके लक्ष्य को एक मोड़ दिया था जो उचित और आवश्यक था। डॉ. सरकार के अनुसार, "आधुनिक समय में भारत में ऐसी कुशलता और जीवन-शक्ति का परिचय किसी अन्य हिन्दू ने नहीं दिया। अपने उदाहरण से उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दू-जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, शत्रुओं को परास्त कर सकती है, कला और साहित्य की रक्षा कर सकती है, व्यापार और उद्योग की उन्नति कर सकती है और एक ऐसी नौ-सेना का निर्माण कर सकती है जो विदेशी नौ-सेना का मुकाबला करने में समर्थ हो।" शिवाजी ने अपने आदर्श और जीवन के उदाहरण से हिन्दुओं को अपने पूर्ण विकास का मार्ग बताया। उनकी धार्मिक सहनशीलता आधुनिक समय के लिए भी उदाहरणस्वरूप है। शक्ति और साम्राज्य को संचय करने के पश्चात् तथा औरंगजेब द्वारा जागृत किये गये धर्मान्धता के वातावरण में भी इस्लाम और मुसलमानों के प्रति उनका व्यवहार और मुसलमानों की वफादारी प्राप्त करने में उनकी सफलता अनुकरणीय है। शिवाजी निस्सन्देह महान् थे। इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "मैं उन्हें हिन्दू-जाति द्वारा उत्पन्न किया हुआ अन्तिम महान् क्रियात्मक व्यक्ति और राष्ट्र-निर्माता मानता हूँ।" उन्होंने पुनः लिखा है : "शिवाजी ने यह सिद्ध कर दिखाया कि हिन्दुत्व का वृक्ष वास्तव में गिरा नहीं है बल्कि वह सदियों की राजनीतिक दासता, शासन से पृथकत्व और कानूनी अत्याचार के बावजूद भी पुनः उठ सकता है, उसमें नये पत्ते और नयी शाखाएँ आ सकती हैं और वह एक बार फिर आकाश में सिर उठा सकता है।" इस प्रकार शिवाजी का हिन्दू-मराठा-राष्ट्र के निर्माण में सहयोग और हिन्दू-मराठा-शक्ति के उत्थान में योगदान बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

[3]

शम्भाजी (1680-1689 ई.)

शम्भाजी शिवाजी का सबसे बड़ा पुत्र था। शिवाजी ने उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से किया था। परन्तु वह आरम्भ से ही अभिमानी, क्रोधी और भोग-विलासी हो

गया था। अपनी मृत्यु के अवसर पर शिवाजी ने उसे पन्हाला के किले में कैद कर रखा था। रायगढ़ में शिवाजी के मन्त्रियों ने शम्भाजी को अयोग्य मानकर उसके छोटे और सौतेले भाई राजाराम को छत्रपति बनाने का निर्णय किया और गुप्त रूप से इसकी तैयारी की। परन्तु इस गुप्त मन्त्रणा में सेनापति हम्मीरराव मोहिते को सम्मिलित नहीं किया गया था। अतएव शम्भाजी ने अपने आप को पन्हाला के किले से मुक्त कर लिया और सेनापति हम्मीरराव मोहिते की सहायता से रायगढ़ को जीत लिया। उसने राजाराम, उसकी माता सूर्याबाई तथां पुराने पेशवा, सचिव को सुमन्त को बन्दीगृह में डाल दिया तथा जुलाई 1680 ई. में गद्दी पर अधिकार कर लिया। गद्दी पर बैठने के समय से क्रूरता और विलासप्रियता का जो परिचय उसने दिया, वह उसकी मृत्यु तक चला। 1681 ई. में औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर शम्भाजी से सहायता माँगने दक्षिण-भारत आया। शम्भाजी ने उसे सुरक्षा तो दी परन्तु उसकी कोई विशेष सहायता न की । 1682 ई. में औरंगजेब लगभग तीन लाख की विशाल सेना लेकर दक्षिण-विजय की अपनी चिर-अभिलाषा की पूर्ति के लिए स्वयं दक्षिण-भारत पहुँच गया। 1686 ई. में बीजापुर और 1687 ई. में गोलकुण्डा को विजय करने के पश्चात् औरंगजेब ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति शम्भाजी के विरुद्ध लगा दी। शम्भाजी ने साहसपूर्वक मुगलों का मुकाबला किया परन्तु अन्त में अपनी असावधानी के कारण 1689 ई. में वह अपने मन्त्री कवि कलश के साथ पकड़ा गया। औरंगजेब ने उससे अपने किलों और सम्पूर्ण खजाने को मुगलों को सौंप देने की माँग की। शम्भाजी ने इन माँगों को ठुकराकर औरंगजेब की पुत्री से अपने विवाह का प्रस्ताव रखा। औरंगजेब के आदेश से कई दिनों तक कठोर यातनाएँ देने के पश्चात् शम्भाजी को कत्ल कर दिया गया और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तों को डाल दिये गये। इस प्रकार शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का अन्त हुआ।

शम्भाजी योग्य और साहसी सैनिक था। परन्तु वह विलासी और क्रूर था। उसमें राजनीतिज्ञता का अभाव था। उसने औरंगजेब के पुत्र अकबर की सहायता करके मुगल-साम्राज्य को दुर्बल करने का प्रयत्न नहीं किया और न उसने शिवाजी द्वारा संगठित राज्य की शक्ति को बनाये रखते का प्रयत्न किया। शम्भाजी असफल रहा परन्तु अपनी मृत्यु के अवसर पर प्रकट किये गये उसके साहस ने मराठा राष्ट्र को मुगलों से संघर्ष करने की प्रेरणा दी। मराठे अपने राजा की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए एकसूत्र में बँध गये और उन्होंने राजाराम के नेतृत्व में मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम प्रारम्भ किया।

[4]

मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम (1689-1707 ई.)

राजाराम (1689-1700 ई.) और शिवाजी द्वितीय तथा ताराबाई (1700-1707 ई.)

शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् मराठों ने रायगढ़ में उसके भाई राजाराम को मराठा-छत्रपति घोषित किया। उस समय राजाराम की आयु लगभग 20 वर्ष थी। शम्भाजी की विधवा पत्नी येसूबाई ने राजाराम को विशालगढ़ भाग जाने की सलाह दी और उसने स्वयं रायगढ़ की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। राजाराम विशालगढ़ भाग गया और मुगलों ने रायगढ़ पर अधिकार कर लिया। यहीं पर येसूबाई और उसके पुत्र शाहू को कैद किया गया तथा उन्हें औरंगजेब के पास भेज दिया गया। राजाराम को विशालगढ़ से भी भागना पड़ा और उसने कर्नाटक जाकर जिंजी के किले में शरण ली। प्रायः सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर मुगलों का अधिकार हो गया और औरंगजेब का दक्षिण-भारत को जीतने का स्वप्न साकार हुआ। कुछ

समय के लिए ऐसा प्रतीत हुआ मानो शिवाजी का सम्पूर्ण परिश्रम बेकार हो गया हो। परन्तु उसी समय जबकि यह प्रतीत हुआ कि सभी कुछ नष्ट हो चुका है, शिवाजी द्वारा स्थापित राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित हुई। असम्मान और दुर्भाग्य की उन परिस्थितियों ने ऐसे राष्ट्रभक्तों को खड़ा कर दिया जिन्होंने शिवाजी की धरोहर को अपने चरित्र में प्राप्त किया था। मराठों की दृढ़ता और साहस ने मुगलों की विशाल शक्ति को पुनः चुनौती दी और वे अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए कटिबद्ध हो गये। यहाँ से मराठों का स्वतन्त्रता-संग्राम आरम्भ हुआ जो उस समय तक चलता रहा जब तक कि मराठों ने महाराष्ट्र को स्वतन्त्र नहीं करा लिया और शाहू को मराठा-छत्रपति स्वीकार नहीं कर लिया गया। आरम्भ में राजाराम ने इस संघर्ष का नेतृत्व किया। राजाराम ने अपने पिता से कुछ महान् गुण प्राप्त किये थे। वह दृढ़-निश्चयी और स्वतन्त्रता-प्रिय था। उसका सबसे बड़ा गुण यह था कि वह विश्वास कर सकता था और विश्वास पा सकता था। वह अनेक वफादार और योग्य व्यक्तियों को अपने निकट एकत्र कर सका। उसने स्वयं को राजा भी नहीं माना। उसका कहना था कि वह तो शाहू (जो औरंगजेब की कैद में था) का प्रतिनिधि मात्र था। उस समय उसे प्रहलाद नीराजी, रघुनाथपन्त हनुमन्ते और रामचन्द्र नीलकण्ठ जैसे कुशल नीतिज्ञ और सन्ताजी घोरपदे तथा धानाजी जादव जैसे महान् सेनापति प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त, उस समय अनेक ऐसे मराठा सरदारों का उत्कर्ष हुआ जिन्होंने मुगलों की शक्ति की कमर तोड़ दी।

इस युद्ध में राजाराम ने मराठा सरदारों को अपनी सेना एकत्रित करने, मुगलों से अपनी इच्छानुसार युद्ध करने और जिस भूमि को वह जीत सकें उस भूमि को अपनी जागीर बनाने की स्वतन्त्रता और अधिकार दे दिया। इससे अनेक मराठा सरदारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। विभिन्न मराठा सरदार अपनी-अपनी सेनाओं को लेकर विभिन्न स्थानों पर आक्रमण और युद्ध करने लगे। एक युद्ध द्वारा इस संघर्ष का निर्णय सम्भव न था। स्थान-स्थान पर मराठा सरदार मुगल-सेना पर आक्रमण करते थे, अवसर पाने पर उन्हें परास्त करते थे, उनकी रसद को लूटते थे और अवसर न होने पर भाग जाते थे। औरंगजेब की सेना इस प्रकार के युद्ध के लिए तत्पर न थी और न वह मराठों का ऐसे युद्ध में मुकाबला कर सकी। जब मुगल सेना ने जिंजी पर अधिकार किया तो राजाराम विशालगढ़ भाग गया और विशालगढ़ पर आक्रमण हुआ तो वह सतारा भाग गया। इसी प्रकार मराठे कभी कर्नाटक में थे तो कभी महाराष्ट्र में और जब वे पठारी प्रदेश से भगा दिये गये तो उन्होंने मालवा और गुजरात के उपजाऊ प्रदेशों पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। मराठे सभी जगह थे और कहीं पर नहीं थे। एक ही युद्ध में अपनी शक्ति और भाग्य का निर्णय करने के लिए वे तैयार न थे और सम्मान तथा असम्मान का प्रश्न उनके सामने न था। महाराष्ट्र से मुगलों को निकालना उनका लक्ष्य था चाहे उसका तरीका कुछ भी हो। जनसाधारण की सहानुभूति उनके साथ थी और दिन का किसान रात का सैनिक था। मराठों के इस संघर्ष की आत्मा महाराष्ट्र की जनता थी जिसने मुगलों द्वारा की गयी बर्बादी को सहन करते हुए अपने सरदारों और नेताओं को जीवन, धन और शक्ति दी। एक प्रकार से महाराष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सैनिक था, प्रत्येक घर मराठा सैनिकों का सुरक्षा-स्थल था और प्रत्येक गाँव मुगलों के विरुद्ध एक किला था। मुगल सतारा को पुनः अपने अधिकार में करने में सफल हो गये और उसी समय राजाराम की मृत्यु हो गयी (1700 ई.)। परन्तु मराठों ने अपने संघर्ष को समाप्त नहीं किया।

राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने चार वर्षीय पुत्र को 'शिवाजी द्वितीय' के नाम से गद्दी पर बैठाया और मुगलों से संघर्ष जारी रखा। ताराबाई एक

योग्य और महत्वाकांक्षी स्त्री थी। विशालगढ़ और पन्हाला के किलों पर मराठों का आधिपत्य पहले ही हो चुका था। अब उसके नेतृत्व में मराठों ने अन्य स्थानों को भी जीतने का प्रयत्न किया। औरंगजेब इस युद्ध में सफल न हो सका। वह और उसकी सेना हताश हो गयी। मराठों और मुगलों में सन्धि की चर्चा भी हुई परन्तु उसका कोई परिणाम न निकला और संघर्ष चलता रहा। धीरे-धीरे मराठों ने बसन्तगढ़, सिंहगढ़, रायगढ़, सतारा आदि किलों को जीत लिया और उन्होंने दूर-दूर के प्रान्तों और बुरहानपुर, सूरत, भड़ौंच जैसे समृद्ध नगरों पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये। ऐसी परिस्थितियों में जबकि मराठे महाराष्ट्र को स्वतन्त्र करने में ही नहीं बल्कि मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने और औरंगजेब की छावनी तक को लूटने में सफलता पा रहे थे, मार्च 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। प्रायः 20 वर्ष तक मराठों का यह स्वतन्त्रता-संग्राम तब तक चलता रहा जब तक कि मुगलों ने शाहू को मराठों का छत्रपति स्वीकार नहीं कर लिया।

इस स्वतन्त्रता-संग्राम ने औरंगजेब और मुगलों की सैनिक-शक्ति को दुर्बल बना दिया। इससे मराठों को अनेक योग्य राजनीतिज्ञ और साहसी सेनापति प्राप्त हुए तथा मराठों की सैनिक-शक्ति तथा महत्वाकांक्षाओं का विस्तार हुआ।

9

मुगल-साम्राज्य का विघटन

औरंगजेब की मृत्यु के समय से मुगल-साम्राज्य की शक्ति और वैभव का सूर्य अस्त हो गया। मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया यद्यपि औरंगजेब के समय में ही आरम्भ हो चुकी थी तब भी यह स्वीकार नहीं किया जाता कि उसके समय में उत्पन्न हुई समस्याएँ इतनी गम्भीर थीं कि उनका समाधान सम्भव न हो पाता। निश्चय ही उस समय भी मुगल-सत्ता भारत के सभी भागों में सर्वमान्य थी और यद्यपि स्थान-स्थान पर उसका विरोध आरम्भ हो चुका था परन्तु तब भी कोई विरोधी ऐसा न था जो अपने को पूर्ण स्वतन्त्र कहने की स्थिति में हो। अपने-अपने क्षेत्रों में मुगल-सत्ता को चुनौती देने वाले सभी विरोधी अधिक से अधिक उसकी अधीनता में स्वतन्त्र शासन और अपने-अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए संघर्ष कर रहे थे। इस प्रकार वे सभी सुरक्षात्मक युद्ध कर रहे थे। मराठे, राजपूत, सिख आदि ऐसी ही विरोधी शक्तियाँ थीं। इनमें से कोई भी आक्रमणकारी नीति में संलग्न न था और इनमें से कोई भी मुगल-साम्राज्य को नष्ट करके उसके स्थान को ग्रहण करने की स्थिति में तो क्या उससे समता प्राप्त करने की स्थिति में भी न था। निस्सन्देह, यदि औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में से कोई भी योग्य होता तो वह साम्राज्य के विघटन की क्रिया को रोक सकता था। उस समय में भी साम्राज्य का भाग्य बादशाह की योग्यता अथवा अयोग्यता से बँधा हुआ था। यदि साम्राज्य को उस समय एक सुयोग्य शासन-प्रबन्धक और अच्छा सेनापति बादशाह के रूप में प्राप्त हो जाता तो मुगल-साम्राज्य का पतन न होता। परन्तु ऐसा न हुआ। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों में कोई भी योग्य सिद्ध न हुआ। इसके विपरीत, एक के बाद एक अयोग्य, दुर्बल और विलासप्रिय मुगल बादशाहों ने मुगल-शक्ति और वैभव को नष्ट करने में सहायता दी। निस्सन्देह, उत्तरकालीन मुगल बादशाह मुगल-साम्राज्य के विघटन और पतन के लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थे। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न परिस्थितियाँ भी साम्राज्य के विघटन के लिए उत्तरदायी हुईं।

औरंगजेब ने अपनी मृत्यु के अवसर पर साम्राज्य को विभिन्न संकटों से ग्रस्त छोड़ा जिनका हल उसके उत्तराधिकारी न निकाल सके। 18वीं सदी के आरम्भ में साम्राज्य विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासकीय संकटों से ग्रस्त था जिनका समाधान सम्भव न हो सका। इस प्रकार उन संकटमय परिस्थितियों ने भी साम्राज्य के विघटन को आरम्भ किया। डॉ. सतीशचन्द्र ने मुगल-साम्राज्य के विघटन और पतन का उत्तरदायित्व मनसबदारी एवं जागीरदारी व्यवस्थाओं की असफलता पर डाला है। उनके अनुसार मध्यकालीन भारत में राजनीतिक शक्ति मोटे तौर पर बादशाह के अतिरिक्त समाज के दो वर्गों में निहित थी। उनमें से एक वर्ग जमींदारों का था जो भूमि के पैतृक स्वामी थे और पैतृक आधार पर ही कुछ विशेष अधिकारों का उपयोग करते थे। उन्हें राय, राजा, ठाकुर, खुत,

देशमुख आदि नामों से जाना जाता था। लगान वसूल करने, शासन करने और सैनिक दृष्टि से उनका स्थान साम्राज्य में सर्वदा महत्वपूर्ण बना रहा था। मुगल-शासकों ने उनकी शक्ति को तोड़कर किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया था। परन्तु वे इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त न कर सके थे। इसके विपरीत, औरंगजेब और उसके बाद के समय में उनके प्रभाव में वृद्धि हुई। उनके प्रभाव का मुख्य दोष यह था कि उससे क्षेत्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उसका लाभ शासन में प्रभावशाली समाज के दूसरे वर्ग—अमीर-वर्ग—ने उठाया। अमीर-वर्ग ने साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हेतु उठाया जिसमें जमींदार-वर्ग की क्षेत्रीय भावनाओं ने सहयोग प्रदान किया। इस प्रकार जमींदार-वर्ग ने साम्राज्य के विघटन में सहयोग दिया। समाज के दूसरे प्रभावशाली वर्ग—अमीर-वर्ग—ने इस विघटन की प्रक्रिया को सफल बनाया। अमीर-वर्ग में वे व्यक्ति सम्मिलित थे जिन्हें अपने राज्यों का शासन करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया गया था, जिन्हें बड़ी-बड़ी जागीरें और मनसब दिये गये थे अथवा जिन्हें सूबेदार अथवा अन्य पद प्रदान करके भूमि सौंपी गयी थी और उससे सम्बन्धित प्रशासकीय उत्तरदायित्व दिये गये थे। विभिन्न राजपूत शासक, सूबेदार, बड़े और छोटे मनसबदार आदि इस अमीर-वर्ग की श्रेणी में आते थे। अकबर के समय में इस वर्ग को स्पष्ट और नियमित संगठन प्रदान किया गया था। मुगलों के शासन को 'कुलीनों का शासन' भी पुकारा गया है। इसी से स्पष्ट है कि साम्राज्य में इन कुलीनों अथवा अमीरों का कितना अधिक महत्व था। वह वर्ग, धर्म, देश, कबीलों आदि के आधार पर विभक्त था और इन आधारों पर उनके पृथक-पृथक गुट बने हुए थे। परन्तु इनमें से प्रत्येक गुट का मूल मन्तव्य राजनीतिक सत्ता को अधिकतम अपने हाथों में रखना था। दुर्बल उत्तरकालीन मुगल-सम्राटों के समय में इन गुटों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, द्वेष और शक्ति-संघर्ष ने न केवल बादशाहों के सम्मान को नष्ट किया अपितु सामाज्य के विघटन की प्रक्रिया को भी तीव्र किया। इस प्रकार जमींदारों की क्षेत्रीय भावनाओं और अमीरों की महत्वाकांक्षाओं और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने मुगल-साम्राज्य के विघटन में एक बड़ा भाग लिया।

औरंगजेब के समय में कुछ धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक तनावों के कारण जाटों, सिखों और मराठों ने मुगल-साम्राज्य से संघर्ष किया। उनमें से कोई भी उस समय अपने संघर्ष में पूर्णतया सफल न हुआ। परन्तु उन सभी का प्रभाव स्थायी रहा। अपने-अपने क्षेत्रों में जाटों और सिखों ने औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् भी अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया। उनके संघर्ष ने भी मुगल-साम्राज्य को दुर्बल किया और अप्रत्यक्ष रूप से मुगल-साम्राज्य के विघटन में भाग लिया। औरंगजेब ने राजपूत-राज्यों को भी असन्तुष्ट कर दिया था जिससे उसी के समय में महत्वपूर्ण राजपूत-राज्यों से मुगलों का संघर्ष आरम्भ हो गया था। औरंगजेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने भी राजपूत-शासकों को दबाने की नीति अपनायी यद्यपि वह उसमें सफल न हुआ। बाद में मुगल-सम्राटों को राजपूतों से समझौते की नीति अपनानी पड़ी। परन्तु एक लम्बे समय तक मुगल-राजपूत-संघर्ष ने दोनों की शक्ति को दुर्बल किया। इसके अतिरिक्त इन दोनों की सम्मिलित शक्ति का प्रयोग साम्राज्य के हित में न किया जा सका। इसके विपरीत, राजपूत-शासकों ने मुगल बादशाहों की दुर्बलता का लाभ उठाकर अपने प्रभाव और अधिकार-क्षेत्र को विस्तृत किया। औरंगजेब के समय में ही मराठों-मुगलों का संघर्ष आरम्भ हुआ था। आरम्भ में मराठों का उद्देश्य महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता मात्र था। उसके पश्चात् उनका उद्देश्य मुगल बादशाह से सम्पूर्ण दक्षिण-भारत से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकार को प्राप्त करना हो गया। परन्तु, अन्त में,

मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर उन्होंने उत्तर-भारत में भी प्रवेश किया और 1740 ई. तक गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड में अपने प्रभाव को स्थापित करने में सफलता पायी। राजपूतों के संघर्ष और मराठों की बढ़ती हुई महत्वाकांक्षाओं ने भी, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के विघटन को तीव्र किया।

इसके अतिरिक्त, औरंगजेब के समय में ही मुगल-साम्राज्य विभिन्न आर्थिक और प्रशासकीय संकटों से ग्रस्त हो गया था। उस समय में ही अमीरों एवं उनके मनसबों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी थी और उनको देने के लिए भूमि अथवा जागीरों में कमी हो गयी थी। इस समस्या को 'बेजागीरी' की समस्या पुकारा गया। औरंगजेब ने इस समस्या का हल निकालने के लिए कागजी तौर पर जागीरों की आय को बढ़ा कर दिखाया। इससे लाभ के स्थान पर हानि हुई। इससे किसानों के आर्थिक भार में वृद्धि हुई क्योंकि अमीरों ने उनसे अधिक लगान की माँग की। परन्तु तब भी अमीर वह आय न पा सके जो कागजों में दिखायी गयी थी। इससे अमीरों के असन्तोष में वृद्धि हुई। इसके अतिरिक्त युद्धों के बढ़ते हुए व्यय, बादशाहों और अमीरों की बढ़ती हुई विलासिता आदि ने भी साम्राज्य के आर्थिक और प्रशासकीय ढाँचे को दुर्बल किया। किसानों पर अत्यधिक आर्थिक भार की वृद्धि के बावजूद भी साम्राज्य की आय उसके व्यय के बराबर न हो सकी। इससे किसान, मजदूर, व्यापारी और अमीर सभी आर्थिक संकट से ग्रस्त हुए। उसका कुप्रभाव साम्राज्य के शासन पर पड़ा। दरबार में गुटबन्दियाँ बढ़ीं, अमीरों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने की अभिलाषाएँ कीं, केन्द्रीय शासन शिथिल हो गया और उसकी सैनिक-शक्ति भी दुर्बल हो गयी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ये आर्थिक और प्रशासकीय संकट बढ़ते गये और उन सभी ने मुगल-साम्राज्य के विघटन में भाग लिया।

औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारी बहादुरशाह के समय में एक अन्य समस्या मुगल-दरबार में उत्पन्न हो गयी। उसके समय में अमीरों की गुटबन्दी तीव्र हो गयी और उस गुटबन्दी का प्रमुख कारण वजीर के पद को प्राप्त करना था। बाद के मुगल बादशाहों के समय में यह समस्या अत्यन्त गंभीर हो गयी। दुर्बल बादशाहों की उपस्थिति में एक योग्य वजीर अथवा उसके पद को ग्रहण करने वाला व्यक्ति ही शक्ति को केन्द्रित करने का आधार बन सकता था। इस कारण, वजीर के पद को प्राप्त करना प्रत्येक गुट की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा बन गया। परन्तु इससे दो प्रकार से साम्राज्य की हानि हुई। एक दरबार में गुटबन्दी तीव्र हुई और दरबार से बाहर की शक्तियों ने भी उसमें हस्तक्षेप किया। दूसरे, मुगल बादशाह और वजीर में भी सत्ता के लिए संघर्ष हुआ। इससे बादशाह के सम्मान और शक्ति को हानि पहुँची। उसने भी साम्राज्य के विघटन में सहायता दी।

बादशाह बहादुरशाह (1707-1712 ई.)

औरंगज़ेब ने अपनी मृत्यु से पहले अपने जीवित पुत्रों में साम्राज्य को विभाजित करने की वसीयत की थी। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के युद्ध को टाला नहीं जा सका और उसके तीन जीवित पुत्रों—शाहजादा मुअज्जम (जिसे शाहआलम की उपाधि दी गयी थी), शाहजादा आजम और शाहजादा कामबख्श में सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। उस समय शाहआलम जमरूद में, आजम अहमदनगर के निकट और कामबख्श बीजापुर में था। शाहआलम ने शीघ्रता से बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया और अपने को बहादुरशाह के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया। उसके पुत्र अजीम-उस-शान ने अपने पिता की आज्ञा से आगरा पर अधिकार कर लिया। जून 1707 ई. में बहादुरशाह भी आगरा पहुँच गया।

इस प्रकार आरम्भ में ही बहादुरशाह के अधिकार में मुगलों की राजधानी, खजाना और उत्तर-भारत के महत्वपूर्ण प्रदेश आ गये। आजम ने दक्षिण-भारत में अपने को मुगल बादशाह घोषित किया और आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। उस समय उसका पुत्र बीदरबख्त अहमदाबाद में था जो शीघ्र आगरा पहुँच सकता था। परन्तु शंकावश आजम ने उसे आगरा की ओर बढ़ने के आदेश न दिये जिससे आगरा बहादुरशाह के आधिपत्य में चला गया। आजम अपनी सेना सहित आगरा के निकट जाजऊ पहुँचा। वहाँ बहादुरशाह उसके मुकाबले के लिए तत्पर था। बहादुरशाह ने अपने पिता की इच्छानुसार साम्राज्य को बाँटने का प्रस्ताव रखा परन्तु आजम ने उसे ठुकरा दिया जिससे युद्ध का दोष उसके सिर हो गया। 18 जून, 1707 ई. को दोनों शाहजादों में युद्ध हुआ जिसमें आजमशाह की पराजय हुई और वह युद्ध में मारा गया। सबसे छोटे शाहजादे कामबख्श ने अपने को बीजापुर में मुगल बादशाह घोषित किया था। उत्तर-भारत की कुछ समस्याओं से निबटकर बहादुरशाह 1708 ई. में दक्षिण-भारत पहुँचा। उसने कामबख्श से भी समझौते का प्रस्ताव रखा परन्तु कामबख्श तत्पर न हुआ। 13 जनवरी, 1709 ई. को दोनों भाइयों में युद्ध हुआ। कामबख्श की पराजय हुई, वह गम्भीर रूप से घायल हुआ और उसी रात्रि को उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार, अपने दोनों भाइयों को समाप्त करके बहादुरशाह मुगल-साम्राज्य का एकछत्र बादशाह बन गया।

बादशाह बनने के अवसर पर बहादुरशाह की आयु 63 वर्ष थी। उससे किसी नवीन नीति की आशा नहीं की जा सकती थी और न उसने कुछ ऐसा किया ही। बहादुरशाह धार्मिक दृष्टि से औरंगजेब की तुलना में बहुत उदार था और यह विचार प्रकट किया गया है कि यदि वह अधिक समय जीवित रहता तो, सम्भवतया, औरंगजेब के समय की अनुदार नीति धीरे-धीरे समाप्त कर दी जाती। परन्तु डॉ. सतीशचन्द्र ने इसके विपरीत विचार प्रकट किया है। उनके अनुसार बहादुरशाह ने ऐसा कुछ भी नहीं किया जिससे यह माना जा सके कि वह शासन में उदारता की नीति अपनाता। वस्तुतः यही मत उसकी नीतियों का अवलोकन करते हुए अधिक तर्कसंगत लगता है । बहादुरशाह ने औरंगजेब की नीतियों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया अपितु उनका आधार पहले की भाँति ही रहा।

बहादुरशाह की राजपूतों के प्रति नीति अस्थिर रही। औरंगजेब की भाँति उसने भी उनको अपने अधिकार में रखने की चेष्टा की और उस उद्देश्य में असफल होकर उनसे समझौता किया। तत्कालीन उदयपुर-नरेश अमरसिंह, मारवाड़-नरेश अजीतसिंह और अम्बर (जयपुर)-नरेश जयसिंह (जिसे शाहजादा आजम ने सवाई मिर्जा राजा की उपाधि दी थी) से उसके सम्बन्ध अस्थिर रहे। आरम्भ में अजीतसिंह और जयसिंह ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। बहादुरशाह ने जोधपुर और अम्बर को अपने प्रत्यक्ष शासन में ले लिया। परन्तु जब वह कामबख्श से युद्ध करने दक्षिण-भारत गया तब उनसे समझौता कर गया। परन्तु जब वह दक्षिण में था तभी अजीतसिंह और जयसिंह ने राजा अमरसिंह से मिलकर मुगलों से पुनः युद्ध छेड़ दिया। बहादुरशाह ने दक्षिण-भारत से लौटने पर राजपूतों से पुनः युद्ध आरम्भ किया परन्तु अधिक सफलता न मिली। उसी अवसर पर बन्दा बैरागी के नेतृत्व में पंजाब और सरहिन्द में सिखों ने विद्रोह कर दिया । बहादुरशाह ने उस समय राजपूतों से समझौता कर लिया और अजीतसिंह तथा जयसिंह को क्रमशः उनकी राजधानियाँ जोधपुर और अम्बर वापस कर दीं। इस प्रकार बहादुरशाह न तो राजपूतों को अपनी अधीनता में ले सका और न उनको अपना विश्वासपात्र मित्र बना सका। औरंगजेब की भाँति उसने भी बाध्य होकर उनको अपनी अधीनता में प्रायः स्वतन्त्र स्वीकार कर लिया।

गुरु गोविन्दसिंह ने उत्तराधिकार के युद्ध में बहादुरशाह का साथ दिया था। इस कारण बहादुरशाह को सिख-विद्रोह की कोई आशंका न थी। परन्तु गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के प्रायः डेढ़ वर्ष पश्चात् ही सम्पूर्ण पूर्वी पंजाब में सिखों ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह का नेता था बन्दा बैरागी। बन्दा एक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। उसके बारे में कहा गया कि उसमें गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा का निवास था। उसने अपने को 'सच्चा पादशाह' घोषित किया, अपनी टकसाल चलाई और एक स्वतन्त्र सिख-राज्य की स्थापना का प्रयत्न किया। बहादुरशाह ने सिखों के विद्रोह को दबाना राजपूतों को दबाने की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण समझा। उसने उस विद्रोह को दबाने के आदेश अपने अधिकारियों को दिये और राजपूतों से समझौता करने के पश्चात् स्वयं भी पंजाब गया, परन्तु बहादुरशाह सिख-विद्रोह को समाप्त करने में असफल रहा। उसकी मृत्युपर्यन्त बन्दा बैरागी को पकड़ा न जा सका और सिख गुरिल्ला युद्ध-पद्धति से मुगलों से सफलतापूर्वक युद्ध करते रहे।

मराठों के प्रति भी बहादुरशाह की नीति अस्थिर रही। उत्तराधिकार के युद्ध के आरम्भ होने से पहले ही जुल्फिकारखाँ के परामर्शानुसार आजमशाह ने शम्भाजी के पुत्र शाहू को मुगल-छावनी छोड़कर चले जाने का अवसर दे दिया था। उसका आशय था कि शाहू के महाराष्ट्र में पहुँच जाने से मराठों में फूट पड़ जायेगी क्योंकि राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को मराठा-छत्रपति घोषित कर दिया था। ऐसा ही हुआ भी। शाहू ने महाराष्ट्र पहुँचकर मराठा-छत्रपति होने का दावा किया, जिसका ताराबाई ने विरोध किया। ताराबाई का कहना था कि शम्भाजी ने मराठा-राज्य को खो दिया था और उसके पति राजाराम ने उस राज्य की रक्षा की थी। इस कारण शम्भाजी के पुत्र शाहू की तुलना में उसके पुत्र शिवाजी द्वितीय का मराठा गद्दी पर अधिक अधिकार था। परन्तु खेद के युद्ध में ताराबाई की पराजय हुई और 1708 ई. में शाहू ने अपने को मराठा-छत्रपति घोषित कर दिया। इससे ताराबाई की शक्ति दुर्बल हो गयी। तब भी वह शाहू का विरोध करती रही। शाहू और ताराबाई ने अपने पुत्र की ओर से बहादुरशाह से दक्षिण के सूबों की 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' की अलग-अलग माँग की। बहादुरशाह का झुकाव शाहू की ओर था। तब भी उसने अपनी नीति को स्पष्ट नहीं किया। उसने दोनों पक्षों को 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार दे दिया परन्तु 'चौथ' वसूल करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया। इससे मराठों की समस्या का हल न निकल सका। मराठे मुगल-सीमाओं पर आक्रमण करते रहे। इससे एक गलत परम्परा आरम्भ हुई। शाहू ने मुगल-आधिपत्य को आरम्भ में ही स्वीकार कर लिया था। परन्तु जब बहादुरशाह ने स्पष्ट में उसके 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया तो उसके सरदारों ने मुगलों के अधीनस्थ शासकों की सीमाओं पर आक्रमण करने की गलत परिपाटी को आरम्भ किया। इस प्रकार, बहादुरशाह ने मराठों की समस्या का हल निकालने की बजाय उसे और अधिक गंभीर बना दिया।

बहादुरशाह ने एक और गम्भीर भूल की। कामबख्श की पराजय के पश्चात् उसने दक्षिण-भारत की सूबेदारी जुल्फिकारखाँ को प्रदान की जो मीरबख्शी के पद पर पहले से ही आसीन था। एक अमीर को एक साथ इतने बड़े दो पदों को देने की भूल उसके किसी पूर्ववर्ती मुगल बादशाह ने नहीं की थी। इससे दक्षिण-भारत के मुगल-सूबेदार की शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप दक्षिण-भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की इच्छा प्रबल हुई।

1712 ई. में बहादुरशाह की मृत्यु हो गयी। बहादुरशाह एक उदार शासक माना गया है। उसने सभी अमीरों को सन्तुष्ट करने की नीति अपनायी और अपने भाइयों का पक्ष लेने वाले अमीरों को भी राज्य में उच्च पद प्रदान किये। धार्मिक दृष्टि से भी वह उदार रहा और व्यवहार में उसने औरंगजेब की धार्मिक नीति का अनुकरण नहीं किया। उसने साम्राज्य के योग्य अमीरों की सेवाएँ प्राप्त करने में भी सफलता पायी। बहादुरशाह ने अपने भाइयों को परास्त करके साम्राज्य की एकता को बनाये रखा और मुगल बादशाह की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखा। मुगल-साम्राज्य का विघटन उसके शासन-काल के पश्चात् आरम्भ हुआ। उसके शासन-काल में दूरस्थ सूबों में भी मुगल-सत्ता यथावत् स्वीकार की जाती रही। परन्तु बहादुरशाह योग्य शासक न था। उसे 'शाहे-बेखबर' के उप-नाम से पुकारा गया। उसने साम्राज्य की किसी भी महत्वपूर्ण समस्या का हल नहीं निकाला। राजपूतों और मराठों के प्रति उसकी नीति अनिश्चित रही। उनमें से कोई भी स्वतन्त्र सत्ता का दावा तो न कर सका परन्तु उनमें से किसी को भी न तो मुगल सेवा के लिए उपयोगी बनाया जा सका और न किसी को बादशाह की पूर्ण अधीनता में लिया जा सका। बहादुरशाह सिखों के विद्रोह को दबाने में असफल रहा और उनके साथ कोई समझौता भी न कर सका। उसके समय में राज्य में आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। उसने अपने अमीरों में अत्यधिक धन वितरित किया जबकि राज्य की आय में वह कोई वृद्धि न कर सका। इस कारण, शाही-खजाना रिक्त हो गया और राज्य की आय राज्य के व्यय को सँभालने में असमर्थ हो गयी। वह बड़े अमीरों की महत्वाकांक्षाओं पर भी अंकुश न लगा सका और उसी के समय में वज़ीर के पद के सम्मान में वृद्धि हुई जिसके कारण वजीर के पद को प्राप्त करने की प्रतिस्पर्धा उसके अन्तिम समय में उसके अमीरों में आरम्भ हो गयी। इसके परिणामस्वरूप दरबार में अमीरों के गुट बनने आरम्भ हो गये। उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों के समय में अमीरों की यह प्रतिस्पर्धा और गुटबन्दी इतनी तीव्र हो गयी कि उन्होंने सिंहासन के उत्तराधिकार के प्रश्न में हस्तक्षेप किया जिससे मुगल बादशाह की शक्ति और गौरव नष्ट हो गया। इस प्रकार यद्यपि बहादुरशाह के समय में मुगल-साम्राज्य का विघटन नहीं हुआ परन्तु उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण अवश्य हो गया।

जहाँदारशाह (1712-1713 ई.)

बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् उसके चार पुत्रों जहाँदारशाह, अजीम-उस-शान, रफी-उस-शान और जमानशाह में सिंहासन के लिए युद्ध हुए। असदखाँ के पुत्र जुल्फिकारखाँ की सहायता से जहाँदारशाह को इन युद्धों में विजय प्राप्त हुई और अपने सभी भाइयों को समाप्त करके वह 51 वर्ष की आयु में मुगल बादशाह बना। उसने असदरखाँ को वकील-ए-मुतलक और जुल्फिकारखाँ को वजीर के पद पर नियुक्त किया। ये दोनों बाप-बेटे दरबार में ईरानी-दल के अमीरों के नेता थे।

जहाँदारशाह मूर्ख और विलासप्रिय शासक सिद्ध हुआ। वह लालकुँवर नामक एक वेश्या पर बुरी तरह आसक्त था। उसने लालकुँवर को महल में रखा, उसके रिश्तेदारों को ऊँचे-ऊँचे पद दिये और राजदरबार को नाचने-गाने का स्थान बना दिया। उसके समय में राजकोष रिक्त हो गया, सेना की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और राज्य का आर्थिक संकट बढ़ गया। परन्तु उसके समय में सबसे गम्भीर दुष्परिणाम वजीर की शक्तियों में वृद्धि और फलस्वरूप दरबार के अमीरों की गुटबन्दी और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का विकास होना था।

जहाँदारशाह के वजीर जुल्फिकारखाँ ने उदार नीतियों को आरम्भ किया। उसने हिन्दुओं को सन्तुष्ट करने के लिए जजिया को समाप्त कर दिया। उसने राजपूत-शासकों के विश्वास को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अम्बर के शासक जयसिंह और जोधपुर के शासक अजीतसिंह को मनसब और उपाधियाँ दीं तथा क्रमशः उन्हें मालवा और गुजरात की सूबेदारी भी दी। अजीतसिंह को सोरठ, पालिताना और ईडर की फौजदारी भी दी गयी यद्यपि उससे इन्द्रसिंह को नागौर और राजसिंह को रूपनगर दिला दिया गया। उसने ताराबाई के पुत्र शिवाजी द्वितीय को भी मनसब दिया और प्रयत्न किया कि वह और शाहू अपने-अपने अधिकारों का निर्णय मुगल बादशाह से करायें। उत्तराधिकार के युद्ध में चूरामण जाट ने अजीम-उस-शान का साथ दिया था परन्तु युद्ध के पश्चात् उसे क्षमा कर दिया गया और शाही मनसब देकर मुगल-सेना में ले लिया गया। छत्रसाल बुन्देला को भी पहले की भाँति सन्तुष्ट रखा गया और वह मुगल बादशाह के प्रति वफादार रहा। बन्दा बैरागी के विद्रोह को, निस्सन्देह, दबाने का प्रयत्न किया गया परन्तु गुरु गोविन्दसिंह के दत्तक पुत्र अजीतसिंह को मान्यता प्रदान करके सिखों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इस प्रकार जुल्फिकारखाँ की नीति भारतीयों के सभी असन्तुष्ट वर्गों को सन्तुष्ट करके सभी को साम्राज्य के प्रति वफादार बनाने की थी।

परन्तु जुल्फिकारखाँ ने जो प्रयत्न वजीर की शक्ति में वृद्धि करने के लिए किये उनके कारण उसका विरोध भी हुआ। स्वयं जहाँदारशाह उससे ईर्ष्या करने लगा और उसने अन्य अमीरों को पद और अधिकार दिये जिससे वजीर के हाथों में शक्ति का केन्द्रीयकरण सम्भव न हो सके। उसने अपने धायभाई कोकलताश के अधिकारों मे वृद्धि की जिसने दरबार में ऐसे व्यक्तियों के दल का संगठन किया जिनका उद्देश्य 'बादशाह की शक्ति बादशाह के हाथों में रहे' था। इसके अतिरिक्त, दरबार के अमीरों का तूरानी-गुट भी जुल्फिकारखाँ से ईर्ष्या करने लगा। तूरानी-गुट का नेतृत्व गाजीउद्दीनखाँ, उसका पुत्र चिनकुलीचखाँ तथा उसका भतीजा मुहम्मद अमीन कर रहे थे। फर्रुखसियर के विरुद्ध जहाँदारशाह की पराजय का कारण जुल्फिकारखाँ के प्रति कोकलताश का असहयोग तथा चिनकुलीचखाँ और मुहम्मद अमीन का युद्ध में तटस्थ रहना था।

जहाँदारशाह प्रायः दस माह ही बादशाह रह सका। उसके मृत भाई अजीम-उस-शान के पुत्र और बंगाल के सह-सूबेदार फर्रुखसियर ने सिंहासन पर अपना दावा किया। फर्रुखसियर स्वयं योग्य न था परन्तु अपनी माता की चालाकी और कूटनीति के कारण उसे पटना के सह-सूबेदार सैयद हसैनअली और उसके बड़े भाई तथा इलाहाबाद के सह-सूबेदार सैयद हुसैनअली (जो बाद में सैयद अब्दुल्लाखाँ कहलाया) की सहायता प्राप्त हो गयी। फर्रुखसियर की सहायता करने में सैयद-भाइयों का अपना स्वार्थ भी था। फर्रुखसियर की सफलता उनको राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने में सहायक हो सकती थी, जैसा कि बाद में हुआ भी। फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों की सैनिक सहायता प्राप्त करके आगरा की ओर बढ़ना आरम्भ किया। जहाँदारशाह ने अपने पुत्र अजउद्दीन को उसके मुकाबले के लिए भेजा परन्तु वह खजुहा के निकट बिना युद्ध किये ही भाग खड़ा हुआ। आगरा के निकट जहाँदारशाह ने स्वयं फर्रुखसियर का मुकाबला किया परन्तु वह पराजित हुआ और भाग निकला। वह दिल्ली पहुँचा और उसने वकील-ए-मुतलक असदखाँ के घर में शरण ली। परन्तु असदखाँ ने फर्रुखसियर से झगड़ा करना उचित नहीं समझा। फर्रुखसियर के आदेश से जहाँदारशाह को उसकी प्रेयसी लालकुँवर के हाथों से छीनकर मार दिया गया। फर्रुखसियर के शासन के आरम्भ होने से जुल्फिकारखाँ का वजीर का पद भी समाप्त हो गया।

फर्रुखसियर (1713-1719 ई.)

फर्रुखसियर सैयद-भाइयों (सैयद अब्दुल्लाखाँ और सैयद हुसैनअली) की सहायता से बादशाह बना। वह स्वयं बादशाह के योग्य न था। इस कारण, सैयद-भाइयों ने राजसत्ता को अपना अधिकार में कर लिया। फर्रुखसियर ने सैयद अब्दुल्लाखाँ को वजीर का पद दिया और सैयद हुसैनअली को मीर-बख्शी का। बाद में हुसैनअली को दक्षिण-भारत का सूबेदार भी नियुक्त किया गया। एक ही व्यक्ति अथवा एक ही परिवार के व्यक्तियों को यह तीन बड़े पद इससे पहले प्रदान नहीं किये थे। यद्यपि ऐसा नहीं था कि सैयद-भाइयों ने राज्य के सभी उच्च पदों पर अपना एकाधिकार बनाये रखने का प्रयत्न किया हो अपितु, इसके विपरीत, उन्होंने अन्य बड़े अमीरों को भी बड़े-बड़े पद देकर सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया। परन्तु तब भी वह साम्राज्य में सबसे अधिक प्रभावशाली व्यक्ति बने रहने और उनके समय से मुगल बादशाहों का अपने प्रभावशाली अमीरों के हाथ में कठपुतली बन जाने का समय आरम्भ हुआ। स्वयं फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों के हाथों में कठपुतली बनने से इन्कार किया, उनकी नीतियों का विरोध किया, उनके विरोधी अमीरों को उच्च पद प्रदान किये और विभिन्न षड्यन्त्र करके उनको नष्ट करने का प्रयत्न किया ; परन्तु अपनी अयोग्यता के कारण वह अपने प्रयत्नों में असफल हुआ जिसके कारण सैयद-भाइयों ने उसे सिंहासन से हटाकर अपनी इच्छानुसार बादशाहत में परिवर्तन किये। इससे बादशाह के सम्मान में कमी हुई, वजीर का पद प्रभावशाली बना, दरबार में अमीरों की गुटबन्दियाँ प्रबल हुईं और स्थानीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्तियों को बल मिला। इन सभी के लिए सैयद-भाइयों की अपेक्षा फर्रुखसियर अधिक उत्तरदायी था जो न स्वयं शासन कर सका और न जिसने सैयद-भाइयों को स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने दिया। इसी कारण उसका पतन भी हुआ। फर्रुखसियर के कुचक्रों से असन्तुष्ट होकर वजीर अब्दुल्लाखाँ ने अपने भाई और दक्षिण के सूबेदार हुसैनअली को दक्षिण से दिल्ली बुलाया। हुसैनअली ने अपनी स्थिति को दृढ़ करने के लिए मराठा छत्रपति शाहू से एक सन्धि की और पेशवा बालाजी विश्वनाथ के साथ मराठा सैनिकों को लेकर दिल्ली पहुँचा। फर्रुखसियर ने तब भी समझौता नहीं किया और अपना जीवन बचाने के लिए हरम में शरण ली। वहीं से उसे नंगे पैर और नंगे सिर घसीटकर निकाला गया। पहले उसे अन्धा करके कैद कर लिया गया और बाद में उसका वध कत्ल कर दिया गया।

फर्रुखसियर के समय की एक प्रमुख घटना सिख-विद्रोह की समाप्ति थी। 1716 ई. तक बन्दा बैरागी सफलतापूर्वक मुगलों का विरोध करता रहा। उसने लाहौर के सूबेदार इस्लामखाँ को भी एक युद्ध में पराजित किया। फर्रुखसियर ने इस्लामखाँ के स्थान पर जकरियाखाँ को लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया। उसने स्थान-स्थान पर बन्दा बैरागी का पीछा किया और अन्त में गुरुदासपुर नामक स्थान पर उसे घेर लिया। बन्दा बैरागी ने आत्मसमर्पण कर दिया और 1716 ई. में उसे यातनाएँ देकर मार दिया गया। उसकी मृत्यु से सिखों का विद्रोह समाप्त हो गया।

फर्रुखसियर के समय की एक अन्य प्रभावपूर्ण राजनीतिक घटना मुगल बादशाह और सैयद हुसैनअली की 1719 ई. में छत्रपति शाहू से हुई सन्धि थी। इसके कारण मराठे प्रथम बार दिल्ली आये और दिल्ली की राजनीति की दुर्बलता को समझ सके। इसने भविष्य के इतिहास को प्रभावित किया।

रफी-उद्-दरजात (1719 ई.)

रफी-उद्-दरजात को सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर को हटाने के बाद मुगल-सिंहासन सौंपा। वह बहादुरशाह के पुत्र रफी-उस-शान का पुत्र । वह केवल तीन माह बादशाह रहा। बीमार होने के कारण उसे सिंहासन से हटा दिया गया। शीघ्र ही उसकी मृत्यु भी हो गयी।

रफीउद्दौला अथवा शाहजहाँ द्वितीय (1719 ई.)

रफीउद्दौला रफी-उद्-दरजात का बड़ा भाई था। उसने सैयद-भाइयों की कृपा से प्रायः साढ़े तीन माह शासन किया। उसकी मृत्यु भी बीमारी से ही हुई।

मुहम्मद (रंगीला) (1719-1748 ई.)

मुहम्मदशाह बहादुरशाह के पुत्र जमानशाह का पुत्र था। उसकी अत्यधिक विलासिता की प्रवत्ति के कारण उसे 'रंगीला' का उपनाम दिया गया। वह भी सैयद-भाइयों की कृपा से शासक बना। उसका समय गंभीर परिवर्तनों का था। उसके समय में सैयद-भाइयों का पतन हुआ । हैदराबाद, अवध और बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के सूबे प्रायः स्वतन्त्र हो गये, राजस्थान के शासकों में आन्तरिक कलह हुई परन्तु मुगल-सत्ता वहाँ से प्रायः नष्ट हो गयी। गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के कुछ भाग पर मराठों की सत्ता स्थापित हो गयी, नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ और मुगल-साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हुआ।

सैयद-भाइयों का पतन

मुहम्मदशाह के सिंहासन पर बैठने के प्रायः एक वर्ष पश्चात् सैयद-भाइयों का पतन हो गया। सैयद-भाइयों ने साम्राज्य के सभी प्रभावशाली वर्गों एवं दरबार के अमीरों से समझौते और सहयोग का प्रयत्न किया था तब भी अनेक व्यक्ति उनके शत्रु बन गये थे। उनकी शत्रुता का मुख्य कारण सैयद-भाइयों की शक्ति से ईर्ष्या और सत्ता को स्वयं प्राप्त करने का प्रयत्न था। स्वयं बादशाह मुहम्मदशाह भी ईर्ष्यावश उनकी शक्ति को नष्ट करना चाहता था। इसके अतिरिक्त बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाये जाने के कारण वे बदनाम भी हुए थे। अनेक व्यक्ति उनको राजभक्त के स्थान पर राजद्रोही मानने लगे थे जिसका लाभ उनके शत्रुओं ने उठाया।

सैयद-भाइयों ने तूरानी-दल के नेता चिनकुलीचखाँ को उच्च पद प्रदान किया था और मालवा की सूबेदारी भी उसे प्रदान की थी। परन्तु तब भी वह सैयद-भाइयों से असन्तुष्ट था। 1720 ई. में उसने खानदेश पर आक्रमण किया जो सैयद हुसैनअली की सूबेदारी में था। दिल्ली से जो सेनाएँ उसके विरुद्ध भेजी गयीं उनको उसने परास्त कर दिया। तब हुसैनअली स्वयं बादशाह मुहम्मदशाह को लेकर दक्षिण-भारत की ओर चला। मार्ग में उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया गया। मुहम्मद अमीनखाँ और हैदरकुलीखाँ इस षड्यन्त्र का नेतृत्व कर रहे थे और बादशाह मुहम्मदशाह भी इसमें सम्मिलित था। एक दिन हुसैनअली की छुरे से हत्या कर दी गयी। जैसे ही यह सूचना सैयद अब्दुल्ला को प्राप्त हुई, उसने शाही-परिवार के एक शाहजादे इब्राहीम को दिल्ली में बादशाह घोषित कर दिया। मुहम्मदशाह शाही सेना के साथ उत्तर-भारत की ओर बढ़ा। आगरा के निकट बिल्लोचपुरा नामक स्थान पर सैयद अब्दुल्ला ने मुहम्मदशाह का मुकाबला किया। वह परास्त हुआ। इब्राहीम और अब्दुल्लाखाँ को कैद कर लिया गया। यह घटना 1720 ई. में हुई। दो वर्ष पश्चात् अब्दुल्लाखाँ को जहर देकर मार दिया गया। इस प्रकार सैयद-भाइयों का 1720 ई. में पतन हुआ।

1713 से 1720 ई. तक का समय सैयद-भाइयों की सत्ता का था। कुछ विद्वानों ने उन पर बादशाह के सम्मान और सत्ता को कम करने का आरोप लगाया है। परन्तु यह आरोप सर्वथा तर्कसंगत नहीं है। सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर को बादशाह बनाने में सहायता दी थी और पुरस्कारस्वरूप वजीर और मीर-बख्शी के पद प्राप्त किये थे जो साम्राज्य के श्रेष्ठ पद थे। परन्तु इसके अतिरिक्त फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों को कुछ भी सहयोग नहीं दिया था अपितु, इसके विपरीत, उनके प्रभाव को कम करने के लिए अन्य सभी पद उनके विरोधी अमीरों को प्रदान किये थे और अधिकांशतया सैयद-भाइयों के विरोध में ही कार्य करता रहा था। सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर के षड्यन्त्रों के कारण ही अपने जीवन को अरक्षित समझकर उसे सिंहासन से हटाने का प्रयत्न किया और सफल हुए। इस कारण, फर्रुखसियर के पतन का मुख्य कारण स्वयं उसकी अयोग्यता, विलासिता और कुचक्री प्रवृत्ति थी। फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने के पश्चात् प्रायः डेढ़ वर्ष सैयद-भाइयों ने निर्विवाद राजसत्ता का उपभोग किया और बादशाहत में परिवर्तन किये। परन्तु इसका मूल कारण भी बादशाहों की स्वयं की अयोग्यता थी। मुहम्मदशाह भी जिसने सैयद-भाइयों की कृपा से बादशाहत प्राप्त की और बाद में उनको समाप्त करने में सफलता पायी, अयोग्य था। मुहम्मदशाह का प्रभाव सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् भी शासन में नगण्य रहा। उसके समय में भी राजसत्ता का उपभोग स्वयं बादशाह ने नहीं किया बल्कि कुछ अन्य प्रभावशाली अमीरों द्वारा किया गया। इस कारण, बादशाह की शक्ति और सम्मान में कमी होने का दोष मूलतया बहादुरशाह के दुर्बल उत्तराधिकारियों पर जाता है। सैयद-भाइयों पर यह दोष केवल कुछ अंशों में ही जाता है।

सैयद-भाई न तो योग्य कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुए और न ही व्यवहार-कुशल प्रशासक। अपितु यह सर्वमान्य है कि अब्दुल्लाखाँ ऐशपसन्द व आलसी था और हुसैनअली दम्भी व उद्दण्ड था। तब भी सैयद-भाइयों ने उचित नीतियों का पालन किया था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसकी अनुदार और उसके विपक्ष की उदार नीतियों में जो संघर्ष हो रहा था उसमें सैयद-भाई उदार नीतियों के पक्षधर थे। उन्होंने जजिया और तीर्थयात्रा-करों को समाप्त कराया, राजपूत-राजाओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया और शाहू को दक्षिण-भारत से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार देकर मराठों की शक्ति को साम्राज्य के हित में लगाने का प्रयत्न किया। सैयद-भाई भारतीय मुसलमान थे। इस कारण ईरानी और तूरानी दोनों गुटों के अमीर उनसे ईर्ष्या करते थे। परन्तु सैयद-भाइयों ने दोनों गुटों के अमीरों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। फर्रुखसियर ने सिंहासन प्राप्त करके उनकी सलाह के विरुद्ध ईरानी युद्ध के नेता असदखाँ को कैद किया और जुल्फिकारखाँ को मृत्यु-दण्ड दिया था। सैयद-भाइयों ने तूरानी गुट के नेता चिनकुलीचखाँ को सन्तुष्ट करने के लिए उसे बड़ा मनसब और मालवा का सूबेदार नियुक्त किया था। इस प्रकार, सैयद-भाई राज्य के सभी प्रभावशाली वर्गों और गुटों को सन्तुष्ट करके साम्राज्य के आधार को विस्तृत करके उसे शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। इस कारण उनकी उदार-नीति समय और परिस्थितियों के अनुकूल थी। परन्तु उनके विरोधी ईर्ष्यावश उस नीति की उपयोगिता को न समझ सके। स्वयं मुगल बादशाहों ने भी उनके साथ सहयोग नहीं किया। यह भी सैयद-भाइयों के पतन का कारण बना।

हैदराबाद का स्वतन्त्र राज्य

औरंगजेब के समय में ही दरबार में मुसलमान अमीरों के दो दल बन गये थे—एक विदेशी मुसलमानों का और दूसरा भारतीय मुसलमानों का। पठान और अफगान भारत में

पिछली कई सदियों से रह रहे थे, हिन्दुओं से अधिक घुल-मिल गये थे और उनमें भारतीयता का अंश अधिक था। सैयद-भाई इसी वर्ग के थे। परन्तु इस वर्ग का विरोध मुगल, ईरानी, तूरानी आदि विदेशी मुसलमान करते थे। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् ये दोनों दल अधिक स्पष्ट रूप से एक दूसरे के विरोध में हो गये। इसके अतिरिक्त, विभिन्न अमीर बादशाह को चुनने और वजीर के पद को प्राप्त करने के आधार पर भी विभाजित थे। मुगल-दरबार की राजनीति में यह अंश बादशाह फर्रुखसियर के समय में सम्मिलित हुआ। फर्रुखसियर सैयद-भाइयों की सहायता से बादशाह बना जो भारतीय मुसलमान-वर्ग के थे। इससे विदेशी मुसलमानों का वर्ग असन्तुष्ट हुआ और उसने सैयद-भाइयों के पतन में भाग लिया। परन्तु सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् दरबार की गुटबन्दियाँ समाप्त नहीं हुईं क्योंकि विदेशी मुसलमान भी एक गुट के न थे। उनमें भी परस्पर प्रतिस्पर्धा थी। ऐसी स्थिति में एक योग्य बादशाह ही अमीरों की महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश लगा सकता था। मुहम्मदशाह ऐसा बादशाह सिद्ध न हुआ जिसके कारण उसके समय में विभिन्न स्थानों पर प्रायः स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ और मुगल-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ।

मुहम्मदशाह के समय में चिनकुलीचखाँ ने जिसे 'निजाम-उल-मुल्क' की उपाधि दी गयी थी, हैदराबाद में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। चिनकुलीचखाँ तूरानी-दल का नेता था। उसे अपने समय का एक योग्य कूटनीतिज्ञ और सेनापति स्वीकार किया गया था। सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् वजीर का पद अमीनखाँ को दिया गया। परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1722 ई. में वजीर का पद निजाम-उल-मुल्क को दिया गया जो उस समय दक्षिण-भारत का सूबेदार था। उस समय निजाम-उल-मुल्क वृद्ध सरदारों में से एक था। वह दरबार की स्थिति से सन्तुष्ट न था। बादशाह मुहम्मदशाह उसकी सलाह को मानने को तैयार न था और दरबार के जवान सरदार उसके विचारों का मजाक उड़ाते थे। इससे असन्तुष्ट होकर वह 1723 ई. में चुपके से दक्षिण-भारत की ओर चल दिया। मुहम्मदशाह ने दक्षिण-भारत के तत्कालीन सूबेदार मुबारिजखाँ को निजाम-उल-मुल्क का सामना करने के आदेश दिये। निजाम-उल-मुल्क ने मराठों से एक समझौता किया और 1724 ई. में एक युद्ध में मुबारिजखाँ को परास्त कर दिया। 1725 ई. में उसने दक्षिण-भारत के मुगल-सूबों पर अधिकार कर लिया और हैदराबाद को अपनी राजधानी बनाया। उस समय से हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। वह नाममात्र के लिए ही मुगल बादशाह के अधीन रहा। बादशाह मुहम्मदशाह ने उस स्थिति से समझौता कर लिया और निजाम-उल-मुल्क को 'आसफजा' की उपाधि भी दी।

अवध का स्वतन्त्र राज्य

अवध के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना ईरानी-दल के नेता मीर मुहम्मद अमीन सादतखाँ बुरहान-उल-मुल्क ने की। सादतखाँ ने सैयद-भाइयों के पतन में भाग लिया। इसके उपलक्ष में उसे ऊँचा मनसब और आगरा की सूबेदारी प्रदान की गयी। परन्तु बादशाह मुहम्मदशाह अधिक समय सादतखाँ से सन्तुष्ट न रह सका और उसे दरबार से हटाने की मंशा से अवध का सूबेदार नियुक्त कर दिया। 1722 ई. में सादतखाँ अवध का सूबेदार नियुक्त हुआ। उसी समय से उसने अपने आप को स्वतन्त्र शासक मान लिया। वह केवल नाममात्र के लिए ही मुगल बादशाह के स्वामित्व को स्वीकार करता रहा। उसने अपने भतीजे और दामाद सफदरजंग को अपनी तरफ से अवध का सह-सूबेदार नियुक्त किया और स्वतन्त्रतापूर्वक मुगल-दरबार की राजनीति में भी भाग लेता रहा। सादतखाँ ने उत्तर-भारत में मराठों के बढ़ते

हुए प्रभाव को रोकने का भी प्रयत्न किया यद्यपि वह उसमें अधिक सफल न हो सका। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर उसे मुगल बादशाह के अपमान के लिए उत्तरदायी ठहराया गया क्योंकि उसने नादिरशाह को दिल्ली पर अधिकार करने की सलाह दी थी। परन्तु बाद में लज्जावश 1739 ई. में उसने आत्महत्या कर ली। उसके उत्तराधिकारी सफदरजंग ने वस्तुतः मुगल बादशाह की नाममात्र की सत्ता को भी स्वीकार न किया और इस प्रकार अवध के प्रायः स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हो गया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा के स्वतन्त्र राज्य

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के समय बहादुरशाह का पुत्र अजीम-उस-शान बंगाल का सूबेदार था। परन्तु क्योंकि वह दरबार में रहता था इस कारण बंगाल का शासन दीवान और नाइब-निजाम मुर्शिदकुलीखाँ करता था। फर्रुखसियर ने बादशाह बनने पर मुर्शिदकुलीखाँ को बंगाल का सूबेदार नियुक्त किया और 1719 ई. में उड़ीसा को भी उसकी सूबेदारी में सम्मिलित कर दिया। मुर्शिदकुलीखाँ एक योग्य शासन-प्रबन्धक था जिससे उसके समय में इन सूबों की शक्ति और समृद्धि में वृद्धि हुई। 1727 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके दामाद शुजाउद्दौला असदखाँ को इन सूबों की सूबेदारी प्राप्त हुई। 1733 ई. में बिहार को भी इन दो सूबों के साथ सम्मिलित कर दिया गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् 1739 ई. में यह तीनों सूबे उसके पुत्र सरफराजखाँ को प्राप्त हुए। सरफराजखाँ अयोग्य सिद्ध हुआ। बिहार के नाइब-सूबेदार अलीवर्दीखाँ ने 1740 ई. में उस पर आक्रमण किया और उसे युद्ध में परास्त कर दिया। उस समय में अलीवर्दीखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वामी बन गया। बादशाह मुहम्मदशाह इन सूबों में हस्तक्षेप करने की स्थिति में न था। इस कारण, उसने वस्तुतः स्थिति से समझौता कर लिया और अलीवर्दीखाँ को इन तीनों सूबों का सूबेदार स्वीकार कर लिया। परन्तु उस समय से ये सूबे वस्तुतः स्वतन्त्र हो गये। अलीवर्दीखाँ केवल नाममात्र के लिए मुगल बादशाह के आधिपत्य को स्वीकार करता था।

मराठे

मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का सबसे अधिक लाभ मराठों ने उठाया। औरंगजेब मराठों के स्वतन्त्रता-संग्राम को दबाने में असफल हुआ था और ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को मराठा-छत्रपति घोषित कर दिया था। इस प्रकार, मराठों ने औरंगजेब के शासन-काल में ही महाराष्ट्र में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। बाद में शम्भाजी के पुत्र शाहू ने छत्रपति होने का दावा किया जब उसने 1707 ई. में मुगल-खेमा छोड़ दिया जहाँ वह कैदी की भाँति रह रहा था। अधिकांश मराठा-सरदारों ने शाहू को मराठा-छत्रपति मान लिया और महाराष्ट्र पर उसका अधिकार हो गया। शाहू के समय में मराठों की शक्ति का विस्तार हुआ जिसमें शाहू के प्रथम तीन पेशवाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रथम पेशवा बालाजी विश्वनाथ के समय में मराठों का मुगल-दरबार से प्रथम सम्पर्क हुआ जबकि सैयद हुसैनअली ने 1719 ई. में मुगल-बादशाह की तरफ से मराठों से एक सन्धि की तथा मराठा-सैनिक दिल्ली गये और बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने में सहायक हुए। बालाजी विश्वनाथ के पश्चात् द्वितीय पेशवा बाजीराव के समय में मराठों ने गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया तथा सम्पूर्ण दक्षिण-भारत और बंगाल के सूबा से 'चौथ' की माँग की। मराठे उसी के समय में भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गये। तृतीय पेशवा बालाजी बाजीराव के समय में मराठों ने दिल्ली की

राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया जिसका परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। इससे मराठा-शक्ति की हानि हुई। तब भी 18 वीं सदी के अधिकांश भाग में मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने रहे।

(विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए।)

राजस्थान के राजपूत-राज्य और सवाई मिर्जा राजा जयसिंह

राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़ और अम्बर (जयपुर) के राज्य प्रमुख राज्य थे। औरंगजेब के उत्तराधिकारी मुगल बादशाहों ने राजस्थान के इन राज्यों के प्रति कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनायी। अपनी दुर्बल स्थिति के समय में राजपूत-राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार बनाये रखना ही उस समय श्रेयस्कर था। परन्तु इस नीति को योजनाबद्ध तरीके से नहीं अपनाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजपूत-राज्यों ने भी मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाया और अपने अधिकारों में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। इस कारण 1740 ई. तक राजपूत-राज्य भी प्रायः अर्ध-स्वतन्त्रता की उसी स्थिति में पहुँच गये जो हैदराबाद, बंगाल और अवध के राज्यों ने प्राप्त कर ली थी। परन्तु राजपूत-राज्यों नें स्थिति का पूर्ण लाभ नहीं उठाया। विभिन्न प्रयत्नों के बावजूद भी राजपूत-शासक एक न हो सके बल्कि उनमें आन्तरिक कलह उत्पन्न हो गयी। इसका लाभ मराठों ने उठाया। राजस्थान के राजपूत-राज्य ही उत्तर-भारत की ओर बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को रोकने में समर्थ हो सकते थे, परन्तु चाहते हुए भी वे ऐसा न कर सके और इसी समय में मराठों ने गुजरात और मालवा पर अपना अधिकार कर लिया तथा राजस्थान की राजनीति में हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया।

मेवाड़

बहादुरशाह के समय में मेवाड़ सहित सभी राजपूत-राज्यों को दबाने का प्रयत्न किया गया था परन्तु दक्षिण-अभियान और सिखों के विद्रोह के कारण यह सम्भव न हो सका था। अपितु 1708 ई. में मेवाड़ के राणा अमरसिंह, मारवाड़ के राजा अजीतसिंह और जयपुर के राजा जयसिंह ने एक-दूसरे के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करके राजस्थान से मुगलों के प्रभाव को नष्ट करने का निश्चय किया और वे पर्याप्त मात्रा में इस कार्य में सफल भी हुए। राणा अमरसिंह ने अपने अधिकार-क्षेत्र को बढ़ाने में सफलता पायी और मुगल बादशाह से ऊँचा मनसब भी प्राप्त किया। राणा के सम्बन्ध इस समय में जयपुर के शासक जयसिंह से अच्छे रहे। फर्रुखसियर के समय में जयसिंह की मित्रता के कारण राणा के सम्बन्ध सैयद-भाइयों से खराब हुए परन्तु सैयद-भाइयों के पतन के पश्चात् राणा ने ईडर और सिरोही पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार, इस समय में मेवाड़-राज्य के अधिकार और सम्मान में वृद्धि हुई।

मारवाड़

मारवाड़ के शासक अजीतसिंह की पुत्री का विवाह बादशाह फर्रुखसियर के साथ किया गया और सैयद-भाइयों ने उसे अजमेर तथा गुजरात की सूबेदारी दिलवायी। परन्तु मुहम्मदशाह के बादशाह बन जाने पर उसने अजीतसिंह से गुजरात और अजमेर की सूबेदारी छीन ली जिसके कारण अजीतसिंह ने मुगल बादशाह का विरोध करना आरम्भ किया। 1723 ई. में मुगलों ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। उस समय अजीतसिंह की स्थिति दुर्बल हो गयी क्योंकि उसे किसी अन्य राजपूत शासक से सहायता नहीं मिली। राजा

जयसिंह के हस्तक्षेप करने से मारवाड़ और मुगलों में एक सन्धि हो गयी जिसके अनुसार अजीतसिंह ने नागौर की जागीर इन्द्रसिंह को वापस कर दी। 1724 ई. में अजीतसिंह की हत्या कर दी गयी और बादशाह मुहम्मदशाह ने मारवाड़ का उत्तराधिकारी उसके पुत्र अभयसिंह को मान लिया। परन्तु अभयसिंह का विरोध उसके भाई आनन्दसिंह और रायसिंह ने किया तथा मराठों से सहायता माँगी। इससे मारवाड़ गृह-युद्ध में फँस गया जो 1728 ई. तक चला। इससे मारवाड़ की स्थिति दुर्बल हो गयी और मराठों को राजस्थान में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। इस बीच मराठे गुजरात में प्रवेश कर गये। 1730 ई. में अभयसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया गया। परन्तु वह मराठों के गुजरात में बढ़ते हुए प्रभाव को न रोक सका। 1733 ई. में मराठों ने गुजरात पर पुनः आक्रमण किया और अभयसिंह को उन्हें 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' देने का वायदा करना पड़ा । उसके पश्चात् अभयसिंह जोधपुर चला गया। बाद में उसने दिल्ली पहुँचकर अजमेर की सूबेदारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया और राजदरबार की दलबन्दियों में भाग लिया जिसके फलस्वरूप उसके सम्बन्ध राजा जयसिंह से खराब हो गये।

जयपुर और सवाई मिर्जा राजा जयसिंह

अपने पिता किशनसिंह की मृत्यु के पश्चात् 1700 ई. में जयसिंह जयपुर का शासक बना। तत्कालीन राजपूत-शासकों में जयसिंह सबसे अधिक योग्य सिद्ध हुआ। 12 वर्ष की उम्र में जब वह सिंहासन पर बैठा ही था, औरंगजेब ने उसे दक्षिण-भारत बुला भेजा। दक्षिण-भारत के युद्धों में साहसपूर्ण भाग लेने के कारण उसे मालवा का नाइब-सूबेदार बनाया गया। औरंगजेब की मृत्यु के अवसर पर वह दक्षिण-भारत में था। शाहजादा आजमशाह के साथ वह उत्तर-भारत गया। बहादुरशाह से युद्ध आरम्भ होने के अवसर पर वह आजमशाह के साथ था परन्तु युद्ध के समय में ही आजमशाह की पराजय को निश्चित समझकर वह बहादुरशाह के पक्ष में चला गया। बहादुरशाह ने बादशाह बनने पर जयसिंह को माफ कर दिया परन्तु जयपुर को खालसा-भूमि में सम्मिलित करने के आदेश दिये। बहादुरशाह ने इसी प्रकार जोधपुर को भी खालसा-भूमि में सम्मिलित करने के आदेश दिये थे। तब भी जयसिंह ने बादशाह का खुला विरोध न किया और अजीतसिंह की भाँति वह भी बहादुरशाह के साथ दक्षिण-भारत की ओर चल दिया। परन्तु वह और अजीतसिंह मार्ग से ही वापस भाग आये और दोनों ने 1708 ई. में मेवाड़ के शासक अमरसिंह से सहायता माँगी। अमरसिंह ने अपनी पुत्री चन्द्रकुँवर का विवाह जयसिंह के साथ कर दिया। अमरसिंह की एक अन्य पुत्री का विवाह अजीतसिंह से पहले ही हो चुका था। इस प्रकार तीनों राजाओं के पारिवारिक सम्बन्ध हो गये और तीनों ने मिलकर राजस्थान को मुगलों से स्वतन्त्र कराने के लिए प्रयत्न करने का आश्वासन एक दूसरे को दिया। 1708-1710 ई. तक इन राजपूत-शासकों ने मिलकर मुगलों से संघर्ष किया। बादशाह बहादुरशाह ने सिख-विद्रोह के कारण राजपूतों से समझौता कर लिया। बादशाह जहाँदारशाह ने 1712 ई. में जयसिंह को मिर्जा राजा का पद दिया। तब भी जयसिंह जहाँदारशाह और फर्रुखसियर में हुए युद्ध में तटस्थ रहा। 1713 ई. में बादशाह फर्रुखसियर ने जयसिंह को 'सवाई' का पद और मालवा की सूबेदारी दी। उस समय से वह सवाई मिर्जा राजा जयसिंह के नाम से विख्यात हुआ। जयसिंह ने 1715 ई. में मराठा-आक्रमण से मालवा की रक्षा की और फर्रुखसियर से सम्मान प्राप्त किया। परन्तु जयसिंह सैयद-भाइयों से सन्तुष्ट न था। इस कारण मारवाड़ के शासक अजीतसिंह से उसका मतभेद हुआ। 1716-1718 ई. के मध्य जयसिंह ने चूरामण जाट को दबाने का

उत्तरदायित्व सँभाला और चूरामण को मुगल-सेवा स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। 1717 ई. में जयसिंह के स्थान पर अमीनखाँ को मालवा को सूबेदार नियुक्त किया गया था। तब भी जयसिंह फर्रुखसियर के प्रति वफादार रहा और उसने सैयद-भाइयों के विरुद्ध फर्रुखसियर को सहायता देने का आश्वासन दिया। परन्तु फर्रुखसियर ने सैयद-भाइयों के कहने से उसे दिल्ली से चले जाने के आदेश दिये। इस कारण, जयसिंह जयपुर चला गया। 1722 ई. में जयसिंह को आगरा की सूबेदारी दी गयी और चूरामण जाट को दबाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया जो सैयद-भाइयों के गुट का सदस्य रहा था। इस अभियान में जयसिंह को सफलता मिली। इसके पश्चात् मुगल-दरबार में जयसिंह का सम्मान बढ़ता गया। मुगल बादशाह ने जयसिंह को सभी राजपूत-राजाओं से सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम बनाया। जयसिंह ने समस्त राजपूत-शासकों और मुगल बादशाह के मध्य अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया और पर्याप्त सफल रहा। उसने छत्रसाल बुन्देला को भी मुगल बादशाह के साथ बनाये रखने का प्रयत्न किया। जयसिंह मराठों से समझौता करके उन्हें मुगल बादशाह के प्रति वफादार बनाये रखने की नीति का पक्षधर था, परन्तु मुगल-दरबार की दलबन्दियों, राजपूतों के आन्तरिक संघर्षों और मराठों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण अपनी नीतियों को पूर्णतया कार्यरूप में परिणित करने में वह सफलता न पा सका अन्यथा उसका लक्ष्य सभी भारतीय शक्तियों को मुगल बादशाह के पक्ष में करके मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करना था। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर दरबार की दलबन्दियों के कारण जयसिंह युद्ध में तटस्थ रहा। 1743 ई. में जयसिंह की मृत्यु हुई। जयसिंह तत्कालीन राजपूत-शासकों में सर्वाधिक योग्य साबित हुआ और उसने अपने राज्य के सम्मान और शक्ति को बढ़ाने में सफलता पायी।

राजनीतिक सफलता के अतिरिक्त, जयसिंह ने अपने समय में सांस्कृतिक विकास में भी अभूतपूर्ण योगदान दिया। जयसिंह ने नवीन जयपुर-नगर का निर्माण किया और वहाँ भव्य महल, इमारतें, बाजार आदि बनवाये। जयसिंह भूगोल, ज्योतिष और गणित विद्या में अत्यधिक रुचि लेता था। उसने जयपुर, मथुरा, बनारस और उज्जैन में इनकी उन्नति के लिए शोधशालाएँ स्थापित कीं और अपने दरबार में इनसे सम्बन्धित हिन्दू, मुसलमान और विभिन्न यूरोपियन विद्वानों को एकत्रित किया। जयसिंह ने साहित्यिक प्रगति में भी भाग लिया। उसके समय में धर्मशास्त्रों पर विभिन्न ग्रन्थ लिखे गये। उसने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में एक प्रसिद्ध विद्वान रत्नाकर भट्ट पौंडरीक थे। उनके भतीजे ब्रजनाथ भट्ट भी एक प्रमुख विद्वान हुए। उसके समय के प्रमुख विद्वानों में श्रीकृष्ण भट्ट, हरिकृष्ण, मायाराम, जगन्नाथ, प्रियदास, केवलराम आदि थे। इन विद्वानों ने ज्ञान के सभी क्षेत्रों की उन्नति में सहयोग दिया। जयसिंह ने विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को रोकने का भी प्रबन्ध किया, जैसे कन्या-हत्या। उसने जाति-उपजातियों में खान-पान की उदारता आदि का समर्थन किया। इस प्रकार जयसिंह ने अनेक कठिनाइयों और राजनीतिक दाँवपेचों में व्यस्त रहते हुए भी भारत की सांस्कृतिक प्रगति में अभूतपूर्ण योगदान दिया। इस कारण, उसका स्थान अपने समय के राजस्थान के शासकों में ही नहीं अपितु भारत के योग्यतम शासकों में आता है।

नादिरशाह का आक्रमण (1739 ई.)

1736 ई. में नादिरशाह ने ईरान (पर्शिया) पर अधिकार किया और अफगानों को वहाँ से निकाल दिया। अफगानों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट करने के लिए उसने 1738 ई. में कन्धार पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। उसके पश्चात् उसने अफगानिस्तान और भारत

पर आक्रमण करने की योजना बनायी। नादिरशाह महत्वाकांक्षी था। उसने देखा कि मुगल बादशाह अपनी सीमाओं की सुरक्षा की ओर ध्यान नहीं दे पा रहा है, इस कारण भारत पर आक्रमण करके यहाँ से धन लूटना उसके आक्रमण का प्रमुख लक्ष्य बन गया । कन्धार को जीतकर उसने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया।

मुगल-सूबेदार नासिरखाँ को मुगल-दरबार से कोई सहायता नहीं मिली। वह वहाँ से भाग खड़ा हुआ तथा नादिरशाह ने सरलता से अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया। नादिरशाह ने पेशावर के मार्ग से पंजाब में प्रवेश किया। पंजाब के सूबेदार जकारियाखाँ को भी मुगल-दरबार से कोई सहायता नहीं मिली और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। तब मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को होश आया और वह अपनी सेना को लेकर करनाल पहुँचा। नादिरशाह भी अपनी सेना को लेकर करनाल पहुँच गया। 24 फरवरी, 1739 ई. को करनाल का युद्ध हुआ। युद्ध में मुहम्मदशाह और निजाम-उल-मुल्क के नेतृत्व में मुगल-सेना ने कोई भाग नहीं लिया। केवल सादतखाँ, खानेदौरान और नासिर मुहम्मद के नेतृत्व में मुगल-सेना के थोड़े भाग ने युद्ध में भाग लिया। उसकी पराजय हुई। इसके पश्चात् सन्धि की बातचीत हुई और नादिरशाह दो करोड़ रुपया लेकर वापस लौटने के लिए राजी हो गया। युद्ध में खानेदौरान की मृत्यु हो गयी थी अतः बादशाह ने मीर-बख्शी के पद पर निजाम-उल-मुल्क की नियुक्ति कर दी। इससे सादतखाँ असन्तुष्ट हो गया क्योंकि वह स्वयं इस पद को प्राप्त करने का इच्छुक था। उसने नादिरशाह को दिल्ली जाने की सलाह दी। नादिरशाह ने बादशाह मुहम्मदशाह और निजाम-उल-मुल्क को कैद कर लिया तथा दिल्ली पहुँचने का निश्चय किया। मुहम्दशाह को उसकी बात माननी पड़ी। 20 मार्च को नादिरशाह ने दिल्ली में प्रवेश किया जहाँ मुहम्मदशाह ने उसका स्वागत किया। 22 मार्च को दिल्ली में दंगा हो गया और कुछ ईरानी सैनिक मारे गये। इससे असन्तुष्ट होकर नादिरशाह ने कत्लेआम का आदेश दिया। प्रायः आठ घण्टे दिल्ली में कत्लेआम होता रहा, प्रायः तीस हजार व्यक्ति मारे गये, अनेक स्थानों में आग लगायी गयी और प्रत्येक स्थान पर लूटमार की गयी। 15 मई तक नादिरशाह दिल्ली में रहा। उसके पश्चात् लूट में एकत्रित किये हुए धन, तखत-ए-ताऊस, कोहनूर हीरा, हजारों दास-दासी, हाथी, घोड़े, ऊँट, कारीगर आदि लेकर नादिरशाह वापस लौट गया। उसने अफगानिस्तान, कश्मीर, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके अतिरिक्त, पंजाब के सूबेदार जकारियाखाँ ने उसके आधिपत्य को स्वीकार करके बीस लाख रुपया प्रति वर्ष उसे देना स्वीकार किया। इस प्रकार, नादिरशाह ने मुगल-साम्राज्य को न केवल आर्थिक दृष्टि से दुर्बल किया अपितु इसकी प्रतिष्ठा और शक्ति को भी नष्ट कर दिया। निस्सन्देह, इस आक्रमण ने भारतीयों में यह भाव उत्पन्न किया कि विदेशी आक्रमण से सुरक्षा के लिए मुगल बादशाह के नेतृत्व में संगठित केन्द्रीय सत्ता को बनाये रखना आवश्यक है, जिसके कारण किसी ने भी यहाँ तक कि सैनिक दृष्टि से सर्वशक्तिमान बन जाने के पश्चात् मराठों ने भी मुगल बादशाह को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न नहीं किया। परन्तु मुगल बादशाह की दुर्बल स्थिति से सभी भारतीय शक्तियाँ परिचित हो गयीं जिससे क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्ति बलवती हुई और मुगल-साम्राज्य का वस्तुतः विघटन आरम्भ हुआ।

इस प्रकार 1707-1740 ई. के विघटन के मध्य के समय की कुछ प्रमुख विशेषताएँ रहीं। इस समय में राज्य के अमीरों में गुटबन्दी हुई। इस गुटबन्दी का आधार धर्म, जाति, भारतीय अथवा विदेशी होना न था यद्यपि समय-समय पर विभिन्न गुटों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इन तत्वों की सहायता अवश्य ली। अमीरों की गुटबन्दी का मुख्य

आधार राजनीतिक तथा आर्थिक था। बादशाहों की दुर्बल स्थिति का लाभ उठाकर राज्य के प्रमुख अमीरों ने वजीर और मीर-बख्शी के पदों को प्राप्त करने के लिए गुटबन्दियाँ कीं क्योंकि राज्य की शक्ति, मुख्यतया जागीरों को वितरित करने की शक्ति बादशाह के पश्चात् इन पदों को प्राप्त करने वाले अमीरों के हाथों में थी । इस समय की एक अन्य विशेषता औरंगजेब की अनुदार नीति का त्याग था। बादशाह जहाँदारशाह के समय में ही जजिया को हटा दिया गया और सैयद-बन्धुओं ने फर्रुखसियर के समय में तीर्थयात्रा-कर भी समाप्त कर दिया। यद्यपि समय-समय पर अनुदार-वर्ग ने इन परिवर्तनों का विरोध किया परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सभी ने इन परिवर्तनों को स्वीकार किया और सभी बादशाहों एवं गुटों ने जाटों, राजपूतों तथा मराठों के प्रति समझौते की नीति का पालन किया । इस समय में राजपूत-राज्य मुगल-दरबार के प्रति निष्ठावान न रहे बल्कि वे प्रायः स्वतन्त्र राज्य बन गये। परन्तु उन्होंने इसका लाभ नहीं उठाया वरन् आन्तरिक संघर्षों में फँसकर अपने को दुर्बल बना लिया जिसके कारण मराठों को उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। इसके पश्चात् वे भारतीय राजनीति में कभी भी प्रभावशाली न बन सके। अमीरों की गुटबन्दी और बादशाहों की दुर्बलता के कारण मुगल-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ और विदेशी आक्रमण शुरू हो गये । इस समय में हैदराबाद, बंगाल और अवध के प्रायः स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ। राजपूत-राज्य तथा ये सभी राज्य यद्यपि कानूनी रूप से मुगल बादशाह को अपना सार्वभौमिक बादशाह मानते रहे परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रायः स्वतन्त्र हो गये। इस प्रकार, यह समय ऐसा रहा जिसमें वस्तुतः मुगल-साम्राज्य का विघटन आरम्भ हुआ। मुगल-साम्राज्य के विघटन का लाभ मराठों ने उठाया। बहुत शीघ्र ही मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गये। 1740 ई. तक ही वस्तुतः स्थिति यह बन गयी कि मुगल बादशाह नाममात्र के लिए भारत का बादशाह रह गया। मुगल-साम्राज्य के अवशेषों से विभिन्न स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ जिनमें सर्वप्रथम स्थान मराठों ने प्राप्त किया। परन्तु इसी समय में भारत पर विदेशी आक्रमण आरम्भ हुए। प्रथम आक्रमण नादिरशाह ने किया। उसके सफल आक्रमण ने अहमदशाह अब्दाली के निरन्तर आक्रमणों के लिए मार्ग खोल दिया।

मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् अहमदशाह (1748-54 ई.) 21 वर्ष की आयु में मुगल बादशाह बना। वह विलासी और अयोग्य था। उसके समय में अहमदशाह अब्दाली ने जो नादिरशाह की मृत्यु के पश्चात् अफगानिस्तान का शासक बन गया था, अपने दूसरे और तीसरे आक्रमण में मुल्तान और पंजाब को जीतने में सफलता पायी। उसके समय में मराठे दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित होकर प्रभावपूर्ण बन गये। भरतपुर के राजा सूरजमल को भी दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। अहमदशाह की मृत्यु के पश्चात् आलमगीर द्वितीय (1754-58 ई.) मुगल बादशाह बना। वह भी अयोग्य था। उसके समय में अहमदशाह अब्दाली ने अपने चौथे आक्रमण में दिल्ली में प्रवेश किया और वहाँ लूटमार की। आलमगीर की हत्या उसके वजीर इमाद-उल-मुल्क ने 1758 ई. में करा दी और शाहजहाँ तृतीय (1758-59 ई.) को बादशाह बनाया। उसने केवल एक वर्ष शासन किया। 1759 ई. में आलमगीर के पुत्र अलीगौहर ने बिहार में अपने को शाहआलम द्वितीय (1759-1806 ई.) के नाम से मुगल बादशाह घोषित किया, यद्यपि वह वर्षों तक दिल्ली न आ सका। 1772 ई. में मराठों के संरक्षण में वह दिल्ली पहुँचा। उसके समय में पानीपत का तीसरा युद्ध हुआ। शाहआलम के पश्चात् क्रमशः अकबर द्वितीय (1806-1837 ई.) और बहादुरशाह द्वितीय (1838-1858 ई.) मुगल बादशाह हुए। अन्तिम बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने बन्दी बनाकर रंगून भेज दिया तथा मुगल-साम्राज्य कानूनी तरीके से भी समाप्त हो गया।

10

मराठा-शक्ति का विस्तार और प्रथम तीन पेशवा

(1707–1761 ई.)

छत्रपति शाहू (1707–1749 ई.)

शाहू छत्रपति शम्भाजी का पुत्र था। रायगढ़ के पतन के पश्चात् उसे और उसकी माता येसूबाई को औरंगजेब ने कैद कर लिया था। उस समय उसकी आयु 7 वर्ष की थी। 17-1/2 वर्ष तक शाहू मुगलों का बन्दी रहा। यह आशा नहीं थी कि वह कभी भी मराठों का राजा बन सकेगा। परन्तु ऐसा ही हुआ। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध हुआ। उस समय शाहू आजमशाह की कैद में था। आजमशाह के सलाहकार जुल्फिकारखाँ ने उसे शाहू को मुक्त करके महाराष्ट्र जाने देने की सलाह दी। उसका विचार था कि इससे मराठों में फूट पड़ जायेगी। उस समय तक राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का मराठा-छत्रपति के रूप राज्याभिषेक कर चुकी थी। जुल्फिकारखाँ का विचार था कि शाहू के महाराष्ट्र पहुँचने और मराठा-छत्रपति का दावा करने से उसका संघर्ष शिवाजी द्वितीय से हो जायेगा जिससे मराठे गृह-युद्ध में फँस जायेंगे। इस कारण जब मई 1707 ई. में शाहू ने मुगल-शिविर को छोड़ा तब उसे रोकने का प्रयत्न नहीं किया गया। शाहू महाराष्ट्र पहुँचा। उसने मराठा-सरदारों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। बालाजी विश्वनाथ की सहायता से वह मराठा-सेनापति धानाजी जादव को अपने पक्ष में करने में सफल हुआ। नवम्बर 1707 ई. में खेद नामक स्थान पर उसने ताराबाई की सेना को परास्त किया और महाराष्ट्र पर अपना अधिकार कर लिया। फरवरी 1708 ई. में उसने सतारा में मराठा-छत्रपति के रूप में अपना राज्याभिषेक किया। 1714 ई. में राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने ताराबाई और उसके पुत्र को कैद करने में सफलता पायी। उसने कोल्हापुर में अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय को मराठा-छत्रपति घोषित किया। इस प्रकार, यद्यपि पहले शिवाजी द्वितीय और 1714 ई. से शम्भाजी द्वितीय ने मराठा-छत्रपति होने का दावा अवश्य किया परन्तु महाराष्ट्र उनके अधिकार में न था। महाराष्ट्र शाहू के अधिकार में रहा और इस प्रकार मराठों का वास्तविक छत्रपति शाहू ही रहा। शाहू के शासन-काल में मराठा-शक्ति का विकास हुआ और मराठे भारत की प्रथम श्रेणी की शक्तियों में स्थान प्राप्त कर सके। शाहू स्वयं इसके लिए उत्तरदायी न था। शाहू न तो अच्छा शासन-प्रबन्धक था और न योग्य सेनापति। परन्तु शाहू में योग्य व्यक्तियों को तलाश करने की क्षमता थी और वह उन्हें विश्वास देना और उनसे विश्वास प्राप्त करना जानता था। इस कारण उसने पेशवा का पद योग्य व्यक्तियों को दिया। उसके पेशवा ही मराठा-शक्ति के विस्तार के लिए उत्तरदायी हुए। प्रथम पेशवा बालाजी बाजीराव ने शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ किया और

मराठा-शक्ति के विस्तार के आधार का निर्माण किया। उसके उपरान्त शाहू के द्वितीय पेशवा बाजीराव ने नीति और युद्धों द्वारा मराठा-शक्ति का विस्तार किया जिसके कारण उसी के समय में मराठों ने भारत की प्रथम श्रेणी की शक्तियों में स्थान प्राप्त कर लिया। 1740 ई. में पेशवा बाजीराव की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके पुत्र बालाजी बाजीराव को अपना पेशवा नियुक्त किया। 1749 ई. में शाहू की मृत्यु हो गयी। उसके कोई पुत्र न था। उसने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत एक बच्चे को शिवाजी द्वितीय का पुत्र स्वीकार करके अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। वह बच्चा राजाराम द्वितीय के नाम से 1750 ई. में मराठा-छत्रपति बना। परन्तु बाद में ताराबाई ने घोषणा की कि राजाराम द्वितीय उसके पुत्र का पुत्र न था। इस कारण पेशवा बालाजी ने संगोला का समझौता करके राज्य के सम्पूर्ण अधिकार स्वयं ले लिये। उस समय से छत्रपति को सतारा में नाममात्र के शासक परन्तु वस्तुतः एक बन्दी के रूप में रखा गया और मराठा-राज्य का प्रधान पेशवा हो गया। बालाजी के समय में मराठों ने दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया और वे मुगल बादशाह को बनाने और हटाने वाले बन गये। इस कारण विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा करना भी उनका उत्तरदायित्व हो गया। इसी कारण उनका मुकाबला अहमदशाह अब्दाली से हुआ जिसका परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ।

सरदेसाई के अनुसार शाहू मराठों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण शासक था। वह समय के अनुकूल शासक था। उस समय एक उदार विचार वाले, मन्त्रियों में विश्वास करने वाले, मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रखने वाले और दो मराठा-परिवारों में एकता लाने वाले राजा की आवश्यकता थी। सरदेसाई के अनुसार शाहू ऐसा ही राजा था। शाहू में योग्य व्यक्तियों की तलाश करने, उनमें विश्वास रखने और उनसे विश्वास प्राप्त करने की भी क्षमता थी। इसी कारण उसने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया। उसके पश्चात् उसके बीसवर्षीय पुत्र बाजीराव को और तदुपरान्त उसके 18-1/2 वर्ष के पुत्र बालाजी बाजीराव को पेशवा बनाया गया। ये सभी योग्य सिद्ध हुए और सभी शाहू के प्रति वफादार रहे। शाहू जानता था कि जो क्षमता उसमें न थी वह उसके पेशवाओं में थी। इस कारण उसने शासन के सम्पूर्ण अधिकार पेशवाओं को सौंप दिये। पेशवाओं ने अपनी योग्यता से मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। इस प्रकार शाहू अप्रत्यक्षतः मराठा-शक्ति के विस्तार के लिए उत्तरदायी हुआ। इसके अतिरिक्त वह पेशवाओं से सम्मान भी प्राप्त कर सका और उनसे अपनी आज्ञा का पालन भी करा सका। परन्तु शाहू मराठा-छत्रपति और अप्रत्यक्षतः मराठा-शक्ति के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। पेशवाओं को स्वतन्त्र अधिकार देने से पेशवाओं की शक्ति और सम्मान में वृद्धि हुई और मराठा-छत्रपति का स्थान शासन में नगण्य हो गया। पेशवाओं ने शाहू के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् वे छत्रपति के प्रति वैसे भाव न रख सके और राज्य में प्रमुख बन गये। इसके अतिरिक्त पेशवाओं के उत्थान ने अन्य मराठा-सरदारों की महत्वाकांक्षाओं को भी बल प्रदान किया जिसके कारण मराठा-राज्य एक संघ-राज्य में परिवर्तित हो गया और उसकी एकता नष्ट हो गयी। यह मराठों के पतन का एक मुख्य कारण बना। इस प्रकार, शाहू एक तरफ मराठा-शक्ति के विस्तार और दूसरी तरफ मराठा-छत्रपति और मराठा-शक्ति के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। इसी कारण, मराठा छत्रपतियों में शाहू का एक विशिष्ट स्थान है।

प्रथम तीन पेशवा और मराठों का उत्थान

शाहू के समय में महाराष्ट्र की राजनीतिक समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर थीं। आन्तरिक व्यवस्था और शान्ति, गृह-युद्ध की समाप्ति और एक दृढ़ राज्य की स्थापना करना शाहू

अथवा ताराबाई के द्वारा सम्भव नहीं हो सकते थे। शाहू आरामपसन्द और शान्तिप्रिय व्यक्ति था जबकि ताराबाई स्वार्थी और संकुचित प्रवृत्ति की स्त्री थी। इसके अतिरिक्त, इन कार्यों की पूर्ति करने की क्षमता शिवाजी द्वारा स्थापित 'अष्ट-प्रधान' संस्था में भी नहीं रह गयी थी। औरंगजेब के आक्रमणों के कारण वह प्रायः नष्ट हो चुकी थी। इस समय शाहू के पेशवाओं ने इन कार्यों की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व सँभाला। शाहू के पेशवा योग्य सिद्ध हुए। वह इन सभी कार्यों को करने में सफल हुए। यही नहीं अपितु उन्होंने मराठों के सम्मुख एक उच्च आदर्श भी उपस्थित किया और वह था 'हिन्दू-पदपादशाही' की स्थापना। इतिहासकार राजवाडे ने जब पेशवाओं का उद्देश्य 'ब्राह्मण-प्रभुसत्ता' को स्थापित करना बताया तो यह उसकी एक भूल थी। पेशवाओं का उद्देश्य उससे कहीं अधिक विशाल था । पेशवाओं ने महाराष्ट्र को न केवल राजनीतिक स्थायित्व और शान्ति प्रदान की अपितु उसके निवासियों की दृष्टि उत्तर-भारत के सम्पन्न प्रदेश की ओर भी आकर्षित की। उन्होंने महाराष्ट्र के निवासियों का ध्यान संकीर्ण झगड़ों से हटाकर उत्तर-भारत की विजय की ओर लगाया जिससे मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन सके। यह पेशवाओं की मराठा-राज्य और महाराष्ट्र को एक महान् देन थी। अपनी योग्यता से पेशवाओं ने वह कार्य किया जिसके द्वारा मराठा-शक्ति का सदुपयोग हो सका । अपनी योग्यता के कारण पेशवा 'अष्ट-प्रधान' और मराठा-छत्रपति से ऊपर उठ गये। निस्सन्देह, पेशवा बालाजी विश्वनाथ, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव महान् थे। मराठा-शक्ति का विस्तार उन्हीं के कारण हुआ।

पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713-1720 ई.)

1699-1708 ई. के मध्य विश्वनाथ मराठा-सेनापति धानाजी जादव की सेवा में था और शाहू के महाराष्ट्र में प्रवेश करने के अवसर पर दौलताबाद का सर-सूबेदार था। उसने धानाजी जादव को शाहू का साथ देने की सलाह दी और 1707 ई. में वह अपने स्वामी के साथ शाहू की सेवा में चला गया। धानाजी जादव की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके पुत्र चन्द्रसेन को सेनापति का पद दिया। परन्तु वह उस पर पूर्ण विश्वास नहीं करता था। इस कारण, उसने 1708 ई. में विश्वनाथ को सेनाकार्टे का पद दिया जिससे वह सेना के संगठन की देखभाल करने के साथ-साथ चन्द्रसेन पर भी दृष्टि रख सके। विश्वनाथ ने वफादारी से शाहू की सेवा की और महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। उसने ताराबाई के विरुद्ध हो रहे षड्यन्त्र में भाग लिया जिससे राजसबाई को सहायता मिली और उसने ताराबाई और उसके पुत्र को कैद करके अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय को कोल्हापुर में मराठा-राजा घोषित करने में सफलता पायी। 1713 ई. में शाहू ने विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया। 1714 ई. में विश्वनाथ ने मराठों के नौ-सेनापति कान्होजी आँग्रिया से भेंट की और उसे शाहू को मराठा-छत्रपति स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया। विश्वनाथ ने कौशल और युद्ध से शाहू के विरोधी मराठा-सरदारों जैसे कृष्णराव खटाऊकर, धानाजी थोरट, उदाजी चौहान आदि को परास्त करने में भी सफलता पायी। इस प्रकार, विश्वनाथ ने महाराष्ट्र में शाहू की स्थिति को दृढ़ किया। उसने राज्य की आर्थिक स्थिति को भी सुधारने का प्रयत्न किया परन्तु उसमें सफल न हुआ। इसके विपरीत, उसने शाहू के व्यक्तिगत व्यय के उत्तरदायित्व को विभिन्न मराठा-सरदारों पर डालकर उसे अपने सरदारों पर आश्रित कर दिया। यही विश्वनाथ की एकमात्र असफलता रही ; अन्य सभी दृष्टियों से वह सफल रहा।

विश्वनाथ की एक मुख्य सफलता 1719 ई. में मुगल बादशाह की ओर से सैयद हुसैनअली द्वारा मराठों से की गयी सन्धि थी। वस्तुतः सैयद हुसैनअली को बादशाह

फर्रुखसियर के विरुद्ध सैनिक-शक्ति की आवश्यकता थी। फर्रुखसियर सैयद-भाइयों के विनाश के लिए प्रयत्नशील था। इस कारण, सैयद-भाइयों ने फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने का प्रयत्न आरम्भ किया। इस प्रयत्न में सफलता पाने के लिए सैयद हुसैनअली ने जो उस समय दक्षिण-भारत में था, शाहू से एक सन्धि का प्रस्ताव किया। विश्वनाथ की सलाह से शाहू ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के अनुसार मुगल-बादशाह ने शाहू को महाराष्ट्र और शाहू द्वारा विजित प्रदेशों का स्वामी, दक्षिण-भारत के छः सूबों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के मराठों केअधिकार और उन सूबों में शान्ति स्थापित करने के उनकेउत्तरदायित्व को स्वीकार कर लिया। इसके बदले में शाहू ने उस अवसर पर मुगलों को 15,000 घुड़सवार-सैनिकों की सहायता देने और मुगल बादशाह को दस लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया। यह सन्धि विश्वनाथ की एक बड़ी सफलता थी। इससे अप्रत्यक्षतः मराठे दक्षिण-भारत के सम्प्रभु बन गये तथा 'चौथ' एवं 'सरदेशमुखी' वसूल करने के अधिकार को प्राप्त करके उन्हें अपने राज्य को विस्तृत करने का बहाना मिला। इसके अतिरिक्त सैयद हुसैनअली के साथ विश्वनाथ खाण्डेराव धाभादे के नेतृत्व में मराठा-सैनिक दिल्ली गये, मुगल बादशाह फर्रुखसियर को सिंहासन से हटाने में भाग लिया तथा मुगल बादशाह और उसके साम्राज्य की दुर्बलता से परिचित हुए। इससे उनके साहस में वृद्धि हुई और भविष्य में मराठों ने उत्तर-भारत की ओर कदम बढ़ाये। विश्वनाथ स्वयं यह न सोच पाया था और न उसने मराठों को उत्तर-भारत की ओर बढ़ने का प्रोत्साहन दिया। परन्तु अप्रत्यक्षतः वह मराठों में इस विस्तारवादी नीति को आरम्भ करने के लिए उत्तरदायी हुआ। 1720 ई. में विश्वनाथ की मृत्यु हो गयी। तब तक वह शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ कर चुका था, शाहू मुगल बादशाह से अपने छत्रपति पद की स्वीकृति पा चुका था, दक्षिण-भारत से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का अधिकार उसने पा लिया था । इस प्रकार मराठे मुगल-दरबार और उत्तर-भारत की राजनीति में प्रत्यक्षतः भाग ले रहे थे। इस सब ने मराठा-शक्ति के विस्तार की आधारशिला का निर्माण किया।

पेशवा बाजीराव (1720-1740 ई.)

विश्वनाथ की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके 20 वर्ष से भी कम आयु के पुत्र बाजीराव को पेशवा का पद प्रदान किया। बाजीराव एक योग्य नीतिज्ञ और सफल सेनापति सिद्ध हुआ। अपने प्रयत्नों से उसने मराठों को भारत की प्रथम श्रेणी की शक्तियों में स्थान दिला दिया। बाजीराव के सम्मुख विभिन्न कठिनाइयाँ थीं। नीति के आधार पर प्रतिनिधि श्रीपतराव ने और नीति के साथ-साथ ईर्ष्यावश सेनापति त्रिम्बकराव ने पेशवा का विरोध किया, कोल्हापुर के शासक शम्भाजी द्वितीय ने शाहू के अधिकारों के विरोध में अपने अधिकारों का दावा किया और निजाम-उल-मुल्क आसफजा के हाथों में खेलकर मराठों की शक्ति को विभाजित किया, कोंकण-प्रदेश में सीदियों और पुर्तगालियों ने मराठों का विरोध किया, आँग्रिया-सरदार ने शाहू के अधीनस्थ सरदार की बजाय उसके साथ एक मित्र का व्यवहार करना चाहा और तत्कालीन समय के एक सफल कूटनीतिज्ञ और सेनापति तथा हैदराबाद के प्रायः स्वतन्त्र राज्य की नींव डालने वाले निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने दक्षिण-भारत में मराठा-शक्ति को गम्भीर चुनौती दी। परन्तु बाजीराव ने उन सभी कठिनाइयों को हल किया। प्रतिनिधि श्रीपतराव उत्तर-भारत में मराठों की शक्ति के विस्तार की नीति के विरोध में था जैसा कि पेशवा बाजीराव चाहता था। अन्त में, जब बाजीराव ने निरन्तर निजाम-उल-मुल्क आसफजा को युद्ध में परास्त किया तब वह बाजीराव की नीति के पक्ष में

हो गया। सेनापति त्रिम्बकराव पेशवा से ईर्ष्या करता था और उसकी इस नीति के विरोध में भी था कि एक मराठा सरदार का एक जागीर पर एकाधिपत्य न हो। अन्त में, 1731 ई. में दभाई के निकट सेनापति और पेशवा का युद्ध हुआ जिसमें पेशवा की विजय हुई और त्रिम्बकराव युद्ध में मारा गया। इससे शाहू के सरदारों में पेशवा का स्थान प्रमुख हो गया। शम्भाजी द्वितीय ने शाहू से महाराष्ट्र की भूमि का आधा भाग और दक्षिण के छः सूबों की 'चौथ' एवं 'सरदेशमुखी' में से अपना हिस्सा माँगा। अन्त में, श्रीपतराव के नेतृत्व में एक मराठा-सेना शाहू ने उसके विरुद्ध भेजी। 1730 ई. में वार्ना नदी के निकट शम्भाजी द्वितीय की पराजय हुई, परिणामस्वरूप 1721 ई. में उसने शाहू से वार्ना की सन्धि कर ली। इस सन्धि द्वारा शम्भाजी ने शाहू को महाराष्ट्र का स्वामी और स्वयं को उसके अधीन शासक स्वीकार कर लिया। बाजीराव ने कोंकण-प्रदेश में शाहू के स्वामित्व को स्थापित किया, आँग्रिया-बन्धुओं के गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करके दोनों में समझौता कराया और दोनों को शाहू की सेवाएँ स्वीकार करने के लिए तैयार कर लिया, सीदियों को सन्धि करने के लिए बाध्य किया और पुर्तगालियों से बेसीन छीनकर उन्हें भी सन्धि के लिए बाध्य किया। निजाम-उल-मुल्क ने 1724 ई. में मराठों की सहायता लेकर दक्षिण-भारत के सूबेदार मुबारिजखाँ को परास्त करके हैदराबाद के प्रायः स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। वह मराठों का सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु सिद्ध हुआ। निजाम मुख्यतया बाजीराव की शक्ति और योजना से शंकित था। उसने उसके विरुद्ध छत्रपति शाहू और श्रीपतराव को भड़काया, शम्भाजी द्वितीय को शाहू के विरोध में अपने अधिकारों की माँग करने के लिए उकसाया और सेनापति त्रिम्बकराव को सैनिक-सहायता देने का आश्वासन दिया। तब भी बाजीराव उसके विरुद्ध सफल रहा। बाजीराव ने 1727-1728 ई. तक निजाम से छुटपुट युद्ध किये और अन्त में 1728 ई. में पालखेद नामक स्थान पर निजाम को घेरकर ऐसी स्थिति में डाल दिया कि उसने बिना युद्ध के मुंगीशेगाँव की सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने शाहू को मराठों का एकमात्र छत्रपति मान लिया और उसे 'चौथ' एवं 'सरदेशमुखी' भी देने का वायदा किया। 1737 ई. में मुगल बादशाह ने निजाम को मराठों के विरुद्ध भेजा। परन्तु इस बार भी बाजीराव उससे अधिक योग्य सेनापति सिद्ध हुआ। बाजीराव ने भोपाल के निकट निजाम को घेर लिया और पुनः ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि उसे बिना युद्ध के 1738 ई. में दुरई-सराय की सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस सन्धि के द्वारा मुगल बादशाह ने मालवा का सूबा और नर्मदा तथा चम्बल नदी के मध्य की सम्पूर्ण भूमि मराठों को दे दी। इसके अतिरिक्त, मराठों ने पचास लाख रुपया भी प्राप्त किया। इस विजय ने सम्पूर्ण भारत में बाजीराव की प्रतिष्ठा को स्थापित कर दिया। इस प्रकार बाजीराव ने अपने सभी शत्रुओं को परास्त करने में सफलता पायी।

परन्तु बाजीराव की सफलता इससे भी अधिक थी। उसका प्रमुख लक्ष्य उत्तर-भारत की ओर मराठा-शक्ति का विस्तार करना था। उसका कहना था, "हमें इस जर्जर वृक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिए, शाखाएँ तो स्वयं गिर जायेंगी।" इसका अर्थ था कि पतनोन्मुख मुगल-साम्राज्य पर आक्रमण करके मराठों को राज्य-विस्तार करना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आरम्भ से ही उत्तर-भारत की ओर विस्तार की नीति अपनायी। मराठों ने 1722 ई. में मालवा कर अपना प्रथम आक्रमण किया। उसके पश्चात् मराठे मालवा से निरन्तर 'चौथ' की माँग करते रहे। अन्त में, 1738 ई. में दुरई-सराय की सन्धि द्वारा निजाम-उल-मुल्क ने मुगल बादशाह की ओर से मालवा मराठों को सौंप दिया। गुजरात पर मराठों के आक्रमण 1723 ई. से आरम्भ हुए। धीरे-धीरे उन्होंने वहाँ अपने दबाव में वृद्धि की।

अन्त में, 1735 ई. तक प्रायः सम्पूर्ण गुजरात पर मराठों का आधिपत्य हो गया। 1729 ई. में बाजीराव बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल की सहायता के लिए गया और उससे बदले में उसने बुन्देलखण्ड का कुछ भू-क्षेत्र तथा झाँसी, काल्पी आदि नगरों को प्राप्त किया जो आगरा के निकट थे। उसके पश्चात् मराठों ने दोआब, राजस्थान और दिल्ली के निकटस्थ क्षेत्रों पर आक्रमण करने आरम्भ किये जिनके फलस्वरूप 1736 ई. में मुगल बादशाह ने मराठों को चम्बल नदी के दक्षिणी भू-क्षेत्र के लिए तेरह लाख रुपया, राजस्थान के लिए तेरह लाख साठ हजार रुपया और दक्षिण की आय का पाँच प्रतिशत भाग बाजीराव को 'सरदेशपाण्य' के रूप में प्रति वर्ष देना स्वीकार कर लिया। बाद में बाजीराव ने अवध और बंगाल के सूबों तथा इलाहाबाद, गया और बनारस जैसे हिन्दुओं के तीर्थस्थलीय नगरों की माँग भी मुगल बादशाह से की यद्यपि उसे स्वीकार नहीं किया गया। 1740 ई. में बाजीराव की मृत्यु हो गयी। परन्तु अपनी मृत्यु से पहले बाजीराव ने मराठों को न केवल दक्षिण-भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया था अपितु उन्हें उत्तर-भारत में भी विस्तृत भू-क्षेत्र पर अधिकार दिला दिया था। इस प्रकार मराठे, उसके समय में, भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति का स्थान प्राप्त कर चुके थे यद्यपि वैधानिक रूप से न उसकी माँग की गयी थी और न वह स्वीकृत था।

बाजीराव को महान् पेशवाओं में से एक स्वीकार किया गया है। वह एक महान् सैनिक और सेनापति था। निजाम-उल-मुल्क को अपने समय का एक महान् सेनापति माना गया था जिसने एक सौ से अधिक युद्धों में भाग लिया था। दो बार युद्ध में उसका बाजीराव से सामना हुआ और दोनों ही बार उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बाजीराव ने मराठों के सम्मुख एक नवीन और महान् लक्ष्य रखा और वह था उत्तर-भारत की विजय। मुग़ल-साम्राज्य नष्टप्रायः था और ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा व्यक्ति सफलता से साम्राज्य का निर्माण कर सकता था जिसमें साहस और तलवार की शक्ति होती। बाजीराव ने इस तथ्य को समझा और मराठा-साम्राज्य की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया। मुगल-साम्राज्य के पतन से भारत की राजनीतिक स्थिति में जो शून्यता आ गयी थी उसे किसी न किसी को अवश्य भरना था। यदि बाजीराव के नेतृत्व में मराठे इस कार्य को न करते तो कोई अन्य व्यक्ति इस कार्य को करता। बाजीराव ने जब इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया तो यह उसकी व्यावहारिक बुद्धि और उसके महान् आदर्श का प्रमाण था। इस कार्य की पूर्ति के लिए उसने तलवार का सहारा लिया जो मध्य-युग में सर्वाधिक सफल साधन था। बाजीराव सफल सेनापति सिद्ध हुआ। उसके नेतृत्व में मराठा-घुड़सवारों ने प्रायः सम्पूर्ण भारत में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की। बाजीराव ने अपने मुकाबले में खड़ी होने वाली सभी शक्तियों को परास्त किया। उसके समय में मराठे न केवल दक्षिण-भारत की अपितु सम्पूर्ण भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन गये। बाजीराव का विजय-अभियान चल ही रहा था कि उसकी मृत्यु हो गयी और यह जानने का अवसर न मिल सका कि वह आगे क्या चाहता था। परन्तु जो भी सफलता उसने प्राप्त की वही उसे महान् सिद्ध करने के लिए पर्याप्त थी। डॉ. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है : "बाजीराव एक महान् सेनापति था। उसकी योजना की मौलिकता, उसको कार्यरूप में परिणत करने का साहस और युद्ध-नीति पर उसकी दृष्टि उसे, निस्सन्देह, असाधारण सेनापतियों की श्रेणी में स्थान देती है। शाहू के प्रधानमन्त्री की हैसियत में वह महाराष्ट्र के तत्कालीन व्यक्तियों में निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ था। उसकी विदेश-नीति और मराठा-विस्तार की नीति मौलिक ही नहीं अपितु दूरदर्शितापूर्ण भी थी। इस कारण, यह ठीक ही कहा गया है कि बाजीराव योजना बनाने का मस्तिष्क रखने के साथ-साथ उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने की शक्ति भी रखता था।"

पेशवा बालाजी बाजीराव (1740-1761 ई.)

बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके 18-1/2 वर्षीय पुत्र बालाजी को पेशवा नियुक्त किया। बालाजी बाजीराव अपने पिता के समान योग्य सैनिक और सेनापति न था परन्तु व्यवहार-कुशल अवश्य था। यह कहा गया है कि बाजीराव ने मित्र कम और शत्रु अधिक बनाये जबकि उसके पुत्र बालाजी ने शत्रु कम और मित्र अधिक बनाये। आन्तरिक दृष्टि से बालाजी ने अर्थ और शासन-व्यवस्था को ठीक करने का प्रयत्न किया और कुछ मात्रा में सफलता भी प्राप्त की। परन्तु उसकी मुख्य दुर्बलता मराठा-सरदारों को अपने अधीन बनाये रखने और उनमें परस्पर सहयोग बनाये रखने में असफल रहने की रही। वह रघुजी भौंसले की महत्वाकांक्षाओं पर अंकुश न लगा सका, उसने गायकवाड़ को असन्तुष्ट कर दिया तथा वह सिन्धिया और होल्कर की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को न रोक सका। विदेश-नीति की दृष्टि से उसने अपने पिता द्वारा आरम्भ की गयी साम्राज्य-विस्तार की नीति को ही अपनाया। छत्रपति शाहू ने भी उसे इस दिशा की ओर बढ़ने का उत्साह प्रदान किया। इस दृष्टि से वह सफल भी हुआ। 1752 ई. तक मराठे अपनी शक्ति की चरम-सीमा पर पहुँच गये। मराठा-घुड़सवार दक्षिण से उत्तर-भारत तक फैल गये, मुगल बादशाह उनके हाथ की कठपुतली बन गये, भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र पर उनका अधिकार हो गया और बचे हुए क्षेत्रों से उन्होंने 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करना आरम्भ कर दिया। परन्तु मराठे अपने बढ़ते हुए उत्तरदायित्व को सँभालने में असमर्थ रहे। उन्होंने राजपूतों और जाटों से अपने सम्बन्ध खराब कर लिये, दिल्ली की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने के पश्चात् वे उसे अपने अधिकार में न रख सके, विदेशी मुसलमान-सरदारों का दल उसके विरुद्ध हो गया तथा उस दल ने अहमदशाह अब्दाली से मराठों के विरुद्ध सहायता माँगी। इसका अन्तिम परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ जिसमें मराठों की पराजय हुई और जिससे मराठा-शक्ति की महान् क्षति हुई। उसके पश्चात् पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी, मराठों की एकता नष्ट हो गयी और मराठा-शक्ति पतनोन्मुख हुई। इस प्रकार, बालाजी का समय महान् सफलताओं से आरम्भ हुआ और मराठे उसके समय में एक बार अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गये। परन्तु उसी के समय से मराठों का पतन भी आरम्भ हुआ। इसकेलिए बालाजी को जिम्मेदार कहा गया। साम्राज्य की आधारशिला केवल सैनिक-बल पर आधारित नहीं होती अपितु उसके लिए दृढ़ और निष्पक्ष शासन-व्यवस्था की स्थापना करना भी आवश्यक होता है। बालाजी बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को यह व्यवस्था प्रदान न कर सका और इस प्रकार मराठों को समय और परिस्थितियों के अनुकूल नेतृत्व प्रदान करने में असफल हुआ। यह उसकी और मराठों की असफलता का कारण बना। इस प्रकार बालाजी के समय में मराठा-शक्ति चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर पतनोन्मुख भी हुई। पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय के धक्के को बालाजी सहन न कर सका और 23 जून, 1761 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी । परन्तु उसकी मृत्यु के अवसर पर भी मराठे भारत की एक शक्ति थे और यही बालाजी को महान् पेशवाओं में एक स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त है।

बालाजी ने अपने पारिवारिक कर्जे को चुका कर अपने को आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त किया, तुलाजी और मानाजी आँग्रिया में उत्तराधिकार का युद्ध होने पर मानाजी आँग्रिया का पक्ष लेकर उसे सफल बनाया, 1741 ई. में मुगल बादशाह से एक सन्धि करके मालवा पर मराठों के अधिकार को वैध बनाया, 1746 ई. में कर्नाटक की विजय पूर्ण करायी, और निजाम से असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा उसके निकट के स्थानों को छीन

लिया। बालाजी का संघर्ष रघुजी भौंसले से भी हुआ। रघुजी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों से 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने का एकाधिपत्य दे दिया गया था। परन्तु वह इतने से ही सन्तुष्ट न रहा और उसने मालवा एवं बुन्देलखण्ड की सीमाओं पर आक्रमण करने आरम्भ कर दिये जो पेशवा की जागीर में थे। बालाजी ने कई बार रघुजी को परास्त किया। अन्त में, छत्रपति शाहू ने दोनों में समझौता कराया।

बालाजी के समय में मराठों द्वारा राजस्थान के राजपूत-राज्यों में भी हस्तक्षेप किया गया। जयपुर के शासक सवाई मिर्जा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए संघर्ष हुआ। मराठों ने उसमें हस्तक्षेप किया परन्तु जिस प्रकार राजपूतों से उनका व्यवहार रहा उससे राजपूतों से उनके सम्बन्ध खराब हो गये। इसी प्रकार 1752 ई. में मारवाड़ के उत्तराधिकार के युद्ध में भी मराठों का हस्तक्षेप हानिकारक सिद्ध हुआ। इससे भी राजपूतों के सम्बन्ध मराठों से खराब हुए। उस समय राजपूत-राज्य दुर्बल थे और मराठों ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके अनुचित लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यही मराठों और राजपूतों के सम्बन्ध खराब होने का मुख्य कारण बना। इसके परिणामस्वरूप पानीपत के तृतीय युद्ध के अवसर पर मराठे राजपूत-शासकों से सहायता प्राप्त करने में असफल रहे।

इस समय में मराठों ने भरतपुर के जाट-राजा सूरजमल से भी अपने सम्बन्ध खराब कर लिये। मराठों ने मुगल बादशाह का पक्ष लेकर कुम्हेर का घेरा डाला परन्तु सफलता न मिली। इससे मराठों के सम्बन्ध जाटों से भी खराब हो गये। उत्तर-भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करते हुए मराठों की यह दूसरी गम्भीर भूल थी।

1749 ई. में शाहू की मृत्यु हो गयी। उसने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत शिवाजी द्वितीय के तथाकथित पुत्र राजाराम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। परन्तु राजाराम के छत्रपति बनने के पश्चात् ताराबाई ने यह बताया कि राजाराम शिवाजी द्वितीय का पुत्र न था। इस कारण, बालाजी ने राजाराम से संगोला का समझौता किया जिसके अनुसार छत्रपति के सम्पूर्ण अधिकार पेशवा को प्राप्त हो गये और छत्रपति को सतारा में प्रायः बन्दी रूप में छोड़ दिया गया। इस प्रकार, बालाजी मराठा-साम्राज्य का प्रधान बन गया।

पानीपत का तृतीय युद्ध (1761 ई.)—बालाजी के समय की प्रमुख घटना पानीपत का तृतीय युद्ध था जो मराठों और अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली के मध्य हुआ।

1752 ई. में पेशवा ने मुगल बादशाह से एक सन्धि थी। उसके द्वारा मुगल बादशाह ने मराठों को सम्पूर्ण भारत में 'चौथ' वसूल करने का अधिकार दिया और उसके बदले में मराठों ने अवसर पड़ने पर मुगल बादशाह को सहायता देने का वायदा किया। इस प्रकार, इस सन्धि से मराठे प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली की राजनीति से सम्बद्ध हो गये। उस समय मुगल-सरदार दो गुटों में बँट चुके थे जिनमें सत्ता के लिए परस्पर संघर्ष रहता था। उनमें एक गुट भारतीय-मुसलमानों का था और दूसरा गुट विदेशी, मुख्यतया, तूरानी-मुसलमानों का था। मराठों को सरदारों की उस गुटबन्दी में भी भाग लेना पड़ा और वे भारतीय मुसलमान-सरदारों के गुट के समर्थक बन गये। इस कारण, विदेशी मुसलमान-सरदारों के गुट ने विदेश से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यह सहायता उन्हें सरलता से अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली से प्राप्त हो गयी। अहमदशाह अब्दाली कश्मीर, मुल्तान और पंजाब को अपने राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत मानता था। इस कारण वह इन प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर

था। दुर्बल मुगल बादशाह दरबार की इस गुटबन्दी को रोकने में सर्वथा असमर्थ थे। इस कारण, दरबार के विरोधी गुटों को क्रमशः मराठों और अहमदशाह अब्दाली से सहायता प्राप्त हुई जिनके समर्थन को प्राप्त करके उन्होंने राज्य के प्रमुख पदों पर अधिकार करने तथा बादशाह तक में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। इस कारण, इन गुटों में संघर्ष हुआ और इन विरोधी गुटों का समर्थन करते हुए मराठे और अहमदशाह अब्दाली भी आपस में संघर्षरत हुए। इस प्रकार, मुगल बादशाह की दुर्बलता, उसके सरदारों का दो गुटों में विभाजित होना और सत्ता के लिए उनमें संघर्ष, मराठों का मुगल बादशाह को सहायता देने का वायदा तथा उत्तर-भारत में अपने प्रभाव को फैलाने की आकांक्षा तथा अहमदशाह अब्दाली का कश्मीर, मुल्तान और पंजाब पर अधिकार करने की लालसा से मुगल-दरबार के तूरानी गुट का समर्थन आदि पानीपत के तृतीय युद्ध का कारण बने।

1752 ई. में अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किया था जिससे मुगल बादशाह अहमदशाह ने पंजाब और मुल्तान उसे सौंप दिये थे। अब्दाली मुइन-उल-मुल्क को इन स्थानों का सूबेदार बनाकर वापस चला गया था। 1753 ई. में मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु हो गयी। उसकी विधवा पत्नी मुगलानी बेगम ने शासन अपने हाथों में ले लिया परन्तु वह उसको सँभाल न सकी। 1754 ई. में मराठा रघुनाथराव के नेतृत्व में दिल्ली पहुँचे और वजीर गाजीउद्दीन की सहायता करते हुए उन्होंने अहमदशाह को सिंहासन से हटाकर आलमगीर द्वितीय को मुगल बादशाह बना दिया। इससे विदेशी मुसलमानों का गुट असन्तुष्ट हुआ जिनमें एक प्रमुख सरदार नजीबुद्दौला रुहेला था। 1756 ई. में वजीर गाजीउद्दीन ने मुगलानी बेगम से मुल्तान और पंजाब छीन लिया। इससे अहमदशाह अब्दाली असन्तुष्ट हुआ और जब नजीबुद्दौला और मुगलानी बेगम ने उससे सहायता माँगी तब उसी वर्ष उसने पंजाब पर आक्रमण किया। 1757 ई. में अब्दाली दिल्ली पहुँचा। उसने नजीबुद्दौला को मीर-बख्शी का पद दिया और पंजाब का सूबेदार अपने पुत्र तैमूरखाँ को बनाया। इसके पश्चात् वह काबुल वापस चला गया। पेशवा ने उस अवसर पर रघुनाथराव को पुनः उत्तर-भारत भेजा था परन्तु उसके दिल्ली पहुँचने से पहले अब्दाली भारत से वापस जा चुका था। रघुनाथराव ने नजीबुद्दौला को मीर-बख्शी के पद से हटा दिया और उस पद को अहमदशाह बंगश को दिया। उसने पंजाब पर आक्रमण करके तैमूरखाँ को भगा दिया और वहाँ अदीना बेग को सूबेदार नियुक्त किया। 1758 ई. में रघुनाथराव पूना चला गया और दिल्ली में उसका स्थान दत्ताजी सिन्धिया ने लिया। दत्ताजी ने साबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया और नजीबुद्दौला से कोई समझौता न होने पर शकरताल में उसे घेर लिया। अब्दाली इन घटनाओं से उदासीन न था। उसने पंजाब पर आक्रमण किया जिसके कारण साबाजी सिन्धिया को पंजाब से भागना पड़ा। दत्ताजी ने शकरताल का घेरा उठा लिया और दिल्ली की ओर बढ़ा। जनवरी 1760 ई. में दिल्ली के निकट लोनी नामक स्थान पर अब्दाली से उसका युद्ध हुआ जिसमें उसकी पराजय हुई और वह युद्ध में मारा गया। दिल्ली पर अब्दाली का अधिकार हो गया जहाँ नजीबुद्दौला आकर उससे मिल गया और उससे प्रार्थना की कि वह भारत से उस समय तक वापस न जाय जब तक कि मराठों की शक्ति को पूर्णतया नष्ट न कर दिया जाय।

दत्ताजी की मृत्यु का समाचार पाकर पेशवा ने एक बड़ी मराठा-सेना सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में अब्दाली को भारत से बाहर निकालने के लिए उत्तर-भारत भेजी। अगस्त 1760 ई. में जब मराठे दिल्ली पहुँचे, अब्दाली दिल्ली से हट चुका था। अब्दाली और सदाशिवराव भाऊ ने अपने-अपने पक्ष को दृढ़ करने के लिए उत्तर-भारत के विभिन्न सरदारों और राजाओं से सहायता लेने का प्रयत्न किया। अब्दाली ने घोषणा की कि वह स्वयं

भारत में नहीं रुकेगा अपितु उसका उद्देश्य तो दक्षिण-भारत के मराठों को उत्तर-भारत से हटाकर मुगल बादशाह शाहआलम को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाना है। नजीबुद्दौला ने इस लक्ष्य की पूर्ति में उसकी सहायता की और सफल हुआ और इस कारण सदाशिवराव मुसलमान-सरदारों का समर्थन प्राप्त करने में असफल हुआ। सदाशिवराव का कहना था कि वह विदेशी आक्रमणकारी को भारत से निकालना चाहता है, और इस कारण यह युद्ध भारतीयों और विदेशियों का है। परन्तु सदाशिवराव कूटनीतिज्ञ न था। वह किसी भी प्रभावशाली सरदार का समर्थन न पा सका। राजपूत मराठों से पहले ही असन्तुष्ट थे। सदाशिवराव ने अपने व्यवहार से भरतपुर के राजा सूरजमल जाट को भी नाराज कर दिया और वह मराठों का साथ छोड़ गया। इसके अतिरिक्त, नजीबुद्दौला ने धर्म की दुहाई देकर अवध के नायब शुजाउद्दौला को अपने पक्ष में कर लिया तथा चालाकी से मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर से भी साँठगाँठ कर ली। सदाशिवराव सेनापति की दृष्टि से भी अब्दाली की तुलना में दुर्बल सिद्ध हुआ। उसे दिल्ली में रसद की कठिनाई होने लगी। अन्त में, मराठे पानीपत के मैदान की ओर बढ़े, जहाँ अब्दाली पहले ही पहुँच गया था। नवम्बर 1760 ई. में दोनों विरोधी सेनाएँ एक-दूसरे के सम्मुख पहुँच गयीं जबकि युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. को हुआ।

14 जनवरी को प्रातःकाल 9 बजे मराठों ने आक्रमण आरम्भ किया। मल्हारराव होल्कर युद्ध के बीच में ही भाग निकला। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली को बहुत हानि पहुँचाई परन्तु, अन्त में, मराठों की पराजय हुई। शाम तक मराठा-सेना भाग गयी अथवा कत्ल कर दी गयी। दूसरे दिन तक कत्लेआम चलता रहा। कई बड़े मराठा-सरदार जिनमें सदाशिवराव, पेशवा का पुत्र विश्वासराव, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया आदि सम्मिलित थे, युद्ध में मारे गयें। महाराष्ट्र में एक भी परिवार ऐसा न था जिसने अपने किसी न किसी स्वजन की मृत्यु पर शोक न मनाया हो।

मराठों की पराजय का मुख्य कारण सदाशिवराव की कूटनीतिक असफलता और अब्दाली की तुलना में उसका दुर्बल सेनापतित्व था। मराठों की सेना में स्त्रियों और नौकरों की संख्या बहुत अधिक थी और उसमें वस्तुतः सैनिक केवल 45,000 ही थे जबकि अब्दाली के सैनिकों की संख्या 60,000 थी। सदाशिवराव ने अपने गलत सैन्य-संचालन से दोआब को खो दिया और वह अपनी सेना के लिए पर्याप्त रसद न जुटा सका। वह तीन माह तक अब्दाली के सम्मुख बेकार पड़ा रहा और युद्ध भी तब आरम्भ किया जबकि मराठा-सैनिकों को दो माह से पर्याप्त भोजन तक नहीं मिल पा रहा था। उसने मराठा-गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का प्रयोग नहीं किया अपितु इब्राहीम गार्दी के तोपखाने पर आश्रित होकर सुरक्षात्मक युद्ध किया। अब्दाली के पास अच्छी घुड़सवार और ऊँट-सेना थी और उसके पास अच्छी बन्दूकें भी थीं जबकि मराठा-सेना में घुड़सवारों की कमी थी। सदाशिवराव का राजपूतों की सहायता न ले पाना और जाट राजा सूरजमल की नाराजगी भी उसकी पराजय के कारण थे। इस प्रकार, सभी परिस्थितियाँ ऐसी बन गयी थीं जिनमें मराठों की पराजय प्रायः निश्चित थी। इस कारण यह युद्ध, युद्ध न रहकर हत्याकाण्ड मात्र बन गया।

पानीपत के इस युद्ध में परिणामों के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। इतिहासकार सरदेसाई के अनुसार इस युद्ध में मराठों की जन-हानि अवश्य हुई परन्तु मराठा-शक्ति का विनाश नहीं हुआ और न मराठों के उद्देश्य में कोई परिवर्तन हुआ। परन्तु, इसके विपरीत, इतिहासकार जदुनाथ सरकार के अनुसार यह मराठों की एक गम्भीर पराजय थी। इस युद्ध में

मराठों ने अपने योग्यतम और बहादुर सरदारों को खो दिया जिसके कारण इसके पश्चात् रघुनाथराव जैसे दुर्बल और षड्यन्त्रकारी सरदारों को मराठा-राजनीति में भाग लेने का अवसर मिल सका । इस युद्ध से पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी और मराठा-राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। इस पराजय ने उत्तर-भारत में मराठों की प्रगति को रोक दिया। निस्सन्देह, सिन्धिया कुछ समय तक मुगल बादशाह का संरक्षक रह सका परन्तु उत्तर-भारत में मराठों का स्थायी प्रभाव स्थापित न रह सका। इसी कारण अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों की शक्ति को समाप्त करने तथा बंगाल में अपनी शक्ति को स्थापित करने का अवसर मिल सका और भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना सम्भव हो सकी। इस पराजय ने मराठों के सम्मान में कमी की, मराठा-सेना इसके पश्चात् अजेय नहीं रही और मराठों ने एक लम्बा समय अपनी शक्ति को पुनः दृढ़ करने में लगाया जिस समय में अन्य शक्तियों ने भी भारत में अपनी शक्ति दृढ़ कर ली। इस युद्ध के पश्चात् मराठे सम्पूर्ण भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा न कर सके अपितु भारत की विभिन्न शक्तियों में से एक रह गये। इस प्रकार पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों की पराजय उनके पतन का आरम्भ था।

पेशवा माधवराव नारायन (1761-72 ई.) और उसके पश्चात

पेशवा बालाजी बाजीराव पानीपत के तृतीय युद्ध के धक्के को सहन नहीं कर सका। 25 जून, 1761 ई. को उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र माधवराव नारायन पेशवा बना। माधवराव नारायन को भी महान् पेशवाओं में स्थान दिया गया है। पानीपत के तृतीय युद्ध के पश्चात् उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों स्थानों पर मराठों का सम्मान कम हो गया था तथा मराठे अजेय नहीं रह गये थे। माधवराव नारायन ने हैदराबाद के निजाम और मैसूर के हैदरअली को चौथ देने के लिए बाध्य करके दक्षिण-भारत में मराठों के सम्मान को पुनः स्थापित किया। उत्तर-भारत में उसने अहमदशाह अब्दाली से परस्पर शांति बनाये रखने का समझौता कर लिया, राजपूत-शासकों और जाटों को पुनः मराठों के प्रभाव में ले लिया और रुहेला-सरदार नजीबुद्दौला ने मराठों से एक समझौता कर लिया। 1772 ई. में मुगल-बादशाह शाहआलम भी अंग्रेजों के संरक्षण को छोड़कर इलाहाबाद से दिल्ली आ गया तथा उसने मराठों की संरक्षता स्वीकार कर ली। इस प्रकार, माधवराव नारायन मराठों के सम्मान को पुनः स्थापित करने में सफल हुआ। 1772 ई. में माधवराव नारायन की मृत्यु हो गयी।

माधवराव नारायन की मृत्यु ने मराठों के आन्तरिक संघर्ष को आरम्भ कर दिया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका भाई नारायनराव पेशवा बना परन्तु उसके चाचा रघुनाथराव ने 1773 ई. में ही उसका वध करा दिया और पेशवा की गद्दी का दावा किया। परन्तु मराठा-सरदारों ने उसके अधिकार को स्वीकार नहीं किया अपितु नारायनराव की मृत्यु के पश्चात् जन्मे उसके बच्चे माधवराव नारायन द्वितीय को पेशवा स्वीकार किया और उसकी सहायता के लिए एक संरक्षक परिषद नियुक्त कर दी। रघुनाथराव ने भागकर अंग्रेजों की बम्बई-सरकार से सहायता माँगी जिसका परिणाम प्रथम आंग्ल-मराठा युद्ध था। उसके पश्चात् मराठों की पारस्परिक फूट के कारण उनका पराभव आरम्भ हुआ और, अन्त में, अंग्रेज उनको परास्त करने में सफल हुए।

11

मुगल बादशाहों की विभिन्न महत्वपूर्ण नीतियाँ

[1]

मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति

मुगल बादशाहों का समय धार्मिक नीति की दृष्टि से अन्वेषण का युग सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत विचारों, युग की परिस्थितियों और राजनीतिक व्यावहारिकता के कारण बाबर से औरंगजेब तक हुए महान् बादशाहों ने जिस धार्मिक नीति का पालन किया उससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत की धार्मिक सहिष्णुता की परम्परा में धार्मिक उदारता और समानता की नीति को अपनाया जाना ही भारत के शासक-वर्ग के लिए उपयुक्त है। बाबर और हुमायूँ का समय मुगल-साम्राज्य के लिए संघर्ष और राज्य-स्थापना की कठिनाइयों का युग था। यह आशा करना व्यर्थ था कि उनमें से कोई भी एक व्यवस्थित और योजनापूर्ण धार्मिक नीति को भारत में आरम्भ करता। अकबर का शासन-काल लम्बा था। उसके समय में मुगल-साम्राज्य भारत में स्थायी और विस्तृत हो गया। उसने एक योजनाबद्ध धार्मिक नीति को आरम्भ किया। उसकी धार्मिक सहिष्णुता और सभी धर्मों का सम्मान किये जाने की नीति ने मुगलों की राजनीतिक स्थिति को भारत में दृढ़ किया। बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा की सद्भावना और उसकी युद्ध-प्रिय जाति राजपूतों की मित्रता प्राप्त करके अकबर ने मुगल-साम्राज्य को शक्तिशाली और वैभवपूर्ण बनाया। अकबर का प्रयत्न भारत की राजनीतिक एकता के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक एकता का भी था। उसकी धार्मिक नीति उसके इस प्रयत्न का एक मुख्य आधार थी। इसी कारण अकबर को राष्ट्रीय सम्राट कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जहाँगीर और शाहजहाँ ने अकबर की परम्परा को निभाया। यद्यपि उनके समय में मुगलों की धार्मिक नीति में धार्मिक कट्टरता की ओर झुकाव प्रतीत होता है परन्तु सैद्धान्तिक आधार पर मुगलों की नीति वही रही जिसका आरम्भ अकबर ने किया था। इससे उन्हें मुगल-साम्राज्य को शक्तिशाली एवं वैभवपूर्ण बनाने में सहायता मिली। अन्तिम मुगल-बादशाह औरंगजेब ने अपने व्यक्तिगत विचारों और सम्भवतया विस्तृत एवं सर्वोपरि मुगल-साम्राज्य की शक्ति में विश्वास करते हुए एक बार फिर इस्लाम की श्रेष्ठता को भारत में स्थापित करने का प्रयत्न किया। औरंगजेब ने धार्मिक सहिष्णुता और समानता की नीति को त्याग दिया। ऐसा करते हुए उसने न केवल अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के अनुभवों को भुला दिया बल्कि उसने मुगलों से पहले के भारत के प्रायः 350 वर्ष के मुसलमानी शासन के इतिहास को भी भुला दिया जिसने यह सिद्ध किया था कि शक्ति के आधार पर भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न

निरर्थक था तथा हिन्दू और मुसलमानों को साथ-साथ रहने और एक-दूसरे के धर्म का सम्मान करने का स्वभाव बनाना चाहिए। औरंगजेब की असफलता ने जो बहुत कुछ उसकी धार्मिक नीति की असफलता के कारण थी, यह सिद्ध कर दिया कि भारत में धार्मिक असहिष्णुता की नीति प्रत्येक शासक-वर्ग के लिए घातक है। भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता ने यह सिद्ध कर दिया कि अपने धर्म की सहिष्णुता की मूल भावना, सभी धर्मों को ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न मार्ग स्वीकार करने की उदार भावना और सभी धार्मिक विचारों की स्वतन्त्रता और बिना किसी बल-प्रयोग के फलने-फूलने की स्वच्छन्दता उनके लिए सर्वोपरि थी और कोई भी शक्ति उनको एक ही धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती थी। धार्मिक असहिष्णुता भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता की संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति और जन-जीवन के विरुद्ध थी, और है। औरंगजेब ने इसी का प्रयोग किया और इस प्रकार भारतीय संस्कृति, धार्मिक प्रवृत्ति और जन-जीवन को चुनौती दी। इस चुनौती को देने से उसे असफलता मिली और भारतीय इतिहास ने भारत के शासक-वर्ग को एक स्थायी सबक सिखाया।

बाबर

धार्मिक दृष्टि से बाबर सुन्नी मुसलमान था तथा ईश्वर में उसका पूर्ण विश्वास था। वह कहा करता था कि "ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध कुछ नहीं होता। उसकी दया पर निर्भर करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।" परन्तु बाबर में धार्मिक असहिष्णुता न थी। उसने ईरान के शिया बादशाह शाह इस्माइल से सन्धि करके शिया-मत को अपने राज्य में फैलाने का वायदा किया था। उसके दरबार में धार्मिक कट्टरता के लिए कोई स्थान न था। निस्सन्देह, भारत में बाबर ने समय-समय पर धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। उसने राणा साँगा और मेदिनीराय के विरुद्ध 'जिहाद' (धर्म-युद्ध) की घोषणा की, युद्धों के पश्चात् 'गाजी' (काफिरों को कत्ल करने वाला) की उपाधि ग्रहण की, राजपूतों के सिरों की मीनारें खड़ी कीं और मुसलमानों को 'तमगा' (व्यापारिक-कर) से मुक्त कर दिया। परन्तु बाबर की इस नीति का मूल उद्देश्य और आधार धार्मिक न होकर राजनीतिक था। बाबर ने ये कार्य कुछ विशेष अवसरों और मुख्यतया युद्ध के अवसर पर ही किये थे। शासन की ओर से भारतीय जनता के प्रति कोई धार्मिक कट्टरता की नीति नहीं अपनायी गयी थी। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "यहाँ की जनता के प्रति बाबर का व्यवहार सल्तनत-युग के शासकों के व्यवहार की भाँति बुरा न था।" डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उसने धर्म के आधार पर कभी किसी हिन्दू-मन्दिर को नष्ट किया हो अथवा हिन्दुओं पर अत्याचार किया हो।" डॉ. आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार तो मुगलों की उदार धार्मिक नीति और शासन में सांस्कृतिक पक्ष पर बल दिये जाने का आरम्भ बाबर के समय से ही हुआ। इस प्रकार यह स्वीकार किया जाता है कि **बाबर व्यक्तिगत रूप से धार्मिक था परन्तु शासक की दृष्टि से वह धर्मान्ध न था।**

हुमायूँ

हुमायूँ सुन्नी मत को मानने वाला था और अपने धर्म के नियमों का पालन करता था। परन्तु उसमें धार्मिक कट्टरता अथवा असहिष्णुता नहीं थी। शिया-मत के प्रति वह बहुत उदार रहा। उसकी पत्नी हमीदाबानू बेगम और उसका मुख्य सरदार बैरमखाँ शिया थे। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार अपने पिता के ही समान रहा। युद्ध के अवसर पर उसने भी हिन्दुओं के साथ कठोर व्यवहार किया। कालिंजर के किले के हिन्दू-मन्दिरों को उसने

नष्ट किया था परन्तु उसके समय में राज्य की ओर से हिन्दुओं को व्यवस्थित रूप से दबाने की नीति नहीं अपनायी गयी। हुमायूँ साधारणतया धार्मिक कट्टरता से तटस्थ रहा। उसका झुकाव सूफी-मत की ओर भी था और विभिन्न विद्वानों के धार्मिक विचारों को सुनने में उसे आनन्द आता था। उसकी धार्मिक नीति में असहिष्णुता के अंश प्राप्त नहीं होते।

शेरशाह

शेरशाह मुगल नहीं बल्कि अफगान शासक था। उसकी धार्मिक नीति के बारे में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. के. आर. कानूनगो ने शेरशाह की धार्मिक नीति को सहिष्णुता-पूर्ण बताया है। उनके अनुसार, "शेरशाह का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार आदरपूर्ण था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है : "शेरशाह के व्यक्तिगत विचारों को पृथक रखकर देखा जाय तो वह एक सहिष्णु शासक प्रतीत होता है····हिन्दुओं को उसने तंग नहीं किया। उन्हें अपने धर्म का पालन करने की पूरी छूट थी। जहाँ तक सम्भव होता था वह राजनीति को धर्म से पृथक रखता था।" परन्तु डॉ. एस. आर. शर्मा ने शेरशाह की धार्मिक नीति को असहिष्णुतापूर्ण बताया है। उनके अनुसार, "धार्मिक नीति की दृष्टि से शेरशाह अपने समय की उपज था। अपने से पहले के शासक फीरोजशाह की भाँति उसमें प्रशासकीय उत्साह के साथ धार्मिक असहिष्णुता सम्मिलित थी। इतिहास में उसका स्थान धार्मिक सहिष्णुता अथवा तटस्थता की नीति को आरम्भ करने पर निर्भर नहीं करता है।" व्यक्तिगत दृष्टि से शेरशाह नियमपूर्वक अपने धर्म का पालन करता था और समय-समय पर उसने इस्लाम के सम्मान में वृद्धि करने का प्रयत्न किया था। रायसीन के शासक पूरनमल के विरुद्ध उसने जिहाद घोषित किया था और राजपूतों के साथ विश्वासघात करके उसने निर्दयता से उनको कत्ल किया था। जोधपुर में उसने हिन्दू-मन्दिर को नष्ट करके मस्जिद का निर्माण किया और कालिंजर के किले में भी उसने धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। परन्तु यह उदाहरण युद्ध के समय के हैं। शेरशाह ने हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ने अथवा हिन्दू धर्म को असम्मानित करने के लिए कोई व्यवस्थित नीति नहीं अपनायी थी। इस कारण यह कहा जा सकता है कि **साधारणतया शेरशाह की धार्मिक नीति हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता की न थी।**

अकबर महान्

मुगल बादशाहों की धार्मिक नीति में अकबर की धार्मिक नीति को श्रेष्ठतम माना गया है। **अकबर की नीति पूर्णतया धार्मिक सहिष्णुता की थी। उसकी धार्मिक नीति 'सुलहकुल' (सभी के साथ शान्ति) के सिद्धान्त पर आधारित थी। दिल्ली के सुल्तानों और बादशाहों में इस नीति को आरम्भ करने वाला अकबर था।** डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति उदारता और सक्रिय सहानुभूति एवं सहायता का प्रयत्न प्रान्तीय राज्यों के द्वारा तो कभी-कभी किया भी गया था परन्तु दिल्ली और आगरा के बादशाहों ने यह प्रयत्न कभी नहीं किया था। अकबर प्रथम शासक था जिसने शासन के आरम्भ से ही धीरे-धीरे सभी धर्मों और आध्यात्मिक आन्दोलनों के प्रति प्रगतिशील उदारता और सक्रिय सहानुभूति की नीति को अपनाया।"

अकबर के उदार धार्मिक विचारों और धार्मिक सहिष्णुता की नीति के निर्माण में परिस्थितियों ने सहायता दी। अकबर का पिता हुमायूँ उदार सुन्नी था, अकबर की माता शिया थी और अकबर का संरक्षक बैरमखाँ भी शिया था। आरम्भ के काल में ही अकबर उदार सूफी सन्तों के सम्पर्क में आया था। अकबर का शिक्षक अब्दुल लतीफ धार्मिक

विचारों में इतना उदार था कि फारस में उसे सुन्नी समझा जाता था और भारत में उसे शिया माना जाता था। अकबर का भारतीय जीवन से सम्पर्क पंजाब से आरम्भ हुआ जहाँ गुरु नानक जैसे धर्म-प्रचारक हिन्दू और इस्लाम धर्म की एकता में विश्वास करना सिखा रहे थे। भक्ति-आन्दोलन के अन्य विभिन्न धर्म-प्रचारक भी सभी जातियों और धर्मों की समानता, धार्मिक-सहिष्णुता और ईश्वर-प्रेम का प्रचार कर रहे थे। इस प्रकार, **अकबर का लालन-पालन और शिक्षा उदार वातावरण में हुई और जो व्यक्ति आरम्भ में उसके सम्पर्क में आये वह उसके विचारों को उदार बनाने वाले थे। अकबर पर अपने युग का प्रभाव भी पड़ा।** 16वीं सदी सम्पूर्ण संसार में धार्मिक पुनरुथान की सदी स्वीकार की गयी। भारत में भी हमें यह विशेषता प्राप्त होती है। प्रो. एच. एन. सिन्हा ने लिखा है : "संसार के इतिहास में 16वीं सदी धार्मिक पुनरुत्थान की सदी है। धर्म-सुधार की महत्वपूर्ण लहर की समता भारत में उत्पन्न हुए जीवन के नवीन उद्वेग से समुचित प्रकार से की जा सकती है। भारत ने ऐसी जागृति का अनुभव किया जिसने उसकी प्रगति को तीव्र किया और राष्ट्रीय जीवन को शक्तिशाली बनाया। इस नव-जागृति की मूल भावनाएँ थीं—प्रेम और उदारता। प्रेम, जिसने मनुष्य को ईश्वर से मिलाया और इस कारण मनुष्य को मनुष्य से मिलाया तथा उदारता जिसने इस प्रेम से जन्म लेकर जाति, सम्प्रदाय और व्यवसायों के अन्तरों को समाप्त कर दिया तथा जिसने मानव-अस्तित्व और सभी धर्मों के तत्वों को अपना आधार बनाया और वह आधार था मानव-भ्रातृभाव। इसने अपने महान् आदर्शों से हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से प्रेरणा दी और वे कुछ समय के लिए अपने धर्मों की व्यर्थ की बातों को भूल गये। मुसलमानों और हिन्दुओं के लिए यह एक नवीन युग का आरम्भ था । मुसलमानों के लिए यह एक ऐसे महदी के जन्म की आशा को दिलाने वाला था जिसकी वह प्रतीक्षा कर रहे थे और हिन्दुओं के लिए यह ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण प्रेम का ज्ञान था।" अपने युग का प्रभाव अकबर पर आया था। अकबर आरम्भ से ही अत्यधिक उदार और मानवीय गुणों से युक्त था और उसने अपनी युवावस्था में आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यता को समझा था। **अकबर ने अपने शासन के आरम्भ में 1562 ई. में दास-प्रथा को समाप्त कर दिया, 1563 ई. में तीर्थयात्रा-कर को समाप्त कर दिया और 1564 ई. में 'जजिया' को समाप्त कर दिया।**

अकबर धार्मिक प्रवृत्ति का था और धर्म की सत्यता को जानने के लिए वह जिज्ञासु भी था। बदायूँनी ने लिखा था : "बादशाह कभी-कभी सम्पूर्ण रात्रि खुदा को याद करते हुए बिता दिया करता था।" उसने अजमेर के ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के दरगाह की निरन्तर यात्राएँ की थीं और वह फतेहपुरसीकरी के सन्त शेख सलीम चिश्ती के प्रति भी बहुत श्रद्धा रखता था। **धर्म की सत्यता को जानने की उत्सुकता के कारण उसने 'इबादतखाना' बनवाया, सभी धर्मों के विद्वानों को वहाँ आने का निमन्त्रण दिया और व्यक्तिगत रूप से ईसाई, जैन, पारसी और हिन्दू विद्वानों के सम्पर्क में आया।** अकबर के समय में तीन बार गोआ के ईसाई पादरियों को दरबार में निमन्त्रित किया गया और अकबर ने उनसे ईसाई धर्म के सिद्धान्तों को जाना। यद्यपि ईसाई पादरी अकबर को धार्मिक मामलों में अधिक प्रभावित न कर सके तब भी उन्हें काम्बे, लाहौर, हुगली और आगरा में गिरजे बनाने की आज्ञा प्राप्त हो गयी। अपने समय के महान् जैन विद्वान हीराविजय सूरी, जिनचन्द्र सूरी, शान्तिचन्द्र, विजयसेन सूरी आदि को अकबर ने दरबार में आमंत्रित किया। अकबर जैन धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त से बहुत प्रभावित हुआ। 1581 ई. में उसने भेड़ों और घोड़ों का वध निषिद्ध कर दिया, उसने स्वयं वर्ष में नौ माह माँस खाना बन्द कर दिया, उसने शिकार खेलना बन्द कर दिया जो उसका एक प्रमुख शौक था, और 1587 ई. में

उसने वर्ष में प्रायः छः माह पशुओं के वध किये जाने का निषेध कर दिया। महान् पारसी विद्वान दस्तूरजी मेहरजी को अकबर ने 'इबादतखाने' में वाद-विवाद के लिए आमन्त्रित किया। पारसी धर्म के सम्पर्क में आकर अकबर ने अग्नि और सूर्य को दण्डवत करना आरम्भ कर दिया, महल में 24 घण्टे अग्नि के प्रज्वलित रहने की व्यवस्था की और दरबार में पारसी त्यौहार मनाना आरम्भ कर दिया। हिन्दू विद्वान पुरुषोत्तम और देवी निरन्तर अकबर को हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों के बारे में बताया करते थे। उनके सम्पर्क में आने से अकबर हिन्दुओं के कर्म और जीवागमन के सिद्धान्तों में विश्वास करने लगा। इस प्रकार सभी धर्मों के सम्पर्क में आकर अकबर को यह विश्वास हो गया कि सभी धर्मों में सत्य है। **अकबर के निकट सम्पर्क में विभिन्न उदार व्यक्ति थे।** अबुल फजल और फैजी से उसके सम्बन्ध मित्रता के थे और ये व्यक्ति अत्यन्त उदार थे। **अकबर की राजपूत पत्नियों और सम्बन्धियों ने भी अकबर के विचारों को सहिष्णु बनाने में सहायता दी होगी,** इससे इंकार नहीं किया जा सकता। **राजनीतिक कारण भी अकबर की उदार धार्मिक नीति के लिए उत्तरदायी थे।** अपने समय के आरम्भ में विभिन्न मुसलमानों के द्वारा किये गये विद्रोहों ने उसे यह सोचने के लिए बाध्य किया कि वफादारी के लिए वह किन पर निर्भर कर सकता है। राजपूतों से उसके विवाह-सम्बन्ध हुए। उनके शौर्य, दृढ़ता और वफादारी की भावना से वह प्रभावित हुआ और उसने उन्हें अपना मित्र एवं राज्य की शक्ति का आधार बनाने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में उनके धर्म का सम्मान करना अकबर के लिए स्वाभाविक था। इक्तदार आलमखाँ ने इस पक्ष को अकबर की धार्मिक नीति का मुख्य कारण बताया है। उनके अनुसार अकबर की धार्मिक नीति का उद्देश्य अपने शासक-वर्ग में संतुलन स्थापित करना था **जिसका गठन विभिन्न जातियों, वर्गों तथा धर्मों के व्यक्तियों द्वारा हुआ था** उसकी उदार प्रकृति इसके लिए अनुकूल थी। इस प्रकार **अपनी बहुसंख्यक हिन्दू-प्रजा और उसके युद्धप्रिय राजपूत-वर्ग की सहानुभूति और वफादारी प्राप्त करके तथा उसके माध्यम से शासक-वर्ग में संतुलन बनाकर एक दृढ़ राज्य की स्थापना करने की इच्छा ने भी अकबर की उदार धार्मिक नीति के निर्माण में सहायता दी।**

इन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अकबर ने जिस धार्मिक नीति का पालन किया वह सभी धर्मों की समानता, सम्मान और सत्य के विश्वास पर आधारित थी। **अकबर की इस धार्मिक नीति का क्रमिक विकास हुआ।** उदारता से आरम्भ होकर—इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण, दस्तावेज अथवा महजर (तथाकथित अचूक आज्ञापत्र : so-called Infallibility Decree) की घोषणा, विभिन्न उदार नियमों का निर्माण जिनके द्वारा सभी धर्मों को समान सुविधा देने तथा समाज और उसके सदस्यों के नैतिक आचरणों में सुधार करने का प्रयत्न किया गया—इस नीति की पूर्ति 'तौहीद-ए-इलाही' (दीन-इलाही) की स्थापना करके हुई। अपनी धार्मिक नीति का उद्देश्य उसने स्वयं इस प्रकार अपने शब्दों में प्रकट किया था : "एक व्यक्ति द्वारा शासित साम्राज्य के लिए यह बुरा है कि उनके सदस्य आपस में विभक्त हों और एक-दूसरे का विरोध करते हों···इस कारण हमें उन्हें संगठित करना चाहिए और वह भी इस प्रकार कि वे सब एक होकर भी किसी धर्म की इच्छाओं को न खो दें बल्कि समस्त धर्मों की इच्छाओं को ग्रहण कर सकें। इस प्रकार ईश्वर का सम्मान होगा, प्रजा को शान्ति मिलेगी और साम्राज्य की सुरक्षा होगी।" इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने आरम्भ से ही कार्य किये थे। दास-प्रथा की समाप्ति और हिन्दुओं पर से तीर्थयात्रा-कर तथा जजिया का हटाया जाना उसके प्रारम्भिक प्रयास थे। इस्लाम धर्म के बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त करने की लालसा से अकबर ने 1575 ई. में फतेहपुरसीकरी में इबादतखाने का निर्माण

किया और इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों पर वाद-विवाद करने के लिए उसने इस्लाम धर्म के सभी विद्वानों को वहाँ आमन्त्रित किया। अकबर उनके वाद-विवादों को सुनता था। मुल्ला अब्दुल्ला और शेख अब्दुल नबी ने इन विवादों में प्रमुख भाग लिया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के बारे में इस्लाम धर्म के विद्वान एकमत नहीं थे। विवादों के अवसर पर उन विद्वानों के विचारों का अन्तर ही स्पष्ट नहीं हुआ बल्कि उनकी संकीर्ण मनोवृत्ति और असहिष्णुता का भी परिचय मिला। अकबर की उपस्थिति में भी विभिन्न विद्वान एक-दूसरे को बुरा-भला कहने लगते थे और झगड़े तक के लिए तत्पर हो जाते थे। अकबर को इन बातों से दुख हुआ और इस्लाम की श्रेष्ठता से उसका विश्वास हिल गया। इस कारण उसने हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई आदि सभी धर्मों के विद्वानों को इबादतखाने में आने की आज्ञा दे दी।

जून 1579 ई. में अकबर ने स्वयं खुतबा पढ़ा जो 'अल्लाहो-अकबर' शब्दों से समाप्त हुआ जिनका अर्थ था कि 'खुदा महान् है।' किसी भी तरह इन शब्दों का अर्थ यह न था कि अकबर ने देवत्व ग्रहण किया था। कुछ ही समय पश्चात् सितम्बर 1579 ई. में अकबर ने महज़र पढ़ा। अबुल फजल के पिता शेख मुबारक ने इसे तैयार किया था और प्रमुख मुसलमान धार्मिक व्यक्तियों ने इस पर हस्ताक्षर किये थे। इसके द्वारा भारत में इस्लाम धर्म से सम्बन्धित विवादों के बारे में निर्णय करने का अधिकार अकबर को दिया गया। इसी महज़र को स्मिथ और वूल्जले हेग जैसे इतिहासकारों ने 'अचूक आज्ञापत्र' (Infallibility Decree) पुकारा है और कहा है : "यह स्पष्ट करता है कि अकबर पोप और बादशाह दोनों ही बनना चाहता था।" परन्तु उनका यह कथन सत्य नहीं है। इसी प्रकार, आई. एच. कुरैशी ने भी महज़र के विषय में अकबर की आलोचना की है। उनके अनुसार, "यह एक ऐसा दस्तावेज था जिसने अकबर को परम्परागत इस्लाम से विरोध करने तथा धर्म-द्रोहियों के पक्ष में मध्यस्थता करने का अवसर दिया।" परन्तु यह विचार भी अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों को स्वीकार नहीं है। इन विचारों के विपरीत सैयद ऐ. ऐ. रिज़वी का विचार आधुनिक इतिहासकारों को अधिक मान्य है। उनके अनुसार, "महज़र का उद्देश्य उन सभी विषयों को, जो अकबर की हिन्दू-मुस्लिम प्रजा से सम्बन्धित थे, बादशाह के प्रत्यक्ष नियंत्रण में लाना था।" वस्तुतः महज़र के द्वारा अकबर को यह अधिकार प्राप्त हुआ कि मतभेद होने पर इस्लाम के सिद्धान्तों के बारे में वह अन्तिम निर्णय कर सकता था यद्यपि वह निर्णय कुरान के विरुद्ध नहीं होना चाहिए था। यह अधिकार अभी तक सद्र-ए-सद्र (मुख्य सदर) का था जो बादशाह का ही एक अधिकारी था। इस प्रकार अपने ही एक अधिकारी के अधिकारों को अपने हाथ में लेने से अकबर पोप बन गया था अथवा बनना चाहता था, यह कहना उचित नहीं है।

सभी धर्मों में सत्य है, इस विश्वास को लेकर अपनी **धार्मिक सहिष्णुता की नीति के व्यावहारिक प्रयोग के लिए अकबर ने निम्नलिखित विभिन्न कार्य राज्य की नीति और व्यक्तिगत उदाहरण के रूप में किये :**

1. मुसलमान, हिन्दू, पारसी, ईसाई, जैन आदि सभी धार्मिक सम्प्रदायों के व्यक्तियों को अपने पूजा-स्थलों (मस्जिद, मन्दिर, गिरजाघर आदि) को बनवाने, उनमें पूजा करने, अपने धर्म को स्वतन्त्रतापूर्वक मानने एवं प्रचारित करने तथा अपने धार्मिक उत्सवों, त्यौहारों आदि को मनाने की स्वतन्त्रता दी गयी।
2. जो स्त्री, पुरुष और बच्चे जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये थे, उनको अपने धर्म को पुनः स्वीकार करने की आज्ञा दे दी गयी।

3. राज्य-सेवाओं में बिना किसी धार्मिक भेदभाव के सभी व्यक्तियों को योग्यता के अनुसार स्थान प्रदान किया गया।
4. हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों जैसे अथर्ववेद, रामायण, महाभारत आदि का फारसी भाषा में अनुवाद कराया गया।
5. झरोखा-दर्शन, तुला-दान जैसी प्रथाओं का आरम्भ, होली, दिवाली, बसन्त आदि हिन्दू त्यौहारों का दरबार में मनाया जाना, अकबर का स्वयं गाय का माँस न खाना, हफ्ते में कई दिन माँस न खाना, शिकार खेलना बन्द करना, पशु-पक्षियों के वध पर रोक लगाना, आदि ऐसे कार्य थे जो अकबर ने सहनशीलता की भावना के व्यक्तिगत उदाहरण-स्वरूप करने प्रारम्भ किये थे।
6. राज्य की कर-व्यवस्था सम्पूर्ण प्रजा के लिए एक-समान थी।
7. धर्म के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति की सामाजिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं किया जाता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वेश-भूषा, आचार-विचार और सामाजिक परम्परा को मानने की सुविधा थी।

इस प्रकार राज्य की तरफ से धर्म के आधार पर प्रजा में कोई भेदभाव नहीं किया गया और सभी धर्मों को समान सुविधाएँ प्रदान की गयीं। अकबर ने कुछ सामाजिक परम्पराओं और व्यक्तिगत मान्यताओं पर अंकुश अवश्य लगाया परन्तु यह कार्य सुधार की दृष्टि से किया गया। उदाहरण के तौर पर उसने हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार दे दिया, बलपूर्वक स्त्रियों के सती होने पर बाधा लगा दी, निकट के सम्बन्धियों में विवाह करने पर रोक लगायी, 16 वर्ष से कम आयु के लड़के और 14 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करने और शराब पीने पर रोक लगायी तथा वेश्याओं को नगर में रहने के लिए अलग स्थान दिया गया। परन्तु यह बाधाएँ किसी सम्प्रदाय के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने हेतु न थीं बल्कि कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए थीं।

अकबर की धार्मिक नीति के विपक्ष में स्मिथ और वूल्जले हेग जैसे इतिहासकारों ने यह भी कहा है कि "एक ओर तो अकबर ने प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता की नीति का पालन किया परन्तु दूसरी ओर उसने इस्लाम धर्म के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार किया।" उनकी यह धारणा तत्कालीन ईसाई धर्म-प्रचारकों और इतिहासकार बदायूँनी के कथन पर आधारित है। **बदायूँनी ने अकबर के इस्लाम-विरोधी कार्यों की एक लम्बी सूची तैयार की थी** जिसमें उसने बताया था कि 'मुता-शादियों' को कानूनी मान लिया गया था, 1580 ई. में व्यक्तियों को दाढ़ी बनाने की आज्ञा दे दी गयी थी, 1581-82 ई. में विरोधी मुल्लाओं और शेखों को कन्धार भेज दिया गया था और घोड़ों से उनकी बदली की गयी थी, अकबर ने कुरान की पुस्तकों को नष्ट कराया था और अरबी भाषा की शिक्षा में बाधा डाली थी, 1583-84 ई. में मस्जिदों को अस्तबल बना दिया गया था, अकबर ने 'हज' की यात्रा बन्द करा दी थी, अकबर ने मुस्लिम-समाज के मुस्लिम त्यौहारों और रोजों (उपवासों) पर रोक लगा दी थी, आदि।

अकबर के विरुद्ध उपर्युक्त आरोप सिद्ध नहीं किये जा सकते। अकबर ने कभी भी कुरान और मुहम्मद का अपमान नहीं किया और न ही मुस्लिम रोजों, त्यौहारों अथवा नमाज पर कोई रोक लगायी थी। हज (मक्का) की यात्रा अकबर के समय में यथावत् होती रही थी। युद्ध के अवसर पर खाली मस्जिदों का उपयोग सेना के लिए कर लिया गया हो, यह सम्भव है। अरबी की तुलना में फारसी शिक्षा पर बल और संस्कृत को भी प्रोत्साहन देना किसी भी

हालत में अरबी की शिक्षा को समाप्त करना नहीं माना जा सकता। अकबर के समय में मुसलमान दाढ़ी रखते थे और उनके नाम के साथ अहमद अथवा मुहम्मद जुड़ा होता था। इस कारण बदायूँनी की आलोचना सत्य पर आधारित नहीं मानी जा सकती। बदायूँनी कट्टर मुल्ला था और वह उन कट्टर मुसलमानों में से एक था जो अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और समानता की नीति से असन्तुष्ट थे। उनकी दृष्टि में अकबर का सबसे बड़ा अपराध यह था कि वह इस्लाम के कट्टर सिद्धान्तों को नहीं मानता था और उसने राज्य में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। उसी प्रकार ईसाई धर्म-प्रचारक जो अकबर के ईसाई बन जाने की आशा करते थे, अपने उद्देश्य में असफल होकर अकबर से असन्तुष्ट हो गये और उन्होंने अकबर को घमण्डी, पाखण्डी और इस्लाम को न मानने वाला सिद्ध करने का असफल प्रयास किया।

अकबर के बारे में इतिहासकारों में एक अन्य प्रश्न पर भी विवाद है। **क्या अकबर अपने जीवनपर्यन्त इस्लाम धर्म को मानने वाला रहा था ?** डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार, "अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया था यद्यपि मुसलमान सभ्यता की सभी बातों को छोड़ना उसके लिए असम्भव था।" उनके अनुसार, "अकबर का इस्लाम के पाँच मूलभूत सिद्धान्तों (कलमा, पाँच नमाज, रोजा, जकात और हज) में विश्वास न करना, एकमात्र इस्लाम धर्म को ही सत्य-धर्म स्वीकार न करना, मुहम्मद को ही एकमात्र पैगम्बर स्वीकार न करना, हिन्दू रीति-रिवाजों को मानना, हिन्दू धर्म के कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करना, आदि ऐसी बातें थीं जिनके कारण यह कहा जा सकता है कि अकबर ने इस्लाम धर्म को छोड़ दिया था।" डॉ. श्रीवास्तव का कहना है : "अकबर सबसे अधिक हिन्दू धर्म से प्रभावित हुआ था। यदि हिन्दू पण्डितों और राजाओं में इतनी उदारता होती कि वे मुसलमान राजा को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने को तैयार होते और उस समय मूर्ति-पूजा और जाति-पाँति को दूर करने की चेष्टा करते, तो सम्भव था कि अकबर हिन्दू धर्म को ग्रहण कर लेता।" डॉ. एस. आर. शर्मा का मत डॉ. श्रीवास्तव के विपरीत है। डॉ. शर्मा के अनुसार, "अकबर अन्त समय तक इस्लाम धर्म को मानने वाला रहा।" वह लिखते हैं : "जब सलीम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया तो अकबर के विरुद्ध वह इस्लाम को न मानने का आरोप नहीं लगा सका था।" बदायूँनी (जो अकबर से असन्तुष्ट था) के कथन के अनुसार, "1598 ई. तक पैगम्बर मुहम्मद का अपमान करने वाले को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।" उपर्युक्त दोनों विद्वानों के विचारों के आधार पर यह स्वीकार करना अधिक ठीक होगा कि अकबर इस्लाम के सिद्धान्तों का कट्टरता से पालन नहीं करता था और उनके व्यावहारिक प्रयोग में वह बहुत उदार रहा था यद्यपि उसने धर्म-परिवर्तन की कोई आवश्यकता नहीं समझी थी। **परन्तु वह अपनी मृत्युपर्यन्त मुसलमान रहा और एक अच्छा मुसलमान रहा।**

1582 ई. में अकबर ने 'तौहीद-ए-इलाही' उर्फ 'दीन-इलाही' (Divine Monotheism) की स्थापना की। 1579 ई. में 'महज़र' अथवा 'खुतबा' की घोषणा करके अकबर ने धर्म के विषय में जिस अधिकार को प्राप्त किया था, यह उसका परिणाम था। डॉ. के. एस. लाल ने लिखा है : "क्योंकि बादशाह अब धार्मिक मामलों का भी प्रधान था, अतः उसके लिए अपनी प्रजा को आध्यात्मिक नेतृत्व प्रदान करना आवश्यक हो गया।" डॉ. लाल पुनः लिखते हैं : "उन सभी व्यक्तियों को जो उसकी सुलहकुल (सभी के साथ शान्ति) की नीति में विश्वास करते थे, वह किस प्रकार एक सूत्र में बाँधे, यह उसकी समस्या थी और उसका समाधान था दीन-इलाही।" अबुल फजल इस सम्प्रदाय का प्रधान पुरोहित बना। जो भी व्यक्ति इस सम्प्रदाय का सदस्य होना चाहता था वह किसी भी रविवार के दिन बादशाह के

पास जाकर उसके कदमों में अपनी पगड़ी रखता था। बादशाह उसे एक 'शिस्त' प्रदान करता था जिस पर खुदा का नाम 'अल्लाहो-अकबर' खुदा होता था। इस प्रकार उस व्यक्ति को इस सम्प्रदाय का सदस्य बनाया जा सकता था। इस सम्प्रदाय के सदस्यों से निम्नलिखित नियमों और व्यवहार का पालन करने की अपेक्षा की जाती थी :

1. वे आपस में अभिवादन के लिए 'अल्लाहो-अकबर' और 'जल्ले-जलालेहु' शब्दों का प्रयोग करें,
2. वे मृतक के सम्मान में दी जाने वाली दावत उसके जीवन-काल में ही दें। वे अपनी वर्षगाँठ पर दावत दें और कुछ दान-धर्म भी करते रहें,
3. जहाँ तक सम्भव हो माँस का प्रयोग न करें,
4. कम आयु की लड़कियों अथवा वृद्धा स्त्रियों के साथ विवाह न करें,
5. दस सद्गुणों को ग्रहण करें। वे गुण थे— 1. क्षमा, 2. उदारता, 3. सांसारिक इच्छाओं का दमन, 4. सांसारिक मोह से स्वतन्त्र होने की इच्छा, 5. अपने कार्यों का पुनः अवलोकन, 6. सद्कार्यों को करने की इच्छा, 7. सद्व्यवहार, 8. मीठी भाषा और शब्दों का प्रयोग, 9. सांसारिक जीवों का त्याग तथा ईश्वर से प्रेम, और 10. आत्मा का ईश्वर से मिलन के लिए प्रयत्न,
6. 'एकपत्नी' व्रत का पालन करें,
7. जुआ न खेलें और न कोई नशा करें,
8. विधवा-विवाह को प्रोत्साहन दें।
9. प्रातःकाल, दोपहर और शाम को ईश्वर को याद करें, और
10. अपना धन, सम्मान, जीवन और धर्म बादशाह को अर्पित कर दें। इसी आधार पर इस सम्प्रदाय से सदस्यों की श्रेणी निश्चित की जाती थी। बादशाह को चारों चीजों को समर्पित करने वाला श्रेष्ठतम श्रेणी का, तीन चीजों को देने वाला द्वितीय श्रेणी का, दो चीजों को देने वाला तीसरी श्रेणी का और एक चीज को देने वाला चौथी श्रेणी का सदस्य माना जाता था। बादशाह को इन चीजों को समर्पित करने का अर्थ केवल इतना था कि उसकी उस वस्तु पर बादशाह का अधिकार हो जाता था और बादशाह जिस प्रकार तथा जिस समय चाहे उसका उपयोग कर सकता था।

दीन-इलाही के सदस्यों की संख्या केवल कुछ हजार तक ही सीमित रही और प्रतिष्ठित व्यक्तियों की संख्या इसमें अधिक से अधिक बीस थी । हिन्दू प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से केवल बीरबल ने इसे स्वीकार किया। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह ने इसका सदस्य बनने से इन्कार कर दिया था। दीन-इलाही की स्थापना के कारण कुछ इतिहासकारों ने अकबर की बहुत आलोचना की है। बारतोली ने उसे 'अकबर की दूरदर्शितापूर्ण धूर्तता' कहा था। इतिहासकार स्मिथ ने उसके बारे में लिखा है : "दीन-इलाही अकबर की बुद्धिमत्ता का नहीं बल्कि बेवकूफी का नमूना था।" परन्तु इन विचारों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो दीन-इलाही एक धार्मिक सम्प्रदाय न था। उसका न कोई पैग़म्बर था, न उसका कोई पूजागृह था, न उसकी कोई धार्मिक पुस्तक थी और न उसका कोई पुरोहित-वर्ग था—जो बातें एक धर्म की प्रमुख आवश्यकताएँ मानी जाती हैं। स्वयं अबुल फजल ने भी इस सम्प्रदाय को एक धार्मिक सम्प्रदाय स्वीकार नहीं किया था। अकबर ने इस सम्प्रदाय की सदस्यता को बढ़ाने का प्रयत्न

नहीं किया बल्कि अबुल फजल के अनुसार वह नवीन सदस्य बनाने में काफी हिचकिचाता था। राजा भगवानदास और मानसिंह जैसे व्यक्तियों के साथ, जिन्होंने इसका सदस्य बनने से इन्कार कर दिया था, कोई दुर्व्यवहार नहीं किया गया था। दीन-इलाही एक ऐसा समुदाय अथवा समाज माना जा सकता था जिसके सदस्य समान विचारधारा के कारण आपस में बातचीत करना, मिलना-जुलना और पारस्परिक सहयोग करना आवश्यक मानते थे। इसके अतिरिक्त, अकबर का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण और राष्ट्रीय था। विभिन्न धर्मों को मानने वाली अपनी प्रजा को वह एकता और धार्मिक सहिष्णुता का पाठ सिखाना चाहता था। दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का यही उद्देश्य था। इस प्रकार, **दीन-इलाही की स्थापना में अकबर का उद्देश्य उदार था और उसके प्रचार में भी वह उदार रहा। यदि तीन-इलाही असफल हुआ तो उसमें अकबर का दोष न था बल्कि उस युग की रुढ़िवादी परिस्थितियाँ दोषी थीं।** अपने लेख 'अकबर का दीन-इलाही' को डॉ. के. एस. लाल ने बहुत सुन्दरता से इस प्रकार समाप्त किया है, "वह एक अच्छे मुसलमान की तरह जीवित रहा और मरा लेकिन कुछ पुस्तकें और बहुत से लेख यह बताते हैं कि एक अच्छा मुसलमान औरंगजेब था न कि अकबर और जो कुछ भी अच्छा अथवा बुरा औरंगजेब ने किया वह अपनी धार्मिकता के कारण किया। अब प्रश्न यह है कि इनमें से कौन अच्छा मुसलमान था ? वह जिसने मन्दिरों को तोड़ने, जजिया लगाने और अन्य धर्मों का पालन करने वालों से युद्ध करने का विचार किया अथवा वह जिसने विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों को एक सम्प्रदाय के द्वारा एक करने का विचार किया। यदि पहला व्यक्ति अच्छा मुसलमान कहलाने का अधिकारी है तो यह बात स्मरणीय है कि जिस प्रकार प्रेम से प्रेम उत्पन्न होता है उसी प्रकार घृणा से घृणा उत्पन्न होती है तथा औरंगजेब जैसे 'अच्छे' मुसलमान सर्वदा 'अच्छे' हिन्दू, 'अच्छे' सिख और 'अच्छे' ईसाइयों को जन्म देंगे जो घृणा का उत्तर घृणा से देंगे। यह मध्ययुगीन भारत के इतिहास का सबक है। वास्तव में, अकबर जो सभी के साथ शान्ति में विश्वास करता था, एक अच्छा मुसलमान था।"

अकबर की धार्मिक नीति का परिणाम बहुत लाभदायक रहा। अधिकांश भारतीय जनता ने उसकी धार्मिक सहिष्णुता की नीति का हृदय से स्वागत किया। परन्तु एक छोटा वर्ग ऐसा भी था जिसने अकबर की इस नीति का विरोध किया। वह वर्ग था इस्लाम के कट्टर समर्थकों का जो अकबर से इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने की अपेक्षा करते थे। उन्होंने मुसलमान प्रजा को अकबर के विरुद्ध भड़काया और यह प्रचार किया कि अकबर ने इस्लाम धर्म को त्याग दिया है। अतः बंगाल और बिहार में 1581-82 ई. में विद्रोह हुए और अकबर के सौतेले भाई हकीम ने भारत पर आक्रमण करके उसे जीतने की आशा की। परन्तु ये विद्रोह असफल हुए और अन्त में अकबर की नीति को अधिकांश व्यक्तियों ने स्वीकार कर लिया। कट्टर मुसलमानों के अतिरिक्त उन ईसाई पादरियों और धर्म-प्रचारकों ने भी अकबर की नीति की कटु आलोचना की जो अकबर को ईसाई धर्म में परिवर्तित करने में विफल हुए थे।

परन्तु भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता, उदार मुसलमान, पारसी, जैन आदि धर्मावलम्बियों ने अकबर की इस नीति का समर्थन किया और वे सभी अकबर और मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार हो गये। अतः मुगल-साम्राज्य के विस्तार और स्थायित्व में अकबर की इस धार्मिक नीति ने बहुत सहयोग दिया और अकबर को राष्ट्रीय सम्राट होने का गौरव प्राप्त हुआ। अकबर ने राज्य को एक अल्पमतवादी धर्म के समर्थकों तथा मुल्लाओं एवं उलेमाओं के प्रभाव और अत्याचार से मुक्त कर दिया। डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "भारत के शासकों में उसका स्थान बहुत ऊँचा है और अन्य बातों के अतिरिक्त इसका मुख्य कारण यह था कि उसने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न किया

और उसमें कुछ सफलता भी पायी। यदि उसे एक राष्ट्र के निर्माण में सफलता नहीं मिली तो उसका कारण यह था कि वह अपने समय की परिस्थितियों को तत्काल नहीं बदल सकता था। यह बात स्मरणीय है कि उस समय जबकि यूरोप विरोधी सम्प्रदायों के संघर्षों से ग्रस्त था और रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेण्टों को जीवित जला रहे थे तथा प्रोटेस्टेण्ट रोमन कैथोलिकों को कत्ल कर रहे थे, अकबर ने विरोधी सम्प्रदायों को ही नहीं बल्कि विभिन्न धर्मों को भी शान्ति प्रदान की। यदि उसकी उदारता के विस्तार, जिन नस्लों पर वह उदारता लागू की गयी वह, और तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में धार्मिक उदारता के क्षेत्र में वह प्रथम और महान् अन्वेषक था।"

जहाँगीर

धार्मिक नीति की दृष्टि से जहाँगीर का स्थान अपने पिता अकबर और पुत्र शाहजहाँ के मध्य में आता है। जहाँगीर ईश्वर में विश्वास करता था और साधारणतया अपने धर्म के मुख्य नियमों का पालन करता था। परन्तु धर्म में उसे विशेष रुचि न थी। इस्लाम के सिद्धान्तों का पालन भी वह बहुत कट्टरता से नहीं करता था। वह सभी धर्मों के मानने वालों से मिलता था, अतः उसका दृष्टिकोण उदार बन गया था। ईश्वर की एकता में भी उसका विश्वास था। इस कारण जहाँगीर अपने व्यक्तिगत व्यवहार और नीतिगत दृष्टि से धार्मिक मामलों में उदार रहा। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मावलम्बियों को राज्य की ओर से समान सुविधाएँ प्राप्त थीं और शासन में राज्य की ओर से धर्म के प्रति वही दृष्टिकोण रखा गया था जो अकबर के समय में था। हिन्दुओं को राज्य में सम्मानित पद दिये जाते थे और उन पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया गया था। परन्तु जहाँगीर के समय की कुछ घटनाएँ ऐसी अवश्य हैं जो यह स्पष्ट करती हैं कि यदा-कदा जहाँगीर ने इस्लाम धर्म का पक्ष लिया था। रजौरी के हिन्दुओं को उसने इसलिए दण्डित किया था कि वे मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उन्हें हिन्दू बना लिया करते थे, काँगड़ा के किले को जीतकर उसने वहाँ एक गाय को कटवा कर जश्न मनाया था, अजमेर के वाराह-मन्दिर की मूर्तियों को उसने तालाब में फिकवा दिया था और पुर्तगालियों से युद्ध के अवसर पर उनके सभी गिरजे बन्द करा दिये गये थे। इसी प्रकार, गुरु अर्जुन को दण्ड देने में उसका एक कारण यह था कि उसे उनके विचारों से चिढ़ थी। एक बार उसने जैनियों से अप्रसन्न होकर उन्हें गुजरात से बाहर चले जाने के आदेश दिये थे। परन्तु ये सभी घटनाएँ एक अवसर अथवा परिस्थिति विशेष के कारण थीं। गुरु अर्जुन को दण्ड देने का कारण राजनीतिक भी था। जहाँगीर ने सिख-सम्प्रदाय के कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया था। इसके अतिरिक्त, जब हम यह देखते हैं कि असन्तुष्ट होने पर उसने मुस्लिम धर्म-प्रचारकों जैसे शेख रहीम, काजी नूरुल्ला, शेख अहमद सरहिन्दी आदि को भी दण्डित किया था तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका हिन्दू, जैन, सिख अथवा ईसाइयों के साथ कठोरता करने का कारण धार्मिक कट्टरता न होकर राजनीतिक परिस्थितियाँ थीं। साधारणतया जहाँगीर सभी धर्मों के प्रति उदार रहा और सभी से उसका सम्बन्ध घनिष्ठ था और वह उनके सभी त्यौहारों एवं उत्सवों में भाग लेता था। इस प्रकार अपने पिता के समान न होते हुए भी जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से उदार रहा और अपने पिता के समय की अधिकांश परम्पराओं को उसने स्थापित रखा।

शाहजहाँ

शाहजहाँ अपने धार्मिक विचारों में अकबर और जहाँगीर की तुलना में अधिक अनुदार सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत दृष्टि से उसे कट्टर सुन्नी मुसलमान माना जा सकता है। वह

नमाज पढ़ने और रोजा रखने का नियमपूर्वक पालन करता था। उसने दाढ़ी रखी थी, वह मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनता था, उसने हिन्दुओं को मुसलमानी ढंग के वस्त्र पहनने के लिए मना किया था और वह शराब का प्रयोग बहुत कम मात्रा में करता था। उसने अपने शासन के प्रारम्भिक वर्षों में धार्मिक कट्टरता का प्रमाण भी दिया। उसने 'सिजदा' की प्रथा (बादशाह के आगे जमीन पर लेटकर दण्डवत् करना) को दरबार से समाप्त कर दिया, इलाही संवत् के स्थान पर हिजरी संवत् को आरम्भ किया, हिन्दुओं को मुसलमान गुलाम रखने से रोक दिया और हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया यद्यपि थोड़े समय के पश्चात् उसे हटा दिया गया। उसने दरबार में हिन्दू त्यौहारों और उत्सवों को मनाना बन्द कर दिया जबकि मुसलमानी त्यौहारों को मनाया जाना जारी रखा गया। उसने हिन्दुओं को नये मन्दिर बनाने और पुराने मन्दिरों की मरम्मत कराने से रोक दिया। उसके समय में बहुत से हिन्दू-मन्दिर तोड़े गये, जैसे बनारस, इलाहाबाद, गुजरात और कश्मीर के अनेक मन्दिर। अकेले बनारस और उसके निकट के स्थानों में प्रायः 72 मन्दिर तोड़े गये। ओरछा के हिन्दू-मन्दिरों को तोड़कर औरंगजेब ने मस्जिदें बनवायीं और जूझरसिंह के परिवार के कुछ सदस्यों को इस्लाम स्वीकार करने के लिए बाध्य किया । उसके समय में हिन्दू-मन्दिरों के अवशेषों को मस्जिदें बनाने के लिए प्रयोग में लाया गया। पुर्तगालियों से युद्ध होने पर उसने आगरा के गिरजाघर को तुड़वा दिया। उसने हिन्दू और ईसाइयों को अन्य धर्मों में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को अपने धर्म में परिवर्तित करने से रोक दिया। रजौरी और भीमबार के हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह करके उनको हिन्दू बना लिया करते थे। शाहजहाँ ने आदेश दिये कि ऐसी सभी लड़कियों को उनके पतियों से छीन कर उनके माँ-बाप को वापस कर दिया जाय और भविष्य में हिन्दू मुसलमान लड़कियों से विवाह न करें। अपने शासन के सातवें वर्ष में शाहजहाँ ने आदेश दिये कि जो हिन्दू मुसलमान बन जायगा उसे तुरन्त अपने पिता की सम्पत्ति में हिस्सा प्राप्त हो जायगा। उसके सम्पूर्ण शासन-काल में मुसलमान बनाये जाने के कार्य को प्रोत्साहन दिया गया। युद्ध-बन्दियों को मुसलमान बनाये जाने की प्रथा पुनः आरम्भ की गयी, अपराधियों को इस्लाम अंगीकार करने पर मुक्त कर देने की व्यवस्था की गयी, हिन्दू-स्त्रियों से विवाह करने से पहले उनको मुसलमान बनाया जाना आवश्यक कर दिया गया और कुरान अथवा मुहम्मद का अपमान करने वाले के लिए मृत्यु-दण्ड की व्यवस्था की गयी। शाहजहाँ ने व्यक्तियों को मुसलमान बनाने के लिए एक पृथक विभाग स्थापित किया। वह नियमित रूप से मक्का के मुल्लाओं और फकीरों के लिए दान-दक्षिणा भेजता रहता था। इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि **शाहजहाँ ने अकबर की धार्मिक समानता की नीति को समाप्त कर दिया था और वह इस्लाम की श्रेष्ठता में विश्वास करता था।**

परन्तु शाहजहाँ का समय धार्मिक कठोरता का भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। आरम्भ में उसने इस्लाम के समर्थन के लिए जो उत्साह दिखाया वह बाद के समय में धीरे-धीरे कम हो गया। आरम्भ में उसके द्वारा बनाये गये बहुत से नियमों का बाद में पालन नहीं किया गया। सम्भवतया, इसका मुख्य कारण उसके पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहाँनआरा का प्रभाव था जो धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक उदार थे। हिन्दू सरदारों के महत्व और शासन में उनके प्रभाव ने भी शाहजहाँ को उसकी प्रारम्भिक नीतियों को बदलने में सहायता दी होगी। शाहजहाँ ने झरोखा-दर्शन, तुला-दान और हिन्दू-राजाओं के माथे पर तिलक लगाने की प्रथा को स्थापित रखा, हिन्दुओं या अन्य धर्म के मानने वालों पर कोई अतिरिक्त कर नहीं लगाया, बाद के समय में हिन्दू-मन्दिरों को तोड़ना बन्द कर दिया और

जब हिन्दू वैरागियों और गुरु हरगोविन्द ने बहुत से मुसलमानों को हिन्दू अथवा सिख बनाने में सफलता पायी तब उस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। शाहजहाँ के दरबार में हिन्दू विद्वानों को सम्मान प्राप्त होता रहा। सुन्दरदास, चिन्तामणि, कवीन्द्राचार्य आदि विद्वानों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था। दाराशिकोह के संरक्षण में संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। शाहजहाँ ने अहमदाबाद के चिन्तामणि के मन्दिर की मरम्मत किये जाने की आज्ञा दे दी थी और काम्बे के नागरिकों की प्रार्थना पर वहाँ गौ-हत्या बन्द करा दी थी। शाहजहाँ के समय में हिन्दुओं को शासन और सेना में सम्मानित पद प्राप्त थे। राजा जसवन्तसिंह और राजा जयसिंह उसके बड़े सरदार थे। औरंगजेब जब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना था तब उस अवसर पर राजपूतों के प्रति उसके दुर्व्यवहार के लिए शाहजहाँ ने उसे फटकारा था। उसके समय में गायकों, नर्तकों और चित्रकारों आदि सभी को दरबार से संरक्षण प्राप्त होता था। इस प्रकार, **शाहजहाँ के समय में शासन की ओर से अन्य धर्मों के प्रति अत्याचार, घृणा और भेदभाव की नीति नियमित रूप से नहीं अपनायी गयी थी। हिन्दुओं को ही नहीं बल्कि ईसाई व अन्य धर्म के मानने वालों को भी अपने धर्म को मानने की स्वतन्त्रता थी और उसका दैनिक धार्मिक जीवन राज्य के हस्तक्षेप से मुक्त था।** इस कारण, शाहजहाँ का समय धार्मिक असहिष्णुता का नहीं माना जा सकता। परन्तु फिर भी उसके समय में धार्मिक संकीर्णता की ओर झुकाव हो गया था तथा अकबर के महान् उद्देश्य को भुला दिया गया था, यह स्वीकार करना पड़ता था।

औरंगजेब

औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णुता की थी। वह व्यक्तिगत दृष्टि से कट्टर सुन्नी मुसलमान, इस्लाम के कानूनों को अक्षरशः मानने वाला और अपनी कट्टर सुन्नी प्रजा के लिए 'जिन्दा-पीर' था। वह नमाज और रोजे में नियमित था, वह बहुत सादे वस्त्र पहनता था और शराब उसने जीवनभर नहीं पी। **मुगल बादशाहों में धार्मिक दृष्टि से इतना चरित्रवान बादशाह कोई नहीं हुआ। परन्तु औरंगजेब धर्मान्ध था।** अपने धर्म की सत्यता और श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए वह यह नहीं सोच सका कि अन्य धर्मों में भी सत्यता हो सकती है। अन्य धर्मों को ही नहीं बल्कि इस्लाम के शिया तथा अन्य मतावलम्बियों को भी वह 'पथभ्रष्ट' मानता था। औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त इस्लाम का राजत्व-सिद्धान्त था। इस कारण औरंगजेब का लक्ष्य इस (भारत) 'दार-उल-हर्ब' (काफिरों का देश) को 'दार-उल-इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना बन गया। औरंगजेब अपने जीवनपर्यन्त इस लक्ष्य को न भूल सका और न अपने शासन की नीति को इससे पृथक रख सका। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने अपने पुत्र अकबर को दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ दिया, राजपूतों, जाटों, सिखों और मराठों को संघर्ष करने के लिए बाध्य कर दिया, दक्षिण के शिया-राज्यों बीजापुर और गोलकुण्डा को समाप्त कर दिया तथा अपने राज्य की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा पर शासन, धर्म, अर्थ आदि सभी प्रकार से इतना दबाव डालने का प्रयत्न किया जिससे वे धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हो जायें। औरंगजेब का विश्वास था कि उससे पहले के सभी मुगल-शासकों ने सबसे गम्भीर भूल यह की थी कि उन्होंने भारत में इस्लाम की श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया था। औरंगजेब ने अपने जीवन में इस कार्य की पूर्ति करने का प्रयत्न किया। उसके अनुसार इस्लाम के मानने वाले शासक का यह प्रमुख कर्तव्य था। इस कारण **औरंगजेब का राजत्व-सिद्धान्त संकीर्ण बन गया, उसका कर्तव्य सीमित हो गया, उसकी धार्मिक नीति असहिष्णु बन गयी और वह अपनी बहुसंख्यक प्रजा का बादशाह न रहा।**

यह भी विचार प्रकट किया गया है कि व्यक्तिगत धारणा के अतिरिक्त परिस्थितियों ने भी औरंगजेब को धार्मिक कट्टरता की नीति अपनाने के लिए बाध्य किया था। एक ओर, अकबर की उदार नीति के परिणामस्वरूप हिन्दुओं और राजपूतों को समाज और शासन में प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया था, और दूसरी ओर, इस्लाम के प्रतिक्रियावादी तत्व जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल से ही प्रभावपूर्ण बनते जा रहे थे। उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर इन दो विरोधी तत्वों ने विरोधी शाहजादों का युद्ध में पक्ष लिया। औरंगजेब को प्रतिक्रियावादी तत्वों का सहयोग प्राप्त हुआ जबकि राजपूतों ने उसका विरोध किया। ऐसी स्थिति में युद्ध को जीतने के पश्चात् औरंगजेब का हिन्दुओं और राजपूतों के प्रति शंकालु होना और प्रतिक्रियावादी तत्वों का समर्थन करना स्वाभाविक था। यह विचार तर्कसंगत है परन्तु तब भी इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता की नीति का मुख्य आधार उसकी धार्मिक कट्टरता की स्वयं की ही धारणा थी।

औरंगजेब की नीति आरम्भ से ही कट्टरता की रही। उसने सिक्कों पर कलमा का खुदवाना बन्द कर दिया, नौरोज का त्यौहार मनाना बन्द कर दिया, तुला-दान और झरोखा-दर्शन की प्रथाओं को समाप्त कर दिया, दरबार से नाचने-गाने वालों को निकाल दिया और जब उन्होंने इसके विरोध में वाद्य-यन्त्रों का जनाजा निकाला तो उसने निर्देश दिये कि इन्हें इतना गहरा दफनाया जाय कि ये दुबारा न उठ सकें। उसने दरबार से ज्योतिषियों को निकाल दिया, भंग का उत्पादन बन्द करा दिया, शराब पीने और जुआ खेलने को बन्द करने का प्रयत्न किया, सती-प्रथा पर रोक लगायी, वेश्याओं को शादी करने अथवा देश छोड़ने के आदेश दिये और दरबार में होली, बसन्त आदि हिन्दू-त्यौहारों का मनाना बन्द कर दिया। इस बात की देखभाल के लिए कि उसके धार्मिक नियम माने जायें, औरंगजेब ने मुहतसिबों (धर्म-निरीक्षकों) की नियुक्ति की। मुहतसिबों का कर्तव्य था कि वे यह देखें कि मुसलमान ठीक प्रकार से अपने धर्म का पालन करते हैं अथवा नहीं। उनका कर्तव्य धर्म-विरोधियों तथा इस्लाम की निन्दा करने वालों को दण्ड देने का भी था। औरंगजेब के समय में उदार शियाओं और सूफियों को भी दण्डित किया गया।

अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा के प्रति औरंगजेब बहुत कठोर रहा। आरम्भ से ही उसने उनके धर्म पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था परन्तु राजा जयसिंह (अम्बर), राघ रघुनाथ (राज्य का दीवान) और अन्त में जसवन्तसिंह (मारवाड़) की मृत्यु हो जाने के पश्चात् तो औरंगजेब हिन्दुओं पर प्रत्येक प्रकार के अत्याचार करने के लिए तत्पर हो गया। एक आदेश के अनुसार हिन्दुओं को अपने मन्दिरों की मरम्मत कराने का अधिकार न रहा और **1669 ई. में सभी सूबेदारों और मुहतसिबों को हिन्दू-मन्दिरों और पाठशालाओं को तोड़ देने की आज्ञा दी गयी जिससे हिन्दू अपने धर्म और शिक्षा का प्रसार न कर सकें। इसके लिए एक पृथक विभाग भी खोला गया।** यह तो सम्भव नहीं हो सकता था कि हिन्दुओं की सभी पाठशालाएँ और हिन्दू-मन्दिर नष्ट कर दिये जाते परन्तु बनारस का विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा का केशवदेव का मन्दिर, पाटन का सोमनाथ का मन्दिर और प्रायः सभी **बड़े-बड़े मन्दिर, मुख्यतया उत्तर-भारत के मन्दिर इसी समय में तोड़े गये।** अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं के राज्यों में भी यही किया गया। अनेक स्थानों पर मन्दिरों के स्थानों पर मस्जिदें बनायी गयीं और मूर्तियों एवं मन्दिरों के भग्नावशेषों को मस्जिदों की नींवों और सीढ़ियों में लगाया गया। **1679 ई. में हिन्दुओं पर 'जजिया' लगाया गया।** इस

कर के लिए सभी गैर-मुस्लिमों को तीन वर्गों में बाँटा गया। जिनकी आय 200 दिरहम प्रति वर्ष से कम थी, उनको 12 दिरहम प्रति वर्ष, जिनकी आय 200 से 10,000 दिरहम प्रति वर्ष थी उनको 24 दिरहम प्रति वर्ष और 10,000 दिरहम प्रति वर्ष की आय के ऊपर के व्यक्तियों को 48 दिरहम प्रति वर्ष देने पड़ते थे। कारीगरों को अपने परिवार के व्यय को पूरा करने के बाद ही यह कर देना पड़ता था। स्त्रियाँ, गुलाम, 14 वर्ष की आयु से कम के बच्चे, भिखारी और आय-रहित व्यक्ति इस कर से मुक्त थे। अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं, ब्राह्मणों और निर्धन हिन्दुओं को भी इसे देने के लिए बाध्य किया गया जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। यह कहना भूल है कि हिन्दुओं के लिए राज्य की सैनिक-सेवा अनिवार्य न थी, इस कारण उन्हें जजिया देने के लिए बाध्य किया गया था क्योंकि औरंगजेब ने अपने हिन्दू-सैनिकों और सरदारों को भी जजिया देने के लिए बाध्य किया था। हिन्दुओं पर तीर्थयात्रा-कर लगाया गया। मुसलमान व्यापारिक-कर से मुक्त रखे गये जबकि हिन्दू व्यापारियों से वस्तु के मूल्य का 5% व्यापारिक-कर के रूप में लिया गया। जहाँ तक भी सम्भव था, हिन्दुओं को लगान-अधिकारियों के पदों से हटाया गया और सेना में उन्हें ऊँचा पद देना बन्द कर दिया गया। राय रघुनाथ, राजा जयसिंह और राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् किसी भी राजपूत सरदार या राजा को राज्य की ओर से बड़ा मनसब नहीं दिया गया। 1688 ई. में हिन्दुओं के त्यौहारों और उत्सवों पर प्रतिबन्ध लगाया गया और उसी वर्ष राजपूतों के अतिरिक्त सभी हिन्दुओं को पालकी या अच्छे घोड़े की सवारी करने तथा हथियार रखने से रोक दिया गया। हिन्दुओं पर इस प्रकार दबाव डालने का सिर्फ एक ही आशय हो सकता था और वह था धर्म-परिवर्तन। औरंगजेब ने आर्थिक दबाव, सामाजिक असम्मान और राजनीतिक सुविधाओं से वंचित करना आदि के द्वारा हिन्दुओं को इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिन्दू-प्रजा को विभिन्न प्रकार के लालच भी दिये जाते थे। पद का लालच, धन और सम्मान का लालच तथा दण्ड से मुक्ति, ये साधन साधारणतया प्रयोग में लाये जाते थे। सिखों के गुरु तेगबहादुर को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए कहा गया था और उनके इन्कार करने पर उन्हें कत्ल कर दिया गया था। मराठा-राजा शम्भाजी और उसके मन्त्री कवि कलश को भी इस्लाम स्वीकार कर लेने पर क्षमा कर देने का आश्वासन दिया गया था। यह कहना ठीक नहीं होगा कि औरंगजेब ने आर्थिक अथवा किसी राजनीतिक कारण से हिन्दुओं के प्रति यह नीति अपनायी थी। इस नीति के लिए औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता ही मूल रूप से उत्तरदायी थी। लेनपूल ने लिखा है : "अपने इतिहास में मुगलों ने पहली बार एक कट्टर मुसलमान को बादशाह के रूप में देखा—एक ऐसा मुसलमान जो अपना भी उतना ही दमन करता था जितना अपनी प्रजा का और एक ऐसा बादशाह जो अपने धर्म के लिए अपने सिंहासन को छोड़ने के लिए तत्पर था।" औरंगजेब 40 विर्ष की परिपक्व आयु में बादशाह बना था। वह व्यवहार-कुशल, चालाक और कूटनीतिज्ञ था। ऐसा सम्भव नहीं था कि वह अपनी नीति के दुष्परिणामों को न समझ सका हो परन्तु फिर भी वह मृत्युपर्यन्त दृढ़ता से अपनी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन करता रहा। उसका धार्मिक उत्साह ही इसका मूल कारण था। उसकी धार्मिक असहिष्णुता के कार्यों पर विचार करते हुए डॉ. एस. आर. शर्मा ने लिखा है : "ये सभी कार्य एक योग्य शासक अथवा एक निर्माणकर्ता राजनीतिज्ञ के नहीं थे बल्कि एक अन्धी धर्मान्धता का फूट पड़ना था जो, निस्सन्देह, अन्य सभी क्षेत्रों में मेधावी औरंगजेब के लिए शोभनीय न था।" डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने भी औरंगजेब की

धार्मिक नीति को धर्मान्धतापूर्ण बताया है। इस कारण, औरंगजेब की व्यक्तिगत पवित्रता, गुण, योग्यता और नीति आदि सभी उसकी उस व्यक्तिगत धर्मान्धता के आगे दब गये जिसका प्रयोग उसने एक शासक की भाँति किया। **औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी धार्मिक सहिष्णुता की नीति में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया।**

औरंगजेब की इस धार्मिक नीति के भयंकर दुष्परिणाम हुए। उसने मुगल-साम्राज्य की एकता, शक्ति, शान्ति और समृद्धि को नष्ट कर दिया। वह औरंगजेब की विफलता का ही कारण नहीं बनी बल्कि मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुई। **इसका प्रत्यक्ष परिणाम जाटों, सतनामियों, सिखों आदि के विद्रोह तथा बुन्देलखण्ड, दोआब आदि स्थानों पर समय-समय पर हुए उपद्रव थे। राजपूतों का विरोध और मराठों के संघर्ष का एक प्रमुख कारण भी यही नीति थी।** सबसे पहले मथुरा के निकट गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने विद्रोह किया। राजाराम की मृत्यु के पश्चात् जाटों का यह विद्रोह समाप्त नहीं हुआ और अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् जाटों ने भरतपुर के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने में सफलता पायी। दूसरा विद्रोह नारनौल और मेवात के जिलों में 'सतनामी' नामक धार्मिक सम्प्रदाय का था। कई युद्धों के पश्चात् ही इस विद्रोह को दबाया जा सका। औरंगजेब ने सिखों के नवें गुरु तेगबहादुर को कैद करके इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा और गुरु के इन्कार करने पर उनको कत्ल करा दिया। गुरु तेगबहादुर के पुत्र और सिखों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने सिख-सम्प्रदाय को सैनिक-सम्प्रदाय बनाया और निरन्तर औरंगजेब से संघर्ष किया। गुरु के दो पुत्र युद्ध में मारे गये, दो पुत्रों को दीवार में जिन्दा चिनवा दिया गया और गुरु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भागते रहना पड़ा। परन्तु उन्होंने संघर्ष करना न छोड़ा। औरंगजेब के अन्तिम समय तक पंजाब में सिख पर्याप्त शक्तिशाली हो गये थे और औरंगजेब के पुत्र बहादुरशाह ने अपने भाइयों के विरुद्ध गुरु गोविन्दसिंह से सहायता माँगी और प्राप्त की। 1678 ई. में राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु होते ही औरंगजेब राजपूतों के राज्यों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने के लिए प्रयत्नशील हो गया जिसके फलस्वरूप उसका राजपूतों से संघर्ष आरम्भ हुआ। औरंगजेब मारवाड़ को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने में सफल हुआ परन्तु दुर्गादास के नेतृत्व में राठौरों ने अजीतसिंह को राजा बनाने के लिए जो युद्ध आरम्भ किया वह बीच-बीच में स्थगित रहते हुए भी औरंगजेब की मृत्युपर्यन्त चला। मेवाड़ के शासकों ने भी इस युद्ध में मारवाड़ की सहायता की। इसी अवसर पर औरंगजेब के पुत्र अकबर ने विद्रोह किया और जब वह असफल होकर दक्षिण-भारत भाग गया तो मेवाड़ से सन्धि करके औरंगजेब उसका पीछा करते हुए दक्षिण-भारत चला गया। अन्त में, औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् अजीतसिंह ने मारवाड़ का शासक बनने में सफलता प्राप्त की। दक्षिण-भारत में औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने तथा शम्भाजी को समाप्त करके महाराष्ट्र पर अधिकार करने में सफलता अवश्य पायी किन्तु वह मराठा-शक्ति को नष्ट न कर सका। मराठों ने जिस स्वतन्त्रता-संग्राम को आरम्भ किया उसने औरंगजेब की दक्षिण-भारत की विजय को नष्ट कर दिया और औरंगजेब की मृत्यु मराठों से निरन्तर संघर्षरत रहते हुए दक्षिण-भारत में हुई।

औरंगजेब के समय के इन विद्रोहों और संघर्षों ने राज्य के शासन को अव्यवस्थित कर दिया, राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति को नष्ट कर दिया तथा प्रजा का धन, सम्मान और सुरक्षा खतरे में पड़ गयी। औरंगजेब की धर्म की

संकुचित भावना ने उसके आदर्श और कर्तव्यों की परिभाषा को बदल दिया। वह न तो अपनी सम्पूर्ण प्रजा का प्रजापालक बादशाह बन सका और न अपनी प्रजा की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रगति के अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने वाला योग्य शासन-प्रबन्धक। औरंगजेब की स्वयं की असफलता का मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता रही और अपनी असफलताओं के द्वारा वह मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का कारण बना। लेनपूल ने लिखा है : "उसके शासन के समाप्त होने से पहले ही हिन्दुस्तान अव्यवस्थित हो गया था और भविष्य में पतन के चिह्न प्रकट होने लगे थे।" इसी प्रकार, जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हिन्दुस्तान में शासन बहुत शीघ्रता से पतनोन्मुख हुआ। शान्ति, समृद्धि और ललित-कलाओं का ह्रास हुआ तथा सम्पूर्ण भारतीय सभ्यता पीछे हो गयी। उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया और साम्राज्य के आर्थिक साधन इतने संकुचित हो गये कि वह साम्राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गये।" जजिया, तीर्थयात्रा-कर, हिन्दुओं को सम्मान से न रहने देना, उनको राज्य की सेवाओं में उचित स्थान न देना और खुले तौर से उनके मन्दिरों का विनाश तथा उनके देवी-देवताओं का अपमान आदि ऐसे कारण थे जिससे औरंगजेब की हिन्दू-प्रजा उससे घृणा करने लगी। औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी और जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा स्वीकार की गयी धार्मिक सहनशीलता की नीति को समाप्त कर दिया। इससे राज्य की एकता समाप्त हो गयी, वफादार राजपूत जाति मुगलों की शत्रु बन गयी तथा जाट, सिख और मराठा जैसे युद्ध-प्रिय वर्गों ने मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इनके विद्रोहों ने औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य की नींव को हिला दिया। मि. प्रिंगले कैनेडी ने लिखा है : "जिसे अकबर ने प्राप्त किया था और अनेक दुर्गुणों के होते हुए भी जिसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने स्थापित रखा था, उसे औरंगजेब ने खो दिया और वह था अपनी हिन्दू-प्रजा का प्यार, और जिस शक्ति ने हिन्दू-जाति का विश्वास अर्जित न किया हो वह भारत में स्थायी रहने की आशा नहीं कर सकती।" **औरंगजेब की धार्मिक अनुदारता की नीति हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रही बल्कि शिया, बोहरा आदि भी उससे प्रभावित हुए। इससे औरंगजेब को योग्य शिया व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त न हो सकीं** जो अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ को प्राप्त हो सकी थीं। इससे राज्य की हानि हुई। इस प्रकार औरंगजेब की धार्मिक असहिष्णुता की नीति उसकी और बहुत कुछ मात्रा में मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता के लिए उत्तरदायी हुई।

आधुनिक समय के कई विद्वान इतिहासकारों के अनुसार औरंगजेब का जो व्यवहार शिया-राज्यों, राजपूतों और हिन्दुओं के प्रति रहा उसका मुख्य कारण राजनीतिक और आर्थिक था। भारत की एकता, एक सूत्र और एक शासन में बंधा हुआ राज्य और राज्य की बढ़ती हुई आवश्यकताएँ उसकी नीति का मुख्य कारण थीं। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने विभिन्न तर्क और उदाहरण दिये हैं, जैसे औरंगजेब ने हिन्दू-मन्दिरों को जागीरें दी थीं और उन्हीं हिन्दू-मन्दिरों को गिराया था जहाँ पहले मुसलमानों की मस्जिदें थीं। परन्तु ऐसे विद्वानों के तर्कों में विस्तृत रूप से जाये बिना यह अवश्य कहा जा सकता है कि अधिकांश तत्कालीन लेखकों के विवरणों में उनके पक्ष का समर्थन प्राप्त नहीं होता (जैसा कि डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव का कथन है)। अधिकांश तत्कालीन विवरणों के आधार पर औरंगजेब की नीति असहिष्णुता की ही सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त, महान् बादशाह अकबर की नीति भी भारत की राजनीति और शासन की एकता के उद्देश्य की पूर्ति हेतु थी और उसके आरम्भ

के समय में भी राजकोष रिक्त था। परन्तु उसे जजिया, तीर्थयात्रा-कर आदि लगाने और मन्दिरों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। इसके विपरीत, अकबर ने भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न किये थे। ऐसी स्थिति में दो ही निर्णय हो सकते हैं—या तो अकबर की नीति को अव्यावहारिक, अनुचित और अपर्याप्त कहा जाय अथवा औरंगजेब की नीति को अव्यावहारिक और अनुचित कहा जाय ? विद्वान इतिहासकार ही इस बात का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि जब अकबर की नीति से अकबर के समय में नहीं बल्कि उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी मुगल-साम्राज्य शक्ति, समृद्धि और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रगतिशील हुआ, औरंगजब की नीति से औरंगजेब के समय में न तो शक्ति का स्थायी विस्तार हुआ, न राज्य में समृद्धि हुई और न कला, शिक्षा, साहित्य, आदि की दृष्टि से कोई प्रगति हुई। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों के समय में मुगल-साम्राज्य प्रत्येक दृष्टि से पतन के मार्ग पर अग्रसर हुआ। इस कारण यह कहा जा सकता है कि अपनी व्यक्तिगत धारणाओं की श्रेष्ठता में विश्वास करते हुए, अपने ही धर्म को श्रेष्ठ मानते हुए और उसकी प्रगति में अपने जीवन की सार्थकता को मानकर औरंगजेब ने कर्तव्य, नैतिकता और बादशाह के आदर्शों की जो व्याख्या बना ली थी वह न उसके लिए लाभदायक रही और न उसके वंश अथवा साम्राज्य के लिए। **औरंगजेब, सम्भवतया, उन व्यक्तियों में से था जो अपनी सद्भावनाओं में अटूट विश्वास रखते हुए अन्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नहीं करते, उनके विश्वासों, आदर्शों और सद्भावनाओं को बड़ी भूल मान बैठते हैं और उनको ठीक मार्ग पर लाना अपना धर्म मानते हैं, चाहे उनके स्वयं के आदर्शों एवं भावनाओं में कितनी ही त्रुटि क्यों न हो।** ऐसी एकाकी और संकुचित भावना की कट्टरता की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और न ऐसे व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन सम्भव है। **ऐसा व्यक्ति एक फकीर या धर्म-प्रचारक तो अच्छा हो सकता है परन्तु अच्छा, कुशल और नीतिज्ञ बादशाह नहीं हो सकता।** सम्भवतया, औरंगजेब इसीलिए न तो अपनी परिस्थितियों को समझ सका और न अच्छा नीतिज्ञ ही सिद्ध हुआ, और यदि वह समझ भी सका तो उसने उसकी परवाह नहीं की। इसका मुख्य कारण उसकी धर्मान्धता थी । लेनपूल का कथन है कि "यदि औरंगजेब ने अपनी क्रियाशील शक्ति और अद्भुत योग्यता को अपने विनाश और उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुए गौरवपूर्ण साम्राज्य के विनाशकारी कार्यों में व्यय न किया होता तो वह सरलता से सिंहासन का आभूषण बन जाता। इसके स्थान पर उसने आलमगीर अथवा विश्व-विजयी बनने के खोखले कार्य को करने का प्रयत्न किया और वह इसी बात से सन्तुष्ट था कि तत्कालीन रूढ़िवादी मुसलमान उसे जिन्दा-पीर समझते थे.....उसका गौरव केवल उसके लिए था....उसके विशाल साम्राज्य के लिए उसका निष्ठावान धार्मिक उत्साह एक अभिशाप सिद्ध हुआ था।"

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में धार्मिक कट्टरता और धार्मिक उदारता की नीति में संघर्ष हुआ। परन्तु अधिकांशतया उदार विचारों को ही सफलता मिली। जहाँदारशाह के समय में ही जजिया समाप्त कर दिया गया और फर्रुखसियर के समय में सैयद-भाइयों के प्रभाव के कारण जजिया ही नहीं बल्कि तीर्थयात्रा-कर भी समाप्त कर दिया गया। बाद के मुगल बादशाह दुर्बल होने के कारण अनुदारता की नीति का पालन करने की स्थिति में ही न रहे।

[2]
मुगल बादशाहों की राजपूत-नीति

बाबर

बाबर की राजपूतों के प्रति कोई सुनिश्चित नीति थी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। अपनी सत्ता को भारत में स्थापित रखने के लिए उसे राणा संग्रामसिंह से खानुआ का युद्ध करना पड़ा था। उसके पश्चात् राणा के सहायक और सहयोगी चन्देरी के मेदिनीराय पर भी उसने आक्रमण किया और उस पर विजय प्राप्त की। दोनों ही अवसरों पर उसने राजपूतों के विरुद्ध जिहाद (धर्म-युद्ध) घोषित किया, गाजी की उपाधि ग्रहण की और राजपूतों के सिरों की मीनारें बनवायीं। परन्तु उसने हुमायूँ का विवाह एक राजपूत राजकुमारी से किया और राजपूतों को अपनी सेना में भर्ती किया। उसके सरदारों में से कुछ राजपूत भी थे। इस कारण यह माना जा सकता है कि **उसने राजपूतों से मित्रता का तो प्रयत्न नहीं किया परन्तु राजनीतिक कारणों से उत्पन्न संघर्षों के अतिरिक्त स्थायी शत्रुता का कोई व्यवहार नहीं किया।**

हुमायूँ

हुमायूँ का व्यवहार भी राजपूतों के प्रति इसी प्रकार का रहा। उसकी नीति भी राजपूतों के प्रति सुनिश्चित न थी। बल्कि हुमायूँ ने तो मेवाड़ से मित्रता करने का एक सुअवसर भी खो दिया। मेवाड़ की रानी कर्णवती ने गुजरात के शासक बहादुरशाह के मेवाड़-आक्रमण के अवसर पर हुमायूँ से सहायता माँगी परन्तु हुमायूँ ने उसे सहायता न दी। इसका कारण चाहे धार्मिक रहा हो और चाहे सैनिक अथवा राजनीतिक, परन्तु हुमायूँ ने अफगानों के विरुद्ध मेवाड़ के राजपूतों की मित्रता प्राप्त करने का एक अच्छा अवसर खो दिया। मारवाड़ के शासक मालदेव ने भी हुमायूँ को शेरशाह के विरुद्ध सहायता देने का आश्वासन दिया था परन्तु हुमायूँ समय रहते हुए इसका लाभ नहीं उठा सका।

शेरशाह

अफगान सुल्तान शेरशाह ने राजपूतों को अपनी अधीनता में लाने की नीति का पालन किया। शेरशाह के समय में राजस्थान की सबसे बड़ी शक्ति मारवाड़ था जहाँ के शासक मालदेव ने हुमायूँ को सहायता देने का आश्वासन दिया था। 1544 ई. में शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया और चालाकी से वह मारवाड़ को अपने अधिकार में कर सका। इसके अतिरिक्त रणथम्भौर को शेरशाह ने अपने आधिपत्य में लिया और मेवाड़ तथा जयपुर के राजपूत शासकों ने स्वेच्छा से उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अपनी मृत्यु के अवसर तक शेरशाह ने कालिंजर को भी विजय कर लिया। इस प्रकार शेरशाह राजपूतों की शक्ति को दबाने में सफल हुआ परन्तु वह उन्हें समाप्त नहीं कर सका। शेरशाह की नीति की सफलता का एक कारण यह भी था कि उसने राजपूतों के राज्य को अपने राज्य में शामिल करने की नीति को नहीं अपनाया। अधिकांशतया राजपूत-राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार कराने मात्र से ही वह सन्तुष्ट हो गया।

अकबर

अकबर पहला मुगल बादशाह था जिसने राजपूतों के प्रति एक सुनिश्चित नीति अपनायी। अकबर ने जिस राजपूत-नीति को अपनाया उसके विभिन्न कारण बताये जाते हैं। अकबर की नीति साम्राज्यवादी थी। सम्पूर्ण भारत को अपनी अधीनता में लाना उसका

लक्ष्य था। जब तक राजपूत-शासक उसकी अधीनता को स्वीकार न कर लेते तब तक सम्पूर्ण भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। अकबर की कुशाग्र बुद्धि ने यह अनुभव कर लिया कि राजपूतों को शुत्र बनाने की अपेक्षा मित्र बनाना अधिक लाभदायक होगा। राजपूतों का शौर्य, चरित्र और गुण प्रभावशाली थे। शारीरिक बल, शस्त्र-कौशल, नैतिक चरित्र, जीवन की अपेक्षा युद्ध में मर जाने को गौरवपूर्ण मानना, दिये हुए वचन को पूरा करना और धन या किसी अन्य लालच से न खरीदी जाने वाली वफादारी के गुणों को राजपूतों ने सदियों से सुरक्षित रखा था। अकबर इन गुणों की उपयोगिता को समझता था। अफगान और मिर्जा-वंश के सरदारों के द्वारा किये गये विद्रोहों ने उसे राजपूतों की मित्रता के लाभों को और अधिक स्पष्ट किया। राजपूतों का सहयोग प्राप्त करके अकबर अपने शासन के आधार को विदेशियों की शक्ति पर आधारित करने की बजाय भारतीयों की शक्ति पर निर्भर कर सकता था और इस प्रकार उसे स्थायित्व प्रदान कर सकता था। इस प्रकार राजपूतों के प्रति अपनायी गयी अकबर की नीति के महत्वपूर्ण कारण राजनीतिक थे। इसके अतिरिक्त, राजपूताना की जहाँ राजपूतों के प्रमुख राज्य थे, ऐसी भौगोलिक स्थिति थी कि उसकी विजय अकबर के लिए आवश्यक थी। उत्तर-भारत के गुजरात के बन्दरगाहों के माध्यम से होने वाले समुद्री व्यापार के मार्ग राजपूताना होकर थे। यदि राजपूताना मुगलों के अधिकार में नहीं होता तो उस व्यापार में बाधा आती थी। राजपूताना के ये मार्ग ऐसे भी थे जो वर्षा के मौसम में भी चालू रह सकते थे जबकि अन्य मार्ग वर्षा के मौसम में बेकार हो जाते थे। हज के यात्री भी अधिकांशतया इन्हीं मार्गों से जाते थे क्योंकि वे गुजरात के खम्भात या सूरत के बन्दरगाहों से ही अपनी समुद्री-यात्रा आरम्भ करना पसन्द करते थे। दक्षिण-भारत जाने का सुगम मार्ग भी राजपूताना होकर था। यहाँ नमक और संगमरमर जैसे पदार्थ भी प्राप्त थे। इस कारण, राजपूताना की विजय अकबर के लिए आर्थिक, धार्मिक और दक्षिण-भारत में राज्य-विस्तार के लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी उपयोगी थी। अकबर की धार्मिक नीति भी राजपूतों से मित्रता करने में सहायक थी।

अकबर का उद्देश्य राजपूतों को अपनी अधीनता में लाकर उन्हें सहयोगी बनाना था। उसका प्रमुख लक्ष्य अपने वंश के अधिकार को भारत में दृढ़ करना और उसकी सीमाओं का अधिकतम विस्तार करना था। राजपूतों के प्रति अपनी नीति में वह अपने लक्ष्य को नहीं भूला था। आर. पी. त्रिपाठी के अनुसार अकबर का उद्देश्य राजपूतों को अपने प्रति निष्ठावान बनाना था। इसके लिए चार बातें आवश्यक थीं। एक, राजपूत-शासक नियमित रूप से उसे एक निश्चित धनराशि खराज के रूप में दें ; द्वितीय, अपने पड़ौसी या अन्य राज्यों से उनके सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से न हों अपितु मुगल-बादशाह के माध्यम से हों ; तृतीय, आवश्यकता होने पर वे मुगल बादशाह को सैनिक-सहायता दें ; और चतुर्थ, वे सभी अपने को स्वतंत्र इकाइयों के रूप में न मानकर साम्राज्य का अभिन्न अंग मानें। व्यवहार में अकबर ने जिस राजपूत-नीति का पालन किया उससे निम्नलिखित तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

(अ) राजपूतों के महत्वपूर्ण दुर्गों पर अधिकार, जैसे चित्तौड़, मेड़ता, रणथम्भौर, कालिंजर आदि पर। इन किलों पर आधिपत्य करने से अकबर ने राजपूतों की विरोध करने की शक्ति को दुर्बल कर दिया।

(ब) स्वेच्छा से अधीनता स्वीकार करने वाले अथवा विवाह-सम्बन्धों के इच्छुक राजपूत-राजाओं को अपनी अधीनता में लेना। ऐसे राजपूत-राजाओं को अपनी अधीनता में

लेकर और उनसे एक निश्चित वार्षिक कर लेकर अकबर ने उनके राज्य उन्हीं को वापस कर दिये, उन्हें और उनके सम्बन्धियों को राज्य की सेवा में ले लिया, उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद दिये, उनके आन्तरिक शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया, उनके सम्मान को सुरक्षित रखा तथा उन्हें सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में समानता प्रदान की।

राजपूतों के साथ की गयी सन्धियाँ भी ऐसी सम्मानपूर्ण थीं जिनके कारण अकबर अधिकांश राजपूत-राजाओं को स्वेच्छा से अपनी अधीनता में ला सका। इसके अतिरिक्त वह उन्हें सम्मानित पद प्रदान करता था। राजा भगवानदास और राजा मानसिंह जैसे राजपूत सरदार इसके उदाहरण थे। इससे वह उनकी वफादारी भी प्राप्त कर सका जिससे राजपूतों की योग्यता का मुगल-वंश को लाभ प्राप्त हुआ।

(स) विरोधी राजपूत-राजाओं को युद्ध करके अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न, जैसा कि मेवाड़-राज्य के उदाहरण से स्पष्ट होता है।

अकबर की राजपूतों के किलों को जीतने की नीति के अन्तर्गत 1562 ई. में मेड़ता पर अधिकार किया गया जो मेवाड़ के अधीन सरदार जयमल के अधिकार में था। 1568 ई. में मेवाड़ से चित्तौड़ का किला छीन लिया गया, 1569 ई. में राजा सुरजनराय को रणथम्भौर का किला मुगलों को सौंपने के लिए बाध्य किया गया और 1569 ई. में राजा रामचन्द्र से कालिंजर का किला ले लिया गया।

स्वेच्छा से अकबर की अधीनता को स्वीकार करने वाले राजपूत-राजाओं में सबसे पहला आमेर (जयपुर) का राजा भारमल था। 1562 ई. में राजा भारमल ने अकबर से भेंट की, उसकी अधीनता को स्वीकार किया और अपनी पुत्री का विवाह अकबर से कर दिया। इसी राजपूत राजकुमारी के गर्भ से शाहजादा सलीम का जन्म हुआ। अकबर ने राजा भारमल, उसके पुत्र राजा भगवानदास और पोते मानसिंह को राज्य में सम्मानित पद प्रदान किये। चित्तौड़ के पतन के पश्चात् मारवाड़, बीकानेर, जैसलमेर तथा अन्य बहुत से राजपूत-राजाओं ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और कुछ ने अकबर से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये। इसी प्रकार, हल्दी-घाटी के युद्ध के पश्चात् बाँसबाड़ा, बूँदी, ओरछा आदि के राजपूत-राजाओं ने भी स्वेच्छा से अकबर के साथ सन्धि करके उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार, अधिकांश राजपूत राजाओं ने अकबर की अधीनता को थोड़े से बल-प्रदर्शन के बाद ही स्वीकार कर लिया।

विरोधी राजपूत-राजाओं में एक मेवाड़ का राजा ही ऐसा हुआ जिसने अकबर की अधीनता स्वीकार करने से अन्त तक इन्कार किया। मेवाड़ का सिसोदिया-वंश राजस्थान और राजपूत-शासकों में सबसे अधिक सम्मानित राजवंश था। अकबर के प्रारम्भिक काल में मेवाड़ का शासक राणा उदयसिंह था। मेवाड़ की विजय अकबर के लिए आवश्यक थी। राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टियों से मेवाड़ मुगलों के लिए महत्वपूर्ण था। राणा उदयसिंह ने मालवा के राजा बाजबहादुर को अपने यहाँ शरण दी और विद्रोही मिर्जाओं को उसका संरक्षण प्राप्त हुआ। राणा ने अकबर की अधीनता को मानने से इन्कार कर दिया था और वह उन राजपूत-राजाओं को घृणा से देखता था जिन्होंने अकबर से विवाह-सम्बन्ध स्थापित किये थे। इसके अतिरिक्त प्रमुख बात यह थी कि मेवाड़ को विजय किये बिना अकबर की राजस्थान अथवा उत्तर-भारत की विजय पूर्ण नहीं हो सकती थी। मेवाड़-विजय

का प्रभाव राजपूत-राजाओं को अकबर की अधीनता को सरलता से स्वीकार कराने में सहायक हो सकता था, जैसा कि हुआ भी। आर्थिक दृष्टि से मेवाड़ का महत्व इसलिए था क्योंकि वह मुगल-साम्राज्य के पश्चिमी समुद-तट के व्यापारिक मार्ग पर था। गुजरात की विजय के बाद पश्चिमी देशों से मुगल-साम्राज्य का जो व्यापार होता था उसे राजस्थान के मार्ग से गुजरना पड़ता था। मेवाड़ शत्रु-राज्य के विरुद्ध इस व्यापारिक मार्ग में बाधा उपस्थित करता था। गुजरात की सुरक्षा और यहाँ से उत्तर-भारत को होने वाले व्यापार की सुरक्षा के लिए मेवाड़ का मुगलों की अधीनता में होना आवश्यक था। 1567 ई. में अकबर ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सरदारों की सम्मति से राणा उदयसिंह अरावली की पहाड़ियों में चला गया जहाँ उसने अपनी नवीन राजधानी उदयपुर की नींव डाली। सरकार ने चित्तौड़ का घेरा डाल दिया और कई महीने के पश्चात् **1568 ई. में किले को जीतने में सफलता पायी।** परन्तु चित्तौड़ को जीतने मात्र से मेवाड़ की विजय पूरी नहीं हुई। मेवाड़ का अधिकांश भू-प्रदेश राजा के हाथों में रहा।

1572 ई. में राणा उदयसिंह की मृत्यु हो गयी। कर्नल टॉड ने उदयसिंह को दुर्बल और डरपोक बताया है। परन्तु उनका मत तथ्यों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। उदयसिंह ने अपने वंश और परिवार की सुरक्षा के लिए सरदारों की सम्मति से चित्तौड़ के किले को छोड़ा था और उसने आजीवन अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। इस कारण उसे दुर्बल, डरपोक अथवा अपने वंश के लिए अशोभनीय स्वीकार नहीं किया जा सकता। अपनी मृत्यु के अवसर पर उदयसिंह ने अपने पुत्र जगमल को अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की थी परन्तु राजपूत सरदारों ने उसे स्वीकार नहीं किया और उसके सबसे बड़े पुत्र प्रतापसिंह को राणा बनाया। राणा प्रताप की दृढ़ता, उसका शौर्य और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष का संकल्प मेवाड़, राजस्थान और भारत के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। अकबर ने राजा मानसिंह, राजा भगवानदास और राजा टोडरमल को राणा प्रताप के पास भेजकर समझौते के प्रयत्न किये परन्तु वे सफल नहीं हुए। उसी अवसर पर हुए बूँदी और मारवाड़ के विद्रोहों ने अकबर को विश्वास दिला दिया कि राणा प्रताप को दबाये बिना राजपूत अपनी विरोध करने की भावना को नहीं छोड़ेंगे। राजा मानसिंह के नेतृत्व में एक मुगल सेना राणा के विरुद्ध भेजी गयी और 1576 ई. में हल्दीघाटी का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ। इस युद्ध के पश्चात् राणा पहाड़ों और जंगलों में चला गया। **1596 ई. में राजा प्रताप की मृत्यु हुई। उसने आजीवन मुगलों से संघर्ष किया और अन्त में चित्तौड़ के किले के अतिरिक्त मेवाड़ के अधिकांश भू-प्रदेश को अपने अधिकार में करने में सफलता पायी।** उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र अमरसिंह ने भी युद्ध को जारी रखा और 'मेवाड़ की स्वतन्त्रता' के प्रयत्न में लगा रहा। इस प्रकार अकबर मेवाड़ को पूर्णतया जीतने अथवा दबाने में असफल रहा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेवाड़ की शक्ति पर्याप्त सीमित हो गयी थी, उसका मुगलों से संघर्ष एकाकी था और वह अकबर की साम्राज्य-विस्तार की नीति को बाधित करने में सफल नहीं हुआ था।

अकबर की राजपूत-नीति सफल हुई। मेवाड़ के भू-प्रदेश को छोड़कर अन्य सभी राजपूत-राज्य अकबर की सम्प्रभुता के अधीन हो गये। जो राजपूत शासक पिछले 350 वर्षों से मुसलमानी सत्ता का सफलता से विरोध करते आ रहे थे अब मुगल-साम्राज्य के वफादार सरदार बन गये और उन्होंने मुगल-साम्राज्य के विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया। कर्नल टॉड ने लिखा है : "वास्तव में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक अकबर था। वह राजपूत-स्वतन्त्रता

का प्रथम सफल विजेता था।" उसकी नीति के कारण राजपूत अपने राज्यों की स्वतन्त्रता की भावना एवं आदर्श को भूल गये और उन्होंने प्रसन्नता से अपने गौरव एवं शौर्य को मुगल-वंश के गौरव एवं शौर्य के साथ आत्मसात कर दिया। यह अकबर की राजपूत-नीति की सबसे बड़ी सफलता थी। इससे मुगल-साम्राज्य के विस्तार में सफलता मिली और वह भारत में दृढ़ हुआ। यह कहना भूल होगी कि अकबर ने राजपूतों को अपमानित करने के उद्देश्य से उनसे विवाह-सम्बन्ध किये थे। पहले केअनेक मुसलमान शासकों ने भी हिन्दू और राजपूत स्त्रियों से विवाह किये थे। अकबर ने राजपूत-राजाओं को विवाह-सम्बन्धों के लिए बाध्य नहीं किया था और उसकी राजपूत-पत्नियों को पूर्ण सम्मान प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त, अकबर ने किसी भी राजपूत-स्त्री को विवाह से पहले इस्लाम धर्म को स्वीकार करने के लिए नहीं कहा और बाद में भी उनको अपने धर्म के अनुसार पूजा आदि करने की सुविधा दी। इसी प्रकार, यह भी कहना भूल होगी कि राजपूत-जाति शौर्य-विहीन अथवा कायर हो गयी थी। यदि अकबर ने राजपूतों के राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने, उनको असम्मानित करने अथवा उनके धर्म पर आक्रमण करने की नीति अपनायी होती तो राजपूत-जाति अकबर का उसी प्रकार विरोध करती जैसा उसने औरंगजेब के समय में किया। परन्तु अकबर ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। **अकबर केवल यह चाहता था कि राजपूत राजा उसकी अधीनता को स्वीकार कर लें, उसको कुछ वार्षिक कर दें, अपनी विदेश-नीति उसे सौंप दें, आवश्यकता के अवसर पर उसे कुछ निश्चित संख्या में सैनिक सहायता दें और अपने आप को मुगल-साम्राज्य का अन्तरंग भाग मानें। इसके बदले में वह उनको आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्रता, उनके सम्मान की सुरक्षा, उनको धार्मिक स्वतन्त्रता और योग्यता के अनुसार मुगल-साम्राज्य में श्रेष्ठतम पद देने को तत्पर था। यह बात ध्यान में रखने की है कि अकबर ने भारत में मुसलमान शासकों से जीते हुए सभी राज्यों को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, किन्तु राजपूतों के किसी भी महत्वपूर्ण राज्य को (गोंडवाना के अतिरिक्त) मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किया था।** इसके अतिरिक्त, अकबर ने राजपूतों को अन्याय जागीरें भी प्रदान की थीं। इस प्रकार अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने वाले शासकों को दोहरा लाभ था। अपने राज्यों के अतिरिक्त मनसबदारों के रूप में अतिरिक्त जागीरें प्राप्त करके उनकी शक्ति, धन और सम्मान सभी का विस्तार हुआ। इसने भी राजपूत-शासकों को स्वेच्छा से अकबर की अधीनता स्वीकार करने के लिए लालायित किया। **अकबर की यह उदार नीति उसकी सफलता का कारण बनी।**

जहाँगीर

जहाँगीर ने राजपूतों के प्रति वही नीति अपनायी जो उसके पिता अकबर की थी। राजपूत-राजाओं से विवाह-सम्बन्ध, मित्रतापूर्ण व्यवहार, उनके राज्यों की आन्तरिक स्वतन्त्रता, उन्हें राज्य में सम्मानित पद देना आदि उसकी नीति के प्रमुख आधार रहे यद्यपि उच्च पदों पर राजपूतों की नियुक्ति की संख्या में कमी हो गयी। इसी प्रकार, विरोधी मेवाड़ को मुगल-अधीनता में लाना भी उसका लक्ष्य रहा। राणा अमरसिंह के विरुद्ध उसने अपने शासन-काल के आरम्भ से ही एक के बाद एक मुगल सेनाएँ भेजीं। इन युद्धों में मेवाड़ की कृषि, उद्योग, गाँव, नगर और मन्दिर बर्बाद हो गये, स्थान-स्थान पर मुगलों ने अधिकार कर लिया, स्थान-स्थान पर मुगल चौकियाँ स्थापित कर दी गयीं और एक प्रकार से सम्पूर्ण मेवाड़ का घेरा डाल दिया गया। राणा अमरसिंह ने साहस से सभी कठिनाइयों का मुकाबला किया और निरन्तर युद्ध किये परन्तु अन्त में युवराज करनसिंह और कुछ अन्य राजपूत

सरदारों के कहने से सन्धि करने के लिए तैयार हो गया। 1615 ई. में मुगलों और मेवाड़ में सन्धि हो गयी, जिसके अनुसार—

1. राणा ने मुगल-आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। उसने अपने स्थान पर अपने पुत्र करनसिंह को मुगल-दरबार में भेजना स्वीकार किया ;
2. राणा को मुगल-वंश से विवाह-सम्बन्धों के लिए बाध्य नहीं किया गया ; तथा
3. जहाँगीर ने मेवाड़ के सम्पूर्ण भू-प्रदेश और चित्तौड़ के किले को भी राणा को वापस कर दिया यद्यपि शर्त रखी गयी कि राणा किले की मरम्मत नहीं करायेगा।

इस प्रकार, मेवाड़ और मुगलों का लम्बा संघर्ष समाप्त हुआ। मेवाड़ के राणाओं ने इस सन्धि का उस समय तक पालन किया जब तक औरंगजेब की नीति के कारण राणा राजसिंह को मुगलों का विरोध करने के लिए बाध्य न होना पड़ा।

मेवाड़-मुगल संघर्ष के सन्दर्भ में यह कहना एक भूल होगी कि राणा अमरसिंह ने मेवाड़ के गौरव की रक्षा करने का प्रयत्न नहीं किया था और मुगलों के आधिपत्य को स्वीकार करके राणा प्रताप के नाम को लज्जित कर दिया था। राणा अमरसिंह ने मुगलों से उसी प्रकार और उन्हीं परिस्थितियों में युद्ध किया जिस प्रकार राणा प्रताप ने किया था। मेवाड़ के प्रति जहाँगीर का व्यवहार भी सराहनीय था। जहाँगीर ने सन्धि की शर्तें बहुत सम्मानित रहने दीं। उसने राणा के सम्मान को कहीं भी चोट नहीं पहुँचायी और मेवाड़ के जीते हुए भू-प्रदेश तथा चित्तौड़ का किला उदारतापूर्वक राणा को वापस कर दिये।

शाहजहाँ

शाहजहाँ ने अकबर और जहाँगीर की राजपूत-नीति का अनुकरण किया। उसके समय में भी राजपूतों के प्रति सम्मान और समानता का व्यवहार किया गया और राजपूत उसकी नीति से सन्तुष्ट रहे यद्यपि उच्च पदों पर उनकी नियुक्ति की संख्या में निरन्तर कमी होती जा रही थी। मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह और अम्बर (जयपुर) के राजा जयसिंह ने मुगल-साम्राज्य की पूर्ण निष्ठा और योग्यता से सेवा की। मेवाड़ के राजा जगतसिंह और उसके पश्चात् राणा राजसिंह से भी उसके सम्बन्ध ठीक रहे। इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों और राजपूतों के सम्बन्ध सम्मान और सद्भावना के रहे।

औरंगजेब

औरंगजेब ने अकबर द्वारा आरम्भ की गयी तथा जहाँगीर और शाहजहाँ द्वारा अनुसरण की गयी राजपूत-नीति में परिवर्तन कर दिया। औरंगजेब की धार्मिक नीति असहिष्णु थी और वह राजपूतों को अपनी धार्मिक नीति के व्यावहारिक प्रयोग में सबसे बड़ी बाधा मानता था। राजपूतों की शक्ति को नष्ट किये बिना औरंगजेब की धार्मिक नीति भारत में सफल नहीं हो सकती थी और यदि वह सफल भी हो जाती तो स्थायी नहीं हो सकती थी। इस कारण उसका लक्ष्य राजपूतों की स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट करना बन गया और उसने उनके राज्यों को मुगल-राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। औरंगजेब के समय में अम्बर (जयपुर) का राजा जयसिंह, मेवाड़ का राजा राजसिंह और मारवाड़ का राजा जसवन्तसिंह प्रमुख राजपूत-राजा थे। शाहजहाँ के समय तक सभी राजपूत-राजा मुगल-साम्राज्य के मित्र रहे और राजा जयसिंह व राजा जसवन्तसिंह ने शाहजहाँ के समय में ही नहीं बल्कि औरंगजेब के आरम्भिक काल में भी मुगल-साम्राज्य की सेवा की। परन्तु

औरंगजेब ने जयपुर के राज्य को छोड़कर मेवाड़ और मारवाड़ को अपनी नीति से असन्तुष्ट कर दिया।

उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर राजा जयसिंह ने शाहशुजा को परास्त करने में महत्वपूर्ण भाग लिया परन्तु सामूगढ़ के युद्ध के पश्चात् वह औरंगजेब के साथ हो गया। उसी प्रकार, राजा जसवन्तसिंह ने धरमट के युद्ध में औरंगजेब का मुकाबला किया तथा औरंगजेब और शाहशुजा के युद्ध के अवसर पर भी वह औरंगजेब का साथ छोड़कर अपने राज्य में वापस चला गया। परन्तु बाद में राजा जयसिंह के समझाने और दाराशिकोह की शक्ति को नष्टप्राय समझकर वह भी औरंगजेब के साथ हो गया। औरंगजेब सर्वदा इनको शंका की दृष्टि से देखता रहा और उसने उन दोनों को उनके राज्यों से दूर मुंगल-साम्राज्य के लिए लड़े जाने वाले कठिनतम युद्धों में नियुक्त किया। राजा जयसिंह को दक्षिण-भारत भेजा गया और वहीं 1666 ई. में बुरहानपुर में उसकी मृत्यु हुई। राजा जसवन्तसिंह को अफगानिस्तान की सीमाओं पर भेजा गया जहाँ उसके दो पुत्र युद्ध करते हुए मारे गये तथा वह स्वयं भी 1678 ई. में जमरूद नामक स्थान पर वीरगति को प्राप्त हुआ।

औरंगजेब इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। यह कहा गया है कि जब तक राजा जसवन्तसिंह जीवित रहा, औरंगजेब ने चैन की साँस नहीं ली। औरंगजेब ने उसके पुत्र और उत्तराधिकारी पृथ्वीसिंह को पहले ही जहर की पोशाक पहनाकर चालाकी से मरवा दिया था। इस कारण मारवाड़ का कोई उत्तराधिकारी जीवित न था। औरंगजेब ने तुरन्त मुगल सेना को भेजकर मारवाड़ पर अधिकार कर लिया और मारवाड़ को असम्मानित करने के लिए जसवन्तसिंह के सिंहासन को 36 लाख रुपये में बेच दिया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो मारवाड़ का स्वतन्त्र अस्तित्व ही सर्वदा के लिए समाप्त हो जायेगा।

परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अफगानिस्तान से वापस लौटते हुए लाहौर में राजा जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया। उनमें से एक बच्चे की मृत्यु हो गयी परन्तु दूसरा बच्चा अजीतसिंह जीवित रहा। राठौर सेनापति दुर्गादास रानियों और बच्चों को लेकर दिल्ली गया और औरंगजेब से अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने की माँग की। औरंगजेब इसके लिए तैयार न हुआ बल्कि उसने अजीतसिंह को अपने पास रखने और उसे इस्लाम धर्म में परिवर्तित करने की इच्छा प्रकट की। यहीं से राजपूतों और औरंगजेब का संघर्ष आरम्भ हुआ जो औरंगजेब की मृत्युपर्यन्त चला। दुर्गादास रानियों और अजीतसिंह को लेकर दिल्ली से मारवाड़ भाग गया जहाँ राठौर जनता ने अजीतसिंह को अपना राजा मान लिया। औरंगजेब ने निरन्तर मारवाड़ पर आक्रमण किये, उस पर अधिकार कर लिया और उसे बर्बाद कर दिया। परन्तु राठौरों ने मुगलों से संघर्ष करना बन्द नहीं किया। मेवाड़ का राणा राजसिंह जो औरंगजेब की धार्मिक नीति से असन्तुष्ट था, जिससे जजिया माँगा गया था, जिसके वंश की राजकुमारी अजीतसिंह की माँ थी और जिसकी स्वयं की स्वतन्त्रता को खतरा हो गया था, मारवाड़ की तरफ से युद्ध में सम्मिलित हो गया। इसी समय 1681 ई. में औरंगजेब के पुत्र अकबर ने राजपूतों की सहायता लेकर विद्रोह किया। अकबर का यह विद्रोह सफल न हुआ और उसे दक्षिण-भारत भागना पड़ा। औरंगजेब भी मेवाड़ के राजा जयसिंह (राजसिंह की मृत्यु हो चुकी थी) से सन्धि करके अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत चला गया और वहाँ से फिर कभी भी वापस न आ सका। मारवाड़ ने अपना युद्ध जारी रखा जो रुक-रुक कर औरंगजेब की मृत्यु के समय तक चला। दुर्गादास इस युद्ध की आत्मा सिद्ध हुआ। उसकी दृढ़ता, वफादारी और शौर्य ने

मारवाड़ की स्वतन्त्रता की ज्योति को बुझने नहीं दिया और अन्त में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् अजीतसिंह ने मारवाड़ के अधिकांश भाग पर अधिकार करने में सफलता पायी।

इस प्रकार, **औरंगजेब न तो मेवाड़ को जीत सका और न मारवाड़ पर अपनी सत्ता को ही स्थापित रख सका। इस कारण औरंगजेब की राजपूत-नीति का केवल एक ही परिणाम निकला।** राजपूत-जाति जो अकबर के समय से मुगल-साम्राज्य के प्रति वफादार हो गयी थी और जिसने मुगल-साम्राज्य के विस्तार और उसकी शक्ति को भारत में दृढ़ करने में भाग लिया था, मुगल-सम्राट से असन्तुष्ट हो गयी और उसने उसका विरोध किया। **इससे औरंगजेब के शत्रुओं की संख्या में वृद्धि हुई, अन्य विद्रोहों को प्रोत्साहन मिला और राजपूतों की योग्यता का प्रयोग मुगल-साम्राज्य के हित में नहीं किया जा सका।** औरंगजेब ने राजपूतों को अपना शत्रु बनाकर और उसका विश्वास खोकर मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा के एक प्रमुख स्तम्भ को उखाड़ दिया। इस प्रकार औरंगजेब की राजपूत-नीति उसकी विफलता और मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का प्रमुख कारण बनी।

उत्तरकालीन मुगल बादशाह राजपूतों की वफादारी प्राप्त करने में असफल रहे और राजस्थान में शीघ्र ही प्रायः स्वतन्त्र राजपूत-राज्यों का निर्माण हो गया।

[3]

मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति

बाबर के भारत पर आक्रमण करने के अवसर पर दक्षिण-भारत में खानदेश, बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा और बीदर के मुसलमानी राज्य थे और विजयनगर का हिन्दू-राज्य था। बाबर के वर्णन के अनुसार सेना और सीमाओं की दृष्टि से विजयनगर का राज्य हिन्दू-राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली था। परन्तु इससे पहले कि मुगल बादशाह दक्षिण-भारत की राजनीति में कोई महत्वपूर्ण भाग ले पाते, दक्षिण की इस स्थिति में परिवर्तन हो गया। जनवरी 1565 ई. में बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीदर की संयुक्त सेनाओं ने विजयनगर पर आक्रमण करके उसे तालीकोटा के युद्ध में परास्त कर दिया और उसके अस्तित्व को समाप्त कर दिया। इसके कुछ समय पश्चात् अहमदनगर ने बरार को जीतकर अपनी सीमाओं में सम्मिलित कर लिया और बीजापुर ने बीदर को जीतकर अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। इस कारण जब अकबर के समय में मुगलों का दक्षिण की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप आरम्भ हुआ, तब वहाँ केवल खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्य ही शेष रह गये थे। परन्तु इससे पहले कि मुगल दक्षिण-भारत की विजय को पूर्ण कर पाते, वहाँ एक नवीन हिन्दू-शक्ति—मराठों—का उदय हुआ। औरंगजेब के समय में मुगलों ने दक्षिण-भारत की इन सभी शक्तियों को नष्ट करने का प्रयत्न किया और वे सफल भी हुए। परन्तु मुगलों की दक्षिण-विजय स्थायी न हो सकी। मुगल-साम्राज्य का पराभव दक्षिण-विजय से आरम्भ हुआ। सम्पूर्ण दक्षिण-भारत की विजय के पश्चात् भी मुगलों की नीति, अन्त में, दक्षिण में विफल रही और नवोदित मराठा-शक्ति ने मुगलों की शक्ति को छिन्न-भिन्न करना आरम्भ कर दिया। उसके पश्चात् मराठों ने ही नहीं बल्कि मुगल सरदार निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने भी दक्षिण-भारत में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य को स्थापित करने में सफलता पायी। इस प्रकार मुगलों की दक्षिण-नीति का इतिहास उनकी सफलता और असफलता दोनों का है।

बाबर को दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ। हुमायूँ के समय में खानदेश का शासक मुहम्मदशाह प्रथम गुजरात के शासक बहादुरशाह की तरफ से मेवाड़ के आक्रमण में सम्मिलित हुआ था और इस कारण हुमायूँ के विरुद्ध मन्दसौर और माँडू के युद्धों में वह बहादुरशाह के साथ था। हुमायूँ ने गुजरात को जीतकर एक साधारण आक्रमण खानदेश पर भी किया। उस समय मुहम्मदशाह ने हुमायूँ से माफी माँग ली और हुमायूँ सन्तुष्ट होकर वापस चला गया। इस प्रकार, **बाबर और हुमायूँ ने दक्षिण-भारत के राज्यों के प्रति कोई निश्चित योजना नहीं बनायी थी।** वह समय मुगलों के लिए भारत की राजसत्ता के लिए अफगानों से संघर्ष का था और उस समय तक मुगल बादशाह उत्तर-भारत में ही मुगल-साम्राज्य को स्थापित और दृढ़ करने का प्रयत्न कर रहे थे। इस कारण उन्हें दक्षिण-भारत की ओर ध्यान देने का अवसर न था। **अकबर के समय से मुगलों की दक्षिण-नीति सुनिश्चित रूप से आरम्भ होती है।** मुगलों की स्थिति को उत्तर-भारत में दृढ़ करने के पश्चात् अकबर ने दक्षिण-भारत की ओर ध्यान दिया। अकबर की नीति साम्राज्यवादी थी और दक्षिण-भारत की विजय उसकी नीति का एक भाग बनी। उस समय तक पुर्तगाली भारतीय समुद्र-तट पर शक्तिशाली होने लगे थे। अकबर उनसे सन्तुष्ट नहीं था। पुर्तगालियों की शक्ति को नष्ट करना भी उसका एक उद्देश्य था। अबुल फजल के अनुसार अकबर की दक्षिण-विजय की नीति का उद्देश्य स्थानीय शासकों की निरंकुश शासन-व्यवस्था से पीड़ित जनता को सुख-शांति और सुरक्षा प्रदान करना था, यद्यपि इस विचार को आधुनिक इतिहासकार कोई महत्व प्रदान नहीं करते। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी इसी नीति को अपनाया गया और दक्षिण-भारत की विजय का आधार मूलतया राजनीतिक रहा। औरंगजेब के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति का आधार केवल राजनीतिक नहीं रहा बल्कि आर्थिक और धार्मिक भी हो गया। औरंगजेब ने मराठों की शक्ति को नष्ट करने के लिए दक्षिण के मुसलमानी राज्यों को समाप्त करना आवश्यक समझा। दक्षिण के शासक शिया थे और फारस के शासक को अपना संप्रभु मानते थे जो कट्टर सुन्नी औरंगजेब को अप्रिय था। इसके अतिरिक्त, दक्षिण के राज्य सम्पन्न थे। औरंगजेब को उनकी सम्पत्ति का भी लालच था। औरंगजेब दक्षिण के नवीन हिन्दू-मराठा राज्य को ही नहीं बल्कि बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों के अस्तित्व को भी नष्ट करने पर तुल गया। इसके अतिरिक्त, शाहजहाँ के समय तक जहाँ दक्षिण-भारत के राज्यों की शक्ति को नष्ट करके और उनसे मुगल-अधीनता को स्वीकार कराकर ही सन्तोष कर लिया गया, औरंगजेब ने उनको मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने की नीति अपनायी। वह अपनी नीति को कार्यरूप में परिणित करने में सफल भी रहा। औरंगजेब के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति अपनी सफलता की चरम सीमा पर थी। यह बात अलग है कि मुगल बादशाह अपनी इस विजय को स्थायी न रख सके। स्वयं औरंगजेब को भविष्य में दक्षिण-भारत की विजय की असफलता दिखायी देने लगी थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह असफलता स्पष्ट हो गयी और दक्षिण-भारत में पुनः स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

1591 ई. में अकबर ने दक्षिण के चारों राज्यों—खानदेश, अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा—में अपने राजदूत भेजे तथा उनसे मुगल अधीनता स्वीकार करने के लिए कहा। खानदेश के शासक अलीखाँ ने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया। बाद में वह अकबर की ओर से अहमदनगर के विरुद्ध युद्ध करते हुए मारा गया। परन्तु दक्षिण के अन्य तीनों राज्यों ने नम्रतापूर्वक अकबर के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। इस कारण मुगलों ने अहमदनगर पर आक्रमण किया। चाँदबीबी के नेतृत्व में अहमदनगर ने मुगलों का कड़ा

मुकाबला किया परन्तु चाँदबीबी की मृत्यु और कई वर्षों के संघर्ष के उपरान्त ही मुगलों ने बरार, अहमदनगर और दौलताबाद के भू-प्रदेशों तथा किलों पर अधिकार करने में सफलता पायी। खानदेश के शासक अलीखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र मीरन बहादुर ने अकबर के आधिपत्य को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस कारण मुगलों ने उस पर आक्रमण किया और अन्त में बुरहानपुर और असीरगढ़ के किलों को जीतकर सम्पूर्ण खानदेश को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। मीरन बहादुर को पेन्शन देकर ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया। बीजापुर और गोलकुण्डा को अपनी अधीनता में लाने का अवसर अकबर को प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार, **अकबर ने खानदेश के स्वतन्त्र राज्य को समाप्त कर दिया, अहमदनगर को समाप्त तो न कर सका परन्तु उसके पर्याप्त बड़े भू-प्रदेश पर अधिकार कर लिया और दक्षिण के कई दृढ़ किलों, जैसे दौलताबाद, अहमदनगर, बुरहानपुर, असीरगढ़ आदि को जीतकर मुगलों की शक्ति को दक्षिण में जमा दिया और अपने उत्तराधिकारियों के लिए दक्षिण-विजय का मार्ग प्रशस्त किया।**

जहाँगीर ने अपने पिता की दक्षिण-नीति को जारी रखा। उसके समय में अहमदनगर राज्य को समाप्त करने तथा बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों को मुगलों की अधीनता में लाने के प्रयत्न किये गये। जहाँगीर की दक्षिण-विजय की नीति में सबसे बड़ी बाधा अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर ने उपस्थित की। उसने अपनी योग्यता से अहमदनगर राज्य के शासन और आर्थिक स्थिति को ठीक किया, मराठा-सैनिकों को गुरिल्ला युद्ध-पद्धति में प्रशिक्षित किया और जहाँगीर के शासन-काल के आरम्भिक वर्षों में मुगलों से अहमदनगर का किला और अपने खोये हुए अन्य प्रदेशों को जीतने में सफलता पायी। जहाँगीर ने आरम्भ से ही विभिन्न मुगल सेनापतियों के नेतृत्व में मुगल सेनाओं को अहमदनगर के विरुद्ध भेजा परन्तु मलिक अम्बर की नीतिज्ञता और मुगलों के पारस्परिक मतभेदों के कारण मुगल कोई विशेष सफलता न पा सके। जब शाहजादा खुर्रम ने अहमदनगर पर आक्रमण किया तब 1617 ई. में अहमदनगर ने बालाघाट का प्रदेश और अहमदनगर का किला मुगलों को सौंपकर एक सन्धि कर ली और बीजापुर ने, जिसने इस सन्धि के लिए मध्यस्थता की, खुर्रम को मूल्यवान उपहार भेंट किये। जहाँगीर ने खुर्रम की इस सफलता को एक बड़ी सफलता माना और उसे 'शाहजहाँ' की उपाधि से विभूषित किया। परन्तु ऐसा कुछ न था। मलिक अम्बर ने मुगलों के विरुद्ध पुनः युद्ध आरम्भ कर दिया जिससे स्पष्ट हो गया कि अहमदनगर मुगलों की अधीनता स्वीकार करने के लिए तत्पर न था। दक्षिण में युद्ध चलता रहा जब तक कि 1621 ई. में अहमदनगर राज्य को सन्धि के लिए पुनः बाध्य न किया गया। इस सन्धि के अनुसार अहमदनगर ने मुगलों को बहुत से भू-प्रदेश दे दिये, 14 लाख रुपये की वार्षिक आय का एक अन्य भू-क्षेत्र मुगलों को दिया तथा 18 लाख रुपये नकद दिये। बीजापुर और गोलकुण्डा ने, जिन्होंने अहमदनगर राज्य की सहायता की थी, क्रमशः 12 लाख और 20 लाख रुपये हर्जाने के रूप में मुगलों को दिये। इसके पश्चात् दक्षिण-भारत का युद्ध समाप्त हो गया। इस प्रकार, **जहाँगीर के समय में अहमदनगर राज्य को दुर्बल किया गया तथा बीजापुर व गोलकुण्डा के राज्यों पर दबाव बढ़ाया गया परन्तु साम्राज्य-विस्तार सम्भव न हो सका और न दक्षिण-भारत के किसी राज्य को समाप्त किया जा सका अथवा पूर्णतया मुगलों की अधीनता में लिया जा सका।** डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "मुगल-शक्ति दक्षिण में वहीं पर थी जहाँ अकबर ने दक्षिण-विजय के समय उसे छोड़ा था।"

शाहजहाँ ने भी अकबर और जहाँगीर द्वारा अपनायी गयी नीति का अनुसरण किया और दक्षिण-भारत के राज्यों को समाप्त करने अथवा उनको अपनी अधीनता में लाने के प्रयत्न किये। शाहजहाँ स्वयं एक योग्य सेनापति था और दक्षिण-भारत की राजनीति का उसे अच्छा अनुभव था। अहमदनगर के योग्य वजीर मलिक अम्बर की मृत्यु और उसके पश्चात् राज्य में उत्पन्न हुई अव्यवस्था ने उसे सुअवसर प्रदान किया। मलिक अम्बर का पुत्र फतहखाँ, जो राज्य का वजीर बना, न केवल अयोग्य था बल्कि धूर्त भी था। उसने सुल्तान, मुर्तजा निजामशाह द्वितीय को कैद करके कत्ल करा दिया और वह कभी मुगलों और कभी बीजापुर के साथ मिलता रहा। वह निजामशाही-वंश के प्रति वफादार नहीं था बल्कि उसका लक्ष्य केवल अपने स्वार्थ की रक्षा करना था। जिस छोटे बालक हुसैनशाह को उसने गद्दी पर बैठाया, वह उसके प्रति भी वफादार न रहा। अपनी स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उसने निजामशाही-वंश के प्रति वफादार सरदारों (जैसे शाहजी भोंसले) को ही नहीं खो दिया बल्कि बीजापुर की सहानुभूति और मुगलों के विश्वास को भी खो दिया। अन्त में, 1633 ई. में उसने अपने मालिक हुसैनशाह के साथ मुगलों को आत्मसमर्पण कर दिया। दौलताबाद के किले पर मुगलों का अधिकार हो गया। हुसैनशाह को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया गया और **अहमदनगर राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया** (1633 ई.)। उसके पश्चात् भी शाहजी भोंसले ने एक बालक को मुर्तजा तृतीय के नाम से घोषित करके मुगलों से संघर्ष जारी रखा परन्तु अन्त में 1636 ई. में उसने भी मुर्तजा तृतीय को मुगलों को सौंप दिया और स्वयं बीजापुर की सेवा में चला गया।

1626 ई. में गोलकुण्डा के शासक मुहम्मद कुतुबशाह की मृत्यु हो गयी और उसके पश्चात् 11 वर्ष की आयु का अब्दुल्ला कुतुबशाह बना। उसके समय में उसके दरबार में सरदारों में एकता न रही और राज्य दुर्बल हो गया। 1636 ई. में मुगलों के दबाव के कारण गोलकुण्डा को एक सन्धि करनी पड़ी जिसके अनुसार अनेक शर्तों के अतिरिक्त उसने मुगलों की अधीनता भी स्वीकार कर ली। 1652 से 1657 ई. तक औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार रहा। उस समय में औरंगजेब ने गोलकुण्डा पर पुनः दबाव डाला। गोलकुण्डा 1636 ई. में की गयी सन्धि की शर्तों को पूरा नहीं कर रहा था और उसने अपना वार्षिक कर भी पूरी तरह से नहीं दिया था। जब कुतुबशाह का झगड़ा अपने सरदार मीर जुमला से हुआ और मीर जुमला ने शाहजहाँ से संरक्षण माँगा तब औरंगजेब को गोलकुण्डा में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। औरंगजेब ने हैदराबाद को जीतकर गोलकुण्डा का घेरा डाल दिया। परन्तु इससे पहले कि वह गोलकुण्डा पर अपना अधिकार करता उसे गोलकुण्डा का घेरा उठा लेने का शाहजहाँ का आदेश प्राप्त हुआ। इस कारण 1656 ई. में गोलकुण्डा से सन्धि कर ली गयी जिसके अनुसार गोलकुण्डा ने मुगल-आधिपत्य को ही स्वीकार नहीं किया अपितु उसने अपनी एक पुत्री की शादी औरंगजेब के पुत्र शाहजादा मुहम्मद से कर दी, 10 लाख रुपया दहेज के रूप में दिया और 17 लाख रुपया युद्ध के हर्जाने के रूप में चुकाया। इस प्रकार, **गोलकुण्डा को दुर्बल तो कर दिया गया परन्तु उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नष्ट होने से बच गया।**

बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम की मृत्यु के पश्चात् मुहम्मद आदिलशाह सुल्तान बना था। आदिलशाह की मुगलों के प्रति यद्यपि कोई स्वतन्त्र नीति न थी और उसके सरदारों में मतभेद था, तथापि 1631 ई. में किया गया मुगलों का आक्रमण विफल रहा। 1636 ई. में मुगलों ने बीजापुर पर पुनः आक्रमण किया और बीजापुर ने मुगलों से सन्धि कर ली जिसके अनुसार अन्य शर्तों के अतिरिक्त बीजापुर और मुगलों में कोई संघर्ष नहीं हुआ। जब

शाहजादा औरंगजेब दूसरी बार दक्षिण का सूबेदार बना तब मुगलों ने पुनः बीजापुर में हस्तक्षेप किया। नवम्बर 1656 ई. में आदिलशाह प्रथम की मृत्यु हो गयी। यह विश्वास किया जाता था कि उसके कोई पुत्र न था और उसकी बेगम 'बड़ी साहिबा' ने किसी अन्य लड़के को अपना पुत्र बनाकर उसे आदिलशाह द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठा दिया था। शाहजहाँ ने इससे लाभ उठाना चाहा और विभिन्न दोष लगाकर औरंगजेब को बीजापुर पर आक्रमण करने का आदेश दिया। मुगलों ने बीदर के किले को जीता, गुलबर्गा में एकत्रित बीजापुर की सेना को नष्ट कर दिया और कल्याणी के किले को भी जीत लिया। इसके पश्चात् औरंगजेब ने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। परन्तु इससे पहले कि बीजापुर के किले पर अधिकार किया जाता, शाहजहाँ के आदेशानुसार औरंगजेब को बीजापुर से सन्धि कर लेनी पड़ी। 1657 ई. में हुई इस सन्धि के अनुसार बीजापुर ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और डेढ़ करोड़ रुपया भी देने का वायदा किया। इसके अतिरिक्त बीदर और कल्याणी के किले भी मुग़लों के अधिकार में रहे।

औरंगजेब ने इसी अवसर पर शिवाजी को परास्त करके उन्हें भी मुगलों से सन्धि करने को बाध्य किया।

इस प्रकार, शाहजहाँ के समय में मुगलों की दक्षिण-नीति पर्याप्त सफल रही। अहमदनगर राज्य को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया, बीजापुर एवं गोलकुण्डा से भूमि छीनी गयी, कुछ किले ले लिये गये, उनसे धन वसूल किया गया, उनकी शक्ति को दुर्बल कर दिया गया और उन्हें प्रत्यक्ष रूप से मुगलों की अधीनता में ले लिया गया। सम्भवतया, बीजापुर और गोलकुण्डा के अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया गया होता यदि स्वयं शाहजहाँ ने औरंगजेब के मार्ग में बाधा डालकर उनकेअस्तित्व की रक्षा न की होती। शाहजहाँ दक्षिण-भारत की राजनीति की गम्भीरता से परिचित था और उसका यह आंकलन ठीक ही था कि इन राज्यों को समाप्त कर देने से दक्षिण की राजनीति मुगलों के लिए जटिल हो जायेगी। इस कारण वह उन राज्यों को दुर्बल करके और उनसे अपनी अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि शाहजहाँ का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह और पुत्री जहाँनआरा इन राज्यों को समाप्त करने के पक्ष में न थे। दाराशिकोह को औरंगजेब की बढ़ती हुई शक्ति और सम्मान से खतरा हो सकता था। अतएव उनके प्रभाव के कारण शाहजहाँ ने इन राज्यों के अस्तित्व को कायम रहने दिया। शाहजहाँ की बीमारी और उत्तराधिकार के युद्ध की सम्भावना भी इस अवसर पर इन राज्यों के जीवित रह जाने का कारण बनी।

औरंगजेब की दक्षिण-नीति का उद्देश्य राजनीति के साथ-साथ आर्थिक और धार्मिक भी था। औरंगजेब ने केवल साम्राज्य-विस्तार के लिए ही इन राज्यों को समाप्त करना चाहता था बल्कि उसका यह विश्वास भी हो गया था कि इन राज्यों को समाप्त किये बिना मराठों की शक्ति को दबाना असम्भव होगा। इसके अतिरिक्त ये राज्य शिया-राज्य थे। इस कारण भी वह इनसे असन्तुष्ट था। दक्षिण के ये शिया-राज्य सम्पन्न राज्य थे। औरंगजेब उनकी सम्पत्ति को भी लूटना चाहता था। औरंगजेब ने दक्षिण के राज्यों द्वारा मुगल-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार कर लेने मात्र से ही सन्तोष नहीं किया बल्कि उसने उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को नष्ट करके उन्हें मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने की योजना बनायी।

अपने शासन-काल के प्रारम्भ के प्रायः 25 वर्षों में औरंगजेब उत्तर-भारत में व्यस्त रहा तथा दक्षिण-भारत के राज्यों को जीतने का दायित्व विभिन्न मुगल सरदारों को सौंपा गया।

बीजापुर ने 1657 ई. में सम्पन्न हुई सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया था। इस कारण 1665-66 ई. में राजा जयसिंह के नेतृत्व में मुगलों ने उस पर आक्रमण किया परन्तु सफलता प्राप्त न हो सकी। 1672 ई. में सुल्तान अली आदिलशाह द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर उसका चार वर्षीय पुत्र सिकन्दर आदिलशाह गद्दी पर बैठा। अल्पायु के इस शासक के समय में दरबार के भारतीय मुसलमान और विदेशी मुसलमान सरदारों में प्रभुत्व के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी जिससे राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। 1678 ई. में मुगलों ने बीजापुर पर पुनः आक्रमण करने आरम्भ कर दिये परन्तु कई वर्षों तक मुगल कोई विशेष सफलता न पा सके। अन्त में, अप्रैल 1685 ई. में शाहजादा आजम ने बीजापुर के किले का घेरा डाल दिया। औरंगजेब भी अपने विद्रोही पुत्र अकबर का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत पहुँच गया था। जुलाई 1686 ई. में स्वयं औरंगजेब किले के घेरे की देखभाल के लिए पहुँच गया। प्रायः 18 महीने के घेरे के पश्चात् सितम्बर 1686 ई. में बीजापुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। सिकन्दर आदिलशाह को पेन्शन देकर गद्दी से हटा दिया गया और **बीजापुर-राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1686 ई.)।**

गोलकुण्डा का तत्कालीन शासक अबुल हसन कुतुबशाह था । अबुल हसन ने अपना शासन दो ब्राह्मण मन्त्रियों को सौंप रखा था। वह शिया-मत को मानता था और उसने औरंगजेब द्वारा सिकन्दर आदिलशाह पर किये गये आक्रमण की भर्त्सना की थी। औरंगजेब इन सभी बातों से असन्तुष्ट था। 1685 ई. में शाहजादा शाहआलम ने गोलकुण्डा पर आक्रमण किया। अबुल हसन को हैदराबाद छोड़कर गोलकुण्डा के किले में शरण लेनी पड़ी और मुगलों ने हैदराबाद को बुरी तरह से लूटा। अबुल हसन ने शाहजादा शाहआलम को कुछ शर्तों पर सन्धि के लिए राजी कर लिया और शाहजादा औरंगजेब के पास वापस चला गया। परन्तु औरंगजेब किसी भी शर्त पर सन्धि करने को तैयार न था। औरंगजेब ने बीजापुर के किले को जीतने के पश्चात् 1687 ई. में गोलकुण्डा के किले का घेरा डाल दिया । अक्टूबर 1687 ई. में चालाकी से गोलकुण्डा के किले को जीतने में औरंगजेब ने सफलता पायी। अबुल हसन कुतुबशाह को पेन्शन देकर दौलताबाद के किले में कैद कर दिया गया और **गोलकुण्डा के राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (1687 ई.)।**

परन्तु बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय से औरंगजेब की दक्षिण की विजय पूर्ण नहीं हुई। औरंगजेब के समय में दक्षिण-भारत में मराठों की नवीन शक्ति का उदय हुआ। **औरंगजेब का सबसे कठिन संघर्ष मराठों से हुआ।** मराठा-राज्य की स्थापना शिवाजी ने की और ऐसा करते हुए उन्हें बीजापुर तथा मुगल दोनों से संघर्ष करना पड़ा। मुगलों से शिवाजी का पहला संघर्ष 1656 ई. में तब हुआ जब शिवाजी ने अहमदनगर और जुन्नार पर आक्रमण किया परन्तु 1657 ई. में औरंगजेब ने एक युद्ध में उन्हें परास्त करके सन्धि करने पर बाध्य किया। यह वह अवसर था जब औरंगजेब उत्तराधिकार के युद्ध की तैयारी कर रहा था। परन्तु यह सन्धि नाममात्र की थी। बिना मुगल-प्रदेशों को जीते हुए शिवाजी के राज्य की स्थापना सम्भव न थी। औरंगजेब ने भी बादशाह बनने के पश्चात् शाइस्ताखाँ को शिवाजी को दबाने के लिए भेजा। लेकिन जब शिवाजी ने शाइस्ताखाँ पर पूना के महल में अचानक आक्रमण करने में सफलता पायी तो औरंगजेब ने शाइस्ताखाँ को वापस बुलाकर राजा जयसिंह को भेजा। राजा जयसिंह ने 1665 ई. में शिवाजी को पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य किया जिसके अनुसार उन्होंने अपने तीन-चौथाई किले और भूमि मुगलों को सौंप दी। 1666 ई. में शिवाजी औरंगज़ेब से भेंट करने आगरा गये जहाँ उन्हें नजरबन्द कर दिया गया। शिवाजी अपनी बुद्धिमानी से वहाँ से भाग निकलने में सफल हुए। 1670 ई. में शिवाजी ने

मुगलों से पुनः संघर्ष आरम्भ कर दिया। 1674 ई. में उन्होंने रायगढ़ में अपना राज्याभिषेक किया और इस प्रकार **मराठों का एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता पायी।** इससे स्पष्ट है कि मुगल शिवाजी की प्रगति को रोकने में असफल रहे। 1680 ई. में शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् उनका पुत्र शम्भाजी गद्दी पर बैठा। उसके दरबार में शाहजादा अकबर संरक्षण के लिए पहुँचा। 1682 ई. में औरंगजेब भी अपने पुत्र का पीछा करता हुआ दक्षिण-भारत पहुँच गया। कई वर्षों के युद्ध के पश्चात् 1689 ई. में **औरंगजेब ने शम्भाजी को पकड़ने तथा कत्ल करने में सफलता पायी।** इससे सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर मुगलों का अधिकार हो गया, शिवाजी द्वारा स्थापित किया हुआ मराठा-राज्य नष्ट हो गया तथा औरंगजेब एवं मुगलों की दक्षिण-भारत की विजय पूर्ण हो गयी। परन्तु औरंगजेब मराठा-राष्ट्र को नष्ट नहीं कर सका। **मराठों ने राजाराम के नेतृत्व में महाराष्ट्र की स्वतन्त्रता का युद्ध आरम्भ कर दिया। राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय के नाम से इस स्वतन्त्रता-संग्राम को जारी रखा और यह युद्ध औरंगजेब की मृत्यु तक चलता रहा।** ताराबाई एक योग्य प्रशासक सिद्ध हुई। उस समय जबकि सिंहासन के उत्तराधिकार का प्रश्न विवादग्रस्त था, मराठा-सरदारों में पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष का वातावरण फैल रहा था, हजारों मावले मुगल-सेना में भर्ती किये जा चुके थे और औरंगजेब मराठों के विनाश के लिए कटिबद्ध था, एकमात्र उसने अपने कौशल और कूटनीति से मराठों को सफल नेतृत्व प्रदान किया। मुसलमान इतिहासकार खफीखाँ तक ने उसके बारे में लिखा है कि "यह उसके प्रयत्नों का ही परिणाम था कि मराठों ने दक्षिण के सूबों पर ही नहीं अपितु मुगलों के अधीन दूरस्थ प्रान्तों पर भी आक्रमण करने आरम्भ कर दिये और औरंगजेब अपने शासन के अन्त तक भी मराठों को दबाने में असमर्थ रहा।" उस समय में मराठों का न तो कोई सेनापति था और न वह किसी एक ही युद्ध-स्थल पर अपने भाग्य का निर्णय करने के लिए तत्पर थे। विभिन्न मराठा सेनापति भिन्न-भिन्न स्थानों पर युद्ध कर रहे थे और सम्पूर्ण महाराष्ट्र या आसपास का ही नहीं बल्कि दूर-दूर तक का मुगल-प्रदेश उनका युद्ध-स्थल बना हुआ था। **इस युद्ध को समाप्त करने में औरंगजेब असफल रहा।** औरंगजेब की मृत्यु इस युद्ध में घिरे रहते हुए ऐसी स्थिति में हुई जबकि मराठा सैनिक उसकी छावनियों तक पर आक्रमण करने में सफलता पा रहे थे। **इस प्रकार, औरंगजेब सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करके भी असफल रहा।** वह अपनी दक्षिण-विजय को संगठित न कर सका। मराठा स्वतन्त्रता-संग्राम ने उसकी दक्षिण-नीति की सफलता को नष्ट कर दिया और अन्त में मराठों ने औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित करने में सफलता पायी।

औरंगजेब के समय में अकबर के द्वारा आरम्भ की गयी मुगलों की दक्षिण-नीति अपनी चरम सीमा पर थी। औरंगजेब ने सम्पूर्ण दक्षिण-भारत को विजय करने में सफलता पायी। परन्तु उसकी सफलता के समय से ही उसकी और मुगल बादशाहों की दक्षिण-नीति की विफलता प्रारम्भ हुई। औरंगजेब की दक्षिण-नीति मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण बनी। औरंगजेब की दक्षिण-नीति ने मुगल-साम्राज्य को इतना अधिक विस्तृत कर दिया कि एक केन्द्र-स्थान से उसको शासन करना असम्भव हो गया। भारतीय इतिहास ने कई बार यह सिद्ध किया है कि जिस शासक ने भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी दोनों भागों को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने का प्रयत्न किया वह असफल हुआ परन्तु उत्तर-भारत के जिस बादशाह ने दक्षिण-भारत के राज्यों को अपना स्वामित्व स्वीकार कराकर स्वतन्त्र छोड़ दिया, वह

सफल रहा। औरंगजेब के समय में भारतीय इतिहास के इस अध्याय की पुनरावृत्ति हुई। दक्षिण-भारत को अपनी प्रत्यक्ष अधीनता में लाने के प्रयत्न के कारण औरंगजेब उत्तर-भारत के शासन की ओर ध्यान न दे सका जो उसके साम्राज्य की शक्ति का आधार था। दक्षिण-भारत में साम्राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक शक्ति, उसके सर्वाधिक योग्य अधिकारी और उसकी सर्वश्रेष्ठ सेना लगी रही तथा उत्तर-भारत का शासन, अधिकार और सुरक्षा मध्यम श्रेणी के अधिकारियों के हाथों में रही जिससे कोई भी कार्य ठीक प्रकार न हो सका। औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को तो खोया ही, साथ-साथ उसने अपने मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत उत्तर-भारत को भी खो दिया। इस प्रकार शासन-व्यवस्था, शान्ति, समृद्धि और उन्नति की दृष्टि से औरंगजेब ने सम्पूर्ण भारत को खो दिया। इसके अतिरिक्त, एल्फिन्सटन, स्मिथ तथा कुछ अन्य इतिहासकारों ने यह विचार भी प्रस्तुत किया है कि बीजापुर और गोलकुण्डा की विजय ने मराठों की उदीयमान शक्ति का मुगलों से प्रत्यक्ष संघर्ष करा दिया। यदि औरंगजेब ने शिया-राज्यों को समाप्त न किया होता तो सम्भवतया मराठे दक्षिण की राजनीति में व्यस्त रहते और उन्हें मुगलों से संघर्ष करने और उनकी दुर्बलताओं को समझने का अवसर प्राप्त न हो पाता। परन्तु डॉ. जदुनाथ सरकार ने उपर्युक्त विचार का खण्डन किया है। उनके अनुसार दक्षिण के दुर्बल राज्य न तो मुगलों और मराठों के मध्य दीवार का कार्य कर सकते थे और न मुगलों के सहायक बन सकते थे। ऐसी स्थिति में मुगलों और मराठों का प्रत्यक्ष संघर्ष अनिवार्य था। इस कारण औरंगजेब की दक्षिण-नीति अव्यावहारिक और अविवेकपूर्ण सिद्ध हुई।

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के शासन-काल में दक्षिण-भारत में स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

[4]

मुगल बादशाहों की मध्य-एशिया की नीति

मध्य-एशिया में ट्रान्स-ऑक्सियाना के भू-प्रदेश पर जहाँ बदख्शां, बल्ख, बुखारा, समरकन्द आदि थे, मुगल बादशाह अपना राज्य स्थापित करने के लिए सर्वदा उत्सुक रहे। वह उसे अपनी और अपने पूर्वजों की मातृभूमि मानते थे तथा समरकन्द को जीतना अत्यन्त गौरव और सम्मान की बात समझते थे। इसके अतिरिक्त, क्योंकि अफगानिस्तान मुगल-साम्राज्य का भाग था, इस कारण उसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक समझा गया था कि उत्तर में बदख्शां और बल्ख से ऑक्सस नदी तक तथा दक्षिण में हेलमंद नदी तक का क्षेत्र मुगलों के आधिपत्य में हो। आर्थिक दृष्टि से उस समय काबुल एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। भारत के व्यापारिक मार्ग तथा पश्चिमी चीन और यूरोप के व्यापारिक मार्गों पर काबुल की स्थिति एक केन्द्रीय स्थिति थी। इस कारण काबुल को सुरक्षित रखना मुगलों के लिए आर्थिक दृष्टि से आवश्यक था जिसके कारण निकट के मध्य-एशिया के भागों पर अधिकार करना मुगल उचित मानते थे। इस कारण, बाबर से लेकर शाहजहाँ तक प्रत्येक मुगल बादशाह इस प्रदेश को अपने अधिकार में करने के लिए उत्सुक रहा। केवल औरंगजेब ने इस कार्य को असम्भव समझकर इसकी लालसा नहीं की।

बाबर समरकन्द को जीतने के लिए सर्वदा लालायित रहा। उसने तीन बार उस पर अधिकार भी किया किन्तु तीनों ही बार उजबेगों के विरोध के कारण उसे समरकन्द छोड़ना पड़ा। बाबर ने बदख्शां को अपने अधिकार में रखा और उसका पुत्र हुमायूँ 1520 से 1529 ई.

तक वहाँ का सूबेदार रहा। हुमायूँ के वापस आ जाने के बाद बाबर ने सुलेमान को वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया। हुमायूँ के समय में सुलेमान ने एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार किया और इस कारण बदख्शां भी मुगलों के आधिपत्य में न रहा। सुलेमान ने अपने को तिमूर-वंश के शाहजादों में प्रमुख माना और काबुल को जीतने का प्रयत्न किया यद्यपि इस कार्य में वह असफल रहा। हुमायूँ ने भारत से भागकर जब पुनः अफगानिस्तान पर अधिकार किया तब उसने बदख्शां और बल्ख को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु वह सफल नहीं हुआ। इसके पश्चात् जब वह पुनः भारत वापस आ गया तब उसे मध्य-एशिया की ओर ध्यान देने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण हुमायूँ के समय में मध्य-एशिया का कोई भी भाग मुगलों के अधिकार में न रहा। 1598 ई. में सुलेमान और उसके विद्रोही पोते शाह-रुख के झगड़े में हस्तक्षेप करके अब्दुल्लाखाँ उजबेग ने बदख्शां को अपने अधिकार में कर लिया। इस कारण अकबर के समय में मध्य-एशिया का यह भाग उजबेगों के अधिकार में था। अकबर ने शाह-रुख को अपने यहाँ शरण दी क्योंकि वह मध्य-एशिया को जीतने की लालसा करता था। परन्तु यह सम्भव न हो सका। अकबर अपनी भारत-विजय में व्यस्त रहा और उजबेगों की शक्ति भी अब्दुल्लाखाँ के नेतृत्व में दृढ़ हुई। अकबर के समय में न तो उजबेग काबुल को जीतने का साहस कर सके और न मुगल मध्य-एशिया पर आक्रमण कर सके यद्यपि दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखती थीं और दोनों को एक-दूसरे पर आक्रमण करने की आशंका रहती थी। जहाँगीर के समय में मध्य-एशिया पर चंगेजखाँ के वंशजों के एक वंश अस्तराखाँ-वंश ने अधिकार कर लिया। 1611 ई. में इस वंश के इमामकुली उजबेग ने समरकन्द को अपने अधिकार में कर लिया और अपने छोटे भाई नजर मोहम्मद को बल्ख का शासक नियुक्त किया। इमामकुली शान्त प्रकृति का शासक था और उसने मुगलों से मित्रता के सम्बन्ध रखे यहाँ तक कि 1622 ई. में जब फारस ने कन्धार पर अधिकार कर लिया तब उसने फारस के विरुद्ध मुगलों को सहायता देने का आश्वासन दिया।

शाहजहाँ के समय में मध्य-एशिया को विजय करने की सुनिश्चित योजना बनायी गयी। उसके लिए कारण और अवसर भी उपलब्ध हो गये। मूल कारण मुगलों और उजबेगों की महत्वाकांक्षाएँ थीं। मुगलों के लिए मध्य-एशिया को विजय करने की लालसा को समाप्त करना कठिन था और उजबेगों के लिए काबुल और कन्धार की लालसा को छोड़ना मुश्किल था। इस झगड़े का मुख्य कारण बल्ख और बदख्शां थे, जो काबुल और मध्य-एशिया की विजय के प्रवेश-द्वार थे। मुगल और उजबेग दोनों ही इन स्थानों को अपने आधिपत्य में लेने के उत्सुक थे। शाहजहाँ के आरम्भ-काल में उत्तराधिकार के प्रश्न से उत्पन्न हुई आशंकाओं से प्रोत्साहित होकर नजर मोहम्मद ने काबुल पर आक्रमण करने का प्रयत्न किया परन्तु शाहजहाँ उस समय तक सिंहासन पर बैठ चुका था और उसने शीघ्र ही एक सेना काबुल की सहायता के लिए भेज दी। नजर मोहम्मद को असफल होकर वापस लौटना पड़ा। शाहजहाँ ने एक पत्र इमामकुली को लिखा जिसके उत्तर में इमामकुली ने अपने भाई के व्यवहार के लिए क्षमा माँग ली और मुगलों से अच्छे सम्बन्ध रखने का वायदा किया। बाद में स्वयं नजर मोहम्मद ने भी शाहजहाँ से अपने कार्य के लिए खेद प्रकट किया। 1641 ई. में मध्य-एशिया में अव्यवस्था फैल गयी। इमामकुली अन्धा हो गया और उसके भाई नजर मोहम्मद ने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया। नजर मोहम्मद ने जिस प्रकार जागीरदारी-प्रथा को समाप्त करने, दान में दी गयी भूमि पर अधिकार करने तथा कठोरता से शासन करने के साधनों को अपनी सत्ता की स्थापना हेतु अपनाया, उससे उसके सरदारों ने ही

नहीं बल्कि उसके पुत्रों ने भी विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। उसके एक पुत्र अब्दुल अजीज ने बुखारा में अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया और अपने पिता के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया (1645 ई.)। नजर मोहम्मद की स्थिति इतनी दुर्बल हो गयी कि उसने शाहजहाँ से सहायता माँगी। शाहजहाँ के लिए यह एक सुअवसर था। उसने शाहजादा मुराद के नेतृत्व में एक बड़ी सेना मध्य-एशिया पर आक्रमण करने के लिए भेजी। मुगलों ने कुन्दुज, खोस्त, बदख्शां और अन्त में बल्ख पर भी अधिकार कर लिया। नजर मोहम्मद मुगलों पर पूर्ण विश्वास न कर सका और उसने उनका विरोध करने का प्रयत्न किया परन्तु असफल होने पर वह फारस (ईरान) भाग गया। उस समय स्वयं शाहजहाँ युद्ध-स्थल के निकट होने की मंशा से काबुल पहुँच गया और उसने दिल्ली से बल्ख तक के मार्ग को रसद और सेना के आवागमन के लिए सुरक्षित रखा। बल्ख की विजय से शाहजहाँ इतना उत्साहित हुआ कि वह बुखारा और समरकन्द को भी मुगलों के आधिपत्य में लाने की आकांक्षा करने लगा। परन्तु इससे पहले कि मुगल अपनी इस विजय को संगठित कर पाते, शाहजादा मुराद बल्ख को छोड़कर वापस आ गया। शाहजादा मुराद ऐशो-आराम में पला था। मध्य-एशिया की कठोर जलवायु और बंजर प्रदेश में वह अधिक समय तक न रह सका। शाहजादा मुराद के वापस आने पर मुगल-सरदारों ने जीते हुए प्रदेशों को चार भागों में बाँटकर शासन करने का प्रयत्न किया परन्तु वे अधिक सफल न हुए। उनके और उनके सैनिकों के लिए मध्य-एशिया की जलवायु उपयुक्त न थी। इसके अतिरिक्त उजबेग शान्ति से नहीं बैठे हुए थे। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर विद्रोह किये, मुगलों पर स्थान-स्थान पर आक्रमण किये और अपने खोये हुए प्रदेशों को पुनः जीतने का प्रयत्न जारी रखा। 1647 ई. में शाहजहाँ ने औरंगजेब को बल्ख का सूबेदार बना कर भेजा। जब तक औरंगजेब वहाँ पहुँचा तब तक उजबेगों ने मुगलों से कई महत्वपूर्ण स्थानों को छीन लिया था और मुगलों से बड़ी सेना तैयार कर ली थी। फिर भी औरंगजेब ने आसपास के पहाड़ों और घाटियों से उजबेगों को खदड़ने में सफलता पायी और मुगल-सेना को लेकर बल्ख तक पहुँच गया। बल्ख से औरंगजेब तैमूराबाद गया जहाँ उसने उजबेगों को परास्त किया। उसके पश्चात् उसने उजबेगों के मुख्य स्थान पशाई पर अधिकार करने में भी सफलता पायी। परन्तु औरंगजेब बल्ख को छोड़कर बहुत आगे बढ़ गया था। अब्दुल अजीज और उसका छोटा भाई सुभानकुली बल्ख पर आक्रमण करने के लिए आगे बढ़ रहे थे। इस कारण औरंगजेब को वापस लौटना पड़ा। ऑक्सस नदी के किनारे औरंगजेब ने दोनों भाइयों की सम्मिलित और अपने से कहीं बड़ी सेना को परास्त करने में सफलता पायी और कुशलतापूर्वक बल्ख वापस पहुँच गया। परन्तु युद्ध का कोई परिणाम नहीं निकल रहा था। औरंगजेब ऑक्सस नदी से आगे नहीं बढ़ सका था और उजबेग मुगलों को बल्ख से निकालने में असफल रहे थे। सम्भवतया यदि औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों ने कुछ और समय मध्य-एशिया में ठहरने का निश्चय किया होता तो मुगल जीते हुए प्रदेशों को अपने आधिपत्य में रखने में सफल हो जाते क्योंकि औरंगजेब के नेतृत्व और दृढ़ता ने मुगलों को बहुत सफलता दिलायी थी और उजबेगों को प्रभावित भी किया था। औरंगजेब के नेतृत्व में मुगलों ने यह सिद्ध कर दिया था कि उजबेग युद्ध में मुगलों से अधिक साहसी अथवा पराक्रमी न थे जिसका उन्हें विश्वास और घमण्ड था। परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी बन गयीं कि दोनों ही पक्ष शान्ति के इच्छुक हो गये। आमने-सामने के युद्ध में उजबेग मुगलों को परास्त करने में असफल रहे थे, बुखारा का खजाना खाली हो गया था और विभिन्न जातियों के सरदार युद्ध से पृथक होते जा रहे थे। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने

लिखा है : "उनकी कठिनाइयाँ इतनी गम्भीर थीं कि धन की कमी के कारण उनकी सेना मुगलों को अपने घोड़े बेचने के पश्चात् गर्मी के मौसम के बादलों के समान तितर-बितर हो गयी थी।" ऐसी स्थिति में उजबेग लम्बे समय तक मुगलों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार मुगलों को भी कठिनाइयाँ थीं। मुगल उजबेगों के छुटपुट आक्रमणों को रोकने में असमर्थ रहे थे और उन्हें रसद की कठिनाई हो रही थी। मुगल छावनी में एक रोटी की कीमत एक या दो रुपया हो गयी थी, नजर मोहम्मद फारस (ईरान) के शाह की सहायता लेकर वापस आ गया था और फारस का शाह कन्धार पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। ऐसी स्थिति में जब नजर मोहम्मद और अब्दुल अजीज ने सन्धि की बातचीत आरम्भ की तो शाहजहाँ शान्ति के लिए तैयार हो गया। औरंगजेब भी मुगल सैनिकों और सरदारों के नैतिक बल में कमी देखकर शान्ति के लिए इच्छुक था। शाहजहाँ ने औरंगजेब को आदेश दिये कि यदि नजर मोहम्मद व्यक्तिगत रूप से आकर क्षमा माँगे और मुगलों की अधीनता स्वीकार करे तो उसे क्षमा कर दिया जाय और उसका राज्य उसे वापस कर दिया जाय। नजर मोहम्मद ने अपने पोते कासिम सुल्तान को औरंगजेब के पास भेजकर क्षमा माँग ली। शाहजहाँ ने इस तरीके को भी मान लिया और 1647 ई. में नजर मोहम्मद को बल्ख वापस देकर औरंगजेब काबुल आ गया।

मध्य-एशिया के इस युद्ध में मुगलों के प्रायः 4 करोड़ रुपये खर्च हुए और लगभग 5,000 सैनिक मारे गये। इससे मुगलों को कोई भूमि प्राप्त नहीं हुई और यह स्पष्ट हो गया कि मध्य-एशिया में साम्राज्य स्थापित करने की उनकी लालसा व्यर्थ थी। मुगल बादशाह को यह पता लग गया कि यद्यपि वह अपनी उत्तर-पश्चिम की सीमाओं की सुरक्षा करने में समर्थ था परन्तु उत्तर-पश्चिम की ओर साम्राज्य-विस्तार करने से राजनीतिक, आर्थिक, सैनिक और प्रशासकीय आदि अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो सकती थीं। इस युद्ध की असफलता से फारस (ईरान) के शाह को कन्धार को विजय करने के लिए प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और 1648 ई. में उसने शाहजहाँ से कन्धार को फारस को दे देने की स्पष्ट माँग की। परन्तु फिर भी यह आक्रमण पूर्णतया व्यर्थ न था। उजबेगों ने मुगलों से अधिक हानि उठायी थी। उजबेगों की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गयी, ऑक्सस नदी के दक्षिण की उनकी सभी भूमि बर्बाद हो गयी और युद्ध ने उनको यह सबक दे दिया कि मुगलों पर आक्रमण करना सरल न था। इससे उजबेगों की काबुल पर आक्रमण करने की इच्छा और शक्ति समाप्त हो गयी। युद्ध की दृष्टि से मुगलों का यह सैनिक-आक्रमण विफल हुआ परन्तु उजबेगों के लिए यह अच्छा सबक था। इस प्रकार, अन्य सभी प्रकार से हानिकारक और व्यर्थ होते हुए भी शाहजहाँ की मध्य-एशिया की नीति इस दृष्टि से अवश्य लाभदायक रही। परन्तु इसके पश्चात् औरंगजेब तथा उसके पश्चात् के मुगल बादशाहों ने इस युद्ध से सबक लेकर मध्य-एशिया की राजनीति में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया।

[5]

मुगल बादशाहों की कन्धार की नीति

कन्धार मुगलों और फारस के शाहों के साम्राज्यों की सीमा पर था और दोनों राजवंशों के लिए उसका महत्व था। कन्धार का महत्व राजनीतिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से था। राजनीतिक दृष्टि से वह जिस वंश के भी हाथ में होता उसे अपने राज्य की सुरक्षा और दूसरे के राज्य पर आक्रमण करने की सुविधा थी। आर्थिक दृष्टि से कन्धार भारत और पश्चिम

एशिया तथा यूरोप तक के व्यापार के स्थल-मार्ग पर था। वह जिस वंश के भी अधिकार में होता था वही उस विस्तृत व्यापार का मालिक हो जाता था और कर आदि वसूल करके लाभ प्राप्त करता था। इस कारण मुगल बादशाह और फारस के शाह कन्धार को अधिकार में रखने के लिए एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। यह समय ऐसा भी रहा जबकि फारस और भारत दोनों ही स्थानों पर शक्तिशाली साम्राज्य और बादशाह थे जिसके कारण यह प्रतिद्वन्द्विता अधिक तीव्र हो गयी।

मुगल बादशाहों में सर्वप्रथम बाबर ने 1522 ई. में कन्धार को अपने अधिकार में किया। हुमायूँ की मृत्यु के पश्चात् 1558 ई. में फारस ने आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया और पहले सुल्तान हुसैन मिर्जा तथा उसके पश्चात् उसके पुत्र मुजफ्फर हुसैन मिर्जा को उसकी देखभाल के लिए नियुक्त किया। 1594 ई. में अकबर को कन्धार सरलता से प्राप्त हो गया। किलेदार मुजफ्फर हुसैन मिर्जा उजबेगों के आक्रमण को रोकने में असफल हो रहा था और उसे फारस-दरबार से कोई सैनिक सहायता नहीं मिल सकी थी। इस कारण उसने मुगलों से बातचीत आरम्भ की और मुगल सूबेदार शाहबेगखाँ को किला सौंप दिया। अकबर की मृत्यु के पश्चात् खुसरो के विद्रोह के अवसर पर फारस के बादशाह शाह अब्बास सफाई ने कन्धार को जीतने का प्रयत्न किया। वह स्वयं तो टर्की से युद्ध करने चला गया परन्तु खुरासान के सूबेदार और अन्य अधिकारियों को कन्धार पर आक्रमण करने के गुप्त आदेश दे गया। शाहबेगखाँ ने दृढ़ता से फारस के आक्रमणकारियों का मुकाबला किया और जहाँगीर ने एक सेना शीघ्रता से कन्धार के किलेदार की सहायता के लिए भेज दी। फारस के आक्रमणकारियों को किले का घेरा उठाना पड़ा और वे वापस लौट गये। इस प्रकार 1607 ई. में फारस का यह प्रयत्न असफल हुआ। शाह अब्बास ने कूटनीति का सहारा लेकर जहाँगीर से माफी माँगी और इस आक्रमण को अपने बेवकूफ अधिकारियों की भूल बताया। जहाँगीर इससे सन्तुष्ट हो गया। परन्तु फिर भी उसने कन्धार की सुरक्षा के लिए मिर्जा गाजीखाँ के नेतृत्व में 15,000 सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना किले में छोड़ दी। यह अनुभव करके कि केवल शक्ति-प्रयोग लाभदायक न होगा, शाह अब्बास ने कूटनीति का सहारा लिया। उसने प्रेम और मित्रता से परिपूर्ण पत्र जहाँगोर को लिखने आरम्भ किये और जहाँगीर के दरबार में निरन्तर अपने राजदूत भेजे। 1611 ई. में यादगार अली, 1615 ई. में मुस्तफा बेग, 1616 ई. में रिजाबेग और 1620 ई. में जम्बलबेग फारस के राजदूत के रूप में मुगल-दरबार में आये। इन राजदूतों को भेजने के दो आशय थे—प्रथम, जहाँगीर कन्धार की ओर से आश्वस्त हो जाये और कन्धार पर फारस के आक्रमण का भय न रहे ; और द्वितीय, मुगल-दरबार की राजनीति की सूचना फारस के शाह को प्राप्त होती रहे। जहाँगीर ने भी अपने राजदूत खानेआलम को फारस के दरबार में भेजा था। परन्तु फारस के राजदूत अधिक सफल रहे। जहाँगीर फारस के बादशाह की सद्भावनाओं पर विश्वास करके कन्धार के किले की सुरक्षा की तरफ से असावधान हो गया। 1621 ई. में फारस के शाह को नूरजहाँ और शाहजहाँ के बढ़ते हुए मतभेदों का पता लग गया। उसी वर्ष फारस ने कन्धार पर आक्रमण किया और 1622 ई. में किले का घेरा डाल दिया। जहाँगीर ने शाहजहाँ को कन्धार जाने के आदेश दिये जिसे वह टाल गया। इस कारण कन्धार की सुरक्षा के लिए समय से सहायता न पहुँच सकी और 45 दिन के घेरे के पश्चात् 1622 ई. में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया। शाह अब्बास ने एक पत्र में जहाँगीर को लिखा कि कन्धार पर कानूनी अधिकार फारस का था और जब जहाँगीर ने स्वेच्छा से उसे फारस को नहीं दिया तब बाध्य होकर फारस को कन्धार पर

आक्रमण करना पड़ा। जहाँगीर ने फारस के शाह पर धोखेबाजी का आरोप लगाया और उसे बुरा-भला लिख भेजा परन्तु शाहजहाँ का विद्रोह हो जाने के कारण वह कन्धार को पुनः अपने अधिकार में करने का प्रयत्न न कर सका। इस प्रकार, **जहाँगीर के अन्तिम वर्षों में कन्धार पर फारस का अधिकार हो गया।**

शाहजहाँ के गद्दी पर बैठने के अवसर पर शाह अब्बास ने उसे बधाई का पत्र भेजा और आवश्यकता होने पर सहायता देने का आश्वासन दिया। परन्तु 1629 ई. में शाह अब्बास की मृत्यु हो गयी और 1629 ई. में शाह सफी फारस का बादशाह बना। शाहजहाँ ने उसे बधाई का पत्र भेजा और सहायता का आश्वासन दिया। इस प्रकार फारस और मुगल बादशाहों में कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित रहे, यहाँ तक कि शाह सफी शाहजहाँ को अपना चाचा कहता था और शाहजहाँ ने उसे समय-समय पर सलाह भी दी थी। परन्तु इस कूटनीति के पीछे शाहजहाँ की कन्धार को प्राप्त करने की लालसा छिपी हुई थी। 1638 ई. में सुविधा से यह कार्य पूरा हो गया। कन्धार के सूबेदार अलीमर्दन से शाह सफी असन्तुष्ट हो गया क्योंकि उसने पिछले कई वर्षों से शाह को वार्षिक कर नहीं भेजा था। उसके स्थान पर एक अन्य सूबेदार की नियुक्ति की गयी और उसे एक सेना के साथ अलीमर्दन से किला छीन लेने के लिए भेजा गया। अलीमर्दन ने अपने पद और सम्मान को खतरे में जानकर काबुल के मुगल-सूबेदार से बातचीत की। शाहजहाँ ने फौरन अलीमर्दन को मुगल-सेवा में लेकर ऊँचा पद दिया और काबुल के सूबेदार सईदखाँ को कन्धार पर आधिपत्य कर लेने के आदेश दिये। सईदखाँ ने कन्धार पर अधिकार कर लिया और फारस द्वारा भेजी गयी सेना को परास्त करके वापस जाने के लिए बाध्य किया। शाहजहाँ ने शाह सफी को पत्र द्वारा सूचित कर दिया कि क्योंकि कन्धार पर मुगल-वंश का कानूनी अधिकार था, इस कारण शाह को इस घटना का बुरा नहीं मानना चाहिए। शाह सफी इस हानि को न भूल सका यद्यपि अन्य युद्धों में व्यस्त रहने के कारण वह कन्धार को अपने आधिपत्य में लेने का प्रयत्न न कर सका। इस प्रकार, **1638 ई. में एक बार फिर कन्धार मुगलों के हाथों में आ गया।**

1642 ई. में शाह सफी की मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी शाह अब्बास सिंहासन पर बैठने के समय केवल 11 वर्ष की आयु का था। इस कारण कुछ वर्षों तक फ़ारस कन्धार की ओर ध्यान न दे सका। 1648 ई. में शाह अब्बास द्वितीय ने शासन-सत्ता अपने हाथों में ली तथा टर्की और उजबेगों से सन्धि हो जाने के पश्चात् उसने कन्धार की ओर ध्यान दिया। शाहजहाँ फारस के आक्रमण की तैयारी से अवगत हो गया और उसने कन्धार की रक्षा की तैयारी कर ली। काबुल के सूबेदार ने भी 5,000 सैनिक और पाँच लाख रुपया कन्धार के किलेदार दौलतखाँ को भेज दिया। स्वयं शाहजहाँ भी जाड़ों के पश्चात् काबुल जाने के लिए तैयार हो गया। परन्तु शाह अब्बास चतुर सिद्ध हुआ। वह जानता था कि मुगल जाड़े के मौसम से डरते थे और उस मौसम में वह फारस के आक्रमण की आशा भी नहीं कर सकते थे। इस कारण वह जाड़ों के समय को खोने के लिए तैयार न था। पहले उसने कूटनीति, चालाकी और धन का सहारा लिया, परन्तु जब वह उसमें असफल हुआ तब उसने कन्धार पर आक्रमण कर दिया। दिसम्बर 1648 ई. में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया और साथ-साथ 'निस्त' और 'जमींदवा' पर भी आक्रमण किया गया। मुगल-सैनिकों को धन का लालच दिया गया और उनमें से कुछ सरदार और सैनिक फारस की सेना से जाकर मिल भी गये। **किलेदार दौलतखाँ को सहायता मिलने की कोई आशा दिखायी न दी और उसने घबराकर फरवरी 1649 ई. में आत्मसमर्पण कर दिया।** फारस का जाड़ों में आक्रमण और

दौलतखाँ की दुर्बलता के कारण कन्धार का किला मुगलों के हाथ से निकल गया। दौलतखाँ यह आँकलन न कर सका कि उसकी स्थिति बहुत खराब न थी, फारस की सेना में रसद की कमी हो रही थी और मुगलों के मुकाबले फारस की सेना की अधिक क्षति हुई थी। इस कारण फारस कन्धार को जीतने में सफल हो गया। शाह अब्बास ने शाहजहाँ को पत्र लिखा कि किले पर कानूनी अधिकार फारस का ही था।

शाहजहाँ को कन्धार के घेरे की सूचना तब मिली जबकि घेरा डाले हुए एक माह का समय बीत चुका था। शाहजहाँ ने तुरन्त शाहजादा औरंगजेब और वजीर सादुल्लाखाँ को कन्धार की सहायता के लिए भेजा। परन्तु औरंगजेब मई 1649 ई. में कन्धार पहुँच सका। उस समय तक कन्धार के किले पर फारस का अधिकार हो चुका था। उस अवसर पर स्वयं शाहजहाँ भी काबुल पहुँच गया। औरंगजेब ने किले का घेरा डाल दिया और लगातार किले के अधिकारियों को धन व पद के लालच द्वारा और युद्ध के जरिये किले को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। मुगलों ने फारस की सेना को मैदान में पराजित करने में तो सफलता पायी और मुख्यतया 'शाहमीर' के युद्ध में मुगलों ने संख्या में अपने से दुगुनी फारस की सेना को सफलता से परास्त करने का श्रेय प्राप्त किया परन्तु वे किले की दीवार को न तोड़ सके। रसद की कमी, जाड़ों के मौसम में युद्ध को जारी रखने की कठिनाई और फारस से किले के लिए सहायता आ जाने की सम्भावना के कारण प्रायः 3-1/2 माह के घेरे के पश्चात् औरंगजेब को सितम्बर 1649 ई. में किले का घेरा उठाकर वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1652 ई. में पुनः औरंगजेब और सादुल्लाखाँ को कन्धार को जीतने के लिए भेजा गया। इस बार औरंगजेब ने पूरी तैयारी से आक्रमण किया था परन्तु उसकी तोपों ने उसे धोखा दे दिया। फारस के पास अच्छा तोपखाना था और मुगल उसके मुकाबले में कुछ न कर सके। इसी अवसर पर उजबेगों ने गजनी पर दबाव डाला और यह भय हो गया कि मुगल सेना के वापस लौटने का रास्ता बन्द हो जायेगा। प्रायः दो माह (मई से जुलाई) के घेरे के पश्चात् मुगलों को वापस लौटने के लिए बाध्य होना पड़ा।

1653 ई. में शाहजहाँ ने अपने सबसे बड़े पुत्र दाराशिकोह को पर्याप्त धन, बहुत बड़ी सेना और बड़ी-बड़ी तोपें देकर कन्धार पर आक्रमण करने के लिए भेजा। दारा ने आसपास के क्षेत्र को जीत लिया, बिस्त और गिरसिक के किलों पर अधिकार कर लिया और फारस से सहायता आने वाले मार्गों पर भी अधिकार कर लिया। अप्रैल 1653 ई. में कन्धार के किले का घेरा डाल दिया गया और उसकी दीवारों को क्षति पहुँचायी गयी। परन्तु फिर भी किले की तोपों के मुकाबले मुगलों की तोपें सफल न हो सकीं। जब तक दारा के पास गोला-बारूद और रसद रही तब तक वह किले से नहीं हटा परन्तु उसे भी कोई सफलता न मिली। अन्त में, अक्टूबर में मुगल-सेना वापस आ गयी।

इस प्रकार, कन्धार के किले पर मुगलों के तीनों आक्रमण विफल हुए और कन्धार स्थायी रूप से फारस के हाथों में चला गया। औरंगजेब ने इस किले को जीतने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में देखा जाय तो कन्धार का किला बहुत दृढ़ था और फारस या मुगल बादशाहों में से कोई भी उस पर सरलता से अधिकार नहीं कर सकता था। जब कभी भी मुगलों ने उस पर अधिकार किया तब कूटनीति से ही किया। अकबर और शाहजहाँ के समय में यह फारस के किलेदारों की गद्दारी से मुगलों को प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार,

जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में जब फारस ने इस पर अधिकार किया तो मुगल किलेदार के साहस छोड़ देने के कारण ही अधिकार करना सम्भव हुआ था। सैनिक-अभियान की दृष्टि से फारस और मुगल बादशाह दोनों ही कन्धार के किले के सम्मुख असफल रहे थे। शाहजहाँ के समय में कन्धार को जीतने के सभी प्रयत्न इसी कारण असफल हुए। इसके अतिरिक्त मुगलों की अन्य दुर्बलताएँ भी थीं। मुगलों के मुकाबले फारस के पास अच्छी और दूर तक मार करने वाली तोपें थीं। इस कारण, मुगल कभी भी किले की दीवार को तोड़ने में सफल नहीं हो सके। इसके अतिरिक्त, मुगल-सेना कन्धार में जाड़े के समय में युद्ध करने की स्थिति में न थी; केवल गर्मी के मौसम के कुछ माह ही उसे इस प्रयत्न के लिए मिल पाते थे। इस कारण, मुगल कन्धार के किले को जीतने में असफल रहे।

इन आक्रमणों में शाहजहाँ का प्रायः 12 करोड़ रुपया नष्ट हुआ, हजारों सैनिक मारे गये और मुगल-साम्राज्य की सैनिक प्रतिष्ठा में कमी आयी जिसके कारण औरंगजेब के आरम्भिक काल में शाह अब्बास उसे भारत पर आक्रमण करने की धमकी दे सका। परन्तु इससे एक बात अवश्य निश्चित हो गयी। फारस के शाह ने यह स्पष्ट समझ लिया कि यदि मुगल पश्चिम की ओर साम्राज्य-विस्तार करने में असमर्थ हैं तो फारस भी कन्धार के पूर्व की ओर बढ़ने में असमर्थ है। कन्धार उस समय तक मुगलों और फारस के राज्यों की सीमा का विभाजन-स्थल बना रहा जब तक कि उत्तरकालीन मुगल बादशाह दुर्बल न हो गये।

12

मुगल-शासन-व्यवस्था

[1]

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

एक समय में मुगल-शासन-व्यवस्था भारत के समस्त संगठित एवं सुसभ्य भागों में फैली हुई थी और उसका प्रभाव बहुत से क्षेत्रों में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत भी पाया जा सकता था। मुगल विदेशी थे और उनकी शासन-व्यवस्था में विदेशी तत्व प्राप्त होते हैं। फारस और अरब की व्यवस्था के चिन्ह उसमें स्पष्ट हैं। उदाहरण के रूप में, उनका विभागों का वितरण, अधिकारियों के पद और उन पदों के नाम, प्रशासकीय नियम आदि विदेशी प्रभाव के प्रमाण हैं। परन्तु मुगलों ने अपने से पहले के तुर्क और अफगान शासकों से उसे पर्याप्त भिन्न कर दिया था तथा उसमें भारतीय शासन-व्यवस्था और उसके आदर्श पर्याप्त मात्रा में सम्मिलित हो गये थे। निस्सन्देह, मुगल-शासन-व्यवस्था की उत्पत्ति का आधार सैनिक था और अपने आधार की इस विशेषता को उसने अन्त तक स्थापित रखा परन्तु उसमें प्रजा की भलाई और उन्नति को भी सम्मिलित किया गया। **मुगल बादशाहों ने मूल आधार पर शासन-व्यवस्था के कुछ सिद्धान्तों में परिवर्तन कर दिया।** मूलतया, मुगल-शासन केन्द्रीयकृत शासन था जिसमें बादशाह सम्पूर्ण राज्य और प्रशासन का प्रधान और सभी शक्तियों का निर्विवाद उपभोग करने वाला था। उसके मंत्री, मनसबदार, सरदार आदि उस पर पूर्णतया आश्रित थे। कुछ अधीन राजपूत-शासकों के अतिरिक्त उनमें से किसी का भी अधिकार पैतृक़ न था और जिन अधीन राजपूत-शासकों को यह अधिकार दिया भी गया था उनके लिए उत्तराधिकारी की स्वीकृति बादशाह से लेनी आवश्यक थी। प्रथम मुगल बादशाह बाबर ने बादशाह की उपाधि ग्रहण करके मुगल बादशाहों को खलीफा के नाममात्र के आधिपत्य से मुक्त कर दिया और उसी के समय से मुगल बादशाह किसी प्रकार भी किसी विदेशी सत्ता अथवा व्यक्ति के अधीन नहीं रहे। अकबर ने स्वयं को इस्लाम के कानूनों के बारे में अन्तिम निर्णायक घोषित करके बादशाह की स्थिति को और अधिक श्रेष्ठ बना दिया। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि मुगल-राज्य एक धार्मिक राज्य (Theocracy) न था। औरंगजेब के अतिरिक्त किसी भी अन्य महान् मुगल बादशाह ने इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों को अपने राज्य की नीति का आधार नहीं बनाया। मुगल-शासन केवल एक पुलिस-व्यवस्था भी नहीं माना जा सकता। मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा के दैनिक जीवन में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। मुगल बादशाहों ने, निस्सन्देह, बादशाह के दो कर्तव्य माने

थे—जहाँबानी (राज्य की रक्षा) और जहाँगीरी (अन्य राज्यों पर अधिकार)। परन्तु इन्हें हिन्दू राजाओं ने भी अपना कर्तव्य माना था। इसके अतिरिक्त, मुगलों ने अपनी प्रजा के लिए अच्छी और सुसभ्य जीवन की परिस्थितियों का निर्माण करना भी अपना कर्तव्य समझा। इसी के कारण मुगल-काल में आर्थिक ही नहीं बल्कि सभ्यता और संस्कृति की उन्नति भी सम्भव हो सकी। धार्मिक दृष्टि से मुगलों ने एक नवीन युग का आरम्भ किया। उनसे पहले दिल्ली-सल्तनत के समय के शासकों में से एक को भी धार्मिक दृष्टि से उदार नहीं माना जा सकता। मुगलों के समय से धार्मिक उदारता का समय आरम्भ होता है। महान् मुगल बादशाहों की शासन-व्यवस्था धार्मिक सहिष्णुता पर आधारित थी। बाबर और हुमायूँ धार्मिक दृष्टि से कट्टर न थे और अकबर ने सभी धर्मों की समानता के आधार पर अपनी शासन-नीति का निर्माण किया। महान् मुगल बादशाहों में से केवल औरंगजेब एक ऐसा बादशाह हुआ जिसने धार्मिक असहिष्णुता की नीति को अपनाया। इस कारण मुगल-शासन-व्यवस्था अपनी नवीन विशेषताओं को लिये हुए थी जो भारत के पहले के मुसलमान शासकों से भिन्न थी। अकबर ने मूलतया इस मुगल-शासन-व्यवस्था का निर्माण किया और साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त यह व्यवस्था औरंगजेब के समय तक मुगलों के शासन का आधार रही। औरंगजेब के दुर्बल उत्तराधिकारी इस व्यवस्था को स्थापित न रख सके जिसका परिणाम 18वीं सदी की अव्यवस्था हुआ।

1. मुगल बादशाह

मुगल बादशाह राज्य का प्रधान था। वही राज्य का अन्तिम कानून-निर्माता, शासन-व्यवस्थापक, न्यायाधीश और सेनापति था। अकबर के समय से धार्मिक मामलों में भी श्रेष्ठता को प्राप्त करने से मुगल बादशाह के अधिकारों में वृद्धि हो गयी। इस प्रकार राज्य में बादशाह की स्थिति सर्वोच्च और शक्ति असीमित थी। वह शक्ति, वैभव और सम्मान की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ था। बादशाह के मन्त्री, सरदार और सलाहकार उसे सलाह तो दे सकते थे परन्तु बादशाह उनकी सलाह को मानने के लिए बाध्य न था। प्रत्येक बात में अन्तिम निर्णय बादशाह का होता था। अकबर के समय से बादशाह को ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में माना जाने लगा। अबुल फजल ने जिस राजत्व-सिद्धान्त का समर्थन किया था, उसके अनुसार बादशाह एक साधारण मानव से कहीं अधिक था। वह ईश्वर का प्रतिनिधि था, वह पृथ्वी पर ईश्वर का दूत था और ईश्वर ने उसे साधारण व्यक्ति की तुलना में अधिक बुद्धि और विवेक प्रदान किया था। इसी कारण अकबर ने झरोखा-दर्शन और तुला-दान जैसी प्रथाओं को आरम्भ किया। मुगल बादशाहों का राजत्व सम्बन्धी यह सिद्धान्त हिन्दू राजत्व-सिद्धान्त के समान था। इस प्रकार, **सम्पूर्ण शक्तियों को अपने में केन्द्रित करने और देवत्व के अंश को अपने में मानकर मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश थे। परन्तु मुगल बादशाह स्वेच्छाचारी अथवा अत्याचारी न थे।** उन्होंने प्रजा की भलाई करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझा। अकबर का कहना था : "एक राजा को न्यायप्रिय, निष्पक्ष, उदार, परिश्रमी और अपनी प्रजा का संरक्षक एवं शुभचिन्तक होना चाहिए। बादशाह के लिए अनीति और अत्याचार अनुचित है।" औरंगजेब भी अपने इस कर्तव्य के प्रति जागरूक था। यद्यपि उसके कर्तव्य की परिभाषा धार्मिक कर्तव्य के कारण सीमित हो गयी थी परन्तु वह भी 'बादशाहत को ईश्वर द्वारा प्रदत्त उत्तरदायित्व' मानता था। इस कारण मुगल बादशाह 'उदार निरंकुश शासक' थे जिन्होंने अपनी प्रजा की भलाई का ध्यान रखा था। अपने इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मुगल बादशाह अत्यधिक परिश्रम करता था। मुगल बादशाहों की दैनिक

दिनचर्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें से प्रत्येक सूर्योदय से बहुत पहले उठता था और रात्रि तक कार्य में लगा रहता था। आरामपसन्द जहाँगीर भी स्वयं सात या आठ घण्टे राज्यकार्य में लगाता था और न्याय करना बादशाह का व्यक्तिगत कर्तव्य मानता था जबकि औरंगजेब कठिनाई से रात्रि में तीन या चार घण्टे ही आराम करता था।

इस प्रकार, मुगल बादशाह प्रजापालक, परिश्रमी और असीमित अधिकारों का उपभोग करने वाले थे। कानूनी दृष्टि से उनके अधिकारों पर कोई अंकुश नहीं था और उनके अनेक विशेष-अधिकार थे; जैसे—झरोखा-दर्शन, पद प्रदान करना, नक्कारे का प्रयोग, हाथियों की लड़ाई आदि। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से मुगल बादशाहों के अधिकार कुछ सीमित थे। केन्द्रीय मन्त्रियों के अतिरिक्त, जिनकी सलाह बादशाह के लिए अवश्य ही प्रभावपूर्ण होती होगी, राज्य के बड़े-बड़े सरदारों के प्रभाव को भी बादशाह को मानना पड़ता था। डॉ. ताराचन्द ने मुगल-शासन को कुलीनों का शासन (Rule by Aristocracy) बताया है। निस्सन्देह, मुगल बादशाहों के समय में शक्तिशाली सरदार जो राज्य के बड़े-बड़े मनसबों को प्राप्त किये हुए थे, राज्य में प्रभावशाली थे। दिल्ली-सल्तनत के शासकों ने अपने सरदारों की शक्ति को तोड़कर (जैसे बलबन, अलाउद्दीन आदि ने) अपनी निरंकुशता को स्थापित किया था जबकि मुगल बादशाहों ने अपने सरदारों की वफादारी और शक्ति को अपनी शक्ति और निरंकुशता का आधार बनाया। ऐसी स्थिति में उनके सरदारों का प्रभाव उनकी नीतिं पर आना अनिवार्य था।

2. शासक-वर्ग

बादशाह के अतिरिक्त, वस्तुतः, मुगल-राज्य में कई वर्ग ऐसे थे जो शासन में प्रभावपूर्ण थे जिसके कारण वे शासक-वर्ग कहलाने के अधिकारी थे। उनमें एक वर्ग अमीरों का था जिनको 'उमरा' (अमीर का बहुवचन) पुकारा जाता था। बाबर के साथ ईरानी, तूरानी, मुगल आदि बहुत बड़ी संख्या में भारत आये थे । अकबर के समय में उमराओं की संख्या में वृद्धि हुई। उसने योजनापूर्ण तरीके से अपने सभी अधिकारियों को मनसब देने आरम्भ किये। उसकी मनसबदारी प्रथा के अन्तर्गत साधारणतया एक हजार जात और उससे ऊपर की संख्या के पदाधिकारियों को उमरा की श्रेणी में स्वीकार किया गया। अकबर के समय में अन्य नस्लों के व्यक्तियों के अतिरिक्त एक बड़ी संख्या में राजपूतों को भी इस श्रेणी में सम्मिलित किया गया। उसके समय में योग्य भारतीय मुलसमानों को भी उमरा की श्रेणी में स्थान दिया गया जबकि औरंगजेब के शासन-काल में मराठे भी इस श्रेणी में सम्मिलित किये गये। ये अमीर राज्य में सभी प्रकार के सैनिक और असैनिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति करते थे और, इस प्रकार, शासन में शरीर की धमनियों के समान थे। राज्य-प्रशासन में, इस कारण, वे प्रभावपूर्ण स्थान रखते थे यहाँ तक कि बादशाह को उन पर विभिन्न तरीकों से नियंत्रण रखने की आवश्यकता होती थी। बादशाह उनका स्थानान्तरण करता रहता था, उत्तरदायित्व की पूर्ति न किये जाने पर उनको दण्ड देता था और जिसकी मृत्यु हो जाती थी उसकी सम्पत्ति को हस्तगत करके उसके पुनः वितरण करने का अधिकार रखता था। उमरा-वर्ग में राज्य के बड़े से बड़े धनवान और शक्तिशाली अमीर सम्मिलित थे। उनके पास बड़ी-बड़ी सेनाएँ थीं । उन्होंने प्रशासन को ही नहीं अपितु जन-जीवन को भी प्रभावित किया। योग्य मुगल-बादशाहों के शासन-काल में उन्होंने राज्य-विस्तार, प्रशासन, भूमि-व्यवस्था, सार्वजनिक हित के कार्य, व्यापार-वृद्धि आदि में सहयोग प्रदान किया। परन्तु जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये तब वे ही बादशाह को बनाने और हटाने वाले बन गये

जिससे मुगलों का केन्द्रीयकृत ढाँचा नष्ट हो गया, स्थानीय स्वतंत्र राज्य बने और मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हुआ।

शासन में एक अन्य महत्वपूर्ण वर्ग जागीरदारों का था। जागीरदार वे मनसबदार थे जिन्हें उनका वेतन नकद नहीं मिलता था अपितु इसके लिए उन्हें एक निश्चित भू-क्षेत्र (जागीर) दे दिया जाता था जिसके राजस्व से वह अपना वेतन प्राप्त करते थे। जागीरदार का अपनी जागीर पर कोई पैतृक अधिकार नहीं होता था और न उसका अधिकार स्थायी था अर्थात् बादशाह जागीरदारों का स्थानान्तरण करता रहता था। केवल कुछ राजपूत-शासक ही जिन्हें उनके राज्य जागीरों के रूप में वापस दे दिये गये थे, अपनी जागीरों के स्थायी स्वामी थे और आन्तरिक शासन में भी पर्याप्त स्वतंत्र थे। अपनी जागीरों के सम्बन्ध में जागीरदारों के अधिकारों में विभिन्नता भी थी। कहीं उन्हें केवल राजस्व वसूल करने मात्र का अधिकार था और कहीं-कहीं वे इसके साथ-साथ प्रशासन के उत्तरदायित्व को भी निभाते थे। परन्तु प्रत्येक स्थिति में केन्द्रीय सरकार उन पर विभिन्न प्रकार से नियंत्रण रखती थी जिससे वे स्वतंत्र प्रवृत्ति की भावना न रखें। आरम्भ में जागीरदारी-व्यवस्था से प्रशासन और राजस्व वसूल करने में सुविधा हुई। जागीरदार राजस्व वसूल करके अपना और अपने सैनिकों का व्यय पूरा करके बचा हुआ राजस्व केन्द्रीय सरकार में जमा करते थे। इससे केन्द्रीय सरकार का कार्यभार कम होता था और उसे पर्याप्त आय भी प्राप्त हो जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे इसमें दोष उत्पन्न हो गये और वे दोष इतने गम्भीर हो गये कि उन्होंने मुगल-साम्राज्य के पतन में भी भाग लिया। इसमें आरम्भ से ही यह दोष रहे कि जागीर से जितनी अनुमानित आय की आशा की जाती थी, वास्तविक आय सर्वदा उससे कम ही रहती थी । इसके अतिरिक्त जागीरदार अधिक से अधिक आय करना चाहते थे जिसके लिए वे अपने अधीन जमींदारों और किसानों पर दबाव डालते थे जिससे एक तरफ उनका जमींदारों से संघर्ष होता था और दूसरी तरफ किसानों पर आर्थिक दबाव पड़ता था। जागीरदारों का स्थानान्तरण भी होता रहता था जिसके कारण वे अपनी जागीर की स्थायी समृद्धि के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते थे। बाद के समय में मनसबदारों की संख्या में वृद्धि हो जाने से खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) भी जागीर-भूमि में परिवर्तित की जाने लगी और अन्त में ऐसी स्थिति आयी कि बादशाह के पास अपने मनसबदारों को देने के लिए भूमि ही नहीं बची। इससे, एक तरफ, मनसबदारों और जागीरदारों में जागीरें प्राप्त करने के लिए पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और गुटबन्दी हुई और दूसरी तरफ बादशाह दिवालिया हो गया।

शासक-वर्ग का एक महत्वपूर्ण भाग जमींदार-वर्ग भी था। डॉ. नूरुल हसन ने मुगल-साम्राज्य के जमींदारों को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा है—एक, प्राथमिक जमींदार जो भूमि के स्वामी थे, पैतृक अधिकार का उपभोग करते थे और भूमि को खरीद या बेच सकते थे। वे या तो स्वयं खेती करते थे अथवा मजदूरों से खेती कराते थे। दूसरे, माध्यमिक जमींदार जो प्राथमिक जमींदारों या किसानों से राजस्व इकट्ठा करके सरकारी खजाने में जमा करते थे और इसके बदले में राजस्व में से कुछ भाग, भू-अनुदान अथवा लगान-माफी का अधिकार रखते थे। चौधरी, मुकदम, देशमुख, देसाई, ताल्लुकेदार आदि इस वर्ग में आते थे। तीसरे, सरदार, राजा, राव, राय आदि जो अपने भू-क्षेत्र के स्वतंत्र शासक थे, मुगलों की अधीनता स्वीकार किये हुए थे और समय-समय पर मुगल बादशाह को भेंट, नज़राने आदि तथा सैनिक सहायता दिया करते थे। प्राथमिक जमींदारों का दायित्व अपनी भूमि का लगान देना था चाहे वे उस भूमि पर स्वयं खेती करते हों अथवा किसानों को पट्टे पर भूमि देकर उनसे खेती कराते हों। माध्यमिक जमींदारों का दायित्व राजस्व वसूल करके शाही

खजाने में जमा करना होता था। वे अपने-अपने क्षेत्र में कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिए भी जिम्मेदार थे। उनका पद पैतृक होता था। भू-क्षेत्रों के स्वतंत्र शासकों का, जिनमें राय, राणा, राजा आदि आते थे, मुख्य दायित्व बादशाह की अधीनता स्वीकार करना, उसे भेंट और नजराने देना तथा माँगे जाने पर सैनिक सहायता प्रदान करना था। सभी प्रकार के जमींदार किसी न किसी रूप में प्रशासन में सहायता करते थे, अपने-अपने क्षेत्र में विस्तृत अधिकारों का उपभोग करते थे और उनके उपभोग के लिए अपने साथ सैनिक भी रखते थे। अधिकांश जमींदारों का सम्पर्क प्रत्यक्षतः किसानों से होता था। इस कारण वे आर्थिक, प्रशासकीय और सांस्कृतिक दृष्टि से भी साम्राज्य के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। परन्तु जबकि एक तरफ वे राज्य के लिए उपयोगी थे दूसरी तरफ उनके और राज्य के हितों में टकराव था क्योंकि दोनों ही किसानों के लाभ में से अधिक से अधिक स्वयं के लिए रखना पसन्द करते थे। जमींदार-वर्ग नें मुगल-साम्राज्य का समर्थन करके उसे शक्तिशाली बनने में सहयोग प्रदान किया। परन्तु इस वर्ग की एक मुख्य विशेषता क्षेत्रीय वफादारी पर बल देना था जिसके कारण बादशाह के दुर्बल हो जाने पर इस वर्ग ने उमरा या जागीरदारी-वर्ग का समर्थन किया और इस प्रकार साम्राज्य के विघटन में सहायता दी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, निस्सन्देह, मुगल बादशाह शासन का वस्तुतः प्रधान था परन्तु उमरा या मनसबदार, जागीरदार और जमींदार वर्ग मुगल-काल में प्रशासन का अभिन्न अंग थे और इस कारण तत्कालीन राज्य और समाज का शासक-वर्ग थे। इसके अतिरिक्त बादशाह ने शासन के लिए अपनी निजी व्यवस्था की थी जो निम्न प्रकार थी :

3. बादशाह के मन्त्री

शासन में अपनी सहायता के लिए बादशाह विभिन्न मन्त्रियों की नियुक्ति करता था। उनमें से प्रत्येक से अलग-अलग अथवा सम्मिलित रूप से सलाह लेने का अधिकार बादशाह को था। वे शासन के विभिन्न विभागों के प्रधान होते थे और उनके शासन की देखभाल करते थे। इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक मन्त्री का अपना पृथक कार्यालय होता था और उसके कर्मचारी उसकी अधीनता में कार्य करते थे। अकबर के समय में वकील, दीवान अथवा वजीर, मीर-बख्शी और सद्र-उस-सद्र यह चार ही मन्त्री-पद थे। बाद के समय में वकील और दीवान अथवा वजीर का पद एक ही व्यक्ति को दिया गया और यह राज्य का वकील-ए-मुतलक (वजीर) अथवा प्रधानमन्त्री कहलाया। बाद में खानेसामा, मुख्य काजी और मुहतसिब के पदों को भी मन्त्री-पद प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त, मीरे-आतिश और दरोगा-ए-डाकचौकी के पद मन्त्री-पद के न होते हुए भी शासन के महत्वपूर्ण पद माने जाते थे।

1. प्रधानमन्त्री (वकील-ए-मुतलक, वजीर, दीवान)—अकबर के समय में वकील का पद बैरमखाँ को दिया गया और इस दृष्टि से वह राज्य का संरक्षक, सभी मन्त्रियों का प्रधान और उन्हें हटाने तथा नियुक्त करने का अधिकारी था। परन्तु बैरमखाँ के पश्चात् ऐसे अधिकार किसी भी पदाधिकारी को नहीं दिये गये। प्रधानमन्त्री को दीवान के कार्य दे दिये गये और बाद के समय में दीवान ही राज्य का वजीर और प्रधानमन्त्री होने लगा। दीवान होने की दृष्टि से उसका मुख्य कार्य राज्य की आय और व्यय की देखभाल करना था। यह बादशाह और अन्य अधिकारियों के बीच की कड़ी था। बादशाह की अनुपस्थिति में राजधानी में रहकर शासन की देखभाल करना, बादशाह के अल्पायु होने पर उसके संरक्षक के रूप में कार्य करना और समय-समय पर सेना का सेनापतित्व करना भी उसके कार्य थे। इस प्रकार,

बादशाह के पश्चात् शासन में प्रमुख स्थान प्रधानमन्त्री का था जिसको समय-समय पर वकील-ए-मुतलक अथवा वकील पुकारा गया था और जो वित्त-विभाग का प्रधान होने के नाते राज्य का दीवान भी था।

प्रधानमन्त्री सभी अन्य विभागों पर नियन्त्रण रखता था, सूबों से सूचनाएँ प्राप्त करता था, बादशाह के आदेशों को वहाँ भेजता था, राजनीतिक पत्र-व्यवहार करता था और शासन के साधारण कार्यों को बादशाह की ओर से स्वयं करता था। उसकी सहातया के लिए अनेक अधिकारियों के अतिरिक्त पाँच अधिकारी प्रमुख थे—दीवाने-खालसा (शाही भूमि की देखभाल करने वाला अधिकारी), दीवाने-तन (वेतन और जागीरों की देखभाल करने वाला), मुस्तौफी (आय और व्यय का निरीक्षक), वाकिया-ए-नवीस (सभी पत्र-व्यवहार और घटनाओं का रिकार्ड रखने वाला) और मुशरिफ (दफ्तर की देखभाल करने वाला)।

2. मीर-बखशी—मीर-बखशी सेना-विभाग का प्रधान था। अवसर पड़ने पर उसे सेना का सेनापतित्व दिया जा सकता था परन्तु यह उसका प्रमुख उत्तरदायित्व न था और न वह राज्य का सेनापति था। सैनिकों की भर्ती, उनका हुलिया रखा जाना, घोड़ों और हाथियों का दागा जाना, सैनिकों के शस्त्रों, वस्त्रों, घोड़ों, शिक्षा और रसद, आदि की देखभाल करना उसका कार्य था। प्रत्येक मनसबदार के सैनिकों की संख्या, प्रत्येक की पदोन्नति का हिसाब और प्रत्येक को वेतन देना आदि कार्य उसी के दफ्तर से होते थे। बादशाह के महल की सुरक्षा के लिए मनसबदारों को नियुक्त करना और प्रत्येक दिन उनमें परिवर्तन करना भी उसका मुख्य कार्य था। उसका कार्य बहुत अधिक था। अतः उसकी अधीनता में विभिन्न बखशी, एक बड़ा विभाग और अनेक कर्मचारी थे।

3. सद्र-उस-सद्र—सद्र-उस-सद्र का कार्य धार्मिक था। वह धार्मिक मामलों में बादशाह का सलाहकार था। दान-पुण्य की व्यवस्था, धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था, विद्वानों को जागीरें प्रदान करना और इस्लाम के कानूनों के पालन की समुचित व्यवस्था को देखना इसके प्रमुख कर्तव्य थे। कभी-कभी इसे मुख्य काजी का पद भी प्राप्त हो जाता था यद्यपि अकबर के समय में अधिकांशतया यह पद पृथक-पृथक व्यक्तियों को दिये गये थे। सूबों के सद्रों की नियुक्ति में वह बादशाह को सलाह देता था और उसके कार्यों की देखभाल करता था। अकबर के समय में इस पद का सम्मान कम हो गया था क्योंकि अकबर धार्मिक मामलों में इसकी सलाह नहीं लेता था और उसने जागीरें तथा वजीफे आदि देने का कार्य भी अपने हाथों में ले लिया था। परन्तु फिर भी यह पद अत्यधिक सम्मान का समझा जाता था।

4. मुख्य काजी—मुगल बादशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश होता था और वह प्रत्येक बुधवार को स्वयं न्याय के लिए बैठता था। परन्तु बादशाह सभी मुकदमों का निर्णय नहीं कर सकता था। इस कारण उसकी सहायता के लिए राजधानी में एक मुख्य काजी (मुख्य न्यायाधीश) होता था। काजी मुस्लिम कानून के अनुसार न्याय करता था। उसकी सहायता के लिए 'मुफ्ती' होते थे जो कानून की व्याख्या करते थे जिसके आधार पर काजी निर्णय देता था। वह प्रान्तों, जिलों तथा नगरों में अन्य काजियों की नियुक्ति करता था और उनके कार्यों की देखभाल करता था।

5. मुहतसिब—प्रजा के नैतिक चरित्र की देखभाल करने के लिए और मुख्यतया यह देखने के लिए कि प्रजा इस्लाम के कानूनों के अनुसार आचरण करती है अथवा नहीं,

मुहतसिब हुआ करता था। मादक-द्रव्यों के प्रयोग, जुआ खेलने से रोकना और स्त्री-पुरुषों के अनैतिक सम्बन्धों को रोकना उसका कार्य था। कभी-कभी उसे नाप-तौल के पैमाने की देखभाल तथा वस्तुओं के मूल्यों को निश्चित करने का दायित्व भी दिया जाता था। औरंगजेब के समय में हिन्दू-मन्दिरों और पाठशालाओं को नष्ट करने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा गया था जिससे उसका पद महत्वपूर्ण बन गया था। उसकी सहायता के लिए प्रान्तों में भी मुहतसिबों की नियुक्ति की जाती थी।

6. मीर-ए-साँमान—अकबर के समय में यह मन्त्री-पद न था, परन्तु बाद के बादशाहों के समय में इसे मन्त्री-पदों में स्वीकार किया गया। वह बादशाह के परिवार, उसके महल और उसकी व्यक्तिगत तथा दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की देखभाल करता था। वह शाही भोजन, भण्डार, खजाना, उपहार, नजराने आदि की देखभाल करता था। उसका एक मुख्य उत्तरदायित्व शाही कारखानों की देखभाल करना था जहाँ विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था और जो राज्य की आय के प्रमुख साधन थे। यह पद बहुत ही विश्वासपात्र व्यक्ति को दिया जाता था और बाद के समय में यह इतना महत्वपूर्ण हो गया कि वजीर के पद के पश्चात् ही इसका पद माना जाने लगा और खानेसामा के पद को वजीर का पद प्राप्त करने की अन्तिम सीढ़ी माना जाने लगा।

7. मीरे-आतिश— मीरे-आतिश अथवा दरोगा-ए-तोपखाना का पद मन्त्री-पद का न होते हुए भी महत्वपूर्ण था। शाही तोपखाना उसके अधीन था। तोपों को बनवाना, किलों में उनकी व्यवस्था और बन्दूकों का निर्माण आदि उसकी देखरेख में था। अधिकांशतया यह पद किसी तुर्क या ईरानी को दिया जाता था।

8. दरोगा-ए-डाकचौकी—इसके अधीन राज्य के गुप्तचर और संवादवाहक थे। प्रान्तों से सूचनाएँ प्राप्त करना तथा वाकिया-ए-नवीसों और खुफिया-नवीसों की नियुक्ति और उनसे प्राप्त सूचनाओं को बादशाह तक पहुँचाना इसका प्रमुख कर्तव्य था। गुप्तचर-विभाग का प्रधान होने के कारण शासन में इसका विशेष महत्व था।

उपर्युक्त विभागों और उनके अन्तर्गत विभिन्न अधिकारियों के अतिरिक्त राज्य का अपना एक बड़ा सचिवालय था जहाँ वजीर तथा केन्द्र के अन्य बड़े अधिकारियों की अधीनता में अनेक अधिकारी कार्य करते थे और जहाँ सभी विभागों की सूचनाएँ आती थीं। अकबर ने केन्द्रीय व्यवस्था को संगठित करने में बहुत परिश्रम किया था और वह प्रत्येक विभाग के कार्य को लेखबद्ध कराता था। यह विश्वास किया जा सकता है कि मुगलों की केन्द्रीय व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी।

[2]

मुगल-कारखाना

शाही-कारखाना और उसकी व्यवस्था भी मुगल-शासन का एक महत्वपूर्ण भाग था। के.एम. अशरफ के अनुसार कारखाना का विचार, सम्भवतया, मुगल बादशाहों ने फारस से लिया था। परन्तु यह विचार मान्य नहीं है। भारत में यह परम्परा प्राचीन थी। मौर्य-शासकों के समय में राज्य ने विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए कारखाने स्थापित किये थे तथा दिल्ली-सुल्तानों के शासन-काल में भी यह प्रथा प्रचलित थी।

कारखाना का शाब्दिक अर्थ उस स्थान से होता है जहाँ किसी वस्तु के उत्पादन के लिये कारीगर एकत्रित होते हैं। परन्तु मध्य-युग में इसका अर्थ विस्तृत रूप में लिया गया।

कारखाना-व्यवस्था शाही इच्छा और साधनों से विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन की व्यवस्था मात्र न थी अपितु इसके अतिरिक्त इसमें शाही आवश्यकता की सभी वस्तुओं को भण्डार में सुरक्षित रखना, वस्तुओं को खरीदना और बेचना, बादशाह की निजी सेवा और उसके महल की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति, पशुशालाओं की सुरक्षा आदि भी सम्मिलित थे। परन्तु इसमें प्रमुख कार्य विभिन्न वस्तुओं के निर्माण की व्यवस्था करना ही था। इस कार्य की पूर्ति के लिए मुगल बादशाहों ने एक अलग विभाग स्थापित किया था।

मध्य-युग में बड़े पैमाने पर सभी वस्तुओं का निर्माण नहीं हुआ करता था। बहुत सी ऐसी वस्तुएँ थीं जिनकी आवश्यकता की पूर्ति सरकार बाजार से नहीं कर सकती थी। इस कारण, बादशाह की ओर से उन वस्तुओं का निर्माण कराया जाना एक आवश्यकता थी। अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और उनके स्तर में उन्नति करना शाही आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, मुगल बादशाहों, उनकी बेगमों और 'हरम' की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुएँ बाजार में उलपब्ध नहीं हो सकती थीं। बादशाह और बेगमों के शौक और उनके विलासपूर्ण जीवन के लिए श्रेष्ठ वस्तुओं का निर्माण करने हेतु भी शाही-कारखाना आवश्यक था। इस कारण, मुगल बादशाहों ने विस्तृत रूप से कारखानों का निर्माण किया तथा राज्य के विभिन्न शहरों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए कारखाने खुलवाये। प्रान्तीय सूबेदारों ने भी यह कार्य किया। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त वे बादशाह को भेंट, नजराना आदि देने के लिए भी अच्छी से अच्छी वस्तुओं का निर्माण कराते थे और उसके लिए श्रेष्ठ कारीगरों को खोजते थे।

मुगल बादशाहों ने कारखानों और उनमें बनायी जाने वाली वस्तुओं के निर्माण में व्यक्तिगत रुचि ली। अकबर ने अपने शासन-काल में आगरा, फतेहपुरसीकरी, लाहौर, अहमदाबाद आदि विभिन्न शहरों में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए बहुत कारखाने खुलवाये। 'आईन-ए-अकबरी' में यह उल्लेख मिलता है कि अकबर देश-विदेश से योग्य कारीगरों को एकत्रित करता था, उनकी उत्पादन-कला को स्वयं परखता था और प्रसन्न होने पर कारीगरों को इनाम देता था। जहाँगीर भी कारखानों को प्रोत्साहन देता था और उसने ऊनी वस्त्रों के निर्माण के लिए कई कारखाने लाहौर में स्थापित किये। शाहजहाँ के काल में कश्मीर और लाहौर में ऊनी कालीन बनाने का स्तर इतना श्रेष्ठ हो गया कि ईरानी कालीन भी वहाँ के बने कालीनों से मुकाबला करने की स्थिति में नहीं रहे। औरंगजेब ने अपनी दक्षिण-भारत की सूबेदारी के समय में निरन्तर यह प्रयत्न किया कि मसलीपट्टम के कपड़ा-छपाई करने वाले कुशल कारीगरों को दिल्ली और आगरा ले जाया जाय।

शाही-कारखानों में सभी प्रकार की वस्तुएँ बनायी जाती थीं। वस्त्र, आभूषण, पोशाकें, जूते, फर्नीचर, झाड़-फानूस, बर्तन, तलवारें, कटारें, बन्दूकें, तोपें तथा अन्य अस्त्र-शस्त्र, आदि सभी प्रकार की वस्तुओं का निर्माण इनमें होता था। इसके अतिरिक्त, कारखानों के अधिकारी बादशाह, बेगमों, महल आदि की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बाजार से भी वस्तुएँ खरीदते थे और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तुओं को तलाश करते थे, यहाँ तक कि कारखाना-विभाग का प्रधान अधिकारी, मीर-ए-सामान, बादशाह के लिए बढ़िया से बढ़िया घोड़े और हाथी भी खरीदता था।

कारखानों की देखभाल के लिए एक पृथक विभाग था जिसके सबसे बड़े अधिकारी को 'मीर-ए-सामान' पुकारा जाता था। अपने अधीन कर्मचारियों की देखभाल, सूबों या अन्य शहरों के कारखानों पर नियंत्रण, बादशाह के सम्मुख अपने विभाग की आवश्यकताओं को

प्रस्तुत करना, बहुमूल्य वस्तुओं को बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करना आदि उसका उत्तरदायित्व था। विभाग के वित्तीय (धन-सम्बन्धी) उत्तरदायित्व की पूर्ति करना दीवान-ए-बयूतात का कार्य था। अपने विभाग की आय और व्यय के कागजों को बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करना भी उसका उत्तरदायित्व था। इस प्रकार जबकि विभाग का प्रशासकीय उत्तरदायित्व मीर-ए-सामान का था, वित्तीय उत्तरदायित्व विभाग के दीवान-ए-बयूतात का था। दीवान की सहायता के लिए एक अधिकारी 'नजीर' होता था जो वित्तीय आय और व्यय का पुनः निरीक्षण करता था। मुशरिफ वह अधिकारी था जो प्रत्येक कारखाने में नियुक्त किया जाता था और जिसका कार्य अग्रिम-धन, कच्चे माल का दिया जाना, आदि के प्रतिदिन के हिसाब को लिखकर रखना होता था। इसी प्रकार, प्रत्येक कारखाने में एक दरोगा, एक तहसीलदार, एक मुस्तौफी और एक दरोगा-ए-कचहरी होता था। दरोगा का कार्य प्रतिदिन कारीगरों में काम बाँटना, उन्हें कच्चा माल देना, शाम को उनसे सामान वापस लेना और उनके द्वारा किये गये कार्य को लिखकर रखना था। तहसीलदार के पास कारखाने के व्यय के लिए धन और सामान होता था। वही कच्चा सामान दरोगा को देता था और उसके माध्यम से कारीगरों को तनख्वाह देता था। मुस्तौफी मुशरिफ, दरोगा और तहसीलदार द्वारा दिये गये हिसाब की प्रतिदिन जाँच करता था और दीवान के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करता था। वह दीवान को यह भी बताता था कि कारखाने के लिए अब कितना तथा क्यां कच्चा माल चाहिए। दरोगा-ए-कचहरी का कार्य इन सभी अधिकारियों के कार्यों में सम्बन्ध बनाये रखना, कागजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाना और खजाने से कारखाने के लिए धन लाना था। इस प्रकार प्रत्येक कारखाने की देखभाल के लिए विभिन्न अधिकारी नियुक्त किये गये थे जो समुचित उत्पादन और व्यय के हिसाब को ठीक रखने के लिए उत्तरदायी थे। मीर-ए-सामान वर्ष में दो बार कारखानों के काम की सूचना, उन पर व्यय किये गये धन की रिपोर्ट और अपने विभाग की आवश्यकता बादशाह के सम्मुख प्रस्तुत करता था।

शाही-कारखानों की स्थापना कई प्रकार से लाभदायक रही। इससे राज्य को उचित मूल्य पर अपनी आवश्यकता की और अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ प्राप्त हो जाती थीं। बादशाहों, बेगमों और अमीरों के लिए विलासिता और शौक की चीज़ें बनाने के प्रयत्नों के कारण विभिन्न हस्त-उद्योगों की प्रगति में सहायता मिली। साधारण कारीगरों के पास योग्यता के होते हुए भी वे आर्थिक साधन उपलब्ध नहीं हो सकते थे जो बादशाह और अमीरों के पास थे। धन की पूर्ति हो जाने से योग्य कारीगरों ने श्रेष्ठतम वस्तुओं का निर्माण किया और इस प्रकार अपने-अपने उद्योगों की उन्नति में भाग लिया। धनवान व्यक्तियों का संरक्षण प्राप्त करने की लालसा के कारण कारीगरों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हुई जिसने भी विभिन्न हस्त-उद्योगों की उन्नति में भाग लिया। यद्यपि कारखानों में बनायी जाने वाली अधिकांश वस्तुएँ व्यापारिक स्तर पर नहीं बनायी जाती थीं क्योंकि उनके बनाये जाने का मूल उद्देश्य राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति या बादशाह और बेगमों या अमीरों की रुचि की पूर्ति करना था, तब भी इन कारखानों की स्थापना से कारीगरों के कुछ वर्गों को तो आर्थिक लाभ प्राप्त हुआ ही। इसके अतिरिक्त, इन कारखानों में बनी हुई वस्तुएँ अन्य कारीगरों के लिए आदर्श-स्वरूप होती थीं जिससे उन्होंने भी अपने कौशल में उन्नति करके अपने लिए कुछ अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इन कारखानों की स्थापना से कुछ मात्रा में गाँव के श्रमिकों का शहर की ओर आना आरम्भ हुआ और कुछों को जबरदस्ती लाया गया जिससे ग्रामीण कारीगरों में कुछ गतिशीलता आयी। इन कारखानों की स्थापना ने भारत के सांस्कृतिक जीवन को भी सुधारा क्योंकि इनमें बनी हुई वस्तुओं ने रहन-सहन के स्तर को

ऊँचा उठाने में सहायता दी। यह बात अन्य है कि यह प्रभाव भारत के धनवान वर्ग तक ही सीमित रहा।

17वीं सदी के अन्त तक शाही-कारखानों की संख्या काफी रही और उनमें कार्य होता रहा। परन्तु उसके बाद के समय में इनकी संख्या कम होती चली गयी। इसका सीधा सम्बन्ध साम्राज्य की आर्थिक स्थिति से था। जब मुगल-साम्राज्य आर्थिक दृष्टि से पतनोन्मुख हुआ तो शाही-कारखानों पर व्यय किया जाना सम्भव न हो सका। यही इन कारखानों की स्थापना में आरम्भ से ही दोष था कि इन कारखानों को बादशाहों ने कभी भी व्यापारिक लाभ या स्वावलम्बन के आधार पर चलाये जाने का प्रबन्ध नहीं किया और इस कारण ये अपने संरक्षण के समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो गये।

[3]

प्रान्तीय तथा स्थानीय शासन-व्यवस्था

प्रान्तों या सूबों का शासन

सम्पूर्ण मुगल-साम्राज्य को सूबों में बाँटा गया था। अकबर के समय में सूबों की संख्या 15 थी जो औरंगजेब के समय तक 20 हो गयी थी। प्रत्येक सूबे की अपनी पृथक राजधानी थी जहाँ सूबे के शासन का प्रधान सूबेदार रहता था। सूबेदार को निजाम, सिपहसालार अथवा केवल सूबा के नाम से भी पुकारा जाता था। प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का ढाँचा केन्द्रीय शासन-व्यवस्था के समान ही था। डॉ. सरकार ने लिखा है : "मुगल सूबों में शासन-व्यवस्था केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का लघु रूप थी।" प्रत्येक सूबे में मुख्य अधिकारी सूबेदार, दीवान, बख्शी, सद्र और काजी, कोतवाल तथा वाकिया-ए-नवीस थे। किसी-किसी प्रान्त में दरोगा-ए-तोपखाना और मीर-बहर नामक अधिकारियों की भी नियुक्ति की गयी थी। अकबर ने अपने दीवान को विस्तृत अधिकार दिये थे और सूबों के सभी दीवानों को वजीर की प्रत्यक्ष अधीनता में कर दिया था। उसका उद्देश्य सूबेदार की शक्तियों को दीवान की शक्तियों से सन्तुलित करके सूबे के विद्रोह की आशंकाओं को समाप्त करना था। मुगल बादशाहों ने प्रान्तों को अपने नियन्त्रण में रखने के लिए अन्य साधन भी अपनाये थे। वे प्रान्तीय अधिकारियों का स्थान्तातरण करते रहते थे, प्रान्तों में नियुक्त 'वाकिया-ए-नवीस' प्रान्तों की सूचनाएँ केन्द्र को भेजते थे, डाक-चौकियों की व्यवस्था भी मुगलों के समय में उचित थी और समय-समय पर बादशाह भी प्रान्तों का दौरा करते थे। शक्तिशाली मुगल बादशाह प्रान्तों को अपने अधीन रखने में सफल रहे। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाह इस व्यवस्था को स्थापित न कर सके बल्कि कुछ अवसरों पर निजाम (सूबेदार) और दीवान के पद एक ही व्यक्ति को दे दिये गये। बहादुरशाह के समय में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबेदार मुर्शिदकुलीखाँ को दीवान के अधिकार भी दिये गये थे। इसके परिणामस्वरूप बंगाल को मुगल-साम्राज्य से पृथक होने में सरलता हुई।

1. सूबेदार— सूबेदार सूबे के शासन का प्रमुख अधिकारी था। अपने सूबे में उसकी स्थिति एक छोटे बादशाह के समान थी। राज्य के बड़े मनसबदार को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उसके साथ एक बड़ी सेना होती थी। उसे अपने सूबे में एक बड़ी जागीर भी प्राप्त होती थी। सूबे में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था, प्रजा के हित की रक्षा और वृद्धि, फौज़दारी मुकदमों का निर्णय करना, विद्रोहों का दबाना, पुल, सराय, सड़कों आदि

की सुरक्षा और निर्माण, सूबे में स्थित अधीन राज्यों से राज्य-कर की वसूली आदि उसके विभिन्न कार्य थे। सूबेदार सूबे में बादशाह का प्रतिनिधि था और सूबे में उसकी प्रतिष्ठा एक छोटे बादशाह के समान थी। सूबे के सभी अधिकारी उसके अधीन होते थे और बादशाह उनकी नियुक्ति, पदोन्नति, स्थानान्तरण आदि सूबेदार की सलाह से करता था। सूबे में उसके अधिकार केवल सूबे के दीवान के आर्थिक अधिकारों से ही सीमित थे अन्यथा अपने सूबे में वह पूर्ण शक्तिशाली था।

परन्तु सूबेदारों के अधिकारों पर कुछ सीमाएँ भी थीं तथा सभी सूबेदारों को समान अधिकार नहीं थे। बादशाह अपनी इच्छा से सूबेदार के अधिकारों पर कोई भी सीमा लगा सकता था अथवा किसी सूबेदार को कोई विशेष अधिकार दे सकता था, यथा—अकबर के द्वारा गुजरात के सूबेदार टोडरमल को राजपूत सरदारों से सन्धि करने और उन्हें मनसब प्रदान करने का अधिकार दिया गया था जो साधारणतया किसी अन्य सूबेदार के अधिकारों में सम्मिलित नहीं था। इसके अतिरिक्त, किसी भी सूबेदार को वह कार्य करने का अधिकार नहीं था जो बादशाह के विशेषाधिकार माने गये थे, यथा—एक सूबेदार बादशाह की तरह दरबार नहीं कर सकता था, किसी व्यक्ति को कोई उपाधि नहीं दे सकता था, झरोखा-दर्शन की प्रथा को नहीं अपना सकता था, आदि।

2. दीवान—दीवान सूबे का वित्त-अधिकारी था। बादशाह उसकी नियुक्ति केन्द्रीय दीवान की सलाह से करता था। **सूबे में सूबेदार के पश्चात् शासन में उसी का पद था। वह सूबेदार के अधीन न था बल्कि वह केन्द्र के दीवान के अधीन था।** परन्तु उसे सूबेदार के साथ सहयोग करते हुए कार्य करना पड़ता था और सूबेदार का सम्मान उससे अधिक था। लगान अथवा अन्य करों को वसूल करने में उसे सूबेदार की सहायता पर निर्भर करना पड़ता था क्योंकि उसके साथ कोई सेना नहीं होती थी। सूबे की सेना का प्रधान सूबेदार होता था। सूबे की वित्त-व्यवस्था पर नियन्त्रण, आय-व्यय का हिसाब, लगान और कृषि की देखभाल, अधीनस्थ वित्त-अधिकारियों पर नियन्त्रण, सूबे की आर्थिक स्थिति की सूचना केन्द्रीय सरकार को देना तथा दीवानी (धन अथवा लगान सम्बन्धी) मुकदमों का निर्णय आदि दीवान के प्रमुख कर्तव्य और अधिकार थे।

3. बख्शी—इसका मुख्य उत्तरदायित्व **सूबे की सेना की देखभाल करना था।** केन्द्र के मीर-बख्शी की सलाह से इसकी नियुक्ति की जाती थी। सूबे की सेना की संख्या, उसका संगठन, नियन्त्रण, रसद आदि की व्यवस्था इसके अधीन थी। बख्शी को कभी-कभी सूबे का वाकिया-ए-नवीस भी बना दिया जाता था। ऐसी स्थिति में वह सूबे की सभी सूचना केन्द्रीय सरकार को भेजता था और उसका पद अधिक सम्मानित एवं प्रभावशाली बन जाता था।

4. वाकिया-ए-नवीस—यह सूबे के गुप्तचर-विभाग का प्रधान था और इस दृष्टि से सूबे के शासन की प्रत्येक सूचना यहाँ तक कि सूबेदार व दीवान के कार्यों की सूचना भी यह केन्द्रीय सरकार को भेजता था। यह अपने अधीन गुप्तचरों और सन्देशवाहकों की नियुक्ति करता था तथा उनसे सूचनाएँ प्राप्त करता था। इसके अतिरिक्त, केन्द्रीय सरकार अपने पृथक गुप्तचरों अथवा खुफिया-नवीसों की नियुक्ति भी सूबों में करती थी।

5. कोतवाल—सूबे की राजधानी तथा बड़े नगरों में शान्ति और सुरक्षा, स्वच्छता और सफाई, यात्रियों की देखभाल आदि कोतवाल करता था। उसके राजधानी अथवा नगर सम्बन्धी अधिकार काफी विस्तृत होते थे। वह एक सैनिक अधिकारी था और उसकी अधीनता में पर्याप्त सैनिक रहते थे।

6. सदर और काजी—साधारणतया सूबे में सदर और काजी का पद एक ही व्यक्ति को दिया जाता था जो सद्र-उस-सद्र अथवा मुख्य काजी के नियन्त्रण में कार्य करता था। सदर की हैसियत से वह प्रजा के नैतिक चरित्र और इस्लाम के कानूनों के पालन की व्यवस्था करता था तथा काजी के रूप में न्याय करता था। अपने अधीन काजियों के कार्यों की देखभाल और योग्य व्यक्तियों के नामों की सूची बनाकर केन्द्रीय सद्र को भेजना भी उसके कार्य थे।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त किसी-किसी स्थान पर दरोगा-ए-तोपखाना और बन्दरगाहों, नदी के मुहानों तथा पुलों के निकट कर वसूल करने के लिए मीर-बहर नाम के अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी।

सरकार अथवा जिले का शासन

प्रत्येक सूबा कई सरकारों (जिलों) में बँटा होता था। प्रत्येक सरकार के प्रमुख अधिकारी फौजदार, अमलगुजार, काजी, कोतवाल, बितिक्ची और खजानदार होते थे।

1. फौजदार—प्रत्येक सरकार में एक फौजदार होता था जो एक सैनिक-अधिकारी था। अपने सरकार में शान्ति स्थापित रखना, चोर-लुटेरों से प्रजा की रक्षा करना और राज्य की आज्ञाओं का प्रजा से पालन कराना, आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। उसकी नियुक्ति बादशाह के द्वारा की जाती थी यद्यपि उसे सूबेदार की अधीनता में कार्य करना पड़ता था। वह कर वसूल करने में अमलगुजार की सहायता करता था। वह अपनी सरकार का प्रमुख अधिकारी था।

2. अमलगुजार—सरकार में लगान वसूल करना, कृषि की देखभाल करना, किसानों की सुरक्षा करना, चोर-लुटेरों को दण्ड देना, आदि उसके प्रमुख कर्तव्य थे। वह सरकार का वित्त-अधिकारी था और इस दृष्टि से वह सूबे के दीवान के अधीन था। वह सरकार के खजाने की देखभाल करता था।

3. बितिक्ची—बितिक्ची अमलगुजार के अधीन अधिकारी था। भूमि और लगान सम्बन्धी सभी कागज उसे तैयार करने पड़ते थे। भूमि की किस्म, उसकी पैदावार और किस किसान के पास कितनी भूमि है, यह हिसाब कानूनगो की सहायता से वही रखता था। किसानों से लगान वसूल होने की रसीद भी वही देता था।

4. खजानदार—यह सरकार का खजांची था। यह अमलगुजार की अधीनता में कार्य करता था और सरकारी खजाने की सुरक्षा इसका मुख्य उत्तरदायित्व था।

उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त बड़े-बड़े नगरों में न्याय के लिए काजी और शान्ति-व्यवस्था के लिए कोतवाल होते थे।

परगने का शासन

प्रत्येक सरकार कई परगनों में बँटी होती थी। शिकदार, आमिल, फौतदार, कानूनगो और कारकुन परगने के प्रमुख अधिकारी थे।

1. शिकदार—परगने का प्रमुख अधिकारी शिकदार था। वह एक सैनिक अधिकारी था। उसका प्रमुख उत्तरदायित्व परगने में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना तथा लगान वसूल करने में सहायता देना था।

2. आमिल—यह परगने का वित्त-अधिकारी था। किसानों से लगान वसूल करना उसका मुख्य कर्तव्य था और इसके लिए वह किसानों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करता था।

3. फौतदार—यह परगने का खजांची था और खजाने की सुरक्षा उसका मुख्य दायित्व था।

4. कानूनगो—कानूनगो परगने के पटवारियों का प्रधान था। वह लगान, भूमि और कृषि सम्बन्धी सभी कागजों को तैयार करता था।

कारकुन परगने के क्लर्क थे जो लिखा-पढ़ी का कार्य करते थे।

नगरों का शासन

नगर के शासन का प्रधान कोतवाल होता था और वह उन सभी कार्यों को करता था जो आधुनिक समय में नगरपालिकाएँ और पुलिस अधिकारी मिलकर करते हैं। इस दृष्टि से नगर की सुरक्षा, स्वच्छता, बाजार और वस्तुओं के मूल्यों पर नियन्त्रण, लावारिस सम्पत्ति की देखभाल, यात्रियों पर निगरानी, व्यापारिक समुदायों को स्वीकार करना, नगर को वार्डों में बाँटना, स्थानीय करों की वसूली आदि उसके प्रमुख कार्य होते थे। अपनी सहायता के लिए कोतवाल विभिन्न निम्न अधिकारियों की नियुक्ति करता था। उसकी अधीनता में एक अच्छा सैनिक दस्ता भी होता था।

गाँवों का शासन

गाँवों के शासन का उत्तरदायित्व मुगलों ने अपने अधिकारियों के हाथों में नहीं दिया था बल्कि परम्परागत ग्राम-पंचायतें ही अपने गाँव की सुरक्षा, सफाई, शिक्षा आदि की देखभाल करती थीं। गाँवों के अधिकांश झगड़ों का निपटारा भी ग्राम-पंचायतें ही करती थीं। गाँव का पैतृक चौकीदार गाँव की सुरक्षा करता था। गाँव के पटवारियों का पद भी पैतृक होता था। साधारणतया सरकारी कर्मचारी ग्राम्य-जीवन और शासन में हस्तक्षेप नहीं करते थे और न गाँव में किसी सरकारी कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी। परन्तु आवश्यकता होने पर सरकारी कर्मचारी ग्रामवासियों की सहायता करते थे और शासन में हस्तक्षेप करते थे। गाँव के चौकीदार व पटवारियों पर सुरक्षा और लगान से सम्बन्धित जो जिम्मेदारियाँ थीं, उनकी पूर्ति के लिए सरकारी कर्मचारी उनको बाध्य करते थे। इस प्रकार सरकारी कर्मचारियों की अधीनता में गाँव शासन की स्वतन्त्र इकाइयाँ थे।

[4]

मुगल सैनिक-व्यवस्था (मनसबदारी-व्यवस्था)

मुगलों ने सर्वदा एक बड़ी और शक्तिशाली सेना रखने का प्रयत्न किया। औरंगजेब के समय तक मुगल-सेना अपनी शक्ति को कायम रख सकी। जब उत्तरकालीन मुगल बादशाह एक शक्तिशाली सेना रखने में असमर्थ हो गये तब उन्होंने अपनी शक्ति को खो दिया। बाबर को भारत में तोपखाने के सफल प्रयोग का आरम्भ करने का श्रेय है और अकबर को मुगलों की सैनिक-व्यवस्था को सुचारु रूप से संगठित करने का श्रेय है।

मुगल सेना में मुख्यतया निम्नलिखित तीन प्रकार के सैनिक और अधिकारी होते थे:

1. मनसबदार और उनके सैनिक

प्रत्येक सैनिक-अधिकारी को 'मनसब' (पद) प्रदान किया गया था। बादशाह के अधीन राजाओं को भी मनसबदारों की श्रेणी में सम्मिलित किया गया था। प्रत्येक मनसबदार स्वेच्छा से अपने सैनिकों की भर्ती करता था और स्वयं उनके वस्त्र, शस्त्र, शिक्षा, वेतन

आदि के लिए उत्तरदायी था। बादशाह उसको उसके मनसब के अनुसार वेतन देता था। अधिकांशतया मनसबदार अपनी सेना में अपनी जाति के सैनिकों को ही भर्ती करते थे।

2. अहदी सैनिक

अहदी सैनिक बादशाह के सैनिक थे। बादशाह की तरफ से इनकी भर्ती, वेतन, शिक्षा, वस्त्र, घोड़े आदि की व्यवस्था की जाती थी। इस कार्य के लिए एक पृथक दीवान और एक पृथक बख्शी था। ये बादशाह के व्यक्तिगत सैनिक थे यद्यपि बादशाह समय-समय पर उन्हें किसी मनसबदार की सेवा में भी नियुक्त कर सकता था। उन्हें बहुत अच्छा वेतन मिलता था। जबकि एक साधारण घुड़सवार को 12 रु. से 15 रु. तक वेतन मिलता था, एक अहदी घुड़सवार को 500 रु. तक वेतन दिये जाने का उल्लेख है। इनकी संख्या निश्चित न थी। अकबर के समय में इनकी संख्या 12 हजार तक हो गयी थी। ये बादशाह के सबसे योग्य और वफादार सैनिक माने जाते थे।

3. दाखिली सैनिक

ये वे सैनिक थे जिनकी भर्ती बादशाह की तरफ से की जाती थी यद्यपि इनको मनसबदारों की सेवा में रखा जाता था।

मुगलों की स्थायी सेना पर्याप्त विशाल थी। ब्लॉकमैन ने अकबर की स्थायी सेना की संख्या को 25 हजार के लगभग बताया है। परन्तु यह अनुमान बहुत गलत है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में शाही सेना की संख्या लगभग तीन लाख थी और अकबर के समय में भी शाही सेना की संख्या लगभग यही रही होगी। इस सेना में अधीनस्थ राजाओं और सूबेदारों की सेना सम्मिलित न थी। यह अनुमान किया जाता है कि यदि शाही सेना, मनसबदारों की सेना तथा सूबेदारों एवं अधीनस्थ राजाओं की सेनाओं को सम्मिलित कर दिया जाता तो उसकी संख्या 44 लाख तक पहुँच सकती थी। इस प्रकार, मुगलों की सेना बहुत बड़ी थी। यह सेना मुख्यतया निम्नलिखित भागों में बँटी हुई थी :

1. घुड़सवार सेना—घुड़सवार सेना मुगलों की सेना का श्रेष्ठतम भाग था। इसमें मुख्यतया दो प्रकार के सैनिक थे—**बरगीर (जिन्हें घोड़े, अस्त्र और शस्त्र राज्य की ओर से मिलते थे) और सिलेदार (जो अपने शस्त्र और घोड़े स्वयं लाते थे)।** घोड़ों की किस्मों के आधार पर भी घुड़सवार-सैनिकों में अन्तर किया जाता था। मुगल-सेना में अधिकांशतया तुर्की और ताजी घोड़े थे यद्यपि अरबी, फारसी, मुजन्ना, याबू और जंगली घोड़ों की अन्य किस्में थीं। इसके अतिरिक्त, **वह घुड़सवार दो-अस्पा कहलाते थे जिनमें से प्रत्येक के पास दो घोड़े होते थे। एक-अस्पा वह घुड़सवार था जिसके पास केवल एक घोड़ा होता था और निम्न-अस्पा वे घुड़सवार थे जिनके दो सैनिकों के पास केवल एक घोड़ा होता था।**

2. पैदल-सेना—अकबर ने पैदल-सेना को काफी महत्व दिया था। मुख्यतया ये सैनिक दो भागों में बँटे होते थे—**बन्दूकची और शमशीरबाज (तलवारबाज)।** ये तीर-कमान, भाला, तलवार, कटार आदि हथियारों का प्रयोग करते थे। इनमें लड़ने वाले सैनिकों के अतिरिक्त दास, सेवक, पानी भरने वाले आदि भी सम्मिलित होते थे।

3. हाथी-सेना—अकबर ने हाथियों की एक बड़ी सेना तैयार की थी। उसके समय में एक हजार शाही हाथी थे। सम्पूर्ण साम्राज्य में अनुमानतया हाथियों की संख्या 50 हजार थी।

हाथी युद्ध करने और सामान ले जाने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। युद्ध करने के लिए भी हाथियों को तैयार किया जाता था।

4. तोपखाना—बाबर एक अच्छा तोपख़ाना लेकर भारत आया था। अकबर ने मुगल तोपखाने को और अधिक शक्तिशाली बनाया। उसके समय में पीतल और लोहे की इतनी बड़ी-बड़ी तोपें तैयार की गयीं जिनकी क्षमता डेढ़ मन का गोला फेंकने की थी। परन्तु इस क्षेत्र में अकबर का प्रमुख कार्य ऐसी छोटी-छोटी तोपों का निर्माण करना था जो एक हाथी अथवा ऊँट की पीठ पर ले जायी जा सकती थीं। इन छोटी तोपों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह थी कि इनको परिस्थिति के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र हटाया अथवा ले जाया जा सकता था। अकबर के समय में मुगल तोपखाना निश्चय ही बहुत दृढ़ हो गया था। डॉ. आर. पी. त्रिपाठी ने लिखा है : "तुर्की तोपखाने को छोड़कर अकबर का तोपखाना एशिया में किसी से कम न था क्योंकि अकबर के समय में वह श्रेष्ठता की चरम सीमा पर था।"

5. नौ-सेना—जब तक अकबर ने गुजरात को विजय किया तब तक पुर्तगालियों ने समुद्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी और वह किसी भी भारतीय शासक की नौ-सेना की श्रेष्ठता को स्थापित नहीं होने देना चाहते थे। इसके अतिरिक्त अकबर का साम्राज्य मूलतया स्थल का साम्राज्य था। इस कारण उसके समय में एक शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण सम्भव न हो सका। उसके पश्चात् भी कोई मुगल बादशाह शक्तिशाली नौ-सेना का निर्माण न कर सका। इस प्रकार मुगलों की नौ-सेना सर्वदा दुर्बल रही और कभी भी यूरोपियन जातियों से समुद्र पर मुकाबला करने की स्थिति में नहीं हो सकी।

परन्तु मुगलों ने नदियों पर जल-बेड़ा अवश्य रखा था। पूर्वी बंगाल में ऐसी नावें भी थीं जिन पर तोपें रहती थीं। बिहार और सिन्ध में भी नावों का बेड़ा रखा जाता था।

मुगलों की सैनिक-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता मनसबदारी-व्यवस्था थी। मुगल बादशाहों में से अकबर ने इसे आरम्भ किया था। अन्य मुगल बादशाहों ने थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ इसे स्थापित रखा। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह निष्प्राण हो गयी। अकबर द्वारा आरम्भ की गयी मनसबदारी-व्यवस्था पूर्णतया नवीन नहीं मानी जा सकती यद्यपि उसने उसे उचित संगठन प्रदान किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया। सम्भवतया, अकबर ने इसकी प्रेरणा खलीफा अब्बा सईद द्वारा आरम्भ की गयी और चंगेजखाँ तथा तिमूर द्वारा स्वीकार की गयी सैनिक-व्यवस्था से प्राप्त की थी। दिल्ली-सल्तनत के शासकों ने भी इस व्यवस्था को किसी न किसी रूप में अपना रखा था। बलबन के समय में भी इसी प्रकार की व्यवस्था थी और शेरशाह तथा इस्लामशाह ने भी इसी आधार पर अपनी सेनाओं का संगठन किया था। इस प्रकार, **मनसबदारी-व्यवस्था जिसका मुख्य आधार दशमलव प्रणाली के आधार पर अधिकारियों के पदों का विभाजन करना था, भारत के लिए नवीन न थी। परन्तु अकबर ने अपने तरीके से इसे श्रेष्ठ अवश्य बनाया था।**

साधारणतया 'मनसब' का अर्थ पद से था। विभिन्न अंकों की संख्या (जो दस से विभाजित हो जाती थी) अधिकारियों के पदों को निश्चित करने के लिए प्रयोग में लायी गयी थी। **छोटी संख्या का अधिकारी छोटे पद का होता था और बड़ी संख्या का अधिकारी बड़े पद का होता था।** इसका प्रयोग अधिकारियों के वेतन और भत्तों को

निश्चित करने के लिए भी किया जाता था। अकबर ने अपने आरम्भिक काल के समय में 10 से लेकर 10,000 और बाद में 12,000 की संख्या तक के मनसब दिये थे। जब सबसे बड़ा मनसब 10,000 का था तब 5,000 से ऊपर की संख्या का मनसब केवल शाहजादों को दिया गया, परन्तु जब सबसे बड़ा मनसब 12,000 की संख्या का हो गया तब सरदारों को 7,000 तक के मनसब दिये गये और ऊपर के मनसब शाहजादों के लिए सुरक्षित रखे गये। अकबर ने अपने सम्पूर्ण मनसब को 66 (अल्लाह शब्द के अंकों की गणना के योग के अनुसार अर्थात् 1+30+30+5 का योग) श्रेणियों में विभाजित किया था यद्यपि अबुल फजल ने 33 श्रेणियों का ही वर्णन किया है। जहाँगीर और शाहजहाँ ने सरदारों को 8,000 तक के मनसब और शाहजादों को 40,000 तक के मनसब दिये थे। उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के समय में 50,000 तक की संख्या में दिये गये मनसबों का उल्लेख मिलता है। 500 से नीचे के मनसबदार 'मनसबदार' ही कहलाते थे, 500 से 2,500 तक के मनसबदारों को 'अमीर' पुकारा जाता था और 2,500 से ऊपर के मनसबदारों को 'अमीरे आजम' कहा जाता था। सैनिक अधिकारियों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा का पद 'खानेजमा' और उसके पश्चात् 'खानेखाना' का था। यह पद एक समय में एक ही व्यक्ति को दिये जाते थे। काजियों और सद्रों को इस व्यवस्था में सम्मिलित नहीं किया गया था।

मनसबदारों को अपने मनसब की संख्या के बराबर की संख्या में सैनिक रखने के लिए बाध्य नहीं किया जाता था, जैसा कि कुछ इतिहासकारों ने लिखा है। वह उस संख्या से कम संख्या में ही सैनिक रखते थे। 'पादशाहनामा' में यह उल्लेख मिलता है कि शाहजहाँ ने आदेश दिये थे कि जिन मनसबदारों को अपनी नियुक्ति के स्थान पर ही जागीर मिली हुई थी वह अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/2 भाग, जिनको अपनी नियुक्ति के स्थान से बाहर के सूबे में जागीर मिली हुई थी वह अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/4 भाग और जिनको भारत से बाहर भेजा गया था वह अपने 'जात' के मनसब की संख्या का 1/5 भाग सैनिक के रूप में अपने यहाँ रखेंगे। मनसबदारों के कार्य उनके मनसब की संख्या और श्रेष्ठता से निश्चित नहीं होते थे। अकबर के समय में राजा मानसिंह का मनसब अबुल फजल के मनसब से बड़ा था यद्यपि अबुल फजल का स्थान बादशाह के मन्त्रियों में था। इस प्रकार बादशाह किसी भी मनसबदार को किसी भी कार्य के लिए नियुक्त कर सकता था। मनसबदारों की नियुक्ति और पदोन्नति का भी कोई निश्चित नियम न था। बादशाह स्वेच्छा से किसी व्यक्ति को कोई भी मनसब प्रदान कर सकता था। मनसबदारों को नकद वेतन दिया जाता था और उन्हें यदि जागीर दी भी गयी थीं तो उनकी जागीरों से लगान वसूल करने का अधिकार केन्द्रीय अधिकारियों को था। मनसबदारों को अपनी जागीरों से प्राप्त हुई आय मिल जाती थी जिसे उसके वेतन में से कम कर दिया जाता था। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह व्यवस्था स्थापित न रह सकी थी। यह भी आधुनिक इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि मनसबदारों को पूरे 12 माह का वेतन मिलता था। यह बात दूसरी थी कि उनको वस्त्र, शस्त्र आदि के रूप में सहायता केन्द्रीय सरकार से मिलती थी तथा उनके व्यय को उनके वेतन से काट लिया जाता था। प्रत्येक मनसबदार अपने वेतन में से अपने सैनिकों का व्यय भी निकालता था। परन्तु फिर भी अच्छा वेतन मिलने के कारण उनको अपने व्यय के लिए पर्याप्त धन बच जाता था।

अकबर ने अपने अन्तिम वर्षों में मनसबदारी-व्यवस्था में 'जात' और 'सवार' के पदों को आरम्भ किया था। प्रत्येक मनसबदार को एक साथ 'जात' और 'सवार' के पद

प्रदान किये गये। इन पदों का क्या अर्थ था, इसके बारे में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। ब्लॉकमैन के अनुसार, एक मनसबदार को अपनी 'जात' के पद की संख्या के अनुपात में कुछ सैनिक रखने पड़ते थे और 'सवार' के पद की संख्या के घुड़सवार रखने पड़ते थे। इर्विन के अनुसार, 'सवार' का पद अतिरिक्त प्रतिष्ठा का था और 'जात' का पद अन्य सैनिकों के अतिरिक्त मनसबदार के घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था। डॉ. आर.पी. त्रिपाठी के अनुसार, 'सवार' का पद मनसबदारों के अतिरिक्त 'भत्ते' मात्र को निश्चित करने के लिए दिया गया था जो एक सवार के लिए दो रुपया था अर्थात् 500 सवार-पद के मनसबदार को 1,000 रुपया अतिरिक्त भत्ते के रूप में (वेतन के अतिरिक्त) मिल जाता था। अब्दुल अजीज के अनुसार, 'जात' का पद अन्य सैनिकों की संख्या का द्योतक और 'सवार' का पद घुड़सवारों की संख्या का द्योतक था। डॉ.ए.एल.श्रीवास्तव ब्लॉकमैन के विचार को सत्यता के सबसे अधिक निकट बताते हैं। उनके अनुसार भी 'जात' का पद हाथी, घोड़े आदि सभी की संख्या का द्योतक था जबकि 'सवार' का पद केवल घुड़सवारों की संख्या को निश्चित करता था। **अकबर के समय में मनसबदारों को अपने 'सवार' के पद की संख्या के बराबर घुड़सवार रखने के लिए बाध्य किया गया था। परन्तु बाद के मुगल बादशाहों के समय में यह सम्भव नहीं रहा था।**

'जात' और 'सवार' के पद को आरम्भ करने के साथ-साथ अकबर ने अपने 5,000 और उससे कम संख्या के मनसबदारों की श्रेणियों में से प्रत्येक श्रेणी को तीन भागों में बाँट दिया जिससे 5,000 तक की श्रेणी के विभिन्न मनसबदारों की तीन श्रेणियाँ हो गयीं। यदि एक मनसबदार को समान संख्या का 'सवार' और 'जात' का पद दिया जाता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में प्रथम श्रेणी का मनसबदार माना जाता था। यथा—यदि एक मनसबदार को 5,000 जात और 5,000 सवार का पद प्राप्त होता था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में प्रथम श्रेणी का मनसबदार माना जाता था। यदि एक मनसबदार को 'सवार' का पद अपने 'जात' के पद से कम संख्या का, परन्तु आधे से कम नहीं, का प्राप्त होता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। जैसे—यदि एक मनसबदार को 5,000 जात और 2,500 सवार का पद प्राप्त था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में द्वितीय श्रेणी का माना जाता था। यदि एक मनसबदार को 'सवार' का पद अपने 'जात' के पद की संख्या के आधे से कम का प्राप्त होता था तो वह अपनी श्रेणी के मनसबदारों में तृतीय श्रेणी का माना जाता था।जैसे—यदि एक मनसबदार को 5,000 जात और 2,000 सवार का पद प्राप्त था तो वह पंचहजारी मनसबदारों में तृतीय श्रेणी का मनसबदार होता था।

जहाँगीर ने अपने समय में 'दो-अस्पा-सिह-अस्पा' नामक एक नवीन पद का सृजन किया। इस पद को दिये जाने वाले अधिकारी को अपने पास एक निश्चित संख्या में घुड़सवार रखने होते थे। सर्वप्रथम यह पद महाबतखाँ को दिया गया था।

अकबर ने अपने समय में सैनिकों की हुलिया लिखे जाने तथा घोड़े एवं हाथियों को दागने की प्रथा को आरम्भ किया था। 'दाग-महाली' नाम का एक पृथक विभाग घोड़ों और हाथियों को दागने के लिए खोला गया था। **प्रत्येक घोड़े पर एक शाही निशान और एक मनसबदार का निशान दागा जाता था। प्रत्येक मनसबदार का निशान अलग-अलग कर दिया गया था जिससे वे एक दूसरे के घोड़ों में तब्दीली न कर सकें।** प्रत्येक मनसबदार की सेना और घोड़ों का समय-समय पर निरीक्षण किया जाता था जो प्रत्येक वर्ष अथवा प्रत्येक तीसरे वर्ष होता था।

मुगलों की सैनिक-व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता कैम्प की व्यवस्था थी। मुगल कैम्प (Camp) बहुत विशाल होते थे, मुख्यतया जबकि मुगल बादशाह भी सेना के साथ जाया करता था। यह 5 मील से लेकर 20 मील तक के दायरे में फैला हुआ होता था और एक सम्पूर्ण शहर के समान होता था। उसमें एक अथवा दो लाख व्यक्तियों के ठहरने की व्यवस्था की जाती थी और फिर भी वहाँ पूर्ण व्यवस्था और शान्ति रहती थी। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसे केवल चार घण्टों में ही लगा दिया जाता था।

मुगलों की इस सैनिक-व्यवस्था में विभिन्न दोष बताये गये हैं। मनसबदारों के द्वारा सैनिकों की भर्ती, प्रत्येक मनसबदार द्वारा अपनी जाति अथवा कबीले के आधार पर सैनिकों की भर्ती करना, मनसबदारों के सैनिकों का वेतन मनसबदारों के द्वारा दिया जाना आदि ऐसे कारण थे जिनसे सैनिक अपने मनसबदारों के अधिक निकट थे और उन्हीं के प्रति वफादार होते थे। मनसबदारी-व्यवस्था में सैनिकों के वस्त्र, शस्त्र, शिक्षा आदि में कोई समता न थी और न ही मुगल बादशाहों ने सैनिकों की सैन्य-शिक्षा का कोई प्रबन्ध किया था। सैनिकों से अपने युद्ध-कौशल को जानने और बढ़ाने की आशा स्वयं के प्रयत्नों द्वारा की जाती थी। मुगलों ने पैदल-सैनिकों पर अधिक बल नहीं दिया। इसी प्रकार, मुगलों की नौ-सेना थी ही नहीं और उनका तोपखाना भी समय के अनुसार प्रगति नहीं कर सका था। कन्धार को जीतने के प्रयत्नों का निरन्तर विफल होना इस बात का प्रमाण था। अकबर ने अपने नियन्त्रण और परिश्रम से एक शक्तिशाली सेना के निर्माण में अवश्य सफलता पायी थी परन्तु बाद के मुगल बादशाह उसमें अधिक परिवर्तन न कर सके। अकबर के समय से ही मुगल-सेना भारत में अजेय समझी जाने लगी थी। इस कारण पहले बादशाहों और बाद में मनसबदारों ने अपनी स्त्रियों, रखैलों आदि को युद्ध में अपने साथ ले जाना आरम्भ कर दिया। मुगल कैम्प में बहुत बड़ी संख्या में वेश्याएँ और दास-दासियाँ भी जाने लगीं। इन कारणों से मुगल-सेना का चारित्रिक पतन हुआ, उसकी गतिशीलता नष्ट हो गयी और स्त्रियाँ, दास-दासियाँ आदि युद्ध के अवसर पर अतिरिक्त भार बन गये। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में इसके भयंकर दुष्परिणाम हुए जिसके कारण मुगल बादशाह आन्तरिक शान्ति स्थापित रखने और विदेशी आक्रमणकारियों का मुकाबला करने में सर्वथा असफल रहे।

परन्तु अकबर द्वारा स्थापित की गयी मनसबदारी-व्यवस्था पर्याप्त लाभदायक रही थी। अकबर के समय में मुगल-सेना 'निस्सन्देह' अजेय हो गयी थी। डॉ. आर.पी. त्रिपाठी ने लिखा है, "वह बाबर की सेना से भी, जिसे कुशल और सफल बताया गया था, श्रेष्ठ थी और टर्की के सुल्तान सुलेमान की गौरवपूर्ण सेना से जो यूरोप में अपनी ढंग की सेनाओं में, निस्सन्देह, श्रेष्ठ स्थान रखती थी, कठिनाई से ही निम्न मानी जा सकती थी।" जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब के समय तक भी मुगल-सेना बहुत श्रेष्ठ थी यद्यपि इन बादशाहों ने समय के अनुसार उसकी कुशलता और शक्ति में वृद्धि करने में सफलता नहीं पायी। मराठों के विरुद्ध औरंगजेब इसी कारण असफल हुआ। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मनसबदारी-व्यवस्था में दोष बढ़ते गये और मुगल-सेना की शक्ति क्षीण होती गयी जो मुगलों के पतन का एक मुख्य कारण बना।

[5]

मुगलों की वित्त और लगान-व्यवस्था

मुगल बादशाहों की आय के मुख्य साधन युद्ध में लूटी गयी सम्पत्ति का पाँचवाँ भाग, व्यापारिक-कर, टकसाल, अधीनस्थ राजाओं एवं मनसबदारों से समय-समय पर प्राप्त होने वाले उपहार, लावारिस सम्पत्ति, नमक-कर, राज्य के द्वारा चलाये जाने वाले उद्योगों से आय और लगान (भूमि-कर) था। स्थानीय कर विभिन्न थे जिनको 'अव्वाब' पुकारते थे और स्थानीय शासन की आय का साधन थे। बाबर और हुमायूँ ने हिन्दुओं से 'जजिया' और मुसलमानों से 'जकात' नामक धार्मिक-कर लिये। अकबर ने इन्हें समाप्त कर दिया। औरंगजेब के समय में ये धार्मिक-कर पुनः लगाये गये और उसके पश्चात् सैयद-भाइयों के प्रभुत्व के समय को छोड़कर अधिकांश मुगल बादशाहों ने इन करों को लेने का प्रयत्न किया। बादशाह के व्यय के मुख्य साधन सेना, महल, हरम और बादशाह की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा शासन का व्यय थे। आय के साधनों में लगान अथवा भूमि-कर सबसे प्रमुख था।

लगान-व्यवस्था

राज्य की आय का सबसे बड़ा साधन लगान (भूमि-कर) था। बाबर के समय में सम्पूर्ण भूमि को जागीरों में बाँट दिया गया। हुमायूँ ने अपने समय में भूमि-सुधार के लिए कोई कार्य नहीं किया। शेरशाह ने अपने समय में एक सुव्यवस्थित लगान-व्यवस्था का प्रबन्ध किया परन्तु वह व्यवस्था इस्लामशाह की मृत्यु के पश्चात् नष्ट हो गयी और जब हुमायूँ ने दिल्ली के साम्राज्य को दुबारा प्राप्त किया तो उसने परम्परागत जागीरदारी-व्यवस्था को पुनः स्थापित कर दिया।

अकबर प्रथम मुगल बादशाह था जिसने लगान-व्यवस्था को सुचारु रूप से स्थापित किया और मध्य-युग की श्रेष्ठतम लगान-पद्धति का निर्माण किया। उसने विभिन्न लगान-अधिकारियों तथा अर्थ-मन्त्रियों की नियुक्ति करके विभिन्न अन्वेषण किये। अन्त में, उसने टोडरमल की सहायता से जिस लगान-व्यवस्था को स्थापित किया; उसे दहसाला-प्रबन्ध (जाब्ता) पुकारा गया और वह मुगल-लगान-व्यवस्था का मूल आधार बनी तथा सफल हुई।

1560 ई. में अब्दुल मजीद आसफखाँ को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसने सरदारों को प्रसन्न करने के लिए जागीरों की आय को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया। परन्तु चूँकि वह आय यथार्थ न थी अतः उससे राज्य, जागीरदार एवं प्रजा में से किसी को भी कोई लाभ न था। जागीरों अथवा राज्य की आय को गलत दिखाने से सभी को हानि थी। 1563 ई. में ऐतमादखाँ को अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया। उसने पाया कि झूठी आय लिखे जाने के अतिरिक्त खालसा (शाही) भूमि और जागीरों की भूमि में स्पष्ट सीमाओं का विभाजन न होना और मुद्रा-व्यवस्था का दोषी होना राज्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहे थे। उसने खालसा-भूमि और जागीरों की भूमि की सीमाओं का विभाजन किया। उसने आदेश दिया कि प्रत्येक सिक्के का मूल्य उतना ही माना जाय जो उस पर अंकित है तथा अर्थ-विभाग और खजाने की व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। 1564 ई. में मुजफ्फरखाँ को राज्य का दीवान (अर्थ-मन्त्री) नियुक्त किया गया। उसने राज्य के लगान की आय का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए दस कानूनगो नियुक्त किये और उन्हें स्थानीय कानूनगोओं के कागजों के

आधार पर ठीक लगान का पता लगाने के आदेश दिये गये। इनके आधार पर लगान की आय का जो लेखा-जोखा तैयार किया गया उसे 'जमाई हल हासिल' पुकारा गया। उसके द्वारा तैयार किया गया यह लेखा-जोखा तो पूर्णतया सही नहीं बन सका परन्तु उसने एक लाभदायक कार्य अवश्य किया। अभी तक लगान को नकदी (सिक्कों) में वसूल करने के लिए सम्पूर्ण राज्य में गल्ले की समान कीमतें निश्चित होती थीं। अब यह निश्चित किया गया कि विभिन्न स्थानों पर गल्ले की जो कीमतें होंगी उन्हीं के आधार पर किसान सिक्कों के रूप में लगान देंगे। 1568 ई. में सिहाबुद्दीन अहमदखाँ को खालसा-भूमि का दीवान नियुक्त किया गया। उसने पाया कि प्रति वर्ष पैदावार और गल्ले की कीमतों का पता लगाकर लगान निश्चित करने की व्यवस्था (जाब्ता-हरसाला) दोषपूर्ण एवं महँगी थी। इस कारण उसने इसे समाप्त कर दिया और 'नस्क' अथवा 'कनकूत' व्यवस्था को आरम्भ किया जिसके अनुसार पैदावार का अन्दाजा करके जमींदारों अथवा भूमिपतियों के माध्यम से लगान वसूल करने की व्यवस्था की गयी। परन्तु यह व्यवस्था अधिक समय तक न रह सकी। 1570 ई. में मुजफ्फरखाँ को पुनः अर्थ-मन्त्री नियुक्त किया गया और उसने 'जाब्ता-हरसाला' की व्यवस्था को पुनः आरम्भ कर दिया। अब प्रत्येक भूमि की पैमाइश करने के अतिरिक्त उसकी पैदावार का सही पता लगाने की व्यवस्था भी की गयी और विभिन्न स्थानों पर गल्ले की विभिन्न कीमतों के आधार पर सिक्कों के रूप में लगान लेने की व्यवस्था की गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत जागीरों की भूमि भी ले ली गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक भूमि का लेखा-जोखा और विभिन्न भागों में गल्ले की कीमतों का जो हिसाब अगले दस वर्षों तक तैयार किया गया, उसी के आधार पर 1580 ई. में 'दहसाला' लगान-व्यवस्था को लागू किया गया।

1580 ई. में दहसाला-प्रबन्ध को आरम्भ किया गया और उसे लगान-व्यवस्था का स्थायी स्वरूप दिया गया। उस समय राजा टोडरमल अर्थ-मन्त्री था और उसका मुख्य सहायक ख्वाजा शाह मंसूर था। इस 'दहसाला-प्रबन्ध' के विषय में इतिहासकारों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं। परन्तु साधारणतया इस व्यवस्था की मूल बातों के बारे में सहमत होना सम्भव है जो निम्नलिखित मानी जाती हैं :

1. भूमि की नाप अभी तक रस्सी से की जाती थी जो मौसम के प्रभाव से बढ़ या घट जाती थी। अब रस्सी का प्रयोग समाप्त करके उसके स्थान पर बाँस की जरीब का प्रयोग शुरू हुआ जिसके टुकड़े लोहे की पत्तियों से जुड़े होते थे।
2. क्षेत्रफल की इकाई बीघा मानी गयी जो 60 गज × 60 गज = 3,600 वर्ग गज होता था।
3. आरम्भ में नापने के लिए 'गज-सिकन्दरी' का प्रयोग होता था परन्तु 1586-87 ई. से 'गज-इलाही' का प्रयोग आरम्भ किया गया।
4. कृषि-योग्य भूमि को चार भागों में बाँटा गया—(अ) पोलज भूमि सबसे श्रेष्ठ भूमि थी, जिस पर प्रत्येक वर्ष खेती होती थी ; (ब) परोती भूमि, जिसे अपनी उत्पादन-शक्ति को पुनः संचित करने के लिए एक या दो वर्ष के लिए खाली छोड़ दिया जाता था ; (स) छच्छर भूमि, जिस पर तीन या चार वर्ष खेती नहीं की जाती थी; (द) बंजर भूमि, जिस पर पाँच या उससे भी अधिक वर्षों तक खेती नहीं की जाती था। इसके अतिरिक्त, पहली तीन प्रकार की भूमि को पैदावार के आधार पर पुनः तीन-तीन श्रेणियों में बाँटा गया था।

5. प्रत्येक प्रकार की भूमि की पिछले दस वर्षों की पैदावार का पता लगाकर उस भूमि की औसत पैदावार (average produce) का पता लगाया जाता था और उस औसत पैदावार को लगान निश्चित करने का आधार मानकर अगले दस वर्षों के लिए किसानों से लगान निश्चित कर दिया जाता था।
6. राज्य का हिस्सा अथवा लगान पैदावार का 1/3 भाग होता था।
7. किसानों से लगान सिक्कों के रूप में लिया जाता था और इसके लिए अलग-अलग क्षेत्रों में गल्ले की अलग-अलग कीमतें निश्चित की जाती थीं। डॉ.ए.एल.श्रीवास्तव ने लिखा है कि "इस कार्य के लिए सम्पूर्ण राज्य को दस्तूरों (आर्थिक इकाइयाँ जो शासन-प्रबन्ध की इकाई से पृथक थीं) में बाँटा गया था। प्रत्येक दस्तूर में पिछले दस वर्षों की कीमतों का पता लगाकर प्रत्येक गल्ले की औसत कीमत निकाल ली जाती थी और वह औसत कीमत उस गल्ले की, उस दस्तूर में, अगले दस वर्षों के लिए मान्य कीमत थी जिसके आधार पर किसान अपना लगान सिक्कों के रूप में राज्य को देता था।"
8. सरकारी कर्मचारी भूमि की किस्म, उसका क्षेत्रफल, क्या गल्ला पैदा किया गया, कितनी पैदावार हुई, गल्ले की क्या कीमतें रहीं आदि का हिसाब तो प्रत्येक वर्ष तैयार करते थे क्योंकि उसी के आधार पर भविष्य का बन्दोबस्त निर्भर करता था परन्तु अब किसानों से प्रत्येक वर्ष लगान निश्चित करने और प्रत्येक वर्ष गल्ले की कीमतें निश्चित करने की आवश्यकता नहीं रही।
9. जागीरदारी भूमि इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित की गयी थी। जो भूमि जागीरों के रूप में दी गयी थी उसकी लगान-व्यवस्था का प्रबन्ध भी केन्द्रीय अधिकारी करते थे।
10. दान-दक्षिणा में दी गयी 500 बीघा अथवा उससे अधिक भूमि के मालिकों को बादशाह के सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दी गयी। जो बादशाह के सम्मुख उपस्थित नहीं हुए अथवा जिनके अधिकार को वैध नहीं माना गया, उनसे उनकी भूमि छीन ली गयी। अब ऐसी भूमि को देने अथवा समाप्त करने का दायित्व बादशाह ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया और सूबों के सद्रों की सहायता से इस कार्य को करना आरम्भ किया।
11. अकबर ने किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया था और राज्य ने किसानों से सीधा सम्पर्क स्थापित किया। इस प्रकार, शेरशाह की भाँति उसकी व्यवस्था भी रैयतवाड़ी थी।
12. लगान के लिए किसानों को 'पट्टे' दिये जाते थे जिसमें उनकी भूमि का विवरण (किस्म, क्षेत्रफल आदि) होता था और उन्हें कितना लगान देना है यह भी लिखा होता था। किसानों से उनकी स्वीकृति (कबूलियात) भी ली जाती थी।
13. किसानों को भूमि में सुधार करने हेतु प्रोत्साहन दिया जाता था, समय-समय पर उन्हें सहायता दी जाती थी और आपत्ति-काल में लगान को कम अथवा माफ भी कर दिया जाता था।
14. 'दहसाला-प्रबन्ध' सम्पूर्ण राज्य में लागू नहीं किया गया था बल्कि लगान को निश्चित करने के लिए अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग प्रणालियों का

प्रयोग किया गया था। गल्ला-बख्शी अथवा बँटाई (फसल का किसान और राज्य में बँटवारा करना) का तरीका सिन्ध और काबुल के कुछ भागों तथा कन्धार और कश्मीर में लागू था। नस्क अथवा कनकूत (बिना पैमाइश के पैदावार का अन्दाजा मात्र करके लगान निश्चित करना) का तरीका बंगाल, गुजरात और काठियावाड़ में लागू था। जब्ती अथवा नकदी (पैमाइश और गल्ले की किस्म के आधार पर लगान तय करना) का तरीका बिहार, इलाहाबाद, मालवा, अवध, आगरा, दिल्ली, लाहौर और मुल्तान में लागू था और यही वे सूबे थे जहाँ 'दहसाला-व्यवस्था' लागू की गयी थी। सभी प्रान्तों में इस व्यवस्था को लागू किया जाना सम्भव भी नहीं था। इसी कारण विभिन्न स्थानों पर लगान निश्चित करने के उपर्युक्त विभिन्न तरीके प्रयोग में लाये गये थे।

15. पटवारी और मुकद्दम (इनको पटेल या देशमुख भी पुकारते थे) सरकारी अधिकारी न थे परन्तु राज्य इनको स्वीकार करता था, इनकी सहायता से लगान वसूल करता था, जमीन का लेखा-जोखा और हिसाब रखता था तथा लगान में से कुछ हिस्सा इनको देता था। अकबर ने बाद के समय में कानूनगोओं को सरकारी कर्मचारी मानकर उन्हें वेतन देना आरम्भ कर दिया था। कानूनगोओं से ऊपर आमिल और उनके ऊपर अमलगुजार सरकारी कर्मचारी थे। अमलगुजार सूबों के दीवानों के अधीन थे और सूबों के दीवान केन्द्रीय दीवान अथवा अर्थ-मन्त्री के अधीन थे। अकबर ने अपनी 'दहसाला-व्यवस्था' को लागू करने के लिए एक जिला-अधिकारी 'करोरी' की भी नियुक्ति की थी।

16. अकबर ने जजिया और जकात जैसे धार्मिक-करों को हटाने के अतिरिक्त किसानों की सुविधा के लिए पेड़ों व पशुओं के बेचने अथवा खरीदने, नमक, बाजार, मकान बेचने और खरीदने, निवास-स्थान, चमड़ा, कम्बल आदि विभिन्न वस्तुओं से कर हटा दिया था। अन्य विभिन्न स्थानीय करों (अव्वाबों) को भी अकबर ने हटाने का प्रयत्न किया था तथा सरकारी कर्मचारियों को किसानों से नजराने लेने से रोका था। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर इसमें पूर्णतया सफल नहीं हो सका था परन्तु फिर भी अनेक करों को समाप्त करने से किसानों को लाभ अवश्य हुआ था।

उपर्युक्त आधारों पर अकबर की लगान-व्यवस्था निश्चित की गयी थी। परन्तु अकबर की 'दहसाला-व्यवस्था' के बारे में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। मोरलैण्ड ने दस वर्ष की औसत पैदावार का कोई जिक्र नहीं किया है। वह केवल औसत कीमत का जिक्र करता है जिसके आधार पर किसान सिक्कों के रूप में लगान जमा करते थे। वी.ए. स्मिथ ने औसत पैदावार का जिक्र किया है जिसके आधार पर किसानों से अगले दस वर्षों के लिए लगान निश्चित किया गया था, परन्तु उसने औसत कीमत का कोई जिक्र नहीं किया है। डॉ. एस.आर.शर्मा का कहना है कि अकबर ने शेरशाह के समय में निश्चित किये हुए लगान को ही सिक्कों के रूप में लेने की व्यवस्था की थी। वह औसत पैदावार और दसवर्षीय प्रबन्ध का जिक्र नहीं करते। डॉ. आर.पी.त्रिपाठी ने औसत पैदावार और औसत कीमत के प्रयोग को तो स्वीकार किया है परन्तु वह यह स्वीकार नहीं करते कि यह व्यवस्था दस वर्षों के लिए थी या स्थायी थी यद्यपि इसका व्यावहारिक प्रयोग अकबर के सम्पूर्ण समय में हुआ था। डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव औसत पैदावार और औसत कीमत के व्यावहारिक प्रयोग को

स्वीकार करने के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि इसका प्रयोग आगामी दस वर्षों के लिए ही किया जाता था और दस वर्ष के पश्चात् औसत पैदावार और औसत कीमतें पुनः निश्चित की जाती थीं अर्थात् व्यवस्था दसवर्षीय भी थी।

अकबर की उपर्युक्त लगान-व्यवस्था में मुख्यतया दो दोष बताये जाते हैं। प्रथम, लगान-कर्मचारी भ्रष्ट थे और अकबर उनके अत्याचारों से किसानों को बचाने में समर्थ न था। द्वितीय, किसानों से लगान अधिक मात्रा में लिया गया था। परन्तु इन दोनों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इन आरोपों को कुछ ब्रिटिश इतिहासकारों ने अकबर की लगान-व्यवस्था पर इसलिए लगाया क्योंकि वे अकबर की व्यवस्था को अंग्रेजी काल की लगान-व्यवस्था से श्रेष्ठ मानने के लिए तैयार नहीं हैं। परन्तु अधिकांश भारतीय इतिहासकार अकबर की लगान-व्यवस्था को श्रेष्ठ और सफल स्वीकार करते हैं। भ्रष्टाचार थोड़ा-बहुत तो प्रत्येक समय में रहता है, इसे पूर्णतया समाप्त करना असम्भव है। जहाँ तक लगान के अधिक होने का प्रश्न है, वह भी गलत है। पैदावार का 1/3 भाग मध्य-युग में न्यूनतम लगान माना गया था। शेरशाह जो किसानों की भलाई के लिए बहुत प्रयत्नशील था, पैदावार के 1/2 भाग के अतिरिक्त किसानों से जरीबाना, महासीलाना और सुरक्षा-कर भी लेता था। अकबर ने पैदावार के 1/3 भाग के अतिरिक्त अन्य सभी करों से किसानों को मुक्त कर दिया था। इस कारण किसानों पर कर का भार अधिक न था बल्कि इस व्यवस्था से किसान प्रसन्न और सुखी थे। उनका लगान निश्चित था। पैदावार अथवा गल्ले की कीमत बढ़ने से जो अतिरिक्त लाभ होता था वह उन्हीं को मिलता था क्योंकि राज्य लगान में वृद्धि नहीं करता था। दूसरी तरफ किसानों को यह भी सुविधा थी कि उनकी फसल नष्ट होने या उनकी हानि होने पर राज्य उनके लगान को माफ या कम करने की सुविधा प्रदान करता है। अकबर की व्यवस्था में किसानों से राज्य का प्रत्यक्ष सम्पर्क था, यहाँ तक कि जमींदारों की भूमि की देखभाल भी शाही कर्मचारियों के हाथ में थी। इससे जागीरदार अथवा जमींदार जैसे शोषण करने वाले वर्ग अकबर के समय में नहीं थे। इस कारण अकबर की लगान-व्यवस्था पूर्णतया सफल रही। इससे किसान सम्पन्न हुए, कृषि में उन्नति हुई और व्यापार तथा उद्योग पनप सके। इससे राज्य को भी लाभ हुआ और निरन्तर युद्धों में लगे रहते हुए भी अकबर का खजाना धन से परिपूर्ण रहा। इतिहासकार स्मिथ तक ने जिसे यह शंका थी कि अकबर के सभी नियम ठीक प्रकार से लागू नहीं किये जाते थे, इस लगान-व्यवस्था की प्रशंसा की है। इसी प्रकार इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है : "मध्य-युग के इतिहास में आज तक किसी व्यक्ति का नाम इतना ख्यातिपूर्ण नहीं माना गया है जितना टोडरमल का, और इसका कारण यह है कि अकबर के सुधारों में से कोई भी सुधार इतनी अधिक मात्रा में प्रजा के हितों की पूर्ति करने वाला न था जितनी इस महान् अर्थशास्त्री द्वारा की गयी लगान की पुनर्व्यवस्था।"

जहाँगीर के समय में लगान-व्यवस्था का मूल स्वरूप अकबर के समय की भाँति ही रहा परन्तु उसका प्रबन्ध शिथिल हो गया। जहाँगीर के समय में जागीरदारों के अधिकारों में वृद्धि हो गयी, किसानों की स्थिति खराब हुई तथा राज्य की आय में कमी हुई। शाहजहाँ के समय में इस व्यवस्था में और अधिक गिरावट आ गयी। डॉ. सक्सेना के अनुसार राज्य की 70% भूमि जागीरदारों को दे दी गयी और राज्य का सम्पर्क जागीरदारी भूमि के किसानों से न रहा। शाहजहाँ ने किसानों के कर-भार में वृद्धि की। उसके समय में लगान पैदावार का 33% से 50% तक था अर्थात् बहुत से स्थानों पर पैदावार

का आधा भाग लगान के रूप में लिया जाने लगा था। इसके अतिरिक्त, किसानों को अपनी सम्पूर्ण भूमि पर लगान देना पड़ता था चाहे वे उस भूमि पर खेती कर रहे हों अथवा नहीं। **शाहजहाँ के समय में लगान वसूल करने के लिए भूमि को ठेकेदारों को दिया जाना भी आरम्भ हुआ।** इससे शासन के व्यय में तो कमी हुई परन्तु ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक लगान एकत्र करने का प्रयत्न करते थे जिससे किसानों की स्थिति का खराब होना स्वाभाविक था। निस्सन्देह, शाहजहाँ परिश्रमी था और स्वयं लगान-व्यवस्था की देखभाल करता था परन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों में किसानों की स्थिति अच्छी नहीं हो सकती थी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है। **औरंगजेब के समय में लगान-व्यवस्था में न केवल वे समस्त दोष रहे जो शाहजहाँ के समय में उत्पन्न हुए थे बल्कि राज्य की आर्थिक कठिनाइयों के कारण किसानों पर अधिक दबाव डाला गया।** जागीरदारी व्यवस्था में ठेकेपर भूमि का दिया जाना, 2/3 से लेकर 1/2 तक और आवश्यक होने पर उससे भी अधिक मात्रा में लगान का लिया जाना, सम्पूर्ण भूमि से लगान लिया जाना चाहे उस पर खेती की गयी हो अथवा नहीं आदि सभी पूर्ववत् रहे। किसानों से लगान वसूल करने के लिए कठोरता भी की गयी जिससे किसानों की स्थिति खराब हो गयी।

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में तो यह व्यवस्था पूर्णतया समाप्त हो गयी और भूमि को ठेकेदारों को देने के अतिरिक्त और कोई कार्य शेष न रहा। राज्य इन ठेकेदारों से, जो अधिकांशतया पैतृक भी बन गये थे, अधिक से अधिक धन माँगता था और ये ठेकेदार किसानों से अधिक से अधिक धन वसूल करते थे। इससे किसानों की स्थिति खराब हो गयी और राज्य का आर्थिक ढाँचा नष्ट हो गया। उत्तरकालीन मुगल बादशाह न तो कभी अपनी सेना को ठीक से वेतन दे सके, न शासन को ठीक कर सके और न अपने किसानों की स्थिति को ठीक करके उनकी वफादारी प्राप्त कर सके।

[6]

मुगलों की मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था

बाबर और हुमांयूँ ने पहले समय से चली आ रही मुद्रा-प्रणाली को ही जारी रखा और उसी के आधार पर अपने नाम के सिक्के चलाये। **अकबर ने मुगलों की टकसाल और मुद्रा-व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये।** अकबर ने अपने समय में सोना, चाँदी और ताँबे के विभिन्न तोल और मूल्यों के सिक्के चलाये और उनका पारस्परिक अनुपात निश्चित कर दिया। ये सिक्के अच्छी धातु और ठीक तोल के होते थे। इनमें से अधिकांश गोल थे यद्यपि कुछ चौकोर भी बनाये गये थे। बादशाह का नाम, टकसाल का नाम और जारी किये गये वर्ष के अतिरिक्त उनमें से अधिकांश पर कुरान की आयतें अंकित थीं। अकबर ने सिक्कों पर अपनी आकृति अंकित नहीं करायी थी। इन सिक्कों को सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बनाया गया था और इनकी ढलाई उत्तम प्रकार की थी। अकबर का सबसे बड़ा सोने का सिक्का 'शंसब' था जो तोल में 101 तोले के करीब था और जिसका प्रयोग बड़े लेन-देनों में होता था। सोने का अधिक चलने वाला सिक्का 'इलाही' कहलाता था जिसका मूल्य दस रुपये के बराबर था। इनके अतिरिक्त सोने के अन्य सिक्के भी थे जिनकी कुल संख्या 26 थी। चाँदी का सिक्का रुपया कहलाता था जिसका वजन 172.5 ग्रेन था। चौकोर रुपये को 'जलाली' पुकारा गया था यद्यपि वह बहुत लोकप्रिय नहीं हुआ। रुपये के 1/2, 1/4, 1/8, 1/10 और 1/20 भाग के सिक्के भी चलाये गये थे। ताँबे का सिक्का 'दाम' कहलाता था

जिसकी कीमत रुपये का 40वाँ भाग थी। ताँबे का सबसे छोटा सिक्का 'जीतल' कहलाता था और एक 'दाम' के मूल्य में 25 जीतल माने जाते थे। अकबर ने जो मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था की थी वह बहुत श्रेष्ठ मानी गयी है। उसे अंग्रेजों के समय की मुद्रा और टकसाल-व्यवस्था का आधार माना जा सकता है। सभी इतिहासकारों ने इस क्षेत्र में अकबर की सफलता की प्रशंसा की है। इतिहासकार स्मिथ ने उसकी मुद्रा-व्यवस्था और सिक्कों को तत्कालीन सभी यूरोपीय शासकों की व्यवस्था और सिक्कों से श्रेष्ठ बताया।

जहाँगीर ने अपने सिक्कों पर अपनी आकृति अंकित करायी थी और उसके कुछ सिक्कों पर उसके साथ नूरजहाँ का नाम भी अंकित था। जहाँगीर के कुछ सिक्कों पर उसकी आकृति हाथ में शराब का प्याला लिये हुए अंकित थी। अन्य सभी प्रकार से उसके समय में अकबर द्वारा आरम्भ की गयी मुद्रा-व्यवस्था ही चलती रही। शाहजहाँ के समय में भी मुद्रा-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। औरंगजेब के समय में रुपये के मूल्य में कुछ वृद्धि की गयी परन्तु वह अन्तर बहुत साधारण था। बाद के समय में भी इस व्यवस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। इस प्रकार, मुगलों की मुद्रा-व्यवस्था बहुत अच्छी मानी जा सकती है।

मुगलों की मुद्राओं का प्रचलन राज्य द्वारा नियंत्रित टकसालों के माध्यम से किया जाता था। ये टकसालें साम्राज्य के विभिन्न भागों में थीं। अबुल फजल के अनुसार 1595 ई. में सोने के सिक्के ढालने के लिए चार, चाँदी के सिक्के ढालने के लिए चौदह और ताँबे के सिक्के ढालने के लिए ब्यालीस टकसालें साम्राज्य में थीं। औरंगजेब के समय तक टकसालों की संख्या में और वृद्धि हो गयी। इरफान हबीब के अनुसार मुगल बादशहों ने पूरे सौ साल तक रुपये के वजन को समान बनाये रखा। इसके अतिरिक्त, मुगल-शासन की एक विशेषता यह भी थी कि यद्यपि टकसालें केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में थीं तब भी ढलाई के मामले में वे स्वतंत्र थीं अर्थात् कोई भी व्यक्ति जिस धातु के सिक्के स्वयं ढलवाना चाहता था वह उस धातु को टकसाल में ले जाकर उस धातु के सिक्के ढलवा सकता था यद्यपि उसे इस प्रकार ढलवाये गये सिक्कों की कीमत का लगभग पाँच या छः प्रतिशत टकसाल को ढलाई के पारिश्रमिक के रूप में देना होता था।

[7]
मुगलों की न्याय-व्यवस्था

यद्यपि न्याय करना मुगल बादशाह अपना प्रमुख कर्तव्य मानते थे परन्तु उनकी न्याय-व्यवस्था उनके शासन का अत्यन्त दुर्बल भाग था। मुगल बादशाह राज्य का सबसे बड़ा न्यायाधीश था और प्रायः सभी बादशाह प्रत्येक बुधवार की शाम को खुले दरबार में बैठकर न्याय करते थे। बादशाह की अदालत में अन्य अदालतों के मुकदमों को अन्तिम निर्णय के लिए ले जाया जा सकता था और वहाँ मुकदमे आरम्भ भी किये जा सकते थे। प्रायः सभी मुगल बादशाह निष्पक्ष रहकर न्याय करते थे यद्यपि अकबर के अतिरिक्त सभी धार्मिक मतभेद से प्रभावित होते थे। बादशाह के अतिरिक्त राजधानी में प्रधान काजी, सूबों की राजधानी में सूबों के काजी और बड़े-बड़े नगरों तथा कस्बों में भी काजियों की नियुक्ति की जाती थी। काजियों की अदालतों में अधिकांशतया धर्म सम्बन्धी या सम्पत्ति के मुकदमे आया करते थे। कहीं-कहीं पर काजी की सहायता के लिए मुफ्ती (कुरान के कानून की व्याख्या करने वाले) भी होते थे। इनके अतिरिक्त सूबेदार, फौजदार, शिकदार, कोतवाल

आदि शासन-अधिकारी फौजदारी के मुकदमों का तथा दीवान, अमलगुजार, आतिल आदि शासन-अधिकारी लगान सम्बन्धी मुकदमों का निर्णय करते थे। अकबर ने अपने समय में हिन्दू पण्डितों को भी हिन्दुओं के मुकदमों का निर्णय करने के लिए नियुक्त किया था। गाँवों में मुकदमों का निर्णय ग्राम-पंचायतों के द्वारा किया जाता था। इस प्रकार मुगलों के समय में विभिन्न प्रकार की अदालतें थीं। परन्तु इन अदालतों के अधिकार-क्षेत्र और पारस्परिक सम्बन्ध न तो निश्चित थे और न स्पष्ट। इस कारण यह कहा जा सकता है कि मुगल बादशाहों ने न्याय-व्यवस्था को एक सूत्र में बाँधने का कोई प्रयत्न नहीं किया था।

अकबर के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाहों ने इस्लामी कानून-व्यवस्था को ही न्याय करने का आधार माना था। अकबर ने अवश्य यह प्रयत्न किया था कि हिन्दुओं के साथ न्याय करते हुए हिन्दुओं की परम्पराओं को ध्यान में रखा जाय। मुस्लिम कानूनों की व्याख्या का मुख्य आधार 'कुरान' थी। परन्तु उसके कानूनों की व्याख्या करने में अन्तर हो सकते थे। इसके अतिरिक्त कानूनों को संग्रह करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। इस क्षेत्र में सबसे सराहनीय कार्य औरंगजेब ने 'फतवा-ए-आलमगीरी' को तैयार कराकर किया था। इसमें इस्लाम के धार्मिक कानूनों का संग्रह किया गया था। धर्म के आधार पर लागू की जाने वाली मुगलों की यह न्याय-व्यवस्था निश्चित ही गैर-मुसलमानों के लिए न्यायपूर्ण नहीं हो सकती थी।

मुगल दण्ड-व्यवस्था कठोर थी। साधारणतया 'दाँत के लिए दाँत' और 'आँख के लिए आँख' की नीति का पालन किया जाता था। मृत्यु-दण्ड, हाथ-पैर काटना, नाक-कान काटना, असम्मानित करना, कोड़ों से पीटा जाना आदि दण्ड निस्संकोच दिये जाते थे।

[8]

तोल और नाप के पैमाने

अकबर से पहले तोल का सबसे बड़ा पैमाना मन था जो चालीस सेर का होता था परन्तु सेर का भार अनेक स्थानों पर एक दूसरे से भिन्न था जिसके फलस्वरूप विभिन्न स्थानों के मन के भार में भी विभिन्नता थी। अकबर ने सेर का वजन तीस दाम के वजन के बराबर रखा जिससे मन का भार 55.32 पौंड के लगभग हो गया। यह मन दक्षिण-भारत के बन्दरगाहों के अतिरिक्त प्रायः साम्राज्य के सभी भागों में प्रचलित हो गया। दक्षिण के विभिन्न बन्दरगाहों के मन का वजन अकबर के मन के वजन से कुछ कम था। जहाँगीर के शासन-काल में मन का वजन बढ़कर 66.38 पौंड हो गया तथा शाहजहाँ के काल में यह 73.76 पौंड हो गया। साम्राज्य के विभिन्न भागों में अकबरी-मन, जहाँगीरी-मन और शाहजहाँनी-मन साथ-साथ प्रचलित रहे।

नाप के लिए उत्तर-भारत में गज़ का प्रयोग होता था। इसकी लम्बाई के बारे में विद्वानों में मतभेद है। साधारणतया इसकी लम्बाई 30 से 33 इंच के बीच में रही थी, यह अधिकांशतया माना गया है। मुगलों से पहले सिकन्दरी-गज, जिसे सिकन्दर लोदी ने चलाया था, प्रचलित था। वह 39 अंगुल का था। अकबर ने अपने शासन-काल में इलाही-गज चलाया जो 41 अंगुल के बराबर था। दक्षिण-भारत में नापने के अलग पैमाने प्रयोग में आते थे, ऐसा विभिन्न विवरणों में प्राप्त होता है।

[9]

मुगल-शासन का मूल्यांकन

अनेक दोषों के होते हुए भी मध्य-युग में मुगल-शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ स्थान रखती है। अकबर ने इस शासन-व्यवस्था का निर्माण किया था। अकबर की महानता का कारण उसकी विजयें, उसकी राजनीतिक दूरदर्शिता और धार्मिक सहनशीलता ही न थी बल्कि उसके द्वारा एक श्रेष्ठ शासन-व्यवस्था का स्थापित किया जाना भी था। अकबर ने इस क्षेत्र में न केवल अपने से पहले के शासकों के अनुभवों से ही लाभ प्राप्त किया बल्कि उसने अनेक नवीनताओं को भी जन्म दिया। यद्यपि केन्द्रीय सेना का गठन, सैनिकों की हुलिया लिखा जाना और घोड़ों को दागने की प्रथा अलाउद्दीन के समय से प्राप्त की जा सकती है और पदों के विभाजन में दशमलव प्रणाली का प्रयोग भी पूर्णतया नवीन नहीं माना जा सकता परन्तु अकबर की मनसबदारी-प्रथा उन सभी का एक व्यवस्थित, दोषरहित और श्रेष्ठतम स्वरूप था। उसी प्रकार, शेरशाह की लगान-व्यवस्था अकबर के लिए एक उदाहरण अवश्य थी परन्तु अकबर का 'दहसाला-प्रबन्ध' शेरशाह की लगान-व्यवस्था से श्रेष्ठ था। इसी प्रकार शासन के सभी क्षेत्रों में अकबर के प्रयत्न सफल हुए थे। अकबर की सफलता से जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब ने भी लाभ उठाया। जहाँगीर ने अपने पिता से एक व्यवस्थित राज्य प्राप्त किया। वह उसमें सुधार तो न कर सका परन्तु उस व्यवस्था को किसी न किसी रूप में स्थापित अवश्य रख सका। शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में मुगल-शासन-व्यवस्था में दोष बढ़ते गये परन्तु फिर भी मूल व्यवस्था स्थापित रही। औरंगजेब के अन्तिम वर्षों में इसमें दुर्बलता आ गयी और दुर्बल एवं अयोग्य उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह नष्ट हो गयी। फिर भी एक लम्बे समय तक मुगल-शासन-व्यवस्था ने भारत को सुरक्षा तथा शान्ति प्रदान की। अंग्रेजों के शासन-काल में भी अनेक बातों का आधार मुगल-शासन-व्यवस्था रही।।

13

मुगल-सभ्यता और संस्कृति

भारतीय सभ्यता और संस्कृति की मुख्य विशेषता यह रही है कि इसने अपने मूल आधार को खोये बिना विभिन्न प्रभावों और परिवर्तनों को अपने में आत्मसात करने में सफलता पायी है। मुस्लिम-सभ्यता के बारे में भी उसने ऐसा ही किया और मुगल-काल में यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। तुर्क और अफगान-काल में भारतीय और मुस्लिम सभ्यताएँ एक-दूसरे के निकट आ गयी थीं परन्तु राजनीतिक संघर्ष तथा मुसलमानों के विजेता और एकाकीपन की भावना ने भारतीय और मुस्लिम सभ्यता को बहुत घुलने-मिलने का अवसर नहीं दिया था। मुगल-काल में राजनीतिक स्थायित्व, मिलकर रहने की आवश्यकता और अनुकूल परिस्थितियों ने भारतीय सभ्यता और मुस्लिम सभ्यता को घुलने-मिलने का अधिक अवसर प्रदान किया और एक ऐसी भारतीय सभ्यता के निर्माण में सहयोग दिया जिसमें मुस्लिम सभ्यता के तत्व सम्मिलित कर दिये गये। मुगल-काल के समाज, वेश-भूषा, खान-पान, रीति-रिवाज, साहित्य तथा ललित-कलाओं सभी में यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

[1]

आर्थिक स्थिति

मुगल-काल में शाहजहाँ के समय तक भारत की आर्थिक स्थिति ठीक मानी जा सकती है। शाहजहाँ तक का समय सम्पन्नंता और समृद्धि का काल था। यद्यपि इस आर्थिक सम्पन्नता का लाभ मुख्यतया बादशाह, बड़े-बड़े मनसबदार, व्यापारी और उद्योगपति उठाते थे परन्तु वस्तुओं के मूल्य सस्ते होने के कारण जनसाधारण जीवन की साधारण आवश्यकताओं से वंचित न था। औरंगजेब के समय से भारत की आर्थिक स्थिति निरन्तर गिरती चली गयी।

मुगल-काल में भारतीय समाज आर्थिक दृष्टि से विभिन्न भागों में बँटा हुआ था। सबसे श्रेष्ठ स्थिति बादशाह, बड़े-बड़े मनसबदारों और राजपूत-राजाओं की थी। बादशाह की आय सबसे अधिक थी। विभिन्न करों को वसूल करने के अतिरिक्त बादशाह राज्य का सबसे बड़ा उद्योगपति और व्यापारी था। बादशाह के अनेक कारखाने थे जिनमें विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था जो उसकी आय का एक बड़ा साधन था। बादशाह, उनका दरबार और 'हरम' वैभव और विलासिता के केन्द्र थे। इसी प्रकार की स्थिति राज्य के बड़े-बड़े मनसबदारों और राजपूत-राजाओं की थी। उन्हें बड़े-बड़े वेतन और जागीरें

प्राप्त थीं और वे भी तभी तक सम्पूर्ण वैभव और विलासिता का उपभोग कर सके जब तक कि वे योग्य रहे। उनके पश्चात् राजा के अन्य कर्मचारी थे जो छोटी और बड़ी विभिन्न श्रेणियों में बँटे होते थे और जिनमें बहुत छोटे स्तर के कर्मचारियों अथवा दासों के अतिरिक्त सभी की स्थिति सन्तोषजनक और लाभप्रद थी। व्यापारी और उद्योगपति वर्ग में भी विभिन्न श्रेणियाँ थीं। इसमें बड़े-बड़े व्यापारी और उद्योगपति बहुत धनवान थे। सूरत के विरजी बोहरा को संसार का सबसे धनवान व्यक्ति माना जाता है और अकेले अब्दुल गफूर का व्यापार सम्पूर्ण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापार के बराबर था। परन्तु यह वर्ग अपनी सम्पत्ति का प्रदर्शन नहीं करता था क्योंकि उनकी सम्पत्ति को कभी भी छीना जा सकता था और उत्तराधिकार के नियम को कठोरता से लागू किये जाने पर बादशाह ही नहीं बल्कि राज्य का कोई भी बड़ा अधिकारी उसके उत्तराधिकारियों को उनकी सम्पत्ति से वंचित कर सकता था। लघु व्यापारियों और उद्योगपतियों की स्थिति बहुत अच्छी न थी परन्तु सन्तोषजनक मानी जा सकती थी। उनके पश्चात् विभिन्न श्रेणी के विद्वान, कलाकार और कारीगर थे। इनमें से अच्छे विद्वानों, कलाकारों और कारीगरों को बादशाह, सरदारों एवं धनवान व्यक्तियों से संरक्षण प्राप्त हो जाता था और उनकी स्थिति अच्छी थी। परन्तु उनमें अधिकांशतः निम्न श्रेणी के कलाकार, दस्तकार और कारीगर थे जिन्हें साधारण जीवन व्यतीत करना पड़ता था। कृषि-मजदूर तथा अन्य मजदूरों की स्थिति भी अच्छी न थी। उनको बहुत साधारण वेतन मिलता था और उनका जीवन-स्तर गिरा हुआ था। समाज का निम्नतर वर्ग किसानों का था जो सबसे अधिक थे और जो सबसे अधिक उत्पादन करते थे परन्तु जिन पर कर का भार सबसे अधिक था और जिनका शोषण राज्य-कर्मचारी सबसे अधिक करते थे। इस प्रकार, मुगल-काल में आर्थिक ढाँचा मध्य-युग की विशेषता के अनुरूप सामन्तवादी था जिसमें समाज उच्च और निम्न आर्थिक वर्गों में बँटा हुआ था, जिसमें उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच चौड़ी खाई थी तथा जिसमें **समाज का बहुसंख्यक साधारण वर्ग परिश्रम करता था और उनके परिश्रम का लाभ समाज के एक बहुत छोटे वर्ग को प्राप्त होता था।**

1. कृषि

कृषि भारत की बहुसंख्यक प्रजा का मुख्य व्यवसाय था। फ्रान्सीसी यात्री बर्नियर ने लिखा था कि 'तत्कालीन भारत में बादशाह भूमि का एकछत्र स्वामी था।' परन्तु बर्नियर का यह कथन भ्रमात्मक है। बादशाह भूमि का स्वामी नहीं था। भूमि का स्वामी तो कृषक ही होता था, परन्तु क्योंकि मुगल बादशाहों की आय का मुख्य साधन भूमि-उत्पादन से लिया जाने वाला कर, लगान या खराज था, इस कारण प्रत्येक बादशाह यह चाहता था कि कृषि-योग्य भूमि का विस्तार हो और कोई भी भूमि जिस पर खेती हो सकती थी वह बिना खेती के न रहे। इस कारण, यदि कोई व्यक्ति खेती-योग्य भूमि पर खेती करने में असमर्थ हो जाता था तो बादशाह उस भूमि को किसी खेती करने वाले व्यक्ति को देने का अधिकार रखता था यद्यपि भूमि का मालिक वही व्यक्ति रहता था जिसकी भूमि वह थी। इस रूप में ही बादशाह को भूमि का स्वामी माना जाता था अन्यथा जब तक किसान अपना लगान देता रहता था तब तक वही भूमि का स्वामी था। परन्तु कृषक समान स्तर के नहीं थे। मुगलकालीन कृषक-समाज तीन वर्गों में विभाजित था। प्रथम, खुदकाश्त किसान था जो अपने ही गाँव में अपनी भी भूमि पर खेती करता था ; द्वितीय, याहीकाश्त किसान जो दूसरे गाँव में जाकर खेती करता था और वहाँ अस्थायी रूप से निवास करता था ; और तृतीय, मुजारियात किसान जो अपनी भूमि से होने वाली आय को अपने परिवार के लिए पर्याप्त नहीं मानता था और इस कारण

अधिक भूमि वाले व्यक्ति से किरायेदार के रूप में खेती करने के लिए भूमि ले लेता था। इस प्रकार के किसानों के अतिरिक्त गाँव में एक वर्ग ऐसा भी था जिन्हें कृषक-मजदूर माना जाता था। उस काल में खेती में प्रयोग आने वाले साधनों और उत्पादन-औजारों की दृष्टि से भारत पिछड़ा हुआ देश नहीं माना जा सकता था। कृषि में प्रायः वे सभी साधन प्रयोग में लाये जाते थे जो भारत में 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक थे। भूमि से दो फसलें और कभी-कभी तीन फसलें भी तैयार की जाती थीं और फसलों में हेर-फेर करके फसलें तैयार करने की जानकारी भी भारतीयों को थी। कृषक मवेशी भी अच्छी संख्या में पालते थे। अबुल फजल के कथनानुसार एक किसान को चार बैल, दो गाय और एक भैंस बिना पशु-कर दिये पालने की अनुमति थी। गेहूँ, चना, जौ, बाजरा, मक्का, गन्ना, कपास, अफीम, नील, पोस्त आदि की खेती देश के विभिन्न भागों में की जाती थी। गेहूँ की उपज मुख्यतया पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार में की जाती थी। गन्ना मुख्यतया बंगाल और बिहार में, चना और जौ पंजाब, उत्तर-प्रदेश और बिहार में, बाजरा और मक्का उत्तर-प्रदेश और राजस्थान में, नील मुख्यतया बयाना जिले में, अफीम मुख्यतया मालवा और बिहार में, कपास देश के विभिन्न भागों में तथा चावल मद्रास, कश्मीर आदि स्थानों में उत्पन्न किया जाता था। सिंचाई के लिए किसान वर्षा, कुओं, तालाबों, नदियों और नहरों पर निर्भर करते थे परन्तु सिंचाई के कृत्रिम साधनों के प्रयोग में विशेष उन्नति नहीं की गयी थी। समय-समय पर किसानों को अकाल की समस्या का मुकाबला करना पड़ता था। मुगल-काल में कई अवसरों पर गम्भीर अकाल पड़े थे। अकाल के साथ महामारी और भयंकर बीमारियाँ भी आती थीं। प्लेग और हैजा समय-समय पर लाखों व्यक्तियों की मृत्यु का कारण बने थे। राज्य की ओर से ऐसे अवसरों पर किसानों को सहायता दी जाती थी परन्तु आवागमन के साधनों, दवाइयों तथा योग्य चिकित्सकों के अभाव में यह सहायता सर्वदा अपर्याप्त होती थी। ऐसे अवसरों पर गाँव के गाँव उजड़ जाते थे और कृषि नष्ट हो जाती थी। इसके अतिरिक्त, जंगली जानवर भी खेती को प्र्याप्त हानि पहुँचाते थे क्योंकि उस समय जंगल और जानवर दोनों ही अधिक थे। किसानों पर कर का भार भी कुछ कम न था। अकबर और जहाँगीर के समय को छोड़कर किसानों से पर्याप्त कर लिये जाते थे और बादशाहों के आदेश के विरुद्ध भी स्थानीय अधिकारी किसानों को तंग करते थे। निरन्तर युद्ध और विद्रोह भी कृषि के लिए हानिकारक थे। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी कृषि की दृष्टि से देश आत्मनिर्भर था और क्योंकि किसानों के जीवन की आवश्यकताएँ न्यूनतम थीं अतएव वे विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं करते थे। मध्य-युग के इतिहास में अन्य देशों की शासन-व्यवस्था से तुलना करते हुए अथवा मुगलों से पहले के समय की किसानों की स्थिति पर दृष्टिपात करते हुए यह कहा जा सकता है कि शाहजहाँ के समय तक उनकी स्थिति पर्याप्त ठीक थी।

2. उद्योग

मुगल-काल में विभिन्न बड़े-बड़े और सम्पन्न नगरों का निर्माण हुआ। गुजरात, बंगाल और दक्षिण-भारत के समुद्र-तटों पर अच्छे-अच्छे बन्दरगाह थे। विभिन्न यूरोपियन जातियाँ व्यापार करने के उद्देश्य से भारत आयी थीं। ये सभी इस बात के प्रमाण थे कि भारत में उद्योग अच्छी मात्रा में थे क्योंकि केवल कृषि इस सम्पन्नता और व्यापार के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकती थी। गुड़ और चीनी बनाने का उद्योग बंगाल, गुजरात और पंजाब में मुख्य रूप से होता था। अफीम और नील बनाने के उद्योग भी महत्वपूर्ण थे और यह विदेशों में भी भेजी जाती थीं। मिट्टी के खिलौने और बर्तन देश के विभिन्न भागों में बनाये जाते थे जो

अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थे। दिल्ली, काशी (बनारस) और चुनार मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए विख्यात थे। लकड़ी का प्रयोग दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति और कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिए होता था। कश्मीर और कर्नाटक लकड़ी की कलात्मक वस्तुएँ बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। समुद्री जहाज-निर्माण करने के उद्योग में भारतीय कुशल थे। सामान ढोने और यात्रियों को ले जाने वाले बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण इसी समय में हुआ था। लोहा बनाने का उद्योग भी भारत में अच्छी स्थिति में था यद्यपि खान का कोयला प्राप्त न होने के कारण अच्छे इस्पात का निर्माण भारत में कम होता था। लोहे का प्रयोग मुख्यतया हथियार बनाने के लिए होता था। भारतीयों ने तलवार, कटार, भाला आदि परम्परागत हथियारों के बनाने में श्रेष्ठता प्राप्त की थी परन्तु वे बहुत अच्छे स्तर की तोपें और बन्दूकें बनाने में सफल नहीं हुए थे। इस क्षेत्र में वे फारस, टर्की और यूरोप के देशों से पिछड़े हुए थे। लोहे के अस्त्र-शस्त्र बनाने के लिए गुजरात और पंजाब प्रख्यात थे। ताँबा, काँसा और पीतल का प्रयोग मुख्यतया बर्तन अथवा मूर्तियाँ बनाने के लिए किया जाता था। दिल्ली और उसके निकटवर्ती स्थानों में ताँबे का उद्योग, बंगाल में काँसे का उद्योग और बनारस तथा उसके निकट पीतल का उद्योग बहुत अच्छा था। सोना, चाँदी और हाथीदाँत का प्रयोग जेवर और मूर्तियाँ बनाने के लिए किया जाता था। सोना पंजाब और कुमायूँ की नदियों से प्राप्त किया जाता था, ताँबे की खानें राजस्थान और मध्य-भारत में थीं तथा हीरे की खानें गोलकुण्डा और छोटा नागपुर में थीं। भारत ने अनेक श्रेष्ठतम हीरों और पन्नों को खोदकर निकाला था। जगत-प्रसिद्ध कोहेनूर हीरा गोलकुण्डा की खान से प्राप्त हुआ था। हीरों का प्रयोग आभूषणों, सिंहासनों और वस्त्रों में लगाने के लिए किया जाता था। भारत में शराब बनाने का उद्योग भी बहुत बड़ा था परन्तु अच्छी शराब भारत में तैयार नहीं होती थी जिसके कारण उसे यूरोप और फारस से मँगाया जाता था। चमड़े की वस्तुएँ बनाने का उद्योग बहुत अच्छी स्थिति में न था। चमड़े के जूते या चप्पलें साधारण व्यक्ति नहीं पहनते थे। परन्तु चमड़े की मश्क और थैले तथा घोड़ों की रासें पर्याप्त मात्रा में बनती थीं और व्यक्ति देश के विभिन्न भागों में इस उद्योग में लगे हुए थे। नमक पंजाब की पहाड़ियों से प्राप्त किया जाता था तथा समुद्र व झीलों के पानी से भी तैयार किया जाता था। समुद्र-तट पर मोती निकालने का उद्योग भी पर्याप्त अच्छी स्थिति में था, मुख्यतया दक्षिण-भारत में यह एक प्रमुख उद्योग था। काँच के बर्तन और शमादान आदि बनाने का उद्योग फतेहपुरसीकरी, बरार तथा बिहार में पर्याप्त प्रगतिशील था तथा काँच की सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ वहाँ तैयार की जाती थीं। इत्र, सुगन्धित तेल, गुलाबजल आदि जैसी वस्तुएँ भी बहुत बड़ी मात्रा में तैयार की जाती थीं। जौनपुर और गुजरात ऐसी वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे। मुगल बादशाहों को इमारतें, मकबरे और मस्जिदें बनवाने का शौक था। बड़े-बड़े क़िले और महल भी बादशाहों और राजपूत-राजाओं द्वारा बनवाये गये थे। इस कारण पत्थर काटने और इमारतें बनाने का काम भी भारत में बहुत था। लाल पत्थर फतेहपुरसीकरी और राजस्थान में, पीला पत्थर थट्टा में और सफेद संगमरमर जयपुर तथा जोधपुर में पाया जाता था। भारत में शोरा भी तैयार किया जाता था।

लेकिन भारत का सबसे बड़ा उद्योग कपड़े का निर्माण था। सभी प्रकार का सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ा भारत में तैयार किया जाता था। अच्छे-अच्छे कालीन और शाल भी भारत में तैयार किये जाते थे। आगरा, मुल्तान, फतेहपुरसीकरी, अलवर, जौनपुर आदि कालीन बनाने के लिए प्रसिद्ध थे। परन्तु फिर भी भारतीय कालीन उतनी श्रेष्ठ कोटि के नहीं होते थे जितने कि फारस के बने हुए कालीन। कश्मीर में ऊनी कालीन, रेशमी कपड़ा तथा

ऊनी कपड़े का निर्माण बहुत होता था। कश्मीर और बंगाल में रेशम का उत्पादन होता था और उससे रेशमी कपड़ा बनाया जाता था। अच्छा रेशम चीन से भी मँगाया जाता था। गुजरात में सबसे अच्छे रेशमी वस्त्र तैयार किये जाते थे। रेशमी कपड़ों को विभिन्न रंगों में तैयार किया जाता था और उन पर कसीदा तथा सोने-चाँदी के धागों का काम भी किया जाता था। बादशाह स्वयं अपने कारखानों में ऐसे वस्त्र तैयार कराया करते थे। आगरा, लाहौर, दिल्ली, ढाका तथा अहमदाबाद में अनेक ऐसे शाही कारखाने थे। परन्तु फिर भी रेशमी कपड़ा विदेशों से मँगाया जाता था जिससे यह अनुमान होता है कि रेशमी कपड़े के उद्योग की पूर्ण प्रगति नहीं हुई थी। ऊनी कपड़ा और वस्त्र बनाने का उद्योग केवल पहाड़ी प्रदेशों और मुख्यतया कश्मीर, पंजाब और कुमायूँ के क्षेत्रों तक ही सीमित था। बढ़िया ऊनी वस्त्र और शाल कश्मीर तथा लाहौर में तैयार किये जाते थे। अबुल फजल के कथनानुसार अकबर ने लाहौर में 1,000 कारखाने स्थापित किये थे। जहाँगीर ने अमृतसर में ऊनी वस्त्रों के उद्योग को आरम्भ किया था। यद्यपि भारतीय कारीगरों ने इस क्षेत्र में बहुत उन्नति की थी और अनेक विदेशी यात्रियों के विवरणों में उनके कार्य की प्रशंसा प्राप्त होती है परन्तु फिर भी पर्याप्त मात्रा में अच्छी ऊन प्राप्त न होने के कारण यह उद्योग भी अपनी पूर्ण प्रगति करने में सफल नहीं हो सका था। भारत ने श्रेष्ठतम प्रगति सूती कपड़ा तैयार करने में की थी। बंगाल में सोनारगाँव, उत्तर-प्रदेश में बनारस और आगरा, सिन्ध तथा पंजाब में लाहौर, मुल्तान और थट्टा, गुजरात में अहमदाबाद, पाटन, बड़ौदा, भड़ौंच और सूरत, खानदेश में बुरहानपुर और गोलकुण्डा सूती कपड़ा तैयार करने के लिए विख्यात थे। ढाका की मलमल संसार-प्रसिद्ध थी। चीन, जापान, फारस, अरब, मिस्र, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों से भारतीय सूती कपड़े की माँग सबसे अधिक था। यही एक वस्तु ऐसी थी जिसका निर्यात विदेशों में सबसे अधिक होता था। भारत के सूती कपड़े का उद्योग उस समय तक सफलतापूर्वक चलता रहा जब तक इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति नहीं हुई और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अन्तर्गत भारत के इस महत्वपूर्ण उद्योग को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया।

इस प्रकार भारत में सभी प्रकार के उद्योग थे यद्यपि इनमें से बहुत कम उद्योग ऐसे थे जिनका उपयोग विदेशी व्यापार के लिए किया जा सकता था। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के विस्तार और स्थिरता के समय में यह उद्योग सफलतापूर्वक चलते रहे और उनसे देश की समृद्धि में वृद्धि हुई। परन्तु फिर भी सम्पत्ति की सुरक्षा और व्यावसायिक आधार पर (अर्थात् Joint Stock Companies द्वारा) उद्योग को चला पाने के अभाव में भारतीय उद्योग विशेष प्रगति नहीं कर सके थे। इसके अतिरिक्त, भारत के उद्योग परिवारों तक सीमित थे और कारीगरों की कार्यकुशलता पैतृक शिक्षा पर ही आधारित थी। इस कारण उन्हें श्रेष्ठता और विस्तार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों का निर्माण सम्भव न था। विभिन्न कारीगर अपने घरों में ही कार्य करते थे, परिवार के सदस्यों से ही कार्य सीखते थे, उनके उद्योगों की शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था और अधिकांशतया कारीगर निर्धन थे। इन परिस्थितियों में उद्योगों के विकास की सम्भावना नहीं की जा सकती थी। जो कुछ भी हो सका वह थोड़ी-बहुत मात्रा में राजकीय संरक्षण अथवा व्यक्तिगत प्रयासों के कारण हुआ और जब उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय की दुर्व्यवस्था भारतीय उद्योगों को साधारण सुविधाएँ तक प्रदान न कर सकी तो भारतीय उद्योग नष्ट होने आरम्भ हो गये। शेष कार्य की पूर्ति अंग्रेजी शासन-काल में हो गयी जब भारत इंगलैण्ड के लिए कच्चा माल देने वाला उपनिवेश और इंगलैण्ड की बनी हुई वस्तुओं को खरीदने वाला एक अच्छा बाजार बन गया।

3. व्यापार

मुगल-काल में भारतीय व्यापार अच्छी स्थिति में था। शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करके व्यापार को पनपने का अवसर दिया था। मुगल बादशाहों ने सड़कों, सरायों और यातायात की सुरक्षा का प्रबन्ध किया था जिससे व्यापार में सुविधा होती थी। उत्तरकालीन दुर्बल मुगल बादशाहों के समय में ही इन परिस्थितियों में अन्तर हुआ अन्यथा राज्य की परिस्थितियाँ व्यापार के अनुकूल थीं। मुगल बादशाह व्यापारिक-कर भी कम लेते थे। विदेश जाने वाली और विदेशों से आने वाली अधिकांश वस्तुओं पर 3-1/2% से अधिक व्यापारिक-कर नहीं लिया जाता था। व्यापार सड़कों और नदियों दोनों से होता था। विदेशों से व्यापार जल-मार्ग और स्थल-मार्ग दोनों से होता था। स्थल-मार्ग उत्तर-पश्चिम की ओर था। इसके लिए एक सड़क लाहौर से काबुल तक और दूसरी सड़क मुल्तान के कन्धार तक जाती थी। गुजरात, दक्षिण-भारत के दोनों तरफ के समुद्र-तट और बंगाल में अच्छे बन्दरगाह थे जो समुद्री मार्ग से व्यापार की सुविधा प्रदान करते थे। भारत के व्यापारिक सम्बन्ध यूरोप, अफ्रीका तथा एशिया के विभिन्न देशों से थे। फ्रान्स, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, इंगलैण्ड, अरब, मिस्र, मध्य-एशिया, फारस, श्रीलंका, बर्मा, चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपसमूह, नेपाल आदि सभी से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध थे। भारत फ्रान्स से ऊनी वस्त्र, इटली और फारस से रेशम, फारस से कालीन, चीन से कच्चा रेशम और मध्य-एशिया तथा अरब से घोड़े मँगाता था। सोना और चाँदी भी भारत विदेशों से लाता था क्योंकि यहाँ ये कम मात्रा में उपलब्ध थे। इनके अतिरिक्त अच्छी शराब, काँच के बर्तन, मखमल, दवाइयाँ, आदि भी भारत विदेशों से आयात करता था। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में सूती कपड़ा प्रमुख था जिसकी माँग यूरोप, अफ्रीका और एशिया के सभी देशों में बहुत थी। इसके अतिरिक्त, काली मिर्च, नील, अफीम, चीनी, शोरा, मसाले, नमक आदि विभिन्न वस्तुएँ भारत से विदेशों को भेजी जाती थीं। इस प्रकार भारत का विदेशों से विस्तृत व्यापार था। इस व्यापार में लाभ की स्थिति भारत की थी जो भारत की आर्थिक स्थिति को ठीक रखने में सहायक थी।

मुगल-काल में व्यापारी-वर्ग मध्यम वर्ग का सबसे अधिक शक्तिशाली वर्ग था। मुगलकालीन भारत की अर्थ-व्यवस्था के कृषि-क्षेत्र से अलग क्षेत्र पर इसी वर्ग का प्रभुत्व रहा। इसमें छोटे और बड़े, आन्तरिक तथा विदेशी, और स्थानीय आधार पर ही व्यापार करने वाले सभी व्यापारी सम्मिलित थे। सूरत का एक व्यापारी, विरजी बोहरा अपने समय का सबसे अधिक धनवान व्यक्ति माना जाता था। इसी प्रकार सूरत के अब्दुल गफूर और अहमद चैलाबी, गोलकुण्डा का मीरजुमला और दक्षिण कारोमंडल के मलय चेट्टी, कासी वरिन्ना और सुनकाराम चेट्टी अपने समय के बहुत धनवान व्यापारियों में स्थान रखते थे। बर्नियर ने ऐसे कई व्यापारियों का उल्लेख किया है जिनका अकेले-अकेले का व्यापार अंग्रेजों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी से कम नहीं था। भारतीय व्यापारियों ने विभिन्न कार्यों में विशेषज्ञता भी प्राप्त कर ली थी। थोक-व्यापारियों, सर्राफों, साहूकारों, गुमाश्तों, दलालों आदि ने अपने-अपने क्षेत्र में न केवल दक्षता ही प्राप्त कर ली थी अपितु पृथक-पृथक व्यावसायिक-समूहों के रूप में भी संगठित हो गये थे। उस काल में व्यापारिक क्षेत्र में बंजारों की भी एक विशेष भूमिका थी जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक वस्तुओं को ले जाने में दक्ष हो गये थे। वे न केवल वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाते थे अपितु ऐसा करते हुए अपना भी व्यापार कर लेते थे। सर्राफों ने धन के लेन-देन, धन को अमानत के रूप में रखने,

धन उधार देने और धन को हुण्डी के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने में दक्षता प्राप्त कर ली थी। हुंडी एक प्रकार का कर्ज लेने या देने अथवा धन देने या पाने का लिखित पत्र था। व्यापारी-वर्ग हुंडी के माध्यम से ही लेन-देन कर लिया करते थे जिससे धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की आवश्यकता नहीं होती थी।

4. बैंकिंग-व्यवस्था

यद्यपि आधुनिक समय की भाँति मुगल-काल में बैंकिग-व्यवस्था नहीं थी परन्तु तब भी कर्ज लेने और देने, आधुनिक बैंक-ड्राफ्ट या चैक की भाँति धन जमा करने या अपना धन लेने और अपने धन को सुरक्षा से बैंक-ड्राफ्ट के समान भेजने की सुविधा मुगल-काल में विभिन्न रूपों में उपस्थित थी। लगान अर्थात् खराज का मुद्रा के रूप में लिया जाना एक ऐसा कारण था जिसकी वजह से गाँव भी मुद्रा-व्यवस्था में सम्मिलित हो गये थे। मुद्रा के व्यापक असर और उसके चलन का लगान, प्रशासन और व्यापार में प्रयोग किया जाना ही मुगल-शासन के अन्तर्गत विकसित हुई बैकिंग-व्यवस्था का मूल कारण था।

गाँवों में मुद्रा-व्यवस्था के कारण एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ था जिसे सर्राफ पुकारते थे। बहुत ही छोटे गाँवों को छोड़कर प्रत्येक गाँव में सर्राफ होते थे। ये सर्राफ धन के लेन-देन और वस्तुओं के क्रय-विक्रय में सम्मिलित होते थे। इसके अतिरिक्त, सर्राफ का एक मुख्य कार्य मुद्रा की ठीक परख करना होता था। उस समय व्यक्ति धातु देकर सरकारी टकसाल में मुद्रा ढलवाने के लिए स्वतंत्र था। इस स्थिति में मुद्रा की सही परख होना आवश्यक था। सर्राफ इस कार्य को सम्पन्न करता था। इस कारण गाँवों में ही नहीं अपितु शहरों में भी बड़ी संख्या में सर्राफ हो गये थे। सर्राफ मुद्रा या सिक्कों की ठीक परख करने के बदले में धन लेता था, घटिया सिक्कों को लेकर और ठीक सिक्के देकर लाभ प्राप्त करता था, पुराने सिक्कों को टकसाल में दुबारा ढलवाने के लिए ले जाता था, किसानों को आवश्यकतानुसार कर्ज देता था तथा शहरों में व्यापारियों या अमीरों को भी ब्याज लेकर कर्ज देता था।

मुगल-काल की व्यापारिक गतिविधियों में बीमा-प्रणाली भी प्रचलित थी। अंग्रेज-फैक्टरियों के कागजों में तथा सुजानराय द्वारा लिखित 'खुलासात-उत-तारीख' में इस प्रकार के विवरण दिये गये हैं। यह कार्य भी सर्राफों द्वारा किया जाता था। व्यापारिक वस्तुओं का बीमा सर्राफ करते थे। उसके दो तरीके थे। एक के द्वारा बीमा करने वाला वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के समय तक उन वस्तुओं का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता था और दूसरे तरीके के द्वारा वह इस उत्तरदायित्व के अतिरिक्त वस्तुओं को उनके निश्चित स्थान तक पहुँचाने का उत्तरदायित्व भी स्वयं लेता था। निश्चय ही अलग-अलग तरीकों के लिए अलग-अलग धनराशि बीमा करने वाले को प्राप्त होती थी।

सर्राफ अपने पास धन को सुरक्षा के लिए भी रखते थे और उस पर ब्याज भी देते थे जो कार्य आधुनिक बैंक करते हैं। अंग्रेज-फैक्टरियों के कागजों से यह पता लगा है कि आरम्भ में अंग्रेज अपनी सम्पूर्ण पूँजी सर्राफों के पास जमा कर दिया करते थे जो उसको अधिक ब्याज पर अन्य व्यापारियों को दे दिया करते थे। सर्राफों के अतिरिक्त धनवान व्यापारी, महाजन और साहूकार आदि भी इस कार्य को करते थे।

सर्राफों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य हुण्डी जारी करना था जो उस समय की बैंकिंग-व्यवस्था में बहुत उपयोगी कार्य था। अबुल फजल के विवरण से यह पता लगता है कि जब

एक व्यक्ति अपने धन को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना चाहता था तब वह किसी सर्राफ या साहूकार के पास जाता था और वह धन उसे दे देता था। वह साहूकार उसे एक हुण्डी दे देता था जो वस्तुतः एक लिखित पत्र था जिसके आधार पर वह व्यक्ति उस स्थान पर जाकर, जहाँ उसे धन भेजना होता था, उस साहूकार के ऐजेण्ट से अपना धन ले लेता था। इस प्रकार उस व्यक्ति को अपने साथ धन ले जाने की आवश्यकता नहीं होती थी जिसमें खतरा था। इस प्रकार, साहूकार की हुण्डी एक आधुनिक चैक या बैंक-ड्राफ्ट के समान थी। हुण्डी इतनी अधिक माननीय और सर्वस्वीकृत थी कि उस पर न किसी गवाही की आवश्यकता थी और न किसी मुहर की। सुजानराय खत्री ने 'खुलासात-उत-तारीख' में हुण्डी के प्रचलन का वर्णन किया है। साहूकारों की इन हुण्डियों का लाभ प्रशासकीय अधिकारी और अमीर-वर्ग भी प्राप्त करते थे। ऐसे अनेक विवरण प्राप्त हुए हैं जिनमें यह दिया गया है कि सरकारी धन भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर साहूकारों की हुण्डियों के माध्यम से पहुँचाया गया था। हुण्डियों के माध्यम से कर्ज लेने और देने का भी कार्य होता था। इसके अतिरिक्त, ये हुण्डियाँ खरीदी और बेची भी जा सकती थीं। इस प्रकार, हुण्डियों के माध्यम से व्यक्तियों, व्यापारियों आदि को पर्याप्त में वे सुविधाएँ प्राप्त थीं जो आधुनिक समय में बैंक प्रदान करते हैं।

विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए जिस प्रकार आधुनिक बैंक ब्याज लेते या देते हैं अथवा पारिश्रमिक-मूल्य अपने कार्य के लिए लेते हैं उसी प्रकार सर्राफों, साहूकारों, सेठों या धन के लेन-देन, बीमा करने आदि से सम्बन्धित सभी व्यक्ति मुगल-काल में भी इस कार्य को व्यवसाय के रूप में करते थे और अपने कार्य अथवा उत्तरदायित्व के बदले में पारिश्रमिक-मूल्य अथवा ब्याज प्राप्त करते थे। ऐसे भी विवरण प्राप्त हुए हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि विभिन्न कार्यों को करने के लिए पारिश्रमिक-मूल्य और ब्याज की दरें प्रायः निश्चित हो गयी थीं, जैसा कि आधुनिक बैंकों के साथ है। अंग्रेज-फैक्टरियों के विवरण से ज्ञात होता है कि 17वीं सदी में देहली से आगरा के लिए दी गयी हुण्डी की अदायगी पर एक प्रतिशत और बुरहानपुर से अहमदाबाद के लिए दी गयी हुण्डी की अदायगी पर 2-1/2% शुल्क था। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्थानों की दूरी और धन की सुरक्षा के अनुपात से हुण्डी जारी किये जाने के पारिश्रमिक-शुल्क में अन्तर होता था। उसी प्रकार सर्राफ या साहूकार जो धन का लेन-देन करते थे उसकी ब्याज में भी अन्तर होता था। विभिन्न स्थानों पर लेन-देन पर ब्याज की दरें भिन्न थीं। उनमें वृद्धि या कमी भी समय-समय पर होती रहती थी। इस क्षेत्र में आधुनिक बैंकों की भाँति उस काल में समानता नहीं थी।

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि मुगल-काल में भारत में ऐसी अर्थ-व्यवस्था थी जो मुद्रा पर आधारित थी और जिसमें बैंकिंग, बीमा आदि की व्यवस्था समुचित रूप में उपस्थित थी यद्यपि उसकी तुलना आधुनिक बैंक-व्यवस्था से किया जाना उचित नहीं है। परन्तु तब भी उस व्यवस्था के अन्तर्गत सभी विकसित व्यापार-पद्धतियाँ सम्मिलित थीं।

यह माना जा सकता है कि अपने युग की परिस्थितियों को देखते हुए भारत की आर्थिक स्थिति मुगल-काल में अच्छी रही थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में भी नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारियों को भारत से बहुत सम्पत्ति प्राप्त हुई थी। 18वीं सदी की बढ़ती हुई अराजकता ने निश्चय ही इस आर्थिक सम्पन्नता को नष्ट कर दिया, यह सत्य है। परन्तु यह समय बाद का था जब मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हो चुका था।

[2]

सामाजिक स्थिति

समाज का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू था। हिन्दू परम्परागत आधार पर विभिन्न जातियों में बँटे हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र समाज के मुख्य वर्ग थे। परन्तु इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में विभिन्न उप-जातियों का निर्माण भी हो गया था। जाति-बन्धन कठोर थे और साधारणतया अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध थे। परन्तु उच्च जातियों और निम्न जातियों में इसके व्यावहारिक प्रयोग में शिथिलता थी। उस समय में भी ब्राह्मणों का मुख्य कार्य अध्यापन और पुरोहिती का था, क्षत्री तथा राजपूत युद्ध करते थे, वैश्य व्यापार और कृषि का कार्य करते थे तथा शूद्रों का कार्य अन्य छोटे-छोटे कार्य, उद्योग तथा सेवा करना था। अछूत वर्ग हिन्दू-समाज का निम्नतर भाग था और वह शूद्रों से भी एक पृथक वर्ग बन गया था। हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्ध, जैन, सिख, पारसी, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मों के व्यक्ति भी भारत में निवास करते थे।

मुसलमान मूलतया दो भागों में बँटे हुए थे। एक भाग अरबी, फारसी, तुर्क, मंगोल, उजबेग, हब्शी, आर्मीनियन आदि विदेशी मुसलमानों का था जो रक्त के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानते थे। समाज और राज्य में उन्हें श्रेष्ठतम सम्मान और पद प्राप्त होता था और सबसे महत्वपूर्ण राजकीय पद उनको प्राप्त होते थे। उनसे अधिक संख्या में भारतीय मुसलमान थे अर्थात् वह मुसलमान जो हिन्दू से मुसलमान बने थे। इन्हें विदेशी मुसलमानों से निम्न स्तर का समझा जाता था यद्यपि इनमें से अनेक ने अपनी योग्यता से समाज और राज्य में सम्मानित स्थान और पद प्राप्त किये थे। दोनों ही प्रकार के मुसलमान धार्मिक वर्गों के आधार पर सुन्नी, शिया, बौहरे, खोजा आदि विभिन्न वर्गों में बँटे हुए थे। इनमें सुन्नी और शिया मुख्य सम्प्रदाय थे। सुन्नी वर्ग बहुसंख्यक था और उसकी स्थिति विशेष सुविधा की थी क्योंकि मुगल बादशाह भी सुन्नी-मतावलम्बी थे। शेख और सैयदों का मुसलमानों में सम्मानपूर्ण स्थान था। मुसलमानों में एक महत्वपूर्ण वर्ग सूफियों का भी था।

भारत में विदेशियों के आने और यहाँ बसने पर कोई प्रतिबन्ध न था। इस कारण भारत के विभिन्न प्रदेशों में यहूदी, चीनी, पुर्तगाली, अंग्रेज, फ्रान्सीसी आदि भी बस गये थे।

मुगल-काल में अनेक योग्य और प्रतिभाशाली स्त्रियाँ हुईं जिन्होंने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया। तुर्क और अफगान-काल में ऐसी योग्य स्त्रियों का प्रायः अभाव रहा था। रानी कर्णवती, रानी जोधाबाई, रानी दुर्गावती, रानी रूपमती, चाँदबीबी, नूरजहाँ और उसकी माँ अस्मत बेगम, मुमताजमहल, जहाँनआरा, रोशनआरा, जैबुन्निसा, शिवाजी की माँ जीजाबाई, राजाराम की पत्नी ताराबाई, काबुल के सूबेदार अमीरखाँ की बीबी साहिबजी आदि ऐसी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने अपने समय की राजनीति और समाज को प्रभावित किया। श्रृंगार-प्रसाधनों, वेश-भूषा, युद्ध-कौशल और राजनीति में समय-समय पर उनका सहयोग महत्वपूर्ण रहा। यह कहा जाता है कि मुगल बादशाहों की राजनीति पर उनकी बेगमों और हरम का प्रभाव बहुत अधिक था। परन्तु योग्य स्त्रियों के ये उदाहरण समाज में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति से बहुत दूर थे। निस्सन्देह, बादशाह, सरदारों और राजपूत-शासकों की स्त्रियों और पुत्रियों को अच्छी शिक्षा दी जाती थी तथा उनमें से अनेक ज्ञान एवं युद्ध-कौशल में प्रवीण हुआ करती थीं परन्तु **जनसाधारण में स्त्रियों की स्थिति बहुत गिरी हुई थी।** साधारणतया स्त्रियों को न तो शिक्षा दी जाती थी,

न समाज में उनका सम्मान था और न ही उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था। बल्कि मुगल बादशाहों, सरदारों, अमीरों तथा धनवान व्यक्तियों की बढ़ती हुई विलासिता की प्रवृत्ति ने स्त्री को केवल विलास-पूर्ति का साधन मात्र बना दिया था। बादशाहों और राज्य के बड़े-बड़े सरदारों के 'हरम' में हजारों स्त्रियाँ सह-पत्नियों, रखैलों और दासियों के रूप में रहा करती थीं। इस्लाम में शराब पीना वर्जित है तथापि सभी बादशाह (औरंगजेब के अलावा) और अमीर शराब पीते थे। स्त्री और शराब दोनों विलासिता की मुख्य सामग्री बन गयी थीं। इस कारण बादशाह और अमीरों के हरम भोग-विलास और अनैतिकता के अड्डे बन गये। अकबर के हरम में करीब 5,000 स्त्रियाँ थीं। यही स्थिति अन्य मुगल बादशाहों की थी। हिन्दू-सरदार और राजा भी इनका अनुकरण करने लगे थे। राजा मानसिंह के हरम में 1,500 स्त्रियाँ थीं। ऐसे वातावरण का समाज पर प्रभाव पड़ना आवश्यक था और इससे स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आयी थी। मुसलमानों और हिन्दुओं दोनों में ही ऐसी कुरीतियाँ आ गयी थीं जिनसे स्त्रियों का सामाजिक स्तर गिर गया था। एक सुन्नी मुसलमान चार स्त्रियों से शादी कर सकता था जबकि शिया इससे भी अधिक स्त्रियों से विवाह कर सकता था। ऐसी स्थिति में मुसलमान स्त्रियों की स्थिति अपने परिवार में सम्मानजनक नहीं रह सकती थी। मुसलमानों में तलाक की व्यवस्था अवश्य थी परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न था। कठोर पर्दा-प्रथा के कारण मुसलमानों में स्त्रियों का सामाजिक जीवन नष्टप्राय था। न वे शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं और न सार्वजनिक जीवन में किसी प्रकार का भाग ले सकती थीं। मुसलमानी प्रभाव और मुख्यतया सम्मान की सुरक्षा के अभाव में हिन्दू-समाज में भी स्त्रियों का स्थान निम्न हो गया था। पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, लड़की के जन्म को अपशकुन मानना, सती-प्रथा, धनवान व्यक्तियों में बहुविवाह आदि सामाजिक कुरीतियाँ हिन्दू-समाज का अंग बन गयीं और स्त्रियों का स्तर समाज में बहुत निम्न हो गया। समाज में हिन्दू-विधवाओं की संख्या बहुत बढ़ गयी, अवैध-सन्तानें भी बड़ी संख्या में होने लगीं, नाचने-गाने का पेशा लोकप्रिय हो गया और वेश्यावृत्ति बढ़ गयी। इस प्रकार शिक्षा और स्वतन्त्रता का अभाव, विभिन्न सामाजिक कुरीतियों का समाज में प्रवेश, असुरक्षा की भावना और बढ़ती हुई विलासिता ने मुगल-काल में स्त्रियों की स्थिति को हीन बना दिया। परन्तु इसमें एक बात अवश्य थी। मुगल-सभ्यता मुख्यतया नगरों तक ही सीमित रही। इससे जनसाधारण का जीवन बहुत गम्भीरता से प्रभावित नहीं हुआ। जनसाधारण इस प्रभाव से मुक्त रहा और गाँवों अथवा नगरों से दूर रहने वाले व्यक्तियों ने साधारणतया अपने परिवारों की स्त्रियों को परम्परागत स्थान प्रदान कर रखा था।

मुगल-काल में वेश-भूषा, श्रृंगार-प्रसाधनों, जेवरों तथा खान-पान आदि में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। उच्च तथा मध्यम श्रेणी के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही अंगरखा तथा चूड़ीदार पाजामा पहनते थे। साधारण हिन्दू धोती तथा मुसलमान पाजामा और कुर्ता पहनते थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पगड़ी या साफे का प्रयोग करते थे यद्यपि इसके बाँधने के तरीके अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग थे। कमर में कमरबन्द और कन्धे पर शाल या दुपट्टा डालने का भी रिवाज था। बादशाह, धनी सरदार तथा व्यक्ति अपने वस्त्रों पर सोना, कसीदा, हीरा-मोती आदि का कार्य भी कराते थे। जूतों अथवा चप्पलों का प्रयोग धनवान व्यक्ति करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही जेवरों का प्रयोग करते थे। पुरुष मुख्यतया कण्ठहार, माला, कुण्डल आदि का प्रयोग करते थे जबकि स्त्रियाँ चूड़ियाँ, कड़े, बाजूबन्द, पायजेब आदि विभिन्न जेवरों का प्रयोग करती थीं। हिन्दू स्त्रियाँ धोती और विभिन्न प्रकार की चोलियों का प्रयोग करती थीं जबकि मुसलमान स्त्रियाँ पाजामा, घाघरा, जाकेट और

दुपट्टे का प्रयोग करती थीं। श्रृंगार के लिए विभिन्न प्रकार के लेप, खूशबूदार तेल, इत्र, काजल, महावर, पान खाना आदि विभिन्न प्रसाधांन प्रयोग में लाये जाते थे। अस्मत बेगम ने गुलाब के इत्र को तैयार करने की विधि का पता लगाया था और नूरजहाँ तथा मुमताजमहल ने श्रृंगार-प्रसाधनों और जेवरों में सुरुचिपूर्ण परिवर्तन किये थे।

हिन्दू और मुसलमानों के भोजन में कोई विशेष अन्तर न था। धनवान व्यक्तियों के भोजन में माँस, पुलाव, रोटी, फल, दूध, घी, मक्खन आदि सभी सम्मिलित थे। भोजन विभिन्न प्रकार से और विभिन्न मसालों से परिपूर्ण बनाया जाता था। धनवान व्यक्तियों का भोजन बहुत श्रेष्ठ होता था और उसकी बहुत सी किस्में होती थीं। जनसाधारण का भोजन दाल, चावल, रोटी, सब्जी, दूध आदि का होता था। माँस का प्रयोग हिन्दू भी करते थे। केवल जैन और बहुत से प्रदेशों के ब्राह्मण ही माँस का प्रयोग नहीं करते थे। मादक-द्रव्यों में शराब, अफीम और तम्बाकू का प्रयोग प्रमुख था।

इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक दृष्टि से भारतीय समाज मुगल-काल में भी विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था और अपनी-अपनी आय के अनुसार प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों की वेश-भूषा, खानपान, निवास-स्थान और रहन-सहन के स्तर में बहुत अन्तर था। बादशाह शान-शौकत और विलासिता का जीवन व्यतीत करता था। मुगल बादशाहों के महल किलों के अन्दर ही होते थे और वह तथा उसका परिवार और सगे-सम्बन्धी श्रेष्ठतम जीवन का उपभोग करते थे और विलासिता की अनेक वस्तुओं को विदेशों से भी मँगाते थे। शाही कारखानों में सर्वप्रथम उसकी और उसके महल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रेष्ठतम पोशाकें, कालीन, पर्दे, फर्नीचर आदि बनाये जाते थे। मुगल बादशाह अत्यधिक धनवान थे और उसी प्रकार उन्होंने अपना जीवन-स्तर बना रखा था। उत्तरकालीन मुगल बादशाह, निस्सन्देह, इसमें अपवादस्वरूप रहे। बादशाह की नकल करते हुए उसके सभी अमीर, सूबेदार, सरदार आदि वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। उनको भी जीवन की श्रेष्ठतम वस्तुएँ उपलब्ध थीं। शहर का व्यापारी वर्ग कई स्तरों में बँटा हुआ था। धनी व्यापारी अमीरों की तरह सभी जीवन-सुविधाओं का उपभोग करते थे यद्यपि वे धन का प्रदर्शन नहीं करते थे। अन्य व्यापारी सुखद जीवन व्यतीत करते थे। उनके पास भी अच्छे निवास-स्थान थे जो ईंट-पत्थरों से बने होते थे। शहरों में अन्य धन-सम्पन्न वर्ग में साधारण व्यापारी तथा सरकारी कर्मचारी थे जो दो मंजिल तक के मकान बनाकर रहते थे। शहरों के कारीगर और मजदूर-वर्ग की स्थिति ठीक नहीं थी। अधिकांशतया वे झोपड़ियों में रहते थे और वहीं पर अपनी व्यावसायिक वस्तुएँ भी तैयार करते थे। इस कारण शहरी-जीवन में धनवान और निर्धन वर्गों के व्यक्तियों की वेशभूषा, खान-पान और रहन-सहन में बहुत अन्तर था। गाँवों में भी आय के आधार पर अन्तर थे। छोटे जमींदार, खुदकाश्त किसान, किराये पर भूमि लेकर खेती करने वाले किसान और किसान-मजदूर की वेशभूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि में अन्तर होना स्वाभाविक था यद्यपि ये अन्तर शहरी-जीवन की तुलना में कम थे।

मनोरंजन के लिए नाच-गाना, नाटक, नौका-विहार आदि के अतिरिक्त अन्य बहुत से खेल थे। शतरंज, चौपड़, ताश, बल्ले के खेल, कुश्ती, जादूगरी आदि जनसाधारण में प्रचलित थे। पशुओं की लड़ाइयाँ, चौगान (पोलो) और जंगली पशुओं का शिकार बादशाह और अमीरों के मनोरंजन के साधन थे।

विभिन्न मेले और उत्सव धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति तथा मनोरंजन दोनों के ही लिए थे। नौरोज, ईद, शबेरात, बारावफात मुसलमानों के त्यौहार थे। होली, दीवाली, दशहरा,

बसन्त, दुर्गा-पूजा, गणेश-उत्सव, आदि हिन्दुओं के प्रमुख त्यौहार थे। इन सभी अवसरों पर तथा बादशाह और शाहजादों के जन्म-दिवस आदि पर दरबार में उत्सव होते थे, विभिन्न स्थानों पर मेले लगते थे और बड़े तथा छोटे, अमीर तथा गरीब सभी इनमें भाग लेते थे। भारतीयों के सामूहिक सामाजिक जीवन में इन मेलों, उत्सवों और त्यौहारों का विशेष महत्व था।

मुगल-काल के सामाजिक जीवन की एक मुख्य विशेषता हिन्दू और मुसलमानों का पहले की तुलना में एक-दूसरे के अधिक निकट आना था। नानक, कबीर, चैतन्य, मलूकदास और दादू जैसे धर्म-प्रचारकों, सूफी सन्तों तथा अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने इस कार्य में बहुत सहयोग दिया। एक लम्बे समय के संघर्ष के पश्चात् हिन्दू और मुसलमान मुगल-काल में एक-दूसरे के स्थान पर मिलकर रहने की अच्छाई समझने लगे थे। इससे भारत का सामाजिक जीवन पहले की तुलना में अधिक उदार और शान्तिपूर्ण बन गया था।

इस प्रकार मुगल-काल के सामाजिक जीवन का अपना एक पृथक स्वरूप था। साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि के साथ बढ़ती हुई विलासिता और उसके साथ बढ़ती हुई अनैतिकता उसमें थी परन्तु सामाजिक शिष्टाचार, जीवन की बढ़ती हुई सुविधाएँ, सुरुचिपूर्ण नागरिक जीवन और सामाजिक स्थिरता भी उसमें थी जिसके फलस्वरूप मुगल-काल में सांस्कृतिक प्रगति सम्भव हुई।

[3]

धार्मिक स्थिति

हिन्दू, इस्लाम, सिख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, आदि विभिन्न धर्मावलम्बी भारत के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। हिन्दू धर्म के मानने वाले इसमें बहुसंख्यक थे। इस समय भी हिन्दुओं ने मुख्यतया भक्ति-मार्ग का अनुसरण किया। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे परन्तु उनमें सबसे प्रमुख सम्प्रदाय वैष्णव-सम्प्रदाय था। वैष्णव-सम्प्रदाय के मानने वाले चार प्रमुख शाखाओं में विभाजित थे। प्रथम सम्प्रदाय रामानुज के समर्थकों का था जो लक्ष्मीनारायण की पूजा और भक्ति में विश्वास करते थे। दूसरा सम्प्रदाय चैतन्य के समर्थकों का था। वे चैतन्य को 'गौरंग महाप्रभु' के नाम से पुकारते थे और श्रीकृष्ण की पूजा तथा भक्ति में विश्वास करते थे। भजन-कीर्तन, रासलीला आदि के द्वारा भावना से ओत-प्रोत होकर नाचना-गाना और कृष्ण को याद करना इनका प्रमुख धार्मिक कार्य था। संस्कृत और बंगला भाषा में उन्होंने बहुत से भजनों और कीर्तनों की रचनाएँ कीं। बंगाल, बिहार, उड़ीसा और उत्तर-प्रदेश में यह सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय था। तीसरा सम्प्रदाय वल्लभाचार्य के समर्थकों का था। वल्लभाचार्य के पुत्र बिट्ठलनाथ और उसके पुत्र गोलकनाथ ने इस सम्प्रदाय को बहुत लोकप्रिय बनाया। यह कृष्ण के पूजक थे और मूर्ति-पूजा पर बल देते थे। इस सम्प्रदाय के समर्थकों में आठ श्रेष्ठ कवि और गायक हुए जिनमें से सूरदास और मीराबाई विशेष लोकप्रिय हुए। उनके द्वारा रचित भजन लाखों व्यक्तियों को प्रेरणा देने वाले सिद्ध हुए। चौथा सम्प्रदाय रामानन्द के समर्थकों का था जो राम-सीता के पुजारी थे। इनके समर्थक विभिन्न छोटे-छोटे सम्प्रदायों में बँट गये और उन्होंने भक्ति पर बल देते हुए भी ईश्वर की उपासना में विश्वास करना सिखाया। दादू, मलूकदास, शिवदयाल जैसे सन्त इन्हीं में से थे और उनमें से प्रत्येक ने एक

नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की। परन्तु इनमें से सभी ने भक्ति-मार्ग पर बल दिया और जाति-प्रथा का विरोध किया। परन्तु उच्च जाति के ऐसे हिन्दू भी थे जो राम-सीता की भक्ति में विश्वास करते हुए भी निर्गुण ईश्वर के इन उपासकों से पृथक रहे। इनका नेतृत्व तुलसीदास ने किया। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' की रचना करके राम-सीता को देवत्व का स्थान प्रदान किया और राम-सीता की भक्ति और पूजा को अत्यन्त लोकप्रिय बनाया। इन विभिन्न सम्प्रदायों में आपस में अन्तर था परन्तु सभी एक बात में एकमत थे। वे सभी ईश्वर से प्रेम और भक्ति में विश्वास करते थे और उसी को ईश्वर-प्राप्ति अथवा मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग मानते थे। इन्होंने भक्ति-मार्ग को भारत में सबसे अधिक लोकप्रिय बना दिया। भक्ति-मार्ग ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति की, भारतीय संस्कृति को दर्शन, भजन, गान, मन्दिरों आदि के निर्माण से समृद्ध बनाया और जनसाधारण के सम्मुख ईश्वर-प्राप्ति का सरल मार्ग प्रस्तुत किया। परन्तु बहुत से अज्ञानी और स्वार्थी व्यक्तियों ने इनका दुरुपयोग भी किया। 'सखी-सम्प्रदाय' ने केवल कृष्ण को ही एकमात्र पुरुष माना और शेष सभी पुरुषों को स्त्री माना। उनके पुरुष-समर्थकों ने स्त्रियों की वेश-भूषा धारण करनी आरम्भ की और स्त्रियों के साथ रासलीलाएँ आरम्भ कर दीं जिससे स्त्री-पुरुषों के अनैतिक सम्बन्ध आरम्भ हुए। इसी प्रकार गुरु को कृष्ण का स्वरूप मानकर स्त्रियों को गुरु को समर्पित करने की रीति से अनाचार फैला। मन्दिरों में भी धन का अपव्यय किया जाने लगा। कृष्ण की रासलीलाएँ भी गलत तरीके से प्रयोग में लायी गयीं और स्त्री-पुरुषों के अनुचित सम्बन्धों को बढ़ावा मिला।

मुसलमानों में सुन्नी, शियाओं, बोहरा तथा खोजाओं जैसे विभिन्न वर्गों के अतिरिक्त एक मुख्य सम्प्रदाय सूफियों का था। यह सम्प्रदाय भारत में मुसलमानी साम्राज्य की स्थापना से पहले ही प्रवेश कर गया था परन्तु तुर्की साम्राज्य की स्थापना के समय से अनेक सूफी सन्त भारत में आकर बस गये और उन्होंने अपने विचारों का प्रचार किया। सूफी-सम्प्रदाय में भी ईश्वर से प्रेम और उसकी भक्ति पर बल दिया गया। यह ठीक है कि सूफी-सम्प्रदाय भारत में विदेशों से आया और उसकी उत्पत्ति इस्लाम के अन्तर्गत हुई परन्तु भारत में आकर इसने बहुत-कुछ हिन्दुओं के वेदान्त-दर्शन से भी प्राप्त किया। मुगल-काल में यह प्रभाव और अधिक स्पष्ट हो गया, मुख्यतया सूफियों के चिश्ती-सम्प्रदाय पर। इस्लाम में व्यक्ति और ईश्वर का सम्बन्ध एक गुलाम और मालिक के सम्बन्धों के समान माना गया है जबकि सूफियों ने व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्धों को एक प्रेमिका और प्रेमी के रूप में व्यक्त किया। यह प्रभाव हिन्दू-धर्म के भक्ति-मार्ग के कारण है। इसी प्रकार अहिंसा और शान्ति की भावना हिन्दू, बौद्ध, जैन और ईसाई धर्म की विशेषता तो मानी जा सकती है परन्तु इस्लाम धर्म की नहीं। परन्तु इसे सूफियों ने स्वीकार किया। इसी प्रकार ईश्वर का ध्यान करना, अपने शरीर को कष्ट देना आदि विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ सूफियों ने भारतीय धर्मों और वातावरण से प्राप्त कीं। मुगल-काल में सूफी-सम्प्रदाय के अनेक सन्त हुए और उन्होंने अपने विचारों से बहुत बड़ी संख्या में व्यक्तियों को प्रभावित किया। सूफी विभिन्न सम्प्रदायों में बँटे हुए थे। मुगल-काल में इनके प्रमुख सम्प्रदाय चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी और नक्शबन्दी थे। फतेहपुरसीकरी के शेख सलीम चिश्ती, शेख अब्दुल कादिर, शेख मीयान मीर, शेख अहमद सरहिन्दी, शेख वली उल्लाह आदि उस समय के मुख्य सूफी सन्त थे। सूफी-सम्प्रदाय ने सादगी, सच्चाई, प्रेम और ईश्वर की एकता पर बल दिया। अधिकांश सूफी सन्त पारिवारिक सन्त थे और विवाह करते थे। संसार में रहते हुए सत्कर्म करना उनका उद्देश्य था। 17वीं और 18वीं सदी में सूफी-सम्प्रदाय हिन्दू और मुसलमान दोनों में पर्याप्त

लोकप्रिय था तथा उसने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में योग दिया। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "सूफी दर्शन ने शासक-वर्ग और शासित प्रजा को निकट लाने का प्रयत्न किया।" भक्ति-मार्ग की प्रेम की भावनाओं के दुरुपयोग से जिस प्रकार दुष्परिणाम निकला था, उसी प्रकार कहीं-कहीं सूफियों के प्रेम की भावना का भी दुरुपयोग किया गया अन्यथा सूफी धर्म का प्रभाव साधारणतया ठीक था।

मुगल-काल की एक मुख्य विशेषता सिख-सम्प्रदाय की उत्पत्ति और विकास था। गुरु नानक (1469-1539 ई.) ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की। नानक स्वयं किसी नवीन सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करना चाहते थे। उनके समय में सिख-सम्प्रदाय का नाम भी यह नहीं था। सिख-धर्म हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत ही एक सुधारवादी आन्दोलन था। सिख नाम 'शिष्य' के अपभ्रंश से पड़ा है जिसे उनके बाद के अनुयायियों ने स्वीकार किया। नानक एक पारिवारिक सन्त थे। उन्होंने धार्मिक समानता, एक ईश्वर, सत्कर्म, नैतिकता, सत्य, ईमानदारी, दया और सज्जनता पर बल दिया। दान करना, ईश्वर (हरि) का स्मरण करना और गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति रखना भी उन्होंने सिखाया। कर्म-सिद्धान्त, जीव के आवागमन के सिद्धान्त और मोक्ष में उनका विश्वास था, परन्तु वे अवतारवाद, कर्मकाण्ड, मूर्ति-पूजा, जाति-विभेद और मौलवियों एवं पण्डितों की श्रेष्ठता के विरुद्ध थे। वे हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर नहीं करते थे और दोनों वर्गों से उन्होंने शिष्य बनाये थे। नानक के पश्चात् सिखों के नौ गुरु और हुए। दूसरे गुरु अंगद ने नानक के उपदेशों का स्थानीय भाषा में संकलन किया। तीसरे गुरु अमरदास ने सिख-सम्प्रदाय के प्रचार के लिए 22 गद्दियों की स्थापना की, सती-प्रथा का विरोध किया, वैवाहिक क्रियाओं को सरल बनाया, पर्दा-प्रथा का विरोध किया और मादक-वस्तुओं के प्रयोग का निषेध किया। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी रामदास को 'देवत्व गुणों' से युक्त बताया और अपने शिष्यों से माँग की कि वे अपनी सम्पत्ति और आत्मा गुरु की इच्छा पर छोड़ दें। चौथे गुरु रामदास हुए जिन्होंने गुरु की गद्दी को पैतृक बनाया और सिखों को यह विश्वास दिलाया कि एक गुरु की आत्मा दूसरे गुरु में स्वतः ही आ जाती है। पाँचवें गुरु अर्जुन ने विभिन्न गुरुओं के उपदेशों का संकलन कराया और 'आदि-ग्रन्थ' की रचना की। उन्होंने ही अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का निर्माण कराया। जहाँगीर ने खुसरो के विद्रोह के अवसर पर गुरु से असन्तुष्ट होकर उन्हें कैद में डाल दिया और वहीं उनकी मृत्यु हुई। छठे गुरु हरगोविन्द ने सिखों को सैनिक बनाने का प्रयत्न आरम्भ किया और शाहजहाँ से उनका संघर्ष हुआ। सातवें गुरु हरराय, आठवें गुरु हरिकिशन, नवें गुरु तेगबहादुर और दसवें गुरु गोविन्दसिंह औरंगजेब के समय में हुए। औरंगजेब के सम्बन्ध इन सभी से खराब रहे और नवें गुरु तेगबहादुर को उसने बन्दी बनाकर कत्ल करा दिया। उनके पुत्र और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को शक्तिशाली सैनिक-सम्प्रदाय (खालसा) में परिवर्तित करने में सफलता पायी और उन्होंने जीवनपर्यन्त औरंगजेब से संघर्ष किया। उनके समय तक सिख-सम्प्रदाय पंजाब में धर्म और राजनीति दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण बन गया। सिख-सम्प्रदाय ने पंजाब के जन-जीवन को अत्यधिक प्रभावित किया। यद्यपि सिख-सम्प्रदाय अपने मूल धर्म की प्रवृत्ति को खोता जा रहा है और उसमें भी अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड सम्मिलित होते जा रहे हैं परन्तु फिर भी मुगल-काल में ही नहीं बल्कि आधुनिक समय में भी उसने भारत के धार्मिक जीवन में महत्वपूर्ण भाग लिया है।

मुगल-काल की एक मुख्य विशेषता हिन्दू और मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता की भावना का उत्पन्न होना था। इस युग के मुख्य धार्मिक सम्प्रदायों और

प्रवर्तकों जैसे भक्ति-मार्ग-प्रचारक, सूफी और सिख-सम्प्रदाय ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में सहयोग प्रदान किया। निरन्तर एक लम्बे समय तक संघर्ष करने के पश्चात्, सम्भवतया, हिन्दू और मुसलमान दोनों एक साथ मिलकर रहने की आवश्यकता अथवा बाध्यता को समझ गये थे। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता और राजनीतिक समानता की नीति ने भी इस कार्य में सहयोग दिया। इस कार्य में एक बाधा औरंगजेब की धार्मिक सहिष्णुता की नीति ने पहुँचायी। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् मराठों, सिखों, राजपूतों और जाटों के राजनीतिक उत्थान के कारण पुनः हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन स्थापित हो गया और भारत में धार्मिक असहिष्णुता के लिए कोई स्थान न रहा। 18वीं सदी में भी हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध निकटता के थे और ये सम्बन्ध उस समय तक बने रहे जब तक अंग्रेजी शासन-काल में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति को नहीं अपनाया गया। इस कारण यह स्वीकार किया जा सकता है कि यद्यपि हिन्दू और मुसलमान मिलकर पूर्णतया एक तो कभी न हो सके परन्तु पहले के तुर्क और अफगान-काल तथा बाद के अंग्रेजी-काल की तुलना में मुगल-काल में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अधिक अच्छे रहे।

मुगल-काल में जनसाधारण का धार्मिक जीवन सरल था। अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड और जादू-टोनों में विश्वास करते हुए भी व्यक्ति अधिकांशतया सदाचारी थे। धार्मिक ज्ञान की दृष्टि से मुगल-काल में कोई विशेष बात नहीं हुई। प्राचीन धर्मों को सुधारने का प्रयत्न अवश्य किया गया था परन्तु यह प्रयत्न अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में पूर्ण सफल नहीं हुआ। अतः धर्म को सहिष्णुता, सरलता, सदाचार, सत्कर्म और पारस्परिक प्रेम तथा सहयोग पर स्थापित करने की आवश्यकता मुगल-काल में भी रही।

[4]

शिक्षा

मुगल-काल में शिक्षा का कोई पृथक विभाग न था और न व्यवस्थित रूप से शिक्षा की कोई योजना ही बनायी गयी थी। 'सद्रों' द्वारा दान के रूप में शिक्षा-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने की परिपाटी थी और उन्हीं की सिफारिश पर विद्वानों को धन, सम्मान और जागीरें दी जाती थीं। इस प्रकार मुसलमानों की शिक्षा पहले की भाँति मदरसों और मकतबों के द्वारा तथा हिन्दुओं की शिक्षा व्यक्तिगत प्रयत्नों एवं धनवान व्यक्तियों की सहायता से पाठशालाओं और विद्यापीठों के द्वारा चलती रही। **परन्तु मुगल बादशाहों ने शिक्षा के महत्व को समझा था। उनमें से प्रायः सभी शिक्षित थे और सभी ने विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया था।** इस कारण मुगल-काल में योग्य व्यक्तियों की शिक्षा का अभाव उस समय तक न रहा जब तक कि मुगल-साम्राज्य शक्तिशाली रहा। इसी कारण इस काल में अच्छी साहित्यिक प्रगति सम्भव हो सकी। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि मुगल-काल में राज्य ने जन-साधारण की शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया और न ही उसके प्रति उत्तरदायित्व का अनुभव किया।

बाबर को एक विद्वान शासक माना गया है और वह साहित्य का प्रेमी था। उसने दिल्ली में एक मदरसा स्थापित किया जिसमें इस्लाम की धार्मिक शिक्षा के अतिरिक्त गणित, भूगोल और नक्षत्र-विज्ञान पढ़ाये जाने की व्यवस्था की गयी। हुमायूँ ने भी दिल्ली में एक मदरसा खोला। शेरशाह और उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी शिक्षा को

राजकीय सहायता प्राप्त थी और शिक्षा का स्तर ठीक रहा। परन्तु उस समय तक शिक्षा में प्रमुख महत्व धार्मिक शिक्षा को दिया गया। अकबर ने यह अनुभव किया कि इस्लाम की धार्मिक शिक्षा को शिक्षा का प्रमुख आधार मानकर चलना शिक्षा की प्रगति के लिए हानिकारक है। अकबर ने विभिन्न स्थानों पर मकतब और मदरसे खुलवाये, हिन्दू पाठशालाओं और विद्यापीठों को सहायता दी तथा उदार धार्मिक विचारों के 'सद्रों' को नियुक्त किया गया। अकबर ने शिक्षा में गणित, भूगोल, नीतिशास्त्र, गृह-विज्ञान, शासन-व्यवस्था, चिकित्साशास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयों की शिक्षा पर बल दिया। उसका विचार था कि केवल धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था पर बल देने से बुद्धि संकुचित हो जाती है। इस कारण संस्कृत विद्यालयों में भी उसने व्याकरण, न्याय और पातंजलि की टीका के अध्ययन पर बल दिया। अकबर ने शिक्षा प्रदान करने के तरीके में भी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। उसका कहना था : "इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए कि वह (विद्यार्थी) स्वयं ही प्रत्येक चीज को समझ सके। अध्यापक उसमें उसकी थोड़ी सहायता अवश्य कर सकता है।" अकबर के इन विचारों का कितना व्यावहारिक प्रयोग किया गया होगा, यह कहना कठिन है। परन्तु अकबर के समय में जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न विद्वान हुए, यह इस बात का प्रमाण है कि अकबर के समय में शिक्षा की ओर समुचित ध्यान दिया गया था। अकबर के समय में हिन्दुओं को मुसलमान मदरसों और मकतबों में स्थान प्राप्त होने लगा जिससे हिन्दुओं ने फारसी भाषा का अध्ययन आरम्भ किया। इसी समय में मुसलमानों ने भी संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। इस आदान-प्रदान के कारण संस्कृत केअनेक ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद सम्भव हो सका। जहाँगीर के समय में भी मदरसों और मकतबों को पूर्ण सहायता मिलती रही। जहाँगीर ने यह नियम भी बनाया था कि यदि किसी सरदार की मृत्यु के पश्चात् उसका कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का उपयोग मदरसों की सहायता के लिए कर लिया जाय। शाहजहाँ के समय में भी मदरसों, मकतबों और हिन्दू-पाठशालाओं को सहायता दी गयी और उनकी संख्या में वृद्धि होती गयी। औरंगजेब के समय में मदरसों और मकतबों को तो सहायता दी गयी परन्तु हिन्दू-पाठशालाओं को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस कार्य में औरंगजेब को पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं हुई क्योंकि अधिकांश पाठशालाएँ व्यक्तिगत प्रयत्नों से चलती थीं न कि राज्य की सहायता से। परन्तु फिर भी हिन्दुओं की शिक्षा पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में राज्य की ओर से शिक्षा की ओर ध्यान दिया जाना सम्भव न हो सका परन्तु विभिन्न प्रान्तों में जो स्वतन्त्र राज्य बने उनमें से अनेक ने शिक्षा और विद्या के प्रसार में भाग लिया। फिर भी 18वीं सदी में बौद्धिक प्रगति का प्रवाह रुक गया था जिसका परिणाम भारत का बौद्धिक दिवालियापन और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति का रुक जाना था।

मुगल-काल में दिल्ली, आगरा, फतेहपुरसीकरी, लखनऊ, अम्बाला, ग्वालियर, कश्मीर, इलाहाबाद, लाहौर, जौनपुर, स्यालकोट, आदि मुस्लिम शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे। बादशाहों, सरदारों और सद्रों की सहायता से अनेक मकतब और मदरसे खोले गये थे। मकतबों और मदरसों में फारसी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि सभी स्थानों पर शिक्षा का तरीका और शिक्षा के विषय एक-समान थे परन्तु विभिन्न विद्वानों के संरक्षण में विभिन्न मदरसे विशिष्ट विषयों की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। जैसे लखनऊ का 'फारंगी महल मदरसा' न्याय की शिक्षा के लिए, दिल्ली का शाह वली उल्लाह का स्कूल परम्परागत मान्यताओं की शिक्षा के लिए और स्यालकोट का मदरसा

व्याकरण की शिक्षा के लिए प्रसिद्ध था। विद्यार्थियों के लिए वार्षिक परीक्षाएँ नहीं होती थीं बल्कि अध्यापक की इच्छा के अनुसार उन्हें कक्षा में प्रवेश मिलता था अथवा उनकी प्रोन्नति की जाती थी। एक विद्यार्थी की योग्यता का मापदण्ड उसके अध्यापक की योग्यता और उसका मदरसा होता था। विद्यार्थियों को तीन प्रकार की उपाधियाँ दी जाती थीं। तर्क और दर्शन के विद्यार्थी को 'फाजिल', धार्मिक शिक्षा के विद्यार्थियों को 'आलिम' और साहित्य के विद्यार्थियों को 'कामिल' प्रमाण-पत्र दिये जाते थे।*

हिन्दुओं की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ और विद्यापीठ होते थे। पाठशालाओं में प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी और विद्यापीठों में उच्च श्रेणी की शिक्षा का प्रबन्ध था। विभिन्न विद्वान अपने घरों पर भी विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान करते थे। **संस्कृत भाषा और साहित्य शिक्षा के मुख्य विषय थे।** इनके अतिरिक्त, धार्मिक साहित्य, भूगोल, चिकित्साशास्त्र, गणित, व्याकरण आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। **हिन्दू शिक्षा में मुसलमानी शिक्षा की अपेक्षा धर्म की शिक्षा का अभाव था।** इस कारण विभिन्न अन्य विषयों की शिक्षा अधिक महत्वपूर्ण थी। **बनारस, मथुरा, इलाहाबाद, अयोध्या, नदिया, मिथिला, श्रीनगर आदि हिन्दुओं की शिक्षा के केन्द्र-स्थान थे।** बनारस प्राचीन काल से हिन्दू-धर्मशास्त्रों, संस्कृत साहित्य तथा संस्कृत भाषा की शिक्षा का केन्द्र रहा था। उस समय भी वह शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र था। यात्री बर्नियर ने बनारस की तुलना ग्रीस के एथेन्स नगर से की थी। टैवर्नियर ने भी शिक्षा के क्षेत्र में बनारस की प्रशंसा की थी। इसी प्रकार, बंगाल में नदिया शिक्षा का बहुत बड़ा केन्द्र बन गया था। शिक्षा का उससे भी प्राचीन केन्द्र बिहार में मिथिला नगर था। हिन्दुओं का शिक्षा की ओर अधिक झुकाव था। पाठशालाएँ नगरों और गाँवों तक फैली हुई थीं जो साधारणतया मन्दिरों से जुड़ी हुई थीं और जहाँ पर विद्यार्थी प्रायः चार वर्ष निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करता था। पाँच वर्ष की आयु में बच्चे को पाठशाला भेज दिया जाता था। पाठशाला में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार विद्यापीठ में प्रवेश के लिए जा सकता था।

लड़कियों की शिक्षा के लिए कोई पृथक व्यवस्था न थी और न उनके अध्ययन के विषय ही पृथक थे। **पाठशालाओं में लड़के और लड़कियाँ साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते थे।** हिन्दू अपनी लड़कियों की शिक्षा में अधिक रुचि लेते थे। परन्तु लड़कियों में उच्च शिक्षा का अभाव था। धनवान व्यक्ति अपनी लड़कियों की शिक्षा का प्रबन्ध अपने घर पर ही करते थे और उन्हीं को उच्च शिक्षा सुलभ हो सकती थी। इसी प्रकार, शाहजादों की शिक्षा के लिए योग्य विद्वानों की नियुक्ति की जाती थी।

मुगल-काल की इस प्रकार की **शिक्षा-व्यवस्था इस दृष्टिकोण से समुचित मानी जा सकती है कि मध्ययुगीन परम्परा के अनुसार मुगल बादशाहों के संरक्षण में शिक्षा को सहायता दी जाती थी, समाज के उच्च वर्ग को शिक्षा की सुविधा प्राप्त थी, फारसी भाषा को राजभाषा बनाकर शिक्षा में समानता और एकता लाने का प्रयत्न किया गया था, विद्वानों को दरबार में आश्रय प्राप्त होता था और जब तक मुगल-साम्राज्य दृढ़ रहा तब तक शिक्षा-संस्थाओं को सुरक्षा और प्रगति करने का अवसर प्राप्त होता रहा था। एक अन्य दृष्टिकोण से यह शिक्षा-प्रणाली दोषपूर्ण थी और अपर्याप्त थी।** इसमें

---

* डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव : **मध्ययुगीन भारतीय सभ्यता ।**

धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया गया था, राज्य की ओर से जनसाधारण की शिक्षा का प्रयत्न नहीं किया गया था, और इसमें राज्य के प्रयास कम और व्यक्तिगत प्रयास अधिक थे। स्त्री-शिक्षा प्रायः नाममात्र के लिए थी। इसमें विभिन्न तकनीकी, औद्योगिक और व्यावसायिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इस प्रकार की शिक्षा एक व्यक्ति केवल अपने परिवार से, किसी कुशल व्यक्ति के साथ कार्य करने से अथवा शाही कारखानों में कार्य करने से ही प्राप्त कर सकता था। ऐसी स्थिति में ऐसी शिक्षा की प्रगति सम्भव न थी। इस कारण भारत इन क्षेत्रों में अन्य देशों से पिछड़ गया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी प्रगति सम्भव नहीं हुई। 18वीं सदी में उत्पन्न हुई व्यवस्था ने शिक्षा के क्षेत्र को और अधिक सीमित कर दिया। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी यह स्वीकार किया जा सकता है कि चाहे राज्य के प्रयत्न हों अथवा व्यक्तिगत, मुगल-काल में अपने युग की परिस्थितियों के अनुसार शिक्षा में कमी न थी। इसी कारण इस युग में हमें साहित्य और ललित-कलाओं की दृष्टि से अभाव प्रतीत नहीं होता। यदि इस शिक्षा में कोई दोष था तो यह कि इसने तकनीकी और औद्योगिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया तथा बाद के समय की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो गयी और इसका भाग्य राजनीतिक परिस्थितियों से बँध गया।

[5]

साहित्य

साहित्यिक दृष्टि में मुगल-काल प्रगतिशील था। इस समय में विभिन्न भाषाओं के साहित्य का निर्माण हुआ। नवीन रचनाएँ और अनुवाद दोनों ही दृष्टि से इस समय में महत्वपूर्ण कार्य हुआ। **फारसी, संस्कृत, हिन्दी आदि के अतिरिक्त उर्दू भाषा का विकास भी उस काल में हुआ तथा विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई।**

1. फारसी-साहित्य

मुगल-काल में फारसी (Persian) साहित्य की विशेष प्रगति हुई। अकबर के अलावा अन्य सभी मुगल बादशाह शिक्षित थे और सभी ने साहित्यिक प्रगति में सहयोग प्रदान किया। मुगल-राज्य का संस्थापक बाबर एक विद्वान शासक था और उसके दरबार में विद्वानों का आदर किया जाता था। उसने अपनी आत्मकथा 'तुजुके-बाबरी' अथवा 'बाबरनामा' तुर्की में लिखी थी और वह इतनी श्रेष्ठ मानी गयी कि तीन बार उसका फारसी में अनुवाद किया गया और विभिन्न यूरोपियन भाषाओं में भी उसका अनुवाद हुआ। बाबर तुर्की और फारसी में कविता करता था। उसका कविता-संग्रह 'दीवान' (तुर्की) बहुत प्रसिद्ध हुआ। हुमायूँ तुर्की तथा फारसी साहित्य का अच्छा ज्ञाता था तथा उसे दर्शन, गणित और नक्षत्र-विज्ञान का भी ज्ञान था। उसने विभिन्न विद्वानों को अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया। अकबर स्वयं शिक्षित न था परन्तु उसने अपनी उदारता से ऐसा वातावरण बनाया जिससे उसके समय में साहित्यिक प्रगति सबसे अधिक हुई। उसने फारसी भाषा को राजभाषा बनाया और संस्कृत, अरबी, तुर्की, यूनानी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ पुस्तकों का अनुवाद करने के लिए एक 'अनुवाद-विभाग' (Translation Department) स्थापित किया। उसके समय में अनेक विद्वानों को राज्य का संरक्षण प्राप्त हुआ। जहाँगीर स्वयं शिक्षित विद्वान और आलोचक था। उसने अपने शासन-काल के 17वें वर्ष तक अपनी आत्मकथा 'तुजुके-जहाँगीरी' को लिखा यद्यपि उसके पश्चात् यह कार्य मोतमिदखाँ को दे

दिया गया। जहाँगीर के दरबार में विद्वानों का सम्मान था जिन्होंने मूल पुस्तकों की रचना की। जहाँगीर के समय में अनुवाद का कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। शाहजहाँ के समय में भी अनेक विद्वान हुए और उसके पुत्र दाराशिकोह के प्रयत्नों के कारण संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। औरंगजेब स्वयं एक श्रेष्ठ विद्वान था यद्यपि उसे कविता और इतिहास की पुस्तकों से घृणा थी। उसके समय में भी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मुहम्मदशाह के समय तक तो फारसी भाषा राजसभा बनी रही परन्तु उसके पश्चात् उसका स्थान उर्दू ने ले लिया। परन्तु फिर भी बाद के समय में अनेक पुस्तकें फारसी में लिखी जाती रहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण मुगल-काल में फारसी-साहित्य को राज्य का संरक्षण प्राप्त होता रहा और उसकी प्रगति होती रही।

फारसी-साहित्य में मुख्य स्थान आत्मकथाओं एवं ऐतिहासिक पुस्तकों का है। बाबर की आत्मकथा 'तुजुके-बाबरी', अबुल फजल का 'अकबरनामा' और 'आइने-अकबरी', निजामुद्दीन अहमद का 'तबकाते अकबरी', गुलबदन बेगम का 'हुमायूँनामा', जौहर का 'तजकिरातुल वाकयात', अब्बास सरवानी का 'तौफाये-अकबरशाही' उर्फ 'तारीखे शेरशाह', 1,000 वर्षों का इस्लाम का इतिहास बनाम 'तारीखे अलफी', जिसे विभिन्न विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्न से लिखा गया, बदायूँनी का 'मुन्तखब-उत-तवारीख', अहमद यादगार का 'तारीखे सलातीने अफगाना', बयाजिद सुल्तान का 'तारीखे हुमायूँ' और फैजी सरहिन्दी का 'अकबरनामा' आदि इतिहास की वे रचनाएँ हैं जो (तुजुके-बाबरी को छोड़कर) अकबर के समय में लिखी गयीं। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुजुके-जहाँगीरी' को लिखा और उसी के समय में मोतमिदखाँ ने उसकी अधूरी आत्मकथा को पूरा करने के अतिरिक्त 'इकबालनामा-ए-जहाँगीर', ख्वाजा कामगर ने 'मअस्सरे जहाँगीर', और नियामतउल्ला ने 'मकज्जम-ए-अफगानी', मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने 'तारीखे-फरिश्ता' और मुल्ला नहबन्दी ने 'मअस्सरे रहीनी' को लिखा। शाहजहाँ के समय की पुस्तकों में अब्दुल हमीद लाहौरी का 'पादशाहनामा', अमीनाई काजविनी का 'पादशाहनामा', इनायतखाँ का 'शाहजहाँनामा' और मुहम्मद सालेह का 'आलमे सालेह' प्रमुख हैं। औरंगजेब इतिहास की पुस्तकों की रचना में विश्वास नहीं करता था परन्तु फिर भी उसके समय में विद्वानों ने स्वयं ही कुछ श्रेष्ठ पुस्तकों की रचना की। उनमें खफीखाँ की 'मुन्तखब-उल-लुवाब', मिर्जा मुहम्मद काजिम का 'आलमगीरनामा', मुहम्मद सकी का 'नुएक दिलकुशा', ईश्वरदास का 'फतुहात-ए- आलमगीरी', और सुजानराय की 'खुलासात-उत-तारीख' प्रमुख हैं। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में भी अनेक ऐतिहासिक पुस्तकें लिखी गयीं। इनमें से अधिकांश की रचना मुगल दरबार के विद्वानों ने की और अधिकांश की रचना विभिन्न प्रान्तीय स्वतन्त्र सरदारों के संरक्षण में रहने वाले विद्वानों ने की। इनमें से प्रमुख गुलाम हुसैन की 'सिदरुल-मुतखारीन', मुहम्मद अली की 'तवारीखे मुजफ्फरी', हरिचरन दास की 'तवारीख चहार गुलजारे शुजाई' आदि प्रमुख हैं।

फारसी में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य अन्य विभिन्न भाषाओं की पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया जाना था। संस्कृत की पुस्तकों में से 'महाभारत' का अनुवाद नकीब खाँ, बदायूँनी, अबुल फजल, फैजी आदि विभिन्न विद्वानों के सम्मिलित प्रयत्नों से किया गया। बदायूँनी ने रामायण का अनुवाद किया। उसने 'अथर्ववेद' को आरम्भ किया और उसकी पूर्ति हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने की। 'लीलावती' का अनुवाद फैजी ने किया, 'राजतरंगिणी' का अनुवाद शाह मुहम्मद शाहाबादी ने, 'कालियदमन' का अबुल फजल ने, 'नल-दमयन्ती' का

फैजी ने और 'हरिवंश' का अनुवाद मौलाना शेरी ने किया। ये सभी कार्य अकबर के समय में हुए। शाहजहाँ के समय में उसके पुत्र दाराशिकोह के प्रोत्साहन से इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया गया। उसने उपनिषदों, भगवद्गीता और योगवशिष्ठ का अनुवाद फारसी में कराया। स्वयं दाराशिकोह ने एक मौलिक पुस्तक 'मंजुल-बहरीन' (दो समुद्रों का मिलन) लिखी जिसमें उसने हिन्दू और इस्लाम धर्म को एक ही ईश्वर की प्राप्ति के दो मार्ग बताये। इसके अतिरिक्त अरबी, तुर्की और ग्रीक भाषाओं के बहुत से ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया गया। बाइबिल का अनुवाद किया गया और कुरान की बहुत-सी टीकाओं का फारसी में अनुवाद हुआ। औरंगजेब ने बहुत से अरबी ग्रन्थों की सहायता लेकर फारसी में न्याय और कानून की एक पुस्तक 'फतवा-ए-आलमगीर' की रचना करायी।

फारसी-कविता के क्षेत्र में भी कार्य किया गया यद्यपि वह बहुत श्रेष्ठ कोटि का न बन सका। हुमायूँ ने स्वयं कुछ पद्यों की रचना की थी। अकबर के समय में फैजी, गिजाली और उर्फी फारसी के महत्वपूर्ण कवि हुए। अबुल फजल ने अकबर के दरबार के 59 कवियों के बारे में बताया है। जहाँगीर और नूरजहाँ को भी कविता करने का शौक था। शाहजहाँ की पुत्री जहाँनआरा तथा औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा भी कवियित्रियाँ थीं। अधिकांश कविताओं का विषय 'प्रेम' था और वह गजल, रुबाइयाँ आदि के रूप में तैयार की गयी थीं।

विभिन्न बादशाहों और सरदारों द्वारा लिखे गये पत्र भी फारसी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। अबुल फजल और औरंगजेब द्वारा लिखे गये अनेक पत्रों को बहुत श्रेष्ठ माना गया है। मुनीर, राजा जयसिंह, अफजलखाँ और सादुल्लाखाँ द्वारा लिखे गये पत्र भी प्रशंसनीय हैं।

2. हिन्दी-साहित्य

मुगलों के भारत में आने के समय तक हिन्दी भाषा ने साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण कर लिया था। बाबर, हुमायूँ और शेरशाह के समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ परन्तु व्यक्तिगत प्रयासों से 'पद्मावत' और 'युगावत' नामक दो श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना हुई। इसके अतिरिक्त हिन्दी के कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना भी इस समय तक हो चुकी थी। अकबर की उदारता और धार्मिक सहनशीलता की नीति ने हिन्दी-साहित्य के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। उसके समय में हिन्दी को राजकीय संरक्षण प्रदान किया गया। परन्तु हिन्दी-साहित्य का निर्माण केवल दरबार के संरक्षण पर ही निर्भर नहीं रहा, व्यक्तिगत प्रयसों के कारण भी महान् ग्रन्थों की रचना इस काल में हुई। राजा बीरबल, राजा मानसिंह, राजा भगवानदास, नरहरि और हरिनाथ राजदरबार से सम्बन्धित विद्वान थे। नन्ददास, विट्ठलनाथ, परमानन्ददास, कुम्भनदास आदि ऐसे कवि थे जिन्होंने अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों से हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। इसके अतिरिक्त ऐसे अन्य अनेक व्यक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की सेवा की। परन्तु उस समय के हिन्दी विद्वानों में तुलसीदास और सूरदास का विशेष महत्व है। तुलसीदास ने प्रायः 25 ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। तुलसीदास का राजदरबार से कोई सम्बन्ध न था। उनका जीवन अधिकांशतया बनारस में व्यतीत हुआ। परन्तु उन्होंने जिस प्रकार के दोहों और चौपाइयों की रचना की उनकी नकल करने के प्रयत्न भी असफल हुए हैं। उनकी रचनाओं को भाव, भावना, भाषा आदि सभी

दृष्टियों से श्रेष्ठतम माना गया है। उतना ही श्रेष्ठ स्थान कृष्ण-भक्त सूरदास का है। अब्दुर्रहीम खानाखाना से उनका सम्पर्क रहता था। वह अन्धे थे और आगरा में ही रहते थे। उन्होंने 'सूर-सागर' में जिन पदों का संग्रह किया है वह भक्ति-रस की श्रेष्ठतम रचनाएँ मानी गयी हैं। इस समय में एक महत्वपूर्ण स्थान मीराबाई का भी है जिनके भजन हिन्दी-साहित्य में अभी तक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। परन्तु अकबर के समय का हिन्दी-साहित्य अब्दुर्रहीम खानखाना और रसखान की रचनाओं को सम्मिलित किये बिना पूरा नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से मुसलमानों ने भी हिन्दी-साहित्य की सेवा की तथा अब्दुर्रहीम ने सैकड़ों पद, दोहे और सतसैया तथा कृष्ण-भक्ति पर लिखे रसखान के भजन और 'प्रेमवाटिका' नामक काव्य-ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं। अकबर का समय हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल था, यह निस्सन्देह स्वीकार किया जा सकता है।

जहाँगीर और शाहजहाँ ने हिन्दू विद्वानों का सम्मान किया। जहाँगीर का भाई दानियाल हिन्दी में कविता करता था और जहाँगीर के दरबार में वृक्ष-राय (बूटा), राजा सूरजसिंह, अगरूप गोसाईं, राय मनोहरलाल और बिशनदास जैसे हिन्दी के विद्वान थे। शाहजहाँ के काल में भी हिन्दी की पर्याप्त प्रगति हुई। सुन्दर कविराय जिन्होंने 'सुन्दर-श्रृंगार' लिखा, सेनापति जिन्होंने 'कवित्त रत्नाकर' लिखा, कवीन्द्र आचार्य जिन्होंने 'कवीन्द्र कल्पतरु' नामक कविता को मिश्रित अवधि और ब्रजभाषा में लिखा तथा शिरोमणि मिश्र, बनारसीदास, भूषण, मतिराम, वेदांगराय, हरीनाथ आदि हिन्दी के विद्वान शाहजहाँ से संरक्षण प्राप्त किये हुए थे। इसके अतिरिक्त कवि देव ने अनेक धार्मिक कविताओं की रचना की, पन्ना के प्राणनाथ ने जिन्होंने प्राण-पन्थी सम्प्रदाय को आरम्भ किया और अहमदाबाद के दादू ने जिन्होंने दादू-पन्थी सम्प्रदाय को आरम्भ किया, अनेक धार्मिक कविताओं की रचना की। हिन्दी के महान् कवि बिहारी को राजा जयसिंह का संरक्षण प्राप्त हुआ था। उनके द्वारा रचित दोहे अभी तक हिन्दी में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। महाकवि केशवदास इसी समय में ओरछा में हुए। उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'अलंकार-मंजरी' का हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। औरंगजेब ने हिन्दी को संरक्षण नहीं दिया परन्तु फिर भी हिन्दू-राजाओं के संरक्षण और व्यक्तिगत प्रयत्नों से 18वीं सदी तक हिन्दी की निरन्तर प्रगति होती रही।

3. संस्कृत-साहित्य

उस युग में संस्कृत-साहित्य में श्रेष्ठ मौलिक रचनाओं का अभाव रहा परन्तु फिर भी संस्कृत भाषा की स्थिति पूर्ववर्ती सल्तनत-काल से अच्छी रही। अकबर ने संस्कृत के विद्वानों का सम्मान किया। अबुल फजल ने अपने समय के संस्कृत के अनेक विद्वानों का उल्लेख किया है। उसके समय में संस्कृत और फारसी भाषा का एक कोष 'फारसी-प्रकाश' तैयार किया गया। अनेक हिन्दू और जैन आचार्यों ने संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थों की रचना की। दरभंगा के महेश ठाकुर ने अकबर के समय का इतिहास संस्कृत में लिखा, जैन विद्वान पद्मसुन्दर ने 'अकबरशाही श्रृंगार-दर्पण' लिखा, जैन आचार्य सिद्धचन्द्र उपाध्याय ने 'भानुचन्द्र चरित्र' में अकबर के दरबार में गये जैन साधुओं के बारे में लिखा और देवविमल तथा अन्य विद्वानों ने भी संस्कृत में अपनी रचनाएँ लिखीं। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी अकबर की परम्परा को स्थापित रखा। शाहजहाँ के समय तक राजदरबार में संस्कृत के विद्वानों को आश्रय मिलता रहा। कवीन्द्र आचार्य सरस्वती और जगन्नाथ पण्डित राज्य के कवि थे और जगन्नाथ पण्डित ने 'रस-गंगाधर' और 'गंगा-लहरी' की रचना की थी। औरंगजेब ने संस्कृत को

संरक्षण देना समाप्त कर दिया। हिन्दू-राजाओं से इसे संरक्षण मिलता रहा परन्तु बाद में इसकी प्रगति अवरुद्ध हो गयी।

4. उर्दू-साहित्य

तुर्क और अफगान-काल में ही उर्दू भाषा का निर्माण हो चुका था। पहले इसे 'जवान-ए-हिन्दवी' पुकारा गया परन्तु बाद में इसका नाम उर्दू हो गया। उर्दू की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। मुहम्मद हुसैन आजाद इसे फारसी और ब्रजभाषा के सम्पर्क का परिणाम मानते हैं, महमूद शेरवानी ने इसे फारसी, पंजाबी तथा सिन्धी के सम्पर्क का परिणाम बताया है, डॉ. मसूद हुसैन ने इसे फारसी और हरियाणवी भाषा के सम्पर्क का परिणाम बताया है, तथा डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव ने इसे दिल्ली और पश्चिमी उत्तर-प्रदेश में सदियों से बोली जाने वाली वह भाषा माना है जिस पर फारसी भाषा का भी प्रभाव पड़ा। अमीर खुसरो पहला विद्वान था जिसने उर्दू भाषा को अपनी कविताओं का माध्यम बनाया। उसके पश्चात् सूफी सन्तों और भक्ति-मार्ग के कुछ सन्तों ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए इसका प्रयोग किया तथा इसे लोकप्रिय बनाने में सहायता दी। परन्तु उर्दू को किसी भी तुर्क अथवा अफगान-शासक ने मान्यता प्रदान नहीं की। शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने उर्दू को कोई संरक्षण प्रदान नहीं किया। **मुगल बादशाहों में से मुहम्मदशाह (1719-48 ई.) पहला बादशाह था जिसने उर्दू को प्रोत्साहन दिया।** उस समय तक दक्षिण-भारत के मुसलमानी राज्यों में यह भाषा लोकप्रिय हो चुकी थी। मुहम्मदशाह ने दक्षिण के प्रसिद्ध कवि शम्सुद्दीन वली को अपने दरबार में बुलाकर सम्मानित किया। उसके पश्चात् धीरे-धीरे फारसी भाषा को समझने की कठिनाई तथा बादशाहों के संरक्षण के कारण उर्दू लोकप्रिय भाषा बन गयी। धीरे-धीरे इसमें हिन्दी के शब्दों के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया और फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग होने लगा। इसमें अनेक लोकप्रिय शायर हुए और दिल्ली तथा उत्तर-प्रदेश में यह भाषा पर्याप्त लोकप्रिय हो गयी। 19वीं सदी में अंग्रेजों ने भी उर्दू को प्रोत्साहन दिया और उत्तर-भारत के एक बड़े भाग में यह भाषा लोकप्रिय बन गयी तथा अनेक विद्वानों ने अपने लेखन से इसे साहित्यिक दृष्टि से समृद्ध बनाया।

उपर्युक्त भाषाओं के साहित्य के निर्माण के अतिरिक्त मुगल-काल में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं, जैसे बंगाली, गुजराती, तमिल, तेलुगू, मराठी, पंजाबी आदि भाषाओं की भी प्रगति हुई। भक्ति-मार्ग के विभिन्न प्रचारकों के अतिरिक्त प्रान्तीय सूबेदारों के संरक्षण और व्यक्तिगत प्रयत्न इनके विकास के लिए उत्तरदायी हुए। अनेक विद्वानों ने धार्मिक साहित्य और वीरगाथाओं का निर्माण किया। पृथ्वीराज राठौर राजस्थानी भाषा का महान् कवि हुआ तथा बंगला-साहित्य में कृष्णदास कविराज और वृन्दावन ने महत्वपूर्ण कार्य किया।

इस प्रकार, मुगल-काल में साहित्यिक दृष्टि से बहुत उन्नति हुई और इस दृष्टि से यह युग भारतीय इतिहास में गौरवपूर्ण माना गया है।

[6]

कला

1. स्थापत्य-कला

ललित-कलाओं के विकास की ओर मुगल बादशाहों ने पूर्ण ध्यान दिया। उनमें श्रेष्ठ स्थान स्थापत्य-कला (वास्तुकला) का है। मुगल बादशाहों को इमारतें बनवाने का शौक था।

शाहजहाँ के समय तक अनेक ऐसी इमारतों का निर्माण हुआ जो अभी तक स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट नमूने माने जाते हैं।

जिस कला को मुगल-स्थापत्य-कला पुकारा गया है वह मध्य-एशिया की इस्लामी कला और भारतीय हिन्दू-कला का मिश्रित रूप है। अकबर ने इस कला के निर्माण में सहयोग दिया। जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में अकबर का दृष्टिकोण राष्ट्रीय था उसी प्रकार ललित-कलाओं के क्षेत्र में भी उसका दृष्टिकोण राष्ट्रीय रहा और उसने इच्छा एवं सुविधा के अनुसार हिन्दू-कला और कलाकारों का उपयोग अपनी इमारतें बनवाने के लिए किया। उससे पहले के दिल्ली-सुल्तानों के समय में भी इस्लामी-कला को हिन्दू-कला प्रभावित कर चुकी थी। अकबर की उदारता ने उसे और आगे बढ़ा दिया। हिन्दू-कलाकारों का बहुसंख्यक मात्रा में होना और भारतीय जलवायु के अनुकूल इमारतों का निर्माण करना भी इस्लामी और हिन्दू-कला के निर्माण के लिए उत्तरदायी बने। इस प्रकार, अकबर के समय से इस्लामी और हिन्दू-कला के मिश्रण से जिस स्थापत्य-कला का विकास हुआ उसे राष्ट्रीय स्थापत्य-कला स्वीकार किया जा सकता है। इस कला में इस्लामी-कला से गोल गुम्बद, ऊँची-ऊँची मीनारें और मेहराब, छतें, खम्भे और नुकीली मेहराबें ली गयी थीं। आरम्भ में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया तथा इमारतों को विशाल एवं मजबूत बनाने पर बल दिया गया लेकिन बाद में इन इमारतों में सफेद संगमरमर के प्रयोग को सम्मिलित किया गया तथा उन्हें नक्काशी, सोने-चाँदी के पानी के प्रयोग और रंगीन बेल-बूटों आदि के द्वारा अत्यधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया गया। यह सभी कुछ मिलाकर मुगल-स्थापत्य-कला श्रेष्ठ बनी और इस समय में भव्य इमारतों का निर्माण हुआ।

प्रथम मुगल बादशाह बाबर इमारतें बनवाने का शौकीन था और उसने पाया कि भारत में मजदूरी बहुत सस्ती है। उसके समय में हजारों मजदूरों ने आगरा, बयाना, धौलपुर आदि स्थानों पर इमारतें बनाने का कार्य किया। बाबर राजा मानसिंह और राजा विक्रमाजीत द्वारा बनवायी गयी ग्वालियर की इमारतों से बहुत प्रभावित हुआ था यद्यपि कला का पारखी होने के कारण वह उनके दोषों को भी समझ सका था। अपने अल्प-शासनकाल में बाबर ने बड़ी इमारतों को बनवाने का कार्य नहीं किया। उसने कुएँ, तालाब, फव्वारे, स्नानगृह आदि ही बनवाये जो समय के प्रभाव के कारण नष्ट हो गये अथवा सूर-वंश के शासकों द्वारा नष्ट कर दिये गये। उसके समय की केवल तीन मस्जिदें प्राप्त होती हैं। उसके द्वारा बनवायी गयी एक मस्जिद पानीपत में काबुलीबाग में है और दूसरी रुहेलखण्ड में सम्भल में है। ये दोनों मस्जिदें 1529 ई. में तैयार की गयी थीं। उसके समय की तीसरी मस्जिद अयोध्या में है। परन्तु इन तीनों में से किसी को भी कला का श्रेष्ठ नमूना नहीं माना जा सकता है। हुमायूँ भी कला के विकास की दृष्टि से कोई सराहनीय कार्य नहीं कर सका। 'दीनपनाह' नामक उसका महल शेरशाह द्वारा नष्ट कर दिया गया और आगरा तथा फतेहाबाद में बनवायी गयी उसकी दो मस्जिदें कला के अच्छे नमूने नहीं माने जा सकते।

शेरशाह द्वारा बनवाया गया सहसराम (बिहार) का स्वयं का मकबरा मुगल इमारतों में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। परन्तु वह इस युग की कला का एक श्रेष्ठतम नमूना है। एक विशाल झील के मध्य में बना हुआ शेरशाह का यह मकबरा उसके 'व्यक्तित्व का प्रतीक', तुगलक बादशाहों की इमारतों की सादगी और शाहजहाँ की इमारतों की स्त्रियोचित सुन्दरता के बीच की कड़ी, 'उत्तर-भारत की इमारतों में एक श्रेष्ठ इमारत' आदि पुकारा गया है। हिन्दू और इस्लामी-कला का प्रभाव इसमें स्पष्ट है। दिल्ली में

'पुराना किला' और उसमें बनी हुई मस्जिद (किला-ए-कुहना) भी शेरशाह ने बनवायी थी। परन्तु 'पुराना किला' तो अब अवशेष मात्र ही है।

अकबर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत दिल्ली में बना हुआ हुमायूँ का मकबरा है। इसे अकबर की सौतेली माँ हाजी बेगम ने फारसी कलाकार मीरन मिर्जा गियास की सेवाएँ उपलब्ध करके बनवाया था। इस पर फारसी कला का प्रभाव है। लम्बी गर्दन वाले गुम्बद की इस इमारत की कला की समता समरकन्द में बने हुए तिमूर या बीबी खानम के मकबरे से की जा सकती है। मकबरे के चारों ओर चारबाग की रचना की गयी है। अपनी इमारतों को बागीचों का निर्माण करके सुन्दर बनाना मुगल-स्थापत्य-कला की एक मुख्य विशेषता रही। उस विशेषता का प्रयोग इस मकबरे में भी किया गया है। इमारत के मुख्य कक्ष से पानी के बहने के लिए नालियाँ निकाली गयी हैं जिनके बीच में बराबर दूरी पर फव्वारे बनाये गये हैं। मकबरे में आने-जाने के लिए पक्के रास्ते बनाये गये हैं जिनके किनारे-किनारे फूलों की क्यारियाँ हैं। इमारत में विस्तृत रूप से घास के लॉन भी बनाये गये हैं। मुगलों द्वारा आरम्भ में बनायी गयी इमारतों में हुमायूँ का मकबरा सबसे अधिक सुन्दर है। वह मजबूत भी है जिसके कारण अभी तक पूर्णतया सुरक्षित है।

हुमायूँ का मकबरा बनवाने में अकबर ने कोई भाग नहीं लिया था। इसके पश्चात् की बनी सभी इमारतों पर अकबर के व्यक्तित्व और विचारों की छाप है। अकबर के समय में आगरा, लाहौर और इलाहाबाद के किले बनवाये गये, उनमें बहुत सी इमारतें बनवायी गयीं और फतेहपुरसीकरी के नगर और उसमें अनेक इमारतों का निर्माण-किया गया। आगरा और लाहौर के किले तथा फतेहपुरसीकरी की अनेक इमारतें अब भी हैं लेकिन इलाहाबाद के किले की बहुत सी इमारतें नष्ट हो गयी हैं। इन सभी इमारतों के बनाने में लाल पत्थर का प्रयोग किया गया है। इनमें हिन्दू तथा इस्लामी कलाओं का खुलकर प्रयोग हुआ है। आगरा का किला करीब 15 वर्षों में बना और इसी के साथ-साथ लाहौर के किले का भी निर्माण हुआ। इलाहाबाद का किला कुछ समय बाद का है। इनकी दीवारें इतनी सुदृढ़ बनायी गयी हैं कि पत्थरों के जोड़ों के बीच में से बाल तक नहीं निकल सकता। आगरा के किले में पहले चार प्रवेश-द्वार थे परन्तु बाद में दो बन्द कर दिये गये। शेष दो द्वारों में से एक दिल्ली द्वार और दूसरा अमरसिंह द्वार कहलाता है। किले का घेरा करीब डेढ़ मील है जिसमें अकबर ने लगभग 500 इमारतें बनवायी थीं। इनमें से बहुत सी इमारतों को शाहजहाँ ने तुड़वाकर दुबारा बनवाया अथवा उनके स्वरूप को बदल दिया। इनमें से प्रमुख 'जहाँगीर महल' और 'अकबरी महल' हैं। आगरा के किले की साधारण रूपरेखा राजा मानसिंह द्वारा बनवाये गये ग्वालियर के किले से मिलती है और इसमें बनी इमारतें भी हिन्दू-कला से प्रभावित हैं। लाहौर के किले की रूपरेखा भी आगरा के किले के समान है यद्यपि उसकी इमारतों में सजावट अधिक की गयी है। परन्तु अकबर की सुन्दरतम इमारतें फतेहपुरसीकरी (आगरा के निकट) में बनवायी गयीं। यद्यपि आधुनिक समय में फतेहपुरसीकरी एक उजड़ा हुआ स्थान है लेकिन अकबर की कला को देखने के लिए बड़ी दूर-दूर से व्यक्ति वहाँ जाते हैं। वहाँ की इमारतों में दीवाने-आम, दीवाने-खास, पंचमहल, तुर्की सुल्ताना का महल, खास-महल, जोधाबाई-महल, मरियम-महल, बीरबल-महल, हिरन-महल, जामा-मस्जिद, हाथी-पोल, बुलन्द-दरवाजा और शेख सलीम चिश्ती का मकबरा प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त वहाँ सैकड़ों इमारतें हैं। वे सभी सुन्दर हैं और सम्भवतया एक ही स्थान पर इतनी सुन्दर इमारतों का किसी अन्य स्थान पर पाया जाना सम्भव नहीं है। पाँच मंजिल के पंचमहल में जितने भी स्तम्भ हैं वे सभी विविध प्रकार के हैं। प्रत्येक स्तम्भ की सजावट एक दूसरे से भिन्न है और

प्रायः कलश, घण्टियाँ, फूल और पत्तियों को बनाया गया है। तुर्की सुल्ताना का महल इतना सुन्दर है कि पर्सी ब्राउन ने उसे 'स्थापत्य-कला का मोती' कहा है। जोधाबाई का महल यह संकेत देता है कि मुगल-परिवार के सदस्य रहने के लिए किस प्रकार की व्यवस्था पसन्द करते थे। अकबर की पत्नी मरियम के महल पर फारसी-कला का प्रभाव है। उसके स्तम्भ और दीवारें बन्दर, हाथी, चीता जैसे जानवरों और विभिन्न रंगों के पत्थरों में मानव-आकृतियों से सजायी गयी थीं। जामा-मस्जिद भारत में बनी हुई मस्जिदों में श्रेष्ठ स्थान रखती है। भूमि से 176 फीट ऊँची और पहले चबूतरे से 134 फीट ऊँचाई का बुलन्द-दरवाजा अपने आप में एक विशाल और सुन्दर इमारत मानी जाती है। शेख सलीम चिश्ती की कब्र पर सीपियों से बने हुए स्तम्भ सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। निस्सन्देह, फतेहपुरसीकरी में बनी इमारतें मुगल-काल की इमारतों में बनी बहुत श्रेष्ठ मानी गयी हैं। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है : "फतेहपुरसीकरी के समान न तो उससे पहले ही कुछ बन सका और न उसके बाद कुछ बनना सम्भव है। यह पत्थरों में ढाला गया एक रोमान्स है।" अकबर ने अटक, मेड़ता, अजमेर आदि अन्य स्थानों पर भी कुछ किले, मस्जिदें, फव्वारे आदि बनवाये।

जहाँगीर को स्थापत्य-कला के स्थान पर चित्र-कला और बागीचे लगाने का शौक था। फिर भी उसके समय में कुछ इमारतों का निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त, स्थापत्य-कला उसी समय से एक नवीन मोड़ लेती है। सफेद संगमरमर का प्रयोग और उस पर अधिकतम पच्चीकारी जो शाहजहाँ के समय में श्रेष्ठतम स्थिति में पहुँच गयी, जहाँगीर के समय में आरम्भ हुई। जहाँगीर के समय में बनी हुई सबसे पहली इमारत आगरा के निकट सिकन्दरा में अकबर का मकबरा है। इसकी योजना अकबर ने बनायी थी परन्तु जहाँगीर ने उसमें थोड़ा परिवर्तन किया और उसे पूर्ण किया। चारों तरफ से एक मील के घेरे में फैले हुए विस्तृत बागीचे के मध्य में बना यह पाँच मंजिल का मकबरा अकबर के विशाल और उदार हृदय का प्रतीक है। दक्षिण की तरफ इसका प्रवेश-द्वार है और इसके चारों कोनों पर संगमरमर के बने हुए चार गुम्बद हैं। चार मंजिलें पाँच चबूतरों पर बनी हुई हैं जिनमें से प्रत्येक ऊपर की मंजिल नीचे की मंजिल से छोटी होती चली गयी है। सबसे ऊपर की मंजिल में संगमरमर से बनी हुई दीवारों से घिरा एक आँगन है जिसमें फारसी में अकबर के शासन की प्रशंसा में लिखे गये 36 दोहे (दो पंक्ति की कथाएँ) हैं। इस इमारत के ऊपर कोई गुम्बद नहीं है। अकबर के मकबरे की योजना सरल और सादी होते हुए भी बहुत प्रभावशाली है। हावेल ने लिखा है : "अकबर का मकबरा भारत के एक महान् शासक के लिए उपयुक्त मकबरा है।" इसे इस्लामी, हिन्दू, ईसाई और इनसे भी अधिक बौद्ध-कला का एक मिश्रित स्वरूप माना जा सकता है। जहाँगीर के समय की दूसरी इमारत लाहौर में बना स्वयं का मकबरा है। इसके अधिकांश भाग को उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी बेगम नूरजहाँ ने बनवाया था। यह मकबरा भी एक विस्तृत बागीचे के बीच में बना हुआ है। परन्तु यह बहुत प्रभावशाली नहीं है। जहाँगीर के समय में बनी हुई एक महत्वपूर्ण इमारत आगरा का एत्मातुद्दौला का मकबरा है। इसे नूरजहाँ ने अपने पिता एत्मातुद्दौला की कब्र पर बनवाया था। मकबरे का मुख्य भाग पूर्णतया सफेद संगमरमर का बना हुआ है और इस ढंग की बनी हुई यह पहली मुगल इमारत है। इसमें अधिकतम पच्चीकारी की गयी है और संगमरमर के अतिरिक्त अन्य कीमती पत्थरों का भी प्रयोग किया गया है। दो मंजिल की यह इमारत एक विस्तृत बागीचे के मध्य में बनी हुई है। यह मकबरा अकबर और शाहजहाँ के समय के मध्य की कड़ी है। यह इतना सुन्दर है कि अनेक व्यक्ति इसे मुगल इमारतों में ताजमहल के बाद दूसरा स्थान प्रदान करते हैं। पर्सी ब्राउन ने इसे "अपनी तरह की इमारतों में सबसे अधिक पूर्ण" माना है।

शाहजहाँ के समय में मुगल-स्थापत्य-कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गयी। सफेद संगमरमर और अन्य कीमती पत्थरों का प्रयोग, अधिकतम पच्चीकारी, कीमती रंगों का प्रयोग आदि उसके समय की कला की विशेषता बन गये। उसकी इमारतों से ऐसा प्रतीत होता है मानो जौहरी और चित्रकार के कार्यों को पत्थरों में जड़ दिया गया हो। शाहजहाँ को स्थापत्य-कला का शौक था। उसने न केवल नवीन इमारतों का निर्माण कराया बल्कि आगरा और लाहौर के किलों में उसने अकबर द्वारा बनवायी गयी इमारतों को तुड़वाकर नवीन इमारतें भी बनवायीं। आगरा के किले में दीवाने-आम, दीवाने-खास, मच्छी-भवन, शीशमहल, खासमहल, अंगूरी-बाग, झरोखा-दर्शन का स्थान, शाह-बुर्ज, मोती-मस्जिद, नगीना-मस्जिद आदि, आगरा में ही जामा-मस्जिद, दिल्ली की जामा-मस्जिद तथा लाल-किला और उसमें बनी हुई इमारतें, जैसे दीवाने-आम, दीवाने-खास, मोतीमहल, हीरामहल, रंगमहल, नहरे-बहिश्त आदि, और लाहौर के किले में दीवाने-आम, शाह-बुर्ज, शीशमहल, नौलखामहल और ख्वाबगाह आदि शाहजहाँ के समय की मुख्य इमारतें हैं। इनके अतिरिक्त काबुल, कश्मीर, अजमेर, कन्धार, अहमदाबाद आदि विभिन्न स्थानों में भी शाहजहाँ ने अनेक मस्जिद, मकबरे आदि बनवाये थे। परन्तु शाहजहाँ की श्रेष्ठतम इमारत आगरा में अपनी बीबी मुंमताजमहल की याद में बनवाया गया संसार-प्रसिद्ध ताजमहल है जिसे 22 वर्षों में लगभग 9 करोड़ रुपये की लागत से बनवाया गया था। शाहजहाँ के द्वारा बनवायी गयी आगरा के किले की सभी इमारतें बहुत सुन्दर हैं परन्तु इनमें श्रेष्ठतम स्थान मोती-मस्जिद का है। दूध की तरह सफेद संगमरमर से बनी हुई यह मस्जिद अपने नाम 'मोती' की भाँति ही है। आगरा की जामा-मस्जिद शाहजहाँ की बड़ी पुत्री जहाँनआरा के द्वारा बनवायी गयी थी। दिल्ली के लाल किले की इमारतें, उनमें पानी और फव्वारों का प्रबन्ध आदि इतना सुन्दर था जैसा कि वहाँ एक स्थान पर लिखा है कि "अगर भूमि पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है, यहीं है," स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु ताजमहल का स्थान इन सभी इमारतों में श्रेष्ठ है। एक विस्तृत बागीचे के उत्तरी भाग में सफेद संगमरमर की बनी हुई यह इमारत संसार की श्रेष्ठतम इमारतों में स्थान रखती है। भूमि से 22 फीट ऊँचे संगमरमर के चबूतरे पर बनी हुई यह इमारत लगभग 108 फीट ऊँची है यद्यपि इसका मध्य गुम्बद 187 फीट ऊँचा है। चबूतरे के चारों कोनों पर चार सफेद मीनारें हैं और इसकी बगल से यमुना नदी बहती है। मध्य के ऊपरी भाग में मुमताजमहल और शाहजहाँ की नकली कब्र हैं और नीचे के भाग में उन दोनों की असली कब्र हैं। सुन्दर पच्चीकारी से अलंकृत जालियाँ, बेल-बूटों से सजीं हुई दीवारें तथा लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई की दृष्टि से इमारत को एक इकाई का रूप प्रदान करने वाली कला न केवल ताजमहल के सौन्दर्य को बढ़ाने वाली है अपितु ताजमहल एक सम्पूर्ण इकाई के रूप में संगमरमर में ढाला गया एक स्वप्न है जो एक महान् सौन्दर्य का प्रतीक माना जा सकता है। शाहजहाँ मुमताजमहल के सौन्दर्य को एक मूर्ति में तो नहीं ढाल सकता था क्योंकि यह इस्लाम धर्म के विरुद्ध था परन्तु उसने उसके सौन्दर्य को ताजमहल का निर्माण करके व्यक्त कर दिया। इसी कारण हावेल ने उसे "भारतीय नारीत्व की साकार प्रतिमा" कहा है। उसने लिखा है : "यह एक ऐसा महान् आदर्श विचार है जो स्थापत्य-कला से नहीं बल्कि मूर्ति-कला से सम्बन्धित है।". ताजमहल के निर्माण की योजना के बारे में यह धारणा गलत सिद्ध कर दी गयी है कि इसके नक्शे को बनाने में किसी यूरोपियन कलाकार ने सहयोग दिया था। यह प्रमाणित किया जा चुका है कि इसका मुख्य कलाकार उस्ताद अहमद लाहौरी था जिसे शाहजहाँ ने 'नादिर-उज-असर' की उपाधि प्रदान की थी।

औरंगजेब की ललित-कलाओं में कोई रुचि न थी। उसके समय में किसी भी श्रेष्ठ इमारत का निर्माण नहीं हुआ। उसके समय में बनी हुई एक इमारत लाहौर की बादशाही मस्जिद है जिसे औरंगजेब ने, सम्भवतया, अपने निजी प्रयोग के लिए बनवाया होगा क्योंकि इसका आकार बहुत छोटा है। एक अन्य इमारत औरंगाबाद में बना औरंगजेब की बेगम रबिया दोरानी का मकबरा है। उसमें ताजमहल की नकल करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। उसके पश्चात् मुगल-स्थापत्य-कला को विकास का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और उसकी स्थिति निरन्तर गिरती चली गयी। विभिन्न प्रान्तों और बाद में स्वतन्त्र हुए राज्यों में अनेक इमारतें बनीं परन्तु उनमें से अधिकांश नष्ट हो गयीं। उनमें से बची इमारतों में श्रेष्ठ स्थान ग्वालियर के मान-मन्दिर, वृन्दावन के गोविन्ददेव के मन्दिर, जयपुर के हवा-महल, बीजापुर के गोल-गुम्बद और अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर का है।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत के मुसलमान शासकों द्वारा भी बहुत बड़ी संख्या में अच्छी इमारतों का निर्माण कराया गया। इनमें से अहमदनगर के शासक अहमद निजामशाह का मकबरा, बाग-ए-रौज़ा, उसी के द्वारा बनवाया गया एक बाग और महल, हश्त-बहिश्त (आठवाँ स्वर्ग), बीजापुर के शासक अली प्रथम द्वारा बनवायी गयी जामा-मस्जिद, सुल्तान इब्राहीम द्वारा बनवाया गया स्वयं का मकबरा, आनंद-महल, मिहतरु-महल और जहाँ-मस्जिद तथा गोलकुण्डा के सुल्तान मुहम्मद कुली कुतुबशाह द्वारा बनवाये गये महल जैसे चंदन-महल, हीरा-महल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस कारण मुगल-काल में स्थापत्य-कला की श्रेष्ठतम उन्नति हुई और भव्य महल, मकबरे, मस्जिदें आदि बनीं। मुगल-स्थापत्य-कला अपने में श्रेष्ठतम रही और उसने विभिन्न प्रान्तीय स्थापत्य-कलाओं को भी प्रभावित किया। यह कहना भूल होगी कि मुगलों की स्थापत्य-कला मूलतया विदेशी थी। यह कहना अधिक सत्य है कि मुगल-स्थापत्य-कला की अपनी पृथक विशेषता थी और विदेशी प्रभावों को अपने में सम्मिलित करते हुए भी उसका मूल स्वरूप भारतीय था। मुगलों द्वारा बनवायी हुई इमारतें टर्की, फारस और मध्य-एशिया की इमारतों से भिन्न हैं। ताजमहल का निर्माण केवल भारत में ही हो सकता था और उसकी नकल करने का प्रयत्न किसी अन्य स्थान पर सम्भव नहीं हुआ। ताजमहल भारतीय मुगल-स्थापत्य-कला का नमूना है और इस कारण उसकी अपनी एक पृथक विशेषता है और इसी कारण यह संसार में प्रसिद्ध है।

2. चित्रकला

हिन्दू-काल में भारत में चित्रकला में बहुत उन्नति हुई थी तथा हिन्दू और बौद्ध धर्म के विदेशों में प्रचार होने से उसने एशिया के विभिन्न देशों की चित्रकला को प्रभावित किया था। परन्तु बाद के समय में इसकी प्रगति सम्भव न हो सकी तथा मुसलमान सुल्तानों के समय में भी यही स्थिति रही। मुगल बादशाहों ने चित्रकला को पुनर्जीवित किया और एक बार फिर उसे श्रेष्ठ स्थिति में पहुँचा दिया।

मुगल-चित्रकला का जो स्वरूप बना वह फारस (ईरान) और भारतीय चित्रकला का मिश्रित स्वरूप था। मंगोलिया और चीन की चित्रकला को पहली बार फारस के मुसलमान शासकों ने संरक्षण प्रदान किया अन्यथा इस्लाम धर्म में चित्रकला का निषेध होने के कारण मुसलमान शासक इसको प्रोत्साहन नहीं देते थे। धीरे-धीरे फारस ने अपनी चित्रकला को विदेशी प्रभाव से मुक्त कर लिया और एक स्वतन्त्र फारसी-चित्रकला का निर्माण किया।

बाबर और हुमायूँ का इसी फारसी-चित्रकला से सम्पर्क हुआ और उन्होंने उसे भारत में लाने का प्रयत्न किया। अकबर ने चित्रकला की प्रगति करने में विदेशी कलाकारों की सहायता ली परन्तु वह इसी से सन्तुष्ट न रह सका। उसने भारतीयों को प्रोत्साहन दिया तथा उसके दरबार में अनेक कलाकारों को संरक्षण प्राप्त हुआ। इससे फारसी और भारतीय कला का मिश्रण हुआ तथा उस शैली का निर्माण हुआ जिसे मुगल-चित्रकला-शैली के नाम से पुकारा गया। धीरे-धीरे यह शैली फारस की कला के प्रभाव से मुक्त होती गयी और उस पर भारतीय प्रभाव अधिक हो गया। इस कारण मुगल-चित्रकला का स्वरूप राष्ट्रीय हो गया जिसके कारण यह कहा गया कि अकबर ने राष्ट्रीय चित्रकला-शैली का निर्माण किया। जहाँगीर के समय में यह कला अपनी श्रेष्ठता पर पहुँच गयी। शाहजहाँ ने भी इसे संरक्षण दिया परन्तु उसकी रुचि स्थापत्य-कला में अधिक थी। औरंगजेब ने चित्रकला को धर्म के विरुद्ध मानकर दरबार से हटा दिया और अनेक चित्र नष्ट कर दिये। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इस कला को प्रोत्साहन देने की स्थिति में नहीं थे और चित्रकला मुगल दरबार में संरक्षण न पा सकी। परन्तु उस समय तक प्रान्तों में चित्रकला का विकास हो गया था और विभिन्न हिन्दू-राजाओं और मुसलमान सूबेदारों अथवा स्वतन्त्र शासकों के संरक्षण में चित्रकला पनपती रही, विभिन्न शैलियों का निर्माण हुआ और चित्रकला को भारत में स्थायित्व प्राप्त हो गया।

बाबर और हुमायूँ को चित्रकला में रुचि थी और वे इस विषय में इस्लाम के निषेध को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। हुमायूँ जब फारस गया तो वह हिरात के प्रसिद्ध चित्रकार बिहजाद के शिष्य ख्वाजा अब्दुल समद और मीर सैयद अली के सम्पर्क में आया और उसने उन्हें अपने यहाँ आने के लिए आमन्त्रित किया। हुमायूँ जब काबुल में था, तभी वह दोनों उसके पास पहुँच गये थे। हुमायूँ और अकबर दोनों ने ख्वाजा समद से चित्रकारी की शिक्षा ग्रहण की।

जब अकबर बादशाह बना तो उसने चित्रकला को विशेष प्रोत्साहन दिया। उसने अब्दुल समद के नेतृत्व में चित्रकला का एक पृथक विभाग खोल दिया। पुस्तकों के लिए ही नहीं बल्कि फतेहपुरसीकरी के महलों की दीवारों पर भी उसने चित्र बनाने की आज्ञा दी। उसने चीन और फारस के विभिन्न कलाकारों को दरबार में आमन्त्रित किया, अनेक भारतीयों को कला की शिक्षा की सुविधा प्रदान की, उनको संरक्षण दिया तथा प्रत्येक की रुचि और योग्यता के अनुसार उन्हें कार्य दिया। अकबर के इन प्रयत्नों से सैकड़ों कलाकारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, अनेक चित्रों का निर्माण हुआ, मुगल-चित्रकला का निर्माण हुआ और एक राष्ट्रीय चित्रकला-शैली का विकास हुआ। अकबर के दरबार में प्रायः 100 अच्छे चित्रकार थे जिनमें से 17 को दरबार में प्रमुख स्थान प्राप्त था। इनमें विदेशी फारसी चित्रकार भी थे परन्तु हिन्दू-चित्रकारों की संख्या अधिक थी। फारसी-चित्रकारों में अब्दुल समद, मीर सैयद अली, फर्रुखबेग, जमशेद आदि मुख्य थे और हिन्दू-चित्रकारों में दसवन्त, बसावन, साँवलदास, ताराचन्द, जगन्नाथ, लाल मुकन्द, हरिवंश आदि प्रमुख माने जाते थे। इस प्रकार अकबर ने मुगल-चित्रकला-शैली को भारत में स्थापित किया, उसकी प्रगति की और उसकी उन्नति के मार्ग खोल दिये।

जहाँगीर चित्रकला का शौकीन और पारखी दोनों ही था। उसके समय में मुगल-चित्रकला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गयी। जहाँगीर ने अपने बागीचे में एक चित्रकला-कक्ष का निर्माण कराया था। विभिन्न महलों में भी उसी प्रकार के कला-कक्ष रहे होंगे, यह माना जा सकता है। जहाँगीर के समय में चित्रकला की उन्नति का एक कारण

कलाकारों को संरक्षण प्रदान करना था तो दूसरा कारण उसकी कला के प्रति रुचि और उसका स्वयं कला का अच्छा ज्ञाता होना था। अपनी आत्मकथा 'तुजुके-जहाँगीरी' में उसने लिखा है : "कला में मेरी रुचि और ज्ञान इस सीमा तक पहुँच गया है कि यदि मेरे सम्मुख किसी भी मृत अथवा जीवित चित्रकार की कलाकृति प्रस्तुत की जाती है और मुझे उस चित्रकार का नाम नहीं बताया जाता है तो मैं तुरन्त बता देता हूँ कि यह अमुक व्यक्ति के द्वारा किया गया कार्य है। यदि एक ही चित्र में विभिन्न कलाकारों के द्वारा विभिन्न आकृतियाँ बनायी गयी हों तो मैं यह बता सकता हूँ कि अमुक आकृति अमुक चित्रकार ने बनायी है। यदि एक चित्रकार ने चेहरा बनाया हो और उस चेहरे में आँखें और भौंहें किसी दूसरे चित्रकार ने बनायी हों तो मैं यह बता सकता हूँ कि अमुक चित्रकार ने मूल चेहरा और अमुक चित्रकार ने आँखें और भौंहें बनायी हैं।" जहाँगीर के इस कथन को यदि अतिशयोक्ति भी मान लिया जाय तब भी यह उसकी रुचि का प्रतीक है। अच्छे से अच्छे चित्रकार जहाँगीर के दरबार में एकत्रित थे जिन्होंने अकबर के समय में आरम्भ किये गये कार्य को पूर्णता प्रदान करने में सफलता प्राप्त की। अबुल हसन को 'नादिर-उज-जमात' और मसूर को 'नादिर-उज-असर' की उपाधियाँ दी गयीं। आगा रजा, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, बिशनदास, मनोहर, माधव, तुलसी, गोवर्धन आदि उसके दरबार के प्रमुख चित्रकार थे।

शाहजहाँ को चित्रकला की तुलना में स्थापत्य-कला का अधिक शौक था। परन्तु उसने भी चित्रकला को संरक्षण दिया। उसके समय में आकृति-चित्रण और रंग-सामंजस्य में कमी आ गयी परन्तु रेखांकन और बॉर्डर बनाने में उन्नति हुई। फकीर उल्ला, मीर हाशिम; अनूप, चित्रा आदि उसके दरबार के मुख्य चित्रकार थे। उसके समय में चित्रकारों की संख्या कम हो गयी थी। जहाँगीर की तुलना में शाहजहाँ के समय में चित्रकला की अवनति हुई थी। औरंगजेब ने चित्रकला का विरोध किया और उसने अनेक स्थानों के चित्रों को नष्ट किया। इस कारण चित्रकार मुगल दरबार से हटकर विभिन्न प्रान्तों में फैल गये। इससे चित्रकला की हानि हुई और लाभ भी। बादशाहों के संरक्षण के अभाव में उसकी प्रगति में बाधा पड़ी परन्तु प्रान्तीय शासकों के संरक्षण में एक अन्य दृष्टि से उसे लाभ हुआ। प्रान्तीय कला के रूप में चित्रकला के विभिन्न स्वरूप हो गये और चित्रकला जनजीवन के अधिक निकट हो गयी। बादशाह फर्रुखसियर और बादशाह मुहम्मदशाह ने भी चित्रकला को संरक्षण दिया परन्तु उस समय मुगल बादशाहों की स्थिति ऐसी न थी कि वे इस पर अधिक धन व्यय कर पाते। इस कारण मुगल-चित्रकला का पतन हो गया। 18वीं सदी के अन्त तक उस पर यूरोपियन चित्रकला का प्रभाव पड़ने लगा जो उसके लिए हानिकारक सिद्ध हुआ और मुगल-चित्रकला अपने मूल स्वरूप से पृथक हो गयी।

मुगल-चित्रकला ने एक समय में बहुत उन्नतशील स्थान प्राप्त किया और भारतीय चित्रकला के इतिहास में उसका स्थान गौरवपूर्ण है। इस कला के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण हुआ था। बादशाहों और अमीरों की आकृतियाँ (portraits), दरबार और शिकार के दृश्य, पशु-पक्षियों की आकृतियाँ, बाग-बगीचे, फल-फूल, पेड़-पत्तियाँ आदि का चित्रण आदि सभी इसमें सम्मिलित थे। चित्रकारों ने आकृतियों के निर्माण में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। मुगल बादशाहों ने विभिन्न मुद्राओं में स्वयं के चित्र बनवाये और मुगल सरदारों ने भी ऐसा ही किया। स्त्रियों की आकृतियाँ, सम्भवतया, पर्दा-प्रथा के कारण मूल में प्रस्तुत नहीं हो सकी थीं परन्तु पुरुषों की आकृतियाँ पूर्णतया मूल में थीं। इसी प्रकार, विभिन्न दृश्यों, पशु-पक्षियों, फूलों, बाग आदि को भी चित्रकार सामने बैठकर बनाते थे।

मुगल-चित्रकारों से आशा की गयी थी कि जो वे सामने देखें उसी को बनायें। इसी कारण उनके चित्रों में जीवन्तता एवं यथार्थता थी। मुस्लिम धार्मिक गाथाओं के चित्रों को बनाने में चित्रकारों ने संकोच किया था परन्तु हिन्दू पौराणिक गाथाओं और ईसाई धर्म की कहानियों को चित्रों में प्रस्तुत किया गया था। बड़े व्यक्तियों की जीवनियों को भी चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का कार्य मुगल-चित्रकारों ने किया। हमजाहनामा, बाबरनामा, तिमूरनामा, रज्मनामा, शाहनामा, लीलावती, लैला-मजनू, अकबरनामा, आदि को सफलतापूर्वक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया। वस्तुतः मुगल-चित्रकला का आरम्भ पाण्डुलिपियों पर लघु-चित्र बनाने से ही हुआ। 'हमजाहनामा' फारसी अमीर हम्जा के वीरतापूर्ण कार्यों से सम्बन्धित अर्द्ध-पौराणिक ग्रन्थ है। अकबर ने, सर्वप्रथम, इस पुस्तक को ही चित्रों के रूप में तैयार करने की आज्ञा दी थी। बदायूँनी और शाहनवाज खाँ के अनुसार इसे तैयार करने में लगभग पन्द्रह वर्ष लगे थे और पहले सैयद अली तथा बाद में अब्दुल समद की देखरेख में प्रायः पचास चित्रकारों ने इसे तैयार करने में हिस्सा लिया। इन पाण्डुलिपियों में बने हुए लघु-चित्र मुगल-चित्रकला-शैली के उत्कृष्ट नमूने माने गये हैं। बाद में अकबर ने छवि-चित्र बनाने के भी आदेश दिये जिसके कारण स्वयं अकबर के, उसके विभिन्न अमीरों के, उत्सवों आदि के बड़े-बड़े छवि-चित्र बनने आरम्भ हुए। बाद के काल में तो पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाने की परम्परा प्रायः लुप्त ही हो गयी। उनका स्थान व्यक्तियों के छवि-चित्रों, प्रकृति-दरबार, शिकार आदि के दृश्यों ने ले लिया। शानदार वस्त्र पहने हुए बादशाह और दरबारी, कीमती कालीन बिछे हुए कमरे, शराब पीती और पिलाती हुई स्त्रियाँ, धार्मिक साधना में लीन सन्त और फकीर आदि विभिन्न दृश्यों को दर्शाते हुए हजारों चित्र इस समय में तैयार किये गये जिनकी प्रशंसा सभी के द्वारा की गयी है। पुस्तकों पर चित्र बनाना और सुन्दर लेखन-शैली भी इसकी अपनी विशेषता रही। अकबर के समय से प्रगति करती हुई मुगल-चित्रकला धीरे-धीरे अपने रंग के मिश्रण और अनुपात की दुर्बलता को दूर करती गयी और उसने चित्रकला के क्षेत्र में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बनाने में सफलता पायी। बाद के समय में मुगल-चित्रकला-शैली पर कुछ प्रभाव यूरोपीय चित्रकला का भी आया। अकबर के दरबार में ईसाई पादरी आने आरम्भ हुए। उन्होंने अन्य वस्तुओं के साथ बादशाह को यूरोप में बने चित्र भी भेंट-स्वरूप दिये जिनकी प्रशंसा हुई। इन चित्रों की अपनी कुछ पृथक विशेषता थी जिससे भारतीय चित्रकार प्रभावित हुए और उन्होंने अपने चित्रों में यूरोपीय चित्रों की कला को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया जिसके कारण मुगल-शैली कुछ मात्रा में यूरोपीय-चित्रकला-शैली से भी प्रभावित हुई। मुगल-चित्रकला के नमूने बहुत बड़ी संख्या में देश-विदेश में उपलब्ध हैं, जैसे—ब्रिटिश म्यूजियम, सवाई मानसिंह संग्रहालय जयपुर, भारतीय संग्रहालय कलकत्ता, अमेरिका और यूरोप के विभिन्न म्यूजियम और संग्रहालय आदि में। मुगल-चित्रकला की एक दुर्बलता यह अवश्य थी कि उसमें साधारण जनजीवन को चित्रित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। वह मुख्यतया दरबार और बादशाहों के निकट रही। इस कारण जनजीवन का प्रभाव उस पर नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त सभी प्रकार से मुगल-चित्रकला श्रेष्ठ मानी जा सकती है।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत में भी चित्रकला का विकास हुआ। उसे मुगल-चित्रकला ने प्रभावित किया, यद्यपि कुछ अन्य दृष्टियों से वहाँ की कलाकृतियाँ मुगल-कलाकृतियों से भिन्न थीं। दक्षिण-भारत में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के शासकों ने भी अपने दरबारों में चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया। यह कहना उचित नहीं है कि इनमें से प्रत्येक राज्य में पृथक चित्रकला-शैली का विकास हुआ था, यद्यपि थोड़ा-बहुत अन्तर इन स्थानों

की शैलियों में रहा। इस कारण इन राज्यों की शैली को मिलाकर दक्षिण-भारत की मुगलकालीन-शैली कहना उचित है तथा यह भी स्वीकार करना ठीक है कि कुछ सीमा तक मुगल-चित्रकला-शैली ने दक्षिण-भारत की समकालीन चित्रकला को प्रभावित किया था। दक्षिण-भारत में बने हुए चित्रों में भारतीय इतिहास संशोधक मण्डल पूना में प्राप्त 'तारीख-ए-हुसैनशाही' की अपूर्ण पाण्डुलिपि पर बने हुए विभिन्न चित्र हैं। इसी प्रकार एक अन्य ग्रन्थ 'नुजूम-अल-उल्म' में विभिन्न आकार के प्रायः 876 चित्र बनाये गये थे जो अब उपलब्ध हो चुके हैं। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह द्वितीय तथा उसके एक मंत्री का एक चित्र भारतीय संग्रहालय कलकत्ता में उपलब्ध है। ये चित्र तो उदाहरणस्वरूप हैं अन्यथा मुगलकालीन दक्षिणी-चित्रकला-शैली के अन्तर्गत तैयार किये गये अनेक चित्र विभिन्न स्थानों पर उपलब्ध हैं।

राजपूत-चित्रकला—इस काल में राजपूत-चित्रकला-शैली भी राजस्थान के विभिन्न राजपूत-शासकों के संरक्षण में फली-फूली थी। उसकी अपनी अलग विशेषताएँ रहीं। मेवाड़, जोधपुर, जयपुर, बूँदी, कोटा, बीकानेर और किशनगढ़ राजस्थानी-चित्रकला के मुख्य केन्द्र-स्थान थे। इन विभिन्न राज्यों के विभिन्न शासकों के संरक्षण में राजस्थानी अथवा राजपूत-चित्रकला मुगल-चित्रकला से पहले भी किसी न किसी रूप में उपस्थित थी, मुख्यतया पाण्डुलिपियों पर लघु-चित्रों को चित्रित किये जाने की परम्परा राजस्थान में पहले भी किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। मुगल-काल में राजस्थान के अधिकांश शासक मुगल-दरबार के निकट सम्पर्क में आये, चित्रकला के प्रति उनकी रुचि बढ़ी, उन्होंने चित्रकारों को संरक्षण दिया और उनकी देखरेख में बड़ी संख्या में चित्रों का निर्माण हुआ। उससे राजस्थानी-चित्रकला मुगल-चित्रकला से प्रभावित हुई। परन्तु जब 17वीं सदी में मुगलों की राजनीतिक पकड़ राजस्थान में दुर्बल हो गयी तब वहाँ की संस्कृति और चित्रकला भी मुगलों के प्रभाव से पर्याप्त मात्रा में मुक्त हो गयी। उस समय से राजस्थानी-चित्रकला की अधिक प्रगति हुई तथा उसकी विभिन्न शैलियों का निर्माण हुआ।

राजस्थानी-चित्रकला-शैलियों को मूलतया चार भागों में बाँटा गया है—1. मेवाड़-शैली, 2. बूँदी-कोटा शैली, 3. मारवाड़-शैली और 4. जयपुर-शैली। मेवाड़-शैली के विकास के केन्द्र-स्थान चित्तौड़, उदयपुर, नाथद्वारा, देवगढ़ आदि रहे ; बूँदी-कोटा-शैली के निर्माण के केन्द्र-स्थल बूँदी और कोटा ही रहे; मारवाड़-शैली का विकास मुख्यतया बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर, जैसलमेर आदि में हुआ और जयपुर-शैली के विकास-केन्द्र जयपुर, अलवर तथा आमेर रहे।

राजस्थानी-चित्रकला में मेवाड़-शैली पर मुगल-चित्रकला का प्रभाव न्यूनतम पड़ा क्योंकि हठी सिसोदिया-शासकों ने अकबर और जहाँगीर के प्रारम्भिक वर्षों में मुगल-आधिपत्य को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया जिसके कारण मेवाड़ मुगलों के सांस्कृतिक प्रभाव से भी मुक्त रहा। राणा प्रतापसिंह ने अकबर से संघर्ष करते हुए भी कलाकारों को संरक्षण प्रदान किया था परन्तु इस शैली की चित्रकला का विकास मुख्यतया राणा जगतसिंह (1625-52 ई.) के शासन-काल में हुआ। इस शैली के अन्तर्गत रागमाला, रामायण, रसमंजरी, गीत-गोविन्द, भागवत-पुराण आदि पर आधारित विभिन्न चित्र बने। बूँदी-शैली के अन्तर्गत आरम्भ में भागवत-पुराण, रसिकप्रिया, बारहमासा आदि पर आधारित लघु-चित्र बनाये गये परन्तु 18वीं सदी में इस शैली के अन्तर्गत हाथियों की लड़ाई, शिकार करते हुए व्यक्ति, घुड़सवारी करते हुए सैनिकों आदि को चित्रित करने

वाले चित्रों का बाहुल्य हो गया। इसके अतिरिक्त, बूँदी के राजमहलों तथा कुछ अन्य स्थानों पर भित्ति-चित्र भी बनाये गये जो अब भी सुरक्षित स्थिति में हैं और इस शैली के श्रेष्ठ नमूने माने गये हैं। कोटा का राजघराना बूँदी के राजघराने का ही एक भाग था। 1628 ई. में बादशाह शाहजहाँ ने बूँदी के राव रतनसिंह के भाई माधवसिंह को कोटा की जागीर प्रदान की। तब से कोटा का अस्तित्व पृथक हो गया। इस राजघराने के संरक्षण में पली हुई चित्रकला बूँदी-चित्रकला-शैली से कुछ भिन्न रही यद्यपि विस्तृत आधार पर उसी का एक भाग मानी जाती रही है। कोटा-घराने के संरक्षण में बने हुए चित्रों में शिकार, विभिन्न पशुओं की लड़ाइयाँ, राजाओं के मनोरंजन आदि के चित्रों का आधिक्य है। कोटा के राजमहलों में सुन्दर भित्ति-चित्र भी बनाये गये थे जो अब भी सुरक्षित हैं और वहाँ की चित्रकला में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। **मारवाड़-शैली** के अन्तर्गत भी **भागवत-पुराण, बारहमासा, रागमाला** आदि पर आधारित विभिन्न चित्रों का निर्माण हुआ। बीकानेर और किशनगढ़ भी राजस्थानी-चित्रकला-शैली के विकास के मुख्य स्थान रहे जहाँ बने हुए चित्रों की अपनी कुछ पृथक विशेषताएँ भी रहीं यद्यपि मूल आधार पर वे मारवाड़-शैली का ही भाग माने गये। बीकानेर में बने चित्रों पर मुगल-चित्रकला का प्रभाव सबसे अधिक माना गया है। किशनगढ़ में राधा-कृष्ण की लीलाओं पर आधारित चित्र बहुत सुन्दर और बड़ी संख्या में बनाये गये। **जयपुर-शैली** के विकास में राजा जयसिंह, सवाई राजा जयसिंह, सवाई माधोसिंह प्रथम और सवाई राजा प्रतापसिंह के नाम प्रमुख हैं। इस शैली के अन्तर्गत **भागवत-पुराण, रागमाला, बारहमासा** आदि पर आधारित चित्र, छवि-चित्र और भित्ति-चित्र बड़ी संख्या में बनाये गये।

राजपूत-शैली में बनाये गये चित्रों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम, दरबारी-चित्र जिनमें राजाओं तथा सरदारों के खड़े, बैठे, शिकार करते, मनोरंजन करते, दरबार में बैठे आदि के छवि-चित्र हैं। द्वितीय, साहित्यिक चित्र जिनमें साहित्यिक रचनाओं जैसे रसमंजरी, रसिकप्रिया, रागमाला, बारहमासा आदि की घटनाओं को चित्रित किया गया है। इनमें रामायण, महाभारत, कृष्णलीला, देवी-महात्तम, आदि धर्म से सम्बन्धित कथाओं और क्रियाओं को प्रदर्शित करते हुए चित्र भी सम्मिलित हैं। तृतीय, लोक-कला सम्बन्धी चित्र जिनमें जन-साधारण के जीवन और कार्यकलापों को प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक राजस्थानी या राजपूत-शैली की विशेषताओं का प्रश्न है वह पृथक-पृथक भागों में अपनी-अपनी पृथकताओं को लिये हुए थी। मेवाड़-शैली की विशेषता नीले, हरे अथवा लाल रंग की पृष्ठभूमि में गहरे और चमकीले रंगों का प्रयोग, पुष्पों और पक्षियों का चित्रण और परम्परागत राजस्थानी वेशभूषा में स्त्रियों एवं पुरुषों का चित्रण रहा। बूँदी और कोटा-शैली की विशेषता चटकीले रंगों का प्रयोग, स्त्री-आकृतियों का लम्बी और छरहरी होना, घने जंगलों के दृश्य, शिकार एवं पशुओं की लड़ाइयों का चित्रित किया जाना तथा राजाओं और उसके सरदारों को उनकी विभिन्न मुद्राओं में चित्रित करना रहा। जोधपुर-शैली में बीकानेर और किशनगढ़ में बने चित्रों को अधिक सुन्दर माना गया जिनकी विशेषता स्त्री-सौन्दर्य को आदर्श रूप में प्रस्तुत करना और राधा-कृष्ण की लीला सम्बन्धी चित्रों का निर्माण रहा। जयपुर-शैली की विशेषता हरे, पीले, गुलाबी, लाल और सुनहरे रंगों का प्रयोग और बड़े-बड़े चित्रों का निर्माण रहा।

राजपूत-शैली पर, निस्सन्देह, मुगल-चित्रकला-शैली का प्रभाव था परन्तु तब भी यह प्रभाव न तो स्थायी था और न पूर्ण, जिसके कारण राजपूत-शैली मुगल-शैली से भिन्न रहकर

अपने स्वतंत्र अस्तित्व को बनाये रखने में सफल हुई। इसके अन्तर्गत पाण्डुलिपियों पर चित्र बनाये गये, छवि-चित्र बनाये गये, प्राकृतिक सौन्दर्य, शिकार और पशुओं की लड़ाइयों के चित्र बनाये गये तथा भित्ति-चित्र भी बने जिनकी संख्या असीमित है। इसके अतिरिक्त, राजपूत-शैली के अन्तर्गत बने लोक-कला सम्बन्धी चित्र अपनी पृथक विशेषता लिये हुए हैं। इनके माध्यम से जन-साधारण के जीवन की अभिव्यक्ति की गयी है जिसका मुगल-चित्रकला-शैली में अभाव रहा। इस प्रकार मध्य-युग में विकसित राजपूत या राजस्थानी-चित्रकला-शैली का भारतीय-चित्रकला में अपना अलग और महत्वपूर्ण स्थान है।

पहाड़ी चित्रकला—इसी काल में **पहाड़ी-चित्रकला (बसौली और काँगड़ा-चित्रकला-शैली)** का विकास भी उत्तर-पश्चिम हिमालय-क्षेत्र के विभिन्न राज्यों में हुआ। इस चित्रकला की उत्पत्ति बसौली राज्य में हुई। कश्मीर में पनपी लोककला-भित्ति-शैली, मुगल-शैली और राजस्थानी-शैली के समन्वय से इस शैली का जन्म हुआ। आरम्भ में इस शैली में भी **रसमंजरी, रागमाला, गीत-गोविन्द** तथा **रामायण** के वृत्तान्तों को चित्रों में प्रस्तुत किया गया। बाद में स्त्री-पुरुषों, जंगलों, पहाड़ों तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यों तथा पशु-पक्षियों को विभिन्न मुद्राओं और स्थितियों में प्रस्तुत किया गया। पहाड़ी-चित्रकला में श्रेष्ठ स्थान काँगड़ा-शैली ने प्राप्त किया। इस शैली के विकास का मुख्य श्रेय वहाँ के शासक राजा संसारचंद (1775-1823 ई.) को था जिसने आरम्भ से ही कलाकारों को अपना संरक्षण प्रदान किया। इस शैली के अन्तर्गत बने चित्र-समूहों में **भागवत-पुराण, गीत-गोविन्द,** कवि बिहारी का **सतसैया, रागमाला** और **बारहमासा** के कथानकों पर आधारित चित्रों को श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काँगड़ा-शैली में प्रकृति-प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को सावधानी से चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। वैष्णव-गीतों को भी चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाना इस शैली की एक विशेषता रही। इसके अतिरिक्त, यहाँ के कलाकारों ने हिन्दी-साहित्य की कुछ नवीन रचनाओं को भी अपनी कला की अभिव्यक्ति का साधन बनाया। कुछ चित्रों में हीर-राँझा, सोनी-महिवाल तथा सस्सी-पुन्नू आदि लोकप्रिय प्रेम-गाथाओं को चित्रित किया गया तथा कृष्ण-लीलाओं पर भी बड़ी संख्या में चित्र बनाये गये। इसके अतिरिक्त, इस शैली के अन्तर्गत बने विभिन्न राजाओं, दरबारियों, यूरोपीय यात्रियों, सेनापतियों, सरकारी कर्मचारियों आदि के छवि-चित्र भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। प्रकृति-चित्रण भी यहाँ के कलाकारों का शौक था। ऊँचे-ऊँचे पेड़, फलों के वृक्ष, पहाड़, घाटियाँ, आसमान आदि का चित्रण भी यहाँ के कलाकारों ने सफलता से किया। इस प्रकार पहाड़ी-चित्रकला-शैली ने भी परवर्ती मध्य-युग में चित्रकला के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति को महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस कारण इस शैली को भारतीय-चित्रकला में एक सम्मानित स्थान प्रदान किया गया है।

3. संगीत और नृत्य-कला

मुगल-काल में संगीत-कला की भी उन्नति हुई तथा हिन्दू और मुसलवान दोनों ने उसमें सहयोग दिया। बाबर और हुमायूँ दोनों संगीत-कला के प्रेमी थे। अकबर स्वयं बड़ा अच्छा नगाड़ा बजाता था। उसने अपने दरबार में दूर-दूर से ख्यातिप्राप्त संगीतज्ञों को आमन्त्रित किया था। अबुल फजल ने लिखा है कि अकबर के दरबार में संगीतज्ञों की संख्या बहुत अधिक थी। उनमें से सबसे प्रमुख नाम तानसेन का है जिसने राजा मानसिंह द्वारा स्थापित ग्वालियर के संगीत-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। तानसेन के गुरु वृन्दावन में रहने वाले गुरु हरिदास थे। अबुल फजल ने तानसेन के बारे में लिखा था—"उस जैसा गायक हज़ार

वर्षों में भी कोई नहीं हुआ। उसने विभिन्न राग और रागनियों का निर्माण किया था। तानसेन के पश्चात् दरबार के संगीतज्ञों में बाबा रामदास का नाम आता था। सूरदास का दरबार से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध था। बैजू बावरा यद्यपि दरबार से सम्बन्धित न था परन्तु सम्भवतया तानसेन का समकालीन संगीतज्ञ था। इस प्रकार अकबर के समय में वाद्य और संगीत दोनों की ही प्रगति हुई। जहाँगीर भी संगीतज्ञों को आश्रय देता था। सैकड़ों गायक और नर्तक उसके दरबार में रहा करते थे। इनमें जहाँगीर दाद, परवेज दाद, हमजान, छत्रखाँ आदि प्रमुख थे। शाहजहाँ भी संगीत-प्रेमी था और स्वयं भी एक अच्छा गायक था। जगन्नाथ, रामदास, सुखसेन, सूरसेन, लालखाँ, दुरंगखाँ आदि उसके दरबार के प्रमुख गायक थे। अपने शासन-काल के आरम्भ होने के कुछ वर्षों के पश्चात् ही औरंगजेब ने संगीतज्ञों को अपने दरबार से निकाल दिया और संगीतज्ञों द्वारा संगीत का जनाजा निकालने पर उसने उसे गहराई में दफनाने की सलाह दी। परन्तु फिर भी सरदारों, सूबेदारों और बादशाह के हरम से संगीत-प्रेम समाप्त नहीं हुआ।

18वीं सदी में मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले (1719-1748 ई.) के समय में संगीत की बहुत उन्नति हुई और ख्याल गायन लोकप्रिय हुआ। उससे पहले ध्रुपद-गायन शैली ही अपने विभिन्न रूपों में लोकप्रिय थी। इसी सदी के पूर्वार्द्ध में सितार और तबला दो संगीत-वाद्यों का निर्माण हुआ। पहले इनके निर्माण का श्रेय 13वीं सदी में हुए विद्वान और गायक अमीर खुसरो को दिया जाता था। परन्तु अब विद्वानों की राय बनी है कि इन वाद्यों का निर्माण 18वीं सदी में हुए एक अन्य गायक खुसरो खाँ ने किया था जो मुगल बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले का समकालीन था। इन वाद्यों के निर्माण ने भारतीय संगीत को श्रेष्ठतम बनाने में बहुत सहायता दी।

मुगल-काल में दक्षिण-भारत में भी अनेक योग्य गायक हुए और गायन पर कुछ श्रेष्ठ पुस्तकों की भी रचना हुई। इसमें विजयनगर-राज्य के राजा सदाशिवराव के मंत्री रामामात्य का नाम उल्लेखनीय है जिसने एक संगीत-ग्रन्थ **स्वरमेल-कला-निधि** की रचना की थी। इसी प्रकार का एक अन्य ग्रन्थ **षड्रागचन्द्रोदय** की रचना पुण्डरीक विट्ठल ने खानदेश के शासक बुरहानखाँ फारुखी के संरक्षण में की। इसके पश्चात् पुण्डरीक ने ही राजा मानसिंह के संरक्षण में रहकर **रागमाला** नामक संगीत के ग्रन्थ की रचना की जिसमें भारतीय संगीत के छः रागों का वर्णन किया गया है। दक्षिण-भारत के अन्य शासकों के संरक्षण में भी संगीत फलता-फूलता रहा क्योंकि वे सभी संगीत के शौकीन थे। इस प्रकार, मुगल-काल में संगीत-कला ने बहुत उन्नति की।

संगीत के साथ-साथ नृत्य-कला भी मुगल-काल में पनपती रही थी। संगीत और नृत्य-कला का इतना गहरा सम्बन्ध है कि उनकी प्रगति साथ-साथ होना स्वाभाविक था। मुगल बादशाह, दरबारी, सूबेदार और धनी व्यक्ति संगीत के साथ-साथ नृत्य का भी आनन्द लेते थे तथा दरबार और अन्य स्थानों पर बहुत बड़ी संख्या में नर्तक और नर्तकियाँ रखे जाते थे।

4. अन्य कलाएँ

मुगल-काल में सुलेख (अच्छा लिखने की कला) पर विशेष ध्यान दिया गया था और चित्रकारों की सहायता से पुस्तकों को अच्छे लेखों, अच्छी जिल्दों और अच्छे चित्रों से सजाया जाता था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने मूर्ति-कला को भी सहायता दी यद्यपि

इस क्षेत्र में विशेष उन्नति नहीं हुई। मूर्तियों में मुख्यतया हाथीदाँत की बनी हुई छोटी-छोटी मूर्तियाँ ही इस कला में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर सकीं। मिट्टी और अन्य विभिन्न धातुओं द्वारा बनाये जाने वाले बर्तनों की कला में भी मुगल-काल में प्रगति हुई। अच्छे आभूषण और जवाहरातों को श्रेष्ठ बनाने की कला ने भी इस समय में पर्याप्त प्रगति की। बाग लगाने का शौक मुगल बादशाहों को था। उनकी सभी इमारतें और मकबरे बागीचों में ही बनाये गये थे। इसके अतिरिक्त अन्य विभिन्न स्थानों पर भी बाग लगाये गये थे। बाबर ने आगरा में 'नूर अफगान' नामक बाग लगवाया जिसे अब रामबाग कहा जाता है। अकबर और जहाँगीर ने अपने मकबरों को सुन्दर बागों में बनवाया। कश्मीर का शालीमार बाग जहाँगीर के द्वारा लगवाया हुआ है। शाहजहाँ ने विभिन्न इमारतों और ताजमहल के अतिरिक्त लाहौर में शालीमार बाग बनवाया। औरंगजेब ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु विभिन्न सरदारों ने अपने बादशाहों का अनुसरण करते हुए विभिन्न बाग लगवाये।

इस प्रकार मुगल बादशाहों के समय में उस समय तक जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति होती रही जब तक मुगल बादशाह शक्तिशाली और समृद्धशाली रहे। सांस्कृतिक क्षेत्र में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा। साहित्यिक और विभिन्न ललित-कलाओं की प्रगति की दृष्टि से भारतीय इतिहास में मुगल-काल का महत्वपूर्ण स्थान है। सभी कुछ मिला कर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मुगल बादशाहों का राजनीतिक इतिहास आकर्षक और गौरवपूर्ण है, उसी प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से भी उनका इतिहास आकर्षक और गौरवपूर्ण है।

14

18वीं सदी में भारत की स्थिति

[1]

राजनीतिक स्थिति

18वीं सदी में भारत का राजनीतिक विभाजन हुआ। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह (1719-1748 ई.) के शासनकाल में मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा हैदराबाद, बंगाल और अवध में प्रायः स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये। मराठों ने न केवल महाराष्ट्र के लिए स्वतन्त्रता ही प्राप्त कर ली अपितु पेशवा बाजीराव के समय (1720-40 ई.) के समय में उत्तर-भारत के विभिन्न सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल की तथा दिल्ली के निकट तक धावे किये। इससे मुगल-साम्राज्य शीघ्रता से पतनोन्मुख हुआ। यद्यपि नाम के लिए मुगल-बादशाहत 1858 ई. तक रही जब तक कि अंग्रेजों ने 1857 ई. के विद्रोह को दबाने के पश्चात् अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को सिंहासन से हटाकर 1858 ई. में रंगून नहीं भेज दिया परन्तु वस्तुतः मुगल-बादशाहत उससे बहुत पहले ही नष्ट हो गयी थी और 18वीं सदी में ही भारत में विभिन्न शक्तियों का उदय हो गया था जिनमें सत्ता और राज्य-विस्तार के लिए संघर्ष हुआ। राजस्थान में राजपूत-शासक स्वतंत्र हो गये, पंजाब में सिखों ने अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित कर लिये, दक्षिण-भारत में हैदरअली ने मैसूर के स्वतंत्र राज्य की नींव डाली तथा मराठों ने भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा किया। राजनीतिक विभक्तीकरण की इन परिस्थितियों में यूरोपीय राज्यों के निवासियों ने भी भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप किया, परस्पर संघर्ष किया और भारतीय नरेशों से भी संघर्ष किया। 18वीं सदी के इस राजनीतिक उथल-पुथल और संघर्ष के समय में अधिकांशतया मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बने रहे परन्तु 18वीं सदी के समाप्त होने के समय तक यह स्पष्ट हो गया कि भारत की सत्ता के लिए उनके मुख्य तथा शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी अंग्रेज थे। अंग्रेजों ने अपने मुख्य यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वी फ्रान्सीसियों को 1761 ई. में पाण्डिचेरी पर अधिकार करके अपने मार्ग से हटा दिया, 1757 ई. में प्लासी के युद्ध और 1764 ई. में बक्सर के युद्ध को जीतकर उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की वास्तविक सत्ता अपने हाथों में ले ली, 1799 ई. में उन्होंने अपने एक स्थायी शत्रु टीपू को परास्त करके मैसूर राज्य के विरोध को समाप्त कर दिया और मराठों से प्रथम युद्ध करके 1782 ई. में सम्मानित शर्तों पर उनसे सालबाई की सन्धि की। इस प्रकार 18वीं सदी भारत में मुगल-साम्राज्य के पतन और उसके परिणामस्वरूप उसके विभिन्न भागों में बने स्वतंत्र राज्यों तथा भारत में आयी हुई यूरोपियन जातियों के पारस्परिक संघर्ष की सदी रही।

1. राजपूत-राज्य

मुगल-काल में अकबर ने राजपूतों के प्रति एक निश्चित नीति अपनायी थी जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ के अतिरिक्त राजस्थान के सभी राजपूत-शासकों ने मुगलों की अधीनता को स्वीकार कर लिया था। 1580 ई. में जब अकबर ने प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को बारह सूबों में विभाजित किया तब उसने राजस्थान के अपने अधीन सभी राज्यों को एक सूबा में संगठित किया और उसे अजमेर-सूबा पुकारा। इस सूबा की राजधानी अजमेर रखी गयी। अजमेर-सूबा में भी एक मुगल-सूबेदार नियुक्त किया गया जो सूबा की देखभाल करता था। परन्तु उसके प्रशासनिक अधिकार कुछ बहुत ही छोटे राज्यों के शासन तक सीमित थे अन्यथा अन्य सभी राजपूत-राजा अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतंत्र थे और मुगल बादशाह से उनका सीधा सम्बन्ध था। इस दृष्टि से वे अपने और अपने राज्यों के कार्य के सम्बन्ध में सूबेदार के प्रति नहीं अपितु मुगल बादशाह के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी थे। परन्तु अकबर की इस व्यवस्था ने इन राजपूत-शासकों और उनकी प्रजा को यह स्पष्ट कर दिया कि मुगल बादशाह उनका संप्रभु था। इस प्रकार, अकबर ने राजस्थान के राजपूत-शासकों को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करके भी उनके राज्यों को मुगल-साम्राज्य का अन्तरंग अंग बनाने में सफलता प्राप्त की थी। मुगलों की यह नीति औरंगजेब के काल तक रही। परन्तु जब औरंगजेब ने जसवंतसिंह के पुत्र अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार करने से इन्कार कर दिया तब मारवाड़ ने विद्रोह किया, मेवाड़ ने उसका साथ दिया और यद्यपि मेवाड़ ने मुगलों से शीघ्र सन्धि कर ली परन्तु मारवाड़ बीच-बीच में सन्धि करते हुए भी औरंगजेब के अन्तिम समय तक संघर्षरत रहा जब तक कि मुगल बादशाह ने अजीतसिंह को मारवाड़ का शासक स्वीकार नहीं कर लिया। औरंगजेब के उत्तराधिकारियों ने राजस्थान के शासकों के साथ कोई सुनिश्चित नीति नहीं अपनायी बल्कि उसके प्रथम उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम का पहला प्रयत्न इन शासकों को अपने दबाव में लाने का रहा, परन्तु वह इस कार्य में असफल रहा। इसके प्रतिक्रियास्वरूप मेवाड़ के राणा अमरसिंह, मारवाड़ के शासक अजीतसिंह और जयपुर के राजा जयसिंह ने मिलकर राजस्थान में मुगलों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया। पंजाब में सिखों के विद्रोह के कारण बहादुरशाह ने इन राजपूत-शासकों से समझौता करना उचित समझा। इसका परिणाम यह हुआ कि इन राजपूत-शासकों को भी मुगलों की दुर्बलता समझ में आ गयी और उन्होंने अपने अधिकारों में वृद्धि की तथा 1740 ई. तक वे भी अर्द्ध-स्वतंत्रता की उसी स्थिति में पहुँच गये जो हैदराबाद, अवध और बंगाल के राज्यों ने प्राप्त कर ली थी। परन्तु राजपूत-राज्यों ने इसका कोई लाभ नहीं उठाया। उनमें अधिकांशतया परस्पर संघर्ष रहा अथवा सिंहासन के उत्तराधिकार के लिए युद्ध होते रहे जिसका लाभ उभरती हुई मराठा-शक्ति ने उठाया। मराठों ने उनके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके राजस्थान को अपने प्रभाव में ले लिया। इस कारण राजपूत-शासक धीरे-धीरे मराठों की अधीनता में चले गये। उनका मराठों से वही सम्बन्ध हो गया जो पहले मुगल बादशाह से था। बाद में जब भारत में मराठों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया तब राजस्थान के ये राजपूत-शासक अंग्रेजों की सम्प्रभुता के अधीन हो गये।

16वीं सदी में जब राजपूतों के सम्बन्ध मुगलों से हो गये तब उन सम्बन्धों का प्रभाव उनके शासन, राजनीति, सभ्यता और संस्कृति पर आया। यद्यपि मुगल बादशाहों ने राजपूत-राजाओं के शासन और परम्पराओं में कोई प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं किया तब भी उनके

शासन और रीति-रिवाजों पर मुगलों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। शासन में राजा जिसे राणा, महाराणा, महाराजा, राजाधिराज आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था, राज्य का प्रधान था और राज्य की वैधानिक कार्यकारिणी, न्यायिक और सैनिक-शक्तियाँ उसमें केन्द्रित थीं। उसकी सलाह के लिए मंत्रियों की एक समिति अवश्य होती थी परन्तु उसकी सलाह मानने के लिए राजा बाध्य नहीं था। राजपूत-शासकों में यह परम्परा थी कि उनके सबसे बड़े पुत्र के वयस्क होने पर उसे सिंहासन का उत्तराधिकारी अर्थात् युवराज घोषित कर दिया जाता था और शासन में उससे भी सहयोग लिया जाता था। सबसे बड़े पुत्र के अयोग्य होने पर राजा या उसकी मत्यु हो जाने की स्थिति में राज्य के सामंत-गण उसके किसी अन्य पुत्र या निकट के किसी सम्बन्धी को गद्दी पर बैठा देते थे, ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं। मुगल बादशाह अकबर ने राजपूत-शासकों पर अपनी संप्रभुता को प्रभावी बनाये रखने के लिए राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी को टीका अर्थात् माथे पर तिलक लगाकर उसे राजा की मान्यता प्रदान करने की प्रथा आरम्भ की। यह प्रथा एक परम्परा बन गयी जिसका प्रयोग मुगल बादशाहों ने अपने पक्ष में किया। कई अवसरों पर मुगल बादशाहों ने विवादग्रस्त उत्तराधिकार के समय में अपने ऐच्छिक व्यक्ति को टीका लगाकर राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और इस प्रकार राजपूत-शासकों के संप्रभु होने के अधिकार का अपने पक्ष में प्रयोग किया। मुगल बादशाह अधिकांशतया राजपूत-शासकों की नियुक्ति उनके राज्य के बाहर ही करते थे जिसके कारण राजपूत-शासक अपने राज्य का शासन प्रत्यक्ष रूप से करने की स्थिति में नहीं रह गये, उनकी मन्त्री-परिषद का महत्व कम हो गया तथा केन्द्रीय विभागों के प्रधान शासन में महत्वपूर्ण बन गये। राजपूत-शासन में केन्द्र पर दीवान, बख्शी, खान-ए-सामान और शहर कोतवाल आदि पदाधिकारियों का होना मुगल-शासन के प्रभाव को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार, राज्य को परगना, तहसील और गाँव में बाँटना तथा वहाँ हाकिम, फौजदार, अमीन, कानूनगो, पटवारी आदि अधिकारियों के पदों का नामांकन और उनके अधिकारों एवं कर्तव्यों का वर्गीकरण भी मुगल-शासन-प्रणाली के समान ही किया गया था। परगना का सबसे बड़ा अधिकारी हाकिम था तथा शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए फौजदार की नियुक्ति होती थी। तहसील में शान्ति और सुरक्षा का उत्तरदायित्व थानेदार का होता था और गाँव के शासन की देखभाल चौधरी या पटवारी और ग्राम-पंचायतें करती थीं। यह कहना उचित नहीं है कि सभी राजपूत-राज्यों में शासन-व्यवस्था समान थी। वस्तुतः यह कहना अधिक उचित है कि उनमें स्थानीय आधार पर पदाधिकारियों के नामांकन, अधिकारों और लगान-सम्बन्धी शासन को लेकर अन्तर थे यद्यपि विस्तृत रूप में उनमें समानता थी जो उनके शासन पर मुगलों का प्रभाव आ जाने के कारण थी। मूलतया, राजपूतों की सामन्त-व्यवस्था भी सभी राजपूत-राज्यों को समता प्रदान करने में सहायक थी। यह सामन्त-व्यवस्था यूरोप की सामन्त-व्यवस्था से भिन्न थी। राजपूत-राजा के सामन्त अधिकांशतया उसके निकट के सम्बन्धी या रक्त-सम्बन्धों से जुड़े हुए परिवार के ही व्यक्ति होते थे। उनके पारस्परिक सम्बन्ध प्रभुत्व और रिश्तेदारी के होते थे न कि किसी समझौते के जैसा कि यूरोप में था। इसके अतिरिक्त, जबकि यूरोप में सामन्त अपने सिक्के ढालने और अपने प्रदेश में शासन और न्याय करने का स्वतंत्र अधिकार रखते थे, राजपूतों में ऐसा नहीं था। इसके अतिरिक्त, जबकि यूरोप में भूमि राजा की मानी जाती थी जिसे राजा सामन्तों को प्रदान कर सकता था, भारत में प्रत्येक शासन के अन्तर्गत और राजपूतों में भी भूमि का मालिक सामन्त को नहीं बल्कि किसान को माना गया था जो भूमि पर खेती करता था। परन्तु राजपूतों की अपनी सामन्त-व्यवस्था में तो समानता थी ही जो उनके विभिन्न राज्यों के

शासन में समता प्रदान करती थी। यह भी कहना उचित है कि राजपूत-राजा और सामन्तों के सम्बन्ध सर्वदा एक जैसे नहीं रहे थे। शक्तिशाली मुगल-शासकों का आश्रय पाकर राजपूत-शासकों की सामन्तों पर निर्भरता कम हुई और उन्होंने सामन्तों के अधिकारों में कमी की परन्तु जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये तब सामन्तों ने अपने प्रभाव को पुनः बढ़ा लिया।

राजपूत-राज्यों की **आर्थिक स्थिति** में भी कृषि और उस पर लिये जाने वाले लगान का जिसे 'भोग' या हासिल पुकारा जाता था, मुख्य स्थान था। भूमि चार प्रकार की थी। राजा की भूमि **खालसा-भूमि** कहलाती थी जिससे राज्य उत्पादन का 1/3 से 1/2 भाग लगान के रूप में लेता था। सामन्तों की भूमि को **जागीर-भूमि** पुकारते थे जो अपनी भूमि की आय का 8% भाग (जिसे **'रेख'** पुकारते थे) राजा को उसके सैनिक-व्यय के लिए देते थे। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक सामन्त राजा की सैनिक सहायता करने के लिए भी बाध्य था जिसे **'चाकरी'** पुकारते थे। तीसरे प्रकार की भूमि **भौम** थी जिसके मालिक को **'भौमिया'** पुकारते थे, जो कृषि-कर से मुक्त भूमि थी और जिस पर 'भौमिया' का वंशानुगत अधिकार था तथा जिसके बदले में वह गाँव, सड़कों, यातायात और अपने क्षेत्र में खजाने की सुरक्षा की व्यवस्था करता था। चौथी भूमि **'मुआफी'** भूमि थी जो दान या पारितोषिक के रूप में व्यक्तियों को दी जाती थी तथा कर-मुक्त थी। राज्य की ओर से किसानों को पट्टे दिये जाते थे। सामन्त भी किसानों को पट्टे देते थे। इन पट्टों द्वारा भूमि पर किसान के स्वामित्व को स्वीकार किया जाता था। विद्रोही होने पर, उत्तराधिकारी न होने पर अथवा राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने पर ही राज्य किसान को उसकी भूमि से पृथक कर सकता था अन्यथा नहीं। परन्तु किसानों का एक वर्ग ऐसा भी था जिनको पट्टे अस्थायी रूप से दिये जाते थे। ऐसी स्थिति में उन किसानों का अपनी भूमि पर वंशानुगत अधिकार नहीं होता था बल्कि उनका अधिकार भूमि पर उतने समय के लिए ही होता था जितना समय उनके पट्टे में लिखा होता था। खड़ी फसल पर लगान तय करना, फसल के कटने के पश्चात् लगान तय करना और भूमि की पैमाइश के आधार पर लगान तय करना आदि विभिन्न तरीके लगान को निश्चित करने के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। लगान गल्ले की शक्ल में या सिक्के की शक्ल में अर्थात् दोनों में से किसी भी शक्ल में दिया जा सकता था। अलग-अलग फसलों के लिए अलग-अलग व्यवस्था थी। लगान निश्चित करते समय किसान का आर्थिक स्तर, भूमि की किस्म, सिंचाई की सुविधा, गाँव से खेत की दूरी आदि का भी ध्यान रखा जाता था। कठिनाइयों के अवसर पर किसानों को लगान में छूट भी दी जाती थी। किसानों से बेगार ली जाती थी, ऐसे भी प्रमाण प्राप्त हुए हैं। लगान के अतिरिक्त समय-समय पर सामन्तों तथा अन्य अधिकारियों द्वारा दिये गये नज़राने जिन्हें **'पेशकश'** कहते थे और सीमा-शुल्क जिसे **'राहदारी'** पुकारते थे, राज्य की आय के अन्य साधन थे। बिक्री-कर, मकान-कर, आदि भी राज्य की आय के अन्य स्रोत थे। राज्य का **दीवान** (प्रधान वित्त-अधिकारी), उसकी सहायता के लिए **दीवान-ए-तन, हवलदार, दरोगा, अमीन, पोतदार, कामदार, तहसीलदार** आदि विभिन्न राज्य-अधिकारी थे। इनके अतिरिक्त **चौधरी, पटवारी** और **साहण** गाँव के पैतृक अधिकारी थे जो लगान वसूल करने में राज्य की सहायता करते थे परन्तु वेतनभोगी अधिकारी नहीं थे। मुगलों की लगान-व्यवस्था का प्रभाव राजपूतों की व्यवस्था पर था, यह उनके अधिकारियों के नामांकन से स्पष्ट होता है। मुगल-साम्राज्य के सम्पर्क में आने से राजस्थान के व्यापार में प्रगति हुई थी। मुगल-प्रदेशों में राजस्थान का चमड़े और लकड़ी का सामान, संगमरमर पत्थर से बनी हुई वस्तुएँ, ऊँट आदि की माँग होने लगी। राजस्थान की

भौगोलिक स्थिति दक्षिण-भारत, गुजरात, मालवा और उत्तर-भारत से व्यापार करने के लिए सुविधाजनक थी। राजस्थान में सड़कों की कमी भी न थी। मेवाड़, रणथम्भौर, जयपुर, अजमेर, मेड़ता, सिवाना आदि से विभिन्न सड़कें विभिन्न स्थानों को जाती थीं और राजस्थान के सभी नगर एक दूसरे से सड़कों से जुड़े हुए थे। इस कारण, सम्पूर्ण मुगल-काल में राजस्थान के व्यापार में उन्नति हुई, नई मण्डियाँ खुलीं तथा नवीन बाजारों और हाटों (व्यापारिक मेले) की व्यवस्था हुई। उद्योगों की दृष्टि से भी राजस्थान में सूती वस्त्र, लोहे के शस्त्र, आभूषण, पत्थर निकालना, चमड़े की वस्तुएँ आदि बनाने के उद्योग और नमक बनाने का उद्योग काफी प्रगतिशील था। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मुगल-साम्राज्य के सम्पर्क में आने से राजस्थान आर्थिक दृष्टि से प्रगति की ओर अग्रसर हुआ था।

सामाजिक दृष्टि से कुल अथवा जातीय-व्यवस्था राजस्थान में दृढ़ रही। राजपूतों की सामन्त-व्यवस्था ने उसे कठोर ही बनाया। ब्राह्मणों और क्षत्रिय-राजपूतों का समाज में श्रेष्ठ स्थान रहा। खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन के साधनों में, मुगल-दरबार के सम्पर्क में आने से, मुख्यतया शासक-वर्ग में सुधार हुआ । परन्तु सामाजिक कुरीतियाँ जैसे सती-प्रथा, अल्पायु-विवाह, विधवाओं का विवाह न होना, जाति-भेद आदि समाज में वर्तमान रहे। मुगलों के सम्पर्क में आने से राजपूत-शासकों में विलासिता की वृद्धि हुई। अकबर के समय में राजा मानसिंह ने भी अपना हरम स्थापित कर लिया था जिसमें प्रायः 1,500 स्त्रियाँ थीं। ऐसी स्थिति में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में गिरावट आयी और राजपूतों का नैतिक पतन हुआ। 18वीं सदी में राजपूत-शासकों में हमें शौर्य और चारित्रिक दृढ़ता का अभाव दिखायी देता है। स्पष्ट है कि मुगल बादशाहों की विलासिता ने राजपूत-शासकों को प्रभावित कर दिया था जिसके कारण उनके चारित्रिक गुण नष्ट हो गये। यह राजपूत-राज्यों के पतन का एक मुख्य कारण रहा अन्यथा सदियों तक अपने से कहीं अधिक शक्तिशाली तुर्कों और मुगल-शासकों से उचित साधनों की अनुपस्थिति में भी संघर्ष करने वाले राजपूत पहले मराठों और उसके पश्चात् अंग्रेजों के सम्मुख बिना विरोध के न झुक जाते। इस प्रकार मुगलों के सम्पर्क में आने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम राजस्थान के राजपूत-शासकों के परम्परागत जातीय गुणों का नष्ट हो जाना था। सांस्कृतिक दृष्टि से, निस्सन्देह, स्थापत्य-कला और चित्रकला की दृष्टि से राजस्थान ने मुगलों के सम्पर्क का लाभ उठाया। इस काल में भव्य मन्दिरों, नगरों और महलों का निर्माण हुआ तथा राजपूत-चित्रकला-शैली का विकास हुआ जो भारतीय-चित्रकला में एक विशेष स्थान रखती है। इसके अतिरिक्त, राजपूत-शासकों ने साहित्यिक दृष्टि से भी कुछ योगदान दिया तथा संगीत और नृत्यकला को भी प्रोत्साहन दिया। विभिन्न विद्वानों और कलाकारों को संरक्षण देने की परम्परा इस काल के राजपूत-शासकों ने भी निभायी।

2. पंजाब में सिख-शक्ति का उत्थान

सिखों के दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्दसिंह के दो पुत्र युद्ध में लड़ते हुए मारे गये थे और दो पुत्रों को मुगलों ने दीवार में जिन्दा चिनवा दिया था। उन्होंने अपनी मृत्यु से पहले गुरु की प्रथा को समाप्त कर दिया और कहा कि जहाँ भी पाँच सिख एकत्रित होंगे वहाँ मैं उपस्थित रहूँगा। इस प्रकार, उन्होंने सिख-सम्प्रदाय के हितों के बारे में निर्णय करने का अधिकार सिख-पंचायत को सौंप दिया। गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों को पूर्णतया सैनिक बनाया और खालसा-सेना की स्थापना की यद्यपि यह क्रिया छठे गुरु हरगोविन्द के समय से

ही आरम्भ हो गयी थी। उन्होंने जीवनभर मुगलों से संघर्ष किया और ऐसा करते हुए उन्होंने पंजाब में सिखों को एक बड़ी शक्ति बना दिया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् हुए उत्तराधिकार के युद्ध में बहादुरशाह प्रथम ने उनसे सहायता माँगी और वे उसके साथ दक्षिण-भारत गये। 1708 ई. में वहीं पर नादिर नामक स्थान पर एक पठान ने छुरा मारकर उन्हें बुरी तरह से घायल कर दिया। कुछ दिनों पश्चात् अपनी मृत्यु को निश्चित जानकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द करके आत्मदाह कर लिया। गुरु गोविन्दसिंह की भेंट नादिर में माधवदास नाम के एक वैरागी से हुई जिसने गुरु से प्रभावित होकर अपने को उनका बन्दा (दास) पुकारा था। गुरु ने उसको बन्दा बहादुर पुकारा और अपनी मृत्यु से पहले ही उसे पंजाब में सिखों की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व सौंपा तथा अपने तर्कश के पाँच तीर, पाँच मुख्य अनुयायी तथा कुछ अन्य सिख अनुयायी उसके साथ करके उसे पंजाब जाने के आदेश दिये। बन्दा जब तक दिल्ली पहुँचा तभी उसे गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु का समाचार मिल गया। उसी समय से उसने गुरु के आदेश को मानकर सिखों को नेतृत्व प्रदान किया।

बन्दा बहादुर—बन्दा का जन्म 1670 ई. में पुंछ जिले के रजौरी गाँव में हुआ था। उसका बचपन का नाम लक्ष्मणदेव था। उसके पिता रामदेव भारद्वाज राजपूत थे जो एक साधारण किसान थे। बन्दा ने अपनी युवावस्था में घर छोड़ दिया और साधुओं की एक टोली के साथ दक्षिण-भारत चला गया। उसने अपना नाम भी माधवदास रख लिया तथा वैरागी का जीवन काटने लगा। नादिर में एक आश्रम बनाकर उसने योग-साधना आरम्भ की और बहुत से व्यक्ति उसके अनुयायी बन गये। वहीं गुरु गोविन्दसिंह से उसकी भेंट हुई जिन्होंने उसे सिखों की रक्षा का उत्तरदायित्व देकर पंजाब भेजा। बन्दा ने गुरु का सन्देश सिखों को पहुँचाया और मुगलों के अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करने का आह्वान किया। मुगल-अधिकारियों के विरुद्ध उसने अपना सशस्त्र संघर्ष सोनीपत से आरम्भ किया तथा वहाँ के मुगल फौजदार को परास्त किया। मार्ग में शाहबाद, मुस्तफाबाद, आदि स्थानों को जीतते हुए बन्दा ने सरहिन्द पर आक्रमण किया जहाँ के फौजदार वजीरखाँ ने गुरु गोविन्दसिंह के दो बच्चों को दीवार में चिनवाया था। वजीरखाँ युद्ध में मारा गया और उसकी अपार सम्पत्ति बन्दा के हाथ लगी। बन्दा की प्रारम्भिक सफलता ने उसे बहुत लोकप्रिय बना दिया और सिख यह समझने लगे कि उसमें गुरु गोविन्दसिंह की आत्मा आ गयी है। सरहिन्द के 28 परगने बन्दा ने अपने अधीन कर लिये। बन्दा का उद्देश्य पंजाब में एक सिख-राज्य स्थापित करने का था। इसके लिए उसने लौहगढ़ को राजधानी बनाया, गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह के नाम के सिक्के चलाये और सिख-राज्य की एक सील या मुहर भी बनवायी। कहा गया है कि उसने एक नया संवत भी चलाया था। इस प्रकार, पंजाब में एक सिख-राज्य की स्थापना का विचार सिखों को सर्वप्रिय बन्दा बहादुर ने दिया। बन्दा ने सरहिन्द में मुगल-अधिकारियों को हटाकर सिख अधिकारी नियुक्त किये। बन्दा ने स्वयं न तो कोई पदवी ली और न कभी दरबार किया। उसने सभी कार्य गुरु के नाम से किये। मुगल बादशाह बहादुरशाह पहले दक्षिण में और उसके पश्चात् राजपूत-शासकों के विरोध को दबाने में व्यस्त रहा। इस कारण, बन्दा ने पंजाब में ही नहीं बल्कि गंगा-यमुना दोआब में सहारनपुर और उसके निकट के क्षेत्रों तक आक्रमण किये। परन्तु बहादुरशाह सिखों के आक्रमणों के प्रति उदासीन नहीं था। उसने फीरोजखाँ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना बन्दा बहादुर को समाप्त करने के लिए भेजी जिसके कारण बन्दा बहादुर को पहाड़ों में छिपने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसकी राजधानी लौहगढ़ भी मुगलों के अधिकार में चली गयी। परन्तु बन्दा बहादुर ने साहस नहीं छोड़ा। वह निरन्तर मुगलों से संघर्ष करता रहा। नवीन

मुगल बादशाह जहाँदारशाह और उसके पश्चात् फर्रुखसियर भी सिखों के विद्रोह को दबाने के लिए कटिबद्ध रहे। अन्त में 1716 ई. में गुरुदास-नांगल नामक स्थान पर बन्दा बहादुर को मुगल-सेना ने घेर लिया। प्रायः आठ माह के घेरे के पश्चात् बन्दा बहादुर ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे और उसके साथियों को दिल्ली ले जाया गया जहाँ इस्लाम को स्वीकार करने से मना करने पर उसे और उसके साथियों को क्रूरता से मार दिया गया।

बन्दा बहादुर के बाद—बन्दा की मृत्यु के पश्चात् सिख नेतृत्वहीन हो गये। उनके सामने न अब गुरु रह गया और न गुरु का बन्दा। उस समय से सिखों ने **सरबत खालसा** और **गुरुमत्ता** की प्रथाओं को आरम्भ किया। बैसाखी और दीवाली पर वर्ष में दो बार सिखों ने अपनी आम-सभाएँ करनी आरम्भ कीं। ये सभाएँ **'सरबत खालसा'** कहलाती थीं। इन सभाओं में जो निर्णय होते थे उन्हें गुरु का मत मानकर **'गुरुमत्ता'** पुकारा गया। इस प्रकार, वे निर्णय गुरु का आदेश माने गये। बन्दा बहादुर के पश्चात् भी सिखों और मुगलों में संघर्ष होते रहे। बन्दा बहादुर ने सिखों को अपना राज्य स्थापित करने का विचार दिया था। उससे प्रेरणा पाकर विभिन्न सिख-सरदारों ने अपनी सेनाएँ एकत्रित करके अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में उनका मुगलों से संघर्ष स्वाभाविक था। इसी अवसर पर अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण पंजाब और दिल्ली पर होने आरम्भ हुए। दिल्ली की राजनीति के कारण आगे आने वाले वर्षों में पंजाब में मराठों का भी हस्तक्षेप हुआ। इस प्रकार पंजाब वर्षों तक अफगान, मुगल और मराठों की राजनीति और युद्धों का शिकार रहा। 1761 ई. में पानीपत की तीसरी लड़ाई में अहमदशाह अब्दाली ने मराठों को बुरी तरह से पराजित किया जिसके कारण पंजाब की राजनीति में मुगलों और मराठों का प्रभाव दुर्बल हो गया। ऐसी स्थिति में सिखों को अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिला। बाद में अहमदशाह अब्दाली की मृत्यु के पश्चात् पंजाब पर अफगान-शासक की पकड़ भी कमजोर हो गयी तथा सिखों ने विभिन्न स्थानों पर अपने छोटे-छोटे राज्य बना लिये जिन्हें **'मिस्ल'** पुकारते थे। रणजीतसिंह के उत्थान से पहले पंजाब में ऐसे बारह मिस्ल थे। उन्हीं में से एक मिस्ल का मालिक रणजीतसिंह का पिता माहासिंह था। 1792 ई. में माहासिंह की मृत्यु हुई और उसके पश्चात् रणजीतसिंह अपने पिता की मिस्ल सुकारचकिया का मालिक बना। उस समय अफगानिस्तान का शासक जमानशाह था जिसने पंजाब पर 1795-98 ई. के मध्य तीन आक्रमण किये। उसके तीसरे आक्रमण के अवसर पर रणजीतसिंह ने उसकी सहायता की जिसके उपलक्ष्य में उसे राजा का पद और लाहौर की सूबेदारी मिली। रणजीतसिंह ने बाद में पंजाब में एक सशक्त राज्य की स्थापना की। परन्तु 18वीं सदी के अन्त तक ही सिख पंजाब में पर्याप्त शक्तिशाली बन गये थे जिसके कारण रणजीतसिंह को अपने सिख-राज्य का निर्माण करने का अवसर मिला।

3. मैसूर-राज्य का उत्थान और पतन

मैसूर विजयनगर-राज्य के अधीन था। 1565 ई. में तालीकोटा के युद्ध के पश्चात् जब विजयनगर-राज्य दुर्बल हो गया तब मैसूर-राज्य ने एक स्वतन्त्र राज्य की भाँति व्यवहार करना आरम्भ कर दिया, यद्यपि नाम के लिए वह विजयनगर-राज्य के स्वामित्व को स्वीकार करता रहा। 1612 ई. में विजयनगर के शासक वैंकट द्वितीय ने मैसूर के सरदार वाडियार को 'राजा' की उपाधि से विभूषित किया। तब से मैसूर-राज्य की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयीं। उसके शासकों ने स्वतंत्र शासकों की भाँति ही राज्य-विस्तार की नीति अपनायी और पर्याप्त सफल भी रहे। 1732 ई. में अल्पायु में राजकुमार कृष्णराज मैसूर-राज्य का राजा

बना। उसके समय में वास्तविक शासन-सत्ता उसके मंत्री नन्दराज के हाथों में चली गयी। उस स्थिति का लाभ हैदरअली ने उठाया और 1761 ई. में उसने सत्ता अपने हाथों में ले ली।

हैदरअली का जन्म मैसूर-राज्य में बुदीकोट नामक स्थान पर 1721 ई. में हुआ था। उसके पूर्वज दिल्ली से गुलबर्गा आये थे और कृषि करते थे। हैदरअली के पिता फतह मुहम्मद ने, सर्वप्रथम, सैनिक-सेवा आरम्भ की और मैसूर-राज्य में फौजदार का पद और बुदीकोट की जागीर प्राप्त की। 1728 ई. में फतह मुहम्मद की मृत्यु हो गयी जबकि हैदरअली बच्चा ही था। जवान होकर हैदरअली सेना में भर्ती हो गया। उस समय कृष्णराज मैसूर का राजा था। हैदरअली साहसी और सैनिक दृष्टि से प्रतिभावान था। इस कारण, उसके पद में उन्नति होती गयी। हैदराबाद के निजाम नासिरजंग के कत्ल हो जाने और मुजफ्फरजंग के निजाम बनने के अवसर पर हैदरअली को सौभाग्य से नासिरजंग के खजाने का कुछ भाग मिल गया। इससे उसे अपने सैनिकों की संख्या बढ़ाने का अवसर मिला। उसने यूरोपीय युद्ध-शैली की श्रेष्ठता को समझा और अपने सैनिकों को उसी आधार पर प्रशिक्षित किया। नन्दराज, एक बार, त्रिचनापल्ली पर आक्रमण के अवसर पर, उसे अपने साथ ले गया जिसने उसे युद्ध का अनुभव करा दिया। सौभाग्य से हैदरअली को उस युद्ध में अंग्रेजों की कुछ तोपें प्राप्त हो गयीं। इससे उसे अपनी सैनिक-शक्ति में वृद्धि करने का अवसर मिला। 1755 ई. में उसे डिण्डीगल का फौजदार नियुक्त किया गया। वहाँ उसने फ्रान्सीसियों की सहायता से एक शस्त्रागार स्थापित किया और उनसे अपने सैनिकों को यूरोपीय युद्ध-पद्धति का प्रशिक्षण भी दिलवाया। उस समय मैसूर-राज्य पर मराठों के आक्रमण होते रहते थे जिनसे छुटकारा अधिकांशतया धन देकर ही पाया जाता था। हैदराबाद का निजाम भी मैसूर-राज्य के विरुद्ध था और यदा-कदा उससे धन वसूल करता था। इन पड़ौसी राज्यों द्वारा उत्पन्न की गयी कठिनाइयों से भी हैदरअली को अपने उत्थान में सहायता मिली। उसकी सैनिक-प्रतिभा और शक्ति को देखकर उसे राज्य का सेनापति नियुक्त किया गया। इसका उसने पूर्ण लाभ उठाया और 1761 ई. में वह राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। मैसूर के राजा को वर्ष में एक बार उसकी प्रजा को दिखा दिया जाता था परन्तु शासन में उसका कोई महत्व न था। हैदरअली ही राज्य का प्रधान बन गया यद्यपि उसने सुल्तान का पद कभी भी ग्रहण नहीं किया। हैदरअली ने मैसूर-राज्य को विस्तृत किया। वह जब डिण्डीगल का फौजदार था तभी से अपने सीमा-क्षेत्र को बढ़ा रहा था। बाद में भी वह इसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार के युद्ध, पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय और अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसियों की कट्टर शत्रुता ने उसे अपने राज्य की सीमा में विस्तार करने का अवसर दिया क्योंकि इनमें से कोई भी काफी समय तक मैसूर-राज्य की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं पा सका। हैदरअली ने धीरे-धीरे अपने निकट के क्षेत्रों जैसे बेदनूर, कनारा आदि पर अधिकार कर लिया और बल्लालपुर, रायदुर्ग, चित्तलदुर्ग, आदि के सरदारों को अपना प्रभुत्व स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार, हैदरअली ने दक्षिण-भारत में मैसूर-राज्य को एक विस्तृत और शक्तिशाली राज्य बनाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु मराठे और निजाम मैसूर-राज्य के उत्थान के प्रति उदासीन नहीं थे। निजाम अपने पड़ौस में एक शक्तिशाली राज्य को पसन्द नहीं करता था और मराठे दक्षिण में एक अन्य राज्य को पनपने का अवसर देना नहीं चाहते थे। अंग्रेज भी आरम्भ से ही मैसूर-राज्य के विरोधी हो गये थे। हैदरअली का सैनिक-प्रशिक्षण के लिए फ्रान्सीसियों पर निर्भर करना, माही के बन्दरगाह पर अंग्रेजों का अधिकार करना, हैदरअली के पुत्र और उत्तराधिकारी टीपू का भी अंग्रेजों के विरुद्ध रहना तथा ट्रावनकोर के राजा पर आक्रमण करना जो अंग्रेजों का मित्र-राज्य था,

समय-समय पर ऐसे कारण बने जिनसे अंग्रेजों और मैसूर-राज्य के सम्बन्ध शत्रुता के रहे। वैसे भी अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति भारत में किसी भी शत्रु-राज्य को न पनपने देने की थी। अंग्रेज, निजाम और मराठे टीपू से इस कारण भी असन्तुष्ट हुए क्योंकि उसने 1786 ई. में सुल्तान का पद ग्रहण कर लिया। इस कारण हैदराबाद का निजाम, मराठे और मुख्यतया अंग्रेज मैसूर-राज्य के विरोधी रहे। निस्सन्देह, निजाम और मराठे अप्रत्यक्ष रूप से मैसूर-राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए क्योंकि समय-समय पर उन्होंने या तो अंग्रेजों की मैसूर-राज्य के विरुद्ध सहायता की अथवा अंग्रेजों और मैसूर-राज्य में युद्ध होने की स्थिति में वे तटस्थ हो गये। परन्तु अंग्रेज प्रत्यक्ष रूप से मैसूर-राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए। अंग्रेजों ने चार युद्ध मैसूर-राज्य के विरुद्ध लड़े—पहला 1766-1769 ई. में, दूसरा 1780-1784 ई. में, तीसरा 1790-1792 ई. में और चौथा 1799 ई. में। दूसरे आँग्ल-मैसूर युद्ध के अवसर पर हैदरअली की मृत्यु हो गयी जिसके कारण बाद के दो युद्ध अंग्रेजों से टीपू ने लड़े। इन युद्धों का परिणाम हैदरअली द्वारा बनाये गये मैसूर-राज्य का नष्ट हो जाना था। चौथे युद्ध में टीपू अपनी राजधानी श्रीरंगपट्टम के किले की दीवार के निकट लड़ता हुआ मारा गया। उसके पश्चात् मैसूर-राज्य के अधिकांश भाग पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया, कुछ भाग निजाम को दे दिया गया और बाकी बचा हुआ छोटा राज्य पहले के हिन्दू राजा के अल्पायु पुत्र को सौंप दिया गया जो पूर्णतया अंग्रेजों पर आश्रित था।

इस प्रकार 18वीं सदी की एक मुख्य घटना दक्षिण-भारत में मैसूर-राज्य का उत्थान और उसी सदी में उसका पतन रही।

4. मराठे

मराठों के स्वतंत्र राज्य की स्थापना छत्रपति शिवाजी ने औरंगजेब के शासन-काल में ही कर ली थी। बाद में, 1689 ई. में औरंगजेब ने शिवाजी के पुत्र और उत्तराधिकारी शम्भाजी को समाप्त करने तथा महाराष्ट्र पर अधिकार करने में सफलता पायी। परन्तु यह सफलता अस्थायी थी। मराठों ने शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् महाराष्ट को स्वतंत्र करने के लिए जो संग्राम आरम्भ किया वह औरंगजेब की मृत्यु तक चला। औरंगजेब मराठों के उस संग्राम को न दबा सका और मराठों ने न केवल महाराष्ट्र को ही स्वतंत्र कर लिया बल्कि मुगल-छावनी पर भी छापे मारने आरम्भ कर दिये। शिवाजी के दूसरे पुत्र राजाराम की पत्नी ने अपने पति की मृत्यु (1700 ई.) के पश्चात् मराठों का छत्रपति अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय को घोषित किया और मुगलों से संघर्ष जारी रखा। ऐसी ही स्थिति में मुगलों की कैद से निकलकर आये हुए शम्भाजी के पुत्र शाहू ने महाराष्ट्र में प्रवेश किया (1707ई.) और मराठा-छत्रपति होने का दावा किया। वह सफल हुआ। अधिकांश मराठा-सरदारों ने उसे मराठा-छत्रपति मान लिया। उसके समय में उसके द्वारा नियुक्त किये गये उसके प्रथम तीन पेशवाओं ने मराठा-साम्राज्य के विस्तार में भाग लिया। एक के बाद एक हुए पेशवा बालाजी विश्वनाथ, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव ने अपने-अपने साधनों से मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। उन्होंने उस श्रेष्ठता का उपभोग उस समय तक किया जब तक कि मराठा-शक्ति पानीपत के तृतीय युद्ध में अहमदशाह अब्दाली से टकराकर दुर्बल नहीं हो गयी। परन्तु वह 18वीं सदी का प्रायः अन्त था। 18वीं सदी के अधिकांश समय में मराठे भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति थे। बाद में उनका संघर्ष नवोदित शक्ति अंग्रेजों से हुआ जिसमें वे परास्त हुए।

(मराठा-शक्ति के विस्तार के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 10 देखिए।)

5. यूरोपीय निवासी

यूरोप के निवासियों में से भारत आने वाले और यहाँ की राजनीति और व्यापार को प्रभावित करने वालों में पुर्तगाली, डच (हॉलैण्ड के रहने वाले), अंग्रेज और फ्रान्सीसी थे। भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मुख्य अभिप्राय व्यापार था यद्यपि सहायक रूप में अपने देश के गौरव में वृद्धि करना और ईसाई धर्म का प्रसार करना भी रहे। तुर्कों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी यूरोप तक अपना अधिकार कर लिया था जिससे यूरोप द्वारा एशिया के पूर्वी देशों से व्यापार करने के स्थल-मार्ग पर उनका एकाधिपत्य हो गया था और यूरोप के राज्य इसके लिए उनकी दया पर आश्रित हो गये थे। यूरोपीय देश एशिया के देशों से रेशम, जवाहरात, जड़ी-बूटियाँ आदि विभिन्न वस्तुएँ आयात करते थे परन्तु उनमें सबसे मुख्य वस्तु गर्म-मसाले थे जो उनके माँसाहारी भोजन को स्वादिष्ट बनाने की एक आवश्यकता थे। इस कारण यूरोपीय देशों को भारत और पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए जल-मार्ग खोजने की आवश्यकता हुई। उनके अनुसार भारत एक ऐसा देश था जो धनवान था और जहाँ से वे गर्म-मसाले प्राप्त कर सकते थे। इस कारण, भारत के लिए समुद्री-मार्ग की खोज यूरोप-निवासियों के लिए एक आवश्यकता और प्रेरणाद्रायक लक्ष्य बन गयी। भारत आकर ही उन्हें यह पता लगा कि गर्म-मसालों के लिए भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश जैसे जावा, सुमात्रा, मलाया, बोर्नियो आदि और श्रीलंका अधिक उपयुक्त थे। स्वयं भारतीय गर्म-मसालों को इन देशों से आयात करते थे और फिर उन्हें यूरोपीय देशों को भेजते थे। परन्तु तब भी भारत दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों से व्यापार करने की एक कड़ी हो सकता था। इस कारण, पूर्व से आने वाले सभी यूरोपीय निवासियों ने भारत से व्यापारिक सम्बंन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये।

18वीं सदी में भारत की राजनीतिक दुर्बलता को देखकर इन यूरोपीय निवासियों न यहाँ राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसके कारण उनमें पारस्परिक व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी आरम्भ हुई। इससे इनके झगड़े आपस में हुए और भारतीय नरेशों से भी। इस संघर्ष में अन्तिम विजय अंग्रेजों की हुई जिन्होंने सम्पूर्ण भारत को अपने अधीन करने में सफलता प्राप्त की। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि भारत में यूरोपीय निवासियों के आने का मूल कारण भारत से व्यापार करके आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। यूरोप उस समय तक बौद्धिक जागृति (Renaissance) और धर्म-सुधार (Reformation) से प्रभावित हो चुका था और जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नतिशील था। इस कारण, 16वीं सदी में तो नहीं परन्तु 17वीं सदी में व्यापारिक क्षेत्र में भी उसकी महत्वाकांक्षाएँ बढ़ गयी थीं और वह अन्तर-महाद्वीपीय व्यापार के लिए तत्पर और समर्थ हो गया था। इस कारण, यूरोप-निवासियों ने एशिया के देशों से व्यापार करने हेतु अपनी गतिविधियाँ तीव्र कीं तथा भारत के लिए प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग खोजने में सफल हुए। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूरोप-निवासियों का भारत आना एक श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार (civilization on the march) था अर्थात् यूरोप-निवासियों का एशिया और अफ्रीका के देशों में जाने का उद्देश्य सभ्यता का प्रसार करना था और भारत में भी उनका मुख्य उद्देश्य यही था। परन्तु यह पूर्णतया असत्य विचारधारा है। यूरोप-निवासी इन देशों और भारत में भी पूर्णतया व्यापार और धन की लालसा से आये थे। यहाँ आकर उन्होंने राज्यों की दुर्बल स्थिति से लाभ उठाकर अपने राज्य स्थापित किये और इन देशों के निवासियों का शोषण किया। बाद में अपने साम्राज्यवाद

और उससे उत्पन्न दोषों पर पर्दा डालने के लिए उन्होंने 'श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार' और 'सफेद आदमी का बोझा' (White Man's Burden) अर्थात् काले व्यक्तियों को सुसभ्य बनाना सफेद आदमी का उत्तरदायित्व या बोझा है, आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

(i) पुर्तगाली—पहला यूरोपीय व्यक्ति, जिसने यूरोप से आशा अंतरीप (Cape of Goodhope) होते हुए भारत के प्रत्यक्ष समुद्री-मार्ग को खोजने में सफलता प्राप्त की, वास्को-डि-गामा था। 1498 ई. में वह कालीकट के समुद्र-तट पर उतरा। वह पुर्तगाल के शासक के प्रतिनिधि के रूप में भारत आया था और उसने कालीकट के शासक से पुर्तगाल के लिए व्यापार करने की सुविधा माँगी। वह सुविधा उसे प्राप्त हो गयी। इस कारण, यूरोप-निवासियों में भारत आने वाले सर्वप्रथम पुर्तगाली थे। सम्पूर्ण 16वीं सदी में पुर्तगालियों ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के यूरोप से होने वाले व्यापार पर अपना अधिकार रखा। किसी अन्य यूरोपीय राज्य से उनकी प्रतिद्वन्द्विता इस कारण भी नहीं हुई कि 1492 ई. में ही पोप एलेक्जेण्डर षष्ठ ने पूर्वी समुद्रों में व्यापार करने का एकाधिपत्य पुर्तगाल को अपने एक आज्ञापत्र द्वारा दे दिया था जिसका विरोध करने का साहस किसी भी कैथोलिक देश ने नहीं किया। बाद में, 1506 ई. में पोप जुलियस द्वितीय ने और 1514 ई. में पोप लुई दशम ने इस आज्ञापत्र की पुनरावृत्ति की। इस कारण, धर्म-सुधार के शक्तिशाली होने से पहले किसी भी यूरोपीय राज्य ने इन आज्ञापत्रों का उल्लंघन नहीं किया और 16वीं सदी में पुर्तगाल यूरोप का एकमात्र देश रहा जिसने भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार किया। बाद में धर्म-सुधार के शक्तिशाली हो जाने के कारण पोप की आज्ञा का उल्लंघन हुआ तथा डच, अंग्रेज और फ्रान्सीसियों ने भारत एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार करने के लिए पुर्तगाल से ही नहीं बल्कि आपस में भी प्रतिद्वन्द्विता की।

पुर्तगालियों ने भारत से व्यापार करना ही आरम्भ नहीं किया अपितु भारतीय राजनीति में भी हस्तक्षेप किया। आरम्भ में ही उन्होंने कोचीन के शासक के विरुद्ध कालीकट के राजा की सहायता की। पुर्तगालियों का भारत में पहला गवर्नर आल्मीडा (1505-1509 ई.) था। यद्यपि उसका प्रमुख उद्देश्य भारत और दक्षिण-पूर्वी एशिया के पुर्तगाली व्यापार की, सुरक्षा करना था तब भी उसने भारत में पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसका उत्तराधिकारी अल्बुकर्क (1509-1515 ई.) अधिक महत्वाकांक्षी था। उसके पुर्तगाली-शक्ति को पूर्वी समुद्रों में बनाये रखने के निम्न लक्ष्य थे :

1. यूरोप से भारत के मार्ग में पड़ने वाले सभी व्यापारिक स्थानों को अपने अधिकार में किया जाय ;

2. स्थानीय निवासियों से वैवाहिक सम्बन्ध करके पुर्तगाली उपनिवेश स्थापित किये जायें ;

3. जहाँ उपनिवेशों की स्थापना सम्भव न हो वहाँ समुद्र-तट पर दृढ़ किले बनाये जायें जिससे जल-मार्गों की सुरक्षा की व्यवस्था हो सके ; और

4. जहाँ किले बनाना भी सम्भव न हो वहाँ स्थानीय शासक से पुर्तगाल के राजा की सत्ता को स्वीकार कराया जाये।

अल्बुकर्क ने पूर्वी समुद्रों में पुर्तगाल की शक्ति को दृढ़ बनाने में पर्याप्त सफलता पायी। भारत में भी पुर्तगालियों ने व्यापार और निवास-स्थान के रूप में कई अच्छे स्थान प्राप्त किये, जैसे पश्चिमी समुद्र-तट पर गोआ, डामन, ड्यू, सालसेट, बेसीन, चौल और बम्बई, मद्रास-तट पर सान-थोम और बंगाल में हुगली। 16वीं सदी में समुद्र पर पुर्तगालियों की

श्रेष्ठता ने उन्हें यूरोप से पूर्वी देशों में व्यापार पर श्रेष्ठता बनाये रखने में सहायता दी। उनकी शक्ति को चुनौती 17वीं सदी में हॉलैण्ड ने सफलतापूर्वक दी जिसकी नौ-सेना पुर्तगालियों की नौ-सेना से श्रेष्ठ थी।

पुर्तगाली प्रायः 100 वर्ष तक यूरोप के भारत से होने वाले व्यापार पर नियन्त्रण रखने में तो सफल हुए परन्तु भारत में राजनीतिक दृष्टि से वे कभी भी अधिक सफल न हो सके। 16वीं सदी में यूरोप के अन्य राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता का प्रभाव उनकी सफलता का मुख्य कारण था। 17वीं सदी में जब डच उनके मुकाबले आये तब वे परास्त हो गये। उनका समुद्र पर आधिपत्य नष्ट हो गया। इस कारण, भारत में राजनीतिक सफलता प्राप्त करना उनके लिए असम्भव हो गया। पुर्तगालियों के राजनीति में हस्तक्षेप करने से असन्तुष्ट होकर 1629 ई. में शाहजहाँ ने उनसे हुगली छीन लिया, 1639 ई. में मराठों ने उनसे सालसेट और बेसीन छीन लिये तथा 1661 ई. में पुर्तगाल ने दहेज में बम्बई अंग्रेजों को दे दिया। पुर्तगालियों द्वारा स्थानीय व्यक्तियों का धर्म-परिवर्तन करने और उनसे विवाह-सम्बन्ध करने से भी उनके शत्रु उत्पन्न हुए। पुर्तगालियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि दिखायी जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। उस समय भारत में मुगल-साम्राज्य दृढ़ था। 1580 ई. में पुर्तगाल स्पेन के साथ मिलकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को खो बैठा। इसके अतिरिक्त, पुर्तगाल यूरोप का एक बहुत छोटा राज्य था। आर्थिक और सैनिक दृष्टि से वह इतना सबल नहीं था कि भारत जैसे दूरस्थ प्रदेश में अपनी सत्ता स्थापित कर पाता।

(ii) डच—भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम डच कम्पनी 1602 ई. में स्थापित हुई। डचों ने पुर्तगालियों से व्यापारिक प्रतिस्पर्धा ही नहीं की बल्कि पूर्वी समुद्रों और बस्तियों पर अधिकार करने के लिए उनसे संघर्ष भी किया। डच नौ-सेना पुर्तगाली नौ-सेना से श्रेष्ठ सिद्ध हुई। इस कारण, डचों ने पहले पुर्तगालियों को समुद्री-मार्ग से हटाया तथा बाद में उनके भू-स्थलों पर भी आक्रमण किये। पुर्तगालियों के पूर्व के व्यापार को नष्ट करने में डचों का प्रमुख हाथ रहा। उन्होंने श्रीलंका और इण्डोनेशिया पर जहाँ से उन्हें गर्म-मसाले प्राप्त होते थे, अधिकार कर लिया। 17वीं सदी में फ्रान्सीसी और अंग्रेज भी भारत और पूर्व के देशों से व्यापार करने के लिए आ गये परन्तु वे देर से आये। 17वीं सदी में भारत का डचों से व्यापार अंग्रेज और फ्रान्सीसियों की तुलना में अधिक था और भारत में उन्होंने पुलीकट, सूरत, चिनसुरा, कासिमबाजार, पटना, बालासोर, नागापट्टम, कोचीन, आदि स्थानों पर अपने व्यापारिक केन्द्र बना रखे थे। परन्तु डचों ने भारत में राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। वे गर्म-मसाले के व्यापार के लिए भारत आये। इसके लिए उन्हें भारत की अपेक्षा इण्डोनेशिया और श्रीलंका अधिक उपयुक्त लगे और उन पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया परन्तु भारत से उन्हें सूती वस्त्र प्राप्त होता था जिसकी दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में माँग थी। इस कारण, भारत में भी उन्होंने व्यापारिक केन्द्र बनाकर रखे। भारत में उनकी राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने की लालसा नहीं थी। इसके अतिरिक्त, 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन और हॉलैण्ड के मध्य नौ-सेना के युद्ध हुए जिनमें हॉलैण्ड की पराजय हुई। उस पराजय से भी भारत में अंग्रेजों की तुलना में उनकी स्थिति दुर्बल हुई। भारतीय राजनीति और व्यापार में अंग्रेज अधिक रुचि ले रहे थे। ऐसी स्थिति में डचों ने उनके विरुद्ध होना लाभदायक नहीं समझा। इस कारण, डचों ने भारत में राज्य स्थापित करने में रुचि नहीं ली और वे अंग्रेजों या फ्रान्सीसियों के राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भारत में खड़े नहीं हुए।

(iii) अंग्रेज—प्रथम अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना 1600 ई. में हुई। 1615 ई. में इसी कम्पनी ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार में भेजा और मुगल-साम्राज्य के अन्तर्गत

व्यापारिक कोठियाँ खोलने की आज्ञा प्राप्त कर ली। धीरे-धीरे अंग्रेजों ने सूरत, आगरा, अहमदाबाद, बम्बई, पटना, कासिमबाजार, राजमहल, कलकत्ता आदि में अपनी कोठियाँ या व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। 1698 ई. में एक अन्य अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी की स्थापना हुई परन्तु पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिए 1702 ई. में दोनों कम्पनियों को मिला दिया गया जो मिलकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी कहलायी। 1717 ई. में इस कम्पनी ने मुगल बादशाह फर्रुखसियर से एक व्यापारिक अधिकार-पत्र प्राप्त किया। इस अधिकार-पत्र (फर्मान) द्वारा अंग्रेज कम्पनी को मुगल बादशाह को 3,000 रु. प्रति वर्ष देने के बदले में हैदराबाद, गुजरात और बंगाल में बिना कर दिये हुए व्यापार करने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त, दीवान की आज्ञा प्राप्त करके कम्पनी को बंगाल में 38 गाँव खरीदने और यदि साम्राज्य के हित में समझा जाय तो वहाँ के शाही टकसाल का उपयोग करने का अधिकार भी दिया गया। कम्पनी ने इस फर्मान को बंगाल में अंग्रेजी-व्यापार का मैग्ना कार्टा बताया। परन्तु यह फर्मान अंग्रेज कम्पनी और बंगाल के नवाबों के मध्य झगड़े का कारण भी बना जिस झगड़े में अंग्रेज विजयी हुए। इस प्रकार, यह फर्मान न केवल अंग्रेजों के व्यापार की वृद्धि में सहायक हुआ अपितु अंग्रेजी राज्य को भारत में बंगाल से आरम्भ करने के लिए भी उत्तरदायी हुआ।

(iv) फ्रान्सीसी—फ्रान्स के शासक लुई चौदहवें के मन्त्री कोलबर्ट के प्रोत्साहन और सरकारी सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थापना हुई। फ्रान्सीसियों ने पूर्वी समुद्र-तट पर पाण्डिचेरी, बंगाल में चन्द्रनगर तथा मॉरीशस द्वीप में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। परन्तु फ्रान्सीसियों ने व्यापार में कम और राजनीति में अधिक रुचि प्रकट की। सम्भवतया, इसका एक कारण कम्पनी का राजकीय संरक्षण में बनना था और दूसरा कारण यह था कि फ्रान्सीसी गवर्नर फ्रान्स से अधिक सहायता की आशा नहीं करते थे क्योंकि फ्रान्सीसी सरकार का ध्यान भारत की अपेक्षा अमेरिका में अधिक था। फ्रान्सीसी गवर्नर एलेक्जेण्डर ड्यूमा ने राजनीति में हस्तक्षेप की नीति को गम्भीरता से लिया और सफलता भी पायी। उसके उत्तराधिकारी डूप्ले को इससे प्रोत्साहन मिला और वह राजनीति में और अधिक सक्रिय हो गया। अंग्रेज फ्रान्सीसियों की गतिविधियों के प्रति उदासीन नहीं रहे। यूरोप-निवासियों में से वस्तुतः अंग्रेज और फ्रान्सीसी ही 18वीं सदी में व्यापारिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के लिए बाकी रह गये थे। इस कारण, अंग्रेज भी अपने हितों की रक्षा के लिए भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए। इस व्यापारिक और राजनीतिक स्पर्धा के फलस्वरूप अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का संघर्ष आरम्भ हुआ जो मूलतया दक्षिण-भारत मे कर्नाटक-राज्य तक सीमित रहा। इस संघर्ष का एक अन्य कारण भी था। ब्रिटेन और फ्रान्स यूरोप और अमेरिका में भी एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे। इस कारण, उन दोनों की यूरोपीय राजनीति का प्रभाव भी उनके भारत के सम्बन्धों पर पड़ा। अंग्रेज और फ्रान्सीसियों में उपुर्यक्त कारणों से तीन युद्ध हुए जो प्रथम, द्वितीय और तृतीय कर्नाटक-युद्ध कहलाये।

6. कर्नाटक के तीन आँग्ल-फ्रान्सीसी युद्ध और फ्रान्सीसियों की भारतीय राजनीतिक मंच से समाप्ति

व्यापारिक प्रतिस्पर्धा और उससे कहीं अधिक राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता तथा यूरोपीय राजनीति के प्रभाव के कारण अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के मध्य कर्नाटक-क्षेत्र में तीन युद्ध हुए :

प्रथम कर्नाटक-युद्ध (1746-48 ई.)—प्रथम कर्नाटक-युद्ध के आरम्भ होने का प्रमुख कारण 1740 ई. में यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध का आरम्भ हो जाना था।

भारत में दोनों कम्पनियों ने शान्ति रखने का प्रयत्न किया परन्तु जब अंग्रेजी नौ-सेना ने समुद्र पर फ्रान्सीसियों के कुछ जहाजों को डुबा दिया जिसमें एक जहाज फ्रान्सीसी गवर्नर डूप्ले का भी था, तब युद्ध नहीं रुक सका। डूप्ले ने मॉरीशस के गवर्नर और नौ-सेनापति लाबर्डिनो से सहायता माँगी जिसने अंग्रेज नौ-सेनापति पेटन को हुगली की तरफ जाने के लिए बाध्य किया और मद्रास पर आक्रमण कर दिया। मद्रास ने शीघ्र आत्मसमर्पण कर दिया। उसके पश्चात् लाबर्डिनो और डूप्ले में मतभेद हो गया। जबकि लाबर्डिनो एक लाख रुपया स्वयं के लिए और तीन लाख रुपया कम्पनी के लिए लेकर मद्रास को छोड़ने के लिए तत्पर हो गया, डूप्ले निकट के सेण्ट डेविड के किले और बंगाल के अंग्रेजों के ठिकानों को जीतकर अंग्रेजी-शक्ति को भारत से सर्वदा के लिए समाप्त करना चाहता था। लाबर्डिनो ने डूप्ले का कहना नहीं माना और साठ हजार रुपये लेकर वापस चला गया। डूप्ले ने मद्रास शहर पर अधिकार कर लिया और वहाँ लूट-मार आरम्भ कर दी। अंग्रेजों ने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन से सहायता माँगी जिसने एक सेना अपने पुत्र के नेतृत्व में फ्रान्सीसियों से मद्रास छीन लेने के लिए भेज दी। फ्रान्सीसियों की 700 भारतीयों और 230 फ्रान्सीसियों की सेना ने नवाब द्वारा भेजी गयी 10,000 सैनिकों की सेना को 1746 ई. में सेण्ट थोमी के युद्ध में परास्त कर दिया। परन्तु डूप्ले का निकट के सेण्ट डेविड को अंग्रेजों से छीनने का प्रयत्न अठारह महीने के युद्ध के पश्चात् भी विफल रहा। 1748 ई. में अंग्रेजी जल-बेड़े के द्वारा पाण्डिचेरी को जीतने का प्रयत्न भी असफल हुआ। उसी वर्ष यूरोप में एक्स-ला-शैपल की सन्धि हो जाने से ब्रिटेन और फ्रान्स का युद्ध समाप्त हो गया तथा इस सन्धि से फ्रान्स ने मद्रास अंग्रेजों को दे दिया और उसके बदले में अमेरिका में लूबर प्राप्त कर लिया।

भौगोलिक लाभ की दृष्टि से यह युद्ध दोनों में से किसी भी कम्पनी के लिए लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ। परन्तु इससे सिद्ध हुआ कि यूरोपीय पद्धति से प्रशिक्षित सेनाएँ भारतीय नरेशों की सेनाओं से श्रेष्ठ हैं और नौ-सेना युद्ध में महत्वपूर्ण होती है। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों को निकट की भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान हो गया। परन्तु सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिणाम यह था कि अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों का ही साहस भारतीय राजनीति में हस्तक्षेप करके राजनीतिक लाभ प्राप्त करने का हो गया।

द्वितीय कर्नाटक-युद्ध (1749-54 ई.)—द्वितीय कर्नाटक-युद्ध के आरम्भ होने का तात्कालिक कारण अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का भारतीय नरेश-राज्यों की राजनीति में हस्तक्षेप करना था। अंग्रेजों ने तंजौर-राज्य की राजनीति में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप किया था। फ्रान्सीसियों को भी हैदराबाद और कर्नाटक की राजनीति में हस्तक्षेप करने का शीघ्र ही अवसर मिल गया। 1748 ई. में हैदराबाद के निजाम आसफजा की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र नासिरजंग और पोते मुजफ्फरजंग में सिंहासन के लिए संघर्ष आरम्भ हुआ। मुजफ्फरजंग ने मराठों से सहायता माँगी। उसकी भेंट कर्नाटक के पहले के नवाब दोस्तअली के दामाद चाँदा साहब से हुई जो कर्नाटक पर अपना अधिकार जताता था। परन्तु उस समय वह मराठों की कैद में था। मराठों ने उसे कैद से मुक्त कर दिया तथा उसने और मुजफ्फरजंग ने फ्रान्सीसियों से सहायता माँगी। डूप्ले इसके लिए तैयार हो गया। चाँदा साहब ने कर्नाटक पर आक्रमण करके तत्कालीन नवाब अनवरुद्दीन को अम्बर के युद्ध में कत्ल कर दिया और उसके पुत्र मुहम्मदअली को त्रिचनापल्ली भागने के लिए बाध्य किया। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों ने मुहम्मदअली और हैदराबाद के निजाम नासिरजंग को सहायता देना आरम्भ किया। इस प्रकार, अप्रत्यक्षतः अंग्रेज और फ्रान्सीसी पुनः एक दूसरे से युद्ध करने लगे।

नासिरजंग ने कर्नाटक पर आक्रमण किया तथा जिंजी नदी के निकट चाँदा साहब और फ्रान्सीसियों को एक युद्ध में परास्त कर दिया। मुजफ्फरजंग ने आत्मसमर्पण कर दिया। परन्तु डूप्ले ने साहस नहीं छोड़ा और फ्रान्सीसियों ने मसलीपट्टम और जिंजी के किले पर अधिकार कर लिया। 1750 ई. में नासिरजंग की हत्या हो गयी और डूप्ले ने तुरन्त मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया। फ्रान्सीसियों ने अभी तक त्रिचनापल्ली में मुहम्मदअली को घेर रखा था। अगस्त 1751 ई. में क्लाइव ने कर्नाटक की राजधानी अर्काट पर अचानक आक्रमण किया और उसे जीत लिया। इससे त्रिचनापल्ली का घेरा उठा लिया गया और चाँदा साहब ने भागकर तंजौर के राजा के यहाँ शरण ली जहाँ उसकी हत्या हो गयी। तब भी डूप्ले ने मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब मानने से इन्कार कर दिया और छुटपुट युद्ध 1754 ई. तक चलता रहा। इसी समय फ्रान्सीसी सरकार ने डूप्ले को हटाकर गोड्यू को फ्रान्सीसी गर्वनर नियुक्त किया जिसने दिसम्बर 1754 ई. में अंग्रेजों से एक सन्धि करके युद्ध समाप्त कर दिया।

कर्नाटक का द्वितीय युद्ध भी अनिर्णयात्मक रहा। यदि अंग्रेज कर्नाटक में अपनी इच्छा का नवाब बनाने में सफल हुए थे तो फ्रान्सीसियों ने हैदराबाद में अपनी मर्जी का निजाम बनाया था तथा 1751 ई. में मुजफ्फरजंग की मृत्यु के पश्चात् सलाबतजंग को निजाम बनाकर वहाँ अपने प्रभुत्व को स्थापित रखा था। परन्तु इसके पश्चात् भारतीय राजनीति में अंग्रेजों का पलड़ा भारी हो गया। 1757 ई. में प्लासी के युद्ध को जीतने से अंग्रेजों ने बंगाल के धनवान सूबा के नवाब को अपने प्रभाव में ले लिया। तीसरा कर्नाटक-युद्ध उस परिस्थिति में हुआ जबकि बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा की धन और सैनिक-शक्ति अंग्रेजों के साथ हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में तीसरा कर्नाटक-युद्ध निर्णयात्मक हुआ।

तृतीय कर्नाटक-युद्ध (1757-63 ई.)—तृतीय कर्नाटक-युद्ध के आरम्भ होने का तात्कालिक कारण यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध का आरम्भ हो जाना था जिसमें ब्रिटेन और फ्रान्स पुनः एक दूसरे से युद्धरत हो गये।

सप्तवर्षीय युद्ध 1756 ई. में आरम्भ हुआ परन्तु भारत में अंग्रेज और फ्रान्सीसियों ने 1757 ई. में युद्ध करना आरम्भ किया। दक्षिण-भारत में 1757 ई. में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु बंगाल में अंग्रेजों ने चन्द्रनगर फ्रान्सीसियों से छीन लिया। 1758 ई. में फ्रान्स ने काउन्ट-डी-लैली को सम्पूर्ण सैनिक और असैनिक अधिकार देकर भारत भेजा। लैली ने सेण्ट डेविड के किले पर अधिकार कर लिया परन्तु मद्रास को जीतने में वह असफल हुआ। अंग्रेजों को निरन्तर बंगाल से सहायता मिलती रही जबकि लैली के साधन सीमित रहे। उसने फ्रान्सीसी अधिकारी बुसी को भी हैदराबाद से बुला लिया जिससे वहाँ फ्रान्सीसी प्रभाव समाप्त हो गया। जनवरी 1760 ई. में वाण्डीवाश के युद्ध में फ्रान्सीसी पराजित हुए। यह युद्ध निर्णयात्मक हुआ। जनवरी 1761 ई. में अंग्रेजों ने फ्रान्सीसियों के प्रमुख स्थान पाण्डिचेरी को भी जीत लिया। उसके पश्चात् फ्रान्सीसियों के सभी स्थानों जैसे जिंजी, माही आदि पर भी अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया।

1763 ई. में पेरिस की सन्धि द्वारा पाण्डिचेरी, चन्द्रनगर आदि कुछ स्थान फ्रान्सीसियों को वापस दे दिये गये यद्यपि वे वहाँ किलेबन्दी नहीं कर सकते थे। इस प्रकार तृतीय कर्नाटक-युद्ध को जीतकर अंग्रेजों ने अपने एकमात्र यूरोपीय प्रतिद्वन्द्वी को अपने मार्ग से हटाने में सफलता प्राप्त की। इसके पश्चात् फ्रान्सीसियों ने भारतीय नरेश-राज्यों की सहायता करते हुए तो अंग्रेजों का विरोध करने का प्रयत्न किया परन्तु वे अंग्रेजों से प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष

करने की स्थिति में कभी नहीं आ सके। आँग्ल-फ्रान्सीसी युद्ध भारतीय राजनीति की दुर्बलता का प्रमाण थे। उस समय तक या तो कोई भी भारतीय राज्य और राजनीतिज्ञ यह समझ नहीं सका कि ये दो यूरोपीय शक्तियाँ वस्तुतः भारतीय साम्राज्य को प्राप्त करने हेतु आपस में लड़ रही थीं अथवा उनमें से किसी के भी पास इनको रोकने की और उनसे अपने मनोनुकूल कार्य कराने की शक्ति नहीं रह गयी थी।

7. अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ (बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार)

यूरोप-निवासियों में से अंग्रेज भारत में राजसत्ता प्राप्त करने में सफल हुए। निस्सन्देह, भारतीय राजनीति में उनका हस्तक्षेप दक्षिण-भारत में कर्नाटक से आरम्भ हुआ। परन्तु वहाँ उनका हस्तक्षेप और संघर्ष मूलतया फ्रान्सीसियों की प्रतिस्पर्धा के कारण था जो स्वयं भारत में राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। अंग्रेज फ्रान्सीसियों से संघर्ष करने में सफल हुए परन्तु उससे पहले ही उन्होंने बंगाल के सूबा में, जिसमें उस समय बिहार और उड़ीसा के प्रदेश भी सम्मिलित थे, अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। भारत में अंग्रेजी सत्ता का आरम्भ बंगाल से हुआ जहाँ प्लासी के युद्ध (1757 ई.) को जीतकर उन्होंने उस व्यक्ति को नवाब बनाने में सफलता प्राप्त की जो पूर्णतया अंग्रेज कम्पनी पर आश्रित हो गया।

बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला और अंग्रेज कम्पनी में युद्ध होने के विभिन्न कारण थे जिनमें प्रमुख मुगल बादशाह फर्रुखसियर द्वारा 1717 ई. में दिये गये फर्मान (आज्ञापत्र) पर विवाद था जिसके द्वारा अंग्रेजों को बंगाल के सूबा में बिना कर दिये व्यापार करने की सुविधा तथा कलकत्ता के निकट 38 गाँव खरीदने की अनुमति दी गयी थी। अंग्रेज कम्पनी ने इस कर-मुक्त व्यापार के अधिकार को कम्पनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार पर भी लागू किया जबकि नवाब का कहना था कि कर-मुक्ति की सुविधा कम्पनी के कर्मचारियों को उनके व्यक्तिगत व्यापार के लिए नहीं बल्कि केवल कम्पनी के व्यापार के लिए ही प्रदान की जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, कम्पनी भारतीय व्यापारियों को भी कर-मुक्ति-पत्र (दस्तक या Free Pass) दे देती थी जिससे भारतीयों की व्यापारिक वस्तुएँ भी कर से मुक्त हो जाती थीं। इस प्रकार मुगल बादशाह के फर्मान की व्याख्या और अंग्रेज कम्पनी द्वारा कर-मुक्त व्यापार के अधिकार को लेकर कम्पनी और नवाब में झगड़ा था। कम्पनी द्वारा 38 गाँव खरीदने के अधिकार का प्रयोग केवल उसकी स्वीकृति के बाद ही हो सकता है जिसके लिए वह तत्पर नहीं था। इसके अतिरिक्त, जबकि कम्पनी अपनी भू-सीमाओं के अन्तर्गत पूर्ण संप्रभुता का दावा करती थी तथा अपने किले की मरम्मत करना तथा किसी को भी अपना संरक्षण प्रदान करना अपना अधिकार समझती थी, नवाब कम्पनी को ये अधिकार देने के लिए तत्पर नहीं था। वह कम्पनी को एक व्यापारी मात्र की सुविधा देने के अतिरिक्त अन्य अधिकार देने को तैयार नहीं था। उसके अनुसार कम्पनी को उसकी इच्छानुसार कार्य करते हुए ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा में व्यापार करने का अधिकार था।

उपरोक्त विवादग्रस्त प्रश्नों को लेकर अंग्रेज कम्पनी और नवाब सिराजुद्दौला में झगड़े के कारण उपस्थित हो गये। अंग्रेजों ने नवाब के गद्दी पर बैठने के अवसर पर उसे भेंट (नज़राना) नहीं दी थी जो एक परम्परा थी और एक अवसर पर उसे अपनी कासिमबाजार की फैक्टरी को दिखलाने से भी मना कर दिया था। इस कारण भी नवाब अंग्रेजों से असन्तुष्ट था। नवाब अंग्रेजों से इस कारण भी असन्तुष्ट हुआ कि उन्होंने राजवल्लभ के पुत्र कृष्णवल्लभ को शरण दी और नवाब के माँगने पर उसे वापस नहीं किया। राजवल्लभ नवाब की बहन घसीटी बेगम का पक्षधर था और उसने बेगम के धन को कृष्णवल्लभ को देकर अंग्रेजों के संरक्षण में

भेज दिया था जिसके कारण नवाब ने उसे दीवान के पद से हटा दिया था। 1756 ई. में जब अंग्रेजों ने कलकत्ते के किले की मरम्मत की तब नवाब ने उन्हें ऐसा करने से रोका। अंग्रेजों द्वारा किलेबन्दी को रोकने की आज्ञा को ठुकराने से नवाब क्रोधित हो गया और उसने किले पर आक्रमण करके कलकत्ता पर अधिकार कर लिया। अंग्रेजों को फुल्ता के द्वीप में शरण लेनी पड़ी। इस घटना ने प्लासी के युद्ध की भूमिका तैयार कर दी।

मद्रास से क्लाइव और वाटसन के नेतृत्व में अंग्रेजी सेनाओं के आ जाने से नवाब 1757 ई. में सन्धि करने के लिए बाध्य हुआ। परन्तु यह एक अस्थायी समझौता था। नवाब सिराजुद्दौला के विरुद्ध आरम्भ से ही षड्यंत्र चल रहे थे। पिछले नवाब अलीवर्दीखाँ का बहनोई और राज्य का सेनापति मीरजाफर स्वयं गद्दी का दावेदार था। वह प्रभावशाली हिन्दू व्यापारी-सेठों तथा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र कर रहा था। अंग्रेज भी नवाब को हटाने के इस षड्यंत्र में सम्मिलित हो गये। जब षड्यंत्र के अनुसार सिराजुद्दौला को हटाकर मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाने का निर्णय हो गया तब क्लाइव ने नवाब पर सन्धि की शर्तों को तोड़ने का दोष लगाया और अपनी सैनिक-कार्यवाही आरम्भ कर दी। नवाब ने अपनी सेना लेकर उसका मुकाबला किया और 23 जून, 1757 ई. को प्लासी का युद्ध हुआ। नवाब की अधिकांश सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया। उसकी सेना का दाहिना भाग रायदुर्लभ और बायाँ भाग मीरजाफर के नेतृत्व में था जबकि ये दोनों ही अंग्रेजों से मिले हुए थे। नवाब भाग खड़ा हुआ परन्तु उसे पकड़ कर मार दिया गया। इसके पश्चात् क्लाइव ने मीरजाफर को बंगाल का नवाब घोषित कर दिया।

प्लासी का युद्ध सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था। परन्तु आर्थिक दृष्टि से कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने नवाब से बहुत धन प्राप्त किया। उनका व्यापार कर-मुक्त हो गया। अंग्रेज कम्पनी को 24 परगने की जागीर और कलकत्ता में अपनी टकसाल स्थापित करने का अधिकार मिला। इस युद्ध से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। परन्तु सबसे अधिक लाभ कम्पनी को राजनीतिक दृष्टि से हुआ। बंगाल का नवाब कम्पनी पर आश्रित हो गया। कम्पनी ने उसकी सुरक्षा के लिए 6,000 सैनिकों की अपनी सेना रखी। वस्तुतः अंग्रेज कम्पनी ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा की मालिक हो गयी और उसने इस सूबे की धन और जन-शक्ति का प्रयोग करके धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत में अपना राज्य विस्तृत करने में सफलता प्राप्त की। नाममात्र के लिए ही बंगाल का नवाब अपने सूबे का मालिक रहा। यह उस समय स्पष्ट हो गया जब नवाब मीरकासिम के विरोध करने पर (1763 ई.) उसे बंगाल छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। मीरजाफर को 1760 ई. में गद्दी से हटाकर मीरकासिम को नवाब अंग्रेजों ने ही बनाया था। जब उसने अंग्रेजों के इशारे पर नाचने से इन्कार कर दिया तब उसने भागकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सहायता माँगी जिसका परिणाम 1764 ई. में बक्सर का युद्ध हुआ जिसे जीतकर अंग्रेजों ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला और स्वयं मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय को अपने पर आश्रित कर लिया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारत में अंग्रेज 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही एक बड़ी शक्ति बन गये थे। इसी कारण वे मैसूर-राज्य को समाप्त कर सके और मराठों से पृथक युद्ध करने का साहस कर सके। निस्सन्देह, मराठा-संप्रभुता का इतिहास अब नष्टप्राय था।

8. उत्तरकालीन मुगल बादशाह (1740-1858 ई.) और मुगल-साम्राज्य का पतन

मुहम्मदशाह (1719-48 ई.) के शासन-काल में ही मुगल-साम्राज्य का विघटन हो गया था। बंगाल, अवध और हैदराबाद के स्वतंत्र राज्य की स्थापना उसी के समय में हो गयी थी। इसके अतिरिक्त, मराठों ने गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड के अधिकांश भाग पर

अपना अधिकार कर लिया था तथा दूरस्थ मुगल सूबों से चौथ की माँग कर रहे थे। उसी के समय में 1739 ई. में पर्शिया के शासक नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। उसने न केवल दिल्ली में लूट-मार और कत्ल-ए-आम किया अपितु मुगल-बादशाहत के सम्मान को ही नष्ट कर दिया। उत्तरकालीन मुगल बादशाह अयोग्य सिद्ध हुए थे। उनमें से कोई भी तत्कालीन समस्याओं का हल निकालने में सफल नहीं हुआ। मुहम्मदशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **अहमदशाह** (1748-54 ई.) 21 वर्ष की आयु में बादशाह बना। वह विलासी सिद्ध हुआ। उसके शासन-काल में मराठों का दिल्ली-दरबार में हस्तक्षेप बढ़ गया, भरतपुर का जाट-राजा सूरजमल भी दिल्ली में प्रभावशाली होने लगा और अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने तीन बार भारत पर आक्रमण किया और पंजाब तथा मुल्तान के सूबों पर अपना अधिकार कर लिया। 1754 ई. में अहमदशाह के वजीर इमाद-उल-मुल्क ने उसे सिंहासन से हटा कर जहाँदारशाह के दूसरे पुत्र अजीजुद्दीन को **आलमगीर द्वितीय** (1754-58 ई.) के नाम से सिंहासन पर बैठाया। आलमगीर अयोग्य सिद्ध हुआ तथा वजीर इमाद-उल-मुल्क स्वार्थी और सिद्धान्तहीन। उसने मराठों पर निर्भर करके पंजाब पर आक्रमण किया और अहमदशाह अब्दाली के सूबेदार मुगलानी बेग को हटाकर अदीना बेग को सूबेदार बना दिया। अब्दाली ने असन्तुष्ट होकर दिल्ली पर आक्रमण किया। उसने आलमगीर की एक पुत्री से स्वयं विवाह किया, उसकी एक अन्य पुत्री से अपने पुत्र का विवाह किया, दिल्ली को लूटा और रुहेला-सरदार नजीबुद्दौला को मीर-बख़शी बनाया। पंजाब में उसने अपने पुत्र तिमूर को सूबेदार बनाया। अब्दाली के वापस जाने के बाद रघुनाथराव के नेतृत्व में मराठे दिल्ली पहुँचे। मराठों ने नजीबुद्दौला को मीर-बखशी का पद छोड़ने के लिए बाध्य किया, पंजाब से तिमूरखाँ को भगाकर पहले अदीना बेग को और उसकी मृत्यु के बाद साबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार नियुक्त किया। 1758 ई. में वजीर इमाद-उल-मुल्क ने आलमगीर की भी हत्या करा दी और बहादुरशाह प्रथम के एक पोते को **शाहजहाँ तृतीय** (1758-59 ई.) के नाम से गद्दी पर बैठा दिया जिसने प्रायः एक वर्ष शासन किया। जिस समय आलमगीर की हत्या हुई उस समय उसका सबसे बड़ा पुत्र अली गौहर बिहार में था। उसने **शाहआलम द्वितीय** (1759-1806 ई.) के नाम से अपने को मुगल बादशाह घोषित कर दिया यद्यपि वह 12 वर्षों तक दिल्ली नहीं गया। शाहआलम द्वितीय के नाममात्र के शासन-काल में अंग्रेजों ने प्लासी और बक्सर के युद्धों को जीतकर बंगाल में अपनी सत्ता स्थापित की तथा 1761 ई. में पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ जिसमें मराठों की अहमदशाह अब्दाली से पराजय हुई और वे कुछ वर्षों के लिए दिल्ली की राजनीति से पृथक हो गये। अब्दाली जाने से पहले नजीबुद्दौला को ही दिल्ली के शासन की देखभाल के लिए नियुक्त कर गया था। 1770 ई. तक दिल्ली पर नजीबुद्दौला ने शासन किया। 1770 ई. में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जाबिताखाँ ने शासन किया। उसने शाही परिवार के सदस्यों और स्त्रियों का अपमान करने का साहस किया। शाहआलम, उस समय, अंग्रेजों पर आश्रित होकर इलाहाबाद में था। उसने मराठों से बातचीत की और उनके संरक्षण में 1772 ई. में दिल्ली पहुँचा। 1787 ई. में जाबिताखाँ के पुत्र गुलाम कादिर को बखशी बनाया गया था। वह क्रूर सिद्ध हुआ और जबकि महादजी सिन्धिया राजस्थान में व्यस्त था उसने 1788 ई. में शाहआलम को अन्धा करा दिया, शाही परिवार की स्त्रियों को असम्मानित किया और धन की तलाश में शाही खजाने की जमीन तक को खुदवा दिया। बाद में सिन्धिया ने दिल्ली आकर गुलाम कादिर को कत्ल कराया। 1794 ई. में महादजी की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी दौलतराव सिन्धिया ने शाहआलम को अपने संरक्षण में ले लिया। 1803 ई. में

अंग्रेजों ने शाहआलम को अपने संरक्षण में लिया और अंग्रेजों से पेन्शन पाते हुए 1806 ई. में शाहआलम की मृत्यु हुई। शाहआलम की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **अकबर द्वितीय** (1806-37 ई.) मुगल बादशाह बना। उसने जीवनपर्यन्त अंग्रेजों से पेन्शन प्राप्त की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र **बहादुरशाह द्वितीय** (1838-58 ई.) बादशाह बना। यह अन्तिम नाममात्र का मुगल बादशाह था। 1857 ई. के विद्रोह में सम्मिलित होने के लिए उसे बाध्य किया गया। अंग्रेजों ने उसको दोषी ठहराकर 1858 ई. में सिंहासन से उतारकर रंगून भेज दिया और मुगल-बादशाहत को समाप्त कर दिया। बहादुरशाह की मृत्यु रंगून में हुई।

इस प्रकार, मुगल-साम्राज्य और मुगल-बादशाहत का अन्त हुआ। वस्तुतः औरंगजेब के बाद के मुगल बादशाह बादशाह कहलाने के योग्य नहीं थे। बहादुरशाह प्रथम ने किसी भी समस्या का हल नहीं निकाला। मराठों, राजपूतों और सिखों से उसने समझौते मात्र किये थे और आर्थिक दृष्टि से तो उसने साम्राज्य की कठिनाइयों में वृद्धि ही की। उसके पश्चात् के मुगल बादशाह किसी न किसी सरदार की सहायता से बादशाह बने। जहाँदारशाह वजीर असदखाँ के पुत्र जुल्फिकारखाँ की सहायता से और फर्रुखसियर रफी-उद्-दरजात, शाहजहाँ द्वितीय और मुहम्मदशाह सैयद-भाइयों पर निर्भर करके बादशाह बने तथा आलमगीर द्वितीय, शाहजहाँ तृतीय, शाहआलम द्वितीय, अकबर द्वितीय और बहादुरशाह द्वितीय मराठों के पेन्शनर बने। अन्तिम मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय की मृत्यु अंग्रेजों के पेन्शनर के रूप में हुई। ये सभी मुगल बादशाह अयोग्य थे और इस कारण अपने और अपने वंश के पतन के लिए उत्तरदायी हुए।

9. मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण : विभिन्न धारणाएँ

प्रायः 175 वर्ष के गौरवपूर्ण शासन के पश्चात् मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। विभिन्न इतिहासकारों ने मुगल-साम्राज्य के पतन के कारणों पर विभिन्न प्रकार से प्रकाश डाला है। **मुगल-शासन पुलिस-शासन तक ही सीमित रहा।** मुगल बादशाहों का प्रमुख लक्ष्य साम्राज्य की बाह्य आक्रमणों से रक्षा और आन्तरिक शान्ति स्थापित करना ही रहा। इसी से उनके सम्मान और शक्ति की सुरक्षा होती थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इन दायित्वों की पूर्ति भी नहीं कर सके। इस कारण जन-साधारण उनसे पृथक ही रहा और स्थानीय सरदारों अथवा सूबेदारों के स्वतंत्र राज्यों की स्थापना से उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ा बल्कि, इसके विपरीत, जिस प्रशासक ने उन्हें सुरक्षा और शान्ति प्रदान की उसका जन-साधारण ने स्वागत किया। **नौ-सेना का अभाव** मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का कारण अवश्य था परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उसके पतन के लिए उत्तरदायी नहीं था। नौ-सेना के अभाव से उत्पन्न दुर्बलता उस समय प्रकट हुई जब 16वीं सदी से यूरोप के निवासी भारत आये और समुद्र पर अधिकार स्थापित करके उन्होंने भारत के विदेशी व्यापार पर नियंत्रण स्थापित किया। व्यापारिक दृष्टि से यूरोपियनों पर निर्भरता ने भारतीय शासकों को उन्हें व्यापारिक सुविधाएँ देने के लिए बाध्य किया जिससे, अन्त में, उनमें से एक को भारत में राज्य स्थापित करने का अवसर मिला। मुगल विदेशी थे और प्रयत्न करने के बावजूद भी वे **भारतीयों को यह विश्वास दिलाने में असमर्थ रहे कि उनका शासन विदेशियों का शासन नहीं है।** ऐसी स्थिति में भारतीयों ने जिसके पास शक्ति थी उसी को अपना शासक स्वीकार कर लिया। **18वीं सदी में मुगल-साम्राज्य अपने नागरिकों को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी असमर्थ हो गया।** खालसा-भूमि में कमी और लगान वसूल करने में ठेकेदारी-व्यवस्था ने राज्य और किसान दोनों की आर्थिक स्थिति दुर्बल कर दी जिससे

राज्य दुर्बल हुआ और जन-साधारण राज्य के प्रति वफादार नहीं रहा। **बौद्धिक पतन** को भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है। निश्चय ही मुगलों के अधिकांश शासन-काल में शिक्षा की व्यवस्था समुचित नहीं थी और जो थी भी वह समय के अनुकूल न रही। उसमें तकनीकी और वैज्ञानिक शिक्षा का पूर्ण अभाव था और उदार मानवीय भावनाओं के विकास में सहयोग देने में बहुत कमी। इस कारण, प्रशासन को योग्य व्यक्ति मिलने बन्द हो गये। **उत्तराधिकार के नियम के न होने** से प्रत्येक बादशाह की मृत्यु के पश्चात् सिंहासन के लिए युद्ध की आशंकाएँ बनी रहीं और युद्ध भी हुए जिनमें जन-जीवन, प्रशासन, कृषि, व्यापार आदि नष्ट हुए और दरबार में प्रतिद्वन्द्वी गुटबन्दियाँ हुईं। **मुगल-सेना का शक्तिहीन हो जाना** भी मुगलों के पतन का एक मुख्य कारण था। यह अन्य बात है कि उसकी शक्तिहीनता का प्रमुख कारण जागीरदारी या मनसबदारी-प्रथा का असफल हो जाना था। इसके अतिरिक्त, अकबर के समय में ही मुगल-सेना के अजेय बन जाने से बाद के बादशाहों के समय में स्त्रियों, रखैलों और वेश्याओं को ले जाना आरम्भ करने से सेना का चारित्रिक बल कम हुआ और सेना की गतिशीलता कम हो गयी। जागीरदारी-प्रथा पर आधारित संगठित सेना, निस्सन्देह, अयोग्य शासकों के समय में शक्तिहीन हो गयी। मध्य-युग में सैनिक-शक्ति के अभाव में कोई भी साम्राज्य सुरक्षित नहीं रह सकता था। मुगल-साम्राज्य के साथ भी ऐसा ही हुआ। **राजदरबार की दलबन्दियाँ** भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुईं, मुख्यतया जब मुगल बादशाह दुर्बल हो गये। यह माना जा सकता है कि बादशाहों की दुर्बलता का एक परिणाम दलबन्दियाँ थीं परन्तु सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ भी इसके लिए उत्तरदायी थीं। निस्सन्देह, उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में इन दलबन्दियों ने बादशाह के अधिकारों को समाप्त करके साम्राज्य को दुर्बल बनाया। **मराठों के उत्तरी भारत पर आक्रमण** और नादिरशाह तथा अहमदशाह अब्दाली द्वारा हुए विदेशी आक्रमणों ने मुगल-साम्राज्य की शक्ति और सम्मान को नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ी यद्यपि यह माना जा सकता है कि ये आक्रमण हुए भी इस कारण कि मुगल-साम्राज्य पतनोन्मुख हो चुका था। **उत्तरकालीन मुगल बादशाहों का नैतिक पतन और अयोग्यता** और उनकी नकल करते हुए **मुगल सरदारों का नैतिक पतन और उनकी अयोग्यता** भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुई, यद्यपि यह कहा जा सकता है कि विलासप्रियता से अधिक बादशाहों और सरदारों की अयोग्यता मुगल-साम्राज्य के लिए अधिक उत्तरदायी थी क्योंकि विलासप्रिय तो औरंगजेब के अतिरिक्त सभी मुगल बादशाह थे। परन्तु उत्तरकालीन बादशाह अयोग्य और उत्तरदायित्वहीन सिद्ध हुए जबकि महान् मुगल बादशाह ऐसे नहीं थे। **आर्थिक पतन,** निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी था। यह संकट शाहजहाँ के समय से ही उपस्थित हो गया था। बादशाहों के विलास और शौक, जागीरदारी-प्रथा की असफलता, खालसा-भूमि का कम हो जाना, भूमि को ठेके पर दिया जाना आदि ऐसे दोष थे जिनसे साम्राज्य और प्रजा दोनों की आर्थिक हानि हुई और राज्य अपनी आय से अपने व्यय की पूर्ति करने में असमर्थ हो गया। इसका कुप्रभाव असैनिक और सैनिक प्रशासन दोनों पर पड़ा। औरंगजेब के शासन-काल में आर्थिक संकट और बढ़ गया तथा उत्तरकालीन बादशाहों के काल में तो अर्थ-व्यवस्था नष्टप्राय हो गयी। ऐसी स्थिति में साम्राज्य का पतन स्वाभाविक था। डॉ. विपिनचन्द्र के मतानुसार भारत में **राजनीतिक राष्ट्रीयता का अभाव** मुगल-साम्राज्य के पतन का एक महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक कारण था। निस्सन्देह, राष्ट्रीयता की भावना यूरोप में भी 18वीं सदी के अन्तिम समय में उत्पन्न हुई और भारत में मुगल-काल में उसके उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं था। परन्तु

ब्रिटेन और फ्रान्स जैसे राज्य अपने पृथक अस्तित्व को समझ बैठे थे और उनके नागरिकों में राष्ट्रीयता के अभाव में भी एक राजनीतिक इकाई का भाव उपस्थित हो गया था। भारत की आर्थिक, राजनीतिक, जातीय और सामाजिक व्यवस्था उस काल में ऐसी नहीं बनी जो भारतीयों को एक राज्य के नागरिक होने की और उसके प्रति वफादार होने की भावना प्रदान करती या राष्ट्र के निर्माण की आधारशिला बनती। इस भावना के अभाव के कारण भी मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। **औरंगजेब का मुगल-साम्राज्य के पतन में क्या उत्तरदायित्व था, इसके विषय में थोड़ा मतभेद है।** औरंगजेब की दक्षिण-नीति औरंगजेब और मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी थी, इस विषय में मतभेद नहीं है। इतिहासकारों का बहुमत यह स्वीकार करता है कि यदि औरंगजेब ने दक्षिण के मुसलमान-राज्य बीजापुर और गोलकुण्डा को विजय नहीं किया होता तो मराठों का उससे प्रत्यक्ष संघर्ष नहीं होता, साम्राज्य की आर्थिक और प्रशासकीय समस्याएँ नहीं बढ़तीं और मराठे तथा दक्षिण के ये मुस्लिम-राज्य पारस्परिक संघर्ष में लिप्त रहते। इस कारण, औरंगजेब की दक्षिण में राज्य-विस्तार की नीति, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के लिए कठिनाई और संकट उपस्थित करने वाली सिद्ध हुई। विवाद औरंगजेब की धार्मिक नीति को लेकर है। आधुनिक समय में विद्वान इतिहासकारों ने यह विचार प्रस्तुत किये हैं कि औरंगजेब की नीति धार्मिक असहिष्णुता की नहीं था। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं अथवा राजपूतों के विद्रोहों का होना, साम्राज्य की एकता का नष्ट हो जाना आदि का दोष औरंगजेब पर नहीं लगाया जा सकता। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि औरंगजेब की नीति धार्मिक असहिष्णुता की थी या नहीं। इस कारण यह प्रश्न विवाद का ही रहेगा।

आधुनिक समय में कुछ विद्वानों ने मुगल-साम्राजय के पतन के कारणों पर अन्य दृष्टिकोणों से भी प्रकाश डाला है जो महत्वपूर्ण और विचारणीय है। मूलतया, उन सभी ने मुगल-साम्राज्य के आर्थिक पतन के पहलुओं पर विचार किया है और जागीरदारी-संकट, लगान-व्यवस्था में व्याप्त दोष, भूमि को लगान वसूल करने के लिए ठेके पर दिया जाना (इज़ारादारी-व्यवस्था) आदि के विभिन्न दोषों, जैसे बादशाह की स्थिति का दुर्बल होना, जागीरों में कमी हो जाना, दरबार की दलबन्दियाँ, सैनिक-शक्ति में कमी, किसानों पर कर के भार का बढ़ना, जमींदारों का आर्थिक संकट के कारण विद्रोही बन जाना आदि के लिए उत्तरदायी माना जिनमें से प्रत्येक ने मुगल-साम्राज्य के पतन में भाग लिया। इस प्रकार, इन विद्वानों ने मुगल-साम्राज्य के पतन के मुख्य कारण उनकी प्रशासकीय और मूलतया उनकी अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न हुए दोषों में ही तलाश करने का प्रयत्न किया है और इसमें सन्देह नहीं कि वे पर्याप्त मात्रा में इस दिशा में सफल भी रहे हैं।

डॉ. सतीशचन्द्र ने मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए **मनसबदारी और जागीरदारी प्रथाओं की असफलता** को जिम्मेदार बताया है। उनके अनुसार औरंगजेब के समय से ही युद्धों, प्रशासन-व्यय और बादशाह तथा उमरा-वर्ग (अमीर या सरदार) की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति किया जाना कठिन हो गया। बादशाह और उमरा-वर्ग की आय का प्रमुख साधन भूमि थी। जिस अनुपात में प्रशासन और प्रशासक-वर्ग के व्ययों में वृद्धि हुई उस अनुपात में सभी प्रकार के प्रयत्न किये जाने के बावजूद भी कृषि-उत्पादन की वृद्धि नहीं हुई जिसके कारण राज्य और प्रशासक-वर्ग की आय और उनके व्यय में अन्तर बढ़ता गया और जागीरदारी या मनसबदारी व्यवस्था के दोष सामने आ गये। औरंगजेब की दक्षिण-विजय ने इस संकट में वृद्धि की। जबकि दक्षिण की भूमि से आय अधिक सम्भव नहीं थी,

औरंगजेब को दक्षिण-भारतीयों और मुख्यतया मराठों को उमरा-वर्ग में सम्मिलित करके उन्हें जागीरें प्रदान करनी पड़ीं। स्थिति यह बन गयी कि जागीरें कम हो गयीं और उनके माँगने वालों की संख्या अधिक। जब औरंगजेब ने नये उमरा-वर्ग को जागीरें दीं तब पुराने उमरा-वर्ग पर दबाव पड़ा क्योंकि उनकी जागीरों को छोटा करने की आवश्यकता हुई। इससे उमरा-वर्ग में अच्छी जागीरें प्राप्त करने की प्रतिद्वन्द्विता हुई। इस प्रतिद्वन्द्विता और संकट को एक अन्य प्रकार से भी बढ़ावा मिला। कागजों में जागीरों से प्राप्त होने वाली आय को बहुत पहले से उस जागीर से प्राप्त होने वाली वास्तविक आय से अधिक दिखाया जाता रहा था। ऐसी स्थिति में उमरा-वर्ग ने वस्तुतः अच्छी आय वाली और सरलता से नियंत्रण में रखी जाने वाली जागीरों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इससे दरबार में राजनीतिक दलबन्दियों को बढ़ावा मिला परन्तु इससे कहीं अधिक हानिकारक प्रभाव किसान और भूमि पर पड़ा। बड़े जागीरदारों ने छोटे जागीरदारों पर दबाव डाला। छोटे जागीरदारों ने लगान वसूल करने के लिए भूमि ठेकेदारों को देनी आरम्भ की जिससे वे लगान-वसूली के झंझट से बच सकें। इस व्यवस्था को **इजारादारी** पुकारा गया। ठेकेदारों या **इजारेदारों** ने क्योंकि अधिकतम बोली लगाकर भूमि से लगान वसूल करने का अधिकार लिया था, इस कारण किसानों से अधिकतम लगान वूसल करने का प्रयत्न किया गया। इससे किसान और स्थानीय जमींदार दोनों पर दबाव पड़ा। किसानों ने कृषि करना बन्द कर दिया और जमींदारों ने उनकी सहायता से विद्रोह करना आरम्भ कर दिया। इससे मुगलों की आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक-शक्ति टूटती चली गयी क्योंकि यह सभी कुछ भूमि से प्राप्त आय पर निर्भर करता था। डॉ. सतीशचन्द्र के अनुसार यही कारण मुगल-साम्राज्य के पतन को आरम्भ करने वाला सिद्ध हुआ। प्रो. अतहरअली ने डॉ. सतीशचन्द्र के विचार का समर्थन किया है।

प्रो. इरफान हबीब ने भी आर्थिक संकट को ही मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। इसके लिए उन्होंने **कृषि-संकट का सिद्धान्त** प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार कागजों में जागीर की आय को उसकी वास्तविक आय से अधिक दिखाने और जागीरों या जागीरदारों के स्थानान्तरण करने के कारण कृषि-संकट उपस्थित हुआ और किसानों पर अत्याचार हुए। उनके अनुसार जब सरकार ने कागजों में जागीर की वास्तविक आय से अधिक आय दिखायी तब उसके अनुकूल सैनिक रखने की आशा जमींदार से की। परन्तु क्योंकि जागीर की वास्तविक आय कम थी इस कारण सरकार की आशा के अनुकूल सैनिक रखने के लिए जागीरदार को अपनी आय में वृद्धि करने हेतु किसानों पर दबाव डालना पड़ा। जहाँ तक जागीरदारों के स्थानान्तरण का प्रश्न था उससे भी किसानों पर दबाव पड़ा क्योंकि जबकि जागीरदार किसानों से अधिकाधिक धन लेना चाहता था वह भूमि-उत्पादन में वृद्धि करने के लिए धन व्यय नहीं करना चाहता था क्योंकि वह जागीर स्थायी रूप से उसे प्राप्त नहीं थी और उसे कभी भी दूसरी जागीर पर भेजा जा सकता था। इस कारण, अपनी जागीर से अधिकतम आय प्राप्त करना प्रत्येक जागीरदार का उद्देश्य होता था जिसका अन्तिम भार किसानों पर ही पड़ता था। जब जागीरें या भूमि ठेकेदारों को दी जाने लगीं तब किसानों पर दबाव और अत्याचार बढ़ गया जिससे किसानों ने विद्रोह करने आरम्भ कर दिये अथवा वे ऐसे जागीरदारों की भूमि पर बसने लगे जो सरकार के विरोधी थे। उनके अनुसार इससे सरकार-विरोधी तत्वों में वृद्धि हुई जिसने मुगल-साम्राज्य के पतन में सक्रिय भाग लिया।

मुगल-साम्राज्य के पतन के सम्बन्ध में एक अन्य विचार नोमन अहमद सिद्दीकी ने प्रस्तुत किया है। उन्होंने **राजनीतिक, प्रशासनिक और कृषि-संकट** को सम्मिलित रूप से मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार औरंगजेब के बाद के

समय में जागीरदारी-प्रथा बदली हुई राजनीतिक और कृषि की स्थिति का साथ देने में असफल हुई। एक तरफ जागीरों में कमी हो रही थी और दूसरी तरफ उमरा-वर्ग के सदस्यों में वृद्धि हो रही थी। इसके कारण एक तरफ कागजों में जागीरों की आय को वास्तविक आय से अधिक दिखाया गया जो हानिकारक सिद्ध हुआ और, दूसरी तरफ, पुराने मनसबदारों या जागीरदारों और नवीन मनसबदारों में अच्छी जागीरों को प्राप्त करने की तीव्र प्रतिस्पर्धा हुई। औरंगजेब के पश्चात् जागीरों की कमी का संकट और बढ़ गया क्योंकि बहादुरशाह प्रथम ने मनसब देते हुए जागीरों की कमी का ध्यान नहीं रखा। इससे स्थिति यह बन गयी कि मनसबदारों को खालसा-भूमि (बादशाह की भूमि) से जागीरें दी गयीं। इस कारण जब तक मुहम्मदशाह सिंहासन पर बैठा तब तक खालसा-भूमि का बहुत बड़ा भाग जागीरों के रूप में उमरा-वर्ग को दिया जा चुका था। इससे बादशाह की भूमि से प्राप्त होने वाली आय में बहुत कमी हो गयी। परन्तु तब भी जागीरों की माँग में कोई कमी नहीं आयी तथा उमरा-वर्ग में असन्तोष फैलने लगा जिससे राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ने लगा। जागीरों की वास्तविक आय कागजों में दिखायी जाने वाली आय से कम होने के कारण जागीरदारों ने अपने सैनिकों की संख्या में कमी की। वे उतने सैनिक नहीं रख पाये जितनी उनसे आशा की जाती थी। इससे साम्राज्य की सैनिक-शक्ति दुर्बल हुई। प्रशासन पर भी इसका कुप्रभाव पड़ा। प्रशासकीय अधिकारी भी उतनी आय प्राप्त नहीं कर रहे थे जितनी उनकी जागीरों की आय दिखायी गयी थी। इस कारण, उन्होंने भी अपने प्रशासन के व्यय में कमी की जिससे प्रशासन में ढीलापन आया। इसके अतिरिक्त, प्रो. सिद्दीकी भी यह स्वीकार करते हैं कि छोटे जागीरदारों और ठेकेदारों द्वारा किसानों पर दबाव डाला गया जिससे अनेक स्थानों पर पुश्तैनी जमींदार समाप्त हो गये और उनका स्थान शहर से आये हुए महाजनों ने ले लिया तथा किसान कृषि छोड़कर विद्रोह करने के लिए बाध्य हुए या उन जमींदारों के संरक्षण में चले गये जो विद्रोही थे। इस प्रकार प्रो. सिद्दीकी के अनुसार बादशाह की दुर्बलता, जागीरों की कमी, दरबारियों की बढ़ती हुई लालसाओं एवं दलबन्दियों, सैनिक-शक्ति में कमी आदि से मुगल-साम्राज्य पतन की ओर अग्रसर हुआ।

इसके अतिरिक्त औरंगजेब के पश्चात् वजीर के पद को योग्य व्यक्ति को नहीं अपितु राजनीतिक दलबन्दी और उसकी आर्थिक एवं सैनिक क्षमता के आधार पर दिया गया। ऐसी स्थिति में जबकि बादशाह अयोग्य थे तथा उनकी भूमि, आय और सैनिक-शक्ति में कमी आती जा रही थी, वजीर बादशाह के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभरा जिससे उमरा-वर्ग की दलबन्दियाँ भी बढ़ीं। सिंहासन के लिए उमरा-वर्ग के सदस्यों की सहायता लेना भी उत्तरकालीन मुगल बादशाहों की दुर्बलता का एक कारण बन गया। बाद के समय में वजीर या दीवान ने सहयोगी उमरा-वर्ग की सहायता से बादशाह बनाये और हटाये तथा अपने हाथों में शक्ति रखने के लिए विभिन्न गुटों या उनके सरदारों ने अपने से बाहर की शक्तियों की भी सहायता ली। इस सभी ने, निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य के पतन में भाग लिया।

[2]

आर्थिक स्थिति

18वीं सदी के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। पर्याप्त समय तक यह माना जाता रहा है कि 18वीं सदी भारत में पुनः अन्धकारमय सदी थी। राजनीतिक एकता और स्थायित्व के अभाव में भारत आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ गया जिसका अन्तिम परिणाम भारत में एक विदेशी सत्ता का स्थापित हो जाना था। परन्तु सर्वप्रथम डॉ.

सतीशचन्द्र ने 1959 ई. में इस धारणा को खण्डित करने का प्रयत्न आरम्भ किया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि कपड़े और मुख्यतया सूती कपड़े के उद्योग और व्यापार में इस काल में उन्नति हुई। गाँवों में भी मुद्रा का प्रचलन था, प्राथमिक बैंक-व्यवस्था ददनी-प्रथा (अग्रिम धनराशि देकर कारीगरों से काम कराना) और हुण्डियों को जारी किये जाने के रूप में प्रगति पर थी और नकदी फसलों का उत्पादन वृद्धि कर रहा था। इस प्रकार डॉ. सतीशचन्द्र के अनुसार 18वीं सदी के भारत में परिवर्तन की सम्भावनाएँ थीं और उसकी स्थिति आर्थिक दृष्टि से जड़ता की नहीं मानी जा सकती जिसके कारण उसे अन्धकारमय सदी माना जा सके। कुछ इतिहासकारों के अनुसार सामन्तवाद की उपस्थिति में पूँजीवाद की प्रगति की सम्भावना भारत में नहीं थी जो उसके विकास का आधार बनती। इसके विपरीत, कुछ अन्य इतिहासकारों के अनुसार सामन्त-व्यवस्था पतनोन्मुख थी जिसके कारण आर्थिक विकास के पूँजीवाद के चरण के उदय होने की पूरी सम्भावना थी। इसके अतिरिक्त, सभी इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि यूरोप-निवासियों के आने से भारत के व्यापार में उन्नति हुई जिसका प्रभाव भारतीय उद्योगों पर भी लाभदायक पड़ा और भारत की आर्थिक स्थिति में उन्नति हुई। परन्तु इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि इसी सदी के उत्तरार्द्ध में मुख्यतया 1765 ई. से जबकि अंग्रेजों ने मुगल बादशाह से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली, तब से भारत का आर्थिक शोषण भी आरम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप 1770 ई. में बंगाल जैसे धनवान सूबे में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें बंगाल की प्रायः एक-तिहाई जनसंख्या समाप्त हो गयी। उपरोक्त विवादपूर्ण धारणाओं तथा तथ्यों को देखते हुए सामान्यतया यह माना जा सकता है कि इन एक सौ वर्षों के लम्बे समय में विभिन्न राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन हुए जिनके कारण इस पूरे समय में भारत की आर्थिक स्थिति समान नहीं रही और न ही भारत के सभी क्षेत्रों में समान रही। यह कहना अधिक उपयुक्त है कि इस काल में भारत की आर्थिक स्थिति में उतार-चढ़ाव रहा और यदि किसी एक क्षेत्र में आर्थिक उन्नति हुई तो किसी अन्य क्षेत्र में गिर भी गयी।

भारत की अर्थ-व्यवस्था का मूल आधार कृषि और लघु-उद्योग सर्वदा रहे थे। वे इस सदी में भी रहे। इस काल में कृषि की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। व्यापार की प्रगति के कारण लघु-उद्योगों के विकास में सहायता अवश्य मिली परन्तु उन उद्योगों की वस्तुओं की निर्माण-विधि में कोई सुधार नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण भारत में तकनीकी विकास का अभाव था जिसके कारण कृषि-उत्पादन और लघु-उद्योगों के विकास में नवीन उपकरणों का निर्माण और प्रयोग सम्भव नहीं हुआ। भारत की जनसंख्या का अधिकांश भाग कृषि पर निर्भर करता था। कृषि-उत्पादन मूलतया प्रकृति और किसान के शारीरिक परिश्रम पर निर्भर करता रहा। किसान अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति कृषि-उत्पादन से कर लेता था। इस कारण कृषि में उसकी रुचि बनी रही। कुछ मात्रा में नकदी फसलों के उत्पादन में वृद्धि हुई परन्तु वह स्थानीय लघु-उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति हेतु मात्र था। अन्यथा 18वीं सदी में कृषि के विकास के कोई ठोस प्रमाण प्राप्त नहीं होते। इसी प्रकार, किसानों की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं थी। शासन ने निरन्तर लगान में वृद्धि की तथा जागीरदार, जमींदार और ठेकेदार किसानों का शोषण करते रहे। इसके अतिरिक्त, उत्तराधिकार के युद्धों, उमरा-वर्ग की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों एवं लूटमार तथा भारत के शासक और धनवान वर्ग की धन-लोलुपता ने किसानों और अन्य निर्धन वर्गों के आर्थिक शोषण को बढ़ावा दिया। इस कारण, इस काल में कृषकों और कृषि-उत्पादन की स्थिति सन्तोषजनक नहीं मानी जा सकती। यह

अवश्य माना जा सकता है कि भारतीय इस क्षेत्र में अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अवश्य समर्थ रहे और इसका मुख्य श्रेय भारत के किसानों के श्रम और उनके साधारण जीवन को था।

व्यापार तथा औद्योगिक दृष्टि से भी भारत की जो उन्नति होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पायी। राजनीतिक अस्थिरता, गृह-युद्ध, विदेशी आक्रमण आदि के कारण भारत में शान्ति और व्यवस्था इस काल में सम्भव नहीं हुई जिससे आन्तरिक और विदेशी व्यापार की हानि हुई और उसका कुप्रभाव उद्योगों पर भी पड़ा। भारत में विभिन्न स्वतंत्र राज्य बन जाने से उनकी सीमाओं पर व्यापारिक-कर लिया जाने लगा जिससे वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुई तथा व्यापारिक वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में असुविधा हुई। इससे आन्तरिक व्यापार में बाधा आयी। विभिन्न राज्यों के बन जाने से भारत की आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण सम्भव नहीं हुआ जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास नहीं हुआ और उनकी प्रगति में रुकावट आयी। विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत के सम्पन्न नगरों को लूटा जो व्यापार और उद्योगों के केन्द्र थे। नादिरशाह ने दिल्ली के वैभव को नष्ट किया और अहमदशाह अब्दाली ने दिल्ली और उत्तर-भारत के सम्पन्न नगरों को लूटा। भारतीय शासकों के पारस्परिक युद्धों ने भी कृषि, व्यापार और उद्योगों को हानि पहुँचाई। मराठों ने दक्षिण-भारत, मालवा तथा गुजरात के सभी नगरों से चौथ वसूल की तथा जाटों और सिखों ने भी भारत के उत्तर-पश्चिम के नगरों को लूटने में कोई कसर न छोड़ी।

परन्तु तब भी भारतीय उद्योग तथा व्यापार नष्ट नहीं हुए। पिछली सदियों से तुलनात्मक दृष्टि से गिरावट हो जाने के बावजूद भी भारतीय उद्योग देश की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और विदेशों को वस्तुएँ निर्यात करने की स्थिति में रहे। इसी कारण, भारत का विदेशी व्यापार सुरक्षित रहा। भारत उस काल में भी प्रचुर मात्रा में कपास, रेशम, शक्कर, जूट, नील, अफीम, जड़ी-बूटियाँ, कीमती पत्थर, मोती आदि वस्तुओं का उत्पादन करता था। भारत के तत्कालीन उद्योगों में सबसे अधिक प्रगतिशील उद्योग और व्यापार की वस्तु सूती कपड़ा था। भारत बहुत उच्चकोटि का और विभिन्न किस्मों एवं रंगों का सूती कपड़ा तैयार करता था जिसकी माँग संसार के सभी देशों में थी। इस उद्योग के केन्द्र-स्थान ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, सूरत, बड़ौदा, अहमदाबाद, बुरहानपुर, जौनपुर, बनारस, लखनऊ, आगरा, मुल्तान, लाहौर, मसलीपट्टम, विशाखापट्टम, बंगलौर, कोयम्बटूर, मदुराई आदि थे। भारत रेशमी कपड़ा भी तैयार करता था। बंगाल में ढाका, कासिमबाजार, हुगली, आदि रेशमी वस्त्र तैयार करने के केन्द्र-स्थान थे। भारत रेशमी कपड़े का निर्यात भी करता था। कश्मीर के बने ऊनी वस्त्र विख्यात थे। माल ढोने वाले समुद्री जहाजों का निर्माण भी भारत में होता था। यूरोपीय व्यापारी भी भारत में बने ऐसे जहाजों को खरीदते थे। इस प्रकार, भारतीय उद्योग और विदेशी व्यापार सुरक्षित रहा और इस सदी में भी भारत के पक्ष में रहा। भारत का यूरोप, एशिया और अफ्रीका के विभिन्न देशों से व्यापार होता था। यूरोप-निवासियों के भारत में आने से आरम्भ में भारत के विदेशी व्यापार को लाभ हुआ था यद्यपि बाद में अंग्रेजों द्वारा अपने सभी यूरोपियन प्रतिद्वन्द्वियों को भारत के व्यापार से वंचित कर देने और 1765 ई. से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर लेने से यह लाभप्रद स्थिति बनी नहीं रह सकी। तब भी यह नहीं कहा जा सकता कि भारत 18वीं सदी में एक निर्धन राज्य था। यह अवश्य है कि पिछली दो सदियों की तुलना में भारत की सम्पन्नता में 18वीं सदी में कमी अवश्य आ गयी थी।

परन्तु आर्थिक दृष्टि से भारत की आर्थिक दुर्बलता का मुख्य कारण उसकी आर्थिक असमानताएँ थीं। भारत के विभिन्न वर्गों के आर्थिक साधनों में बहुत असमानता थी। भारत का शासक-वर्ग, उमरा-वर्ग, जागीरदार, जमींदार, बड़े व्यापारी और उद्योगपति आदि भारत के सम्पन्न वर्ग में आते थे जो जीवन की सभी सुविधाओं और ऐश्वर्य का उपभोग करते थे। परन्तु यह वर्ग भारत की जनसंख्या का बहुत छोटा वर्ग था। भारत का बहुसंख्य वर्ग तो किसान, किसान-मजदूर, औद्योगिक मजदूर, साधारण कारीगरों आदि का था जो केवल जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं मात्र की पूर्ति में समर्थ था। इस गम्भीर आर्थिक विषमता के कारण भारतीय समाज में एकता नहीं हो सकती थी और न ऐसी स्थिति में जन-साधारण में देश-प्रेम की भावना उत्पन्न हो सकती थी। इसी कारण, विदेशियों को यहाँ के जनसाधारण-वर्ग से वफ़ादार सैनिक मिलना सम्भव हुआ। अंग्रेजी सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या ही अधिक थी जिन्होंने अंग्रेजी-साम्राज्य को भारत में स्थापित करने में सहायता दी।

[3]

सामाजिक स्थिति

सामाजिक दृष्टि से भी भारत में विभिन्नताएँ और असमानताएँ थीं। आर्थिक आधार पर भारत विभिन्न वर्गों जैसे शासक, जागीरदार, जमींदार, व्यापारी, उद्योगपति, किसान, किसान-मजदूर, बड़े कारीगर, छोटे कारीगर, साधारण मजदूर, मध्यम-वर्ग जैसे कलाकार, शिक्षित पेशेवर-वर्ग, वैद्य, शिक्षक आदि विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था जिनमें पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और विरोध था। इसके अतिरिक्त, धर्म, समाज, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर भी भारतीयों में तीव्र विभाजन था।

भारत का बहुसंख्यक वर्ग हिन्दू था जो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के आधार पर ही नहीं बल्कि प्रत्येक वर्ण की सैकड़ों जातियों और उप-जातियों में बँटा हुआ था। जाति-व्यवस्था कठोर थी और विभिन्न जातियों में पारस्परिक खान-पान और विवाह-सम्बन्ध सम्भव नहीं थे। जातियों की अपनी पंचायतें होती थीं जो जातीय नियमों का कठोरता से पालन करती थीं और नियमों का उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड देती थीं। व्यक्ति की जाति ही अधिकांशतया उसके व्यवसाय का निर्धारण करती थी। जाति-परिवर्तन सम्भव नहीं थे यद्यपि धन और शक्ति प्राप्त करके एक व्यक्ति समाज में सम्मान अवश्य पा सकता था। हिन्दू-समाज में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ प्रचलित थीं। बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा, बहु-विवाह, देवदासी-प्रथा, बालिका-हत्या, विधवा-विवाह न होना आदि ऐसी कुप्रथाएँ थीं जिनसे भारतीय स्त्रियाँ पीड़ित थीं। सम्पत्ति में स्त्रियों का कोई हिस्सा नहीं था।

भारतीय समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग मुसलमानों का था। मुसलमान भी धर्म, धन, व्यवसाय आदि के आधार पर विभाजित थे। उनके विभाजन का एक मुख्य आधार विदेशी या भारतीय मुसलमान होना था। विदेशी मुसलमान, जो बाहर से आये थे, अपने को भारतीय मुसलमानों (जो भारत में हिन्दू से मुसलमान बने थे) से श्रेष्ठ मानते थे। विदेशी मुसलमान भी विभिन्न राज्यों के आधार पर बँटे हुए थे। ईरानी, तूरानी, अफ़गान आदि आपस में अन्तर मानते थे। भारतीय मुसलमान अपनी पूर्व की हिन्दू-जाति के आधार पर विभाजित थे। मुसलमान व्यवसायों की भिन्नता के आधार पर भी बँटे हुए थे। उनमें शिया, सुन्नी, सूफी आदि धार्मिक सम्प्रदायों के आधार पर भी अन्तर थे। मुसलमानों में भी सामाजिक कुरीतियाँ

थीं। पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह और शिक्षा का अभाव मुसलमान-स्त्रियों से सम्बन्धित कुरीतियाँ थीं।

सिख, पारसी, जैन आदि अन्य सामाजिक वर्ग थे। इस प्रकार, भारतीय समाज विभाजित, प्रतिस्पर्धापूर्ण और विभिन्न कुरीतियों से ग्रस्त था। ऐसा समाज दुर्बल और गतिहीन था।

[4]

सांस्कृतिक स्थिति

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में गिरावट थी। महान् मुगल बादशाहों, कुलीनों, जागीरदारों एवं हिन्दू-नरेशों ने भारत की राजनीतिक एकता और आर्थिक समृद्धि के समय में शिक्षा, साहित्य और ललित-कलाओं को संरक्षण प्रदान करके उनकी उन्नति में सहयोग दिया था। 18वीं सदी में यह सम्भव नहीं हुआ क्योंकि इस सदी में न महान् बादशाह रहे और न उच्च स्तर का उमरा या कुलीन वर्ग। इस सदी में जिनके पास धन था उन्होंने भी उसका उपयोग अधिकांशतया व्यक्तिगत विलासिता और स्वार्थ-पूर्ति के लिए किया। इस कारण, सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में गिरावट आयी। स्थापत्य-कला की दृष्टि से हमें इस काल में बनी हुई कोई उत्कृष्ट इमारत दिखायी नहीं देती और मुगल-चित्रकला-शैली तो लुप्तप्राय हो गयी। यह अवश्य है कि काँगड़ा और राजस्थान के राजपूत-शासकों के संरक्षण में राजपूत और काँगड़ा-चित्रकला-शैली ने अवश्य भारत में चित्रकला को जीवित रखने में सहायता दी। इसी प्रकार, उत्तरकालीन मुगल बादशाहों और कुछ क्षेत्रीय नवाबों के विलासपूर्ण जीवन के कारण गायन और नृत्यकला जीवित रहीं। मुहम्मदशाह रंगीले ने अदारंग और सदारंग नाम के योग्य गायकों को संरक्षण प्रदान किया था। तंजौर, ट्रावनकोर और हैदराबाद के शासकों ने भी गायन-कला को संरक्षण प्रदान किया। इसी प्रकार, दक्षिण के कुछ शासकों ने भरतनाट्यम् और कत्थक नृत्य-कला-शैलियों का पोषण किया। साहित्यिक दृष्टि से फ़ारसी-साहित्य की प्रगति के कोई विशेष प्रमाण प्राप्त नहीं होते। परन्तु प्रादेशिक भाषाओं में से कुछ की उन्नति अवश्य इस काल में हुई, मुख्यतया उर्दू के कुछ विद्वान जैसे मीर, सौदा, नज़ीर आदि इस काल में हुए और उर्दू मुगल-दरबार की लोकप्रिय भाषा हो गयी। तमिल, मलयालम और बंगला भाषा में भी कुछ ग्रन्थों की रचना हुई।

इस प्रकार, सांस्कृतिक दृष्टि से भी 18वीं सदी गिरावट की थी । इसका मुख्य कारण शिक्षा का अभाव था। निस्सन्देह, मुसलमानों की शिक्षा के लिए मकतब और मदरसे थे तथा हिन्दू पाठशालाओं और मन्दिरों से जुड़े हुए विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे, परन्तु शासक-वर्ग की तरफ से शिक्षा की व्यवस्था न तो समुचित थी और न विशेष लाभदायक। शिक्षा-संस्थाओं को इस काल में उचित आर्थिक संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ। परन्तु इस क्षेत्र में भारत की सबसे बड़ी दुर्बलता विज्ञान और तकनीकी शिक्षा का अभाव था। भारत के किसी शासक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और न यह जानने का प्रयत्न किया कि विदेशों में इन क्षेत्रों में क्या प्रयत्न किये जा रहे थे। इस कारण भारत आर्थिक और सैनिक साधनों की दृष्टि से अन्य देशों, मुख्यतया यूरोपीय देशों से पिछड़ गया। यही नहीं अपितु भारतीयों की बुद्धि का विकास आधुनिकता की ओर नहीं हो सका। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भारतीय परम्परावादी बने रहे और शासन, आर्थिक ढाँचा, सामाजिक व्यवस्था आदि जीवन के किसी भी क्षेत्र में नवीनता को जन्म नहीं दे सके। यह उनकी अवनति और अंग्रेजों द्वारा गुलाम बनाये जाने का एक मुख्य कारण बना।

15

मुगल-साम्राज्य की सफलताएँ एवं असफलताएँ

मुगल-साम्राज्य ने लगभग 200 वर्षों तक भारत के अधिकांश भू-क्षेत्र को राजनीतिक एकता, दृढ़ता, सुरक्षा और शान्ति प्रदान की। केवल औरंगजेब का दक्षिण-भारत को जीतकर मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित करने का प्रयत्न सफल होते हुए भी हानिकारक और अस्थायी सिद्ध हुआ। परन्तु फिर भी भारत के अधिकांश भाग को—मुख्यतया उत्तर-भारत के विस्तृत और उपजाऊ भू-प्रदेश को—अपने अधीन करने में मुगल बादशाह सफल हुए थे और वे इस विजय को एक लम्बे समय तक स्थायित्व भी प्रदान कर सके थे। मुगल-साम्राज्य एक लम्बे समय तक शक्तिशाली, समृद्धशाली और प्रगतिशील रहा, एक लम्बे समय तक उसने भारत को योग्य एवं गौरवशाली शासक प्रदान किये, विदेशों में भारत के सम्मान को बढ़ाया तथा भारत की आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में योग दिया। मध्य-युग में जब संसार के प्रायः सभी राज्यों में राजतन्त्र ही एकमात्र सफल शासन-व्यवस्था स्वीकार की जाती थी, मुगल बादशाहों ने भारत को एक शक्तिशाली राजतन्त्र प्रदान करके देश की सर्वांगीण प्रगति में भाग लिया। मुगल-साम्राज्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से उसकी सफलताएँ स्पष्ट हो जाती हैं। परन्तु उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में मुगल-साम्राज्य का वैभव नष्ट हो गया और अन्त में वह एक दुर्बल और बीमार व्यक्ति की तरह घुट-घुटकर समाप्त हुआ। इससे यह स्पष्ट होता है कि अनेक सफलताओं को प्राप्त करने के पश्चात् भी मुगल-साम्राज्य अनेक कार्यों को करने अथवा समस्याओं का हल खोजने में असफल हुआ था।

मुगल-साम्राज्य की सबसे पहली सफलता भारत के अधिकांश भू-प्रदेश को एक लम्बे समय तक राजनीतिक एकता और एक शासन-व्यवस्था प्रदान करने की थी। सम्पूर्ण उत्तर-भारत और दक्षिण के अधिकांश भाग को उसने राजनीतिक एकता, स्थायित्व और शासन की एकता प्रदान की। अकबर के समय से समान लगान-व्यवस्था, समान प्रान्तीय शासन, एक राजभाषा, एक सुनियोजित सैनिक-व्यवस्था, सुरक्षा के लिए विभिन्न किलों का निर्माण, पदाधिकारियों का स्थानान्तरण, पदों का योग्यता के आधार पर वितरण, प्रत्येक व्यक्ति को योग्यता-प्रदर्शन करने की सुविधा आदि स्थापित की गयीं। औरंगजेब के प्रारम्भिक काल तक प्रायः इसी प्रकार की शासन-व्यवस्था रही। इस व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य में एकता रही, शासन दृढ़ रहा, राज्य को योग्य व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त होती रहीं, विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा रही और साधारण प्रजा शान्ति का उपभोग कर सकी। इन सभी से राज्य की जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति सम्भव हो सकी। मुगल-साम्राज्य से बाहर भी भारत के जो प्रदेश थे वे भी इस शासन-व्यवस्था से किसी न किसी प्रकार प्रभावित अवश्य हुए थे।

यही नहीं, इसका प्रभाव स्थायी भी रहा, यहाँ तक कि अंग्रेजों ने भी मुगलकालीन शासन-व्यवस्था का प्रयोग शासन के अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त समय तक किया।

मुगल बादशाहों के शासन का आधार केवल तलवार की शक्ति न थी। निस्सन्देह, उन्होंने बड़ी सेनाएँ रखीं परन्तु वह समय की आवश्यकता थी। मुगल विदेश से भारत आये थे। उनकी शक्ति के विस्तार और स्थायित्व के लिए तलवार की शक्ति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त, मध्य-युग में कोई भी साम्राज्य बिना शक्ति के नहीं चल सकता था। उसके अभाव में साम्राज्य के गौरवपूर्ण होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था। इस कारण मुगलों की शक्ति का आधार भी तलवार थी। परन्तु मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया था। बाबर से लेकर शाहजहाँ तक ही नहीं बल्कि औरंगजेब के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि वह परिश्रमी था, उनमें से प्रत्येक अपने-अपने दृष्टिकोण और क्षमता से प्रजा की भलाई के लिए प्रयत्नशील था और उनमें से अधिकांश अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने में सफल हुए थे। मुगल बादशाहों की शक्ति, गौरव और शान-शौकत ने अपनी प्रजा को भी गौरव और सम्मान प्रदान किया। मध्य-युग में प्रजा एक शक्तिशाली और समृद्धशाली बादशाह के प्रति ही भक्ति-भाव रख सकती थी। मुगल बादशाहों ने प्रजा की इस भावना को सन्तुष्ट किया। इस कारण एक लम्बे समय तक मुगल बादशाह अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त कर सके थे।

मुगलों ने युद्ध के तरीकों और साधनों में वृद्धि की। टर्की, फारस और मध्य-एशिया से प्राप्त युद्ध-नीति को उन्होंने भारत में आरम्भ किया। बाबर की तुलगमा युद्ध-नीति, उसका तोपखाना और घुड़सवार-सेना पर बल आदि भारत के लिए नवीन चीजें थीं। बाद के मुगल बादशाहों ने उन सभी को पूर्णता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। किलों का निर्माण, सुरक्षा के प्रयत्न, मनसबदारी-प्रथा, कैम्प-व्यवस्था आदि मुगलों की अपनी पृथक विशेषताएँ थीं जिन्होंने भारत में युद्ध के नवीन साधनों और तरीकों को आरम्भ किया।

धार्मिक उदारता और हिन्दू-मुसलमानों के निकट आने की दृष्टि से भी मुगलों का समय पूर्ण सफल तो नहीं था परन्तु अपने से पहले के मुसलमान शासकों की तुलना में कहीं आगे था। तुर्क और अफगान शासकों ने हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने का प्रयत्न नहीं किया था और धार्मिक दृष्टि से प्रायः वे सभी अनुदार थे। उनके समय में हिन्दू और मुसलमान निरन्तर एक-दूसरे से संघर्ष करने की स्थिति में रहे और जो कुछ निकटता उनमें आयी वह बाध्यता और परिस्थितियोंवश आयी। इसके विपरीत, मुगल बादशाहों ने हिन्दू और मुसलमानों के भेद-भाव को अधिक महत्व नहीं दिया। बाबर और हुमायूँ अधिक कट्टर न थे, अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति का सक्रिय प्रयोग किया, जहाँगीर और शाहजहाँ ने उसकी नीति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया और, सम्भवतया, औरंगजेब की धर्मान्धता को भी क्षमा किया जा सकता है यदि उसकी तुलना यूरोप और एशिया के अन्य समकालीन बादशाहों की धर्मान्धता से की जाय। औरंगजेब के बाद के मुगल बादशाह धर्मान्धता की नीति का अनुसरण करने की स्थिति में ही न रहे। इस प्रकार, तुलनात्मक दृष्टि से मुगल-काल धार्मिक दृष्टि से उदार था। भक्ति-मार्ग मुगल-काल में भी लोकप्रिय रहा और नानक, कबीर, दादू आदि सन्तों ने हिन्दू और इस्लाम-धर्म की एकता में विश्वास करना सिखाया। अनेक सूफी सन्त इसी मार्ग पर चलने की सलाह देते थे। इनके प्रयत्न पूर्णतया सफल न थे परन्तु धार्मिक उदारता के वातावरण की स्थापना करने में सहायक अवश्य थे।

मुगलों के समय में भारत के सम्बन्ध विदेशों से घनिष्ट हुए। एक लम्बे समय तक अफगानिस्तान भारतीय साम्राज्य का भाग रहा। इसकेस्थल-मार्ग से उत्तर-पश्चिम और यूरोप के देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। गुजरात और बंगाल के विभिन्न बन्दरगाह समुद्री मार्ग से विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने में सहायक हुए।

मुगल-साम्राज्य एक लम्बे समय तक आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न रहा। कृषि, व्यापार और उद्योगों की दृष्टि से मुगल-काल उन्नतशील था। विदेशी व्यापार में भारत की स्थिति लाभप्रद थी। निस्सन्देह, इस बढ़ती हुई आर्थिक समृद्धि का मुख्य लाभ समाज के श्रेष्ठ वर्ग, मुख्यतया बादशाह और उनके सरदारों एवं अमीरों को था। परन्तु फिर भी इस समृद्धि और गौरव में प्रजा ने भी भाग लिया था। सम्भवतया, मध्य-युग में बादशाहों से इससे अधिक आशा करना व्यर्थ था।

मुगल-साम्राज्य सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। मुगलों ने इतिहास-लेखन में प्रगति की। विभिन्न बादशाहों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखीं अथवा अपने समय के इतिहास को अन्य व्यक्तियों से लिखवाया। फारसी भाषा इसी समय राजभाषा बनी। इससे उसके साहित्य का विकास हुआ और अन्य भाषाओं के अनेक ग्रन्थों का उसमें अनुवाद किया गया। इसके अतिरिक्त, इस युग में हिन्दी, संस्कृत, उर्दू तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में भी प्रगति हुई। स्थापत्य-कला और चित्रकला की दृष्टि से मुगल-काल गौरवपूर्ण है। मुगल-काल में बनी अनेक इमारतें, किले, मकबरे और विभिन्न चित्र भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधियाँ हैं। संगीत, नृत्य, लेखन-कला, बागवानी आदि अन्य दृष्टियों से भी मुगल-काल प्रगतिशील था। मुगल-काल की वेश-भूषा, श्रृंगार, खान-पान, सामाजिक व्यवहार, आभूषण आदि ने एक लम्बे समय तक भारत को प्रभावित किया और ये सभी भारत की संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये।

इस प्रकार, मुगल-काल की अनेक सफलताएँ मान्य हैं। मुगल-काल भारत का महान् काल माना गया है और मुगल बादशाह महान् बादशाह माने गये हैं **परन्तु मुगल बादशाह समय की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल महान् न रह सके। यही उनकी असफलता थी और यही उनके और उनके साम्राज्य के पतन का कारण बनी। मुगल-काल में हिन्दू और मुसलमान सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से एक नहीं हो सके।** यदि दिल्ली के सुल्तानों का समय हिन्दू और मुसलमानों के बीच राजनीति, सत्ता और धार्मिक श्रेष्ठता के लिए संघर्ष का समय रहा, तो मुगल बादशाहों का समय राष्ट्रीय एकता के प्रयत्न और कट्टर इस्लाम की प्रवृत्ति के संघर्ष का समय रहा। इसमें अन्त में विजय कट्टर इस्लाम की प्रवृत्ति की हुई। अकबर के द्वारा आरम्भ किया गया राष्ट्रीय एकता का प्रयत्न आगे नहीं बढ़ सका तथा औरंगजेब के समय में इस प्रयत्न को त्याग दिया गया। परन्तु जिस समय अंग्रेजों ने भारत में अपने कदम जमाये उस समय तक हिन्दू-मराठे मुगलों और इस्लाम की शक्ति की श्रेष्ठता को तोड़ चुके थे और कट्टर इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति परास्त हो चुकी थी। फिर भी इस संघर्ष का निर्णय नहीं हुआ। इस कारण भारत में एकता न थी, हिन्दू-मराठे और विभिन्न मुसलमान शक्तियाँ आपस में संघर्ष कर रही थीं और हिन्दू-प्रजा और मुख्यतया हिन्दुओं का व्यापारी वर्ग, जिनका हित अंग्रेज व्यापारियों से जुड़ा हुआ था, मुसलमानों के विरुद्ध अंग्रेज कम्पनी की सहायता के लिए तत्पर था। इस प्रकार, मुगल बादशाह भारत की प्रजा में अन्ततः एकता लाने में असफल रहे थे। **ऐसी परिस्थितियों में मुगल-शासन को 'राष्ट्रीय शासन' और मुगल-काल को 'भारतीय राष्ट्रीयता का युग' पुकारना ठीक नहीं है, जैसा कि कुछ आधुनिक भारतीय विद्वानों ने उसे पुकारा है।**

अन्य मुस्लिम राज्यों के विस्तार की भाँति भारत में मुगल-साम्राज्य के विस्तार का एक आधार विभिन्न साहसी सरदारों का शौर्य और उनकी योग्यता रहा था। जब तक जीतने के लिए नवीन भूमि रही तब तक उनमें परस्पर संघर्ष नहीं हुए। परन्तु जब मुगल-साम्राज्य विस्तार और सुरक्षा की अन्तिम सीमा पर पहुँच गया तो षड्यन्त्र, विद्रोह, गृह-युद्ध, उत्तराधिकार के युद्ध आदि अधिक होने लगे। मुगल बादशाह उनको रोकने में असमर्थ रहे। शाहजहाँ और औरंगजेब जैसे शक्तिशाली बादशाह अपने पुत्रों को आपस में युद्ध करने से न रोक सके। उत्तरकालीन मुगल बादशाहों के समय में यह स्थिति और अधिक खराब हो गयी। ऐसी स्थिति में न तो शान्ति सम्भव थी, न समृद्धि और न सांस्कृतिक प्रगति। मुगल बादशाह एक सुनिश्चित और स्थायी शासन को अपने साम्राज्य का आधार न बना सके। व्यक्तिगत शक्ति और महत्वाकांक्षाएँ गम्भीरता से मुगल-साम्राज्य में अन्त तक सम्मिलित रहीं। मुगल-काल में सम्पत्ति की सुरक्षा, अधिकारों की सुरक्षा, आर्थिक प्रगति, विदेशी व्यापार और सांस्कृतिक प्रगति का कोई ठोस आधार न था। वह सभी कुछ समय की बदलती हुई परिस्थितियों पर निर्भर करता था। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुगल-काल में शासन, सैनिक-व्यवस्था, अर्थ-व्यवस्था, सांस्कृतिक प्रगति आदि सभी के प्रति दृष्टिकोण मध्ययुगीन रहा। उसमें आधुनिकता, समय के अनुकूल परिवर्तन की इच्छा, नवीन दृष्टिकोण तथा नूतन विचारों एवं परिस्थितियों का निर्माण करने की क्षमता नहीं रही थी।

मुगल-शासन की एक सफलता चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में थी। मुगल बादशाह अपनी प्रजा के नैतिक चरित्र की रक्षा न कर सके। उनका स्वयं का जीवन अत्यन्त विलासितापूर्ण रहा। औरंगजेब को छोड़कर प्रायः सभी मुगल बादशाह मादक-द्रव्यों के प्रयोग और स्त्री-सम्पर्क के प्रति उदार थे। अकबर जैसे बादशाह का अपना एक विशाल 'हरम' था जिसमें हजारों स्त्रियाँ रखैल अथवा दासियों के रूप में थीं। बादशाह के सरदारों और अधीनस्थ हिन्दू-राजाओं ने भी उनके मार्ग का अनुसरण करने में गौरव का अनुभव किया। इस कारण समाज का श्रेष्ठतम और धनवान वर्ग विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करने का आदी हो गया। निस्सन्देह, यह प्रभाव ग्राम्य-जीवन और जनसाधारण तक नहीं पहुँचा और बड़े-बड़े नगरों तक ही सीमित रहा, परन्तु नगर-जीवन और समाज के श्रेष्ठ वर्ग की बदलती हुई मान्यताएँ ही समाज की नैतिक एवं बौद्धिक प्रगति का स्रोत होती हैं। मध्य-युग में यह बात और भी अधिक सत्य थी। ऐसी स्थिति में जब समाज का नेतृत्व करने वाले ही नैतिक और बौद्धिक प्रगति में सहयोग देने में असमर्थ हो गये तब समाज और राज्य का दुर्बल होना स्वाभाविक था। मुगल-संस्कृति दरबार और नगरों तक ही सीमित रही तथा धन और सुरक्षा की प्राप्ति से वहीं पर बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगति हुई। परन्तु उस प्रगति का मूल आधार दुर्बल था। संघर्ष के काल तक मुगल-काल में विलासिता और शौर्य साथ-साथ रह सके। संघर्ष के काल के समाप्त होते ही शौर्य समाप्त हो गया और केवल विलासिता रह गयी। मुगल बादशाहों और सरदारों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी दुर्बल होती गयी, नैतिक और बौद्धिक पतन बढ़ता गया, समाज का श्रेष्ठ वर्ग समाज को नेतृत्व प्रदान करने के योग्य न रहा और अन्त में जनसाधारण भी उसके प्रभाव से मुक्त न रहा। बाद के मुगल-युग में योग्य सेनापतियों, योग्य शासन-प्रबन्धकों, योग्य साहित्यकारों, योग्य कलाकारों आदि का अभाव हो गया और 18वीं सदी का भारतीय समाज दुर्बल हो गया। बौद्धिक पतन के कारण भारत में अन्वेषण, विकास और नूतनता के लिए कोई स्थान न रहा और देश दिन-प्रतिदिन पतन की ओर बढ़ा। घूस,

अनाचार, अत्याचार, खुशामद आदि तो इस बीमारी के केवल बाह्य चिन्ह् थे। मूल बीमारी इससे अधिक गम्भीर थी जिसने मुगल-साम्राज्य को भारत से मिटा दिया।

मुगल-शासन का स्वरूप अन्त तक सैनिक रहा। मुगल बादशाहों ने अपनी प्रजा की भौतिक, शैक्षणिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति का प्रयत्न किया। ऐसा नहीं था कि वे इस तरफ से पूर्णतया उदासीन थे परन्तु इसके लिए उन्होंने अत्यन्त सीमित साधनों का प्रयोग किया था। अगर मुगल-साम्राज्य की समृद्धि में प्रजा को भी उचित हिस्सा प्राप्त हुआ होता और उसकी शिक्षा तथा बौद्धिक एवं भौतिक प्रगति का योजनाबद्ध प्रयत्न किया गया होता, तो देश सुदृढ़ होता। मुगल बादशाहों ने राजनीति के इस सिद्धान्त पर कार्य ही नहीं किया कि 'महान् प्रजा की अनुपस्थिति में महान् साम्राज्यों का निर्माण सम्भव नहीं है।'

इस्लाम की कट्टरता, जो मुसलमानों की प्रारम्भिक सफलता का कारण थी, उनकी रुढ़िवादिता और जड़ता का कारण बनकर उनके पतन का कारण बनी। आधुनिक समय में भी यह बात स्पष्ट रूप में सिद्ध की जा सकती है। मुगल-साम्राज्य की सफलता और असफलता भी इस्लाम की इस कट्टरता की भावना से प्रभावित हुई। उदार अकबर बादशाह के समय में मुगल-साम्राज्य की बहुमुखी प्रगति के द्वार खुल गये थे जबकि कट्टर औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य के पतन का मार्ग खुला था। यही नहीं बल्कि मूल आधार पर इस्लाम की कट्टरता सभी मुसलमानी राज्यों के पिछड़ेपन का कारण रही थी। भारत के मुगल-साम्राज्य के बारे में भी ऐसा ही हुआ। किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता एक सीमा तक तो एक व्यक्ति अथवा एक साम्राज्य अथवा एक राज्य के लिए लाभदायक हो सकती है परन्तु उसका अन्तिम परिणाम प्रतिक्रिया, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और नूतन विचारों, विश्वासों एवं मान्यताओं की अवहेलना होती है जो एक व्यक्ति, एक सम्प्रदाय अथवा एक राज्य के पतन का कारण बनती है। मुगल-साम्राज्य भी इस्लाम की इस धार्मिक कट्टरता से विमुख न हो सका जिसके कारण वह नूतनता से विमुख रहा। उसके मुकाबले अंग्रेजी शासन, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी विचारधारा अधिक प्रगतिशील सिद्ध हुई जो अन्त में भारत में उनकी सफलता का कारण बनी। सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका ने नवीन विचार, नवीन बौद्धिक स्तर और शासन में नवीनता की खोज को बन्द कर दिया था। यूरोपियनों के समक्ष सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका के झुक जाने का यही कारण था। मुगल-साम्राज्य की भी यह दुर्बलता रही। भारत में अंग्रेजों ने बहुत-कुछ क्षेत्रों में व्यक्तिगत प्रयासों की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति की सुरक्षा, तर्कपूर्ण बुद्धि का विकास, प्रगति की इच्छा आदि की स्थापना करने में सहयोग दिया था। यही उनकी सफलता का कारण था। और मुगल-साम्राज्य यही सब कुछ करने में असफल रहा था। मुगल-साम्राज्य मध्ययुगीन था और अन्त तक मध्ययुगीन ही बना रहा। आधुनिकता की ओर न बढ़ने की इच्छा और समय के अनुकूल परिवर्तित न होने की क्षमता मुगल बादशाहों और मुगल-साम्राज्य की सबसे बड़ी असफलता थी।

परिशिष्ट 1

कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न और उनके उत्तर

निम्नलिखित प्रश्नों के सही उत्तरों के सम्मुख बॉक्स में √ लगाइए :

1. निम्नलिखित में से किसने 'तुजुक-ए-बाबरी' का अनुवाद मूल तुर्की से अंग्रेजी भाषा में किया है ?
   (अ) लेनपूल □
   (ब) मैडम बैवरिज □
   (स) एलफिन्सटन □
   (द) मैलसन □

2. निम्नलिखित में से किसे बाबर की सफलताओं में स्वीकार नहीं किया जाता ?
   (अ) बाबर भारत में मुगल-साम्राज्य का संस्थापक था। □
   (ब) बाबर एक विद्वान शासक था। □
   (स) बाबर एक योग्य शासन-प्रबन्धक था। □
   (द) बाबर एक अनुभवी सेनापति था। □

3. निम्नलिखित में से कौन शेरशाह का उत्तराधिकारी था ?
   (अ) इब्राहीमशाह □
   (ब) मुहम्मद आदिलशाह □
   (स) फीरोजशाह □
   (द) इस्लामशाह □

4. निम्नलिखित में से कौन-सा तथ्य अकबर की राजपूत-नीति के बारे में सही नहीं है?
   (अ) अकबर ने राजपूतों से विवाह-सम्बन्धों की नीति अपनायी। □
   (ब) अकबर ने स्वेच्छा से उसके आधिपत्य को स्वीकार करने वाले राजपूत-शासकों को सम्मान और उच्च पद प्रदान किये। □
   (स) अकबर ने राजपूत-शासकों से युद्ध नहीं किये। □
   (द) अकबर ने राजपूतों के दृढ़ दुर्गों पर अपना अधिकार किया। □

5. निम्नलिखित में से कौन-सा तथ्य जहाँगीर के बारे में सही नहीं माना जाता है ?
   (अ) जहाँगीर एक विलासी शासक था। ☐
   (ब) जहाँगीर एक न्यायप्रिय शासक था। ☐
   (स) जहाँगीर ने अकबर की शासन-व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किया। ☐
   (द) जहाँगीर ने अकबर द्वारा स्थापित राजपूत-नीति को ही अपनाया था। ☐

6. निम्नलिखित में से कौन-सा तथ्य सही नहीं है ?
   (अ) शाहजहाँ के समय में कन्धार मुगलों के हाथ से निकल गया। ☐
   (ब) शाहजहाँ के समय में मध्य-एशिया पर आधिपत्य करने का प्रयत्न किया गया। ☐
   (स) शाहजहाँ के समय में बीजापुर-राज्य को मुगल-साम्राज्य में सम्मिलित किया गया। ☐
   (द) शाहजहाँ के जीवित रहते हुए उसके पुत्रों ने सिंहासन के लिए आपस में संघर्ष किया। ☐

7. निम्नलिखित में से कौन सा तथ्य सही है ?
   (अ) औरंगजेब ने अकबर की धार्मिक-नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया था। ☐
   (ब) औरंगजेब ने अकबर की राजपूत-नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया था। ☐
   (स) औरंगजेब एक योग्य सेनापति था। ☐
   (द) औरंगजेब एक अयोग्य शासक था। ☐

8. निम्नलिखित शासकों में से किसे सात्विक प्रकृति का शासक स्वीकार किया जा सकता है ?
   (अ) अकबर। ☐
   (ब) जहाँगीर। ☐
   (स) शाहजहाँ। ☐
   (द) औरंगजेब। ☐

9. निम्नलिखित में से किसने मुगल-शासन को कुलीनों का शासन बताया है ?
   (अ) डॉ. एस. आर. शर्मा। ☐
   (ब) डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव। ☐
   (स) डॉ. ताराचन्द। ☐
   (द) डॉ. आर. पी. त्रिपाठी। ☐

10. मुगलों की मनसबदारी-व्यवस्था निम्न में से उनके किस शासन का भाग थी ?
   (अ) सैनिक-शासन। ☐
   (ब) लगान-व्यवस्था। ☐
   (स) प्रान्तीय शासन-व्यवस्था। ☐
   (द) न्याय-व्यवस्था। ☐

उत्तर—1. (ब), 2. (स), 3. (द), 4. (स), 5. (अ), 6. (स), 7. (स), 8. (द), 9. (स), 10. (अ)।

परिशिष्ट 2

अभ्यासार्थ प्रश्न

अध्याय 1

1. बाबर के आक्रमण के समय के भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन कीजिए। यह किस सीमा तक भारत में बाबर की सफलता के लिए उत्तरदायी थी ?
2. पानीपत के प्रथम युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
3. खानुआ के युद्ध के कारणों एवं परिणामों पर विचार कीजिए।
4. 'बाबर भारत में मुगल-राज्य का संस्थापक था।' आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
5. बाबर के चरित्र और व्यक्तित्व की समीक्षा कीजिए।
6. 'बाबर एक विद्वान शासक था।' समीक्षा कीजिए।

अध्याय 2

1. 'हुमायूँ ने अपने पिता से विरासत के रूप में बहुत-सी कठिनाइयाँ प्राप्त कीं जिनको उसने अपनी भूलों से और बढ़ा दिया।' समीक्षा कीजिए।
2. हुमायूँ के गुजरात के शासक बहादुरशाह से क्या सम्बन्ध रहे ? उनका क्या परिणाम हुआ ?
3. भारत की राजसत्ता के लिए हुमायूँ और शेरशाह के संघर्ष का वर्णन कीजिए। उसका क्या परिणाम हुआ ?
4. शेरशाह के विरुद्ध हुमायूँ की असफलता के कारणों पर विचार कीजिए।

अध्याय 3

1. 'शेरशाह अफगान शासकों में सर्वश्रेष्ठ था।' आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
2. शेरशाह की शासन-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. 'शेरशाह अकबर का अग्रणी था।' आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
4. सूर-वंश के पतन की परिस्थितियों एवं कारणों पर प्रकाश डालिए।

अध्याय 4

1. 'अकबर एक महान् साम्राज्यवादी था।' समीक्षा कीजिए।
2. 'अकबर एक राष्ट्रीय सम्राट था।' आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?

अध्याय 5

1. जहाँगीर के चरित्र और व्यक्तित्व की समीक्षा कीजिए।

2. नूरजहाँ के चरित्र का वर्णन कीजिए। उसने अपने समय की राजनीति और इतिहास को किस प्रकार प्रभावित किया ?

अध्याय 6

1. शाहजहाँ के पुत्रों में हुए उत्तराधिकार के युद्ध का वर्णन कीजिए। उसमें औरंगजेब की सफलता के क्या कारण थे ?
2. 'शाहजहाँ का शासनकाल मुगल-काल का स्वर्ण-काल था।' समीक्षा कीजिए।

अध्याय 7

1. औरंगजेब की धार्मिक-नीति क्या थी ? उसके क्या परिणाम हुए ?
2. अकबर की धार्मिक-नीति में कब और किस प्रकार परिवर्तन किया गया ? उसका कया परिणाम हुआ ?
3. औरंगजेब की राजपूत-नीति क्या थी ? उसका क्या परिणाम हुआ ?
4. औरंगजेब की दक्षिण-नीति की समीक्षा कीजिए।
5. एक शासक की दृष्टि से औरंगजेब की असफलता के कारणों पर विचार कीजिए।

अध्याय 8

1. 17वीं सदी में मराठों के उत्थान पर प्रकाश डालिए।
2. शिवाजी के नेतृत्व में हुए मराठों के उत्थान पर विचार कीजिए।
3. 'शिवाजी एक राष्ट्र-निर्माता थे।' समीक्षा कीजिए।
4. 'शिवाजी एक महान् शासन-प्रबन्धक थे।' आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?

अध्याय 9

1. मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया पर दृष्टिपात कीजिए।
2. 18वीं सदी के मध्य में मुगल-साम्राज्य के विघटन की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निर्मित हुए स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण का उल्लेख कीजिए।
3. सैयद-भाइयों के उत्थान और पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. नादिरशाह के आक्रमण के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।

अध्याय 10

1. पेशवा बालाजी विश्वनाथ की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
2. 'बाजीराव पेशवाओं में महान् था।' इस कथन के आधार पर मराठा-शक्ति के विकास में पेशवा बाजीराव के योगदान को स्पष्ट कीजिए।
3. पानीपत के तृतीय युद्ध के कारणों और परिणामों की समीक्षा कीजिए।

अध्याय 11

1. अकबर की धार्मिक-नीति क्या थी ? उसके कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए ?
2. 'दीन-ए-इलाही अकबर की अक्लमन्दी नहीं बल्कि बेवकूफी का परिणाम था।' क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

3. मुगल बादशाहों की धार्मिक-नीति की समीक्षा कीजिए।
4. अकबर की राजपूत-नीति क्या थी ? उसके क्या परिणाम हुए ?
5. मुगलों की दक्षिण-नीति की समीक्षा कीजिए।
6. मुगल बादशाहों की कन्धार-नीति के बारे में आप क्या जानते हैं ?

अध्याय 12

1. मुगलों की केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. 'मुगलों की प्रान्तीय शासन-व्यवस्था उनकी केन्द्रीय शासन-व्यवस्था का लघु रूप थी।' इस कथन के आधार पर मुगलों की प्रान्तीय शासन-व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
3. अकबर की मनसबदारी-प्रथा का उल्लेख कीजिए। क्या उसे सफल स्वीकार किया जा सकता है ?
4. अकबर की लगान-व्यवस्था का वर्णन कीजिए। वह किस सीमा तक शेरशाह की लगान-व्यवस्था से भिन्न थी ?

अध्याय 13

1. मुगल-काल की आर्थिक स्थिति की समीक्षा कीजिए।
2. मुगल-काल की आर्थिक और सामाजिक स्थिति की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. मुगल-काल में हुई साहित्यिक प्रगति का उल्लेख कीजिए।
4. मुगल-काल में हुई स्थापत्य-कला की प्रगति पर प्रकाश डालिए।
5. अकबर-काल की स्थापत्य-कला की प्रगति का वर्णन कीजिए।
6. 'शाहजहाँ का शासनकाल मुगल-स्थापत्य-कला का स्वर्ण-काल था।' क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?
7. मुगल-काल में हुई चित्रकला की उन्नति की समीक्षा कीजिए।

अध्याय 14

1. 18वीं सदी में राजपूत-राज्यों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति के विषय में आप क्या जानते हैं ?
2. 18वीं सदी में राजपूत-राज्यों की शासन-व्यवस्था के बारे में आप क्या जानते हैं ? वह मुगल-शासन-व्यवस्था से कहाँ तक प्रभावित थी ?
3. सिखों के राजनीतिक उत्थान में बन्दा वैरागी का क्या योगदान था ?
4. 18वीं सदी में मैसूर-राज्य के उत्थान के कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।
5. 18वीं सदी में हुए आँग्ल-फ्रान्सीसी संघर्ष के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
6. 18वीं सदी में भारत की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति के बारे में आप क्या जानते हैं ?

अध्याय 15

1. मुगल-साम्राज्य की सफलताओं एवं असफलताओं का मूल्यांकन कीजिए।

परिशिष्ट 3

मध्यकालीन भारतीय इतिहास की कुछ प्रमुख तिथियाँ

1000 ई.	महमूद गजनवी का प्रथम आक्रमण
1027 ई.	महमूद गजनवी का अन्तिम आक्रमण
1191 ई.	तराइन का प्रथम युद्ध
1192 ई.	तराइन का द्वितीय युद्ध
1206-1210 ई.	कुतुबुद्दीन ऐबक का शासनकाल
1211-1236 ई.	इल्तुतमिश का शासनकाल
1236-1240 ई.	रजिया का शासनकाल
1265-1287 ई.	बलबन का शासनकाल
1290-1296 ई.	जलालुद्दीन खलजी का शासनकाल
1296-1316 ई.	अलाउद्दीन खलजी का शासनकाल
1307-1313 ई.	काफूर द्वारा दक्षिण-विजय
1320-1325 ई.	गियासुद्दीन तुगलक का शासनकाल
1325-1351 ई.	मुहम्मद तुगलक का शासनकाल
1325-1327 ई.	मुहम्मद तुगलक द्वारा दोआब में कर-वृद्धि
1326-1327 ई.	मुहम्म्द तुगलक का राजधानी-परिवर्तन
1329-1330 ई.	मुहम्मद तुगलक का सांकेतिक मुद्रा का चलाना
1351-1388 ई.	फीरोज तुगलक का शासनकाल
1398-1399 ई.	अमीर तिमूर का भारत पर आक्रमण
1451-1489 ई.	बहलोल लोदी का शासनकाल
1489-1517 ई.	सिकन्दर लोदी का शासनकाल
1517-1526 ई.	इब्राहीम लोदी का शासनकाल
1565 ई.	तालीकोटा का युद्ध
1526-1530 ई.	बाबर का शासनकाल
21 अप्रैल, 1526 ई.	पानीपत का प्रथम युद्ध
17 मार्च, 1527 ई.	खानुआ का युद्ध
1529 ई.	बाबर का घाघरा का युद्ध
1530-1556 ई.	हुमायूँ का काल

26 जून, 1539 ई.	चौसा का युद्ध
17 मई, 1540 ई.	कन्नौज का बिलग्राम का युद्ध
1540-1545 ई.	शेरशाह का शासनकाल
1545-1553 ई.	इस्लामशाह का शासनकाल
1556-1605 ई.	अकबर का शासनकाल
5 नवम्बर, 1556 ई.	पानीपत का द्वितीय युद्ध
1576 ई.	राणा प्रताप और मुगलों में हल्दीघाटी का युद्ध
1582 ई.	अकबर द्वारा 'दीन-ए-इलाही' का आरम्भ
1605-1627 ई.	जहाँगीर का शासनकाल
1611 ई.	जहाँगीर-नूरजहाँ का विवाह
1623-1626 ई.	शाहजहाँ का विद्रोह
मार्च 1626 ई.	महाबतखाँ का विद्रोह
1627-1658 ई.	शाहजहाँ का शासनकाल
1658-1659 ई.	शाहजहाँ के पुत्रों में उत्तराधिकार का युद्ध
1658-1707 ई.	औरंगजेब का शासनकाल
1679 ई.	औरंगजेब द्वारा जजिया का लगाया जाना
1681 ई.	शाहजादा अकबर का विद्रोह
1627-1680 ई.	छत्रपति शिवाजी का जीवन-काल
1674 ई.	शिवाजी का राज्याभिषेक
1680-1689 ई.	छत्रपति शम्भाजी का शासनकाल
1739 ई.	नादिरशाह का आक्रमण
1707-1749 ई.	छत्रपति शाहू का शासनकाल
1720-1740 ई.	बाजीराव पेशवा के रूप में
14 जनवरी, 1761 ई.	पानीपत का तृतीय युद्ध

1

मुगल-साम्राज्य के पतन के कारण

मुगल-साम्राज्य का अन्तिम शासक बहादुरशाह द्वितीय था जिसे 1857 ई. के विद्रोह
के समय भारतीय सैनिकों के विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए बाध्य किया गया था। परन्तु
बहादुरशाह शासक से अधिक शायर था। उसका नेतृत्व दुर्बल और असफल रहा। विद्रोह में
उसके बच्चों को कत्ल कर दिया गया और स्वयं उसे बन्दी बनाकर रंगून भेज दिया गया। वहीं
उसकी मृत्यु हुई और मुग़ल-वंश का अन्तिम दीपक बुझ गया।

परन्तु वस्तुतः भारत में मुगल-साम्राज्य उससे बहुत पहले समाप्त हो चुका था। औरंगजेब
के शंकालु स्वभाव, उसकी धार्मिक नीति, उसकी दक्षिण-नीति तथा निरन्तर युद्धों ने उसी
के समय में मुगल-साम्राज्य की शक्ति के स्रोत को सुखाना आरम्भ कर दिया था। औरंगजेब
की मृत्यु 3 मार्च, 1707 ई. को शंकाओं, समस्याओं एवं असफलताओं के बीच हुई। अशान्ति,
विद्रोह, शासन में अव्यवस्था और आर्थिक संकट मुगल-साम्राज्य को घेर चुके थे तथा
औरंगजेब की मृत्यु के समय मराठा-घुड़सवार शाही सेना और उनके खेमों में लूटमार कर रहे
थे। निस्सन्देह, औरंगजेब बहुत कुछ मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण बना था। उसके समय
में मुगल-साम्राज्य के ढाँचे में अनेक छिद्र हो गये थे और वह ढाँचा खड़ा होते हुए भी
लड़खड़ा रहा था। उसकी मृत्यु के पश्चात् वह ढाँचा टुकड़े-टुकड़े होने लगा।
महत्वाकांक्षी और स्वार्थी सरदारों, विदेशी आक्रमणों तथा उदीयमान मराठा-शक्ति ने मुगल-
साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। मुगल-साम्राज्य अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही खण्डित
हो गया था, भारत में राजनीतिक अव्यवस्था फैल चुकी थी, छोटे-छोटे अनेक स्वतन्त्र राज्य
भारत में स्थापित हो चुके थे और ऐसी स्थिति में मराठों की सर्वोच्चता भारत में स्थापित हुई।
परन्तु जब मराठे भारत में राजनीतिक एकता और शासन-व्यवस्था स्थापित करने में असफल
हुए तब एक विदेशी शक्ति—अंग्रेजों—को अवसर प्राप्त हुआ और उन्होंने अपने कौशल एवं
कूटनीति से भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया। 1707 ई. के पश्चात् का भारत का
इतिहास संघर्षों, दुर्घटनाओं और विरोधी शक्तियों की उस राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का समय
है जो अंग्रेजों की सफलता में समाप्त हुई। इन घटनाओं में मुगल बादशाहों का भाग बहुत कम
था। मुगल बादशाह और मुगल-साम्राज्य भारतीय इतिहास में नगण्यावस्था में थे। बाबर,
अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का गौरव नष्ट हो चुका था और उनके उत्तराधिकारी दूसरों के
हाथों में कठपुतली बने हुए मात्र नाम के लिए शासक बने रहने का प्रयत्न कर रहे थे। अन्त में
उनका नाम भी समाप्त हो गया। शक्तिशाली मुगल-साम्राज्य भारत से एक दुर्बल बीमार व्यक्ति
की तरह घुट-घुटकर समाप्त हुआ। इसके पतन के निम्नलिखित कारण थे :

उत्तरकालीन मुगल बादशाहों का नैतिक पतन और अयोग्यता

मुगल-शासन स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था जिसमें सभी कुछ बादशाह के व्यक्तित्व पर
निर्भर करता था। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि राज्य का भाग्य बादशाह की योग्यता
और अयोग्यता पर निर्भर करता। मुगल-साम्राज्य की स्थापना और उसका विस्तार बाबर व

अकबर जैसे दृढ़-निश्चयी एवं साहसी बादशाहों के कारण हुआ था। जब तक उन बादशाहों की परम्परा को मुगल बादशाह निभा सके तब तक मुगल-साम्राज्य उन्नति करता गया। परन्तु औरंगजेब के पश्चात् मुगल बादशाहों में से कोई भी बादशाह ऐसा नहीं हुआ जो साहसी और सम्राट बनने के योग्य हो। वे बादशाह बने और रहे, इसलिए कि वे मुगल-वंश के थे और राजदरबार के एक शक्तिशाली गुट का समर्थन उन्हें प्राप्त था। वे बादशाह इस कारण न थे कि उनमें बादशाह बनने की योग्यता थी अथवा वे बादशाह बनने के पश्चात् उस पद का उत्तरदायित्व सँभालने के योग्य थे। उस समय में बादशाह वह था जिसकी तलवार में शक्ति थी और मुगल बादशाह तलवार से अधिक स्त्री और शराब से प्यार करने लगे थे। इस कारण वे मात्र नाम के बादशाह थे। वस्तुतः वे व्यभिचारी, स्वार्थी एवं शक्तिशाली सरदारों के हाथों में कठपुतली रहे। इसी कारण शक्तिशाली सरदारों ने अपने-अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये तथा मुगल-साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। औरंगजेब का उत्तराधिकारी बहादुरशाह प्रथम 'शाहे-बेखबर' कहलाता था, जहाँदारशाह ने एक वेश्या लालकुँवर के साथ भोग-विलास करते हुए दस माह में ही अपने शासन को खो दिया, फर्रुखशियर अपने सरदार 'सैयद-भाइयों' के हाथों में कठपुतली था और उन्हीं से अपने जीवन की रक्षा के लिए उसने जनानखाने में शरण ली थी। अन्त में उसे गला घोंटकर मारा गया। मुहम्मदशाह को 'रंगीले' की उपाधि दी गयी थी और यह वही शासक था जिसे नादिरशाह के सम्मुख प्राणों की भीख माँगनी पड़ी थी। अहमदशाह, आलमगीर द्वितीय, शाहआलम द्वितीय, अकबर द्वितीय तथा बहादुरशाह द्वितीय अपने सरदारों या मराठों के हाथों में कठपुतली और अंग्रेजों के पेंशनर बनने के लिए बाध्य हुए थे। ऐसे बादशाह मुगल-साम्राज्य की सुरक्षा करने में सर्वथा असमर्थ थे। वे बाबर और अकबर का शौर्य, जहाँगीर का न्याय और शाहजहाँ का गौरव तो क्या, मुगल बादशाह औरंगजेब की कट्टरता को भी खो चुके थे। उत्तरकालीन मुगल बादशाह 'बादशाह' कहलाने के योग्य न थे। ऐसी स्थिति में मुगल-साम्राज्य का पतन अनिवार्य था। आश्चर्य तो इस बात का है कि मुगल-वंश का नाम भी 1857 ई. तक ही जीवित रह सका। सम्भवतः पूर्ववर्ती मुगल बादशाहों का वैभव एवं शक्ति और उससे अधिक किसी ऐसी अन्य शक्ति का अभाव जो मुगल बादशाहों का स्थान ले सकती, मुगलों के नाम को इतने समय तक जीवित रख सकी।

सरदारों का नैतिक पतन और अयोग्यता

अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के साम्राज्य के निर्माता जहाँ वे स्वयं थे, वहीं उनके अनेक योग्य सरदार भी थे। बैरमखाँ, मुनीमखाँ, राजा मानसिंह, राजा जयसिंह, राजा जसवन्तसिंह, मुजफ्फरखाँ, एत्मातुद्दौला, महावतखाँ, आसफखाँ आदि अनेक सरदार ऐसे हुए जिन्होंने विभिन्न अवसरों पर साम्राज्य की स्थापना और विस्तार में महत्वपूर्ण भाग लिया। परन्तु बाद के समय में हमें एक भी ऐसा योग्य सरदार प्राप्त नहीं होता और यदि कोई सरदार प्राप्त होता भी है तो वह वफादार सिद्ध न हुआ। सैयद-भाई हुसैनअली और मुहम्मद-अली, अवध का सूबेदार नजीबुद्दौला और हैदराबाद राज्य का निर्माता वजीर-उल-मुल्क आसफजा यदि योग्य थे, तो स्वार्थी भी थे। उन्होंने मुगल बादशाहों की सेवा नहीं की बल्कि मुगल बादशाहों को अपने हित की पूर्ति का साधन बनाया। इसके अतिरिक्त, अधिकांश सरदार भोग-विलासी हो गये थे। शासन, सैन्य-संचालन और आर्थिक व्यवस्था आदि की योग्यता हमें कहीं पर भी दिखायी नहीं देती। निस्सन्देह, मुगल सरदार अपने बादशाहों का अनुकरण कर रहे थे जिनके जीवन में शराब, स्त्री, स्वार्थ, षड्यन्त्र, पदलोलुपता आदि का ही प्राधान्य था। 'मसीर-उल-उमरा' में लिखा है कि "यदि मुगल-वंश के किसी सरदार की सफलताओं का वर्णन तीन पृष्ठों में आता था तो उसके लड़के का वर्णन एक पृष्ठ में आता था

और उसके पोते का वर्णन तो कुछ पंक्तियों में ही समाप्त हो जाता था, या ऐसा होता ही नहीं था कि उसका लेखा रखा जाय।" इस प्रकार सरदारों की अयोग्यता, उनका स्वार्थ और नैतिक पतन भी मुगल-साम्राज्य के पतन का एक मुख्य कारण था। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने लिखा है कि "अठारहवीं सदी में कुलीनों के नैतिक पतन का मुगल-साम्राज्य के शीघ्र पतन में बहुत बड़ा योगदान था।"[1]

मुगल सेना का शक्तिहीन होना

अकबर ने मनसबदारी-प्रथा के द्वारा सेना को सुसंगठित किया था। उससे मुगल सेना की शक्ति और व्यवस्था पर्याप्त समय तक रही। औरंगजेब के समय तक भी मुगल सेना दुर्बल नहीं थी यद्यपि उसमें अनेक दोष अवश्य आ गये थे। परन्तु उसके पश्चात् मुगल सेना निरन्तर दुर्बल होती गयी। मूल आधार पर ही मुगल सेना के संगठन में दोष था। विभिन्न जातियों और प्रदेशों के मनसबदारों व सरदारों द्वारा जातीय आधार पर संगठित की गयी सेना शक्तिशाली सम्राट की शक्ति का आधार तो हो सकती थी परन्तु दुर्बल सम्राट के नेतृत्व में वह एक बहुत बड़ा खतरा थी। विभिन्न सरदार अपने सैनिकों को भर्ती करते थे, उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था करते थे और उन्हें वेतन तथा अस्त्र-शस्त्र आदि देते थे। इस कारण सैनिक अपना मालिक बादशाह को नहीं बल्कि सरदार को मानते थे और उसी केप्रति वफादार होते थे। ऐसी स्थिति में बादशाह सरदारों की सैन्य-शक्ति पर निर्भर करता था। ऐसी सेना में एकता, सामान्य योग्यता और युद्ध करने की समान पद्धति नहीं हो सकती थी। इसके अतिरिक्त मुगल सैनिकों का नैतिक चरित्र भी गिर गया था। जैसे-जैसे साम्राज्य दृढ़ होता गया, युद्ध में पराजय के अवसर कम या समाप्त होते गये थे। इससे मुगल बादशाह जहाँगीर के समय से सेना के साथ अपनी पत्नियों और दासियों को युद्ध में ले जाने लगे। इसके पश्चात् सरदारों की पत्नियों और वेश्याओं का जाना भी शुरू हो गया। सेना केपड़ाव केसाथ बाजार लगने लगे और वहाँ आमोद-प्रमोद के सभी साधन उपलब्ध होने लगे। सैनिक भी इस आमोद-प्रमोद से मुक्त न रहे और अन्त में ऐसी स्थिति हो गयी कि एक युद्ध के अवसर पर जितनी सेना होती थी उससे अधिक स्त्रियाँ, नौकर, व्यापारी और दुकानदार उसके साथ होने लगे जो न केवल युद्ध के लिए ही अयोग्य थे बल्कि युद्ध के अवसर पर सेना को उनकी सुरक्षा और करनी पड़ती थी। इस प्रकार, समय के साथ-साथ मुगल सेना का शक्ति-बल, नैतिक-बल, युद्ध करने का उत्साह और उसकी गतिशीलता समाप्त हो गयी। ऐसी सेना से साम्राज्य की सुरक्षा सम्भव नहीं हो सकती थी।

आर्थिक पतन

अकबर ने मुगल-साम्राज्य की आर्थिक स्थिति को ठीक किया था। कृषि, उद्योग और व्यापार की उन्नति से राज्य समृद्धशाली हो गया था। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में भी आर्थिक सम्पन्नता का मुख्य कारण अकबर द्वारा स्थापित अर्थव्यवस्था ही थी। परन्तु उसके पश्चात् मुगल-साम्राज्य की आर्थिक स्थिति निरन्तर दुर्बल होती गयी। शाहजहाँ के समय के मध्य-एशिया और कन्धार के युद्धों तथा उसकी इमारतों एवं वैभव-प्रदर्शन करने के शौक से मुगलों की आर्थिक व्यवस्था दुर्बल होनी आरम्भ हुई। औरंगजेब के समय के विभिन्न विद्रोहों, युद्धों और दक्षिण-नीति ने इस स्थिति को और अधिक खराब कर दिया। अव्यवस्था के कारण व्यापार, उद्योग और कृषि नष्ट होने लगे तथा राज्य की आय निरन्तर कम होती गयी।

---

1 "The deterioration in the character of the nobility during 18th century had a large share in hastening the decline of the Mughal Empire." —*Dr. R. C. Majumdar.*

शाहजहाँ के समय से किसानों से उत्पादन का 1/2 भाग लगान के रूप में लिया जाने लगा था और अन्य करों द्वारा भी जनता पर कर का भार अधिक हो गया था। औरंगजेब के समय से लगान प्रत्यक्षतः किसानों से नहीं अपितु ठेकेदारों के माध्यम से लिया जाना आरम्भ किया गया, जिससे किसानों की स्थिति और अधिक दुर्बल हुई। साथ ही साथ किसानों पर कर्मचारियों और ठेकेदारों के अत्याचार भी बढ़ने लगे जिन्हें रोकने में सरकार असमर्थ रही। समकालीन इतिहासकार भीमसेन ने उनके अत्याचारों के बारे में लिखा है : "इन लोगों के अत्याचार की कोई सीमा नहीं है। इनके अत्याचार और बर्बरता के बारे में कोई क्या लिखे, इस विषय में कोई वर्णन पूरा नहीं होगा।" इसके अतिरिक्त, उत्तराधिकार के विभिन्न युद्धों, शासन-कार्यों में अधिक व्यय, स्वार्थी सरदारों की धनलोलुपता, व्यभिचारी मुगल बादशाहों और नादिरशाह व अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल-साम्राज्य की कमर तोड़ दी। बादशाह और प्रजा दोनों ही निर्धन हो गये। मुगल बादशाह न तो शासन चला सकते थे और न ही सेना रख सकते थे। यही नहीं बल्कि उत्तरकालीन मुगल बादशाह साधारण व्यक्तिगत सुविधाओं के उपभोग से भी वंचित रहने लगे। राज्याभिषेक के डेढ़ माह पश्चात् ही अच्छी सवारी न होने के कारण बादशाह आलमगीर द्वितीय को पैदल ईदगाह तक जाना पड़ा था। शाहआलम द्वितीय के समय की आर्थिक कठिनाइयों का वर्णन करते हुए सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "हरम की रसोई में तीन दिनों तक आग नहीं जली और एक दिन शाहजादियाँ जब भूख बर्दाश्त न कर सकीं तो कट्टर पर्दा-प्रथा को तोड़कर महल से निकलकर शहर की ओर भागीं। लेकिन किले के दरवाजे बन्द होने के कारण वे एक दिन और एक रात मर्दाने में बैठी रहीं जिसके पश्चात् बड़ी कठिनाई से उन्हें समझाबुझाकर उनके कमरों में जाने के लिए बाध्य किया गया।"[1] जब मुगल-वंश की स्थिति ऐसी हो गयी हो तब साम्राज्य कैसे सुरक्षित रह सकता था ? आर्थिक सम्पन्नता के नष्ट हो जाने से मुगल-साम्राज्य खोखला हो गया और उसका पतन स्वाभाविक था।

उत्तराधिकार के नियम का न होना

मुगल बादशाहों में यह नियम प्रचलित न था कि बादशाह की मृत्यु के पश्चात् उसका अमुक पुत्र या कोई निश्चित व्यक्ति ही उसका उत्तराधिकारी होगा। इस कारण मुगल-वंश में सिंहासन के लिए निरन्तर युद्ध होते रहे। हुमायूँ का विरोध उसके भाइयों ने किया, अकबर का विरोध उसके भाई मिर्जा हकीम ने किया, जहाँगीर का विरोध उसके पुत्र ने किया, शाहजहाँ ने संघर्ष द्वारा गद्दी प्राप्त की और औरंगजेब ने गद्दी के लिए अपने तीन भाइयों, उनके पुत्रों और अपने पिता को अपने मार्ग से हटा दिया। उसके पश्चात् बहादुरशाह, जहाँदारशाह, फर्रुखशियर आदि ने भी युद्ध करने के पश्चात् ही गद्दी प्राप्त की थी। प्रारम्भ में तो इसके कुप्रभाव इतने गम्भीर न हुए क्योंकि उस समय तक मुगल बादशाह का सम्मान और शक्ति स्थापित थी परन्तु औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् से जो उत्तराधिकार-युद्ध आरम्भ हुए, उनसे न केवल मुगल-साम्राज्य दुर्बल हुआ बल्कि मुगल बादशाह विभिन्न शक्तिशाली सरदारों के हाथों में कठपुतली बनने को बाध्य हो गये। उत्तराधिकार के ये युद्ध बादशाह के सम्मान और साम्राज्य की सुरक्षा के लिए विनाशकारी सिद्ध हुए। इतिहासकार स्मिथ ने लिखा है :

---

1 "No fire was kindled in *Harem*-kitchen for three days and one day the princesses could bear starvation no longer and in frantic disregard of the 'parda' rushed out of the palace to the city but fort-gates being closed they set down in the men's quarters for a day and a night after which they were persuaded to go back to their rooms."
—*J. N. Sarkar.*

"निरन्तर उत्तराधिकार-युद्धों से जो अराजकता उत्पन्न हुई वह निस्सन्देह शाही ढाँचे को बरबाद करने में सहायक हुई।"[1]

औरंगजेब की नीति

मुगल बादशाह औरंगजेब की दक्षिण-नीति और धार्मिक नीति मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण बनी। 1681 ई. से 1707 ई. तक औरंगजेब दक्षिण-भारत में रहा। बीजापुर और गोलकुण्डा के शिया-राज्यों को जीतने में उसे सफलता मिली। परन्तु उसका मराठों से जो लम्बा संघर्ष आरम्भ हुआ उसमें उसे सफलता न मिल सकी। निस्सन्देह, उसने शम्भाजी को पकड़ने व कत्ल करने में सफलता पायी और एक बार सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर उसका अधिकार हो गया परन्तु उसके पश्चात् जो मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम आरम्भ हुआ, उसे औरंगजेब समाप्त न कर सका। मराठों की राष्ट्रीय भावना और दक्षिण की भौगोलिक परिस्थितियों ने मराठों की सहायता की और औरंगजेब अपनी मृत्यु के समय तक भी मराठों के विरुद्ध सफलता न पा सका। दक्षिण-भारत के इस लम्बे और असफल संघर्ष के भयंकर परिणाम हुए। औरंगजेब को उत्तर-भारत के शासन की ओर ध्यान देने का अवसर मिला। उत्तर में सिख, जाट, राजपूत और बुन्देले आदि सफलतापूर्वक मुगल सूबेदारों से संघर्ष कर सके। राज्य की आर्थिक स्थिति इससे खराब हुई। औरंग़ज़ेब के सबसे अच्छे सैनिक और सेनापति धीरे-धीरे दक्षिण के युद्धों में मारे गये। स्वयं औरंगजेब भी वृद्धावस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपनी सेना को लेकर संघर्ष करता रहा। इससे मुगल सेना की शक्ति दुर्बल हुई और उसकी प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी। इतिहासकार वूल्जले हेग ने लिखा है : "दक्षिण में उसकी सेना का सबसे अच्छा भाग व्यस्त हो गया और अयोग्य अफसर अपर्याप्त धन और सेना से उत्तर के बड़े नगरों और उपजाऊ व घनी आबादी वाले प्रान्तों में व्यवस्था स्थापित न रख सके।"[2]

औरंग़ज़ेब की धार्मिक नीति मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी हुई। अकबर ने जिस धार्मिक उदारता की नीति का पालन किया था, उसके कारण उसे भारत के बहुसंख्यक हिन्दुओं की सहानुभूति और बहादुर राजपूतों का सहयोग प्राप्त हुआ था। जहाँगीर ने अकबर की नीति का अनुकरण किया। यद्यपि शाहजहाँ के समय में इस धार्मिक सहनशीलता की नीति में परिवर्तन आरम्भ हो गया था परन्तु तब भी यह परिवर्तन पूर्णतः स्पष्ट और सार्वजनिक न था। औरंगजेब के गद्दी पर बैठने पर यह नीति समाप्त हो गयी। औरंगजेब कट्टर सुन्नी था, सुन्नी-वर्ग की सहायता से गद्दी पर बैठा था, इस्लाम के कट्टर सिद्धान्तों का पालन करता था और मुसलमान जनता उसे 'जिन्दा पीर' पुकारती थी। वह हिन्दू धर्म तो क्या, शिया-मतावलम्बियों को भी सहन करने को तैयार न था। उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य इस 'दारुल हर्ब' (काफिरों के देश) को 'दारुल इस्लाम' (इस्लाम का देश) बनाना था। उसने हिन्दू राज्यों को समाप्त करने का प्रयत्न किया, हिन्दुओं पर जजिया और तीर्थयात्रा-कर लगाये, भारत के सभी हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने के लिए पृथक विभाग खोला, हिन्दुओं को सरकारी नौकरियों से पृथक कर दिया तथा उन पर अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक अत्याचार करके उन्हें धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य करने का प्रयत्न किया। इतनी बड़ी जनसंख्या को इस नीति से धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य करना सर्वथा

---

1 "The prolonged anarchy involved in the repeated wars of succession was a potent influence in bringing about the ruin of the imperial fabric." —*V. A. Smith.*

2 "The Deccan absorbed all his best troops and incompetent officers, with insufficient forces and funds, were unable to maintain order in the great cities and fertile and populous provinces of North." —*Sir Woolseley Haig.*

अव्यावहारिक और असम्भव कार्य था। हिन्दुओं ने, जो अकबर की नीतियों के कारण मुगल-साम्राज्य के समर्थक और सेवक बन गये थे, धर्म की रक्षा के लिए पुनः मुगलों के विरुद्ध तलवार उठा ली। राजपूत, सिख, जाट, बुन्देले, मराठे तथा हिन्दुओं के समस्त युद्धप्रिय-वर्ग मुगलों के अत्याचार के विरुद्ध उठ खड़े हुए। सम्पूर्ण उत्तर-भारत विद्रोह में सम्मिलित हो गया, सरकारी कर्मचारियों के लिए शान्ति स्थापित रखना और कर वसूल करना असम्भव हो गया, और जबकि औरंगजेब उत्तर में इसका मुकाबला नहीं कर पाया था, वह दक्षिण-भारत में चला गया तथा दक्षिण में भी निरन्तर युद्ध और संघर्ष आरम्भ हो गया। औरंगजेब की धार्मिक नीति पूर्णतः असफल सिद्ध हुई। औरंगजेब ने हिन्दुओं की उस भावना को जाग्रत कर दिया था जिसके कारण सदियों से इस्लाम का शासन होते हुए भी हिन्दू धर्म और समाज अपने को जीवित रख सके थे। ऐसी स्थिति में औरंगजेब का असफल होना स्वाभाविक था और उसकी इस असफलता ने मुगल-साम्राज्य की जड़ों को हिला दिया।

औरंगजेब की असहिष्णुता ने शिया, सूफी आदि अन्य मुसलमान वर्गों को भी असन्तुष्ट कर दिया। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय तक मुगल-साम्राज्य को शियाओं तथा अनेक विदेशी मुसलमानों की सहायता एवं सेवाएँ प्राप्त होती रही थीं और इनमें से अनेक योग्य सेनापति, शासन-प्रबन्धक और विद्वान सिद्ध हुए थे। औरंगजेब ने उनकी सहानुभूति भी खो दी और मुगल-साम्राज्य को विदेशी मुसलमानों तथा योग्य भारतीय शिया मुसलमानों से जो सहायता मिला करती थी वह न मिल सकी।

इसके अतिरिक्त, औरंगजेब की सन्देही प्रवृत्ति, अपने बच्चों की उचित शिक्षा के प्रति उसकी उदासीनता, योग्य सरदारों को तलाश न कर पाना तथा लम्बे समय तक शासन करना आदि भी साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए।

विदेशी आक्रमण

यद्यपि यह कहना अधिक उपयुक्त है कि मुगल-साम्राज्य अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं के कारण ही जर्जर हुआ था, परन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इस दुर्बल स्थिति में जब उस पर विदेशों से आक्रमण हुए तब उसकी कमर टूट गयी। नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के निरन्तर आक्रमणों ने, निस्सन्देह, दुर्बल मुगल-साम्राज्य पर आघात किये और इन आक्रमणों ने उसकी उखड़ती हुई साँस को समाप्त कर दिया।

राजदरबार की दलबन्दियाँ

उस समय जबकि मुगल बादशाह अशक्त और मुगल-साम्राज्य असम्मानित हो रहा था, मुगल बादशाहों के सरदार और दरबारी अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु गुटबन्दी और शक्ति के लिए परस्पर संघर्ष कर रहे थे। दरबार में मुख्यतः दो दल बन गये थे—एक भारतीय मुसलमानों का और दूसरा विदेशी मुसलमानों का। उन्होंने परस्पर संघर्षरत रहते हुए न केवल बादशाह को अपने स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाया बल्कि एक-दूसरे के विरुद्ध शक्तिशाली पड़ोसियों, जैसे मराठों या अहमदशाह अब्दाली से सहायता प्राप्त करने का भी प्रयत्न किया। इससे मुगल-दरबार संघर्षों, ईर्ष्या और षड्यन्त्रों का केन्द्रस्थल ही नहीं बना वरन् बादशाह और साम्राज्य की प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी और अन्ततोगत्वा दिल्ली में विदेशी शक्तियों का प्रभाव स्थापित हो गया।

बौद्धिक पतन

अठारहवीं सदी के प्रारम्भ से ही मुस्लिम नस्ल, मुगल सरदार और मध्यम-वर्ग की बुद्धि का दिवाला निकल गया था। मुगलों ने अपने समय में शिक्षा की उचित व्यवस्था नहीं की थी जिसके गम्भीर परिणाम हुए। शिक्षा के अभाव में राज्य को योग्य शासन-प्रबन्धक,

राजनीतिज्ञ तथा शिक्षक आदि प्राप्त न हुए। जब तक मुगल-साम्राज्य को विदेशों से इस क्षेत्र में सहायता मिलती रही तब तक उसका कार्य चलता रहा। परन्तु यह क्रम हमेशा नहीं चल सकता था। साम्राज्य के अन्तर्गत ही योग्य व्यक्ति प्राप्त होने से साम्राज्य की बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भव है। मुगल-साम्राज्य में इसका अभाव हो गया और साम्राज्य को योग्य तथा वफादार सेवक मिलने समाप्त हो गये जिसके आधार पर प्रत्येक साम्राज्य पनपता एवं स्थायित्व प्राप्त करता है।

मुगल-साम्राज्य अपनी भाषा को भी स्थिर न कर सका। 1750 ई. के पश्चात् फारसी भाषा राज्य की भाषा न रह सकी और कोई अन्य भाषा भी उसका स्थान न ले सकी। इस कारण बाद के मुगल-साम्राज्य के समय में साहित्य और विचारों की दृष्टि से भी प्रगति सम्भव न हुई।

मराठों के उत्तरी भारत पर आक्रमण

पेशवा बाजीराव ने मराठों की शक्ति का विस्तार उत्तरी भारत में किया। इसमें सन्देह नहीं कि मुगल-साम्राज्य उसके आक्रमणों से पहले ही पतनोन्मुख हो चुका था परन्तु मराठों के आक्रमणों ने उसके पतन में भाग अवश्य लिया। मराठों ने धीरे-धीरे गुजरात, मालवा जैसे निकटस्थ प्रान्तों को जीत लिया और बंगाल जैसे दूरस्थ प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी की माँग की। निस्सन्देह, इससे मुगल-साम्राज्य के सम्मान और शक्ति में कमी हुई। डॉ. सतीशचन्द्र ने लिखा है : "उत्तरी भारत में मराठों के प्रवेश से मुगल-साम्राज्य की आन्तरिक समस्याएँ बढ़ीं और उसका आन्तरिक पतन शीघ्रता से हुआ।"[1]

मुगल-साम्राज्य की जनसाधारण की न्यूनतम आवश्यकताओं की भी पूर्ति करने में असमर्थता

अठारहवीं सदी में उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता और प्रशासकीय अव्यवस्था ने साम्राज्य की आर्थिक स्थिति को ही नष्ट नहीं किया अपितु जनसाधारण को जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से भी वंचित कर दिया। मुगलों की जागीरदारी पर आधारित आर्थिक व्यवस्था किसानों के लिए कभी भी लाभप्रद न थी। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् दुर्बल मुगल-सम्राटों के शासन-काल में उनकी स्थिति निरन्तर अधिक खराब होती चली गयी। भूमि को ठेकेदारों को दिया जाने लगा और धीरे-धीरे बादशाह एवं जागीरदारों की भूमि का अधिकांश भाग ऐसे ठेकेदारों के हाथों में चला गया जो कम से कम मूल्य पर भूमि को ठेके पर लेते थे और फिर किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे जिससे उन्हें अधिक से अधिक लाभ हो सके। वे कृषि के उत्पादन में भी कोई रुचि नहीं लेते थे। इसके परिणामस्वरूप कृषि नष्ट हो गयी और किसानों की स्थिति अत्यधिक खराब हो गयी। इसका कुप्रभाव व्यापार तथा उद्योगों पर भी पड़ा जो राज्य की अशान्तपूर्ण स्थिति में पहले से ही दुर्बल स्थिति में चल रहे थे। ऐसी स्थिति में जनसाधारण अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी समर्थ न रहा। ऐसे राज्य के प्रति उनकी कोई वफादारी भी नहीं रही। इस कारण मुगल-साम्राज्य अपने नागरिकों की सहानुभूति खोकर अपने विनाश की ओर अग्रसर हुआ।

राष्ट्रीय भावना का अभाव

डॉ. बिपनचन्द्र का मत है कि उस समय में भारतीयों में राजनीतिक राष्ट्रीयता का अभाव था। सांस्कृतिक एकता के होते हुए भी भारतीयों में अपने देश के प्रति एक मातृभूमि अथवा

---

1 "The Maratha advance towards North India accentuated the internal problems of the empire and hastened its internal decay." —*Dr. Satish Chandra.*

पितृभूमि की भावना का अभाव था। इस कारण वे अपने देश की अखण्डता अथवा उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा के प्रति जागरूक नहीं थे। उनका कहना है : "यथार्थ यह है कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था, सामाजिक सम्बन्ध, जाति-व्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली ऐसी थी जिसमें भारतीय समाज की एकता और राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव सम्भव न था।"[1] इस कारण पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, संघर्ष और स्वार्थ ही समाज में सभी व्यक्तियों तथा उनके समूहों के लिए सर्वोपरि रहे। यह भी मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुआ।

मुगल शासन पुलिस-शासन तक ही सीमित रहा

अकबर के शासन-काल को छोड़कर अधिकांश मुगल शासक अपने राज्य में आन्तरिक शान्ति बनाये रखना और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करना ही अपना कर्तव्य समझते थे। इस कारण और इसी आधार पर उनकी प्रतिष्ठा एवं शक्ति स्थापित थी। उत्तरकालीन मुगल बादशाह इतना उत्तरदायित्व भी पूरा न कर सके जिसके कारण उनकी प्रतिष्ठा पूर्णतः समाप्त हो गयी और साधारण जनता की उनके प्रति कोई सहानुभूति न रही। महत्वाकांक्षी सरदारों ने इस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया और अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने दक्षिण में, सादतखाँ ने अवध में और अलीवर्दीखाँ ने बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा में अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिये। मराठा सरदार इनसे भी अधिक प्रबल सिद्ध हुए। उन्होंने महाराष्ट्र, मालवा, बुन्देलखण्ड, गुजरात आदि प्रान्तों पर अधिकार कर लिया तथा सम्पूर्ण भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया।

नौ-सेना का अभाव

इसमें सन्देह नहीं कि मुगलों का पतन भारत में यूरोपीय जातियों का प्रभाव स्थापित होने से पहले ही हो चुका था और उनका मुकाबला इन यूरोपीय जातियों के जल-बेड़े से हुआ ही नहीं जिससे नौ-सेना की दुर्बलता उनके पतन का प्रत्यक्ष कारण स्वीकार की जा सके। परन्तु मुगलों ने नौ-सेना का निर्माण कभी नहीं किया जिससे भारत में शक्तिशाली जल-बेड़ा तैयार हो पाता और अवसर आने पर भारतीय इन यूरोपीय शक्तियों का मुकाबला कर पाते—इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। शक्तिशाली जल-बेड़े के अभाव के कारण भारतीय शासक इन यूरोपीय जातियों को, खतरा अनुभव करते हुए भी, समुद्र-तट से न हटा सके और अन्त में इन्हीं में से एक ने अर्थात् अंग्रेजों ने भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना की और अन्तिम मुगल बादशाह को दिल्ली से हटाकर रंगून भेज दिया। इस कारण स्पष्ट है कि जल-बेड़े का अभाव अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही मुगल-साम्राज्य के पतन का कारण था।

मुगल-साम्राज्य का विदेशी होने की भावना को समाप्त न कर पाना

मुगल बादशाह विदेशी थे और विदेशी ही रहे। उनमें से अधिकांश भारतीयों का प्रेम और उनकी पूर्ण वफादारी प्राप्त न कर सके। बहुसंख्यक हिन्दू-वर्ग मुगल-साम्राज्य से पूर्णतः सन्तुष्ट न था। इस प्रकार मुगल बादशाहों की शक्ति सम्भवतः अकबर और जहाँगीर के समय को छोड़कर जनता के सहयोग पर कम और तलवार की शक्ति पर अधिक निर्भर करती थी। जब उनकी तलवार की शक्ति समाप्त हो गयी अथवा उनसे अधिक शक्तिशाली शक्ति का प्रादुर्भाव भारत में हो गया तो उसका पतन निश्चित था।

---

1 "The reality was that the existing character of the Indian economy, social relations, caste structure and political institutions was such that the time was not yet ripe for unification of Indian society or for its emergence as a nation."
—*Bipan Chandra.*

प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्थाओं की असफलता

मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों में से कुछ ने यह विचार व्यक्त किया है कि मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए मूलतः वे प्रशासकीय और आर्थिक व्यवस्थाओं के दोष थे जो धीरे-धीरे उनमें सम्मिलित हो गये थे। उनके अनुसार मुगल बादशाह की स्थिति का दुर्बल होना, दरबार में विरोधी दलों का निर्माण, मुगलों की सैनिक दुर्बलता आदि जिन्हें मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है, कुछ ऐसे प्रशासकीय एवं आर्थिक दोषों के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे जो उन व्यवस्थाओं में धीरे-धीरे सम्मिलित हो गये थे। इस कारण इन व्यवस्थाओं में उत्पन्न हुए दोषों को ही मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए मूलतः उत्तरदायी मानना चाहिए। इन विद्वानों के अनुसार, जागीरों में कमी हो जाना, लगान-व्यवस्था में उत्पन्न हुए दोष, भूमि को ठेके पर दिया जाना अर्थात् इजारादारी-व्यवस्था आदि ऐसे दोष थे जो धीरे-धीरे प्रशासकीय और आर्थिक व्यवस्थाओं में सम्मिलित हो गये और मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी हुए।

डॉ. सतीशचन्द्र इन विद्वानों में से प्रथम हैं जिन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि मनसबदारी अथवा जागीरदारी-व्यवस्था की असफलता मूलरूप से मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी थी। उनके कथनानुसार बादशाह और अमीरों की आय का मुख्य साधन लगान था। औरंगजेब के शासन-काल में युद्धों और प्रशासन पर अधिक धन व्यय होने लगा। इसके अतिरिक्त, बादशाह और अमीरों की आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई। यह सभी कुछ मिलाकर व्यय इतना अधिक हो गया कि उसकी पूर्ति लगान की आय से किया जाना सम्भव नहीं हो सका। इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य के प्रशासक-वर्ग का व्यय उसकी आय से अधिक हो गया। यह मनसबदारी या जागीरदारी व्यवस्था की असफलता थी। इसके अन्तर्गत जमीन की आय पर दबाव बढ़ गया। दो अन्य परिस्थितियों ने भी भूमि अर्थात् किसानों पर दबाव बढ़ाने में भाग लिया। प्रथम, बहुत पहले समय से कागजों में भूमि से होने वाली आय को उसकी वास्तविक आय से बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जा रहा था। जब भूमि पर दबाव बढ़ा तो अमीरों में अच्छी आय होने वाली भूमि को प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा हुई। द्वितीय, जब औरंगजेब ने दक्षिण-भारत को जीत लिया तब उसे अपने नवीन अमीरों को, मुख्यतः मराठों को जिन्हें सन्तुष्ट करना आवश्यक समझा गया, जागीरें देनी पड़ीं। इसका परिणाम यह हुआ कि जागीरों की तुलना में जागीर माँगने वालों की संख्या बढ़ गयी। इससे अमीरों में जागीरें प्राप्त करने के लिए दलबन्दियाँ आरम्भ हो गयीं। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि बड़े जागीरदारों ने अधिक आय प्राप्त करने के लिए छोटे जागीरदारों पर दबाव डाला, छोटे जागीरदारों ने इसके लिए भूमि से लगान वसूल करने हेतु भूमि को ठेकेदारों अर्थात् इजारेदारों (इजारादारी-व्यवस्था) को देना आरम्भ किया और इजारेदारों ने स्थानीय जमींदारों या किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करने का प्रयत्न किया। इसका अन्तिम परिणाम स्थानीय जमींदारों और किसानों का विद्रोह हुआ जिसने मुगलों की राजनीतिक, प्रशासकीय एवं आर्थिक व्यवस्थाओं को नष्ट कर दिया जिसके कारण मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ।

प्रो. इरफान हबीब ने भी 'आर्थिक संकट' को मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए मूलतः उत्तरदायी बताया है। उन्होंने इस 'आर्थिक संकट' के दो कारण बताये—एक, जागीरों की आय को कागजों में उनकी वास्तविक आय से अधिक दर्शाना; और दूसरा, जागीरदारों का स्थानान्तरण किया जाना। मुगल बादशाह अपने अमीरों से उनकी जागीरों की आय के अनुरूप सैनिक रखने की अपेक्षा करते थे और क्योंकि जागीरों की आय कागजों में बढ़ा-चढ़ाकर दर्शायी जाती थी इस कारण अमीरों को उस आय के अनुरूप सैनिक रखने का प्रयत्न करना

पड़ता था। इसके लिए उन्हें अधिक से अधिक आय प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता था जिसके कारण किसानों पर भार बढ़ता था। इसके अतिरिक्त, जागीरदार जानते थे कि उनकी जागीर कभी भी बदली जा सकती थी। इस कारण वे अपनी मौजूदा जागीर से अधिक से अधिक आय करने का प्रयत्न करते थे। इससे भी किसानों पर भार बढ़ता था। इस कारण किसानों ने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया जिससे प्रशासकीय व्यवस्था नष्ट हो गयी और मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ।

अहमद सिद्दीकी ने राजनीतिक, प्रशासकीय और आर्थिक दुर्बलताओं को सम्मिलित रूप से मुगल-साम्राज्य के पतन के लिए उत्तरदायी ठहराया है। उनके अनुसार ये सभी समस्याएँ औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बहुत बढ़ गयीं। भूमि की कमी हो जाने के कारण बादशाह की भूमि भी जागीरों के रूप में दी गयी जिससे बादशाह की आय कम हो गयी और अन्त में उसकी स्थिति दिवालिया जैसी हो गयी। बादशाह इस स्थिति में न तो अच्छी सेना रख सका और न ही प्रशासन के व्यय की पूर्ति कर सका। इस कारण मुगल सेना दुर्बल हो गयी तथा प्रशासकीय ढाँचा नष्ट हो गया। इसके अतिरिक्त, जब किसानों पर अधिक दबाव पड़ा तब उन्होंने विद्रोह आरम्भ कर दिये जिसका अन्तिम परिणाम मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से मुगल-साम्राज्य का पतन हुआ। मुख्यतः उसकी आन्तरिक दुर्बलताएँ और उत्तरकालीन मुगल बादशाहों की अयोग्यता ही उसके इस पतन के लिए उत्तरदायी थीं परन्तु विभिन्न शक्तिशाली सरदारों के स्वार्थ, उनकी महत्वाकांक्षाएँ और मराठों की बढ़ती हुई शक्ति भी उनके पतन का कारण बनीं। मुगल-साम्राज्य का अवशेष तो 1858 ई. तक रहा और अन्त में अंग्रेजों द्वारा उसे समाप्त किया गया, परन्तु वास्तव में मुगल-साम्राज्य का पतन उससे बहुत पहले हो चुका था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मुगल-साम्राज्य के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. मुगल-साम्राज्य के पतन में औरंगजेब के उत्तरदायित्व की समीक्षा कीजिए।

2

अठारहवीं सदी में भारतीय राज्य और समाज

1. महत्वपूर्ण राज्य

मुगल-साम्राज्य के खण्डों से भारत में विभिन्न स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ। उनमें से कुछ बहुत शक्तिशाली बने। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य का निर्माण मराठों ने किया। छत्रपति शाहू के प्रथम तीन पेशवाओं ने मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। वस्तुतः मुगलों के पश्चात् भारत की राजसत्ता मराठों के हाथों में गयी। मराठों की एक बहुत बड़ी भूल यह रही कि उन्होंने स्वयं भारत की सार्वभौमिक सत्ता को स्पष्ट रूप से अपने हाथों में नहीं लिया और न उसके अनुकूल भारत के शासन का उत्तरदायित्व लिया। वे मुगल बादशाह को अपना पेंशनर बनाने मात्र से ही सन्तुष्ट हो गये अन्यथा केवल वे ही भारत की सत्ता का उपभोग करने की क्षमता रखते थे। अठारहवीं सदी, निस्सन्देह, भारत में मराठों की श्रेष्ठता की सदी थी। मराठों के अतिरिक्त दक्षिण-भारत में निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने हैदराबाद में एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया और उसके पश्चात् हैदरअली ने मैसूर के दृढ़ राज्य का निर्माण किया। उत्तरी भारत में औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात् ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा में एक धनवान एवं शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। अवध के विस्तृत राज्य का निर्माण सादतखाँ बुरहानमुल्क ने किया और अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण में रणजीतसिंह ने पंजाब, कश्मीर तथा उत्तर-पश्चिमी भारत के अधिकांश भाग को विजय करके सिखों के शक्तिशाली राज्य का निर्माण करने में सफलता पायी। छोटे राज्यों में कर्नाटक, रुहेलखण्ड, केरल और भरतपुर के राज्य प्रमुख रहे। राजस्थान में राजपूतों के स्वतन्त्र राज्य थे परन्तु वे आपस में निरन्तर झगड़ते रहे और उनमें कोई भी राजपूतों के गौरव को पुनः स्थापित न कर सका। ये सभी बड़े और छोटे राज्य आन्तरिक दुर्बलताओं से ग्रस्त रहे। इनमें से कोई भी भारत को राजनीतिक और आर्थिक स्थिरता प्रदान न कर सका। इनके सभी शासकों की विचारधारा मध्ययुगीन रही। इनमें से प्रत्येक भारत को आधुनिक विचार और साधन उपलब्ध कराने में असफल रहा। इस कारण इन राज्यों के शासकों ने अपनी प्रजा पर शासन करने का नैतिक अधिकार खो दिया। वे न तो स्वयं अपनी रक्षा कर सके और न ही अपने नागरिकों के सम्मान और आर्थिक साधनों की। इस कारण धीरे-धीरे सभी अंग्रेजों से परास्त हुए। इनमें से कुछ के राज्य छोटे कर दिये गये और कुछ अन्यों के समाप्त कर दिये गये। जिन राज्यों का अस्तित्व बना रह सका, वे सभी अंग्रेजों के अधीन राज्य रहे। अन्त में भारत की सार्वभौमिक सत्ता अंग्रेजों ने प्राप्त की।

(अ) हैदराबाद

हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण चिनकिलिचखाँ ने किया जिसे बाद में मुगल बादशाह ने 'निजाम-उल-मुल्क आसफजा' की उपाधि प्रदान की। औरंगजेब की मृत्यु के

अवसर पर चिनकिलिचखाँ बीजापुर में था। उसने औरंगजेब के पुत्रों में सिंहासन के लिए हुए उत्तराधिकार के युद्ध में कोई भाग नहीं लिया। उस युद्ध में बहादुरशाह प्रथम ने अपने विरोधियों को समाप्त करके मुगल सिंहासन को प्राप्त किया। उसने चिनकिलिचखाँ को दक्षिण-भारत से हटाकर अवध का सूबेदार नियुक्त किया। बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् मुगल शाहजादों में सिंहासन के लिए पुनः युद्ध हुआ। उस अवसर पर चिनकिलिचखाँ ने जहाँदारशाह के विरुद्ध फर्रुखशियर को सहायता दी। फर्रुखशियर मुगल बादशाह बनने में सफल हुआ। चिनकिलिचखाँ को उसकी सेवाओं के उपलक्ष में बादशाह फर्रुखशियर ने दक्षिण-भारत के छह सूबों की सूबेदारी तथा 'खानखाना' और 'निजाम-उल-मुल्क बहादुर फतहजंग' की उपाधियाँ प्रदान कीं। उसी समय से चिनकिलिचखाँ ने दक्षिण-भारत में अपने स्वतन्त्र राज्य के निर्माण की आकांक्षा की। 1715 ई. में उसे पुनः दिल्ली बुलाया गया। पहले उसे मुरादाबाद का सूबेदार बनाया गया और उसके पश्चात् उसे मालवा की सूबेदारी दी गयी। मुगल बादशाह फर्रुखशियर उस समय सैयद-भाइयों के हाथों में कठपुतली बना हुआ था। चिनकिलिचखाँ उर्फ निजाम-उल-मुल्क ने मालवा में अपनी शक्ति का विस्तार किया। इस कारण सैयद-भाई उससे ईर्ष्या करने लगे और उन्होंने उसे मालवा की सूबेदारी से वंचित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने दिलावरखाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया। निजाम-उल-मुल्क ने इसका विरोध किया और दिलावरखाँ को एक युद्ध में मार डाला। उसने बुरहानपुर व असीरगढ़ के किलों पर भी अधिकार कर लिया और इस प्रकार दक्षिण-पथ का स्वामी बन गया। सैयद-भाइयों ने मुगल बादशाह फर्रुखशियर का कत्ल करने में सफलता पायी तथा मुहम्मदशाह को बादशाह बनाया। मुहम्मदशाह ने सैयद-भाइयों को समाप्त कर दिया तथा निजाम-उल-मुल्क को वजीर का पद देकर दिल्ली बुलाया। निजाम-उल-मुल्क दिल्ली गया परन्तु वहाँ पर वह अधिक समय तक नहीं रुका। वह पुनः दक्षिण-भारत चला गया। दक्षिण के नवीन सूबेदार मुबारिजखाँ ने उसका विरोध किया। सम्भवतः मुगल बादशाह ने उसे यही आदेश दिया था। निजाम-उल-मुल्क ने मराठों से सहायता प्राप्त की और 1724 ई. में एक युद्ध में मुबारिजखाँ को परास्त करके मार डाला। 1725 ई. में निजाम ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। उसी समय से दक्षिण-भारत में हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की नींव पड़ी और हैदराबाद नगर उसकी राजधानी बना। निजाम ने पूर्ण स्वतन्त्र शासक की भाँति शासन किया यद्यपि उसने अपने नाम के सिक्के नहीं चलाये और न राजछत्र को ग्रहण किया।

दक्षिण-भारत में निजाम के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी मराठे सिद्ध हुए। पेशवा बाजीराव के नेतृत्व में मराठे निजाम की शक्ति को सीमित रखने और उससे चौथ व सरदेशमुखी नामक कर वसूल करने के लिए कटिबद्ध रहे। निजाम ने उनके विरुद्ध कूटनीति और शक्ति दोनों का ही प्रयोग किया। उसने मराठों में फूट डालने का प्रयत्न किया, उसने चौथ व सरदेशमुखी देने से इन्कार किया और मराठा सेनापति त्रिम्बकराव को पेशवा बाजीराव प्रथम के विरुद्ध भड़काया। परन्तु बाजीराव उससे अधिक सफल सेनापति सिद्ध हुआ। उसने निजाम को 1728 ई. में पालखेड के युद्ध में और पुनः 1738 ई. में भोपाल के निकट एक अन्य युद्ध में परास्त किया। दोनों बार निजाम को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा और दोनों ही अवसरों पर उसने मराठों को चौथ व सरदेशमुखी देने का वायदा किया। इस प्रकार पेशवा बाजीराव निजाम की शक्ति को सीमित रखने में समर्थ हुआ। निजाम को मुगल बादशाह ने दिल्ली बुलाकर 'आसफजा' के पद से विभूषित किया परन्तु निजाम दिल्ली न रह सका। नादिरशाह केआक्रमण केअवसर पर भी निजाम को उससे सन्धि-वार्ता करने के लिए दिल्ली बुलाया गया। निजाम नादिरशाह से समझौता कराने में असफल रहा और हैदराबाद वापस आ गया। उसके पश्चात् निजाम ने कभी भी दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप नहीं किया। 1748

ई. में 77 वर्ष की आयु में निजाम-उल-मुल्क आसफजा की मृत्यु हुई। वह न केवल हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य का संस्थापक ही था अपितु दक्षिण-भारत के तत्कालीन शासकों में योग्यतम भी था।

आसफजा की मृत्यु के पश्चात् हैदराबाद राज्य में अव्यवस्था फैल गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र नासिरजंग और पोते मुजफ्फरजंग में गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में नासिरजंग ने अंग्रेजों से सहायता ली और मुजफ्फरजंग ने फ्रान्सीसियों से सहायता प्राप्त की जिसके परिणामस्वरूप इन विदेशी शक्तियों को हैदराबाद में अपने प्रभाव को बढ़ाने का अवसर मिला। हैदरअली के नेतृत्व में मैसूर राज्य की शक्ति का विस्तार हुआ और मराठों की शक्ति भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती गयी। इन दोनों शक्तियों ने भी हैदराबाद के राज्य के लिए कठिनाइयाँ उपस्थित कीं। वस्तुतः निजाम-उल-मुल्क की मृत्यु के पश्चात् हैदराबाद के शासकों की दक्षिण-भारत की राजनीति में जो भूमिका रही वह असम्मानजनक थी। हैदराबाद का कोई भी शासक योग्य सिद्ध न हुआ। उन्हें इसका परिणाम भी भुगतना पड़ा। 1798 ई. में हैदराबाद के तत्कालीन निजाम ने वैलेजली की सहायक-सन्धि को स्वीकार कर लिया। उस समय से हैदराबाद के शासक अंग्रेजों पर आश्रित हो गये।

(ब) बंगाल

औरंगजेब की मृत्यु के कुछ वर्षों के पश्चात् बंगाल में भी एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हो गया। उसकी मृत्यु के अवसर पर मुर्शिदकुलीखाँ बंगाल का नाइब-निजाम और उड़ीसा का सूबेदार था। 1717 ई. में मुगल बादशाह फर्रुखशियर ने उसे बंगाल का भी सूबेदार नियुक्त किया और उसे 'मुत्मात-उल-मुल्क अलाउद्दीन जफरखाँ बहादुर नासिरी नासिरजंग' के पद से विभूषित किया। उस समय बिहार भी बंगाल की सूबेदारी में सम्मिलित था। इस कारण मुर्शिदकुलीखाँ बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बन गया। वह केवल नाममात्र के लिए मुगल बादशाह की अधीनता को स्वीकार करता था। वस्तुतः उसने एक स्वतन्त्र शासक की भाँति व्यवहार किया। मुर्शिदकुलीखाँ एक योग्य शासक सिद्ध हुआ। उसकी मुख्य सफलता अपने राज्य को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने में रही। उसने सभी जागीरदारी भूमि को राज्य के अधीन कर लिया और लगान वसूल करने के लिए भूमि ठेकेदारों को दी। इससे राज्य की आय में वृद्धि हुई। यही वे ठेकेदार थे जो बाद में जमींदार कहलाये और जिनको लॉर्ड कार्नवालिस ने अपने स्थायी बन्दोबस्त के द्वारा भूमि का स्थायी स्वामी बनाया। मुर्शिदकुलीखाँ ने व्यापार और उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया जिससे राज्य में सम्पन्नता की वृद्धि हुई, वह स्वयं चरित्रवान भी था। उसने अपने विलास पर धन व्यय नहीं किया। इन सभी कारणों से वह बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राज्य को धनवान बनाने में सफल हुआ। जून 1727 ई. में मुर्शिदकुलीखाँ की मृत्यु हुई।

मुर्शिदकुलीखाँ का कोई पुत्र न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद शुजाउद्दीन मुहम्मदखाँ गद्दी पर बैठा। शुजाउद्दीन मुहम्मदखाँ एक योग्य शासक था। उसने अपने राज्य को शासन की सुविधा के लिए चार भागों में बाँटा, राज्य को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बनाया, न्याय की उचित व्यवस्था की और अपनी प्रजा की भलाई का प्रयत्न किया। परन्तु उसके व्यक्तिगत चरित्र में कुछ दुर्बलताएँ थीं जिनके कारण उसके शासन के अन्तिम वर्षों में राज्य के शासन में दोष उत्पन्न हो गये और राज्य की शक्ति कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के एक गुट में एकत्रित हो गयी। इस गुट में हाजी अहमद, आलमचन्द और जगत-सेठ फतहचन्द सम्मिलित थे। मार्च 1739 ई. में शुजाउद्दीन मुहम्मदखाँ की मृत्यु हो गयी।

शुजाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सरफराजखाँ गद्दी पर बैठा। वह विलासप्रिय था और उसने शासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस कारण उसके पिता के अन्तिम वर्षों में गठित स्वार्थी व्यक्तियों के गुट ने राज्य-शक्ति अपने हाथों में ले ली। सरफराजखाँ को अपनी असावधानी का मूल्य चुकाना पड़ा। उसके दरबार में गठित प्रभावशाली गुट का एक प्रमुख सदस्य हाजी अहमद था। हाजी अहमद का भाई अलीवर्दीखाँ बिहार का नाइब-सूबेदार था। सरफराजखाँ की असावधानी और अपने भाई हाजी अहमद का समर्थन प्राप्त करके अलीवर्दीखाँ ने बंगाल के राज्य को अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया। उसने मुर्शिदाबाद पर आक्रमण किया। 10 अप्रैल, 1740 ई. को एक युद्ध में सरफराजखाँ मारा गया और बंगाल की गद्दी पर अलीवर्दीखाँ का अधिकार हो गया। उसने मुगल बादशाह से भी इस अधिकार की स्वीकृति प्राप्त कर ली।

अलीवर्दीखाँ एक योग्य शासक था। उसने बंगाल को एक शक्तिशाली राज्य बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उसके कार्य में दो बाधाएँ उपस्थित हुईं। बिहार में अफगानों ने विद्रोह किया। 1748 ई. में वह उनकी शक्ति को नष्ट करने में सफल हो सका। उसके कार्य में दूसरी कठिनाई मराठों के आक्रमणों ने उपस्थित की। उस अवसर पर मराठे भारत के सभी भागों पर आक्रमण कर रहे थे। उन्होंने बंगाल पर आक्रमण किया तथा अलीवर्दीखाँ ने 12 लाख रुपया प्रति वर्ष मराठों को देना स्वीकार कर लिया। मराठों ने अपनी तरफ से वायदा किया कि जब तक उन्हें यह धनराशि मिलती रहेगी तब तक वे बंगाल की सीमाओं में प्रवेश नहीं करेंगे। 10 अप्रैल, 1756 ई. को अलीवर्दीखाँ की मृत्यु हो गयी।

अलीवर्दीखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका नाती सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। सिराजुद्दौला ने अपने विरोधियों को नष्ट किया और बंगाल के शासन को दृढ़ किया। परन्तु उसके शत्रुओं की संख्या अधिक हो गयी। उसका झगड़ा अंग्रेजों से भी हुआ। अंग्रेज उसके राज्य में बिना कर दिये हुए व्यापार करते थे, उसके शत्रुओं को शरण देते थे तथा उसकी आज्ञा के विरुद्ध कलकत्ता के किले को दृढ़ कर रहे थे। सिराजुद्दौला ने उनके इन कार्यों में बाधा डाली। अंग्रेजों ने उसके शत्रुओं से मिलकर उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया। इस शत्रुता का अन्तिम परिणाम जून 1757 ई. में लड़ा गया प्लासी का युद्ध था। युद्ध में सिराजुद्दौला की पराजय हुई। बाद में उसे मार डाला गया। अंग्रेजों ने उसके एक सम्बन्धी मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया। 1760 ई. में अंग्रेजों ने मीरजाफर को गद्दी से हटाकर मीरकासिम को गद्दी पर बैठाया। परन्तु मीरकासिम का भी अंग्रेजों से झगड़ा हुआ। मीरकासिम को बंगाल से भागना पड़ा। उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सहायता ली। शुजाउद्दौला ने मीरकासिम की ओर से 1764 ई. में अंग्रेजों से बक्सर का युद्ध किया। उसकी पराजय हुई। बंगाल का शासन उस समय से अंग्रेजों के हाथों में चला गया। अंग्रेजों ने कुछ वर्षों तक नाममात्र के नवाब को बंगाल का शासक रहने दिया। अन्त में, 1772 ई. में उन्होंने बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासन प्रत्यक्षतः अपने हाथों में ले लिया।

(स) अवध

अवध-राज्य में अवध की सीमाओं के अतिरिक्त पूर्व में कानपुर, इलाहाबाद और बनारस तक के जिले तथा पश्चिम में वर्तमान पश्चिमी उत्तर-प्रदेश के भी कुछ जिले सम्मिलित थे। मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के शासनकाल में अवध के स्वतन्त्र राज्य का निर्माण हुआ। 1772 ई. में मुगल बादशाह मुहम्मदशाह ने सादतखाँ को अवध का सूबेदार नियुक्त किया। सादतखाँ योग्य शासक सिद्ध हुआ। वह नाममात्र के लिए मुगल बादशाह के आधिपत्य को स्वीकार

करता था। वस्तुतः वह स्वतन्त्र रहा। नादिरशाह के आक्रमण के अवसर पर उसे मुगल बादशाह ने दिल्ली बुलाया। परन्तु उसकी सहायता से कोई लाभ न हुआ। 1739 ई. में उसने आत्महत्या कर ली।

सादतखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसका दामाद सफदरजंग अवध का नवाब बना। वह एक योग्य शासक था जिसने अवध-राज्य को शान्ति और सम्पन्नता प्रदान की। 1748 ई. में मुगल बादशाह ने उसे अपना वजीर नियुक्त किया और दिल्ली बुलाया परन्तु अपने विरोधी सरदारों की ईर्ष्या के कारण वह दिल्ली में सफल न हो सका और 1753 ई. में अवध वापस आ गया। अक्टूबर 1754 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी।

सफदरजंग की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र शुजाउद्दौला अवध का नवाब बना। उसके समय में अवध की राजनीति में गम्भीर परिवर्तन हुए। उसने मुगल शाहजादा अलीगौहर को अपने राज्य में शरण दी। उसने पानीपत के तृतीय युद्ध में मराठों के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली का साथ दिया। अलीगौहर के मुगल बादशाह बनने पर 1762 ई. में उसे वजीर का पद प्रदान किया गया। उसने बंगाल के नवाब और मीरकासिम को अपने राज्य में शरण दी और अंग्रेजों के विरुद्ध बक्सर का युद्ध लड़ा। इस युद्ध में उसकी पराजय हुई। अंग्रेजों ने उस समय उसके राज्य पर अधिकार नहीं किया। उन्होंने उससे 50 लाख रुपया लिया तथा इलाहाबाद और कड़ा के जिले मुगल बादशाह शाहआलम को दिला दिये। 26 जनवरी, 1775 ई. को शुजाउद्दौला की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र आसफउद्दौला अवध का नवाब बना। शुजाउद्दौला के शासनकाल में ही अंग्रेजों का प्रभाव अवध-राज्य में हो गया था। आसफउद्दौला के शासनकाल में उनके प्रभाव में वृद्धि हुई। धीरे-धीरे बाद में अवध के नवाब अंग्रेजों पर आश्रित होते गये। 1801 ई. में नवाब सादतअली ने अंग्रेजों की सहायक-सन्धि को स्वीकार करके अपनी स्वतन्त्रता को प्रायः नष्ट कर लिया। 1856 ई. में लॉर्ड डलहौजी ने नवाब वाजिदअलीशाह से अवध का राज्य छीन लिया।

(द) मराठे

[मराठा-शक्ति के उत्थान और विस्तार के लिए अध्याय 3 देखिए।]

2. आर्थिक और सामाजिक स्थिति

अठारहवीं सदी भारत में पुनः एक अन्धकारपूर्ण सदी थी। भारत के जनजीवन के सभी क्षेत्रों में दुर्बलता तथा आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पतन इस सदी की विशेषता रहे। इसी के परिणामस्वरूप भारत एक विदेशी शक्ति के अधीन हुआ।

कृषि की दृष्टि से भारत पिछड़ा रहा। भारत ने कृषि-उत्पादन के साधनों में कोई परिवर्तन नहीं किये और न उत्पादन की मात्रा में कोई सफलता प्राप्त की। केवल किसानों के शारीरिक श्रम ने स्थिति को गम्भीर रूप से खराब नहीं होने दिया। उनके अत्यधिक श्रम के कारण भारत अपने नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल रहा। परन्तु कृषक-वर्ग की स्वयं की स्थिति गम्भीर रूप से खराब रही। सरकार निरन्तर लगान की माँग में वृद्धि करती गयी तथा जमींदार, जागीरदार अथवा ठेकेदार किसानों का शोषण करते रहे। राजपरिवारों के शाहजादों के उत्तराधिकार के युद्धों, महत्वाकांक्षी सरदारों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धाओं, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण एवं लूटमार तथा भारत के उच्च एवं धनाढ्य-वर्ग की धनलोलुपता और शोषण की प्रवृत्ति ने किसानों तथा अन्य सभी निर्धन-वर्ग के व्यक्तियों को उत्पीड़ित किया। भारतीय किसान केवल जीवन-मात्र की रक्षा

हेतु ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ रह सके और वह भी इस कारण क्योंकि उनकी आवश्यकताएँ बहुत ही कम थीं। किसान अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः अपने-अपने गाँव या निकट के गाँवों में शारीरिक श्रम से उत्पन्न की गयी वस्तुओं से कर लिया करते थे। उनकी न्यूनतम आवश्यकताएँ उनकी एकमात्र शक्ति रही अन्यथा शासन और समाज की ओर से उनके शोषण में कोई कमी नहीं थी। इस प्रकार भारतीय कृषकों की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। सम्पूर्ण अठारहवीं सदी में उनकी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। इस प्रकार, भारत का बहुसंख्यक वर्ग अर्थात् किसान न अपनी क्षमता में वृद्धि कर सका, न शोषण से मुक्त हो सका और न भारत के आर्थिक साधनों में वृद्धि कर सका।

भारत इस सदी में व्यापार और उद्योग की दृष्टि से भी प्रगति करने में असमर्थ रहा। राजनीतिक अस्थिरता, गृह-युद्ध, विदेशी आक्रमण आदि के कारण भारत में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना किसी भी शासक के लिए सम्भव न हुआ। इन परिस्थितियों में आन्तरिक और विदेशी व्यापार की हानि हुई। इसका प्रभाव उद्योगों पर भी आया। व्यापार की प्रगति के अभाव में उद्योग लाभप्रद न रहे और नष्ट होने लगे। राजनीतिक विभक्तीकरण भी इनके नष्ट होने का कारण बना। भारत में अनेक स्वतन्त्र राज्य हो गये थे। इससे भारत की आर्थिक क्षमता को एक स्थान पर एकत्रित करके उद्योगों के विकास के लिए उपयोग में लाया जाना सम्भव न हो सका। विभिन्न स्वतन्त्र राज्य अपनी सीमाओं पर व्यापारिक कर लेते थे जिससे वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि तथा व्यापारिक वस्तुओं के पारस्परिक आदान-प्रदान में असुविधा हुई। इससे व्यापार की हानि हुई। विदेशी आक्रमणकारियों ने सम्पन्न नगरों को लूटा। ये नगर ही व्यापार तथा उद्योगों के केन्द्र-स्थल थे। इसी भाँति विभिन्न भारतीय शासकों के पारस्परिक युद्धों में भी सम्पन्न नगरों की हानि हुई। नादिरशाह ने दिल्ली के वैभव को नष्ट किया, अहमदशाह अब्दाली ने कई बार भारत के उत्तर-पश्चिम के सम्पन्न नगरों और दिल्ली को लूटा, मराठों ने दक्षिण-भारत, गुजरात तथा मालवा के सभी नगरों से चौथ वसूल की तथा जाटों और सिखों ने भारत के उत्तर-पश्चिम के सम्पन्न नगरों को लूटने में कोई कसर नहीं छोड़ी। ये सभी कार्य व्यापार तथा उद्योगों को नष्ट करने वाले थे। अठारहवीं सदी में भारतीय कुलीनों की आर्थिक स्थिति भी दृढ़ नहीं रही थी। वह उपभोक्ताओं का एक ऐसा प्रमुख वर्ग था जो आराम और विलासिता की वस्तुओं का उपभोग करता था। इस कारण ऐसी सभी वस्तुओं के उत्पादन की आवश्यकता बनी रहती थी जिससे उद्योगों और व्यापार को प्रोत्साहन प्राप्त होता था। आर्थिक दुर्बलता के कारण भारतीयों की आवश्यकताओं में कमी हो गयी जिसका कुप्रभाव उद्योगों और व्यापार पर आया। इस प्रकार, विभिन्न परिस्थितियाँ ऐसी बनीं जिन्होंने अठारहवीं सदी में व्यापार और उद्योगों को हानि पहुँचाई।

परन्तु तब भी भारतीय उद्योग एवं व्यापार पूर्णतः नष्ट नहीं हुए। निस्सन्देह, पिछली कुछ सदियों की तुलना में अठारहवीं सदी में भारत में उद्योगों और व्यापार की स्थिति दुर्बल रही परन्तु तब भी वह इस क्षेत्र में सन्तुलन बनाये रख सका। यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि अठारहवीं सदी में आर्थिक दृष्टि से दुर्बल होकर भी भारत अपनी सम्पन्नता को बनाये रखने में समर्थ हो सका। पिछली कुछ सदियों की तुलना में गिरावट आने के पश्चात् भी भारत, इस सदी में भी, विश्व-व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र-स्थल बना रह सका जिसके कारण विभिन्न यूरोपीय राज्यों ने भी भारत से प्रत्यक्ष व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये जो सफल भी हुए। भारत उस समय भी प्रचुर मात्रा में कपास, रेशम, शक्कर, जूट, नील, चाय, अफीम, दवाइयाँ, कीमती पत्थर, मोती आदि विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करता था। भारत के तत्कालीन उद्योगों में सबसे अधिक प्रगतिशील उद्योग और व्यापार सूती कपड़े का

था। भारत अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि का और विभिन्न किस्मों एवं रंगों का सूती कपड़ा तैयार करता था जिसकी माँग संसार के सभी महत्वपूर्ण राज्यों में थी। इस उद्योग के प्रभाव के केन्द्र-स्थल ढाका, मुर्शिदाबाद, पटना, सूरत, अहमदाबाद, बड़ौदा, बुरहानपुर, जौनपुर, बनारस, लखनऊ, आगरा, मुल्तान, लाहौर, मछलीपट्टम, विशाखापट्टम, बंगलौर, कोयम्बटूर, मदुराई आदि थे। कश्मीर अपने ऊनी वस्त्रों के लिए विख्यात था। रेशमी कपड़ा भी भारत में तैयार होता था। समुद्री जहाजों का निर्माण भी भारत का एक प्रमुख उद्योग था। यूरोपीय व्यापारी भी भारत में बने हुए समुद्री जहाजों को खरीदते थे। भारत का विदेशी व्यापार उस सदी में भी उसके पक्ष में था। यूरोप, अफ्रीका और एशिया के विभिन्न देशों से उसका व्यापार होता था। इस व्यापार से भारत पर्याप्त लाभ प्राप्त करता था जिससे उसकी सम्पन्नता-वृद्धि में सहायता मिलती थी।

परन्तु आर्थिक दृष्टि से भारत की एक दुर्बलता प्रमुख रही। भारत में आर्थिक विषमताएँ बहुत गम्भीर थीं। विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के आर्थिक साधनों में बहुत गम्भीर अन्तर था। समाज में एक वर्ग पर्याप्त सम्पन्न था। उस वर्ग में शासक, कुलीन, जागीरदार, उद्योगपति, व्यापारी आदि सम्मिलित थे। इस वर्ग के व्यक्ति सभी सुविधाओं का उपभोग करने की स्थिति में थे। दूसरा वर्ग निर्धनों का था जो बहुसंख्यक वर्ग था। इस वर्ग में कृषक, कृषक-मजदूर, औद्योगिक मजदूर, साधारण कारीगर आदि सम्मिलित थे। भारत की सभी वस्तुओं के उत्पादन का उत्तरदायित्व इसी वर्ग के व्यक्तियों पर था। वे इस उत्तरदायित्व की पूर्ति भी करते थे। परन्तु वे उसके लाभों से वंचित थे। इस वर्ग के व्यक्ति जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति भी बहुत कठिनाई से कर पाते थे। समाज का इन दो असमान वर्गों में विभाजन अन्यायपूर्ण और हानिकारक था। यह भारतीय समाज की एकता को बनाने में भी सबसे बड़ी बाधा थी। निर्धन-वर्ग जो अपने परिश्रम से सभी कुछ बनाता हो परन्तु जिसे न्यायपूर्ण ढंग से जीवन की सुविधाओं से वंचित रखा गया हो, कभी भी राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्र-सेवा की भावना का निर्माण नहीं कर सकता था। यही कारण था कि अंग्रेजों को यहाँ वफादार सैनिक मिल सके और उन्हीं भारतीय सैनिकों की सहायता से वे भारत में अपना साम्राज्य स्थापित कर सके। अपनी आर्थिक विषमताओं के कारण भारत न केवल अपनी आर्थिक प्रगति करने में असमर्थ रहा अपितु अपनी रक्षा करने में भी असफल रहा।

अठारहवीं सदी में सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत, निस्सन्देह, गिरावट की स्थिति में था। आर्थिक विषमताओं के कारण भारत निर्धन और धनवान दो वर्गों में बँटा हुआ था। इन दो वर्गों के सांस्कृतिक जीवन में कोई समानता नहीं हो सकती थी। दोनों वर्गों के जीवन की पृथक-पृथक मान्यताएँ थीं। इसके अतिरिक्त सामाजिक व्यवस्था, धार्मिक अन्तर, विभिन्न भाषाओं की उपस्थिति, क्षेत्रीय अन्तर आदि के आधार पर भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में बँटा हुआ था। अनेक ऐसे कारण भी थे जिनसे इन विभिन्न वर्गों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और विरोध था।

हिन्दू भारतीय समाज का बहुसंख्यक वर्ग था। वह न केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में ही विभाजित था बल्कि इन सभी की उप-जातियाँ होने के कारण अनेक वर्गों में बँटा हुआ था। जाति-व्यवस्था कठोर थी और विभिन्न जातियों में पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध तथा खान-पान सम्भव न था। जाति-पंचायतें जाति के नियमों को कठोरता से लागू करती थीं और नियमों का उल्लंघन करने वाले सदस्यों को कठोर दण्ड देती थीं। अधिकांशतः व्यक्ति की जाति ही उसके व्यवसाय को निश्चित करती थी। धन की कमी या आधिक्य जाति की निम्नता अथवा श्रेष्ठता को निश्चित नहीं करते थे। जाति का निर्धारण एकमात्र

व्यक्ति के जन्म पर निर्भर करता था। परन्तु तब भी धन और शक्ति को प्राप्त करके एक व्यक्ति समाज में सम्मान प्राप्त कर सकता था। भारतीय समाज का दूसरा महत्वपूर्ण वर्ग मुसलमानों का था। वह भी धर्म, धन, व्यवसाय आदि के आधार पर विभाजित था। उनमें एक गम्भीर विभाजन भारतीय और विदेशी मुसलमानों के आधार पर था। विदेशी मुसलमान अपने को भारतीय मुसलमानों (वे मुसलमान जो हिन्दू से मुसलमान बनाये गये थे) से श्रेष्ठ मानते थे। विदेशी मुसलमान भी राष्ट्रीयता के आधार पर बँटे हुए थे। ईरानी, तूरानी, अफगान आदि आपस में अन्तर मानते थे। भारतीय मुसलमान अपनी पूर्व-जाति के आधार पर आपस में अन्तर करते थे यद्यपि ये अन्तर गम्भीर न थे। मुसलमानों में व्यवसायों के आधार पर भी अन्तर था। धार्मिक आधार पर भी वे शिया, सुन्नी, सूफी आदि वर्गों में बँटे हुए थे। अन्य विभिन्न धार्मिक और सामाजिक आधारों पर भी भारतीय समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था। इस सदी में हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध भी ठीक नहीं रह पाये। औरंगजेब की धर्मान्धता की नीति का प्रभाव 18वीं सदी में भी दृष्टिगोचर हुआ। निःसन्देह, प्रान्तीय मुस्लिम शासकों में से कोई भी धार्मिक कट्टरता की नीति का पालन नहीं कर सकता था, केन्द्रीय सरकार अपनी दुर्बल स्थिति के कारण ऐसा करने में समर्थ न थी तथा मराठा-शक्ति के उदय ने इस नीति का पालन किया जाना असम्भव बना दिया था। परन्तु तब भी 17वीं सदी में खराब हुए हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध सुधर नहीं सके। इसके विपरीत, दोनों वर्गों का झुकाव धार्मिक विषमता की ओर रहा जिससे भारतीय समाज का विभक्तीकरण तीव्र हुआ। भारतीय समाज में अनेक कुरीतियाँ भी थीं। हिन्दू समाज विभिन्न अमानवीय और घृणित कुरीतियों से ग्रस्त था। बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, सती-प्रथा, देवदासी-प्रथा, बाल-हत्या, विधवा-विवाह का प्रचलन आदि ऐसी कुप्रथाएँ थीं, जिनसे मुख्यतः हिन्दू नारियाँ पीड़ित थीं। मुसलमानों में स्त्री-सम्बन्धी कुरीतियों में मुख्यतः बहुविवाह और पर्दा-प्रथा का प्रचलन था। इन स्त्री-सम्बन्धी कुरीतियों के कारण भारतीय समाज का प्रायः अर्द्ध-भाग अपंग बना हुआ था। इसके अतिरिक्त धर्मान्धता से प्रभावित होकर जादू-टोने का प्रयोग तथा कुछ अवसरों पर नर-बलि तथा आत्म-पीड़ा की कुरीतियाँ भी समाज में प्रचलित थीं।

शिक्षा की दृष्टि से भी स्थिति अच्छी नहीं थी यद्यपि शिक्षा-संस्थाएँ पर्याप्त थीं। गाँवों में पाठशालाओं की व्यवस्था थी और उच्च स्तर पर हिन्दुओं के विद्यालय थे। मुसलमानों की शिक्षा-संस्थाएँ मकतब और मदरसे थे। विद्यालयों में संस्कृत के माध्यम से और मदरसों में फारसी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। अरबी भाषा का अध्ययन अधिक कट्टर मुसलमान ही करते थे। शिक्षा का मुख्य दोष यह था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही वर्गों में शिक्षा मुख्यतः अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों, धार्मिक कहानियों और धार्मिक कानूनों के बारे में ही दी जाती थी।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत गिरावट की स्थिति में था। अठारहवीं सदी से पहले की कुछ सदियों में साहित्य, ललित-कला आदि की दृष्टि से भारत की प्रगति का एक प्रमुख कारण भारतीय शासकों द्वारा इनको संरक्षण प्रदान करना था। महान् मुगल बादशाहों, कुलीनों, जागीरदारों तथा हिन्दू नरेशों ने सांस्कृतिक प्रगति में सहयोग दिया था। उन्होंने अपने धन का प्रयोग यदि विलासिता के लिए किया तो विभिन्न ललित-कलाओं और साहित्यिक प्रगति के लिए भी किया। लेकिन अठारहवीं सदी में न महान् बादशाह रहे और न महान् कुलीन। जिनके पास धन था भी उन्होंने उसका उपयोग अधिकांशतः व्यक्तिगत विलासिता अथवा स्वार्थ-पूर्ति के लिए किया। इस कारण सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में गिरावट आयी। स्थापत्य-कला (भवन-निर्माण-कला) और चित्रकला की दृष्टि से गिरावट पूर्णतः स्पष्ट थी। उसी प्रकार पर्शियन साहित्य की प्रगति भी अवरुद्ध थी। तब भी सभी कुछ

नष्ट नहीं हुआ। विभिन्न क्षेत्रीय शासकों ने इन ललित-कलाओं और साहित्यिक प्रगति में रुचि ली। इसके परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में प्रगति हुई। चित्रकला में काँगड़ा और राजपूत शैली ने श्रेष्ठता प्राप्त की। नृत्य-कला और गान-विद्या भी विभिन्न शासकों के संरक्षण में सुरक्षित रह सकीं। साहित्यिक क्षेत्र में प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य में कुछ उन्नति हुई। इस क्षेत्र में इस सदी की सबसे मुख्य विशेषता उर्दू भाषा की प्रगति और मुख्यतः उसके पद्य-साहित्य का निर्माण था। इसी प्रकार हिन्दी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, मलयालम, तमिल आदि भाषाओं के साहित्य की भी कुछ प्रगति हुई यद्यपि इनमें से कोई भी श्रेष्ठता की स्थिति में नहीं पहुँच सका।

इस सदी की एक विशेषता भारत में उच्च-वर्ग का नैतिक पतन था। धन और सम्मान के लिए प्रतिस्पर्धा, आर्थिक दुर्बलता और विषमता, सामाजिक और विभिन्न कुरीतियों की उपस्थिति तथा सांस्कृतिक रुचि की गिरावट ने भारत के उच्च-वर्ग, धनाढ्य और शासक-वर्ग के जीवन की नैतिक मान्यताओं को नष्ट कर दिया। शासकों, कुलीनों, जागीरदारों और धनाढ्य व्यक्तियों का जीवन विलासिता के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं रह गया । वफादारी, ईमानदारी, न्याय आदि सच्चरित्रता के गुण उच्च-वर्ग ने नष्ट कर लिये। उसके सदस्यों का एकमात्र लक्ष्य केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति रह गया। निस्सन्देह, इससे भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में गिरावट आयी। परन्तु तब भी एक तथ्य आश्चर्यजनक रहा। भारतीय निर्धन-वर्ग इन बुराइयों से अपने आप को बचा सका। जनसाधारण अधिकांशतः अपने परम्परागत नैतिक जीवन को निभाता रहा। यह कोई बहुत लाभदायक स्थिति तो न थी क्योंकि बिना नैतिक मान्यताओं को बदले हुए सामाजिक प्रगति सम्भव न थी परन्तु तब भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि जनसाधारण ने भारत के नैतिक पतन में सहयोग नहीं दिया।

भारत की एक प्रमुख दुर्बलता विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र में उन्नति न कर पाने की रही। भारतीय इन क्षेत्रों में प्रगति करने के प्रति पिछली कई सदियों से उदासीन रहे थे। इस सदी में भी उन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। जबकि यूरोपीय देश इन क्षेत्रों में तीव्रता से प्रगति करने का प्रयत्न कर रहे थे, भारतीयों ने इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। यही नहीं, उन्होंने यह भी जानने का प्रयत्न नहीं किया कि पश्चिमी राष्ट्रों में इन क्षेत्रों में क्या प्रयत्न किये जा रहे हैं। विज्ञान और तकनीकी प्रगति के प्रति उदासीनता भारतीयों के लिए उनकी सबसे बड़ी भूल सिद्ध हुई। भारतीय न केवल अपने आर्थिक और सैनिक साधनों की वृद्धि करने में असमर्थ रहे बल्कि इसी अभाव के कारण उनकी बुद्धि का विकास आधुनिकता की ओर न हो सका। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अभाव में भारतीय परम्परावादी बने रहे। इस कारण वे अपने शासन, आर्थिक ढाँचा, सामाजिक व्यवस्था आदि जीवन के किसी भी क्षेत्र में न किसी नवीनता को जन्म दे सके और न उसमें परिवर्तन कर सके। ऐसी स्थिति में वे जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति न कर सके और पश्चिमी देशों की तुलना में बहुत पिछड़ गये। इसका अन्तिम परिणाम भारत का गुलाम होना हुआ।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मुगल-साम्राज्य के खण्डों से बने 18वीं सदी के स्वतन्त्र अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों के निर्माण का वर्णन कीजिए।
2. 18वीं सदी में भारत की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का वर्णन कीजिए।

3

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष और विकास

1. परिस्थितियाँ

मराठा-शक्ति का उत्कर्ष किसी एक व्यक्ति का कार्य न था और न एक विशेष समय में उत्पन्न हुई अस्थायी परिस्थितियों का ही परिणाम था। विभिन्न ऐसी स्थायी परिस्थितियाँ थीं जिनसे मराठा-राष्ट्र का निर्माण हुआ और जिन्होंने मराठा-शक्ति के उत्कर्ष में भाग लिया।

महाराष्ट्र की भौगोलिक परिस्थिति उसके विकास में सहायक थी। महाराष्ट्र का अधिकांश भाग पठारी है। वहाँ पर जीवन की रक्षा के लिए मनुष्यों को प्रकृति से कठोर संघर्ष करना पड़ता है जिससे वहाँ के निवासी परिश्रमी और साहसी बनते हैं। मध्य-युग में वहाँ आक्रमणकारी के लिए बहुत कठिनाइयाँ थीं तथा वहाँ बड़ी सेना को लेकर चलना और उसके लिए रसद प्राप्त करना कठिन था, जबकि सुरक्षा के लिए वहाँ अनेक सुविधाएँ थीं। वहाँ स्थान-स्थान पर सरलता से ऐसे पहाड़ी किले बनाये जा सकते थे जिनकी रक्षा करना सरल था परन्तु जिनको जीतना कठिन था। उत्तर और दक्षिण-भारत के बीच में स्थित होने के कारण भी वहाँ के निवासियों को लाभ था। भारत के बीचोंबीच में स्थित होने के कारण उसका विस्तार दोनों दिशाओं में सम्भव था।

दक्षिण-भारत में आर्य और द्रविड़ नस्लों का मिश्रण बहुत कुछ समानता के आधार पर हुआ क्योंकि आर्य कभी भी दक्षिण में अपनी पूर्ण सत्ता स्थापित नहीं कर सके। इस कारण दक्षिण-निवासियों ने दोनों ही नस्लों की अच्छी बातों को स्वीकार कर लिया। इसी कारण **सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से जो विचारधाराएँ और संस्थाएँ दक्षिण-भारत में स्थापित हुईं वे भारत के अन्य भागों से पृथक थीं।** दक्षिण में ग्राम-पंचायतें सर्वदा महत्वपूर्ण रहीं जिससे अपने दैनिक जीवन में साधारण व्यक्ति स्वयं के महत्व को समझ सका। दक्षिण में लगान-व्यवस्था 'रैयतवारी' रही जिससे साधारण किसान ही भूमि का स्वामी था और वह स्वयं राज्य को लगान देता था। इस कारण महाराष्ट्र का साधारण व्यक्ति भी अपने स्वाभिमान को समझता था, अपनी भूमि से प्रेम करता था तथा उसमें समानता और नागरिकता की भावना थी।

आर्थिक दृष्टि से महाराष्ट्र में अधिक असमानताएँ न थीं। व्यापारी-वर्ग के अतिरिक्त वहाँ धनवान व्यक्ति अधिक न थे। इस प्रकार **आर्थिक शोषण करने वाले वर्ग का महाराष्ट्र में सर्वथा अभाव था।** मराठा-सैनिक और निवासी उत्तर-भारत के सैनिकों और निवासियों की तुलना में निर्धन और अव्यावहारिक कहे जा सकते थे। मराठों के शासन-काल में कला और साहित्य की दृष्टि से महाराष्ट्र में कोई प्रगति भी नहीं हुई। पेशवाओं तक के महल बहुत ही साधारण और अव्यवस्थित ढंग से बने हुए थे। निस्सन्देह, यह भी बहुत कुछ निर्धनता के कारण था। परन्तु इससे महाराष्ट्र-निवासियों का चरित्र दृढ़ बना था तथा वे परिश्रमी और साहसी थे। उनमें समानता की भावना थी, वे छोटे और बड़े की भावना से रहित थे तथा उस

भोग-विलास से बचे रहे थे जिसके कारण उत्तर-भारत का समाज उस समय खोखला होता जा रहा था।

सामाजिक दृष्टि से महाराष्ट्र में उत्तर-भारत के समान तीव्र विभाजन न था। वहाँ ब्राह्मण और शूद्र भी एक-दूसरे के इतने निकट थे जितने भारत में अन्य कहीं न थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के धर्म-सुधार और भक्ति-आन्दोलन के सन्तों ने इस सामाजिक एकता को और अधिक शक्तिशाली बनाया। दक्षिण का यह धार्मिक आन्दोलन किसी एक वर्ग का न था बल्कि जनसाधारण का था और इसका नेतृत्व तुकाराम, रामदास, वामन पण्डित, एकनाथ जैसे सन्तों एवं दार्शनिकों ने किया था। यह आन्दोलन ऊँच-नीच, जाति-व्यवस्था और कर्मकाण्ड के विरुद्ध था। इसने सभी को भक्ति के द्वारा ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताया। इस आन्दोलन से महाराष्ट्र का समाज संगठित हुआ और उसमें एकता की वह भावना आयी जिससे मराठों में राष्ट्रीय भावना का निर्माण हुआ।

भाषा की दृष्टि से मराठी भाषा बहुत सरल और व्यावहारिक थी। वह जनसाधारण की भाषा थी जिसकी साहित्यिक प्रगति अठारहवीं सदी से पहले न हो सकी थी। साधारण भाषा के प्रयोग से भी महाराष्ट्र के निवासियों में एकता और समानता थी। महाराष्ट्र-निवासियों की जनतान्त्रिक विचारधारा इसी से स्पष्ट होती है कि वे आपस में 'आप' और 'जनाब' जैसे आदरसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे।

दक्षिण में हिन्दू और मुसलमानों में शक्ति-सन्तुलन रहा जिसके कारण दक्षिण-निवासी अपने सम्मान और गौरव तथा समाज और धर्म के प्रति अपने प्रेम को जीवित रख सके। उत्तर-भारत में मुसलमानों की विजय राजस्थान के अतिरिक्त सभी स्थानों पर पूर्ण थी। इस्लाम ने हिन्दुओं की विरोध करने की शक्ति को प्रायः नष्ट कर दिया था और मुसलमान एक लम्बे समय तक पूर्ण राजनीतिक सत्ता का उपभोग कर चुके थे, परन्तु दक्षिण-भारत में यह स्थिति कभी नहीं आयी। इसी कारण जबकि उत्तर-भारत में जनसाधारण की भाषा फारसी या उर्दू होती जा रही थी, हिन्दू सामाजिक दृष्टि से अपने को हीन समझने लगे थे और हिन्दू मन्दिर छोटी-छोटी गलियों और कोनों तक ही सीमित रह गये थे, दक्षिण-भारत में ऐसी स्थिति कभी नहीं आयी। दक्षिण में हिन्दू न केवल अपनी सामाजिक परम्पराओं और हिन्दू मन्दिरों को ही सुरक्षित रख सके अपितु उन्होंने अपने गौरव और सम्मान को भी सुरक्षित रखा। राजनीतिक शक्ति के सन्तुलन के कारण मुसलमान शासकों को शासन में हिन्दुओं की सहायता लेनी पड़ी तथा हिन्दू और मुस्लिम समाज एक-दूसरे के साथ समानता का व्यवहार कर सके। इस शक्ति-सन्तुलन के विभिन्न कारण थे। दक्षिण के मुसलमान शासक विदेशी मुसलमानों की सहायता नहीं पा सकते थे, दक्षिण की भौगोलिक परिस्थितियाँ एक विस्तृत साम्राज्य के पक्ष में नहीं थीं, दक्षिण के प्रथम स्वतन्त्र मुसलमानी राज्य—बहमनी राज्य—का संस्थापक पहले सम्भवतः एक हिन्दू ब्राह्मण—गंगू—का दास रहा था, मुसलमान शासकों के आर्थिक और लगान विभाग में ही नहीं बल्कि सेना में भी बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू थे और विजयनगर के हिन्दू-साम्राज्य ने लगभग दो सौ वर्षों तक दक्षिण में हिन्दू-प्रभाव को सुरक्षित रखा था। मुसलमान शासकों ने पर्याप्त संख्या में हिन्दू स्त्रियों से विवाह किये थे और अनेक मुसलमान शासक ऐसी ही हिन्दू स्त्रियों की सन्तान थे या हिन्दू से बने हुए मुसलमान थे, जैसे अहमदनगर का पहला शासक हिन्दू से परिवर्तित एक मुसलमान व्यक्ति का पुत्र था और बरार राज्य का संस्थापक एक ब्राह्मण की सन्तान था। इन विभिन्न कारणों से हिन्दू और मुसलमानों का दक्षिण-भारत में शक्ति-सन्तुलन सम्भव हुआ और दक्षिण-भारत में मुसलमान शासक और वहाँ का मुस्लिम समाज हिन्दुओं के निकट आ सके। दक्षिण-भारत के मुसलमान उत्तर-भारत के मुसलमानों की भाँति कट्टर न बन सके और उसके शासन, राज्य और व्यवहार पर हिन्दुओं का

प्रभाव पड़ा। इतिहासकार ग्राण्ट डफ का कथन है कि शिवाजी के उत्कर्ष से पहले ही कम से कम आठ मराठा-परिवार ऐसे थे जिनका दक्षिण-भारत की राजनीति में बहुत अधिक प्रभाव था। स्वयं शिवाजी के पिता शाहजी भौंसले अहमदनगर-राज्य के शासक-निर्माता की स्थिति में थे और अहमदनगर के पतन के पश्चात् उन्होंने वहाँ के अल्पवयस्क शासक की ओर से पर्याप्त समय तक मुगलों से संघर्ष किया।

इस प्रकार, उपर्युक्त विभिन्न परिस्थितियाँ ऐसी थीं जो शिवाजी से पहले ही महाराष्ट्र में उपस्थित थीं और जो मराठों के उत्कर्ष में सहायक हुईं। परन्तु महाराष्ट्र में एक कमी थी। महाराष्ट्र में इन तत्वों को संगठित नहीं किया गया था, इन तत्वों के आधार पर वहाँ एकता स्थापित नहीं की गयी थी और स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना का विचार उस समय तक मराठों में नहीं आया था। इस कार्य की पूर्ति शिवाजी ने की। इसी कारण वह मराठा-राष्ट्र और एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य के निर्माता बने।

2. छत्रपति शिवाजी (1627-1680 ई.)

20 अप्रैल, 1627 ई. को शिवनेर के दुर्ग में शिवाजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम शाहजी भौंसले और माता का नाम जीजाबाई था। उनके जन्म के अवसर पर शाहजी बीजापुर दरबार में एक प्रमुख सामन्त थे। शाहजी ने तुकाबाई मोहिते नामक एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया था और जीजाबाई अपने पति से अलग रहती थीं। इस कारण शिवाजी की देखभाल शाहजी के एक वफादार सेवक दादाजी कोंणदेव ने की। बारह वर्ष की आयु में शिवाजी ने अपने पिता से पूना की जागीर प्राप्त की। अपनी माँ से उन्होंने साहस, दृढ़-निश्चय, अत्याचार का विरोध और धर्म के प्रति रुचि प्राप्त की तथा कोंणदेव से उन्होंने सेना और शासन की शिक्षा पायी। अल्पायु में ही उनकी महत्वाकांक्षाएँ बलवती हो गयी थीं और उन्होंने आसपास के किलों पर अधिकार करना शुरू कर दिया। 1647 ई. में दादाजी कोंणदेव की मृत्यु के पश्चात् वह पूर्ण स्वतन्त्र हो गये और उन्होंने अपनी जागीर का विस्तार करना आरम्भ कर दिया।

अपने जीवन में शिवाजी का मुख्य झगड़ा बीजापुर-राज्य और मुगलों से हुआ क्योंकि इन्हीं के राज्यों की सीमाएँ उनके निकट थीं और उनके राज्य-विस्तार में बाधक थीं। बीजापुर-राज्य से उनका झगड़ा जीवन के आरम्भ से ही हो गया था। इस संघर्ष में अफजलखाँ की घटना (1659 ई.) और कर्नाटक पर शिवाजी का आक्रमण प्रमुख हैं। मुगलों से शिवाजी का संघर्ष 1675 ई. में आरम्भ हुआ और अन्त तक चलता रहा। इस संघर्ष में शाइस्ताखाँ पर रात्रि में हुआ आक्रमण (1663 ई.), सूरत की लूट, पुरन्दर की सन्धि (1665 ई.), शिवाजी का आगरा जाना आदि प्रमुख घटनाएँ घटीं। इस प्रकार शिवाजी ने जीवनपर्यन्त संघर्ष करते हुए 13 अप्रैल, 1680 ई. को जीवन त्यागा। 1674 ई. में शिवाजी ने अपना राज्याभिषेक किया और अपनी मृत्यु के समय तक महाराष्ट्र के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। इस प्रकार शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की थी।

मराठा-शक्ति के लिए शिवाजी का योगदान

शिवाजी का महत्व केवल इसलिए ही न था कि उन्होंने भारत में एक स्वतन्त्र हिन्दू-राज्य की स्थापना की थी और वह भी ऐसे समय में की जबकि औरंगजेब आलमगीर मुगल-साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति को लेकर हिन्दू-राज्य तो क्या दक्षिण की शिया शक्तियों को भी समाप्त करने के लिए अग्रसर हो चुका था, बल्कि उनका महत्व मराठा जाति और उनके नेताओं में वह एकता और आत्मविश्वास उत्पन्न करने में था जिससे वह सफलतापूर्वक मुस्लिम-शक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सके। यही वह भावना थी जिसने 1689 ई. से 1707 ई. के अठारह वर्षों के निरन्तर युद्धों में औरंगजेब की कमर तोड़ दी।

शिवाजी दृढ़, साहसी, चरित्रवान और उदार थे। धर्म में उनका विश्वास अटूट था और उनकी मान्यता थी कि, निस्सन्देह, मनुष्य से बड़ी कोई शक्ति ही उन्हें उच्च कार्यों की ओर प्रेरित कर रही थी और उनकी रक्षा कर रही थी। आदर्श व्यक्तिगत चरित्र, आकर्षक व्यक्तित्व जो मानव-समूह को एकता प्रदान करके सफलता की ओर ले जाता है, समय और परिस्थितियों का गम्भीर अध्ययन, अपने लक्ष्य की पूर्ति करने का साहस और ऐसा पूर्ण विश्वास जिसे कोई भी बाधा या अस्थायी पराजय विचलित नहीं कर सकती थी, लगन-शीलता और तत्परता जिसका उदाहरण कठिनाई से ही भारतीय अथवा यूरोप के इतिहास में प्राप्त होता है, सच्ची राष्ट्रभक्ति, जो अपने समय से बहुत आगे थी, और दया से ओतप्रोत न्याय की भावना आदि ऐसी बातें थीं जिनके आधार पर शिवाजी ने उस मराठा-शक्ति का निर्माण किया जिसने उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके लक्ष्यों को पूरा किया और भारतीय इतिहास में एक नवीन अध्याय लिखा। शिवाजी की मृत्यु के नौ वर्ष पश्चात् ही उनका साम्राज्य नष्ट हो गया परन्तु उन्होंने जो भावना उत्पन्न की थी वह जीवित रही और उसी के कारण एक बार फिर खण्डहरों से मराठा-शक्ति के महल का निर्माण हुआ।

शिवाजी से पहले मराठों की शक्ति दक्षिण के राज्यों में बिखरी हुई थी। वे शान्तिप्रिय किसान अथवा मुसलमानी राज्यों के सेवक थे। शिवाजी ने उनकी शक्ति को एकत्रित किया और उन्हें एक राष्ट्र में संगठित कर दिया। शिवाजी ने उन्हें कट्टर और साहसी सैनिक, योग्य सेनापति और कुशल प्रबन्धक बनाया तथा यह सिद्ध कर दिखाया कि वे स्वयं अपने मालिक थे और स्वयं शासन कर सकते थे। शिवाजी ने एक राष्ट्र का निर्माण किया, एक हिन्दू-राज्य का निर्माण किया और उस समय में किया जबकि मुगल-साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर था और जबकि उनका मुकाबला मुगलों से ही नहीं बल्कि दक्षिण की अन्य शक्तिशाली शक्तियों—बीजापुर, पुर्तगाली और जंजीरा के सीदियों—से भी था। 'आधुनिक भारत' में ऐसी जीवन-शक्ति का परिचय किसी अन्य हिन्दू ने नहीं दिया। अपने उदाहरण से उन्होंने सिद्ध किया कि हिन्दू-जाति एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती है, राज्य स्थापित कर सकती है, शत्रुओं को परास्त कर सकती है, कला और साहित्य की रक्षा कर सकती है, व्यापार और उद्योग की उन्नति कर सकती है तथा अपनी नौ-सेना का निर्माण कर सकती है। उन्होंने आधुनिक हिन्दुओं को अपने पूर्ण विकास का मार्ग बताया। इतिहासकार जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "मैं उन्हें हिन्दू-जाति द्वारा उत्पन्न किया हुआ अन्तिम महान् रचनात्मक व्यक्ति और राष्ट्र-निर्माता मानता हूँ।"[1] वह पुनः लिखते हैं : "शिवाजी ने यह सिद्ध करके दिखा दिया कि हिन्दू धर्म का वृक्ष वास्तव में मरा नहीं है; वह सदियों की राजनीतिक दासता, शासन से पृथकता और कानूनी अत्याचार के होते हुए भी पुनः उठ सकता है, उसमें नवीन पत्ते और शाखाएँ आ सकती हैं और वह एक बार फिर आकाश में सिर उठा सकता है।"[2] इस प्रकार शिवाजी का मराठा-शक्ति के लिए योगदान स्पष्ट है।[3]

1 "I regard him as the last great constructive genius and nation-builder that the Hindu race has produced." —*J. N. Sarkar.*

2 "Shivaji has shown that the tree of Hinduism is not really dead, that it can rise from beneath the seemingly crushing load of centuries of political bondage, exclusion from the administration, and legal repression, it can put forth new leaves and branches, it can again lift up its head to the skies." —*J. N. Sarkar.*

3 शिवाजी, शम्भाजी और मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम के इतिहास के विस्तृत अध्ययन के लिए लेखक की अन्य पुस्तक "मुगलकालीन भारत" देखिए।

3. शम्भाजी (1680-1689 ई.)

शिवाजी का बड़ा पुत्र शम्भाजी था। शिवाजी ने उसका लालन-पालन ठीक प्रकार से किया था परन्तु वह प्रारम्भ से ही अभिमानी, क्रोधी और भोगविलासी हो गया था। शिवाजी ने उसे कैद में डाल रखा था और वह अपने छोटे पुत्र राजाराम को गद्दी पर बैठाना चाहते थे। परन्तु शिवाजी की मृत्यु होते ही शम्भाजी ने अपने को कैद से मुक्त कर लिया तथा राजाराम और उसकी माता को कैद करके स्वयं गद्दी पर बैठ गया। गद्दी पर बैठने के समय से जो क्रूरता और विलासिता उसने आरम्भ की, वह उसकी मृत्यु तक चली। 1681 ई. में औरंगजेब का विद्रोही पुत्र अकबर उससे सहायता माँगने दक्षिण-भारत गया। शम्भाजी ने उसे सुरक्षा तो दी परन्तु विशेष सहायता न दी। औरंगजेब अपने पुत्र का पीछा करता हुआ स्वयं दक्षिण-भारत गया। 1686 ई. में बीजापुर और 1687 ई. में गोलकुण्डा को जीतने के पश्चात् उसने अपना ध्यान शम्भाजी की ओर केन्द्रित किया। अपनी असावधानी के कारण 1689 ई. में शम्भाजी अपने परिवार सहित पकड़ा गया और उसे मृत्युदण्ड दिया गया। इस प्रकार से सम्पूर्ण महाराष्ट्र औरंगजेब के अधीन हो गया।

शम्भाजी योग्य सैनिक तो था परन्तु दुष्चरित्र और क्रूर था। उसमें राजनीतिज्ञता भी न थी। उसने अकबर की सहायता करके मुगल-साम्राज्य को दुर्बल करने का प्रयत्न नहीं किया और न शिवाजी द्वारा संगठित राज्य की शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न किया। वह पूर्णतः असफल रहा। परन्तु उसके अपमान और उसकी मृत्यु ने मराठा-राष्ट्र को जाग्रत कर दिया। अपने राजा की मृत्यु का बदला लेने के लिए मराठे एक सूत्र में बँध गये और राजाराम के नेतृत्व में मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम आरम्भ हुआ जिसने औरंगजेब की शक्ति का नाश कर दिया।

4. मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम (1689-1707 ई.)

राजाराम (1689-1700 ई.) और शिवाजी द्वितीय तथा ताराबाई (1700-1707 ई.)

शम्भाजी की मृत्यु के पश्चात् राजाराम को मराठों का राजा घोषित किया गया। राजाराम की आयु उस समय 20 वर्ष थी। वह चरित्रवान, साहसी और दृढ़-निश्चयी था यद्यपि वह शासक और सैनिक दृष्टि से योग्य न था। उसने अन्त तक यही कहा कि वह शम्भाजी के पुत्र शाहू का, जो औरंगजेब की कैद में था, प्रतिनिधि मात्र है और इसी कारण राजा होते हुए भी वह कभी सिंहासन पर नहीं बैठा। परन्तु उसके नेतृत्व में शिवाजी के समय में तैयार हुए अनेक योग्य राजनीतिज्ञ और सेनापति एकत्रित हो गये। राजाराम को महाराष्ट्र छोड़कर कर्नाटक में जिंजी के किले में शरण लेनी पड़ी और सम्पूर्ण महाराष्ट्र पर औरंगजेब का अधिकार हो गया। वहाँ से राजाराम और उसके स्वामिभक्त सरदारों ने महाराष्ट्र को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न किया और इसी कारण 1689 ई. से 1707 ई. तक जो युद्ध मराठों का मुगलों से हुआ, उसे 'मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम' के नाम से पुकारा गया। उस अवसर पर राजाराम को प्रहलाद नीराजी और रामचन्द्र पन्त जैसे योग्य राजनीतिज्ञ तथा सन्ताजी घोरपदे और धानाजी जादव जैसे साहसी सेनापति प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त भी अनेक नवीन मराठा सरदारों का उत्कर्ष उस समय में हुआ जिनके कारण मराठे अन्त में औरंगज़ेब की शक्ति का विनाश कर सके।

इस युद्ध में राजाराम ने मराठा सरदारों को स्वयं सेना एकत्रित करने, मुगलों से युद्ध करने और जिस भूमि को वे जीत सकें उस भूमि को अपनी जागीर बनाने की स्वतन्त्रता और अधिकार दे दिया। इससे अनेक मराठा सरदारों को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। विभिन्न मराठा सरदार अपनी सेनाओं को लेकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर युद्ध करने लगे। एक युद्ध द्वारा इस

संघर्ष का निर्णय सम्भव भी न था। स्थान-स्थान पर मराठा सरदार मुगल सेना पर आक्रमण करते थे, अवसर पाने पर उन्हें परास्त करते थे और उनकी रसद को लूटते थे तथा अवसर न होने पर भाग जाते थे। औरंगजेब की विशाल सेना ऐसे युद्ध के लिए तत्पर न थी और न ही वह मराठों की इस युद्ध-नीति का मुकाबला कर सकी। जब औरंगजेब ने जिंजी पर अधिकार कर लिया. तो राजाराम विशालगढ़ भाग गया और जब विशालगढ़ पर आक्रमण हुआ तो वह सतारा भाग गया। इस प्रकार, मराठा सरदार कभी कर्नाटक में होते थे तो कभी महाराष्ट्र में और यदि उन्हें पठार से भगा दिया जाता था तो वे मालवा और गुजरात के उपजाऊ प्रदेशों पर आक्रमण करने लगते थे। मराठा सभी जगह थे और कहीं पर न थे, एक ही युद्ध में अपनी शक्ति का निर्णय करने को वे तैयार न थे और सम्मान व असम्मान का प्रश्न उनके सामने न था। महाराष्ट्र से मुगलों को निकालना उनका एकमात्र लक्ष्य था, चाहे उसका तरीका कोई भी हो। जनसाधारण की सहानुभूति उनके साथ थी। दिन का किसान रात का मराठा-सैनिक था। इस कारण औरंगजेब के लिए मराठों को दबाना असम्भव हो गया। इस संघर्ष के बीच में ही 1700 ई. में राजाराम की मृत्यु हो गयी।

राजाराम की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी ताराबाई ने अपने चार वर्षीय पुत्र को शिवाजी द्वितीय के नाम से गद्दी पर बैठाया और संघर्ष जारी रखा। ताराबाई एक योग्य और महत्वाकांक्षी स्त्री थी। उसने भी अपने योग्य सहायकों की सहायता से संघर्ष में सफ़लता पायी। मराठे उस समय तक दूरस्थ प्रान्तों एवं बुरहानपुर, सूरत, भड़ौंच जैसे समृद्ध नगरों पर आक्रमण करने लगे थे। औरंगजेब ने मराठों से सन्धि का प्रस्ताव रखा परन्तु कोई समझौता न हो सका। इस संघर्ष के बीच ही 2 मार्च, 1707 ई. को औरंगजेब की मृत्यु हो गयी। मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम प्रायः बीस वर्ष चला तथा उसी समय समाप्त हुआ जबकि शाहू को मराठों का राजा (छत्रपति) स्वीकार कर लिया गया और मुगलों ने मराठों से सन्धि कर ली।

इस स्वतन्त्रता-संग्राम ने मुगलों की सैनिक-शक्ति को बहुत हानि पहुँचाई। इससे मराठों की सैनिक-शक्ति और महत्वाकांक्षाओं का विस्तार हुआ तथा मराठों को अनेक योग्य राजनीतिज्ञ और साहसी सेनापति प्राप्त हुए। इस प्रकार मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम ने मराठों के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया।

5. शाहू (1707-1749 ई.)

शाहू शम्भाजी का पुत्र था। रायगढ़ के पतन के पश्चात् उसे और उसकी माता येसूबाई को औरंगजेब ने कैद कर लिया था। उस समय उसकी आयु 7 वर्ष थी। $17\frac{1}{2}$ वर्ष तक शाहू मुगलों का बन्दी रहा। यह आशा नहीं की जाती थी कि वह कभी भी मराठों का राजा बन सकेगा। परन्तु औरंगजेब की पुत्री जीनतुन्निसा की कृपा से वह मुसलमान होने या वध किये जाने से बच गया। मुगल-शिविर में उसने मराठी और हिन्दी की शिक्षा तथा साधारण स्तर का सैन्य-प्रशिक्षण प्राप्त किया।

औरंगजेब की मृत्यु होने पर उसके पुत्रों में उत्तराधिकार का युद्ध शुरू हुआ। उस समय शाहू आजमशाह की कैद में था। आजमशाह के सलाहकार जुल्फिकारखाँ ने उसे शाहू को महाराष्ट्र वापस जाने देने की सलाह दी। उसका विचार था कि इससे मराठों में फूट पड़ जायेगी। उस समय तक राजाराम की विधवा पत्नी ताराबाई अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का मराठा राजा के रूप में राज्याभिषेक कर चुकी थी। शाहू के महाराष्ट्र पहुँचने से यह सम्भव था कि कुछेक मराठा सरदार शाहू के पक्ष में भी हो जाते और मराठों में गृह-युद्ध आरम्भ हो जाता।

आजमशाह इस विषय में निश्चय तो न कर सका, परन्तु 18 मई, 1707 ई. को जब शाहू ने मुगल-शिविर छोड़कर महाराष्ट्र की ओर प्रस्थान किया तो उसने उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया।

महाराष्ट्र में शाहू का स्वागत हुआ और कई मराठा सरदार उसकी सहायता के लिए तत्पर हो गये। परन्तु ताराबाई ने शाहू को मराठा-राजा स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उसका कहना था कि शाहू के पिता शम्भाजी ने मराठा-राज्य को खो दिया था और मराठा-राज्य का पुनर्निर्माण उसके पति राजाराम ने किया है। अतः मराठा-राज्य पर अधिकार उसके पति राजाराम के पुत्र शिवाजी द्वितीय का है, न कि शाहू का। परिणामस्वरूप मराठा सरदार आपस में विभाजित हो गये और जुल्फिकारखाँ की योजना सफल हुई। ताराबाई ने धानाजी जादव के नेतृत्व में एक सेना शाहू को महाराष्ट्र से निकालने के लिए भेजी। शाहू ने कूटनीति से धानाजी जादव को अपने पक्ष में कर लिया जिससे ताराबाई का पक्ष दुर्बल हो गया। नवम्बर 1707 ई. में भीमा नदी के तट पर खेद नामक स्थान पर एक युद्ध हुआ जिसमें ताराबाई की पराजय हुई। इस विजय से शाहू का सितारा चमक गया। उसे धानाजी जादव जैसा योग्य सेनापति प्राप्त हुआ तथा अन्य अनेक मराठा सरदार भी उसके साथ हो गये। 12 जनवरी, 1708 ई. को सतारा में उसने अपना राज्याभिषेक किया। ताराबाई की शक्ति क्षीण होती गयी। 1714 ई. में राजाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने षड्यन्त्र करके ताराबाई और उसके पुत्र को कैद कर लिया तथा अपने पुत्र शम्भाजी द्वितीय के साथ कोल्हापुर में बस गयी। इस प्रकार यद्यपि शम्भाजी द्वितीय भी मराठों का राजा होने का दावा करता रहा और कोल्हापुर में मराठा-राजा की भाँति रहा परन्तु महाराष्ट्र में शाहू मराठों का राजा रहा। शाहू के शासन-काल में मराठा-शक्ति का विस्तार हुआ और मराठे दक्षिण-भारत में ही नहीं बल्कि उत्तर-भारत में भी प्रवेश कर गये और शीघ्र ही भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन गये। दिसम्बर 1749 ई. में शाहू की मृत्यु हुई।

6. पेशवाओं का उत्थान और प्रथम तीन पेशवा

शाहू अन्तिम मराठा-राजा था जिसने राजा के अधिकारों का उपभोग किया। उसके बाद मराठा राजा केवल नाममात्र के राजा रहे। राज्य की सम्पूर्ण शक्ति पेशवाओं के हाथों में केन्द्रित हो गयी। जनवरी 1750 ई. में राजाराम द्वितीय मराठा-राजा बना जिसे ताराबाई ने अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का पुत्र बताया था। राजाराम पर ताराबाई का कठोर नियन्त्रण था। किन्तु जब राजाराम ने उसके प्रभाव से मुक्त होने का प्रयत्न किया तब ताराबाई ने कहा कि वह शिवाजी द्वितीय का पुत्र ही नहीं है। इस कारण पेशवा बालाजी बाजीराव ने संगोला के समझौते द्वारा राजाराम से राज्य के सभी अधिकार छीन लिये। उस समय से मराठा-राज्य की सम्पूर्ण शक्ति पेशवा के हाथों में चली गयी और शिवाजी के वंशज नाममात्र के राजा तथा व्यावहारिक दृष्टि से सतारा के किले में पेशवा के बन्दी होकर रह गये।

सरदेसाई के अनुसार शाहू मराठों का सबसे महत्वपूर्ण शासक था। वह समय के अनुकूल राजा था। उस समय एक उदार विचार वाले, मन्त्रियों में विश्वास करने वाले, मुगलों के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने वाले और दो मराठा परिवारों में एकता लाने वाले राजा की आवश्यकता थी। सरदेसाई के अनुसार शाहू ऐसा ही राजा था। शाहू एक उदार, धार्मिक प्रवृत्तिमान, सहनशील और अपने नागरिकों की भलाई चाहने वाला राजा था। वह कृपालु था, उसमें अच्छे व्यक्तियों को तलाश करने और उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार कार्य देने की क्षमता थी। इसी कारण उसने बालाजी विश्वनाथ को पेशवा नियुक्त किया, उसके पश्चात् उसके 20 वर्षीय पुत्र बाजीराव को पेशवा बनाया और तदुपरान्त उसके अल्पायु पुत्र बालाजी

बाजीराव को। शाहू को स्वयं सत्ता का शौक न था। अतएव वह शासन और शक्ति दोनों का प्रयोग पेशवाओं के हाथों में छोड़कर सन्तुष्ट था। परन्तु शाहू में व्यावहारिक बुद्धि थी। इसी कारण वह पेशवाओं को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान करने के बाद भी राजा के अधिकारों का उपभोग कर सका। उसे विश्वास प्रदान करना और विश्वास प्राप्त करना दोनों आते थे। इस कारण पेशवा निरन्तर उसका सम्मान करते रहे और उसकी आज्ञाओं का पालन करते रहे। पेशवाओं को कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करके वह अप्रत्यक्ष रूप से मराठा-शक्ति के विस्तार का साधन बना। वह जानता था कि जो योग्यता उसमें न थी, वह उसके पेशवाओं में थी। अतएव उसने निरन्तर उनका समर्थन किया और राज्य की शक्ति को उसके हाथों में देने में कोई संकोच नहीं किया। मुगलों के प्रति शाहू सर्वदा उदार रहा। वह दिल्ली और सतारा के बीच कोई संघर्ष नहीं चाहता था। धार्मिक दृष्टि से वह बहुत उदार था और सभी धर्मों का सम्मान करता था। अपनी प्रजा के हित का भी शाहू ध्यान रखता था। उसने कृषि की उन्नति का प्रयास किया और अनेक करों को हटा दिया। इस प्रकार शासक की दृष्टि से शाहू में अनेक गुण थे। इसी कारण वह जीवनपर्यन्त सफल रहा।

परन्तु शाहू स्वयं न तो कुशल शासन-प्रबन्धक था और न योग्य सेनापति। उसने स्वयं न तो कभी शासन-प्रबन्ध में रुचि दिखायी और न किसी युद्ध में भाग लिया। ये कार्य उसने पेशवाओं को सौंप दिये थे। इस प्रकार शाहू अप्रत्यक्ष रूप से पेशवाओं के उत्थान और मराठा-राजा की शक्ति के पतन के लिए भी उत्तरदायी हुआ। पेशवाओं की भक्ति मराठा-राजा के प्रति न होकर शाहू राजा के लिए थी। इस कारण जब तक शाहू जीवित रहा तब तक वे उसका सम्मान करते रहे और उसकी आज्ञा का पालन भी। परन्तु शाहू की मृत्यु के पश्चात् पेशवा अपनी शक्ति को नाममात्र के मराठा-राजा को देने को तैयार न हुए। निस्सन्देह, पेशवाओं ने अपनी शक्ति शाहू की कृपा से प्राप्त की थी किन्तु अपनी योग्यता से उन्होंने उसे सुरक्षित रखा था और उसका विस्तार किया था। अपने श्रम से प्राप्त की हुई शक्ति को पेशवा अयोग्य मराठा-राजा को देने को तैयार न हुए। परन्तु पेशवा के उत्थान ने अन्य मराठा सरदारों को भी शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। वस्तुतः पेशवा भी एक सरदार ही तो था और जब वह इतनी अधिक शक्ति पा सकता था तो अन्य सरदार भी पा सकते थे। इस भावना से पेशवा की शक्ति के दुर्बल होते ही मराठा सरदार आपस में विभक्त हो गये जो मराठों के पतन का मुख्य कारण बना। इस प्रकार अपनी कुछेक अयोग्यताओं के कारण शाहू ने मराठा-राजा के सम्मान को खो दिया जो मराठों के पतन का मुख्य कारण बना। इस प्रकार शाहू का व्यक्तित्व एक तरफ मराठा-शक्ति के विस्तार और दूसरी तरफ मराठों के पतन का कारण बना।

पेशवाओं के उत्थान के कारण

शाहू के समय में महाराष्ट्र की राजनीतिक समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर थीं। अच्छा आन्तरिक शासन, नागरिकों को शान्तिपूर्ण जीवन प्रदान करना, गृह-युद्ध को समाप्त करना और एक सुसंगठित, स्थायी और शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना ऐसे कार्य थे जो शाहू या ताराबाई के द्वारा सम्भव नहीं हो सकते थे। इनमें से शाहू एक आरामपसन्द, शान्तिप्रिय एवं सद्भावनाओं से युक्त व्यक्ति था और ताराबाई कठोर, स्वार्थी व संकुचित दृष्टिकोण की स्त्री थी। शिवाजी द्वारा स्थापित मन्त्रिपरिषद् अर्थात् अष्ट-प्रधान भी एक दुर्बल संस्था थी और औरंगजेब के आक्रमण के कारण प्रायः नष्ट हो चुकी थी। उसमें नीति को निर्धारित करने अथवा उसे कार्य-रूप में परिणत करने की क्षमता न थी। ऐसी स्थिति में जबकि शाहू दुर्बल था, मराठा सरदारों की महत्वाकांक्षाएँ एवं स्वार्थ एक-दूसरे के टकरा रहे थे और मराठों की

शक्ति बिखरी हुई थी, 'चितपावन' ब्राह्मण-परिवार के सदस्यों को आगे बढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। वे शाहू के नवीन पेशवा बने और उन्होंने समय के अनुकूल योग्यता प्रदर्शित करके मराठा-राज्य को उस समय की राजनीतिक दुर्व्यवस्था से बाहर निकाला। कोंकण प्रदेश के सौन्दर्य और वहाँ के जीवन से प्रभावित शाहू के प्रथम तीन पेशवा योग्य शासक-प्रबन्धक, साहसी सेनापति, महत्वाकांक्षी व्यक्ति और परिस्थितियों को समझने वाले तथा मराठा-शक्ति को संगठित करने वाले राजनीतिज्ञ सिद्ध हुए। शाहू के अन्य सभी सरदारों से वे योग्य सिद्ध हुए और इसी कारण वे मराठा-राज्य में सर्वशक्तिमान बन गये। उस समय जबकि महाराष्ट्र में स्वार्थ, धनलोलुपता और संकीर्ण वफादारी ने अपनी जड़ें जमा ली थीं, इन पेशवाओं ने महाराष्ट्र के सम्मुख एक महान्, उच्च एवं सेवा व परिश्रम का उद्देश्य रखा और वह था 'हिन्दू पद-पादशाही' का लक्ष्य। राजवाडे (Rajwade) ने जब पेशवाओं के उद्देश्य को ब्राह्मण-प्रभुसत्ता को स्थापित करना बताया तो यह उसकी एक बड़ी भूल थी। पेशवाओं का उद्देश्य उससे कहीं विशाल और महान् था। उस समय महाराष्ट्र 25 वर्षों के युद्धों से परेशान हो चुका था, उसका नागरिक जीवन समाप्तप्राय था, उसकी आर्थिक स्थिति संकटमय थी और नागरिक राजनीतिक अस्थिरता से क्षुब्ध थे। उस समय उसकी एकाकी माँग शान्ति और व्यवस्था थी। शाहू और उसकी अष्ट-प्रधान सभा इस कार्य की पूर्ति न कर सके। इस कारण पेशवाओं का उत्कर्ष हुआ और इसी कारण वे महान् बने। पेशवाओं ने महाराष्ट्र को न केवल राजनीतिक स्थायित्व और शान्ति प्रदान की बल्कि उनकी दृष्टि उत्तर-भारत के सम्पन्न और उपजाऊ प्रदेश की ओर भी आकृष्ट हुई। उन्होंने महाराष्ट्र को संकीर्ण झगड़ों से हटाकर उत्तर-भारत की महान् विजय की ओर लगाया और इस प्रकार मराठा-शक्ति भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन सकी। यह पेशवाओं की मराठा-राज्य और महाराष्ट्र को एक महान् देन थी। अपनी योग्यता से पेशवाओं ने वह किया जिससे मराठा-शक्ति का सदुपयोग हो सका। अपनी ही योग्यता से पेशवा पहले अष्ट-प्रधान की शक्ति से ऊपर उठ सके और बाद में मराठा-राजा से भी ऊपर हो गये। पेशवा बालाजी विश्वनाथ, पेशवा बाजीराव और पेशवा बालाजी बाजीराव (द्वितीय) निस्सन्देह महान् थे। मराठा-शक्ति का विस्तार उन्हीं के कारण हुआ।

(i) पेशवा बालाजी विश्वनाथ (1713-1720 ई.)

जीवन और कार्य

बालाजी विश्वनाथ का जन्म कोंकण प्रदेश के श्रीवर्धन गाँव में 'चितपावन' ब्राह्मणों के भट्ट-परिवार में 1660 ई. के लगभग हुआ। उसके पिता और पूर्वज जंजीरा के सीदियों के अधीन अपने गाँव के देशमुख (प्रधान) थे। उसके पिता ने सीदियों के अत्याचारों के कारण शिवाजी के यहाँ नौकरी कर ली थी। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् बालाजी अपने गाँव वापस गया परन्तु उसे वहाँ से भागना पड़ा। 1692 ई. में वह दन्दराजपुरी गाँव का देशमुख बना और इस पद पर रहकर उसने लगान-व्यवस्था और सेना के संगठन को समझा। बाद में वह मराठा सेनापति धानाजी जादव की सेवा में चला गया और 1699 ई. से 1708 ई. के बीच वह पूना और दौलताबाद का सर-सूबेदार रहा। वहाँ उसे शाहू के सम्पर्क में आने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ जबकि शाहू औरंगजेब की कैद में था। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् धानाजी जादव की ओर से उसने गुजरात पर आक्रमण किया और अहमदाबाद के नागरिकों से 2,10,000 रुपये वसूल किये। इससे यह स्पष्ट होता है कि उसमें एक सैनिक और सेनापति की योग्यताएँ थीं।

जिस समय शाहू ने महाराष्ट्र में प्रवेश किया, बालाजी दौलताबाद का सर-सूबेदार था। उसने धानाजी जादव को शाहू का साथ देने की सलाह दी और अपने स्वामी के साथ 1707 ई.

में वह शाहू की सेवा में चला गया। धानाजी जादव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रसेन शाहू का सेनापति बना। परन्तु शाहू उस पर पूर्ण भरोसा नहीं करता था और इस बात के प्रमाण हैं कि शाहू का सन्देह ठीक था क्योंकि शाहू का सेनापति होते हुए भी चन्द्रसेन ताराबाई से पत्र-व्यवहार में लिप्त था। इस कारण शाहू ने बालाजी को 1708 ई. में 'सेनाकार्टे' का पद-भार सौंपा ताकि सेना के संगठन की देखभाल करने के साथ-साथ वह चन्द्रसेन पर भी निगाह रख सके।

शाहू की स्थिति को दृढ़ बनाना

जिस समय से बालाजी ने शाहू की सेवा स्वीकार की, तभी से वह हृदय, बुद्धि और कर्म से शाहू का सच्चा सेवक रहा। सेनापति चन्द्रसेन 1711 ई. में शाहू के विरुद्ध ताराबाई से जा मिला और उसी वर्ष उसके कहने से सर-ए-लश्कर हैबतराय निम्बालकर भी शाहू का साथ छोड़ गया। उसी समय शाहू को अपने मन्त्री परसराम पन्त पर भी सन्देह हुआ और उसने उसे कैद कर लिया। इस प्रकार जबकि शाहू के सभी उच्च अधिकारी ताराबाई से मिले हुए प्रतीत होते थे, केवल बालाजी शाहू का पूर्ण विश्वासपात्र था। इस कठिनाई के अवसर पर बालाजी ने अपने कौशल एवं चातुर्य से शाहू की स्थिति को दृढ़ किया। उसने ताराबाई के विरुद्ध हो रहे षड्यन्त्र में भाग लिया। उस समय राज़ाराम की दूसरी पत्नी राजसबाई ने ताराबाई के मुख्य सलाहकार और अमात्य रामचन्द्र पन्त से मिलकर ताराबाई को हटाने का प्रयत्न किया। बालाजी ने इसमें उनकी सहायता की। इस षड्यन्त्र से कोल्हापुर में ताराबाई की शक्ति समाप्त हो गयी। उसे और उसके पुत्र को बन्दी बना लिया गया और राजसबाई ने अपने पुत्र के पक्ष में गद्दी प्राप्त कर ली, यद्यपि उसका राज्याभिषेक उसने दो वर्ष बाद किया। इस प्रकार शाहू की मुख्य शत्रु ताराबाई का पतन हुआ। सेनापति चन्द्रसेन हैदराबाद के निजाम के यहाँ चला गया।

कुछ ही वर्षों में बालाजी ने शाहू की स्थिति को दृढ़ कर दिया। 1713 ई. में बालाजी को पेशवा का पद दिया गया। इस पद पर रहकर बालाजी ने शाहू की महत्वपूर्ण सेवाएँ कीं। सबसे पहली समस्या कान्होजी आँग्रिया की थी। कान्होजी एक प्रकार से मराठा नौ-सेना का सेनापति था और पश्चिमी घाट की सुरक्षा उसके हाथों में थी। वह नाममात्र के लिए ताराबाई के संरक्षण में था। वस्तुतः वह पूर्ण स्वतन्त्र था। वह अपने समय का महान् सफल नौ-सेनापति था और उससे यूरोपीय जातियाँ भी डरती थीं। 'मराठी रियासत' में उल्लेख है : "सभी राष्ट्रों और जातियों के नाविक—मुसलमान, डच, पुर्तगाली, फ्रान्सीसी और अंग्रेज—इस समुद्री डकैत सरदार के सुर्ख लाल रंग के झण्डों का सम्मान करते थे।"[1] इसमें सन्देह नहीं कि कान्होजी के विरुद्ध पुर्तगाली, अंग्रेज और सीदियों के लगातार किये गये प्रयत्न असफल हुए थे। ऐसे व्यक्ति को शाहू की सेवा में लाना सरल कार्य न था। परन्तु बालाजी ने कूटनीति से काम लिया और कान्होजी से भेंट करके 1714 ई. में उससे एक सन्धि कर ली जिससे यद्यपि कान्होजी के अधिकारों को स्वीकार कर लिया गया परन्तु कान्होजी ने शाहू को अपना राजा स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त कृष्णराव खटाउकर, धामाजी थोरट तथा उदाजी चौहान जैसे शक्तिशाली एवं स्वतन्त्र मराठा सरदारों को परास्त करके शाहू की स्थिति को दृढ़ करने का श्रेय भी बालाजी को है। शक्ति के साथ कूटनीति का प्रयोग बालाजी की इन विभिन्न सफलताओं का कारण था।

---

1 "The seafarers of all nations and all races—Mohammedans, the Dutch, the Portuguese, the French and the English, honoured the blood-red banners of this pirate chief."—Dr. Sinha, 'Rise of the Peshwas', *Marathi Riyasat*, Vol. I.

मुगलों से सन्धि

परन्तु बालाजी की मुख्य सफलता 1719 ई. में मुगलों से की गयी सन्धि थी। शाहू सर्वदा मुगल शासकों का भक्त रहा और जो भी मुगल शासक रहा, उसके प्रति उसने सम्मान प्रदर्शित किया। परन्तु उस समय मुगल-दरबार की स्थिति बहुत खराब थी और वह षड्यन्त्रों का केन्द्र बना हुआ था। तत्कालीन मुगल बादशाह फर्रुखशियर सैयद-भाइयों की सहायता से बादशाह बना था। परन्तु बादशाह बन जाने पर उसने सैयद-भाइयों को समाप्त करने का षड्यन्त्र रचा। उस अवसर पर सैयद हुसैनअली दक्षिण में था। उसके भाई सैयद अब्दुल्लाखाँ ने उसे शीघ्र दिल्ली बुलाया। उस अवसर पर फर्रुखशियर के विरुद्ध अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए हुसैनअली ने मराठों से सहायता माँगी और उसके बदले में एक सन्धि की जो बाद में मुगल बादशाह के द्वारा स्वीकार कर ली गयी। इस सन्धि के द्वारा निश्चित किया गया कि—

1. मुगल बादशाह शाहू को वह सभी प्रदेश और किले दे देगा जो शिवाजी के 'स्वराज्य' की सीमाओं के अन्तर्गत थे।
2. शाहू खानदेश, बरार, गोंडवाना, हैदराबाद और कर्नाटक के उन प्रदेशों को भी प्राप्त करेगा जो मराठों ने निकट-समय में ही जीते थे।
3. शाहू को दक्षिण के छह सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार होगा।
4. शाहू दक्षिण-भारत के इन सूबों में शान्ति स्थापित रखेगा।
5. शाहू कोल्हापुर के शम्भाजी को तंग नहीं करेगा।
6. शाहू मुगल बादशाह को दस लाख रुपये प्रति वर्ष देगा।
7. मुगल बादशाह शाहू की माता, पत्नी, भाई आदि को जो अभी तक मुगलों की कैद में थे, छोड़ देगा।
8. शाहू अवसर पड़ने पर मुगलों को 15,000 घुड़सवार-सैनिक देगा।

यह सन्धि अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। इससे शाहू को दक्षिण-भारत में चौथ और सरदेशमुखी एकत्र करने का अधिकार ही नहीं मिला अपितु दक्षिण के छह सूबों में शान्ति स्थापित करने का अधिकार मिल जाने से अप्रत्यक्षतः दक्षिण की सम्प्रभुता भी उसे प्राप्त हो गयी। बालाजी और खाण्डेराव धाभादे के नेतृत्व में मराठा सैनिक पहली बार दिल्ली गये और उनकी मदद से सैयद-भाइयों ने बादशाह फर्रुखशियर को सिंहासन से हटा दिया।

मराठों की यह दिल्ली यात्रा बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इससे उन्हें मुगल-साम्राज्य का खोखलापन स्पष्ट हो गया जिससे उनमें उत्तर-विजय की भावना जाग्रत हुई। बालाजी के पुत्र बाजीराव ने प्रारम्भ से ही अपना उद्देश्य उत्तर-भारत की विजय रखा।

आर्थिक व्यवस्था

बालाजी ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को ठीक करने का भी प्रयत्न किया यद्यपि वह उसमें सफल नहीं हो सका। मराठों की आर्थिक व्यवस्था के अनुसार मराठे मुगल सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे या कुछ अन्य कर लेते थे। इनमें से सरदेशमुखी पर राजा का अधिकार था और चौथ तथा वतनों (Watans) की आय में से राजा को केवल 25% प्राप्त होता था। शेष 75% में से 10% राजा और ले लेता था लेकिन यह उसे अपने प्रिय सरदारों को देना पड़ता था। इस प्रकार सरदेशमुखी को छोड़कर राज्य की कुल आय का 65% भाग मराठा

सरदारों के पास रहता था जिनका शासन के प्रति कोई उत्तरदायित्व न था। राजा की जो आय थी उससे सेना रखना और शासन करना असम्भव था। इस कारण राजा सर्वदा सरदारों की दया पर निर्भर करता था। इस स्थिति में बालाजी कोई परिवर्तन न कर सका। मूलतः व्यवस्था वही रही; यद्यपि विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति करके उसने राजा की आय को ठीक प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य किया। परन्तु इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त बालाजी ने एक भूल और की। राजा की कम आय की पूर्ति करने के लिए उसने राजा के विभिन्न व्यक्तिगत खर्चों का उत्तरदायित्व विभिन्न सरदारों पर डाल दिया। इससे राजा को थोड़ी आर्थिक सुविधा तो हुई परन्तु इससे राजा आर्थिक दृष्टि से अपने सरदारों पर और अधिक आश्रित हो गया। इस प्रकार मराठा-राजा की आर्थिक दुर्बलता को दूर करने के स्थान पर बालाजी ने उसमें वृद्धि की।

2 अप्रैल, 1720 ई. को बालाजी विश्वनाथ की मृत्यु हुई।

मूल्यांकन

बालाजी विश्वनाथ अपने जीवन का स्वनिर्माता था। वह एक साधारण व्यक्ति से पेशवा के पद तक पहुँचा था और उसने पेशवा के पद और सम्मान में इतनी अधिक वृद्धि कर दी थी कि अन्त में पेशवा मराठा-राजा से भी अधिक शक्तिशाली हो गये थे। इस कारण बालाजी का स्थान पेशवाओं में पर्याप्त महत्वपूर्ण है। बालाजी अपने समय का योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसे अपने समय की परिस्थितियों और मराठों के गुणों व अवगुणों का बहुत अच्छा ज्ञान था और यही उसकी सफलता के मुख्य कारण बने। शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ करने का श्रेय उसी को था। उसी ने धानाजी जादव को शाहू के साथ मिलाया, चन्द्रसेन सेनापति को परास्त किया, ताराबाई की स्थिति को दुर्बल किया, बाद में कोल्हापुर के मराठा-राजा शम्भाजी की स्थिति को दुर्बल बनाया तथा विभिन्न मराठा सरदारों और मुख्यतया कान्होजी आँग्रिया को कौशल, कूटनीति अथवा बल से शाहू के साथ मिलाया। इस प्रकार शाहू की शक्ति को महाराष्ट्र में स्थापित करना, मराठों को गृह-युद्ध से बचाना और मराठा-शक्ति को एक राजा के अन्तर्गत संगठित करना बालाजी का ही बूता था।

1719 ई. में मुगलों के साथ की गयी सन्धि बालाजी की कूटनीति की एक महान् सफलता थी। इससे महाराष्ट्र पर शाहू का कानूनी अधिकार हो गया और उसे दक्षिण के छह सूबों से चौथ और सरदेशमुखी एकत्र करने का अधिकार मिला जिससे मराठा दक्षिण-भारत के सम्प्रभु बनने का दावा कर सके। इसी के पश्चात् मराठों को मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता का पता लगा जिससे उनके साहस में वृद्धि हुई और वे दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप कर सके तथा मुगल-साम्राज्य की दुर्बलताओं का लाभ उठा सके।

बालाजी ने मराठा-संघ के निर्माण को आगे बढ़ाया जिससे मराठों की शक्ति का विस्तार हुआ यद्यपि अन्त में यह उनकी बहुत बड़ी दुर्बलता भी सिद्ध हुई। शिवाजी के साम्राज्य के नष्ट हो जाने के पश्चात् मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम के अवसर पर जब विभिन्न सरदारों को जागीरें दे दी गयीं जिनको वह स्वयं अपनी शक्ति से जीत सके थे, उस समय मराठा-संघ (Maratha Confederacy) की नींव पड़ी। बालाजी के समय में जब मराठों ने दक्षिण के छह सूबों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया तब इनकी वसूली के लिए बालाजी को भी जागीर-प्रथा का सहारा लेना पड़ा और इस प्रकार विभिन्न जागीरों को प्राप्त करके बड़े-बड़े स्वतन्त्र सरदारों के प्रभुत्व की स्थापना होती गयी और धीरे-धीरे मराठा-राज्य एक राज्य न रहा बल्कि मराठा-संघ-राज्य बन गया।

एक प्रकार से बालाजी ने मराठा-साम्राज्य के विचार को भी जन्म दिया। यह तो स्वीकार नहीं किया जा सकता कि बालाजी का विचार दुर्बल मुगल-साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों को शक्ति और युद्ध के आधार पर जीतने का हो क्योंकि इसके लिए उसके पास न पर्याप्त शक्ति थी और न समय। उसका सम्पूर्ण समय शाहू की स्थिति को दृढ़ करने में व्यतीत हुआ और पेशवा बनने के पश्चात् वह जीवित भी बहुत कम समय रहा। परन्तु तब भी उसकी मुगलों से की गयी सन्धि में मराठा-साम्राज्यवाद के विचार निहित थे। शिवाजी ने चौथ और सरदेशमुखी की परम्परा को अपने अधिकार-क्षेत्र को विस्तृत करने के लिए आरम्भ किया था। इसी उद्देश्य से बालाजी ने भी इस अधिकार को मुगलों से प्राप्त किया जिससे मराठा-साम्राज्य विकसित हुआ। निस्सन्देह, दिल्ली-यात्रा के पश्चात् मराठा सरदारों के विचार साम्राज्य-विस्तार के बने थे। इस कार्य का आरम्भ बालाजी के पुत्र बाजीराव ने किया परन्तु यह विचार बालाजी के समय में ही उत्पन्न हो गया था और इसका श्रेय बालाजी को था।

इस प्रकार देखा जाय तो शाहू की शक्ति को दृढ़ करने में, मराठा-संघ के निर्माण में और मुगलों के साथ सन्धि करने में बालाजी ने मराठा-शक्ति के विस्तार की जड़ों को स्थापित किया था। सम्भवतः उसे स्वयं भी यह ज्ञान नहीं था कि वह अपनी नीति से मराठा-शक्ति को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने का कार्य आरम्भ कर रहा था। परन्तु यह स्पष्ट है कि बालाजी के कार्यों और सफलता के कारण भारत में मराठा-शक्ति के विस्तार की नींव रखी गयी। इतने कम समय में वह जो कुछ कर सका वह, निस्सन्देह, सराहनीय है जिसके कारण प्रथम तीन महान् पेशवाओं में एक महान् पेशवा बालाजी विश्वनाथ भी था।

(ii) पेशवा बाजीराव प्रथम (1720-1740 ई.)

अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् 20 वर्ष से भी कुछ कम आयु में बाजीराव को पेशवा का पद-भार सौंपा गया, यद्यपि शाहू के दरबार में अनेक ऐसे व्यक्ति थे, मुख्यतः प्रतिनिधि श्रीपतिराव के दल के सदस्य जो बाजीराव को पेशवा बनाने के पक्ष में नहीं थे। परन्तु शाहू में एक व्यक्ति के चरित्र और योग्यता को समझने की क्षमता थी। इस कारण इस अल्पायु युवक को ही 1720 ई. में पेशवा का पद प्रदान किया गया। बाजीराव की शिक्षा बहुत कम हुई थी और शासन् तथा अर्थव्यवस्था में भी उसकी रुचि न थी। परन्तु वह एक महान् सैनिक और सेनापति था। अपने पिता के साथ रहकर उसने राजनीति और कूटनीति के दाँवपेचों को भी समझा था। यही योग्यताएँ उसकी सफलता का कारण बनीं।

जिस समय बाजीराव ने पेशवा का पद ग्रहण किया उस अवसर पर मराठों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं मानी जा सकती थी। निस्सन्देह, बालाजी विश्वनाथ ने शाहू की स्थिति को महाराष्ट्र में दृढ़ कर दिया था और तत्कालीन समस्याओं को हल करने में सफलता प्राप्त की थी परन्तु उसके द्वारा लिये गये निर्णय स्थायी नहीं हुए थे। उस समय तक भी शम्भाजी द्वितीय कोल्हापुर में मराठा-राजा था और उसने समय-समय पर शाहू के विरोध में अपने अधिकारों का दावा किया था। पेशवा की सत्ता और शक्ति का विरोध करने का साहस भी शाहू के 'प्रतिनिधि' और 'सेनापति' में था अर्थात् शाहू के सरदारों में भी उस समय तक पेशवा की स्थिति सर्वश्रेष्ठ नहीं बन सकी थी, कोंकण में मराठा-सत्ता का विरोध उस समय भी सीदी और पुर्तगाली कर रहे थे, आँग्रिया-सरदार शाहू के साथ एक अधीनस्थ सरदार का नहीं बल्कि मित्रता का दावा करते थे तथा मराठा-शक्ति उस समय तक भी दक्षिण तक ही सीमित थी। इन समस्याओं के अतिरिक्त दक्षिण-भारत में निजाम-उल-मुल्क आसफजा ने हैदराबाद के स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करके मराठों के लिए एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी।

दक्षिण-भारत की सत्ता के लिए निजाम, जो अपने समय का एक योग्य और अनुभवी सेनापति ही नहीं बल्कि सर्वश्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ भी था तथा जिसने औरंगजेब के समय में कूटनीति का अनुभव प्राप्त किया था और एक सौ (100) से अधिक युद्धों में भाग लिया था, मराठों का एक प्रबल विरोधी सिद्ध हुआ। इस प्रकार नवयुवक पेशवा की कठिनाइयाँ कम न थीं। परन्तु बाजीराव ने इन सभी समस्याओं का हल निकाला। उसने पेशवा की श्रेष्ठता को स्थापित किया, शम्भाजी द्वितीय को परास्त करके शाहू से उसकी प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त किया, निजाम को निरन्तर परास्त किया, कोंकण में शाहू की शक्ति को स्थापित किया और मराठा-शक्ति को पहली बार उत्तर-भारत के विस्तृत और उपजाऊ भू-प्रदेश में फैला दिया। गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड आदि पर मराठों की सत्ता स्थापित हुई और मराठों के आक्रमण दिल्ली तक होने लगे। अपने बीस वर्ष के कार्यकाल में पेशवा बाजीराव ने मराठों को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। यही उसकी महानता थी।

मुगल-साम्राज्य की जर्जर स्थिति पेशवा के लक्ष्यों के उपयुक्त थी। मुगल बादशाह विलासी और अकर्मण्य होकर अपने विभिन्न सरदारों के हाथों में कठपुतली बने हुए थे, दरबार में हिन्दुस्तानी और तूरानी मुसलमानों के दल बन चुके थे, मुगल-दरबार षड्यन्त्रों का केन्द्र-स्थल बना हुआ था, विभिन्न सरदार अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे तथा मुगलों की सैन्य-शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। पेशवा ने मुगल-साम्राज्य की दुर्बलता से लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त राजपूत शासकों जैसे गुजरात के शासक अजीतसिंह, जोधपुर के शासक जयसिंह और बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल आदि की सहानुभूति से भी पेशवा को सहायता मिली।

इन परिस्थितियों में बाजीराव ने अपना ध्येय स्पष्ट कर दिया। उसका प्रथम उद्देश्य था एक ऐसी स्थिति का निर्माण करना जिसमें विभिन्न मराठा सरदार एक-दूसरे पर निर्भर करें और उस निर्भरता के वशीभूत एक-दूसरे के साथ सहयोग करें। इस कारण वह मराठा सरदारों को विभिन्न जागीरों का एकाधिपत्य देने को तैयार नहीं था, बल्कि जागीरों पर विभिन्न सरदारों के मिले-जुले अधिकार को रखना चाहता था। उसका विचार था कि यदि एक जागीर पर दो सरदारों का भी अधिकार होगा तो उन दोनों में से कोई भी एक उस जागीर का स्वतन्त्र मालिक नहीं बन सकेगा और इस प्रकार मराठा सरदारों की अलगाव की भावना पर अंकुश लगा रहेगा। इस प्रश्न पर उसका सेनापति से झगड़ा हुआ। बाजीराव का दूसरा मुख्य उद्देश्य गिरते हुए मुगल-साम्राज्य के खण्डों पर भारत में मराठा-राज्य की स्थापना करना था। उसने कहा था, "हमें इस जर्जर वृक्ष के तने पर आक्रमण करना चाहिए, शाखाएँ तो स्वयं ही गिर जायेंगी।"[1] उसकी इस नीति का विरोध प्रतिनिधि श्रीपतराव ने किया जो इस पक्ष में था कि मराठों को अपनी शक्ति दक्षिण-भारत में ही सीमित रखनी चाहिए। बाजीराव के निरन्तर प्रयत्नों और उससे भी अधिक उसकी सफलताओं के कारण ही छत्रपति शाहू और प्रतिनिधि श्रीपतराव उसकी नीति की उपयुक्तता में विश्वास कर सके।

निजाम

निजाम से बाजीराव का प्रथम सम्पर्क 1720 ई. में हुआ। सैयद-भाइयों की नीति से असन्तुष्ट होकर निजाम स्वेच्छा से दक्षिण-भारत गया और उसने वहाँ के सूबेदार तथा सैयद हुसैनअली के लड़के आलिमअली को परास्त करके दक्षिण के छह सूबों पर अपना अधिकार

---

1 "Let us strike at the trunk of withering tree, the branches will fall by themselves."
—Dr. H. N. Sinha, *Rise of the Peshwas.*

कर लिया। उसी वर्ष सैयद-भाइयों का पतन हो गया और निजाम ने 1719 ई. में मुगलों और मराठों के बीच हुई सन्धि के अनुसार मराठों को दक्षिण के सूबों की चौथ और सरदेशमुखी देने की शर्त को मानने से इन्कार कर दिया। परन्तु जब मराठों ने निजाम द्वारा भेजी गयी एक सेना को परास्त कर दिया तो 1721 ई. में निजाम ने बाजीराव से भेंट की और बीदर की चौथ तथा छह सूबों की सरदेशमुखी देने का वायदा कर दिया। यह बाजीराव की प्रथम सफलता थी। उसी वर्ष निजाम को वजीर का पद दिया गया और वह दिल्ली चला गया।

दिल्ली में निजाम सफल न हो सका। अपने सूबों को मराठों से बचाने हेतु दो वर्ष पश्चात् वह दक्षिण-भारत की ओर रवाना हुआ। परन्तु उसके दक्षिण-भारत पहुँचने से पहले ही मुबारिजखाँ को, जो उसकी अनुपस्थिति में दक्षिण के सूबों की देखभाल कर रहा था, दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया गया। उस अवसर पर निजाम ने शाहू से सहायता माँगी और 1719 ई. में मराठों और मुगलों के बीच हुई सन्धि को उसने स्वीकार कर लिया। शाहू ने सन्तुष्ट होकर बाजीराव को निजाम की सहायता करने के आदेश दिये। 1724 ई. में मराठों की सहायता से निजाम ने सकरखेदा के युद्ध में मुबारिजखाँ को परास्त किया और दक्षिण के सूबों पर अधिकार कर लिया। परन्तु मुगल बादशाह ने निजाम से वजीर का पद और मालवा व गुजरात की सूबेदारी छीन ली। इस कारण निजाम दक्षिण-भारत में सीमित हो गया और उसने वहाँ अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। ऐसी स्थिति में मराठों से उसका संघर्ष स्वाभाविक हो गया।

निजाम की इच्छा न तो कभी 1719 ई. की सन्धि की शर्तों को पूरा करने की थी जिसका उसने वायदा किया था और न वह मराठों द्वारा कर्नाटक पर किये जाने वाले आक्रमणों को ही पसन्द करता था। उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बाजीराव की थी क्योंकि जहाँ शाहू, प्रतिनिधि और सेनापति बहुत लम्बे समय तक निजाम की चालाकियों को न समझ सके, बाजीराव सर्वदा निजाम के प्रति शंकालु रहा। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए निजाम ने विभिन्न तरीके अपनाये। उसने निरन्तर शाहू और उसके सरदारों को उत्तर-भारत की ओर ध्यान देने के लिए प्रोत्साहित किया, बाजीराव और प्रतिनिधि श्रीपतराव में मतभेद उत्पन्न कराने के प्रयत्न किये, सेनापति त्रिम्बकराव को बाजीराव के विरुद्ध भड़काया और शम्भाजी द्वितीय को इस बात के लिए उकसाया कि वह शाहू के विरुद्ध चौथ और सरदेशमुखी की माँग करे। अपने इन षड्यन्त्रों में निजाम सफल हुआ जिससे बाजीराव को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उसके शत्रुओं की संख्या में वृद्धि हुई। परन्तु बाजीराव ने अपने साहस और कौशल से इन सभी कठिनाइयों का मुकाबला किया और निजाम के सभी षड्यन्त्रों को असफल कर दिया। प्रत्यक्ष युद्ध में भी उसने निजाम को परास्त किया।

1726 ई. में जबकि बाजीराव कर्नाटक पर आक्रमण करने के लिए गया हुआ था, निजाम ने शाहू के प्रतिनिधि श्रीपतराव और स्वयं राजा शाहू को व्यक्तिगत जागीरें दीं और बाजीराव की इच्छा के विरुद्ध उससे यह स्वीकार करा लिया कि मराठा सरदार उसकी सीमाओं में नहीं जायेंगे और वह स्वयं ही शाहू को चौथ व सरदेशमुखी देता रहेगा। इस प्रकार उसने न केवल मराठा सैनिकों को ही अपनी सीमाओं से बाहर कर दिया बल्कि बाजीराव और प्रतिनिधि के बीच में मतभेदों को बढ़ा दिया। बाद में उसने शम्भाजी द्वितीय को चौथ व सरदेशमुखी माँगने के लिए भड़काया और शाहू को उस समय तक ये कर देने के लिए मना कर दिया जब तक कि यह निर्णय न हो जाय कि ये कर उसे शाहू को देने हैं अथवा शम्भाजी को। तब शाहू की आँखें खुलीं। 1726 ई. में निजाम ने शम्भाजी की सहायता से शाहू के विरुद्ध युद्ध भी आरम्भ कर दिया। उस समय शाहू की स्थिति बहुत खराब हो गयी। 1727 ई. में

बाजीराव कर्नाटक से वापस आया। उस अवसर पर बाजीराव ने सेनापति की योग्यता का परिचय दिया। एक वर्ष के छुटपुट युद्धों के पश्चात् फरवरी 1728 ई. में बाजीराव ने पालखेड नामक स्थान पर निजाम को घेर लिया और निजाम को ऐसी कठिन परिस्थिति में डाल दिया कि उसने बिना युद्ध के सन्धि कर ली। यह बाजीराव की महान् विजय थी। मार्च 1728 ई. की मुंगीशेगाँव (Mungishegaon) की सन्धि के द्वारा निजाम ने—

1. शाहू को महाराष्ट्र का एकमात्र शासक स्वीकार कर लिया।
2. चौथ और सरदेशमुखी का वह धन जो पहले से बाकी था, देने का वायदा किया।
3. मराठा सरदारों को अपनी सीमाओं में रहने देना स्वीकार कर लिया।

परन्तु निजाम पूर्णतया परास्त नहीं हुआ। उसने सेनापति त्रिम्बकराव दाभादे को बाजीराव के विरुद्ध सहायता दी और इस पराजय के पश्चात् भी मराठों में फूट डालने के प्रयत्न करता रहा।

1737 ई. में निजाम को पुनः दिल्ली बुलाया गया और उसे 'आसफजा' का पद देकर मराठों के विरुद्ध भेजा गया। भोपाल के निकट निजाम ने अपनी सेना की स्थिति दृढ़ता से स्थापित की। उसके पास बहुत अच्छा तोपखाना और बहुत बड़ी सेना थी। सेनापति और कई अन्य सरदारों की सहायता के न होते हुए भी अस्सी हजार सैनिकों को लेकर बाजीराव ने निजाम को घेर लिया। इस अवसर पर निजाम की भूल से उसकी सेना में भुखमरी और बरबादी फैल गयी। स्वयं बाजीराव राव ने कहा था : "वह एक बुजुर्ग और अनुभवी व्यक्ति है। मैं समझ नहीं पा रहा कि उसने अपने को इस बुरी स्थिति में कैसे फँसा लिया है, यह सम्पूर्ण भारत में उसके सम्मान को नष्ट कर देगा।"[1] अन्त में, बाजीराव की बात सही सिद्ध हुई। बिना युद्ध के निजाम को जनवरी 1738 ई. में दुरई-सराय (Durai Sarai) की सन्धि के लिए बाध्य होना पड़ा, जिसके अनुसार उसने—

1. सम्पूर्ण मालवा और नर्मदा तथा चम्बल नदी के बीच की समस्त भूमि बाजीराव को दे दी; और
2. 50 लाख रुपया बाजीराव को दिया।

इस युद्ध के पश्चात् निजाम ने बाजीराव से पूर्ण पराजय मान ली। बाजीराव भारत में विख्यात हो गया। उसने उस समय के भारत के सबसे बड़े कूटनीतिज्ञ और प्रख्यात सेनापति को बुरी तरह से और वह भी बिना किसी युद्ध के पराजय स्वीकार करने के लिए बाध्य किया था। बाजीराव का नाम मुगल बादशाह और सम्पूर्ण भारत के लिए आतंक का पर्याय बन गया। बाजीराव उस समय अपनी शक्ति और सम्मान की चरम सीमा पर था और यह उसकी मराठा-शक्ति के विकास की नीति की भी पराकाष्ठा थी।

प्रतिनिधि श्रीपतराव

श्रीपतराव उन व्यक्तियों में से था जो बाजीराव को पेशवा बनाये जाने के पक्ष में न था क्योंकि वह उसे अपरिपक्व आयु का अनुभवहीन व्यक्ति मानता था। इसके अतिरिक्त श्रीपतराव और बाजीराव में नीति-सम्बन्धी मतभेद भी थे। श्रीपतराव का विचार था कि मराठों को अपनी शक्ति दक्षिण-भारत तक ही सीमित रखनी चाहिए क्योंकि महाराष्ट्र काफी लम्बे

---

1 "He is an old and experienced man. I cannot comprehend how he got himself in this difficulty; it will ruin him in the opinion of all India."
—H. N. Sinha, *Rise of the Peshwas*.

संघर्ष से गुजरा था और उसकी आर्थिक स्थिति ठीक न थी। इस कारण वह मुगल-साम्राज्य से संघर्ष नहीं करना चाहता था। वह निजाम को भी एक शक्तिशाली विरोधी समझता था और उससे अच्छे सम्बन्ध रखने के पक्ष में था। इस प्रकार श्रीपतराव की नीति विस्तार के स्थान पर आन्तरिक संगठन की थी। शाहू भी इस नीति का समर्थक था। परन्तु बाजीराव इन सबके विरुद्ध था। वह निजाम पर सर्वदा से सन्देह करता था और वह आन्तरिक संगठन के स्थान पर दुर्बल मुगल-साम्राज्य पर आक्रमण करके मराठा-विस्तार की नीति का पक्षधर था। बाजीराव का विश्वास था कि यदि आन्तरिक मामलों की ओर अधिक ध्यान दिया गया तो मराठों में पारस्परिक झगड़े और बढ़ेंगे। इस कारण उसका विचार था कि धन, शौर्य, साहस और विजय की लालसाओं को प्रोत्साहन देने तथा उत्तर-भारत में विस्तार की योजनाओं के द्वारा ही मराठों में एकता और उनकी शक्ति का विस्तार सम्भव है। इन दो विरोधी नीतियों पर विचार करने के लिए शाहू ने सतारा में एक सभा बुलाई जहाँ श्रीपतराव और बाजीराव ने अपने-अपने पक्ष का पोषण किया। यद्यपि वहाँ पर बाजीराव की नीति को स्वीकार किया गया किन्तु शाहू और श्रीपतराव उस समय तक बाजीराव की नीति में विश्वास न कर सके जब तक कि निजाम के षड्यन्त्र उन्हें स्पष्ट न हो गये और 1728 ई. में पालखेड के युद्ध में बाजीराव ने निजाम को परास्त नहीं कर दिया। उसके उपरान्त श्रीपतराव बाजीराव की नीति का समर्थन करने लगा और इस प्रकार बाजीराव ने, अन्त में, इस राजनीतिक विवाद और नीतिगत मतभेद में सफलता पायी।

शम्भाजी द्वितीय

शाहू का चचेरा भाई शम्भाजी कोल्हापुर का शासक था। वह शाहू से ईर्ष्या करता था और मुख्यतः कर्नाटक में उसके हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करता था। गुजरात और मालवा की ओर बढ़ती हुई शाहू की शक्ति से वह उससे और अधिक ईर्ष्या करने लगा। निजाम के भड़काने से उसने 'स्वराज्य' (शिवाजी के राज्य की सीमाएँ) का आधा भाग शाहू से माँगा और दक्षिण के छह सूबों की चौथ व सरदेशमुखी पर भी अपने अधिकार का दावा किया। 1728 ई. में निजाम की पराजय हो जाने से यद्यपि उसका एक प्रमुख मित्र खो गया परन्तु तब भी वह कुछ अन्य मराठा सरदारों मुख्यतः उदाजी चौहान की सहायता लेकर शाहू का विरोध करता रहा। उदाजी ने शाहू को कत्ल कराने का भी प्रयत्न किया यद्यपि वह सफल नहीं हुआ। जिस समय बाजीराव गुजरात की ओर गया हुआ था, शम्भाजी ने शाहू की सीमाओं पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। अन्त में, शाहू ने प्रतिनिधि श्रीपतराव के नेतृत्व में एक सेना शम्भाजी के विरुद्ध भेजी। बाजीराव भी निरन्तर शाहू को अपना परामर्श भेजता रहा। 1730 ई. में वार्ना नदी के निकट शम्भाजी की पराजय हुई और अप्रैल 1731 ई. में वार्ना की सन्धि (Treaty of Varna) हुई, जिसके द्वारा—

1. कर्नाटक और कोंकण के प्रदेश शम्भाजी तथा शाहू ने परस्पर विभाजित कर लिये।
2. महाराष्ट्र का छत्रपति शाहू को स्वीकार कर लिया गया और शम्भाजी ने शाहू की सत्ता को स्वीकार कर लिया।

इसके पश्चात् शम्भाजी ने कभी भी शाहू का विरोध नहीं किया। वह सर्वदा शाहू का सम्मान करता रहा और उससे मिलता-जुलता रहा। इस प्रकार, मराठा-राजवंश में एकता स्थापित हो सकी।

सेनापति त्रिम्बकराव

जिस अवसर पर वार्ना की सन्धि की बातचीत हो रही थी, पेशवा बाजीराव और सेनापति त्रिम्बकराव एक-दूसरे की शक्ति को तोलने में लगे हुए थे। त्रिम्बकराव और उससे पहले

उसके पिता खाण्डेराव ने निरन्तर बाजीराव का विरोध किया था। शाहू ने गुजरात खाण्डेराव को और मालवा बाजीराव को दिया था परन्तु बाजीराव इस स्पष्ट विभाजन को मराठों की दुर्बलता का कारण समझता था और उसका कहना था कि मालवा और गुजरात की चौथ व सरदेशमुखी की आय को पेशवा और सेनापति में बराबर बाँटा जाना चाहिए। इस कारण खाण्डेराव से भी उसका झगड़ा था। खाण्डेराव निजाम के साथ भी मिला हुआ था जिससे बाजीराव असन्तुष्ट था। जिस समय बाजीराव निजाम के साथ युद्ध में व्यस्त था, खाण्डेराव ने मालवा पर आक्रमण किया जो बाजीराव की जागीर में था। 1730 ई. में खाण्डेराव की मृत्यु के पश्चात् जब त्रिम्बकराव सेनापति बना तो सेनापति और पेशवा की पारस्परिक स्पर्धा और अधिक बढ़ गयी।

जब शम्भाजी के विरुद्ध शाहू की तैयारी पूर्ण हो गयी तो पेशवा बाजीराव ने त्रिम्बकराव से अन्तिम निर्णय की तैयारी कीं क्योंकि उस अवसर पर भी त्रिम्बकराव निजाम, उदाजी चौहान आदि से मिलकर बाजीराव के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा था। अन्त में, 1 अप्रैल, 1731 ई. को दभाई के निकट बाजीराव और त्रिम्बकराव का मुकाबला हुआ। युद्ध में त्रिम्बकराव मारा गया और बाजीराव की जीत हुई। अब पेशवा का स्थान मराठा सरदारों में प्रमुख हो गया। डॉ. सिन्हा ने लिखा है : "दभाई की विजय बाजीराव के लिए निस्सन्देह दोहरे लाभ की थी—वह उसकी नीति की विजय के साथ-साथ उसके उत्कर्ष की भी विजय थी।"[1] पेशवा अब एक प्रकार से सेनापति भी हो गया क्योंकि त्रिम्बकराव का भाई और नवीन सेनापति यशवन्तराव अयोग्य एवं विलासी थे। वह शक्ति के लिए लालायित भी नहीं था। युद्ध-कौशल की दृष्टि से भी यह एक महान् विजय थी। पेशवा ने केवल 15,000 सैनिकों के साथ सेनापति के 50,000 सैनिकों को परास्त किया था और निजाम को सेनापति से नहीं मिलने दिया था। अब बाजीराव अपनी नीति को उत्तर-भारत में कार्यरूप में परिणत करने के लिए स्वतन्त्र हो गया।

गुजरात, मालवा, दोआब और बुन्देलखण्ड

गुजरात पर मराठा-आक्रमण 1723 ई. से आरम्भ हुए और 1727 ई. तक वहाँ उनका प्रभुत्व हो गया। मुगल सूबेदार उनको चौथ व सरदेशमुखी देने को तैयार हो गये। शाहू ने गुजरात सेनापति को दे दिया परन्तु दभाई के युद्ध के पश्चात् उसकी आधी आय शाहू को और आधी आय यशवन्तराव को मिलनी आरम्भ हो गयी। यशवन्तराव की ओर से पिलाजी गायकवाड़ गुजरात की देखभाल करता था जिसका मुगल सूबेदार महाराजा अभयसिंह से झगड़ा हो गया और 1732 ई. में पिलाजी की हत्या कर दी गयी। इस कारण मराठों ने गुजरात पर आक्रमण किया। अन्त में, 1735 ई. तक प्रायः सम्पूर्ण गुजरात मराठों की अधीनता में चला गया।

1722 ई. में बाजीराव ने **मालवा** पर प्रथम आक्रमण किया। 1724 ई. में उसने वहाँ पुनः आक्रमण किया और वहाँ से चौथ माँगी। तत्पश्चात् पेशवा की ओर से मल्हारराव होल्कर, रानोजी सिन्धिया और उदय पवार मालवा की देखभाल करने लगे और उन्हें इस कार्य में इन्दौर के नन्दलाल चौधरी से सहायता मिली। 1728 ई. में बाजीराव ने पुनः मालवा पर आक्रमण किया और तब से मालवा पर मराठों के निरन्तर आक्रमण हुए। अन्त में, 1738 ई. की दुरई-सराय की सन्धि से मुगल बादशाह के वजीर निजाम-उल-मुल्क ने मालवा मराठों को सौंप दिया।

---

1 "Indeed Dabhai was double triumph for Baji Rao; it was a triumph of his policy, it was a triumph of his ascendancy." —*Dr. H. N. Sinha.*

1728 ई. में बुन्देलखण्ड के शासक छत्रसाल ने मुहम्मदशाह बंगश के विरुद्ध बाजीराव से सहायता माँगी। 1729 ई. में बाजीराव स्वयं वहाँ गया और छत्रसाल की सहायता की जिसके बदले में छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड का आधा भाग बाजीराव को दे दिया। इससे झाँसी, कालपी आदि, जो दिल्ली और आगरा के निकट थे, बाजीराव को प्राप्त हो गये।

मुगल

इसके पश्चात् मराठों ने निरन्तर दोआब, राजस्थान तथा दिल्ली के निकट की मुगल सीमाओं पर आक्रमण करने शुरू कर दिये। अन्त में, 1736 ई. में मुगल बादशाह ने मराठों को चम्बल नदी के दक्षिणी भू-क्षेत्र के लिए 13 लाख रुपया, राजस्थान के लिए 13 लाख 60 हजार रुपया और दक्षिण-भारत की आय का 5% बाजीराव को 'सरदेशपाण्ड्य' के रूप में देना स्वीकार कर लिया।

इसके उपरान्त बाजीराव ने अवध तथा बंगाल जैसे सूबों तथा इलाहाबाद, गया, बनारस जैसे नगरों की माँग की और जब इसे अस्वीकार कर दिया गया तब उसने अवध पर आक्रमण किया। इस अवसर पर 1737 ई. में अवध के सूबेदार सादतअलीखाँ ने मल्हारराव होल्कर और उसके कुछ अन्य मराठा सरदारों को परास्त किया तथा दिल्ली सूचना भेज दी कि उसने बाजीराव को चम्बल नदी के दक्षिण में भगा दिया है। इस बात को झूठ साबित करने और मुगल बादशाह को आतंकित करने हेतु बाजीराव ने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। उसने दस दिन की यात्रा दो दिन में पूरी की और रामनवमी के दिन दिल्ली के निकट पहुँच गया। इसकी सूचना मुगल बादशाह के पास पहुँच गयी और उसने डरकर भागने की तैयारी आरम्भ की। परन्तु बाजीराव का उद्देश्य दिल्ली को लूटने का न था। वह तो केवल यह सिद्ध करना चाहता था कि वह अभी जीवित है और सादतअलीखाँ द्वारा प्रेषित सूचना गलत है। उस समय वजीर कमरुद्दीन और शमशुद्दौला तथा सादतअलीखाँ अपनी-अपनी सेनाओं के साथ दिल्ली की ओर बढ़ रहे थे। बाजीराव उनके बीच से निकल तो आया था परन्तु लौटना भी उसके लिए उतना ही आवश्यक था। बाजीराव जितनी तेजी से आया था उतनी ही तेजी से वापस लौटा और एक दिन में 20 मील चलकर मुगलों से छुटपुट युद्ध करते हुए राजस्थान के रेगिस्तान में घुस गया जहाँ उसका पीछा करना असम्भव था। इस प्रकार बाजीराव दो बड़ी मुगल सेनाओं के बीच से साफ निकल गया। मुगल बादशाह ने मालवा के अतिरिक्त मराठों को 13 लाख रुपये और देना स्वीकार किया। इस प्रकार बाजीराव ने मुगल बादशाह को आतंकित किया और उससे अनेक सुविधाएँ प्राप्त कीं।

कोंकण प्रदेश

कोंकण प्रदेश व जंजीरा में सीदी, गोआ में पुर्तगाली और बम्बई में अंग्रेज प्रभावशाली थे। ये सभी नाविक शक्तियाँ थीं। बालाजी विश्वनाथ ने कान्होजी आँग्रिया से सन्धि करके कोंकण को मराठों के लिए सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था और इसमें सफलता भी पायी थी, परन्तु स्वयं कान्होजी आँग्रिया ही शाहू की सत्ता को नाममात्र के लिए स्वीकार करता था। वस्तुतः वह पूर्ण स्वतन्त्र था। 1726 ई. में सीदी सत ने पारसराम के शिव-मन्दिर को बरबाद कर दिया जिससे कान्होजी से सीदियों का युद्ध आरम्भ हो गया। शाहू ने कान्होजी की सहायता के लिए प्रतिनिधि को भेजा। परन्तु मराठों को कोई विशेष सफलता न मिल सकी। इसी समय 1729 ई. में कान्होजी की मृत्यु और उसके पुत्र मानाजी और शम्भाजी में उत्तराधिकार के लिए युद्ध हो जाने के कारण मराठों को और भी अधिक कठिनाई हुई। 1733 ई. तक सीदी प्रबल होते गये।

अप्रैल 1733 ई. में बाजीराव स्वयं कोंकण गया। उस अवसर पर सीदी सरदार रसूल याकूत की मृत्यु हो जाने से उसके पुत्रों में गद्दी के लिए झगड़ा आरम्भ हो गया था। 1734 ई. तक बाजीराव वहाँ रहा और अन्त में एक सन्धि करके वापस आ गया। इस सन्धि से मराठों को कुछ प्रदेश तो अवश्य मिल गये परन्तु सीदियों की शक्ति टूट न सकी । इस कारण युद्ध पुनः आरम्भ हुआ। अन्त में, 1736 ई. में बाजीराव के भाई चिमनाजी अप्पा ने सीदी सत को एक युद्ध में मार दिया जिसके परिणामस्वरूप सीदियों से एक सन्धि हो गयी और सीदियों ने कोंकण प्रदेश पर पेशवा के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

उसी वर्ष बाजीराव ने कान्होजी के पुत्र मानाजी और शम्भाजी आँग्रिया में भी आँग्रिया-वंश के जहाजों, सम्पत्ति और दुर्गों का बँटवारा करा दिया जिससे दोनों भाइयों का झगड़ा समाप्त हो गया और दोनों ने शाहू की सेवाएँ स्वीकार कर लीं। इस विभाजन से आँग्रिया-वंश की शक्ति कम हो गयी और पेशवा व शाहू की स्थिति कोंकण में सुदृढ़ हुई।

पुर्तगालियों से मराठों का संघर्ष 1731 ई. से आरम्भ हुआ था। उन्होंने सीदियों की सहायता की थी। परन्तु 1732 ई. में उन्होंने मराठों से सन्धि कर ली। 1737 ई. में उन्होंने पुनः युद्ध आरम्भ किया और यह युद्ध उस समय तक चलता रहा जब तक कि 1739 ई. में मराठों ने बेसीन पर अधिकार न कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने सन्धि कर ली। इसी प्रकार अंग्रेजों ने भी सीदियों की सहायता की थी परन्तु बाद में उन्होंने भी मराठों से सन्धि कर ली।

इस प्रकार एक लम्बे संघर्ष के बाद 1739 ई. तक पेशवा की स्थिति कोंकण प्रदेश में सुदृढ़ हो गयी।

बाजीराव की मृत्यु

पेशवा लगभग 40 वर्ष का ही था कि उसकी मृत्यु हो गयी। कहा जाता है कि पेशवा की मृत्यु बीमारी और उससे भी अधिक प्रेम-वियोग के कारण हुई। यह धारणा व्यक्त को गयी है कि राजा छत्रसाल ने मस्तानी नामक एक लड़की पेशवा को भेंट-स्वरूप दी थी। मस्तानी, सम्भवतः, स्वयं छत्रसाल की एक मुसलमान-स्त्री से उत्पन्न पुत्री थी। मस्तानी अद्वितीय सुन्दरी थी। इसके अतिरिक्त वह व्यवहार-कुशल और साहसी थी। वह युद्ध के कठिन अवसरों पर भी बाजीराव के साथ घोड़े पर सवार होकर उसके साथ चलती थी। बाजीराव उसके प्रेम के कारण अपनी पत्नी काशीबाई की परवाह नहीं करता था। परन्तु मराठा-समाज ने इस प्रेम को पसन्द नहीं किया, मस्तानी के लड़के को हिन्दू मानने से इंकार किया और अन्त में पेशवा के भाई और पुत्र तक उसके विरुद्ध हो गये। बाजीराव ने हताश होकर पूना छोड़ दिया और निजाम से अपनी जागीर छीनने चला गया। उसके पीछे मस्तानी को महल में नजरबन्द कर दिया गया। पेशवा बाजीराव इससे बहुत दुःखी हुआ और उसने अपना जीवन युद्धों में ही समाप्त करने का निश्चय किया। उसने निजाम के पुत्र नासिरजंग से युद्ध करके अपनी जागीर छीन ली परन्तु उसके पश्चात् भी पूना वापस नहीं आया। वह अपनी जागीर में ही घूमता रहा और उसी स्थिति में वहाँ बीमार हो गया। कुछ ही दिनों की बीमारी के पश्चात् 28 अप्रैल, 1740 ई. को नर्मदा नदी के निकट उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार इस महान् पेशवा का अन्त हुआ। इतिहासकार किनकेड और पारसनीस ने लिखा है कि मस्तानी बाजीराव के साथ सती हो गयी। डॉ. सिन्हा ने लिखा है : "बहादुरों में सर्वश्रेष्ठ और सुन्दरता में अद्वितीय बाजीराव एक प्रेम-प्रसंग में आकर्षक व्यक्ति के समान मर गया।"[1]

---

1 "Bravest of the brave, fairest of the fair, Baji Rao died a fascinating figure in a romance of love." —*Dr. H. N. Sinha.*

बाजीराव का मूल्यांकन

पेशवाओं में बाजीराव का स्थान श्रेष्ठ है। उसे महान् पेशवाओं में से एक माना जाता है। अनेक इतिहासकारों ने पेशवा माधवराव नारायन प्रथम को पेशवाओं में प्रमुख स्थान दिया है, क्योंकि वह अपने समय का महान् कूटनीतिज्ञ और संगठनकर्ता था। परन्तु यह सन्देह प्रकट किया जा सकता है कि बिना पेशवा बाजीराव की सफलताओं के पेशवा माधवराव नारायन को वह कार्यक्षेत्र प्राप्त होता अथवा नहीं जिससे उसने अपनी महानता स्थापित की। पेशवाओं में बाजीराव प्रथम था जिसने मराठा-शक्ति को भारत की प्रमुख शक्ति बना दिया और हिन्दू जाति के सम्मुख एक नवीन लक्ष्य उपस्थित किया। डॉ. सिन्हा ने लिखा है : "एक बार फिर आधुनिक भारत के इतिहास में बाजीराव ने नवीन आशाएँ जगायीं, अवनत हिन्दू-जाति के सम्मुख महान् सम्भावनाएँ प्रस्तुत कीं और एक बार फिर उनके आन्तरिक झगड़ों को समाप्त करने का प्रयत्न किया।"[1] बाजीराव एक महान् सैनिक और सेनापति था। निजाम ने सौ से अधिक युद्धों में भाग लिया था और उसे अपने समय का महान् सेनापति माना जाता था। वह बाजीराव के मुकाबले युद्ध-भूमि में दो बार आया और दोनों ही बार उसे बिना युद्ध के समर्पण करना पड़ा। कूटनीति में भी निजाम को अपने समय का एक योग्य व्यक्ति माना गया था, परन्तु बाजीराव के कौशल, साहस और सैनिक-शक्ति के मुकाबले में निजाम की कूटनीति असफल हुई। बाजीराव ने मराठों के सम्मुख एक नवीन और महान् लक्ष्य रखा और वह था उत्तर-भारत की विजय। निस्सन्देह, मुगल-साम्राज्य नष्टप्राय था और ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा व्यक्ति सफलता से एक साम्राज्य का निर्माण कर सकता था जिसमें साहस होता और जिसकी तलवार में शक्ति। बाजीराव ने इस बात को समझा और मराठा-साम्राज्य के विस्तार को अपना लक्ष्य बनाया। यदि बाजीराव के नेतृत्व में मराठे इस कार्य को न करते तो सम्भव था कि निजाम, सादतअली या अन्य ऐसे ही किसी सरदार के नेतृत्व में अन्य किसी राज्य या एक साम्राज्य का निर्माण होता। मुगल-साम्राज्य के पतन से भारत की राजनीतिक स्थिति में जो शून्यता आ गयी थी, उसे किसी न किसी को तो भरना ही था। यदि बाजीराव ने उस कमी की पूर्ति मराठा-शक्ति के द्वारा करने का प्रयत्न किया तो यह उसके महान् आदर्श और व्यावहारिक बुद्धि का प्रमाण था। इस कार्य की पूर्ति हेतु उसने तलवार का सहारा लिया जो मध्य-युग का एकमात्र साधन था। उसी की योग्यता के कारण और उसी के नेतृत्व में मराठा घुड़सवारों के घोड़ों की टापों ने सम्पूर्ण भारत को रौंद डाला। जिस ताक़त से उसका मुकाबला हुआ उसे उसने प्रायः समाप्त कर दिया और यदि ऐसा सम्भव नहीं हुआ तो उसे अपने सम्मुख झुका अवश्य दिया। अपने जीवनकाल में बाजीराव मराठों द्वारा विजित प्रदेशों को संगठित नहीं कर सका, परन्तु इसके लिए बाजीराव को समय ही नहीं मिल पाया था। उसका विजय-अभियान समाप्त भी न हुआ था कि उसकी मृत्यु हो गयी और यह जानने का अवसर ही नहीं मिल सका कि बाजीराव आगे क्या चाहता था। इस प्रकार बाजीराव निस्सन्देह महान् था। डॉ. सिन्हा ने लिखा है : "बाजीराव एक महान् सेनापति था। उसकी योजना की मौलिकता, उसको कार्य-रूप में परिणत करने का साहस और युद्ध-नीति पर उसकी दृष्टि उसे, निस्सन्देह, असाधारण सेनापतियों की श्रेणी में स्थान देती है। शाहू के प्रधानमन्त्री की दृष्टि से वह महाराष्ट्र के तत्कालीन व्यक्तियों में, निस्सन्देह, सर्वश्रेष्ठ था। उसकी विदेश-नीति और मराठा-विस्तार की नीति मौलिक ही नहीं, दूरदर्शितापूर्ण थी। इस कारण

---

1 "For once in the annals of modern India, Baji Rao held out great promises, great possibilities for the fallen Hindu race; for once he made a glorious attempt to destroy their internal discord."

—*Dr. H. N. Sinha.*

यह उचित ही कहा गया है कि बाजीराव योजनाएँ बनाने का मस्तिष्क रखने के साथ-साथ उन्हें कार्यरूप में परिणत करने की शक्ति भी रखता था।"[1]

(iii) पेशवा बालाजी बाजीराव (1740-1761 ई.)

बाजीराव की मृत्यु के पश्चात् शाहू ने उसके $18\frac{1}{2}$ वर्षीय पुत्र बालाजी को (जिसे नाना साहब भी पुकारा गया है) पेशवा नियुक्त किया। रघुजी भौंसले की सहायता से एक प्रसिद्ध महाजन बाबूजी नायक ने भी पेशवा का पद प्राप्त करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल हुआ। रघुजी ने शाहू की पत्नी की बहन से विवाह किया था और वह आशा करता था कि शाहू के पश्चात् उसका ही कोई एक बच्चा छत्रपति बन जायेगा। इसी कारण वह अपनी इच्छा का पेशवा चाहता था परन्तु शाहू इसके लिए तैयार न था और उसने तुरन्त ही बालाजी को पेशवा नियुक्त कर दिया।

बालाजी अपने पिता के समान योग्य सैनिक और सेनापति तो न था परन्तु वह व्यवहार-कुशल अवश्य था। यह कहा गया है कि बाजीराव ने मित्र कम और शत्रु अधिक बनाये जबकि उसके पुत्र बालाजी ने शत्रु कम और मित्र अधिक बनाये। बालाजी ने अपने पिता की साम्राज्य-विस्तार की नीति को पूर्ण करने का लक्ष्य बनाया। शाहू ने भी उसे प्रोत्साहन दिया। शाहू ने प्रारम्भ से ही उसे आह्वान किया और कहा : "बालाजी पन्त की मृत्यु के पश्चात् राजा की सेवा में बाजीराव ने महान् कार्य किये। उसने अपना लक्ष्य ईरानियों को समाप्त करने और साम्राज्य स्थापित करने का बनाया। लेकिन उसका जीवन थोड़ा रहा। तुम उसके पुत्र हो और तुम्हें उसकी सम्पूर्ण भारत को विजय करने की नीति को पूर्ण करना चाहिए, एक साम्राज्य स्थापित करना चाहिए और अपने घोड़ों को अटक के उस पार तक ले जाना चाहिए।"[2] बालाजी ने साम्राज्य-विस्तार की इसी नीति को अपनाया। 1752 ई. तक मराठे अपनी शक्ति की चरम सीमा तक पहुँच गये, मुगल बादशाह उनके हाथों की कठपुतली बन गये, वे सम्पूर्ण भारत से चौथ व सरदेशमुखी वसूल करने लगे तथा मराठा-घुड़सवार उत्तर से दक्षिण-भारत तक फैल गये। परन्तु इसके पश्चात् मराठों की शक्ति को एक बड़ा धक्का लगा। मराठे बढ़ते हुए उत्तरदायित्व को सँभाल न सके, उन्होंने राजपूतों और जाटों को असन्तुष्ट कर दिया, उन्होंने विदेशी मुसलमानों को विदेश से सहायता माँगने के लिए बाध्य किया और उन्हें अहमदशाह अब्दाली से युद्ध करना पड़ा जिसका परिणाम पानीपत का तृतीय युद्ध और मराठों की पराजय था। इसके पश्चात् पेशवा की शक्ति कम हो गयी और सिन्धिया व होल्कर को उत्तर-भारत में स्वतन्त्र अधिकार मिल गये तथा मराठों की एकता नष्ट होने लगी। इस प्रकार पेशवा बालाजी का समय जहाँ पेशवा और मराठों की शक्ति के चरमोत्कर्ष का था वहीं वह पेशवाओं और मराठों की दुर्बलता का भी था।

---

1 "Baji Rao excelled as a general. His originality of plan, boldness of execution and eye for strategy marked him out as commander of no mean calibre. As chief minister of Sahu, he stands head and shoulder above his contemporaries in Maharashtra. His foreign policy of Maratha expansion was no less original than far reaching. Therefore, it has been rightly remarked that Baji Rao had the head to plan and the hand to execute." —*Dr. H. N. Sinha.*

2 "After Balaji Pant, the elder, Balaji Rao achieved great deeds in the devoted service of the king. At length he started with a view to crush the Iranies and establish an empire. But his life was cut short. You are his son and you ought to consummate his policy of conquering the whole of Hindustan, and establish an empire, and lead your horses beyond Attock." —*Dr. H. N. Sinha.*

अपने पिता की तरह बालाजी को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कोंकण में तुलाजी आँग्रिया असन्तुष्ट था, रघुजी भौंसले प्रारम्भ से ही पेशवा से ईर्ष्या करता था, निजाम और उसके उत्तराधिकारी अपने वायदों को पूरा करने के लिए तैयार न थे अपितु कर्नाटक को लेकर सर्वदा पेशवा से झगड़ा करने के लिए उद्यत थे, राजपूतों से मराठों को अपने सम्बन्ध नवीन आधार पर निश्चित करने थे, सिन्धिया और होल्कर में उस समय मतभेद आरम्भ हो गये थे, गायकवाड़ पेशवा से सन्तुष्ट न था, शाहू की अपनी कोई संन्तान न थी और वह बूढ़ा हो चुका था जिससे पेशवा के सम्मुख उसके उत्तराधिकारी की समस्या थी तथा राज्य की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी, बल्कि पेशवा बाजीराव काफी व्यक्तिगत कर्जा छोड़ गया था। इस प्रकार प्रारम्भ से ही बालाजी कठिनाइयों से घिरा हुआ था। तब भी नवीन पेशवा ने साहस से इन सभी कठिनाइयों का सामना किया और सफलता प्राप्त की।

आर्थिक कठिनाइयाँ

बालाजी ने सर्वप्रथम अपने परिवार के कर्जे को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसने कर्नाटक से धन वसूल किया और पुर्तगालियों से प्राप्त की हुई भूमि को शाहू से अपनी जागीर के रूप में माँग लिया। इससे उसने अपने कर्जे को चुका दिया और अपने को आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त कर लिया।

तुलाजी आँग्रिया

शम्भाजी आँग्रिया की मृत्यु 1739 ई. में हो गयी जिससे उत्तराधिकार के प्रश्न पर तुलाजी और मानाजी आँग्रिया में झगड़ा हो गया। पेशवा ने मानाजी आँग्रिया का पक्ष लिया। अन्त में तुलाजी आँग्रिया की पराजय हुई और मानाजी आँग्रिया की सत्ता स्थापित हो गयी जो पेशवा के प्रति सर्वदा वफादार रहा।

मालवा

मराठे मालवा में 1728 ई. में प्रवेश कर गये थे और 1738 ई. में दुरई-सराय की सन्धि द्वारा निजाम ने मुगल-वजीर की हैसियत से मालवा पेशवा को दे दिया था। परन्तु इस शर्त को मुगल बादशाह ने स्वीकार नहीं किया था। बालाजी ने, सर्वप्रथम, मालवा पर अपना पूर्ण अधिकार करने का प्रयत्न किया। अपने चाचा चिमनाजी अप्पा की मृत्यु के कारण उसे कुछ समय रुकना पड़ा। परन्तु उसके पश्चात् वह एक बड़ी सेना लेकर मालवा की ओर चल दिया। जयपुर के शासक राजा जयसिंह ने बीच में पड़कर पेशवा और मुगल बादशाह में 1741 ई. में एक सन्धि करा दी जिसके द्वारा मालवा पेशवा को दे दिया गया और पेशवा ने स्थायी रूप से 500 सैनिक और अवसर पड़ने पर 4,000 सैनिक मुगल बादशाह की सेवा में देने का वायदा किया। इस प्रकार पहली बार मालवा पर पेशवा का कानूनी अधिकार हुआ और पेशवा ने मुगल बादशाह की सहायता करने का वायदा किया जिसके कारण मराठे दिल्ली की राजनीति से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ गये।

कर्नाटक

1739 ई. में रघुजी भौंसले ने कर्नाटक पर आक्रमण किया। 1741 ई. में उसने कर्नाटक के नवाब दोस्तअली को मार दिया और उसके दामाद चाँदा साहब को कैद करके सतारा भेज दिया। परन्तु 1743 ई. में निजाम ने कर्नाटक पर अपना अधिकार कर लिया। पेशवा ने 1745 ई. में बाबूजी नायक को और 1746 ई. में सदाशिव भाऊ को कर्नाटक भेजा जिन्होंने कर्नाटक-विजय पूर्ण की।

उड़ीसा, बंगाल और बिहार

रघुजी भौंसले की महत्वाकांक्षा को सन्तुष्ट करने के लिए पेशवा ने उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर आक्रमण करने की छूट दे दी। रघुजी ने अपने प्रतिनिधि भास्कर पन्त को इन सूबों के शासक अलीवर्दीखाँ से चौथ माँगने भेजा। अलीवर्दीखाँ ने भास्कर पन्त को धोखे से मरवा दिया। इस पर कुपित होकर रघुजी ने उड़ीसा पर भीषण आक्रमण किया और 1751 ई. में नवाब को 12 लाख रुपया प्रति वर्ष चौथ के रूप में देने के लिए बाध्य किया।

रघुजी भौंसले

रघुजी भौंसले शुरू से ही पेशवा के विरुद्ध था। 1739 ई. और 1741 ई. में उसने कर्नाटक पर आक्रमण किया था और बरार को वह जीत चुका था। उसने मालवा और बुन्देलखण्ड पर भी आक्रमण आरम्भ किये जो पेशवा की जागीर में थे। उसने धानाजी गायकवाड़ और बाबूजी नायक को पेशवा के विरुद्ध भड़काया। परन्तु पेशवा ने उनको परास्त कर दिया और बंगाल की ओर बढ़ा जहाँ उसने कई बार रघुजी भौंसले को परास्त किया। 1743 ई. में शाहू ने रघुजी और पेशवा में समझौता करा दिया। उसने उनके अधिकार-क्षेत्रों का बँटवारा कर दिया। एक बार फिर शाहू ने दो बड़े सरदारों में समझौता कराकर अपने राजा होने का परिचय तो दिया परन्तु उनके अधिकार-क्षेत्रों का स्पष्ट विभाजन करके मराठा-शक्ति को दुर्बल बनाया और मराठा सरदारों को स्वतन्त्र होने के लिए प्रोत्साहन दिया।

निजाम और उसके उत्तराधिकारी

निजाम ने बाजीराव की मृत्यु के उपरान्त मुगल बादशाह मुहम्मदशाह को पेशवा को मालवा न देने के लिए भड़काया। परन्तु जब उसे अपने विद्रोही पुत्र नासिरगंज के विरुद्ध मराठों से सहायता लेनी पड़ी तो उसने उन्हें पन्द्रह लाख रुपया दिया और मालवा के अलावा पचास लाख रुपया अतिरिक्त दिलाने के लिए प्रयत्न करने का आश्वासन दिया। परन्तु मराठों के कर्नाटक पर आक्रमण करने से वह पुनः असन्तुष्ट हो गया और जबकि पेशवा और रघुजी उत्तर-भारत में व्यस्त थे उसने 1743 ई. में कर्नाटक को जीत लिया और अल्पायु सईदखाँ को कर्नाटक का नवाब और अनवरुद्दीन को उसका संरक्षक नियुक्त कर दिया।

1748 ई. में जब निजाम आसफखाँ की मृत्यु हुई उस समय नासिरजंग, मुजफ्फरजंग और बाद में सलाबतजंग में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। अन्त में जब सलाबतजंग निजाम बना तो उसने मराठों को दो लाख रुपया वार्षिक लगान की भूमि देने का वायदा किया। परन्तु तब भी मराठे निरन्तर 1757 ई., 1759 ई. और 1760 ई. में सलाबतजंग की सीमाओं पर आक्रमण करते रहे और धीरे-धीरे असीरगढ़, बुरहानपुर, दौलताबाद तथा आसपास के क्षेत्र पर उन्होंने अधिकार कर लिया; जिनकी वार्षिक आय प्रायः 50 लाख रुपया प्रति वर्ष थी।

राजपूत

1743 ई. में जयपुर के शासक सवाई जयसिंह की मृत्यु पर उसके पुत्रों ईश्वरसिंह और माधोसिंह में झगड़ा हो गया। उदयपुर के शासक जगतसिंह ने माधोसिंह का पक्ष लिया परन्तु ईश्वरसिंह ने सिन्धिया और होल्कर की मदद से 1745 ई. में माधोसिंह को परास्त कर दिया। कुछ समय बाद रानोजी सिन्धिया की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र जयप्पा सिन्धिया ने माधोसिंह का पक्ष लेना शुरू किया जिसके कारण जयप्पा सिन्धिया और मल्हारराव होल्कर में तीव्र मतभेद हो गया। यह झगड़ा इतना अधिक बढ़ गया कि स्वयं पेशवा को वहाँ जाना पड़ा। पेशवा ने ईश्वरसिंह से अपने चार जिले माधोसिंह को देने के लिए कहा और यह निर्णय देकर वापस चला गया। इस कारण ईश्वरसिंह मराठों से असन्तुष्ट हो गया।

1750 ई. में सिन्धिया और होल्कर ने जब ईश्वरसिंह से चौथ माँगी तो उसने दो लाख रुपया देना तो स्वीकार कर लिया परन्तु दुःखी होकर विष खाकर आत्महत्या कर ली। उसकी तीन पत्नियों ने विष खा लिया और बीस उसके साथ सती हो गयीं। इससे माधोसिंह को बहुत क्रोध आया और उसने मराठों से बदला लेने के लिए धोखे से हजारों मराठों को कत्ल करा दिया। इस घटना से मराठों और राजूपतों के सम्बन्ध खराब हो गये।

1752 ई. में मारवाड़-राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर मराठों और राजपूतों में पुनः झगड़ा हुआ। बख्तसिंह की मृत्यु के पश्चात् रामसिंह ने अपने भाई विजयसिंह को अजमेर में घेर लिया। जयप्पा सिन्धिया ने रामसिंह की सहायता की। 1755 ई. में विजयसिंह ने धोखे से जयप्पा सिन्धिया को कत्ल करा दिया। दत्ताजी सिन्धिया ने इसका बदला विजयसिंह से लिया। दत्ताजी ने विजयसिंह से 50 लाख रुपया और अजमेर व जालौन का भू-क्षेत्र लिया। उसे अपना आधा राज्य अपने भाई रामसिंह को भी देना पड़ा। इस प्रकार, मराठों और राजपूतों के सम्बन्ध निरन्तर खराब होते गये जिसके कारण पानीपत के तृतीय युद्ध के अवसर पर राजपूतों ने मराठों को कोई सहायता नहीं दी, यहाँ तक कि मराठों को राजस्थान से भोजन-सामग्री भी प्राप्त न हो सकी।

जाट

मराठों ने एक भूल और की। उन्होंने मुगल बादशाह की तरफ से भरतपुर के राजा सूरजमल जाट से झगड़ा कर लिया। सूरजमल के प्रयत्न करने पर भी मराठों ने सन्धि को अस्वीकार कर दिया और कुम्भेर के किले का घेरा डाल दिया। परन्तु जाटों के विरुद्ध मराठों को कोई सफलता न मिली और उन्हें घेरा उठाना पड़ा। उत्तर-भारत में जाट एक बहादुर हिन्दू-जाति थी और उनका राजा सूरजमल एक बहादुर शासक था। उसको असन्तुष्ट करना मराठों की उत्तर-भारत की राजनीति में एक बड़ी भूल थी।

शाहू के उत्तराधिकार का प्रश्न

शाहू के अन्तिम दिन सुखमय न हो सके। ताराबाई पुनः शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने लगी और मराठा सरदार एक-दूसरे का विरोध करने लगे; यहाँ तक कि 1747 ई. में एक बार कुछ समय के लिए पेशवा ने भी अपना पद छोड़ दिया। उधर शाहू का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा था। जेल में पड़ी हुई ताराबाई ने एक लड़के को प्रस्तुत किया, उसे अपने पुत्र शिवाजी द्वितीय का पुत्र बताया तथा शाहू से उसे गोद लेने की प्रार्थना की। कोल्हापुर का शम्भाजी भी शाहू का उत्तराधिकारी बनने का अभिलाषी था। इन्हीं परिस्थितियों में 25 दिसम्बर, 1749 ई. को शाहू की मृत्यु हो गयी। मरने से पहले उसने ताराबाई द्वारा प्रस्तुत बच्चे राजाराम द्वितीय को अपना उत्तराधिकारी बनाने की इच्छा प्रकट की। जनवरी 1750 ई. में राजाराम छत्रपति बना। ताराबाई उस पर कठोर नियन्त्रण रखती थी और जब उसने ताराबाई के नियन्त्रण से मुक्त होने का प्रयत्न किया तब ताराबाई ने यह भेद खोला कि वह उसका वंशज न था। परिणाम यह हुआ कि पेशवा ने राजाराम को पूना बुलाया और उससे संगोला का समझौता कर लिया। इसके अनुसार छत्रपति ने राज्य के सभी प्रमुख अधिकार पेशवा को सौंप दिये। तत्पश्चात् राज्य का प्रधान पेशवा बन गया और मराठा-छत्रपति सतारा में नाम के शासक और वास्तव में एक बन्दी के रूप में रहने लगे।

इस समझौते के पश्चात् भी ताराबाई ने एक बार पुनः पेशवा का विरोध करने का प्रयत्न किया। जब पेशवा निजाम पर आक्रमण करने के लिए बाहर गया हुआ था तब उसने कुछ सरदारों मुख्यतः दमाजी गायकवाड़ की सहायता से पूना पर आक्रमण किया। परन्तु ताराबाई

को इसमें सफलता न मिली। उसकी पराजय हुई। गायकवाड़ गुजरात चला गया। परन्तु वह पेशवा से सर्वदा असन्तुष्ट रहा। राजाराम को कैद में डाल दिया गया। इस प्रकार पेशवा ने इस संघर्ष में सफलता पायी।

मराठों का दिल्ली और पंजाब की राजनीति में हस्तक्षेप तथा पानीपत के तृतीय युद्ध के कारण

1752 ई. में पेशवा ने एक सन्धि मुगल बादशाह से की । इसके द्वारा एक ओर तो मराठों ने सम्पूर्ण भारत से चौथ लेने का अधिकार प्राप्त किया और दूसरी ओर मुगल बादशाह को अवसर पड़ने पर सहायता देने का वायदा किया। इस कारण मराठों के लिए उत्तर-भारत की राजनीति में हस्तक्षेप करना अनिवार्य हो गया और वे प्रत्यक्ष रूप से दिल्ली की राजनीति से जुड़ गये। मुगल बादशाह की दुर्बलता के कारण दरबार में भारतीय मुसलमानों और तूरानी मुसलमानों के जो दो परस्पर-विरोधी दल बने हुए थे वे शक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते थे। उनकी राजनीति में भी मराठों को हस्तक्षेप करना पड़ा। मराठे भारतीय मुसलमानों के समर्थक बने और वे एक प्रकार से मुगल बादशाहों के बनाने या बिगाड़ने वाले बन गये। परन्तु विदेशी मुसलमानों का दल उनसे असन्तुष्ट हो गया और उस दल ने विदेश से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यह सुविधा उन्हें सहज ही प्राप्त हो गयी क्योंकि अफगानिस्तान का तत्कालीन शासक अहमदशाह अब्दाली पंजाब, मुल्तान और कश्मीर को अपने राज्य की सीमाओं में मानता था और इस हेतु भारत पर आक्रमण करने तथा दिल्ली की राजनीति में हस्तक्षेप करने को सन्नद्ध था। इस कारण मराठे अहमदशाह अब्दाली के विरोध में आये और पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ।

इस प्रकार, मुगल बादशाह की दुर्बलता, उसके सरदारों का दो दलों में विभाजित होना, मराठों का मुगल बादशाह को सहायता देने का वायदा और उससे भी अधिक उत्तर-भारत में मराठा-शक्ति के विस्तार की महत्वाकांक्षा तथा दूसरी ओर अहमदशाह अब्दाली की भारत के विदेशी मुसलमानों को सहायता देने की नीति और पंजाब व मुल्तान आदि पर अपनी सत्ता स्थापित करने की इच्छा पानीपत के तृतीय युद्ध के प्रमुख कारण बने।

1752 ई. में मुगल बादशाह अहमदशाह ने अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण करने पर पंजाब और मुल्तान उसे सौंप दिये थे और अब्दाली इन सूबों को मुइन-उल-मुल्क के हाथों में देकर वापस चला गया था। 1753 ई. में मुइन-उल-मुल्क की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा मुगलानी बेगम शासन की ठीक प्रकार देखभाल न कर सकी। उसी समय दिल्ली की राजनीति में परिवर्तन हुआ। रघुनाथराव के नेतृत्व में मराठों ने उत्तर-भारत पर आक्रमण किया और वजीर गाजीउद्दीन को मुगल बादशाह अहमदशाह को सिंहासन से उतारने में सहायता दी। उसके पश्चात् आलमगीर द्वितीय मुगल बादशाह बना। मराठों का प्रभुत्व दिल्ली और दोआब में स्थापित हो गया। परन्तु इससे विदेशी मुसलमानों का वर्ग बहुत असन्तुष्ट हुआ जिनमें एक प्रमुख सरदार रुहेला सरदार नजीबुद्दौला भी था। 1756 ई. में वजीर गाजीउद्दीन इमाद-उल-मुल्क ने पंजाब और मुल्तान को मुगलानी बेगम से छीन लिया और अदीना को अपना सूबेदार बनाकर वह प्रदेश उसे सौंप दिये। अब्दाली इससे असन्तुष्ट हुआ। नजीबुद्दौला और मुगलानी बेगम ने उससे सहायता माँगी। रुहेला सरदार नजीबुद्दौला और अहमदशाह अब्दाली का गठजोड़ पारस्परिक स्वार्थों के कारण भी था। अब्दाली भारतीय भूमि से आय प्राप्त करता था जो उसे एक बड़ी सेना रखने में सहायक थी। अफगानिस्तान का स्वयं का राज्य अब्दाली को यह सुविधा प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ था। इस कारण अब्दाली पंजाब पर

अपने प्रभुत्व को खोने के लिए तत्पर नहीं था। उसके इस उद्देश्य की पूर्ति में मराठे एक बड़ी बाधा थे। दूसरी तरफ नजीबुद्दौला दिल्ली पर अफगानों के प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए उत्सुक था। उसमें भी मराठे ही बाधा डाल रहे थे। इस कारण अब्दाली और नजीबुद्दौला की मराठों के विरुद्ध सांठगाँठ सहज हो गयी। 1756 ई. में अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण किया। वह पंजाब को जीतकर 1757 ई. में दिल्ली पहुँचा और उसके समीपवर्ती इलाके को लूटकर तथा नजीबुद्दौला को मीरबख्शी बनाकर उसी वर्ष काबुल चला गया। जाते समय अब्दाली अपने पुत्र तैमूरखाँ को पंजाब का सूबेदार बना गया।

अब्दाला के इस आक्रमण के अवसर पर पेशवा ने रघुनाथराव को दिल्ली की ओर भेज दिया था। परन्तु उसके दिल्ली पहुँचने से पहले ही अब्दाली वापस जा चुका था। रघुनाथराव ने नजीबुद्दौला के स्थान पर अहमदशाह बंगश को मीरबख्शी बनाया यद्यपि मल्हारराव होल्कर के हस्तक्षेप के कारण नजीबुद्दौला को क्षमा कर दिया गया था। तत्पश्चात् रघुनाथराव ने तैमूरखाँ को परास्त करके पंजाब सूबेदार अदीना बेग को दे दिया। इसके बाद तुकोजी होल्कर और साबाजी सिन्धिया को उत्तर-भारत में छोड़कर रघुनाथराव 1758 ई. में पूना वापस चला गया।

पेशवा ने रघुनाथराव को पूना बुलाकर दत्ताजी सिन्धिया को उत्तर-भारत भेज दिया। दत्ताजी ने साबाजी सिन्धिया को पंजाब का सूबेदार बनाया और दोआब की व्यवस्था करने के लिए नजीबुद्दौला से बातचीत की। परन्तु दत्ताजी प्रारम्भ से ही नजीबुद्दौला के प्रति शंकालु था और उधर नजीबुद्दौला उससे घृणा करता था। उसने अब्दाली को भारत पर आक्रमण करने के लिए पहले से ही बुलावा दे रखा था। इस कारण नजीबुद्दौला से कोई समझौता होने की बजाय युद्ध आरम्भ हो गया और दत्ताजी ने नजीबुद्दौला को शकरताल में घेर लिया।

इसी अवसर पर अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण किया और साबाजी सिन्धिया को पंजाब छोड़कर भागना पड़ा। अब्दाली के आक्रमण से भयभीत होकर वजीर इमाद-उल-मुल्क ने मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय का वध कर डाला और स्वयं भरतपुर के जाट-शासक सूरजमल की शरण में चला गया। अब्दाली दिल्ली की ओर बढ़ता गया। दिल्ली की रक्षा हेतु दत्ताजी ने शकरताल का घेरा उठा लिया और 1759 ई. में दिल्ली की ओर बढ़ा। दिल्ली से दस मील दूर लोनी के निकट जनवरी 1760 ई. में दत्ताजी का अब्दाली से मुकाबला हुआ जिसमें दत्ताजी मारा गया और मराठों की पराजय हुई। अब्दाली ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। नजीबुद्दौला उस समय तक अब्दाली से मिल गया था। उसने अब्दाली से कुछ समय भारत में रुकने की प्रार्थना की जिससे मराठों की शक्ति को पूर्णतया समाप्त किया जा सके।

जब पेशवा को दत्ताजी की मृत्यु का समाचार प्राप्त हुआ तो उसने अपने चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में अब्दाली को भारत से निकालने के लिए एक बड़ी सेना उत्तर-भारत को भेजी। अगस्त 1760 ई. में मराठे दिल्ली पहुँचे। उस समय तक अब्दाली दिल्ली को छोड़कर जा चुका था। उस समय से अब्दाली और सदाशिवराव का कूटनीतिक युद्ध आरम्भ हुआ। दोनों ने अपने-अपने पक्ष को शक्तिशाली बनाने के लिए उत्तर-भारत के विभिन्न सरदारों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न किया। इस सन्दर्भ में नजीबुद्दौला ने अब्दाली की विशेष सहायता की और वह सफल भी हुआ। उसने 'इस्लाम खतरे में है' का नारा देकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा भारतीय मुसलमानों के बड़े वर्ग को अपने पक्ष में करने में सफलता प्राप्त की। निस्सन्देह, सदाशिवराव एक बहादुर और योग्य सैनिक था परन्तु वह

कूटनीतिज्ञ न था तथा कुछ दम्भी भी था। इस कारण वह कूटनीति में नजीबुद्दौला के मुकाबले सफल न हो सका। अब्दाली ने घोषणा की कि उसका उद्देश्य स्वयं भारत में रहने का नहीं है बल्कि वह केवल दक्षिण के मराठों से उत्तर-भारत को स्वतन्त्र कराने तथा मुगल बादशाह शाहआलम को, जो उस समय अवध में था, दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने के लिए रुका हुआ है। सदाशिवराव ने प्रचारित किया कि यह युद्ध भारतीयों का विदेशियों से है और वह आक्रमणकारी को स्वदेश से निकालने के लिए संघर्ष कर रहा है। परन्तु इस प्रचार के बावजूद भी सदाशिवराव मुसलमानों का विश्वास अर्जित न कर सका बल्कि वह अपनी भूल से सूरजमल जाट को भी खो बैठा। सूरजमल उत्तर-भारत का एक शक्तिशाली राजा था। युद्ध-नीति और मुगल बादशाह के प्रति व्यवहार के प्रश्न को लेकर उसका सदाशिवराव से मतभेद हो गया और वह अपने राज्य में वापस चला गया। राजपूत सरदार पहले से ही मराठों से असन्तुष्ट थे। इस कारण उनमें से कोई भी मराठों की सहायता के लिए नहीं आया। दूसरी ओर नजीबुद्दौला ने धर्म की दुहाई देकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला को ही अपने पक्ष में नहीं किया वरन् चालाकी से मराठा सरदार मल्हारराव होल्कर से भी सांठगाँठ कर ली। इस प्रकार जबकि सदाशिवराव के पक्ष में कोई नहीं हुआ, अब्दाली के पक्ष में बल की वृद्धि हुई।

सेनापति की दृष्टि से भी सदाशिवराव अब्दाली के मुकाबले अयोग्य सिद्ध हुआ। दिल्ली में उसके पास रसद की कमी होने लगी। उधर अब्दाली भी रसद की कमी अनुभव कर रहा था। दोनों ओर से सन्धि की चर्चा हुई परन्तु नजीबुद्दौला के विरोध के कारण सन्धि न हो सकी। कुंजपुरा पर अधिकार करने से मराठों को कुछ मात्रा में रसद प्राप्त हो गयी परन्तु वह लम्बे समय तक काम नहीं दे सकती थी। अन्त में, युद्ध करने की नीयत से मराठे पानीपत के मैदान में पहुँच गये जहाँ अब्दाली पहले ही पहुँच चुका था। नवम्बर 1760 ई. में दोनों सेनाएँ एक-दूसरे के सामने पहुँच गयी थीं, जबकि युद्ध 14 जनवरी, 1761 ई. को हुआ।

युद्ध

14 जनवरी, 1761 ई. को प्रातः 9 बजे मराठों ने आक्रमण किया। युद्ध के बीच में ही मल्हारराव होल्कर मैदान छोड़कर भाग गया। इब्राहीम गार्दी के तोपखाने ने अब्दाली की सेना को बहुत हानि पहुँचायी परन्तु शाम तक सम्पूर्ण मराठा सेना भाग गयी अथवा कत्ल कर दी गयी। पेशवा का ज्येष्ठ पुत्र विश्वासराव, सदाशिवराव, जसवन्तराव पवार, तुकोजी सिन्धिया आदि युद्ध में मारे गये। इब्राहीम गार्दी और जानकोजी सिन्धिया बाद में कत्ल कर दिये गये। महादजी सिन्धिया घायल होकर भाग गया। दूसरे दिन तक मराठों का कत्ल जारी रहा। महाराष्ट्र में एक भी परिवार ऐसा न था जिसने अपने किसी न किसी व्यक्ति की मृत्यु पर शोक न मनाया हो।

परिणाम

इतिहासकारों में पानीपत के इस युद्ध के परिणामों के विषय में मतभेद है। सरदेसाई जैसे मराठा-इतिहासकार सर्वदा यह कहते रहे हैं कि इस युद्ध से मराठों की जन-हानि अवश्य हुई परन्तु मराठा-शक्ति का विनाश नहीं हुआ और न मराठों के उद्देश्य में कोई परिवर्तन हुआ। परन्तु इतिहासकार जदुनाथ सरकार के अनुसार यह मराठों की बहुत बड़ी पराजय थी। इससे मराठों ने योग्य और बहादुर सेनापति खो दिये जिसके कारण बाद में रघुनाथराव जैसे दुर्बल और षड्यन्त्रकारी मराठा सरदारों को मराठा-राजनीति में भाग लेने का अवसर मिला। पेशवाओं की शक्ति दुर्बल हो गयी और मराठा-संघ छिन्न-भिन्न होने लगा। उत्तर-भारत में भी मराठों की प्रगति रुक गयी। निस्सन्देह, सिन्धिया कुछ समय तक मुगल बादशाह का संरक्षक बना रहा परन्तु उत्तर-भारत में मराठों का स्थायी प्रभाव स्थापित न हो सका। इसी कारण अंग्रेजों

को फ्रान्सीसियों की शक्ति को समाप्त करने तथा बंगाल में अपनी शक्ति स्थापित करने का अवसर मिल सका। निस्सन्देह, इस युद्ध के पश्चात् मराठों का सम्मान भारत में कम हो गया और वे पर्याप्त समय तक उस पराजय के धक्के से सँभल नहीं सके। इसके पश्चात् मराठा-सेना भारत में अजेय नहीं समझी गयी और जो समय मराठों ने अपनी शक्ति को पुनः दृढ़ करने में लगाया उस समय में अन्य शक्तियों को भी अपनी स्थिति दृढ़ करने का अवसर मिल गया। इसके पश्चात् मराठे सम्पूर्ण भारत की शक्ति होने का दावा न कर सके बल्कि वे भारत की शक्तियों में से एक बन गये और बाद में मराठा-संघ की फूट एवं दुर्बलताओं ने उन्हें एक विदेशी शक्ति के सम्मुख झुका दिया।

मराठों की पराजय के कारण

मराठों की पराजय के कुछ कारण मूल आधार पर ही थे। मराठों में सामन्तवादी व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी जो एक नेतृत्व, समान प्रशिक्षण और एक युद्ध-नीति के विरोध में जाती थी। मराठों की लूटमार की प्रवृत्ति से हिन्दू-राजा भी असन्तुष्ट थे जिसके कारण राजस्थान से भी मराठों को कोई सहायता न मिल सकी। मराठों में सादगी, कर्मठता और कठोर अनुशासन के गुण नष्ट हो चुके थे। उनकी सेना के साथ भी स्त्रियाँ जाने लगी थीं। इस अवसर पर भी भाऊ की सेना के साथ एक बड़ी संख्या में स्त्रियाँ और अनुचर थे। पेशवा के उत्थान के पश्चात् मराठा सरदारों में पारस्परिक ईर्ष्या का भाव आ गया था। इस युद्ध के अवसर पर होल्कर की भूमिका शंकापूर्ण थी। इस प्रकार, मराठों में मूल आधार पर ही दुर्बलताएँ आ चुकी थीं जिनका कुप्रभाव इस युद्ध के निर्णय पर भी पड़ा।

परन्तु इस युद्ध में मराठों की पराजय का तत्कालीन कारण सदाशिवराव भाऊ की कूटनीतिक असफलता और अब्दाली की तुलना में उसका दुर्बल सेनापतित्व था। मराठों के साथ स्त्रियों और नौकरों की संख्या पर्याप्त से अधिक थी जिनकी रक्षा ही नहीं करनी पड़ती थी बल्कि उनके भोजन का भी प्रबन्ध करना पड़ता था। मराठा सैनिकों की संख्या केवल 45,000 थी जबकि अब्दाली की सेना में 60,000 सैनिक थे। भाऊ अपनी भूल से और अपनी सेना के गलत संचालन से दोआब को खो बैठा। वह रसद का प्रबन्ध न कर सका और तीन महीने तक अब्दाली के सम्मुख पड़ा रहा। उसने ऐसी स्थिति में युद्ध किया जबकि मराठा सैनिकों को दो महीने से पर्याप्त भोजन तक नहीं मिल पा रहा था। भाऊ ने मराठा-गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली का प्रयोग नहीं किया, इब्राहीम गार्दी के तोपखाने पर अधिक भरोसा किया और सुरक्षात्मक युद्ध करने की नीति का सहारा लिया जिसमें मराठों के मुकाबले अब्दाली अधिक योग्य था। अब्दाली के पास बन्दूकें थीं और उसकी घुड़सवार एवं ऊँट-सेना अवसर के अनुकूल अपनी स्थिति में परिवर्तन कर सकती थी, जबकि मराठा-सेना में घुड़सवारों की कमी थी और जिस प्रकार उन्होंने युद्ध किया उससे वह अपनी गति को खो बैठे। सदाशिवराव भाऊ का राजपूतों की सहानुभूति और सूरजमल जाट की सहायता प्राप्त न कर पाना भी उसकी असफलता और दुर्बलता का कारण रहा। इस प्रकार सभी परिस्थितियाँ ऐसी बन गयी थीं जिससे मराठों की पराजय प्रायः निश्चित थी। इस कारण यह युद्ध, युद्ध न रहकर हत्याकाण्ड बन गया था।

पानीपत के युद्ध के विनाश के धक्के को बालाजी अधिक समय तक बर्दाश्त न कर सका। 23 जून, 1761 ई. को पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु हो गयी।

पेशवा बालाजी बाजीराव की मृत्यु : उसका व्यक्तित्व और इतिहास में स्थान

पेशवा बालाजी बाजीराव सुन्दर और मधुरभाषी था। अपने पूर्व-पेशवाओं के विपरीत वह कला का प्रेमी और विलासी था। साधारण दृष्टि से वह सफल सैनिक और कूटनीतिज्ञ था।

उसके समय में मराठा-साम्राज्य का विस्तार हुआ और "मराठा घोड़ों ने कन्याकुमारी से लेकर हिमालय के झरनों तक अपनी प्यास बुझाई।" पेशवा बालाजी कुछ अंशों में कुशल शासन-प्रबन्धक भी था। उसने महाराष्ट्र में सुदृढ़ अर्थव्यवस्था एवं निष्पक्ष न्याय की स्थापना करने का प्रयत्न किया और इसमें पर्याप्त सफलता भी पायी।

परन्तु बालाजी समय के अनुकूल सेनापति, शासन-प्रबन्धक और सफल कूटनीतिज्ञ सिद्ध नहीं हुआ! निस्सन्देह, वह अपने पिता की तुलना में इन क्षेत्रों में दुर्बल सिद्ध हुआ। उसने होल्कर और सिन्धिया को अपने वश में नहीं रखा और न उनके झगड़ों का निबटारा कर सका। वह मल्हारराव होल्कर और नजीबुद्दौला की सांठगाँठ को न तो रोक सका और न कभी मल्हारराव को दण्डित कर सका। वह गायकवाड़ और रघुजी भौंसले को भी अपने नियन्त्रण में नहीं रख सका और न ही राजपूतों व जाटों के प्रति किये जा रहे मराठों के दुर्व्यवहार को रोक सका। संक्षेप में, बढ़ती हुई मराठा-शक्ति के प्रभाव को न तो वह संयमित रख सका और न ही उसको गलत रास्ते से बचाकर ठीक मार्ग पर ला सका। मराठा-शक्ति उसके समय में अपनी चरम सीमा पर थी और मराठे भारत की सबसे बड़ी शक्ति बन गये थे। परन्तु उस शक्ति का सदुपयोग और उसके स्थायित्व की उचित व्यवस्था करने में बालाजी असमर्थ रहा। इसी नियन्त्रण के अभाव में मराठा-शक्ति अव्यवस्थित रूप में एक विदेशी किन्तु भारत से सहायता-प्राप्त संगठित शक्ति से टकरा गयी और उसे भारी क्षति उठानी पड़ी। यदि मराठा-शक्ति एकत्रित होती और उसे पानीपत के युद्ध से पहले तथा युद्ध के समय योग्य नेतृत्व प्राप्त हुआ होता तो, सम्भवतः, पानीपत के युद्ध का निर्णय कुछ और ही होता । इसी प्रकार, बालाजी मराठा-शक्ति को उचित शासन-व्यवस्था भी प्रदान न कर सका। वस्तुतः मराठे भारत की सबसे बड़ी शक्ति तभी बने रह सकते थे जब वे भारत में एक निष्पक्ष और दृढ़ शासन स्थापित करने का प्रमाण देते। साम्राज्य की आधारशिला केवल सैन्य-बल पर ही आधारित नहीं होती बल्कि उसके लिए शान्त और दृढ़ शासन-व्यवस्था भी आवश्यक है। बालाजी बढ़ती हुई मराठा-शक्ति को यह प्रदान न कर सका और इस प्रकार मराठों को समय एवं परिस्थितियों के अनुकूल नेतृत्व प्रदान करने में वह असफल रहा। इस प्रकार बालाजी का समय एक तरफ यदि महान् सफलताओं का था तो दूसरी तरफ असफलताओं का भी रहा।

(iv) पेशवा माधवराव नारायन प्रथम (1761-1772 ई.)

बालाजी के बाद माधवराव नारायन पेशवा बना। वह पेशवाओं में महान् पेशवा माना गया। परन्तु प्रारम्भ में उसे काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सर्वप्रथम पेशवा को हैदराबाद के निजाम से संघर्ष करना पड़ा। पेशवा की कम आयु और अनुभवहीनता को देखकर निजाम ने लाभ उठाना चाहा। निजाम सलाबतजंग ने अपने भाई और राज्य के दीवान निजामअली को मराठों की सीमाओं में आक्रमण करने के लिए भेजा जिससे 1761 ई. में ही निजाम और मराठों का संघर्ष आरम्भ हो गया। पेशवा ने साहस से इस कठिनाई का मुकाबला किया और अन्त में, 1762 ई. में, निजाम की सेनाओं को परास्त करके उसे सन्धि करने के लिए बाध्य किया।

माधवराव की कठिनाइयों में उसके चाचा रघुनाथराव ने भी वृद्धि की। पेशवा की अल्पायु के कारण उसे पेशवा का संरक्षक नियुक्त किया गया था। उसने इसका लाभ उठाकर राजसत्ता को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया। इस कारण पेशवा का उससे संघर्ष हुआ। 1762 ई. में पेशवा रघुनाथराव से दो बार युद्ध में पराजित हुआ जिसके कारण राज्य की सत्ता, वस्तुतः, रघुनाथराव ने ही हथिया ली। लेकिन 1763 ई. में पेशवा ने सत्ता अपने हाथ में लेने में सफलता प्राप्त की। 1767 ई. में रघुनाथराव ने पुनः पेशवा से संघर्ष आरम्भ कर दिया। इससे पेशवा को बहुत कठिनाई हुई। वह अंग्रेजों और मैसूर राज्य में हुए प्रथम युद्ध से कोई लाभ न उठा सका, उसे

निजाम के प्रति समझौते की नीति अपनानी पड़ी और वह उत्तर-भारत में मराठा-शक्ति को दृढ़ करने के लिए सेना न भेज सका। परन्तु 1768 ई. में पेशवा ने रघुनाथराव को परास्त करके उसे कैद में डाल दिया। 1772 ई. में रघुनाथराव को कैद से मुक्ति प्राप्त हुई।

जानोजी भौंसले नामक एक अन्य मराठा सरदार ने भी पेशवा का विरोध करके उसकी कठिनाइयों में वृद्धि की परन्तु, अन्त में, पेशवा उसके विरुद्ध भी सफल रहा।

पेशवा ने मैसूर में नवस्थापित हैदरअली की शक्ति को भी तोड़ने का प्रयत्न किया। 1764-65 ई. में पेशवा ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और हैदरअली को सन्धि करने के लिए बाध्य किया। 1767 ई. में हैदरअली और मराठों का पुनः संघर्ष हुआ परन्तु इसमें भी मराठे विजयी रहे। इसी प्रकार, 1772 ई. में भी मराठों ने हैदरअली को सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार माधवराव नारायन ने हैदरअली के उत्थान को रोकने का प्रयत्न किया।

उत्तर-भारत में भी मराठों ने आशातीत सफलता प्राप्त की। 1766 ई. तक मल्हारराव होल्कर ने उत्तर-भारत में मराठों की प्रतिष्ठा को बनाये रखा। धीरे-धीरे मराठों ने मालवा और बुन्देलखण्ड को पुनः विजय कर लिया, सभी महत्वपूर्ण राजपूत-शासकों से राजस्व वसूल किया, जाटों और रुहेलों को दबाने में सफलता प्राप्त की, दिल्ली को अपने अधिकार में लिया, और अन्त में भागे हुए मुगल बादशाह शाहआलम को अपने संरक्षण में मुगल-सिंहासन पर बैठाने में सफलता प्राप्त की।

इस प्रकार माधवराव नारायन ने उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों में ही मराठा-प्रभुत्व को स्थापित करने में सफलता पायी। मराठों को जो हानि पानीपत के तृतीय युद्ध में हुई थी, उसने पर्याप्त मात्रा में उसकी पूर्ति की। उसने खोयी हुई मराठा-शक्ति को पुनः संगठित किया, मराठों के सम्मान की पुनःस्थापना की और निजाम व हैदरअली को दबाकर रखा। उसकी गणना सफल कूटनीतिज्ञों में की जाती है। महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस जैसे व्यक्तियों ने उसके समय में कूटनीति की शिक्षा ग्रहण की। परन्तु माधवराव भी मराठा-संघ को छिन्न-भिन्न होने से न रोक सका और उसकी मृत्यु के पश्चात् पेशवा और मराठों की शक्ति निरन्तर कम होती गयी।

(v) पेशवा नारायनराव (1772-1773 ई.)

माधवराव के पश्चात् उसका भाई नारायनराव पेशवा बना। परन्तु एक वर्ष पश्चात् ही उसके चाचा रघुनाथराव ने उसकी हत्या करा दी और स्वयं पेशवा बनने का प्रयत्न किया। यहीं से मराठों का पराभव शुरू हुआ। मराठे निरन्तर विभाजित होते चले गये, रघुनाथराव को अंग्रेजों से सहायता माँगनी पड़ी और प्रथम अंग्रेज-मराठा युद्ध आरम्भ हुआ। निस्सन्देह, मराठों का सूर्य अस्ताचल की ओर चल दिया था और यशस्वी पेशवाओं की शक्ति समाप्त हो गयी थी।

(vi) पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय (1774-1795 ई.)

नारायनराव की हत्या हो जाने के पश्चात् उसके चाचा रघुनाथराव (राघोबा) ने पेशवा के पद को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु अनेक मराठा सरदार उसे नारायनराव की हत्या के लिए दोषी मानते थे। इसी अवसर पर नारायनराव की विधवा पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। रघुनाथराव पर नारायनराव की हत्या का सन्देह करने वाले मराठा सरदारों ने इस अल्पायु माधवराव नारायन द्वितीय को पेशवा स्वीकार किया और रघुनाथराव के व्यवहार की जाँच के लिए न्यायाधीश से अनुरोध किया। ऐसी स्थिति में अपने जीवम को खतरे में जानकर रघुनाथराव अंग्रेजों के पास भाग गया और पेशवा बनने के लिए उनकी सहायता की माँग की, परिणामस्वरूप प्रथम आँग्ल-मराठा युद्ध आरम्भ हुआ।

पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय अल्पायु था। इस कारण उसके समय में मराठा सरदारों द्वारा गठित बाराभाई-परिषद् ने उसको संरक्षण प्रदान किया। इस परिषद् में सखाराम बापू, महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस का स्थान प्रमुख था। प्रारम्भ में महादजी सिन्धिया ने मराठा-राजनीति में अपना स्थान प्रभावपूर्ण बनाया और उसके पश्चात् नाना फड़नवीस ने। पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय के समय में मराठों का अंग्रेजों से प्रथम युद्ध हुआ। उसके समय में ही महादजी सिन्धिया ने उत्तर-भारत में मराठों की श्रेष्ठता को स्थापित करने तथा मुगल बादशाह शाहआलम को अपने ऊपर आश्रित रखने में सफलता प्राप्त की। परन्तु उसके समय में ही मराठों की दुर्बलता दिखायी देने लगी और मराठा-संघ टूटने लगा। 1795 ई. में नाना फड़नवीस के आतंक से दुःखी होकर पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय ने आत्महत्या कर ली।

(vii) पेशवा बाजीराव द्वितीय (1796-1818 ई.)

पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् पेशवा का पद किसे प्रदान किया जाय, इस प्रश्न को लेकर मराठा सरदारों में कुछ समय तक मतभेद रहा। बाद में रघुनाथराव के पुत्र बाजीराव द्वितीय को पेशवा का पद प्रदान किया गया। बाजीराव द्वितीय सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुआ। उसके समय में मराठों का अंग्रेजों से द्वितीय और तृतीय युद्ध हुआ। मराठे, अन्त में, परास्त हुए। 1818 ई. में पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया और पेशवा बाजीराव द्वितीय को अंग्रेज़ों ने आठ लाख रुपये प्रति वर्ष की पेंशन देकर कानपुर के निकट बिठूर भेज दिया। बाजीराव द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र नाना साहब को अंग्रेजों ने उसकी पेंशन देना भी स्वीकार नहीं किया। नाना साहब ने 1857 ई. के विद्रोह में भाग लिया जो असफल हुआ। नाना साहब नेपाल भाग गया और इसके बाद उसके बारे में कुछ ज्ञात नहीं हुआ। इस प्रकार यशस्वी पेशवाओं के उत्तराधिकारियों का अन्त हुआ।

महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस

पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय के समय में जो बाराभाई-परिषद् मराठा सरदारों ने गठित की थी, उसमें दो मराठा सरदार ऐसे हुए जिन्होंने भविष्य की मराठा-राजनीति को गम्भीरता से प्रभावित किया। उनमें से एक था महादजी सिन्धिया और दूसरा था नाना फड़नवीस। इनमें से एक महादजी सिन्धिया का तो मराठा-शक्ति के पतन को कुछ समय तक स्थगित रखने में योगदान रहा जबकि दूसरे नाना फड़नवीस ने मराठों के पतन का मार्ग प्रशस्त किया।

महादजी सिन्धिया

महादजी सिन्धिया ने पेशवा माधवराव नारायन प्रथम के समय में राजनीति का अनुभव प्राप्त किया था। पेशवा माधवराव नारायन द्वितीय के समय में वह उसकी संरक्षक-परिषद्—बाराभाई-परिषद्—का एक महत्वपूर्ण सदस्य था। वह मिलनसार और हँसमुख प्रवृत्ति का व्यक्ति था। उसने यूरोपियन शस्त्रों और युद्ध-नीति के महत्व को समझकर फ्रान्सीसी अधिकारियों की सहायता से अपने सैनिकों को यूरोपियन ढंग से शस्त्र-शिक्षा तथा शस्त्र-साधनों से युक्त करने का प्रयत्न किया था। प्रथम मराठा युद्ध के अवसर पर उसके प्रयत्नों से ही मराठा, हैदराबाद के निजाम और मैसूर के हैदरअली का अंग्रेजों के विरुद्ध एक गुट तैयार हुआ था। युद्ध का अन्त भी सालबाई की सन्धि के द्वारा उसके प्रयत्नों से ही हुआ। उत्तर-भारत में मराठों के सम्मान की रक्षा उसी ने की। उसने राजपूत-शासकों को अपने नियन्त्रण में रखा तथा मुगल बादशाह शाहआलम को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाया। बादशाह शाहआलम ने उसे 'नाइब वकील-ए-मुतलक' की उपाधि प्रदान की थी। फरवरी 1794 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक

महादजी सिन्धिया मराठों में ही नहीं अपितु समस्त उत्तर-भारत में सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति था। उसमें सैनिक-प्रतिभा थी, परन्तु उससे कहीं अधिक वह एक योग्य कूटनीतिज्ञ था। उसकी सफलता के लिए उसकी वही योग्यता अधिक उत्तरदायी थी।

नाना फड़नवीस

नाना फड़नवीस के बारे में इतिहासकारों की एक लम्बे समय तक यह धारणा थी कि वह एक योग्य कूटनीतिज्ञ था, उसने मराठा-राजनीति का संचालन बहुत योग्यता एवं सफलता से किया और उसकी मृत्यु होते ही मराठों का पराभव आरम्भ हुआ। परन्तु अब नवीन खोजों से यह धारणा समाप्त हो गयी है। नाना फड़नवीस में न तो सैनिक-प्रतिभा थी और न ही वह एक योग्य कूटनीतिज्ञ सिद्ध हुआ। उसका मुख्य कार्य राज्य का वित्तीय प्रबन्ध था। इस कारण वह शासन और पेशवा माधवराव नारायन की संरक्षक-परिषद् का एक महत्वपूर्ण सदस्य था। नाना फड़नवीस महत्वाकांक्षी था। संरक्षक-परिषद् का सदस्य बनकर धीरे-धीरे उसने उसके सभी सदस्यों को या तो पदमुक्त कर दिया अथवा अपने ऊपर आश्रित कर लिया और, इस प्रकार, उसने शासन को अपने हाथों में केन्द्रित कर लिया। सत्ता को अपने ही हाथों में रखने के उसके प्रयत्नों के कारण पेशवा माधवराव नारायन ने दुःखी होकर आत्महत्या कर ली। राजनीति में भी उसका भाग मराठों के लिए श्रेयस्कर नहीं रहा। 1782 ई. में सालबाई की सन्धि के पश्चात् महादजी सिन्धिया के सम्मान में वृद्धि देखकर वह उससे ईर्ष्या करने लगा जिसके कारण उसने उसके साथ कभी सहयोग नहीं किया अपितु कई अवसरों पर उसके विरोध में भी कार्य किया तथा उसकी और होल्कर की प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा दिया। तृतीय मैसूर-युद्ध में अंग्रेजों की सहायता करके उसने टीपू को दुर्बल बनाने में सहायता दी जिससे दक्षिण-भारत में अंग्रेजों की शक्ति के विकास में सहायता मिली। नाना फड़नवीस कभी भी अंग्रेजों की राजनीति को न समझ सका। वह निरन्तर उनसे पत्र-व्यवहार करता रहा था और उनको मित्र बनाये रखने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करता था। उसने महादजी सिन्धिया ही नहीं अपितु प्रत्येक मराठा सरदार के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया जिससे मराठों में आन्तरिक कलह और ईर्ष्या का वातावरण बना। इस प्रकार, नाना फड़नवीस ने मराठा-संघ को दुर्बल किया। 1800 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 18वीं सदी में मराठों के उत्थान के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. "पेशवा बाजीराव प्रथम पेशवाओं में सर्वश्रेष्ठ था।" इस विचार से आप कहाँ तक सहमत हैं?
3. पानीपत के तृतीय युद्ध के कारण और परिणामों पर विचार कीजिए।
4. टिप्पणी कीजिए :

   (अ) महादजी सिन्धिया,

   (ब) नाना फड़नवीस।

4

यूरोपीय जातियों का भारत में प्रवेश

[पुर्तगाली, डच, फ्रान्सीसी तथा अंग्रेज]

पहला यूरोपियन, जिसने यूरोप से भारत के लिए सीधे समुद्री मार्ग की खोज की, वास्को डि-गामा था। वह 1498 ई. में कालीकट के समुद्र-तट पर उतरा। उस समय से यूरोप के निवासियों का भारत में व्यापार करने के लिए आना आरम्भ हुआ। वास्को डि-गामा पुर्तगाल के शासक के प्रतिनधि के रूप में भारत आया था और उसने यहाँ कालीकट के शासक से पुर्तगालियों के लिए व्यापार करने की सुविधा माँगी। सम्पूर्ण 16वीं सदी में पुर्तगाली भारत के व्यापार और राजसत्ता के लिए प्रयत्न करने वाली एकमात्र यूरोपीय शक्ति थे। पोप अलेक्जेण्डर षष्ठ ने 1492 ई. में एक आज्ञा-पत्र के द्वारा पूर्वी समुद्रों में पुर्तगाल को व्यापार करने का एकाधिकार प्रदान किया। उस आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का साहस यूरोप का कोई भी ईसाई राज्य नहीं कर सकता था। बाद में पोप जुलियस द्वितीय ने 1506 ई. में और पोप लुई दशम् ने 1514 ई. में इस आज्ञा-पत्र को दोहरा दिया। इस कारण 16वीं सदी में केवल पुर्तगाली ही भारत में आये। परन्तु उसके पश्चात् धर्मसुधार-आन्दोलन के आरम्भ हो जाने के कारण यूरोप के राज्यों ने पोप की आज्ञा का उल्लंघन करना आरम्भ कर दिया और क्रमशः डच, अंग्रेज और फ्रान्सीसी भारत आये और इनमें भारत के व्यापार व राजसत्ता के लिए संघर्ष हुआ जिसमें अन्त में अंग्रेजों को सफलता प्राप्त हुई।

भारत में यूरोपीय जातियों के आने का मुख्य उद्देश्य व्यापार था। तुर्कों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण-पश्चिमी एशिया और दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर अधिकार कर लिया था। इससे यूरोप के एशिया व पूर्वी देशों से व्यापार करने के स्थल-मार्ग पर उनका एकाधिपत्य हो गया था। इस कारण यूरोपीय देशों को भारत और पूर्वी एशिया के देशों से व्यापार करने के लिए जल-मार्ग की खोज करने की आवश्यकता हुई। यूरोप गर्म-मसालों के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर निर्भर करता था। इस कारण नवीन जल-मार्ग की खोज उनके लिए आवश्यक थी। उनके विचार से भारत एक ऐसा देश था जो धनवान था और जहाँ से वे गर्म-मसाले भी प्राप्त कर सकते थे। इस कारण भारत से व्यापार करने की उनकी इच्छा प्रबल थी। बाद में भारत आकर उन्हें यह पता लगा कि गर्म-मसालों के लिए भारत नहीं बल्कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश, जैसे जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि अधिक उपयुक्त थे। परन्तु भारत इन देशों से व्यापार करने की एक कड़ी हो सकता था। साथ ही भारत राजनीतिक दृष्टि से दुर्बल था जहाँ वे अपनी आकांक्षाओं की सरलता से पूर्ति कर सकते थे। इस कारण इन यूरोपीय जातियों ने भारत में रहने और उसे अपने अधीन करने का प्रयत्न किया।

बाद में भारत की राजनीतिक दुर्बलता के कारण इन यूरोपीय जातियों ने यह भी अनुभव किया कि भारत के शासकों और एक-दूसरे से बचने के लिए उन्हें केवल अपनी ही शक्ति पर

निर्भर करना होगा। इस कारण इन यूरोपीय जातियों में व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ राजनीतिक प्रतिस्पर्धा भी आरम्भ हुई और इनके झगड़े न केवल भारतीय शासकों से ही हुए बल्कि आपस में भी हुए, जिनका अन्तिम परिणाम भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना था। इस कारण भारत में यूरोपीय जातियों के आने का मुख्य उद्देश्य व्यापारिक था। कुछ अंग्रेज इतिहासकारों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यूरोप-निवासियों का भारत आना एक श्रेष्ठ सभ्यता का प्रसार (civilization on the march) था। परन्तु यह कहना सर्वथा एक भूल है। निस्सन्देह, बाद के समय में शक्तिशाली यूरोप की विचारधारा और सभ्यता ने भारत को ही क्या सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका को भी प्रभावित किया परन्तु यूरोप-निवासियों का प्रारम्भिक उद्देश्य सभ्यता का प्रसार था, यह पूर्णतया असत्य है। यूरोप-निवासी भारत में केवल व्यापार और धन की लालसा से आये। बाद में भारत की परिस्थितियों के कारण वे यहाँ पर साम्राज्य स्थापित करने की लालसा कर सके और उनमें से एक ने यहाँ अपने साम्राज्य की स्थापना की और यहाँ की सभ्यता को प्रभावित किया।

पुर्तगाली—प्रवेश, सफलता और असफलता

वास्को डि-गामा ने कालीकट के हिन्दू-शासक जमोरिन से व्यापार करने की सुविधाएँ प्राप्त कीं और उसी समय से पुर्तगालियों का भारत में व्यापार आरम्भ हुआ। उन्होंने जमोरिन को उसके शत्रु-राज्यों मुख्यतः कोचीन-राज्य के विरुद्ध सहायता देना भी आरम्भ किया और इस प्रकार भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया।

आल्मीडा (Almeida) भारत में पहला पुर्तगाली गवर्नर था। वह 1505 ई. से 1509 ई. तक भारत में रहा और उसने भारत में पुर्तगाली राज्य स्थापित करने का प्रयत्न आरम्भ किया यद्यपि उसका प्रमुख उद्देश्य पुर्तगाल के दक्षिण-पूर्वी एशिया के व्यापार की सुरक्षा करना था।

उसका उत्तराधिकारी एलबुकर्क (Albuquerque) था जो 1509 ई. से 1515 ई. तक भारत में रहा और जिसकी अधीनता में पुर्तगाली शक्ति का निर्माण हुआ। उसका कहना था कि वह भारत के हिन्दुओं को मुसलमानों से बचाने के लिए आया था और उसके बदले में वह भारत के व्यापार पर पुर्तगाल के लिए एकाधिपत्य माँगता था। एलबुकर्क की नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे :

1. वह यूरोप से भारत के मार्ग के बीच में पड़ने वाले सभी व्यापारिक स्थानों को अपने अधिकार में करना चाहता था;

2. वह स्थानीय निवासियों के साथ पुर्तगालियों के विवाह कराकर पुर्तगाली उपनिवेशों की स्थापना करना चाहता था;

3. जहाँ वह उपनिवेश स्थापित नहीं कर सकता था अथवा अधिकार नहीं कर सकता था वहाँ वह समुद्र-तट पर शक्तिशाली किले बनाकर पुर्तगाल के जल-मार्ग की सुरक्षा करना चाहता था; और

4. जहाँ यह भी सम्भव न था वहाँ पर वह स्थानीय शासकों से पुर्तगाल के राजा की सत्ता को स्वीकार करने की माँग करता था।

इस प्रकार एलबुकर्क के उद्देश्य विस्तृत थे और उसने अपने थोड़े से कार्यकाल में इनकी पूर्ति में पर्याप्त सफलता भी पायी। मुख्यतः उसने भारत में पुर्तगाली शक्ति को सुदृढ़ किया। उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी पुर्तगालियों को पर्याप्त सफलता मिली और धीरे-धीरे

पश्चिमी तट पर गोआ, दमन, ड्यू, सालीसट, बेसीन, चौल और बम्बई, बंगाल में हुगली और मद्रास-तट पर 'सान-थोम' पुर्तगालियों के अधिकार में चले गये।

पुर्तगालियों की इस प्रारम्भिक सफलता के विभिन्न कारण थे। भारत में छोटे-छोटे राज्यों में परस्पर झगड़े थे जिनका उन्होंने लाभ उठाया। पुर्तगाली शक्तिशाली मुगल बादशाहों अथवा पर्शिया के शासक शाह इस्माइल से झगड़े में नहीं फँसे। इसके अतिरिक्त, प्रारम्भिक पुर्तगाली गवर्नरों की योग्यता, उनकी नौ-सेना, तोपखाना आदि भी उनकी सफलता के कारण थे।

परन्तु पुर्तगाली भारत में असफल हुए। अन्त में, गोआ, दमन और ड्यू के अतिरिक्त उनके अधिकार में कुछ न रहा। पुर्तगालियों के पतन के विभिन्न कारण रहे। 1580 ई. में पुर्तगाल स्पेन के साथ सम्मिलित हो गया और अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा। बाद में मुगलों और मराठों ने भी पुर्तगालियों का विरोध किया।1629 ई. में शाहजहाँ ने उनसे हुगली छीन लिया, 1639 ई. में मराठों ने उनसे सालीसट और बेसीन छीन लिया तथा 1661 ई. में पुर्तगाल ने बम्बई अंग्रेजों को दहेज में दे दिया। पुर्तगालियों की धार्मिक कट्टरता, धर्म-प्रचार और स्थानीय स्त्रियों से विवाह करने की नीति ने भी उनके अनेक शत्रु बना दिये। पुर्तगाली, बाद के समय में, व्यापार के प्रति उदासीन हो गये और राजनीति में अधिक हस्तक्षेप करने लगे जिससे उनकी आर्थिक शक्ति समाप्त हुई। अन्त में, यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि पुर्तगाल यूरोप का एक छोटा-सा देश था। जन-शक्ति और आर्थिक शक्ति की दृष्टि से वह इतनी दूर एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने के सर्वथा अयोग्य था।

डच—प्रवेश, सफलता और असफलता

1602 ई. में भारत से व्यापार के लिए प्रथम डच कम्पनी की स्थापना हुई। डचों की नाविक शक्ति पर्याप्त दृढ़ थी और धीरे-धीरे उन्होंने पुर्तगाली शक्ति को समाप्त कर दिया। 17वीं सदी में पूर्वी-समुद्र के व्यापार पर डचों का एकाधिपत्य रहा और उन्होंने अंग्रेजों या फ्रान्सीसियों को अपना प्रभाव नहीं जमाने दिया। भारत में उन्होंने पुलीकट, सूरत, चिनसुरा, कासिमबाजार, पटना, बालासोर, नागापट्टम और कोचीन में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये। परन्तु डचों का मुख्य लक्ष्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों से व्यापार करने का रहा। भारत उनके व्यापारिक मार्ग की एक कड़ी मात्र था अतः भारत में उन्होंने अपने राजनीतिक प्रभाव को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया। धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि डच दक्षिण-पूर्वी एशिया में और अंग्रेज भारत में अधिक आकांक्षाएँ रखते थे। अतएव भारत में उन्होंने अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के साथ गम्भीर प्रतियोगिता नहीं की।

फ्रान्सीसी

पूर्व में फ्रान्सीसियों की आकांक्षाएँ 16वीं सदी में आरम्भ हो गयी थीं। परन्तु उस समय वे कोई विशेष सफलता न पा सके। लुई चौदहवें के मन्त्री कोलबर्ट ने अपने समय में इस कार्य में उत्साह दिखाया और सरकार की सहायता से 1664 ई. में भारत से व्यापार करने के लिए प्रथम फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थापना हुई। 18वीं सदी में फ्रान्सीसियों ने धीरे-धीरे अपने प्रभाव का विस्तार किया और पाण्डिचेरी, चन्द्रनगर तथा मॉरीशस द्वीप आदि पर अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये। पुर्तगाली और डचों की शक्ति के भारत में समाप्त हो जाने के बाद यूरोपीय जातियों में से फ्रान्सीसी ही ऐसे रह गये जिन्होंने भारत में सत्ता के लिए अंग्रेजों से संघर्ष किया।

अंग्रेज

सबसे पहली अंग्रेज कम्पनी की स्थापना 1660 ई. में हुई। इसी कम्पनी ने सर टामस रो को जहाँगीर के दरबार में एक व्यापारिक सन्धि करने के लिए भेजा। यद्यपि अंग्रेजों को इस कार्य में सफलता न मिल सकी परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने सूरत, आगरा, अहमदाबाद, बम्बई, पटना, कासिमबाजार, राजमहल, कलकत्ता आदि में अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिये। 1698 ई. में अंग्रेजों ने एक अन्य व्यापारिक कम्पनी की स्थापना की परन्तु पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने के लिए 1702 ई. में दोनों कम्पनियों को मिलाकर एक कर दिया गया जो ईस्ट इण्डिया कम्पनी कहलायी। 1717 ई. में इस कम्पनी ने मुगल बादशाह फर्रुखशियर से व्यापारिक अधिकारों का एक फरमान (अधिकार-पत्र) प्राप्त किया जिससे न केवल उन्हें व्यापारिक लाभ प्राप्त हुआ बल्कि जिसने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें साम्राज्य-विस्तार में भी सहायता दी। इस फरमान के द्वारा कम्पनी को मुगल बादशाह को 3,000 रुपये वार्षिक देने के बदले में हैदराबाद, गुजरात और बंगाल में बिना कर दिये हुए व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया गया जिससे अंग्रेज कम्पनी के बंगाल के नवाब से झगड़े शुरू हुए और बंगाल में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी।

इस प्रकार पुर्तगाली, डच, फ्रान्सीसी और अंग्रेज—ये चार प्रमुख यूरोपीय शक्तियाँ भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से आयीं। 16वीं सदी में पुर्तगाल का एकाधिपत्य रहा और 17वीं सदी में डचों का। उनके पश्चात् 18वीं सदी में केवल अंग्रेज और फ्रान्सीसी भारत के व्यापार और राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने तथा आपस में संघर्ष करने के लिए भारत में शेष रह गये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में पुर्तगालियों के पतन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

5

आंग्ल-फ्रान्सीसी प्रतिस्पर्द्धा और कर्नाटक के तीन युद्ध

भारत में अंग्रेजों एवं फ्रान्सीसियों का झगड़ा चार समयान्तरालों के मध्य हुआ—1746 से 1748 ई. तक, 1749 से 1754 ई. तक, 1758 से 1763 ई. तक और 1778 से 1815 ई. तक। प्रथम तीन समयान्तरालों में यह झगड़ा मुख्यतः दक्षिण-भारत तक सीमित था। इन वर्षों में हुए युद्धों से ही फ्रान्सीसी शक्ति भारत में समाप्त हो गयी और वे प्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों से संघर्ष करके भारत की सत्ता को प्राप्त करने की आशा खो बैठे। इस कारण चौथे काल में फ्रान्सीसियों ने भारतीय नरेशों की सहायता करके अंग्रेजों की शक्ति को तोड़ने का प्रयत्न किया। उन्होंने निजाम, टीपू और सिन्धिया जैसे शासकों और सरदारों की सेनाओं को यूरोपियन तरीके से युद्ध करना सिखाया और उनकी सहायता से अंग्रेजों की शक्ति पर आघात किया। परन्तु फ्रान्सीसियों का यह प्रयत्न भी असफल हुआ।

1. आंग्ल-फ्रान्सीसी संघर्ष आरम्भ होने से पूर्व कर्नाटक की स्थिति

कर्नाटक के नवाब हैदराबाद के निजाम के अधीन थे यद्यपि वे सर्वदा अपने को स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न करते रहते थे। मराठा सरदार भी कर्नाटक पर निरन्तर आक्रमण करते रहते थे। 1740 ई. में उन्होंने वहाँ आक्रमण करके कर्नाटक के नवाब दोस्तअली को युद्ध में मार डाला और उसके दामाद चाँदा साहब को कैद करके अपने साथ ले गये। दोस्तअली के पुत्र सफदरअली की स्थिति बहुत खराब हो गयी और उसी स्थिति में उसकी हत्या कर दी गयी। 1743 ई. में निजाम ने कर्नाटक पर आक्रमण किया और मराठों को निकाल कर सफदरअली के एक अल्पायु पुत्र सईद मुहम्मद को कर्नाटक का नवाब और अपने एक अधिकारी अनवरुद्दीन को उसका संरक्षक बना दिया। थोड़े समय पश्चात् सईद मुहम्मद का भी कत्ल हो गया और निजाम ने अनवरुद्दीन को ही कर्नाटक का नवाब बना दिया। परन्तु अनवरुद्दीन की स्थिति दृढ़ न थी और दोस्तअली के वंशज उसका विरोध कर रहे थे। ऐसी स्थिति में जबकि कर्नाटक का नवाब अनवरुद्दीन दुर्बल था, मराठे और निजाम परस्पर प्रतिद्वन्द्वी थे और विभिन्न युद्धों के कारण कर्नाटक की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति बहुत दुर्बल थी, कर्नाटक में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का संघर्ष आरम्भ हुआ।

2. 1740 ई. तक अंग्रेजों एवं फ्रान्सीसियों के सम्बन्ध

18वीं सदी के प्रथम अर्द्ध-भाग में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के सम्बन्ध भारत में बहुत अच्छे रहे। इसी कारण यद्यपि यूरोप में स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर इंगलैण्ड और फ्रान्स ने एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध लड़ा परन्तु भारत में कुछ विशेष परिस्थितियों के कारण दोनों कम्पनियों ने कोई झगड़ा नहीं किया। अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों ही व्यापार करने के लिए भारत आये थे और धन प्राप्त करना दोनों का लक्ष्य था। युद्ध उनके व्यापार और

आर्थिक लाभ में बाधा उपस्थित करता था। इस कारण युद्ध की अपेक्षा शान्ति एवं मित्रता दोनों के लिए लाभदायक थी। उस समय दोनों ही कम्पनियों की स्थिति दृढ़ न थी और दोनों को मुगल बादशाह से यह भय था कि झगड़ा करने की स्थिति में मुगल बादशाह दोनों को अपने देश से बाहर निकल जाने के आदेश दे देगा। इस कारण अंग्रेज और फ्रान्सीसियों के सम्बन्ध पर्याप्त समय तक अच्छे रहे, यहाँ तक कि जैसा लिखा गया है, "अंग्रेज और फ्रान्सीसियों के सम्बन्ध इतने अच्छे थे कि फ्रान्सीसी अपना व्यक्तिगत और व्यापारिक सामान सुरक्षा की दृष्टि से पाण्डिचेरी से मद्रास भेजा करते थे।"[1]

परन्तु अंग्रेज और फ्रान्सीसियों के सम्बन्ध बहुत लम्बे समय तक अच्छे नहीं रह सकते थे। दोनों कम्पनियों का उद्देश्य भारत से व्यापार करके आर्थिक लाभ कमाना था। इस कारण दोनों की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता अनिवार्य थी और इसी कारण बाद में राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हुई। जब एलेक्जेण्डर ड्यूमा फ्रान्सीसी कम्पनी का गवर्नर बना तो यह प्रतिद्वन्द्विता तीव्र हो गयी। ड्यूमा पहला फ्रान्सीसी गवर्नर था जिसने यह अनुभव किया कि उनका समुद्र-तट पर एक दृढ़ आधार होना चाहिए जिससे फ्रान्सीसी व्यापार की सुरक्षा और वृद्धि सम्भव हो सके। वह यह भी जानता था कि संकट के क्षणों में उसे फ्रान्स से आर्थिक अथवा सैनिक सहायता प्राप्त नहीं हो सकती थी। इस कारण उसने भारत में ही अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति को दृढ़ करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उसने कौशल का प्रयोग किया। उसने पाण्डिचेरी को खूब सजाया और एक बार कर्नाटक के नवाब दोस्तअली और हैदराबाद के निजाम आसफजा को पाण्डिचेरी आने का निमन्त्रण दिया। नवाब और निजाम दोनों पाण्डिचेरी गये और ड्यूमा उनके साथ छह माह तक एक भारतीय राजा की भाँति रहा और उसने उन दोनों को खूब भेंटें दीं। निजाम ड्यूमा की आवभगत से बहुत सन्तुष्ट हुआ और उसने प्रसन्न होकर उसे नवाब का पद और कृष्णा नदी के दक्षिण की भूमि से लगान वसूल करने का अधिकार दिया। उसने मुगल बादशाह से ड्यूमा के नवाब के पद की स्वीकृति भी माँगी। ड्यूमा जो चाहता था वह उसे मिल गया। उसने सेना रखना और शासन करना आरम्भ कर दिया। कानूनी तौर पर तंजौर और मैसूर के राजा उसके अधीन हो गये। 1739 ई. में तंजौर के राजा को सहायता देने के बदले में उसने उससे कारीकल प्राप्त किया और जब दोस्तअली मराठों से युद्ध करता हुआ मारा गया तब उसने उसके पुत्र सफदरअली की सहायता की और उसके बदले में भूमि, जेवरात और धन्यवाद का एक पत्र भी प्राप्त किया।

जब फ्रान्सीसी दक्षिण के राज्यों में इतना प्रभाव जमा चुके थे, अंग्रेज बिल्कुल शान्त थे। डायरेक्टरों की सभा ने मद्रास के अंग्रेज गवर्नर को केवल एक आदेश दिया था : "फ्रान्सीसियों की गतिविधि पर दृष्टि रखो।" 1741 ई. में डूपले (Dupleix) फ्रान्सीसी कम्पनी का गर्वनर बना। उसने केवल गवर्नर के पद को ही प्राप्त नहीं किया बल्कि उसने ड्यूमा को मिले नवाब के पद को भी ग्रहण कर लिया। डूपले ड्यूमा से अधिक महत्वाकांक्षी सिद्ध हुआ। वह पहला फ्रान्सीसी गवर्नर था जिसने भारत में फ्रान्सीसी राज्य को स्थापित करने का विचार किया। उसके गवर्नर बनने से अंग्रेज और फ्रान्सीसियों की प्रतिद्वन्द्विता तीव्र हो गयी।

3. प्रथम कर्नाटक युद्ध (1746-48 ई.)

1740 ई. में यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध आरम्भ हुआ जिसमें इंगलैण्ड और फ्रान्स एक-दूसरे के शत्रु बन गये। इसका प्रभाव भारत पर पड़ा। यद्यपि दोनों कम्पनियों

---

1 "Such were the friendly relations between the English and the French that the French sent their goods and merchandise from Pondicherry to Madras for safe custody."

—*Cambridge History of India*, Vol. V.

ने भारत में युद्ध को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु यह सम्भव न हो सका क्योंकि फ्रान्स और इंगलैण्ड सम्पूर्ण विश्व में एक-दूसरे से संघर्ष कर रहे थे। वाल्टेयर ने लिखा है : "हमारे देश में पहली तोप से निकली हुई आग ने सम्पूर्ण अमरीका और एशिया की तोपों में आग लगा दी।"[1] भारत में भी इसी कारण युद्ध आरम्भ हुआ।

जिस समय यूरोप में युद्ध आरम्भ हुआ उस समय डूपले ने मद्रास के अंग्रेज गवर्नर को लिखा कि वह अंग्रेजों से मित्रता के पक्ष में है। अंग्रेज गवर्नर ने कुछ अधिक चालाकी से उत्तर दिया : "शान्ति से अधिक उन्हें कोई अन्य चीज सन्तुष्ट नहीं करेगी।"[2] दोनों कम्पनियों ने गृह-सरकारों को लिखा कि वे भारत में परस्पर युद्ध करना नहीं चाहतीं। फ्रान्सीसी सरकार ने डूपले की बात स्वीकार कर ली, परन्तु इंगलैण्ड की सरकार ने अपनी कम्पनी की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और कमाण्डर बारनेट के नेतृत्व में एक जल-बेड़ा फ्रान्सीसी व्यापार पर आक्रमण करने के लिए भेज दिया। उसने कुछ फ्रान्सीसी व्यापारिक जहाजों को डुबा दिया, जिनमें एक जहाज डूपले का भी था। डूपले के क्रोध की सीमा न रही। उसने मॉरीशस द्वीप के फ्रान्सीसी गवर्नर और जल-बेड़े के सेनापति ला-बर्डिनो (La Bourdonnais) से सहायता माँगी। उस समय तक बारनेट पाण्डिचेरी के निकट पहुँच चुका था। परन्तु शीघ्र ही उसकी मृत्यु हो गयी और उसका स्थान पेटन (Peyton) ने ले लिया। 1746 ई. में ला-बर्डिनो ने पेटन से समुद्र पर युद्ध करके उसे हुगली की तरफ जाने के लिए बाध्य किया और डूपले के कहने से मद्रास पर आक्रमण किया। थोड़े विरोध के पश्चात् मद्रास ने आत्मसमर्पण कर दिया।

मद्रास पर अधिकार होते ही ला-बर्डिनो और डूपले में झगड़ा हो गया। ला-बर्डिनो ने अंग्रेज गवर्नर से तीन लाख रुपया फ्रान्सीसी कम्पनी के लिए और एक लाख रुपया अपने लिए माँगा और आश्वासन दिया कि यह धन लेकर वह वापस चला जायेगा। परन्तु डूपले इस बात के विरुद्ध था। वह मद्रास के बाद सेण्ट डेविड के अंग्रेजी किले को और उसके पश्चात् बंगाल पर आक्रमण करके वहाँ की अंग्रेजी फैक्टरियों को अपने अधिकार में करके अंग्रेजों की शक्ति को सर्वदा के लिए भारत से समाप्त करने का स्वप्न देख रहा था। ला-बर्डिनो इसके लिए तैयार न था। उसने अंग्रेज गवर्नर से 60,000 रुपया ले लिया था। डूपले ने ला-बर्डिनो को समझाया और डराया भी परन्तु वह डूपले की आज्ञा मानने को तैयार न हुआ। एक दिन ला-बर्डिनो ने एक जहाज को मद्रास की ओर आते हुए देखा और उसे भय हुआ कि वह अंग्रेजी जल-बेड़ा था। इस कारण वह तुरन्त मद्रास छोड़कर मॉरीशस वापस चला गया जिससे कहीं वह अपने 60,000 रुपयों को भी न गँवा बैठे।

परन्तु वह जहाज अंग्रेजों का न होकर स्वयं डूपले का था। ला-बर्डिनो को मानसून की कठिनाई के कारण अपने बहुत-से सैनिकों को भी छोड़ देना पड़ा था जो बाद में डूपले के साथ हो गये। अब डूपलें ने मद्रास पर आक्रमण किया। उसने ला-बर्डिनो द्वारा किये गये समझौते को ठुकरा दिया और मद्रास में अत्यधिक लूटमार की। अंग्रेज उस अवसर पर अपनी कोई सुरक्षा न कर सके और उन्होंने कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन से सहायता माँगी। नवाब ने डूपले को मद्रास छोड़ने का आदेश दिया परन्तु जब डूपले ने उसे यह लिखा कि वह तो नवाब के लिए ही मद्रास को जीत रहा है, तब नवाब चुप रह गया। जब मद्रास में फ्रान्सीसी झण्डा लग गया और नवाब को पता लगा कि डूपले लूट का धन स्वयं अपने लिए रख रहा है तब उसने

---

1 "The first cannon that shot fired in our lands was to set the match to all the batteries in America and Asia." —*Voltaire.*

2 "Nothing would please them better than peace." —*English Governor to Dupleix.*

अपने पुत्र के नेतृत्व में एक सेना डूपले के विरुद्ध मद्रास पर अधिकार करने के लिए भेजी। डूपले को बाध्य होकर युद्ध करना पड़ा। इस युद्ध में नवाब की सेना की पराजय हुई। डॉडवेल ने लिखा : "यह सभी के लिए आश्चर्य की बात थी कि थोड़े से फ्रान्सीसी सैनिकों ने नवाब की सेना को सेण्ट थोमी के युद्ध में 1746 ई. में पूर्णतः परास्त कर दिया।"[1]

इस युद्ध की सफलता से डूपले की महत्वाकांक्षाएँ बढ़ीं । वह केवल मद्रास की विजय से ही सन्तुष्ट न हुआ। वह भारत में फ्रान्सीसी साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देखने लगा और उसने अंग्रेजों के किले सेण्ट डेविड पर आक्रमण किया जो मद्रास से केवल 12 मील दूर था। परन्तु 18 महीने तक प्रयत्न करने के पश्चात् भी डूपले उस पर अधिकार न कर सका। 6 अगस्त, 1748 ई. को एक बड़ा अंग्रेजी जल-बेड़ा आ गया जिसने पाण्डिचेरी का घेरा डाल दिया। परन्तु अंग्रेज पाण्डिचेरी को जीतने में असफल रहे और उन्हें पाण्डिचेरी का घेरा उठाना पड़ा। इससे डूपले के सम्मान में और अधिक वृद्धि हुई।

अंग्रेज और फ्रान्सीसी पुनः युद्ध की तैयारी कर ही रहे थे कि यूरोप में एक्स-ला-शैपल की सन्धि हो जाने से आस्ट्रिया के उत्तराधिकार का युद्ध समाप्त हो गया। इस कारण भारत में भी युद्ध समाप्त कर दिया गया। इस सन्धि के द्वारा डूपले की इच्छाओं के विरुद्ध भारत में अंग्रेजों को मद्रास वापस दे दिया गया और बदले में फ्रान्स को अमेरिका में लूबर प्राप्त हुआ।

इस प्रकार अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों का प्रथम युद्ध समाप्त हुआ। बाह्य दृष्टि से यद्यपि यह युद्ध महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसमें न तो हार-जीत का निर्णय हुआ और न ही अंग्रेज और फ्रान्सीसियों के अधिकारों अथवा सीमाओं में कोई परिवर्तन हुआ, परन्तु तब भी यह युद्ध महत्वपूर्ण था। इससे अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों को आसपास की 100 मील की भौगोलिक परिस्थिति का ज्ञान हो गया। इससे उन्हें भारतीय नरेशों की सैनिक दुर्बलता स्पष्ट हो गयी और यह सिद्ध हो गया कि यूरोपियन ढंग से शिक्षित छोटी सेनाएँ भी भारतीय नरेशों की बड़ी सेनाओं को परास्त कर सकती थीं। इससे नौ-सेना का महत्व स्पष्ट हुआ और भारतीय नरेशों में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की सहायता प्राप्त करने हेतु उत्सुकता बढ़ी। डॉडवेल ने लिखा है : "अधीनस्थ प्रजा की स्थिति से उछलकर वे प्रायः नरेशों की समता की स्थिति में पहुँच गये थे।"[2] इससे डूपले की महत्वाकांक्षाओं में वृद्धि हुई और क्लाइव के कार्यों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। डॉडवेल ने पुनः लिखा : "इसने डूपले के अन्वेषणों और क्लाइव के कार्यों के लिए मार्ग तैयार कर दिया।"[3]

4. द्वितीय कर्नाटक युद्ध (1749-54 ई.)

प्रथम कर्नाटक युद्ध समाप्त हुआ ही था कि अंग्रेज और फ्रान्सीसी पुनः युद्ध के लिए तत्पर हो गये। इस बार युद्ध का मुख्य कारण अंग्रेज और फ्रान्सीसियों का भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप करके अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न करना था। इसका आरम्भ अंग्रेजों से हुआ। अंग्रेजों ने तंजौर के पदच्युत शासक शाहजी को तत्कालीन शासक प्रताबसिंह के विरुद्ध सहायता देने का वायदा किया। इसके बदले में शाहजी ने सम्पूर्ण युद्ध का व्यय और

---

1 "To the surprise of all, a handful of French troops completely defeated the Nawab's army at St. Thomy in 1746." —*Dodwell.*

2 "From vassals they had jumped almost to the position of liege-lords." —*Dodwell.*

3 "It set the stage for the experiments of Dupleix and accomplishments of Clive." —*Dodwell.*

देबीकोटाई नामक नगर अंग्रेजों को देने का वायदा किया। तंजौर के विरुद्ध पहला आक्रमण विफल हुआ परन्तु दूसरे आक्रमण में अंग्रेजों ने देबीकोटाई को जीत लिया। परन्तु प्रताबसिंह ने स्वयं अंग्रेजों से सन्धि कर ली। इसके अनुसार प्रताबसिंह ने देबीकोटाई और उसके निकट का 36,000 रुपये वार्षिक आय का भू-भाग अंग्रेजों को दे दिया। अंग्रेजों का लक्ष्य पूरा हो गया और उन्होंने शाहजी के पक्ष में कोई बातचीत नहीं की। उसे केवल 4,000 रुपये प्रति वर्ष की पेंशन देकर मद्रास में रहने दिया गया।

अंग्रेजों की इस नीति का अनुकरण करने का अवसर शीघ्र ही फ्रान्सीसियों को प्राप्त हो गया। 21 मई, 1748 ई. को हैदराबाद के निजाम आसफजा की मृत्यु हो गयी तथा उसके पुत्र नासिरजंग और पोते मुजफ्फरजंग में गद्दी के लिए झगड़ा आरम्भ हुआ। जब मुजफ्फरजंग मराठों की सहायता लेने के लिए गया तब वहाँ उसकी भेंट चाँदा साहब से हुई जो कर्नाटक के पूर्ववर्ती नवाब दोस्तअली का दामाद था और उस समय मराठों की कैद में था। वह कर्नाटक का नवाब बनने की इच्छा रखता था। अतएव मुजफ्फरजंग और चाँदा साहब में एक-दूसरे की सहायता करने के लिए समझौता हो गया। उन्होंने फ्रान्सीसियों से सहायता माँगी और डूपले हैदराबाद व कर्नाटक में अपने प्रभाव को बढ़ाने की लालसा एवं आशा से यह सहायता देने को तैयार हो गया।

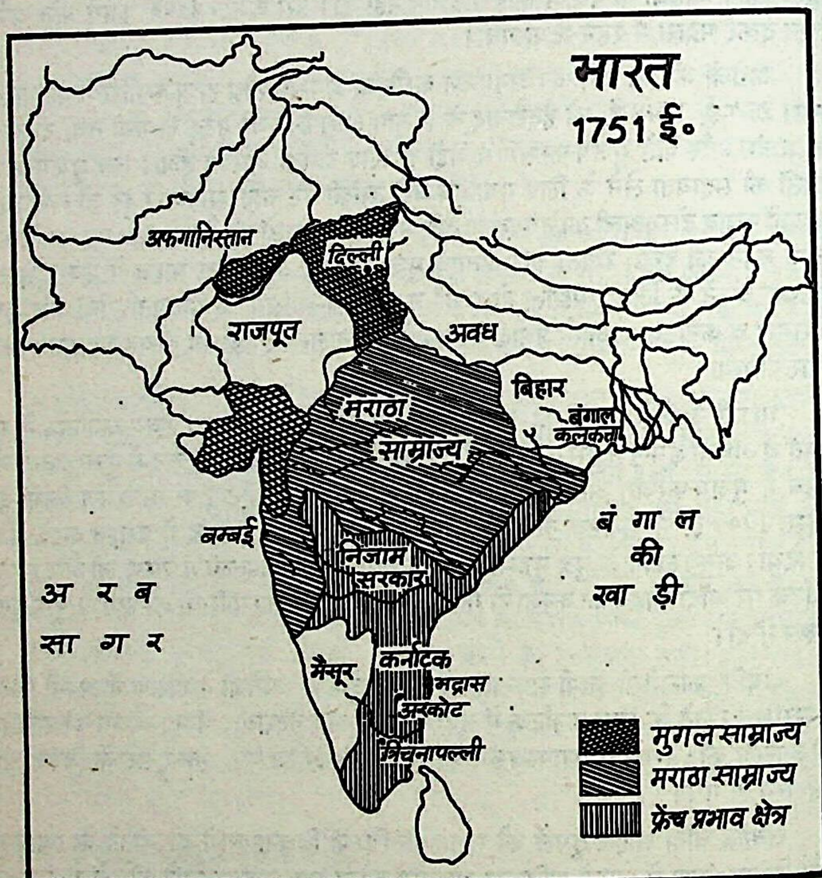
मराठों ने चाँदा साहब को कैद से मुक्त कर दिया। सम्भवतः वे स्वयं कर्नाटक में युद्ध चाहते थे अथवा डूपले ने इस कार्य में चाँदा साहब की सहायता की थी। कैद से मुक्त होकर चाँदा साहब ने मुजफ्फरजंग और फ्रान्सीसियों की सहायता से कर्नाटक पर आक्रमण किया और अगस्त 1749 ई. में कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन को अम्बर के युद्ध में परास्त करके कत्ल कर दिया। अनवरुद्दीन के पुत्र मुहम्मदअली ने भागकर त्रिचनापल्ली में शरण ली और सम्पूर्ण कर्नाटक पर चाँदा साहब का कब्जा हो गया। चाँदा साहब ने फ्रान्सीसियों को पर्याप्त भूमि इनाम के रूप में दी।

जबकि फ्रान्सीसी इतनी सफलता प्राप्त कर चुके थे, अंग्रेजों ने दक्षिण में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए कर्नाटक में मुहम्मदअली और हैदराबाद में नासिरजंग को सहायता देनी आरम्भ की। इसके परिणामस्वरूप फ्रान्सीसी और अंग्रेज पुनः एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध में संलग्न हो गये।

जबकि चाँदा साहब डूपले की सलाह के विरुद्ध त्रिचनापल्ली को जीतने के स्थान पर तंजौर के आक्रमण में अपनी शक्ति का अपव्यय करता रहा, नासिरजंग ने अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करके कर्नाटक पर आक्रमण किया। चाँदा साहब को तंजौर छोड़कर पाण्डिचेरी वापस आना पड़ा। अन्त में जिंजी नदी के तट पर एक युद्ध हुआ जिसमें चाँदा साहब और फ्रान्सीसियों की पराजय हुई तथा मुजफ्फरजंग ने आत्मसमर्पण कर दिया।

परन्तु डूपले ने साहस नहीं छोड़ा। शीघ्र ही फ्रान्सीसियों ने मछलीपट्टम और जिंजी जैसे दृढ़ स्थानों पर अधिकार कर लिया और दिसम्बर 1750 ई. में एक फ्रान्सीसी सेना ने नासिरजंग पर आक्रमण किया। नासिरजंग की उसी वर्ष हत्या हो गयी और डूपले ने तुरन्त मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का निजाम घोषित कर दिया। मुजफ्फरजंग ने फ्रान्सीसियों को कृष्णा नदी के दक्षिण की समस्त भूमि की सूबेदारी, कर्नाटक में अपने सिक्के चलाने का अधिकार और डूपले को 2,00,000 रुपये की धनराशि व 16,000 रुपये वार्षिक आय की जागीर प्रदान की। चाँदा साहब को डूपले के संरक्षण में कर्नाटक का नवाब भी स्वीकार कर लिया गया। डूपले की स्थिति उस समय बहुत अच्छी थी। हैदराबाद का निजाम उसका मित्र था,

कर्नाटक का नवाब उसके अधीन था तथा दक्षिण के एक बड़े भू-भाग की सूबेदारी और व्यक्तिगत रूप से पर्याप्त धन और जागीर उसे प्राप्त हो गयी थी। अब वह इस विवाद को समाप्त करने के लिए त्रिचनापल्ली में मुहम्मदअली से एक समझौता करके अपने प्राप्त किये हुए अधिकारों की सुरक्षा चाहता था।



परन्तु डूपले की उपर्युक्त स्थिति अंग्रेजों के लिए बहुत खतरनाक थी। इस प्रकार दक्षिण में फ्रान्सीसियों का प्रभुत्व स्थापित हो जाने से अंग्रेजों के हितों की सुरक्षा असम्भव थी। इस कारण अंग्रेजों ने मुहम्मदअली को सहायता देने का आश्वासन दिया और उसे डूपले से कोई भी समझौता न करने के लिए कहा। तंजौर और मैसूर के शासक भी मुहम्मदअली के पक्ष में हो गये और युद्ध चलता रहा। परन्तु 1751 ई. तक अंग्रेजों की स्थिति कर्नाटक में खराब ही रही। त्रिचनापल्ली का घेरा पड़ा रहा। वहाँ मुहम्मदअली के साथ अंग्रेजों की कुछ सेना भी घिरी हुई थी। यदि फ्रान्सीसी त्रिचनापल्ली पर अधिकार कर लेते जिसकी सम्भावना होती जा रही थी, तो हैदराबाद की भाँति कर्नाटक भी अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त हो जाता। उस अवसर पर रॉबर्ट क्लाइव ने कर्नाटक की राजधानी अर्काट का घेरा डालने का सुझाव दिया। क्लाइव एक क्लर्क की हैसियत से कम्पनी की सेवा में आया था, परन्तु ला-बर्डिनो द्वारा मद्रास पर आक्रमण करने के अवसर पर सेण्ट डेविड किले की सुरक्षा हेतु उसने एक स्वयंसेवक सैनिक

की हैसियत से युद्ध में भाग लिया था। स्वयं मुहम्मदअली ने त्रिचनापल्ली के घेरे पर दबाव कम करने के लिए राजधानी अर्काट पर आक्रमण करने का सुझाव दिया था। क्लाइव ने अंग्रेज गवर्नर सौण्डर्स (Saunders) से इस हेतु स्वीकृति प्राप्त कर ली। अगस्त 1751 ई. में केवल 5,000 सैनिकों के साथ क्लाइव ने अचानक अर्काट पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार कर लिया। चाँदा साहब ने तुरन्त अपनी आधी सेना अपने पुत्र राजा साहब के नेतृत्व में अर्काट पर अधिकार करने के लिए भेज दी। 53 दिन तक क्लाइव ने साहसपूर्वक अर्काट के किले की सुरक्षा की और इससे कर्नाटक में अंग्रेजों का भाग्य पलट गया। त्रिचनापल्ली का घेरा उठा लिया गया और चाँदा साहब ने भागकर तंजौर के राजा के यहाँ शरण ली जहाँ उसकी हत्या कर दी गयी। विभिन्न स्थानों पर अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों में संघर्ष चलता रहा। 1754 ई. में परस्पर सन्धि की बातचीत हुई। परन्तु डूपले मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब स्वीकार करने के लिए तैयार न हुआ और यह बातचीत सफल नहीं हुई। युद्ध जब चल रहा था, तभी फ्रान्सीसी सरकार ने डूपले को वापस बुलाने का निर्णय लिया और अगस्त 1754 ई. में नवीन फ्रान्सीसी गवर्नर गोड्यू (Godehu) सन्धि के आदेश लेकर भारत आया तथा दिसम्बर 1754 ई. में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों में एक सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार—

1. अंग्रेजों तथा फ्रान्सीसियों ने मुगल बादशाह अथवा अन्य भारतीय नरेशों द्वारा दिये गये समस्त पदों को छोड़ दिया और भविष्य में भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया।

2. अंग्रेजों का अधिकार सेण्ट जॉर्ज और सेण्ट डेविड के किलों तथा देबीकोटाई पर स्वीकार कर लिया गया।

3. फ्रान्सीसियों ने मछलीपट्टम से अपने अधिकार को वापस ले लिया।

4. कुछ नदियों में जहाजरानी तथा कुछ सीमा सम्बन्धी अन्य समझौते भी किये गये।

5. दोनों ने वायदा किया कि वे गृह-सरकारों से इस सन्धि को स्वीकार करायेंगे और जब तक उसे स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक वे आपस में कोई संघर्ष नहीं करेंगे और न कहीं किलेबन्दी करेंगे।

6. युद्ध की क्षतिपूर्ति के विषय में भी समझौता किया गया।

7. ऐसी व्यवस्था की गयी जिससे दक्षिण में दोनों कम्पनियों के पास प्रायः समान भू-क्षेत्र रहे।

इस सन्धि को फ्रान्सीसी हितों के विरुद्ध कहा गया। डूपले के अनुसार, "गोड्यू ने अपने देश के विनाश और असम्मान पर हस्ताक्षर किये थे।" मेलीसन (Malleson) के अनुसार भी यह सन्धि फ्रान्सीसियों के लिए अपमानजनक थी। फ्रान्सीसी इतिहासकार कल्टू (Cultru) का भी यही मत था। मिल (Mill) ने भी लिखा : "अंग्रेजों ने इस सन्धि के द्वारा वह सब कुछ प्राप्त कर लिया जिसके लिए वह युद्ध कर रहे थे और फ्रान्सीसियों ने वह सब कुछ खो दिया जिसे वे उस समय तक प्राप्त कर चुके थे।"

परन्तु उपर्युक्त विचार पूर्णतया उपयुक्त नहीं माने जा सकते। वास्तव में अर्काट के घेरे के पश्चात् सैनिक दृष्टि से फ्रान्सीसियों की स्थिति कर्नाटक में दुर्बल हो गयी थी और फ्रान्सीसियों के पास धन की अत्यधिक कमी थी। ऐसी स्थिति में युद्ध को जारी रखना असम्भव था। इसके अतिरिक्त इस सन्धि से जो भूमि अंग्रेजों को प्राप्त हुई थी उसकी वार्षिक

आय केवल 1,00,000 रुपये थी जबकि फ्रान्सीसियों के पास उस समय भी 8,00,000 रुपये वार्षिक आय की भूमि थी।

इस युद्ध की समाप्ति पर यह नहीं कहा जा सकता था कि स्पष्ट रूप से फ्रान्सीसी या अंग्रेजों में से किसका प्रभुत्व दक्षिण-भारत में स्थापित हो गया था। अगर अंग्रेज मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब बनाने में सफल हुए थे तो फ्रान्सीसी 1751 ई. में ही मुजफ्फरजंग को हैदराबाद का निजाम बना चुके थे और हैदराबाद, निस्सन्देह, कर्नाटक की तुलना में अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली था। 1751 ई. में मुजफ्फरजंग की अचानक मृत्यु हो जाने पर भी फ्रान्सीसी अधिकारी बुसी ने सलाबतजंग को हैदराबाद का निजाम बनाकर फ्रान्सीसी प्रभाव को हैदराबाद में स्थापित रखा। बुसी हैदराबाद में उस समय तक सफलता से फ्रान्सीसी प्रभाव को स्थापित रख सका जब तक कि तीसरे कर्नाटक युद्ध के अवसर पर उसे लैली के द्वारा वहाँ से वापस नहीं बुला लिया गया।

5. हैदराबाद में बुसी

मुजफ्फरजंग के निजाम बन जाने के पश्चात् हैदराबाद राज्य की तरफ से कर्नाटक के युद्ध में कोई भाग नहीं लिया गया। परन्तु तब भी फ्रान्सीसी अधिकारी बुसी (Bussy) ने किस प्रकार हैदराबाद में फ्रान्सीसी प्रभाव को स्थापित रखा, यह जानना आवश्यक है। 1751 ई. में मुजफ्फरजंग फ्रान्सीसियों की सहायता से हैदराबाद का निजाम बना था परन्तु उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गयी। बुसी ने राज्य में कोई अव्यवस्था न हो, इस हेतु मुजफ्फरजंग के चाचा और पिछले निजाम नासिरजंग के भाई सलाबतजंग को निजाम घोषित कर दिया । परन्तु यह स्पष्ट था कि सलाबतजंग बिना फ्रान्सीसियों की सहायता के अपनी स्थिति को स्थापित नहीं रख सकता था। इस कारण बुसी निजाम सलाबतजंग के साथ हैदराबाद तक ही नहीं बल्कि औरंगाबाद तक गया जो पाण्डिचेरी से 100 मील दूर था और इस प्रकार उसने सम्पूर्ण हैदराबाद में निजाम की शक्ति को स्थापित करने में सहायता दी।

डूपले की योजना के अनुसार सलाबतजंग को बंगाल का सूबेदार बनाने के लिए भी प्रयत्न करना था। इसके अतिरिक्त वह यह भी चाहता था कि निजाम की सेना के साथ बुसी मैसूर की ओर से आक्रमण करे जिससे उसे त्रिचनापल्ली को जीतने में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता मिल सके। परन्तु डूपले की यह योजना हैदराबाद की स्वयं की कठिनाइयों के कारण पूरी न हो सकी। बुसी की सम्पूर्ण शक्ति हैदराबाद में फ्रान्सीसी प्रभाव को स्थापित करने में ही लगी रही जिसके कारण वह डूपले को कर्नाटक के युद्ध में कोई सहायता न दे सका। प्रारम्भ में मराठों ने हैदराबाद पर आक्रमण किया। एक माह में ही बुसी ने उन्हें परास्त कर दिया और जनवरी 1752 ई. में पेशवा बालाजी बाजीराव ने सन्धि कर ली। उसी अवसर पर निजाम आसफजा के ज्येष्ठ पुत्र गाजीउद्दीन ने, जो दिल्ली में एक उच्च पद पर आसीन था, हैदराबाद पर अपना दावा किया और बुसी को उससे युद्ध की तैयारी करनी पड़ी। भाग्य से वह संकट टल गया क्योंकि गाजीउद्दीन को मार्ग में ही जहर देकर मार दिया गया। उस समय में जबकि बुसी इन कठिनाइयों का मुकाबला कर रहा था, निजाम सलाबतजंग के कुछ प्रभावशाली अधिकारी जैसे दीवान रामदास पण्डित और तत्पश्चात् नये दीवान सैयद लसकरखाँ बुसी और फ्रान्सीसी प्रभाव को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे। एक बार जब बुसी मैसूर की ओर सेना को ले जाना चाहता था, सेना ने आगे बढ़ने में इन्कार कर दिया था। फरवरी 1753 ई. में अपनी बीमारी के कारण वह मछलीपट्टम गया और जब वह पुनः हैदराबाद वापस गया तब स्थिति और भी अधिक खराब हो चुकी थी। दीवान लसकरखाँ ने सम्पूर्ण सेना को छोटे-छोटे

भागों में बाँटकर लगान वसूल करने के लिए भेज दिया था और शासन की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। सम्भवतः दीवान अंग्रेज गवर्नर से भी मिला हुआ था। बुसी ने इस स्थिति को पुनः सँभाला। उसने निजाम से अपने यहाँ सेना रखने के लिए 31 लाख रुपये की आर्थिक आय की भूमि प्राप्त की। दीवान लसकरखाँ को हटाकर शाहनवाजखाँ को नया दीवान बनाया गया तथा अन्य पदों पर फ्रान्सीसियों के समर्थक अधिकारियों की नियुक्ति की गयी।

डूपले के वापस बुलाये जाने से फ्रान्सीसियों का सम्मान हैदराबाद में कम हुआ। परन्तु गोड्यू के लिए भी बुसी उतना ही लाभदायक सिद्ध हुआ जितना वह डूपले के लिए था। विभिन्न षड्यन्त्रों के होते हुए भी वह सफलतापूर्वक 1758 ई. तक फ्रान्सीसी प्रभाव को हैदराबाद में स्थापित रख सका। गोड्यू और स्वयं निजाम सलाबतजंग भी बुसी पर पूर्णतः निर्भर करता था। फ्रान्सीसी प्रभाव हैदराबाद में सिर्फ बुसी के कारण था। इसी कारण अंग्रेज निरन्तर बुसी को हैदराबाद से हटाने का प्रयत्न करते रहे। इसी कारण सलाबतजंग बुसी को छोड़ने को तैयार न था और यही कारण था कि बुसी के हैदराबाद छोड़ते ही हैदराबाद से फ्रान्सीसी प्रभाव समाप्त हो गया। सम्भवतः ऐसा न होता यदि लैली को तीसरे कनार्टक युद्ध में मद्रास को जीतने में सफलता मिल जाती। परन्तु लैली की असफलता ने फ्रान्सीसियों के भाग्य का निर्णय कर्नाटक में ही नहीं बल्कि हैदराबाद में भी कर दिया।

इस प्रकार विभिन्न कठिनाइयों के होते हुए भी 1758 ई. तक बुसी हैदराबाद में फ्रान्सीसी प्रभाव को स्थापित रखने में सफल रहा। वह सैनिक से अधिक कूटनीतिज्ञ था। शक्ति उसकी नीति का आधार अवश्य थी परन्तु वह इसका प्रयोग सबसे अन्त में करता था। बुसी को भारतीय नरेशों की भावनाओं एवं चरित्र का अच्छा ज्ञान था और इसी कारण वह प्रत्यक्ष रूप से उनके सम्मान व शक्ति के प्रति सदैव आदर प्रदर्शित करता था। वह शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी उनको कभी यह अनुभव नहीं होने देता था कि वह शक्ति का प्रयोग कर रहा है। उसका व्यवहार इतना मधुर एवं आदरपूर्ण था कि वह किसी को भी असम्मानित अनुभव नहीं होने देता था। परन्तु बुसी दृढ़-निश्चयी था। एक बार एक बात का निश्चय करके वह उसे पूर्ण करने से नहीं हिचकिचाता था और उसे पूर्ण करने की सम्पूर्ण योजना बना लेता था। निस्सन्देह, बुसी, फ्रान्सीसी अधिकारियों में श्रेष्ठ था। डूपले ने कहा था कि यदि उसे कर्नाटक के लिए एक और बुसी प्राप्त हो जाता तो सम्भवतः भारत में फ्रान्सीसियों की स्थिति कुछ और ही होती। निस्सन्देह, डूपले के इस विश्वास का कारण बुसी के साथ उसकी व्यक्तिगत मित्रता न होकर बुसी की योग्यता थी।

6. तृतीय कर्नाटक युद्ध (1757-1763 ई.)

तृतीय कर्नाटक युद्ध के शुरू होने का कारण यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध का प्रारम्भ होना था जिसमें इंगलैण्ड और फ्रान्स पुनः एक-दूसरे के शत्रु बन गये थे। युद्ध आरम्भ होने के अवसर पर भारत में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की प्रायः वही स्थिति थी जो दूसरे कर्नाटक युद्ध के समय थी। फ्रान्सीसी त्रिचनापल्ली पर पुनः आक्रमण करने का इरादा कर रहे थे और अंग्रेज बुसी को हैदराबाद से बाहर निकालने के लिए उत्सुक थे।

1756 ई. में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हुआ और तभी से अंग्रेज और फ्रान्सीसियों ने भारत में परस्पर संघर्ष छेड़ दिया। तब भी 1756 ई. में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं घटी। 1757 ई. से अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों ने एक-दूसरे के स्थानों पर आक्रमण आरम्भ किया। दक्षिण में फ्रान्सीसियों ने त्रिचनापल्ली को लेने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। परन्तु कर्नाटक के अधिकांश भाग पर उनका अधिकार हो गया। केवल कुछ महत्वपूर्ण स्थानों जैसे अर्काट,

वैलोर, कांजीपुरम, मद्रास, सेण्ट डेविड का किला आदि पर उनका अधिकार न हो सका। उत्तर-भारत में अंग्रेज अधिक सफल हुए। उन्होंने 1757 ई. में चन्द्रनगर पर अधिकार कर लिया जो बंगाल में फ्रान्सीसियों का एक महत्वपूर्ण स्थान था। तत्पश्चात् अंग्रेजों ने बालासोर, कासिमबाजार और पटना की फ्रान्सीसी फैक्टरियों पर भी अधिकार कर लिया।

परन्तु युद्ध का प्रारम्भ वास्तव में अप्रैल 1758 ई. से हुआ जब काउण्ट डी-लैली (Count de-Lally) भारत के समस्त फ्रान्सीसी प्रदेशों का प्रमुख और सम्पूर्ण सैनिक एवं असैनिक अधिकारों से युक्त अधिकारी बनकर भारत आया। लैली को दो कार्य सौंपे गये थे—प्रथम, अंग्रेजों को सम्पूर्ण भारत से बाहर निकालना और द्वितीय, भारत के फ्रान्सीसी शासन में सुधार करना। इसी कारण उसे विस्तृत अधिकार दिये गये थे। परन्तु दुर्भाग्यवश फ्रान्सीसी नौ-सेनापति काउण्ट डी-एचे (Count de-Ache) उसके अधीन न था।

लैली एक योग्य और साहसी सेनापति था। परन्तु वह क्रोधी, कटुभाषी और आदर्शवादी था। उसके शासन-सुधारों से फ्रान्सीसी अधिकारी असन्तुष्ट थे। उसे प्रारम्भ से ही धन की कमी रही और वह सैनिकों को ठीक समय पर वेतन न दे सका। फ्रान्सीसी जल-बेड़े ने भी उसकी सहायता न की। उपर्युक्त कारणों से प्रारम्भ में सफलता पाकर भी अन्त में वह असफल हुआ। लैली ने आते ही सेण्ट डेविड के किले पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। तत्पश्चात् उसका इरादा मद्रास पर आक्रमण करने का था परन्तु पाण्डिचेरी के गवर्नर ने सचेत किया कि उसके पास धन बिल्कुल नहीं है और नौ-सेनापति डी-एचे ने समुद्र की ओर से मद्रास पर आक्रमण करने से इन्कार कर दिया है। तब भी लैली ने साहस नहीं छोड़ा और धन की कमी की पूर्ति करने के लिए उसने तंजौर पर आक्रमण किया। परन्तु अंग्रेजी सेना के वहाँ पहुँच जाने से वह घेरा उठाने के लिए बाध्य हुआ और वापस आ गया। उसी अवसर पर डी-एचे अंग्रेज नौ-सेनापति पोकोक से पराजित हुआ और उसने पाण्डिचेरी के निकट शरण ली। तदुपरान्त, लैली के विरोध के बावजूद भी वह अपने जहाजों को लेकर मॉरीशस चला गया।

इस प्रकार फ्रान्सीसियों की स्थिति दुर्बल हो रही थी। परन्तु तब भी लैली ने साहसपूर्वक दिसम्बर 1758 ई. में मद्रास का घेरा डाल दिया। उस अवसर पर उसने फ्रान्सीसियों की सम्पूर्ण शक्ति को एकत्रित करने का इरादा किया और इस उद्देश्य से बुसी को भी हैदराबाद से बुलाया। यद्यपि बुसी लैली की इस नीति से सहमत न था परन्तु तब भी उसने लैली की आज्ञा का पालन किया। बुसी के हैदराबाद से चले आने से फ्रान्सीसियों की हानि हुई। उस अवसर पर क्लाइव ने एक सेना बंगाल से भेज दी जिसने आते ही मछलीपट्टम पर आक्रमण करके उसे जीत लिया। हैदराबाद का निजाम सलाबतजंग, जो डरपोक था, भयभीत हो गया और उसने फौरन मछलीपट्टम तथा 80 मील लम्बी एवं 20 मील चौड़ी भूमि अंग्रेजों को देकर सन्धि कर ली। इस प्रकार बुसी के हटते ही हैदराबाद से फ्रान्सीसी प्रभाव समाप्त हो गया। इसके अतिरिक्त, बुसी और लैली मिलकर कार्य न कर सके। दोनों के विचारों में बहुत अन्तर था। बुसी राजनीति, कूटनीति, सन्धियों एवं वार्ताओं से हैदराबाद में ही रहकर फ्रान्सीसी प्रभाव को बढ़ाने के पक्ष में था। इसके विपरीत, लैली एक सैनिक था जो शक्ति और युद्धों के आधार पर अंग्रेजों को भारत से निकालकर फ्रान्सीसी प्रभुत्व को स्थापित करना चाहता था। उसने स्वयं बुसी को लिखा था : "राजा और कम्पनी ने मुझे अंग्रेज कम्पनी को भारत से बाहर निकालने के लिए भेजा है···मुझे इससे मतलब नहीं है कि किस राजा का किससे क्या झगड़ा है और कौन कहाँ नवाब है।"[1]

---

1 "The king and the company have sent me to India to chase the English Company out of it...It does not concern me that such Raja's dispute for such and such nawabship."

—*Lally to Bussy.*

उधर मद्रास के घेरे में भी फ्रान्सीसियों को सफलता नही मिली और फरवरी 1759 ई. में उन्हें घेरा हटाना पड़ा। फ्रान्सीसियों को रसद, धन और सैनिक सभी की कमी थी जबकि अंग्रेजी सेना बंगाल से मद्रास सहायता के लिए आ गयी थी। इस घेरे के हटने के पश्चात् लगभग एक वर्ष तक छुटपुट लड़ाइयाँ होती रहीं जिनमें फ्रान्सीसियों की स्थिति दुर्बल होती गयी। फ्रान्सीसी नौ-सेनापति डी-एचे एक बार फिर आया परन्तु अंग्रेजी नौ-सेना से परास्त होकर वापस चला गया। लैली बड़ी कठिनाई से अंग्रेजों का मुकाबला करता रहा जिन्हें अब बंगाल से निरन्तर सहायता प्राप्त हो रही थी। अन्त में, 22 जनवरी, 1760 ई. को वाण्डीवाश का युद्ध (Battle of Wandiwash) हुआ जिसमें फ्रान्सीसियों की पराजय हुई और बुसी को कैद कर लिया गया। यह युद्ध एक प्रकार से निर्णायक सिद्ध हुआ। डॉडवेल ने लिखा है : "वाण्डीवाश के युद्ध ने पिछले नौ वर्षों के कार्य को समाप्त कर दिया और उसने डूपले व बुसी के कार्य को एक पक्ष के लिए केवल यादगार और दूसरे पक्ष के लिए आशाएँ बनाकर छोड़ दिया।"[1] मेलीसन ने भी लिखा : "इसने (वाण्डीवाश के युद्ध ने) उस विशाल इमारत को भूमि पर गिरा दिया जिसको बनाने में मार्टिन, ड्यूमा और डूपले ने सहयोग दिया था। इससे लैली की समस्त आशाएँ समाप्त हो गयीं। इसने पाण्डिचेरी के भाग्य का निर्णय कर दिया।"[2] इसके पश्चात् लैली ने पाण्डिचेरी को बचाने का प्रयत्न किया और इस उद्देश्य से मैसूर के शासक हैदरअली से जून 1760 ई. में एक सन्धि की। यद्यपि हैदरअली ने एक सेना फ्रान्सीसियों की सहायता के लिए भेजी परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। अंग्रेजों ने पाण्डिचेरी का घेरा डाल दिया। कई महीनों के घेरे के पश्चात् 16 जनवरी, 1761 ई. को लैली ने आत्मसमर्पण कर दिया। अंग्रेजों ने पाण्डिचेरी को पूर्णतः बरबाद कर दिया। सिन्हा ने लिखा है : "इस सुन्दर और सम्पन्न नगर में एक भी छत नहीं छोड़ी गयी।"[3] लैली को कैद करके इंगलैण्ड भेजा गया यद्यपि बाद में उसे फ्रान्स भेज दिया गया जहाँ दो वर्ष के मुकदमे के पश्चात् उसे मृत्युदण्ड दिया गया। पाण्डिचेरी के पतन के पश्चात् जिंजी, माही आदि प्रायः सभी फ्रान्सीसी स्थानों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया।

1763 ई. में जब पेरिस की सन्धि हुई तब फ्रान्सीसियों को पाण्डिचेरी, चन्द्रनगर आदि कुछ स्थान वापस कर दिये गये। परन्तु वे वहाँ किलेबन्दी नहीं कर सकते थे। इस प्रकार कर्नाटक का तीसरा युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ था। उसके पश्चात् फ्रान्सीसी यद्यपि भारतीय नरेशों की सहायता करके कहीं-कहीं अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य करते रहे परन्तु वह सहायता एक स्वतन्त्र शक्ति के रूप में न थी। फ्रान्सीसी उस समय या तो सैनिक अथवा अधिक से अधिक सैन्य-प्रशिक्षकों की स्थिति में थे। इस प्रकार इस युद्ध के पश्चात् फ्रान्सीसी शक्ति भारत में समाप्त हो गयी।

7. फ्रान्सीसियों की असफलता के कारण

भारत में फ्रान्सीसियों की असफलता के विभिन्न कारण थे। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं या बन जाती हैं जो राष्ट्रों के भाग्य का निर्णय कर देती हैं। भारत में फ्रान्स की भी कुछ

---

1 "The battle of Wandiwash destroyed the work of the previous nine years, and left the works of Dupleix and Bussy only memories on the one side and hopes on the other." —*Dodwell.*

2 "It shattered to the ground the mighty fabric, which Martin, Dumas and Dupleix had contributed to erect; it dissipated all the hopes of Lally; it sealed the fate of Pondicherry." —*Malleson.*

3 "Not a roof was left standing in this once fair and flourishing city." —N.K. Sinha : *Haidar Ali.*

ऐसी ही परिस्थितियाँ थीं जिनको डूपले की महान् योजनाएँ, बुसी और सेण्ट लूबिन की कूटनीति तथा लैली का साहस एवं शौर्य प्रभावित नहीं कर सके और फ्रान्सीसियों का भारत में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का स्वप्न समाप्त हो गया।

1. संघर्ष के प्रारम्भ से ही अंग्रेज कम्पनी की स्थिति फ्रान्सीसी कम्पनी की तुलना में बहुत श्रेष्ठ थी—

(i) संगठन की दृष्टि से—अंग्रेज कम्पनी एक स्वतन्त्र व्यापारिक कम्पनी थी। साधारण स्थिति में राज्य की ओर से उसके कार्य में कोई हस्तक्षेप नहीं होता था। इसके विपरीत, फ्रान्सीसी कम्पनी राज्य से सहायता-प्राप्त कम्पनी थी और फ्रान्स के राजा एवं मन्त्रियों का धन उस कम्पनी में लगा होने के कारण उस पर फ्रान्स की राजनीति का प्रभाव पड़ता था। इस कारण फ्रान्सीसी कम्पनी व्यापार की ओर ठीक प्रकार ध्यान नहीं देती थी और उसकी आर्थिक स्थिति सर्वदा खराब रहती थी। इसी कारण भारत में फ्रान्सीसी नीति फ्रान्स की सम्पूर्ण औपनिवेशिक नीति का अंश मात्र थी। इस कारण फ्रान्स ने भारत में कम्पनी के अधिकारों की सुरक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया था अपितु समय-समय पर फ्रान्सीसी अधिकारियों में बहुत शीघ्र परिवर्तन किये गये थे। यह कार्य फ्रान्सीसी कम्पनी की स्थिति को दुर्बल बनाते थे।

(ii) भारत में प्राप्त किये गये स्थानों की दृष्टि से—पूर्वी तट पर फ्रान्सीसियों के पास पाण्डिचेरी एक अच्छा नगर था परन्तु मद्रास की स्थिति उसके समकक्ष थी। बंगाल में चन्द्रनगर के मुकाबले कलकत्ता की स्थिति बहुत अच्छी थी। चन्द्रनगर के बारे में एलेक्जेण्डर हेमिल्टन ने लिखा था : "धन के अभाव में वे व्यापार करने की स्थिति में नहीं हैं। फैक्टरी के निकट कुछ परिवार रहते हैं और प्रार्थना करने के लिए उनके पास एक छोटा एवं सुन्दर गिरजा है तथा प्रार्थना करना ही फ्रान्सीसियों का बंगाल में मुख्य कार्य है।"[1] चन्द्रनगर की इस स्थिति में उस समय तक कोई परिवर्तन नहीं आया जब तक कि डूपले वहाँ का गवर्नर नहीं बना। पश्चिमी तट पर फ्रान्सीसियों के पास बम्बई के मुकाबले कोई नगर न था। जहाँ तक फ्रेंच मॉरीशस का प्रश्न है, उसके विषय में कहा गया है कि वह फ्रान्सीसी नौ-सेना के लिए एक अच्छा स्थान था। परन्तु वह स्थान फ्रान्सीसी स्थानों से दूर था जिसके कारण वहाँ से समय पर सहायता नहीं मिल पाती थी बल्कि वह दुर्बल नौ-सेनापतियों के लिए शरण पाने का स्थान बन जाता था जैसा कि डी-एचे के साथ हुआ। इस प्रकार स्थान की दृष्टि से भी अंग्रेज कम्पनी की स्थिति अच्छी थी।

(iii) आर्थिक दृष्टि से—अंग्रेज कम्पनी का व्यापार प्रारम्भ से ही अच्छा था। उसके जहाज निरन्तर आते-जाते रहते थे और वह अपनी सरकार को भी धन देने की स्थिति में थी जबकि फ्रान्सीसी कम्पनी का व्यापार अच्छा न था और उसे अनेक अवसरों पर अपनी सरकार से आर्थिक सहायता लेनी पड़ी थी। समय के साथ मुख्यतः बंगाल पर अंग्रेजों का आर्थिक अधिकार हो जाने से दोनों कम्पनियों की आर्थिक असमानता में वृद्धि होती गयी।

इस प्रकार अंग्रेज और फ्रान्सीसियों का संघर्ष शुरू होने से पहले ही अंग्रेज कम्पनी की स्थिति फ्रान्सीसी कम्पनी की तुलना में श्रेष्ठ थी। प्रारम्भ में जो भी सफलता फ्रान्सीसियों ने प्राप्त की वह अपने योग्य नेतृत्व के कारण अथवा अंग्रेजों की भूल के कारण थी। परन्तु वह

---

1 "For want of money, they are not in a capacity to trade. They have a few private families dwelling near the factory and a pretty little church to hear the Mass in, which is the chief business of the French in Bengal." —*Alexander Hamilton.*

सफलता बहुत लम्बे समय तक स्थायी न रह सकी। केवल 1746 से 1754 ई. तक के समय में ही फ्रान्सीसी सफल हो सके थे। उसके पश्चात् अंग्रेजों की श्रेष्ठ स्थिति का दबाव बढ़ता गया और फ्रान्सीसियों की असफलता का दौर शुरू हुआ।

2. फ्रान्स ने भारत की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया—उस समय फ्रान्स यूरोप में अपनी 'प्राकृतिक सीमाओं' को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। यही नहीं, वह अमेरिका में भी अपने साम्राज्य को स्थापित करना चाहता था। इस प्रकार फ्रान्स ने अपनी शक्ति भारत के अतिरिक्त यूरोप और अमेरिका में भी लगा रखी थी। इनमें भारत की ओर उसका सबसे कम ध्यान था। फलस्वरूप फ्रान्स की शक्ति केवल विभाजित ही नहीं हुई बल्कि वह भारत की फ्रान्सीसी कम्पनी को पर्याप्त मात्रा में सहायता न दे सका। यूरोप में भी उसके शत्रुओं की संख्या अधिक हो गयी थी। इसी के परिणामस्वरूप फ्रान्स न केवल भारत में ही असफल हुआ अपितु औपनिवेशिक विस्तार में भी वह अंग्रेजों का मुकाबला न कर सका।

3. अंग्रेज कम्पनी की आर्थिक सम्पन्नता—अंग्रेज कम्पनी का व्यापार और आर्थिक सम्पन्नता फ्रान्सीसी कम्पनी की तुलना में प्रारंभ से ही श्रेष्ठ थी। अंग्रेज यह कभी नहीं भूले कि वे व्यापारी थे जबकि डूपले की प्रारम्भ से ही यह धारणा थी कि फ्रान्सीसी व्यापार में सफलता नहीं पा सकते और उनका मुख्य लक्ष्य भारत में राज्य प्राप्त करना होना चाहिए। इसी कारण, जबकि अंग्रेज अपने युद्धों के व्यय का भार उठा सके, फ्रान्सीसी अपने युद्धों के लिए कभी भी पर्याप्त धन एकत्रित न कर सके। यह फ्रान्सीसियों की सबसे बड़ी दुर्बलता थी। एक व्यापारिक कम्पनी बिना अच्छी आर्थिक स्थिति के कहीं पर भी साम्राज्य स्थापित करने में सफलता नहीं पा सकती थी। स्वयं बुसी ने कहा था : "सफलता और विजय एक व्यापारिक कम्पनी के लिए साधारण गणित की चीजें हैं, सबसे बुरी बात व्यय का आय से अधिक होना है अथवा उत्पादन का कम से कम खर्चे के बराबर भी न होना है।"[1] इस कारण फ्रान्सीसी न तो कभी पर्याप्त सेना का संगठन कर सके और न ही अपने सैनिकों को ठीक समय पर वेतन दे सके। वेतन न मिलने के कारण ही लैली के सैनिक विद्रोह करने के लिए उद्यत हुए थे और इसी कारण उसे व्यर्थ ही तंजौर पर आक्रमण करना पड़ा था। यह कहा गया है कि डूपले ने बुसी को हैदराबाद में धन प्राप्त करने के उद्देश्य से छोड़ा था, परन्तु बुसी कभी भी इस कार्य को पूरा न कर सका। हैदराबाद की स्वयं की समस्याएँ बहुत थीं और 1758 ई. में लैली को 1,50,000 रुपया देने के अतिरिक्त बुसी फ्रान्सीसी कम्पनी को कोई आर्थिक सहायता नहीं दे सका। इसी कारण डूपले को सर्वदा धन की कठिनाई रही थी।

इसके विपरीत, अंग्रेज कम्पनी की आर्थिक स्थिति सर्वदा अच्छी रही। बंगाल की प्राप्ति के पश्चात् अंग्रेजों की स्थिति और अधिक अच्छी हो गयी। सरकार और दत्त ने लिखा है : "निस्सन्देह, प्लासी ने कर्नाटक के संघर्ष का निर्णय कर दिया था।"[2] स्वयं अंग्रेज अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझते हुए अपनी सफलता में विश्वास करते थे। क्लाइव ने कहा था : "हमारी नौ-सेना की श्रेष्ठता और अपार धन तथा अन्य सभी प्रकार की रसद जो हम अपने मित्रों को दक्षिण में इस सूबे से भेजेंगे—जबकि शत्रु को प्रत्येक वस्तु की आवश्यकता है और उसकी

1 "Laurels and conquests are for a commercial company a matter of simple calculation; always bad when the expenses exceeds the receipts or even when the produce is not atleast on an equality with the outgoings." —*Bussy.*

2 "In fact, Plassey decided the fate of the Carnatic struggles." —*Sarkar and Dutta.*

पूर्ति के उसके पास कोई साधन नहीं है—ऐसे लाभ हैं कि यदि इनका पूरा ध्यान रखा जाय तो हम वहीं नहीं बल्कि भारत के प्रत्येक भाग में उनका पूर्ण विनाश करने में सफल हो सकते हैं।"[1]

इस प्रकार बिना आर्थिक सम्पन्नता के डूपले ने साम्राज्य-विस्तार की जो नीति अपनायी थी वह एक व्यापारिक कम्पनी के लिए उचित न थी। मद्रास की अंग्रेज कौंसिल ने 1753 ई. में ही यह विचार व्यक्त किया था कि "डूपले की नीति को एक व्यापारिक कम्पनी की नहीं बल्कि एक राष्ट्र की सहायता चाहिए।"[2] हजारों मील दूर के आधार से भारत में साम्राज्य स्थापित करना सरल कार्य न था और फ्रान्सीसी कम्पनी की आर्थिक समृद्धि के बिना वह सम्पन्न नहीं हो सकता था। जिस समय डूपले ने बिना धन की व्यवस्था के राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्न करने आरम्भ किये, उसी समय उसने फ्रान्सीसी कम्पनी के पतन के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

4. अंग्रेजों की नौ-सेना की श्रेष्ठता—फ्रान्स की तुलना में ब्रिटेन की नौ-सेना की शक्ति अधिक थी। आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध के अवसर पर ही ब्रिटेन ने फ्रान्स की नौ-सेना पर श्रेष्ठता स्थापित कर ली थी। उस श्रेष्ठता ने अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के संघर्ष को प्रत्येक स्थान पर प्रभावित किया। डूपले को जो सफलता आरम्भ में मिली, वह तभी तक मिल सकी थी जब तक कि ब्रिटिश नौ-सेना ने युद्ध में भाग लेना शुरू नहीं किया था। बाद में ला-बर्डिनो को मद्रास छोड़ना पड़ा था और डी-एचे को दो बार परास्त होकर वापस जाना पड़ा था। वह ब्रिटिश नौ-सेना का ही दबाव था। अंग्रेज अपनी नौ-सेना की शक्ति के कारण निरन्तर यूरोप, बम्बई और बंगाल से कर्नाटक में सहायता पहुँचा सके और फ्रान्सीसियों को सहायता पहुँचने से रोकते रहे। इस प्रकार नौ-सेना की शक्ति ने इस संघर्ष में महत्वपूर्ण भाग लिया। स्मिथ ने लिखा है : "पाण्डिचेरी को आधार बनाकर एक ऐसी शक्ति से युद्ध करने में जिसके पास बंगाल और समुद्र की सत्ता थी, सिकन्दर महान् और नेपोलियन भी भारत में साम्राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हो सकते हैं।"[3]

5. फ्रान्सीसी अधिकारियों के पारस्परिक झगड़े—बड़े-बड़े फ्रान्सीसी अधिकारियों में कभी सामंजस्य नहीं रहा और निम्न फ्रान्सीसी अधिकारी योग्य सिद्ध नहीं हुए। ला-बर्डिनो और डूपले में झगड़ा हुआ, डूपले और बुसी अच्छे मित्र होते हुए भी नीतिगत मतभेद रखते थे और काउण्ट डी-लैली ने अपने व्यवहार से सभी को असन्तुष्ट कर दिया था। बुसी से उसका मतभेद था जबकि डी-एचे ने कभी उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया। एक भारतीय ने अपनी डायरी में लिखा था : "यूरोपियनों के तरीके भी, जो सर्वदा मिलकर कार्य करते थे, अब स्पष्ट रूप से भारतीय और मुसलमानों जैसे हो गये हैं।"[4] इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों को जहाँ

---

1 "The superiority of our squadron and the plenty of money and supplies of all kinds which our friends on the coast will be furnished with from this province, while the enemy is in total want of everything, are such advantages, if properly attended to, cannot fail of wholly effecting their ruin there as well as in every other part of India."
—*Clive.*

2 "The policy of Dupleix seems to require national and not a company's support."
—*English Council in 1753.*

3 "Neither Alexander the Great nor Napoleon could have won the empire of India by starting from Pondicherry as a base and contending with a power which held Bengal and the command of the sea."
—*V. Smith.*

4 "The ways of Europeans who always used to act in union, have apparently now become like those of natives and Mohammadans."
—*A Native Observer.*

लॉरेन्स, फोर्ड, स्मिथ सदृश अनेक कुशल अधीनस्थ अधिकारी प्राप्त हुए, फ्रान्सीसियों को कभी भी योग्य अधिकारी नहीं मिले। स्वयं क्लाइव भी अधीनस्थ स्तर से ऊपर उठा था। इस कारण भी फ्रान्सीसियों में दुर्बलता आयी थी।

फ्रान्सीसियों की पराजय का एक प्रमुख कारण यह भी था कि वे यूरोप में भी अंग्रेजों को नहीं जीत सके। इसका प्रभाव भी भारत में पड़ना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त डूपले की दुर्बलताओं और उसकी असफलता ने भी फ्रान्सीसी कम्पनी के भाग्य का निर्णय किया।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों से भारत में फ्रान्सीसियों का पतन हुआ। तृतीय कर्नाटक युद्ध के पश्चात् भारत में उनकी शक्ति समाप्त हो गयी। पी. रॉबर्ट्स ने लिखा है : "अप्रैल 1785 ई. में फ्रान्सीसी कम्पनी की पुनः स्थापना की गयी परन्तु अब वह एकाधिकार-प्राप्त एक व्यापारिक कम्पनी मात्र थी। अब वह एक शक्तिशाली साम्राज्य की सम्प्रभु रानी न थी।"[1]

डूपले—जीवन, लक्ष्य और असफलता के कारण

डूपले एक उत्साही, साहसी और योग्य कूटनीतिज्ञ था। भारत में उसे पर्याप्त सफलता मिली परन्तु अन्त में वह असफल हुआ और उसकी असफलता बहुत कुछ फ्रान्सीसी कम्पनी की असफलता का कारण बनी।

1697 ई. में डूपले का जन्म हुआ था। व्यापार में उसकी रुचि न थी परन्तु अपने पिता की इच्छा के कारण उसे फ्रान्सीसी कम्पनी की नौकरी करनी पड़ी और 1720 ई. में वह पाण्डिचेरी आया। वह अपनी योग्यता से उन्नति करता गया और उसने पाण्डिचेरी को एक सुन्दर और व्यापारिक नगर बनाने का प्रयत्न किया। उसकी सेवाओं से सन्तुष्ट होकर कम्पनी ने उसे चन्द्रनगर के गवर्नर के पद पर नियुक्त किया और 1742 ई. में जब ड्यूमा भारत से वापस गया तो कम्पनी ने उसे गवर्नर का पद देकर पाण्डिचेरी भेज दिया।

भारत आने वाले फ्रान्सीसियों में डूपले का स्थान प्रमुख है। भारत में फ्रान्सीसी साम्राज्य को स्थापित करने के लक्ष्य को लेकर जो साहस और कौशल उसने प्रदर्शित किया उससे एक बार भारत में फ्रान्सीसियों की स्थिति इतनी दृढ़ हो गयी कि अंग्रेज उससे भयभीत हो गये। यह कहना सरासर भूल होगी कि डूपले का उद्देश्य प्रारम्भ से ही भारत में फ्रान्सीसी साम्राज्य की स्थापना करना था। वह शक्ति को प्यार करता था, साहसी और अवसरवादी था तथा उसमें योजनाएँ बनाने की क्षमता थी। जैसे-जैसे वह सफलता प्राप्त करता गया उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ती गयी। स्वयं की सफलताओं तथा भारतीय राजनीति और सैनिक शक्ति की दुर्बलता ने उसे भारत में फ्रान्सीसी साम्राज्य की स्थापना का विचार प्रदान किया। उसने भारतीयों को यूरोपियन तरीकों से सैनिक-शिक्षा दी, भारतीय नरेशों की राजनीति में साहसपूर्वक हस्तक्षेप किया, अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने की योजना बनायी तथा व्यापार करने के स्थान पर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का गम्भीर प्रयत्न किया जिसका अनुकरण बाद में अंग्रेजों ने किया। यद्यपि डूपले असफल रहा परन्तु तब भी वह महान् था। उसके विचार दृढ़ थे, उसके लक्ष्य स्पष्ट और महान् थे तथा उसकी कूटनीति भी कम सफल नहीं थी। परन्तु अनेक ऐसे कारण थे जिनकी वजह से डूपले असफल हुआ। वे कारण बाह्य भी थे जिनका सम्बन्ध फ्रान्सीसी कम्पनी की दुर्बलता, गृह-सरकार की उदासीनता और उसकी दुर्बलताओं से था। परन्तु कुछ कारण ऐसे भी थे जिनके लिए डूपले स्वयं उत्तरदायी था। उनमें से प्रमुख इस प्रकार थे :

---

1 "In April 1785, the French company was re-established but only as a simple commercial house, fortified by a monopoly and no longer the sovereign mistress of a mighty empire." —*P. Roberts.*

1. आर्थिक व्यवस्था का ठीक न रखना—धन की कठिनाई सर्वदा डूपले के सम्मुख रही। फ्रान्सीसी कम्पनी के व्यापार की स्थिति पहले से ही ठीक न थी तथा डूपले ने उसे और अधिक खराब कर दिया। वह न तो व्यापार में रुचि रखता था और न उसने उसकी ओर ध्यान दिया। बहुत शीघ्र उसका उद्देश्य भारत में फ्रान्सीसी कम्पनी के राज्य को स्थापित करने का हो गया। उसने कर्नाटक में चाँदा साहब को तथा हैदराबाद में मुजफ्फरजंग को सहायता देना आरम्भ कर दिया। उसका विश्वास था कि युद्धों से जो राजनीतिक लाभ वह प्राप्त करेगा उससे वह धन की कमी की पूर्ति कर सकेगा। सम्भवतः, उसकी यह आशा पूरी हो गयी होती यदि उसे शीघ्र सफलता मिल जाती। परन्तु वह अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण शीघ्र सफलता न पा सका। इसी कारण उसे फ्रान्स की सरकार या गृह-सरकार से बातें छिपानी पड़ीं। वह निरन्तर यही कहता रहा कि युद्ध में कोई धन व्यय नहीं होगा बल्कि वह व्यापार के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कर लेगा। इसी कारण उसे फ्रान्सीसी कम्पनी से कोई सहायता नहीं मिली क्योंकि उसने उससे कभी धन की माँग नहीं की। 1751 ई. से उसकी विफलताओं का दौर शुरू हुआ और जिस धन की वह आशा कर रहा था वह उसे न मिल सका। प्रत्येक माह बड़ी कठिनाई से वह अपने सैनिकों को वेतन दे पाता था। इस कार्य के लिए उसने अपने मित्रों से व्यक्तिगत रूप से 3 लाख 50 हजार पौण्ड कर्ज लेकर भी व्यय कर दिये। तब भी उसकी धन की कमी पूरी न हुई। धन की इतनी कमी से स्वयं उसी का नहीं बल्कि उसके सैनिकों का भी नैतिक पतन हुआ।

2. डूपले को अपने उद्देश्य की न्यायसंगतता में बहुत विश्वास था—डूपले की एक बहुत बड़ी दुर्बलता थी अपने उद्देश्य की न्यायसंगतता में उसका विश्वास। उसकी दृष्टि में मुहम्मदअली का कर्नाटक की गद्दी पर कोई अधिकार न था और चाँदा साहब पुराने नवाब दोस्तअली का दामाद होने के नाते गद्दी का वास्तविक अधिकारी था। इस दृष्टिकोण से मुहम्मदअली एक विद्रोही था और उसका विश्वास था कि अंग्रेज एक विद्रोही को सहायता नहीं देंगे और वह सरलता से अपनी योजना पूरी कर सकेगा। वह यह भूल गया कि राजनीति में न्यायसंगतता का ध्यान नहीं रखा जाता और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों का मुहम्मदअली को सहायता देना सर्वथा उचित था। इस प्रकार जहाँ डूपले ने भारतीय नरेशों के साथ व्यवहार करने में अपूर्व कौशल एवं कूटनीति का परिचय दिया, वहीं यूरोपियन जातियों के साथ व्यवहार करने में यथार्थ को भूल बैठा और इसी कारण अंग्रेजों पर अपनी नीति के प्रभाव के आँकलन में भूल कर गया।

यही नहीं बल्कि डूपले अन्त तक अपनी सफलता के प्रति भी आश्वस्त रहा। वह यह समझ ही न सका कि उसकी परिस्थिति दुर्बल होती जा रही थी और उसे कहीं न कहीं अंग्रेजों से समझौता कर लेना चाहिए। इसी कारण चाँदा साहब का कत्ल हो जाने के पश्चात् भी उसने अन्त तक मुहम्मदअली को कर्नाटक का नवाब स्वीकार नहीं किया और न अंग्रेजों से कोई सन्धि ही की। स्वयं बुसी उसकी इस दुर्बलता को समझ गया था और उसने उसे लिखा था : "मुझे दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि केवल घटनाएँ ही तुम्हें विश्वास दिला सकती हैं और तुम मेरी सलाह के महत्व को उस समय समझोगे जब उससे लाभ उठाने में बहुत देर हो चुकी होगी।"[1] इस प्रकार, डूपले का विश्वास हठ में और उसका आत्मविश्वास घमण्ड में बदल गया था जो उसकी असफलता के कारण बने।

3. डूपले को फ्रान्स से कोई सहायता नहीं मिली—जब डूपले ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भारतीय नरेशों की राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया था तब

1 "I see with sorrow that events alone can convince you, and that you will recognise the value of my advice only when it is too late to profit by it."

—*Bussy to Dupleix.*

सम्भवतः स्वयं उसे अपनी सफलता का विश्वास न था। इसी कारण वह कम्पनी के डायरेक्टरों से वास्तविक स्थिति को छिपाता रहा और उसने अपनी योजना उनके सामने प्रकट नहीं की। फलस्वरूप उसे फ्रान्स से कोई सहायता नहीं मिली। इसके अतिरिक्त, डायरेक्टर उसकी नीति को शंका की दृष्टि से देखने लगे थे। सम्भवतः, यदि डूपले ने अपनी योजना स्पष्ट की होती तो उसे फ्रान्स से सहायता मिल जाती और वह अपनी योजना में सफल हो पाता। परन्तु उसकी इस भूल ने उसे केवल अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहने के लिए बाध्य किया जो भारत जैसे दूरस्थ देश में साम्राज्य स्थापित करने के लिए किसी भी मात्रा में पर्याप्त न थी।

फ्रान्सीसी सरकार पहले से ही अमेरिका के उपनिवेशों में रुचि रखती थी और जब डूपले ने अपनी योजना स्पष्ट नहीं की तो उसका ध्यान अमेरिका की ओर ही लगा रहा। भारत में साम्राज्य की स्थापना करने की ओर उसका ध्यान नहीं गया और जब उसे डूपले की योजना का थोड़ा आभास हुआ उस समय तक गोड्यू भारत में गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण करने के लिए फ्रान्स से चल चुका था। इस प्रकार डूपले की यह भूल भी उसकी असफलता का एक कारण थी।

4. डूपले इतिहास के इस सबक को भूल गया कि एक भागे हुए शाहजादे का पक्ष लेना लाभप्रद नहीं होता—डूपले ने चाँदा साहब का पक्ष लिया था जो वर्षों तक मराठों की कैद में रहा था और जिसका कर्नाटक की राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं रहा था और न उस प्रदेश में उसका कोई प्रभाव था। यदि डूपले ने मुहम्मदअली का पक्ष लिया होता तो सम्भवतः उसे सफलता मिल जाती क्योंकि मुहम्मदअली अपने पिता के समय से ही कर्नाटक से सम्बन्धित था और वहाँ के नागरिक भी गद्दी पर उसके अधिकार को स्वीकार करते थे।

5. डूपले द्वारा धन का अपव्यय और एक भारतीय नवाब की तरह रहना—डूपले ने नवाब का पद ग्रहण कर लिया था और वह एक भारतीय नवाब की भाँति शान-शौकत से रहता था। इससे उसके बारे में गलत धारणाएँ बनीं। स्वयं फ्रान्स में यह विचार फैला कि सम्भवतः वह एक विलासी और अहंकारी व्यक्ति है जो अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए फ्रान्सीसी कम्पनी और फ्रान्स के हित को बलिदान करते हुए कम्पनी तथा फ्रान्स को अनावश्यक युद्धों में फँसा रहा था। इस धारणा के कारण भी उसे कहीं से सहायता प्राप्त नहीं हुई।

6. डूपले ने एक ही स्थान पर अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं किया—डूपले ने कर्नाटक और हैदराबाद दोनों ही स्थानों पर एक साथ हस्तक्षेप किया जो उसकी और फ्रान्सीसी कम्पनी की शक्ति की सीमा के बाहर की बात थी। यदि अपनी स्थिति को देखते हुए, व्यावहारिकता के आधार पर, उसने एक ही स्थान पर हस्तक्षेप किया होता तो सम्भवतः वह सफल हो जाता। सीमा और शक्ति के बाहर कार्य करने और शीघ्रता से ही महान् कार्य की पूर्ति करने की लालसा ने भी डूपले को असफल कर दिया।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों से डूपले असफल हुआ। उसकी असफलता भारत में फ्रान्सीसी कम्पनी की असफलता का भी कारण बनी यद्यपि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि फ्रान्सीसी कम्पनी और फ्रान्स की दुर्बलताएँ भी उसकी असफलता का कारण थीं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कर्नाटक में हुए अंग्रेज-फ्रान्सीसी संघर्ष का वर्णन कीजिए।
2. भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों की असफलता के कारणों पर विचार कीजिए।
3. डूपले क्यों और किस सीमा तक भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों की असफलता के लिए उत्तरदायी था ?

6

बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार : प्लासी और बक्सर का युद्ध

बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अलीवर्दीखाँ ने अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित किया था। वह साहसी और कूटनीतिज्ञ था। अपने समय में उसने यूरोपियन जातियों को न तो अपने सूबे में संघर्ष करने दिया और न ही सूबे की राजनीति में उन्हें हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। परन्तु 1756 ई. में उसकी मृत्यु और उसके नाती सिराजुद्दौला के गद्दी पर बैठते ही परिस्थितियाँ बदलने लगीं और एक वर्ष में ही बंगाल का सूबा युद्ध और संघर्ष का स्थल बन गया जिसका अन्तिम परिणाम बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अंग्रेज कम्पनी के प्रभाव की स्थापना था। वस्तुतः भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का प्रारम्भ बंगाल, बिहार और उड़ीसा से हुआ।

1. अंग्रेजों और सिराजुद्दौला के झगड़े के कारण एवं प्लासी का युद्ध और बंगाल की प्रथम क्रान्ति

कारण

अनेक अंग्रेज इतिहासकारों ने नवाब सिराजुद्दौला की विलासिता, क्रूरता और शासन में अत्याचार को झगड़े का मुख्य कारण बताया है। उनका कहना है कि नवाब का शासन अप्रिय था और उसे गद्दी से हटाने के षड्यन्त्र चल रहे थे, तथा क्योंकि नवाब प्रारम्भ से ही अंग्रेजों का शत्रु था, इस कारण अपनी सुरक्षा के लिए अंग्रेजों ने उसे गद्दी से हटाने में भाग लिया। परन्तु यह विचार मान्य नहीं है। नवाब का शासन भारत के उस समय के अन्य शासकों के शासन से भिन्न था और न उसके अत्याचार ही अंग्रेजों द्वारा उसके विरोध का कारण थे। झगड़े के मुख्य कारण कुछ अन्य थे जो निम्नलिखित हैं :

1. **राजनीतिक**—झगड़े का मुख्य कारण सिराजुद्दौला का अपनी शक्ति का व्यावहारिक प्रयोग था। जिस समय वह गद्दी पर बैठा था तभी अलीवर्दीखाँ की बड़ी बेटी घसीटी बेगम सिराजुद्दौला के छोटे भाई और अपने गोद लिये हुए लड़के मुराउद्दौला को नवाब बनाने के पक्ष में थी। पूर्णिया का सूबेदार शौकतजंग जो नवाब का सम्बन्धी भी था, गद्दी का दूसरा दावेदार था जिसे अक्टूबर 1756 ई. में नवाब ने एक युद्ध में परास्त किया और मार दिया। नवाब का सेनापति तथा अलीवर्दीखाँ का बहनोई मीरजाफर भी यदि नवाब बनने का नहीं तो नवाब के नाम से स्वयं राज्य चलाने के लिए अवश्य उत्सुक था। कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे सिराजुद्दौला ने यह अनुभव किया कि अंग्रेज न केवल उसकी आज्ञा को ही मानने से इन्कार करते हैं बल्कि उसके शत्रुओं तथा गद्दी के दावेदारों की सहायता भी करते हैं। इस कारण नवाब होने के नाते उसने अंग्रेजों की शक्ति को दुर्बल करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर,

अंग्रेजों ने नबाव के विरुद्ध चल रहे षड्यन्त्रों में भाग लेकर बंगाल में अंग्रेजी प्रभाव को बढ़ाने का उपयुक्त अवसर देखा। मुख्यतः इसी कारण नवाब और अंग्रेजों का संघर्ष हुआ।

2. सिराजुद्दौला का प्रारम्भ से ही अंग्रेजों पर सन्देह करना—कुछ अंग्रेज इतिहासकारों के अनुसार सिराजुद्दौला प्रारम्भ से ही अंग्रेजों पर सन्देह करता था। नवाब अलीवर्दीखाँ दक्षिण में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की प्रगति के कारण उनके प्रति शंकालु हो गया था। उसका विचार था कि यूरोपियन बंगाल में वही कार्य करेंगे जो वह दक्षिण में कर रहे थे। हॉलवेल (Holwell) ने लिखा है कि अलीवर्दीखाँ ने सिराजुद्दौला से मरते समय कहा था कि "देश में यूरोपियनों की शक्ति क्या है, इसका ध्यान रखो। तेलंगाना की भूमि में उनकी राजनीति और युद्धों को देखते हुए तुम्हें जागृत रहना चाहिए। अपने पारस्परिक झगड़ों के आधार पर उन्होंने राजा की भूमि और उसकी प्रजा की सम्पत्ति को आपस में बाँट लिया है। तीनों को एक साथ दुर्बल करने की मत सोचना। अंग्रेजों की शक्ति अधिक है। पहले उसे समाप्त करना। तब अन्य तुम्हें कम दुःख देंगे। जब तुम उनकी शक्ति को दबा दो, तो मेरे बच्चे, उन्हें सैनिक रखने और किले बनाने की आज्ञा मत देना। यदि तुमने यह आज्ञा दी तो देश तुम्हारा नहीं रहेगा।"[1] हॉलवेल का यह कथन चाहे एक विचार मात्र हो, परन्तु इसमें जो शंका व्यक्त की गयी थी, उसमें अवश्य ही बल था। नवाब यदि प्रारम्भ से नहीं तो बाद में अवश्य ही अंग्रेजों के व्यवहार को शंका से देखने लगा था जिसके कारण उसने बंगाल में उनकी शक्ति को तुरन्त दबाने का प्रयत्न किया।

3. नवाब के प्रति अंग्रेजों का दुर्व्यवहार—फ्रान्सीसियों की भाँति अंग्रेजों ने कभी भी नवाब के प्रति सम्मान प्रदर्शित नहीं किया। अंग्रेजों ने नवाब के राज्याभिषेक के अवसर पर भी उसे बहुमूल्य उपहार नहीं दिये। एक बार तो उन्होंने नवाब को अपनी कासिमबाजार की फैक्टरी दिखाने तक से इन्कार कर दिया। मि. लॉ ने लिखा : "उन्होंने अपने व्यापार के सम्बन्ध में भी कभी कोई सूचनात्मक पत्र सिराजुद्दौला को नहीं लिखा।"[2] नवाब को यह विश्वास हो गया था कि अंग्रेज उसके शत्रु शौकतजंग से पत्र-व्यवहार कर रहे थे और इस सब से नवाब के सम्मान को ठेस पहुँची।

4. व्यापारिक झगड़ा—अंग्रेज मुगल बादशाह फर्रुखशियर के 1717 ई. के आदेश-पत्र के अनुसार बिना कर दिये व्यापार करते थे। इससे भारतीय व्यापारियों को हानि होती थी और नवाब की आय में कमी आती थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज अपने 'दस्तक' (Free Pass) का प्रयोग भारतीयों को करने देते थे जिससे अंग्रेजों के नाम से भारतीय व्यापारी भी अपने व्यापारिक सामान को कर-मुक्त करा लिया करते थे। यदि नवाब के अधिकारी इसे रोकना भी चाहते थे तो अंग्रेज ऐसे भारतीय व्यापारियों को संरक्षण प्रदान कर देते थे। नवाब इससे

---

1 "Keep in view the power the European natives have in the country. Their wars and politics in the Telingana territory should keep you waking. On pretence of private contest they have seized and divided the country of the king and the goods of his people between them. Think not of weakening all the three together. The power of the English is great......Reduce them first; then others will give you less trouble. When you have reduced them, offer them not, my son, to have fortifications or soldiers, if you do, the country is not yours."
—Alivardi Khan to Siraj—*Holwell's Description.*

2 "They never addressed themselves to Sirajuddaula for their business."
—*Mr. Law.*

असन्तुष्ट था और इस सम्बन्ध में अंग्रेजों से कोई अन्य समझौता करना चाहता था। परन्तु अंग्रेज अपने इस विशेषाधिकार को छोड़ने के लिए तत्पर न थे। अतएव अंग्रेजों और सिराजुद्दौला के बीच आर्थिक झगड़ा मुख्य था।

5. अंग्रेजों का कृष्णबल्लभ को नवाब के हाथों में देने से इन्कार करना— कृष्णबल्लभ घसीटी बेगम के दीवान राजबल्लभ का पुत्र था। राजबल्लभ ने घसीटी बेगम के धन को छिपाने का प्रयत्न किया। इस कारण नवाब ने उसे उसके पद से हटा दिया। परन्तु इससे पहले ही राजबल्लभ ने अपनी सम्पत्ति अपने पुत्र कृष्णबल्लभ को देकर उसे अंग्रेजों के संरक्षण में भेज दिया। जब नवाब ने कृष्णबल्लभ को अंग्रेजों से वापस माँगा तो अंग्रेजों ने ऐसा करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया तथा नवाब के प्रतिनिधि नारायनसिंह का अपमान भी किया। इससे नवाब यह अनुभव करने लगा कि अंग्रेज उसके शत्रुओं को संरक्षण देते हैं। नवाब का यह विचार ठीक भी था क्योंकि अंग्रेज नवाब के डर से भागे हुए सभी व्यक्तियों को शरण देते थे।

6. अंग्रेजों द्वारा कलकत्ता के किले की किलेबन्दी करना और नवाब की आज्ञा का पालन न करना—इसी अवसर पर अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों से युद्ध की आशंका हुई। इस कारण उन्होंने कलकत्ता के किले की मरम्मत और उसके चारों तरफ एक खाई खोदनी आरम्भ की। नवाब को यह कार्य पसन्द नहीं आया और उसने किले की मरम्मत को तुरन्त बन्द कर देने और खाई को समतल कर देने के आदेश जारी किये । उसने अंग्रेजों को लिखा : "तुम व्यापारी हो, तुम्हें किले की क्या आवश्यकता है। मेरी सुरक्षा में रहते हुए तुम्हें किसी भी शत्रु का भय नहीं होना चाहिए।"[1] यह कहा गया है कि किसी दम्भी अंग्रेज अधिकारी ने नवाब के कर्मचारियों से यहाँ तक कहा : "यह खाई भर दी जायेगी परन्तु मुसलमानों के सिरों से।"[2] यह सूचना नवाब को दी गयी और नवाब ने अंग्रेजों को सजा देने का निश्चय कर लिया।

इस प्रकार सिराजुद्दौला और अंग्रेजों के बीच झगड़ा आरम्भ होने के कारण बन गये। स्वयं मि. हिल ने स्वीकार किया : "इस प्रकार स्पष्ट है कि सिराजुद्दौला ने जिन बहानों के आधार पर अंग्रेजों पर आक्रमण किया, उनमें तर्क अवश्य था।"[3]

सिराजुद्दौला का कलकत्ता पर आक्रमण और तथाकथित कालकोठरी की घटना (20 जून, 1756 ई.)

जून के प्रारम्भ में नवाब ने अंग्रेजों की कासिमबाजार की फैक्टरी पर आक्रमण किया और उसे जीतकर कलकत्ता पर आक्रमण किया। 16 जून को आक्रमण हुआ। गवर्नर ड्रेक और अधिकांश अंग्रेज जहाज पर बैठकर फुल्ता (Fulta) टापू पर भाग गये और मि. हॉलवेल ने किले की सुरक्षा का प्रबन्ध किया। 20 जून को नवाब ने किले पर अधिकार कर लिया। यहीं पर कालकोठरी की दुर्घटना (Black Hole Tragedy) का होना बताया जाता है।

इस घटना का विवरण मि. हॉलवेल ने अपने एक मित्र को एक पत्र लिखते हुए दिया था। उसके अनुसार 146 अंग्रेज कैदियों को नवाब के आदेशानुसार 18 फीट लम्बी और 14

---

1 "You are merchants. What need have you of a Fortress. Being under my protection, you have no enemies to fear." —*Sirajuddaula to the English.*

2 "The ditch shall be filled up, provided it be with the heads of Moors." —*An English Officer.*

3 "It will be seen, therefore, that Siraj had a show of reason in all the pretexts he alleged for his attack on the British." —*Mr. S. C. Hill.*

फीट 10 इंच चौड़ी एक अँधेरी कोठरी में रातभर के लिए बन्द कर दिया गया। जून की गर्मी के कारण उनमें से एक ही रात में 123 व्यक्ति मर गये और केवल 13 व्यक्ति बचे जिन्हें नवाब ने बाद में अंग्रेजों को वापस कर दिया।

अंग्रेजों ने इस घटना को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया है। सम्भवतः उनका एकमात्र लक्ष्य सिराजुद्दौला को एक क्रूर नवाब सिद्ध करने का था। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस दुर्घटना की सत्यता में विश्वास नहीं करते। आधुनिक खोजों ने जिनमें डॉ. भोलानाथ की प्रमुख है, यह सिद्ध कर दिया है कि इस दुर्घटना की कहानी मि. हॉलवेल ने अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए बनायी थी और यह दुर्घटना कभी नहीं हुई। परन्तु यदि हम इस घटना के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए विवाद के कारण यह स्वीकार भी कर लें कि यह घटना हुई थी, तब भी सब इतिहासकार कम से कम इस बात पर अवश्य सहमत हैं कि इसका दोष नवाब पर बिलकुल नहीं था। इस घटना को असत्य प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

(i) किसी भी तत्कालीन इतिहासकार ने इस घटना का वर्णन नहीं किया है। मुसलमान इतिहासकारों की पुस्तकों मुख्यतः 'सर-ए-मुतखारीन' और 'रियाज-उस-सलातीन' में इस घटना का कोई विवरण नहीं है।

(ii) तत्कालीन अंग्रेजी पुस्तकों में जो उस समय फुल्ता टापू में लिखी गयीं, इस घटना का कोई विवरण नहीं है। उस समय की मद्रास कौंसिल के वाद-विवादों और डायरेक्टरों को क्लाइव तथा वाटसन द्वारा लिखे गये पत्रों में भी इस घटना का कोई उल्लेख नहीं है।

(iii) मि. हॉलवेल बहुत झूठा व्यक्ति था। 1760 ई. में उसने नवाब मीरजाफर पर दोषारोपण किया कि उसने एक ही रात में अनेक व्यक्तियों की हत्या करायी है। उसने नवाब के आदेश पर मारे गये व्यक्तियों के नामों की सूची भी दी थी। परन्तु उसी के बारे में 1765 ई. में क्लाइव और वाटसन ने लिखा : "मृत नवाब मीरजाफर की याद में उसके साथ न्याय करते हुए यह कहना पड़ता है कि मि. हॉलवेल ने नवाब पर जो अमानुषिक क्रूरता का दोष लगाया था, उसमें नाममात्र का भी सत्य नहीं है। तीन के अतिरिक्त वे सभी व्यक्ति अभी तक जीवित हैं, जिनके बारे में उसने कहा था कि वे नवाब के आदेश पर कत्ल कर दिये गये।"[1]

(iv) गणित के किसी भी हिसाब से उस इतने से छोटे कमरे में 146 व्यक्ति बन्द नहीं किये जा सकते थे।

(v) 1757 ई. में अंग्रेजों ने जो सन्धि नवाब सिराजुद्दौला से की उसके द्वारा अंग्रेजों ने अपनी क्षतिपूर्ति के लिए नवाब से धन की माँग की। उस माँग में सभी प्रकार की हानियों की पूर्ति के लिए धन माँगा गया। परन्तु उसमें इस दुर्घटना में मारे गये व्यक्तियों के परिवारों की क्षतिपूर्ति के लिए कोई धन नहीं माँगा गया। अगर यह दुर्घटना हुई होती तो अंग्रेज इसके लिए भी अवश्य धन माँगते।

(vi) जो व्यक्ति इस दुर्घटना में मारे गये थे उनके नामों का अभी तक पता नहीं चला है। यह भी सन्देह किया जाता है कि उस समय किले में इतने अंग्रेज थे भी या नहीं, जैसा कि मि. हिल ने लिखा है : "केवल वही जो बीमार थे अथवा जिनको चोटें आयी थीं, पीछे रह गये थे

---

1 "In justice to the memory of the late Nawab Mir Zafar it should be said that the cruel acquisitions made against him by Mr. Holwell had not the least foundation of truth. All those whom he says were murdered under the orders of the Nawab, are now living with the exception of three." —*Clive and Watson.*

जबकि बाकी सभी ने भागकर फुल्ता टापू में शरण ले ली थी।"[1] यह भी कहा जांता है कि यथार्थ में यदि ये बन्दी वहाँ थे भी तो उन्हें किसी कोठरी में नहीं बल्कि किले में ही रखा गया था और वह दम घुटने से नहीं बल्कि युद्ध में लगी हुई चोटों से मरे थे।

(vii) विभिन्न व्यक्तियों ने इस दुर्घटना के बारे में भिन्न-भिन्न विवरण दिये हैं। डॉ. विल्सन मि. हॉलवेल के विवरण को स्वीकार करते हैं जबकि कैप्टेन ग्राण्ट ने लिखा था कि वह कोठरी केवल 16 वर्ग फीट थी और उसमें 200 व्यक्ति बन्द किये गये थे, जिनमें से केवल 10 जीवित रहे थे।

इसके अतिरिक्त जैसा कि स्वयं हॉलवेल का विवरण है, उसी से नवाब इस दोष से मुक्त हो जाता है। उसकी कहानी के अनुसार अंग्रेज सैनिकों ने शराब पी रखी थी और परस्पर दुर्व्यवहार किया था। जब वे कैदी नवाब के सामने लाये गये तो नवाब ने पूछा कि ऐसे कैदियों को कहाँ रखा जाय ? कुछ अंग्रेजों ने स्वयं ही एक कोठरी की ओर इशारा किया और नवाब ने उनको वहीं कैद करने की आज्ञा दे दी। नवाब के अधिकारियों ने, जो अंग्रेजों से अप्रसन्न थे, उन सभी को उसी एक कोठरी में बन्द कर दिया जिसमें यह दुर्घटना हुई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि या तो यह घटना हुई ही नहीं और यदि हुई तो कम से कम नवाब इस दुर्घटना के लिए उत्तरदायी नहीं था।

अलीनगर (कलकत्ता) की सन्धि (1757 ई.)

[नवाब ने कलकत्ता को जीतकर उसका नाम अलीनगर रख दिया था]

कलकत्ता के पतन की सूचना जब मद्रास पहुँची तो कलकत्ता पर पुनः अधिकार करने के लिए समुद्री मार्ग से एडमिरल वाटसन (Watson) को और स्थल-मार्ग से क्लाइव को भेजा गया। 2 जनवरी, 1757 ई. को अंग्रेजों ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया और हुगली तथा आसपास के प्रदेश को लूटा। सिराजुद्दौला एक बड़ी सेना लेकर कलकत्ता की ओर गया। परन्तु एक साधारण युद्ध के पश्चात् उसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली। फरवरी 1757 ई. में सम्पन्न हुई अलीनगर की सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं :

1. मुगल बादशाह द्वारा अंग्रेजों को दी गयी सभी सुविधाओं को नवाब ने स्वीकार कर लिया।
2. अंग्रेजों के 'दस्तक' से जो भी सामान आयेगा, उस पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं में कोई कर नहीं लिया जायेगा।
3. नवाब कम्पनी और उसके कर्मचारियों की उन सभी वस्तुओं को वापस कर देगा जिन्हें नवाब ने छीन लिया था। इसके अतिरिक्त नवाब क्षतिपूर्ति के रूप में अंग्रेजों को धन देगा।
4. अंग्रेज कलकत्ता की किलेबन्दी अपनी इच्छानुसार करेंगे।
5. अंग्रेजों को अपने सिक्के बनाने का अधिकार होगा।

अलीनगर की सन्धि का परिणाम अंग्रेजों और नवाब के बीच सद्भावना स्थापित होना नहीं था। उस अवसर पर दोनों शक्तियों ने अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सन्धि को स्वीकार कर लिया था और दोनों में से किसी की भी इच्छा उस सन्धि की शर्तों को पूरा करने की न थी। भारत में 'सप्तवर्षीय युद्ध' की सूचना आ गयी थी और अंग्रेजों को फ्रान्सीसियों एवं नवाब के मिल जाने का भय था। क्लाइव ने स्वयं कहा था : "एक या दो दिन की देर भी फ्रान्सीसियों

1 "Only those who were sick or who had received wounds had remained behind while all others had fled and taken refuge at Fulta." —*Mr. S. C. Hill.*

और नवाब के मिल जाने से कम्पनी की स्थिति को पूर्णतः नष्ट कर सकती थी।"[1] बंगाल में फ्रान्सीसियों के पास 800 यूरोपियन सैनिक और अच्छा तोपखाना था तथा कलकत्ता से केवल 300 मील दूर 'उत्तरी-सरकार' प्रदेश में बुसी उपस्थित था। यदि उस समय फ्रान्सीसी और नवाब मिल जाते तो अंग्रेजों के लिए कठिनाई हो सकती थी। इसके अतिरिक्त क्लाइव के सम्बन्ध एडमिरल वाटसन तथा कलकत्ता की कौंसिल से अच्छे नहीं चल रहे थे क्योंकि वे क्लाइव के असीमित अधिकारों से असन्तुष्ट थे। इस कारण अंग्रेजों के लिए सन्धि करना लाभदायक था और जिन शर्तों पर उन्होंने सन्धि की वे सम्मानजनक तथा उनके प्रभाव को बढ़ाने वाली थीं। सिराजुद्दौला को भी कुछ कठिनाइयों के कारण सन्धि करना आवश्यक हो गया था। उसके मुख्य सरदार और उसका श्वसुर मुहम्मद इराजखाँ सन्धि के पक्ष में थे। उसी अवसर पर मुगल बादशाह के विरुद्ध अहमदशाह अब्दाली की विजय के कारण नवाब घबड़ा गया। उसे यह भय हो गया कि कहीं रुहेलों और अवध के नवाब की सहायता लेकर अब्दाली बंगाल पर भी आक्रमण न कर दे। इस प्रकार दोनों पक्षों ने कुछ विशेष परिस्थितियों में यह सन्धि स्वीकार की थी अन्यथा दोनों में से कोई भी पक्ष सद्भावना के पक्ष में न था। ऐसी स्थिति में युद्ध कभी भी हो सकता था और उस युद्ध में अधिक देर लगी भी नहीं।

पुनः युद्ध आरम्भ होने के तात्कालिक कारण

1. अलीनगर की सन्धि की शर्तों का पूरा न होना—अंग्रेज और नवाब दोनों में से कोई भी इस सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए तैयार न था। नवाब ने क्षतिपूर्ति के रूप में जो धन अंग्रेजों को देने का वायदा किया था, उसे पूरा नहीं किया। रैमजे म्योर (Ramsay Muir) ने लिखा है : "नवाब सन्धि की शर्तों को पूरा करने के लिए तत्पर न था, इस कारण युद्ध आवश्यक बन गया।"[2] इस कारण अंग्रेजों ने नवाब के द्वारा युद्ध की तैयारी करने से पहले ही युद्ध आरम्भ करना उचित समझा। नवाब, निस्सन्देह, सन्धि की शर्तों को पूरा करने को तैयार न था परन्तु यही स्थिति अंग्रेजों की भी थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज भलीभाँति जानते थे कि सिराजुद्दौला के सुरक्षित रहते हुए उनकी सुरक्षा सुनिश्चित नहीं थी।

2. अंग्रेजों द्वारा नवाब पर उसके द्वारा दिये गये आश्वासनों को पूरा न करने का दोषारोपण—नवाब ने अपने कुछ व्यक्तिगत पत्रों में अंग्रेजों को आश्वासन दिया था कि नवाब अंग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता नहीं रखेगा। अंग्रेजों ने इस आश्वासन को भी सन्धि की शर्तों की भाँति माना। नवाब ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि नवाब ने इस शर्त को सन्धि की शर्तों में सम्मिलित करने से इन्कार कर दिया था। जब अंग्रेजों ने 1757 ई. में चन्द्रनगर पर आक्रमण किया, तब नवाब ने बहुत बुरा माना और उसने फ्रान्सीसियों की सहायता के लिए कुछ सेना भेजी। इसे अंग्रेजों ने शत्रुता का व्यवहार माना और नवाब पर सन्धि की शर्तों को तोड़ने का आरोप लगाया। नवाब ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त नवाब फ्रान्सीसियों को अंग्रेजों का शत्रु मानने को तैयार न था क्योंकि बंगाल में फ्रान्सीसियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया था।

3. सिराजुद्दौला के विरुद्ध षड्यन्त्र—सिराजुद्दौला के विरुद्ध राज्य में असन्तोष व्याप्त था, इसमें कोई सन्देह नहीं है। नवाब अलीवर्दीखाँ का अपनी हिन्दू प्रजा के साथ व्यवहार

---

1 "The delay of a day or two might have ruined the company's affairs by the junction of the French with the Nawab." —*Robert Clive.*

2 "The Nawab was not going to fulfil the terms of the treaty and hence war became necessary." —*Ramsay Muir.*

सद्भावनापूर्ण था और उन्हें राज्य में बड़े-बड़े पद प्राप्त थे। परन्तु सिराजुद्दौला धार्मिक दृष्टि से कट्टर था। उसकी धार्मिक अनुदारता की नीति से हिन्दू असन्तुष्ट थे। इसके अतिरिक्त नवाब ने राज्य के बड़े पदाधिकारियों तथा हिन्दू सेठों को भी असन्तुष्ट कर दिया था। रायबल्लभ को दीवान के पद से हटा दिया गया था, बंगाल के जगत-सेठ को, जो एक धनवान हिन्दू व्यापारी था, अपमानित किया गया था और मीरजाफर को मीरबख्शी के पद से हटा दिया गया था। इस कारण, कुछ मुसलमान सरदार प्रभावशाली हिन्दुओं की सहायता से नवाब को गद्दी से हटाने का षड्यन्त्र कर रहे थे और इस षड्यन्त्र में प्रमुख व्यक्ति मीरजाफर था जो उस समय भी राज्य की सेना का सेनापति था। धनवान हिन्दू इस षड्यन्त्र में सम्मिलित थे जिनमें महाराजा कृष्णचन्द्र और जगत-सेठ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अंग्रेज भी इस षड्यन्त्र में शामिल हो गये। हिन्दू व्यापारियों और अंग्रेजों के आर्थिक हितों में पर्याप्त निकटता भी थी। इसी कारण अंग्रेजों को इसमें सम्मिलित किया जाना कठिन न था। अप्रैल 1757 ई. में जब प्रथम बार अंग्रेजों को इस षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का संकेत दिया गया तो अंग्रेजों ने इसे उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया। आर्थिक हितों की सुरक्षा के अतिरिक्त अंग्रेजों को यह भी विश्वास था कि सूबे के शासन में परिवर्तन होने और स्वयं उस परिवर्तन में सहायता देने से वे विभिन्न प्रकार के लाभ प्राप्त कर सकते थे।

जून 1757 ई. में अंग्रेजों और अन्य षड्यन्त्रकारियों में एक सन्धि हो गयी। इस सन्धि के द्वारा निश्चित किया गया कि मीरजाफर को बंगाल का नवाब बनाया जायेगा। इसके बदले में मीरजाफर, नवाब बनने के पश्चात्, कलकत्ता में हुई कम्पनी की हानि की क्षतिपूर्ति के लिए एक करोड़ रुपया अंग्रेज कम्पनी को, यूरोपियनों की हानि-पूर्ति के लिए 50 लाख रुपया यूरोपियन नागरिकों को तथा 20 लाख रुपया हिन्दू व्यापारियों को उन्हें हुई हानि की पूर्ति हेतु देगा। वह युद्ध में होने वाले व्यय की पूर्ति भी करेगा। वह अंग्रेज कम्पनी को कलकत्ता की सम्पूर्ण भूमि का स्वामित्व और उसके दक्षिण की भूमि के जमींदारी अधिकार भी देगा तथा हुगली के निकट कोई किलेबन्दी नहीं करेगा। जब षड्यन्त्र की योजना पूरी हो गयी और प्रत्येक प्रकार का समझौता हो गया तब अमीचन्द ने धमकी दी कि यदि उसे 30 लाख रुपया और नवाब के खजाने का 50% भाग देने का वचन नहीं दिया गया तो वह सम्पूर्ण षड्यन्त्र से नवाब को परिचित करा देगा। अमीचन्द इस षड्यन्त्र में दोनों पक्षों के बीच बातचीत व समझौता कराने में सहायता कर रहा था और उसे षड्यन्त्र की पूरी जानकारी थी। क्लाइव ने इस कारण दो सन्धियाँ तैयार करायीं—एक सफेद कागज पर जो सच्ची थी और दूसरी लाल कागज पर जो झूठी थी और जिसमें अमीचन्द की शर्तों को स्वीकार किया गया था। झूठी सन्धि के कागज पर वाटसन ने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। इस कारण क्लाइव ने उस पर वाटसन के जाली हस्ताक्षर बना दिये और इस प्रकार अमीचन्द को धोखा देकर सन्तुष्ट कर दिया गया और षड्यन्त्र पूरा हो गया।

युद्ध

इसके पश्चात् क्लाइव ने नवाब पर दोषारोपण किया कि उसने अलीनगर की सन्धि की शर्तों का पालन नहीं किया है, और नवाब का उत्तर मिलने से पहले ही वह अपनी सेनाओं को लेकर प्लासी के मैदान की ओर चल दिया। 23 जून, 1757 ई. को प्लासी का युद्ध हुआ। षड्यन्त्र के अनुरूप नवाब की अधिकांश सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया जिसका दाहिना भाग दुर्लभराय और बायाँ भाग मीरजाफर के नेतृत्व में था और ये दोनों ही अंग्रेजों से मिले हुए थे। नवाब भाग खड़ा हुआ परन्तु राजमहल के निकट पकड़ा गया और मुर्शिदाबाद भेज दिया गया। वहाँ पर मीरजाफर के लड़के मीरन ने उसे मुहम्मद बेग के द्वारा कत्ल करा दिया। 24 जून को मीरजाफर मुर्शिदाबाद पहुँचा और पाँच दिन पश्चात् क्लाइव ने वहाँ पहुँचकर उसे बंगाल, बिहार और उड़ीसा का नवाब घोषित कर दिया।

युद्ध के परिणाम

सैनिक दृष्टि से प्लासी का युद्ध महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। यद्यपि नवाब की सेना अंग्रेजों की सेना से बहुत बड़ी थी परन्तु उसकी अधिकांश सेना ने युद्ध में भाग नहीं लिया था। अंग्रेजों के केवल 65 व्यक्ति मारे गये थे और नवाब के 500 सैनिक। मीरजाफर और दुर्लभराय दोनों ने युद्ध के मैदान में सिराजुद्दौला को धोखा दिया। अतएव नवाब की पराजय का कारण सैनिक दुर्बलता न होकर क्लाइव की कूटनीति और षड्यन्त्र था। उसने जगत-सेठ के भय और मीरजाफर की महत्वाकांक्षाओं का पूर्ण लाभ उठाया। के. एम. पणिक्कर ने लिखा है : "प्लासी एक ऐसा व्यापार था जिसमें बंगाल के धनवान सेठों और मीरजाफर ने नवाब को अंग्रेजों के हाथों बेच दिया था।"[1]

परन्तु प्लासी का युद्ध बंगाल में बाद की घटनाओं की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अंग्रेजों को इससे आर्थिक लाभ हुआ। अमीचन्द को अंग्रेजों ने कुछ नहीं दिया और स्वयं 72,71,666 रुपये पहले, 16,55,358 रुपये उसके पश्चात् और पुनः 15,99,737 रुपये प्राप्त किये। यह विश्वास किया जाता है कि अंग्रेजों को धन देने के लिए नवाब मीरजाफर को अपने महल के बर्तन और अन्य सामान तक बेचना पड़ा था। 24-परगना की जागीर भी नवाब ने अंग्रेजों को दी। अंग्रेजी व्यापार को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के अन्तर्गत पूर्ण स्वतन्त्रता दी गयी और इन सूबों के विभिन्न भागों में अंग्रेजों ने अपनी फैक्टरियाँ स्थापित कीं। अंग्रेजों ने 1757 ई. में सबसे पहले कलकत्ता में टकसाल स्थापित की और अपना सिक्का चलाया। कम्पनी के सभी बड़े कर्मचारियों और स्वयं क्लाइव को मीरजाफर ने बहुमूल्य उपहार भेंट-स्वरूप दिये। बंगाल उस समय भारत का एक सम्पन्न सूबा था। उसके व्यापार और सम्पत्ति पर अधिकार करके अंग्रेजों ने कर्नाटक के युद्धों में सफलता पायी और धीरे-धीरे भारत में अपनी राजनीतिक स्थिति को दृढ़ किया। बंगाल में फ्रान्सीसी कभी भी नहीं पनप सके और डचों ने अंग्रेजों के विरुद्ध जो भी प्रयत्न किये, वे उनमें असफल हुए।

राजनीतिक दृष्टि से यह युद्ध और भी अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। नवाब मीरजाफर नाममात्र का शासक था। वह अंग्रेजों की सहायता से नवाब बना था और उन्हीं की सहायता से अपनी शक्ति को स्थापित रख पा रहा था। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज ही बंगाल के मालिक बन गये थे। 6,000 सैनिकों की एक अंग्रेजी सेना नवाब की सहायता के लिए रहती थी। नवाब की असहाय्यता इसी बात से स्पष्ट है कि वह अपने दीवान दुर्लभराय और बिहार के नाइब-दीवान रामनरायन को अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण चाहते हुए भी दण्ड नहीं दे सका। अंग्रेजों की सहायता से कोई भी व्यक्ति राज्य में कैसा भी स्थान प्राप्त कर सकता था और नवाब असहाय था। अपनी असहाय स्थिति के कारण ही क्लाइव के बंगाल से जाते ही नवाब ने अंग्रेजों के प्रभाव से मुक्त होने का प्रयत्न किया यद्यपि वह इसमें असफल हुआ। अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभुत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि मीरजाफर को गद्दी से हटाने के लिए उन्हें किसी रक्तपात अथवा युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। मेलीसन ने लिखा है : "इतना त्वरित, स्थायी और प्रभावशाली परिणामों वाला कोई अन्य युद्ध नहीं हुआ।"[2]

इस युद्ध का नैतिक प्रभाव भी महत्वपूर्ण था। एक व्यापारिक कम्पनी ने बंगाल के सूबेदार और वास्तविक शासक को युद्ध में परास्त कर दिया था। इससे अंग्रेज कम्पनी की

1 "Plassey was a transaction in which the rich bankers of Bengal and Mir Zafar sold out the Nawab to English." —*K. M. Panikkar.*

2 "There never was a battle, in which the consequences are so vast, so immediate and so permanent." —*Malleson.*

प्रतिष्ठा स्थापित हुई और भारत की राजनीतिक दुर्बलता स्पष्ट हुई। यह भी स्पष्ट हो गया कि हिन्दू जमींदार और व्यापारी पतनोन्मुख मुसलमानी राज्यों को विदेशियों की सहायता से समाप्त करने के लिए तत्पर थे। अंग्रेजों की व्यापारिक और साम्राज्य-विस्तार की नीति प्लासी के युद्ध के पश्चात् आरम्भ हुई।

इस प्रकार प्लासी का युद्ध इतिहास में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला सिद्ध हुआ।

2. मीरजाफर और उसकी विशेषताएँ; उसे गद्दी से हटाया जाना और बंगाल की द्वितीय क्रान्ति (1760 ई.)

मीरजाफर साहसहीन और अयोग्य व्यक्ति था। वह बंगाल का नाममात्र का शासक रहा। वह न शासन की देखभाल कर सका, न नवाब के सम्मान की रक्षा कर सका और न अंग्रेजों की बढ़ती हुई लालसाओं की सन्तुष्टि कर सका। इस कारण तीन वर्षों में उसे गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह आन्तरिक शासन और बाह्य सुरक्षा दोनों के लिए अंग्रेजों पर निर्भर करता था। उसकी इस दुर्बलता के कारण अंग्रेजों को उसे गद्दी से हटाने का साहस हुआ।

शाहजादा अलीगौहर ने, जो बाद में शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल बादशाह बना, बंगाल की खराब स्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न किया और अवध के नवाब शुजाउद्दौला की सहायता से 1759 ई. में बिहार पर आक्रमण किया। परन्तु उसे शुजाउद्दौला से विशेष सहायता प्राप्त नहीं हुई। क्लाइव ने एक सेना लेकर बिहार की ओर कूच किया और एक दूसरी सेना मीरजाफर के पुत्र मीरन के नेतृत्व में बिहार गयी। ऐसी स्थिति में शाहआलम को वापस लौटना पड़ा। बाद में 1760 ई. और 1761 ई. में भी उसने बंगाल को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये परन्तु असफल रहा।

1759 ई. में जबकि मीरजाफर अंग्रेजों से तंग आ चुका था, डचों ने बंगाल पर आक्रमण किया। हॉलवेल के अनुसार डचों का आक्रमण नवाब के षड्यन्त्र का परिणाम था। परन्तु वास्तविकता में डचों ने अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा के हितार्थ बढ़ते हुए अंग्रेजी प्रभाव को रोकने के लिए आक्रमण किया था। बेदरा (Bedara) के युद्ध में डचों की पराजय हुई और उन्होंने अंग्रेजों को क्षतिपूर्ति के रूप में धन देना स्वीकार किया। इसी समय शाहजादा मीरन ने डचों को एक दूसरी सन्धि करने के लिए बाध्य किया जिसके द्वारा डचों ने स्वीकार किया कि—

(1) नवाब उनको व्यापारिक सुविधाएँ देगा।

(2) वे कभी भी नवाब से युद्ध करने, उसकी सीमाओं में किलेबन्दी करने या सैनिक एकत्र करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

(3) वे पटना, चिनसुरा और कासिमबाजार की अपनी फैक्टरियों की सुरक्षा के लिए 125 यूरोपियन सैनिकों से अधिक सैनिक नहीं रखेंगे।

(4) वे अपने जहाजों और सैनिकों को नवाब की सीमाओं के बाहर ले जायेंगे; और

(5) यदि उन्होंने इनमें से किसी भी शर्त का उल्लंघन किया तो नवाब उनको पूरी तरह अपनी सीमाओं से बाहर निकाल देगा।

बेदरा की सन्धि ने डचों की महत्वाकांक्षाओं को समाप्त कर दिया और बंगाल की सीमाओं के अन्तर्गत वे पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर हो गये। सरकार तथा दत्त ने इस विषय में

लिखा है : "बेदरा का युद्ध अंग्रेजी सत्ता को बंगाल में स्थापित करने में प्लासी के युद्ध से अगला कदम था।"[1]

फरवरी 1760 ई. में क्लाइव भारत से इंगलैण्ड वापस गया और उसी वर्ष मीरजाफ़र को गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया गया। मीरजाफर को बंगाल के नवाब की गद्दी पर से हटाये जाने के निम्नलिखित कारण थे :

1. मीरजाफर की दुर्बलता—मीरजाफर पूर्णतः अयोग्य सिद्ध हुआ। वह न तो आन्तरिक शासन को सुधार सका और न ही विदेशी आक्रमणों से अपने सूबों की रक्षा करने में समर्थ हुआ। इन सभी बातों के लिए वह पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर था। उसने अपनी दुर्बलता के कारण अंग्रेजों के प्रभाव को बढ़ने और नवाब की स्थिति को निरन्तर दुर्बल और असम्मानित होने का अवसर प्रदान किया। उसने क्लाइव और विभिन्न अंग्रेजों को व्यक्तिगत रूप से बहुमूल्य उपहार देकर खजाने को खाली कर दिया। इससे उसने न केवल अंग्रेजों की धनलोलुपता में वृद्धि की बल्कि अंग्रेजों पर अपनी निर्भरता को भी बढ़ा दिया। निस्सन्देह, शासन की अव्यवस्था और नवाब की आर्थिक स्थिति को खराब करने में अंग्रेजों और मुख्यतः क्लाइव का भी उत्तरदायित्व था क्योंकि वह नवाब से निरन्तर धन की माँग करते रहते थे और नवाब उनकी माँग को ठुकराने की स्थिति में नहीं था। परन्तु तब भी यदि मीरजाफर योग्य होता तो नवाब बनने के पश्चात् वह नवाब के सम्मान में वृद्धि करने, शासन में अंग्रेजी प्रभाव को कम करने और राज्य की स्थिति को ठीक करके अपनी प्रजा की वफादारी प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करता। परन्तु वह इस कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य था और जब ऐसी स्थिति में उसने अंग्रेजों का विरोध करने का साहस किया अथवा उसकी तनिक इच्छा भी प्रकट की तो अंग्रेजों ने सरलतापूर्वक उस कठपुतले को नवाब की गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया।

2. सन्धि की शर्तों के अनुसार अंग्रेजों को धन देने में मीरजाफर की असमर्थता—मीरजाफर ने प्लासी के युद्ध से पहले जो सन्धि अंग्रेजों से की थी उसके अनुसार उसने अंग्रेजों को उनकी सहायता के बदले में पर्याप्त धन देने का वायदा किया था। परन्तु वह उस मात्रा में उस धन की पूर्ति न कर सका यद्यपि उसे अपने महल का सामान तक बेचना पड़ा। स्थिति यह बन गयी कि एक तरफ नवाब का दिवाला निकल चुका था तथा उसकी सेना वेतन न मिलने के कारण विद्रोही हो रही थी और दूसरी तरफ अंग्रेज निरन्तर उससे धन की माँग कर रहे थे। नवाब की आर्थिक स्थिति खराब होने के कई कारण थे। प्रारम्भ में ही मीरजाफर को सरकारी खजाने से उतना धन प्राप्त नहीं हुआ जिसकी उसे आशा थी। कम्पनी के कर्मचारियों द्वारा 'दस्तक' के दुरुपयोग और व्यापार में मनमानी करने के कारण राज्य की आय गिर गयी थी। इसके अतिरिक्त नवाब ने विभिन्न अंग्रेज अधिकारियों को जो उपहार दिये थे उससे भी उसकी आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई थी। इस कारण, अन्त में, नवाब ने कम्पनी से उसे सन्धि की आर्थिक शर्तों से मुक्त कर देने की प्रार्थना की। अंग्रेज इसके लिए तैयार न थे। उन्होंने आर्थिक दुर्बलता के लिए उसी को उत्तरदायी ठहराया और उस पर सन्धि की शर्तों को पूरा न करने का दोष लगाया।

3. नवाब के प्रति हॉलवेल का रुख—क्लाइव के इंगलैण्ड चले जाने के बाद हॉलवेल को अस्थायी रूप से बंगाल की अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बना दिया गया था। मीरजाफर ने उसका उचित सम्मान नहीं किया। मीरजाफर क्लाइव का बहुत सम्मान करता था क्योंकि वह

---

1 "The battle of Bedara is another step in advance from Plassey in the growth of British power in Bengal." —*Sarkar and Dutta.*

समझता था कि उसी के कारण वह बंगाल का नवाब बना था। परन्तु हॉलवेल को, जिसका पद अस्थायी था, वह उतना सम्मान न दे सका। यद्यपि यह सर्वथा अनुपयुक्त था कि व्यापारिक कम्पनी के कर्मचारी सूबे के नवाब से सम्मान की आशा करते परन्तु हॉलवेल इसके लिए कटिबद्ध था। अतः जब उसे नवाब से वांछित सम्मान प्राप्त नहीं हुआ तो वह चिढ़ गया और उसे हटाने की सोचने लगा। तब उसने नवाब पर क्रूरता, अत्याचार और विलासिता का दोष लगाया।

4. नवाब का डचों से पत्र-व्यवहार करना—हॉलवेल ने मीरजाफर पर यह आरोप लगाया कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध चिनसुरा के डचों से मिलकर षड्यन्त्र कर रहा था। यद्यपि मीरजाफर पर इस आरोप को सिद्ध करने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता परन्तु सम्भव है कि अंग्रेजों से छुटकारा पाने के लिए नवाब ने डचों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया हो।

5. अंग्रेजों की धन प्राप्त करने की लालसा—अंग्रेजों की धन प्राप्त करने की लालसा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। बंगाल की गद्दी पर परिवर्तन करना उनको धन प्राप्त करने की एक अच्छी सुविधा प्रदान करता था। यदि अंग्रेज अपनी सहायता से किसी अन्य व्यक्ति को नवाब बनाते तो यह निश्चित था कि नवीन नवाब सभी अंग्रेज अधिकारियों को बहुमूल्य उपहार प्रदान करता।

घटनाएँ

जब अंग्रेजों ने नवाब को गद्दी से हटाने का पूर्ण निश्चय कर लिया तब उन्होंने मीरकासिम के साथ एक समझौता किया। मीरकासिम नवाब का सम्बन्धी था और सेनापति भी। यह निश्चय कर लिया गया कि नवीन नवाब मीरकासिम होगा। 1760 ई. में अंग्रेजों और मीरकासिम में हुई सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने मीरकासिम को नवाब बनाना इन शर्तों पर स्वीकार किया कि मीरकासिम अंग्रेज कम्पनी को बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले सौंप देगा; वह नवाब पर जो कर्ज था उसे तुरन्त कम्पनी को देगा; वह सेना की संख्या में कमी कर देगा; वह कम्पनी को कर्नाटक के युद्धों में सहायता करने के लिए पाँच लाख रुपये देगा; और वह 50,000 पौण्ड वान्सीटार्ट को, 27,000 पौण्ड हॉलवेल को और 25,000 पौण्ड कम्पनी की कौंसिल के अन्य दो सदस्यों को देगा। इसके पश्चात् 1760 ई. में कलकत्ता की अंग्रेज कौंसिल ने नवाब को बदलने की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा : "नवाब जाफरअलीखाँ बहुत क्रोधी, क्रूर, लालची, आलसी और विलासी प्रकृति का है और उसके निकटस्थ व्यक्ति पूर्णतः उसके दास, खुशामदी तथा उसकी बुराइयों की पूर्ति का साधन बने हुए हैं। अनेक ऐसे उदाहरण हैं जब उसने बिना किसी कारण के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों का खून बहाया है।"[1] नवाब पर यह आरोप झूठा था क्योंकि 1765 ई. में स्वयं क्लाइव और वाटसन ने लिखा था कि नवाब पर लगाये गये उपर्युक्त आरोप असत्य थे। परन्तु अंग्रेजों को बहाने की तलाश थी और नवाब के चरित्र पर दोषारोपण करके उन्होंने एक बहाना तलाश कर लिया। मीरजाफर को मुरादबाग में आमन्त्रित किया गया और वहाँ उससे मीरकासिम के पक्ष में गद्दी छोड़ने के लिए कहा गया। नवाब ने वापस लौटकर अपने मित्रों से सलाह करने के

---

1 "The Nawab Zafar Ali Khan was of a temper, extremely tyrannical and greedy and at the same time very indolent and the people about him are abject slaves and flatterers or the base instruments of his vices. Numerous are the instances or men of all degrees whose blood he has spilt without the least assigned reason."

—*Memoirs of Calcutta Council.*

लिए समय चाहा, परन्तु अंग्रेजों ने यह आज्ञा न देकर दूसरे दिन नवाब के महल का घेरा डाल दिया। अपनी असमर्थता को देखते हुए नवाब ने गद्दी छोड़ दी। वह कलकत्ता चला गया जहाँ उसे मीरकासिम की तरफ से पेंशन दी जाने लगी, और इस प्रकार बंगाल में दूसरी क्रान्ति हुई।

3. मीरकासिम, अंग्रेजों से झगड़े के कारण, बक्सर का युद्ध और बंगाल की तीसरी क्रान्ति

कारण

मीरकासिम मीरजाफर का दामाद था। वह 1756 ई. और उसके बाद के समय में हुए बंगाल के नवाबों में सर्वाधिक योग्य था। उसने अंग्रेजों को बर्दवान, मेदिनीपुर और चटगाँव की जागीर दी, विभिन्न अंग्रेज अधिकारियों को उपहार प्रदान किये, दक्षिण के युद्ध में सहायतार्थ अंग्रेजों को पाँच लाख रुपये दिये तथा उस धन को भी देने का वायदा किया जो सन्धि की शर्तों के अनुसार मीरजाफर अंग्रेजों को नहीं दे सका था।

मीरकासिम ने अपने सभी वायदों को पूरा किया। नवाब बनते ही उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया। वह जानता था कि नवाब की शक्ति को स्थापित करने के लिए कुशल शासन और भरा हुआ खजाना आवश्यक है और उसने इसके लिए प्रयत्न आरम्भ किये। उसने विद्रोही जमींदारों को दबाया, शासन अधिकारियों को बेईमानी से संचित किये गये धन को खजाने में जमा करने के लिए बाध्य किया, कुछ नवीन कर—'अवाब'—लगाये और सैन्य-व्यवस्था को सुधारने का प्रयत्न किया। वह अपनी राजधानी को मुर्शिदाबाद से मुंगेर ले गया जहाँ उसने गोला-बारूद तैयार करना और सैनिकों को यूरोपियन तरीके से युद्ध-शिक्षा देना आरम्भ किया। इस कार्य में उसे एक आर्मीनियन अधिकारी गुर्गिनखाँ और एक मुस्लिम अधिकारी मुहम्मद तकीखाँ से विशेष सहायता मिली। उसने प्रशासन और दरबार के व्यय को कम किया तथा कम्पनी के कर्जे और सैनिकों के वेतन को पूरी तरह चुकता किया। उसने असन्तुष्ट सरदारों को समझाबुझाकर अपनी तरफ कर लिया, योग्य पदाधिकारियों की नियुक्ति की और इस प्रकार वे सभी कार्य किये जो एक योग्य और कुशल नवाब से अपेक्षित थे।

परन्तु मीरकासिम की योग्यता ही उसके पतन का कारण बनी। मीरकासिम ने अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बनने से इन्कार कर दिया और इसे अंग्रेज पसन्द न कर सके जिसके कारण नवाब और अंग्रेजों के बीच झगड़े के विभिन्न निम्नलिखित कारण उपस्थित हो गयेः

1. बंगाल की सत्ता का प्रश्न—मीरकासिम और अंग्रेजों के बीच झगड़े का प्रमुख कारण सत्ता का प्रश्न था। मीरकासिम ने अपने वायदे को पूरा कर दिया था, वह बंगाल के शासन को दृढ़ कर रहा था और अपने कर्तव्यों को ठीक प्रकार से जानता था। साथ ही, मीरकासिम अपने अधिकारों को भी समझता था। वह अंग्रेज कम्पनी के हाथों में कठपुतली बनने को तत्पर न था जबकि अंग्रेज यह चाहते थे कि नवाब उनके इशारों पर कार्य करे। अंग्रेजों को एक योग्य परन्तु उन पर निर्भर करने वाले नवाब की तलाश थी जो असम्भव था। इस कारण अंग्रेजों ने योग्य के स्थान पर एक दुर्बल शासक को पसन्द किया और मीरकासिम से उनका झगड़ा हो गया।

2. शाहजादे 'शाहजादा' का प्रश्न—मुगल बादशाह आलमगीर द्वितीय की 1760 ई. में हत्या कर दी गयी। इस अवसर पर मुगल शाहजादा 'शाहजादा' बिहार में था। उसने अपने को शाहआलम द्वितीय के नाम से मुगल बादशाह घोषित कर दिया। उसने अंग्रेजों से बातचीत

की और अंग्रेजों ने उसे पटना बुला लिया। अंग्रेज उस समय शाहआलम की सहायता करके उससे कुछ लाभ प्राप्त करने की योजना बना रहे थे और उन्होंने मीरकासिम को परामर्श दिया कि वह एक घोषणा करके शाहआलम को मुगल बादशाह स्वीकार कर ले। मीरकासिम को शंका हुई कि शाहआलम को मुगल बादशाह स्वीकार कर लेने की स्थिति में यदि अंग्रेजों ने शाहआलम से बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सूबेदारी ले ली, तो वह उनका विरोध नहीं कर सकेगा और यदि करेगा भी तो अपने ही द्वारा स्वीकार किये हुए मुगल बादशाह के विरुद्ध विद्रोही माना जायेगा। इस कारण वह चाहता था कि जब शाहआलम उसके राज्य की सीमाओं को छोड़कर चला जाय तभी वह उसे मुगल बादशाह स्वीकार करे। परन्तु जब अंग्रेजों ने उसे यह धमकी दी कि यदि नवाब यह घोषणा नहीं करेगा तो वह स्वयं ही इस कार्य को कर देंगे तब मीरकासिम को बाध्य होकर यह घोषणा करनी पड़ी। वह शाहआलम से मिलने पटना भी गया। शाहआलम तो कुछ समय पश्चात् मराठों की सहायता और आश्वासन पाकर दिल्ली चला गया परन्तु इस घटना ने मीरकासिम और अंग्रेजों के बीच सन्देह एवं संघर्ष की भावना को जन्म दे दिया।

3. रामनरायन का मामला—रामनरायन नवाब का नाइब-दीवान था। नवाब उससे अप्रसन्न हो गया। वह भागकर अंग्रेजों की शरण में चला गया। नवाब ने उसे वापस माँगा। अभी तक अंग्रेजों की नीति यह रही थी कि वे नवाब के डर से भागे हुए सभी व्यक्तियों को अपने यहाँ शरण दे देते थे और उन्हें नवाब को वापस नहीं करते थे। इस अवसर पर कम्पनी का गवर्नर एक सज्जन व्यक्ति वान्सीटार्ट था जिसने रामनरायन को नवाब को वापस सौंप दिया। इससे मीरकासिम को कुछ मनोबल प्राप्त हुआ और वह अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य करने का साहस कर सका।

4. व्यापार का प्रश्न—परन्तु मीरकासिम और अंग्रेजों के झगड़े का मुख्य कारण व्यापार था। इसी के साथ यह प्रश्न भी जुड़ा हुआ था कि बंगाल में वास्तविक शक्ति किस की है ? अंग्रेज कम्पनी बंगाल, बिहार और उड़ीसा में बिना कर दिये हुए व्यापार करती थी। यही नहीं बल्कि वह अपने अधिकार का दुरुपयोग भी करती थी। कम्पनी के कर्मचारी अपने 'दस्तकों' (Free Pass) को भारतीय व्यापारियों को बेच देते थे। इससे न केवल नवाब की आय में कमी होती थी बल्कि उसके शासन में दुर्बलता भी आती थी। इस कारण उसने इस असुविधा के सम्बन्ध में कम्पनी से एक निश्चित समझौता करने का प्रयत्न किया। गवर्नर वान्सीटार्ट और वारेन हेस्टिंग्ज ने मुंगेर में नवाब से भेंट की और निर्णय किया कि कम्पनी के कर्मचारी भी आन्तरिक व्यापार पर 1% कर का चुकारा करें। परन्तु कलकत्ता कौंसिल ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया।

कोई समझौता न होने पर मीरकासिम ने 1762 ई. में भारतीयों से भी व्यापारिक कर लेना समाप्त कर दिया जिससे सर्वप्रथम तो यह समस्या ही न रही और दूसरे भारतीय व्यापारी भी समानता के आधार पर अंग्रेज कम्पनी से मुकाबला कर सके और नवाब के सूबों में प्रजा को सस्ती वस्तुएँ उपलब्ध हो सकीं। नवाब के इस कार्य से नवाब की आय में कमी अवश्य हुई परन्तु उसकी प्रजा और भारतीय व्यापारियों को लाभ हुआ। नवाब ने यह कार्य इसी हेतु किया था। परन्तु ऐसा करके नवाब ने अंग्रेजों के विशेषाधिकार को समाप्त कर दिया। अंग्रेजों को लाभ उसी दशा में था जबकि वे बिना कर दिये हुए व्यापार करते और भारतीयों को कर देना पड़ता। इस कारण कलकत्ता कौंसिल ने भारतीयों पर पुनः व्यापारिक कर लगाने की माँग की। नवाब ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार नवाब की व्यापारिक नीति अंग्रेजों और नवाब के बीच झगड़े का प्रमुख कारण बनी।

युद्ध

10 जून, 1763 ई. को यह झगड़ा युद्ध में परिवर्तित हो गया। सितम्बर तक ही नवाब की तीन स्थानों पर पराजय हुई। इससे मीरकासिम का साहस टूटने लगा। निराशा के इन्हीं क्षणों में वह पटना गया जहाँ के अंग्रेज गवर्नर एलिस से उसका मुख्य झगड़ा था। पटना में उसने कुछ भारतीय और अंग्रेज बन्दियों को कत्ल करा दिया जो 'पटना हत्याकाण्ड' कहलाता है परन्तु मीरकासिम को सफलता प्राप्त न हो सकी और वह अवध की सीमाओं में भाग गया।

डॉडवेल ने लिखा है कि "कम्पनी और नवाब के बीच युद्ध इच्छाओं का परिणाम न होकर परिस्थितियों के क़ारण था।"[1] परन्तु यह कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यापार के प्रश्न और एलिस के व्यवहार के कारण नवाब का जो झगड़ा अंग्रेजों से हुआ, वह परिस्थितिवश माना जा सकता है परन्तु उसके पश्चात् जो बक्सर का युद्ध हुआ उसके बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। मीरकासिम ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सहायता माँगी और उसकी सेना के व्यय हेतु 11 लाख रुपया प्रति माह देना स्वीकार किया। शुजाउद्दौला ने इस अवसर को बंगाल में अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उपयुक्त समझा और वह मीरकासिम को उसकी गद्दी वापस दिलाने में सहायता देने के लिए तैयार हो गया। मुगल बादशाह शाहआलम भी उस समय अवध में था और वह भी इस आक्रमण में सम्मिलित हो गया। 1764 ई. में अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला और स्वयं मुगल बादशाह शाहआलम की सम्मिलित सेनाओं ने बिहार की सीमाओं में प्रवेश किया। अंग्रेजों की ओर से मेजर हेक्टर मुनरो (Hector Munro) ने इस सेना का मुकाबला किया और 23 अक्टूबर, 1764 ई. को बक्सर का महत्वपूर्ण युद्ध हुआ। नवाब और मुगल बादशाह की सेनाओं की पराजय हुई। 3 मई, 1765 ई. को कड़ा में एक युद्ध और हुआ और उसके पश्चात् अवध का नवाब और मुगल बादशाह अंग्रेजों के कदमों में हो गये। मीरकासिम वहाँ से भाग गया और 1777 ई. में दिल्ली के निकट बहुत निर्धनता की स्थिति में उसकी मृत्यु हुई।

परिणाम

बक्सर का युद्ध प्लासी के युद्ध से अधिक महत्वपूर्ण था। ब्रूम (Broome) ने लिखा था : "इस प्रकार बक्सर का प्रसिद्ध युद्ध समाप्त हुआ जिस पर भारत का भाग्य निर्भर था और जो जितनी बहादुरी से लड़ा गया, परिणामों की दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण था।"[2] प्लासी के युद्ध ने अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का स्वामित्व दिया था परन्तु बक्सर के युद्ध ने अवध के नवाब और मुगल बादशाह के वजीर शुजाउद्दौला तथा स्वयं मुगल बादशाह को भी अंग्रेजों की दया पर छोड़ दिया। मुगल बादशाह शक्तिशाली न था परन्तु वह नाम का मुगल बादशाह अवश्य था। इस युद्ध से अंग्रेजों का यश सम्पूर्ण भारत में फैल गया। अब बंगाल का नवाब उनके हाथों की कठपुतली, अवध का नवाब उन पर निर्भर करने वाला मित्र और मुगल बादशाह उनका पेंशनर बन गया। अब अंग्रेजों के लिए दिल्ली का मार्ग साफ था और वे मराठों से संघर्ष के लिए तत्पर हुए जिस पर भारत का भाग्य निर्भर करता था।

राजनीतिक दृष्टि से ही नहीं बल्कि सैनिक दृष्टि से भी बक्सर का युद्ध महत्वपूर्ण था। प्लासी का युद्ध शस्त्रों से नहीं बल्कि कूटनीति से जीता गया था, परन्तु बक्सर के युद्ध

---

1 "The war between the Nawab and the Company was a war of circumstances rather than of intentions." —*Dodwell.*

2 "Thus ended the famous battle of Buxer, on which depended the fate of India and which was gallantly disputed as was important in its results." —Broome, *Bengal Army.*

के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। अवध के नवाब और मुगल बादशाह की सम्मिलित सेना की संख्या 40,000 से 60,000 के बीच में थी जबकि अंग्रेजों की सेना की संख्या लगभग 8,000 थी। यह युद्ध भीषणता से लड़ा गया और दोनों तरफ से काफी बड़ी संख्या में सैनिक और अधिकारी मारे गये थे। इस प्रकार यह युद्ध अंग्रेजों की सैनिक श्रेष्ठता और सफलता का प्रमाण था।

4. मीरजाफर का दुबारा नवाब बनना और मृत्यु

जुलाई 1763 ई. में ही मीरजाफर को दुबारा बंगाल का नवाब बना दिया गया था। उसने अंग्रेजों के कहने से भारतीयों पर पुनः व्यापारिक कर लगा दिया और मीरकासिम से युद्ध करने के बदले में भी अंग्रेजों को धन दिया। नन्दकुमार को उसका मन्त्री बनाया गया यद्यपि कुछ समय पश्चात् ही अंग्रेज उस पर सन्देह करने लगे। मीरजाफर के समय में बंगाल में पुनः अव्यवस्था फैलने लगी। 5 फरवरी, 1765 ई. को मीरजाफर की मृत्यु हो गयी।

मीरजाफर की मृत्यु के पश्चात् उसके दूसरे पुत्र नजमुद्दौला को, जो अभी बच्चा ही था, नवाब बनाया गया। नवनियुक्त नवाब से अंग्रेजों ने एक सन्धि की जिसके द्वारा नवाब की सेना प्रायः समाप्त कर दी गयी और नवाब के पदाधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार अंग्रेजों ने ले लिया। इस प्रकार अंग्रेज एक प्रकार से बंगाल, बिहार और उड़ीसा के मालिक बन गये। उसी समय नन्दकुमार को मन्त्री के पद से हटा दिया गया क्योंकि वह मुगल बादशाह से नवनियुक्त नवाब के लिए सनद प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था जिसकी आज्ञा उसने अंग्रेजों से प्राप्त नहीं की थी। बंगाल के शासन की स्थिति दिन-प्रतिदिन दुर्बल होती गयी। कम्पनी के कर्मचारियों की बेईमानी और धनलोलुपता ने बंगाल के सूबे को ही नष्ट नहीं किया वरन् अन्त में कम्पनी की स्थिति को भी खराब कर दिया। ऐसी स्थिति में कम्पनी के डायरेक्टरों ने क्लाइव को दुबारा बंगाल में अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनाकर भेजा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्लासी के युद्ध के कारणों और परिणामों को स्पष्ट कीजिए। क्या अंग्रेजों की सफलता का प्रमुख कारण नवाब के विरुद्ध उनका सफल षड्यन्त्र था?
2. बक्सर के युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
3. अंग्रेजों ने कब और किस प्रकार बंगाल पर अधिकार किया, तथा उसका क्या परिणाम हुआ?

7

क्लाइव दुबारा बंगाल का गवर्नर

[मई 1765—फरवरी 1767 ई.]

मई 1765 ई. में क्लाइव दुबारा अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनकर बंगाल आया। उस समय उसके सम्मुख विभिन्न राजनीतिक और शासन सम्बन्धी समस्याएँ थीं। बक्सर के युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने कोई समझौता न तो मुगल बादशाह से किया था और न ही अवध के नवाब से। बंगाल के नवाब से भी कोई स्थायी समझौता न था। इन सभी का निर्णय क्लाइव को करना था। बंगाल का नवाब अल्पायु था। अतएव बंगाल, बिहार और उड़ीसा के शासन का प्रबन्ध भी कम्पनी का ही उत्तरदायित्व बन गया था। इसके अतिरिक्त कम्पनी के कर्मचारियों में जो भ्रष्टाचार व्याप्त था, उसे भी समाप्त करने की आवश्यकता थी और सैनिक-सुधार भी उस समय आवश्यक बन गये थे। इसी कारण सरकार और दत्त ने लिखा है : "उसने एजियन के अस्तबल को साफ करने का निश्चय किया।"[1] क्लाइव ने इन सभी कार्यों को सम्पन्न किया और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कार्यों को करने में उसका प्रमुख उद्देश्य भारत में कम्पनी की सत्ता को दृढ़ करना था।

1. राजनीतिक समझौते

1. मुगल बादशाह शाहआलम से समझौता

राजनीतिक क्षेत्र में क्लाइव को मुगल बादशाह, अवध के नवाब और बंगाल के नवाब से समझौते करने थे। बक्सर के युद्ध में पराजित होकर शाहआलम अंग्रेजों की दया पर निर्भर कर रहा था और एक प्रकार से अंग्रेजों का कैदी था। यद्यपि उसके पास न शक्ति थी, न भूमि और न प्रभाव परन्तु तब भी वह नाममात्र के लिए मुगल बादशाह अवश्य था जिसका उपयोग अंग्रेज कर सकते थे। क्लाइव के सामने कई विकल्प थे। वह आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर सकता था, परन्तु इससे अंग्रेजों का उत्तरदायित्व एकदम बढ़ जाता जिसके निर्वहन की शक्ति उस समय उनमें न थी। इससे उनका संघर्ष मराठों से भी हो सकता था और ऐसी स्थिति में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के लिए भी संकट उपस्थित होने की सम्भावना थी। इस कारण क्लाइव ने ऐसा नहीं किया। दूसरा विकल्प यह हो सकता था कि मुगल बादशाह को दिल्ली जाने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता। इसमें भी एक कठिनाई थी। शाहआलम के दिल्ली जाते ही मराठे उसे अपने हाथों की कठपुतली बना लेते और अंग्रेज अपनी विजय से कोई लाभ प्राप्त करने की स्थिति में न रहते। इस कारण क्लाइव ने यह कार्य करना भी उचित न समझा। एक तीसरा विकल्प वान्सीटार्ट का सुझाव था और इसके लिए उसने मुगल बादशाह से वायदा भी कर दिया था। वान्सीटार्ट ने मुगल बादशाह को अवध देने का वायदा किया था। उसका ख्याल था कि कम्पनी की सीमाओं के निकट बादशाह की सीमाएँ होने से कम्पनी की अधिक सुरक्षा होगी।

---

1 "He took the resolution of cleansing the Augean stable." —*Sarkar and Dutta.*

परन्तु इस मार्ग को क्लाइव ने अत्यन्त खतरनाक समझा और मुगल बादशाह को अवध देने से इन्कार कर दिया। मुगल बादशाह ने उस पर वचन-भंग का आरोप भी लगाया परन्तु क्लाइव ने कहा कि क्योंकि इस विषय में बादशाह से कोई लिखित सन्धि नहीं की गयी थी अतएव मौखिक वायदे का कोई मूल्य नहीं है। क्लाइव का विचार था कि यदि अवध मुगल बादशाह को दिया गया तो मराठे उसे अपने अधिकार में करने के लिए निरन्तर अवध पर आक्रमण करते रहेंगे जिससे अंग्रेजों को निरन्तर खतरा बना रहेगा। इस कारण उसने इस तीसरे विकल्प को भी स्वीकार नहीं किया।

मुगल बादशाह के साथ समझौता करते हुए क्लाइव ने मध्य का मार्ग अपनाया जो उसकी कूटनीतिज्ञता का प्रमाण था। इस समझौते के अनुसार—

1. अवध से कड़ा और इलाहाबाद लेकर मुगल बादशाह को दे दिये गये;
2. मुगल बादशाह ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों को दे दी;
3. अंग्रेजों ने मुगल बादशाह को छब्बीस लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया; और
4. अंग्रेजों ने हैदराबाद के उत्तर के जिलों 'उत्तरी-सरकार' को जागीर के रूप में मुगल बादशाह से प्राप्त किया।

उपर्युक्त व्यवस्था से अंग्रेजों को पूर्ण लाभ था। मुगल बादशाह को अंग्रेजों के मित्र-राज्य अवध की सीमाओं के अन्तर्गत रहने के लिए बाध्य किया गया जिससे उसके मराठों के हाथों में फँसने की आशंका न रही और अंग्रेज आवश्यकतानुसार उसके नाम का प्रयोग अपने हित की पूर्ति के लिए कर सकते थे।

2. अवध के नवाब शुजाउद्दौला से समझौता

बक्सर के युद्ध में शुजाउद्दौला की पराजय हुई थी और एक प्रकार से वह भी अंग्रेजों का कैदी था। इस अवसर पर अंग्रेज स्वयं अवध पर अधिकार कर सकते थे अथवा अवध को मुगल बादशाह शाहआलम को दे सकते थे जैसा कि वान्सीटार्ट का इरादा था, परन्तु क्लाइव ने ऐसा नहीं किया। मुगल बादशाह को अवध देना व्यर्थ था क्योंकि वह बिना अंग्रेजों की सहायता के उस पर अपना अधिकार कायम नहीं रख सकता था। इसके अतिरिक्त मराठे निरन्तर अवध की सीमाओं पर आक्रमण करते जिससे अंग्रेजों को खतरा बना रहता। इसी प्रकार, यदि अंग्रेज स्वयं ही अवध को अपने अधिकार में लेते तो न केवल नवाब शुजाउद्दौला ही अंग्रेजों का स्थायी शत्रु बन जाता और मराठों के साथ मिल जाता अपितु मराठे भी अवध पर आक्रमण करने के लिए लालायित होते। इस कारण यहाँ पर भी क्लाइव ने कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। अवध के साथ जो समझौता उसने किया, उसके अनुसार—

1. शुजाउद्दौला को अवध वापस दे दिया गया।
2. नवाब ने अंग्रेजों को 50 लाख रुपया दिया।
3. नवाब ने कड़ा और इलाहाबाद मुगल बादशाह शाहआलम को दे दिये।
4. नवाब ने चुनार अंग्रेजों को दिया।
5. बनारस और गाजीपुर की जागीर अंग्रेजों केसंरक्षण में राजा बलवन्तसिंह और उनके परिवार को पैतृक जागीर के रूप में दे दी गयी।
6. नवाब ने अपने राज्य की सीमा में अंग्रेजों को बिना कर दिये व्यापार करने की सुविधा प्रदान की; और

7. नवाब ने एक अतिरिक्त सन्धि द्वारा अपनी सेनाओं की सुरक्षा के लिए अंग्रेजों की सहायता लेना स्वीकार किया और आवश्यकता होने पर अंग्रेजी सेना का पूरा व्यय स्वयं वहन करने का आश्वासन दिया।

इस प्रकार अवध के साथ किया गया समझौता और भी अधिक लाभदायक था। शुजाउद्दौला अंग्रेजों का मित्र बन गया जिससे अंग्रेजों की बंगाल की सीमाएँ मराठा आक्रमणों से सुरक्षित हो गयीं। अंग्रेजों ने उससे व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करके और उसे सैनिक सहायता के समझौते में सम्मिलित करके उसे अपने ऊपर आश्रित कर लिया। इसी कारण रैमजे म्योर ने लिखा है : "तब से अवध के साथ निकट-मित्रता के सम्बन्ध रखना अंग्रेजों की स्थायी नीति हो गयी जो मराठों की बढ़ती हुई शक्ति के मार्ग में एक ऐसी बाधा थी जो अंग्रेजों के लिए लाभदायक थी।"[1]

3. बंगाल के नवाब के साथ समझौता

मुगल बादशाह के साथ किये गये 1765 ई. के समझौते के अनुसार अंग्रेजों को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् लगान लेने और असैनिक न्याय करने का अधिकार प्राप्त हुआ। शान्ति-व्यवस्था और फौजदारी का न्याय अर्थात् निजामत उस समय भी नवाब के हाथों में रही जिसके व्यय के लिए अंग्रेजों ने नवाब को 52,86,13,190 रुपये देना स्वीकार किया। इस समझौते से इन सूबों में दोहरा या द्वैध-शासन स्थापित हुआ। यद्यपि अंग्रेजों ने सूबे के शासन के अधिकारों को दो भागों में बाँटकर केवल एक ही भाग को अपने हाथ में रखा था परन्तु वस्तुतः यह सूबे अंग्रेजों के हाथ में चले गये थे और नवाब नाममात्र का शासक रह गया था। शासन का अधिकार उसी का था जिसके पास धन था और धन की सत्ता अंग्रेजों के हाथ में चली गयी थी। वस्तुतः बंगाल का नवाब अंग्रेजों का पेंशनर बन गया था।

इस प्रकार क्लाइव ने राजनीतिक समस्याओं को हल किया। निस्सन्देह, इसमें उसने अपनी कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया था। बक्सर के युद्ध ने अचानक अंग्रेजों के सम्मुख इतने मार्ग खोल दिये थे और स्वयं की शक्ति में वृद्धि करने की इतनी सम्भावनाएँ प्रस्तुत कर दी थीं कि उन सब का उत्तरदायित्व सँभालने की शक्ति अंग्रेज कम्पनी में नहीं थी। क्लाइव ने अपनी शक्ति की सीमाओं को देखते हुए ऐसा प्रबन्ध किया जिससे अंग्रेजों को विशेष उत्तरदायित्व न उठाना पड़े, भारत तथा यूरोप में अंग्रेजों के विरुद्ध एकदम ईर्ष्या की भावना जाग्रत न हो जाय और अंग्रेज कम्पनी को अनावश्यक युद्धों में न उलझना पड़े। इनको छोड़कर जिस प्रकार भी अंग्रेजों के हितों की सुरक्षा सम्भव थी वह उसने इन राजनीतिक समझौतों के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया। यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने की है कि इन सभी समझौतों को करने में क्लाइव का उद्देश्य कम्पनी की सीमाओं को विस्तृत करने की बजाय बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं की पूर्ण सुरक्षा करना था जो अंग्रेज कम्पनी की शक्ति का मूल आधार था। इसमें सन्देह नहीं कि क्लाइव के इन समझौतों ने इस उद्देश्य की पूर्ति की थी।

2. शासन-सुधार

शासन-सुधार के सन्दर्भ में क्लाइव को राजनीतिक समझौतों की अपेक्षा अधिक कठिनाई उठानी पड़ी। इस सम्बन्ध में उसे असैनिक और सैनिक दोनों ही प्रकार के सुधार

1 "Henceforth, it was a matter of fixed policy (with the English) to maintain a close alliance with Oudh, which was useful as a bulwark against the threatening power of the Marathas." —*Ramsay Muir.*

करने थे और जो सुधार उसने किये उनका विरोध हुआ। परन्तु अपनी दृढ़ता के कारण उसने इस कार्य में भी सफलता प्राप्त की।

1. असैनिक सेवाएँ

एक मुख्य समस्या कम्पनी के कर्मचारियों की थी। जिन परिस्थितियों में वे कार्य कर रहे थे उनमें उनका पूर्ण नैतिक पतन हो गया था। उन्हें अपना स्वयं का व्यापार करने का अधिकार था जिसके कारण वे कम्पनी के व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। वे 'दस्तकों' (Free Pass) को भारतीय व्यापारियों को बेचकर लाभ कमाते थे। उन्हें भारतीयों से उपहार और रिश्वत लेने की आदत पड़ गयी थी और बंगाल के नवाब को बदलना अत्यन्त लाभप्रद एवं उपहार प्राप्त करने का अवसर समझा जाता था। इस प्रकार अपनी धनलोलुपता के कारण वह उत्तरदायित्वहीन और भ्रष्टाचारी बन गये थे और कम्पनी के आदेशों के बावजूद भी उपहार आदि लेना बन्द नहीं कर रहे थे। इसके अतिरिक्त बंगाल में पुराने अंग्रेज़ कर्मचारियों की कमी थी, यहाँ तक कि सैनिकों को वेतन बाँटने वाला अधिकारी जिसके पास लगभग बीस लाख रुपया रहता था, एक क्लर्क ही होता था। क्लाइव ने इस स्थिति में सुधार करने का निश्चय किया। उसने आते ही निम्नलिखित सुधार किये :

1. कम्पनी के सभी सैनिक और असैनिक कर्मचारियों से उसने इस प्रकार के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर कराये कि वे भविष्य में कोई उपहार या रिश्वत नहीं लेंगे और शासन में ईमानदारी से कार्य करेंगे।

2. उसने मद्रास से पुराने कर्मचारियों को बंगाल बुलाया और बंगाल के नवीन कर्मचारियों को मद्रास भेज दिया। इसका बहुत विरोध हुआ परन्तु क्लाइव की दृढ़ता के कारण यह विरोध समाप्त हो गया।

3. क्लाइव जानता था कि कम्पनी के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार का एक मुख्य कारण उनके वेतनों का कम होना था। इस कारण उसने उनकी आय में वृद्धि करने के लिए 'व्यापारिक एकाधिपत्य' की एक योजना बनायी। अगस्त 1965 ई. में एक 'व्यामार-सभा' की स्थापना की गयी जिसे तम्बाकू, सुपारी और नमक के व्यापार का एकाधिकार दे दिया गया। उस व्यापार से जो लाभ होता था उसे विभिन्न सैनिक और असैनिक अंग्रेज अधिकारियों में परस्पर बाँटने की व्यवस्था की गयी। परन्तु क्लाइव की इस योजना को डायरेक्टरों ने स्वीकार नहीं किया। इस कारण 1768 ई. में यह योजना स्थगित कर दी गयी।

2. सैनिक सेवाएँ

सैनिक सेवाओं के विषय में क्लाइव को और भी अधिक कठिनाई हुई। सैनिक अफसरों को जो भत्ते प्राप्त होते थे उनमें कमी करने के आदेश क्लाइव को डायरेक्टरों से प्राप्त हुए थे। परन्तु यह कार्य सरल न था। यह भत्ते कर्नाटक के युद्ध के समय में आरम्भ हुए थे जबकि चाँदा साहब और मुहम्मदअली ने क्रमशः फ्रान्सीसियों और अंग्रेजों को यह भत्ते (Allowances) दिये थे। बंगाल में भी यह भत्ते पहले नवाब के द्वारा दिये गये थे। परन्तु अब उन्हें कम्पनी को देना पड़ रहा था और एक प्रकार से यह भत्ते सैनिक अधिकारियों के वेतन के अंग बन गये थे। इनके सम्बन्ध में क्लाइव ने निम्नलिखित नियम बनाये :

1. मुंगेर और पटना की छावनियों में रहने वाले अधिकारियों को आधा भत्ता दिया जायेगा (यह भत्ता कम्पनी को देना पड़ता था);

2. जब सैनिक अधिकारी छावनी से बाहर परन्तु बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के अन्तर्गत ही कार्य करने जायेंगे तो उन्हें पूरा भत्ता मिलेगा (यह भत्ता बंगाल के नवाब को देना था); और

3. जब सैनिक अधिकारी बंगाल, बिहार और उड़ीसा की सीमाओं के बाहर कार्य करने जायेंगे तो उन्हें दुगुना भत्ता दिया जायेगा। (यह भत्ता उस भारतीय नरेश के द्वारा दिया जाता था जिसकी सहायता के लिए अंग्रेजी सेना इन सूबों की सीमा के बाहर जाती थी।)

एक कैप्टेन के लिए यह भत्ता क्रमशः 3, 6 और 12 रुपये प्रतिदिन होता था। अंग्रेज सैनिक अधिकारियों ने इसका तीव्र विरोध किया और सभी ने मिलकर अपने त्यागपत्र दे दिये। क्लाइव ने साहस से इसका मुकाबला किया और सभी त्यागपत्र स्वीकार कर लिये। उसने फौरन मद्रास के सैनिक अधिकारी बुलाये। क्लाइव की दृढ़ता के कारण यह श्वेत-विद्रोह (White Mutiny) समाप्त हो गया। अनेक अफसरों ने माफी माँग ली। क्लाइव ने उनमें से कुछ को स्वदेश भेज दिया और अधिकांश को इस शर्त पर माफ कर दिया कि यदि अगले तीन वर्षों में उन्होंने पुनः ऐसा व्यवहार किया तो उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायेगा।

3. अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों की पेंशन का प्रबन्ध

कम्पनी के कर्मचारियों को वृद्धावस्था में कोई पेंशन नहीं मिलती थी। इस कारण नौकरी से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् उनको बहुत कठिनाई होती थी। इसको भी दूर करने के कुछ प्रयत्न क्लाइव ने किये। मीरजाफर ने अपनी मृत्यु के अवसर पर व्यक्तिगत रूप से पाँच लाख रुपया क्लाइव को दिया था। क्लाइव ने उसे स्वीकार कर लिया और अपने नाम से एक फण्ड (Clive's Fund) स्थापित किया। उस धन को व्यापार में लगाया गया और उससे होने वाली आय से अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों को पेंशन देने की व्यवस्था की गयी।

इस प्रकार क्लाइव ने अपने थोड़े से समय में विभिन्न शासन-सुधार किये। उसके सैनिक-सुधारों से कम्पनी के व्यय में कमी हुई, उसकी अवकाश-प्राप्त कर्मचारियों को पेंशन की व्यवस्था भी लाभदायक सिद्ध हुई, परन्तु उसके असैनिक सुधार व्यर्थ हुए। कर्मचारियों ने ईमानदारी के प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर तो कर दिये परन्तु किसी ने भी उसे गम्भीरता से ग्रहण नहीं किया। उपहार, बेईमानी, व्यक्तिगत व्यापार की बुराइयाँ आदि पहले की भाँति ही चलती रहीं। इसी प्रकार, तम्बाकू, सुपारी और नमक के व्यापार की उसकी एकाधिकार की योजना से बंगाल के निवासियों की इन आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई जबकि जिस उद्देश्य से इसे आरम्भ किया गया था उस उद्देश्य की पूर्ति में यह योजना तनिक भी सहायक नहीं हुई। इस प्रकार क्लाइव की सुधार-योजना बहुत सफल स्वीकार नहीं की जा सकती।

3. बंगाल का द्वैध-शासन (1765-1772 ई.)

जब क्लाइव दुबारा अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनकर भारत आया उस समय मीरकासिम को गद्दी से उतार दिया गया था, मीरजाफर की मृत्यु हो चुकी थी और एक छोटा बच्चा नजमुद्दौला बंगाल का नवाब था। बक्सर के युद्ध में पराजित हो जाने के कारण अवध का नवाब शुजाउद्दौला अंग्रेजों की दया पर निर्भर था और मुगल बादशाह शाहआलम अंग्रेजों से सुरक्षा पाने के लिए उत्सुक था तथा उस सुरक्षा के बदले में अपनी नाममात्र की भारत की सम्प्रभुता का प्रयोग अंग्रेजों की इच्छानुसार करने को तत्पर था।

द्वैध-शासन क्या था ?

1765 ई. में मुगल बादशाह के एक फरमान (आदेश-पत्र) के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेज कम्पनी को दे दी गयी और इसके बदले में कम्पनी ने 26 लाख रुपया

प्रति वर्ष मुगल बादशाह को देना स्वीकार किया। इस प्रकार अंग्रेज कम्पनी इन सूबों के लिए मुगल बादशाह की ओर से दीवान बन गयी और इन सूबों से लगान वसूल करने तथा असैनिक न्याय की देखभाल करने का अधिकार उसे प्राप्त हुआ। निजामत अर्थात् शासन (शान्ति-व्यवस्था, बाह्य आक्रमण से रक्षा) करना और फौजदारी का न्याय बंगाल के नवाब के अधिकार में ही रहा। शासन को इन दो भागों में बाँटकर दो विभिन्न शक्तियों के हाथों में दे देने के कारण ही इस शासन को दोहरा शासन या 'द्वैध-शासन' (Dual Government) कहते हैं।

कारण

क्लाइव ने इस विषय में डूपले के अनुभवों से लाभ उठाने का प्रयत्न किया था। जब दक्षिण की राजनीति में हस्तक्षेप करके डूपले ने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता को अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया था तब अंग्रेजों को अपने हितों की रक्षा करने के लिए डूपले के कार्यों में बाधा डालने की आवश्यकता हुई थी। इस कारण क्लाइव ने प्रत्यक्ष राजनीतिक शक्ति कम्पनी के हाथों में नहीं ली जिससे अन्य भारतीय नरेशों को कम्पनी से ईर्ष्या न हो। उसे यह भी मालूम था कि मुगल बादशाह के द्वारा दिये गये अधिकार का वास्तव में उस समय तक कोई मूल्य न था जब तक अंग्रेज कम्पनी अपनी शक्ति के प्रयोग से उसे लाभदायक न बनाये। परन्तु वह यह जानता था कि इस प्रकार मुगल बादशाह से यह अधिकार प्राप्त करके उसने इस अधिकार को कानूनी रूप प्रदान कर दिया था जिसका विरोध कानूनी आधार पर न तो भारत में हो सकता था और न किसी यूरोप के न्यायालय में। इस प्रकार कम्पनी के दीवानी के अधिकार को प्राप्त करने से न तो इंगलैण्ड को यूरोप में कोई कठिनाई हो सकती थी और न ब्रिटिश पार्लियामेण्ट कम्पनी के कार्यों में हस्तक्षेप करने का बहाना तलाश कर सकती थी। इस प्रकार क्लाइव ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी को प्राप्त करके इन सूबों के आधिपत्य को इस ढंग से प्राप्त कर लिया कि न तो कम्पनी को किसी प्रकार की कानूनी कठिनाई हुई और न ही किसी प्रकार का शासन का उत्तरदायित्व कम्पनी पर आया, यद्यपि वह इन सूबों से आर्थिक लाभ पूरी तरह से प्राप्त कर सके।

व्यावहारिक व्यवस्था

जब कम्पनी इन सूबों के लिए दीवान बन गयी तब उससे आशा की जाती थी कि कम से कम शासन के एक भाग का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व वह सँभालेगी अर्थात् कम्पनी स्वयं ही लगान वसूल करेगी, उसकी उचित व्यवस्था करेगी और असैनिक न्याय का प्रबन्ध करेगी। परन्तु क्लाइव की ऐसी इच्छा न थी। वह कम्पनी पर कोई भी प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व डालने को तैयार न था। इस कारण कम्पनी ने दो नाइब-दीवान नियुक्त किये—बंगाल के लिए मुहम्मद रजाखाँ और बिहार के लिए राजा शिताबराय। ये नाइब-दीवान कलकत्ता में रहकर कार्य नहीं करते थे बल्कि क्रमशः मुर्शिदाबाद और पटना में रहकर कार्य करते थे। इस प्रकार कम्पनी ने अपना उत्तरदायित्व दो भारतीय अधिकारियों को सौंप दिया। दीवानी का कार्य तो ये अधिकारी करते थे जबकि कम्पनी की रुचि अधिक से अधिक आय प्राप्त करने में थी। वह आय कैसे होगी, इसका उत्तरदायित्व उसके इन दो नाइब-दीवानों पर था।

निजामत के अधिकार नवाब के हाथों में थे जिसके व्यय के लिए कम्पनी को एक निश्चित धनराशि नवाब को देनी थी। परन्तु स्पष्ट था कि नवाब इस विषय में कुछ भी नहीं कर सकता था क्योंकि उसके सूबों में सैनिक शक्ति कम्पनी की ही थी। आन्तरिक शान्ति और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए नवाब कम्पनी पर निर्भर था। इस कारण कानूनी तरीके से जो अधिकार नवाब को दिये गये थे, वास्तव में उनका प्रयोग भी कम्पनी ही

कर सकती थी। इसकेअतिरिक्त, क्योंकि बंगाल का नवाब अल्पायु था, अतएव कम्पनी ने नवाब की ओर से उसके कार्यों की देखभाल करने के लिए एक नाइब-निजाम की नियुक्ति की और नाइब-निजाम भी मुहम्मद रजाखाँ को ही नियुक्त किया गया जो कम्पनी की ओर से नाइब-दीवान भी था। इस प्रकार बंगाल, बिहार और उड़ीसा के शासन का उत्तरदायित्व वास्तव में अंग्रेज कम्पनी के कर्मचारी मुहम्मद रजाखाँ पर चला गया जो सूबे का नाइब-दीवान और नाइब-निजाम दोनों था। वही 1772 ई. तक इन सूबों के शासन के लिए उत्तरदायी हुआ। इस प्रकार सम्पूर्ण शक्ति के होते हुए और इन सूबों की समस्त आय पर अधिकार करके भी अंग्रेज कम्पनी ने शासन का कोई उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया।

इस प्रकार दीवानी को प्राप्त करने के उपरान्त भी अंग्रेज कम्पनी ने उन सूबों की शासन-व्यवस्था को स्पष्टतः अपने हाथों में नहीं लिया। वास्तविक सत्ता कम्पनी की थी लेकिन शासन उस समय भी उन भारतीयों के हाथों में था जो कम्पनी के नियन्त्रण में थे परन्तु कम्पनी से दूर रहकर अपनी इच्छानुसार शासन करते थे। कम्पनी इन भारतीय कर्मचारियों पर हर सम्भव दबाव डाल सकती थी परन्तु फिर भी इन्हीं को शासन के दोषों के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता था। ऐसी शासन-व्यवस्था जिसमें वास्तविक सत्ता शासन के उत्तरदायित्व को सँभालने से इन्कार कर दे और अपने कठपुतली को शासन करने और उसके उत्तरदायित्व को सँभालने के लिए बाध्य करे, किसी भी स्थिति में सफल नहीं हो सकती थी। शक्ति को प्राप्त करने के पश्चात् उत्तरदायित्व को न सँभालना द्वैध-शासन का मूल दोष था और इससे बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासन और आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो गयी।

दोष

बंगाल का द्वैध-शासन प्रारम्भ से ही असफल हुआ। इसमें कम्पनी के कर्मचारियों के व्यक्तिगत व्यापार के दोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये क्योंकि अब उन पर बन्धन या अंकुश लगाने वाला कोई न था। अंग्रेजों ने 'दस्तकों' का इतना अधिक दुरुपयोग किया कि न केवल राज्य की आय ही कम होने लगी बल्कि भारतीय व्यापारियों को अंग्रेजों के मुकाबले व्यापार करना असम्भव हो गया। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सम्पूर्ण आन्तरिक व्यापार पर कम्पनी के कर्मचारियों का अधिकार हो गया और भारतीय व्यापारी नष्ट हो गये। स्वयं क्लाइव ने कॉमन्स सभा में कहा था : "कम्पनी के व्यापारी एक व्यापारी की भाँति व्यापार न करके सम्प्रभु के समान व्यवहार करते थे तथा उन्होंने ऐसे हजारों व्यापारियों के मुँह से रोटी छीन ली थी जो पहले व्यापार करते थे लेकिन अब भीख माँगने के लिए बाध्य हो गये थे।"[1]

इस शासन में भारतीयों के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये। कम्पनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग बंगाल के रेशम के उद्योग को नष्ट करने के लिए किया। इसी प्रकार सूती कपड़े का उद्योग भी नष्ट हो गया। कम्पनी के गुमाश्ते (प्रतिनिधि) भारतीय जुलाहों को एक निश्चित समय में निश्चित प्रकार का कपड़ा बनाने के लिए बाध्य करते थे और अपनी इच्छानुसार उन्हें मूल्य देते थे। अनेक कारीगरों के अँगूठे काट दिये गये क्योंकि वे गुमाश्तों की माँग की पूर्ति ठीक समय पर न कर सके अथवा उनकी कीमत को स्वीकार न कर सके। अनेक कारीगर बंगाल छोड़कर चले गये। बंगाल का मुख्य उद्योग कपड़ा था और इसी उद्योग को अपनी बेईमानी और अत्याचार के कारण अंग्रेजों ने नष्ट कर दिया।

---

1 "The company's merchants traded not only as merchants but as sovereigns and had taken the bread out of the mouths of thousands and thousands of merchants, who used formerly to carry on the trade, and who are, now, reduced to beggary."
—*Clive in the House of Commons.*

इस शासन के अन्तर्गत कृषि नष्ट हो गयी। भूमि प्रति वर्ष उन ठेकेदारों को दे दी जाती थी जो अधिक से अधिक लगान देने का वायदा करते थे और क्योंकि वे जानते थे कि अगले वर्ष वह भूमि उन्हें प्राप्त हो भी सकती थी और नहीं भी, इस कारण वे उस भूमि से अधिक से अधिक लगान वसूल करना चाहते थे जिससे सरकार का हिस्सा चुकाने के पश्चात् उनका लाभ अधिकाधिक हो। कम्पनी भी अधिक से अधिक आय करना चाहती थी और ठेकेदारों से अधिक से अधिक माँग करती थी। इस प्रकार कम्पनी और ठेकेदारों की लगान की माँग निरन्तर बढ़ती गयी जिसका अन्तिम भार किसानों पर पड़ा। इस कारण कृषकों और कृषि की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती गयी। कम्पनी और ठेकेदार दोनों ही भूमि की उन्नति में रुचि नहीं रखते थे। अतएव उसमें उन्नति या सुधार का प्रश्न उपस्थित ही नहीं हुआ। किसान खेती छोड़कर भाग गये अथवा चोर बन गये तथा खेती के योग्य भूमि जंगल में परिवर्तित हो गयी।

प्रबन्धकों की नियुक्ति

इन दोषों के कारण कम्पनी की आय में कमी हुई। उसे लगान से पर्याप्त आय नहीं हुई और उसके व्यापार को हानि हुई। 1769 ई. में इस स्थिति में सुधार करने के लिए कम्पनी ने अपनी तरफ से प्रबन्धकों (Supervisors) की नियुक्ति की। बंगाल को 30 जिलों में विभाजित किया गया तथा प्रत्येक जिले में एक अंग्रेज प्रबन्धक की नियुक्ति की गयी। प्रबन्धकों का मुख्य उद्देश्य अधिक से अधिक लगान वसूल करना था। उन्हें न्याय की देखभाल करने और किसानों को अत्याचार से बचाने का उत्तरदायित्व भी सौंपा गया। लेकिन इस व्यवस्था से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके कई कारण थे। प्रबन्धकों को लगान या न्याय-व्यवस्था के लिए प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व नहीं दिया गया था। उन्हें केवल भारतीय कर्मचारियों के कार्य की देखभाल के लिए ही नियुक्त किया गया था। ये प्रबन्धक कम्पनी की कलकत्ता कौंसिल के अधीन न थे जो कम्पनी की सबसे बड़ी शक्ति थी बल्कि इन्हें मुर्शिदाबाद के रेजीडेण्ट के अधीन रखा गया था। इस प्रकार कम्पनी की वास्तविक शक्ति उस समय भी किसी भी प्रकार लगान से सम्बन्धित न थी। 1770 ई. में एक 'लगान-समिति' मुर्शिदाबाद के रेजीडेण्ट की सहायता के लिए और दूसरी पटना के रेजीडेण्ट की सहायता के लिए नियुक्त की गयी और ये लगान-समितियाँ इतनी अधिक शक्तिशाली हो गयीं कि इन्होंने कलकत्ता कौंसिल की भी परवाह करनी छोड़ दी। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकों को व्यक्तिगत व्यापार करने की सुविधा दी गयी। इस कारण उन्होंने अपने अधिकारों का प्रयोग व्यक्तिगत व्यापार के लाभार्थ किया।

परिणाम

द्वैध-शासन के परिणाम बहुत हानिकारक हुए। उस काल में व्यक्तिगत व्यापार के दोष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये। उस समय में किसानों, व्यापारियों और विभिन्न उद्योगों में भाग लेने वाले व्यक्तियों की बहुत हानि हुई। वस्तुतः व्यापार, उद्योग और कृषि नष्टप्राय हो गये। इन्हीं दोषों के कारण 1770 ई. में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें बंगाल की करीब एक-तिहाई जनता समाप्त हो गयी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस अकाल का एक कारण किसानों से अत्यधिक लगान लिया जाना था और दूसरा कारण कम्पनी के कर्मचारियों की अधिकतम धन एकत्रित करने की लालसा थी। परन्तु इससे स्वयं कम्पनी की स्थिति अच्छी न रही। कम्पनी के कर्मचारी व्यक्तिगत व्यापार करके धनवान हो गये थे, परन्तु 1765 ई. में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के समृद्ध सूबों की वस्तुतः मालिक बनने के पश्चात् भी 1770 ई. में कम्पनी दिवालिये की स्थिति में पहुँच गयी। कम्पनी का व्यापार नष्ट हो गया और उसकी

आय में भारी कमी हो गयी, यहाँ तक कि कम्पनी ने इंगलैण्ड की बैंक से 6,00,000 पौण्ड का कर्ज माँगा। इस प्रकार क्लाइव का द्वैध-शासन पूर्णतः असफल हुआ और जब 1772 ई. में वारेन हेस्टिंग्स अंग्रेज कम्पनी का गवर्नर बनकर बंगाल आया तब वह इस द्वैध-शासन को समाप्त करने के स्पष्ट आदेश लेकर आया।

4. क्लाइव का मूल्यांकन

रॉबर्ट क्लाइव एक साधारण क्लर्क के रूप में भारत आया था परन्तु धीरे-धीरे अपनी योग्यता के कारण वह कम्पनी के गवर्नर के पद तक पहुँच गया और उसकी सेवाओं के कारण उसे लॉर्ड के पद से विभूषित किया गया। क्लाइव में व्यक्ति की दृष्टि से अनेक गुण एवं अवगुण थे। वह साहसी, कूटनीतिज्ञ, कर्मठ, परिश्रमी और राष्ट्रभक्त था, परन्तु वह झूठा, धोखेबाज और रिश्वतखोर भी था। तब भी, कुल मिलाकर एक बात अवश्य कही जा सकती है कि उसे ब्रिटेन के गौरव में विश्वास था और उसने भारत में अंग्रेजी शासन स्थापित करने में महत्वपूर्ण योग दिया। अंग्रेज इतिहासकारों ने उसकी प्रशंसा में अनेक बातें लिखी हैं। अर्ल ऑफ चेथम ने उसे 'ईश्वर द्वारा भेजा गया सेनापति' बताया था और मैकॉले लिखता है : "हमारे टापू ने शायद ही किसी ऐसे व्यक्ति को जन्म दिया हो जो युद्ध और विचार-विमर्श में उससे बढ़कर हो।"[1] परन्तु यह कथन बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहे गये हैं। अर्काट के घेरे के अवसर पर क्लाइव ने साहस और दृढ़ता का परिचय अवश्य दिया था, परन्तु केवल यही उसे एक महान् सेनापति सिद्ध नहीं करता। इसी प्रकार, प्लासी के युद्ध में अंग्रेजों की विजय का कारण क्लाइव का सेनापतित्व न होकर क्लाइव की षड्यन्त्रकारी योग्यता थी। इसी प्रकार, क्लाइव को एक योग्य शासन-प्रबन्धक भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। के.एम. पणिक्कर के शब्दों में, "1765 ई. से 1772 ई. तक कम्पनी द्वारा स्थापित बंगाल का राज्य एक डाकू-राज्य (Robber State) था।" इसका दोष भी मुख्यतः क्लाइव पर जाता है। स्पष्ट रूप से यह भी कहा जा सकता है कि क्लाइव दूरदर्शी न था। तत्कालीन परिस्थितियों का जो हल उसने निकाला था, उसमें स्थायित्व न था। इस कारण क्लाइव को ब्रिटेन का महानतम व्यक्ति स्वीकार करना अथवा उसे महान् सेनापति स्वीकार करना सर्वथा असम्भव है। एक व्यक्ति की दृष्टि से भी अमीचन्द से उसका व्यवहार, सिराजुद्दौला के विरुद्ध उसका षड्यन्त्र, मीरजाफर से उसका विभिन्न उपहार स्वीकार करना आदि सम्माननीय कार्य स्वीकार नहीं किये जा सकते।

परन्तु एक बात निस्सन्देह स्वीकार की जा सकती है कि क्लाइव भारत में अंग्रेजी राज्य का संस्थापक था। उसके साधन नैतिक अथवा आदर्शात्मक न थे। परन्तु वह प्रथम अंग्रेज था जिसने अंग्रेज कम्पनी को भारत में पहली बार राजनीतिक अधिकार दिलाये जिससे बाद में भारत में अंग्रेजी राज्य का निर्माण सम्भव हो सका। जिस समय उसने अपना कार्य आरम्भ किया था उस समय डूपले अपने प्रभाव की चरम सीमा पर था। डूपले ने हैदराबाद के निजाम से कृष्णा नदी के दक्षिण के भू-क्षेत्र में दीवानी के अधिकार प्राप्त कर लिये थे, अपने लिए नवाब की उपाधि प्राप्त कर ली थी और हैदराबाद तथा कर्नाटक में वह अपने समर्थकों को निजाम और नवाब बनाने में प्रायः सफल हुआ था। उस समय त्रिचनापल्ली के भाग्य ने, जहाँ मुहम्मदअली घिरा हुआ था, सम्भवतः दक्षिण में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों के भाग्य का निर्णय कर दिया होता। ऐसे अवसर पर जबकि फ्रान्सीसियों का प्रभुत्व अपनी चरम

---

1 **"Our Island has scarcely ever produced a man more truly great either in arms or in council."** ***—Macaulay.***

सीमा पर था और अंग्रेजों का प्रभाव निम्नतर स्तर पर था, क्लाइव ने अपना कार्य आरम्भ किया। उसने अर्काट का घेरा डाला और उसे जीत लिया तथा 53 दिन तक उसकी सुरक्षा करके दक्षिण में त्रिचनापल्ली, मुहम्मदअली और अंग्रेजों के भाग्य को बदल दिया। उसने दक्षिण में डूपले और फ्रान्सीसियों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक दिया। बंगाल में भी उसका कार्य उस समय आरम्भ हुआ था जबकि नवाब सिराजुद्दौला ने कलकत्ता पर अधिकार कर लिया था और अंग्रेज अपनी सुरक्षा हेतु फुल्ता द्वीप में भाग गये थे। क्लाइव ने कलकत्ता पर पुनः अधिकार किया, नवाब से अलीनगर की सन्धि की, हिन्दू सेठों और मीरजाफर से मिलकर षड्यन्त्र किया और अन्त में प्लासी के युद्ध में नवाब को परास्त करके बंगाल के भावी नवाब मीरजाफर को अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बना दिया। सिराजुद्दौला के पश्चात् बंगाल के सभी नवाब अंग्रेज कम्पनी के हाथ के खिलौने थे और जब नवाब मीरकासिम ने इसका विरोध किया तो उसे गद्दी छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। स्पष्ट था कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा की राजनीतिक सत्ता, वास्तव में, अंग्रेजों के हाथों में जा चुकी थी। सम्भवतः, स्वयं क्लाइव ने भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित करने का स्वप्न नहीं देखा था, परन्तु उसने ऐसे कार्य अवश्य किये थे जिनके कारण उसके उत्तराधिकारी भारत में अंग्रेजी राज्य का निर्माण कर सके। अल्फ्रेड लयाल ने लिखा है : "भारत में साम्राज्य की स्थापना के लिए अंग्रेज सर्वाधिक उत्साही, साहसी और कभी भी पराजय स्वीकार न करने वाले व्यक्ति (क्लाइव) के ऋणी हैं।"[1] प्लासी के युद्ध ने बक्सर के युद्ध की आधारशिला का कार्य किया था और जब तक क्लाइव दुबारा कम्पनी का गवर्नर होकर भारत आया तब तक फ्रान्सीसी तो क्या बंगाल का नवाब, अवध का नवाब और मुगल बादशाह का वजीर शुजाउद्दौला और स्वयं मुगल बादशाह शाहआलम भी अंग्रेजों की दया के पात्र बन चुके थे। यह सब क्लाइव द्वारा आरम्भ किये गये कार्यों के कारण ही सम्भव हुआ था। इसके अतिरिक्त कम्पनी के कर्मचारियों की सेवाओं में सुधार और अवध के नवाब तथा मुगल बादशाह के साथ किये गये समझौते भी उसकी कूटनीतिक योग्यता के प्रमाण थे।

कभी-कभी यह विचार प्रकट किया गया है कि क्लाइव ने डूपले के अनुभवों का लाभ उठाया था। डूपले से उसने भारतीय नरेशों की दुर्बलता समझी और उनकी राजनीति में हस्तक्षेप करके कम्पनी को प्रभावशाली बनाने का तरीका सीखा। डूपले के अनुभव से ही उसने यह सबक सीखा कि कम्पनी का प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक सत्ता प्राप्त करना लाभप्रद नहीं होगा। उसी के अनुभव से उसने राजनीति में धीरे-धीरे बढ़ना सीखा। इस विचार में कुछ सत्यता अवश्य है परन्तु इस आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि क्लाइव ने डूपले के अनुभवों से ही भारतीय राजनीति की शिक्षा ग्रहण की थी। क्लाइव में तत्कालीन परिस्थितियों को समझने की बुद्धि थी। अतएव डूपले से उसने जो कुछ सीखा, यह उसकी योग्यता का प्रमाण था। इसके अतिरिक्त, उसके स्वयं के विचार भी थे जो परिस्थितियों के अनुसार विकसित होते चले गये। क्लाइव के सम्मुख ऐसी भी अनेक परिस्थितियाँ आयी थीं जिनका हल उसे डूपले के अनुभवों से प्राप्त नहीं हो सका था। उन समस्याओं का हल उसने अपने ही कौशल से निकाला था। क्लाइव, निस्सन्देह, साहसी था और वह अपनी दुर्बलताओं को भी समझता था। इसी कारण जब इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट ने उस पर भ्रष्टाचार, झूठ आदि के आरोप लगाये तब उसने उन्हें स्वीकार किया, परन्तु उसने कहा कि यह सब कुछ उसने राष्ट्र की भलाई के लिए

---

1 "Above all, Englishmen are indebted for the foundation of the empire in India, to this high-spirited, courageous and indefatigable man (Robert Clive)."

—*Alfred Lyall.*

किया था। बर्क (Burke) ने कहा था : "उसने महान् कार्यों की नींव डाली। लॉर्ड क्लाइव ने गहरे पानी में प्रवेश किया जिसके तल का उसे ज्ञान न था। उसने अपने उत्तराधिकारियों के लिए एक पुल बनाया जिस पर लँगड़े घूम सकते थे और अन्धे अपना मार्ग तलाश कर सकते थे।"[1] निस्सन्देह, क्लाइव के कार्य ब्रिटेन के हित में रहे। इस कारण अंग्रेजों द्वारा उसका सम्मान किया जाना स्वाभाविक था, यह अन्य बात है कि भारतीयों के लिए वह एक नवीन दासता का प्रारम्भकर्ता था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 1765 ई. में क्लाइव ने (अ) मुगल बादशाह शाहआलम, (ब) अवध के नवाब शुजाउद्दौला, तथा (स) बंगाल के नवाब से क्या राजनीतिक समझौते किये और उनका क्या परिणाम हुआ ?
2. क्लाइव द्वारा स्थापित बंगाल के द्वैध-शासन से आप क्या समझते हैं ? वह कहाँ तक सफल हुआ ?

---

1 "He settled great foundation....Lord Clive forded a deep water with unknown bottom; he left a bridge for his successors over which the lame might hobble and blind might grope their way." —*Burke.*

8

वारेन हेस्टिंग्स (1772-1785 ई.)

वारेन हेस्टिंग्स (Warren Hastings) का कार्यकाल भारत में अंग्रेज कम्पनी के इतिहास में अत्यन्त कठिन था। 1772 ई. में उसने जब कम्पनी के गवर्नर के रूप में कार्य आरम्भ किया तब बंगाल, बिहार और उड़ीसा जैसे सम्पन्न सूबों की दीवानी प्राप्त करने के बावजूद अंग्रेज कम्पनी दिवालिये की स्थिति में थी। उसके कर्मचारी भ्रष्ट हो चुके थे। वे कम्पनी के व्यापार के स्थान पर व्यक्तिगत व्यापार की ओर अधिक ध्यान देते थे। इन सूबों की कृषि, उद्योग और व्यापार नष्ट हो चुके थे। किसानों के साथ प्रायः दासों जैसा व्यवहार किया जाता था। आन्तरिक व्यापार पर प्रायः कम्पनी के कर्मचारियों का एकाधिकार था जिससे वे कारीगरों को बाजार-मूल्य से 15 से 40 प्रतिशत तक कमी करके उनकी वस्तुओं का मूल्य देते थे। बंगाल के नवाब के साथ कम्पनी के सम्बन्ध अव्यावहारिक और अस्पष्ट थे। कम्पनी की सत्ता इन सूबों के निवासियों के लिए एक अभिशाप बन गयी थी क्योंकि कम्पनी न तो स्वयं यहाँ का शासन करती थी और न नवाब को ही करने देती थी।

उपर्युक्त सभी दोषों से कम्पनी को मुक्त करने का श्रेय वारेन हेस्टिंग्स को गया। 1785 ई. में जब वह इंगलैण्ड वापस गया, प्रथम मराठा-युद्ध और द्वितीय मैसूर-युद्ध के बावजूद भी कम्पनी की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ था। कम्पनी ने अपने अधिकार में आये हुए सूबों का शासन अपने हाथों में ले लिया था और वहाँ शासन को पुनर्गठित एवं व्यवस्थित कर दिया गया था। कम्पनी के कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार को पर्याप्त सीमा तक दूर कर दिया गया था। बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों में शान्ति व सम्पन्नता आ गयी थी तथा सभी को न्याय की सुविधा प्रदान की गयी थी। यही नहीं, कम्पनी भारत में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति भी बन गयी थी। ये सभी कार्य वारेन हेस्टिंग्स की योग्यता और परिश्रम का फल थे। इसी कारण यह कहा गया है कि वस्तुतः वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल में ही भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव पड़ी।

1. वारेन हेस्टिंग्स के सुधार

वारेन हेस्टिंग्स का समय आन्तरिक सुधारों से प्रारम्भ हुआ। 1772 ई. से 1774 ई. के प्रारम्भ के दो वर्षों में उसने विभिन्न सुधार किये। रेगूलेटिंग एक्ट के द्वारा कौंसिल की स्थापना हो जाने के पश्चात् उसके सुधारों में कुछ परिवर्तन अवश्य किया गया परन्तु तब भी उसके मुख्य सुधार यथावत् रहे और 1776 ई. में जब उसकी स्थिति पुनः दृढ़ हो गयी तो इस दिशा में उसने पुनः कुछ कार्य किये। अपने इन सुधारों के द्वारा उसने कम्पनी तथा बंगाल, बिहार व उड़ीसा की आन्तरिक स्थिति को दृढ़ करने में सफलता प्राप्त की।

भारत में कम्पनी का राज्य प्रायः स्थापित हो गया था परन्तु उस राज्य को व्यवस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। उसे अनेक ऐसे निहित स्वार्थों पर प्रहार करना था

जिन्होंने कम्पनी की सत्ता को परस्पर बाँट रखा था। नवाब और उसके कर्मचारियों के अतिरिक्त स्वयं कम्पनी की शासन-शक्ति प्रबन्धकों (Supervisors), पटना और मुर्शिदाबाद में स्थापित लगान-बोर्डों तथा गवर्नर और उसकी कलकत्ता कौंसिल में विभाजित थी। शासन के विभिन्न भागों में समन्वय स्थापित करना, उनके पारस्परिक सम्बन्धों को निश्चित करना, सूबों में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करना, व्यापार में सुधार, लगान-व्यवस्था में परिवर्तन, कृषि और उद्योगों की उन्नति तथा एक निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था की स्थापना करना वारेन हेस्टिंग्स के उद्देश्य थे। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने निम्नलिखित सुधार किये :

(अ) द्वैध-शासन की समाप्ति

कम्पनी के डायरेक्टरों ने कम्पनी द्वारा दीवानी के अधिकारों को प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथों में लेने, मुहम्मद रजाखाँ और राजा शिताबराय को हटाने तथा उन पर मुकदमा चलाने के स्पष्ट आदेश वारेन हेस्टिंग्स को दिये थे। हेस्टिंग्स ने आते ही इन आदेशों का पालन किया। नाइब-दीवान मुहम्मद रजाखाँ और राजा शिताबराय हटा दिये गये और उन पर मुकदमा चलाया गया; यद्यपि हेस्टिंग्स स्वयं उन पर मुकदमा चलाने की कोई आवश्यकता नहीं समझता था। बाद में इन लोगों को न्यायालय ने माफ कर दिया। दीवानी के अधिकार कम्पनी ने प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथों में ले लिये। उससे सम्बन्धित असैनिक न्याय को भी हेस्टिंग्स ने कम्पनी के हाथों में ले लिया; यद्यपि डायरेक्टरों की इसमें कोई रुचि नहीं थी।

हेस्टिंग्स यह विश्वास करता था कि दीवानी और निजामत के अधिकारों को अलग-अलग करना सम्भव नहीं है। इस कारण उसने नवाब से निजामत के अधिकारों को ले लिया। अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा का शासन पूर्णतः कम्पनी के हाथों में चला गया और नवाब को उसके व्यक्तिगत व्यय के लिए 16 लाख रुपया प्रति वर्ष दिया जाने लगा। प्रारम्भ में (1765 ई. में) नवाब को 53 लाख रुपया दिया जाता था। 1766 ई. में यह राशि 41 लाख रुपया प्रति वर्ष और 1769 ई. में 32 लाख रुपया प्रति वर्ष कर दी गयी थी। परन्तु क्योंकि अब निजामत के अधिकार भी नवाब से छीन लिये गये थे और उसे शासन पर कोई धन व्यय नहीं करना था, इस कारण यह राशि केवल 16 लाख रुपया प्रति वर्ष कर दी गयी।

हेस्टिंग्स ने नवाब की देखभाल के लिए मीरजाफर की विधवा मुन्नी बेगम को उसका संरक्षक नियुक्त किया। इसमें उसका मन्तव्य नवाब के व्यक्तिगत व्यय की देखभाल करना था और इसी कारण इस विधवा को उसने इस कार्य के लिए नियुक्त किया था। परन्तु उसके इस कार्य के लिए उस पर यह आरोप लगाया गया कि उसने मुन्नी बेगम से रिश्वत ली थी और बाद में जब कौंसिल की स्थापना हो गयी तब 1775 ई. में इस स्त्री को हटाकर मुहम्मद रजाखाँ को नवाब का संरक्षक नियुक्त किया गया।

(ब) लगान-व्यवस्था में सुधार

बंगाल में अंग्रेजों के पास उस समय तीन प्रकार की भूमि थी :

(i) बर्दवान, मिदनापुर और चटगाँव के जिले—1760 ई. में मीरकासिम ने ये जिले कम्पनी को दिये थे और कम्पनी इनका कोई लगान किसी को नहीं देती थी।

(ii) कलकत्ता और 24-परगने—कलकत्ता पर अंग्रेजों का अधिकार 1698 ई. से था और 24-परगने का जिला मीरजाफर ने 1757 ई. में कम्पनी को दिया था। इनके लिए कम्पनी एक जमींदार की भाँति कार्य करती थी और नवाब को इस भूमि का वार्षिक लगान देती थी।

1759 ई. में 24-परगने का जिला मुगल बादशाह ने क्लाइव को दिया था और 1763 ई. से डायरेक्टरों ने इस पर भी लगान देना बन्द कर दिया था। 1765 ई. में कम्पनी ने इन पर पुनः लगान देना आरम्भ कर दिया था परन्तु यह निश्चय हुआ था कि 1785 ई. के पश्चात् कम्पनी इनका कोई लगान नहीं देगी। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने इन परगनों से स्वयं लगान वसूल किया परन्तु बाद में इन्हें भी नीलामी करके लगान वसूल करने हेतु ठेकेदारों को दे दिया गया।

(iii) बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबे—1765 ई. में मुगल बादशाह के फरमान से इन सूबों की दीवानी कम्पनी को प्राप्त हुई थी। इसके बदले में कम्पनी ने 26 लाख रुपया प्रति वर्ष मुगल बादशाह को और एक निश्चित धनराशि बंगाल के नवाब को निजामत के कर्तव्यों को पूरा करने के लिए देने का आश्वासन दिया था।

लगान-व्यवस्था से सम्बन्धित मुख्य समस्या इस तीसरी प्रकार की भूमि की थी। क्लाइव ने अपने दोहरे शासन की व्यवस्था के अन्तर्गत इस उत्तरदायित्व को प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के हाथों में नहीं लिया था और दो भारतीय नाइब-दीवान नियुक्त करके कम्पनी के उत्तरदायित्व को समाप्त मान लिया था। परन्तु वारेन हेस्टिंग्स को स्पष्ट आदेश मिले थे कि कम्पनी प्रत्यक्ष रूप से दीवान के उत्तरदायित्वों को सँभालेगी। इस कारण लगान-व्यवस्था का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व कम्पनी पर आ गया।

हेस्टिंग्स ने इस विषय में कोई भी परिवर्तन करने से पहले एक लगान-समिति की नियुक्ति की और वह स्वयं उसका सभापति बना। उसकी रिपोर्ट के आधार पर निम्नलिखित सुधार किये गये :

1. प्रत्येक जिले में लगान की पूरी जानकारी की गयी।

2. भूमि पाँच वर्ष के लिए उन व्यक्तियों को दी जाने लगी जो अधिकतम लगान देने का वायदा करते थे।

3. यह निश्चय किया गया कि नये जमींदार किसानों को स्पष्ट 'पट्टे' देंगे जिसमें वह किसानों को यह बतायेंगे कि उन्हें जमींदार को किस मात्रा में लगान देना है।

4. खजाना मुर्शिदाबाद से हटाकर कलकत्ता लाया गया जहाँ वह कम्पनी की परिषद की प्रत्यक्ष देखभाल में रह सकता था।

5. प्रबन्धकों (Supervisors) को, जो 1769 ई. में नियुक्त किये गये थे, कलक्टर का पद दिया गया। अब स्वयं उन्हें ही लगान वसूल करना होता था। उन्हें अपने जिलों में ही रहना था और उनकी सहायता के लिए प्रत्येक ज़िले में एक नाइब-दीवान नियुक्त किया गया। समस्त जिलों को छह बड़े संभागों (Divisions) में संगठित किया गया। ये कलकत्ता, बर्दवान, ढाका, मुर्शिदाबाद, दीनाजपुर और पटना थे। प्रत्येक संभाग (Division) में लगान की देखभाल के लिए एक लगान-परिषद स्थापित की गयी जिसका सभापति कलकत्ता कौंसिल का एक सदस्य होता था। यह लगान-परिषद लगान और उससे सम्बन्धित न्याय की देखभाल करती थी। परिषद की सहायता के लिए प्रत्येक संभाग (Division) में एक भारतीय दीवान रखा गया। बाद में हेस्टिंग्स की सलाह से कलक्टरों का पद समाप्त कर दिया गया और इनका कार्य लगान-परिषदें ही करती रहीं। हेस्टिंग्स का स्वयं का विचार इन परिषदों में कलकत्ता कौंसिल के सदस्यों को मनोनीत करना न था, वह केवल भारतीय दीवानों की सहायता से ही कार्य करने के पक्ष में था, परन्तु डायरेक्टरों ने उसकी इस बात को स्वीकार नहीं किया था।

6. सम्पूर्ण लगान के हिसाब की देखभाल के लिए एक भारतीय अधिकारी 'राय रायन' (Rai Raian) नियुक्त किया गया। उसे 5,000 रुपये प्रति माह देने की व्यवस्था की गयी। इस पद को प्राप्त करने वाला पहला भारतीय दुर्लभराय का पुत्र राजा राजबल्लभ था।

7. एक आयलेखा-सचिव (Accountant General) की भी नियुक्ति की गयी।

8. प्रत्येक संभाग (Division) की लगान-परिषद के प्रधान को 3,000 रुपये प्रति माह देने की व्यवस्था की गयी जिससे वह अपने कार्य की ओर ध्यान दे और व्यक्तिगत व्यापार में संलग्न न हो।

1773 ई. में रेगूलेटिंग एक्ट के लागू होने के पश्चात् हेस्टिंग्स ने अपनी लगान-व्यवस्था की रिपोर्ट अपनी नवीन कौंसिल के समक्ष प्रस्तुत की और कुछ नवीन सुझाव भी रखे। परन्तु कौंसिल ने उसके सुझावों को स्वीकार नहीं किया। कौंसिल के एक सदस्य फ्रान्सिस (Francis) ने अपनी एक पृथक योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार वह जमींदारों को सर्वदा के लिए भूमि देने के पक्ष में था। हेस्टिंग्स ने इस योजना में कुछ परिवर्तन चाहा। परन्तु कौंसिल ने उसे स्वीकार नहीं किया। इस कारण परस्पर कोई समझौता न हो सका और इससे पहले कि कोई समझौता होता, 1778 ई. में डायरेक्टरों के आदेश प्राप्त हुए कि जमींदारों के साथ वार्षिक समझौते किये जायें।

1780 ई. में कौंसिल के एक सदस्य मौन्सन (Monson) की मृत्यु हो जाने और फ्रान्सिस के इंगलैण्ड चले जाने से हेस्टिंग्स कार्य करने में पुनः स्वतन्त्र हो गया और उसने एक नवीन योजना को कार्य-रूप में परिणत किया। इस योजना के अनुसार संभाग (Division) की लगान-परिषदें समाप्त कर दी गयीं और चार सदस्यों का एक नवीन लगान-बोर्ड (Revenue Board) स्थापित किया गया। उसकी सहायता के लिए एक दीवान की नियुक्ति की गयी। लगान-बोर्ड के प्रत्येक सदस्य को वसूल किये हुए लगान में से 2% देने की व्यवस्था की गयी। खजाने की व्यवस्था भी इस लगान-बोर्ड को ही सौंप दी गयी और 'राय रायन' (Rai Raian) को कम्पनी की उच्चतम कौंसिल के अधीन कर दिया गया। भारतीय कानूनगो पुनः नियुक्त किये गये और उन्हें लगान सम्बन्धी वे सभी अधिकार दे दिये गये जो उन्हें पहले प्राप्त थे।

1786 ई. में हेस्टिंग्स के जाने के पश्चात् उसके उपर्युक्त सुधारों में डायरेक्टरों के आदेशानुसार कुछ अन्य परिवर्तन किये गये। संभाग (Division) जिलों में बाँट दिये गये, कलक्टर पुनः नियुक्त किये गये, लगान-परिषद का पुनर्गठन किया गया और एक नवीन अधिकारी मुख्य सारिस्तादार (Chief Saristadar) की नियुक्ति की गयी जिसका कार्य सभी कानूनगोओं के कागजों की देखभाल करना था। इस पद पर प्रथम नियुक्ति जेम्स ग्राण्ट (James Grant) की हुई।

हेस्टिंग्स के उपर्युक्त लगान सम्बन्धी सुधार दोष-रहित न थे। प्रारम्भ में जो सुधार किये गये थे उनका सबसे बड़ा दोष यह था कि सर्वाधिक लगान देने का वायदा करने वाले व्यक्तियों को भूमि दी गयी थी जबकि किसानों के साथ कोई लगान निश्चित नहीं किया गया था और न कोई ऐसी व्यवस्था की गयी थी जिससे जमींदारों के विरुद्ध उनके हितों की रक्षा सम्भव हो पाती। इस कारण किसानों से लगान की माँग अब भी अधिक रही। 1778 ई. में डायरेक्टरों के आदेशानुसार जब यह भूमि प्रति वर्ष जमींदारों को दी जाने लगी तो उससे और भी अधिक हानि हुई। इस व्यवस्था का दूसरा मूल दोष यह था कि इसमें लगान वसूल करने वाले अधिकारियों को ही न्याय के अधिकार दिये गये थे। इसके अतिरिक्त लगान-व्यवस्था से अंग्रेज अधिकारियों का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। वे अधिकांशतः अपने

भारतीय अधिकारियों पर ही निर्भर करते थे। इस कारण अंग्रेज अधिकारी स्वयं कभी भी भारतीय लगान-व्यवस्था और उसके दोषों को न समझ सके।

उपर्युक्त दोषों के कारण हेस्टिंग्स की लगान-व्यवस्था सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुई। वास्तव में कम्पनी का 1765 से 1785 ई. तक का समय लगान-व्यवस्था के सम्बन्ध में केवल नवीन अन्वेषण करने तथा अनुभव प्राप्त करने का समय रहा। तब भी पहले की तुलना में बंगाल की लगान-व्यवस्था में पर्याप्त सुधार हुआ। प्रथम बार कम्पनी ने इस व्यवस्था का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया और इसका हल निकालने का प्रयत्न किया। हेस्टिंग्स ने इसमें कुछ सफलता प्राप्त की। साथ ही उसने अपने अनुभव से भविष्य के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

(स) न्याय-व्यवस्था

न्याय के सम्बन्ध में वारेन हेस्टिंग्स के सुधार कुछ अधिक लाभदायक सिद्ध हुए। इससे पहले न्याय का कार्य मुख्यतः स्थानीय जमींदार किया करते थे जो अधिकांशतः निरंकुशता से न्याय करते थे। अंग्रेज कर्मचारियों और उनके प्रतिनिधियों के हस्तक्षेप के कारण न्याय-व्यवस्था और अधिक खराब हो गयी। डायरेक्टरों को न्याय-व्यवस्था में अधिक रुचि न थी परन्तु हेस्टिंग्स ने दीवानी और निजामत दोनों को कम्पनी के हाथों में लेकर असैनिक और सैनिक न्याय की व्यवस्था करना ही श्रेयस्कर माना। उसने इस क्षेत्र में निम्न-लिखित सुधार किये :

1. प्रत्येक जिले में एक दीवानी और एक फौजदारी अदालत की स्थापना की गयी। दीवानी अदालत में कलक्टर मुख्य न्यायाधीश होता था जो भारतीय अधिकारियों की सहायता से इस कार्य की पूर्ति करता था। 500 रुपये तक के मुकदमे इस न्यायालय में आते थे। फौजदारी अदालत में कम्पनी का एक भारतीय अधिकारी मौलवी और मुफ्तियों की सलाह से न्याय करता था। कलक्टर इस न्यायालय के कार्य की देखभाल करता था। इस न्यायालय को मृत्युदण्ड देने और सम्पत्ति को जब्त करने का अधिकार न था। इसके लिए उसे सदर निजामत अदालत से आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी।

2. कलकत्ता में एक सदर दीवानी अदालत और एक सदर फौजदारी अदालत की स्थापना की गयी। सदर दीवानी अदालत में कलकत्ता कौंसिल का 'सभापति' और उसी कौंसिल के दो सदस्य 'राय रायन' और मुख्य कानूनगो की सलाह से न्याय करते थे। सदर फौजदारी अदालत में 'नाइब-निजाम' मुख्य काजी, मुफ्ती और तीन मौलवियों की सलाह से न्याय करता था। उसके निर्णयों पर नवाब की स्वीकृति भी ले ली जाती थी। कम्पनी की कौंसिल भी इसके कार्य की देखभाल करती थी।

3. जिले की दीवानी और फौजदारी अदालतों के मुकदमे अन्तिम निर्णय के लिए सदर अदालतों में भेजे जाते थे।

4. दीवानी मुकदमों में जातीय कानून अर्थात् हिन्दुओं के सम्बन्ध में हिन्दू-कानून और मुसलमानों के लिए मुस्लिम-कानून लागू किया जाता था जबकि फौजदारी मुकदमों में मुस्लिम-कानून लागू किया जाता था।

5. न्यायाधीशों को नजराने और उपहार आदि लेने से रोक दिया गया और उनके वेतन निश्चित कर दिये गये जिससे न्याय निष्पक्षता से सम्भव हो सके।

उपर्युक्त न्याय-व्यवस्था की स्थापना के अतिरिक्त न्याय की सुविधा के लिए कुछ अन्य नियम भी बनाये गये; जैसे—

1. प्रत्येक न्यायालय को अपनी कार्रवाई को लिखना पड़ता था;
2. प्रत्येक मुकदमे के निर्णय के लिए कुछ समय निश्चित कर दिया गया;
3. न्यायालयों द्वारा कठोर जुर्माना करना बन्द कर दिया गया;
4. कर्जदार को कर्ज देने वाले के असीमित अधिकारों से बचाने की व्यवस्था की गयी;
5. व्यक्तियों को 10 रुपये से ऊपर के सभी झगड़ों को अदालतों में लाने के लिए प्रोत्साहित किया गया;
6. हिन्दू और मुस्लिम कानूनों को संग्रहित करने का प्रयत्न किया गया।

उपर्युक्त सुधार न्याय-व्यवस्था की दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुए। इस विषय में यह स्वीकार करना पड़ता है कि, निस्सन्देह, **हेस्टिंग्स ने भारत में एक निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया।**

बाद में रेगूलेटिंग एक्ट के द्वारा कलकत्ता में एक उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की गयी। परन्तु यह कार्य हेस्टिंग्स का न था। इस अदालत के कार्यों, अधिकार-क्षेत्र और जिस कानून के आधार पर इसे न्याय करना था, उसे स्पष्ट न करके असुविधा ही उत्पन्न की गयी थी। हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित सदर निजामत अदालत और सदर दीवानी अदालत से भी इस उच्चतम न्यायालय के सम्बन्धों को स्पष्ट नहीं किया गया था। बाद में 1781 ई. में एक नियम द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के कार्य-क्षेत्र और अधिकार-क्षेत्र को स्पष्ट किया गया।

(द) व्यापारिक सुधार

व्यापारिक सुधारों के लिए भी हेस्टिंग्स को डायरेक्टरों से आदेश प्राप्त हुए थे। उन्हीं के आधार पर उसने निम्नलिखित सुधार किये :

1. 'दस्तक' (Free Pass) का प्रयोग समाप्त कर दिया गया।

2. छोटी-छोटी सभी कर-चौकियों (Custom houses) को समाप्त कर दिया गया। केवल बड़ी चौकियाँ कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, पटना और ढाका में रखी गयीं।

3. नमक, पान और तम्बाकू जिनके व्यापार पर कम्पनी का एकाधिपत्य था, कर-मुक्त रखे गये और शेष सभी वस्तुओं पर भारतीय और अंग्रेज व्यापारियों के लिए $2\frac{1}{2}\%$ कर देने की व्यवस्था की गयी।

हेस्टिंग्स के उपर्युक्त सुधार व्यापारिक उन्नति की दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुए। स्वयं हेस्टिंग्स ने कहा था कि "वस्तुएँ बिना किसी बाधा के बंगाल की दूरस्थ सीमाओं में जा सकती थीं।"

हेस्टिंग्स ने गुमाश्तों को आदेश दिये कि वे कारीगरों को उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने के लिए बाध्य न करें और न उनसे अपना व्यक्तिगत हिस्सा (ददनी) माँगें। उसने भूटान, तिब्बत और मिस्र से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया, मुद्रा में सुधार किया और भत्तों में सुधार करने का प्रयत्न किया। उसने चोरी और डकैतियों को समाप्त करने का प्रयत्न किया तथा कूच-बिहार से भूटियों को निकाल बाहर किया।

उपर्युक्त सुधारों के द्वारा हेस्टिंग्स ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में अच्छी शासन-व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। हण्टर (Hunter) के शब्दों में, "हेस्टिंग्स ने असैनिक शासन की दृढ़ नींव डाली जिस पर कार्नवालिस ने भवन का निर्माण किया।"[1]

2. वारेन हेस्टिंग्स और उसकी कौंसिल

1773 ई. में रेगूलेटिंग एक्ट बनाया गया (एक्ट के विस्तृत अध्ययन के लिए 'भारत का संवैधानिक विकास' अध्याय देखिए) और 1774 ई. में उसके आधार पर भारत में कार्य आरम्भ किया गया। इस एक्ट की एक धारा के अनुसार अंग्रेज गवर्नर-जनरल की सहायता के लिए चार सदस्यों की एक कौंसिल की स्थापना की गयी। प्रथम गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्स और प्रथम कौंसलर क्लेवरिंग (Clavering), मौन्सन (Monson), फ्रान्सिस (Francis) और बारवेल (Barwell) नियुक्त किये गये। शासन के सभी विषयों पर निर्णय लेने का अधिकार गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को था। निर्णय बहुमत से लिये जाते थे और गवर्नर-जनरल को उसी स्थिति में मत देने का अधिकार था जब कौंसिल के सदस्यों के मत बराबर-बराबर विभाजित हो जाते थे। इस प्रकार, यद्यपि गवर्नर-जनरल शासन का प्रधान था परन्तु सभी महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में निर्णय लेने का अधिकार वस्तुतः कौंसिल को दिया गया। एक्ट में यह व्यवस्था सम्भवतः एक व्यक्ति के निरंकुश शासन के दोषों से शासन को मुक्त रखने के लिए की गयी थी। परन्तु यह व्यवस्था भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल न थी। इस कारण सिद्धान्ततः ठीक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से यह बहुत गलत सिद्ध हुई। इससे हेस्टिंग्स और उसकी कौंसिल में गम्भीर मतभेद हुए क्योंकि निर्णय कौंसिल के बहुमत पर निर्भर करता था। इस कारण प्रथम दो वर्षों तक हेस्टिंग्स अपनी इच्छा से कोई कार्य नहीं कर सका और कौंसिल ने अनेक कार्यों के लिए उसे दोषी ठहराया तथा उसके कुछ कार्यों में परिवर्तन किये। यही नहीं, इसका कुप्रभाव कम्पनी की विदेश-नीति पर भी पड़ा।

हेस्टिंग्स और उसकी कौंसिल के सदस्यों में मतभेद का विशेष कारण था। कौंसिल के तीन सदस्य—क्लेवरिंग, मौन्सन और फ्रान्सिस—इंगलैण्ड से ही यह धारणा बनाकर चले थे कि हेस्टिंग्स एक भ्रष्ट और अत्याचारी व्यक्ति था। इस कारण वे हेस्टिंग्स को सर्वदा शंका की दृष्टि से देखते थे और उसका विरोध करना, उसके विरुद्ध आरोपों को सुनना और स्वयं उस पर आरोप लगाना उन्होंने अपना कर्तव्य मान लिया था। इसके अतिरिक्त उन्हें भारत की वास्तविक परिस्थितियों का ज्ञान न था। इस कारण उनके निर्णय आदर्शपरक होते थे जबकि हेस्टिंग्स के निर्णय व्यावहारिक और कम्पनी के स्थायी स्वार्थों की पूर्ति के लक्ष्य के अनुरूप होते थे। ऐसी स्थिति में हेस्टिंग्स और कौंसिल में मतभेद होना और उनमें पारस्परिक संघर्ष स्वाभाविक था। प्रथम दो वर्षों में कौंसिल अपने बहुमत से हेस्टिंग्स की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने में सफल रही। हेस्टिंग्स के पास इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग न था कि वह कौंसिल की अधिकांश बैठकों से उठकर चला जाता था।

जिस समय से कौंसिल के सदस्य भारत आये उसी समय से उन्होंने अपने व्यवहार को प्रकट करना आरम्भ कर दिया। बारवेल के अतिरिक्त तीनों सदस्य हेस्टिंग्स के विरुद्ध थे। उन्होंने इसी बात पर झगड़ा किया कि हेस्टिंग्स ने उनका स्वागत उचित प्रकार नहीं किया। उन्होंने बैठकों के छोटे-छोटे नियमों और तरीकों पर झगड़ा करना आरम्भ किया, हेस्टिंग्स

1 "Hastings firmly laid the foundation of civil administration, on which the super-structure was raised by Cornwallis." —*Hunter.*

पर दोष लगाने वालों को प्रोत्साहन दिया तथा उसकी आन्तरिक और विदेश-नीति में हस्तक्षेप किया। उन्होंने नवाब के संरक्षक के पद से मुन्नी बेगम को हटा दिया और उसके स्थान पर मुहम्मद रजाखाँ को नियुक्त किया, अवध में हेस्टिंग्स द्वारा नियुक्त अंग्रेज प्रतिनिधि को हटा दिया और एक नवीन प्रतिनिधि की नियुक्ति की, तथा उन्होंने हेस्टिंग्स की इच्छा के विरुद्ध 1775 ई. में अवध के नवाब से एक नवीन सन्धि की जिसके द्वारा उससे अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए अधिक धन लेकर, बनारस के जिले उससे छीनकर और पिछले नवाब की विधवा स्त्रियों को पूर्ण खजाना देने के लिए बाध्य करके उसे इतना दुर्बल कर दिया कि अवध मराठों के आक्रमण को रोकने की स्थिति में ही न रहा। इसी प्रकार, उन्होंने प्रथम मराठा-युद्ध के अवसर पर हेस्टिंग्स की इच्छा के विरुद्ध पुरन्दर की सन्धि की और कम्पनी की नीति को दो भागों में विभाजित कर दिया। उन्होंने रुहेला-युद्ध के लिए हेस्टिंग्स को दोषी ठहराया, नन्दकुमार को हेस्टिंग्स पर दोषारोपण के लिए प्रोत्साहित किया और निरन्तर हेस्टिंग्स के सामने ही उसके विरुद्ध आरोपों को सुना।

इस प्रकार हेस्टिंग्स और उसकी कौंसिल के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। प्रथम दो वर्षों (1774-76 ई.) में कौंसिल अपने बहुमत के बल पर अपनी इच्छानुसार कार्य करने में सफल रही। परन्तु फिर भी हेस्टिंग्स शान्ति और तत्परता से शासन करता रहा। विस्तृत रूप से शासन का उत्तरदायित्व हेस्टिंग्स पर था और कौंसिल ने दिन-प्रतिदिन के शासन में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया। इस कारण, हेस्टिंग्स अधिकांश कार्यों को करने में सफल हुआ। कौंसिल और हेस्टिंग्स के इस झगड़े के विषय में एक बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है कि यह झगड़ा केवल मौलिक सिद्धान्तों तक ही सीमित रहा। कौंसिल ने प्रतिदिन के शासन में हस्तक्षेप न करके अपनी उदारता और दूरदर्शिता का परिचय दिया और हेस्टिंग्स ने कौंसिल के विरोध के होते हुए भी शासन की व्यावहारिक समस्याओं से अपना ध्यान नहीं हटाया। इसी कारण इस संघर्ष से हानि होते हुए भी भयंकर दुष्परिणाम नहीं निकले। 1776 ई. में मौन्सन की मृत्यु हो गयी। उस समय से हेस्टिंग्स को अपने मत का प्रयोग करने का अवसर मिला। बारवेल सर्वदा उसके पक्ष में रहा और उसका सहयोग प्राप्त हो जाने से वह अपने अतिरिक्त मत का प्रयोग करके कौंसिल में अपना बहुमत बनाने की स्थिति में हो गया। इस प्रकार 1776 ई. से कौंसिल का प्रभाव प्रायः समाप्त हो गया। अब केवल दो सदस्य उसके कार्यों की आलोचना कर सकते थे परन्तु वे भी उसकी नीति में परिवर्तन करने की स्थिति में नहीं रहे थे। 1780 ई. में फ्रान्सिस निराश होकर इंगलैण्ड वापस लौट गया। उसके पश्चात् हेस्टिंग्स पूर्ण स्वतन्त्र हो गया क्योंकि इंगलैण्ड की पार्लियामेण्ट ने कौंसिल के नवीन सदस्यों को नियुक्त करने की कोई व्यवस्था नहीं की। इस प्रकार हेस्टिंग्स को अपनी कौंसिल से छुटकारा प्राप्त हुआ।

3. वारेन हेस्टिंग्स की विदेश-नीति

विदेश-नीति के सम्बन्ध में हेस्टिंग्स का मुख्य लक्ष्य अंग्रेज कम्पनी की सत्ता को भारत में दृढ़ करना था और इसके लिए वह कोई भी कार्य करने को तत्पर था। मुगल बादशाह, अवध, मराठे और मैसूर राज्य से उसके सम्बन्ध इसी आधार पर बने और बिगड़े। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे भारत की दो प्रमुख शक्तियों से युद्ध लड़ने पड़े और इन युद्धों के लिए धन एकत्रित करने अथवा उनसे उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयों के समाधान हेतु उसने कुछ अनैतिक अथवा अनुचित कार्य भी किये। परन्तु वह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल रहा। उसके जाने के समय तक अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी अंग्रेज कम्पनी भारत की एक दृढ़ शक्ति बन गयी थी।

(अ) मुगल बादशाह से सम्बन्ध

1765 ई. में जब क्लाइव ने मुगल बादशाह शाहआलम से राजनीतिक समझौता किया था तब उसके पास न धन था, न प्रभाव और न भूमि। वह अपनी राजधानी दिल्ली से दूर था और यह सम्भावना थी कि वह अवध के नवाब का कैदी और पेंशनर बन जायेगा। क्लाइव ने उससे बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करके उसे 26 लाख रुपये प्रति वर्ष देने का वायदा किया और साथ ही साथ उसे इलाहाबाद और कड़ा के जिले भी अवध से दिला दिये। मुगल बादशाह को 26 लाख रुपया प्रति वर्ष देना कम्पनी के ऊपर एक अतिरिक्त भार था जिसके बदले में कम्पनी को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता था। अधिक से अधिक कम्पनी मुगल बादशाह के नाम का उपयोग करके कुछ कानूनी अधिकार प्राप्त कर सकती थी। परन्तु इन कानूनी अधिकारों का मूल्य भी तभी प्राप्त हो सकता था जब कम्पनी इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिए शक्ति का प्रयोग करती।

वारेन हेस्टिंग्स के समय में भारत की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन हो गया था। तृतीय पानीपत-युद्ध की हानि की पूर्ति मराठे प्रायः कर चुके थे और महादजी सिन्धिया और जसवन्तराव होल्कर जैसे योग्य सरदारों के नेतृत्व में दिल्ली की राजनीति में पुनः प्रभावशाली होने लगे थे। फरवरी 1771 ई. में उन्होंने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और मुगल बादशाह शाहआलम को दिल्ली आने का प्रलोभन दिया। शाहआलम लालचवश दिल्ली चला गया और उसने अपने को मराठों की दया पर छोड़ दिया। इस कारण हेस्टिंग्स ने मुगल बादशाह को 26 लाख रुपया प्रति वर्ष देने से इन्कार कर दिया। हेस्टिंग्स का निर्णय कम्पनी के हित में था क्योंकि वस्तुतः यह धन मराठों को ही प्राप्त होता जो अंग्रेजों के शत्रु थे और जो निरन्तर बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों से चौथ की माँग करते थे।

इसी समय मुगल बादशाह की ओर से मराठों ने इलाहाबाद और कड़ा की भी माँग की। हेस्टिंग्स ने दृढ़ता से इसे अस्वीकार कर दिया और 50 लाख रुपया लेकर ये दोनों जिले अवध के नवाब को वापस कर दिये।

(ब) अवध के साथ सम्बन्ध

1765 ई. में क्लाइव ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला से 50 लाख रुपया लेकर अवध का सूबा उसे वापस कर दिया था। उससे केवल इलाहाबाद और कड़ा के जिले मुगल बादशाह के लिए तथा बनारस और गाजीपुर के जिले कम्पनी के लिए प्राप्त किये गये थे। उस समय से अवध अंग्रेजों का मित्र-राज्य बन गया और अंग्रेज अवध की सुरक्षा को, मराठों के विरुद्ध, कम्पनी की सीमाओं की सुरक्षा का एक मुख्य आधार मानने लगे।

हेस्टिंग्स ने भी इसी नीति का पालन किया। मुगल बादशाह शाहआलम के दिल्ली चले जाने पर उसने 50 लाख रुपया लेकर इलाहाबाद और कड़ा के जिले अवध को वापस कर दिये। 1773 ई. में हेस्टिंग्स ने नवाब से बनारस की सन्धि की जिससे अवध पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर हो गया। इस सन्धि के अनुसार—

1. नवाब ने स्वीकार किया कि जब कभी वह अंग्रेजी सेना की सहायता प्राप्त करेगा तब वह एक ब्रिगेड के लिए 30,000 रुपये प्रति माह के स्थान पर 2,10,000 रुपये प्रति माह देगा।

2. यदि नवाब रुहेलखण्ड पर अधिकार करने का प्रयत्न करेगा तो अंग्रेज अपनी सेना सहित उसकी सहायता करेंगे और नवाब इस सहायता के बदले में कम्पनी को 40 लाख रुपया देगा।

अवध के साथ की गयी इस सन्धि का मुख्य उद्देश्य मराठों के विरुद्ध कम्पनी की सीमाओं की सुरक्षा था। अवध को सहायता का आश्वासन देकर हेस्टिंग्स ने उसे मराठों के विरुद्ध शक्तिशाली बनाना चाहा। इसी उद्देश्य से उसने नवाब को रुहेलखण्ड पर अधिकार करने के लिए प्रोत्साहन दिया। यह सम्भावना थी कि मराठे रुहेलखण्ड के उपजाऊ प्रदेश पर अधिकार करने का प्रयत्न करेंगे और यदि वह प्रदेश मराठों के अधिकार में चला जाता तो अवध की सुरक्षा को संकट हो जाता और उससे अंग्रेजों की सीमाएँ भी अरक्षित हो जातीं। इस कारण मराठों द्वारा इस प्रदेश पर अधिकार करने से पहले ही हेस्टिंग्स ने उसे अवध के अधिकार में देना अधिक उपयुक्त समझा। 1774 ई. में अवध ने इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया।

जनवरी 1775 ई. में नवाब शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी और आसफउद्दौला अवध का नया नवाब बना। रेगूलेटिंग एक्ट के अन्तर्गत उस समय तक हेस्टिंग्स की कौंसिल का निर्माण हो चुका था। कौंसिल ने, हेस्टिंग्स की इच्छा के विरुद्ध, कम्पनी और नवाब के बीच एक नवीन सन्धि की। कौंसिल का कहना था कि जितनी भी सन्धियाँ अभी तक अवध के साथ की गयी थीं वे सभी व्यक्तिगत रूप से नवाब शुजाउद्दौला से की गयी थीं, अतएव नये नवाब से नयी सन्धि करना आवश्यक था। 1775 ई. में की गयी इस **फैजाबाद की सन्धि** के अनुसार—

1. अवध के नवाब ने अंग्रेजी सेना की सहायता प्राप्त करने पर उसके व्यय के लिए पहले से अधिक धन देने का वायदा किया;

2. बनारस और गाजीपुर के जिले कम्पनी की प्रत्यक्ष अधीनता में दे दिये गये;

3. नवाब को प्रायः अपना सम्पूर्ण खजाना पिछले नवाब की विधवा पत्नियों को देने के लिए बाध्य किया गया।

इस सन्धि से अवध के नवाब की आर्थिक स्थिति दुर्बल हुई जिसका प्रभाव उसकी सैनिक-शक्ति पर पड़ा। अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए जो बढ़ी हुई धनराशि निश्चित की गयी वह बहुत अधिक थी जिसके कारण नवाब अंग्रेजों की सहायता लेने से हिचक सकता था। बाद में इस सन्धि की शर्तों के परिणामस्वरूप हेस्टिंग्स को अवध की बेगमों और नवाब के झगड़े में फँसना पड़ा। परन्तु यह सन्धि हेस्टिंग्स की इच्छा से नहीं की गयी थी।

(स) अंग्रेजों और मराठों का प्रथम युद्ध (1775-82 ई.)

चौथे पेशवा माधवराव की मृत्यु (1772 ई.) होते ही मराठों में आन्तरिक विग्रह की शुरूआत हुई और इसका प्रारम्भ पूना से हुआ। माधवराव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र नारायनराव पेशवा बना। परन्तु उसका चाचा रघुनाथराव अर्थात् राघोबा स्वयं पेशवा बनने का इच्छुक था। 1773 ई. में रघुनाथराव ने नारायनराव की हत्या करा दी और स्वयं पेशवा बनने का प्रयत्न किया। परन्तु उसी समय नारायनराव की विधवा पत्नी के एक पुत्र माधवराव नारायन हुआ और दरबार के मराठा सरदारों ने महादजी सिन्धिया और नाना फड़नवीस के नेतृत्व में अल्पायु माधवराव नारायन को पेशवा स्वीकार कर लिया। इससे हताश होकर रघुनाथराव ने पेशवा बनने के लिए अंग्रेजों से सहायता माँगी। बम्बई की अंग्रेजी सरकार सहायता देने के लिए तैयार हो गयी और उसने बिना गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल से सलाह लिये रघुनाथराव से 7 मार्च, 1775 ई. को **सूरत की सन्धि** कर ली। इस सन्धि की विभिन्न शर्तें थीं जिनमें से प्रमुख इस प्रकार थीं :

1. अंग्रेज रघुनाथराव (राघोबा) को पेशवा बनाने के लिए 2,500 सैनिकों की सहायता देंगे।

2. इन सैनिकों का व्यय रघुनाथराव देगा।

3. सालसीट, बेसीन और आसपास के टापू अंग्रेजों को दे दिये जायेंगे और इसके अतिरिक्त सूरत तथा भड़ौंच के जिलों की आय का कुछ भाग भी अंग्रेजों को मिला करेगा।

4. मराठे बंगाल और कर्नाटक पर आक्रमण करना बन्द कर देंगे।

5. यदि रघुनाथराव ने पूना-दरबार से कोई सन्धि की तो उसमें अंग्रेजों को सम्मिलित किया जायेगा।

फरवरी 1775 ई. में कर्नल कीटिंग (Keating) अंग्रेजी सेना लेकर सूरत पहुँचा और 18 मई, 1775 ई. को उसने एक मराठा सेना को आरास (Arras) के मैदान में परास्त किया। इस प्रकार मराठों के आन्तरिक झगड़ों में अंग्रेजों द्वारा हस्तक्षेप करने के कारण यह युद्ध आरम्भ हुआ।

पुरन्दर की सन्धि (1776 ई.)

लेकिन कलकत्ता की कौंसिल ने बम्बई-सरकार की इस कार्रवाई को खतरनाक, अनधिकारपूर्ण और अन्यायपूर्ण बताया, सूरत की सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया और लेफ्टिनेण्ट उपटन (Upton) को पूना-दरबार से एक सन्धि करने के लिए भेजा जिसके फलस्वरूप कलकत्ता की अंग्रेज-सरकार और पूना-दरबार में 1 मार्च, 1776 ई. को पुरन्दर की सन्धि हुई। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्न प्रकार थीं :

1. अंग्रेजों और मराठों में प्रत्येक स्थान पर शान्ति रहनी चाहिए।

2. अंग्रेजों को केवल सालसीट प्राप्त होगा।

3. पूना-दरबार रघुनाथराव को 25,000 रुपये प्रति माह पेंशन के रूप में देगा और वह गुजरात चला जायेगा।

परन्तु बम्बई-सरकार को पुरन्दर की सन्धि स्वीकार न थी। वह रघुनाथराव को संरक्षण प्रदान करती रही। उधर पूना-दरबार ने भी पुरन्दर की सन्धि को पूरा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसी समय यूरोप की राजनीति में भी कुछ परिवर्तन हुआ। अमेरिका का स्वातन्त्र्य-संग्राम 1775 ई. में आरम्भ हो चुका था और 1778 ई. से फ्रान्स ने अमेरिका की सहायता करना शुरू कर दिया था। फ्रान्स ने अंग्रेजों के प्रभाव को अन्य स्थानों पर भी समाप्त करने का प्रयत्न किया। उस समय एक फ्रान्सीसी व्यक्ति पूना-दरबार में पहुँचा और उसके सम्बन्ध नाना फड़नवीस से बहुत अच्छे हो गये। इससे अंग्रेजों को पूना-दरबार की ओर से शंका हो गयी। डायरेक्टरों ने भी पुरन्दर की सन्धि को स्वीकार नहीं किया और बेसीन को अपने अधिकार में रखने पर बल दिया। इससे बम्बई-सरकार को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। उसने रघुनाथराव के साथ की गयी सूरत की सन्धि को पुनः स्वीकार कर लिया और नवम्बर 1778 ई. में एक अंग्रेजी सेना वहाँ भेज दी। परन्तु अंग्रेजों की यह सेना बुरी तरह पराजित हुई और 1779 ई. में बम्बई-सरकार को पूना-दरबार से वादगाँव का समझौता (Convention of Wadgaon) करने के लिए बाध्य होना पड़ा। इस समझौते के द्वारा—

1. बम्बई-सरकार ने 1773 ई. के पश्चात् विजित सभी प्रदेश मराठों को लौटाना स्वीकार किया।

2. बंगाल से आने वाली सेना को रोक देने का वायदा किया।

3. अंग्रेजों ने सिन्धिया को भड़ौंच की आय में से भी कुछ भाग देने का वायदा किया।

हेस्टिंग्स ने वादगाँव के उक्त समझौते को मानने से इन्कार कर दिया। उसने गोडार्ड (Goddard) के नेतृत्व में एक शक्तिशाली सेना तुरन्त बंगाल से भेजी जिसने मध्य-भारत को पार करके फरवरी 1780 ई. में अहमदाबाद पर तथा दिसम्बर 1780 ई. में बेसीन पर अधिकार कर लिया। परन्तु जब गोडार्ड पूना की ओर बढ़ा तो अप्रैल 1781 ई. में एक युद्ध में उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। उस समय एक दूसरी अंग्रेजी सेना बंगाल से कैप्टेन पोफम (Captain Popham) के नेतृत्व में भेजी गयी। उस सेना ने 3 अगस्त, 1780 ई. को ग्वालियर के दृढ़ किले को जीत लिया। सीपरी नामक स्थान पर 16 फरवरी, 1781 ई. को सिन्धिया की भी पराजय हुई। इन विजयों ने अंग्रेजों के सम्मान की रक्षा ही नहीं की बल्कि उनसे सिन्धिया का रुख बदल गया।

सालबाई की सन्धि (Treaty of Salbai)

अक्टूबर 1781 ई. में सिन्धिया ने अंग्रेजों से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने वायदा किया कि वह अंग्रेजों तथा पूना-दरबार में समझौता कराने का प्रयत्न करेगा। सिन्धिया के मध्यस्थ बन जाने से पूना-दरबार और अंग्रेजों में 17 मई, 1782 ई. को **सालबाई की सन्धि** हुई। इस सन्धि के अनुसार—

1. सालसीट अंग्रेजों को प्राप्त हो गया।

2. अंग्रेजों ने रघुनाथराव का पक्ष त्याग दिया और पेशवा की ओर से उसकी पेंशन की व्यवस्था की गयी।

3. सिन्धिया को यमुना नदी के पश्चिम की अपनी समस्त भूमि पुनः प्राप्त हो गयी।

4. बम्बई तथा दक्षिण में एक-दूसरे के जीते हुए भू-क्षेत्र एक-दूसरे को वापस मिल गये।

इस युद्ध और सन्धि से अंग्रेजों को भूमि और साम्राज्य की दृष्टि से कुछ विशेष लाभ प्राप्त न हो सका क्योंकि उन्हें केवल सालसीट ही प्राप्त हुआ था जबकि इस युद्ध से उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गयी थीं। लेकिन तब भी, डॉडवेल के अनुसार, "सालबाई की सन्धि भारत में अंग्रेजी प्रभुसत्ता के इतिहास को एक नवीन मोड़ देने वाली थी।"[1] इससे मराठों और कम्पनी में अगले 20 वर्षों तक शान्ति रही और भारतीय राजनीति में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ा। परन्तु डॉडवेल के इस मत को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस सन्धि के कारण ही अंग्रेज भारत की सर्वोच्च सत्ता बन सके।

(द) द्वितीय मैसूर-युद्ध (1780-84 ई.)

हेस्टिंग्स के समय में द्वितीय मैसूर-युद्ध भी हुआ जिसमें अंग्रेजों को हैदरअली, निजाम और मराठों से युद्ध करना पड़ा। परन्तु इस युद्ध में भी अंग्रेजों को सफलता प्राप्त हुई और अन्त में मंगलौर की सन्धि से यह युद्ध समाप्त हुआ। (युद्ध के विस्तृत अध्ययन के लिए 'अंग्रेजों के मैसूर-राज्य के साथ सम्बन्ध' अध्याय देखिए।)

4. वारेन हेस्टिंग्स पर महाभियोग और उसके संदिग्ध कार्य

फरवरी 1785 ई. में हेस्टिंग्स भारत से वापस गया। फरवरी 1786 ई. में बर्क (Burke) ने उसके विरुद्ध महाभियोग आरम्भ किया। 1787 ई. में पार्लियामेण्ट ने हेस्टिंग्स पर

---

1 "The treaty of Salbai formed a turning point in the history of English supremacy in India." —*Dodwell.*

महाभियोग पर विचार करना स्वीकार किया। हेस्टिंग्स पर 22 आरोप लगाये गये, जैसे अवध के नवाब के साथ की गयी सन्धि को तोड़ना और अवध के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप, इलाहाबाद और कड़ा को बेचना, बनारस के राजा चेतसिंह और अवध की बेगमों पर अत्याचार करना आदि। यह महाभियोग फरवरी 1788 से 1794 ई. तक अर्थात् प्रायः सात वर्ष चला, परन्तु अन्त में हेस्टिंग्स को सभी आरोपों से मुक्त कर दिया गया।

यद्यपि हेस्टिंग्स पर महाभियोग सफल न हो सका और उसे सभी आरोपों से मुक्त कर दिया गया परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हेस्टिंग्स ने कई ऐसे कार्य किये थे जिनके कारण हेस्टिंग्स के चरित्र और नीति पर सन्देह किया जा सकता है। इन सभी कार्यों के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही तर्क दिये गये और उन सभी को देखकर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इनके सम्बन्ध में हेस्टिंग्स दोषी सिद्ध नहीं होता परन्तु तब भी उस पर सन्देह अवश्य किया जा सकता है और उनमें से कुछ कार्य, निस्सन्देह, चाहे कम्पनी के हित के लिए लाभदायक रहे हों परन्तु नैतिक आधार पर उनका समर्थन करना असम्भव है। हेस्टिंग्स के इन कार्यों में से निम्नलिखित मुख्य थे :

(अ) नन्दकुमार पर मुकदमा (1775 ई.)

मार्च 1775 ई. में नन्दकुमार ने हेस्टिंग्स पर आरोप लगाया कि उसने अन्य रिश्वतों के अतिरिक्त मीरजाफर की विधवा पत्नी मुन्नी बेगम से लगभग साढ़े तीन लाख रुपये प्राप्त किये थे और उसके बदले में मुन्नी बेगम को नवाब का संरक्षक नियुक्त किया था। हेस्टिंग्स की कौंसिल ने इस आरोप को स्वीकार करते हुए हेस्टिंग्स से स्पष्टीकरण माँगा। परन्तु हेस्टिंग्स ने इस बात को ही स्वीकार नहीं किया कि उसकी कौंसिल को उस पर आरोप लगाने का अधिकार है। उसने कौंसिल की बैठक में भाग लेने से इन्कार कर दिया। कौंसिल ने उसको दोषी मानकर उसे धन वापस लौटा देने के लिए कहा। कुछ दिनों के पश्चात् हेस्टिंग्स ने नन्दकुमार पर आरोप लगाया कि उसने और उसके कुछ साथियों ने कमालुद्दीन नामक एक व्यक्ति पर हेस्टिंग्स पर रिश्वत लेने का आरोप लगाने के लिए दबाव डाला है। नन्दकुमार पर यह आरोप सिद्ध न हो सका परन्तु उसी अवसर पर मोहनप्रसाद नामक एक व्यापारी ने नन्दकुमार पर जालसाजी का आरोप लगाया। उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) में नन्दकुमार पर मुकदमा चला और आठ दिन के मुकदमे के पश्चात् न्यायालय ने उसे मृत्युदण्ड दिया। 15 अगस्त, 1775 ई. को नन्दकुमार को फाँसी दे दी गयी।

हेस्टिंग्स को इस घटना के लिए दोषी ठहराया गया है और यह विचार व्यक्त किया गया है कि हेस्टिंग्स ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश सर एलिजा इम्पे से मिलकर नन्दकुमार को फाँसी दिलायी थी। मैडम बेवरिज ने लिखा है कि "नन्दकुमार को फाँसी न्याय द्वारा स्वीकृत हत्या थी।" इसमें सन्देह नहीं कि हेस्टिंग्स ने 1,50,000 रुपये मुन्नी बेगम से लिये थे। उसने स्वयं इसे स्वीकार किया था किन्तु उसका यह कहना अतर्कपूर्ण था कि उससे पहले भी अन्य व्यक्ति इस प्रकार धन लेते आये थे अथवा इस प्रकार धन न लेने का कानून बाद में बना था। हेस्टिंग्स के समर्थक सर जेम्स स्टीफेन्स ने भी स्वीकार किया था कि "यद्यपि यह पूर्णतः गैर-कानूनी न था परन्तु सन्देहास्पद अवश्य था।" इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि नन्दकुमार को फाँसी देना एक न्यायिक भूल थी। यह स्पष्ट नहीं था कि उच्चतम न्यायालय को भारतीयों के सम्बन्ध में न्याय करने का अधिकार था। न्यायाधीशों ने अंग्रेजी कानून के अनुसार मृत्युदण्ड दिया था जबकि भारत में जालसाजी के लिए मृत्युदण्ड की व्यवस्था कभी न थी। न्यायाधीशों ने नन्दकुमार के वकीलों को इतना तंग किया था कि उसने वकीलों को अपने पक्ष में तर्क देने से रोक दिया था। जिस शीघ्रता से मुकदमे का निर्णय किया गया उससे

भी सन्देह उत्पन्न होता है। बाद में कौंसिल यदि चाहती तो नन्दकुमार को क्षमा प्रदान कर सकती थी जैसा कि बाद में कुछ व्यक्तियों के साथ किया भी गया, परन्तु नन्दकुमार को यह सुविधा नहीं दी गयी।

हेस्टिंग्स के पक्ष में यह विचार प्रकट किये गये हैं कि यद्यपि नन्दकुमार ने क्लेवरिंग को यह पत्र लिखा था कि उसे एक षड्यन्त्र का शिकार बनाया जा रहा है परन्तु यह तथ्य सिद्ध नहीं होता। हेस्टिंग्स और सर एलिजा इम्पे सर्वदा एकमत नहीं रहे थे और ऐसा कोई कारण न था कि इम्पे हेस्टिंग्स की इच्छा के अनुसार कार्य करता। इसके अतिरिक्त इम्पे अकेला ही न्यायाधीश न था, उसके साथ अन्य न्यायाधीश और जूरी भी थे। नन्दकुमार के मुकदमे पर विस्तृत रूप से विचार किया गया था और सभी कानूनी कार्रवाइयाँ पूरी की गयी थीं। यही नहीं बल्कि इस मुकदमे से सम्बन्धित सभी कागजों को इंगलैण्ड भेजा गया था और वहाँ पर भी किसी ने हेस्टिंग्स को दोषी स्वीकार नहीं किया था। नन्दकुमार पर जालसाजी का आरोप एक पुराने झगड़े को लेकर था जिसमें हेस्टिंग्स का कोई हाथ नहीं हो सकता था।

पक्ष और विपक्ष के तर्कों को देखकर यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि नन्दकुमार को फाँसी दिलाने में हेस्टिंग्स का प्रत्यक्ष हाथ था परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि जिस प्रकार, जिन परिस्थितियों में और जो दण्ड नन्दकुमार को दिया गया वे सभी सन्देहास्पद हैं। मैडम बेवरिज ने लिखा है कि मई 1775 ई. तक नन्दकुमार पर मुकदमा चलाये जाने की कोई बात न थी और अल्फ्रेड लयाल ने लिखा है कि हेस्टिंग्स ने मोहनप्रसाद को बताया था कि नन्दकुमार पर मुकदमा चलाने का यही उचित अवसर था। इस कारण यह अवश्य है कि नन्दकुमार पर चलाये गये मुकदमे का हेस्टिंग्स ने स्वागत किया और जब नन्दकुमार को फाँसी का दण्ड दिया गया तब हेस्टिंग्स को उससे प्रसन्नता हुई। इस कारण नन्दकुमार का मुकदमा हेस्टिंग्स के प्रति सन्देह अवश्य उत्पन्न करता था।

(ब) रुहेला-युद्ध (1774 ई.)

अवध की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर रुहेलखण्ड का उपजाऊ प्रदेश था जिसका तत्कालीन शासक हाफिज रहमतखाँ था। रुहेलों को मराठा-आक्रमण का भय था। इस कारण 17 जून, 1772 ई. को रुहेलों ने अवध के नवाब से एक सन्धि की जिसके अनुसार अवध ने रुहेलों को मराठों के विरुद्ध सहायता देने और रुहेलों ने इस सहायता के बदले में अवध के नवाब को 40 लाख रुपया देने का वायदा किया। सन्धि के अवसर पर अंग्रेज सेनापति सर रॉबर्ट बार्कर भी उपस्थित था। जैसी कि आशा थी, 1773 ई. में मराठों ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण का प्रयत्न किया। परन्तु अवध और अंग्रेजी सेनाओं की उपस्थिति ने उन्हें रोक दिया। उसी समय पेशवा माधवराव की मृत्यु और पूना-दरबार में गड़बड़ी हो जाने के कारण मराठे वापस लौट गये। अवध के नवाब ने रुहेलों से की गयी सन्धि की शर्त के अनुसार 40 लाख रुपया माँगा। रुहेलों ने यह धन देने से यह कहकर इन्कार कर दिया कि कोई युद्ध हुआ ही नहीं था। नवाब ने इससे लाभ उठाने का निश्चय किया। रुहेलखण्ड एक उपजाऊ भूप्रदेश था और अवध की निगाहें उस पर पहले से ही लगी थीं। उसने बनारस की सन्धि के आधार पर अंग्रेजों से सहायता माँगी। अंग्रेजों ने यह सोचकर कि रुहेलखण्ड यदि अवध के अधिकार में आ गया, तो वह एक मित्र-राज्य के हाथ में आ जायेगा और मराठों के हाथ में जाने से बच जायेगा, नवाब को सहायता देना स्वीकार कर लिया। अवध और अंग्रेजों की संयुक्त सेना ने 17 अप्रैल, 1774 ई. को रुहेलखण्ड की सीमाओं में प्रवेश किया और छह दिनों बाद मीरनपुर कटरा का युद्ध हुआ। रुहेलों की पराजय हुई, हाफिज रहमतखाँ युद्ध में मारा गया, लगभग 20,000 रुहेलों को देशनिकाला दिया गया और रुहेलखण्ड को अवध-राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

रुहेला-युद्ध के विषय में हेस्टिंग्स की नीति की बर्क, मैकॉले, मिल आदि अनेक विद्वानों ने कटु आलोचना की। बर्क ने कहा था कि कम्पनी के सैनिकों को रुहेलों के विरुद्ध भेजना सर्वथा अनुचित था क्योंकि रुहेलों ने कम्पनी को कोई क्षति नहीं पहुँचाई थी। "हेस्टिंग्स ने एक स्वतन्त्र व्यक्ति-समूह के जीवन और स्वतन्त्रता को अवध के नवाब को बेच दिया।"[1] मैकॉले ने कहा था कि हेस्टिंग्स उनके गाँवों को जलाये जाने, उनके बच्चों को कत्ल किये जाने और उनकी स्त्रियों को अपमानित किये जाने के लिए उत्तरदायी था। इसी प्रकार के विचार कर्नल पीयर्स, कर्नल एलेक्जेण्डर आदि ने भी प्रकट किये थे। कुछ अन्य व्यक्तियों ने जैसे जॉन स्ट्रेची और स्वयं हेस्टिंग्स ने विभिन्न आधारों पर अपनी सुरक्षा में तर्क दिये थे परन्तु दोनों पक्षों के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट है कि हेस्टिंग्स के कार्यों का समर्थन नैतिक आधार पर नहीं किया जा सकता।

हेस्टिंग्स और उसके समर्थकों का कहना था कि नवाब और रुहेलों में जब सन्धि हुई थी उस अवसर पर अंग्रेज प्रतिनिधि वहाँ उपस्थित था। इस कारण उस सन्धि की शर्तों को पूरा कराना कम्पनी का कर्तव्य था। दूसरे, बनारस की सन्धि के अनुसार कम्पनी अवध के नवाब की सहायता के लिए बाध्य थी। तीसरे, रुहेलों ने केवल 25 वर्ष पहले ही रुहेलखण्ड पर अधिकार किया था और वे उस भूमि पर आक्रमणकारी के समान थे। परन्तु यह तीनों ही तर्क ऐसे हैं जिनका समर्थन करना असम्भव है। प्रथम, सन्धि के अवसर पर अंग्रेज कमाण्डर सर रॉबर्ट बार्कर की उपस्थिति मात्र से ही अंग्रेज उस सन्धि की शर्तों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए बाध्य नहीं हो सकते थे। यह स्पष्ट है कि नवाब और रुहेलों में जो सन्धि हुई थी उसमें अंग्रेजों का नाम तक न था। द्वितीय, बनारस की सन्धि के द्वारा अंग्रेजों ने अवध के नवाब को अवध पर आक्रमण होने की स्थिति में सहायता देने का वायदा किया था परन्तु उस सन्धि में ऐसी कोई शर्त न थी जिसके आधार पर अंग्रेज नवाब को आक्रमण करने अथवा अवध की सीमाओं का विस्तार करने के लिए सहायता देने को बाध्य होते। तृतीय, यह कहना कि रुहेलों ने उस भूमि पर कुछ समय पहले ही आक्रमण करके अधिकार किया था, इस कारण उस भूमि पर उनका नैतिक अधिकार न था, गलत है। इस प्रकार तो अवध के नवाब ने भी मुगल बादशाह की भूमि पर कुछ समय पहले ही अधिकार किया था और बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा पर अंग्रेजों का अधिकार भी थोड़े समय पहले ही हुआ था। यदि हेस्टिंग्स के इस तृतीय तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो उस आधार पर तो नवाब का अवध पर और अंग्रेजों का बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा पर कोई नैतिक अधिकार न था।

हेस्टिंग्स के लक्ष्य स्पष्ट थे। उसे धन की आवश्यकता थी और नवाब की सहायता करने से उसे धन प्राप्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त रुहेलखण्ड के अवध में सम्मिलित किये जाने से यह भय समाप्त हो गया कि वह मराठों के हाथ में चला जायेगा जिसकी पर्याप्त आशंका थी। इस प्रकार हेस्टिंग्स इस युद्ध में अपनी सीमाओं की सुरक्षा का उद्देश्य भी पूरा कर सका। अतएव स्पष्ट है कि हेस्टिंग्स की रुहेला नीति किसी नैतिक सिद्धान्त पर नहीं बल्कि आर्थिक व राजनीतिक लाभ और स्वार्थ मात्र पर आधारित थी।

(स) बनारस के राजा चेतसिंह की घटना

मराठा-युद्ध और फ्रान्सीसी खतरे के कारण कम्पनी को धन की बहुत आवश्यकता थी। हेस्टिंग्स ने बनारस के राजा चेतसिंह से धन प्राप्त करने का निर्णय किया। चेतसिंह पहले

1 "Hastings sold the lives and liberties of a free people to the Nawab of Oudh."
—*Burke.*

अवध के नवाब के अधीन था, परन्तु 1775 ई. में हुई सन्धि के अनुसार वह अंग्रेज कम्पनी के अधीन हो गया था और उसने कम्पनी को $22\frac{1}{2}$ लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया था।

1778 ई. में मराठों से युद्ध आरम्भ हो जाने पर, कौंसिल की सहमति से, हेस्टिंग्स ने वार्षिक धन के अतिरिक्त चेतसिंह से पाँच लाख रुपया और माँगा। राजा ने यह धन कम्पनी को दे दिया। 1779 ई. में हेस्टिंग्स ने राजा से पुनः पाँच लाख रुपये की माँग की। चेतसिंह ने कम्पनी से स्पष्ट आश्वासन चाहा कि इसके पश्चात् उससे फिर कभी अतिरिक्त धन नहीं माँगा जायेगा। हेस्टिंग्स ने प्रत्युत्तर में स्पष्टीकरण की बजाय राजा से यह धन किस्तों में न देकर एक साथ देने के लिए कहा। चेतसिंह ने जब इस धन को देने के लिए छह या सात माह का समय माँगा तब हेस्टिंग्स ने धमकी दी कि यदि उसने तुरन्त ही धन नहीं दिया तो यही समझा जायेगा कि वह धन देना नहीं चाहता। जब चेतसिंह ने हेस्टिंग्स को यह स्मरण कराया कि सन्धि के अनुसार कम्पनी को $22\frac{1}{2}$ लाख रुपया प्रति वर्ष के अतिरिक्त उससे कोई और धन नहीं माँगना चाहिए तब हेस्टिंग्स ने चेतसिंह के विरुद्ध सेना भेज दी और केवल पाँच लाख रुपये ही नहीं बल्कि इस सेना के व्यय के रूप में 2,000 पौण्ड भी उससे वसूल किये।

1780 ई. में चेतसिंह से पुनः पाँच लाख रुपया माँगा गया। चेतसिंह ने जैसे ही कम्पनी को यह धन दिया, वैसे ही उससे माँग की गयी कि वह कम्पनी को 2,000 घुड़सवार सैनिक दे। 1775 ई. में हुई सन्धि के अवसर पर चेतसिंह को 2,000 घुड़सवार रखने की सलाह दी गयी थी परन्तु इतने घुड़सवार रखना उसकेलिए आवश्यक नहीं बताया गया था। इस प्रकार, चेतसिंह केपास इतने घुड़सवार न थे। जब उसने हेस्टिंग्स से इस माँग में कमी करने की प्रार्थना की तो घुड़सवारों की संख्या घटाकर 1,000 कर दी गयी। चेतसिंह ने 500 घुड़सवार और 500 पैदल सैनिक एकत्रित किये और हेस्टिंग्स को सूचना दी कि यह सेना कम्पनी की सेवा के लिए तैयार है। हेस्टिंग्स ने चेतसिंह के इस व्यवहार को अपना अपमान समझा कि स्पष्ट आदेश के बाद भी राजा ने 1,000 घुड़सवारों का प्रबन्ध नहीं किया था। इस कारण हेस्टिंग्स ने राजा को कोई उत्तर नहीं दिया और राजा पर 50 लाख रुपया जुर्माना कर दिया। स्वयं हेस्टिंग्स ने कहा था : "मैंने उसके अपराध से कम्पनी की कठिनाइयों को दूर करने का निश्चय कर लिया है।"[1] इस जुर्माने को वसूल करने के लिए हेस्टिंग्स स्वयं बनारस की ओर चल दिया। चेतसिंह बक्सर में उससे मिला और उससे माफी माँगी परन्तु हेस्टिंग्स ने बनारस पहुँचने तक चेतसिंह को कोई भी उत्तर देने से इन्कार कर दिया। बनारस पहुँचकर हेस्टिंग्स ने चेतसिंह से व्यक्तिगत रूप से मिलने से इन्कार कर दिया और अपनी माँगों को लिख कर राजा को भेज दिया। चेतसिंह ने उसका जो उत्तर दिया वह अत्यन्त उचित और विनम्र भाषा में लिखा गया था, परन्तु हेस्टिंग्स ने उसे अनुपयुक्त माना और चेतसिंह को कैद करने के आदेश दिये। चेतसिंह ने इसका कोई विरोध नहीं किया परन्तु उसकी सेना ने अपनी ही राजधानी में अपने राजा के अपमान को सहन नहीं किया और विद्रोह कर दिया। हेस्टिंग्स को भागकर चुनार में शरण लेनी पड़ी; यद्यपि बाद में सेना को एकत्रित करके उसने इस विद्रोह को दबा दिया। चेतसिंह ग्वालियर भाग गया और बनारस की गद्दी उसके भतीजे को दें दी गयी जिसने $22\frac{1}{2}$ लाख रुपये के स्थान पर 40 लाख रुपया प्रति वर्ष कम्पनी को देना स्वीकार किया।

---

1 "I have resolved to draw from his guilt the means of relief of the company's distress."
—*Hastings.*

हेस्टिंग्स ने जो व्यवहार चेतसिंह से किया वह सर्वथा अनुचित था। कुछ इतिहासकारों जैसे स्मिथ और फौरेस्ट ने हेस्टिंग्स के व्यवहार का समर्थन इस आधार पर करने का प्रयत्न किया है कि हेस्टिंग्स को "परिस्थितियों की गम्भीरता" के कारण यह कदम उठाना पड़ा था। परन्तु यह विचार गलत है। हेस्टिंग्स को यदि धन की आवश्यकता थी भी तो उसे वसूल करने का यह कोई तरीका न था और न ही उस समय इस तरीके से उसे धन प्राप्त हुआ। चेतसिंह अपने अधिकांश धन को लेकर भागने में सफल हो गया और उस समय कम्पनी को जो कुछ भी प्राप्त हुआ उससे कठिनाई से ही इस घटना के सन्दर्भ में हुए व्यय की पूर्ति हो सकी थी।

इसके अतिरिक्त भी हेस्टिंग्स का यह कार्य किसी भी आधार पर उचित नहीं माना जा सकता। राजा से जो सन्धि की गयी थी उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि राजा से $22\frac{1}{2}$ लाख रुपये प्रति वर्ष के अतिरिक्त और धन की माँग नहीं की जायेगी। इसी प्रकार, राजा से 2,000 घुड़सवारों के रखने की आशा नहीं की जाती थी। इस कारण हेस्टिंग्स का राजा चेतसिंह से निरन्तर अतिरिक्त धन की माँग करना और उससे 2,000 अथवा 1,000 घुड़सवार माँगना सन्धि की शर्तों के विरुद्ध था। परन्तु हेस्टिंग्स ने यही नहीं किया बल्कि राजा की प्रार्थनाओं पर गौर न करते हुए उस पर जुर्माने किये और उसका अपमान करने के लिए उसी की राजधानी में न केवल उससे मिलने से इन्कार किया वरन् उसे कैद करने का भी प्रयत्न किया। यह भी स्पष्ट है कि चेतसिंह का अपने सैनिकों के विद्रोह में कोई हाथ न था बल्कि सैनिकों ने स्वयं अपने राजा के अपमान के कारण विद्रोह किया था। इस प्रकार हेस्टिंग्स का व्यवहार चेतसिंह के प्रति प्रारम्भ से अन्त तक अनैतिक, दोषपूर्ण और अत्याचारपूर्ण था।

सर अल्फ्रेड लयाल ने लिखा है : "बनारस के विद्रोह का दोष हेस्टिंग्स पर ही था··· कम से कम उसका व्यवहार अव्यावहारिक और राजनीतिक दूरदर्शिता से विहीन था।"[1]

(द) अवध की बेगमों की घटना

मराठा और मैसूर के युद्धों के कारण हेस्टिंग्स को धन की आवश्यकता थी। बनारस से उसे विशेष धन प्राप्त न हो सका था। इस कारण उसका ध्यान अवध की ओर गया। अवध के नवाब आसफउद्दौला को कम्पनी की उस सेना के व्यय के लिए जो मराठों से उसकी सुरक्षा के लिए रखी गयी थी, पर्याप्त धन कम्पनी को देना था। परन्तु वह तो क्या उसने अभी तक वह धन भी कम्पनी को नहीं दिया था जिसे देने का वायदा उसने कम्पनी को रुहेलखण्ड की विजय के समय किया था। इस प्रकार नवाब कम्पनी का कर्जदार था। परन्तु नवाब कम्पनी को यह कर्ज वापस करने की स्थिति में न था। उसकी माँ और दादी के पास बहुत जागीर और धन था जो उन्हें पिछले नवाब शुजाउद्दौला से प्राप्त हुआ था। आसफउद्दौला बेगमों के इस धन पर अपना अधिकार समझता था। बेगमों ने नवाब को पहली बार 2,60,000 पौण्ड और 1775 ई. में अंग्रेज रेजीडेण्ट के कहने पर 3,00,000 पौण्ड दुबारा दिये थे। कौंसिल ने अब यह स्पष्ट कर दिया था कि बेगमों से और अधिक धन नहीं माँगा जायेगा। परन्तु 1781 ई. में अवध के अंग्रेज रेजीडेण्ट ने प्रस्ताव रखा कि कम्पनी के कर्जे को चुकाने के लिए बेगमों के खजाने और जागीर पर अधिकार कर लिया जाय। हेस्टिंग्स को धन की बहुत आवश्यकता थी। अतएव कौंसिल की परवाह न करते हुए उसने रेजीडेण्ट के इस प्रस्ताव का समर्थन किया। यही नहीं बल्कि

---

1 "Hastings must bear the blame of having provoked the insurrection of Benaras. His conduct was atleast impolitic and imprudent." —*Sir Alfred Lyall.*

उसने नवाब को भी इस बात के लिए उकसाया। अंग्रेजी सेना की सहायता से नवाब फैजाबाद गया और बेगमों के हिजड़े-रक्षकों को हटाकर उसने बेगमों को अपना खजाना उसे देने के लिए बाध्य किया।

अवध की बेगमों के साथ हेस्टिंग्स का व्यवहार पूर्णतया अनैतिक और अत्याचारपूर्ण था। फौरेस्ट (Forrest) का यह कहना कि "हेस्टिंग्स कलकत्ता में रहते हुए उन घटनाओं के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता था जो अवध में हो रही थीं" सर्वथा गलत है। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि हेस्टिंग्स शुरू से अन्त तक इस घटना से केवल सम्बन्धित ही न था बल्कि उसी ने नवाब को निरन्तर इस कार्य के लिए उकसाया था। हेस्टिंग्स का अपने पक्ष में कहना था कि बेगमें बनारस के राजा चेतसिंह के साथ अंग्रेजों के विरुद्ध मिली हुई थीं। परन्तु यह विचार हेस्टिंग्स ने अपने बचाव के लिए बाद में बनाया था। सरकार और दत्त ने लिखा है : "विद्रोह का आरोप बाद में उस समय तैयार किया गया था, जबकि इस सम्पूर्ण घटना के समर्थन हेतु तर्क तलाश करने की आवश्यकता हुई।"[1] बेगमों के विरुद्ध षड्यन्त्र के आरोप के लिए कहीं भी प्रमाण प्राप्त नहीं होते और यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि बेगमें षड्यन्त्र में सम्मिलित थीं तो हेस्टिंग्स को पहले उन पर आरोप लगाकर उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हेस्टिंग्स का मुख्य लक्ष्य धन प्राप्त करना था और इसके लिए उसने साधन के औचित्य की कोई परवाह नहीं की। निष्पक्ष इतिहास यह निर्णय करता है कि "यह सम्पूर्ण घटना निश्चय ही दुःखद, भ्रष्ट, अपमानजनक और हेस्टिंग्स के चरित्र पर आक्षेप थी।"[2] सर अल्फ्रेड लयाल ने लिखा है : "अंग्रेज अफसरों की देखभाल में स्त्रियों और हिजड़ों से धन वसूल करने के लिए उन्हें व्यक्तिगत पीड़ा देना शर्मनाक कार्य था।"[3]

अवध की बेगमों और राजा चेतसिंह की घटनाओं के सन्दर्भ में एक बात और ध्यान में रखने की है कि हेस्टिंग्स ने इन दोनों अवसरों पर रिश्वत ली थी। 1780 ई. में उसने 20,000 पौण्ड बनारस के राजा चेतसिंह से लिये थे और 1781 ई. में उसने अवध के नवाब से 1,00,000 पौण्ड वसूल किये थे। इसमें सन्देह नहीं कि हेस्टिंग्स ने इस धन का प्रयोग कम्पनी के कार्यों के लिए किया था परन्तु इसकी सूचना उसने डायरेक्टरों को बहुत बाद में दी थी और उस धन का हिसाब भी ठीक प्रकार से नहीं रखा था। इस बात से हेस्टिंग्स के दोषों में वृद्धि ही होती है कि रिश्वत लेने के बावजूद उसका व्यवहार चेतसिंह और अवध की बेगमों के प्रति अत्याचारपूर्ण रहा।

(य) रामपुर का नवाब फाजुल्लाखाँ

रामपुर के नवाब फाजुल्लाखाँ के प्रति भी हेस्टिंग्स का व्यवहार इसी प्रकार का रहा। फाजुल्लाखाँ एक योग्य शासक था। हेस्टिंग्स ने भी इसे स्वीकार किया था। परन्तु हेस्टिंग्स के कारण वह प्रायः नष्ट होने की स्थिति में पहुँच गया। रामपुर के नवाब की अवध के नवाब से एक सन्धि हुई थी जिस पर कम्पनी की भी स्वीकृति ली गयी थी। इस सन्धि के अनुसार

---

1 "The charge of rebellion was ex-post-facto made when it was found necessary to present a justification for the whole business." —*Sarkar and Dutta.*

2 "The whole business was undoubtedly sorry, sordid, shabby and a slur on the character of Hastings." —*Sarkar and Dutta.*

3 "The employment of personal severities under the superintendence of British officers, in order to extract money from women and eunuchs is an ignoble kind of undertaking." —*Sir Alfred Lyall.*

रामपुर के नवाब ने आवश्यकता पड़ने पर अवध को 500 घुड़सवार-सैनिकों की सहायता देना स्वीकार किया था।

1779 ई. में अंग्रेज रेजीडेण्ट के इशारे पर नवाब ने कम्पनी को 2,000 घुड़सवारों की सहायता दी जिसके लिए कम्पनी ने उसे धन्यवाद दिया। 1780 ई. में हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब को फाजुल्लाखाँ से 5,000 घुड़सवार-सैनिक माँगने के लिए कहा। यदि फाजुल्लाखाँ इस माँग की पूर्ति कर देता तो उस पर सन्धि को तोड़ने का दोष लगाया जाता क्योंकि उसे 5,000 से अधिक घुड़सवार रखने की आज्ञा न थी जिसमें से 2,000 घड़सवार वह पिछले वर्ष दे चुका था। इस कारण उसने कहा कि सन्धि के अनुसार वह अधिक से अधिक 3,000 सैनिकों की सहायता और दे सकता है तथा इसमें से वह 2,000 घुड़सवार और 1,000 पैदल-सैनिक देने को तैयार है। हेस्टिंग्स ने इसे सन्धि की शर्तों के विरुद्ध बताया परन्तु 1781 ई. में उसने अपनी माँग को केवल 3,000 घुड़सवार कर दिया। फाजुल्लाखाँ ने सम्मानपूर्वक परन्तु दृढ़ता से इस माँग को ठुकरा दिया। इस बात पर हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब को फाजुल्लाखाँ के राज्य पर अधिकार करने की स्वीकृति दे दी। परन्तु उसी अवसर पर डायरेक्टरों के आदेश प्राप्त हुए कि ऐसा कोई कदम नहीं उठाया जाना चाहिए। इस प्रकार फाजुल्लखाँ हेस्टिंग्स के क्रोध से बच गया अन्यथा हेस्टिंग्स उसे भी समाप्त कर देता।

इस प्रकार हेस्टिंग्स ने कई ऐसे अनुचित कार्य किये जिनका आरोप उस पर लगाया गया। यह स्वीकार करते हुए भी कि उसने यह कार्य कम्पनी के हितों की सुरक्षा के लिए किये थे, उसे इन दोषों से सर्वथा मुक्त करना असम्भव है। कानूनी दृष्टि से अपराधी सिद्ध न होते हुए भी नैतिक दृष्टि से हेस्टिंग्स के ये कार्य उचित नहीं ठहराये जा सकते।

5. वारेन हेस्टिंग्स का मूल्यांकन

मैकॉले और बर्क ने नैतिक आधार पर हेस्टिंग्स के कार्यों की तीव्र आलोचना की थी। मैकॉले ने लिखा है : "राज्य के तत्कालीन हितों के विरुद्ध उसे न्यायिक नियमों, मानवता की भावनाओं और विश्वासपूर्ण सन्धियों की तनिक भी परवाह न थी। उसका एकमात्र सिद्धान्त 'शक्ति ही अधिकार है' था। वह अपने पीछे बंगाल, बनारस और अवध में दुर्दशा, विनाश और अकाल की स्थिति छोड़ गया।"[1] निस्सन्देह, हेस्टिंग्स धन और स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी नैतिक सिद्धान्त का पालन नहीं करता था।

परन्तु हेस्टिंग्स ने कम्पनी के हितों की पूर्ति के लिए अनेक कार्य किये थे। उसने मराठों और मैसूर के विरुद्ध युद्ध करके कम्पनी को भारत की एक दृढ़ शक्ति बना दिया। उसने आन्तरिक शासन को भी व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया और कुछ मात्रा में वह सफल भी हुआ। उसने भारतीय साहित्य की प्रगति में सहायता दी। वह स्वयं फारसी और अरबी जानता था तथा बंगाली बोल सकता था। उसके प्रोत्साहन से चार्ल्स विल्किन्स और सर विलियम जोन्स जैसे व्यक्तियों ने भारत के प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया। 1783 ई. में 'बंगाल के एशिया-समाज' (The Asiatic Society of Bengal) की स्थापना उसी के समय में हुई। इसी कारण डॉडवेल ने हेस्टिंग्स के बारे में लिखा है : "एक महान् व्यक्ति जिसे

1 "The rules of justice, the sentiments of humanity, the plighten faith of treaties were, in his view, as nothing when opposed to the immediate interests of the state. His only steadfast principle was that Might is Right. He left behind a dark trail of misery, desolation and famines in Bengal, Benaras and Oudh."

—*Macaulay*

इंगलैण्ड ने भारत का शासन करने के लिए भेजा। बर्क को यदि किसी पर महाभियोग लगाना ही था तो उसके लिए उपयुक्त पात्र उसका पुराना शत्रु लॉर्ड नॉर्थ था जिसने रेगूलेटिंग एक्ट बनाया था, न कि वारेन हेस्टिंग्स जो उस एक्ट का एक निर्मम शिकार था।"[1] निस्सन्देह, हेस्टिंग्स का मूल्यांकन करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि एक साम्राज्य का निर्माण कभी भी केवल नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर सम्भव नहीं है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. "वारेन हेस्टिंग्स ने भारत में एक न्यायपूर्ण शासन की नींव डाली।" आप इस विचार से कहाँ तक सहमत हैं ?
2. "कम्पनी के अधिकृत क्षेत्र में शासन को व्यवस्थित करना एक आवश्यकता थी।" वारेन हेस्टिंग्स ने किस प्रकार इस आवश्यकता की पूर्ति की ?
3. "सालबाई की सन्धि भारत में अंग्रेजी प्रभुसत्ता के इतिहास को एक मोड़ देने वाली थी।" इस कथन का ध्यान रखते हुए प्रथम मराठा-युद्ध के कारण और परिणामों पर विचार कीजिए।
4. वारेन हेस्टिंग्स के कुछ कार्यों को संदिग्ध मानकर उस पर ब्रिटेन में महाभियोग लगाया गया। उनमें से कुछ संदिग्ध कार्यों और उनके औचित्य पर विचार कीजिए।

---

1 "The one supremely great man whom England sent to rule India. If Burke had wished to impeach any one, he would have done well to choose his old enemy Lord North, the author of Regulating Act, rather than Warren Hastings, its unhappy victim." —*Dodwell.*

9

लॉर्ड कार्नवालिस (1786-1793 ई.)

1786 ई. में डायरेक्टरों ने पिट्स इण्डिया एक्ट के पारित होते समय घोषित शान्ति की नीति को कार्य-रूप में परिणत करने तथा शासन का पुनर्गठन करने हेतु लॉर्ड कार्नवालिस को गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा। कार्नवालिस को मुख्यतः भारत की लगान एवं न्याय-व्यवस्था'तथा कम्पनी के व्यापार-विभाग को व्यवस्थित करने के लिए भेजा गया था।

सितम्बर 1786 ई. में जब कार्नवालिस भारत आया तब तक शासन और व्यापार की व्यवस्था में कई नवीन अन्वेषण किये जा चुके थे, मुख्यतः वारेन हेस्टिंग्स ने इनमें पर्याप्त परिवर्तन किये थे। कार्नवालिस को उससे पर्याप्त लाभ हुआ। परन्तु सुधार की आवश्यकता उस समय भी समाप्त नहीं हुई थी। उस समय तक कम्पनी के व्यापार की देखभाल के लिए एक व्यापार-बोर्ड (Board of Trade) था जो रेजीडेण्टों की सहायता से भारतीयों से सामान खरीदने अथवा उसे बेचने की व्यवस्था करता था, लगान की देखभाल के लिए एक लगान-बोर्ड (Board of Revenue) था और न्याय-व्यवस्था के लिए हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित विभिन्न न्यायालय व सदर दीवानी एवं सदर निजामत अदालतें थीं। उच्चतम न्यायालय भी उस समय कार्य कर रहा था। इस प्रकार शासन की रूपरेखा प्रायः निश्चित हो चुकी थी। परन्तु इन सभी में सुधार की आवश्यकता थी क्योंकि कम्पनी का व्यापार सुचारु रूप से नहीं चल रहा था और लगान-व्यवस्था की कोई स्थायी व्यवस्था सम्भव नहीं हुई थी।

कार्नवालिस ने विभिन्न क्षेत्रों में सुधार किये। उसने हेस्टिंग्स के सुधारों से बहुत कुछ लाभ उठाया और अधिकांशतः डायरेक्टरों के आदेशों का पालन किया। इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उसने स्वयं कोई मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया हो। परन्तु तब भी उसमें कुछ योग्यता अवश्य ऐसी थी जिसके कारण उसने इन सुधारों को अपने व्यक्तित्व से प्रभावित किया। वह ईमानदार था और उसे व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति की न तो लालसा थी और न ही आवश्यकता। वह स्वयं धनवान था और भारत आने से पूर्व कई महत्वपूर्ण पदों पर कार्य कर चुका था। इस कारण वह निष्पक्षता और दृढ़ता से कार्य कर सका। वह न्याय, निष्पक्षता एवं नैतिकता में विश्वास करता था और इसी भावना को वह शासन में उत्पन्न करना चाहता था। इस कारण उसने अंग्रेज कम्पनी के शासन में एक नवीन मापदण्ड को निश्चित किया और अपने चरित्र की दृढ़ता के कारण उसने शासन को कुछ मात्रा में निष्पक्ष और न्यायपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया यद्यपि, निस्सन्देह, यह सभी कुछ भारत में कम्पनी के आधिपत्य को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से था।

कार्नवालिस के विषय में यह कहा जा सकता है कि उसने हेस्टिंग्स के सुधारों के आधार पर कार्य किया। हेस्टिंग्स ने कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की थी, उन्हें व्यक्तिगत व्यापार करने से रोका था और उनसे ईमानदारी की शपथ ली थी। उसका आशय अंग्रेज कर्मचारियों में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करना था। कार्नवालिस ने इस कार्य को आगे

बढ़ाया—कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की, उनके भत्ते बढ़ाये और वे बेईमानी से धन एकत्रित न कर सकें इसके लिए यह नियम बनाया कि भारत छोड़ने से पहले प्रत्येक कर्मचारी अपनी सम्पत्ति का खुला विवरण प्रस्तुत करे। कार्नवालिस ने हेस्टिंग्स के लगान-सुधारों का लाभ उठाया और हेस्टिंग्स की न्याय-व्यवस्था को और आगे बढ़ाया। इसी उद्देश्य से उसने अन्य अदालतें स्थापित कीं, कानूनों का संग्रह कराया और शासन के प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व को अनुभव करके पुलिस की व्यवस्था की। इस प्रकार देखा जाय तो कार्नवालिस ने प्रायः सभी कुछ हेस्टिंग्स के सुधारों के आधार पर किया और यह कहा जा सकता है कि सिद्धान्त के आधार पर उसने किसी नवीनता को स्थापित नहीं किया। हेस्टिंग्स और कार्नवालिस के सुधारों में सिद्धान्त का नहीं बल्कि केवल व्यावहारिक प्रयोग का अन्तर था। कार्नवालिस ने हेस्टिंग्स के सिद्धान्तों को ही अधिक दृढ़ता और विस्तार से लागू किया और अपने व्यक्तिगत चरित्र तथा गृह-सरकार से जो समर्थन उसे प्राप्त था, उसके कारण वह इस कार्य को करने में पर्याप्त सफल हुआ।

अपने विभिन्न सुधारों में कार्नवालिस को अपने समय के कुछ योग्य व्यक्तियों की सहायता प्राप्त हुई। उसे स्वयं भारत की परिस्थितियों का न तो ज्ञान था और न ही अनुभव। इस कारण उसने उन व्यक्तियों की सहायता ली जो भारत में पहले से कार्य कर रहे थे और उन परिस्थितियों से भली-भाँति परिचित थे। जॉन शोर और चार्ल्स ग्राण्ट से उसने लगान-व्यवस्था में सहायता प्राप्त की और अपने न्याय-प्रबन्ध में उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश सर विलियम जोन्स से सहायता प्राप्त हुई। जेम्स ग्राण्ट तथा डण्डास भी उसके ऐसे सलाहकार थे जो पर्याप्त अनुभवी थे और जिनसे वह निरन्तर सलाह और सहायता प्राप्त करता रहता था। यह भी कार्नवालिस के चरित्र की एक विशेषता थी कि उसने निस्संकोच भाव से अपने अधीन उन व्यक्तियों से सलाह ली जो भारत के सम्बन्ध में उससे अधिक जानते थे।

1. बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त (प्रबन्ध)

पृष्ठभूमि

बंगाल की लगान-व्यवस्था 1765 ई. से ही अंग्रेज शासकों के लिए एक समस्या बनी हुई थी और जिस समय कार्नवालिस भारत आया उस समय भी उस पर पर्याप्त वाद-विवाद चल रहा था। लगान-व्यवस्था को समझना अंग्रेजों के लिए पर्याप्त कठिन हो रहा था और लगान की पुरानी समिति और नवीन लगान-बोर्ड ने इस विषय में अपना मतभेद प्रकट किया था। परन्तु डायरेक्टरों के आदेशों ने कार्नवालिस के मार्ग को कुछ मात्रा में निश्चित कर दिया था। इन आदेशों के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया गया था कि पिछले वर्षों के लगान को आधार मानकर जमींदारों से कुछ वर्षों के लिए एक समझौता कर लिया जाय और यह समझौता इस दृष्टिकोण से किया जाय कि वह स्थायी भी हो सके। **डायरेक्टरों का यह आदेश अन्त में बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त का मुख्य कारण बना।** लगान के विषय में जो विवाद चल रहा था, उसके कारण कार्नवालिस ने तुरन्त ही इन आदेशों का पालन नहीं किया और 1787 ई., 1788 ई. तथा 1789 ई. में हेस्टिंग्स के समय में आरम्भ की गयी जमींदारों के साथ वार्षिक समझौते की व्यवस्था चलती रही परन्तु अन्त में जो निर्णय स्थायी बन्दोबस्त के बारे में लिया गया वह मुख्यतः डायरेक्टरों के इस आदेश के कारण ही था। सरकार और दत्त ने लिखा है : "स्थायी बन्दोबस्त इंगलैण्ड की जमींदारी व्यवस्था के प्रति लॉर्ड कार्नवालिस के पूर्वाग्रह के कारण न था।"[1]

---

1 "The permanent settlement was no product of any preconception of Lord Cornwallis in favour of the landlord system in England." —*Sarkar and Dutta.*

लगान-व्यवस्था से सम्बन्धित मुख्य समस्याएँ निम्नवत थीं :

1. समझौता किससे किया जाय—जमींदार से या किसान से;
2. राज्य को पैदावार का कितना भाग लगान के रूप में प्राप्त हो; और
3. समझौता स्थायी रूप से किया जाय अथवा कुछ वर्षों के लिए ?

इन समस्याओं के विषय में चार्ल्स ग्राण्ट, जॉन शोर और स्वयं कार्नवालिस में मतभेद था। अतएव इन समस्याओं पर पर्याप्त एवं पूर्ण विचार किया गया।

चार्ल्स ग्राण्ट का कहना था कि भूमि पर राज्य का अधिकार होता है। इस कारण सरकार जमींदार अथवा किसान किसी से भी समझौता कर सकती है। ऐसी स्थिति में जमींदार भूमि का मालिक नहीं है बल्कि लगान वसूल करने के लिए सरकार का प्रतिनिधि मात्र है। इसके विरोध में जॉन शोर का कहना था कि भूमि के मालिक जमींदार हैं और राज्य केवल उनसे लगान का कुछ भाग मात्र प्राप्त कर सकता है। इस विचार से समझौता केवल जमींदारों से ही हो सकता था। परन्तु इस विवाद के बारे में डायरेक्टरों की नीति और आदेश के कारण निर्णय जमींदारों के पक्ष में 1784 ई. में ही हो चुका था। स्वयं चार्ल्स ग्राण्ट ने सारिस्तादार के पद को ग्रहण करके जमींदारों के पक्ष में दिये गये निर्णय को स्वीकार कर लिया था क्योंकि सारिस्तादार का पद जमींदारी-व्यवस्था में ही अर्थपूर्ण था।

लगान को निश्चित करने का क्या आधार हो, इस विषय में भी चार्ल्स ग्राण्ट और जॉन शोर में मतभेद था। चार्ल्स ग्राण्ट का कहना था कि लगान को निश्चित करने का आधार भूमि की पैदावार ही हो सकता है और क्योंकि 1765 ई. के बाद से कम्पनी ने पैदावार के आधार पर लगान प्राप्त नहीं किया है, इस कारण लगान निश्चित करने का आधार 1765 ई. में हुई पैदावार और वसूल किया हुआ लगान होना चाहिए। परन्तु उसका यह भी कहना था कि इस सब के बावजूद कोई भी समझौता करने से पूर्व तत्कालीन स्थायी परिस्थितियों के बारे में समुचित ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। इसके विपक्ष में जॉन शोर का कहना था कि लगान को निश्चित करने का एकमात्र आधार तत्कालीन वर्षों में संग्रहित लगान ही हो सकता था। अन्त में, इस विषय में भी लॉर्ड कार्नवालिस ने जॉन शोर के पक्ष का ही समर्थन किया और स्थायी बन्दोबस्त 1790-91 ई. में वसूल किये गये लगान के आधार पर किया गया।

जहाँ तक यह प्रश्न था कि बन्दोबस्त कुछ वर्षों के लिए होना चाहिए या स्थायी, इस विषय में चार्ल्स ग्राण्ट और जॉन शोर दोनों ही एकमत थे कि बन्दोबस्त कुछ वर्षों के लिए ही होना चाहिए। परन्तु इस विषय में कार्नवालिस इसके विरुद्ध था। वह स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में था। जब यह प्रश्न डायरेक्टरों के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्होंने भी स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष में ही निर्णय किया। स्वयं प्रधानमन्त्री पिट और बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल (Board of Control) के सभापति डण्डास भी इसी पक्ष में थे। इस कारण 1790 ई. में जमींदारों के साथ दस वर्ष के लिए एक समझौता किया गया और डायरेक्टरों की स्वीकृति के पश्चात् 1793 ई. में इसी व्यवस्था को स्थायी कर दिया गया।

स्थायी बन्दोबस्त द्वारा स्थापित व्यवस्था

इस बन्दोबस्त के द्वारा—

1. जमींदारों को भूमि का स्वामी बना दिया गया। भूमि पर उनका पैतृक अधिकार हो गया और उस समय तक उन्हें उनकी भूमि से पृथक नहीं किया जा सकता था जब तक कि वे अपना निश्चित लगान सरकार को देते रहें।

2. जमींदार भूमि के मालिक होने के कारण भूमि को बेच या खरीद सकते थे।

3. सरकार का किसानों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था।

4. जमींदारों से लगान सर्वदा के लिए निश्चित कर दिया गया।

स्थायी बन्दोबस्त के लाभ और हानि

स्थायी बन्दोबस्त के विषय में इतिहासकारों ने अत्यन्त विरोधी मत प्रकट किये हैं। मार्शमैन के अनुसार, "यह साहस, बहादुरी और बुद्धिमानी का कार्य था। इस प्रादेशिक अधिकार-पत्र के प्रभाव के कारण जिसने प्रथम बार भूमि के स्थायी लगान और अधिकारों को स्थापित किया, जनसंख्या में वृद्धि हुई है, कृषि में उन्नति हुई है और व्यक्तियों के स्वभाव एवं सुविधाओं में धीरे-धीरे स्पष्ट रूप से सुधार दिखायी दिया है।"[1] पाँचवीं रिपोर्ट में इसके कुछ दोषों को बताने के पश्चात् लिखा गया था : "यह कार्य सफल था और सरकार ने इसके ऐसे साधारण दोषों को दूर करने के लिए प्रत्येक सम्भव कदम उठाया था जो ऐसी क्रान्तिकारी प्रकृति के महत्वपूर्ण कानूनों में साधारणतया सम्मिलित हो ही जाते हैं।"[2] परन्तु दूसरी ओर इसके विरोध में भी उतने ही तीव्र मत प्रकट किये गये हैं। होम्स ने लिखा : "स्थायी बन्दोबस्त एक दुःखद भूल थी। साधारण किसानों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ। जमींदार निरन्तर लगान देने में असमर्थ रहे और उनकी जमीनें सरकार के लाभार्थ बेच दी गयीं।"[3] मिल (Mill) ने भी इस बन्दोबस्त की आलोचना की थी। थॉर्नटन ने लिखा है : "कार्नवालिस का स्थायी बन्दोबस्त अज्ञानता के गम्भीर प्रभाव के कारण किया गया था।" इससे स्पष्ट है कि स्थायी बन्दोबस्त के हानि और लाभ दोनों ही थे।

लाभ—इस बन्दोबस्त से अंग्रेजों ने जमींदारों को भूमि का स्वामी बना दिया। इस बन्दोबस्त से पहले जमींदार की स्थिति सरकार के एक ऐसे कर्मचारी अथवा प्रतिनिधि के समान थी जो किसानों से लगान वसूल करने में सरकार की सहायता करता था और उसके बदले में सरकार से लगान का कुछ हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार रखता था। परन्तु अब इसके पश्चात् भूमि की मालिक सरकार नहीं बल्कि जमींदार हो गये जो सरकार को निश्चित वार्षिक लगान देते थे। इससे दो लाभ हुए : प्रथम, राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों को भारत में एक ऐसा वर्ग प्राप्त हो गया जो प्रत्येक स्थिति में अंग्रेजों का साथ देने को तैयार था। इस प्रकार इस व्यवस्था ने अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ों को सुदृढ़ करने में सहायता दी। द्वितीय, इससे आर्थिक दृष्टि से लाभ हुआ। जमींदारों ने कृषि में स्थायी रुचि लेना आरम्भ किया क्योंकि कृषि के उत्पादन में वृद्धि होने से अधिकांश लाभ उन्हीं का था। सरकार को उन्हें निश्चित लगान देना था जबकि उत्पादन में वृद्धि होने से वे स्वयं किसानों से अधिक लगान ले सकते

1 "It was a bold, brave and wise measure. Under the influence of this territorial charter which for the first time created indefeasible rights and interests in the soil, population has increased, cultivation has extended and a gradual improvement has become visible in the habits and comforts of the people." —*Marshman.*

2 "The measure was a success and that the government had taken every step in its power to remove the minor defects, which are not infrequent in all important legislations of a revolutionary nature." —*Fifth Report.*

3 "The permanent settlement was a sad blunder. The inferior tenants derived from it no benefit whatever. The *Zamindars* again and again failed to pay their rent charges and their estates were sold for the benefit of the government." —*Holmes.*

थे। इस कारण कृषि में उन्नति हुई और कृषि का प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ा। इससे उद्योग और व्यापार की प्रगति हुई। कार्नवालिस के समय से पहले एक रिपोर्ट के अनुसार बंगाल की कृषि-योग्य भूमि का आधा भाग जंगलों में परिवर्तित हो गया था क्योंकि कृषि लाभदायक न थी और किसान भूमि को छोड़कर भाग गये थे। परन्तु इस बन्दोबस्त के पश्चात् बंगाल में पुनः सम्पन्नता आ गयी। अब जमींदारों को अपने क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने के उत्तरदायित्व से मुक्त कर दिया गया था, उनसे न्याय का कार्य छीन लिया गया था और उन्हें अब उत्तराधिकार-कर भी नहीं देना था। इससे जमींदारों की आर्थिक स्थिति में दिन-प्रतिदिन सुधार होता गया, उनका ध्यान मुख्यतः कृषि के विकास में लगा और धीरे-धीरे बंगाल और बिहार पुनः धनवान सूबे बन गये।

यद्यपि सरकार लगान में वृद्धि नहीं कर सकती थी परन्तु अन्ततोगत्वा सूबे की आर्थिक स्थिति में जो अन्तर आया और व्यापार एवं उद्योग की जो उन्नति हुई, उससे सरकार को ही लाभ हुआ।

इससे राज्य की आय स्थायी हो गयी जिसके लिए राज्य कोई परिश्रम नहीं करता था और न जिसमें कमी हो सकती थी। राज्य को प्रत्येक वर्ष लगान, उत्पादन आदि का पता लगाने की कोई आवश्यकता न रह गयी।

इससे कम्पनी के कर्मचारियों को लगान की व्यवस्था करने से मुक्ति मिल गयी और अब वे अधिक स्वतन्त्रता से न्याय, शासन और कम्पनी के व्यापार की ओर ध्यान दे सकते थे। इस प्रकार इस बन्दोबस्त के कई लाभ हुए।

हानि—परन्तु स्थायी बन्दोबस्त से अनेक हानियाँ भी हुईं। राजनीतिक दृष्टि से जहाँ यह कम्पनी के राज्य की स्थापना में सहायक हुआ, वहीं भारतीयों की दृष्टि से यह दासता के समय को बढ़ाने वाला था। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टि और सिद्धान्त के आधार पर भी इसमें गम्भीर दोष थे।

इससे प्रारम्भ में अनेक जमींदारों को हानि हुई। अनेक ऐसे जमींदार थे जो समय पर पूर्ण लगान न दे सके और उन्हें उनकी भूमि से वंचित कर दिया गया।

इस बन्दोबस्त में किसानों के हित का कोई ध्यान नहीं रखा गया था। उनका भूमि पर कोई अधिकार न रहा और लगान के विषय में वे पूर्णतः जमींदारों की दया पर छोड़ दिये गये क्योंकि सरकार ने यह निश्चित नहीं किया था कि किसान जमींदारों को कितना लगान देंगे तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध क्या होंगे। बहुसंख्यक किसानों को भूमि के अधिकार से वंचित करके अल्पसंख्यक जमींदारों को भूमि का मालिक बनाना भूल थी। सर चार्ल्स मैटकाफ ने लिखा था : "कार्नवालिस भारत में व्यक्तिगत सम्पत्ति का निर्माण करने वाला नहीं बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का नाश करने वाला था।"[1] किसानों के साथ कोई समझौता न करके उन्हें जमींदारों की दया पर छोड़ना अन्यायपूर्ण था। बेवरिज ने लिखा है : "केवल जमींदारों के साथ समझौता करके और किसानों के अधिकार को पूर्णतः भुलाकर एक महान् भूल और अन्याय किया गया।"[2] इस प्रबन्ध में अधिकार जमींदारों को दे दिये गये। उन्होंने

---

1 "Cornwallis instead of being the creator of property in India, was the great destroyer of it."

—*Sir Charles Metcalfe.*

2 "A very great blunder as well as gross injustice was committed when a settlement was made with the *zamindars* alone, and the rights of the farmers were completely ignored."

—*B. Beveridge.*

इनका दुरुपयोग किया। परन्तु सरकार इन पर कोई अंकुश न लगा सकी। जमींदारों के मुकाबले किसानों की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती गयी और किसानों की भलाई के लिए कोई कार्य न किया जा सका। सबसे पहली बार 1859 ई. के बंगाल भूमि कानून (Bengal Land Act) के द्वारा ही किसानों की स्थिति को सुधारने का कोई प्रयत्न किया जा सका।

इस व्यवस्था में एक मुख्य दोष यह भी उत्पन्न हुआ कि अधिकांश जमींदार ऐसे हो गये जिन्होंने नगरों में रहना आरम्भ कर दिया और अपनी भूमि बिचौलियों को पट्टे पर दे दी। ये बिचौलिये किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करते थे जबकि भूमि की उत्पादन-वृद्धि में इनकी कोई रुचि न थी। यह व्यवस्था स्थायी बन्दोबस्त की व्यवस्था के विरोध में थी। सरकार ने प्रारम्भ में इसका विरोध भी किया परन्तु 1819 ई. में इसे मान्यता दे दी। इससे बिचौलियों की संख्या में वृद्धि हुई और किसानों का शोषण बढ़ा। इसी कारण इस व्यवस्था के अन्तर्गत उच्च स्तर पर सामन्तवादी शोषण और निम्न स्तर पर दासता की भावना को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

स्थायी बन्दोबस्त अर्थात् जमींदारी-व्यवस्था बाद के समय में अंग्रेजी व्यापार के लिए भी हानिकारक सिद्ध हुई। इससे धन केवल जमींदारों के पास ही एकत्रित होता था और वे ही ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं को खरीदने की स्थिति में थे। परन्तु जब ब्रिटेन में हुई औद्योगिक क्रान्ति के कारण वस्तुओं के निर्माण में वृद्धि हुई तब उनके लिए विस्तृत बाजार की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस कारण धन के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता हुई। इस कारण, बाद में, भारत में जमींदारी-व्यवस्था अन्य स्थानों पर लागू नहीं की गयी अपितु उसका स्थान रैयतवारी और महलवारी व्यवस्थाओं ने लिया जिनके अन्तर्गत धन के अधिक व्यक्तियों के हाथों में जाने की सम्भावना थी।

रैयतवारी व्यवस्था में सरकार ने किसानों से सीधा सम्पर्क किया, भूमि की पैमाइश करायी और उत्पादन का पता लगाया। उसके आधार पर किसानों से सरकार ने लगान निश्चित किया। लगान एक निर्धारित अवधि के लिए ही निश्चित किया जाता था। बाद में उसमें परिवर्तन सम्भव था। महलवारी व्यवस्था के अन्तर्गत लगान सम्पूर्ण गाँव या कुछ ग्रामों के समूह (महल) से 20 या 30 वर्ष के लिए निश्चित किया गया और गाँव के मुखियाओं (प्रधानों) द्वारा इसके वसूल किये जाने की व्यवस्था की गयी। रैयतवारी व्यवस्था दक्षिणी और पश्चिमी भारत के अधिकांश भागों में तथा महलवारी व्यवस्था उत्तरी और मध्य-भारत के अधिकांश क्षेत्रों में लागू की गयी।

परन्तु ये व्यवस्थाएँ भी दोषपूर्ण रहीं क्योंकि लगान की दर बहुत ऊँची थी और सरकार जमींदारों की तुलना में अधिक शक्तिशाली थी जो किसानों की भूमि को लगान न देने के कारण कभी भी बहुत सरलता से उनसे छीन सकती थी या उसकी नीलामी करा सकती थी।

इस बन्दोबस्त से सरकार की भी हानि थी। कृषि के उत्पादन में वृद्धि होने से सरकार के लगान में कोई वृद्धि नहीं होती थी। उसका सम्पूर्ण लाभ जमींदार को प्राप्त होता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्थायी बन्दोबस्त से मुख्य लाभ जमींदारों को हुआ था और अन्य दृष्टिकोणों से इससे लाभ के स्थान पर हानि अधिक थी। इसके अतिरिक्त इसके समस्त लाभ 15 या 20 वर्ष या इससे भी अधिक समय के बन्दोबस्त द्वारा प्राप्त किये जा सकते थे और इस बन्दोबस्त को स्थायी करने की कोई आवश्यकता न थी। यह अच्छा होता कि स्थायी बन्दोबस्त कम से कम 15 या 20 वर्ष को टाल दिया जाता और उसके पश्चात् इसके बारे में निर्णय किया

जाता। ऐसी स्थिति में सम्भवतः इस व्यवस्था को इसके बहुत से दोषों से मुक्त किया जाना सम्भव हो पाता। इस प्रकार बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त कुछ समय के लिए भले ही लाभदायक रहा हो परन्तु इससे कोई स्थायी लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण कुछ स्थानों के अलावा अंग्रेजों ने इस व्यवस्था को भारत के अन्य भागों में स्थापित नहीं किया। स्वतन्त्रता के पश्चात् सभी स्थानों से इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया है।

2. अन्य सुधार

कार्नवालिस का मुख्य कार्य शासन, न्याय और कम्पनी के कर्मचारियों की सेवाओं में सुधार करना था। लगान-व्यवस्था उसके सुधारों का एक महत्वपूर्ण भाग था। परन्तु इसके अतिरिक्त उसने शासन के विभिन्न क्षेत्रों में अन्य सुधार किये। पी. ई. रॉबर्ट्स ने लिखा है : "आन्तरिक मामलों में उसका गवर्नर-जनरल का कार्यकाल बहुत महत्वपूर्ण है और क्रमिक महत्व की दृष्टि से उसके कार्यों में कम्पनी की सेवाओं में सुधार, बंगाल की स्थायी लगान-व्यवस्था और बंगाल के न्यायालयों का पुनर्गठन प्रमुख हैं।"[1]

1. सेवा-सुधार

कार्नवालिस के सम्मुख प्रमुख समस्या कम्पनी की सेवाओं में सुधार करने की थी। क्लाइव और हेस्टिंग्स के सुधारों के पश्चात् भी उस समय तक कम्पनी की सेवाओं में भ्रष्टाचार व्याप्त था। रिश्वत लेना तथा भेंट स्वीकार करना और वर्जित व्यक्तिगत व्यापार करना अभी तक यथावत् था। कार्नवालिस ने रिश्वत एवं भेंट लेना वर्जित कर दिया और रिश्तेदारों के नाम से भी व्यक्तिगत व्यापार करने पर रोक लगा दी।

सेवाओं में भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए कार्नवालिस ने दो मुख्य कार्य किये। उसका विचार था कि कम्पनी के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार का मुख्य कारण उनकी आय या वेतन में कमी होना है। उस समय तक कर्मचारियों को डायरेक्टरों की ओर से एक निश्चित वेतन दिया जाता था। साथ ही उन्हें बंगाल के लगान में से भी कुछ भाग प्राप्त होता था। परन्तु यह सब उनके लिए पर्याप्त नहीं था। इस कारण वे मुख्यतः व्यक्तिगत व्यापार करके धन प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। यद्यपि हेस्टिंग्स ने कर्मचारियों की व्यक्तिगत व्यापार करने की सुविधा को समाप्त कर दिया था परन्तु तब भी कर्मचारी अपने रिश्तेदारों के नाम से इस कार्य को करते रहते थे। कार्नवालिस ने इस व्यापार को रोकने तथा भेंट और रिश्वत को समाप्त करने के लिए कर्मचारियों की आय में वृद्धि करना आवश्यक समझा। उसने कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की। कलक्टर को वेतन के रूप में 1,500 रुपये प्रति माह और उसके जिले के लगान का 1% भाग दिया जाना आरम्भ किया गया। इसी प्रकार अन्य सभी कर्मचारियों के वेतनों में वृद्धि की गयी।

सेवाओं में सुधार के लिए उसका दूसरा प्रमुख कार्य अधिक से अधिक मात्रा में अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति करना था। अपने अन्य अनेक देशवासियों की भाँति कार्नवालिस भी भारतीयों की योग्यता और चरित्र पर विश्वास नहीं करता था। इस कारण जहाँ तक सम्भव हुआ उसने अंग्रेज अधिकारियों को ही नियुक्त किया। उच्च सेवाओं में भारतीयों का प्रवेश बन्द कर दिया गया। सेना में एक भारतीय को जमादार या सूबेदार से उच्च पद नहीं दिया जा सकता

---

1 "In internal affairs, his Governor-Generalship is one of the most notable, and his achievements in order of importance are the reform of the covenanted service, the permanent settlement of the land revenue of Bengal and the reorganization of the Bengal courts of law."
—*P. E. Roberts.*

था और असैनिक सेवाओं में एक भारतीय सदर-अमीन, रजिस्ट्रार या मुंसिफ से अधिक ऊँचा पद प्राप्त नहीं कर सकता था।

2. शासन-सुधार

शासन में कार्नवालिस का लक्ष्य सादगी लाना और व्यय को कम करना था। शासन का सम्बन्ध लगान एकत्रित करना, न्याय करना, व्यापारिक कर एकत्रित करना और कम्पनी के नमक और अफीम के व्यापारिक एकाधिपत्य की देखभाल करना था। उसने इन सभी के प्रबन्ध की ओर ध्यान दिया और इस क्षेत्र में उसने जॉन शोर, चार्ल्स ग्राण्ट, जेम्स ग्राण्ट और डंकन जैसे अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं का पूर्ण लाभ उठाया। अंग्रेज अधिकारियों की नियुक्ति और उनके भ्रष्टाचार को रोकने के अतिरिक्त उसने शासन में निम्नलिखित सुधार किये :

1. बंगाल उस समय तक 55 जिलों में विभाजित था जिन्हें कम करके 23 कर दिया गया।

2. व्यय में कमी करने के लिए अनेक अनुपयोगी पद समाप्त कर दिये गये।

3. कलक्टरों से न्याय के अधिकार छीन लिये गये। असैनिक न्याय करने का अधिकार लगान-बोर्ड को दे दिया गया अथवा यह उत्तरदायित्व असैनिक न्यायालयों को सौंपा गया। इसी कारण यह कहा गया है कि कार्नवालिस ने न्यायपालिका और कार्यकारिणी को पृथक करने का प्रयत्न किया जिससे नागरिकों को निष्पक्ष न्याय प्राप्त हो सके।

4. सेवाओं और शासन में सुधार के लिए कार्नवालिस ने एक और सिद्धान्त अपनाया। उसने केवल योग्यता को ही पद-प्राप्ति का आधार स्वीकार किया। इस विषय में वह डायरेक्टरों की सिफारिश तक पर ध्यान नहीं देता था।

3. व्यापार-सुधार

व्यापार-बोर्ड का मुख्य कार्य कम्पनी के लिए भारत में वस्तुएँ खरीदना और बेचना था। परन्तु यह कार्य सुचारु रूप से नहीं चल रहा था। कम्पनी को इस व्यापार में हानि हो रही थी जबकि कम्पनी के कर्मचारी व्यक्तिगत व्यापार से लाभ प्राप्त कर रहे थे। इसका मुख्य कारण भ्रष्टाचार था। पहले यह कार्य व्यापार-बोर्ड (Board of Trade) करता था। बाद में यह कार्य अंग्रेज रेजीडेण्टों को दे दिया गया। परन्तु दोनों ही स्थितियों में बोर्ड के सदस्यों और रेजीडेण्टों के भ्रष्टाचार के कारण कम्पनी को वस्तुएँ ऊँची कीमत पर तथा अपर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती थीं। भारतीय कारीगरों के साथ भी इनका व्यवहार सर्वथा दोषपूर्ण था। इसमें सुधार के लिए कार्नवालिस ने निम्नलिखित कार्य किये :

1. व्यापार का अधिकार पुनः व्यापार-बोर्ड को दे दिया गया।

2. व्यापार-बोर्ड के सदस्यों की संख्या 11 से घटाकर 5 कर दी गयी।

3. वस्तुओं को खरीदने और बेचने के लिए कमीशन के आधार पर व्यापारिक प्रतिनिधि नियुक्त किये गये।

4. भारतीय कारीगरों और उत्पादकों की सुरक्षा के लिए 1778 ई. में विभिन्न कानून बनाये गये।

4. पुलिस एवं अन्य सुधार

उस समय तक पुलिस की व्यवस्था जमींदारों के द्वारा की जाती थी और नगरों में जो पुलिस की व्यवस्था थी, वह अपर्याप्त थी। 1791 ई. में नगरों के पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट के अधिकारों को कुछ नियम बनाकर स्पष्ट कर दिया गया, पुलिस अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की गयी

और चोरी आदि का पता लगाने वाले अधिकारियों के लिए इनाम की व्यवस्था की गयी। जिलों में जमींदारों से पुलिस-व्यवस्था के अधिकार छीन लिये गये और थानों की स्थापना करके भारतीय दारोगा और सिपाहियों की नियुक्ति की गयी। बाद में, जहाँ तक सम्भव हुआ, अंग्रेज दारोगाओं की नियुक्ति की गयी। मजिस्ट्रेटों को पुलिस-व्यवस्था की देखभाल का उत्तर-दायित्व सौंपा गया।

कार्नवालिस ने जेलों के प्रबन्ध हेतु भी कुछ आधारभूत परिवर्तन किये। दिसम्बर 1790 ई. के नियमों के अनुसार जेलों का प्रबन्ध और अधिकार भारतीयों के हाथों से ले लिया गया। यह अधिकार अब अंग्रेज न्यायाधीशों को सौंपा गया। जेलों के नियन्त्रण से सम्बन्धित कुछ बड़ी कमियों को दूर किया गया, कुछ नयी जेलों का निर्माण किया गया और कैदियों के स्वास्थ्य व नैतिकता के सम्बन्ध में सरकार को उत्तरदायी बनाया गया।

5. न्याय-सुधार

न्याय-व्यवस्था में कार्नवालिस का कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण था। उसने न केवल कार्यकारिणी तथा न्याय-अधिकारियों को ही पृथक किया बल्कि न्याय को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए भी प्रयत्न किया। इस कार्य में उसने हेस्टिंग्स द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पूर्ति की। पी. ई. रॉबर्ट्स ने लिखा है : "दीवानी और फौजदारी न्यायालयों के संगठन में कार्नवालिस ने हेस्टिंग्स द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पूर्ति की।" उसने दीवानी और फौजदारी न्यायालयों के लिए निम्न व्यवस्था की :

(अ) दीवानी न्यायालय—1. लगान और धन-सम्बन्धी मुकदमों के अन्तर को समाप्त कर दिया गया। दीवानी न्यायालय अब दोनों प्रकार के मुकदमों का निर्णय करने लगे।

2. सबसे निम्न-अदालत मुंसिफ की स्थापित की गयी। मुंसिफ भारतीय होता था और 50 रुपये तक के मुकदमों का निर्णय कर सकता था।

3. उससे ऊपर भारतीय रजिस्ट्रार की अध्यक्षता में रजिस्ट्रारों के न्यायालय स्थापित किये गये जो 200 रुपये तक के मुकदमों का निर्णय कर सकते थे।

4. उनसे ऊपर जिला-अदालतें स्थापित की गयीं जिनमें अंग्रेज न्यायाधीश भारतीय सलाहकारों की सहायता से न्याय करते थे। वहाँ निम्न-अदालतों से अपील के मुकदमे आते थे।

5. जिला-अदालतों के ऊपर चार प्रान्तीय न्यायालय—कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना—में स्थापित किये गये। इन न्यायालयों में तीन अंग्रेज न्यायाधीश तथा अन्य भारतीय सलाहकार होते थे।

6. सबसे ऊपर कलकत्ता की सदर दीवानी अदालत थी जहाँ गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल न्याय करती थी।

7. सदर दीवानी अदालत के निर्णय के पश्चात् उस मुकदमे की अपील राजा (इंगलैण्ड का) और उसकी कौंसिल में हो सकती थी।

इन न्यायालयों से सम्बन्धित तथा उनके कार्यों एवं तरीकों को स्पष्ट करने वाले विभिन्न नियम बनाये गये।

यूरोप के निवासियों का न्याय भी यह अदालतें कर सकती थीं।

(ब) फौजदारी न्यायालय—इसी प्रकार की व्यवस्था फौजदारी न्यायालयों के लिए की गयी। इनके अन्तर्गत—

1. अंग्रेज न्यायाधीशों के नियन्त्रण में जिला फ़ौजदारी न्यायालय स्थापित किये गये। ये न्यायालय घूम-घूमकर न्याय करते थे।

2. मुर्शिदाबाद, कलकत्ता, ढाका और पटना में चार प्रान्तीय फौजदारी न्यायालय स्थापित किये गये। इनमें न्यायाधीश अंग्रेज होते थे और सदर निजामत अदालत की स्वीकृति के बाद इन्हें मृत्युदण्ड देने का अधिकार था।

3. सदर निजामत अदालत को कलकत्ता में स्थापित किया गया जहाँ स्वयं गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल न्यायाधीश का कार्य करते थे। यह भारत में फौजदारी के मुकदमों का सर्वोच्च न्यायालय था।

4. इन सभी न्यायालयों में अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता के लिए भारतीय सलाहकारों की व्यवस्था की गयी।

उपर्युक्त न्यायालयों की स्थापना के अतिरिक्त निम्नलिखित व्यवस्था भी की गयी :

1. दीवानी मुकदमों में जातीय कानून अर्थात् हिन्दुओं के लिए हिन्दू-कानून और मुसलमानों के लिए मुस्लिम-कानून प्रयोग में लाया गया।

2. फौजदारी मुकदमों में मुस्लिम-कानून प्रयोग में लाया गया यद्यपि उसमें कुछ परिवर्तन किया गया। 1790-93 ई. के समय में किये गये इन परिवर्तनों को ब्रिटिश संसद के द्वारा 1797 ई. में मान्यता प्रदान की गयी। 1790 ई. में एक नियम बनाया गया जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि हत्या के मुकदमे का निर्णय करते हुए हत्या किये जाने के शस्त्र अथवा ढंग पर बल देने की बजाय इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि हत्यारे की हत्या करने में भावना क्या थी । यह भी निश्चय किया गया कि मृतक के अभिभावकों की इच्छा से हत्यारे को माफ नहीं किया जायेगा और न उसे हत्या के बदले में मृतक के अभिभावकों को धन दिलाकर मुक्त किया जा सकेगा, अर्थात् हत्या का दण्ड हत्यारे को अवश्य दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त अपराधियों के अंगों को काट दिये जाने की दण्ड-व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर कठोर शारीरिक श्रम का दण्ड दिये जाने की व्यवस्था शुरू की गयी। 1793 ई. में यह भी नियम बनाया गया कि गवाह के धर्म का गवाही देने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अभी तक मुस्लिम-कानून के अनुसार मुसलमान व्यक्ति की हत्या के मुकदमे में किसी अन्य धर्म का व्यक्ति गवाह नहीं हो सकता था।

3. सरकारी कर्मचारी भी अपने पद के अनुसार अपने-अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी थे और उन पर एक पदाधिकारी की दृष्टि से मुकदमा चलाया जा सकता था।

4. गवर्नर-जनरल को सजा कम करने अथवा माफ करने का अधिकार था। इसकी अन्तिम प्रार्थना राजा और उसकी कौंसिल (King in Council) को जा सकती थी।

5. उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) भी न्याय करने के लिए उस समय विद्यमान था परन्तु वह मुख्यतः यूरोप-निवासियों के मुकदमों का ही निर्णय करता था।

6. 1793 ई. तक कार्नवालिस ने शासन, व्यापार और न्याय सम्बन्धी विभिन्न नियम बना दिये थे। इन कानूनों का संग्रह करना (कार्नवालिस-कोड) उसका अन्तिम कार्य था। शासन, व्यापार और न्याय के इन विभिन्न कानूनों का अलग-अलग संग्रह किया गया और सभी के विषय में भिन्न-भिन्न कानून बना दिये गये। इनके निर्णय में शक्ति-वितरण व नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा आदि का भी ध्यान रखा गया।

इस प्रकार कार्नवालिस ने विभिन्न प्रकार के सुधार करके भारत में कम्पनी के शासन को सुधारने का प्रयत्न किया। साधारणतः, अगले बीस वर्षों तक उसके सुधारों में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया। शासन की जो मशीन उसने स्थापित कर दी मुख्यतः उसी के आधार पर कार्य चलता रहा। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ राजनीतिक परिस्थितियों के कारण इसमें

परिवर्तन न हो सका परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि उसकी व्यवस्था को आगे आने वाले शासन-प्रबन्धकों ने लाभदायक समझा और इस कारण उसमें परिवर्तन करने का उन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। उसका भूमि का स्थायी बन्दोबस्त, उसकी न्याय-व्यवस्था और न्याय एवं शासन अधिकारियों का पृथक्कीकरण ऐसी बातें थीं जिन्हें उसके उत्तराधिकारियों ने स्वीकार कर लिया।

परन्तु इसका यह अर्थ न था कि उसके सुधार दोष-रहित थे। उसकी भूमि की स्थायी व्यवस्था, निस्सन्देह, किसानों के हित में न थी और यह भी नहीं कहा जा सकता था कि सिर्फ न्यायालयों की स्थापना मात्र से न्याय की सुविधा प्राप्त हो गयी थी। न्याय प्राप्त करने में अत्यधिक असुविधा और अपव्यय था। इसी प्रकार उसके अन्य सुधार भी पर्याप्त नहीं माने जा सकते थे और बाद में उनमें पर्याप्त परिवर्तन और सुधार किये भी गये।

परन्तु फिर भी कार्नवालिस के सुधार पर्याप्त मात्रा में लाभदायक रहे। पी. ई. रॉबर्ट्स की भाँति पर्याप्त अंशों तक यह स्वीकार करना पड़ता है : "उसने निश्चय ही हेस्टिंग्स के द्वारा स्थापित नींव पर इमारत खड़ी की।"[1] रॉबर्ट्स ने पुनः लिखा है : "बहुत कम व्यक्ति इतना स्थायी कार्य कर सके जितना कार्नवालिस ने किया और वह भी मुख्यतः आन्तरिक शासन के क्षेत्र में।"[2]

3. विदेश-नीति और तृतीय मैसूर-युद्ध

डायरेक्टरों ने 1784 ई. में घोषणा की कि "कम्पनी की नीति का उद्देश्य राज्य-विस्तार नहीं है।" इसी घोषणा के आधार पर 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का सूत्रपात हुआ जिसका नाम सर जॉन शोर के साथ अधिक जुड़ा हुआ है। परन्तु कार्नवालिस ने भी इस नीति के पालन का प्रयत्न किया। परन्तु उसे तृतीय मैसूर-युद्ध लड़ना पड़ा जिसे उसने एक 'क्रूर आवश्यकता' (cruel necessity) बताया। (तृतीय मैसूर-युद्ध के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 11 पढ़िए।)

हस्तक्षेप न करने की नीति (Policy of Non-intervention) के आधार पर उसने 1788 ई. में शाहआलम को दिल्ली की गद्दी को पुनः प्राप्त करने में सहायता देने से इन्कार कर दिया। इसी आधार पर उसने पेशवा से की गयी एक पिछली सन्धि को स्वीकार करने से इन्कार किया। इस प्रकार लॉर्ड कार्नवालिस ने कुछ मात्रा में हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया था यद्यपि अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए वह युद्ध से पीछे भी नहीं हटा था।

1793 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस भारत से वापस चला गया। उसका समय ब्रिटिश साम्राज्य की दृढ़ता की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण माना गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त से आप क्या समझते हैं ? उसके हानि और लाभ पर विचार कीजिए।
2. "कार्नवालिस ने हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित नींव पर इमारत खड़ी की।" इस कथन को दृष्टिगत रखते हुए कार्नवालिस के सुधारों का वर्णन कीजिए।

---

1 "He actually raised the super-structure on the foundation which was laid down by Warren Hastings." —*P. E. Roberts.*

2 "Few were destined to do more permanent work than Lord Cornwallis, especially in the department of internal affairs." —*P. E. Roberts.*

10

हस्तक्षेप न करने अथवा शान्तिपूर्ण तटस्थता की नीति

[सर जॉन शोर (1793-98 ई.) तथा उससे आगे]

हस्तक्षेप न करने की नीति (Policy of Non-intervention or Peaceful isolation) की उत्पत्ति का आधार पिट्स इण्डिया एक्ट (Pitts' India Act) से प्राप्त होता है। उसकी एक धारा के अन्तर्गत घोषित किया गया था : "भारत में विजय और साम्राज्य-विस्तार की योजनाओं को कार्य-रूप में परिणत करना इस राष्ट्र (इंगलैण्ड) की इच्छा, सम्मान और नीति के विरुद्ध है।" (Whereas to pursue schemes of conquest and extension of dominion in India are measures repugnant of the wish, honour and policy of this nation.) इस एक्ट के बनने के पश्चात् लॉर्ड कार्नवालिस पहला गवर्नर-जनरल था जिसने इसके अनुसार हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन करने का प्रयत्न किया। उसने शाहआलम को दिल्ली का सिंहासन वापस दिलाने में सहयोग देने से इन्कार कर दिया, महादजी सिन्धिया को समझाया कि वह दिल्ली या अन्य राज्यों के मामलों में अधिक हस्तक्षेप न करे और टीपू के विरुद्ध युद्ध को उसने एक 'क्रूर आवश्यकता' बताया। उसके पश्चात् सर जॉन शोर प्रथम गवर्नर-जनरल था जिसने वास्तव में हस्तक्षेप न करने की नीति का प्रतिबद्धता से पालन किया। उसने मराठों के विरुद्ध अंग्रेजों के पुराने मित्र हैदराबाद के निजाम को सहायता देने से इन्कार कर दिया, राजपूत-राज्यों से अंग्रेजी संरक्षण को हटा लिया और प्रयत्न किया कि अंग्रेजों को किसी भी भारतीय नरेश के पारस्परिक झगड़ों में न फँसना पड़े। केवल मराठों से अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा करने के लिए उसने अवध-राज्य की गद्दी के उत्तराधिकार के प्रश्न में हस्तक्षेप किया और वजीरअली को हटाकर सादतअली को नवाब बनाया तथा उससे एक नवीन सन्धि करके अवध में अंग्रेजों के प्रभाव की वृद्धि की। सर जॉन शोर की इस नीति के कारण निजाम-हैदराबाद मराठों से 1795 ई. में खर्दा नामक स्थान पर परास्त होकर अंग्रेजों पर विश्वास खो बैठा और उसने अपने यहाँ फ्रान्सीसी अफसरों की नियुक्ति की, राजपूत-राज्य पुनः मराठों के प्रभाव में चले गये, अंग्रेजों के सम्मान में कमी हुई, भारतीय नरेशों के दरबारों में फ्रान्सीसियों का प्रभाव बढ़ा और मराठों को अपना प्रभाव बढ़ाने हेतु प्रोत्साहन मिला। इस कारण वैलेजली ने आते ही इस नीति को त्याग दिया और पूर्णतः युद्ध और साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनायी।

सिद्धान्ततः हस्तक्षेप न करने की नीति का अर्थ था कि अंग्रेज भारत में अपने शासन का विस्तार नहीं चाहते। इस कारण वे भारतीय राज्यों की राजनीति में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य अपने तत्कालीन राज्य की सीमाओं की सुरक्षा करना था। इस कारण वे न किसी भारतीय नरेश को मित्र बनायेंगे, न किसी को शत्रु बनायेंगे, न किसी से युद्ध करेंगे और न उनकी आपस की मित्रता या शत्रुता में हस्तक्षेप करेंगे। परन्तु व्यावहारिक रूप में इस नीति का पालन इस आधार पर नहीं किया गया और न इसका पालन किया जाना सम्भव

था। तत्कालीन अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा के आधार पर अंग्रेज गवर्नर-जनरल, परिस्थितियों के अनुसार, इस नीति का पालन करते रहे अथवा इसे छोड़ते रहे।

लॉर्ड वैलेजली ने 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का पालन नहीं किया बल्कि इसके विपरीत हस्तक्षेप, साम्राज्य-विस्तार और युद्ध की नीति को अपनाया। उसके अनुसार हस्तक्षेप न करने की नीति पूर्णतः असफल सिद्ध हो चुकी थी और अंग्रेज कम्पनी की शक्ति तथा प्रतिष्ठा की स्थापना के लिए शक्ति का प्रयोग एवं भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेना अंग्रेजों के लिए आवश्यक हो गया था। उसने अपना लक्ष्य कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाना और फ्रान्सीसी प्रभाव को सर्वदा के लिए भारत से समाप्त करना बनाया। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए उसने भारतीय राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप, कूटनीति, युद्ध आदि सभी साधनों का प्रयोग किया और वह इसमें सफल रहा। भारत को छोड़ने से पहले वैलेजली भारत में फ्रान्सीसी प्रभाव को नष्ट कर चुका था और अंग्रेज कम्पनी भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन चुकी थी। उसने भारत में कम्पनी के प्रभाव, शक्ति और सीमा सभी को बढ़ाने में सफलता प्राप्त की। यह ठीक ही कहा गया है कि वैलेजली ने भारत के अंग्रेजी राज्य को अंग्रेजों के भारत के राज्य में परिणत कर दिया।

परन्तु अंग्रेजी राज्य की तीव्रतर वृद्धि के कारण भारतीय नरेश अंग्रेजों से भयभीत एवं शंकित हो गये और अंग्रेज-शासकों को यह भय हो गया कि कहीं सभी भारतीय नरेश मिलकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए कटिबद्ध न हो जायें। इस कारण 1805 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस को पुनः भारत भेजा गया ताकि उस बुराई को समाप्त किया जा सके जो वैलेजली की नीति के कारण उत्पन्न हुई थी। कार्नवालिस यह निश्चय करके भारत आया था कि वह पूर्णतया 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का पालन करेगा। उसने होल्कर से युद्ध समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसने पराजित सिन्धिया को ग्वालियर और गोहद वापस देकर सन्तुष्ट करने का निश्चय किया। उसने यह भी निश्चय किया था कि वह यमुना नदी के पश्चिम की समस्त भूमि से अंग्रेजी अधिकार को छोड़ देगा तथा राजपूत-राज्यों पर से अंग्रेजी संरक्षण को वापस ले लेगा। परन्तु भारत आते ही उसकी मृत्यु हो गयी और वह अपनी इन योजनाओं को कार्यरूप में परिणत न कर सका।

कार्नवालिस के पश्चात् उसकी कौंसिल का एक सदस्य सर जॉर्ज बार्लो (Sir George Barlow) कुछ समय के लिए गवर्नर-जनरल बना। उसने कार्नवालिस की योजनाओं को कार्यरूप में परिणत किया। उसने मराठों को सन्तुष्ट करने के लिए राजपूत-राज्यों से अंग्रेजी संरक्षण हटा लिया, सिन्धिया को सन्तुष्ट करने हेतु ग्वालियर और गोहद उसे वापस दे दिये तथा चम्बल नदी को अंग्रेजों और सिन्धिया के राज्य की सीमा मान लिया। उसने होल्कर को सन्तुष्ट करने के लिए उसके सामने उसके लाभ की बहुत-सी शर्तें रखीं। इस प्रकार अंग्रेजों ने एक बार पुनः हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया। परन्तु बार्लो ने भी हैदराबाद के निजाम को सहायक-सन्धि की शर्तें मानने हेतु बांध्य किया और डायरेक्टरों के आदेश के विरुद्ध भी बेसीन की सन्धि को तोड़ने तथा पेशवा को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने से इन्कार कर दिया।

1807 ई. में जब लॉर्ड मिण्टो भारत का गवर्नर-जनरल बना, भारत पर रूस और फ्रान्स के सम्मिलित आक्रमण का भय था। नेपोलियन तथा रूस के जार एलेक्जेण्डर ने टिलसिट नामक स्थान पर भेंट करके 1807 ई. में मित्रता कर ली जिससे भारत पर इन शक्तियों के सम्मिलित आक्रमण की पूरी सम्भावना हो गयी। इस कारण लॉर्ड मिण्टो ने भी भारतीय नरेशों को सन्तुष्ट रखने हेतु हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन करना ही उचित समझा। उसका कार्यकाल मुख्यतः उसकी विदेश-नीति की वजह से महत्वपूर्ण रहा। उस समय भारत से बाहर के विदेशी

राज्यों में अंग्रेज राजदूत भेजे गये तथा भारत में उसने शान्तिपूर्ण नीति को अपनाया। इसी आधार पर पंजाब के शासक महाराजा रणजीतसिंह से 1809 ई. में अमृतसर की सन्धि करके मित्रता स्थापित की गयी। तब भी मिण्टो ने एक अवसर पर दृढ़ता का परिचय दिया। उसने पठान सरदार अमीरखाँ को बरार के मित्र-राज्य पर आक्रमण नहीं करने दिया। अमीरखाँ होल्कर के हीरों को वापस लेने के बहाने अंग्रेजों के मित्र-राज्य बरार पर आक्रमण करना चाहता था। परन्तु मिण्टो द्वारा हस्तक्षेप करने की धमकी देने के कारण वह आक्रमण न कर सका।

लॉर्ड मिण्टो के पश्चात् हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन बिल्कुल नहीं किया गया। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने इस नीति को त्यागकर पुनः साम्राज्यवाद एवं युद्ध की नीति को अपनाया और वैलेजली के कार्य को पूरा किया। तृतीय मराठा-युद्ध, पिंडारी दमन और नेपाल-युद्ध ने अंग्रेजी राज्य को भारत में सर्वदा के लिए सर्वशक्तिशाली बना दिया। उसके बाद का भारत का इतिहास भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ति का इतिहास है। भारत पर विदेशी आक्रमण का कोई भय नहीं रहा था और अंग्रेज भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली बन चुके थे। इस कारण तटस्थता की नीति का कोई औचित्य न रहा। धीरे-धीरे हेस्टिंग्स से लेकर लॉर्ड डलहौजी के समय तक शक्ति और युद्धों द्वारा भारत और भारत की सीमाओं के निकट अंग्रेजी राज्य के नक्शे को पूरा किया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिकांश गवर्नर-जनरलों ने हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन नहीं किया। बीच-बीच में इस नीति का पालन कुछ समय के लिए केवल कुछ गवर्नर-जनरलों ने ही किया। वास्तव में सिद्धान्त रूप में इस नीति का पालन भारत में किया ही नहीं गया। इस नीति के पालन करने या छोड़ने में अंग्रेजों के दो मुख्य आधार थे। प्रथम, इस नीति का भाग्य स्वयं गवर्नर-जनरल के व्यक्तित्व पर निर्भर करता था। यदि गवर्नर-जनरल दृढ़, शक्तिशाली, साहसी तथा निश्चित समय के लिए नियुक्त किया हुआ होता था, जैसे वैलेजली या हेस्टिंग्स थे, तो वे इस नीति का पालन बिल्कुल नहीं करते थे। यदि, इसके विपरीत, गवर्नर-जनरल स्वयं दुर्बल होता था अथवा उसका पद अस्थायी होता था, जैसा कि जॉन शोर या बार्लो की स्थिति थी, तो वह साहसपूर्ण नीति को अपनाने से डरता था और इस हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाता था। द्वितीय, अंग्रेजों का भारत में प्रमुख लक्ष्य सम्पूर्ण भारत पर अधिकार करना था। इस लक्ष्य को उन्होंने कभी नहीं भुलाया। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए परिस्थितियों के अनुसार वे अपनी नीति में परिवर्तन करते रहे। अगर अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा और विस्तार के लिए युद्ध आवश्यक हुआ और उपयुक्त अवसर प्राप्त हुआ तो हस्तक्षेप न करने की नीति का नाम भी नहीं लिया गया और यदि, इसके विपरीत, परिस्थितियाँ युद्ध और विस्तार के अनुकूल नहीं होती थीं तो शान्ति और हस्तक्षेप न करने की नीति का पालन किया जाता था। एक प्रकार से यह नीति अंग्रेजों को बीच-बीच में अपनी शक्ति को संगठित करने और नवीन विजयों को दृढ़ करने का अवसर प्रदान करती थी। इसी कारण हम देखते हैं कि जब कभी कुछ समय के लिए इस नीति का पालन किया गया तभी उसके तुरन्त बाद नवीन युद्ध और नवीन साम्राज्य-विस्तार की नीति अपनायी गयी जिससे अंग्रेज नयी विजयों को संगठित करने का अवसर पा सके। इस प्रकार हस्तक्षेप न करने की नीति पूर्णतः अवसरवादी थी और अंग्रेजों के भारत के साम्राज्य को पूर्ण करने के लक्ष्य में सहायक थी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में अंग्रेजों द्वारा अपनायी गयी शान्तिपूर्ण तटस्थता की नीति मे आप क्या समझते हैं ?

11

लॉर्ड वैलेजली (1798-1805 ई.)

1. वैलेजली के आगमन के समय भारत की स्थिति

1798 ई. में 37 वर्ष की आयु में लॉर्ड वैलेजली (Lord Wellesley) ने भारत के गवर्नर-जनरल का पद सँभाला। 1797 ई. में जब वैलेजली अपने नवीन पद के उत्तरदायित्व को सँभालने के लिए इंगलैण्ड से भारत चला तब इंगलैण्ड के लिए यूरोप और भारत में बहुत कठिनाइयाँ थीं। क्रान्तिकारी फ्रान्स की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी और नेपोलियन का उत्कर्ष हो चुका था। फ्रान्स ने अपने विरुद्ध बने हुए प्रथम गुट को तोड़ दिया था, उसके अन्तिम सदस्य आस्ट्रिया को रिबोली के युद्ध में परास्त करके केम्पोफोर्मियो की सन्धि करने के लिए बाध्य किया था तथा नेपोलियन भारत-विजय के लक्ष्य को पूर्ण करने के लिए मिस्र पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। भारत में राजनीतिक दृष्टि से कम्पनी की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी। उस समय भी मराठा-संघ भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली था। यद्यपि पेशवा माधवराव की मृत्यु के पश्चात् पेशवा की शक्ति दुर्बल हो गयी थी, मराठा-संघ में आन्तरिक संघर्ष आरम्भ हो गया था और तत्कालीन पेशवा बाजीराव द्वितीय दुर्बल था परन्तु फिर भी मराठा-संघ के कई सदस्य शक्तिशाली और प्रभावशाली थे। इनमें से केवल बड़ौदा के गायकवाड़ ने अंग्रेजों के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी थी अन्यथा भौंसले, सिन्धिया और होल्कर तीनों ही अंग्रेजी प्रभाव की वृद्धि को पसन्द नहीं करते थे। दौलतराव सिन्धिया की सीमाएँ उत्तर में यमुना और चम्बल से लेकर दक्षिण में तुंगभद्रा नदी तक फैली हुई थीं, मुगल बादशाह शाहआलम उसके हाथ की कठपुतली था, दिल्ली की राजनीति उसके अधिकार में थी, पेरन (Perren) जैसे फ्रान्सीसी अधिकारियों ने उसकी सेना का यूरोपियन तरीके से संगठन किया था, राजस्थान और मध्य-भारत में उसका आतंक था तथा पेशवा पर उसका पर्याप्त प्रभाव था। जसवन्तराव होल्कर ने इन्दौर को अपनी राजधानी बनाया था। मराठा सरदारों में वह सबसे अधिक महत्वाकांक्षी था तथा पूना-दरबार में प्रभाव रखने और सीमा-विस्तार में सिन्धिया से उसकी प्रतिस्पर्धा रहती थी। नागपुर के भौंसले-वंश की सीमाएँ नागपुर से कटक तक फैली हुई थीं तथा अंग्रेजों की बंगाल और मद्रास की सीमाओं को विभाजित करती थीं। इन शक्तिशाली मराठों से अंग्रेजों के सम्बन्ध सर्वदा अविश्वास और सन्देह के रहे थे। मराठों के अतिरिक्त मैसूर का शासक टीपू अंग्रेजों का कट्टर शत्रु था और प्रत्येक प्रकार से अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए प्रयत्नशील था। उसने अफगानिस्तान के अमीर जमानशाह से पत्र-व्यवहार किया था, टर्की के सुल्तान से बातचीत करनी चाही थी, अपनी सेना में फ्रान्सीसी अफसर नियुक्त किये थे और वह फ्रान्स के क्रान्तिकारियों से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा था।

अंग्रेजों के मित्र-राज्यों में अवध, कर्नाटक और हैदराबाद माने जा सकते थे। इनमें से अवध पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर था और उसकी शक्ति अंग्रेजों के लिए किसी प्रकार सहायक न थी। कर्नाटक के नवाब का शासन अत्यधिक दुर्बल था और वह कर्ज में इतना डूबा हुआ था

कि अंग्रेजों के लिए एक बोझ के समान था। हैदराबाद का निजाम सर जॉन शोर की नीति और मराठों के विरुद्ध खर्दा में अपनी पराजय के कारण अंग्रेजों से असन्तुष्ट था और उन्हें अपना विश्वसनीय मित्र मानने को तैयार न था। उसने अपने यहाँ फ्रान्सीसी सैनिक अधिकारी नियुक्त किये हुए थे और अपनी सेना को यूरोपियन तरीके से शिक्षित कर रहा था। इस प्रकार भारतीय राज्यों में से कोई भी अंग्रेजों का मित्र न था और यदि था भी तो शक्तिहीन था और अंग्रेजों की सहायता करने में असमर्थ था।

भारत की इन परिस्थितियों में फ्रान्सीसी पुनः अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए प्रयत्नशील थे। आधुनिक समय में नेपोलियन की भारत-विजय की योजना को उसकी कल्पना मात्र माना जा सकता है परन्तु उस समय फ्रान्सीसी आक्रमण का भय, निस्सन्देह, वास्तविक था। 1798 ई. में नेपोलियन ने मिस्र पर आक्रमण किया जो विफल हुआ। परन्तु 1801 ई. में नेपोलियन रूस से मिलकर हिरात और कन्धार के मार्ग से पुनः भारत पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था और स्थल पर नेपोलियन की निरन्तर सफलताओं के कारण यह योजना अस्वाभाविक नहीं मानी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त, भारत में विभिन्न भारतीय शासकों के दरबार में फ्रान्सीसी सैनिक और अधिकारी अंग्रेजों के विरुद्ध कार्यरत थे। निजाम ने अपने यहाँ फ्रान्सीसी अधिकारियों की नियुक्ति की हुई थी, सिन्धिया ने अपनी सेनाओं का गठन फ्रान्सीसी अफसरों की सहायता से किया था और उनके व्यय के लिए उन्हें जागीर के रूप में गंगा-यमुना के दोआब में भूमि प्रदान कर दी थी तथा टीपू सुल्तान ने अपने को 'नागरिक टीपू' (Citizen Tipu) कहा था, फ्रान्सीसी क्रान्तिकारियों के तिरंगे झण्डे को अपने यहाँ फहराया था और जिस समय वैलेजली ने कलकत्ता में कदम रखा था तभी मॉरीशस टापू से कुछ फ्रान्सीसी सैनिकों ने बंगलौर में प्रवेश किया था।

इस प्रकार वैलेजली के आगमन के समय अंग्रेज कम्पनी को प्रथम श्रेणी की शक्ति स्वीकार नहीं किया जा सकता था। परन्तु वैलेजली ने अपने सात वर्ष के कार्यकाल में एक-एक करके अपने सभी शत्रुओं को परास्त किया और कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। इसी कारण उसे इंगलैण्ड द्वारा भारत में भेजे गये श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञों में स्थान प्रदान किया गया है।

2. लक्ष्य और नीति

वैलेजली का लक्ष्य और नीति प्रारम्भ से ही स्पष्ट थी। उसके अनुसार 'हस्तक्षेप न करने की नीति' पूर्णतः असफल सिद्ध हो चुकी थी तथा अंग्रेज कम्पनी की शक्ति एवं प्रतिष्ठा की स्थापना हेतु शक्ति का प्रयोग और भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लेना आवश्यक था। कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाना और फ्रान्सीसियों के प्रभाव को सर्वदा के लिए भारत से समाप्त करना उसका लक्ष्य था और इसकी पूर्ति के लिए वह कूटनीति एवं युद्ध दोनों ही बातों के प्रयोग के लिए तत्पर था। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में उसने पूर्ण सफलता प्राप्त की। अपने जाने से पहले उसने फ्रान्सीसी प्रभाव को भारत से नष्ट कर दिया और अंग्रेज कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना में उसका योगदान महत्वपूर्ण रहा। उसने भारत में अंग्रेज कम्पनी के प्रभाव को ही नहीं अपितु सीमाओं को भी बढ़ाया और उसकी पूर्ति के लिए विभिन्न साधनों का प्रयोग किया।

3. साधन

(अ) युद्ध के पश्चात् प्राप्त की गयी भूमि जैसे 1799 ई. में चतुर्थ मैसूर-युद्ध के पश्चात् तथा 1803 ई. में सिन्धिया और बरार के भौंसले शासक से द्वितीय मराठा-युद्ध के पश्चात् ।

(ब) शासन-प्रबन्ध की खराबी के आधार पर एक राज्य के शासक को पद और पेंशन देकर शासन से पृथक करके उसके राज्य पर अधिकार कर लेना। यह तरीका जिसे 'मीडियाटाइजेशन' (Mediatization) कहा गया, साधारणतः उत्तराधिकार के अवसर पर जैसे तंजौर, सूरत और कर्नाटक राज्यों के साथ अथवा शासक के अल्पवयस्क होने पर जैसे फर्रुखाबाद के साथ अपनाया गया था।

(स) सहायक-सन्धि (Subsidiary Alliance) द्वारा।

(अ) युद्ध

1. चतुर्थ मैसूर-युद्ध (1799 ई.)—टीपू अंग्रेजों का कट्टर शत्रु था और वह फ्रान्सीसियों की सहायता लेकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिए कटिबद्ध था। इस कारण टीपू की शक्ति को समाप्त करना वैलेजली के लिए आवश्यक हो गया। 1799 ई. में मैसूर का चतुर्थ युद्ध हुआ जिसमें टीपू मारा गया। मैसूर के अधिकांश भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और बाकी बचे हुए राज्य का शासन पूर्ववर्ती हिन्दू-शासक के एक वंशज को दे दिया गया। इस प्रकार मैसूर को जीतकर वैलेजली ने कम्पनी की सीमाओं का विस्तार किया (विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 11 देखिए)।

2. द्वितीय मराठा-युद्ध (1803-1805 ई.)—वैलेजली के भारत आने के समय मराठा सरदारों में गम्भीर मतभेद था तथा सिन्धिया और होल्कर एक-दूसरे के शत्रु बने हुए थे। पेशवा बाजीराव द्वितीय दुर्बल और षड्यन्त्रकारी था। वह मराठों का नेतृत्व करने के सर्वथा अयोग्य था। ऐसी स्थिति में यह आशा नहीं की जा सकती थी कि मराठे अंग्रेजों के विरुद्ध संयुक्त होकर कोई कदम उठा पाते। वैलेजली ने इस बात को शुरू में ही समझ लिया था। वह यह भी जानता था कि कम्पनी को भारत की सर्वोच्च सत्ता बनाने में सबसे बड़ी बाधा मराठों की शक्ति थी। परन्तु सबसे पहले उसे टीपू को समाप्त करना था। इस कारण सर्वप्रथम उसने मराठों से टीपू के विरुद्ध सहायता लेने का प्रयत्न किया। पेशवा बाजीराव इसके लिए तैयार हो गया, यद्यपि युद्ध के अवसर पर अंग्रेजों को सहायता देने की बजाय उसने टीपू से मिलने का प्रयत्न किया। युद्ध के पश्चात् उसने यह बहाना कर दिया कि उसे नाना फड़नवीस ने सहायता नहीं देने दी। इस प्रकार मराठों और अंग्रेजों में परस्पर विश्वास की भावना समाप्त हो गयी। परन्तु द्वितीय मराठा-युद्ध का मुख्य कारण मराठों का आन्तरिक संघर्ष था जिसके कारण अंग्रेजों को मराठों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला और अन्त में उनका मराठा सरदारों से संघर्ष हुआ।

1800 ई. में नाना फड़नवीस की मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु तक प्रायः सभी योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो चुकी थी। उस समय पूना-दरबार षड्यन्त्रों का केन्द्र बना हुआ था। पेशवा और सिन्धिया में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार पेशवा ने सिन्धिया को होल्कर के विरुद्ध और सिन्धिया ने पेशवा को मृत नाना फड़नवीस के मित्रों के विरुद्ध सहायता देने का वायदा किया यद्यपि यह मित्रता विश्वासजनक न थी क्योंकि पेशवा सिन्धिया के प्रभाव से मुक्ति चाहता था और सिन्धिया पेशवा के प्रति शंकालु था। परन्तु इस समझौते ने इस समय मराठों की पारस्परिक शत्रुता को प्रोत्साहन दिया। सिन्धिया और होल्कर में मालवा में संघर्ष आरम्भ हो गया तथा उसी समय पेशवा ने अपने और अपने पिता के राजनीतिक शत्रुओं को समाप्त करना आरम्भ किया। उसने जसवन्तराव होल्कर के भाई बिठूजी होल्कर का वध करा दिया। उस समय इन्दौर के युद्ध में होल्कर सिन्धिया से पराजित हुआ था। परन्तु अपने भाई के कत्ल का बदला लेने के लिए जसवन्तराव तुरन्त दक्षिण की ओर बढ़ा और 25

अक्टूबर, 1802 ई. को उसने पूना के निकट एक युद्ध में पेशवा और सिन्धिया की संयुक्त सेनाओं को परास्त कर दिया। पूना पर होल्कर का अधिकार हो गया और पेशवा को सिंहगढ़ भागना पड़ा। परन्तु पेशवा को वहाँ से भी भागना पड़ा और अन्त में उसने बेसीन जाकर शरण ली। उधर होल्कर ने रघुनाथराव के दत्तक पुत्र अमृतराव के बेटे विनायकराव को पूना में पेशवा की गद्दी पर बैठा दिया।

अपनी गद्दी को पुनः प्राप्त करने के लिए पेशवा बाजीराव ने अंग्रेजों से सहायता माँगी और 31 दिसम्बर, 1802 ई. को वैलेजली की सहायक-सन्धि स्वीकार कर ली। यह सन्धि प्रख्यात **बेसीन की सन्धि** थी। इस सन्धि की शर्तें निम्नलिखित थीं :

1. बाजीराव और अंग्रेज कम्पनी ने पारस्परिक सुरक्षा के साथ-साथ एक-दूसरे के मित्रों की सुरक्षा का आश्वासन दिया;

2. पेशवा की सहायता के लिए 6,000 पैदल सैनिक और तोपखाना आदि भी अंग्रेजों ने देना स्वीकार किया तथा उस सेना को पेशवा की सीमाओं में ही रखने की व्यवस्था की गयी;

3. पेशवा ने इस सहायक-सेना के व्यय हेतु 26 लाख रुपया वार्षिक आय की भूमि अंग्रेजों को देना स्वीकार किया। यह भी निश्चित किया गया कि इस सेना के उपभोग के लिए जो वस्तुएँ आयेंगी उन पर पेशवा कोई कर नहीं लेगा;

4. पेशवा ने वायदा किया कि वह किसी भी यूरोपियन अथवा अंग्रेजों के शत्रु को अपनी सीमाओं में रहने नहीं देगा;

5. पेशवा ने सूरत से अपने अधिकार को छोड़ दिया;

6. पेशवा ने वायदा किया कि वह हैदराबाद के निजाम और गुजरात के गायकवाड़ से अपने मतभेदों का निर्णय अंग्रेजों से करायेगा; और

7. उसने अंग्रेजों की सलाह के बिना किसी भी अन्य राज्य से मित्रता, सन्धि या अन्य सम्बन्ध न रखने का वायदा किया और इस प्रकार पेशवा ने अपनी विदेश-नीति अंग्रेजों के हाथों सौंप दी।

इस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता खोकर पेशवा ने अंग्रेज कम्पनी का संरक्षण और सहायता प्राप्त की। 13 मई, 1803 ई. को आर्थर वैलेजली के संरक्षण में अंग्रेजी सेना की सहायता से पेशवा बाजीराव ने पूना में प्रवेश करके अपनी गद्दी प्राप्त की। होल्कर मालवा चला गया।

बेसीन की सन्धि महत्वपूर्ण थी। रॉबर्ट्स ने लिखा है : "बेसीन की सन्धि ने कम्पनी को दक्षिण की सर्वोच्चता प्रदान कर दी।"[1] ओवन (Owen) ने लिखा था : "प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रीति से इस सन्धि ने कम्पनी को भारत का साम्राज्य प्रदान किया।"[2] परन्तु बेसीन की सन्धि की महत्ता को मानते हुए भी यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस सन्धि ने ही अंग्रेजों को दक्षिण अथवा भारत की सर्वोच्चता प्रदान कर दी थी। निस्सन्देह, मराठा-संघ के प्रमुख पेशवा से सन्धि करके तथा उससे सहायक-सन्धि की शर्तों को स्वीकार कराकर अंग्रेजों के सम्मान और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई थी क्योंकि मराठे ही उस समय भारत की सबसे बड़ी

1 "The treaty of Bassein gave the company the supremacy of the Deccan." —*Roberts.*

2 "The treaty by its direct and indirect operations gave the Company the empire of India." —*Owen.*

शक्ति माने जाते थे। परन्तु भारत की सर्वोच्चता प्राप्त करने के लिए यह सन्धि ही पर्याप्त न थी । इस सन्धि के उपरान्त जो युद्ध हुए उन युद्धों में अंग्रेजों की सफलता ने अंग्रेज कम्पनी की स्थिति को सर्वोच्च बनाया। यदि अंग्रेजों को युद्ध में असफलता मिलती तो सम्भवतः यह सन्धि अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध होती। कैसलरे ने जो उस समय बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल (Board of Control) का सभापति था, कहा था : "यह हमें उलझे हुए और कभी समाप्त न होने वाले मराठों के झगड़ों में फँसा देगा।" स्वयं वैलेजली का अनुमान था कि मराठों से युद्ध अवश्यम्भावी है और यह सन्धि अन्तिम नहीं होगी। बाद में हुआ भी ऐसा ही ।

आर्थर वैलेजली ने इस सन्धि के बारे में कहा था : "यह एक ऐसी सन्धि थी जो सिफर (zero) के बराबर थी।" उसका कथन सत्य सिद्ध हुआ क्योंकि इस सन्धि मात्र से अंग्रेजों को कोई लाभ नहीं हुआ। समस्त मराठा सरदारों ने इस सन्धि को अपना अपमान समझा और इसके द्वारा अपनी स्वतन्त्रता का अपहरण अनुभव किया। उन्होंने अपने भेद-भावों को भूलकर संयुक्त रूप से अंग्रेजों का विरोध करने का निश्चय किया यद्यपि अन्त तक यह सम्भव न हो सका। पेशवा स्वयं भी इस सन्धि से सन्तुष्ट न था और उसने सभी मराठा सरदारों से अंग्रेजों के विरुद्ध पत्र-व्यवहार शुरू कर दिया। दौलतराव सिन्धिया और रघुजी भौंसले द्वितीय तुरन्त उससे सहमत हो गये। परन्तु होल्कर उनका साथ देने को तत्पर न हुआ और मालवा की ओर चला गया। गायकवाड़ अन्त तक तटस्थ रहा।

अगस्त 1803 ई. में युद्ध आरम्भ हुआ। प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो गया कि अंग्रेजों की युद्ध की योजना एक सुविचारित एवं निश्चित कार्यक्रम के अनुसार थी जबकि मराठों ने ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया था। अंग्रेजों ने उत्तरी और दक्षिणी भारत दोनों स्थानों पर युद्ध की योजना बनायी। उत्तर की सेना का नेतृत्व जनरल लेक (Lake) को और दक्षिण की सेना का नेतृत्व आर्थर वैलेजली (Arthur Wellesley) को सौंपा गया। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों ने गुजरात, बुन्देलखण्ड और उड़ीसा में भी युद्ध जारी रखने की योजना बनायी। उनका उद्देश्य था कि जहाँ तक सम्भव हो सके मराठा सरदारों को परस्पर एक दूसरे से मिलने न दिया जाय और उन्हें अलग-अलग परास्त किया जाय। इसके विपरीत, मराठा सरदारों ने अपनी सेना को संयुक्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सिन्धिया का फ्रान्सीसी अधिकारी पेरन (Perren) 1796 ई. में यूरोप वापस चला गया था और उसके पश्चात् अन्य कई फ्रान्सीसी सिन्धिया का साथ छोड़ गये थे। इस कारण सिन्धिया को फ्रान्सीसी तरीके से शिक्षित अपनी सेना का लाभ उठाने का अवसर प्राप्त न हो सका। इसके अतिरिक्त मराठों ने अपनी स्वयं की युद्ध-नीति को त्याग कर यूरोपियन तरीके से युद्ध करने का जो प्रयत्न किया वह भी उनकी भूल थी क्योंकि उसमें वे पूर्ण पारंगत न थे।

उपर्युक्त कारणों से मराठे अति शीघ्र पराजित हुए। 12 अगस्त, 1803 ई. को आर्थर वैलेजली ने अहमदनगर पर अधिकार कर लिया और 23 सितम्बर को औरंगाबाद से 45 मील दूर असई के युद्ध में उसने सिन्धिया और भौंसले की सम्मिलित सेनाओं को परास्त कर दिया। 29 नवम्बर को अमरगाँव के युद्ध में भौंसले की सेनाओं की पुनः पराजय हुई और 15 दिसम्बर, 1803 ई. को गाविलगढ़ के सुदृढ़ किले पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। उत्तर-भारत में जनरल लेक ने भी इसी प्रकार सफलता प्राप्त की। अगस्त 1803 ई. में उसने अलीगढ़ पर अधिकार कर लिया और सितम्बर में दिल्ली पर अधिकार करके 83 वर्षीय वृद्ध और अन्धे मुगल बादशाह शाहआलम को अंग्रेजों के संरक्षण में ले लिया। उसने भरतपुर के जाट राजा से भी सन्धि करने में सफलता प्राप्त की और 18 अक्टूबर को आगरा पर अधिकार कर लिया। नवम्बर 1803 ई. में उसने लासवारी के युद्ध में सिन्धिया की सेना को

बुरी तरह परास्त किया और चम्बल नदी के दक्षिण के सिन्धिया के सभी प्रदेश अंग्रेजों के हाथ में चले गये। उड़ीसा में अंग्रेजों ने कंटक पर अधिकार कर लिया और उन्हें गुजरात एवं बुन्देलखण्ड में भी सफलता प्राप्त हुई। इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने के पाँच माह पश्चात् ही अंग्रेजों ने दो प्रमुख मराठा सरदार सिन्धिया और भौंसले को परास्त कर दिया और उन दोनों को सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

सन्धियाँ—17 दिसम्बर, 1803 ई. को भौंसले ने अंग्रेजों से **देवगाँव की सन्धि** की, जिसके अनुसार भौंसले ने—

1. कटक, बालासोर और वार्दा नदी के पश्चिम का सम्पूर्ण भू-प्रदेश अंग्रेजों को सौंप दिया;

2. वायदा किया कि निजाम और पेशवा से अपने झगड़ों का निर्णय अंग्रेजों से करायेगा;

3. किसी भी यूरोपियन, अमेरिकन अथवा ऐसे राज्य के व्यक्ति को जो अंग्रेजों का शत्रु हो, बिना अंग्रेजों की अनुमति के अपने राज्य में नहीं रहने देगा;

4. अपनी राजधानी नागपुर में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखना स्वीकार किया (वहाँ सबसे पहली बार एलफिन्स्टन (Elphinstone) को रेजीडेण्ट बनाकर भेजा गया); और

5. बेसीन की सन्धि को स्वीकार कर लिया।

इसी प्रकार, 30 दिसम्बर, 1803 ई. को सिन्धिया ने अंग्रेजों से **सूरजअर्जुनगाँव की सन्धि** कर ली, जिसके अनुसार उसने—

1. गंगा और यमुना नदी के बीच की अपनी समस्त भूमि तथा जयपुर, जोधपुर और गोहद के उत्तर की सम्पूर्ण भूमि अंग्रेजों को दे दी;

2. अहमदनगर, भड़ौंच, अजन्ता तथा गोदावरी नदी के बीच की समस्त-भूमि अंग्रेजों को दे दी;

3. मुगल बादशाह, पेशवा, गायकवाड़ और निज़ाम से अपने समस्त अधिकारों को वापस ले लिया;

4. किसी भी यूरोपियन, अमेरिकन या अंग्रेजों के शत्रु-राज्य के व्यक्ति को अंग्रेजों की स्वीकृति के बिना अपनी सीमाओं में न रखने का वायदा किया;

5. अपने यहाँ एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखना स्वीकार किया (उसके यहाँ प्रथम अंग्रेज रेजीडेण्ट मेजर माल्कम (Major Malcolm) नियुक्त किया गया); और

6. बेसीन की सन्धि को स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त सन्धि के अतिरिक्त 27 फरवरी, 1804 ई. को सिन्धिया ने अंग्रेजों से एक सन्धि और की जिसके अनुसार उसने अंग्रेजों से किसी भी युद्ध के अवसर पर सहायता पाने और उन्हें सहायता देने का आश्वासन प्राप्त किया तथा दिया।

होल्कर से युद्ध—इन सन्धियों ने अंग्रेजों की स्थिति को पर्याप्त दृढ़ किया किन्तु मराठों से संघर्ष अभी पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ। होल्कर ने उस समय तक इस युद्ध में कोई भाग नहीं लिया था। अप्रैल 1804 ई. में होल्कर से युद्ध आरम्भ हुआ। होल्कर ने इस अवसर पर अंग्रेजों के मित्र-राज्य जयपुर पर आक्रमण किया जिसके कारण अंग्रेजों ने उससे युद्ध घोषित कर दिया। प्रारम्भ में होल्कर ने कर्नल मौन्सन (Col. Monson) को कोटा के निकट मुकुन्द-

दारा के दर्रे में बुरी तरह परास्त किया। इस युद्ध में अंग्रेजों की पर्याप्त क्षति हुई। इस विजय से उत्साहित होकर होल्कर ने एक बड़ी सेना लेकर अक्टूबर 1804 ई. में दिल्ली का घेरा डाल दिया। 8 से 14 अक्टूबर तक यह घेरा पड़ा रहा परन्तु लेफ्टिनेण्ट कर्नल ऑक्टरलोनी के प्रयत्नों से होल्कर को सफलता नहीं मिली और उसे घेरा हटाना पड़ा। 13 नवम्बर को होल्कर की सेना की डीग के युद्ध में पराजय हुई और 17 नवम्बर, 1804 ई. को फर्रुखाबाद के युद्ध में जनरल लेक ने होल्कर को परास्त किया।

1805 ई. के प्रारम्भ में अंग्रेज भरतपुर के किले को जीतने में असफल रहे थे। भरतपुर का जाट राजा होल्कर का मित्र था। इस कारण भरतपुर को जीतना अंग्रेजों के लिए आवश्यक हो गया था। परन्तु 10 अप्रैल, 1805 ई. को जाट राजा ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली, जिसके अनुसार उसने—

1. अंग्रेजों को 20 लाख रुपया दिया;

2. अंग्रेजों और उनके मित्रों को अपना मित्र एवं उनके शत्रुओं को अपना शत्रु मान लिया; तथा

3. जनरल लेक के साथ की गयी पिछली सन्धि से प्राप्त सभी सुविधाओं को त्याग दिया।

इस प्रकार प्रारम्भ में थोड़ी असफलता के पश्चात् अंग्रेज होल्कर के विरुद्ध भी सफल हुए और सम्भव था कि यदि युद्ध थोड़े समय और चलता तो होल्कर को अंग्रेजों से सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ता। परन्तु होल्कर बच गया। उसी समय वैलेजली को भारत से वापस बुला लिया गया। कर्नल मौन्सन की पराजय और भरतपुर के घेरे की प्रारम्भिक असफलता ने कम्पनी के डायरेक्टरों को चिन्तित कर दिया था। उन्हें वैलेजली की नीति की सफलता में शंका हो गयी। स्वयं पिट (इंगलैण्ड का प्रधानमन्त्री) ने कहा : "लॉर्ड वैलेजली ने बहुत ही गैरकानूनी एवं अव्यावहारिक तरीके से कार्य किया है और अब उसे भारत में शासन करने के लिए नहीं रहने दिया जा सकता ।"[1] अतएव वैलेजली को तुरन्त वापस बुला लिया गया और लॉर्ड कार्नवालिस को 67 वर्ष की आयु में पुनः भारत भेजा गया। 30 जुलाई, 1805 ई. को वह कलकत्ता पहुँचा। कार्नवालिस हस्तक्षेप न करने की नीति में विश्वास करता था और वह सभी मराठा सरदारों से शान्ति-समझौता करने का पक्षधर था। परन्तु उसे इस बात का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। 5 अक्टूबर को उसकी मृत्यु हो गयी। उसके पश्चात् सर जॉर्ज बार्लो (Sir George Barlow) ने गवर्नर-जनरल के पद को अस्थायी रूप से सँभाला। वह कार्नवालिस की नीति का समर्थक था और उसने न केवल होल्कर से समझौता किया बल्कि सिन्धिया और भौंसले से की गयी वैलेजली की सन्धियों में भी परिवर्तन किया।

वैलेजली के जाने के पश्चात् भी जनरल लेक ने अमृतसर तक होल्कर का पीछा किया। सम्भवतः होल्कर पंजाब के सिख राजा रणजीतसिंह से सहायता पाने की आशा से उधर गया था। परन्तु उसे इस कार्य में सफलता न मिली। 7 जनवरी, 1806 ई. को होल्कर ने अंग्रेजों से राजपुरघाट की सन्धि कर ली। उस समय गवर्नर-जनरल वैलेजली नहीं था बल्कि जॉर्ज बार्लो था।

वैलेजली की मराठा-नीति का मूल्यांकन—कुछ इतिहासकारों के अनुसार वैलेजली की मराठा-नीति बहुत ही आवश्यक, साहसपूर्ण और सफल थी। मराठों से अंग्रेजों

---

1 "Lord Wellesley had acted most imprudently and illegally, and that he could not be suffered to remain in the Government." —*Pitt, the Younger.*

का संघर्ष आवश्यक था क्योंकि भारत की सर्वोच्च शक्ति कौन है, इसका निर्णय होना परिस्थितियों की प्रकृति में निहित था। वैलेजली ने इसे अनुभव करते हुए साहस से आगे कदम बढ़ाया और मराठा-शक्ति को तोड़कर अंग्रेज कम्पनी को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनाने का प्रयत्न किया। उसने इस कार्य में पर्याप्त सफलता भी प्राप्त की। मराठों की शक्ति यद्यपि समाप्त नहीं हुई परन्तु अत्यधिक दुर्बल अवश्य कर दी गयी और यदि वैलेजली को थोड़ा समय और प्राप्त हो जाता तो, सम्भवतः, मराठा-शक्ति को समाप्त ही कर दिया जाता। विल्सन ने लिखा है : "तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो भी 1817 ई. में किया गया वह 1805 ई. में ही कम व्यय और अधिक सुविधा से किया जा सकता था।"[1]

परन्तु अन्य इतिहासकारों मे इसके विपरीत मत प्रकट किया है। उनका कहना है कि वैलेजली के युद्धों के कारण कम्पनी की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गयी, उस पर कर्ज हो गया और ऐसी स्थिति में युद्ध को आगे चलाना असम्भव था तथा उसके परिणाम हानिकारक भी हो सकते थे। कार्नवालिस ने यहाँ की स्थिति को देखकर कहा था : "वास्तव में हमारे पास शासन को चलाने के भी साधन नहीं हैं।" ऐसी आर्थिक दुर्बलता की स्थिति में युद्ध जारी रखना खतरनाक था। यदि कुछ समय युद्ध और चलता तथा असन्तुष्ट सिन्धिया और भौंसले भी पुनः युद्ध में सम्मिलित हो जाते तो अंग्रेजों की स्थिति खराब हो सकती थी। अतएव यह मानते हुए भी कि वैलेजली की नीति उपयुक्त थी; उनका कहना है कि उस अवसर पर वैलेजली का वापस चले जाना और जॉर्ज बार्लो का होल्कर से सन्धि करना तथा सिन्धिया और भौंसले से की गयी सन्धि में परिवर्तन करना लाभदायक हुआ।

उपर्युक्त विभिन्न मतों के अध्ययन से स्पष्ट है कि वैलेजली की मराठा-नीति पूर्णतः सफल रही। उसने अंग्रेज कम्पनी की सीमाओं को विस्तृत किया, अंग्रेजों के सम्मान में वृद्धि की, मुगल बादशाह, राजूपत-राजाओं तथा अन्य दुर्बल शासकों को कम्पनी के संरक्षण में लेकर कम्पनी के प्रभाव में वृद्धि की और मराठा-शक्ति को समाप्त तो नहीं किया जा सका किन्तु दुर्बल अवश्य कर दिया। उसकी इस सफलता के विषय में कोई मतभेद नहीं है। जो भी मतभेद है वह इस विषय में है कि उस अवसर पर वैलेजली की नीति को ही आगे बढ़ाना उपयुक्त था अथवा सर जॉर्ज बार्लो की मराठा सरदारों को सन्तुष्ट करने की नीति कम्पनी के लिए अधिक लाभदायक थी। परन्तु इसका निर्णय अनुमान के आधार पर सम्भव नहीं है।

सर जॉर्ज बार्लो और मराठा सरदार—सर जॉर्ज बार्लो ने शान्ति की नीति का अनुकरण करते हुए मराठा सरदारों के साथ सन्धि करने में नम्रता का परिचय दिया और ऐसा करते हुए उसने वैलेजली द्वारा किये गये कार्य में कुछ परिवर्तन कर दिया तथा जो लाभ कम्पनी ने प्राप्त किये थे,उन लाभों को कुछ मात्रा में त्याग भी दिया।

22 नवम्बर, 1805 ई. को सिन्धिया से एक नवीन सन्धि की गयी जिसके द्वारा सूरजअर्जुनगाँव की सन्धि में कुछ परिवर्तन किये गये। गोहद की सीमाएँ और ग्वालियर का किला सिन्धिया को वापस दे दिया गया। यह निश्चित कर दिया गया कि सिन्धिया चम्बल नदी के उत्तर और अंग्रेज चम्बल नदी के दक्षिण की भूमि पर कोई दावा नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त; अंग्रेजों ने राजपूत-शासकों से अपने संरक्षण को हटा लिया तथा वायदा किया कि वह उनके और सिन्धिया के मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

7 जनवरी, 1806 ई. को होल्कर के साथ राजपुर की सन्धि की गयी। इसके अनुसार होल्कर ने—

---

1 "What was done in 1817 might have been accomplished, with quite as much reason, with more ease and still less cost, in 1805." —*Wilson.*

1. चम्बल नदी के उत्तर की समस्त भूमि से अपने अधिकार को छोड़ दिया;

2. पूना, बुन्देलखण्ड तथा अंग्रेजी एवं उनके मित्र-राज्यों की सीमाओं पर कोई अधिकार न करने का वायदा किया;

3. अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी भी यूरोपियन को अपनी सेवाओं में न रखने का वायदा किया;

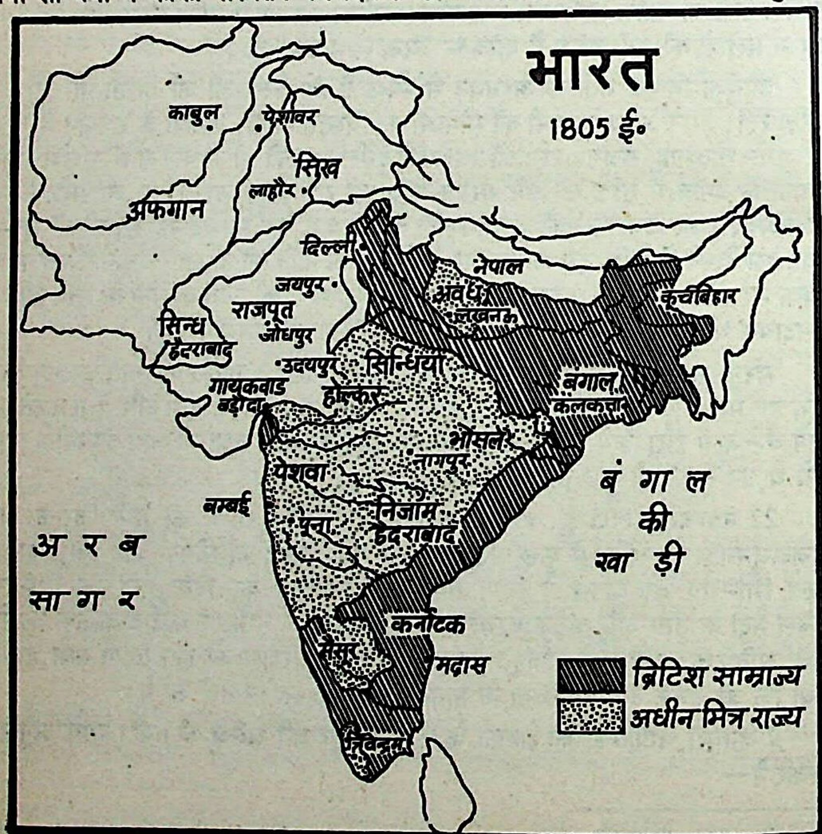
4. एक निश्चित मार्ग से मालवा वापस जाने का वायदा किया;

5. अंग्रेजों ने चम्बल नदी के दक्षिण की होल्कर की सीमाओं में हस्तक्षेप न करने का वायदा किया;

6. अंग्रेजों ने चम्बल नदी के उत्तर के राज्यों जैसे टोंक, रामपुर आदि से अपने संरक्षण को समाप्त कर दिया और बूँदी की पहाड़ियों के उत्तर की सम्पूर्ण भूमि होल्कर को वापस कर दी।

7. अंग्रेजों ने जयपुर-नरेश से अपना संरक्षण हटा लिया। जयपुर-नरेश ने मराठों के विरुद्ध अंग्रेजों को बहुत सहायता दी थी और इस प्रकार उस पर से अपना संरक्षण हटाकर अंग्रेजों ने उसे मराठों की दया पर छोड़कर उसके साथ अन्याय किया।

इस प्रकार सर जॉर्ज बार्लो ने वैलेजली के द्वारा अपनायी गयी नीति और उसके द्वारा की गयी सन्धियों में काफी परिवर्तन कर दिया। आर्थिक स्थिति को ठीक करने और युद्ध से



बचने की दृष्टि से यह नीति अवश्य सफल रही परन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह नीति लाभदायक न थी। मराठा सरदारों को पुनः अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने का अवसर मिला और कुछ मात्रा में उनकी प्रतिष्ठा में वृद्धि भी हुई। राजपूत-शासकों का विश्वास कम्पनी से हट गया और मराठों के आक्रमण राजस्थान में बढ़ गये।

परन्तु तब भी वैलेजली की मराठा-नीति और द्वितीय मराठा-युद्ध अंग्रेजों के लिए पर्याप्त लाभदायक सिद्ध हुए थे। अंग्रेज कम्पनी भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति होने का दावा कर सकती थी यद्यपि इस दावे को पूरा करने के लिए उसका मराठों से एक निर्णायक युद्ध होना बाकी था।

(ब) शासन के कुप्रबन्ध अथवा शासक के अल्पायु होने के आधार पर प्राप्त किये गये राज्य

वैलेजली ने कुछ राज्य कम्पनी के राज्य में इस कारण सम्मिलित कर लिये कि उनके शासक वहाँ का शासन सुचारु रूप से नहीं चला पा रहे थे। ये वे राज्य थे जो अंग्रेज कम्पनी के संरक्षण में थे जैसे कनार्टक, तंजौर और सूरत।

1. **कर्नाटक**—कर्नाटक की स्थिति प्रारम्भ से ही खराब थी। नवाब मुहम्मदअली ने मद्रास के निकट एक महल बनवा लिया था और वहीं भोग-विलास का जीवन व्यतीत करता था। इस कारण उस पर बहुत कर्जा हो गया जिसमें से बहुत कुछ अंग्रेज कम्पनी के कर्मचारियों का ही दिया हुआ था जिस पर वह 36% तक ब्याज देता था। नवाब की इस स्थिति से कर्नाटक का शासन अव्यवस्थित हो गया था और मद्रास सरकार इसमें कोई सुधार न कर सकी थी क्योंकि स्वयं कम्पंनी के कर्मचारी नवाब की स्थिति के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी थे। पिट्स इण्डिया एक्ट को पारित करते समय डायरेक्टरों को इस स्थिति में सुधार करने के कुछ आदेश दिये गये थे परन्तु नवाब के कर्जे की पूर्ति करने के लिए कोई विशेष प्रबन्ध न हो सका। जो प्रयत्न बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल (Board of Control) ने किया वह असन्तोषजनक सिद्ध हुआ। 1787 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस ने नवाब से सेना के व्यय और कर्जे को उतारने के लिए एक निश्चित धनराशि लेने और यदि नवाब उस धन को न दे सके तो उसके कुछ जिलों को कम्पनी के हाथों में लेने की व्यवस्था की। टीपू से युद्ध के अवसर पर सम्पूर्ण कर्नाटक को ही अंग्रेजी शासन के अधीन कर लिया गया। 1792 ई. में एक सन्धि के अनुसार कर्नाटक नवाब को वापस कर दिया गया परन्तु निश्चित हुआ कि नवाब को सेना के व्यय के लिए एक निश्चित धनराशि अंग्रेजों को देनी पड़ेगी और वह किसी भी विदेशी राज्य से सम्बन्ध नहीं रखेगा। परन्तु नवाब के कर्जे को उतारने की समस्या यथावत् रही।

अक्टूबर 1795 ई. में मुहम्मदअली की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र उमदत-उल-उमरा नवाब बना। उस समय प्रयत्न किया गया कि नवाब अपने राज्य के कुछ जिले स्थायी रूप से कम्पनी को दे दे जिसकी आय से नवाब के कर्ज को चुकाया जा सके। परन्तु नवाब इसके लिए तैयार न हुआ। अन्त में वैलेजली ने कर्नाटक को हस्तगत करने का निर्णय किया। मैसूर-युद्ध की समाप्ति और श्रीरंगपट्टम पर अधिकार करने के पश्चात् अंग्रेजों के हाथ कुछ पत्र लगे जिनसे यह प्रकट होता था कि मुहम्मदअली और उसके पुत्र ने मैसूर के राजा के साथ पत्र-व्यवहार किया था। वैलेजली ने इसी आधार पर आरोप लगाया कि नवाब ने उस सन्धि की शर्तों का उल्लंघन किया था जिसके अनुसार निश्चित हुआ था कि नवाब किसी विदेशी राज्य से सम्बन्ध स्थापित नहीं करेगा। 1801 ई. में नवाब उमदत-उल-उमरा की मृत्यु हो गयी और वैलेजली ने उसके पुत्र अली हुसैन को नवाब मानने से इन्कार कर दिया। उसने पिछले

नवाब के भतीजे अज़ीमउद्दौला के साथ एक समझौता किया जिसके अनुसार उसने कर्नाटक का शासन अंग्रेज कम्पनी को सौंपकर स्वयं वार्षिक पेंशन लेना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार कर्नाटक पर कम्पनी का अधिकार हो गया। वैलेजली ने नवाब पर आरोप लगाया था कि उसने और उसके पिता ने टीपू से पत्र-व्यवहार किया था और इसी आधार पर उसके पुत्र अली हुसैन को नवाब स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। परन्तु नवाब पर यह आरोप सिद्ध नहीं हुआ था। इस कारण कम्पनी का कर्नाटक पर अधिकार करने का कोई कानूनी या नैतिक आधार न था। परन्तु यह कार्य वैलेजली की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत था।

2. **तंजौर**—तंजौर में राजा तुलाजी की मृत्यु के पश्चात् उसकी गद्दी पर उसके भाई अमरसिंह और उसके दत्तक पुत्र सरफोजी ने दावा किया। तंजौर के पण्डितों की राय के अनुसार गद्दी अमरसिंह को दे दी गयी। परन्तु अमरसिंह एक अयोग्य शासक सिद्ध हुआ और लॉर्ड कार्नवालिस ने काशी के पण्डितों की राय लेकर गद्दी सरफोजी को दिला दी। 1799 ई. में सरफोजी ने वैलेजली से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार उसने तंजौर का राज्य कम्पनी को दे दिया और स्वयं 40,000 पौण्ड वार्षिक पेंशन लेना स्वीकार कर लिया।

3. **सूरत**—सूरत की सुरक्षा का उत्तरदायित्व कम्पनी ने 1759 ई. में मुगल शासक से प्राप्त किया था। परन्तु कम्पनी ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि सूरत की आय से कम्पनी की सेना का व्यय पूर्ण नहीं हो रहा था। 1790 ई. में नवाब की मृत्यु हुई और उसका पुत्र गद्दी पर बैठा। कम्पनी उसी अवसर पर सूरत पर अधिकार करना चाहती थी परन्तु कार्नवालिस ने हस्तक्षेप करना पसन्द नहीं किया। 1797 ई. में नवाब को अपनी समस्त सेना को समाप्त करने के लिए बाध्य किया गया। उससे एक नवीन सन्धि भी की जा रही थी कि उसकी मृत्यु हो गयी। उसका छोटा पुत्र भी कुछ सप्ताह के पश्चात् मर गया और उसके भाई ने गद्दी का दावा किया। प्रारम्भ में तो कुछ शर्तों पर उसे गद्दी देने का विचार किया गया परन्तु 1800 ई. में वैलेजली ने नवाब को गद्दी से हटाने और सूरत पर कम्पनी का अधिकार कर लेने के आदेश दे दिये। कम्पनी का सूरत पर अधिकार और भी अधिक अनुचित था क्योंकि वहाँ पर कम्पनी के पास नवाब को हटाने का कोई भी औचित्य न था। परन्तु यह कार्य भी वैलेजली की साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत उचित था।

4. **फर्रुखाबाद**—फर्रुखाबाद को भी उस अवसर पर कम्पनी के राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। नवाब की मृत्यु और उसके पुत्र के अल्पायु होने के कारण वैलेजली को वह अवसर प्राप्त हुआ। अल्पायु नवाब को पेंशन देकर कम्पनी ने फर्रुखाबाद पर अधिकार कर लिया।

(स) सहायक-सन्धि

सहायक-सन्धि (Subsidiary Alliance) वैलेजली की साम्राज्य-विस्तार की नीति का एक महत्वपूर्ण साधन थी। इसके द्वारा वैलेजली ने अंग्रेज कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार किया, भारतीय नरेशों के दरबार और राजनीति में अंग्रेजों के प्रभाव में वृद्धि की और फ्रान्सीसियों के प्रभाव को भारत से नष्ट करने में सफलता प्राप्त की। वैलेजली ने स्वयं इस सहायक-सन्धि की उत्पत्ति नहीं की थी। फ्रान्सीसी गवर्नर डूपले ने सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया था। उसने भारतीय नरेशों को सैनिक सहायता देने के बदले उनसे धन लेने की प्रथा की शुरूआत की थी। यही इस सहायक-सन्धि की उत्पत्ति थी। अंग्रेजों ने भी इस प्रथा को स्वीकार कर लिया और क्लाइव तथा उसके बाद के प्रायः सभी अंग्रेज गवर्नर-जनरलों ने इसका प्रयोग किया। वैलेजली ने इस प्रथा की विस्तृत व्याख्या की, उसमें नवीन शर्तें जोड़ीं, उसे अंग्रेजी

राज्य के विस्तार का साधन बनाया और प्रत्येक भारतीय नरेश के साथ इसका प्रयोग किया। इस सन्धि के लिए वैलेजली का यही योगदान था। अंग्रेजों ने इस सन्धि का सर्वप्रथम प्रयोग अवध के नवाब के साथ 1765 ई. में की गयी सन्धि द्वारा किया था जिसके अनुसार उन्होंने अवध की सीमाओं की सुरक्षा करने का आश्वासन दिया और नवाब ने उस हेतु होने वाले व्यय को वहन करने का वायदा किया। एक अंग्रेज रेजीडेण्ट भी अवध में उसी समय रखा गया। 1787 ई. में सबसे पहली बार कार्नवालिस ने कर्नाटक के नवाब पर यह शर्त लागू की कि वह किसी बाह्य शक्ति से अंग्रेजों की अनुमति के बिना कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा और सर जॉन शोर ने इस शर्त को अवध के नवाब पर लागू किया। वैलेजली ने इसमें कुछ अन्य शर्तें भी सम्मिलित कीं और मुख्यतः माँग की कि अंग्रेजों की सहायता के बदले में सन्धि करने वाला भारतीय नरेश अपने राज्य की भूमि का कुछ निश्चित भाग स्थायी रूप से अंग्रेज कम्पनी को प्रदान करे, और इस प्रकार उसने इस सन्धि को कम्पनी के साम्राज्य-विस्तार का साधन बनाया।

इस प्रकार सहायक-सन्धि का प्रयोग अंग्रेज वैलेजली के समय से पहले भी कर रहे थे। परन्तु समय के अनुसार इस सन्धि के स्वरूप में परिवर्तन होते रहे और वैलेजली ने अपने समय में इसे पूर्णता प्रदान की। प्रारम्भ से लेकर वैलेजली के समय तक हमें सहायक-सन्धि के निम्नलिखित चार स्वरूप दिखायी देते हैं :

1. प्रथम, इसके द्वारा अंग्रेज किसी भारतीय नरेश को आवश्यकता होने पर सैनिक सहायता देते थे और इसके बदले में उससे एक निश्चित धनराशि प्राप्त कर लेते थे। ऐसी सन्धि 1768 ई. में हैदराबाद के निजाम से की गयी थी।

2. द्वितीय, अंग्रेज कम्पनी सन्धि करने वाले भारतीय नरेश की सुरक्षा के लिए एक स्थायी सेना रखती थी और इस सेना के व्यय हेतु उस नरेश से वार्षिक धन लेती थी। यह अंग्रेजी सेना उस नरेश के राज्य की सीमाओं के निकट लेकिन कम्पनी की सीमाओं के अन्तर्गत रखी जाती थी। ऐसी एक सन्धि 1784 ई. में सिन्धिया के साथ की गयी थी यद्यपि यह सन्धि अस्थायी सिद्ध हुई थी।

3. तृतीय, अंग्रेज कम्पनी सन्धि करने वाले भारतीय नरेश की सुरक्षा के लिए एक स्थायी सेना रखती थी, उससे निश्चित वार्षिक धन लेती थी और यह सेना उस नरेश के राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत ही रखी जाती थी। ऐसी सन्धि 1798 ई. में हैदराबाद के निजाम से की गयी थी।

4. चतुर्थ, अंग्रेज कम्पनी अपनी सेना को सन्धि करने वाले राज्य की सहायता के लिए न केवल स्थायी रूप से रखती थी और न केवल उस राज्य की सीमाओं के अन्तर्गत रखती थी बल्कि उस नरेश से वार्षिक धन के स्थान पर उसके राज्य की भूमि का एक निश्चित भाग सर्वदा के लिए ले लेती थी। ऐसी सन्धियाँ 1800 ई. में हैदराबाद के निजाम से, 1801 ई. में अवध के नवाब से, 1802 ई. में पेशवा से और 1803 ई. व 1804 ई. में अन्य मराठा सरदारों से की गयी थीं। सन्धि की यह शर्त ऐसी थी जिसका प्रयोग वैलेजली ने ही किया था और सहायक-सन्धि की शर्तों में यही उसका महत्वपूर्ण योगदान था।

उपर्युक्त इस चौथी प्रकार की शर्त के अतिरिक्त वैलेजली ने सहायक-सन्धि में निम्नलिखित शर्तें और सम्मिलित की थीं जिन्हें सन्धि करने वाले भारतीय नरेश को स्वीकार करना पड़ता था :

1. भारतीय नरेश के दरबार में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखा जायेगा।

2. भारतीय नरेश अंग्रेजों की अनुमति के बिना किसी भी यूरोपियन, अमेरिकन अथवा अंग्रेजों के शत्रु-राज्य के व्यक्ति को अपने राज्य में सेवा प्रदान नहीं करेगा।

3. सन्धि करने वाला भारतीय नरेश, अंग्रेजों की अनुमति के बिना, किसी भी विदेशी राज्य (जिनमें भारत के सभी राज्य सम्मिलित होते थे) से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा, अर्थात् उसकी विदेश-नीति अंग्रेजों के नियन्त्रण में रहेगी।

4. अंग्रेज उस नरेश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करेंगे; तथा

5. अंग्रेज भारतीय नरेश के आन्तरिक शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

वैलेजली की उपर्युक्त सहायक-सन्धि अंग्रेजों के लिए प्रत्येक प्रकार से लाभदायक थी तथा भारतीय नरेशों व उनकी प्रजा के लिए प्रत्येक प्रकार से हानिकारक थी।

सहायक-सन्धि से कम्पनी को लाभ—1. इस सन्धि के प्रयोग से फ्रान्सीसियों का प्रभाव भारतीय नरेशों के राज्यों से पूर्णतः समाप्त हो गया क्योंकि अब उन्हें वहाँ नौकरी करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता था।

2. इससे भारतीय नरेश पूर्णतः एक-दूसरे से पृथक कर दिये गये क्योंकि अब उनकी विदेश-नीति अंग्रेजों के हाथों में चली गयी और वे आपस में मिलने का कोई प्रयत्न नहीं कर सकते थे। इसी से अंग्रेजों को एक-एक करके अपने सभी विरोधी भारतीय नरेशों के राज्यों को समाप्त करने की सुविधा प्राप्त हो सकी।

3. इससे अंग्रेज कम्पनी की सैनिक सीमाएँ उसकी राजनीतिक सीमाओं से बहुत आगे बढ़ गयीं क्योंकि जहाँ-जहाँ अंग्रेजी सेना रखी गयी वहीं अंग्रेज़ी सैनिक-शक्ति का प्रभाव स्थापित हो गया। इस सन्धि को करने वाला राज्य सैनिक दृष्टि से पूर्णतः कम्पनी पर आश्रित होता था क्योंकि उसके राज्य की मुख्य सेना उसकी स्वयं की नहीं बल्कि कम्पनी की थी।

4. इससे कम्पनी को अन्य लाभ भी थे। कम्पनी की सेनाएँ भारतीय नरेशों की सीमाओं में रहती थीं और उनका व्यय भी भारतीय नरेश देते थे। इससे कम्पनी बिना किसी व्यय के एक बहुत बड़ी सेना भारत के विभिन्न भागों में रख सकी जिसका प्रयोग वह किसी भी भारतीय नरेश के विरुद्ध कर सकती थी, यहाँ तक कि एक नरेश की सीमाओं के अन्तर्गत रखी गयी सेना का प्रयोग उसी नरेश के विरुद्ध किया जाना भी सम्भव था। इससे युद्ध की बुराइयों का प्रभाव भी कम्पनी की सीमाओं से दूर रखा जा सकता था क्योंकि सेनाओं को लाना, ले जाना, उनका व्यय आदि सभी भारतीय नरेशों की सीमाओं में और उन्हीं के धन के द्वारा होता था। आर्थर वैलेजली ने लिखा था : "युद्ध की बुराइयाँ अपनी सम्पत्ति और शक्ति के स्रोतों से दूर रखी गयी हैं।"[1]

5. इससे कम्पनी के प्रभाव और उसकी सीमाओं में विस्तार हुआ परन्तु तब भी यूरोपीय राज्यों में अंग्रेजों के प्रति शंका और ईर्ष्या की सम्भावना बहुत कम थी।

6. अंग्रेज जो सहायक-सेना भारतीय नरेशों की सहायता के लिए रखते थे, उसका व्यय बहुत अधिक था और समय के अनुसार यह व्यय भी बढ़ता गया। उस व्यय के बढ़ने के आधार पर कम्पनी उस नरेश से और अधिक भूमि प्राप्त कर सकती थी और करती रही। इस

---

1 "The evils of war have been kept at a distance from the sources of our wealth and power."
—*Arthur Wellesley.*

प्रकार भविष्य में भी इस सन्धि के द्वारा कम्पनी के राज्य में निरन्तर विस्तार होने की सम्भावना थी।

7. इससे कम्पनी को भारत में शान्ति स्थापित रखने में और धीरे-धीरे अपने हित की पूर्ति में सहायता प्राप्त हुई। वैलेजली ने कहा था : "इस अवस्था से अंग्रेज सरकार भारतीयों की महत्वाकांक्षी और हिंसा की उस भावना को नियन्त्रण में रख सकी जो एशिया की प्रत्येक सरकार की विशेषता थी और इससे वह भारत में शान्ति स्थापित करने में समर्थ हो सकी।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि इस सहायक-सन्धि की व्यवस्था से कम्पनी का प्रभाव भारत में अत्यधिक बढ़ा।

भारतीय राज्यों को हानि—परन्तु भारतीयों और भारतीय नरेशों के दृष्टिकोण से यह सहायक-सन्धि बहुत हानिकारक सिद्ध हुई। भारतीय राज्यों के लिए यह एक स्थायी दुर्बलता, भ्रष्टाचार, कुशासन और पतन का कारण बनी। इससे भारतीय राज्यों को निम्न प्रकार से हानि हुई :

1. अंग्रेज कम्पनी सहायक-सेना के व्यय के लिए जो धन माँगती थी वह बहुत अधिक था। इस प्रकार कम्पनी उस राज्य के सर्वाधिक उपजाऊ और सम्पन्न भू-क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लेती थी, जिससे उस राज्य की आर्थिक स्थिति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता था। अधिकांश राज्यों में कुशासन का एक मूल कारण उनकी आर्थिक दुर्बलता बन गयी जो कम्पनी की बढ़ती हुई धन की माँग और उस राजा से उसकी सबसे अच्छी भूमि छिन जाने के कारण थी।

2. राज्यों में जो अंग्रेज रेजीडेण्ट नियुक्त किये गये थे उन्हें राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। परन्तु इस शर्त का पालन कभी नहीं किया गया। रेजीडेण्ट नरेशों के आन्तरिक मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप करते थे जिससे नरेशों की केवल शक्ति ही नष्ट नहीं हुई वरन् उनका आत्मविश्वास भी समाप्त हो गया और उन्हें शासन में कोई रुचि न रही।

3. इसने भारतीय नरेशों की राष्ट्रीय भावना, शासन के प्रति उत्तरदायित्व, साहस, सैनिक-संगठन की देखभाल, आदि सभी को समाप्त कर दिया। भारतीय नरेश शासन सम्बन्धी कोई भी निर्णय लेने और करने की स्थिति में न रहे जिससे उनका आत्मगौरव और सम्मान नष्ट हो गया। इससे भारतीय राज्य निरन्तर पतनोन्मुख हुए। मुनरो ने लिखा है : "मित्र-राज्यों को राष्ट्रीय चरित्र की स्वतन्त्रता और समस्त सम्मानपूर्ण व्यवहार खोकर ही सुरक्षा प्राप्त हुई थी।"[2]

4. इस व्यवस्था से प्रजा का एक अत्याचारी शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार भी समाप्त हो गया। भारत में एक भ्रष्टाचारी शासन को समाप्त करने के तीन ही तरीके थे : प्रथम, राजवंश के आन्तरिक संघर्ष के द्वारा; द्वितीय, प्रजा के विद्रोह द्वारा; और तृतीय, बाह्य आक्रमण के द्वारा। अब अंग्रेज कम्पनी ने भारतीय नरेशों को इन सभी आन्तरिक एवं बाह्य खतरों से मुक्त कर दिया। इससे नरेशों में उत्तरदायित्व की भावना समाप्त हो गयी। उनमें से अधिकांश भ्रष्टाचारी एवं अत्याचारी हो गये और कम्पनी ऐसे सभी नरेशों व उनके भ्रष्टाचारी

1 "The system enabled the British government to preserve the tranquillity of India by exercising a general control over the restless spirit to ambition and violence which is the characteristic of every Asiatic government." —*Lord Wellesley.*

2 "The security of the allied state was purchased by the sacrifice of independence of national character and of whatever renders people respectable." —*Munro.*

शासन की संरक्षक बन गयी। अब ऐसे नरेश और ऐसे शासन से बचने का कोई साधन प्रजा के पास न रहा। इससे नागरिकों का भी नैतिक पतन हुआ।

इस प्रकार यह निश्चित है कि भारतीयों की दृष्टि से सहायक-सन्धि पूर्णतः हानि-कारक थी। उपर्युक्त हानियों के बावजूद भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि सहायक- सन्धि की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति, जल्दी या देर से, इस सन्धि को स्वीकार करने वाले भारतीय राज्य को अन्त में कम्पनी के हाथों में सौंप देने की थी। भारतीय नरेशों की शक्ति इससे पूर्णतः समाप्त हो गयी और वे प्रायः अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बनते गये। आर्थर वैलेजली ने लिखा था : "हमारी नीति और हमारे लक्ष्य ने समस्त भारतीय शक्तियों को शून्य स्थिति में पहुँचा दिया है।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सहायक-सन्धि वैलेजली की कूटनीति का एक महान् व्यावहारिक स्वरूप था। अनेक भारतीय नरेश इस मकड़ी के जाल में फँसते गये और इसमें फँसने के बाद ही उन्हें ज्ञात हुआ कि वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति को खोकर अंग्रेज कम्पनी पर पूर्णतः आश्रित हो गये हैं। इस प्रकार वैलेजली की सहायक-सन्धि अत्यधिक सफल सिद्ध हुई।

4. वैलेजली का भारत में फ्रान्सीसी प्रभाव को नष्ट करना

वैलेजली इंगलैण्ड से भारत के लिए उस समय चला था जब क्रान्तिकारी फ्रान्स के विरुद्ध यूरोप के राज्यों का प्रथम गुट समाप्त हो चुका था और नेपोलियन भारत-विजय की योजना बना रहा था। उस समय इंगलैण्ड फ्रान्स से जीवन और मृत्यु के संघर्ष में फँसा हुआ था। भारत में फ्रान्सीसी अनेक स्थानों पर अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने के लिए पुनः प्रयत्नशील थे। मॉरीशस के टापू से भारत से अंग्रेजों के शत्रु-राज्यों को सहायता दी जा सकती थी। मैसूर का शासक टीपू फ्रान्सीसियों से सहायता लेने का प्रयत्न कर रहा था। उसने अपने को 'नागरिक टीपू' पुकारा था और फ्रान्स के क्रान्तिकारी तिरंगे झण्डे को अपने किले पर फहराया था। जिस समय वैलेजली कलकत्ता पहुँचा तभी कुछ फ्रान्सीसी सैनिक भी टीपू की सहायता के लिए भारत पहुँचे थे। सर जॉन शोर की नीति से असन्तुष्ट होकर और मराठों से खर्दा के युद्ध में पराजित होकर हैदराबाद का निजामं अपनी सेना को फ्रान्सीसी अफसरों से शिक्षा दिला रहा था। रेमण्ड (Raymond) ने उसके लिए 14,000 सैनिक यूरोपियन तरीके से प्रशिक्षित किये थे। मराठा सरदारों में महादजी सिन्धिया ने फ्रान्सीसी अफसरों की सहायता ली थी और उसकी सेना को फ्रान्सीसी अधिकारी प्रशिक्षण दे रहे थे। अन्य अनेक स्थानों पर भी विभिन्न फ्रान्सीसी व्यक्ति व्यक्तिगत हैसियत में कार्य कर रहे थे और प्रत्येक स्थान पर उनका प्रमुख लक्ष्य अंग्रेजों के प्रभाव को नष्ट करना था। इस कारण वैलेजली के समक्ष एक समस्या भारत में फ्रान्सीसियों के प्रभाव को समाप्त करने की थी।

वैलेजली ने इस कार्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भ से ही अपनी नीति निश्चित कर ली थी। जॉर्ज बार्लो ने वैलेजली की इस नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा था : "इनकी योजनाओं को समाप्त करने हेतु यह परम आवश्यक है कि भारत में एक भी राज्य ऐसा नहीं होना चाहिए जिसकी शक्ति अंग्रेजों पर निर्भर न करती हो अथवा जिनके राजनीतिक व्यवहार पर अंग्रेजों का अधिकार न हो।"[2] इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सहायक-सन्धि की शर्तों में यह शर्त

---

1 "Our policy and our aim have reduced all the powers of India to the state of sifar."
—*Arthur Wellesley.*

2 "It is absolute necessary for the defeat of these (i.e., French) designs that no native state should be left to exist in India which is not upheld by the British power or the political conduct of which is not under its absolute control."
—*George Barlow.*

रखी गयी थी कि सन्धि करने वाला भारतीय राज्य अपनी विदेश-नीति को अंग्रेजों के हाथ में सौंप देगा और बिना अंग्रेजों की अनुमति के वह किसी भी यूरोपियन को अपनी सेवा में नहीं रखेगा।

1798 ई. में हैदराबाद के निजाम को सहायक-सन्धि स्वीकार करने और फ्रान्सीसियों द्वारा शिक्षित सेना को भंग करने के लिए बाध्य किया गया। 1799 ई. में टीपू को परास्त करके मैसूर राज्य की सीमाएँ कम कर दी गयीं और जिस हिन्दू को राजा बनाया गया उसे सहायक-सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। 1801 ई. में अवध के नवाव और 1802 ई. में पेशवा बाजीराव द्वितीय से भी सहायक-सन्धि की गयी। 1803 ई. में सिन्धिया और भौंसले को परास्त करके सहायक-सन्धि करने के लिए बाध्य किया गया। इस प्रकार सहायक-सन्धि का उपयोग करके वैलेजली ने भारतीय नरेशों के दरबार से फ्रान्सीसियों के प्रभाव को समाप्त करने में सफलता पायी।

1799 ई. में पुर्तगालियों की सहायता से उसने गोआ की सुरक्षा को दृढ़ किया और 1801 ई. में बंगाल के निकट के डचों के भू-प्रदेशों पर अधिकार कर लिया जिससे फ्रान्सीसियों को भारतीय समुद्र-तट पर कोई स्थान प्राप्त न हो सके। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वैलेजली ने गुजरात, मलाबार और कटक के समुद्र-तट के भू-प्रदेशों पर अधिकार किया। मराठा-संघर्ष के अवसर पर उसे यह सुविधा प्राप्त हुई और तभी उसने भड़ांच, कटक, चम्पानेर,पवनदुर्ग आदि विभिन्न स्थानों पर अधिकार कर लिया।

1799 ई. में वैलेजली ने मेहदी अलीखाँ को अपना प्रतिनिधि बनाकर पर्शिया के शाह के दरबार में भेजा। 1800 ई. में उसने वहाँ माल्कम (Malcolm) को भेजा। उसका उद्देश्य था कि फारस (ईरान) में भी फ्रान्सीसी प्रभाव को समाप्त कर दिया जाय। वह अपने इस उद्देश्य में भी सफल हुआ क्योंकि माल्कम ने फारस के शाह से एक सन्धि करने में सफलता प्राप्त की जिसके द्वारा शाह ने फ्रान्सीसियों को अपने राज्य की सीमाओं से बाहर निकाल देने का वायदा किया। वैलेजली ने मॉरीशस पर आक्रमण करके उसे जीतने की योजना बनायी। वह डचों के भू-क्षेत्र बटाविया और केप कॉलोनी पर भी अधिकार करने का इच्छुक था जिससे दक्षिण-पूर्व एशिया से भी फ्रान्स के मित्र अथवा अधीनस्थ राज्यों का प्रभाव समाप्त हो जाता। परन्तु इन योजनाओं की पूर्ति के लिए उसे डायरेक्टरों की स्वीकृति प्राप्त न हो सकी। वैलेजली ने एक सेना भारत से नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध करने हेतु 1800 ई. में मिस्र भेजी थी परन्तु उस सेना के मिस्र पहुँचने से पहले ही मिस्र में फ्रान्सीसी सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया था। अतएव 1802 ई. में यह सेना भारत वापस आ गयी। 1803 ई. में जनरल लेक द्वारा आगरा और दिल्ली पर अधिकार कर लेने से मुगल बादशाह शाहआलम भी अंग्रेजों के संरक्षण में आ गया और उसके फ्रान्सीसी प्रभाव में जाने की सम्भावना समाप्त हो गयी।

इस प्रकार, वैलेजली ने फ्रान्सीसी प्रभाव को भारत से समाप्त करने के लिए विभिन्न प्रयत्न किये और उनमें सफलता पायी। उस समय जबकि यूरोप के सभी राष्ट्र बालू की दीवार की तरह नेपोलियन की शक्ति के सम्मुख ढह रहे थे, वैलेजली ने भारत में फ्रान्सीसी प्रभाव को नष्ट करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की।

5. वैलेजली का मूल्यांकन

इंगलैण्ड द्वारा भारत में भेजे गये सफल साम्राज्यवादियों में से वैलेजली एक था। उसके कार्यों की सफलता का सही अनुमान हम केवल तभी लगा सकते हैं जब हम 1798 ई. के भारत की तुलना 1805 ई. के भारत से करें। 1798 ई. में अंग्रेज कम्पनी भारत की प्रमुख शक्तियों में से एक थी जबकि 1805 ई. में कम्पनी भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बन गयी। यद्यपि उस समय

तक कम्पनी की सर्वोच्चता को विधिवत् घोषित नहीं किया गया परन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारत की राजनीति में उसकी सर्वोच्च शक्ति का विरोध करने का साहस या शक्ति किसी भी विरोधी राज्य में न रही। फ्रान्सीसियों के प्रभाव को भारत में सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया गया और भारत को जीतने का नेपोलियन का सपना चूर-चूर हो गया। अंग्रेजों के प्रमुख शत्रु मैसूर के सुल्तान टीपू को नष्ट कर दिया गया, उसके राजवंश को समाप्त कर दिया गया, उसकी अधिकांश सीमाओं पर अंग्रेज कम्पनी का अधिकार हो गया और बची हुई भूमि को एक मित्र हिन्दू राजा को सौंप दिया गया जो पूर्णतः अंग्रेजों की दया पर निर्भर था। मराठा सरदारों का संघ जो एक प्रकार से भारत की राजसत्ता के विषय में मुगल बादशाह का उत्तराधिकारी था और जिसकी सत्ता का विरोध पिछले 100 वर्षों में कोई भी सफलतापूर्वक भारत में नहीं कर सका था तथा जिसका केवल नाम ही समस्त भारतीय राज्यों में भय का संचार करने के लिए पर्याप्त था, ताश के पत्तों के समान वैलेजली की शक्ति और कूटनीति के सामने बिखर गया और शक्तिशाली मराठा सरदार सहायक-सन्धि को स्वीकार करके अपने सम्मान, विदेश-नीति और शक्ति को खो बैठे। पेशवा, शक्तिशाली सिन्धिया तथा होल्कर और भौंसले ने अंग्रेजों के सम्मुख अपने घुटने टेक दिये, उनकी सेनाएँ भंग कर दी गयीं, उनकी सीमाएँ कम कर दी गयीं, उनकी विदेश-नीति अंग्रेजों के हाथ में चली गयी और वे संगठित होकर किसी का भी मुकाबला करने की स्थिति में न रहे। अवध के नवाब और हैदराबाद के निजाम को बहुत कुछ भू-प्रदेश अंग्रेजों को देने के लिए बाध्य किया गया और कर्नाटक, तंजौर और सूरत अंग्रेजी राज्य के अंश बन गये। जिन भू-प्रदेशों पर वैलेजली ने अधिकार किया वे आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। अब मद्रास, बम्बई और बंगाल के अंग्रेजी सूबे स्थल-मार्ग से एक दूसरे से मिल गये। आगरा, दिल्ली और रुहेलखण्ड के प्राप्त हो जाने से उत्तर-भारत में अंग्रेज कम्पनी की सत्ता स्थापित हो गयी और प्रायः सभी महत्वपूर्ण समुद्र-तट कम्पनी के अधिकार में चले गये। इस प्रकार वैलेजली ने कम्पनी को महत्वपूर्ण भू-प्रदेश दिलाया और विस्तार की दृष्टि से कम्पनी का भारत का राज्य पहले की तुलना में कई गुना अधिक हो गया। सिडनी जे. ओवन ने लिखा है : "वैलेजली ने भारत में अंग्रेजी राज्य को अंग्रेजों के भारत के राज्य में परिणत कर दिया।"[1] इसी कारण उसे इंगलैण्ड का एक ऐसा महान् राजनीतिज्ञ माना गया है जिसने भारत में अंग्रेजी राज्य को शक्तिशाली बनाया। यह कहा गया है : "क्लाइव ने भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव डाली, वारेन हेस्टिंग्स ने उस नींव को शक्तिशाली बनाया, कार्नवालिस ने उस नींव पर इमारत खड़ी करना आरम्भ किया, लॉर्ड वैलेजली ने उस इमारत को पूरा किया और बाद के गवर्नर-जनरलों ने उसे अन्तिम शक्ल प्रदान की।"[2] यह कहा जा सकता है कि साहस और दूरदर्शिता की दृष्टि से क्लाइव वैलेजली की तुलना में महान् था क्योंकि जब भारत में कम्पनी के सम्मुख कोई निश्चित मार्ग या लक्ष्य न था, उस अवसर पर उस अकेले ने कम्पनी के सम्मुख एक निश्चित मार्ग या लक्ष्य प्रस्तुत किया और उसके लिए मार्ग बनाया। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि निरन्तर परिश्रम, साहस और स्थिरता की दृष्टि से वारेन हेस्टिंग्स भी वैलेजली से महान् था क्योंकि विभिन्न कठिनाइयों और शत्रुओं से भारत के शिशु अंग्रेजी राज्य को बचाने का श्रेय उसी को

---

1 "Wellesley converted the British empire in India to the British empire of India."
—*Owen.*

2 "Clive founded the British empire in India, Warren Hastings strengthened the foundations, Cornwallis began to erect the superstructure on them, Lord Wellesley completed it and finishing touches were given by later Governor-Generals."

था। परन्तु वैलेजली के विषय में एक बात यह कही जा सकती है कि वैलेजली एक महान् राजनीतिज्ञ था और अपने समय की परिस्थितियों को समझकर भविष्य की कल्पना करना तथा उसके अनुकूल योजना बनाने की क्षमता उसमें थी। 1798 ई. की भारत की राज़नीतिक परिस्थितियों को उसने बहुत अच्छी प्रकार समझा और उसी के आधार पर उसने अपनी सम्पूर्ण योजना बनायी, उसे कार्यरूप में परिणत किया और इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसने अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की। वैलेजली में उदारता का अभाव था और एक व्यक्ति की दृष्टि से उसे महत्वाकांक्षी और घमण्डी माना गया है। परन्तु व्यक्तिगत चरित्र के इन दोषों के होते हुए भी जो सफलता उसने प्राप्त की, वह उसे अंग्रेज गवर्नर-जनरलों में श्रेष्ठ स्थान प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ों को दृढ़ करने और उसको विस्तृत करने वाले गवर्नर-जनरलों में वैलेजली का स्थान प्रमुख है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. द्वितीय मराठा-युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
2. सहायक-सन्धि से आप क्या समझते हैं ? उसके हानि और लाभ को स्पष्ट कीजिए।
3. "वैलेजली ने भारत में अंग्रेजी राज्य को अंग्रेजों के भारत के राज्य में परिवर्तित कर दिया।" इस कथन के आधार पर स्पष्ट कीजिए कि वैलेजली ने किस प्रकार भारत में अंग्रेजी प्रभुसत्ता के विस्तार में भाग लिया ?

12

अंग्रेजों के मैसूर राज्य के साथ सम्बन्ध

[हैदरअली और टीपू सुल्तान]

1. हैदरअली का उत्कर्ष

दक्षिण के मैसूर राज्य में बुदीकोट नामक स्थान पर 1721 ई. में हैदरअली का जन्म हुआ। उसके पूर्वज दिल्ली से गुलबर्गा आये थे और कृषि करते थे। सर्वप्रथम हैदरअली के पिता फतह मुहम्मद ने सैनिक-सेवा स्वीकार की, अपनी योग्यता से मैसूर राज्य में एक फौजदार का पद प्राप्त किया तथा बुदीकोट की जागीर प्राप्त की। 1728 ई. में फतह मुहम्मद की मृत्यु हो गयी जबकि हैदरअली केवल सात वर्ष का था। इससे हैदरअली के परिवार की स्थिति अत्यन्त खराब हो गयी और हैदरअली जवान होकर बड़ी कठिनाई से राज्य में सैनिक-सेवा प्राप्त करके अपने परिवार की स्थिति को सँभाल सका। जिस समय हैदरअली ने अपने सैनिक जीवन की शुरूआत की उस समय मैसूर का राजा कृष्णराज था। परन्तु वह केवल नाममात्र का शासक था। राज्य में वास्तविक शक्ति सर्वाधिकारी नन्दराज के हाथों में थी।

कर्नाटक के युद्धों ने हैदरअली के उत्थान में बहुत सहायता की। नासिरजंग के कत्ल होने और मुजफ्फरजंग के हैदराबाद का निजाम बनने के समय हैदरअली के कर्मचारियों को नासिरजंग के खजाने का कुछ हिस्सा हाथ लग गया जिससे हैदरअली को पर्याप्त सहायता मिली। सैनिक दृष्टि से वह योग्य था ही, इस कारण निरन्तर उसके पद में वृद्धि होती गयी। उसने फ्रान्सीसियों के युद्ध के तरीकों को समझा और उसने अपने सैनिकों को उसी प्रकार शिक्षा देनी आरम्भ की। नन्दराज उसकी योग्यता से प्रभावित हुआ और उसे साथ लेकर त्रिचनापल्ली पर आक्रमण करने के लिए गया। वहाँ पर हैदरअली ने युद्ध का अनुभव प्राप्त किया। सौभाग्य से उसके हाथों में अंग्रेजों की कुछ तोपें भी आ गयीं। 1755 ई. में उसे डिण्डीगल का फौजदार नियुक्त किया गया। वहाँ रहकर हैदरअली ने अपनी सेना में वृद्धि की और आसपास की भूमि को लूटकर धन एकत्र किया। उस समय तक उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में पर्याप्त वृद्धि हो गयी थी।

अगले पाँच वर्षों में हैदरअली ने राजदरबार में अपनी प्रतिष्ठा में काफी वृद्धि कर ली और 1760 ई. में राज्य की शासन-शक्ति को अपने अधिकार में कर लिया। उसने अपनी स्थिति को दृढ़ करने में एक वर्ष और लगाया तथा 1761 ई. में मैसूर राज्य का सर्वेसर्वा बन गया। हिन्दू राजा को तो वर्ष में केवल एक बार उसकी प्रजा को नाममात्र के लिए दिखा दिया जाता था। हैदराबाद और कर्नाटक के उत्तराधिकार के युद्धों, पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठों की पराजय तथा दक्षिण में अंग्रेजों व फ्रान्सीसियों की कट्टर शत्रुता ने हैदरअली को अपनी शक्ति और राज्य का विस्तार करने की सुविधा प्रदान की। धीरे-धीरे उसने आसपास के क्षेत्रों जैसे बेदनूर, कनारा आदि पर अधिकार कर लिया और बल्लापुर, रायदुर्ग,

चित्तलदुर्ग आदि के सरदारों को अपना आधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस प्रकार अपनी योग्यता और साहस से हैदरअली एक साधारण स्थिति से उठकर मैसूर राज्य में प्रधान के पद पर पहुँच गया। हैदरअली के इस उत्कर्ष के प्रति मराठे और हैदराबाद का निजाम उदासीन न थे। 1764 ई. में पेशवा माधवराव ने हैदरअली को एक युद्ध में परास्त किया और 1765 ई. में हैदरअली को मराठों से सन्धि करके उन्हें अपना कुछ भू-क्षेत्र तथा 28 लाख रुपये प्रति वर्ष देने का वायदा करना पड़ा। 1765 ई. में निजाम ने अंग्रेजों की सहायता लेकर हैदरअली पर आक्रमण किया। मराठे भी इस सन्धि में सम्मिलित हो गये और इस प्रकार 1766 ई. से हैदरअली और अंग्रेजों का संघर्ष शुरू हुआ।

2. प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध (1766-1769 ई.)

प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध मद्रास सरकार द्वारा दक्षिण की राजनीति में भाग लेने के कारण आरम्भ हुआ। अंग्रेजों ने बंगाल में आशा से अधिक सफलता प्राप्त की थी और मद्रास सरकार दक्षिण में इसी प्रकार की सफलता प्राप्त करने के लिए उत्सुक थी। 1765 ई. में हैदराबाद के निजाम ने हैदरअली के विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता माँगी और उत्तरी-सरकार के क्षेत्र को प्राप्त करने के बदले में अंग्रेज निजाम को सहायता देने के लिए तत्पर हो गये। मराठे भी इस सन्धि में सम्मिलित हो गये और इस प्रकार 1766 ई. में हैदरअली के विरुद्ध इन तीन शक्तियों का एक गुट बन गया।

1766 ई. में सर्वप्रथम मराठों ने मैसूर पर आक्रमण किया। हैदरअली ने बहुत चालाकी से काम लिया। उसने इस गुट को तोड़ने और मराठों के आक्रमण से बचने के लिए कूटनीति का सहारा लिया। उसने आक्रमणकारी मराठों को 35 लाख रुपया देने का वायदा किया। आधा धन उसी समय दे दिया गया और अवशिष्ट धन के बदले में कोलार के जिले को रहन के रूप में मराठों को सौंप दिया गया। मराठे इससे सन्तुष्ट हो गये और वापस लौट गये।

निजाम ने जोसेफ स्मिथ के नेतृत्व में एक अंग्रेज सेना सहित मैसूर पर आक्रमण किया। परन्तु यह आक्रमण बहुत सफल नहीं हुआ। इसी बीच कर्नाटक के नवाब मुहम्मदअली के भाई महफूजखाँ ने, जो मुहम्मदअली और अंग्रेजों का शत्रु था, निजाम को भड़का दिया और सितम्बर 1767 ई. में निजाम ने अंग्रेजों से समझौता तोड़कर हैदरअली से समझौता कर लिया। अब निजाम और हैदरअली मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध हो गये। स्मिथ को इनकी सम्मिलित सेनाओं से युद्ध करना पड़ा और त्रिनोपाली वापस लौटना पड़ा जहाँ कर्नल वुड की सेना भी उसके साथ हो गयी। त्रिनोपाली के युद्ध में निजाम और हैदरअली की सेनाएँ असफल हुईं और दिसम्बर 1767 ई. में हैदरअली की एक अन्य स्थान पर भी पराजय हुई।

इन असफलताओं को देखकर और यह जानकर कि अंग्रेज हैदराबाद पर भी आक्रमण करने के लिए एक सेना भेज रहे हैं, निजाम का साहस टूट गया और मार्च 1768 ई. में उसने हैदरअली का साथ छोड़कर अंग्रेजों से सन्धि कर ली। निजाम के साथ मद्रास सरकार द्वारा की गयी यह सन्धि अंग्रेजों और मैसूर राज्य के बीच स्थायी शत्रुता का कारण बनी।

1. निजाम और अंग्रेजों ने पहली सन्धि की शर्तों को पुनः स्वीकार किया।

2. निजाम ने हैदरअली को विद्रोही माना और मैसूर राज्य पर उसके अधिकार को स्वीकार नहीं किया।

3. मैसूर राज्य की दीवानी अंग्रेज कम्पनी को दे दी गयी (जब उस राज्य पर अधिकार कर लिया जायेगा)।

4. निजाम ने अंग्रेजों और कर्नाटक के नवाब को हैदरअली को दण्ड देने में सहायता देने का वायदा किया ।

सन्धि

इस प्रकार 1768 ई. में हैदरअली पुनः अकेला रह गया। परन्तु उसने साहस नहीं छोड़ा और तत्परता से अंग्रेजों से युद्ध करता रहा। उसने बम्बई सरकार की एक सेना को परास्त करके मंगलौर पर अधिकार कर लिया और मार्च 1769 ई. में मद्रास पर आक्रमण किया तथा 4 अप्रैल, 1769 ई. को मद्रास सरकार को एक सन्धि करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि की शर्तों को हैदरअली ने निश्चित किया था और इसके अनुसार—

1. एक-दूसरे के जीते हुए भू-भाग एक-दूसरे को वापस कर दिये गये।
2. हैदरअली ने कारूर का जिला कर्नाटक के नवाब को दे दिया जिस पर मैसूर राज्य ने बहुत पहले अधिकार किया था।
3. अंग्रेज तथा हैदरअली ने एक-दूसरे को किसी भी बाह्य आक्रमण के अवसर पर सहायता देने का वायदा किया।

इस प्रकार प्रथम मैसूर-युद्ध समाप्त हुआ। निस्सन्देह इसमें हैदरअली को सफलता प्राप्त हुई थी और उसने ही सन्धि की शर्तें निश्चित की थीं, परन्तु यह सन्धि दो मित्रों के बीच न थी। अंग्रेज न तो हैदरअली को मित्र मानने को तैयार थे और न ही इस सन्धि की शर्तों के अनुसार उसे उसके शत्रुओं के विरुद्ध सहायता देने के लिए तत्पर थे। इसी कारण द्वितीय मैसूर-युद्ध का सूत्रपात हुआ। 1771 ई. में जब मराठों ने हैदरअली पर आक्रमण किया तब अंग्रेजों ने उसे कोई सहायता नहीं दी। हैदरअली इस बात को न भुला सका।

3. द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1780-1784 ई.)

वारेन हेस्टिंग्स के समय में मद्रास की अंग्रेज सरकार ने पुनः राजनीति में रुचि प्रदर्शित की। उसने 1768 ई. में कर्नाटक के नवाब को तंजौर का राज्य प्राप्त करने में सहायता दी थी और बसालतजंग से, जो निजाम का एक सम्बन्धी था, गुन्टूर का जिला छीन लिया था। यही नहीं बल्कि उसने निजाम को 1768 ई. में की गयी सन्धि के अनुसार उत्तरी-सरकार के जिलों के बदले में सात लाख रुपया प्रति वर्ष देने के वायदे को भी पूरा करने से इन्कार कर दिया था। इस कारण हैदराबाद का निजाम अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो गया।

हैदरअली भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट था। अंग्रेजों ने उसे 1769 ई. की सन्धि के अनुसार 1771 ई. में मराठा-आक्रमण के अवसर पर सहायता नहीं दी थी। गुन्टूर पर अंग्रेजों के आधिपत्य को उसने उचित नहीं माना और 1779 ई. में जब अंग्रेजों ने माही पर भी अधिकार कर लिया तो उसने अंग्रेजों से बदला लेने का निश्चय किया। माही की फ्रान्सीसी फैक्टरी को हैदरअली ने अपने संरक्षण में ले रखा था और जब उसके विरोध के बाद भी अंग्रेजों ने उस पर अधिकार कर लिया तब उसके क्रोध की सीमा न रही।

इस प्रकार उस समय हैदराबाद का निजाम अंग्रेजों से असन्तुष्ट था, हैदरअली अंग्रेजों से बदला लेने की सोच रहा था और मराठों से अंग्रेजों का प्रथम युद्ध आरम्भ हो चुका था। इस कारण इन तीनों शक्तियों ने मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध एक गुट का निर्माण किया और एक निश्चित योजना के अनुसार निश्चय किया गया कि मराठे बरार और मध्य-भारत से होते हुए अंग्रेजों पर उत्तर में आक्रमण करेंगे, निजाम उत्तरी-सरकार पर आक्रमण करेगा तथा

हैदरअली मद्रास व उसके आसपास के अंग्रेजी भू-प्रदेश को विजय करेगा। इस प्रकार द्वितीय मैसूर-युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

जुलाई 1780 ई. में 83,000 सैनिकों और 100 तोपों के साथ हैदरअली ने कर्नाटक के मैदान में प्रवेश किया। मद्रास सरकार ने एक सेना कर्नल बेली (Col. Baillie) और दूसरी सेना बक्सर के युद्ध के विजेता सर हेक्टर मुनरो (Sir Hector Munro) के नेतृत्व में हैदरअली को आगे बढ़ने से रोकने के लिए भेजी। हैदरअली के पुत्र टीपू ने इन दोनों सेनाओं को मिलने से रोका। कांजीवरम के निकट बेली से उसका मुकाबला हुआ जिसमें बेली को सेना सहित काट डाला गया। मुनरो, जो कांजीवरम में बेली के आने की प्रतीक्षा कर रहा था, इतना घबड़ा गया कि वह वहाँ से तुरन्त वापस लौट पड़ा और मद्रास में जाकर शरण ली। 1780 ई. के नवम्बर और दिसम्बर माह तक हैदरअली ने अर्काट पर अधिकार कर लिया तथा अंग्रेजों की स्थिति बहुत दुर्बल हो गयी। अल्फ्रेड लयाल ने उस समय की परिस्थिति के बारे में लिखा है : "भारत में अंग्रेजों का भाग्य सबसे नीचे गिर चुका था।"[1]

सैनिक पराजय के अतिरिक्त यह अंग्रेजों की एक बड़ी नैतिक पराजय थी। मद्रास सरकार की सेनाएँ असहाय हो चुकी थीं और समुद्र-तट को छोड़कर सम्पूर्ण कर्नाटक पर हैदरअली का अधिकार हो गया था। ऐसी स्थिति में वारेन हेस्टिंग्स ने बड़ी दृढ़ता से कार्य किया। उसने बंगाल से एक बड़ी सेना सर आयरकूट (Sir Eyrecoot) के नेतृत्व में मद्रास भेजी। उसने कूटनीति का सहारा लिया और हैदरअली को उसके मित्रों से पृथक करने का प्रयत्न किया। वह इस प्रयत्न में सफल हुआ। उसने भौंसले और सिन्धिया से हैदरअली की सहायता न करने की स्वीकृति ले ली और निजाम को गुन्टूर का जिला देकर उससे हैदरअली से पृथक रहने की स्वीकृति ले ली। इस प्रकार हैदरअली अंग्रेजों से युद्ध करने के लिए अकेला रह गया।

1781 ई. में आयरकूट ने हैदरअली को पोर्टोनोवा के युद्ध में परास्त किया। इससे अंग्रेजों की स्थिति में कुछ सुधार हुआ और टीपू ने वाण्डेवाश का घेरा उठा लिया। उसी समय कर्नल पीयर्स (Col. Pearse) के नेतृत्व में एक अन्य सेना बंगाल से वहाँ पहुँच गयी। इन दोनों सेनाओं ने मिलकर पोलीलूर के युद्ध में हैदरअली का मुकाबला किया परन्तु इस युद्ध में कोई निर्णय न हुआ। सितम्बर 1781 ई. में आयरकूट ने हैदरअली को सोलिंगपुर के युद्ध में परास्त किया और नवम्बर में अंग्रेजों ने नीगापट्टम पर अधिकार कर लिया। परन्तु इसके पश्चात् अंग्रेजों की पराजय होनी आरम्भ हो गयी। तंजौर का घेरा डालकर टीपू ने उसे अपने अधिकार में कर लिया।

1782 ई. के प्रारम्भ में एडमिरल सफरिन (Admiral Suffrein) के नेतृत्व में एक फ्रान्सीसी जल-बेड़ा हैदरअली की सहायता के लिए मद्रास पहुँचा और करीब 2,000 फ्रान्सीसी सैनिक भी उसने भारत में उतार दिये। इस अवसर पर अंग्रेजों को कुछ अन्य असफलताओं का भी मुकाबला करना पड़ा। फ्रान्सीसियों ने कुडालोर और त्रिनोपाली के बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया और आयरकूट का अर्नी पर अधिकार करने का प्रयास तथा बम्बई सरकार का मलाबार पर आक्रमण करने का प्रयत्न असफल हुआ। वर्षा आरम्भ होने पर युद्ध कुछ ढीला हुआ। अंग्रेज मद्रास वापस चले गये, फ्रान्सीसी कुडालोर में जम गये और हैदरअली अर्काट के निकट रुका रहा। ऐसी स्थिति में 7 दिसम्बर, 1782 ई. को कैन्सर से

---

1 "The fortunes of English in India had fallen to their lowest watermark."
—*Sir Alfred Lyall.*

हैदरअली की मृत्यु हो गयी। सर आयरकूट उस समय तक बंगाल वापस चला गया था और 26 अप्रैल, 1783 ई. को वहीं उसकी मृत्यु हुई।

हैदरअली की मृत्यु से द्वितीय मैसूर-युद्ध समाप्त नहीं हुआ। उसका पुत्र टीपू उससे भी अधिक महत्वाकांक्षी सिद्ध हुआ और वह युद्ध करता रहा। उसने बम्बई सरकार द्वारा भेजे गये ब्रिगेडियर मैथ्यूस (Mathews) को न केवल मंगलौर और बेदनूर पर आक्रमण करने से ही रोक दिया बल्कि उसे उसके बहुत से सैनिकों के साथ कैद भी कर लिया। परन्तु उसी अवसर पर यूरोप में इंगलैण्ड और फ्रान्स में सन्धि हो गयी तथा फ्रान्सीसी इस संघर्ष से पृथक हो गये। यह टीपू की एक अपूर्णीय क्षति थी। 1783 ई. में अंग्रेजों को पुनः सफलता मिली। अंग्रेजों ने पालघाट और नवम्बर 1783 ई. में कोयम्बटूर पर अधिकार कर लिया। परन्तु जब कर्नल फुलर्टन (Col. Fullerton) मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टम की ओर बढ़ रहा था तभी मद्रास सरकार ने उसे वापस बुला लिया। मद्रास का गवर्नर मैकार्टने (Macartney) सन्धि के लिए उत्सुक हो रहा था क्योंकि मद्रास कौंसिल के पास आर्थिक साधनों की अत्यधिक कमी हो गयी थी। उधर टीपू भी शान्ति का इच्छुक था।

7 मार्च, 1784 ई. को मंगलौर की सन्धि से यह युद्ध समाप्त हुआ। इस सन्धि के द्वारा दोनों पक्षों ने एक-दूसरे को जीते हुए सभी प्रदेश वापस कर दिये और एक-दूसरे के कैदियों को भी वापस कर दिया।

यह सन्धि कोई स्थायी समझौता न थी। मद्रास सरकार और टीपू दोनों ही उस समय युद्ध से तंग आ चुके थे और शान्ति के लिए थोड़ा समय चाहते थे। निश्चय था कि अंग्रेज कम्पनी और मैसूर राज्य एक बार फिर अपनी-अपनी शक्ति को एक-दूसरे के विरुद्ध तौलेंगे। स्वयं वारेन हेस्टिंग्स इस सन्धि से सन्तुष्ट न था। परन्तु मद्रास सरकार के कारण उसे यह सन्धि स्वीकार करनी पड़ी थी।

4. तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध (1790-1792 ई.)

लॉर्ड कार्नवालिस ने भारत आकर अनुभव किया कि मैसूर राज्य के साथ अंग्रेजों का संघर्ष आवश्यक है। यद्यपि कार्नवालिस 1784 ई. में डायरेक्टरों द्वारा घोषित हस्तक्षेप न करने की नीति का समर्थक था परन्तु उसे विश्वास हो गया था कि टीपू की शक्ति को दबाना अंग्रेजी कम्पनी के हितों की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक था। उस समय भी टीपू अंग्रेजों के विरुद्ध विदेशी शक्तियों से सहायता लेने का प्रयत्न कर रहा था। उसने जुलाई 1787 ई. में एक राजदूत-मण्डल फ्रान्स भेजा था और उसी वर्ष उसने एक अन्य राजदूत-मण्डल टर्की के सुल्तान के यहाँ भेजा। दोनों ही स्थानों पर उसके राजदूत-मण्डलों का अच्छा स्वागत हुआ परन्तु आश्वासन के अतिरिक्त कोई विशेष सहायता उसे प्राप्त न हो सकी। परन्तु उसके इन कार्यों से स्पष्ट था कि टीपू अंग्रेजों की शक्ति को नष्ट करने के लिए दृढ़-संकल्प था। इस कारण कार्नवालिस ने भी उसकी शक्ति को समाप्त करने हेतु प्रयत्न आरम्भ किये। इसीलिए उसने भारत की अन्य शक्तियीं, मुख्यतः हैदराबाद के निजाम और मराठों से सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया। जुलाई 1789 ई. में कार्नवालिस ने गुन्टूर जिले के विषय में निजाम के साथ एक स्थायी समझौता किया। उस समझौते में टीपू को सम्मिलित नहीं किया गया। इससे टीपू को स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज शीघ्र ही युद्ध के लिए तैयार हो रहे हैं।

दिसम्बर 1789 ई. में टीपू ने ट्रावनकोर के राज्य पर आक्रमण किया जो अंग्रेजों का मित्र-राज्य था। इस कारण कार्नवालिस ने टीपू से युद्ध घोषित कर दिया। टीपू का ट्रावनकोर के राजा से पुराना झगड़ा था। उसने टीपू के उन शत्रु-राजाओं को अपने यहाँ शरण दी थी जो

टीपू की मलाबार की सीमाओं पर आक्रमण करते रहते थे, उसने डचों से मलाबार तट पर दो बन्दरगाह खरीदे थे जिन्हें वह अपनी सीमा में मानता था और स्वयं उन बन्दरगाहों को लेने के लिए पर्याप्त धन देने को तैयार था तथा उसने अपनी सुरक्षा के लिए जो दीवार खड़ी की थी उसके बारे में टीपू का कहना था कि उसका कुछ भाग उसके राज्य की सीमा में आता था। टीपू ने इन झगड़ों का निर्णय मद्रास कौंसिल को मध्यस्थ बनाकर भी कराना चाहा था परन्तु जब वहाँ से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो उसने ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि अंग्रेज युद्ध का बहाना ढूँढ़ रहे थे। इस आक्रमण के होते ही कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया।

परन्तु मैसूर पर आक्रमण करने से पहले कार्नवालिस ने इस बात की व्यवस्था की कि मराठे या निजाम किसी कारण टीपू का साथ देने को तत्पर न हो जायें। अतएव 1 जून, 1790 ई. को मराठों के साथ और 4 जुलाई, 1790 ई. को निजाम के साथ सन्धियाँ की गयीं जिनके अनुसार दोनों ने अंग्रेजों को सैनिक सहायता देने का वायदा किया और युद्ध के पश्चात् जीती हुई भूमि को आपस में बाँट लेने का निश्चय किया। यद्यपि निजाम और मराठों ने अंग्रेजों की बहुत कम सहायता की और युद्ध का अधिकांश भार अंग्रेजों पर ही रहा परन्तु टीपू से उनके मिलने की सम्भावना नष्ट हो गयी। इस प्रकार टीपू नितान्त अकेला रह गया। उसे फ्रान्स से भी कोई सहायता प्राप्त न हो सकी क्योंकि एक वर्ष पहले फ्रान्स में जन-क्रान्ति आरम्भ हो चुकी थी।

टीपू और अंग्रेजों का यह युद्ध प्रायः दो वर्ष चला। आरम्भ में जनरल मीडोज (Medows) के नेतृत्व में अंग्रेजों का आक्रमण विफल रहा जिसके कारण दिसम्बर 1790 ई. में स्वयं कार्नवालिस ने सेनापति का पद सँभाला। कार्नवालिस ने वैलोर और अम्बर की ओर से बंगलौर की ओर बढ़ना शुरू किया और मार्च 1791 ई. में बंगलौर पर अधिकार कर लिया। मई तक अंग्रेजी सेनाएँ श्रीरंगपट्टम से एक मील दूर अरीकेरा तक पहुँच गयीं। परन्तु टीपू ने उस समय एक साहसी सेनापति की योग्यता का परिचय दिया तथा वर्षा के दिनों में कार्नवालिस को वापस लौटना पड़ा। नवम्बर 1791 ई. में टीपू ने कोयम्बटूर को जीतने में सफलता प्राप्त की। परन्तु उसकी शक्ति क्षीण होती जा रही थी। कार्नवालिस ने श्रीरंगपट्टम के मार्ग के सभी पहाड़ी किलों पर एक-एक करके अधिकार कर लिया और फरवरी 1792 ई. में वह श्रीरंगपट्टम के किले की दीवार तक पहुँच गया। हताश होकर टीपू को सन्धि की बातचीत शुरू करनी पड़ी और मार्च 1792 ई. में श्रीरंगपट्टम की सन्धि हो गयी।

इस सन्धि की शर्तों के अनुसार—

1. टीपू का प्रायः आधा राज्य उससे छीन लिया गया। इसका एक बड़ा भाग निजाम को प्राप्त हुआ। मराठों को जो भूमि प्राप्त हुई उससे उनकी सीमाएँ तुंगभद्रा नदी तक पहुँच गयीं। अधिकांश भाग अंग्रेजों को प्राप्त हुआ जिसमें मलाबार, दक्षिण में डिण्डीगल और उसके समीप के सभी जिले तथा पूर्व में बाड़ामहल और आसपास के सभी पहाड़ी मार्ग सम्मिलित थे जिससे उनके राज्य का विस्तार ही नहीं हुआ बल्कि उन्हें सैनिक और राजनीतिक महत्व के स्थान प्राप्त हुए।

2. अंग्रेजों को कुर्ग के राजा पर आधिपत्य प्राप्त हुआ।

3. टीपू को 30,00,000 पौण्ड से अधिक धन युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए देना पड़ा।

4. भविष्य की सुरक्षा के लिए उसे अपने दो पुत्र बन्धक के रूप में अंग्रेजों को सौंपने पड़े।

कुछ व्यक्तियों ने कार्नवालिस के इस समझौते की आलोचना की है। उनका कहना है कि कार्नवालिस ने इस सन्धि को करने में जल्दबाजी की। वह सरलता से टीपू को समाप्त कर सकता था और उसने यह एक अच्छा अवसर खो दिया। परन्तु कार्नवालिस ने यह सन्धि बहुत सूझ-बूझ से की थी। उस अवसर पर अंग्रेज सैनिकों में बीमारी फैल गयी थी, क्रान्तिग्रस्त फ्रान्स की स्थिति में सुधार हो रहा था और सम्भव था कि टीपू को फ्रान्सीसी सहायता प्राप्त हो जाती। डायरेक्टरों के आदेश भी उस समय उस युद्ध को समाप्त करने के थे। परन्तु कार्नवालिस को इससे भी अधिक कठिनाई मैसूर राज्य के विभाजन की थी। यदि वह सम्पूर्ण मैसूर को अपने अधिकार में कर लेता तो उसे निजाम और मराठों को भी विस्तृत भू-प्रदेश देना पड़ता जिससे उनकी शक्ति में वृद्धि हो जाती। इसके लिए कार्नवालिस तत्पर न था। उसने अपनी कठिनाई को स्वयं अपने शब्दों में उस समय प्रकट किया था जबकि सन्धि-वार्ता के टूटने की सम्भावना हो गयी थी। उसने कहा था : "हे ईश्वर, मैं अब इस स्थान का क्या प्रबन्ध करूँगा।"[1] इस कारण ही उसने यह सन्धि की थी और सन्धि के पश्चात् उसने कहा भी था : "हमने अपने मित्रों को बिना बहुत शक्तिशाली बनाये अपने दुश्मन को बुरी तरह से दुर्बल कर दिया।"[2] इस प्रकार निश्चय ही तृतीय मैसूर-युद्ध ने टीपू की शक्ति को अत्यधिक दुर्बल बना दिया और मैसूर राज्य को समाप्त करना केवल कुछ समय की बात रह गयी थी। यह कार्य लॉर्ड वैलेजली ने भारत में आते ही पूरा कर दिया।

5. चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध (1799 ई.)

तृतीय मैसूर-युद्ध में टीपू का जो अपमान और पराजय हुई थी वह उसे भूलने वाला न था और न वह उस समय तक अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार था। उसने किले की किलेबन्दी को सुदृढ़ करना आरम्भ किया, अपनी घुड़सवार व पैदल सेना की संख्या और प्रशिक्षण में सुधार किया, विद्रोही सरदारों को दबाया और कृषि की उन्नति करने का प्रयत्न किया। 1796 ई. में नाममात्र के मैसूर के हिन्दू राजा की मृत्यु हो गयी और टीपू ने उसके अल्पायु पुत्र को नाममात्र के लिए भी गद्दी पर बैठाने से इन्कार कर दिया। उसने अंग्रेजों के विरुद्ध मित्र प्राप्त करने के लिए अरब, काबुल, टर्की और मॉरीशस में अपने राजदूत भेजे और इनमें से उसे फ्रान्सीसियों की थोड़ी सहायता भी प्राप्त हुई। यह सन्देह किया गया था कि कुछ फ्रान्सीसी स्वयंसेवक मैसूर आये जहाँ उन्होंने 'स्वतन्त्रता' के वृक्ष को आरोपित किया, स्वयं टीपू जैकोबिन-दल का सदस्य बन गया, उसने अपने को 'नागरिक टीपू' (Citizen Tipu) पुकारा, मॉरीशस के फ्रान्सीसी गवर्नर ने टीपू को मैसूर का सुल्तान स्वीकार किया और जिस समय लॉर्ड वैलेजली कलकत्ता पहुँचा उसी समय फ्रान्सीसी सैनिकों की एक टुकड़ी मंगलौर पहुँची। निश्चय ही टीपू अंग्रेजों को भारत से निकालने और अपने अपमान का बदला लेने के लिए दृढ़-संकल्पित था।

लॉर्ड वैलेजली के लिए टीपू के ये कार्य शत्रुतापूर्ण थे। वह साम्राज्यवादी था, फ्रान्सीसी प्रभाव को भारत से पूर्णतः नष्ट करना उसका उद्देश्य था और शत्रु-राज्यों में मैसूर का राज्य ऐसा था जिसे, सम्भवतः, वह सरलता से समाप्त कर सकता था। इस कारण वैलेजली ने सर्वप्रथम टीपू को समाप्त करने का लक्ष्य बनाया। अपनी सफलता को निश्चित करने के लिए उसने निजाम और मराठों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। 1 सितम्बर, 1798 ई. को निजाम ने सहायक-सन्धि को स्वीकार कर लिया और अंग्रेजों का मित्र बन गया। मराठों ने

---

1 "Good God ! What I shall do with the place." —Lord Cornwallis.

2 "We have effectually crippled our enemy, without making our friends too formidable." —Lord Cornwallis.

वैलेजली को कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया, तब भी अपने पक्ष को मजबूती प्रदान करने के लिए वैलेजली ने अपनी ओर से मैसूर के विजित प्रदेशों के आधे भाग को पेशवा को दे देने का लालच दिया। इस प्रकार अपनी स्थिति को दृढ़ करके वैलेजली ने मैसूर पर आक्रमण करने की योजना बनायी और 1799 ई. में मैसूर पर आक्रमण शुरू कर दिये।

जनरल हैरिस (Harris) और आर्थर वैलेजली के नेतृत्व में एक सेना ने फरवरी में वैलोर से चलकर मार्च 1799 ई. में मैसूर पर आक्रमण किया। पश्चिम से एक दूसरी सेना ने जनरल स्टुअर्ट के नेतृत्व में मैसूर पर आक्रमण किया। जनरल स्टुअर्ट ने टीपू को सीदासीर और जनरल हैरिस ने टीपू को मालवेली के युद्ध में परास्त किया। टीपू श्रीरंगपट्टम के किले में शरण लेने के लिए विवश हुआ। 17 अप्रैल, 1799 ई. को श्रीरंगपट्टम का घेरा डाल दिया गया और 4 मई, 1799 ई. को उस पर अधिकार कर लिया गया। टीपू अपने किले की दीवार पर युद्ध करता हुआ मारा गया और उसके पुत्र ने अंग्रेजों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया।

इस युद्ध से 33 वर्ष पूर्व स्थापित मैसूर का मुस्लिम-राज्य समाप्त हो गया। अंग्रेजों ने उसकी कुछ भूमि कुछ शर्तों पर पेशवा को देनी चाही परन्तु उसने लेने से इन्कार कर दिया। निजाम को उत्तर-पूर्व में अपनी सीमाओं के निकट का भू-प्रदेश प्राप्त हुआ जिसमें गूटी, गुरुमकोण्डा और उसके किले को छोड़कर चित्तलदुर्ग के जिले सम्मिलित थे। अंग्रेजों ने पश्चिम में कनारा, दक्षिण-पश्चिम में बाईनाद, कोयम्बटूर और दारापुरम के जिले तथा श्रीरंगपट्टम को सम्मिलित करते हुए पूर्व में दो अन्य जिले प्राप्त किये। मैसूर का अवशिष्ट राज्य पूर्ववर्ती हिन्दू राजा के अल्पायु पुत्र को दे दिया गया। उसने अंग्रेजों से सहायक-सन्धि कर ली और स्वीकार कर लिया कि आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेज उसके राज्य के शासन को कभी भी अपने हाथ में ले सकते थे। टीपू के परिवारीजन वैलोर के किले में भेज दिये गये जहाँ वे बन्दी की भाँति रहे।

इस प्रकार अंग्रेजों के शत्रु-राज्य मैसूर का अन्त हुआ। उसके अधिकांश भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और जो बाकी बचा हुआ मैसूर राज्य रहा उसकी सीमाएँ प्रत्येक ओर से अंग्रेजी सीमाओं से घिरी हुई थीं और वहाँ का राजा पूर्णतः अंग्रेजों पर निर्भर करता था। मैसूर की विजय की इंगलैण्ड में बहुत प्रशंसा हुई। वैलेजली को मारक्वेस का पद दिया गया। डीन हटन ने मैसूर-विजय के बारे में लिखा : "सैनिक, आर्थिक और शान्ति-स्थापना की दृष्टि से मैसूर की विजय, क्लाइव के पश्चात्, अंग्रेजी शक्ति की सबसे महत्वपूर्ण विजय थी।"[1]

6. हैदरअली का चरित्र और मूल्यांकन

अनेक अंग्रेज इतिहासकारों ने हैदरअली के चरित्र और कार्यों के बारे में न्याय नहीं किया है। उनमें से कुछ ने उसे लुटेरा और दूसरों के राज्य को हस्तगत करने वाला कहा है। परन्तु हैदरअली के विषय में यह कहना उचित नहीं है। उस युग की परिस्थितियों के अनुसार हैदरअली ने अपनी शक्ति और योग्यता से एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की थी। यदि अंग्रेजों से उसकी शत्रुता हुई तो उसमें उसके चरित्र का दोष नहीं माना जा सकता।

हैदरअली एक जन्मजात सैनिक, योग्य घुड़सवार, कुशल सेनापति और अच्छा कूटनीतिज्ञ था। साधारण नायक की स्थिति से उठकर वह मैसूर का सेनापति और अन्त में

1 "As a military, financial and pacificatory settlement, the conquest of Mysore was the most brilliant success of the British power since the days of Clive."
—*Dean Hutton.*

वहाँ का सर्वेसर्वा बना। वह एक साहसी सैनिक था और युद्ध के अवसर पर अपने सैनिकों के साथ किसी भी खतरे को उठाने हेतु तत्पर रहता था। उसमें घुड़सवार-सेना का नेतृत्व करने की अद्वितीय क्षमता थी। उसने यूरोपियन युद्ध-नीति की उपयोगिता को देखकर फ्रान्सीसियों से सहायता लेने का निश्चय किया था और तोपखाने का प्रयोग भी अच्छी प्रकार से सीखा था। वह शिक्षित न था परन्तु उसकी बुद्धि कुशाग्र और स्मरण-शक्ति तीक्ष्ण थी। वह एक ही समय में कई बातों की ओर ध्यान दे सकता था। वह प्रातःकाल अपने सभी गुप्तचरों से एक साथ उनकी खबरें सुनता था और आवश्यकतानुसार सभी को आदेश देता था। धार्मिक दृष्टि से वह अत्यन्त उदार था। हिन्दुओं को उसके राज्य में पूर्ण सुरक्षा थी और वह हिन्दू विद्वानों तथा मन्दिरों को दान देता था। वह एक अच्छा कूटनीतिज्ञ था और अनेक अवसरों पर उसने अपने शत्रुओं में फूट डालने में सफलता प्राप्त की थी। एक शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से भी वह योग्य था। इसमें सन्देह नहीं कि निरन्तर युद्धों में लगे रहने और स्वयं शासन की ओर ध्यान देने का विशेष अवसर प्राप्त न होने के कारण उसे अपने अधिकारियों पर बहुत मात्रा में निर्भर करना पड़ता था परन्तु हैदरअली में व्यक्ति की योग्यता को परखने, अपराधियों को दण्ड देने और सेवारत वफादार कर्मचारियों को इनाम देने की क्षमता थी। अपनी इसी योग्यता के कारण वह दूसरों से कार्य ले सकता था और सम्पूर्ण शासन पर अपनी दृष्टि भी रख पाता था। उसके सार्वजनिक लाभ के कार्यों में 'दरिया दौलत' नाम का भवन, 'लाल बाग' और 'गंजम शहर' का निर्माण उल्लेखनीय हैं। व्यक्तिगत मामलों में हैदरअली को कीमंती गहनों का शौक तो न था परन्तु अच्छे वस्त्रों का शौक उसे अवश्य था। इस प्रकार एक शासक, सैनिक और सेनापति की दृष्टि से हैदरअली पूर्णतः योग्य था। उसने अपने राज्य का विस्तार किया था, उसे दृढ़ बनाया था और उसकी प्रजा सुखी थी। सरकार और दत्त ने लिखा है : "अपनी योग्यता से स्वयं को बनाने वाले हैदरअली ने मैसूर राज्य को दुर्बल और विभाजित पाया परन्तु उसने उसे 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की एक सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। हैदर न तो लुटेरों का सरदार था और न एक स्वार्थी अवसरवादी सैनिक। साहसपूर्ण सैनिक प्रतिभा के साथ-साथ उसमें एक कुशल राजनीतिज्ञ की योग्यता भी थी।"[1] जिन परिस्थितियों में हैदरअली ने मैसूर राज्य का निर्माण किया वे पर्याप्त कठिन थीं। मराठा सरदार दक्षिण में एक नवीन और शक्तिशाली मुस्लिम-राज्य को सहन नहीं कर सकते थे, हैदराबाद का निजाम अपनी सीमाओं के निकट एक शक्तिशाली राज्य का निर्माण नहीं होने देना चाहता था और अंग्रेज इस वजह से उसके शत्रु बन गये थे कि उसने प्रारम्भ से ही फ्रान्सीसियों से सहायता ली थी। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज दक्षिण में एक नवीन शक्ति के उदय को अपनी सुरक्षा और विस्तार की दृष्टि से उचित नहीं मानते थे। इस कारण हैदरअली को प्रारम्भ से ही भारत की इन प्रबल शक्तियों से मुकाबला करना पड़ा और इन परिस्थितियों में भी जिस मैसूर राज्य का उसने निर्माण किया वह उसकी योग्यता का प्रमाण था। अंग्रेजों के विरुद्ध उसने दो युद्ध किये। प्रथम युद्ध में उसने पूर्ण सफलता पायी और द्वितीय युद्ध के चलते उसकी मृत्यु हो गयी। इस कारण यह भी नहीं माना जा सकता कि अंग्रेजों के विरुद्ध वह असफल रहा। परन्तु अपनी एक दुर्बलता को वह भली-भाँति समझता था और वह थी नौ-सेना की कमी। अंग्रेजों के विरुद्ध अपनी इस दुर्बलता को समझते हुए उसने एक बार कहा था : "मैं भूमि से उनके शक्ति-साधनों को नष्ट कर सकता

---

1 "A completely self-made man, who found Mysore weak and divided but raised it to the position of one of the foremost powers of India in the latter half of the eighteenth century. Hyder was not a robber chief of selfish military adventure. Besides the daring of military genius, there was in him the stuff of constructive statesmanship."

—*Sarkar and Dutta.*

हूँ परन्तु मैं समुद्र को नहीं सुखा सकता।"[1] नौ-सेना की सहायता से अंग्रेजों को विभिन्न स्थानों से सहायता प्राप्त हो जाती थी, इसे हैदरअली समझता था। सम्भवतः, इसी कारण उसने फ्रान्सीसियों से सहायता प्राप्त करने का निरन्तर प्रयत्न किया था। हैदरअली के जीवन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि वह एक सफल व्यक्ति सिद्ध हुआ था।

7. टीपू सुल्तान का चरित्र तथा मूल्यांकन

टीपू के चरित्र के विषय में तत्कालीन और आधुनिक इतिहासकारों ने विरोधी मत व्यक्त किये हैं। उसके विपक्ष के इतिहासकारों ने लिखा है कि वह कठोर, अत्याचारी और धर्मान्ध शासक था। उसे अपनी योग्यता का बहुत घमण्ड था और वह विज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, इन्जीनियरिंग, सैनिक व्यवस्था, व्यापार आदि सभी के विषय में अपने मत प्रकट किया करता था जबकि उसे इनका पर्याप्त ज्ञान न था। अभिमान के कारण ही उसने 'खुतबा'[2] मुगल बादशाह के नाम से नहीं बल्कि अपने नाम से पढ़वाना आरम्भ कर दिया था। उसे स्थानों और नियमों को बदलने की सनक थी और वह अनावश्यक ही उनके नामों में परिवर्तन किया करता था। उसे मनुष्य के चरित्र का ज्ञान न था और वह उनके बारे में उचित निर्णय नहीं ले सकता था। कर्नल विल्कस ने उनके बारे में लिखा है : "हैदर चरित्र के मूल्यांकन में कभी ही भूल करता था, जबकि टीपू कभी ही ठीक होता था।"[3] टीपू के विषय में यह भी कहा जाता है कि वह अत्याचारी था। उसने अपने समय में अनेक व्यक्तियों को कठोर यातनाएँ दी थीं और उन्हें बेदर्दी से कत्ल कराया था। टीपू धर्मान्ध था। हिन्दुओं के प्रति उसका व्यवहार कठोर था। उसने कुर्ग के हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया था। इसी कारण उसकी हिन्दू प्रजा उससे असन्तुष्ट थी। टीपू में राजनीतिक दूरदर्शिता की कमी थी। इसी कारण अपने पड़ौसी राज्यों से सहायता प्राप्त करने के स्थान पर उसने दूरस्थ फ्रान्स और अन्य मुस्लिम-राज्यों से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया। अपनी इन्हीं त्रुटियों के कारण टीपू ने अपना साम्राज्य खो दिया। उसके बारे में कहा गया है : "हैदरअली एक साम्राज्य का निर्माण करने के लिए पैदा हुआ था और टीपू उसे खोने के लिए।"[4]

परन्तु इतिहासकारों के उपर्युक्त कथन को पूर्णतः सत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्य ऐसे भी इतिहासकार हैं जो टीपू के चरित्र और कार्यों के विषय में कुछ भिन्न मत प्रकट करते हैं। टीपू शिक्षित था और उसे फारसी व कन्नड़ भाषाओं का ज्ञान था। उसे राजनीति में रुचि थी और विदेशी राज्यों से व्यवहार करने में वह कुशल था। उसने विभिन्न देशों में अपने राजदूत भेज कर उनसे सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया था। मराठा और निजाम से सहायता न मिलने तथा अंग्रेजों से शत्रुता होने में उसका स्वयं का कम और इतिहास की घटनाओं व परिस्थितियों का दोष अधिक था। उसने निजाम और मराठों की मित्रता हो जाने के पश्चात् व मुगल बादशाह को सिन्धिया के प्रभाव में समझकर ही 1786 ई. में 'खुतबा' अपने नाम से पढ़वाया था तथा उसने निजाम से मित्रता और विवाह-सम्बन्ध का भी प्रस्ताव किया था जो निजाम के द्वारा ठुकरा दिया गया था। वह एक साहसी सैनिक और सेनापति

---

1 "I can ruin their resources by land but I can not dry up the sea."
—*Haidar Ali to Purniya.*

2 प्रतिदिन की प्रार्थना ।

3 "Hyder was seldom wrong and Tipu seldom right in his estimate of character."
—*Col. Wilks.*

4 "Hyder Ali was born to create an empire, Tipu to lose one."

था। तृतीय मैसूर-युद्ध में बुरी तरह से दुर्बल हो जाने पर भी उसने साहस नहीं छोड़ा था और अपनी पराजय को स्थायी मानने की बजाय तुरन्त ही अपनी शक्ति को पुनः एकत्रित करना आरम्भ कर दिया था। आंशिक रूप से यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय शासकों में वही अकेला शासक था, जिसने बिना किसी समझौते के विदेशी शक्ति—अंग्रेज—के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष किया।

अनेक ऐसे प्रमाण भी प्राप्त होते हैं जिनसे टीपू को योग्य और परिश्रमी शासक माना जा सकता है। मिल ने लिखा है : "आन्तरिक शासन की दृष्टि से उसकी तुलना पूर्व के किसी भी महान् शासक से की जा सकती है।"[1] उसके समय में कृषि की स्थिति बहुत अच्छी थी। उसका विवरण मूर (Moore), डीरम (Dirom) आदि अनेक व्यक्तियों ने दिया है। उसके राज्य में सम्पन्नता थी और जनसंख्या घनी थी, इसके प्रमाण प्राप्त होते हैं। सर जॉन शोर ने लिखा है : "उसके राज्य में किसानों की रक्षा की जाती है और उनके श्रम को प्रोत्साहन व इनाम दिया जाता है।"[2] टीपू ने सेना, व्यापार, मुद्रा, ऋण-व्यवस्था, नाप-तोल के साधनों आदि शासन के विभिन्न क्षेत्रों में सुधार किये थे, इसके भी प्रमाण प्राप्त होते हैं। मलाबार-क्षेत्र में सार्वजनिक सड़कों का निर्माण उसी ने आरम्भ किया और वहाँ कई सड़कें बनवायीं। इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि टीपू एक निरंकुश शासक था परन्तु उसने अपनी प्रजा की भलाई के लिए अनेक कार्य किये थे। अनेक ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जबकि उसने अत्यधिक कठोरता का परिचय दिया था परन्तु यह अपराधियों और विद्रोहियों के सम्बन्ध में था, न कि सार्वजनिक अत्याचारों की दृष्टि से।

व्यक्तिगत दृष्टि से टीपू में कोई दोष न था। निस्सन्देह वह कट्टर मुसलमान था, पाँचों वक्त की नमाज पढ़ता था और ईश्वर में पूर्ण विश्वास करता था परन्तु वह धर्मान्ध था, यह आवश्यक रूप से सिद्ध नहीं होता। टीपू ने कुछ स्थानों पर हिन्दुओं को मुसलमान बनाया और ईसाइयों को बाहर निकाल दिया, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यह उसकी सार्वजनिक नीति न थी। श्रृंगेरी में जो पत्र प्राप्त हुए हैं उनसे स्पष्ट होता है कि टीपू हिन्दुओं की भावनाओं को सन्तुष्ट करना जानता था और धर्मान्धता उसके पतन का कारण न थी। ऐसे उदाहरण भी प्राप्त होते हैं जब टीपू ने हिन्दू मन्दिरों को दान दिया था और हिन्दू अधिकारियों की नियुक्ति की थी। वह श्रृंगेरी के तत्कालीन जगद्गुरु शंकराचार्य का सम्मान करता था और उनसे निरन्तर पत्र-व्यवहार करता रहा था। परन्तु यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि अपने पिता हैदरअली की तुलना में टीपू धार्मिक मामलों में अवश्य अनुदार था और उसके समय में उसकी हिन्दू प्रजा में थोड़ा असन्तोष था।

साहसी और कभी भी पराजय स्वीकार न करने वाला होते हुए भी टीपू ने सेनापति की दृष्टि से एक भयंकर भूल की थी। उसने अपनी घुड़सवार सेना की अपेक्षा अपनी पैदल सेना और किलेबन्दी पर अधिक बल दिया था। इसी कारण उसकी युद्ध-नीति आक्रामक होने के स्थान पर सुरक्षात्मक बन गयी थी और यही उसकी पराजय और पतन का एक मुख्य कारण था।

इस प्रकार टीपू में जहाँ कुछ दोष थे वहीं कुछ गुण भी थे। निस्सन्देह वह अपने पिता की भाँति सफल और योग्य सिद्ध न हो सका था परन्तु तब भी वह योग्य और साहसी शासक

---

1 "As a domestic ruler, he sustains an advantageous comparison with the greatest princes of the East."

—*Mill.*

2 "The peasantry of his dominions are protected, and their labours encouraged and rewarded."

—*Sir John Shore.*

था, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतः उसकी असफलता ही उसके व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से ऊपर नहीं आने देती क्योंकि एक शासक के लिए असफलता और पराजय से बुरी अन्य कोई चीज नहीं होती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
2. द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के क्या कारण थे ? क्या मैसूर राज्य उस युद्ध से अत्यधिक दुर्बल हो गया था ?
3. कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध युद्ध करना एक "क्रूर आवश्यकता" बताया था। क्या तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के कारणों पर प्रकाश डालते हुए हम उसके कथन की सत्यता को स्वीकार कर सकते हैं ?
4. तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध के परिणामों पर प्रकाश डालिए।
5. चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
6. हैदरअली और टीपू के चरित्र एवं व्यक्तित्व का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
7. "हैदरअली एक साम्राज्य स्थापित करने के लिए पैदा हुआ था और टीपू उसे खोने के लिए।" क्या यह विचार तर्कसंगत स्वीकार किया जा सकता है ?

13

यूरोप की राजनीति का भारत की विदेश-नीति पर प्रभाव

[लॉर्ड मिण्टो : 1807-1813 ई.]

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विकास के समय में 'भारतीय विदेश-नीति' शब्द का प्रयोग हम एक सीमित मात्रा में ही कर सकते हैं। उसकी प्रथम सीमा यह थी कि अंग्रेजी भारत-सरकार उस समय स्वतन्त्र न थी बल्कि ब्रिटेन की सरकार के अधीन थी। इस कारण, वास्तव में, अंग्रेजी भारत-सरकार की कोई विदेश-नीति हो ही नहीं सकती थी। उसकी विदेश-नीति वह थी जो ब्रिटेन की सरकार अपने सम्पूर्ण साम्राज्य की सुरक्षा के लिए निश्चित करती थी। अंग्रेजी भारत-सरकार का कार्य विदेश-नीति में केवल ब्रिटेन की सरकार की आज्ञा का पालन करना था। परन्तु यह बात अवश्य है कि क्योंकि ब्रिटिश सरकार का मुख्य लक्ष्य भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा करना था, इस कारण अंग्रेजी भारत-सरकार भी अपने सुझावों से ब्रिटिश सरकार को भारत सम्बन्धी विदेश-नीति में पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करती थी। इसके अतिरिक्त, क्योंकि अठारहवीं सदी तक आवागमन तथा सूचना-संचार के साधनों की कमी थी, इस कारण बहुत से मामलों में अंग्रेजी भारत-सरकार को स्वयं भी कदम उठाना आवश्यक हो जाता था। अन्त में, ब्रिटिश सरकार तो केवल सिद्धान्त के आधार पर ही नीति निश्चित करती थी, उसको कार्य-रूप में परिणत करना तो अंग्रेजी भारत-सरकार का ही उत्तरदायित्व था। इससे अंग्रेजी भारत-सरकार को विदेश-नीति में स्वेच्छा से कार्य करने का कुछ अवसर प्राप्त हो जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि कानूनी तौर पर अंग्रेजी भारत-सरकार की विदेश-नीति ब्रिटिश सरकार की विदेश-नीति तक सीमित थी परन्तु व्यावहारिक रूप में अंग्रेजी भारत-सरकार पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करती थी।

इसके अतिरिक्त 'भारत की विदेश-नीति' शब्द का प्रयोग हम एक और सीमित मात्रा में करते हैं। वैसे तो कानूनी तौर पर भारतीय नरेशों से अंग्रेजी भारत-सरकार के सम्बन्ध भी विदेश-नीति के अन्तर्गत ही आने चाहिए थे क्योंकि जब तक भारतीय नरेश स्वतन्त्र थे तब तक अंग्रेज सरकार के उनसे सम्बन्ध विदेशी सम्बन्ध ही माने जाने चाहिए। परन्तु हम 'भारत की विदेश-नीति' शब्द का प्रयोग इस प्रकार नहीं करते। हम 'भारत की विदेश-नीति' शब्द का प्रयोग अंग्रेजी भारत-सरकार द्वारा उन राज्यों के सन्दर्भ में अपनायी गयी नीति के लिए करते हैं जो राज्य भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं से बाहर थे। इससे यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी भारत-सरकार की विदेश-नीति का आरम्भ उस समय तक सम्भव नहीं था जब तक कि भारत में अंग्रेजी राज्य पूर्ण न हो जाता। इस कारण, वस्तुतः, भारत की विदेश-नीति का आरम्भ उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से माना गया है जबकि अंग्रेजों का भारत में साम्राज्य पर्याप्त बड़ी मात्रा में बन चुका था। इस प्रकार अंग्रेजी भारत-सरकार की विदेश-नीति शब्द का प्रयोग हम कुछ सीमाओं में करते हैं और उसका प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी से मानते हैं।

जिस समय से अंग्रेजी भारत-सरकार की विदेश-नीति का आरम्भ हुआ उसी समय से उसका मुख्य उद्देश्य भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं की सुरक्षा करना बन गया। अंग्रेज

सरकार का मुख्य उद्देश्य यह था कि यूरोप की कोई अन्य शक्ति अथवा कोई भी विदेशी शक्ति भारत की सीमाओं में प्रवेश न कर सके ताकि वे ही भारत के एकमात्र शासक बन सकें। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें अपना ध्यान भारत की उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी सीमाओं पर केन्द्रित करना पड़ा। इसके अतिरिक्त उनका सहायक उद्देश्य अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा करना भी था। इस प्रकार मुख्यतः भारत की भौगोलिक सीमाओं की सुरक्षा और सहायक रूप से अपने व्यापारिक हितों की सुरक्षा ऐसे उद्देश्य थे जिन्होंने अंग्रेजी भारत-सरकार की विदेश-नीति को समय-समय पर प्रभावित किया।

समझने की सुविधा के लिए अंग्रेजों की भारत की विदेश-नीति का आरम्भ लॉर्ड वैलेजली के समय से माना जा सकता है। उस समय नेपोलियन के उत्थान के कारण फ्रान्स यूरोप की महान् शक्ति बन चुका था और ब्रिटेन का कट्टर शत्रु था। फ्रान्सीसी आक्रमण का भय भारत में बहुत था और वह आक्रमण समुद्र से या भूमि पर उत्तर-पश्चिमी सीमाओं से पर्शिया और अफगानिस्तान होकर सम्भव था। इस कारण वैलेजली ने माल्कम (Malcolm) को तेहरान भेजकर पर्शिया से 1800 ई. में एक राजनीतिक और व्यापारिक सन्धि की, अवध के उत्तर-पश्चिमी भाग को कम्पनी की सीमाओं में सम्मिलित किया, मैसूर, तंजौर और मराठों से समुद्र-तट प्राप्त किया तथा फ्रान्सीसी प्रभाव को भारतीय नरेशों के राज्यों से समाप्त कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजों की भारत की विदेश-नीति का प्रारम्भ यूरोप की राजनीति के कारण हुआ। आगे आने वाले समय में यह और अधिक स्पष्ट हो गया कि भारत की विदेश-नीति पर मुख्य प्रभाव यूरोप की राजनीति का ही रहा। ब्रिटेन के यूरोप के अन्य राज्यों से क्या सम्बन्ध रहे—मुख्यतः पहले फ्रान्स से और बाद में रूस (Russia) से—यह मुख्य बात थी जो भारत की विदेश-नीति को सम्पूर्ण उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में प्रभावित करती रही।

1806 ई. में भारत पर केवल फ्रान्सीसी आक्रमण का भय था परन्तु 1807 ई. में अंग्रेजी भारत-सरकार को रूस और फ्रान्स के संयुक्त आक्रमण का भय हो गया। 1807 ई. में नेपोलियन ने रूस से टिलसिट नामक स्थान पर एक सन्धि की और इस सन्धि के उपरान्त भारत पर आक्रमण की सम्भावनाएँ बहुत अधिक हो गयीं क्योंकि रूस की सीमाएँ भारत की सीमाओं के बहुत निकट थीं। 1805 ई. में लॉर्ड वैलेजली भारत से जा चुका था। उसके पश्चात् कुछ माह लॉर्ड कार्नवालिस और उसके बाद सर जॉर्ज बार्लो ने भारत के गवर्नर-जनरल के पद पर कार्य किया। परन्तु इन दोनों में से कोई भी विदेश-नीति में नया कदम न उठा सका। उनका मुख्य कार्य आन्तरिक सुदृढ़ता तक ही सीमित रहा।

1807 ई. में लॉर्ड मिण्टो के गवर्नर-जनरल बनने पर भारत की सीमाओं को सुरक्षित करने के लिए प्रथम बार विदेशी शक्तियों से सम्बन्ध स्थापित किये गये। सबसे अधिक खतरा उत्तर-पश्चिम से था, इस कारण उस दिशा में स्थापित पंजाब के सिख-राज्य तथा अफगानिस्तान और पर्शिया से अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये गये।

पंजाब में महाराजा रणजीतसिंह ने एक शक्तिशाली सिख-राज्य की स्थापना कर ली थी और वह सतलज नदी के पूर्व के सिख-राज्यों (नाभा, पटियाला, जींद आदि) पर भी अधिकार करना चाहता था। 1806 ई. से 1809 ई. के मध्य उसने तीन बार इन राज्यों पर आक्रमण किये। मिण्टो ने सिख-राज्य की सीमाओं को बढ़ने से रोकने के लिए और उत्तर-पश्चिम से सुरक्षा प्राप्त करने हेतु रणजीतसिंह से मित्रता करना उचित समझा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने चार्ल्स मेटकाफ (Charles Metcalf) को राजदूत बनाकर लाहौर भेजा। मेटकाफ के

प्रयत्नों से 1809 ई. में सिख और अंग्रेजों के बीच अमृतसर की सन्धि हुई जिसके अनुसार रणजीतसिंह ने सतलज नदी को अपने राज्य की सीमा स्वीकार कर लिया और अंग्रेजों को अपना मित्र मान लिया। इस सन्धि का पालन रणजीतसिंह ने जीवनपर्यन्त किया और इससे उत्तर-पश्चिम की ओर से अंग्रेजी साम्राज्य को पर्याप्त सुरक्षा प्राप्त हो गयी।

मिण्टो ने जॉन माल्कम (John Malcolm) को राजदूत बनाकर फारस (Persia) भेजा। उसी अवसर पर ब्रिटेन से भी एक अंग्रेज राजदूत सर हरफोर्ड जोन्स (Sir Harford Jones) को फारस भेजा गया। माल्कम सफल नहीं हुआ था परन्तु जोन्स के प्रयत्न सफल हो गये और फारस ने ब्रिटेन से 1809 ई. में एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार फारस के शाह ने फ्रान्स अथवा रूस की सेनाओं को अपने राज्य की सीमाओं से न गुजरने देने का वायदा किया। ब्रिटेन ने अपनी ओर से शाह पर आक्रमण के अवसर पर उसे सैनिक और आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया।

मिण्टो ने स्टुअर्ट एलफिन्स्टन (Stuart Elphinstone) को राजदूत बनाकर अफगानिस्तान भेजा। उसने भी वहाँ के शासक शाहशुजा से एक सन्धि करने में सफलता प्राप्त की जिसके अनुसार शाहशुजा ने आश्वासन दिया कि वह रूस अथवा फ्रान्स की सेनाओं को अपने राज्य से नहीं गुजरने देगा।

मिण्टो ने सिन्ध के अमीरों से भी सन्धियाँ कीं जिनके अनुसार उन्होंने आश्वासन दिया कि वे फ्रान्सीसियों को अपने राज्य की सीमाओं से बाहर निकाल देंगे।

1810 ई. में रूस और फ्रान्स पुनः शत्रु हो गये जिससे भारत पर फ्रान्स या रूस के आक्रमण का भय समाप्त हो गया। तब भी मिण्टो ने भारत और दक्षिण-पूर्व में फ्रान्स के अधीन पुर्तगाली और डच उपनिवेशों जैसे गोआ, जावा आदि पर अधिकार कर लिया जिससे पूर्व में फ्रान्स का प्रभाव पूर्णतः समाप्त हो जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1806 से 1813 ई. तक के समय में यूरोप की राजनीति ने पहली बार गम्भीर रूप से भारतीय राजनीति को प्रभावित किया। लॉर्ड मिण्टो का शासन-काल मुख्यतः विदेश-नीति से पूर्ण है। फारस से सम्बन्ध सुधारे गये, अफगानिस्तान से सन्धि की गयी (यद्यपि शाहशुजा के वहाँ से भारत भाग आने पर वह सन्धि बेकार हो गयी) और सिख-राज्य तथा सिन्ध के अमीरों से भी सन्धियाँ की गयीं। इन सभी प्रयत्नों का उद्देश्य फ्रान्स अथवा रूस के आक्रमण से भारत की सुरक्षा करना था। भारत का रूस या फ्रान्स से कोई प्रत्यक्ष झगड़ा न था परन्तु क्योंकि फ्रान्स और रूस यूरोप में ब्रिटेन के शत्रु बन गये थे, इस कारण अंग्रेजी भारत-सरकार को यह कदम उठाने पड़े। आगे आने वाले समय में भी ब्रिटेन के अन्य यूरोपीय राज्यों से सम्बन्ध भारतीय विदेश-नीति को प्रभावित करते रहे। 1815 ई. में वाटरलू के युद्ध के उपरान्त फ्रान्स का भय समाप्त हो गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् ही रूस का पूर्व में विस्तार अंग्रेजों की भारतीय विदेश-नीति को और अधिक प्रभावित करने वाला सिद्ध हुआ। प्रथम और द्वितीय अफगान-युद्ध रूस के पूर्व में विस्तार से उत्पन्न भय के कारण हुए। बीसवीं सदी में भारत का प्रथम और द्वितीय महायुद्ध में भाग लेना यूरोप की राजनीति के ही कारण था। इस प्रकार यूरोप की राजनीति भारतीय विदेश-नीति के निर्माण में 1806-1813 ई. के समय में ही उत्तरदायी नहीं रही बल्कि उसके पश्चात् भी रही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 1807-13 ई. के मध्य यूरोपीय राजनीति के भारत में अंग्रेजों की विदेश-नीति के प्रभाव को स्पष्ट कीजिए।

14

मारक्वेस (लॉर्ड) हेस्टिंग्स (1813-23 ई.)

मारक्वेस (लॉर्ड) हेस्टिंग्स (Marquess (Lord) Hastings) का कहना था कि सिद्धान्ततः वह 'हस्तक्षेप न करने की नीति' में विश्वास करता था परन्तु व्यवहार में वह कट्टर साम्राज्यवादी सिद्ध हुआ। उसने अनुभव किया कि भारत में विभिन्न ऐसी समस्याएँ थीं जिनका निर्णय केवल शस्त्रों द्वारा ही सम्भव था। पिछले गवर्नर-जनरलों द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति का अनुसरण करने के कारण मराठे पुनः शक्तिशाली हो गये थे, पिंडारियों के लुटेरे-दल सम्पूर्ण मध्य-भारत में खुलेआम लूट-मार कर रहे थे, अंग्रेजों को शक्तिहीन समझा जाने लगा था और सीमा पर गोरखाओं एवं बर्मियों के आक्रमण शुरू हो गये थे। इन परिस्थितियों में हेस्टिंग्स ने लॉर्ड वैलेजली की भाँति पुनः आक्रमणकारी नीति को अपनाया। युद्धों की दृष्टि से उसका समय बहुत महत्वपूर्ण है। निस्सन्देह, उसने शासन में भी सुधार किये थे परन्तु उसकी मुख्य सफलता भारत में पुनः अंग्रेजी शक्ति की स्थापना करने में थी। उसने मराठा-शक्ति को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया, पिंडारियों को नष्ट कर दिया और नेपाल से युद्ध करके न केवल उत्तर की सीमाओं की सुरक्षा की बल्कि महत्वपूर्ण भूमि भी प्राप्त की। उसके बारे में पी. ई. रॉबर्ट्स ने लिखा है : "उसने भारत में अंगीकृत सैनिक-अभियानों में से सबसे महान् और ऐसे युक्तिपूर्ण सैनिक-अभियान की योजना बनायी तथा उसे कार्य-रूप में परिणत किया जिसके अन्तर्गत बिना एक भी असफलता के 28 युद्ध लड़े गये और 120 किले जीते गये।"[1] मिल के अनुसार, "हेस्टिंग्स ने शासन-प्रबन्ध की उस व्यवस्था को पूर्ण किया जिसकी नींव क्लाइव ने डाली थी और जिसकी इमारत को वारेन हेस्टिंग्स और लॉर्ड वैलेजली ने खड़ा किया था।"[2] पी. ई. रॉबर्ट्स ने हेस्टिंग्स के विषय में पुनः लिखा है : "वह एक महान् शासन-प्रबन्धक, परिश्रमी एवं मनुष्यों का पारखी था तथा उसका नाम व प्रतिष्ठा महानतम गवर्नर-जनरलों की सूची के बिल्कुल बाद सबसे ऊपर आता है।"[3] लॉर्ड हेस्टिंग्स का मुख्य कार्य भारत में अंग्रेजी सम्मान और शक्ति की स्थापना करना था। इस दृष्टि से उसने लॉर्ड वैलेजली के कार्य की पूर्ति की। इस कार्य की पूर्ति के लिए वैलेजली की भाँति उसे भी भारत में कई महत्वपूर्ण युद्ध लड़ने पड़े।

---

1 "He conceived and carried through the grandest strategical operation ever undertaken in India in the course of which twenty-eight actions were fought and one hundred twenty forts taken without a single reverse." —*P. E. Roberts.*

2 "Hastings completed that administrative structure, the foundations of which were laid down by Clive and whose structure was raised by Warren Hastings and Lord Wellesley." —*Mill.*

3 "He was an able administrator, a hard worker, a good judge of men and his name and fame deservedly rank only just below the greatest in the roll of Governor-Generals." —*P. E. Roberts.*

1. नेपाल युद्ध (1814-1816 ई.)

हेस्टिंग्स ने सर्वप्रथम नेपाल राज्य के निवासी गोरखाओं से युद्ध किया। नेपाल भारत के उत्तर के पहाड़ी भू-भाग में फैला हुआ एक शक्तिशाली राज्य था। गोरखा जाति बहादुर और लड़ाकू थी। इसके अतिरिक्त वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण वहाँ आक्रमणकारी को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वहाँ मार्ग या तो थे ही नहीं और यदि थे भी तो अत्यन्त दुर्गम जिससे बड़ी सेनाएँ सरलता से वहाँ नहीं जा सकती थीं। इसके अतिरिक्त वहाँ स्थान-स्थान पर पहाड़ी किले बने हुए थे जिन्हें जीतना बहुत कठिन था।

अंग्रेज पहले भी नेपाल राज्य के सम्पर्क में आये थे। सर्वप्रथम बंगाल के नवाब मीरकासिम ने 1762 ई. में एक सेना नेपाल पर आक्रमण करने के लिए भेजी थी लेकिन उसकी पराजय हुई थी। कुछ वर्षों के पश्चात् बेटहा के अंग्रेज व्यापारिक रेजीडेण्ट गोल्डिंग (Mr. Golding) का नेपाल पर किया गया आक्रमण भी विफल हुआ। तत्पश्चात् अंग्रेजों ने नेपाल से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये। 1792 ई. में नेपाल ने अंग्रेजों से एक व्यापारिक सन्धि की परन्तु उससे कोई विशेष लाभ न हुआ। कर्नल कीरपैट्रिक (Colonel Kirpatrick) और 1802 ई. में भेजा गया कैप्टेन नोक्स (Captain Knox) का दूतमण्डल भी असफल हुआ जिसके कारण क्षुब्ध होकर 1804 ई. में लॉर्ड वैलेजली ने नेपाल से की गयी व्यापारिक सन्धि को समाप्त कर दिया।

जिस समय लॉर्ड हेस्टिंग्स भारत आया, उस समय तक नेपाल एक बड़ा और शक्तिशाली राज्य बन चुका था। उस राज्य का विस्तार पूर्व में तीस्ता (Tista) नदी से लेकर पश्चिम में सतलज नदी तक था। इस प्रकार उस राज्य के अधिकार में भारत की उत्तरी सीमाओं का सम्पूर्ण पहाड़ी प्रदेश था। नेपाल के उत्तर में चीन का विशाल राज्य था जिससे वे उधर विस्तार नहीं कर सकते थे। इस कारण, 19वीं सदी में उन्होंने अपना विस्तार दक्षिण में बंगाल और अवध की सीमाओं की ओर करना आरम्भ किया। 1801 ई. में गोरखपुर जिले को प्राप्त करने के बाद अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ नेपाल से मिल गयी थीं। परन्तु हिमालय की तराई का भाग ऐसा था जहाँ उस समय तक नेपाल और अंग्रेज़ी राज्य की सीमाएँ निश्चित नहीं हो सकी थीं। इस कारण, दोनों शक्तियाँ अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने हेतु तराई के विभिन्न भागों पर अपना अधिकार जताती थीं। अतः अनिश्चित सीमा-क्षेत्र पर दो साम्राज्यवादी शक्तियों का झगड़ा होना आवश्यक हो गया। तराई के विभिन्न जिलों पर गोरखा और अंग्रेज दोनों ही अपना दावा कर रहे थे और जो भू-भाग जिसके हाथ में आ रहा था, वही उसे हथिया रहा था। ऐसी स्थिति में युद्ध ही दोनों शक्तियों की सीमा को निश्चित कर सकता था।

1814 ई. में दो जिलों के आधिपत्य के प्रश्न पर युद्ध आरम्भ हो गया। बुटवाल (Butwal) और शेरोज (Sheoraj) जिलों पर लॉर्ड मिण्टो के समय में एक बार गोरखों ने अधिकार कर लिया था परन्तु अंग्रेजों ने उन्हें वापस छीन लिया था। मई 1814 में गोरखों ने बुटवाल (Butwal) के तीन पुलिस थानों पर पुनः आक्रमण किया। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने तुरन्त युद्ध का निर्णय कर लिया और अक्टूबर 1814 ई. में युद्ध आरम्भ हो गया। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने तीन तरफ से नेपाल पर आक्रमण करने की योजना बनायी। कर्नल ऑक्टरलोनी (Octerloney) को सतलज नदी की ओर से भेजा गया, मेजर-जनरल जिलेस्पी (Gillespie) को मेरठ से चलकर नेपाली सेनापति अमरसिंह थापा के विरुद्ध ऑक्टरलोनी की सहायता के लिए भेजा गया, मेजर-जनरल मार्ले (Marley) को पटना से और जॉन वुड (Wood) को गोरखपुर से नेपाल की राजधानी की ओर बढ़ने के आदेश दिये गये। अंग्रेजों ने पहाड़ी जातियों और

गोरखा सेनापति अमरसिंह थापा तथा बूम-शाह (Bum-Shah) को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। इन प्रयत्नों के बावजूद प्रारम्भ में अंग्रेजों को कोई सफलता नहीं मिली। गोरखों ने बड़ी बहादुरी से उनका मुकाबला किया। मार्लें और वुड को वापस लौटना पड़ा। कलंगा (Kalanga) के किले को विजय करने के प्रयत्न में जिलेस्पी मारा गया और मेजर-जनरल मार्टिनडेल (Martindell) की जैतक (Jaitak) के किले के सामने पराजय हुई। परन्तु 1815 ई. में इस स्थिति में सुधार हुआ। कर्नल निकोलस (Nicholas) और गार्डनर (Gardener) ने अप्रैल 1815 ई. में अल्मोड़ा और कुमायूँ पर अधिकार कर लिया। ऑक्टरलोनी ने मई 1815 ई. में अमरसिंह थापा से मालोन (Malon) का किला छीन लिया। इसके अतिरिक्त, अंग्रेज कुछ पहाड़ी जातियों को भी अपनी सेना में भर्ती करने में सफल हो गये जिससे युद्ध में उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त हुई।

मालोन (Malon) के पतन के उपरान्त गोरखों ने सन्धि की बातचीत शुरू की और 28 नवम्बर, 1815 ई. को सिगौली की सन्धि हो गयी। परन्तु नेपाल दरबार में उग्र दल के शक्ति में होने के कारण राजा ने इस सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। इससे युद्ध पुनः आरम्भ हो गया। ऑक्टरलोनी ने आगे बढ़कर गोरखों को 28 फरवरी, 1816 ई. को मकवानपुर (Makwanpur) नामक स्थान पर पुनः परास्त किया। इस पराजय के पश्चात् मार्च 1816 ई. में नेपाल-दरबार ने सिगौली की सन्धि की शर्तों को स्वीकार कर लिया।

सिगौली की सन्धि से—

1. अंग्रेजों को गढ़वाल और कुमायूँ के जिले तथा तराई का अधिकांश भाग प्राप्त हुआ;
2. दोनों राज्यों की सीमाओं को निश्चित कर लिया गया;
3. नेपाल ने सिक्किम राज्य से अपने समस्त अधिकार वापस ले लिये; और
4. नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में अंग्रेज रेजीडेण्ट रख दिया गया।

यद्यपि इस युद्ध में अंग्रेजों को धन और सैनिकों की काफी क्षति हुई और इस युद्ध को लेकर लॉर्ड हेस्टिंग्स की आलोचना भी की गयी परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इससे अंग्रेजों को बहुत लाभ हुआ। इससे उत्तरी सीमा का विवाद सर्वदा के लिए समाप्त ही नहीं हुआ वरन् नेपाल सदा के लिए अंग्रेजों का मित्र-राज्य बन गया जहाँ से अंग्रेज भविष्य में सदैव ही कट्टर, लड़ाकू और बहादुर सैनिक प्राप्त करते रहे। सिक्किम राज्य की सीमाओं में वृद्धि की गयी और 1827 ई. में उससे एक सन्धि करके उसे अपने अधीन मित्र-राज्य बना लिया गया। अंग्रेजों को शिमला, मसूरी, नैनीताल आदि जैसे ठण्डे स्थान प्राप्त हुए, उनकी सीमाओं में वृद्धि हुई और मध्य-एशिया से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उन्हें नये मार्ग प्राप्त हुए। इस प्रकार हेस्टिंग्स का यह युद्ध अंग्रेजों के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

2. पिंडारी और पठान

(अ) पिंडारी

पिंडारी दल कठोर, अत्याचारी और स्वतन्त्र लुटेरों का दल था जिनकी संख्या हजारों में थी और जिनका केन्द्र-स्थान मध्य-भारत था। 1689 ई. में सर्वप्रथम मुगल-मराठा युद्ध के समय से पिंडारियों का नाम सुनायी देता है। मुगल बादशाह औरंगजेब दक्षिण में शान्ति स्थापित करने में असफल हुआ था और मराठा-दल एक स्थान से दूसरे स्थान पर लूटमार और विनाश करते हुए घूमते फिरते थे। उस समय की अव्यवस्था का लाभ उठाकर और मराठों का

उदाहरण लेकर उन सभी व्यक्तियों ने, जिनके पास कोई पेशा नहीं रहा था, संगठित लूटमार और डकैती के पेशे को अपना लिया और उन्हीं ने पिंडारी-दल का निर्माण किया। माल्कम ने लिखा है : "पिंडारियों में, जो गन्दगी से उत्पन्न कीड़ों के समान थे और जो दुर्बल एवं गिरते हुए राज्यों के भ्रष्टाचार से उत्पन्न हुए थे, भाग्यवश एकता का कोई ऐसा बन्धन न था जो मनुष्यों को कठिनाइयों में एक रखता है। उनमें न धर्म का बन्धन था और न राष्ट्र की भावना।"[1] सर्वप्रथम पेशवा बाजीराव प्रथम ने उनका उपयोग अनियमित घुड़सवार-सेना के रूप में किया। 1761 ई. में तृतीय पानीपत-युद्ध के पश्चात् वे मालवा में बस गये। उनके सम्बन्ध मराठा सरदार सिन्धिया तथा होल्कर से हो गये। समय-समय पर बुलाये जाने पर वे मराठा सरदारों की सेना में सम्मिलित हो जाते थे। इसी कारण मराठा सरदार उनको संरक्षण प्रदान करते थे। परन्तु जैसे-जैसे मराठा सरदारों की शक्ति घटती गयी वे स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने लगे और उनका मुख्य पेशा लूटमार हो गया। वैलेजली के समय तक उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। पिंडारियों ने कभी भी अपनी नियमित सेना नहीं बनायी और न उनमें किसी प्रकार का संगठन था। जो भी व्यक्ति उनको लूटमार और संरक्षण का आश्वासन देता था, वे उसी के साथ हो जाते थे। वैलेजली की 'सहायक-सन्धि' के कारण भारतीय नरेशों को स्वयं की अधिकांश सेनाओं को भंग करना पड़ा। ये निष्कासित सैनिक भी पिंडारी-दल में सम्मिलित हो गये। अन्य व्यक्ति भी जो लूटमार करना चाहते थे और जिनको कानून से भय न था, लूटमार के समय पिंडारी-दल में सम्मिलित हो जाते थे। पिंडारियों में न कोई अनुशासन था और न किसी के प्रति आज्ञाकारिता। वे सभी व्यक्ति जिनका मुख्य उद्देश्य केवल लूटमार से धन एकत्र करना था, पिंडारी-दल में सम्मिलित हो गये। उनमें हिन्दू-मुसलमान अथवा जाति-वर्ग का कोई अन्तर नहीं था। सभी प्रकार के लड़ाकू, लुटेरे, चोर, निष्कासित सैनिक और समाज का बुरे से बुरा व्यक्ति उनमें सम्मिलित था।

पिंडारी प्रायः घुड़सवार होते थे और उनका मुख्य हथियार 12 से 18 फीट लम्बा भाला था यद्यपि तलवार, कटार और उनमें से कुछ बन्दूकों का भी प्रयोग करते थे। वे शत्रु के साथ सामने से युद्ध करना पसन्द नहीं करते थे और किसी सेना से युद्ध करना तो उनका आशय ही न था। वे तो शान्तिपूर्ण गाँवों और नगरों पर अचानक आक्रमण करके उनको लूटते थे और लूटमार करके भाग जाते थे। इसी कारण उनकी तुलना टिट्डी दल से की जाती थी।

उनकी लूटमार की सफलताओं ने उनकी संख्या और शक्ति को अत्यधिक बढ़ा दिया था। सम्पूर्ण मध्य-भारत उनके अत्याचारों से पीड़ित था। वे गाँव और नगरों को जला देते थे तथा नागरिकों पर अमानुषिक अत्याचार करते थे। मराठा सरदार उनको संरक्षण प्रदान करते थे, इस कारण उन्हें "मराठों के मेहतर" (Scavengers of the Marathas) भी कहा गया है। ऐसे लुटेरों के दल से उस शक्ति का मुकाबला आवश्यक था जो भारत में अपनी शक्ति को संगठित करना चाहती थी। इस कारण अंग्रेजों से उनका संघर्ष अनिवार्य था। इसके अतिरिक्त क्योंकि वे मराठा सरदारों से संरक्षण प्राप्त करते थे, अतएव यदि मराठा सरदारों की शक्ति को भारत में नष्ट करना था तो पिंडारी-दल का विनाश भी आवश्यक था। इसी कारण लॉर्ड हेस्टिंग्स ने मराठों से युद्ध करने से पूर्व उन्हें समाप्त करना आवश्यक समझा।

---

1 "The Pindaris who had risen, like masses of putrefaction in animal matter, out of the corruption of weak and expiring states, had fortunately, none of those bonds of union which unite men in adversity. They had neither the tie of religion nor of national feeling."

—*Malcolm*.

जिस समय लॉर्ड हेस्टिंग्स भारत में आया उस समय पिंडारियों की शक्ति और संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। पिछले गवर्नर-जनरलों की शान्तिपूर्ण नीति ने उन्हें स्थान-स्थान पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहन दिया था। उस अवसर पर उनके मुख्य नेता हीरू, चीतू, वासिल मोहम्मद और करीमखाँ थे। 1808-09 ई. में उन्होंने गुजरात को लूटा, 1812 ई. में वे अंग्रेजी जिले मिर्जापुर और शाहाबाद में घुसे, 1815-16 ई. में उन्होंने हैदराबाद के निजाम की सीमाओं में लूटमार की और 1817 ई. में उन्होंने अंग्रेजों की भूमि उत्तरी-सरकार में लूटमार की। इस कारण लॉर्ड हेस्टिंग्स ने उन्हें समाप्त करने का निश्चय कर लिया।

हेस्टिंग्स जानता था कि पिंडारी-दल को भारतीय नरेशों और मुख्यतः सिन्धिया एवं होल्कर से संरक्षण प्राप्त होता है तथा वे कभी भी पिंडारियों का नाश पसन्द नहीं करेंगे और विशेष रूप से ऐसे समय में जबकि स्वयं मराठे भी अंग्रेजों की शक्ति का मुकाबला करने की पुनः तैयारी कर रहे थे। वैलेजली की सहायक-सन्धि को मराठा सरदारों ने विवशता में स्वीकार किया था और वे अवसर की तलाश में थे जबकि वे इससे मुक्त हो सकें। ऐसी स्थिति में अंग्रेजों से संघर्ष होने पर पिंडारी उनकी सहायता कर सकते थे। इस कारण लॉर्ड हेस्टिंग्स ने सर्वप्रथम कूटनीति से कार्य लिया और प्रयत्न किया कि मराठा और पिंडारी युद्ध के अवसर पर एक न हो जायें। उसने भौंसले, सिन्धिया, राजपूत राजाओं और भोपाल के नवाब से सन्धियाँ कीं जिनके अनुसार उन्होंने पिंडारियों को कोई भी सहायता न देने का वायदा किया। इसके अतिरिक्त, उसने बड़े पैमाने पर सैनिक संगठन किया जिससे आवश्यकता पड़ने पर वह मराठों से युद्ध कर सके।

हेस्टिंग्स ने 1,13,000 सैनिकों और 300 तोपों की एक बड़ी सेना तैयार की और उसको दो भागों में विभाजित किया। उत्तरी सेना का नेतृत्व उसने स्वयं किया और दक्षिणी सेना का नेतृत्व सर थॉमस हिस्लोप (Sir Thomas Hislop) को सौंपा गया। सैनिक योजना इस प्रकार बनायी गयी कि उत्तर और दक्षिण की सेनाएँ एक घेरा बनाती हुई आगे बढ़ीं जिस घेरे में से पिंडारी निकल न सके। 1817 ई. में यह कार्य शुरू किया गया और 1818 ई. के प्रारम्भ में पिंडारियों के दल को पूरी तरह नष्ट कर दिया गया। उन्हें कठोरता से मारा गया और स्थान-स्थान पर उनका पीछा किया गया। उनके नेता करीमखाँ ने आत्मसमर्पण कर दिया जिसके बदले में उसे गोरखपुर जिले में गवासपुर की जागीर दे दी गयी। वासिल मोहम्मद पकड़ा गया और उसने जेल में आत्महत्या कर ली। चीतू जंगल में भाग गया जहाँ उसे एक चीते ने खा लिया। इस प्रकार पिंडारी-दल का नाश हुआ। पाँच वर्ष के बाद माल्कम ने लिखाः "पिंडारी इतनी अच्छी तरह से दबा दिये गये कि व्यक्ति उनका नाम तक भूल गये।"[1] डफ ने भी लिखा है : "पिंडारी अन्य जन-समूहों के साथ सम्मिलित हो गये। उनमें से वास्तविक पिंडारी अब भी अपने को पिंडारी कहते हैं यद्यपि उनमें से कुछ अब कुशल किसान बन चुके हैं।"[2]

(ब) पठान

पठान भी लुटेरों का एक संगठित समूह था। इनकी शक्ति अपने नेता अमीरखाँ और मुहम्मद शाहखाँ के नेतृत्व में बहुत बढ़ गयी थी। पठानों का उद्देश्य भी लूटमार था। परन्तु पठानों और पिंडारियों में अन्तर था। प्रिन्सेप लिखता है : "पिंडारी सरदारों से पठान भिन्न प्रकार के सैनिकों के नेता हैं। वास्तव में दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि पठान सरकारों और

1 "The Pindaris are so effectually destroyed that their name is almost forgotten." —Malcolm.

2 "Pindaris mingled with the rest of the population but the real Pindaris still retain their name though some of them have become improving farmers." —Duff.

शक्तिशाली सरदारों को लूटने के लिए संगठित हैं, जबकि पिंडारियों का उद्देश्य सभी व्यक्तियों को लूटना था।"[1] पठानों की लूटमार का मुख्य स्थान राजपूताना था। 1809 ई. में जोधपुर के राजा ने सिन्धिया के आक्रमण को रोकने के लिए मुहम्मद शाहखाँ की सहायता ली थी। अमीरखाँ ने जयपुर के राजा जगतसिंह को जोधपुर के राजा के विरुद्ध सहायता दी थी। 1799 ई. से अमीरखाँ जसवन्तराव होल्कर के साथ हो गया था और उसकी मृत्यु के पश्चात् अपने बहनोई गफूरखाँ की सहायता से वह होल्कर-दरबार में बहुत प्रभावशाली हो गया था। वास्तव में पठानों को इन भारतीय नरेशों के पारस्परिक झगड़ों के कारण इनके मामलों में हस्तक्षेप करने का पर्याप्त अवसर मिलता था। वे धन लेकर कभी किसी की सहायता करते थे और कभी किसी की। सरकार एवं दत्त ने लिखा है : "पठानों को राजपूत सरदारों के पारस्परिक षड्यन्त्र के कारण प्रायः उनके मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर प्राप्त हो जाता था। अलग-अलग समय पर वे भिन्न-भिन्न राजपूत दलों का साथ देते थे और उनमें से प्रत्येक से व्यक्तिगत लाभ प्राप्त करते थे।"[2] 1814 ई. में मोहम्मद शाहखाँ की मृत्यु के पश्चात् उसके सैनिक भी अमीरखाँ के नेतृत्व में चले गये जिससे उसकी शक्ति में वृद्धि हो गयी। सम्पूर्ण राजस्थान में इन पठानों का आतंक था। इनकी सेनाएँ संगठित थीं और किलों को तोड़ने के साधन भी इनके पास थे। किसी भी संगठित सेना से इनका संगठन दुर्बल न था।

इस समय पठानों का सरदार अमीरखाँ था। अंग्रेजों ने दिल्ली के रेजीडेण्ट सर चार्ल्स मेटकाफ (Sir Charles Metcalfe) के द्वारा अमीरखाँ से बातचीत शुरू की। अमीरखाँ ने 9 नवम्बर, 1817 ई. को अंग्रेजों से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार अमीरखाँ ने अपनी सेना को समाप्त करने का वायदा किया। अंग्रेजों ने जो भूमि उसे होल्कर-राज्य से प्राप्त हुई थी उसी के पास रहने दी और उसे टोंक (Tonk) का नवाब स्वीकार कर लिया। इस प्रकार हेस्टिंग्स की कूटनीति से एक शक्तिशाली पठान सरदार, जो अंग्रेजों का कट्टर शत्रु हो सकता था, अंग्रेजों का शान्तिप्रिय मित्र बना लिया गया। इसके अतिरिक्त, होल्कर की मित्रता से भी अमीरखाँ पृथक हो गया। 16 जनवरी, 1818 ई. की मन्दसौर की सन्धि से होल्कर ने अमीरखाँ को टोंक का नवाब स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, हेस्टिंग्स ने पिंडारी और पठानों के शक्तिशाली दलों को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की। इससे न केवल भारत में शान्ति स्थापित हुई और शान्तिप्रिय नागरिकों को लाभ हुआ वरन् अंग्रेजी प्रभाव की भी वृद्धि हुई। राजपूत सरदार पुनः अंग्रेजों के संरक्षण में आ गये तथा पिंडारी और पठान मराठों केसहायतार्थ अस्तित्व में न रहे जिससे तृतीय मराठा-युद्ध में हेस्टिंग्स को मराठों को पराजित करने में पर्याप्त सुविधा हुई। पिंडारियों व पठानों का दमन लॉर्ड हेस्टिंग्स की एक महान् उपलब्धि थी।

3. तृतीय मराठा-युद्ध (1817-1818 ई.)

हेस्टिंग्स ने प्रारम्भ से ही अनुभव किया कि अंग्रेजों को एक बार फिर मराठा-शक्ति से युद्ध करना पड़ेगा। जिस समय उसने पिंडारियों को समाप्त करने के लिए सेना तैयार की

1 "Pathans commanded forces of a different description from those of the Pindari chiefs indeed, the grand difference between the two classes was, that the Pathans were bended together for the purpose of the preying on government and powerful chiefs; while the object of the Pindaris was universal plunder." —*Prinsep.*

2 "Pathans often found opportunities to interfere in the passing intrigues among the Rajputs themselves and to become partisans of the several factions from each of which they took care to reap some personal advantage." —*Sarkar and Dutta.*

थी उसी समय उसने यह सोच लिया था कि, सम्भवतः, मराठों से भी युद्ध हो। इस कारण उसने अपनी योजना इस प्रकार बनायी थी कि आवश्यकता पड़ने पर वह मराठों से भी युद्ध कर सके यद्यपि उसने प्रयत्न यही किया कि उसे पिंडारियों तथा मराठों से एक साथ युद्ध न करना पड़े। परन्तु मराठा-युद्ध और पिंडारी-युद्ध को पृथक रखने के उसके प्रयत्न कुछ मात्रा में असफल हुए। उसे पिंडारियों तथा मराठों से एक साथ युद्ध करना पड़ा, जैसा कि वी. ए. स्मिथ ने लिखा है : "पिंडारियों का पीछा करने का प्रयत्न तृतीय मराठा-युद्ध में सम्मिलित हो गया।"[1]

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में मराठों की स्थिति सन्तोषजनक न थी। वे जॉर्ज बार्लो और लॉर्ड मिण्टो के समय में अंग्रेजों द्वारा अंगीकृत 'हस्तक्षेप न करने की नीति' का लाभ नहीं उठा सके थे और न पिछले दो युद्धों में हुई अपनी पराजय से ही कोई अनुभव प्राप्त कर सके थे। वैलेजली की सहायक-सन्धियों ने उन्हें दुर्बल बना दिया था और अवसर पाने पर भी वे अपनी शक्ति को दृढ़ करने में सर्वथा असफल रहे थे। उनमें एकता का अभाव था, वे व्यक्तिगत झगड़ों और स्वार्थों में फँसे हुए थे तथा उन्होंने अपने आन्तरिक शासन को व्यवस्थित नहीं किया था जिसके आधार पर वे शक्तिशाली साम्राज्य की नींव खड़ी कर पाते। साथ ही, उस अवसर पर इनके पास योग्य सरदारों का भी अभाव था। जसवन्तराव होल्कर की मृत्यु पागलपन की स्थिति में हुई और उसके जीवन-काल में ही शासन-सत्ता उसकी पत्नी तुलसीबाई और पठान सरदार अमीरखाँ के हाथों में चली गयी थी क्योंकि उसका लड़का मल्हारराव द्वितीय उस समय तक अल्पायु था। इन व्यक्तियों ने शासन-व्यवस्था को अराजकता की स्थिति में पहुँचा दिया था। दौलतराव सिन्धिया की सेना का व्यय उसकी आय से बहुत अधिक था, उसका अपने सरदारों पर नियन्त्रण न था और वे स्वेच्छा से धन इकट्ठा करते थे। रघुजी भौंसले द्वितीय की आन्तरिक स्थिति अत्यधिक खराब थी और उसे पठान एवं पिंडारी निरन्तर लूटते रहते थे। पेशवा बाजीराव द्वितीय अपने सलाहकार त्रिम्बकजी के हाथों का खिलौना बना हुआ था और शासन के सर्वथा अयोग्य था। गायकवाड़ ने 1805 ई. में अंग्रेजों से सम्पन्न हुई सहायक-सन्धि का पूरी निष्ठा से पालन करने का निश्चय कर रखा था और वह अंग्रेजों का मित्र बना हुआ था। ऐसी स्थिति में मराठा सरदार अंग्रेजों की शक्ति का मुकाबला करने में पूर्णतः अशक्त थे और अंग्रेजों को उनसे भय का कोई कारण नहीं हो सकता था। लेकिन मराठा सरदार अपनी स्थिति से असन्तुष्ट थे, अपना मुख्य शत्रु अंग्रेजों को मानते थे और एक बार फिर अंग्रेजों का मुकाबला करने के लिए अवसर की तलाश में थे।

यद्यपि मराठा सरदारों में पेशवा बाजीराव द्वितीय अंग्रेजों का सबसे पहला मित्र था लेकिन उस समय वही सबसे अधिक असन्तुष्ट था। यद्यपि सदाशिव उसका मन्त्री था परन्तु उस पर प्रभाव त्रिम्बकजी दागलिया का था। त्रिम्बकजी की सलाह से पेशवा ने भौंसले, सिन्धिया और होल्कर के पास अपने प्रतिनिधि भेजे और एक गुप्त सन्धि करके सभी को अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होने का आह्वान किया। उसने अंग्रेजों के मित्र मराठा सरदार गायकवाड़ से अहमदाबाद भू-क्षेत्र की माँग की। इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए गायकवाड़ का एक राजदूत गंगाधर शास्त्री अंग्रेजों के संरक्षण में पूना गया जहाँ धोखे से उसका वध कर दिया गया। अंग्रेज रेजीडेण्ट एलफिन्स्टन को सन्देह था कि यह वध त्रिम्बकजी ने कराया है, अतएव उसने पेशवा से त्रिम्बकजी की माँग की और पेशवा को बाध्य होकर त्रिम्बकजी को अंग्रेजों को सौंपना पड़ा। अंग्रेजों ने उसे थाना के किले में कैद कर दिया। परन्तु एक वर्ष पश्चात् त्रिम्बकजी किसी प्रकार कैद से भाग निकला। एलफिन्स्टन का

1 "The hunt for Pindaris mixed up with the third Maratha war." —*V. A. Smith.*

विश्वास था कि उसे पेशवा बाजीराव द्वितीय ने कैद से भाग निकलने में सहायता दी है यद्यपि उसके पास इस बात का कोई प्रमाण न था। इस प्रकार पेशवा और अंग्रेजों के बीच झगड़े के बीज पहले ही बोये जा चुके थे।

1817 ई. तक बाजीराव ने मराठा सरदारों का संघ बनाकर अंग्रेजों से संघर्ष करने का निर्णय कर लिया था। उसने अपनी सेना को शक्तिशाली बनाना आरम्भ कर दिया था और अन्य मराठा सरदारों, पिंडारियों व अमीरखाँ पठान से भी इस सम्बन्ध में बातचीत शुरू कर दी थी। एलफिन्स्टन बाजीराव पर शुरू से ही सन्देह करता था और नवीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड हेस्टिंग्स ने भी 'हस्तक्षेप न करने की नीति' को त्यागकर मराठों से संघर्ष की तैयारियाँ आरम्भ कर दी थीं। हेस्टिंग्स के इशारे पर एलफिन्स्टन ने बाजीराव को 13 जून, 1817 ई. को एक कठोर और नवीन सन्धि करने के लिए बाध्य किया।

इस पूना की सन्धि के द्वारा—

1. बाजीराव ने त्रिम्बकजी को पकड़कर अंग्रेजों को सौंपने का वायदा किया और उस समय तक के लिए अपने परिवार को बन्धक के रूप में अंग्रेजों को सौंप दिया;

2. उसने मराठा-संघ के प्रमुख का पद छोड़ दिया और वायदा किया कि वह बिना अंग्रेज रेजीडेण्ट की स्वीकृति के विदेशी शक्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा;

3. उसने मराठा सरदार गायकवाड़ से अपने सभी अधिकार छोड़ दिये और जो भूमि गायकवाड़ के पास थी उसके बदले में चार लाख रुपये वार्षिक लेना स्वीकार कर लिया; और

4. उसने अपनी कुछ महत्वपूर्ण भूमि अंग्रेजों को सौंप दी।

तत्पश्चात् उसी वर्ष 6 नवम्बर, 1817 ई. को अंग्रेजों ने गायकवाड़ से भी एक सन्धि की जिसके अनुसार उसने अपनी स्वयं की सेना की संख्या में कमी कर दी, अंग्रेजों द्वारा उसकी रक्षा के लिए नियत सहायक-सेना में एक हजार पैदल और दो रेजीमेण्ट घुड़सवारों की संख्या बढ़ा दी तथा इस बढ़ी हुई सहायक-सेना के व्यय हेतु अपने कुछ जिले अंग्रेजों को सौंप दिये। इस सन्धि से अंग्रेजों ने गायकवाड़ को अपने ऊपर अधिक आश्रित कर लिया।

नागपुर के भौंसला-राज्य में भी अंग्रेजों को शीघ्र हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। 22 मार्च, 1816 ई. को रघुजी भौंसले की मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र पार्सोजी शरीर और बुद्धि दोनों से बेकार था। उसके बाद गद्दी का मालिक उसका चचेरा भाई आप्पा साहब था। पार्सोजी की माँ बुकाबाई प्रयत्नशील रही कि आप्पा साहब पार्सोजी के संरक्षक के रूप में न रहे क्योंकि उसे भय था कि कहीं आप्पा साहब स्वयं गद्दी पर अधिकार न कर ले। बाद में एक समझौते के अन्तर्गत एक संरक्षक-परिषद का निर्माण हुआ जिसमें आप्पा साहब को सम्मिलित किया गया। परन्तु भौंसले-दरबार के इस आन्तरिक मतभेद का अंग्रेजों ने लाभ उठाया और अपने रेजीडेण्ट जेंकिन्स (Jenkins) के द्वारा आप्पा साहब से एक सहायक-सन्धि करने में सफलता प्राप्त की। इस नागपुर की सन्धि के कारण भौंसले-दरबार ने भी अपनी स्वतन्त्रता खो दी। माल्कम (Malcolm) लिखता है : "भारत की तत्कालीन परिस्थिति में कोई भी घटना इतनी अधिक महत्वपूर्ण न थी जितनी कि नागपुर-दरबार से की गयी सहायक-सन्धि।"[1] इससे मराठा-संघ की शक्ति को बहुत बड़ा धक्का लगा और अंग्रेजों की रक्षात्मक शक्ति में वृद्धि हुई।

---

1 "In the actual conditions of India, no event could be more fortunate than the subsidiary alliance with Nagpur." —*Malcolm.*

5 नवम्बर, 1817 ई. को लॉर्ड हेस्टिंग्स ने दौलतराव सिन्धिया को **ग्वालियर की सन्धि** पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य किया। इस सन्धि के द्वारा सिन्धिया ने अंग्रेजों को पिंडारियों के विरुद्ध सहायता देने का वायदा किया और चम्बल नदी के बायें तट के सभी राज्यों, यथा उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूँदी आदि से अपने अधिकार वापस ले लिये।

इस प्रकार तृतीय मराठा-युद्ध के शुरू होने से पहले अंग्रेजों ने कूटनीति और दवाव से अपनी शक्ति को दृढ़ कर लिया। पूना की सन्धि ने न केवल पेशवा को अपमानित ही किया बल्कि उससे उसके मराठा सरदारों के प्रधान के पद को छीनकर उसे पर्याप्त दुर्बल भी कर दिया। अपने मित्र मराठा सरदार गायकवाड़ को भी अंग्रेजों ने दुर्बल बनाकर उससे ऐसी भूमि छीन ली थी जिससे वह युद्ध के अवसर पर अन्य मराठा सरदारों की कोई सहायता नहीं कर सकता था। नागपुर की सन्धि के द्वारा भौंसले-दरबार की स्वतन्त्रता छीन ली गयी और ग्वालियर की सन्धि के द्वारा सिन्धिया से उसके राजपूत राज्यों से सम्बन्धित अधिकार ही नहीं छीने गये बल्कि उससे पिंडारियों के विरुद्ध अंग्रेजों को सहायता देने का वायदा भी ले लिया गया। इस प्रकार आधा युद्ध तो अंग्रेज तृतीय मराठा-युद्ध शुरू होने से पहले ही जीत चुके थे।

तृतीय मराठा-युद्ध पेशवा बाजीराव के विद्रोह से आरम्भ हुआ। सभी मराठा सरदार अपमान की आग में जल रहे थे। जो सन्धियाँ उन्होंने की थीं, वे बाध्य होकर की थीं और वे सभी उनसे छुटकारा चाहते थे। जिस दिन सिन्धिया को ग्वालियर की सन्धि (5 नवम्बर, 1817 ई.) पर हस्ताक्षर करने थे उसी दिन पेशवा ने किरकी (Kirki) की रेजीडेन्सी पर आक्रमण करके उसे जला दिया। परन्तु युद्ध में उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। यह तृतीय मराठा-युद्ध का प्रारम्भ था। उसी समय आप्पा साहब भौंसले ने नागपुर में और मल्हारराव होल्कर ने इन्दौर में अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठा लिये। आप्पा साहब की सेना को 27 नवम्बर, 1817 ई. को सीतावाल्डी के युद्ध में अंग्रेजों ने परास्त कर दिया। 21 दिसम्बर, 1817 ई. को महीदपुर नामक स्थान पर होल्कर को बुरी तरह से परास्त किया गया। आप्पा साहब युद्ध में पराजित होकर भाग गया और होल्कर ने युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों से 6 जनवरी, 1818 ई. को **मन्दसौर की सन्धि** कर ली। इस सन्धि के अनुसार होल्कर ने—

1. अमीरखाँ पठान की भूमि पर से अपने समस्त अधिकार छांड़ दिये।

2. कोटा तथा सभी राजपूत राज्य, बूँदी राज्य और सतपुड़ा की पहाड़ियों तथा उसके दक्षिण के सभी राज्यों पर से अपने समस्त अधिकार छोड़ दिये;

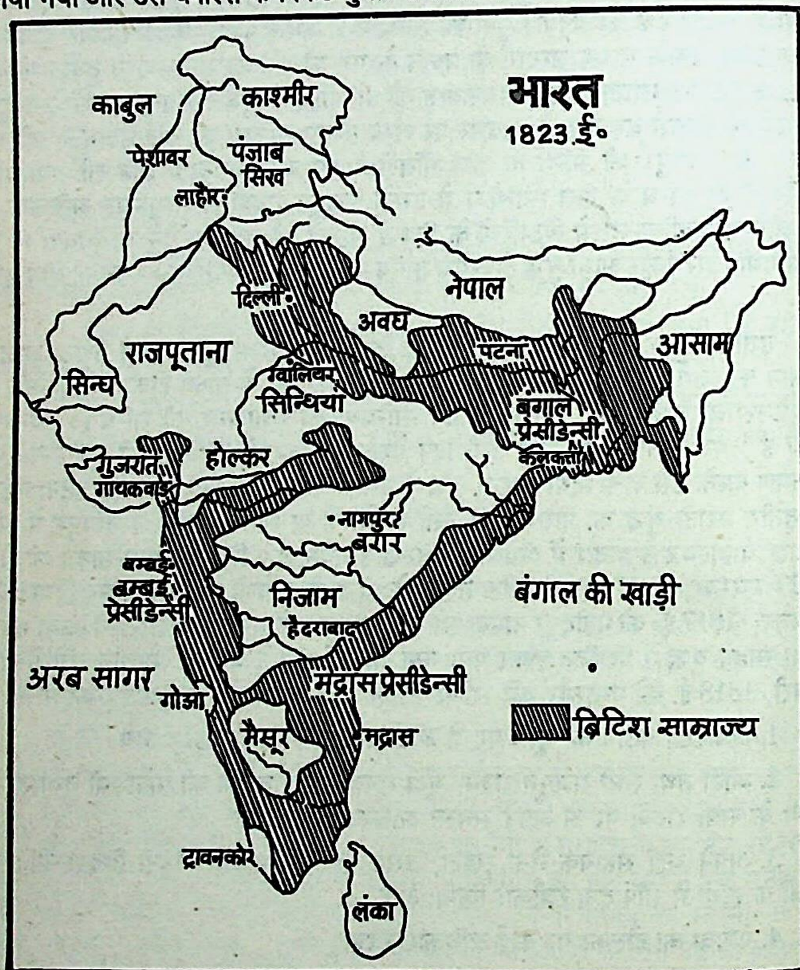
3. अपने यहाँ सहायक-सेना रखना, उसका व्यय देना और अपनी विदेश-नीति को अंग्रेजों के हाथों में सौंप देना स्वीकार किया; और

4. पेशवा का होल्कर पर कोई अधिकार न रहा।

आप्पा साहब ने भागकर पहाड़ों में शरण ली और वहीं से कुछ समय तक अंग्रेजों का विरोध किया परन्तु असफल होने पर पंजाब भाग गया और अन्त में जोधपुर चला गया जहाँ 1804 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। भौंसले-दरबार से एक सन्धि के द्वारा अंग्रेजों ने नर्वदा नदी के उत्तर की सभी भूमि ले ली और बाकी बचे हुए छोटे से भाग में रघुजी द्वितीय के एक अल्पवयस्क पोते को गद्दी पर बैठा दिया।

पेशवा बाजीराव किरकी के युद्ध में पराजित होकर सतारा भाग गया और वहाँ उसने नाममात्र के शासक तथा शिवाजी के वंशज राजा को अपने अधिकार में कर लिया। परन्तु उसे वहाँ से भागना पड़ा और अन्त में जनवरी 1818 ई. में कोरेगाँव (Koregaon) में व 20

फरवरी, 1818 ई. को आस्थी (Asthi) में उसकी पराजय हुई। जून 1818 ई. में पेशवा ने आत्मसमर्पण कर दिया। पेशवा का पद समाप्त कर दिया गया, उसके सम्पूर्ण राज्य पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया और पेशवा को 8 लाख रुपये की वार्षिक पेंशन देकर कानपुर के निकट बिठूर नामक स्थान पर भेज दिया गया। पेशवा के सहायक त्रिम्बकजी को भी पकड़ लिया गया और उसे बनारस के निकट चुनार के किले में जीवनपर्यन्त कैद रखा गया।



इस प्रकार एक-एक करके सभी मराठा सरदारों को परास्त कर दिया गया, उनके राज्य सीमित कर दिये गये और सभी को पूर्णतः शक्तिहीन बना दिया गया। पेशवा, भौंसले और होल्कर युद्ध में पराजित होकर अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बन गये। सिन्धिया और गायकवाड़ ने युद्ध में भाग लेने का साहस ही नहीं किया, पेशवा का पद समाप्त हो गया, मराठा-संघ नष्ट हो गया और उसके साथ ही भारत में अंग्रेजों की शक्ति का मुकाबला करने वाली अन्तिम शक्ति का भी अन्त हो गया। नाममात्र के मराठा-राज्य रहे और स्वयं अंग्रेजों ने शिवाजी के एक वंशज प्रतापसिंह को सतारा का राजा बनाया, परन्तु अब उनमें से किसी में यह साहस न था कि वह आगे कभी भी अंग्रेज-सत्ता का विरोध कर सकता। प्रिन्सेप के अनुसार,

"अंग्रेजी प्रभाव और सत्ता जादू की तरह भारत में फैल गयी।"[1] इस प्रकार मराठों का भारत की राजसत्ता के लिए अंग्रेजों से हुआ संघर्ष समाप्त हो गया।

4. मराठों के पतन के कारण

वस्तुतः अंग्रेजों ने भारत का शासन मुगल बादशाह से नहीं बल्कि मराठों से प्राप्त किया। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल-साम्राज्य इतनी तीव्र गति से पतन के मार्ग पर उन्मुख हुआ कि उसका स्थान बहुत शीघ्र ही उदीयमान मराठा-शक्ति ने ले लिया। जिस समय अंग्रेज अपनी सुरक्षा के लिए फ्रान्सीसियों से युद्धरत थे अथवा बंगाल के नवाब के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहे थे, उस समय भारत के भाग्य-विधाता मराठा बने हुए थे। वे सम्पूर्ण भारत पर शासन तो नहीं करते थे परन्तु सम्पूर्ण भारत उनसे आतंकित था और वे प्रायः भारत के सभी भागों से चौथ व सरदेशमुखी नामक कर लेते थे। गुजरात से बंगाल तक और पंजाब से कुमारी अन्तरीप तक मराठा-शक्ति छायी हुई थी। मुगल बादशाह उनका पेंशनर था। राजस्थान, अवध, बंगाल, हैदराबाद, कर्नाटक, मैसूर आदि के शासक उन्हें कर देते थे और गुजरात, मालवा, बुन्देलखण्ड, महाराष्ट्र आदि उनके अधीन थे। इस कारण इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि विभिन्न राज्यों के होते हुए भी भारत में मराठों की शक्ति सर्वश्रेष्ठ थी और अंग्रेजों ने भारत का साम्राज्य मुगलों से नहीं बल्कि मराठों से प्राप्त किया था।

भारत की यह शक्ति जिसने एक समय सम्पूर्ण भारत को अपने पैरों तले रौंद दिया था, अंग्रेजों के प्रथम प्रहार से ही लड़खड़ा गयी। वारेन हेस्टिंग्स के समय में हुए पहले युद्ध ने ही मराठों की दुर्बलताओं को स्पष्ट कर दिया। अंग्रेजों का दूसरा आक्रमण लॉर्ड वैलेजली के समय में और तीसरा व अन्तिम आक्रमण लॉर्ड हेस्टिंग्स के समय में हुआ तथा शक्तिशाली मराठा-संघ चूर-चूर हो गया। मराठा सरदारों ने अंग्रेज कम्पनी की अधीनता स्वीकार कर ली और फिर उसके पश्चात् कभी भी अंग्रेज-सत्ता का विरोध करने का साहस नहीं किया। उनके राज्य सीमित कर दिये गये, उनके राज्यों में अंग्रेजी सेनाएँ नियुक्त कर दी गयीं, उनकी आन्तरिक व विदेश-नीति अंग्रेजों के हाथ में चली गयी, पेशवा का पद और राज्य समाप्त कर दिया गया तथा सम्पूर्ण भारत को आतंकित करने वाले मराठे अंग्रेजों के दास हो गये। अंग्रेजों और मराठों का संघर्ष बहुत कठिन रहा हो, ऐसी बात भी न थी। प्रथम युद्ध में ही मराठों का योग कुछ विशेष सम्मानपूर्ण न था और द्वितीय युद्ध के अवसर पर लॉर्ड वैलेजली के भारत से वापस चले जाने के कारण वे बच गये थे अन्यथा उनकी शक्ति तो उसी समय नष्ट कर दी गयी थी।

वस्तुतः, भारतीय समाज की मूलभूत दुर्बलताएँ, मराठा समाज की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियाँ और अवनत सामाजिक संगठन, मराठों में तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक बुद्धि का अभाव, नवीन शस्त्रों के निर्माण और युद्ध-शैली के सुधार में कमी, मराठों के आन्तरिक झगड़े, मराठों में विलासिता का प्रवेश, आदि मराठों के पतन के प्रमुख कारण बताये गये हैं। एन. सी. केलकर ने मराठों में स्वतन्त्र अस्तित्व की आकांक्षा, राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव, प्रशिक्षित सेना तथा आधुनिक तोपखाने का निर्माण न कर पाना उनके पतन के कारण बताये। प्रायः ये सभी मराठों के पतन के कारण थे।

मराठों का पतन किस समय से आरम्भ हुआ, इस विषय में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। डॉ. एस. एन. सेन के अनुसार मराठा-साम्राज्य की प्रगति में ही उसके पतन के कारण

1 "British influence and authority spread over the land with magical celerity." —*Prinsep.*

निहित थे। मराठों की तीव्र प्रगति ने उन्हें आपस में विभाजित कर दिया जो उनके पतन का मुख्य कारण बना। डॉ. ताराचन्द के अनुसार 1761 ई. में हुए पानीपत के तृतीय युद्ध से बहुत पहले ही मराठों के पतन के कारण विद्यमान थे। डॉ. एस. आर. शर्मा के अनुसार मराठों के उत्तर-भारत में प्रवेश से उनके शत्रुओं की संख्या में वृद्धि हुई जिसके कारण उनका पतन हुआ। डॉ. जदुनाथ सरकार ने पानीपत के तृतीय युद्ध की पराजय को मराठों के पतन का कारण बताया, जबकि इतिहासकार ग्राण्ट डफ और सरदेसाई पानीपत के तृतीय युद्ध की पराजय को उनके पतन का एक महत्वपूर्ण कारण नहीं मानते। सरदेसाई के अनुसार पेशवा माधवराव प्रथम की मृत्यु के समय से मराठों का पतन आरम्भ हुआ।

अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों की पराजय के कारणों में से निम्नलिखित प्रमुख बताये जाते हैं :

1. मराठों की आन्तरिक दुर्बलताएँ—मराठों की सबसे बड़ी दुर्बलता स्वयं उनकी अपनी और अपने राज्य की थी। मराठों में एकता का पूर्ण अभाव था। मराठा राज्य एक राज्य न था बल्कि संघ-राज्य था जिसमें प्रत्येक शक्तिशाली सरदार स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करता था। नाममात्र की जो एकता पेशवा माधवराव प्रथम के समय तक रही, वह उसकी मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो गयी। पेशवा दुर्बल हो गये जिससे मराठा-संघ छिन्न-भिन्न हो गया। सिन्धिया, होल्कर, भौंसले और गायकवाड़ जैसे मराठा सरदार स्वतन्त्र शासक की तरह व्यवहार ही नहीं करने लगे बल्कि आपस में झगड़ने भी लगे। दौलतराव सिन्धिया और जसवन्तराव होल्कर में अन्त तक प्रतिद्वन्द्विता रही, गायकवाड़ बहुत पहले ही अंग्रेजों का मित्र बन गया और अन्त तक अंग्रेजों व मराठों के युद्धों में तटस्थ रहा तथा भौंसले ने कभी भी किसी के साथ मिलकर कार्य नहीं किया। इस कारण अंग्रेजों को इनके आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप करने और एक-एक करके इन्हें परास्त करने का अवसर मिला। पूना-दरबार के झगड़ों से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने प्रथम मराठा-युद्ध में भाग लिया और होल्कर व पेशवा के झगड़े का लाभ उठाकर पेशवा से बेसीन की सन्धि करने तथा द्वितीय मराठा-युद्ध करने की सुविधा प्राप्त करने का अवसर पाया। इस प्रकार मराठों का पारस्परिक संघर्ष, एकता का अभाव और एक केन्द्रीय राज्य की कमी उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता थी।

मराठों ने कभी भी अपने राज्य की व्यवस्था एक सुसंगठित राज्य की भाँति नहीं की। उन्होंने कभी भी अपने नागरिकों की शिक्षा, रक्षा, भौतिक उन्नति और नैतिक विकास का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लिया। उनका एकमात्र लक्ष्य धन लूटना और अपनी शक्ति को कायम रखना था। ऐसा राज्य नागरिकों की वफादारी प्राप्त नहीं कर सकता था। ऐसा राज्य वस्तुतः राज्य न था और उसकी जड़ें खोखली नींव पर आधारित थीं। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है : "महाराष्ट्र के नागरिकों में भी वास्तविक एकता न थी और जो एकता थी भी वह नाममात्र की और दिखावे की थी और इसी कारण दुर्बल थी। महाराष्ट्र का धार्मिक और राष्ट्रीय आन्दोलन जिसने महाराष्ट्र को मुगल-साम्राज्य को समाप्त करने की शक्ति प्रदान की थी , अब अपनी शक्ति खो चुका था।"[1] उनकी यह दुर्बलता उन्नीसवीं सदी में स्पष्ट हो गयी जबकि उनका मुकाबला एक संगठित यूरोपीय जाति से हुआ।

---

1 "The cohesion of the people of Maratha state was not organic but artificial, accidental and therefore precarious. The religio-national movements which had worked in the destruction of the Mughal Empire had spent itself."

—*Sir J. N. Sarkar.*

जिस समय मराठों का संघर्ष अंग्रेजों से आरम्भ हुआ उस समय तक मराठे अपने जातीय गुणों को खो चुके थे। समानता, सादगी, कर्मठता, संयम और कठोर जीवन आदि ने उनको मुगल-साम्राज्य के विरुद्ध सफलता प्रदान की थी और उन्हें महान् बनाया था। परन्तु अब उनके वे गुण समाप्त हो चुके थे। सामन्त-प्रथा और ऊँच-नीच की भावना से उनकी सामाजिक एकता नष्ट हो गयी थी और वे अपने आदर्शों से भटक गये थे। लूटमार और उत्तर-भारत से प्राप्त की हुई सम्पत्ति ने उन्हें विलासप्रिय बना दिया था और उनके सरदारों का नैतिक पतन हो गया था। निस्सन्देह, ऐसा समाज और उसके नेता लम्बे समय तक एक साम्राज्य की सुरक्षा नहीं कर सकते थे।

2. राजनीतिक दूरदर्शिता का अभाव—मराठों में राजनीतिक दूरदर्शिता न थी। किसी भी मराठा सरदार ने यह विचार नहीं किया कि नष्टप्राय मुगल-साम्राज्य और उसके नाममात्र के प्रधान मुगल बादशाह को हटाकर मराठों को भारत का अधिपति होना चाहिए। उस स्थिति में मराठा-छत्रपति अथवा पेशवा भारत का सम्राट होता और भारत-सम्राट होने के प्रशासकीय उत्तरदायित्व को निभाने का प्रयत्न करता। उस स्थिति में मराठों के नेतृत्व में भारत की एकता सम्भव थी और विदेशी अंग्रेजों से युद्ध करते हुए साम्राज्य के सभी महत्वपूर्ण दलों अथवा राजनीतिक संगठनों को एक सूत्र में बाँधना मराठों के लिए सम्भव होता। परन्तु मराठों ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने भारत केअन्य प्रभावपूर्ण राजनीतिक गुटों की भाँति मुगल बादशाह को अपने हाथों में कठपुतली बनाना ही अपने लक्ष्य की पूर्ति मान लिया। ऐसा करने से वे भी पठानों, तुर्कों, भारतीय मुसलमानों, विदेशी मुसलमानों और जाटों आदि की भाँति एक ऐसा राजनीतिक गुट बन गये जो मुगल बादशाह को अपने अधिकार में करने के लिए पारस्परिक संघर्ष में फँसा हुआ था। इस कारण वे उन गुटों की ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का लक्ष्य बने, उन्हीं में से एक गुट का समर्थन करते हुए अहमदशाह अब्दाली से संघर्ष करके दुर्बल हुए तथा अंग्रेजों से संघर्ष में किसी भी भारतीय शक्ति का समर्थन न पा सके।

3. जागीरदारी व्यवस्था—मराठों में जागीरदारी व्यवस्था का आरम्भ मराठा स्वातन्त्र्य-संग्राम के अवसर पर हुआ जबकि प्रत्येक मराठा सरदार को अपने द्वारा जीती हुई भूमि का स्वामी स्वीकार कर लिया गया। पेशवा बाजीराव प्रथम ने जागीरों के अलग-अलग स्वामित्व के दोष को दूर करने के लिए प्रयत्न किया था कि प्रत्येक जागीर पर दो मराठा सरदारों का सम्मिलित स्वामित्व हो। इसी कारण उसे मराठा-सेनापति से संघर्ष करना पड़ा था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् यह सम्भव न हुआ। प्रत्येक मराठा सरदार अपनी-अपनी जागीरों का स्वतन्त्र स्वामी हो गया जिसके कारण मराठा-संघ राज्य की स्थापना हुई और मराठा-राज्य की एकता नष्ट हो गयी। इसके अतिरिक्त, विभिन्न मराठा सरदारों ने 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' वसूल करने के लिए अपने अधीनस्थ सरदारों को जागीरें देनी आरम्भ कीं जिससे जागीरदारी व्यवस्था विकसित हुई। इस जागीरदारी व्यवस्था के परिणामस्वरूप मराठों में आर्थिक और सैनिक दुर्बलता आयी। आर्थिक दृष्टि से राज्य की आर्थिक शक्ति एक स्थान पर एकत्रित न हो सकी जिसके कारण राज्य की आर्थिक और सैनिक शक्ति का विकास सम्भव न हुआ। सैनिक दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य की सेना का प्रशिक्षण, नेतृत्व, शस्त्र-साधन आदि एकसमान न हो सके और न उनका केन्द्रीकरण ही सम्भव हुआ जिसके परिणामस्वरूप मराठे आर्थिक और सैनिक दृष्टि से दुर्बल हुए।

4. सामाजिक दुर्बलता—ब्राह्मण और मराठों की प्रतिस्पर्धा शिवाजी के समय में ही आरम्भ हो गयी थी। समय के साथ यह बढ़ती गयी। इस कारण मराठा समाज जाति-भेद के

आधार पर विभाजित होता चला गया। निश्चय ही सामाजिक विभाजन ने मराठा-शक्ति को दुर्बल बनाने में सहयोग दिया।

5. **अयोग्य नेतृत्व**—अठारहवीं सदी के अन्त तक एक-एक करके सभी योग्य मराठा सरदारों की मृत्यु हो गयी। महादजी सिन्धिया की 1794 ई. में, अहिल्याबाई होल्कर की 1795 ई. में, पेशवा माधवराव की 1795 ई. में, तुकोजी होल्कर की 1797 ई. में और नाना फड़नवीस की 1800 ई. में मृत्यु हो गयी। स्वयं नाना फड़नवीस स्वार्थी और अदूरदर्शी था। उसकी नीतियों ने मराठों को लाभ के स्थान पर हानि अधिक पहुँचायी। उसके पश्चात् मराठों को दुर्बल पेशवा बाजीराव द्वितीय और स्वार्थी एवं महत्वाकांक्षी दौलतराव सिन्धिया तथा जसवन्तराव होल्कर जैसे सरदारों का नेतृत्व प्राप्त हुआ जिनमें योग्यता और चरित्र दोनों की ही कमी थी। दूसरी तरफ, अंग्रेजों को एलफिन्स्टन, माल्कम, आर्थर वैलेजली, जनरल लेक, लॉर्ड वैलेजली और लॉर्ड हेस्टिंग्स जैसे योग्य राजनीतिज्ञ एवं सेनापति प्राप्त हुए। उस युग में भी विशिष्ट व्यक्तियों और नेताओं की योग्यता पर बहुत कुछ निर्भर करता था। मराठों के अयोग्य नेता कूटनीति, कौशल और युद्ध में अंग्रेजों के नेताओं का मुकाबला न कर सके। यह उनकी पराजय का दूसरा मुख्य कारण था।

6. **मराठों का राज्य की आर्थिक व्यवस्था की ओर ध्यान न देना**—मराठों ने अपने राज्य की आर्थिक व्यवस्था की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। औरंगजेब के विरुद्ध स्वतन्त्रता-संग्राम करते हुए सम्पूर्ण महाराष्ट्र के नागरिक सैनिकों में परिवर्तित हो गये थे और उसके पश्चात् भी उन्होंने उसी को अपनी जीविका का साधन बनाये रखा। एक विस्तृत साम्राज्य के निर्माण के उपरान्त भी मराठों ने कृषि, उद्योग और व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। महाराष्ट्र की भूमि वैसे भी उपजाऊ न थी और राज्य की ओर से उत्पादन, उचित कर-व्यवस्था आदि के अभाव में वहाँ से राज्य के लिए आय प्राप्त होने की कोई सम्भावना न रही। यही नहीं बल्कि उत्तर-भारत के जिन उपजाऊ प्रदेशों पर मराठों ने अधिकार किया, वहाँ भी उन्होंने अपना प्रत्यक्ष शासन स्थापित करके राज्य के आर्थिक ढाँचे को ठीक करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वहाँ से भी उनकी आय का मुख्य साधन जबरदस्ती वसूल की गयी चौथ और सरदेशमुखी अथवा लूटमार थी। इस कारण मराठे अपनी अयोग्यता एवं अदूरदर्शिता के कारण न तो कभी अपनी प्रजा को सम्पन्न बना सके और न कभी स्वयं पर्याप्त मात्रा में आय अर्जित कर सके। ऐसा राज्य जो केवल लूट पर निर्भर हो, स्थायी नहीं हो सकता था। मराठों ने अपने अधीन भू-भाग की उचित व्यवस्था न करके स्वयं अपने पतन का मार्ग प्रशस्त किया था। अनेक मराठा सरदारों को सेठ-साहूकारों को भूमि देकर रुपया उधार लेना पड़ता था। ऐसी स्थिति में न तो शासन करना सम्भव था और न ही सेना का संगठन। इस प्रकार आर्थिक दुर्बलता मराठों की तीसरी सबसे बड़ी दुर्बलता थी।

7. **मराठों की दुर्बल सैन्य-व्यवस्था**—अंग्रेजों की तुलना में मराठों का सैनिक-संगठन निश्चय ही दुर्बल था। डॉ. एस. एन. सेन ने अपनी पुस्तक *'मराठों की सैनिक-प्रणाली'* में लिखा है : **"यूरोपीय सैन्य-प्रणाली अपनाने के कारण मराठों को विभिन्न जातियों के सैनिक भर्ती करने पड़े जिससे उनकी सेना की राष्ट्रीय भावना लुप्त हो गयी और उसमें वह शक्ति न रही जो एक राष्ट्रीय सेना में होती है।"** यह विचार सिद्धान्त के आधार पर ठीक है परन्तु युद्ध के इतिहास से यह पता लगता है कि फ्रान्सीसियों के अलावा विभिन्न जातियों के सैनिकों ने निष्ठापूर्वक युद्ध किया था और उन्होंने मराठों को धोखा नहीं दिया। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जा सकता है कि अंग्रेजों की सेना भी तो इसी प्रकार के सैनिकों से मिलकर बनी थी और ऐसी ही सेना ने मराठों को परास्त किया था। इस कारण विभिन्न जातियों के सैनिकों का होना मराठा सेना के संगठन की मुख्य दुर्बलता न थी।

इस बात पर भी अत्यधिक बल दिया गया है कि मराठों की पराजय का एक मुख्य कारण अपनी परम्परागत गुरिल्ला युद्ध-पद्धति को त्यागकर यूरोपियन तरीकों से युद्ध करना था। आर्थर वैलेजली ने इस विचार को प्रकट किया था। इसी विचार पर अल्फ्रेड लयाल ने अपनी पुस्तक *'भारत में अंग्रेज शक्ति का उत्थान और विकास'* में बल दिया। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि मराठों का घुड़सवार-सेना के संगठन और उपयोग पर बल देना भी उनकी पराजय का कारण था। इन विचारों में सत्यता का अंश है परन्तु आधुनिक समय में इन्हें पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया जाता। दक्षिण के पठार पर गुरिल्ला युद्ध-पद्धति अवश्य सहायक थी परन्तु उत्तर-भारत के मैदानों में इस पद्धति का उपयोग कहाँ तक सफल हो सकता था, यह सन्देहजनक है। इसके अतिरिक्त मराठा-साम्राज्य का विकास भी इस युद्ध-पद्धति के उपयोग से सम्भव न था। यह पद्धति कुछ समय के युद्ध के लिए उपयुक्त हो सकती थी और इस प्रकार उसका उपयोग मराठों की पराजय को कुछ समय के लिए रोक सकता था परन्तु मराठों और अंग्रेजों के युद्ध का निर्णय गुरिल्ला-युद्ध से हो जाता, यह कहना भूल होगी। इसी कारण मराठा सरदारों को यूरोपियन तरीकों से युद्ध करने के लिए फ्रान्सीसियों की सहायता लेना पड़ी थी। इस प्रकार गुरिल्ला युद्ध-नीति का त्याग भी मराठों की मुख्य दुर्बलता न थी।

वास्तव में देखा जाय तो उनकी दुर्बलता का मुख्य कारण युद्ध के यूरोपियन तरीकों और हथियारों को अपनाकर उनकी पूर्णता को प्राप्त न करना था। सिन्धिया और पेशवा ने गोला-बारूद की जो फैक्टरियाँ स्थापित कीं वे ठीक प्रकार से उत्पादन नहीं करती थीं। इसी प्रकार, फ्रान्सीसियों द्वारा यूरोपियन तरीके से शिक्षित भारतीय सैनिक युद्ध-नीति में पूर्णता प्राप्त न कर सके थे। इसके अतिरिक्त, यूरोपियन युद्ध-पद्धति और हथियारों के प्रयोग के लिए मराठा सरदार मुख्यतः फ्रान्सीसियों पर निर्भर करते रहे जो उन्हें मुख्य अवसरों पर धोखा दे गये। यदि मराठों ने स्वयं यूरोपियन युद्ध-पद्धति और अस्त्रों के प्रयोग को सीख लिया होता और वे अधिकारियों व नेतृत्व के लिए फ्रान्सीसियों पर निर्भर न करते तो सम्भवतः अंग्रेज-मराठा युद्धों का परिणाम कुछ और ही होता। इसके अतिरिक्त, मराठों को अपनी घुड़सवार-सेना के प्रयोग पर कम बल देना भी उनकी भूल थी। पैदल-सेना और तोपखाना यूरोपियन युद्ध-नीति में प्रमुख स्थान रखते थे परन्तु उनके साथ-साथ यदि मराठे अपनी तीव्र गति वाली घुड़सवार-सेना का भी प्रयोग करते तो उन्हें अवश्य लाभ होता, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

8. अंग्रेजों की श्रेष्ठ कूटनीति और गुप्तचर-व्यवस्था—अंग्रेज कूटनीति में मराठों से बहुत श्रेष्ठ थे। उन्होंने सर्वदा यह प्रयत्न किया कि उन्हें मराठा सरदारों से सम्मिलित रूप से युद्ध न करना पड़े तथा मराठा सरदारों की पारस्परिक फूट के कारण अधिकांशतः वे अपने प्रयत्न में सफल भी रहे। प्रथम मराठा-युद्ध में सम्पूर्ण मराठा-संघ के सदस्य एक न थे और द्वितीय एवं तृतीय मराठा-युद्ध में भी ऐसा ही हुआ। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों का ध्यान सम्पूर्ण भारत की राजनीति पर रहा करता था। मुगल बादशाह, अवध का नवाब, हैदराबाद का निजाम और राजस्थान के राजपूत-शासक आदि सभी उनकी राजनीतिक दृष्टि में रहते थे। अपनी कूटनीति से वे मैसूर के शासक टीपू सुल्तान को अकेला करके परास्त कर सके और अपनी कूटनीति के कारण ही वे विभिन्न भारतीय शासकों को एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ा सके तथा सभी को एक-एक करके परास्त कर सके। मराठों में इसका अभाव रहा। मराठे यह नहीं समझ सके कि उनका सबसे अधिक शक्तिशाली शत्रु अंग्रेज कम्पनी ही थी। उनकी कूटनीति की असफलता इसी बात से स्पष्ट है कि वे भारत के मुसलमान-शासकों को तो क्या राजपूत-शासकों को भी अपने साथ नहीं मिला सके बल्कि इसके विपरीत अपने दुर्व्यवहार से उन्होंने उन्हें असन्तुष्ट ही किया।

इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों की गुप्तचर-व्यवस्था मराठों से श्रेष्ठ थी। जबकि अंग्रेज गुप्तचर ही नहीं बल्कि प्रत्येक अंग्रेज मराठों की शक्ति, सैन्य-संचालन, उनके पारस्परिक सम्बन्ध आदि के विषय में जानने की उत्सुकता रखता था और कम्पनी को इसकी सूचना देता था, मराठे अंग्रेजों की शक्ति, नीति और व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ थे। अनेक अंग्रेजों ने मराठी भाषा का अध्ययन किया था जबकि मराठों ने अंग्रेजी सीखने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस कारण जबकि अंग्रेजों को मराठों की विस्तृत सूचना पहले से प्राप्त हो जाती थी जो युद्ध में उनकी एक बड़ी सहायता थी, मराठों को ऐसी कोई सुविधा प्राप्त नहीं होती थी। यह भी उनकी पराजय का एक मुख्य कारण था।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि जबकि अंग्रेज एक तरफ स्वतन्त्रता एवं समानता और दूसरी तरफ राष्ट्रीयता एवं साम्राज्यवाद के विचारों से प्रभावित होकर प्रगति-पथ पर अग्रसर हो रहे थे, मराठे ऐसे किसी भी उत्साहवर्धक विचार से प्रभावित न थे। अंग्रेजों की धारणा एक प्रकार से आधुनिक थी, जबकि मराठे उस समय तक मध्य-युग में ही घूम रहे थे। यह भी कहा जा सकता है कि मराठों की शक्ति का स्रोत अंग्रेजों के उत्कर्ष के समय तक सूख चुका था और मराठा-शक्ति अंग्रेजों से टकराने से पहले ही शिथिल हो चुकी थी। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों की पराजय निश्चित थी।

5. सुधार

हेस्टिंग्स ने शासन-व्यवस्था में भी सुधार करने का प्रयत्न किया तथा विभिन्न क्षेत्रों में महत्वपूर्ण कार्य किये।

उसने न्याय की सुविधा के लिए प्रत्येक थाने में एक मुंसिफ की नियुक्ति की जिसे 64 रुपये तक के मुकदमों को सुनने का अधिकार दिया गया, प्रत्येक जिले और नगर में एक सदर अमीन की नियुक्ति की जिसे 150 रुपये तक के मुकदमों को सुनने का अधिकार दिया गया, रजिस्ट्रारों को असाधारण स्थिति में 500 रुपये तक के मुकदमों को सुनने का अधिकार दिया गया, 5,000 रुपये तक के मुकदमों की सुनवाई जिला दीवानी अदालतों द्वारा की जाने की व्यवस्था की गयी और उससे ऊपर की धनराशि के मुकदमों को सदर दीवानी अदालतों द्वारा निपटाये जाने की व्यवस्था की गयी। उसने दीवानी न्यायालयों की कार्य-प्रणाली में सुधार किया और न्याय-विभाग के भारतीय अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की। इन कार्यों से न्याय-कार्य में सुविधा हुई।

हेस्टिंग्स के समय में पंजाब और आगरा के प्रान्तों में लगान वसूल करने के लिए महलवारी व्यवस्था आरम्भ की गयी जिसके अन्तर्गत गाँवों के सम्मिलित समूहों से गाँवों के प्रधानों के माध्यम से लगान वसूल करने की व्यवस्था की गयी। उसी के समय में सर थॉमस मुनरो ने 1820 ई. में रैयतवारी व्यवस्था शुरू की जिसके अन्तर्गत सरकार स्वयं किसानों से लगान वसूल करती थी। 1822 ई. के बंगाल टेनेन्सी एक्ट द्वारा बंगाल के मौरूसी किसानों को जमींदारों से सुरक्षा प्रदान की गयी।

हेस्टिंग्स ने बंगाल (कलकत्ता) में अंग्रेजी की शिक्षा के लिए एक कॉलेज खोला और कई वर्नाक्यूलर स्कूलों की स्थापना की।

हेस्टिंग्स ने 1818 ई. में एक कानून के द्वारा प्रेस को स्वतन्त्र कर दिया।

इस प्रकार हेस्टिंग्स ने अंग्रेजी साम्राज्य को विस्तृत और सुदृढ़ करने के अतिरिक्त उसे शासन-सुधारों द्वारा लाभप्रद बनाने का भी प्रयत्न किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नेपाल-युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
2. तृतीय मराठा-युद्ध के कारणों और परिणामों पर प्रकाश डालिए।
3. मराठों के पतन के क्या कारण थे ?
4. अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों की पराजय के कारणों पर प्रकाश डालिए।
5. "मारक्वेस (लॉर्ड) हेस्टिंग्स ने लॉर्ड वैलेजली के कार्य की पूर्ति कर दी।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

15

विलियम बेन्टिक (1828-35 ई.)

जुलाई 1828 ई. में लॉर्ड एम्हर्स्ट के पश्चात् विलियम बेन्टिक (William Bentinck) को भारत का गवर्नर-जनरल बनाया गया। बेन्टिक ने अपने जीवन का आरम्भ सैनिक-सेवा से किया था और उसने क्रान्तिकारी फ्रान्स तथा नेपोलियन के युद्धों में भाग लिया था। उसे 1803 ई. में मद्रास का गवर्नर नियुक्त किया गया था परन्तु 1806 ई. में वैलोर के सैनिक विद्रोह के कारण उसे अचानक उसके पद से हटा दिया गया था। 1828 ई. में उसे गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा गया।

बेन्टिक के विचार उदार एवं सुधारवादी थे। उसने भारत में सुधार एवं शान्ति के शासन को स्थापित करने का प्रयत्न किया। कम्पनी की परिस्थिति भी ऐसी थी जो शान्ति की नीति का पालन चाहती थी। लॉर्ड हेस्टिंग्स और लॉर्ड एम्हर्स्ट के समय के युद्धों में बहुत अधिक धन व्यय हो गया था और कम्पनी की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार पर्याप्त मात्रा में हो चुका था और अब उसको संगठित किये जाने की आवश्यकता थी। कम्पनी को ब्रिटिश संसद द्वारा समय-समय पर जो आदेश-पत्र दिये गये थे, उनका समय भी निकट आ गया था और कम्पनी के चीन से व्यापार करने के एकाधिपत्य को खतरा था। ये सभी परिस्थितियाँ शान्ति और सुधार का वातावरण चाहती थीं। इस प्रकार विचार और परिस्थितियों के कारण बेन्टिक का समय विदेश-नीति अथवा युद्ध की अपेक्षा शान्ति और सुधार की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण रहा।

भारतीय नरेशों के साथ अपने सम्बन्धों में बेन्टिक ने अधिकांशतः हस्तक्षेप न करने की नीति को अपनाया। जयपुर में अव्यवस्था और अंग्रेज रेजीडेण्ट पर आक्रमण होने पर भी उसने वहाँ हस्तक्षेप नहीं किया, हैदराबाद के नवीन निजाम नासिरुद्दौला की अंग्रेज रेजीडेण्ट को हटाने की माँग को उसने स्वीकार कर लिया और इसी प्रकार कुछ कारण उपस्थित होते हुए भी उसने जोधपुर, बूँदी, कोटा और भोपाल जैसे राज्यों के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। परन्तु इसका यह अर्थ न था कि बेन्टिक ने इस नीति का पालन सिद्धान्त रूप में प्रत्येक स्थान पर किया हो। कम्पनी के हितों की सुरक्षा के लिए आवश्यकता होने पर उसने कुछ राज्यों में दृढ़ता से हस्तक्षेप किया। उसने शासन-प्रबन्ध की खराबी के आधार पर 1831 ई. में मैसूर का तथा 1834 ई. में कुर्ग और कछार का शासन कम्पनी के हाथों में ले लिया। बेन्टिक के समय में पूर्व की ओर रूस की प्रगति से ब्रिटेन को शंका थी। इस कारण उत्तर-पश्चिम की ओर से कम्पनी के शासन की सुरक्षा के लिए उसने पंजाब के सिख शासक राजा रणजीतसिंह से 1809 ई. में हुई अमृतसर की सन्धि को दोहराया और उससे मित्रता के सम्बन्ध दृढ़ किये। इसी उद्देश्य से उसने सिन्ध के अमीरों से भी सन्धि की जिसके द्वारा उसने सिन्ध में अंग्रेजों के राजनीतिक और व्यापारिक प्रभाव को बढ़ाने तथा अमीरों को रणजीतसिंह के प्रभाव में जाने से रोकने का प्रयत्न किया। इस प्रकार कम्पनी के साम्राज्य और हितों की दृष्टि से जो भी कार्य उपयुक्त थे उनको बेन्टिक ने किया। इस कारण यह स्वीकार

नहीं किया जा सकता कि बेन्टिक की नीति पूर्णतः भारतीय नरेशों की राजनीति में हस्तक्षेप न करने की थी। हाँ, यह अवश्य है कि उसने अपने समय में युद्धों को अवश्य टाला।

परन्तु बेन्टिक का समय मुख्यतः विभिन्न सुधारों की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया है। कुछ सुधार उसने कम्पनी की आर्थिक स्थिति और शासन-व्यवस्था को सुधारने की दृष्टि से किये और कुछ अन्य सुधार उसने भारतीयों की स्थिति को सुधारने के लिए किये। अपने सुधारों से, निस्सन्देह, बेन्टिक ने यह सिद्ध किया कि उसका उद्देश्य यदि कम्पनी की स्थिति और शासन को भारत में दृढ़ करने का था तो भारतीयों के हित में भी था।

1. आर्थिक सुधार

बेन्टिक ने प्रारम्भ से ही दो समितियों की नियुक्ति की—एक सैनिक और दूसरी असैनिक तथा उनकी रिपोर्ट व डायरेक्टरों के आदेश पर विभिन्न आर्थिक सुधार किये :

(i) असैनिक अधिकारियों के वेतन में ही कमी नहीं की गयी बल्कि उनके भत्ते भी कम कर दिये गये। सैनिक अधिकारियों के लिए यह निश्चित किया गया कि जो अधिकारी कलकत्ता से 600 मील की सीमा में निवास करते थे, उनको केवल आधा भत्ता दिया जायगा। केवल इसी से बेन्टिक ने 20,000 पौण्ड प्रति वर्ष की बचत की। शासन के व्यय में कमी करने के लिए उसने भारतीयों को सरकारी सेवाओं में लिया जिनकी नियुक्ति कम वेतन पर हो सकती थी।

(ii) धन की बचत के लिए उसने अपील तथा घूम-घूमकर न्याय करने वाले न्यायालयों को समाप्त कर दिया।

(iii) उसने ऐसी समस्त भूमियों का सर्वेक्षण कराया जो पिछले भारतीय नरेशों द्वारा विभिन्न व्यक्तियों को दान में दी गयी थीं और लगान-मुक्त थीं। ऐसी अनेक भूमियाँ जब्त कर ली गयीं क्योंकि उनके अधिकारी उन पर अपने अधिकार को प्रमाणित नहीं कर सके और बाकी सभी से लगान लेने की व्यवस्था की गयी। निस्सन्देह, इस कार्य से अनेक भारतीय परिवारों को कष्ट हुआ क्योंकि उनकी भूमि ही उनकी आय का एकमात्र साधन थी परन्तु उससे कम्पनी की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई।

(iv) बेन्टिक ने नवीन सूबे—उत्तर-पश्चिम प्रान्त (आगरा व अवध का वह भाग जो अवध-राज्य से प्राप्त किया गया था)—की लगान-व्यवस्था को ठीक किया। पिछले वर्षों के लगान का पता लगाकर भूमिपतियों से 30 वर्षों के लिए लगान निश्चित किया गया। इसी प्रकार, उसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में भी लगान वसूल करने की व्यवस्था को सुधारा।

(v) मलाका के उपनिवेश के शासन पर अभी तक काफी धन व्यय किया जाता था। बेन्टिक ने इस व्यय में कमी की।

(vi) बेन्टिक ने अफीम के व्यापार की आय को बढ़ाने के लिए व्यापारियों को लाइसेन्स देने आरम्भ किये। इसके अतिरिक्त, मालवा से अफीम को कराँची ले जाने के स्थान पर उसे सीधे बम्बई के बन्दरगाह पर भेजने की व्यवस्था की गयी जहाँ से वह चीन भेजी जाने लगी। इससे अफीम ले जाने के व्यय में कमी हुई, उसके मूल्य में कमी हुई और उसे बड़ी मात्रा में विदेश भेजकर अधिक लाभ हुआ।

इस प्रकार बेन्टिक ने विभिन्न आर्थिक सुधार किये और उसकी सफलता इस बात से स्पष्ट है कि जब वह भारत आया था उस समय कम्पनी को प्रति वर्ष 1 करोड़ रुपये का घाटा हो रहा था किन्तु उसके जाने के समय तक कम्पनी को 2 करोड़ रुपये प्रति वर्ष की अधिक आय होने लगी थी।

2. शासन और न्याय-सुधार

लॉर्ड कार्नवालिस के पश्चात् भारत में न्याय और शासन-व्यवस्था की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। इस कारण इस व्यवस्था में सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की गयी।

(i) सर्वप्रथम, बेन्टिक ने सेवाओं में सुधार किया। कार्नवालिस भारतीयों की योग्यता और ईमानदारी पर भरोसा नहीं करता था और जहाँ तक सम्भव हुआ उसने अंग्रेजों को ही महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करने की नीति अपनायी। उसके बाद के गवर्नर-जनरलों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया था। बेन्टिक ने आर्थिक और न्याय के आधार पर इसे उपयुक्त स्वीकार नहीं किया और भारतीयों को कम्पनी की सेवाओं में लेना आरम्भ कर दिया। उसके समय में भारतीयों को प्रदान किया जाने वाला सबसे उच्च पद सदर अमीन का था जिसे 700 रुपये प्रति माह वेतन प्राप्त होता था। उसके इस सिद्धान्त को 1833 ई. के कम्पनी के आदेश-पत्र (Company's Charter) में भी सम्मिलित कर लिया गया जिसके द्वारा यह स्वीकार किया गया कि "अब धर्म, जाति, जन्म, वंश या रंग के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कम्पनी की सेवाओं से वंचित नहीं रखा जायेगा।"

(ii) भारतीय समाचार-पत्रों के प्रति भी बेन्टिक ने उदारता की नीति अपनायी। वह इस बात में विश्वास नहीं करता था कि सरकारी कर्मचारी अपने पद की स्थिति का लाभ उठाकर सरकार की आलोचना करें। परन्तु, इसके अतिरिक्त, वह प्रेस और समाचार-पत्रों को पर्याप्त मात्रा में स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में था और वह एक स्वतन्त्र प्रेस को स्वतन्त्रता की रक्षा और असन्तोष को बढ़ने से रोकने का एक साधन मानता था।

(iii) बेन्टिक ने अपील और घूम-घूमकर न्याय करने वाले न्यायालयों को समाप्त कर दिया। इनमें न्याय महँगा था और देर भी होती थी। इस कारण ये शासन के लिए भार-स्वरूप थे। उसने इन न्यायालयों के अधिकार मजिस्ट्रेटों और कलक्टरों को दे दिये। उसने उत्तर-पश्चिम के सूबे के लिए भी एक सदर दीवानी अदालत और एक सदर निजामत अदालत की स्थापना की जिससे उसके निवासियों को कलकत्ता न जाना पड़े। उस समय तक न्यायालयों की भाषा फारसी थी। उसने व्यक्तियों को फारसी के अतिरिक्त अपनी प्रादेशिक भाषाओं के प्रयोग करने का अधिकार भी दे दिया। उसने भारतीयों को मुंसिफ और सदर अमीन के पद देने आरम्भ किये जिससे वे छोटे न्यायालयों में न्याय कर सकें। 1833 ई. में मैकॉले की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की गयी जिसने इण्डियन पीनल कोड और सैनिक एवं असैनिक कानूनी नियमों का संकलन किया।

बाद के समय में 1859-1861 ई. के मध्य दण्ड-विधि, असैनिक कानून कार्य-विधि तथा दण्ड-प्रक्रिया के कानून बनाये गये। 1861 ई. में ही 'उच्च न्यायालय अधिनियम' बनाया गया जिसके अनुसार पुरानी सुप्रीम कोर्ट और सदर अदालतों को समाप्त कर दिया गया तथा कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में उच्च न्यायालयों (High Courts) की स्थापना की गयी। 1866 ई. में एक उच्च न्यायालय आगरा में स्थापित किया गया जिसे 1875 ई. में इलाहाबाद स्थानान्तरित कर दिया गया। बाद में लाहौर, पटना तथा धीरे-धीरे सभी ब्रिटिश प्रान्तों में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी तथा 1935 ई. के भारत सरकार कानून द्वारा एक संघीय न्यायालय की स्थापना की भी व्यवस्था की गयी।

3. शिक्षा और सामाजिक सुधार

बेन्टिक के समय के सुधारों में शिक्षा और सामाजिक सुधारों का एक महत्वपूर्ण स्थान है। निस्सन्देह, छोटी नौकरियों में भारतीयों को लेने की आवश्यकता जिससे शासन का व्यय

कम हो, भारत में अंग्रेजी सभ्यता का प्रसार करके अंग्रेजी शासन को दृढ़ करने का विचार और बेन्टिक का उदारवादी होना उस समय में किये गये शिक्षा और सामाजिक सुधारों का कारण थे। परन्तु उनसे भी अधिक इनका कारण उस अवसर पर ब्रिटेन में उदारवादी, मानवतावादी और ईसाई धर्म-प्रचारकों की विचारधारा का प्रभावपूर्ण होना था। उदारवादी और मानवतावादी भारत में इन सुधारों को इस कारण चाहते थे कि वे इसे एक मानवीय उत्तरदायित्व मानते थे और ईसाई धर्म-प्रचारक भारत में ईसाई धर्म का प्रचार इस कारण चाहते थे कि उससे भारतीयों की आत्मा का उद्धार होगा। मूल आधार पर उनके इन विचारों की पृष्ठभूमि में 19वीं सदी में यूरोपियनों की वह भावना थी जिसे उन्होंने 'सफेद व्यक्ति का बोझ' (White Man's Burden) नामक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार अफ्रीका और एशिया के काले व्यक्तियों को शिक्षित और सुसभ्य बनाने का भार यूरोप के सफेद व्यक्तियों पर डाल दिया गया था। इस कारण इस भार को ईश्वर-प्रदत्त उत्तरदायित्व मानकर इस कार्य की पूर्ति करना सफेद व्यक्तियों का कर्तव्य था। भारत में बेन्टिक के समय में शिक्षा और सामाजिक सुधारों के किये जाने का एक मुख्य कारण यह विचारधारा थी यद्यपि यूरोपियनों की यह विचारधारा उनकी अपनी नस्ल की श्रेष्ठता के झूठे दम्भ और अपने साम्राज्यवाद को नैतिक समर्थन प्रदान करने की कुचेष्टा का परिणाम थी।

(i) शिक्षा-सुधार

बेन्टिक के समय के सुधारों में सबसे महत्वपूर्ण सुधार शिक्षा-सुधार था। 1813 ई. के कम्पनी के चार्टर द्वारा यह निश्चित किया गया था कि कम्पनी प्रति वर्ष एक लाख रुपया भारतीयों की शिक्षा के लिए व्यय करेगी। परन्तु उस समय तक इस धन को व्यय करने के लिए कोई उपयुक्त कार्य नहीं किया गया था। बेन्टिक ने भारतीयों की शिक्षा के लिए कदम उठाने का निश्चय किया। प्रारम्भ में ही बेन्टिक के सम्मुख एक बड़ा प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि इस धन को किस प्रकार की शिक्षा पर व्यय किया जाय ? भारतीयों के प्राचीन ग्रन्थों और भारतीय विद्याओं तथा प्राचीन हिन्दू पाठशालाओं, विद्यालयों एवं मकतबों पर यह धन व्यय किया जाय अथवा ब्रिटेन की शिक्षा-प्रणाली के आधार पर नवीन स्कूल और कॉलेज खोले जायें तथा भारत में पाश्चात्य शिक्षा को आरम्भ किया जाय ? इसी से सम्बन्धित प्रश्न यह था कि शिक्षा का माध्यम संस्कृत, फारसी आदि में से कोई भाषा हो अथवा अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय ?

इस विषय पर भारत में शिक्षा की व्यवस्था के लिए जो समिति नियुक्त की गयी थी उसमें गम्भीर मतभेद थे। एक वर्ग भारतीय शिक्षा के पक्ष (Orientalists) का था जिसका नेतृत्व विल्सन और प्रिन्सेप कर रहे थे तथा दूसरा वर्ग अंग्रेजी भाषा के पक्ष (Occidentalists or Anglicists) का था जिसका नेतृत्व ट्रेवेलियन और राजा राममोहन राय सदृश कुछ उदार भारतीय कर रहे थे। बेन्टिक ने अपनी कार्यकारिणी के नवीन कानूनी सदस्य मैकॉले (Macaulay) को इस समिति का सभापति नियुक्त किया जिसने 2 फरवरी, 1835 ई. को अपने विचारों एवं निष्कर्षों को एक विशेष विवरण (Minutes) के रूप में प्रस्तुत किया जिसमें उसने भारतीय शिक्षा एवं ज्ञान को बहुत हीन बताया तथा अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का समर्थन किया। उसने एक स्थान पर लिखा : "क्या हम झूठा इतिहास, झूठा नक्षत्र-विज्ञान और झूठा चिकित्सा-शास्त्र पढ़ायें क्योंकि ये सब एक झूठे धर्म के साथ सम्बद्ध हैं।"[1] उसने कहा कि भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शिक्षा का सर्वथा अभाव है और

---

1 "Are we to teach false history, false astronomy, false medicine, because we find them in company with a false religion." —*Macaulay's Minutes.*

ज्ञान की दृष्टि से वे बहुत निम्न श्रेणी की हैं। उसने कहा : "यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की अलमारी का केवल एक भाग ही भारत और अरब के सम्पूर्ण साहित्य के बराबर है।"[1] मैकॉले के समर्थन के कारण अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम और पाश्चात्य शिक्षा को भारत की शिक्षा-प्रणाली का आधार स्वीकार कर लिया गया। 1835 ई. में यह निश्चय किया गया और भारत में उसी समय से अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ हुई। हम मैकॉले के विचारों से सहमत नहीं हो सकते। मैकॉले ब्रिटेन और अंग्रेजी भाषा का भक्त था और, सम्भवतः, अंग्रेजों को भी शिक्षित क्लर्कों की ही आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त, मैकॉले का यह भी विचार था कि पश्चिमी शिक्षा के द्वारा भारतीयों की सभ्यता एवं विचारों को प्रभावित करके वे भारत में अंग्रेजी शासन, संस्कृति व धर्म की सुरक्षा और विस्तार की व्यवस्था कर सकेंगे। इस कारण उसने पश्चिमी साहित्य के महत्व पर आवश्यकता से अधिक बल दिया था और भारतीय ज्ञान की खिल्ली उड़ाई थी। परन्तु मैकॉले के विचारों से सहमत न होते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा ने भारत के आधुनिकीकरण एवं प्रगति में सहायता दी है।

(ii) सामाजिक सुधार

बेन्टिक ने भारत की कुछ सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने की ओर भी कदम उठाया। इस क्षेत्र में, निस्सन्देह, यह माना जा सकता है कि उसकी भावनाएँ और लक्ष्य पूर्णतः निस्वार्थता के थे और उसने भारतीयों के असन्तोष की परवाह न करते हुए साहस से इस मानवीय कार्य को किया। उससे पहले के गवर्नर-जनरल भारतीयों की सामाजिक परम्पराओं में हस्तक्षेप करना अंग्रेजों के हित में नहीं मानते थे। परन्तु बेन्टिक ने विरोध की परवाह न की। निस्सन्देह, उसे राजा राममोहन राय सदृश कुछेक उदार एवं शिक्षित भारतीयों का समर्थन प्राप्त हुआ था। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अनेक भारतीयों ने इसका विरोध किया था और उसने साहस से इन कुरीतियों को समाप्त करने का जो कदम उठाया, उसका मुख्य श्रेय उसी को था।

भारत में उस समय एक अमानवीय प्रथा प्रचलित थी जिसे 'सती' पुकारते थे। इसके अनुसार एक स्त्री अपने पति की मृत्यु होने पर उसकी लाश के साथ जिन्दा जल जाती थी। इस प्रथा की उत्पत्ति का कारण कुछ भी रहा हो परन्तु यह कार्य अमानुषिक और बर्बरता का था। सम्भवतः कुछ स्त्रियाँ स्वेच्छा से जलती हों परन्तु अनेक ऐसी होती थीं जो सामाजिक असम्मान, रिश्तेदारों के भय और ईर्ष्या आदि के कारण जलने को बाध्य हो जाती थीं। कार्नवालिस, लॉर्ड मिण्टो और लॉर्ड हेस्टिंग्स ने ऐसे अवसरों पर सरकारी कर्मचारियों और पुलिस आदि को भेजकर यह प्रयत्न अवश्य किया था कि स्त्रियों को जबरदस्ती सती न किया जाय। इसी प्रकार, कुछ उदार भारतीय शासकों और मराठों ने भी इस दिशा में कदम उठाये थे परन्तु इन कार्यों से कोई लाभ नहीं निकला था। उस अवसर पर राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ टैगोर सदृश उदार भारतीयों ने इसके विरोध में विचार प्रकट किये और इस प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करने की माँग की। बेन्टिक ने इस विषय पर तथ्य एकत्रित किये और सभी वर्गों के सरकारी कर्मचारियों से विचार-विमर्श करने पर जब वह सन्तुष्ट हो गया कि इस प्रथा को समाप्त करने से विद्रोह की आशंका न थी, तब **1829 ई. में सती प्रथा गैर-कानूनी घोषित कर दी गयी।** प्रारम्भ में तो यह कानून केवल बंगाल के लिए था परन्तु 1830 ई. में इसे मद्रास और बम्बई के प्रदेशों में भी लागू कर दिया गया। कुछ भारतीयों ने इसके विरुद्ध

---

1 "A single shelf of a good European library was worth the whole native literature of India and Arabia." —*Macaulay's Minutes.*

ब्रिटेन में अपील की परन्तु राजा राममोहन राय के नेतृत्व में अन्य भारतीयों ने इस कानून का समर्थन किया। अन्त में, कानून का समर्थन प्राप्त करके यह प्रथा धीरे-धीरे भारत से समाप्त हुई। वूल्जले हेग ने इस विषय में लिखा है : "यह कम्पनी सरकार द्वारा भारत की सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप करने का अत्यन्त साहसिक कदम था।"[1]

बेन्टिक ने बाल-हत्या और मनुष्य-बलि को भी गैर-कानूनी घोषित किया। अनेक स्थानों पर देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य की बलि दिये जाने की प्रथा थी यद्यपि यह कार्य कुछ विशेष सम्प्रदाय ही करते थे। इसी प्रकार, सम्मान की रक्षा के लिए अनेक स्थानों पर, मुख्यतः राजस्थान में, लड़कियों को उनका जन्म होते ही मार दिया जाता था। बेन्टिक ने इन अमानुषिक प्रथाओं को गैर-कानूनी घोषित करके इन्हें समाप्त करने में सहायता दी।

बेन्टिक ने भारत में **ठगी को समाप्त किया।** ठग लुटेरों के ऐसे समूह थे जो व्यक्तियों को धोखा देकर मार डालते थे औरं उनका धन लूट लेते थे। अधिकांशतः इनका आक्रमण सड़कों पर आते-जाते व्यापारियों या यात्रियों पर होता था। वे सहयात्री बनकर उनके साथ सम्मिलित हो जाते थे और अवसर पाते ही उन्हें मारकर उनका धन लूट लेते थे। इनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही थे और ये देवी काली की पूजा करते थे। इनके आतंक के कारण व्यापार और यात्रा सुरक्षित न थीं। बेन्टिक ने इन्हें समाप्त करने के लिए एक विशाल योजना बनायी और उसमें भारतीय नरेशों का सहयोग प्राप्त किया। कर्नल विलियम स्लीमैन को एक बड़ी सेना देकर उन्हें समाप्त करने का दायित्व सौंपा गया। स्थान-स्थान पर ठगों का पता लगाया गया और उनका पीछा किया गया। करीब 1,500 ठग पकड़ लिये गये जिन्हें आजीवन कारावास या मृत्युदण्ड दिया गया। निरन्तर प्रयत्नों के उपरान्त 1837 ई. से ठगी का गिरोहों के रूप में विनाश हो गया और इस प्रकार एक बड़ी परेशानी से नागरिकों की जान बची।

इस प्रकार अपने सात वर्ष के शासन-काल में बेन्टिक ने अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये और प्रायः सभी में सफलता पायी। इतिहासकार थोर्टन (Thorton) ने लिखा है कि विलियम बेन्टिक के समय में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई तथा ड्यूक ऑफ वैलिंगटन बेन्टिक को न एक योग्य सैनिक मानता था और न एक अच्छा शासन-प्रबन्धक। परन्तु यह विचार सर्वथा सत्य नहीं है। निस्सन्देह, बेन्टिक के समय में गौरव प्रदान करने वाले युद्ध नहीं लड़े गये परन्तु उसने शान्ति और सुधारों द्वारा जिस प्रकार कम्पनी की स्थिति को भारत में दृढ़ किया, वह सराहनीय है। इसके अतिरिक्त, उसके समय में शिक्षा और समाज-सुधार के लिए भी विभिन्न महत्वपूर्ण कदम उठाये गये थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विलियम बेन्टिक के सुधारों की समीक्षा कीजिए।
2. विलियम बेन्टिक के आर्थिक,प्रशासकीय और न्यायिक सुधारों का वर्णन कीजिए।
3. "विलियम बेन्टिक एक उदार गवर्नर-जनरल था।" उपर्युक्त कथन के आधार पर बेन्टिक के शिक्षा और सामाजिक सुधारों की समीक्षा कीजिए।

---

1 "This was the most daring interference with religious and social customs undertaken by the company's government." —*Sir Woolseley Haig.*

16

अंग्रेजों के बर्मा के साथ सम्बन्ध

1. बर्मा का प्रथम युद्ध (1824-26 ई.)

भारत के उत्तर-पूर्व में बर्मा का राज्य था। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जिस प्रकार गोरखा जाति उत्तर-भारत में एक संगठित राज्य स्थापित कर रही थी, उसी प्रकार भारत की पूर्वी सीमा पर चीनी-तिब्बती मिश्रित एक जाति आवा (Ava) को राजधानी बनाकर बर्मा का एक शक्तिशाली राज्य स्थापित कर रही थी। अपने बहादुर सरदार अलोमपोरा के नेतृत्व में बर्मा राज्य का बहुत विस्तार हुआ। उसने इरावदी नदी का मुहाना, पेगू, तनासरम और अराकान का प्रदेश जीतकर एक बड़े राज्य की नींव डाली। इसके पश्चात् बर्मा का राज्य विभिन्न दिशाओं में बढ़ता गया और उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में उन्होंने असम, मणिपुर आदि पर भी अधिकार कर लिया जिससे उनके राज्य की सीमाएँ अंग्रेजों के भारत के राज्य की सीमाओं से मिलने लगीं।

बर्मा से अंग्रेजों के व्यापारिक सम्बन्ध 1587 ई. से थे परन्तु वे सम्बन्ध बहुत साधारण थे। बर्मा और अंग्रेजी राज्य की पूर्व की सीमाएँ जब मिलने लगीं तो इनके आपस के सम्बन्ध ख़राब होने लगे। अंग्रेजों ने अठारहवीं सदी के अन्त में बर्मा से राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और इस उद्देश्य से 1795 ई. में कैप्टेन सिम्स (Captain Symes) को, 1797 ई. में कैप्टेन कोक्स (Captain Cox) को, 1802 ई. में पुनः कैप्टेन सिम्स को और 1803 ई., 1809 ई. व 1811 ई. में कैप्टेन कैनिंग (Captain Canning) को राजदूत बनाकर बर्मा भेजा। परन्तु बर्मा-दरबार ने उनकी नियुक्ति का कोई स्वागत नहीं किया और न उनको वहाँ भेजने से कोई लाभ हुआ।

अंग्रेजों के बर्मा से सीमा सम्बन्धी झगड़े उसी समय से आरम्भ हो गये थे जबकि बर्मा ने अराकान को जीत लिया था। अराकान के व्यक्ति जब भागकर भारत की सीमाओं में आये तो 1794 ई. में 5,000 बर्मी सैनिकों ने भारत की सीमा में प्रवेश करके उन व्यक्तियों को अंग्रेजों से वापस माँगा। अंग्रेजों ने उन व्यक्तियों को वापस कर दिया। इस घटना से बर्मा का साहस बढ़ा। परन्तु लॉर्ड हेस्टिंग्स के समय में अंग्रेजों की इस नीति में परिवर्तन हुआ। हेस्टिंग्स ने भगोड़ों को वापस करने से इन्कार कर दिया; यद्यपि उसने यह आश्वासन दिया कि वह अराकानियों को भारत की सीमा से बर्मा पर आक्रमण नहीं करने देगा। इससे बर्मी सन्तुष्ट नहीं हुए और उनके सम्बन्ध अंग्रेजों से खराब हो गये। जब बर्मा ने असम को भी जीत लिया तब ये सीमा सम्बन्धी झगड़े और बढ़ गये। 1818 ई. में रामरी (Ramri) के बर्मी गवर्नर ने चटगाँव के अंग्रेज मजिस्ट्रेट से रामू, चटगाँव, ढाका और मुर्शिदाबाद को माँगा और लिखा कि यह जिले अराकान के अधिकार में थे, इस कारण इन पर बर्मा का अधिकार है क्योंकि अराकान बर्मा राज्य का एक भाग है। अंग्रेजों द्वारा इन्हें न देने पर युद्ध की धमकी दी गयी। अंग्रेज

गवर्नर-जनरल ने पेगू के गवर्नर को लिखा कि सम्भवतः यह पत्र बर्मा के राजा की स्वीकृति से नहीं लिखा गया है और "यदि यह पत्र आवा-दरबार की स्वीकृति से भेजा गया है तो अंग्रेजी सरकार युद्ध को घोषित मानती है।"[1] इस प्रकार बर्मा और अंग्रेजों के सीमा सम्बन्धी झगड़े बढ़ते गये। यद्यपि लॉर्ड हेस्टिंग्स ने कड़ा रुख अपना लिया था परन्तु वह युद्ध को टालता रहा क्योंकि भारत की सीमाओं में ही उसे अनेक समस्याओं का सामना करना था।

लॉर्ड एम्हर्स्ट (Lord Amherst) के समय में बर्मा के युद्ध को न टाला जा सका। युद्ध का मुख्य कारण एक तरफ बर्मा-दरबार की अज्ञानता एवं उद्दण्डता तथा दूसरी तरफ अंग्रेज-साम्राज्यवाद का स्वाभाविक विस्तार था। बर्मा का राजा और वहाँ के निवासी दोनों ही भारतीय परिस्थितियों से बिल्कुल अनभिज्ञ थे। अराकान, मणिपुर और असम जैसे छोटे राज्यों को जीतकर उन्हें अपनी शक्ति का अभिमान हो गया था। उन्हें भारत में अंग्रेजों की विशाल शक्ति का कोई ज्ञान न था। बर्मा के सेनापति महाबुन्देला ने असम को सरलता से जीतकर यह अनुमान किया कि वह अंग्रेजों को भी सरलता से परास्त कर सकता है। उसने बर्मा के राजा को एक पत्र लिखा जिसमें उसने "बर्मियों को शेर और अंग्रेजों को गीदड़ बताया।"[2] उसने यह भी लिखा कि वह कई भारतीय राजाओं से पत्र-व्यवहार कर रहा है और जब बर्मी भारत पर आक्रमण करेंगे तो वे सभी अंग्रेजों के विरुद्ध बर्मा का साथ देंगे। बर्मा के साधारण व्यक्तियों का भी यही विचार था कि उनका शक्तिशाली राजा अंग्रेजों को सरलता से परास्त कर देगा। इस कारण जैसा कि क्रॉफोर्ड (Crawford) ने लिखा है, "राजा से लेकर भिखारी तक युद्ध के लिए तैयार था।"[3]

दूसरी तरफ अंग्रेज सम्पूर्ण भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के बाद पूर्व में साम्राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक थे। साम्राज्यवाद की स्वाभाविक प्रकृति के अनुसार उन्हें पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही सीमाओं पर अपने राज्य का विस्तार करना था जैसा कि तृतीय मराठा युद्ध के पश्चात् हुआ। इस कारण बर्मा और अंग्रेजों की बढ़ती हुई साम्राज्यवादी इच्छाओं के कारण युद्ध होना आवश्यक था। झगड़े की छोटी-छोटी बातों को तूल दिया गया और शीघ्र ही युद्ध की स्थिति बन गयी।

कुछ अंग्रेजों को, जो चटगाँव की सीमा के निकट हाथियों का शिकार कर रहे थे, बर्मियों ने पकड़ लिया। एक अंग्रेजी नाव के सामान पर जो 'कूर के नाले'(Koor Nullah) से निकल रहा था, बर्मियों ने चुंगी माँग ली। ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए अंग्रेजों ने टेक नाफ (Tek Naaf) के दर्रे और शाहपुरी के द्वीप पर अपनी सैनिक चौकियाँ स्थापित कीं। जनवरी 1823 ई. में बर्मा ने अंग्रेजों से शाहपुरी के द्वीप को खाली करने की माँग की जिसके लिए अंग्रेजों ने इन्कार कर दिया। सितम्बर 1823 ई. में बर्मियों ने शाहपुरी पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया। बाद में उन्होंने उसे खाली छोड़ दिया किन्तु यह धमकी दी कि यदि अंग्रेजों ने शाहपुरी पर पुनः अधिकार किया तो वे ढाका और मुर्शिदाबाद को भी जीत लेंगे। इस प्रकार शाहपुरी के छोटे और निर्जन द्वीप पर, जिस पर किसी का भी कानूनी अधिकार न था, बर्मियों और अंग्रेजों में झगड़ा हुआ।

---

1 "If I could suppose the letter to have been dictated by the king of Ava, the British government would be justified in considering war as already declared."
—*Lord Hastings to the Governor of Pegu.*

2 ".....compared the Burmese with lions and the English with jackals."
—*Letter of Maha Bundela.*

3 "From the king to a beggar (the Burmese) were hot for a war." —*Crawford.*

इससे भी अधिक खराब स्थिति उस समय हुई जब बर्मियों ने कछार के शासक गोविन्दचन्द्र को सहायता देकर उसे उसका राज्य वापस दिलवा दिया। गोविन्दचन्द्र को अपना राज्य छोड़कर भागना पड़ा था। पहले वह भागकर बंगाल आया था और उसने अंग्रेजों से सहायता माँगी थी। जब अंग्रेजों ने उसकी कोई सहायता नहीं की तो उसने बर्मा से सहायता माँगी और उसकी सहायता से पुनः कछार का शासक बन गया। लॉर्ड एम्हर्स्ट ने कछार के राजा का बर्मा के संरक्षण में जाना बंगाल की सुरक्षा के लिए खतरनाक माना। एम्हर्स्ट का विश्वास था कि बंगाल में आने के लिए सबसे सरल दर्रा कछार राज्य में था। इस कारण कछार का बर्मियों के हाथों में जाना बंगाल और सिलहट दोनों के लिए खतरनाक था। एम्हर्स्ट तो असम पर भी बर्मियों के अधिकार से चिन्तित था। उसका कहना था कि बर्मी असम से ब्रह्मपुत्र नदी के द्वारा अचानक ही केवल पाँच दिन में अपनी बड़ी से बड़ी सेनाएँ बंगाल की सीमाओं तक ला सकते थे। इस कारण लॉर्ड एम्हर्स्ट ने गोविन्दचन्द्र को अपने संरक्षण में ले लिया और एक सेना कछार भेज दी। गोविन्दचन्द्र ने अंग्रेजी संरक्षण को स्वीकार कर लिया, दस हजार रुपये वार्षिक कर देना स्वीकार किया और अपना आन्तरिक शासन अंग्रेजों को सौंप दिया। इसी प्रकार जैन्तिया (Jaintia) के छोटे राज्य ने भी अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार कर लिया। बर्मा सरकार ने इस घटना का बहुत बुरा माना और एक सेना कछार भेजी जिसका एक युद्ध अंग्रेज सैनिकों से हुआ।

इसी बीच में शाहपुरी के द्वीप पर पुनः झगड़ा हो गया। बर्मियों ने माँग की कि शाहपुरी को तटस्थ घोषित कर दिया जाय परन्तु अंग्रेजों ने इसे स्वीकार नहीं किया। फरवरी 1824 ई. में बर्मियों ने उस द्वीप पर आक्रमण किया और उसे जीत कर वहाँ बर्मा का झण्डा फहरा दिया। तत्पश्चात् वे द्वीप को खाली छोड़कर वापस चले गये। परन्तु लॉर्ड एम्हर्स्ट तब तक युद्ध का निश्चय कर चुका था। 24 फरवरी, 1824 ई. को अंग्रेजों ने युद्ध की घोषणा कर दी।

बर्मा के जंगल, पहाड़ और नदियों के कारण अंग्रेजों को आक्रमण करने में बड़ी कठिनाइयाँ थीं जबकि बर्मियों को सुरक्षा करने में अत्यधिक सुविधा थी। युद्ध का आरम्भ भी ठीक अवसर पर नहीं हुआ था क्योंकि शीघ्र ही वर्षा आरम्भ होने वाली थी। इस कारण इस युद्ध में अंग्रेजों को बहुत कठिनाई हुई। अंग्रेजों ने दो तरफ से सेनाएँ भेजीं। एक सेना उत्तर-पूर्व के स्थल मार्ग से भेजी गयी जिसका मुख्य उद्देश्य बर्मा में प्रवेश करना न था बल्कि केवल उन्हीं भागों पर अधिकार करना था जिन्हें बर्मा ने कुछ समय पहले जीता था। दूसरी सेना समुद्री मार्ग से रंगून होकर आगे बढ़ने के लिए मेजर-जनरल सर आर्चीबाल्ड कैम्पबैल (Sir Archibald Campbell) के नेतृत्व में भेजी गयी। बर्मी सेनापति महाबुन्देला ने चटगाँव के निकट रामू नामक स्थान पर एक अंग्रेजी सेना को परास्त किया परन्तु दूसरी तरफ 11 मई, 1824 ई. को अंग्रेजों ने रंगून जीत लिया। बर्मी रंगून को खाली छोड़कर भाग गये। परन्तु उसी समय वर्षा आरम्भ हो जाने से अंग्रेजों का आगे बढ़ना रुक गया और उनके सैनिकों में बीमारी फैल गयी। बर्मा के राजा ने महाबुन्देला को अपनी सहायता के लिए दक्षिण में बुलाया लेकिन 15 दिसम्बर, 1824 ई. को उसकी पराजय हुई और उसे पीछे हटना पड़ा। 1825 ई. में अंग्रेजों ने असम को जीत लिया और कैम्पबैल ने रंगून से आगे बढ़ना शुरू किया। महाबुन्देला ने एक माह तक अंग्रेजों को रोका परन्तु 1 अप्रैल, 1825 ई. को वह युद्ध में मारा गया जिससे उसकी सेना रात में ही मैदान छोड़कर भाग गयी। कैम्पबैल ने 25 अप्रैल को दक्षिण बर्मा की राजधानी प्रोम (Prome) पर अधिकार कर लिया। कुछ समय पश्चात् सन्धि की वार्ता आरम्भ हुई; यद्यपि साधारण तरीके से युद्ध भी चलता रहा। जब अंग्रेज बर्मा की राजधानी याण्डबू (Yandaboo) के केवल 60 मील दूर रह गये तब बर्मियों ने सन्धि का प्रस्ताव किया और 24 फरवरी, 1826 ई. को याण्डबू की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार—

1. बर्मा ने अराकान, तनासरम, येह, तवाय और मर्गी के जिले अंग्रेजों को दे दिये।
2. बर्मा ने असम, कछार और जैन्तिया के राज्यों में हस्तक्षेप न करने का वायदा किया।
3. मणिपुर के राज्य को स्वतन्त्र मान लिया गया और बर्मा ने वायदा किया कि यदि वहाँ का राजा गम्भीरसिंह वापस आ जायेगा तो वे उसे स्वीकार कर लेंगे।
4. बर्मा ने युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में धीरे-धीरे एक करोड़ रुपया देना स्वीकार किया।
5. दोनों राज्यों ने एक-दूसरे के राज्य में राजदूत भेजना स्वीकार किया।
6. दोनों राज्यों ने एक व्यापारिक सन्धि करने का वायदा किया।
7. दोनों राज्यों ने एक-दूसरे के मित्र बने रहने का वायदा किया।

इस युद्ध से अंग्रेजों को बहुत लाभ हुआ। उन्हें उत्तर-पूर्व में पर्याप्त भूमि प्राप्त हो गयी और मुख्य बर्मा में उनके पैर जम गये जिससे बाद में उन्हें सम्पूर्ण बर्मा को जीतने में सुविधा हुई। परन्तु जिस प्रकार युद्ध लड़ा गया और जिस कारण युद्ध आरम्भ हुआ, उसकी इतिहासकारों ने आलोचना की है।

युद्ध में अंग्रेजों को धन और सैनिकों की हानि हुई। इस युद्ध की योजना ठीक प्रकार नहीं बनायी गयी थी। यदि मद्रास के गवर्नर सर टॉमस मुनरो (Sir Thomas Munro) के द्वारा समय पर पर्याप्त सहायता न भेजी गयी होती तो बहुत हानि होती। इन्स (Innes) लिखता है : "अनेक प्रकार से यह युद्ध बहुत हानिकारक था। सेना को जहाँ युद्ध करने के लिए भेजा गया था वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का ज्ञान उन्हें नहीं कराया गया था और न उन्हें ठीक से रसद ही दी गयी थी।"[1] जहाँ तक बर्मियों का प्रश्न है, उन्होंने बड़ी बहादुरी से युद्ध किया परन्तु हथियारों और संगठन की दृष्टि से उनका अंग्रेजी सेना से कोई मुकाबला न था।

जहाँ तक युद्ध के कारणों का प्रश्न है, एक निष्पक्ष इतिहासकार अवश्य ही यह मत व्यक्त करेगा कि अंग्रेजों द्वारा युद्ध घोषित करने का कोई न्यायिक कारण नहीं था। बर्मा का ढाका, मुर्शिदाबाद आदि को जीतने की धमकी देना अंग्रेजों के लिए डर का नहीं बल्कि हँसी का कारण हो सकता था क्योंकि बर्मियों को अंग्रेजों की शक्ति का ज्ञान न था। शाहपुरी के द्वीप को बर्मियों ने तटस्थ घोषित करने की माँग की थी परन्तु अंग्रेजों ने उस माँग को ठुकरा दिया था। कछार के मामले में हस्तक्षेप करना अंग्रेजों के लिए अनुचित था क्योंकि पहली बार जब गोविन्दचन्द्र ने उनसे सहायता माँगी थी तब उन्होंने इन्कार कर दिया था। बर्मा राज्य की यह शिकायत उचित थी कि अराकानी अंग्रेजी भूमि से उनके राज्य पर आक्रमण करते थे। इस प्रकार अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य केवल साम्राज्य-विस्तार था और इस युद्ध को आरम्भ करने में उनका आधार औचित्यपूर्ण न था। स्वयं भारत-सरकार ने 23 दिसम्बर, 1825 ई. को कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखे गये एक पत्र में स्वीकार किया था कि सीमा के झगड़े साधारण थे परन्तु बर्मा से कभी न कभी युद्ध आवश्यक था। इस कारण जिस समय सफलता की सबसे अधिक आशा थी, उसी समय युद्ध आरम्भ किया गया।

1 "The war had been in many respects a disastrous one. The expedition had been despatched in almost entire ignorance of the circumstances of the country to which it was to proceed and without any adequate preparation for securing supplies." —*Innes.*

इस प्रकार यह निश्चित है कि युद्ध का मुख्य कारण बर्मा का भारत की पूर्वी सीमा पर एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना करने में सफलता प्राप्त कर लेना था। अंग्रेजों ने उस राज्य की शक्ति को तोड़ने और बर्मा की भूमि पर अपने पैर जमाने के लिए यह युद्ध आरम्भ किया था। इसी कारण अंग्रेजों ने मुख्यतः बर्मा के निचले (दक्षिणी) भाग पर आक्रमण किया और उसमें सफलता प्राप्त की।

2. बर्मा का द्वितीय युद्ध (1852 ई.)

1826 ई. की याण्डबू की सन्धि से बर्मा और अंग्रेजों के सम्बन्धों की कहानी समाप्त नहीं हुई। यह कहानी उस समय तक चलती रही जब तक कि दो और युद्धों के पश्चात् सम्पूर्ण बर्मा की विजय अंग्रेजों द्वारा पूरी नहीं हो गयी। याण्डबू की सन्धि की शर्तों को मानने की इच्छा बर्मा-दरबार की न थी। नवीन राजा थारावदी (Tharrawoddy, 1837-45 ई.) ने उस सन्धि को मानने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, "अंग्रेजों ने मेरे बड़े भाई को पराजित किया था, मुझे नहीं। मैं याण्डबू की सन्धि को मानने के लिए बाध्य नहीं हूँ क्योंकि मैंने उसे स्वीकार नहीं किया था। मैं अंग्रेज रेजीडेण्ट से व्यक्तिगत रूप से मिलूँगा, अंग्रेज रेजीडेण्ट की हैसियत से कभी नहीं। वे कब इस बात को समझेंगे कि मैं केवल इंगलैण्ड से भेजे हुए शाही राजदूत को ही स्वीकार कर सकता हूँ ?"[1]

एशिया के राज्यों में यूरोपियन जातियों के प्रवेश को सभी सन्देह और घृणा की भावना से देखते थे। कोई भी राजा अपने यहाँ अंग्रेज रेजीडेण्ट को रखना पसन्द नहीं करता था। यूरोपियन जातियों के प्रति इस घृणा की भावना का प्रमाण चीन के राजा द्वारा बर्मा के राजा को 1836 ई. में लिखे गये उस पत्र से मिलता हैं जिसमें चीन ने बर्मा को बताया : "नगर में अंग्रेजों को रहने देना बुद्धिमानी नहीं है। वे पीपल के वृक्ष की तरह बढ़ते हैं।"[2] बर्मा में भी अंग्रेजों के प्रति यही घृणा की भावना थी जिसके कारण वे अंग्रेज रेजीडेण्ट की कोई परवाह नहीं करते थे, अपितु कभी-कभी उसका अपमान तक कर दिया करते थे। इसी कारण बर्मा-दरबार में कोई अंग्रेज न रहा। इसके अतिरिक्त यह समाचार भी फैलने लगे थे कि अंग्रेज व्यापारियों के साथ दुर्व्यवहार किया जाता है और बर्मा का राजा अंग्रेजों को निकालने के लिए चीन, फ्रान्स और श्याम के राजा से सहायता लेने का प्रयत्न कर रहा है। इस कारण बर्मा और अंग्रेजों में सन्देह व घृणा का वातावरण फैलने लगा।

लेकिन द्वितीय बर्मा-युद्ध का मुख्य कारण बर्मियों और अंग्रेजों की एक-दूसरे के प्रति घृणा और सन्देह की भावना या अंग्रेज व्यापारियों की असुविधाएँ न थीं। ये तो युद्ध का बहाना मात्र थे। युद्ध का मुख्य कारण तो यूरोपियन जातियों की साम्राज्यवाद की भावना थी। उस समय यूरोपियन जातियों को अपनी सभ्यता और शासन की श्रेष्ठता में विश्वास था तथा वे पूर्वी सभ्यता, कानून और शासन को हीन एवं घृणा की दृष्टि से देखते थे। इस कारण वे अपने विचार, अपनी सभ्यता और अपने शासन को पूर्वी देशों में फैलाना अपना अधिकार मानते थे। वे पहले व्यापार या धर्म-विस्तार के आधार पर पूर्वी देशों में प्रवेश करते थे और जब उन्हें उन

1 "The English beat my brother, not me. The treaty of Yandaboo is not binding on me, for I did not make it. I will meet the Resident as a private individual. but as Resident never. When they will understand that I can receive only a royal ambassador from England ?" —*King Tharrawoddy.*

2 "It is not proper to allow the English to remain in the city. They are accustomed to act like the pipal tree." —*Letter of the King of China to the King of Burma.*

देशों का शासन व व्यवहार पसन्द नहीं आता था जैसा कि सर्वदा ही होता था, तब वे तलवार के बल पर वहाँ पर अपना शासन स्थापित करते थे। उनका कहना था कि वे जनसाधारण को अत्याचारी शासकों से बचाने के लिए अपना राज्य स्थापित कर रहे हैं, इस कारण एक मानवीय कार्य करते हैं। इसी आधार पर उनके साम्राज्य का विस्तार होता था। परन्तु यूरोपियन जातियों का यह मानवता का आधार पूर्णतः अनुचित और अन्यायपूर्ण था। यह तो केवल साम्राज्य-विस्तार का बहाना मात्र था क्योंकि पूर्वी और पश्चिमी सभ्यता का अन्तर यह निश्चय नहीं कर सकता था कि पश्चिमी सभ्यता श्रेष्ठ है। इसमें सन्देह नहीं कि शासन की दृष्टि से यूरोपियन जातियों का शासन पूर्वी राज्यों के शासन की तुलना में श्रेष्ठ था परन्तु विदेशी शासन से अनेक दोष भी उत्पन्न होते थे। इसके अतिरिक्त पूर्वी नरेशों और जनता पर जबर्दस्ती अपने शासन को लादने का अधिकार यूरोपियन जातियों को न था। वास्तव में सभी यूरोपियन जातियों का मूल उद्देश्य पूर्वी राज्यों की दुर्बलताओं से लाभ उठाकर अपने साम्राज्य का अधिकाधिक विस्तार करना था। बर्मा के प्रति भी अंग्रेजों की नीति का मुख्य आधार साम्राज्यवाद की यही भावना थी।

बर्मा और अंग्रेजों के सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन खराब होते गये। मुख्य झगड़ा व्यापार का था और अंग्रेज व्यापारियों को यह शिकायत थी कि बर्मा राज्य याण्डबू की सन्धि द्वारा निश्चित हुए कर से अधिक व्यापारिक कर लेता है। जिस समय लॉर्ड डलहौजी भारत में गवर्नर-जनरल बनकर आया उस समय अंग्रेज व्यापारियों को सुअवसर प्राप्त हुआ क्योंकि डलहौजी की साम्राज्यवादी और पूर्व में अंग्रेजों के सम्मान की सुरक्षा की नीति उनके हितों की सुरक्षा करने में समर्थ थी। रंगून के अंग्रेज निवासियों ने लॉर्ड डलहौजी के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा जिसमें उन्होंने लिखा : "उन्होंने बहुत लम्बे समय तक बर्मा-सरकार के अत्याचार और अन्याय को सहन किया है,"[1] और अब उससे उनको बचाने का कर्तव्य गवर्नर-जनरल का है।

लॉर्ड डलहौजी के पास जब यह प्रार्थना-पत्र पहुँचा तब उसने तुरन्त निर्णय कर लिया कि अंग्रेज नागरिक और व्यापारियों का यह न्यायपूर्ण अधिकार है कि वे अपनी सरकार से अन्याय के विरुद्ध रक्षा की माँग करें और इस कारण बर्मा-दरबार से तुरन्त क्षतिपूर्ति की माँग की जानी चाहिए। अंग्रेजों ने सबसे पहले शेपर्ड और लुइस कम्पनी के 9,948 रुपये की माँग बर्मा-दरबार से की और क्योंकि बर्मा-दरबार में कोई अंग्रेज रेजीडेण्ट न था, इस कारण नौ-सेना के प्रधान लेम्बर्ट (Lambert) को आदेश दिया गया : "वह अपने समस्त जहाजों और तत्समय उपलब्ध अन्य युद्धपोतों को लेकर रंगून के लिए चल दे।"[2] लेम्बर्ट ने रंगून पहुँचकर बर्मा के गवर्नर पर अत्याचार का आरोप लगाया और एक पत्र बर्मा के राजा को और दूसरा पत्र रंगून के गवर्नर को लिखा। उसने दोनों पत्रों का उत्तर पाँच सप्ताह के अन्दर माँगा। बर्मा के राजा और गवर्नर दोनों का उत्तर यथासमय प्राप्त हुआ। गवर्नर ने लिखा कि सम्पूर्ण मामले की पूरी तरह से जाँच की जायेगी। किन्तु तभी रंगून का गवर्नर बदल गया। नये गवर्नर से मिलने के लिए एक अंग्रेज दूतमण्डल गया जिससे गवर्नर की भेंट न हो सकी। अंग्रेजों ने इसे अपना अपमान कहा, जबकि बाद में गवर्नर ने बताया कि जब अंग्रेज उससे मिलने पहुँचे तब वे शराब पिये हुए थे और वह स्वयं सो रहा था। इस कारण अंग्रेजों को वापस लौटना पड़ा था। लेम्बर्ट ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। उसने गवर्नर से क्षमा माँगने और क्षतिपूर्ति के धन को तुरन्त

---

1 "They had, for a long time, suffered from the tyranny and gross injustice of the Burmese authorities."

2 "He should proceed to Rangoon with all the ships under his command and any other available vessels of war."

देने की माँग की। कुछ समय पश्चात् धन की माँग बढ़ा दी गयी। उसी अवसर पर अंग्रेजों ने बर्मा के शाही जहाज—पीले जहाज (Yellow Ship)—को पकड़ लिया। इससे झगड़ा और बढ़ गया। अन्ततोगत्वा अंग्रेजों ने रंगून के गवर्नर को हटाने, बर्मा के राजा द्वारा क्षमा माँगने और अप्रैल 1852 ई. तक 1,00,000 पौण्ड धनराशि देने की माँग की। इस बीच डलहौजी ने युद्ध की पूरी तैयारी कर ली। जब बर्मा-दरबार से 1 अप्रैल तक कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो सेनापति गोडविन (Godwin) के नेतृत्व में एक बड़ी सेना रंगून भेज दी गयी।

अंग्रेजों ने रंगून, प्रोम और पेगू पर अधिकार कर लिया। अक्टूबर 1852 ई. तक सम्पूर्ण निचले (दक्षिणी) बर्मा पर अधिकार कर लिया गया। ऊपरी (उत्तरी) बर्मा पर अधिकार करने की लॉर्ड डलहौजी की इच्छा भी न थी। बर्मा-दरबार ने सन्धि करने से इन्कार कर दिया। इस कारण बिना सन्धि के ही 20 दिसम्बर, 1852 ई. को एक घोषणा द्वारा पेगू अर्थात् सम्पूर्ण निचले बर्मा को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

बर्मा के निचले भाग पर अधिकार करने से अंग्रेजों को न केवल व्यापारिक लाभ हुआ वरन् एक विस्तृत और उपजाऊ भू-क्षेत्र भी प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त बंगाल की खाड़ी में चटगाँव से लेकर सिंगापुर तक सम्पूर्ण समुद्र-तट भी अंग्रेजों को प्राप्त हुआ जिसके कारण न केवल बर्मा राज्य समुद्रतटीय सुविधाएँ पाने हेतु अंग्रेजों पर निर्भर हो गया बल्कि अंग्रेजों को अपने पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा में भी सहायता मिली। इस प्रकार निचले बर्मा की विजय अंग्रेजों के समस्त हितों की रक्षा और उनकी वृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुई।

सभी भारतीय इतिहासकारों ने द्वितीय बर्मा-युद्ध की आलोचना की है। उनका कहना है कि वह एक जबरदस्ती थी और अंग्रेजों का युद्ध करना अनुचित था। जो आरोप प्रारम्भ में अंग्रेज व्यापारियों ने बर्मा-दरबार पर लगाये थे उनकी सत्यता के प्रमाण पाने का लॉर्ड डलहौजी ने कोई प्रयत्न नहीं किया था। इसके अतिरिक्त, 1851 ई. से पहले ये आरोप अंग्रेज व्यापारियों ने भारत-सरकार पर कभी नहीं लगाये थे। इन आरोपों का लॉर्ड डलहौजी के सामने प्रस्तुत करना यह सिद्ध करता है कि अंग्रेज व्यापारी डलहौजी की साम्राज्यवादी भावना से लाभ उठाना चाहते थे। अन्त में, यह विचारणीय है कि यदि अंग्रेज व्यापारी बर्मा-सरकार की नीति से अप्रसन्न थे तो वे बर्मा को छोड़ क्यों न गये ? बर्मा-सरकार स्वतन्त्र थी, उस पर दबाव डलवाकर अपने स्वार्थ की रक्षा करने का उन्हें क्या अधिकार था ?

तत्पश्चात् जिस प्रकार लॉर्ड डलहौजी ने धन की माँग की, लेम्बर्ट की नियुक्ति की, राजा से क्षमा की माँग की और युद्ध की तैयारियाँ कीं तथा बिना सन्धि के पेगू को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया, उसे न्यायपूर्ण स्वीकार नहीं किया जा सकता। डलहौजी के समर्थकों का कहना है कि डलहौजी युद्ध नहीं चाहता था और जो माँगें उसने बर्मा-दरबार से कीं वह बर्मा के राजा को डराने और बिना युद्ध के समझौता हो जाने के लिए की थीं। लेकिन इस प्रकार तो डलहौजी की स्थिति उस डाकू के समान हो जाती है जो किसी व्यक्ति से उसकी गर्दन पर तलवार रखकर उससे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दे देने के लिए कहे और जब वह न दे तो उसे कत्ल कर दे और बाद में यह दुःख प्रकट करे : "ईश्वर जानता है कि मुझे यह कार्य (कत्ल) करने से कितना दुःख हुआ लेकिन ऐसी परिस्थिति मैंने स्वयं नहीं बनायी थी।"[1] या कहे कि "ईश्वर गवाह है कि मैंने इस कठोर आवश्यकता को टालने का हर सम्भव प्रयास किया था।"[2] लॉर्ड डलहौजी के व्यवहार की तुलना कैसर (Kaiser), हिटलर (Hitler) और मुसोलिनी (Mussolini) के व्यवहार से की जा सकती है। वे युद्ध न करते यदि उनकी समस्त

1 "God knows, I lament the alternative but I did not create it."
2 "God ! He knows how much I desired to avert this necessity."

माँगें स्वीकार कर ली जातीं। डलहौजी ने भी जो माँगें प्रस्तुत की थीं उन्हें कोई भी स्वतन्त्र राज्य स्वीकार नहीं कर सकता था। अतएव ऐसी माँगों को रखने का कारण युद्ध को रोकना नहीं बल्कि युद्ध को निमन्त्रण देना था। इस प्रकार यह निश्चित है कि लॉर्ड डलहौजी युद्ध के लिए तत्पर था और इसके लिए उचित अवसर की तलाश में था। उसने स्वयं अपनी डायरी में लिखा था : "वह गर्म मौसम के निकट होने के कारण 'आवा' से युद्ध आरम्भ नहीं करना चाहता था। वह 1852 ई. के ठण्डे मौसम के शुरू में युद्ध आरम्भ करेगा।"[1] यद्यपि इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि लॉर्ड डलहौजी युद्ध चाहता था परन्तु फिर भी जो व्यक्ति समस्त परिस्थितियों पर विचार करेगा वह इसी निश्चय पर पहुँचेगा कि डलहौजी ने सम्पूर्ण योजना का निर्माण पहले ही कर लिया था। उसका मूल उद्देश्य बर्मा में अंग्रेजी सत्ता की स्थापना करना था जिससे वह अमेरिका और फ्रान्स के प्रभाव को वहाँ बढ़ने से रोक सके। वह यह भी जानता था कि इस उद्देश्य की पूर्ति बिना युद्ध के नहीं हो सकती। इसी कारण उसने इस कार्य के लिए नौ-सेनापति लेम्बर्ट की नियुक्ति की और लेम्बर्ट के कार्यों को अनुचित मानते हुए भी वह उसका समर्थन करता रहा। जॉन लॉरेन्स (John Lawrence) ने जब लॉर्ड डलहौजी के सेक्रेटरी को लिखा : "जब तुम शान्ति चाहते थे तो तुमने एक नौ-सेनापति को बर्मा क्यों भेजा,"[2] तो डलहौजी ने उत्तर दिया : "भूल हो जाने के बाद बुद्धिमान बनना सरल है। यदि मैं भविष्य के बारे में जान सकता तो मैं लेम्बर्ट को वार्तालाप के लिए नियुक्त न करता।"[3] परन्तु डलहौजी का यह उत्तर सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता क्योंकि यह स्पष्ट है कि वह निरन्तर लेम्बर्ट का समर्थन करता रहा था।

इसके अतिरिक्त, यदि लेम्बर्ट की नियुक्ति न भी की गयी होती तो भी युद्ध आवश्यक था। डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति और पूर्व में अंग्रेजी सम्मान की सुरक्षा करने की भावना युद्ध का मूल कारण थी। 24 अप्रैल, 1852 ई. को उसने लिखा था : "यह प्रश्न मात्र अपमान का नहीं है बल्कि सम्मान की गम्भीर क्षति है। सीधा सा सवाल यह है कि क्या सम्पूर्ण एशिया की आँखों के सामने इंगलैण्ड आवा-दरबार के सामने झुक जाय।"[4] डलहौजी का विचार था कि एक बार जो निश्चय उसने कर लिया उससे हटना अंग्रेजी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाना था चाहे वह निर्णय गलत ही क्यों न लिया गया हो। उसका यह भी विचार था कि यदि एक बार अंग्रेज किसी पूर्वी देश में जायँ तो फिर वहाँ से उनका हट जाना अंग्रेजी प्रतिष्ठा के विरुद्ध होगा। इसके अतिरिक्त, वह सभी पूर्वी राज्यों के नरेशों के सम्मान और बुद्धि के बारे में अत्यन्त हीन विचार रखता था। जब डायरेक्टरों की सभा के सभापति ने लिखा कि "उसने आवा-दरबार को 18 फरवरी को बड़ा कठोर पत्र लिखा था,"[5] तो डलहौजी ने उत्तर दिया : "सभ्य देशों की भाँति पूर्वी देशों में कूटनीतिक भाषा का प्रयोग सफल नहीं हो सकता और भारत

---

1 "He was resolved not to engage in a war with Ava with the hot season approaching but would commence operation with the opening of the cold season of 1852."

2 "Why did you send a commandore to Burma, if you wanted peace."
—*John Lawrence.*

3 "It is easy to be wise after the fact. If I had the gift of prophecy, I would not have employed Lambert to negotiate." —*Lord Dalhousie.*

4 "This is not a question of insult merely, but of injury. The simple question is whether before all Asia England would submit to Ava." —*Lord Dalhousie.*

5 "He wrote a letter couched (written) in too severe terms."
—*President, Court of Directors.*

अथवा बर्मा के किसी राज्य में उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जहाँ केवल आक्रामक व्यक्ति की भाषा को ही समझा जाता है।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डलहौजी की नीति का मुख्य लक्ष्य पूर्व के प्रत्येक देश में अंग्रेजों के सम्मान की सुरक्षा करना था चाहे उसके लिए उसे युद्ध ही करना पड़े। उसके अनुसार, "देश पहले, ठीक हो या गलत" (My Country, right or wrong) ही अंग्रेजी सम्मान की उचित व्याख्या थी। इसी कारण सभी भारतीय और पूर्वी देशों के नरेशों के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त कठोर और उद्दण्डतापूर्ण था।

कुछ अंग्रेज विद्वानों ने भी लॉर्ड डलहौजी के व्यवहार को अनुचित बताया है। कॉब्डेन (Cobden) ने अपने एक लेख "भारत में युद्धों के कारण, बर्मा-युद्ध के कारण" (*How Wars Got Up in India, the Origin of Burmese War*) में बर्मा के युद्ध की तीव्र आलोचना की थी। आर्नोल्ड (Arnold) ने डलहौजी के बर्मा-युद्ध के लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है : "अमेरिका और फ्रान्स—मुख्यतः अमेरिका—की पूर्वी समुद्र में कार्रवाइयाँ तथा अराकान, मोलमीन और इरावदी नदी के मुहाने की सुरक्षा डलहौजी के लिए चिन्ता का विषय था।"[2]

इस प्रकार निश्चय ही बर्मा के युद्ध का मूल कारण डलहौजी की साम्राज्यवादी भावना तथा अंग्रेजी सम्मान और हितों की सुरक्षा करना था। अन्य कारण तो केवल बहाना मात्र थे।

3. बर्मा का तृतीय युद्ध (1885-86 ई.)

पेगू पर अंग्रेजों के अधिकार के पश्चात् बर्मा में शान्ति स्थापित हो गयी और धीरे-धीरे बर्मा के सम्बन्ध अंग्रेजों से सुधरने लगे। परन्तु अंग्रेज विभिन्न सन्धियों द्वारा अपने अधिकारों में वृद्धि करते गये। 1862 ई. में हुई एक सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को बर्मा की सीमाओं में रहने तथा बर्मा की सीमाओं से होकर चीन से व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हो गया। 1867 ई. में एक अन्य सन्धि के द्वारा बर्मा ने तेल, लकड़ी और कीमती पत्थर के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से अपना एकाधिकार छोड़ दिया। अंग्रेजों को बर्मा की सीमाओं में एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखने का अधिकार मिल गया और उसे अंग्रेज नागरिकों की देखभाल के समस्त अधिकार दिये गये। इसके उपरान्त बर्मा को धीरे-धीरे विभिन्न वस्तुओं से चुंगी हटाने, विभिन्न एकाधिकारों को समाप्त करने, भामो (Bhamo) में राजनीतिक प्रतिनिधि रखने, युन्नान (Yunnan) और रंगून के बीच जल-यात्रा करने की सुविधा देने आदि के लिए बाध्य किया गया। इस प्रकार, अंग्रेज धीरे-धीरे बर्मा की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति को दुर्बल करते गये। अंग्रेजों का इरादा रंगून से प्रोम (Prome) तक एक रेलवे लाइन बनाने का भी था जिससे व्यापारिक वस्तुओं और आवश्यकता होने पर सैनिकों के आवागमन में सुविधा हो सके। परन्तु अंग्रेज इन अधिकारों की वृद्धि से भी सन्तुष्ट न रह सके और कई बार अंग्रेज व्यापारियों और शासन-अधिकारियों ने उत्तरी बर्मा को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने की माँग की।

---

1 "The language of diplomacy employed in communication between civilised states is not applicable to the East and would exercise no influence on a potentate in India or Burma who only understands the language of a bully."

—*Lord Dalhousie.*

2 "It was because the Americans and the French, but principally the former, were busy in the Eastern Seas, and notably looking towards the delta of the Irawaddy that the hiatus between Arakan and Moulmein disquieted Dalhousie."—*Arnold.*

इस प्रकार यह निश्चित है कि यद्यपि बर्मा के राजा ने अपनी दुर्बलता के कारण अंग्रेजों की समस्त शर्तों को स्वीकार किया था, फिर भी अंग्रेज साम्राज्य-विस्तार की लालसा को न छोड़ सके थे। दूसरी तरफ बर्मा का राजा भी अंग्रेजों से सन्तुष्ट न था। वह भी हृदय से अंग्रेजों से घृणा करता था और उनके प्रति शंकालु था। इस प्रकार अंग्रेज तो संघर्ष केलिए तत्पर थे ही, बर्मा-दरबार ने भी झगड़े के कुछ कारण उपस्थित किये। बर्मा के राजा और अधिकारियों में उस समय तक भी बुद्धि न आयी थी। दो युद्धों में पराजित होने के बावजूद भी उनमें घमण्ड था। इस कारण अंग्रेज राजनीतिक प्रतिनिधि के अधिकारों, व्यापारिक एकाधिपत्य और विभिन्न अधिकारों के प्रश्नों को लेकर बर्मा-दरबार और अंग्रेजों में झगड़े होने लगे। अन्त में 'जूते' का प्रश्न उपस्थित हो गया। बर्मा की परम्परा थी कि उच्च अंग्रेज अधिकारी को भी बर्मा के राजा के सामने जूते उतारकर उपस्थित होना पड़ता था। अंग्रेज इसे अपना अपमान मानते थे और 1876 ई. में गवर्नर-जनरल ने इस परम्परा का पालन न करने के स्पष्ट आदेश दे दिये, जबकि बर्मा के राजा ने स्पष्ट कहा कि वह "जूते के लिए अवश्य युद्ध करेगा, यद्यपि उसने पेगू के लिए युद्ध नहीं किया था।"[1] इस झगड़े के कारण अंग्रेज प्रतिनिधि ने बर्मा के राजा से मिलना बन्द कर दिया।

इसी समय बर्मा के राजा ने अन्य यूरोपीय राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये। 1873 ई. में बर्मा ने फ्रान्स से एक व्यापारिक सन्धि की किन्तु जब उस सन्धि में यह शर्त रखी गयी कि फ्रान्सीसी अधिकारी बर्मी सैनिकों को शिक्षित करेंगे तो अंग्रेजों ने हस्तक्षेप किया और यह सन्धि तोड़ दी गयी। बर्मा ने एक सन्धि इटली से की परन्तु अंग्रेजों के हस्तक्षेप के कारण उसमें से वे शर्तें निकाल दी गयीं जिनके अनुसार इटली ने बर्मा को हथियार देने का वायदा किया था। बर्मा ने एक दूतमण्डल फारस भेजा और एक दूतमण्डल को रूस भेजने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त बर्मा के राजा ने इंगलैण्ड की रानी से प्रत्यक्ष राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया; यद्यपि इसमें उसे सफलता नहीं मिली। राजा ने अपने यहाँ बन्दूकें और तोपें बनाने का भी प्रयत्न किया। इस प्रकार बर्मा के राजा मिण्डन (Mindon) ने अंग्रेजों से अपनी सुरक्षा हेतु विभिन्न प्रयत्न किये। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने अन्य यूरोपीय राज्यों से भी सहायता पाने का प्रयत्न किया; यद्यपि इसमें उसे सफलता न मिली। परन्तु उसने अंग्रेजों से अपने सम्बन्ध खराब नहीं किये।

1878 ई. में राजा मिण्डन की मृत्यु हो गयी और उसके बाद बीस वर्षीय नवयुवक थीबा (Thibaw) बर्मा का राजा बना। उस अवसर पर लॉर्ड लिटन (Lord Lytton) के नेतृत्व में अग्रगामी नीति (Forward policy) का पालन किया जा रहा था। इस कारण अंग्रेजों ने नये राजा से अन्य सुविधाओं की माँग की । उनमें से अधिकांश माँगें स्वीकार कर ली गयीं परन्तु 'जूते' की परम्परा को त्यागने से नये राजा ने भी इन्कार कर दिया।

1879 ई. में अंग्रेजों को सूचना मिली कि नवीन राजा ने राजपरिवार के लगभग 80 व्यक्तियों को, जिनमें औरतें और बच्चे सम्मिलित थे, कत्ल कर दिया गया है। लॉर्ड लिटन के आदेशानुसार अंग्रेज रेजीडेण्ट ने राजा को इस कत्ल के सम्बन्ध में एक कठोर पत्र लिखा। बर्मा-दरबार ने उसकी कोई परवाह न की और अपने कार्य को राज्य के हित में बताया। इस बार भी अनेक अंग्रेजों ने सम्पूर्ण बर्मा को जीतने की माँग की ; यद्यपि भारत-सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। परन्तु बर्मा-दरबार से अंग्रेजों के सम्बन्ध खराब होते चले गये और अन्त में अक्टूबर 1879 ई. में अंग्रेज राजदूत तथा सभी अंग्रेज और अमेरिकन निवासियों ने माँडले को छोड़ दिया।

---

1 "He would fight for shoe though he had not fought for Pegu." —*King of Burma.*

उस समय तक लॉर्ड लिटन की अग्रगामी नीति अफगानिस्तान में असफल हो चुकी थी और लॉर्ड डिजरैली (Lord Disraeli) के स्थान पर लॉर्ड ग्लेडस्टन (Lord Gladstone) अंग्रेजी मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर चुका था। इस कारण, यद्यपि भारत-सरकार ने बर्मा से सभी पुरानी सन्धियों को समाप्त करने की माँग की, फिर भी ब्रिटिश सरकार इसके लिए तैयार नहीं हुई। बर्मा के राजा के व्यापारिक आधिपत्य से अंग्रेज अप्रसन्न थे और अंग्रेज व्यापारियों के दबाव से भारत-सरकार ने उसका कठोर विरोध किया जिसके कारण 1882 ई. में बर्मा ने अपने सभी एकाधिकार त्याग दिये। इन बातों से दोनों पक्षों में से कोई भी सन्तुष्ट न था परन्तु कोई खुला झगड़ा उस समय तक सम्भव न हो सका।

राजा थीबा ने भी अपने पिता की भाँति यूरोपीय राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। 1883 ई. में एक दूतमण्डल फ्रान्स भेजा गया। उस समय तक फ्रान्स ने कोचीन-चीन (Cochin-China) और टोनकिन (Tonkin) तक अपने प्रभाव का विस्तार कर लिया था और यह विश्वास किया जाता था कि फ्रान्स की दृष्टि बर्मा पर भी थी। इस कारण अंग्रेजों ने इस दूतमण्डल को शंका की दृष्टि से देखा और फ्रान्स से यह वायदा ले लिया कि यदि बर्मा से कोई सन्धि की गयी तो वह पूर्णतः व्यापारिक होगी। जनवरी 1885 ई. में बर्मा और फ्रान्स में एक व्यापारिक सन्धि हो गयी। यद्यपि इस सन्धि में ऐसी कोई शर्त न थी जिस पर अंग्रेजों को शंका होती परन्तु फिर भी अंग्रेज इससे असन्तुष्ट रहे। थोड़े समय पश्चात् यह भी समाचार फैले कि बर्मा ने फ्रान्सीसियों को रेल बनाने, हीरे निकालने, मॉंडले में एक बैंक खोलने के अधिकार और अन्य व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कर दी हैं। यद्यपि यह समाचार सत्य न थे, फिर भी अंग्रेजों को चिन्ता हो गयी। उस समय तक केवल अंग्रेज ही बर्मा से व्यापारिक लाभ प्राप्त करते थे। वे यह बर्दाश्त नहीं कर सके कि बर्मा के व्यापार में फ्रान्स भी उनका साझीदार हो जाये। इस कारण अंग्रेज व्यापारी-वर्ग ने अंग्रेज सरकार पर बर्मा को जीतने के लिए दबाव डालना आरम्भ किया। लन्दन की व्यापारिक सभा (London Chamber of Commerce) ने भारत-सचिव से माँग की : "या तो सम्पूर्ण बर्मा पर अधिकार कर लिया जाये अथवा वहाँ पर एक ऐसे शासक की नियुक्ति की जाये जो पूरी तरह से अंग्रेजों पर निर्भर हो।"[1] व्यापारी-वर्ग के इस दबाव को अंग्रेजी सरकार ठुकरा नहीं सकती थी क्योंकि इंगलैण्ड की राजनीति पर इस वर्ग का पूर्ण प्रभाव था। इस कारण इंगलैण्ड की सरकार की नीति में परिवर्तन हुआ।

इस प्रकार बर्मा और अंग्रेजों के सम्बन्ध 1885 ई. तक प्रायः उसी स्थिति में पहुँच गये जो 1852 ई. में द्वितीय बर्मा-युद्ध के अवसर पर थे। अंग्रेजी व्यापार और हितों की रक्षा का आधार लेकर अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करना अंग्रेजों का सर्वदा लक्ष्य रहा था और इसके लिए उन्होंने सिर्फ बहाने तलाश किये थे। यही स्थिति इस समय भी हो गयी। भारत का गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन (Lord Dufferin) प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण बर्मा को जीतने के लिए तत्पर था क्योंकि वह किसी भी शर्त पर वहाँ फ्रान्स के प्रभाव को बढ़ने नहीं देना चाहता था।

युद्ध का एक अवसर उस समय आया जबकि बर्मा और मणिपुर की सीमा के विषय में विवाद खड़ा हुआ। बर्मा ने 1881 ई. में अंग्रेज कमीशन द्वारा निश्चित की गयी सीमाओं को मानने से इन्कार कर दिया और धमकी दी कि वे सीमा के पत्थर के खम्भों को उखाड़ देंगे। अंग्रेजों ने मणिपुर के शासक को आदेश दिया कि यदि बर्मा ऐसा करे तो वह सैनिकों द्वारा उसका मुकाबला करे। परन्तु यह झगड़ा इस कारण समाप्त हो गया कि बर्मा ने इस मामले में एक बार धमकी देने के पश्चात् फिर कुछ नहीं किया।

---

1 "Either to annex the whole of Native Burma or to assume a protectorate over that country by the appointment of a sovereign under British control."

बर्मा-युद्ध का आरम्भ एक व्यापारिक कम्पनी "बम्बई-बर्मा व्यापारिक कॉरपोरेशन" (Bombay-Burma Trading Corporation) के झगड़े के कारण हुआ। इस व्यापारिक कम्पनी को जंगलों का ठेका दिया गया था। बर्मा की सरकार ने आरोप लगाया कि इस कम्पनी ने बेईमानी करके बर्मा-सरकार का 10 लाख रुपये का टैक्स चुराया है। कम्पनी की यह बेईमानी सिद्ध भी हो गयी। पहले तो बर्मा-सरकार का इरादा इस कम्पनी के ठेके को समाप्त करने का था परन्तु बाद में उस पर केवल 23,59,066 रुपये का जुर्माना मात्र किया गया जिसे कम्पनी को चार बराबर किस्तों में देना था। कम्पनी के मालिकों ने भारत की अंग्रेज सरकार से रक्षा की माँग की जिसके कारण भारत-सरकार ने इस मामले में हस्तक्षेप किया। अंग्रेज कमिश्नर ने अगस्त में बर्मा-दरबार से इस जुर्माने को रद्द करने और इस मामले को भारत के गवर्नर-जनरल के एक प्रतिनिधि को सौंप देने की माँग की। बर्मा-सरकार ने इसको मानने से इन्कार कर दिया। 22 अक्टूबर, 1885 ई. को बर्मा-दरबार से निम्नलिखित माँगें की गयीं :

1. बर्मा-दरबार एक अंग्रेज प्रतिनिधि को अपने दरबार में आमन्त्रित करे और उसकी सलाह से कम्पनी के झगड़े का निर्णय करे।
2. अंग्रेज प्रतिनिधि के पहुँचने तक कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्रवाई न की जाये।
3. भविष्य में एक अंग्रेज प्रतिनिधि सर्वदा बर्मा-दरबार में रहे।
4. बर्मा विदेशों से अपने सम्बन्ध भारत के गवर्नर-जनरल की सलाह से स्थापित करे।
5. अंग्रेजों को चीन से व्यापार करने की पूर्ण सुविधा दी जाये।

यह भी कहा गया कि पहली तीनों माँगें बिना किसी विवाद के 10 नवम्बर तक स्वीकार कर ली जानी चाहिए।

9 नवम्बर को बर्मा-दरबार ने उत्तर भेज दिया जिसमें कहा गया कि यदि अंग्रेज कम्पनी बर्मा के राजा से कोई प्रार्थना करेगी तो उस पर अवश्य विचार किया जायेगा। बर्मा ने तीसरी और पाँचवीं माँग को स्वीकार कर लिया। चौथी माँग के विषय में बर्मा ने कहा कि इसका निर्णय फ्रान्स, जर्मनी और इटली के राज्यों को करने दिया जाय क्योंकि यह राज्य बर्मा और इंगलैण्ड दोनों के ही मित्र-राज्य हैं।

लॉर्ड डफरिन ने अपनी माँगें भेजने के पश्चात् युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दी थीं और जैसे ही बर्मा-दरबार का उत्तर उसे मिला, उसने अंग्रेज सेनाओं को बर्मा की राजधानी माँडले की ओर बढ़ने के आदेश दे दिये। राजा थीबा ने भी युद्ध की घोषणा कर दी।

इस बार युद्ध अधिक नहीं हुआ और अंग्रेजों ने सरलता से नवम्बर 1885 ई. में माँडले पर अधिकार कर लिया। राजा थीबा ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसे आधुनिक महाराष्ट्र में रत्नागिरि नामक स्थान पर राजनीतिक बन्दी के रूप में रखा गया। 1 जनवरी, 1886 ई. को सम्पूर्ण बर्मा को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

अंग्रेजों द्वारा बर्मा पर अधिकार नंगा साम्राज्यवाद था। राजा थीबा ने अंग्रेजों पर कुछ अत्याचार अवश्य किये थे और फ्रान्स से सहायता लेने का भी प्रयत्न किया था परन्तु जैसा कि रॉबर्ट्स ने लिखा है : "यह कहना पाखण्ड मात्र होगा कि राजा का अत्याचार और अंग्रेजों के व्यापार में रुकावट डालने का उसका प्रयत्न उसके पतन के लिए पर्याप्त था।"[1]

---

1 "It would be hypocrisy to maintain that the tyranny of the king or even the impediments he put in the way of British commerce would by themselves have brought his downfall." —*Roberts.*

बर्मा के प्रति अंग्रेजों के व्यवहार का मूल आधार अंग्रेजों की श्रेष्ठता और अपने लाभ की भावना थी। सर जेम्स स्टीफन (Sir James Stephen) ने लिखा था कि अंग्रेज अफगानिस्तान, भारत या पूर्व के अन्य राज्यों को वह स्थान नहीं दे सकते जो पश्चिमी यूरोप के सभ्य राज्य को प्राप्त है। वह लिखता है : "उनकी स्थिति निस्सन्देह निम्न है। उनकी मुख्य निम्नता यही है कि हम उन्हें ऐसी नीति का पालन नहीं करने दे सकते जिससे हमें कोई खतरा हो। यही वह आधार है जिस पर हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्तर्गत सभी राज्यों से व्यवहार करते हैं। सिन्धिया, काबुल का अमीर, होल्कर, निजाम आदि सभी के साथ हमारे व्यवहार का मूल आधार यही है। ये व्यवहार इस आधार पर निश्चित होते हैं कि हम बहुत अधिक शक्तिशाली और सभ्य हैं, जबकि हमारी तुलना में वे दुर्बल और अर्द्ध-बर्बर हैं।"[1] स्टीफन के ये शब्द बहुत ही स्पष्ट हैं और 19वीं सदी के यूरोपीय साम्राज्यवाद के आधार को स्पष्ट करते हैं। यूरोपीय जातियाँ अपनी शक्ति और सभ्यता की श्रेष्ठता के आधार पर अपने साम्राज्य का विस्तार करना अपना अधिकार समझती थीं। भारत, बर्मा, अफगानिस्तान तथा एशिया और अफ्रीका के देशों में यूरोपीय साम्राज्यवाद के विस्तार का मूल आधार यही था। ऐसी स्थिति में यह सोचना कि उनका व्यवहार उचित था या अनुचित, निरर्थक है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रथम बर्मा-युद्ध के कारणों और परिणामों पर प्रकाश डालिए।
2. द्वितीय बर्मा-युद्ध के कारण और परिणाम पर विचार कीजिए।
3. तृतीय बर्मा-युद्ध के क्या कारण थे ? उसका क्या परिणाम हुआ ?
4. अंग्रेजों द्वारा बर्मा-विजय की समीक्षा कीजिए। क्या अंग्रेजों का बर्मा पर अधिकार करना उचित था ?

---

1 "They occupy a distinctly inferior position—their inferiority consisting mainly is this that they are not to be permitted to follow a course of policy which exposes us to danger. This is the footing on which every state enclosed in the British dominion is practically treated. At bottom our relations with all of them (Sindhia, Kabul (Amir), Holkar, Nizam) stand on the same basis. They are all determinded by the fact that we are exceedingly powerful and highly civilised and that they are comparatively weak and half-barbarous." —*Sir James Stephen.*

17

अंग्रेजों के सिखों के साथ सम्बन्ध

1. महाराजा रणजीतसिंह का उत्थान

मुगलों से निरन्तर युद्ध करते रहने और सरदार बन्दा (Banda) की मृत्यु हो जाने के पश्चात् सिख अशक्त अवश्य हो गये परन्तु समाप्त नहीं हुए। उनमें सैनिक-भावना रही और वे निरन्तर अफगान सरदार अहमदशाह अब्दाली को तंग करते रहे। विभिन्न सिख सरदारों ने स्थान-स्थान पर अपने किले बना लिये और पंजाब के मैदान पर अपना अधिकार कर लिया। जब अहमदशाह अब्दाली भारत पर आक्रमण करता था, वे अपने किलों में छिप जाते थे और जैसे ही वह वापस चला जाता था, वे पुनः मुस्लिम सूबेदारों को तंग करना शुरू कर देते थे। 1767 ई. के पश्चात् जब अब्दाली को भारत आने का अवसर न मिल सका, सिखों ने लाहौर के अतिरिक्त पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में अटक तक और उत्तर में जम्मू से दक्षिण में काँगड़ा तक अपना अधिकार कर लिया।

सिखों ने अपने को 12 मिस्लों (राज्यों) में विभाजित कर रखा था। प्रत्येक मिस्ल का अपना अलग सरदार था। वे निरन्तर आपस में झगड़ते रहते थे और उनमें एकता का अभाव था। उन्हीं में से एक मिस्ल सुकारचकिया (Sukarchakia) का सरदार माहासिंह था। उसी का पुत्र रणजीतसिंह था जिसका जन्म 1780 ई. में हुआ। सिखों की शक्ति को एकत्रित करके उनको एक राष्ट्र का स्वरूप देने का श्रेय रणजीतसिंह को है। 1792 ई. में गुजरानवाला में माहासिंह की मृत्यु हो गयी। अतः 12 वर्ष की अल्पायु में रणजीतसिंह अपने पिता की मिस्ल का मालिक बना।

अहमदशाह अब्दाली के पुत्र तैमूरशाह की मृत्यु के पश्चात् जमानशाह अफगानिस्तान का शासक बना। उसने 1795-98 ई. तक के समय में भारत पर तीन आक्रमण किये। अंग्रेज इतिहासकार प्रिंसेप के अनुसार उसके तीसरे आक्रमण के अवसर पर उसकी कुछ तोपें झेलम के दलदल में फँस गयी थीं जिन्हें रणजीतसिंह ने निकलवा कर उसके पास भेज दिया जिसके उपलक्ष में उसने रणजीतसिंह को राजा का पद दिया और लाहौर का सूबेदार नियुक्त किया। इतिहासकार एन. के. सिन्हा और अब्दुल लतीफ ने भी इस मत को स्वीकार किया है। परन्तु सरदार खुशवन्तसिंह के अनुसार रणजीतसिंह ने जमानशाह के तीनों आक्रमणों के अवसर पर उसके विरुद्ध सिखों को नेतृत्व प्रदान किया था और यद्यपि तोपों के सम्बन्ध में उन दोनों में पत्र-व्यवहार अवश्य हुआ था परन्तु रणजीतसिंह ने लाहौर पर अधिकार स्वयं अपनी शक्ति के बूते पर किया था। 1802 ई. में रणजीतसिंह ने अमृतसर को जीत लिया। द्वितीय मराठा-युद्ध के अवसर पर जब अंग्रेजों को भारत पर जमानशाह और नेपोलियन के आक्रमण का भय था, अंग्रेजों ने रणजीतसिंह को प्रसन्न करने के लिए 10,000 रुपये की वस्तुएँ उसे भेंट में दीं। उसके बदले में रणजीतसिंह ने 1805 ई. में अंग्रेजों के विरुद्ध होल्कर को सहायता देने से इन्कार कर दिया। 1806 ई. में रणजीतसिंह, अंग्रेज और कपूरथला के सिख सरदार फतहसिंह में एक

सन्धि हुई जिसमें निश्चय हुआ कि यदि सिख अंग्रेजों के शत्रुओं से मित्रता नहीं करेंगे तो अंग्रेज सिखों की भूमि या उनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस सन्धि से रणजीतसिंह को सतलज नदी के उत्तर के राज्यों पर कब्जा करने में सहायता मिली क्योंकि अब पंजाब में अंग्रेजों के हस्तक्षेप का भय नहीं रहा था।

रणजीतसिंह का लक्ष्य एक शक्तिशाली सिख राज्य की स्थापना करना था। कनिंघम (Cunningham) ने लिखा है : "रणजीतसिंह ने विभिन्नतापूर्ण और बिखरे हुए परन्तु विस्तृत सिख राष्ट्र को एक संगठित राज्य अथवा राष्ट्रमण्डल में परिवर्तित करने का प्रयत्न प्रायः उसी प्रकार की बुद्धिमत्तापूर्ण योजना से किया जिस प्रकार गोविन्द (गुरु गोविन्दसिंह) ने एक समुदाय को जन-समुदाय में परिवर्तित करके नानक के आदर्शों को एक ध्येय तथा क्रियात्मक स्वरूप प्रदान किया था।"[1] अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए रणजीतसिंह ने सतलज और यमुना नदी के बीच के भाग पर अपना अधिकार करने का प्रयत्न किया। सतलज नदी के पूर्व में कुछ सिख राज्य थे जिन्हें सिन्धिया की पराजय के पश्चात् अंग्रेजों ने अपनी सुरक्षा में ले लिया था। परन्तु बार्लो की हस्तक्षेप न करने की नीति और इन राज्यों के पारस्परिक झगड़ों के कारण रणजीतसिंह को इन राज्यों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। 26 जुलाई, 1806 ई. को रणजीतसिंह ने प्रथम बार सतलज को पार करके लुधियाना पर अधिकार कर लिया यद्यपि उसने उसे अपने चाचा और जींद के सरदार भागसिंह को दे दिया। दूसरी बार पटियाला के राजा और रानी के झगड़ों का निर्णय करने के लिए उसने सतलज को पार किया।

रणजीतसिंह का सतलज नदी के पूर्व के राज्यों (नाभा, पटियाला, जींद आदि) में हस्तक्षेप अंग्रेजों को पसन्द न था और उन्होंने उन राज्यों के सरदारों को अंग्रेजों से सहायता माँगने के लिए प्रोत्साहित किया। अंग्रेजों के प्रोत्साहन पर इन सरदारों ने रणजीतसिंह के विरुद्ध अंग्रेजों से सहायता माँगी। परन्तु उस अवसर पर अंग्रेजों को फ्रान्स के आक्रमण का भय था। अतएव वे रणजीतसिंह से युद्ध करने की स्थिति में न थे। लॉर्ड मिण्टो ने मेटकाफ को रणजीतसिंह से समझौता करने के लिए भेजा। उसका इरादा था कि रणजीतसिंह सतलज नदी के पूर्व के सिख-राज्यों पर आक्रमण न करे और फ्रान्सीसी आक्रमण के विरुद्ध अंग्रेजों से एक सन्धि कर ले। परन्तु रणजीतसिंह केवल इस शर्त पर सन्धि को तैयार था कि अंग्रेज उसे सभी सिखों का राजा स्वीकार कर लें। इसके लिए अंग्रेज तत्पर न थे। रणजीतसिंह ने तीसरी बार फिर सतलज नदी को पार करके कुछ भू-क्षेत्र को विजय कर लिया और ऐसा प्रतीत हुआ कि अंग्रेजों और रणजीतसिंह के बीच सन्धि की चर्चा समाप्त हो जायेगी।

परन्तु उसी समय परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ । नेपोलियन पेनिनसुला के युद्ध (Peninsular War) में फँस गया और फ्रान्स के भारत पर आक्रमण करने की आशंका समाप्त हो गयी। उसी समय टर्की के नवीन सुल्तान महमूद द्वितीय से भी ब्रिटेन के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण हो गये। इन कारणों से अंग्रेज उत्तर-पश्चिम की ओर से सम्भावित आक्रमण के भय से मुक्त हो गये और उन्होंने रणजीतसिंह के प्रति दृढ़ता की नीति अपनाने का निश्चय किया। सर चार्ल्स मेटकाफ ने अंग्रेजों की माँगें प्रस्तुत कीं और लॉर्ड मिण्टो ने सर ऑक्टरलोनी के नेतृत्व में एक सेना भेज दी। 9 फरवरी, 1809 ई. को ऑक्टरलोनी ने एक घोषणा के द्वारा सतलज नदी

---

1 "Ranjit Singh laboured with more or less of intelligent design, to give unity and coherence to diverse atoms and scattered elements to mould the increasing Sikh nation into well-ordered state or commonwealth, as Govind had developed a sect into a people and had given application and purpose to the general institutions of Nanak."

—*Cunningham.*

के पूर्व के राज्यों (Cis-Satlaj States) को अंग्रेजों के संरक्षण में ले लिया और स्पष्ट कर दिया कि यदि रणजीतसिंह ने उन पर कोई आक्रमण किया तो उसका मुकाबला शस्त्रों से किया जायेगा। रणजीतसिंह इससे बहुत नाराज हुआ परन्तु उसने परिस्थिति से समझौता कर लिया। वह जानता था कि वह उस समय तक पंजाब के मात्र एक भाग का ही मालिक था जबकि अंग्रेज सम्पूर्ण भारत के स्वामी बन चुके थे और उनकी शक्ति उसके मुकाबले बहुत अधिक थी। इस कारण अंग्रेजों से युद्ध करना एक प्रकार से सर्वनाश को न्यौता देना था। इसके अतिरिक्त, रणजीतसिंह को यह भी भय था कि, सम्भवतः, कुछ अन्य सिख-राज्य भी कहीं अंग्रेजी संरक्षण प्राप्त करने के लालच में न आ जायें। इन कारणों से उसने अंग्रेजों से मित्रता करना उचित समझा। परिणामस्वरूप, 25 अप्रैल, 1809 ई. को रणजीतसिंह और अंग्रेजों में एक सन्धि हो गयी। इस सन्धि की शर्तों के अनुसार—

1. सतलज नदी के उत्तर के 45 परगनों पर अंग्रेजों ने रणजीतसिंह का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

2. रणजीतसिंह ने सतलज नदी के पूर्व में न बढ़ने का वायदा किया और अंग्रेजों ने सतलज नदी के पश्चिम में न बढ़ने का आश्वासन दिया। इस प्रकार सतलज नदी दोनों के राज्यों को पृथक करने वाली सीमा मान ली गयी।

3. दोनों ने एक-दूसरे के मित्र बने रहने का वायदा किया।

इस अमृतसर की सन्धि के द्वारा रणजीतसिंह और अंग्रेजों में स्थायी मित्रता स्थापित हो गयी। रणजीतसिंह ने जीवनपर्यन्त इस सन्धि को निभाया। अंग्रेजों को इस सन्धि से बहुत लाभ हुआ। पूर्व की ओर रणजीतसिंह की राज्य-विस्तार की इच्छा को रोक दिया गया और अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ सतलज नदी तक हो गयीं। सरकार और दत्त ने लिखा है : "अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ यमुना नदी से हटकर सतलज नदी तक हो गयीं और अंग्रेजी सेना लुधियाना में नियुक्त कर दी गयी।"[1]

अमृतसर की सन्धि ने रणजीतसिंह की समस्त सिख-राज्यों को संगठित करने की इच्छा को समाप्त कर दिया। परन्तु जब अंग्रेजों ने पूर्व में उसकी प्रगति को रोक दिया तब उसने पश्चिम और उत्तर की ओर ध्यान दिया। नेपाल के गोरखा अमरसिंह थापा के नेतृत्व में काँगड़ा की घाटी को जीतने के प्रयत्न में लगे हुए थे। रणजीतसिंह ने स्वयं अगस्त 1809 ई. में वहाँ के राजा संसारचन्द्र से काँगड़ा जीत लिया। आसपास के पहाड़ी सरदारों से सन्धि करके रणजीतसिंह ने अमरसिंह थापा के लौटने का मार्ग बन्द कर दिया जिसके कारण वह रणजीतसिंह को एक लाख रुपया देकर ही वापस जा सका।

काँगड़ा की विजय के पश्चात् रणजीतसिंह ने पंजाब के अन्य छोटे-छोटे राज्यों की ओर ध्यान दिया और धीरे-धीरे उसने सतलज नदी के पश्चिम के सभी सिख-राज्यों पर अधिकार कर लिया।

रणजीतसिंह ने अफगान-शासक को कश्मीर के विरुद्ध सहायता दी और वहीं से अफगानिस्तान के भागे हुए शासक शाहशुजा को अपने अधिकार में कर लिया तथा उससे कोहेनूर हीरा प्राप्त किया। 1813 ई. में उसने अटक को अपने अधिकार में कर लिया जो उस समय तक अफगानों के अधिकार में था।

---

1 "The British frontier was now pushed from the Jamuna to the Satlaj and British troops were posted at Ludhiana." —*Sarkar and Dutta.*

1814 ई. में रणजीतसिंह ने कश्मीर को जीतने का प्रयत्न किया परन्तु असफल रहा। उसी वर्ष अंग्रेजों का नेपाल से युद्ध आरम्भ हो गया। नेपाल राज्य ने रणजीतसिंह से सहायता माँगी परन्तु उसने अंग्रेजों की मित्रता का ध्यान रखते हुए नेपाल को सहायता देने से इन्कार कर दिया।

रणजीतसिंह ने 1803 ई., 1807 ई., 1816 ई. और 1817 ई. में मुल्तान को जीतने के निरन्तर प्रयास किये, परन्तु असफल रहा। 1818 ई. में उसने मुल्तान को जीतने में सफलता प्राप्त की।

1819 ई. में तीसरी बार प्रयत्न करने पर रणजीतसिंह ने कश्मीर को जीत लिया। 1820 ई. और 1821 ई. में उसने डेरा गाजीखाँ, डेरा इस्माइलखाँ, बक्खर, लेह और मंकेरा को जीत लिया। 1823 ई. में उसने पेशावर को भी अफगानों से जीता; यद्यपि वहाँ का शासन करने के लिए उसने एक अफगान सरदार यार मुहम्मद को ही वहाँ का सूबेदार नियुक्त किया।

रणजीतसिंह ने सिन्ध के अमीरों को अपने प्रभाव में लेने का प्रयास किया था लेकिन वहाँ पर अंग्रेजों ने उसकी इच्छा को पूरा न होने दिया।

इस प्रकार रणजीतसिंह आजीवन युद्ध करता रहा और एक संगठित राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। पूर्व और दक्षिण की ओर उसके साम्राज्य की सीमाएँ अंग्रेजों के कारण विस्तृत न हो सकीं परन्तु उत्तर-पश्चिम भारत में उसने एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। 27 जून, 1839 ई. को 59 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गयी।

रणजीतसिंह भारतीय इतिहास में प्रभावशाली स्थान रखता है। कनिंघम (Cunningham) ने उसके विषय में लिखा है कि उसने पंजाब को विभाजित और पारस्परिक झगड़ों में फँसा हुआ पाया था। ऐसी स्थिति में पंजाब बहुत सरलता से अंग्रेजों के हाथों में जा सकता था। उसने पंजाब को एक शक्तिशाली और संगठित राज्य में परिवर्तित कर दिया। उसने पंजाब के बहादुर घुड़सवारों को बिखरा हुआ और युद्ध की कला से अनभिज्ञ पाया था लेकिन उसने उन्हें 50 हजार की संगठित घुड़सवार-सेना में बदल दिया। उसका कद नाटा और शक्ल भद्दी थी लेकिन फिर भी उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। उसने स्वयं शिक्षा नहीं पायी थी किन्तु उसने शिक्षा का विस्तार किया। वह शराब और अफीम का प्रेमी था तब भी अपने राज्य के कार्यों की देखभाल बहुत जिम्मेदारी से करता था। उसमें प्रशासनिक योग्यता थी और वह बहादुर, साहसी, कुशल सेनापति एवं संगठनकर्ता था। सर लेपेल ग्रिफिन ने उसके बारे में लिखा है : "उसने अपनी सैनिक योग्यता के आधार पर जिस देश को जीता उसका शासन इतनी दृढ़ता तथा योग्यता से किया कि उसकी गिनती उस सदी के महान् राजनीतिज्ञों में की जाती है।"[1] वह सफल कूटनीतिज्ञ था और अपनी शक्ति को पहचानता था। वह जानता था कि अंग्रेजों से युद्ध करना उसके लिए विनाशकारी होगा, इस कारण उसने जीवनभर उनसे मित्रता रखी। उसकी धार्मिक नीति उदार थी और अपनी प्रजा में वह अत्यन्त लोकप्रिय था। निस्सन्देह, रणजीतसिंह का स्थान भारत के महान् शासकों में आता है। फ्रान्सीसी यात्री विक्टर जैकोमोण्ट ने उसके बारे में लिखा था : "रणजीतसिंह एक असाधारण व्यक्ति है—एक छोटा बोनापार्ट।"[2] उसकी मुख्य योग्यता सेना के संगठन की थी। उसने खालसा-सेना को बहुत शक्तिशाली बना

---

1 "He ruled the country which his military genius had conquered with vigour of will and ability which placed him in the front rank of the politicans of the century."
—*Sir Lepel Griffin.*

2 "Ranjit Singh is an extraordinary man—a Bonapart (Napoleon) in miniature".
—*Victor Jacquemont.*

दिया। हण्टर लिखता है : "उसने खालसा सेना को असीम शक्ति का आधार बना दिया। वह ऐसा संगठित सैनिक समुदाय बन गयी जिसकी तुलना वफादारी और धार्मिक उत्साह की दृष्टि से क्रॉमवैल की 'लौह सेना' के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं की जा सकती है।"[1]

2. रणजीतसिंह की शासन-व्यवस्था

अन्य मध्ययुगीन शासकों की भाँति रणजीतसिंह भी एक स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासक था। राज्य की सम्पूर्ण शक्तियाँ उसके हाथों में केन्द्रित थीं। वही राज्य का कानून-निर्माता, शासन-प्रबन्धक, मुख्य न्यायाधीश और सर्वोपरि सेनापति था। परन्तु व्यवहार में रणजीतसिंह एक उदार निरंकुश शासक था। वह अपने को सिख-राष्ट्रमण्डल अथवा खालसा का सेवक मानता था। इसी कारण वह अपनी सरकार को 'सरकार-ए-खालसा' पुकारता था। इसके अतिरिक्त, उसने अपने शासन में कोई धार्मिक पक्षपात नहीं अपनाया। राज्य में सभी धर्मावलम्बियों को समान सुविधाएँ प्राप्त थीं, डोगरा-राजपूतों को बड़े-बड़े पद दिये गये थे, मुसलमानों के साथ भी न्यायोचित व्यवहार किया जाता था और राज्य में समान कर-व्यवस्था थी। अपनी प्रजा की भलाई करना और उसे उचित न्याय प्रदान करना रणजीतसिंह अपना कर्तव्य मानता था। रणजीतसिंह ने अपनी सहायता के लिए एक मन्त्रि-परिषद की भी नियुक्ति की थी यद्यपि प्रत्येक मन्त्री पूर्णतः उसी के प्रति उत्तरदायी था और मन्त्रियों का कोई संयुक्त उत्तरदायित्व न था।

शासन की सुविधा की दृष्टि से रणजीतसिंह ने सम्पूर्ण राज्य को चार सूबों में विभाजित किया था। वे थे लाहौर, मुल्तान, कश्मीर और पेशावर। सूबा के मुख्य अधिकारी को नाजिम पुकारते थे। अपने अधीनस्थ अधिकारियों के कार्यों की देखभाल वह स्वयं करता था। प्रत्येक सूबा को परगनों में बाँटा गया था और प्रत्येक परगना को तालुकाओं में। प्रत्येक तालुका में 50 से लेकर 100 गाँव तक सम्मिलित होते थे। प्रत्येक तालुका में मुख्य अधिकारी कारदार था। बड़े तालुका में एक से अधिक कारदारों की भी नियुक्ति की गयी थी। कारदार लगान वसूल करता था, वह खजांची भी था और तालुका का न्यायाधीश भी। वह सीमा-कर और चुंगी का भी प्रमुख अधिकारी था। इस प्रकार कारदार प्रशासन का एक प्रमुख अधिकारी था। गाँव की पंचायतें भी शासन में महत्वपूर्ण थीं, मुख्यतः न्याय के क्षेत्र में।

राज्य की आय का मुख्य साधन लगान था जो उत्पादन का 33 से 40% तक हुआ करता था। लगान कठोरता से वसूल किया जाता था यद्यपि राज्य की ओर से किसानों को सुविधाएँ भी प्रदान की जाती थीं। सैनिकों को आदेश दिये गये थे कि वे खेती को हानि न पहुँचायें और यदि उसकी हानि हो जाती थी तो राज्य उसकी पूर्ति करता था। कानूनगो, मुकद्दम और पटवारी, सम्भवतः, वंशानुगत अधिकारी थे जो लगान वसूल करने में सरकार की सहायता करते थे। किसानों पर कर का भार अधिक न था और किसान सम्पन्न थे।

रणजीतसिंह की न्याय-व्यवस्था सरल थी। गाँव की पंचायतें, साधारणतः, गाँवों के झगड़ों का निबटारा किया करती थीं। पंचायत के निर्णय पर पुनर्विचार की माँग कारदार से की जा सकती थी। उसके ऊपर का न्यायालय नाजिम का होता था। राजधानी में स्थापित किये गये न्यायलय को 'अदालत-ए-आला' पुकारा गया था जहाँ नाजिम के न्यायालय के मुकदमों पर पुनर्विचार किया जा सकता था । सबसे श्रेष्ठ न्यायालय स्वयं महाराजा का था। प्रत्येक

1 "He converted the Sikh army into an engine of terrible efficiency, a strong military body which for steadiness and religious fervours had no parallel since the 'Iron sides' of Oliver Cromwell." —*Hunter.*

मुकदमा किसी भी न्यायालय में आरम्भ किया जा सकता था। राज्य के मन्त्री भी अपने विभागों से सम्बन्धित मुकदमों का निर्णय करते थे। नगरों में भी न्याय के लिए कारदार या विशेष अधिकारी 'अदालतीं' नियुक्त किये गये थे। न्याय से भी राज्य की आय थी। अपराधियों पर अधिकांशतः जुर्माने किये जाते थे और दोनों पक्षों को राज्य को कुछ धन देना पड़ता था।

रणजीतसिंह के शासन की एक मुख्य विशेषता खालसा सेना का संगठन था। प्रारम्भ में रणजीतसिंह की सेना में मुख्यतः घुड़सवार थे। उस सेना की संख्या का अनुमान ठीक प्रकार से नहीं किया जा सका है, परन्तु उसके दो भाग थे। एक, घुड़चढ़ा खास जिन्हें अपने घोड़े स्वयं लाने होते थे और वे राज्य से वेतन पाते थे। दूसरा भाग मिसलदारों का था। यह उन अधीनस्थ सरदारों के घुड़सवार थे जिनकी भूमि पर रणजीतसिंह ने अधिकार करके उनके घुड़सवारों को अपनी सेना में सम्मिलित कर लिया था। परन्तु बाद में यूरोपियन शस्त्रों और युद्ध-पद्धति की उपयोगिता को समझकर रणजीतसिंह ने पैदल-सेना और तोपखाने का निर्माण यूरोपियन तरीकों से किया। उसने फ्रान्सीसी, जर्मन, अमेरिकन, रूसी, स्पेनिश आदि विभिन्न यूरोपियन नागरिकों को अपनी सेना में प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किये और उनकी सहायता से एक प्रशिक्षित पैदल-सेना और अच्छे तोपखाने का निर्माण किया। उसकी एक विशेष सेना 'फौज-ए-खास' फ्रान्सीसी अधिकारियों वन्तूस और अलार्ड के द्वारा प्रशिक्षित की गयी थी। उसे तोपखाने के निर्माण में कोर्ट और गार्डनर नामक अधिकारियों से सहायता मिली। उसके तोपखाने में छोटी-बड़ी सभी प्रकार की तोपें थीं। उसने तोपखाने की देखभाल के लिए एक पृथक अधिकारी 'दारोगा-ए-तोपखाना' नियुक्त किया था। सैनिकों को नकद वेतन दिये जाने की व्यवस्था थी। निस्सन्देह, रणजीतसिंह ने एक श्रेष्ठ सेना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की थी।

3. रणजीतसिंह और अंग्रेजों के सम्बन्ध

रणजीतसिंह ने सर्वदा अंग्रेजों से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया, चाहे उसकी भावना अंग्रेजों के प्रति कुछ भी रही हो। उसने 1809 ई. में हुई अमृतसर की सन्धि का निरन्तर पालन किया। 1814-1816 ई. में नेपाल-युद्ध और 1824 ई. में बर्मा के युद्ध के अवसर पर अंग्रेजों को प्रारम्भ में बहुत कठिनाई हुई थी परन्तु रणजीतसिंह ने उनसे लाभ उठाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसने नेपाल को अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता देने से इन्कार कर दिया था। तृतीय मराठा-युद्ध में जब नागपुर का भौंसले भागकर रणजीतसिंह से सहायता माँगने आया तब उसने इन्कार कर दिया। इसी प्रकार 1825 ई. जब भरतपुर के राजा ने अंग्रेजों के विरुद्ध उससे सहायता माँगी तब भी उसने इन्कार कर दिया।

लेकिन अंग्रेजों ने रणजीतसिंह के प्रति मित्रता के भाव कभी नहीं रखे बल्कि सर्वदा उसकी प्रगति में बाधा उपस्थित की और उसकी कठिनाइयों से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। 1826 ई. में वहाबी जाति ने रणजीतसिंह के विरुद्ध धर्म-युद्ध (जिहाद) की घोषणा की जिसकी तैयारी उन्होंने अंग्रेजी सीमाओं में की तथा रणजीतसिंह पर आक्रमण किया। अंग्रेज यह जानते थे, परन्तु उन्होंने वहाबियों के कार्यों को रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वहाबियों के नेता ने उत्तर-पश्चिम प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर को एक पत्र लिखा और सूचित किया : "वह सिखों के विरुद्ध धर्म-युद्ध आरम्भ कर रहा है और आशा है कि अंग्रेज सरकार को इसमें कोई ऐतराज न होगा।"[1] गवर्नर ने उसका उत्तर देते हुए लिखा : "जब तक

---

1 "He was preparing for a *jehad* against the Sikh and hoped that the British Government has no objection to it."

अंग्रेजी सीमाओं की शान्ति भंग नहीं होती है तब तक उन्हें इस विषय में कुछ नहीं कहना है और न उन्हें वहाबियों के तैयारी करने में कोई ऐतराज है।" अंग्रेजों का मानना था कि यदि पठान उत्तर-पश्चिम सीमा पर सिखों का विरोध करते रहेंगे तो रणजीतसिंह की शक्ति क्षीण होगी जिससे अंग्रेजों को लाभ होगा।

अंग्रेजों ने रणजीतसिंह को सतलज नदी के पूर्व की ओर बढ़ने से ही नहीं रोका बल्कि जब-जब उसने सिन्ध में अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न किया तब-तब उसे रोका गया। अंग्रेज दिखावे के लिए तो रणजीतसिंह के प्रति सम्मान और मित्रता प्रदर्शित करते थे परन्तु वास्तव में जब कभी भी वे अवसर पाते थे तभी उसकी शक्ति को कम करने का प्रयत्न करते थे। अंग्रेजों ने रणजीतसिंह को सिन्ध की तरफ नहीं बढ़ने दिया परन्तु स्वयं सिन्ध में अपना प्रभाव स्थापित करने के प्रयत्न किये। बर्न्स (Burnes) को इसी कारण सिन्ध की राजनीतिक और भौगोलिक स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त करने हेतु सिन्धु नदी के मार्ग से रणजीतसिंह के पास भेजा गया था। 1831 ई. में गवर्नर-जनरल लॉर्ड विलियम बेन्टिक ने जिस दिन रणजीतसिंह से रूपर नामक स्थान पर भेंट की थी और मित्रता की सन्धि को दुहराया था, उसी दिन पोटिंगर (Pottinger) को सिन्ध जाने के आदेश दिये गये थे ताकि वह वहाँ के अमीरों से मिलकर सन्धि करने का प्रयास करे। परन्तु इस विषय में रणजीतसिंह को कुछ भी नहीं बताया गया था।

जब रणजीतसिंह ने शिकारपुर पर अधिकार करने का प्रयत्न किया तब अंग्रेजों ने स्पष्ट कर दिया कि वह ऐसा नहीं कर सकता। इससे भी अधिक अंग्रेजों की जबरदस्ती उस समय स्पष्ट हुई जब 1835 ई. में अंग्रेजों ने फीरोजपुर पर अपना अधिकार कर लिया जिस पर वे रणजीतसिंह का स्वामित्व स्वीकार कर चुके थे। फीरोजपुर अंग्रेजों के लिए सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था और सिख राजधानी लाहौर के बहुत निकट था। इस कारण रणजीतसिंह को अप्रसन्न करके भी अंग्रेजों ने फीरोजपुर पर अधिकार करना उचित समझा। मुरे (Murray) लिखता है : "राजधानी लाहौर केवल 40 मील दूर है, रास्ते में केवल एक नदी है जो वर्ष में छह माह पार करने योग्य है। फीरोजपुर का किला प्रत्येक दृष्टि से अंग्रेजों के लिए महत्वपूर्ण है।"[1]

इस प्रकार यह निश्चित है कि यद्यपि रणजीतसिंह ने अंग्रेजों को अप्रसन्न करने का कोई भी अवसर नहीं दिया था, फिर भी अंग्रेज उसकी मित्रता का कोई ध्यान नहीं रखते थे। 1838 ई. में अंग्रेजों, शाहशुजा और रणजीतसिंह के बीच एक त्रिदलीय सन्धि हुई। उसमें भी अंग्रेजों का ही हित था और रणजीतसिंह केवल अंग्रेजों को प्रसन्न रखने के लिए उसमें सम्मिलित हुआ था। अनेक इतिहासकारों ने अंग्रेजों के प्रति रणजीतसिंह की इस नीति को उचित बताया है। उनका कहना है कि वह यथार्थवादी थी। वह जानता था कि अंग्रेज उससे अधिक शक्तिशाली हैं और उनका विरोध करके उनसे युद्ध करने का अर्थ अपने राज्य का सर्वनाश करना है। इस कारण वह बुद्धिमानी से उनसे युद्ध टालता रहा और उसने सर्वदा उनसे मित्रता रखी।

परन्तु कुछ इतिहासकार ऐसे भी हैं जो रणजीतसिंह की इस नीति को दुर्बलता और अदूरदर्शिता की नीति बताते हैं। एन. के. सिन्हा लिखते हैं : "जैसाकि बिस्मार्क का कथन है, प्रत्येक स्थिति में राजनीतिक सन्धि में एक घोड़ा और एक घुड़सवार होता है। अंग्रेजों और सिखों की इस सन्धि में रणजीतसिंह घोड़ा और अंग्रेज सरकार घुड़सवार थी। अंग्रेजों के साथ अपने सम्बन्धों में रणजीतसिंह ने अत्यधिक दुर्बलता दिखायी। उसने कभी भी साहस

1 "The capital of Lahore is distant only 40 miles, with a single river to cross, fordable for six months in the year. The fort of Ferozpur from every point of view seems to be of highest importance to the British Government."—*Murray*.

से काम नहीं लिया। वह सर्वदा अनिश्चय और हिचकिचाहट से ग्रस्त रहा।"[1] इस पक्ष के इतिहासकारों का मत है कि रणजीतसिंह को यह सोचना चाहिए था और उसे ज्ञान भी होगा कि अंग्रेज किसी न किसी अवसर पर पंजाब को जीतने का प्रयास करेंगे। ऐसी स्थिति में उसे नेपाल, मराठा या अन्य भारतीय राजाओं से सन्धि करके अंग्रेजों को भारत से निकालने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए था। इस नीति का परिणाम कुछ भी होता परन्तु अपने सर्वनाश की चुपचाप प्रतीक्षा करने की बजाय साहसिक नीति अपनाना, निस्सन्देह, लाभप्रद होता। आर. सी. मजूमदार के अनुसार रणजीतसिंह इस बात को भूल गया : "राजनीति में भी, युद्ध की भाँति, समय रक्षात्मक उपाय करने वाले के साथ नहीं होता।"[2]

कुछ इतिहासकारों ने रणजीतसिंह और शिवाजी की तुलना की है। रणजीतसिंह और शिवाजी में यद्यपि बहुत अन्तर था परन्तु दोनों में कुछ समानता भी है । दोनों ने अपने राष्ट्र के बिखरे हुए व्यक्तियों को एकत्र किया और ऐसे शक्तिशाली सैनिक-राज्यों की स्थापना की जो अपने पड़ोसी राज्यों के मुकाबले खड़े हो सके। बाद में अंग्रेज-सिख युद्धों के अवसर पर यह स्पष्ट हो गया कि खालसा-सेना बहुत शक्तिशाली बन चुकी थी। यदि इस सेना को स्वार्थी और डरपोक नेताओं के स्थान पर रणजीतसिंह जैसे योग्य व्यक्ति का नेतृत्व प्राप्त हुआ होता तो सम्भवत युद्धों का परिणाम कुछ और ही होता । इसी कारण प्रश्न यह उठता है कि जो कार्य 17वीं सदी में शिवाजी ने शक्तिशाली मुगलों के विरुद्ध किया था क्या वह कार्य 19वीं सदी में रणजीतसिंह अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं कर सकता था ? रणजीतसिंह यह कार्य क्यों नहीं कर सका, इसके कई कारण बताये जाते हैं। रणजीतसिंह का व्यक्तिगत चरित्र शिवाजी की भाँति दृढ़ न था । वह शराब और शिकार का व्यसनी था। चारित्रिक दुर्बलता उसे साहसिक कदम उठाने से रोकती थी। उसका शासन दोषपूर्ण था क्योंकि वह एकमात्र उसी पर निर्भर करता था। शिवाजी की 'अष्ट-प्रधान सभा' की भाँति रणजीतसिंह को सलाह देने वाली सभा राज्य में कोई न थी। कुछ इतिहासकारों का यह भी मत है कि उसने सिखों के बजाय डोगरा-राजपूत तथा अन्य जाति के व्यक्तियों को राज्य के शासन में विशेष महत्व दिया जो उसकी मृत्यु के पश्चात् सिख-राज्य के प्रति वफादार नहीं रहे और व्यक्तिगत स्वार्थ में लिप्त हो गये और इसलिए सिख-राज्य का पतन रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् दस वर्षों में ही हो गया जबकि शिवाजी के मराठा-राज्य को मुगलों की सम्पूर्ण शक्ति भी नष्ट न कर सकी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कारण कुछ भी हो परन्तु जहाँ रणजीतसिंह को हम एक महान् शासक मानते हैं वहीं यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि उसने अंग्रेजों के प्रति दृढ़ता और दूरदर्शिता की नीति नहीं अपनायी । इसी कारण वह अपने जीवन-काल में तो सफल रहा परन्तु एक दृढ़ सिख-राज्य की स्थापना करने में पूर्णतः असफल रहा। उसकी नीति की दुर्बलता सिख-राज्य के शीघ्र पतन के लिए उत्तरदायी हुई।

4. अंग्रेजों द्वारा पंजाब पर अधिकार : प्रथम और द्वितीय पंजाब-युद्ध

प्रथम सिख-युद्ध (1845-46 ई.)

रणजीतसिंह के नेतृत्व में सिखों का उत्थान उस तारे के समान था जो आकाश में एक बार चमक कर तुरन्त छिप जाता है। उसकी मृत्यु के अवसर पर सिख अपनी शक्ति की चरम

1 "But in almost all cases, as Bismarck has put it, a political alliance means a rider and a horse. In this Anglo-Sikh alliance, the British Government was the rider and Ranjit Singh was the horse...In his relations with the British government Ranjit Singh is seen at his worst. He never grandly dared. He was all hesitancy and indecision." —*N. K. Sinha.*

2 "In politics, as in war, time is not on the side of defensive."—*R. C. Majumdar.*

सीमा पर थे, और जैसा कि जे. एच. गोर्डन ने लिखा है : "उसके पश्चात् वह फूट गया जिससे तेज परन्तु विलुप्त होने वाली चिनगारियाँ निकलीं।"[1] रणजीतसिंह की मृत्यु के दस वर्ष पश्चात् ही सिख-राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

रणजीतसिंह की मृत्यु होते ही सिखों में अशान्ति फैल गयी और आन्तरिक झगड़े होने लगे जिससे अंग्रेज उन्हें सरलतापूर्वक पराजित कर सके। रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसका अयोग्य पुत्र खड्गसिंह महाराजा बना। लेकिन राज्य की शक्ति उसके पुत्र नौनिहालसिंह के हाथों में थी। खड्गसिंह की मृत्यु 5 नवम्बर, 1840 ई. को हो गयी। उसी दिन एक दुर्घटना में नौनिहालसिंह की भी मृत्यु हो गयी। यद्यपि इस बात का कोई प्रमाण नहीं था तब भी विश्वास किया जाता था कि नौनिहालसिंह की मृत्यु एक षड्यन्त्र के कारण हुई थी। नौनिहालसिंह की पत्नी माई चाँद कौर ने गद्दी पर अपने होने वाले बच्चे के अधिकार की माँग की। उसे सिंघनवालिया सरदारों का समर्थन प्राप्त था। उसका विरोध रणजीतसिंह के एक अन्य पुत्र शेरसिंह ने किया। दोनों पक्षों ने अंग्रेजों से सहायता माँगी। चाँद कौर अंग्रेजों की सहायता के बदले में उन्हें पंजाब की आय का एक-चौथाई भाग या कश्मीर का सूबा तक देने को तैयार थी। अन्त में, पर्याप्त झगड़े के पश्चात् 1841 ई. में सेना की सहायता से शेरसिंह महाराजा बन गया। चाँद कौर को एक जागीर दे दी गयी लेकिन उसके समर्थक सिंघनवालिया सरदार शरण के लिए अंग्रेजों के पास भाग गये। शेरसिंह का दो वर्ष का शासन दुर्बलता और विलासिता का था और अन्त में 1843 ई. में शेरसिंह, उसका लड़का प्रतापसिंह और वजीर ध्यानसिंह—तीनों ही सिंघनवालिया सरदारों द्वारा कत्ल कर दिये गये। सिंघनवालिया सरदार अंग्रेजों के आश्वासन पर पंजाब में वापस गये थे और यह सन्देह किया गया है कि अंग्रेज भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित थे। इस बार भी हीरासिंह ने सेना की सहायता से महारानी जिन्दा कौर उर्फ रानी झिण्डन के पुत्र दलीपसिंह को गद्दी पर बैठाया। परन्तु रानी झिण्डन का चरित्र सन्देहपूर्ण था। वह अपने अल्पायु बच्चों की संरक्षक थी। उसका हीरासिंह से झगड़ा हो गया और अन्त में 1844 ई. में हीरासिंह को कत्ल कर दिया गया। अब शासन-सत्ता रानी झिण्डन के भाई और राज्य के वजीर जवाहरसिंह व रानी के प्रेमी लालसिंह के हाथों में आ गयी। परन्तु इनमें से किसी में भी शासन करने की योग्यता न थी और पंजाब में आन्तरिक कलह, फूट, हत्याएँ और प्रशासनिक अव्यवस्था फैल गयी। ऐसी स्थिति में सिख-सेना का प्रभुत्व बढ़ता गया। शेरसिंह से लेकर दलीपसिंह तक सभी महाराजाओं, वजीरों और सरदारों को अपनी शक्ति स्थापित रखने के लिए सेना की सहायता लेनी पड़ी थी। इससे भी सेना की शक्ति में वृद्धि हुई। सेना ने स्वयं अपनी एक पंचायत "खालसा-पंचायत" बना ली और उसी के द्वारा अपने निर्णय लेने आरम्भ किये। यह स्पष्ट हो गया कि राज्य की वास्तविक सत्ता अब महाराजा में नहीं बल्कि सेना की खालसा-पंचायत में निहित थी। सेना का शासन में इतना अधिक प्रभाव न तो नागरिकों के लिए अच्छा था और न ही राज्य के लिए। रानी झिण्डन एवं दरबार के अन्य सरदार इसे पसन्द न कर सके। लेकिन सेना की सत्ता को समाप्त करने का एकमात्र मार्ग यही था कि अंग्रेजों से युद्ध कराकर उसकी शक्ति समाप्त करा दी जाय। यह विश्वास किया जाता है कि सेना की शक्ति को समाप्त करने के उद्देश्य से स्वयं रानी झिण्डन, लालसिंह, तेजसिंह और गुलाबसिंह सदृश राज्य के बड़े-बड़े सरदारों ने सेना को अंग्रेजों से युद्ध के लिए उकसाया।

इस प्रकार 1845 ई. के अन्त तक पंजाब की स्थिति ऐसी बन गयी जिसमें एक ऐसा अल्पवयस्क महाराजा था जिसकी संरक्षक एक विलासप्रिय रानी थी, जिसके सरदारों में

---

1 "Then it exploded disappearing in fierce but fading flames." —J. H. Gordon.

परस्पर झगड़ा था, जिसके डोगरा और सिख सरदारों में मतभेद थे और जिसका प्रत्येक सरदार अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए हत्या व षड्यन्त्र आदि जैसे गलत तरीकों को अपना रहा था। ऐसी स्थिति में सेना के प्रभुत्व में वृद्धि हुई तथा राज्य के शासक सेना की शक्ति को स्वयं न दबा सकने के कारण उसे किसी भी दूसरी और बाहरी शक्ति से लड़ाने के लिए उत्सुक हो उठे और इसके लिए अपने शत्रु अंग्रेजों से भी हाथ मिलाने को तैयार हो गये।

ऐसी स्थिति में अंग्रेजों को पंजाब में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। अंग्रेज पंजाब की ऐसी स्थिति को देखकर चुपचाप न बैठे। उन्हें आशा हो गयी कि अब उनके लिए पंजाब-विजय सरल हो जायेगी और वे इस अवसर से पूरा लाभ उठाने के लिए तत्पर हो गये। प्रथम अफगान-युद्ध में प्रारम्भिक सफलता प्राप्त करते ही अंग्रेज अपने मस्तिष्क में पंजाब को जीतने की योजनाएँ बनाने लगे थे। उसी समय यह विचार किया गया था कि पेशावर अफगानिस्तान को दे दिया जाये क्योंकि अफगानिस्तान उस समय अंग्रेजों के हाथों में था। अंग्रेजों की पंजाब को जीतने की इच्छा मिसेज हेनरी लॉरेन्स के पत्रों से स्पष्ट होती है। 1841 ई. में उसने लिखा था, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगले जाड़ों के मौसम में बहुत समय से रुका हुआ पंजाब को जीतने का प्रश्न हल हो जायेगा।"[1] इस प्रकार यह निश्चय है कि रणजीतसिंह की मृत्यु के पश्चात् अंग्रेज पंजाब को जीतने के लिए उत्सुक हो उठे थे और उन्होंने पंजाब के राजनीतिक षड्यन्त्रों में भाग लेना शुरू कर दिया था। अफगान-युद्ध में जो हानि बाद में अंग्रेजों को हुई उसके कारण उसी समय वे पंजाब को जीतने के लिए कोई कदम न उठा सके। परन्तु अंग्रेजों ने गुलाबसिंह, लालसिंह, ध्यानसिंह, तेजसिंह आदि जैसे बड़े सरदारों से मिलकर षड्यन्त्र करने अवश्य आरम्भ कर दिये थे।

एक तरफ अंग्रेज पंजाब के सिख और डोगरा सरदारों में फूट डाल रहे थे और उन्हें विभिन्न लालच देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कर रहे थे तथा दूसरी तरफ वे पंजाब पर आक्रमण करने के लिए सैनिक तैयारियाँ कर रहे थे। लॉर्ड ऐलनबरो ने गवर्नर-जनरल के पद पर नामजद होते ही पंजाब पर आक्रमण करने की योजना बनानी आरम्भ कर दी थी। 1841 ई. में ही उसने "ड्यूक ऑफ वैलिंगटन से उन सिद्धान्तों के बारे में राय पूछी थी जिनके आधार पर इस देश पर आक्रमण किया जाय।"[2] उसी के परामर्श पर ऐलनबरो ने सतलज नदी पर एक पुल बनाने और सैनिकों को नदी पार कराने के लिए नावें तैयार करने का निर्णय लिया था। इसी आशय से ऐलनबरो ने सिन्ध को विजय किया, सिन्धिया के साथ एक नवीन सन्धि की, 1843 ई. में कैथल के सिख-राज्य पर अधिकार किया और करनाल एवं फीरोजपुर में अंग्रेजी सेनाओं को एकत्र करना आरम्भ कर दिया। जिस समय ऐलनबरो ने भारत छोड़ा, पंजाब की सीमा पर 18 हजार मैनिक और 66 तोपें नियत थीं। उसके उत्तराधिकारी लॉर्ड हार्डिंज ने उसकी नीति को आगे बढ़ाया और जिस समय प्रथम सिख-युद्ध आरम्भ हुआ उस समय पंजाब की सीमा पर 40 हजार अंग्रेज सैनिक और 94 तोपें थीं। सतलज नदी को पार करने के लिए बम्बई में नावें तैयार की गयी थीं जिन्हें लॉर्ड हार्डिंज ने आते ही फीरोजपुर मँगा लिया था। सिखों के कट्टर शत्रु मेजर ब्रोडफुट (Major Broadfoot) को राजनीतिक प्रतिनिधि बनाकर भी इसी कारण पंजाब भेजा गया जिससे वह सिखों में फूट डाले और ऐसी परिस्थितियाँ बनाये जिससे सिख स्वयं युद्ध को तैयार हो जायें। इसमें सन्देह नहीं कि

1 "There seems no doubt that next cold weather will decide that long suspended question of occupying the Punjab." —*Mrs. Henry Lawrence.*

2 "Asked opinions as to general principles upon which a campaign against that country should be conducted." —*Letter of Lord Ellenborough.*

तेजसिंह और गुलाबसिंह को सेना लेकर आगे बढ़ने के लिए ब्रोडफुट ने ही उकसाया था जिससे युद्ध का कारण उपस्थित हुआ। रॉबर्ट एन. कस्ट ने ब्रोडफुट के मुर्दा शरीर को देखकर कहा था : "जिस युद्ध को हम आरम्भ कर रहे हैं, उसको जन्म देने वाला और उसका मुख्य कारण वह पड़ा हुआ है।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अंग्रेज युद्ध के लिए उत्सुक थे। वे अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए पंजाब को जीतना चाहते थे। परन्तु वे बहुत समय तक युद्ध के लिए कोई बहाना न पा सके। उनकी सैनिक तैयारियाँ पूरी थीं तथा लुधियाना, अम्बाला और फीरोजपुर में उनकी सेना और रसद तैयार थी। सिखों को युद्ध के लिए भड़काने हेतु उन्होंने सतलज के पूर्व के लाहौर-दरबार के राज्यों पर अधिकार कर लिया, छोटे-छोटे सीमावर्ती झगड़ों को बढ़ावा दिया, अपनी युद्ध की तैयारियों को छिपाने का प्रयत्न नहीं किया और सिख-अधिकारियों का अपमान किया। परन्तु फिर भी सिख-दरबार ने अंग्रेजों से अच्छे सम्बन्ध रखे। परन्तु अन्त में मेजर ब्रोडफुट के प्रयास सफल हुए। तेजसिंह और गुलाबसिंह उसके मित्र थे। उसके कहने से तेजसिंह के नेतृत्व में सिख-सेना सतलज नदी के किनारे आ गयी। सिखों को अंग्रेजों की तैयारियों से यह भय हो गया था कि अंग्रेज पंजाब पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे हैं। अतएव खालसा-सेना अंग्रेजों से मिले हुए अपने सरदारों के कहने में आकर अपनी रक्षा के लिए सीमा पर पहुँच गयी। लेकिन उस समय भी उसने यही घोषणा की कि जब तक अंग्रेज लुधियाना और फीरोजपुर से आगे नहीं बढ़ेंगे तब तक वे भी आगे नहीं बढ़ेंगे। अंग्रेजों ने इस अवसर को छोड़ना उचित नहीं समझा तथा अपनी सेनाओं को मेरठ और अम्बाला से आगे बढ़ने के आदेश दे दिये। 13 दिसम्बर, 1845 ई. को खालसा-सेना ने सतलज नदी को पार किया और उस भूमि पर अपने कदम रखे जो सिख-राज्य की ही थी। परन्तु अंग्रेजों के लिए केवल इतना ही बहाना पर्याप्त था और लॉर्ड हार्डिंज ने युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार प्रथम सिख-युद्ध आरम्भ हुआ।

अगर परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध का मूल कारण सिख-सेना का आक्रमण न था बल्कि एक तरफ सिख सरदारों का स्वार्थ और दूसरी तरफ अंग्रेजों की साम्राज्य-विस्तार की लालसा थी। अंग्रेजों के आक्रमण की पूरी सम्भावना होते हुए भी सिख-सेना या सिख-दरबार ने अंग्रेजी सीमा पर आक्रमण नहीं किया था। सतलज नदी को पार करके भी वे अपनी ही भूमि और सीमाओं में प्रविष्ट हुई थीं। इस कारण अंग्रेजों को युद्ध घोषित करने का कोई कारण न था। परन्तु अंग्रेज साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध चाहते थे, इस कारण सिख-सेना का सतलज नदी को पार करना ही युद्ध का बहाना बना लिया गया। स्वयं लॉर्ड हार्डिंज को युद्ध के कारण के बारे में शंका थी, जैसा कि उसने रॉबर्ट एन. कस्ट को लिखा : "क्या इंगलैण्ड के व्यक्ति इसे (सिखों का सतलज पार करना) वास्तव में हमारी सीमाओं पर आक्रमण समझेंगे और युद्ध का एक कारण स्वीकार करेंगे।"[2] कस्ट ने स्वयं इस युद्ध को "अंग्रेजों द्वारा पंजाब के स्वतन्त्र राज्य पर पहला आक्रमण"[3] बताया। कैम्पबैल (Campbell) ने भी लिखा है : "इतिहास के पन्नों में लेखबद्ध है कि सिख-सेना ने हम पर

---

1 "There lay he, the prime mover by many, considered the cause, of this war now commencing." —*Robert N. Cust.*

2 "Will the people of England consider this an actual invasion of our frontier and a justification of war ?" —*Lord Hardinge to Robert N. Cust.*

3 "The First British invasion of the independent kingdom of the Punjab." —*Robert N. Cust.*

आक्रमण करने के लिए अंग्रेजी सीमाओं में प्रवेश किया परन्तु अधिकांश व्यक्तियों को यह जानकर अत्यधिक आश्चर्य होगा कि उन्होंने ऐसा कोई कार्य नहीं किया। उन्होंने हमारी बाहर की छावनियों पर आक्रमण नहीं किया और न वे हमारी सीमा में आये। वे नदी पार करके केवल अपनी ही सीमा में आ गये थे।"[1]

सिखों और अंग्रेजों का पहला युद्ध मुदकी (Mudki) नामक स्थान पर 18 दिसम्बर, 1845 ई. को हुआ। इस युद्ध में सिखों की पराजय हुई। 21 दिसम्बर को फीरोजशाह नामक स्थान पर दूसरा युद्ध हुआ और इसमें भी अंग्रेजों की जीत हुई। 21 जनवरी, 1846 ई. को रनजोरसिंह मजीठिया के नेतृत्व में सिखों ने अंग्रेजों को बुदवाल (Buddwal) नामक स्थान पर परास्त किया। 28 जनवरी को सिखों की अलीवाल (Aliwal) नामक स्थान पर पराजय हुई। अन्तिम युद्ध 10 फरवरी, 1846 ई. को सोबराँव (Sobraon) नामक स्थान पर हुआ और उसमें सिखों की पराजय हुई। सोबराँव के युद्ध ने अंग्रेजों के सम्मान की रक्षा कर ली। 13 फरवरी को अंग्रेजों ने सतलज को पार किया और 20 फरवरी को लाहौर पर अधिकार कर लिया।

सिखों की पराजय के कारण—सिख सेना ने प्रत्येक स्थान पर अंग्रेजों का साहस और बहादुरी से मुकाबला किया। अंग्रेज कोई भी युद्ध सरलता से नहीं जीत सके थे बल्कि प्रत्येक युद्ध में उनकी स्थिति गम्भीर हो गयी थी। सोबराँव के युद्ध के विषय में मि. व्हीलर ने लिखा है : "भारत के इतिहास में अंग्रेजों के लिए सोबराँव का युद्ध सबसे कठिन युद्ध सिद्ध हुआ। अपने गद्दार सेनापति तेजसिंह के विरुद्ध सिख-सैनिक खालसा के सम्मान की रक्षा के लिए युद्ध जीतने अथवा युद्ध में मृत्यु प्राप्त करने के लिए तत्पर थे।"[2] स्मिथ ने सिखों को "भारत में अंग्रेजों का मुकाबला करने वाले शत्रुओं में सबसे बहादुर और दृढ़"[3] बताया है।

इस प्रकार सिखों की पराजय का कारण उनके सैनिकों की दुर्बलता न थी। उनकी पराजय का मूल कारण उनके सरदारों का स्वार्थ और गद्दारी थी। उनके बड़े-बड़े सेनापति अंग्रेजों से मिले हुए थे, उन्हें सूचना भेजते थे, ठीक समय से युद्ध नहीं करते थे और कई अवसरों पर तो वे अपनी सेना को छोड़कर भाग गये थे। उनका मूल आशय सिख-सेना की पराजय देखना था। सेना की शक्ति का इस प्रकार विध्वंस कराकर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति हेतु पंजाब में वे अपनी निर्विवाद सत्ता स्थापित करना चाहते थे और उनमें से कई को अंग्रेजों ने विभिन्न प्रकार के लालच दे रखे थे। इस कारण अधिकांश सिख सरदारों ने अपने राज्य और अपनी सेना के साथ गद्दारी की।

31 दिसम्बर, 1845 ई. को सिख-सेना ने सतलज नदी को पार किया था और, सम्भवतः, उसका उद्देश्य अचानक ही फीरोजपुर पर आक्रमण करने का था। परन्तु यह उद्देश्य लालसिंह की गद्दारी के कारण पूरा न हो सका। लालसिंह ने फीरोजपुर के अंग्रेज प्रतिनिधि

---

1 "It is recorded in the annals of history that the Sikh army invaded British territory in pursuance of a determination to attack us. And most people will be very much surprised to hear that they did nothing of the kind, they made no attack on our outlying cantonments nor set foot in our territory. What they did was to cross the river and to entrench themselves in their own territory."
—*Campbell's Memoirs.*

2 "Sobraon proved to be the hardest fought battle in the history of British India. The Sikh soldiers unlike their treacherous commander Tej Singh were prepared to conquer or die for the glory of the Khalsa." —*Mr. J. Wheeler.*

3 "The bravest and steadiest enemy ever encountered in India by a British army."
—*V. A. Smith.*

निकलसन को लिखा था : "मैंने सिख-सेना के साथ सतलज को पार कर लिया है। तुम अंग्रेजों से मेरी मित्रता को जानते हो । मुझे बताओ कि अब मुझे क्या करना चाहिए।"[1] निकलसन ने उत्तर दिया : "फीरोजपुर पर आक्रमण मत करो। जितने दिन सम्भव हो, रुको, और फिर गवर्नर-जनरल की तरफ बढ़ो।"[2] लालसिंह ने ऐसा ही किया और फीरोजपुर बच गया। लुडलो (Ludlow) ने लिखा था : "यदि उसने (सिखों ने) आक्रमण किया होता तो हमारी 8,000 सेना नष्ट हो गयी होती और 60 हजार विजयी सैनिक (सिख) सर हार्डिंज पर टूट पड़ते जिसके पास केवल 8,000 सैनिक थे।"[3] मुदकी में युद्ध आरम्भ होते ही लालसिंह अपनी सेना छोड़कर भाग गया था। फीरोजपुर के युद्ध में भी पहले दिन अंग्रेजों को भारी क्षति उठानी पड़ी थी। अगर उसी रात सिखों ने आक्रमण कर दिया होता तो अंग्रेजों के पैर उखड़ जाते। परन्तु लालसिंह रात को चुपचाप अपने सैनिकों और तोपों को लेकर चला गया। तेजसिंह भी सुबह अंग्रेजों पर आक्रमण करने की बजाय अपनी सेना को लेकर भाग गया। इस प्रकार लालसिंह और तेजसिंह की ग़द्दारी के कारण सिख फीरोजपुर के प्रायः जीते हुए युद्ध में परास्त हो गये। इसके पश्चात् भी ये सरदार एक माह तक इसलिए चुपचाप रहे ताकि अंग्रेजों को रसद और सहायता प्राप्त हो जाये। 1846 ई. में गुलाबसिंह ने अंग्रेजों से एक गुप्त समझौता किया कि सिख-सेना की पराजय के उपरान्त सिख-दरबार सेना से अपना सम्बन्ध तोड़ देगा और अंग्रेज बिना किसी विरोध के सतलज पार कर सकेंगे। अंग्रेजों ने वायदा किया कि वे सिखों के राज्य में कोई हस्तक्षेप न करेंगे। इस आधार पर लालसिंह ने सिख-सेना का प्रत्येक गतिविधि का समाचार अंग्रेजों को प्रेषित किया और सिख-सेना को रसद और सहायंता भेजना बन्द कर दिया। सोबराँव के युद्ध में भी लालसिंह और तेजसिंह भाग खड़े हुए थे। यही नहीं बल्कि उन्होंने सतलज के पुल को भी तोड़ दिया जिससे पराजित सिख-सेना भागकर वापस न आ सके और पूर्ण रूप से नष्ट हो जाये। ऐसी परिस्थितियों में अपने सरदारों की गद्दारी के कारण ही प्रत्येक स्थान पर सिख-सेना की पराजय हुई।

लाहौर की सन्धि—1 मार्च, 1846 ई. को लाहौर की सन्धि हुई, जिसके अनुसार—

1. महाराजा दलीपसिंह ने सतलज के दक्षिण के सभी भू-भागों से अपना अधिकार हटा लिया।

2. महाराजा ने व्यास और सतलज नदी के बीच की भूमि के सभी किलों, पहाड़ों और भू-भाग से अपना अधिकार हटा लिया।

3. युद्ध-क्षति के रूप में अंग्रेजों ने डेढ़ करोड़ रुपये की माँग की जिसको महाराजा नहीं दे सकता था। इस कारण अंग्रेजों ने कश्मीर और हजारा के सूबे भी महाराजा से छीन लिये। एक करोड़ रुपये में कश्मीर गुलाबसिंह को बेच दिया गया और 50 लाख रुपये को महाराजा ने शीघ्र चुकाने का वायदा किया।

4. महाराजा की सेना की संख्या 12,000 घुड़सवार और 25 बटालियन पैदल निश्चित कर दी गयी।

---

1 "I have crossed Satlaj with the Sikh army. You know my friendship for British. Tell me what to do." —*Letter of Lal Singh to Nicholson.*

2 "Do not attack Firozpur. Halt as many days as you can and then march towards the Governor-General." —*Nicholson.*

3 "Had he attacked, our garrison of 8,000 men would have been destroyed and the victorious 60,000 would have fallen on Sir Hardinge, who had then but 8,000." —*Ludlow.*

5. सिखों द्वारा युद्ध में प्रयुक्त सभी तोपें अंग्रेजों को दे दी गयीं।

6. अंग्रेज सैनिकों को पंजाब की सीमाओं में से गुजरने की आज्ञा दे दी गयी।

7. महाराजा ने किसी भी यूरोपियन या अमेरिकन को अंग्रेजों की स्वीकृति के बिना अपने यहाँ नौकरी न देने का वायदा किया।

8. दलीपसिंह को सिखों का राजा, रानी झिण्डन को उसका संरक्षक और लालसिंह को मुख्य मन्त्री स्वीकार किया गया।

9. अंग्रेजों ने सिख-राज्य के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया।

10. दलीपसिंह की रक्षा के लिए एक अंग्रेजी सेना पंजाब में रखी गयी जो 1846 ई. के अन्त तक वहीं रही।

सन्धि की शर्तों से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम युद्ध के पश्चात् ही सिखों की शक्ति अत्यधिक दुर्बल कर दी गयी थी। सिख-राज्य को सीमित करके, सेना की संख्या को कम करके, गद्दार सिख-सरदारों को उच्च पद देकर और अंग्रेजी सेना को पंजाब में छोड़कर अंग्रेजों ने सिखों को अपने विरोध के योग्य नहीं छोड़ा था।

इसके पश्चात् भी अंग्रेजों को सिखों को दुर्बल करने का अवसर मिला। लालसिंह ने गुलाबसिंह के विरुद्ध कश्मीर में विद्रोह कर दिया। विद्रोह दबा दिया गया और लालसिंह को मन्त्री पद से हटा दिया गया। उसी अवसर पर 16 दिसम्बर, 1846 ई. को अंग्रेजों ने सिख-दरबार से 'भैरोंवाल की सन्धि' की जिसके द्वारा शासन की देखभाल करने के लिए एक अंग्रेज रेजीडेण्ट के संयोजकत्व में आठ सरदारों की एक संरक्षक-परिषद् स्थापित की गयी। इस प्रकार रानी झिण्डन की संरक्षता समाप्त हो गयी। लाहौर-दरबार ने अपने यहाँ एक स्थायी अंग्रेजी सेना रखना और उसके व्यय के लिए 20 लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया। रानी झिण्डन को डेढ़ लाख रुपये प्रति वर्ष की पेंशन दे दी गयी।

इस नवीन सन्धि से पंजाब का शासन एक प्रकार से अंग्रेज रेजीडेण्ट के अधिकार में चला गया क्योंकि संरक्षक-परिषद् के सदस्य अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली मात्र थे। पंजाब में स्थायी रूप से अंग्रेजी सेना के रहने की व्यवस्था से यह भी स्पष्ट हो गया कि पंजाब में अब अंग्रेजों के विरुद्ध कोई विद्रोह अथवा षड्यन्त्र सफल नहीं हो सकेगा। इस प्रकार देखा जाय तो प्रथम सिख-युद्ध ही पंजाब के भाग्य का निर्णय कर चुका था। यद्यपि लॉर्ड हार्डिंज ने राजनीतिक कठिनाइयों के कारण उसे अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया था, परन्तु इस कार्य में अधिक देर न थी। लॉर्ड डलहौजी ने आते ही पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने की योजना बना ली।

द्वितीय सिख-युद्ध (1848-49 ई.)

लॉर्ड हार्डिंज ने पंजाब में जो व्यवस्था की थी वह स्थायी नहीं हो सकती थी। उससे न तो सिख सन्तुष्ट हुए थे और न ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नीति पूर्ण हुई थी। इस कारण द्वितीय सिख-युद्ध के कारण शीघ्र उपस्थित हो गये। अंग्रेजों ने जो सुधार पंजाब में किये, उससे सिख असन्तुष्ट थे। मुसलमानों को दी गयी विभिन्न सुविधाएँ सिखों की धार्मिक भावना के विरोध में थीं। जो सैनिक सेना से निकाल दिये गये थे, वे असन्तुष्ट थे क्योंकि उनकी जीविका का साधन समाप्त कर दिया गया था। सिखों का यह विश्वास था कि उनकी पराजय का कारण उनके सरदारों की गद्दारी थी। इस कारण उन्हें भरोसा था कि पुनः युद्ध होने पर वे अंग्रेजों को अवश्य परास्त कर देंगे। आन्तरिक शासन में अंग्रेज रेजीडेण्ट के हस्तक्षेप

को सिख पसन्द नहीं करते थे। रानी झिण्डन का जो अपमान अंग्रेज़ करते थे, उससे भी सिख असन्तुष्ट थे। इस प्रकार सिखों में अंग्रेजों के विरुद्ध तीव्र असन्तोष था।

उसी अवसर पर लॉर्ड डलहौजी गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया। उसका उद्देश्य प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण भारत को अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित करना था। उसे पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने के लिए केवल एक बहाना चाहिए था और वह बहाना उसे मुल्तान के सूबेदार मूलराज के विद्रोह से प्राप्त हो गया।

अपने पिता सावन्तमल की मृत्यु के पश्चात् 1844 ई. में मूलराज मुल्तान का सूबेदार बना। उससे उत्तराधिकार-कर के रूप में 30 लाख रुपये माँगे गये जिसके चुकाने के लिए वह तैयार न था। अन्त में यह निर्णय हुआ कि मूलराज से जंग का जिला सर्वदा के लिए ले लिया जायेगा और उसे लाहौर-दरबार को कर के रूप में 19 लाख के स्थान पर 25 लाख रुपया पहले वर्ष और बाद में 30 लाख रुपया प्रति वर्ष देना होगा। इसके लिए भी मूलराज तैयार न हुआ और उसने सूबेदारी से त्यागपत्र दे दिया। जॉन लॉरेन्स ने, जो उस समय रेजीडेण्ट के पद पर कार्य कर रहा था, उसके त्यागपत्र को स्वीकार नहीं किया परन्तु नवीन रेजीडेण्ट क्यूरी (Currie) ने 1848 ई. में उसके त्यागपत्र को स्वीकार कर लिया। सरदार खानसिंह मान को नवीन सूबेदार बनाकर दो अंग्रेज अफसरों—पी. ए. वान्स एग्नू (P. A. Vans Agnew) और डब्ल्यू. ए. एण्डरसन (W. A. Anderson)—के साथ मुल्तान भेजा गया। 19 अप्रैल, 1848 ई. को मूलराज ने शान्तिपूर्वक मुल्तान का किला खानसिंह को सौंप दिया, परन्तु उसी दिन दोनों अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी गयी। यह सन्देह किया गया कि इन हत्याओं में मूलराज का हाथ था। परन्तु अधिक प्रमाण इस बात के मिलते हैं कि असन्तुष्ट सिख-सैनिकों ने इन अंग्रेजों की हत्या की थी और बाद में मूलराज को अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए विवश किया था। इस प्रकार एक स्थानीय विद्रोह के रूप में मूलराज का विद्रोह आरम्भ हुआ।

अंग्रेजों ने इस विद्रोह को शीघ्र दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने बहाना किया कि इस विद्रोह को शीघ्र दबाने का उत्तरदायित्व लाहौर-दरबार का था। परन्तु वास्तव में अंग्रेज चाहते थे कि यह बिद्रोह पंजाब के अन्य भागों में भी फैल जाय जिससे उन्हें सम्पूर्ण पंजाब को जीतने का बहाना मिल सके। आगे ऐसा ही हुआ। जब तक राजा शेरसिंह को लाहौर-दरबार की ओर से मुल्तान के विद्रोह को दबाने के लिए भेजा गया तब तक विद्रोह बन्नू, पेशावर और पंजाब के उत्तर-पश्चिमी भागों में फैल चुका था। विद्रोह के फैलने का एक मुख्य कारण यह भी था कि अंग्रेजों ने रानी झिण्डन पर यह आरोप लगाया कि वह मुल्तान के विद्रोह के लिए उत्तरदायी थी और इस आधार पर रानी को पंजाब से बाहर भेज दिया गया। इसमें सन्देह नहीं कि पंजाब के विद्रोहियों की आशाएँ रानी पर केन्द्रित थीं, जैसाकि क्यूरी ने अपने एक पत्र में लिखा : "यह सत्य है कि इस अवसर पर दीवान मूलराज, सम्पूर्ण सिख-सेना और सैनिक जनता की आशाएँ रानी को विद्रोह अथवा असन्तोष का केन्द्र-बिन्दु बनाने में लगी हुई थीं।"[1] परन्तु यह भी सत्य है कि विद्रोह में उस समय तक रानी का कोई हाथ न था, जैसाकि स्वयं क्यूरी के पत्र से ही स्पष्ट होता है। वह लिखता है : "यद्यपि यह सन्देह किया जा सकता है कि मुल्तान के विद्रोह में महारानी का हाथ था, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।"[2] वास्तव में

1 "It is certain that this moment, the eyes of Diwan Mulraj, of the whole Sikh army and military population, are directed to the Maharani as the rallying point of their rebellion or disaffection." —Currie.

2 "There is no proof though there is some ground for suspicion, that the Maharani was the instigator of the late violence in Multan." —Currie.

अंग्रेजों ने रानी को दो उद्देश्यों से पंजाब के बाहर भेजा। प्रथम, क्योंकि रानी झिण्डन ही सम्पूर्ण पंजाब के विद्रोहियों का केन्द्र-बिन्दु हो सकती थी, अतः इस खतरे को टालने हेतु उसे पंजाब से बाहर भेजना राजनीतिक आधार पर उचित था। द्वितीय, अंग्रेज जानबूझकर रानी को अपमानित करके सिखों की भावनाओं को चोट पहुँचाना चाहते थे जिससे विद्रोह अधिक तेजी से फैले।

विद्रोह के फैलने का दूसरा कारण अंग्रेजों का हजारा के सूबेदार और राजा शेरसिंह के पिता छत्तरसिंह का अपमान करना था। ये दोनों सरदार पंजाब में पर्याप्त लोकप्रिय थे। छत्तरसिंह की पुत्री का विवाह महाराजा दलीपसिंह से निश्चित हो चुका था परन्तु निरन्तर प्रयत्न करते रहने पर भी अंग्रेजों के विरोध के कारण यह विवाह उस समय तक सम्पन्न नहीं हो सका था। फिर भी मूलराज के विद्रोह के समय तक ये दोनों सरदार अंग्रेजों के प्रति वफादार थे। परन्तु हजारा के रेजीडेण्ट ऐबट (Abott) ने न केवल हजारा के मुसलमानों को छत्तरसिंह के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रोत्साहित किया अपितु उसके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करके उसका निरन्तर अपमान किया। 23 अगस्त, 1848 ई. को छत्तरसिंह ने अपने पुत्र शेरसिंह को, जो उस समय मुल्तान के विद्रोह को दबाने के लिए गया था, एक पत्र लिखा जिसमें उसने अंग्रेजों के दुर्व्यवहार की निन्दा करते हुए विद्रोह करने की इच्छा प्रकट की। 14 सितम्बर, 1848 ई. को अपने पिता के अपमान के कारण राजा शेरसिंह विद्रोह में सम्मिलित हुआ। सिखों ने अफगानों को पेशावर देकर उनकी भी सैनिक सहायता प्राप्त कर ली। अब मूलराज का स्थानीय विद्रोह पंजाब के विद्रोह में परिणत हो गया जैसा कि अंग्रेज स्वयं चाहते थे।

मूलराज के विद्रोह करने के पश्चात् भी अंग्रेजों के विरुद्ध किसी संगठित विद्रोह की भावना पंजाब में न थी, इसके अनेक प्रमाण हैं। लाहौर-दरबार अन्त तक अंग्रेजों के प्रति वफादार रहा था। 15 अगस्त, 1848 ई. तक रेजीडेण्ट ने अंग्रेज सेनापति को लिखा था : "अभी तक कहीं भी, किसी भी दल में या लाहौर-दरबार से सम्बन्धित किसी भी व्यक्ति में षड्यन्त्र या सरदारों के संगठन का कोई चिह्न नहीं है, जैसा कि कैप्टेन ऐबट का विश्वास है।"[1] इस प्रकार, यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि सिखों ने जानबूझकर अंग्रेजी सत्ता को युद्ध की चुनौती दी थी, जैसाकि लॉर्ड डलहौजी ने कहा था। लॉर्ड डलहौजी के अनुसार, "बिना किसी पूर्व-सूचना अथवा बिना किसी कारण के सिख-राष्ट्र ने युद्ध को आमन्त्रित किया है और मैं अपनी ओर से आप सब महानुभावों को विश्वास दिलाता हूँ कि इसका प्रतिशोध लिया जायगा।"[2] यह वक्तव्य उस परिस्थिति में दिया गया था जबकि लाहौर-दरबार अंग्रेजों के प्रति वफादार था और अंग्रेजों से हुई सन्धि के अनुसार उन्हीं की सलाह से शासन कर रहा था। फिर समझ में नहीं आता कि किस प्रकार डलहौजी ने यह मान लिया और घोषणा की कि सिख-राष्ट्र ने अंग्रेजों को युद्ध की चुनौती दी थी। अंग्रेज सेनापति लॉर्ड गफ जब पंजाब पहुँचा तो उसे यह तक ज्ञात नहीं था कि उसे लाहौर-दरबार के विरुद्ध या उसके पक्ष में युद्ध करने के लिए भेजा गया था। उसने स्वयं लिखा था : "मैं नहीं जानता कि हम शान्ति की स्थिति में

---

1 "There is no sign, hitherto, anywhere, of the conspiracy or combination among the chiefs or any parties, at Lahore, as believed by Captain Abott, or of any complicity on the part of any one connected with the Durbar in the present outbreaks."
—Resident to the Commander-in-Chief.

2 "Unwarned by precedents, uninfluenced by example, the Sikh nation has called for war, and on my word, Sir, they shall have it with a vengeance."
—Lord Dalhousie.

हैं या युद्ध की अथवा हमें किससे युद्ध करना है।"[1] लाहौर पहुँचने पर ही उसे ज्ञात हुआ कि उसे लाहौर-दरबार के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भेजा गया है। इससे यह स्पष्ट है कि डलहौजी और उसके कुछ विश्वस्त व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी को भी यह ज्ञात न था कि अंग्रेज लाहौर-दरबार से युद्ध करना चाहते थे। इसीलिए विद्रोह को फैलने का अवसर दिया गया। इसी कारण महाराजा दलीपसिंह को भी शत्रु-पक्ष का माना गया जबकि वास्तव में वह अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ भी करने की स्थिति में न था। लॉर्ड डलहौजी को पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का बहाना चाहिए था। लाहौर-दरबार के शत्रु बनने से ही यह बहाना मिल सकता था। परन्तु जब यह सम्भव न हुआ तो लाहौर-दरबार को जबर्दस्ती शत्रु माना गया और इसी आधार पर अंग्रेजों ने पंजाब पर अधिकार किया।

22 नवम्बर, 1848 ई. को रामनगर का युद्ध हुआ परन्तु उसमें कोई निर्णय न हो सका। 13 जनवरी, 1849 ई. को चिलियानवाला का भीषण युद्ध हुआ। दोनों पक्षों की बहुत हानि हुई परन्तु निर्णय इस युद्ध में भी नहीं हुआ। 22 जनवरी को अंग्रेजों ने मुल्तान को जीत लिया और मूलराज ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस बीच में शेरसिंह और छत्तरसिंह की सेनाएँ मिल गयी थीं तथा लॉर्ड गफ को मुल्तान की अंग्रेजी सेना की सहायता प्राप्त हो गयी थी। अन्तिम युद्ध चिनाब नदी के किनारे गुजरात नामक स्थान पर हुआ जिसमें सिख बुरी तरह पराजित हुए और अंग्रेजों ने 15 मील तक उनका पीछा किया। 12 मार्च, 1849 ई. को शेरसिंह, छत्तरसिंह तथा अन्य सभी सिख सरदारों ने आत्मसमर्पण कर दिया और अपने शस्त्र डाल दिये। एक वृद्ध सिख सैनिक ने समर्पण किये हुए सिख शस्त्रों के सामने हाथ जोड़कर कहा : "आज रणजीतसिंह की मृत्यु हो गयी।"[2]

29 मार्च, 1849 ई. को डलहौजी ने स्वयं की जिम्मेदारी पर पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया। इसके लिए उसने डायरेक्टरों की आज्ञा की भी प्रतीक्षा नहीं की। उसने घोषणा की : "पंजाब का राज्य समाप्त हो गया है और अब तथा अब से आगे महाराजा दलीपसिंह का सम्पूर्ण राज्य अंग्रेजों के राज्य का एक भाग है।"[3] महाराजा दलीपसिंह को 4 से 5 लाख रुपये के बीच में पेंशन दे दी गयी और उसे उसकी माँ रानी झिण्डन के संरक्षण में इंगलैण्ड भेज दिया गया।

पंजाब को अपने राज्य में सम्मिलित करने से अंग्रेजी राज्य की सीमाएँ भारत की प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओं तक पहुँच गयीं। अब अंग्रेज अफगानिस्तान या उत्तर-पश्चिम में अन्य राज्यों से सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकते थे। सिख भारत में अन्तिम शक्ति थे जिससे अंग्रेजों को खतरा हो सकता था। अब वह खतरा भी समाप्त हो गया।

पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किये जाने के विषय में विभिन्न मत दिये गये हैं। एक मत डलहौजी के पक्ष का है जिसके अनुसार सिखों ने विद्रोह करके ऐसा अवसर प्रदान किया जिससे डलहौजी को पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना पड़ा और यह कार्य सर्वथा आवश्यक था। दूसरा मत उन व्यक्तियों का है जिनका कहना है कि डलहौजी का यह कार्य सर्वथा अन्यायपूर्ण था। लाहौर-दरबार अन्त तक अंग्रेजों के प्रति वफादार था। संरक्षक-

---

1 "I do not know whether we are at peace or war, or who it is we are fighting." —*Lord Gough.*

2 "Today Ranjit Singh is dead." —*An old Sikh Soldier.*

3 "That the kingdom of Punjab is at an end, that all the territories of Maharaja Dalip Singh are now, and henceforth, a portion of the British Empire in India." —*Declaration of Lord Dalhousie.*

परिषद् के आठ सदस्यों में से केवल एक ने इस विद्रोह में भाग लिया था और एक अन्य पर केवल सन्देह किया जाता था। बाकी छह संरक्षक पूर्णतः अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे। इस प्रकार पंजाब की कानूनी सरकार ने, जिसका समर्थन अंग्रेज भी करते थे, अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया था। एक प्रकार से अंग्रेज तो उस कानूनी सरकार की सहायता के लिए पंजाब में गये थे, फिर युद्ध के पश्चात् उन्हें उस कानूनी सरकार को हटाने का कोई नैतिक अधिकार न था। इसके अतिरिक्त, महाराजा दलीपसिंह का तो कोई अपराध हो ही नहीं सकता था क्योंकि वह तो तब बच्चा ही था। फिर अंग्रेजों ने उसका राज्य उससे छीनकर कौन-सा न्यायिक कार्य किया था ? इस विद्रोह को दबाने में पंजाब के 20,000 सैनिकों ने अंग्रेजों की सहायता की थी। फिर इस विद्रोह को पंजाब का विद्रोह कैसे मान सकते हैं जिस आधार पर अंग्रेजों ने पंजाब को अपने राज्य में सम्मिलित किया ? इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पंजाब को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का आधार सिखों का विद्रोह या नैतिक अथवा कोई अन्य न्यायसंगत आधार न था। उसका मूल आधार डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति थी।

लॉर्ड डलहौजी ने पंजाब का शासन करने के लिए तीन कमिश्नरों के एक बोर्ड की स्थापना की। बाद में उसका शासन केवल सर जॉन लॉरेन्स (Sir John Lawrence) के हाथों में रहा। उसने पंजाब में कूटनीति और कठोरता से शासन किया तथा अनेक सुधार भी किये। उसका शासन बहुत सफल रहा और उसकी सफलता इस बात से स्पष्ट है कि आगे आने वाले 1857 ई. के विद्रोह में सिखों ने अंग्रेजों का साथ दिया यद्यपि कुछ समय पहले ही अंग्रेज अन्यायपूर्ण आधार पर उनके राज्य को उनसे छीन चुके थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. रणजीतसिंह के जीवन और चरित्र के बारे में आप क्या जानते हैं ?
2. रणजीतसिंह के शासन-प्रबन्ध की समीक्षा कीजिए।
3. रणजीतसिंह और अंग्रेजों के सम्बन्धों का विश्लेषण कीजिए।
4. प्रथम सिख-युद्ध के कारणों और परिणामों पर प्रकाश डालिए।
5. द्वितीय सिख-युद्ध के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
6. अंग्रेजों द्वारा पंजाब-विजय की समीक्षा कीजिए।

18

सिन्ध की विजय

अठारहवीं सदी के अन्त में सिन्ध जो नाम के लिए अफगानिस्तान-राज्य का भाग था, बलूची जाति के तालपुरी अमीरों के हाथों में था। ये अमीर तीन थे। एक सिन्ध के ऊपरी भाग में जिसकी राजधानी खैरपुर थी, दूसरा सिन्ध के निचले भाग में जिसकी राजधानी हैदराबाद थी और तीसरा जिसका राज्य उपर्युक्त दोनों अमीरों के राज्यों के मध्य में था और जिसकी राजधानी मीरपुर थी। नाम के लिए दो अमीर हैदराबाद के अमीर के अधीन थे परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तीनों अमीर एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र थे। उत्तराधिकार के एक नियम के अनुसार गद्दी अमीर के लड़के को नहीं बल्कि भाई को प्राप्त होती थी। इन अमीरों के राज्य की सीमाएँ कच्छ तक फैली हुई थीं और अंग्रेजी राज्य की सीमाओं से मिलती थीं। इनके राज्य में कराँची का बन्दरगाह, पश्चिम से व्यापार करने का मुख्य स्थान शिकारपुर और गक्खर का किला था जो सिन्धु नदी के जलमार्ग की सुरक्षा करता था।

व्यापारिक दृष्टि से सिन्ध का महत्व अंग्रेज बहुत पहले से जानते थे। 1630 ई. में ही उन्होंने मुगल बादशाह से एक फरमान (आज्ञापत्र) लेकर सिन्ध में अपनी व्यापारिक फैक्टरियाँ बना ली थीं। लेकिन अठारहवीं सदी के अन्त तक सिन्ध का व्यापार बहुत अधिक नहीं हुआ। जब अंग्रेजों को नेपोलियन के आक्रमण का भय हुआ तब अंग्रेजों को सिन्ध की राजनीतिक उपयोगिता ज्ञात हुई और उन्होंने 1801 ई. में सिन्ध के अमीरों से एक सन्धि की जिसके अनुसार अमीरों ने वायदा किया कि वे फ्रान्सीसियों को सिन्ध में नहीं बसने देंगे। 1820 ई. में अमीरों ने वायदा किया कि वे किसी भी यूरोपियन या अमेरिकन को सिन्ध में नहीं बसने देंगे।

उस समय तक महाराजा रणजीतसिंह ने पंजाब को विजय कर लिया था और वह सिन्ध को भी जीतना चाहता था। 1823-25 ई. के समय के बीच में उसने सिन्ध को जीतने की तैयारियाँ पूरी कीं परन्तु अंग्रेजों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे सिन्ध में रणजीतसिंह को हस्तक्षेप नहीं करने देंगे। इस कारण रणजीतसिंह सिन्ध को उस समय और उसके पश्चात् भी न जीत सका। इसके उपरान्त अंग्रेजों को रूस के आक्रमण का भय हुआ जिसके कारण प्रथम अफगान-युद्ध हुआ। उस समय से सिन्ध का राजनीतिक महत्व अधिक बढ़ गया क्योंकि स्थल-मार्ग से बोलन दर्रे से होकर भारत में आने का मार्ग सिन्ध के अमीरों की सीमाओं में से होकर था।

सिन्ध से राजनीतिक सम्पर्क बढ़ाने का कार्य, सर्वप्रथम, 1831 ई. में सिन्धु नदी में जलयात्रा की सुविधाओं की खोज करने के अभिप्राय से सर एलेक्जेण्डर बर्न्स (Sir Alexander Burnes) को भेजने से आरम्भ हुआ। राजा विलियम चतुर्थ ने कुछ घोड़े उपहारस्वरूप रणजीतसिंह को भेजे। अंग्रेजों ने उन्हें जल-मार्ग से भेजना चाहा। अमीरों को यह पसन्द न था परन्तु जब रणजीतसिंह ने अपना आक्रोश व्यक्त किया तो उन्हें आज्ञा देनी पड़ी।

बर्न्स (Burnes) सिन्धु नदी के जल-मार्ग से लाहौर गया। सिन्ध के नागरिक और अमीर अंग्रेजों से कितना डरते थे, यह उस समय के उनके विचारों से स्पष्ट हो जाता है। एक बलूची सैनिक ने बर्न्स से कहा : "बुराई हो चुकी है। तुमने हमारे देश को देख लिया है।"[1] एक अन्य सिन्धी व्यक्ति ने कहा : "दुःख की बात है कि सिन्ध अब गया क्योंकि अंग्रेजों ने नदी को देख लिया है जो उनके राज्य-विस्तार का मार्ग है।"[2] यह सब सत्य सिद्ध हुआ।

बर्न्स ने सिन्धु नदी के व्यापारिक महत्व को स्पष्ट किया और अंग्रेजों ने कच्छ के रेजीडेण्ट कर्नल पोटिंगर (Lt. Col. Pottinger) को आदेश दिये कि वह अमीरों से व्यापारिक सन्धि की बातचीत आरम्भ करे। अमीर सन्धि के लिए तैयार न थे। उन्हें भय था कि व्यापार का आधार लेकर अंग्रेज वहाँ अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करेंगे। उन्होंने अफगानिस्तान के शासक से सहायता माँगी परन्तु कोई लाभ न हुआ और अन्त में हैदराबाद व खैरपुर के अमीरों को 1813 ई. में निम्नलिखित शर्तों पर अंग्रेजों को सिन्धु नदी और सिन्ध की सड़कों का प्रयोग करने की आज्ञा देनी पड़ी :

1. कोई व्यक्ति इन मार्गों से सैनिक सामान नहीं लायेगा।
2. सिन्धु नदी में कोई सैनिक नाव या जहाज नहीं लायेगा।
3. कोई भी अंग्रेज व्यापारी स्थायी रूप से सिन्ध में नहीं रहेगा।

उस समय रणजीतसिंह ने पुनः सिन्ध में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु अंग्रेजों ने उसे रोक दिया। अफगानिस्तान के भगोड़े शासक शाहशुजा को भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि उसने अमीरों की कोई भी सहायता की तो उसकी पेंशन बन्द कर दी जायेगी और अंग्रेजी सीमाओं में उसे शरण नहीं मिलेगी। इस प्रकार अंग्रेजों ने किसी अन्य शक्ति को सिन्ध में हस्तक्षेप नहीं करने दिया और स्वयं अपने प्रभाव में वृद्धि करते रहे। रणजीतसिंह के आक्रमण का भय दिखाकर अंग्रेजों ने अमीरों को अप्रैल 1838 ई. में एक और सन्धि करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार—

1. अंग्रेजों ने अमीरों और रणजीतसिंह के सम्बन्धों को ठीक कराने में सहायता देने का वायदा किया; और

2. एक अंग्रेज प्रतिनिधि हैदराबाद के दरबार में रखा गया जो सिन्ध में कहीं भी आ-जा सकता था और अपनी रक्षा के लिए आवश्यक सैनिक अपने साथ रख सकता था।

इस सन्धि के द्वारा अंग्रेजों के प्रभाव में वृद्धि हुई। एक अंग्रेज प्रतिनिधि को एक अनिश्चित सेना के साथ रखना "अमीरों के महल में एक ऐसा बम रखना था जो गवर्नर-जनरल की इच्छा से कभी भी फट सकता था।"[3]

लेकिन अंग्रेजों की सन्तुष्टि के लिए यह भी पर्याप्त न था। 1838 ई. में अंग्रेजों, शाहशुजा और रणजीतसिंह में जो त्रिदलीय सन्धि हुई उसमें अमीरों को भी सम्मिलित किया गया। सिन्ध के अमीरों को बाध्य किया गया कि वे शाहशुजा को 25 लाख रुपया कर के रूप में दें। इस कर को न अमीर कभी देते थे और न शाहशुजा अफगानिस्तान का अमीर था बल्कि 1834 ई. में शाहशुजा ने लिखित रूप से अमीरों को इससे मुक्त कर दिया था। इस कारण अमीरों से

---

1 "The mischief is done, you have seen our country."
—*A Baluchi Soldier to Burnes.*

2 "Alas ! Sindh is now gone, since the English have seen the river, which is the high road to its conquest."
—*A Sindhi.*

3 "It placed a loaded shell in the palace of Amirs to explode at the pleasure of the Governor-General."

यह धन लेना सर्वथा अनैतिक था। यही नहीं बल्कि अंग्रेजों ने स्वय भी अमीरों से रुपया लिया। इसके अतिरिक्त अमीरों को यह बता दिया गया कि 1832 ई. में की गयी सन्धि का पालन इस समय सम्भव नहीं है और अंग्रेजों व शाहशुजा की सेनाएँ अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए सिन्ध की सीमाओं में से जायेंगी। अंग्रेजों ने ये दोनों कार्य इसलिए किये क्योंकि उन्हें धन की आवश्यकता थी और रणजीतसिंह ने अंग्रेजी सेनाओं को पंजाब से गुजरने की आज्ञा नहीं दी थी।

24 दिसम्बर, 1838 ई. को खैरपुर के अमीर को एक सन्धि करने के लिए बाध्य किया गया, जिसके अनुसार—

1. अमीर ने अंग्रेजों को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर लिया;
2. अपनी स्थिति के अनुसार अंग्रेजों को सैनिक सहायता देने तथा युद्ध में अन्य सहायता देने का वायदा किया; और
3. बक्सर का किला अंग्रेजों को दे दिया।

हैदराबाद के अमीर ने इस प्रकार की सन्धि करने का कुछ विरोध किया। इस कारण अंग्रेजों ने आक्रमण करके कराँची पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् हैदराबाद के अमीर ने भी अंग्रेजों से 3 फरवरी और 11 मार्च, 1839 ई. को सन्धि कर ली, जिसके अनुसार—

1. कराँची अंग्रेजों को दे दिया गया;
2. 500 अंग्रेज सैनिकों की एक सहायक-सेना अमीर की सीमाओं में रखी जायेगी;
3. इसके बदले में अमीर प्रति वर्ष 3 लाख रुपये अंग्रेजों को देगा।

जुलाई 1841 ई. में मीरपुर के अमीर के साथ भी इसी प्रकार की एक सन्धि की गयी।

इन सन्धियों द्वारा सिन्ध एक प्रकार से अंग्रेजों की अधीनता में चला गया। अमीरों का एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध न रहा और सभी अमीर अपनी स्वतन्त्रता खो बैठे। केवल नाम के लिए सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में मिलाना बाकी रह गया।

प्रथम अफगान-युद्ध के अवसर पर अमीर अंग्रेजों के प्रति पूर्णतः वफादार रहे और उनकी सहायता करते रहे। परन्तु जब अफगान-युद्ध समाप्त हो गया तब उनकी सेवाओं को स्वीकार नहीं किया गया और तुरन्त सिन्ध को जीतने की योजना बना ली गयी जिसका राजनीतिक महत्व अफगान-युद्ध के अवसर पर अधिक स्पष्ट हो गया था। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने उचित कहा है : **"सिन्ध की विजय अफगान-युद्ध से सम्बन्धित ही नहीं बल्कि उसका परिणाम भी थी।"**[1] नैपियर (Napier) ने लिखा है : "वह अफगानी तूफान की पूँछ थी।"[2]

लॉर्ड ऐलनबरो, जो भारत का गवर्नर-जनरल बनकर आया, सिन्ध को जीतने के लिए प्रारम्भ से ही उत्सुक था। इसी कारण 1842 ई. में आउट्रम (Outram) के स्थान पर सर चार्ल्स नैपियर (Sir Charles Napier) को सिन्ध के विषय में समस्त सैनिक और असैनिक अधिकार देकर भेजा गया। सिन्ध के अमीरों पर पहले से ही कुछ आरोप थे। नैपियर ने उन्हें स्वीकार कर लिया और अमीरों पर आरोप लगाया कि वे अंग्रेजों के प्रति वफादार नहीं हैं। उसने अमीरों से माँग की कि—

1. वे सिक्के ढालने का अधिकार अंग्रेजों को दे दें;

---

1 "The conquest of Sindh was not merely a sequence but a consequence of the Afghan war." —*R. C. Majumdar.*

2 "It was the tail of Afghan storm." —*Napier.*

2. वे उन अंग्रेजी जहाजों को जो सिन्ध नदी में थे, कोयला दें; और
3. वे कराँची, थट्टा, सक्खर, बक्सर और रोहरी तथा इसके बीच के सभी भाग अंग्रेजों को दे दें।

इसके अतिरिक्त, नैपियर ने खैरपुर के अमीर रुस्तमखाँ की मृत्यु होने पर अली मुराद को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जबकि रुस्तमखाँ अभी जीवित था और मीर मुहम्मद को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर चुका था। नैपियर ने खैरपुर पर आक्रमण किया और 20 जनवरी, 1843 ई. को सभी अमीरों को एक नवीन सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया। केवल खैरपुर के अमीर के अतिरिक्त सभी अमीरों ने नवीन सन्धि पर हस्ताक्षर किये। खैरपुर का अमीर उपस्थित न हो सका था यद्यपि उसने वायदा किया कि वह भी उस सन्धि पर हस्ताक्षर कर देगा। उस समय आउट्रम ने ही इस सन्धि पर अमीरों से हस्ताक्षर कराये थे और वह हैदराबाद में था। उसने नैपियर को यह आश्वासन दिया कि सभी अमीरों ने नयी सन्धि पर हस्ताक्षर करने का आश्वासन दिया है। इस कारण उसे सेना लेकर हैदराबाद आने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु नैपियर ने यह स्वीकार न किया और वह सेना लेकर हैदराबाद की ओर बढ़ा।

इस प्रकार नैपियर द्वारा निरन्तर अमीरों का अपमान करना और सेना लेकर बढ़ना हैदराबाद में विद्रोह का कारण बन गया। बलूची सैनिकों ने आउट्रम के निवास पर आक्रमण कर दिया। आउट्रम भाग गया। लेकिन यही घटना युद्ध का कारण बन गयी। 17 फरवरी, 1843 ई. को नैपियर ने सर्वप्रथम मियानी (Miani) के युद्ध में बलूचियों को परास्त किया। हैदराबाद पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। 24 मार्च, 1843 ई. को दाबो (Dabo) के युद्ध में नैपियर ने मीरपुर के अमीर शेरमुहम्मद को परास्त किया। सिन्ध के सभी अमीरों ने आत्मसमर्पण कर दिया और 4 अप्रैल को नैपियर ने ऐलनबरो को सूचना भेजी : "मैंने सिन्ध ले लिया है।"[1] शेरमुहम्मद ने एक प्रयत्न और किया परन्तु 14 जून को उसकी पुनः पराजय हुई और वह भाग गया। तत्पश्चात् युद्ध समाप्त हो गया। अगस्त 1843 ई. में सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

सिन्ध को अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना इतिहास की एक बड़ी अन्यायपूर्ण घटना है। युद्ध का कारण बलूचियों का आउट्रम पर आक्रमण करना बताया जाता है, लेकिन स्वयं आउट्रम ने स्पष्ट रूप से लिखा था कि अमीर किसी भी प्रकार विद्रोह के लिए उत्तरदायी न थे। उन्होंने स्वयं आउट्रम को बचाने के प्रयत्न किये थे और ठीक समय से उसे सूचना भेज दी थी। आउट्रम ने नैपियर को लिखा था कि वह सेना लेकर हैदराबाद की ओर न बढ़े अन्यथा अमीर बलूचियों के विद्रोह को न रोक सकेंगे। इस प्रकार युद्ध का वास्तविक कारण नैपियर का सेना के साथ आगे बढ़ना था। जब बलूची सरदारों ने यह अनुभव किया कि सन्धि पर हस्ताक्षर करने और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने के बाद भी अंग्रेज सेना लेकर आगे बढ़ रहे हैं तो उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेज उन्हें पूर्णतः नष्ट करने का निश्चय कर चुके हैं। इस कारण आत्मरक्षा के लिए उन्होंने विद्रोह किया। आउट्रम स्वयं लिखता है : "क्या नैपियर को यह विश्वास था कि अमीर अपनी सेना को कहीं दूर भेज देंगे और स्वयं सीना खोलकर उसके सैनिकों की संगीनों का मुकाबला करने के लिए खड़े हो जायेंगे ?"[2]

---

1 "Peccavi I have (Sind) sinned." —Napier.

2 "Did Napier really expect, that the Amirs would send their army away and then stand before his soldiers with bare breasts to receive the bayonet charge of English troops." —Outram.

अंग्रेजों द्वारा सिन्ध की विजय अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का स्पष्ट प्रमाण थी और सभी व्यक्तियों ने इसकी आलोचना की है। इन्स (Innes) ने लिखा है : **"अगर हमारे भारतीय इतिहास की घटनाओं में अफगान दुर्घटना सबसे हानिकारक है तो सिन्ध की विजय सबसे अनैतिक।"**[1] स्वयं नैपियर ने लिखा था : "हमें सिन्ध को जीतने का कोई अधिकार नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे और वह एक लाभदायक, उपयोगी तथा मानवतापूर्ण बुराई होगी।"[2] स्वयं डायरेक्टरों की सभा ने इसे "अन्यायपूर्ण, अव्यावहारिक और भारतीय सरकार के यथार्थ सम्मान और हित के विरुद्ध"[3] माना। उन्होंने ऐलनबरो को वापस बुलाने की धमकी भी दी। एक बार यह भी सोचा गया कि सिन्ध को अमीरों को वापस दे दिया जाय यद्यपि ऐसा किया नहीं गया।

सिन्ध की विजय अंग्रेजों के लिए बहुत लाभदायक थी। अंग्रेजों को अमीरों के खजाने से बहुत धन प्राप्त हुआ। कराँची, समुद्र-तट के अन्य स्थान और सिन्धु नदी पर अधिकार हो जाने से अंग्रेजों के व्यापार में वृद्धि हुई। सिन्ध पर अधिकार हो जाने से अंग्रेजों को उत्तर-पश्चिम से होने वाले किसी भी सम्भावित आक्रमण से सुरक्षा प्राप्त हुई। इस विजय से यह आशंका भी समाप्त हो गयी कि अफगानिस्तान का अमीर अथवा सिख-राज्य कभी सिन्ध पर अधिकार कर लेगा। एक तात्कालिक लाभ यह भी था कि प्रथम अफगान-युद्ध के अवसर पर हुई दुर्घटनाओं ने भारत में अंग्रेजों के सम्मान में जो कमी कर दी थी, सिन्ध की विजय ने उनके सम्मान की पुनःस्थापना में सहायता दी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंग्रेजों ने क्यों और किस प्रकार सिन्ध को अपने राज्य में सम्मिलित किया ?

---

1 "If the Afghan episode is the most disastrous in our Indian annals, that of Sindh is morally even less excusable." —*Innes.*

2 "We have no right to seize Sind, yet we shall do so, and a very advantageous, useful, humane piece of rascality it will be." —*Sir Charles Napier.*

3 'Unjust and impolitic and inconsistent with the true interests and honour of the Indian Government." —*Court of Directors.*

19

आंग्ल-अफगान सम्बन्ध

1. अग्रगामी और अकर्मण्यता की नीति

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूर्व की ओर रूस की प्रगति ने अंग्रेजों को अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा के प्रति चिन्तित कर दिया। यूरोप में ब्रिटेन और रूस के सम्बन्ध अच्छे न थे और ब्रिटेन बालकन प्रदेश तथा तुर्की की ओर रूस की प्रगति में निरन्तर बाधा उपस्थित करता रहा था। इस कारण रूस ने जानबूझकर फारस (ईरान) और अफगानिस्तान की ओर अपना दबाव बढ़ा दिया। भारत पर स्थल-मार्ग से आक्रमण करने के रूस के पास दो मार्ग थे—एक फारस और हिरात होकर तथा दूसरा अफगानिस्तान होकर। इस कारण ब्रिटेन को अपने भारतीय साम्राज्य की सुरक्षा की चिन्ता हो गयी। यद्यपि भारत पर रूस का आक्रमण सरल न था, फिर भी उस समय ब्रिटेन उसके आक्रमण की आशंका मात्र से भयभीत था।

रूस के सम्भावित आक्रमण से भारत को बचाने के विषय में दो विचारधाराएँ बनीं—एक अग्रगामी नीति की विचारधारा (Forward School) और दूसरी अकर्मण्यता की नीति की विचारधारा (School of Masterly Inactivity)। अग्रगामी नीति के समर्थकों का विश्वास था कि रूस निश्चित रूप से भारत पर आक्रमण करना चाहता है, इस कारण भारत सरकार को आगे बढ़कर उसका मुकाबला करना चाहिए। फारस और अफगानिस्तान के राज्य भारत के सीमावर्ती राज्य थे। उन राज्यों से भारत सरकार को सन्धियाँ करनी चाहिए और यदि रूस आक्रमण करे तो फारस या अफगानिस्तान की सीमाओं पर अपनी सेनाओं सहित उसका मुकाबला करना चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि इन राज्यों में, मुख्यतः अफगानिस्तान में, उनकी इच्छा का शासक हो। इसके लिए यह भी जरूरी समझा गया कि आवश्यकता होने पर अफग़ानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया जाये और उसकी विदेश-नीति को नियन्त्रित किया जाये। यदि अफगानिस्तान का शासक अंग्रेजों की इच्छानुसार रूस के साथ सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार है तब ठीक है अन्यथा वहाँ पर ऐसा शासक होना चाहिए जो अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार कार्य करे। इस कार्य को पूरा करने हेतु आवश्यकतानुसार अफगानिस्तान से संघर्ष भी करना चाहिए। इस प्रकार इस नीति के समर्थक अफगानिस्तान के शासक को सहायता देकर, उससे मित्रता करके, सन्धि करके और उसकी विदेश-नीति को अपने अधिकार में करके रूस का मुकाबला भारत की सीमाओं की बजाय अफगानिस्तान की सीमाओं पर करना चाहते थे। इस नीति के कारण भारत सरकार को अफगानिस्तान में हस्तक्षेप करना पड़ा और इसी कारण वहाँ के अमीरों से दो युद्ध भी हुए—प्रथम और द्वितीय अफगान-युद्ध। इन युद्धों में धन और सैनिकों की क्षति हुई तथा अंग्रेजों का यह कार्य अनैतिक और अव्यावहारिक माना गया।

अफगानिस्तान के प्रति अपनायी गयी दूसरी नीति को अकर्मण्यता की नीति (School of Masterly Inactivity) कहा गया जिसका पालन मुख्यतः लॉर्ड लॉरेन्स के समय से लेकर

लॉर्ड नॉर्थब्रुक के समय तक किया गया। प्रथम अफगान-युद्ध में अंग्रेजों की जो हानि हुई और अफगानों की जिस स्वतन्त्र भावना का परिचय उन्हें मिला, उसकी प्रतिक्रियास्वरूप इस नीति का आरम्भ हुआ। यद्यपि इस नीति की उत्पत्ति का आधार लॉर्ड कैनिंग के पत्रों में मिलता है लेकिन इसका नाम मुख्यतः लॉर्ड लॉरेन्स से जुड़ा हुआ है। इस नीति के समर्थकों का विचार था कि रूस भारत से बहुत दूर है, इस कारण भारत सरकार के लिए भय का कोई कारण नहीं है। रूस यदि भारत पर आक्रमण करना भी चाहता है तो इस कारण कि यूरोप में ब्रिटेन और रूस के सम्बन्ध खराब हैं तथा पूर्व की ओर रूस की प्रगति को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि ब्रिटेन यूरोप में रूस के साथ कोई समझौता करे। अफगानिस्तान के मामले में भारत सरकार कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी, वह वहाँ के प्रत्येक शासक को स्वीकार करेगी और उसके साथ मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करेगी। अमीर के साथ न तो कोई सन्धि की जायेगी और न ही अफगानिस्तान में अंग्रेज राजदूत रखने की माँग की जायेगी। अंग्रेज अमीर को हथियार और धन से सहायता अवश्य देंगे परन्तु किसी विदेशी शक्ति के विरुद्ध सैनिक सहायता का भरोसा या वायदा नहीं देंगे। इस प्रकार इस नीति के अनुसार अंग्रेज अमीर को मित्र तो बनाये रखना चाहते थे परन्तु उसके साथ स्थायी सन्धि करने के लिए तत्पर न थे और न किसी प्रकार से अफगानिस्तान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना चाहते थे। अंग्रेजों की इस नीति से भारत सरकार अफगानिस्तान के साथ युद्ध से बची रही परन्तु इससे अमीर सन्तुष्ट न हुए। अफगान अंग्रेजों की सद्भावनाओं पर भरोसा न कर सके बल्कि भारत सरकार की इस नीति को शंका की दृष्टि से देखने लगे।

भारत सरकार ने अफगानिस्तान के प्रति समय-समय पर उपर्युक्त दोनों ही नीतियों का पालन किया। अवसर के अनुसार जो भी नीति उनके अधिक लाभ की थी, उसका प्रयोग उन्होंने किया। इसके अतिरिक्त, इस नीति-परिवर्तन का एक और भी आधार था। सूचना के साधनों में वृद्धि हो जाने के कारण भारत और ब्रिटेन के बीच बेतार के तार की व्यवस्था हो गयी थी जिसके कारण भारत सरकार पर ब्रिटेन की सरकार का नियन्त्रण बढ़ गया था। जब कभी ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन होते थे, ब्रिटेन की अंग्रेज सरकार की नीति बदल जाती थी और भारत सरकार की नीति में भी परिवर्तन हो जाता था। इस प्रकार भारत सरकार की नीति ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल द्वारा संचालित होती थी और उसी की इच्छा के अनुसार उसमें परिवर्तन होते थे। जब लॉर्ड नॉर्थब्रुक ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल की इच्छानुसार कार्य नहीं कर सका तो उसे त्यागपत्र देना पड़ा। इस प्रकार उपर्युक्त दोनों नीतियों का आधार और समय-समय पर नीति में परिवर्तन अंग्रेजों की स्वार्थ-सिद्धि और ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल में रद्दोबदल था।

2. प्रथम अफगान-युद्ध (1839-42 ई.)

अफगानिस्तान की आन्तरिक स्थिति 1800 ई. में वहाँ के शासक जमानशाह के गद्दी से हटाये जाने के पश्चात् से निरन्तर खराब होती गयी। राजवंश के विभिन्न व्यक्तियों में गद्दी प्राप्त करने के लिए निरन्तर संघर्ष होते रहे। 1826 ई. में दोस्त मुहम्मद अफगानिस्तान का शासक बना। वह तत्कालीन शासकों में सर्वाधिक योग्य सिद्ध हुआ। वह बहादुर और चरित्रवान था तथा प्रथम अफगान-युद्ध तक वही अफगानिस्तान का अमीर रहा। दोस्त मुहम्मद यद्यपि अफगानिस्तान का शासक बन गया था परन्तु उसकी कठिनाइयाँ समाप्त नहीं हुई थीं। उसकी सीमाओं पर विद्रोह हो रहे थे, कन्धार और हिरात उसके भाइयों के अधिकार में थे, पेशावर पर रणजीतसिंह का अधिकार था, अफगानिस्तान का पूर्ववर्ती शासक शाहशुजा अंग्रेजों की सहायता से अफगानिस्तान को पुनः जीतने का षड्यन्त्र कर रहा था और फारस रूस

की सहायता लेकर उसकी सीमाओं पर आक्रमण करने की तैयारी कर रहा था। इस प्रकार अफगानिस्तान की स्थिति पर्याप्त दुर्बल और अनिश्चित थी।

इसी अवसर पर यूरोप की राजनीति ने गम्भीरता से एशिया की राजनीति को प्रभावित किया। अंग्रेजों को रूस से भय हो गया। मध्य-एशिया और फारस (ईरान) की ओर रूस का प्रभाव और सीमा-क्षेत्र निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। 1772 ई. से 1836 ई. के बीच के समय में रूस ने एशिया में जो प्रदेश प्राप्त किया था वह उसके सम्पूर्ण यूरोपीय साम्राज्य से अधिक था। यह कहा गया था कि इस समय में "वह भारत और फारस की राजधानी की ओर एक हजार मील तक बढ़ गया था।" फारस पूर्णतः रूस के प्रभाव में जा चुका था, इस कारण अंग्रेजों का रूस से भयभीत होना उचित था। ब्रिटेन में गम्भीरतापूर्वक यह विश्वास किया जाता था कि रूस का अन्तिम उद्देश्य भारत पर आक्रमण करना था। 1830 ई. में पामर्सटन इंगलैण्ड का विदेश-मन्त्री बना। पामर्सटन पूर्व में रूस की प्रगति को शंका की दृष्टि से देखता था और उसे रोकने के लिए प्रत्येक प्रकार से तत्पर था। इसी कारण अपनी नीति का पूर्ण पालन कराने हेतु उसने 1836 ई. में भारत में लॉर्ड ऑकलैण्ड को गवर्नर-जनरल तथा फारस की राजधानी तेहरान में डॉ. मेक्नील (Dr. McNeill) को राजदूत नियुक्त किया।

1834 ई. में फारस की गद्दी पर मुहम्मदशाह के बैठ जाने से वहाँ रूस का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। रूस के प्रभाव में आकर फारस ने 1837 ई. में हिरात पर आक्रमण कर दिया। हिरात के घेरे से अंग्रेजों को बहुत चिन्ता हो गयी क्योंकि हिरात से काबुल एवं कन्धार होकर भारत पर आक्रमण करना सरल था और फारस के हाथ में हिरात का जाना एक प्रकार से रूस के ही हाथ में जाना था। जैसा कि फारस के अंग्रेज प्रतिनिधि ने कहा था : "रूस और फारस के वर्तमान सम्बन्धों को देखते हुए इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अफगानिस्तान में फारस की प्रगति एक प्रकार से रूस की ही प्रगति है।"[1] परन्तु ब्रिटिश सरकार उस अवसर पर कुछ कर नहीं सकती थी क्योंकि 1814 ई. में फारस से हुई एक सन्धि के द्वारा यह निश्चित किया गया था कि अंग्रेज फारस और अफगानिस्तान के झगड़ों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

इस प्रकार जब फारस में अंग्रेजों की कूटनीति से कोई लाभ नहीं निकला तो अंग्रेजों ने अपना ध्यान अफगानिस्तान की ओर लगाया। लॉर्ड पामर्सटन ने 1836 ई. में गवर्नर-जनरल को लिखा था : "उसे फारस में रूस की खतरनाक गतिविधियों से सावधान रहना चाहिए और समय रहते रूस के बढ़ रहे प्रभाव पर अंकुश लगाना चाहिए।"[2] लॉर्ड ऑकलैण्ड स्वयं इस स्थिति से परिचित था। परन्तु वह उस समय तक अफगानिस्तान से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठा सका। मई 1836 ई. में दोस्त मुहम्मद ने सिखों से पेशावर लेने के प्रयत्न में अंग्रेजों से सहायता माँगी थी परन्तु लॉर्ड ऑकलैण्ड ने रणजीतसिंह के विरुद्ध दोस्त मुहम्मद को सहायता देने से इन्कार कर दिया। सितम्बर 1836 ई. में कैप्टेन एलेक्जेण्डर बर्न्स (Captain Alexander Burnes) को नाम के लिए व्यापारिक परन्तु वास्तव में राजनीतिक उद्देश्य से अफगानिस्तान भेजा गया। उसी अवसर पर एक रूसी प्रतिनिधि कैप्टेन विटकेविच (Captain Vitkevitch) भी अफगानिस्तान गया। दोस्त

1 "In the present state of the relations between Persia and Russia, it cannot be denied that the progress of the former in Afghanistan is tantamount to the advance of the latter."
—*British Minister in Persia.*

2 "He must remain beware of the dangerous character of Russian action in Persia and try to raise a timely barrier against the encroachment of Russian influence."
—*Lord Palmerston to Lord Auckland.*

मुहम्मद ने पहले तो बर्न्स का ही स्वागत किया और रूसी राजदूत की ओर कोई ध्यान नहीं दिया लेकिन जब अंग्रेजों ने यह स्पष्ट कर दिया कि पेशावर को सिखों से दिलाने में वे दोस्त मुहम्मद की कोई सहायता नहीं कर सकते तब उसने रूसी राजदूत की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। अंग्रेज दोस्त मुहम्मद से यह वायदा चाहते थे कि वह विदेशी राज्यों से कोई भी राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रखेगा और इसके बदले में अंग्रेज यह प्रयत्न करेंगे कि रणजीतसिंह अफगानिस्तान की सीमाओं पर आक्रमण न करे। दोस्त मुहम्मद इसके लिए तैयार न था। वह पेशावर को प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों से सक्रिय सहायता चाहता था। इस कारण दोनों पक्षों में कोई समझौता न हो सका और अप्रैल 1838 ई. में बर्न्स ने अफगानिस्तान छोड़ दिया।

परन्तु इस बीच में अंग्रेजों को फारस और रूस के सम्बन्धों के बारे में पर्याप्त सफलता मिल गयी। यद्यपि मेक्नील (McNeill) निराश होकर फारस से लौट गया था परन्तु उसने ऑकलैण्ड से फारस की खाड़ी में एक नौ-सेना भेजने की माँग की थी। ऑकलैण्ड ने इस कार्य को पूरा कर दिया। दूसरी तरफ ब्रिटिश सरकार ने अति कठोर शब्दों में फारस से हिरात का घेरा हटा लेने की माँग की। इससे फारस भयभीत हो उठा। उसे उस समय तक हिरात को जीतने में सफलता भी नहीं मिली थी। इस कारण फारस ने 9 सितम्बर, 1838 ई. को हिरात का घेरा हटा लिया। अंग्रेजों ने रूस पर भी राजनीतिक दबाव डाला और अन्त में रूस ने फारस और अफगानिस्तान दोनों स्थानों से अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला लिया।

फारस द्वारा हिरात का घेरा हटा लेने और रूसी प्रतिनिधियों के फारस और अफगानिस्तान से चले जाने के उपरान्त अंग्रेजों को भारत पर आक्रमण का कोई भय नहीं रहा। इसमें सन्देह नहीं कि दोस्त मुहम्मद से कोई सन्धि न हो सकी थी परन्तु अफगानिस्तान से युद्ध का कोई कारण भी नहीं रह गया था। परन्तु लॉर्ड ऑकलैण्ड उस समय तक दोस्त मुहम्मद को गद्दी से हटाकर शाहशुजा को अफगानिस्तान का अमीर बनाने का निर्णय ले चुका था। इस कार्य को पूरा करने के लिए अंग्रेज, रणजीतसिंह और शाहशुजा में जून 1838 ई. में त्रिदलीय सन्धि हुई, जिसके अनुसार, निश्चित हुआ कि—

1. पेशावर और जो भूमि उस समय रणजीतसिंह के पास थी, उस पर रणजीतसिंह का अधिकार होगा।
2. रणजीतसिंह शाहशुजा की सहायता के लिए पेशावर में 5,000 सैनिक रखेगा जिसके बदले में शाहशुजा उसे दो लाख रुपये प्रति वर्ष देगा।
3. सिन्ध पर शाहशुजा या रणजीतसिंह का कोई अधिकार नहीं होगा।
4. शाहशुजा अंग्रेजों और सिखों की सलाह के बिना विदेशी राज्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा।

इन शर्तों पर सिखों और अंग्रेजों ने शाहशुजा को अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठाने का वायदा किया। प्रारम्भ में अंग्रेजों का इरादा था कि अफगानिस्तान को जीतने में प्रमुख दायित्व शाहशुजा का होगा जबकि रणजीतसिंह उसका मुख्य सहायक होगा, अंग्रेज तो केवल थोड़ी सी सैनिक सहायता प्रदान करेंगे। परन्तु धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि शाहशुजा में कोई योग्यता न थी और रणजीतसिंह अकेला शाहशुजा की सहायता के लिए तत्पर न था। इस कारण बाद में युद्ध का मुख्य दायित्व अंग्रेजों पर ही पड़ा।

1 अक्टूबर, 1838 ई. को भारत सरकार की ओर से एक घोषणा-पत्र पढ़ा गया जिसमें भावी अफगान-युद्ध के कारणों पर प्रकाश डाला गया। इस घोषणा में लॉर्ड ऑकलैण्ड ने जो कुछ

कहा वह सर्वथा गलत था। "दोस्त मुहम्मद ने हमारे मित्र महाराजा रणजीतसिंह पर आक्रमण किया", "दोस्त मुहम्मद ने फारस की सहायता पर निर्भर करते हुए हमारी उचित माँगों को ठुकराया" आदि बातें ऐसी थीं, जो पूर्णतः झूठ थीं। घोषणा में फारस द्वारा हिरात का घेरा डालना भी युद्ध का एक कारण बताया गया था जबकि फारस सितम्बर में ही हिरात का घेरा उठा चुका था। इस प्रकार यह घोषणा-पत्र और इसमें विश्लेषित युद्ध के कारण सर्वथा झूठ थे। वास्तव में अंग्रेजों के पास युद्ध का कोई कारण नहीं था। ऑकलैण्ड ने अपना मूल उद्देश्य तो 8 नवम्बर के आदेश-पत्र में बताया कि अफगानिस्तान पर आक्रमण इस कारण आवश्यक है कि अफगानिस्तान में एक विरोधी अमीर को हटाकर एक मित्र को गद्दी पर बैठाया जाय जिससे हमारी उत्तर-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हो सके। इस कारण अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के निर्णय में कोई परिवर्तन न हुआ और 1839 ई. में यह आक्रमण आरम्भ हुआ।

अफगानिस्तान पर आक्रमण करने की नीति के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही मत प्रकट किये गये हैं। लॉर्ड ऑकलैण्ड की नीति के समर्थकों का कहना है कि "दोस्त मुहम्मद के मुकाबले शाहशुजा का अफगानिस्तान की गद्दी पर अधिक नैतिक अधिकार था", "ऑकलैण्ड के पास इसके अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं रह गया था", "वह इतना आगे बढ़ चुका था कि उसके लिए पीछे हटना असम्भव था"[1], "पर्शिया द्वारा हिरात का घेरा हटा लेने के बाद सैनिक दृष्टि से अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का यह उचित अवसर था" और "ऑकलैण्ड की इस नीति के लिए ब्रिटिश सरकार उत्तरदायी थी।"

परन्तु इस नीति के समर्थकों के उपर्युक्त तर्क सर्वथा निराधार हैं। अधिकांश व्यक्ति ऑकलैण्ड की इस आक्रमणकारी नीति की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार शाहशुजा का दोस्त मुहम्मद के मुकाबले अफगानिस्तान की गद्दी पर नैतिक अधिकार नहीं था, बल्कि क्योंकि शाहशुजा की तुलना में दोस्त मुहम्मद एक योग्य शासक सिद्ध हुआ था और अफगानों में प्रिय था अतः गद्दी पर नैतिक अधिकार उसी का था। फारस द्वारा हिरात का घेरा हटा लेने के पश्चात् ऑकलैण्ड युद्ध के निर्णय को बदल सकता था। "वह बहुत आगे बढ़ चुका था" यह कहना गलत है। त्रिदलीय सन्धि में भी ऐसी कोई शर्त न थी जिससे अंग्रेज अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए बाध्य थे। दोस्त मुहम्मद ने अंग्रेजों से मित्रता करने का प्रयत्न किया था और जब अंग्रेज उसे कोई विश्वास नहीं दिला सके तब उन पर दबाव डालने के लिए उसने रूस की ओर अपना झुकाव दिखाया था। उसने अन्त तक फारस या रूस से कोई सन्धि या समझौता नहीं किया था जिससे अंग्रेज उस पर शंका करते। इसके अतिरिक्त, दोस्त मुहम्मद एक स्वतन्त्र शासक था और उसे किसी भी विदेशी शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार था। अंग्रेजों को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। सैनिक दृष्टि से भी यह युद्ध लाभदायक न था। अफगानिस्तान की कष्टप्रद पहाड़ी भौगोलिक परिस्थितियों और अफगानों की स्वतन्त्र एवं युद्धप्रिय प्रवृत्ति का ऑकलैण्ड ने कोई ध्यान नहीं रखा। ड्यूक ऑफ वैलिंगटन, लॉर्ड वैलेजली, सर चार्ल्स मेटकाफ, एलफिन्स्टन आदि व्यक्तियों ने न केवल इस आक्रमण की आलोचना की बल्कि इसकी असफलता को पहले से ही घोषित कर दिया था। केयी (Kaye) लिखता है : "प्रत्येक राजनीतिक और सैनिक उपयोगिता के विरुद्ध यह युद्ध आरम्भ किया गया था तथा अनेक जो उपयोगिता से अधिक श्रेष्ठ आधार पर उसका निर्णय कर रहे थे, निश्चित शब्दों में उसकी असफलता की घोषणा कर चुके थे। यह निस्सन्देह मनुष्य और ईश्वर के धैर्य की परीक्षा थी। इस कारण यदि वह

1 "Auckland had no option in the matter. He had gone too far to recede."

आरम्भ में सफल भी हो जाता तब भी उसका अन्त असफलता और असम्मान में होना था।"[1] इन्स (Innes) ने इस युद्ध के बारे में लिखा है : "भारत के इतिहास में यह अंग्रेजों की सबसे गम्भीर भूल थी।"[2] अंग्रेजों की अफगान-नीति अनैतिक थी। यह मेकनाटन (Macnaghten) के शब्दों से भी स्पष्ट होता है जब उसने दोस्त मुहम्मद को कैद करके भारत भेजा और उसके लिए ऑकलैण्ड से सद्‌व्यवहार की माँग की। उसने लिखा था : "शाहशुजा का हम पर कोई अधिकार न था। उसे गद्दी से हटाने में हमारा कोई हाथ नहीं था जबकि हमने अपनी नीति का समर्थन करते हुए उस दोस्त मुहम्मद को बाहर निकाल दिया जिसने हमें कोई हानि नहीं पहुँचाई थी और जो हमारी नीति का शिकार हुआ था।"[3]

अफगानिस्तान पर आक्रमण करने वाली सेना को 'सिन्धु की सेना' (Army of the Indus) पुकारा गया। यह नवम्बर 1838 ई. में फीरोजपुर में एकत्र हुई और सेनापति सर हेनरी फेन (Sir Henry Fane) का स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण सर जॉन कीन (Sir John Keane) को इसका सेनापति बनाया गया। एक सेना कन्धार की ओर से और दूसरी सेना पेशावर और खैबर के दर्रे से आगे बढ़ी। मैकनाटन (Macnaghten) को शाहशुजा का मुख्य सलाहकार और अंग्रेज प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। एलेक्जेण्डर बर्न्स (Alexander Burnes) को उसका सहायक नियुक्त किया गया। प्रारम्भ में अंग्रेजों को सफलता मिली। अप्रैल में कन्धार और जुलाई में गजनी को जीत लिया गया। अगस्त में दोस्त मुहम्मद काबुल से भाग गया और 7 अगस्त को शाहशुजा ने काबुल में प्रवेश किया। केयी (Kaye) के अनुसार, "वह अपने राज्य को प्राप्त करने वाले राजा का राजधानी में पुनः प्रवेश न होकर एक मुर्दे के जुलूस के समान था।"[4] नवम्बर में दोस्त मुहम्मद ने आत्मसमर्पण कर दिया और उसे कलकत्ता भेज दिया गया। ऐसा प्रतीत होता था कि अंग्रेजों की नीति और विजय पूर्णतः सफल हो गयी थी, अतएव अंग्रेजी सेना को भारत वापस लाने की योजना बनायी गयी।

परन्तु अंग्रेजों को बहुत शीघ्र स्पष्ट हो गया कि शाहशुजा की सत्ता केवल अंग्रेजों की शक्ति पर निर्भर थी। इसी कारण शाहशुजा की रक्षा के लिए सेना की पाँच या छह रेजीमेण्ट काबुल में छोड़ दी गयीं। जनरल नौट (General Nott) और कर्नल सेल (Col. Sale) को भी वहीं छोड़ दिया गया; यद्यपि जनरल एलफिन्स्टन (General Elphinstone) को सेनापति बनाया गया। बाकी अंग्रेजी सेना वापस भारत आ गयी। परन्तु अफगानों को शाहशुजा का शासन पसन्द न आया। स्थान-स्थान पर विद्रोह होने लगे जिन्हें दबाने के लिए अंग्रेजी सेना को बहुत प्रयत्न करने पड़े। अन्त में, 1841 ई. में काबुल में भी विद्रोह हो गया और सम्पूर्ण अफगान जाति अंग्रेजों को अपने देश से निकालने के लिए तत्पर हो गयी।

---

1 "The war started in defiance of every consideration of political and military expediency; and there were those who, arguing the matter on higher grounds than those of mere expediency, pronounced the certainty of its failure. It was, indeed, an experiment on the forbearance alike of God and man; and therefore, though it might dawn in success it was sure to set in failure and disgrace." —*Kaye*.

2 "It was the most unqualified blunder committed in the whole history of the British in India." —*Innes*.

3 "The Shah had no claim on us. We had no hand in depriving him of his kingdom whereas we ejected the Dost, who never offended us, in support of our policy of which he was the victim." —*Macnaghten to Lord Auckland*.

4 "It was more like a funeral procession than the entry of a king into the capital of his restored dominions." —*Kaye*.

अफगानों के इस विद्रोह के कई कारण थे। शाहशुजा अंग्रेजों की सहायता से शासक बना था और उन्हीं की सहायता से वहाँ शासन कर रहा था। इससे अफगान उससे असन्तुष्ट हो गये और उनमें फिरंगियों (अंग्रेजों) को अपने देश से बाहर निकालने की राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो उठी। अंग्रेजों के अफगानिस्तान में रहने से वस्तुओं की कीमतें बढ़ीं जिसका प्रभाव गरीब और अमीर सभी पर पड़ा। अंग्रेज अफगान-स्त्रियों का लालच करते थे जो अफगानों के सम्मान का प्रश्न बन गया। इन कारणों से अफगानों में विद्रोह की भावना जाग्रत हुई। केयी लिखता है : "जो द्वैध सरकार स्थापित की गयी थी वह सम्पूर्ण राष्ट्र का दुर्भाग्य बन गयी।"[1]

2 नवम्बर, 1841 ई. को अफगानों ने काबुल में विद्रोह कर दिया। एलेक्जेण्डर बर्न्स, उसका भाई और लेफ्टिनेण्ट ब्रोडफुट उसी दिन मारे गये। प्रारम्भ में अंग्रेजों ने इस विद्रोह को कोई महत्व नहीं दिया और यह विद्रोह अनेक स्थानों पर फैल गया। दोस्त मुहम्मद के पुत्र अकबरखाँ ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया और उसने काबुल को घेर लिया। 11 दिसम्बर को मैकनाटन ने अफगानों से एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार निश्चित किया गया कि—

1. अंग्रेज शीघ्रातिशीघ्र अफगानिस्तान से चले जायेंगे।
2. दोस्त मुहम्मद तथा अन्य सभी अफगान कैदियों को अंग्रेज छोड़ देंगे।
3. शाहशुजा पेंशन लेकर अफगानिस्तान में रह सकता था या अंग्रेजों के साथ भारत जा सकता था।
4. चार अंग्रेज अधिकारी अफगानों को सुरक्षा-स्वरूप दे दिये जायेंगे।

इस सन्धि की शर्तें अंग्रेजों के लिए बहुत अपमानजनक थीं, परन्तु इसके अतिरिक्त उनके लिए और कोई अन्य विकल्प नहीं रह गया था। अंग्रेजों की स्थिति दिन-प्रतिदिन खराब होती जा रही थी। वृद्ध अंग्रेज सेनापति एलफिन्स्टन इस स्थिति को सँभालने में सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुआ। परन्तु इस सन्धि से भी कोई विशेष लाभ न हुआ क्योंकि मैकनाटन ने अफगानों में फूट डालने का प्रयत्न किया जिससे अफगान असन्तुष्ट हो गये। 23 दिसम्बर को जब मैकनाटन दूसरी सन्धि के बारे में बातचीत करने के लिए अकबरखाँ के पास गया तो वहीं उसका कत्ल कर दिया गया। मेजर पोटिंगर जिसने मैकनाटन का कार्य-भार सँभाला, किसी भी सन्धि के लिए तत्पर न था। परन्तु सेनापति एलफिन्स्टन को युद्ध में जीत की कोई आशा न थी। इस कारण 1 जनवरी, 1842 ई. को न केवल पुरानी सन्धि की शर्तों को ही अंग्रेजों ने स्वीकार कर लिया बल्कि निम्न शर्तें भी मान लीं :

1. अंग्रेज अपनी सारी तोपें और बारूद अफगानों को दे देंगे।
2. खजाने का सारा धन अफगानों को दे दिया जायेगा।
3. अंग्रेज 14 लाख रुपया भी अफगानों को देंगे।

इस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के पश्चात् अंग्रेजों को काबुल से जलालाबाद जाने की आज्ञा दे दी गयी। अफगानों ने मार्ग में उनकी सुरक्षा करने का पूर्ण आश्वासन दिया। इस प्रकार समस्त धन, हथियार और सम्मान खोकर 16,000 व्यक्तियों की अंग्रेज-सेना ने काबुल छोड़ा। मार्ग में स्थान-स्थान पर उन पर आक्रमण हुए। एलफिन्स्टन, लॉरेन्स और पोटिंगर अकबरखाँ की हिरासत में चले गये थे। 120 बीमार व्यक्तियों को छोड़कर जो अकबरखाँ की हिरासत में चले गये थे, सभी को मार्ग में मार दिया गया। सरकार एवं दत्त के अनुसार, "पीछे हटना

---

1 "The double government which had been established was becoming a curse to the whole nation."
—*Kaye.*

भागना और भागना हत्याकाण्ड बन गया।"[1] केवल एक व्यक्ति डॉ. ब्राइडन (Dr. Brydon) इस दुःखद घटना को बताने के लिए 13 जनवरी, 1842 ई. को जलालाबाद पहुँच सका। अंग्रेजों के सम्मान की रक्षा केवल नौट (Nott) ने कन्धार की और सेल (Sale) ने जलालाबाद की रक्षा करके की।

जिस समय इन दुर्घटनाओं की सूचना भारत पहुँची तो लॉर्ड ऑकलैण्ड घबड़ा गया परन्तु तब भी उसने अंग्रेजी सम्मान की पुनः स्थापना के लिए आदेश प्रेषित किये और एक सेना भारत से भेजी। लेकिन इससे पहले कि कर्नल पोलक (Col. Pollock) जलालाबाद की सहायता के लिए पहुँच पाता, लॉर्ड ऑकलैण्ड को गवर्नर-जनरल का पद छोड़ना पड़ा।

28 फरवरी, 1842 ई. को लॉर्ड ऐलनबरो (Lord Ellenborough) ने गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण किया। उसका लक्ष्य भी अफगानिस्तान में अंग्रेजी सम्मान को स्थापित करने के पश्चात् ही अंग्रेजी सेनाओं को वापस बुलाने का था लेकिन जब उसे हकलजाई (Hakalzai) में जनरल इंगलैण्ड (General England) और गजनी में पामर (Palmer) की पराजय का समाचार मिला तो उसने अंग्रेज सेना को तुरन्त वापस लौटने के आदेश दिये। लेकिन जनरल पोलक और नौट ने इस आदेश का तुरन्त पालन नहीं किया। वे अंग्रेजी सम्मान को स्थापित किये बिना अफगानिस्तान से लौटना नहीं चाहते थे। थोड़े समय पश्चात् अंग्रेजों की स्थिति में सुधार हुआ। जनरल पोलक जलालाबाद पहुँचकर जनरल सेल से मिल गया और कन्धार के निकट अफगानों को परास्त किया गया। पोलक ने काबुल की ओर बढ़ना आरम्भ किया और रास्ते में काबुल के दर्रे के निकट खर्द में अकबरखाँ को परास्त किया। 15 सितम्बर, 1842 ई. को पोलक ने काबुल पर अधिकार कर लिया। इधर नौट ने गजनी को जीत लिया। इस प्रकार एक बार फिर अंग्रेजों ने काबुल, कन्धार और गजनी में अपना झण्डा फहराया। अफगानों को सजा देने के लिए काबुल के मुख्य बाजार को तोपों से उड़ा दिया गया। तत्पश्चात् गजनी से सोमनाथ के मन्दिर के तथाकथित दरवाजे को लेकर अंग्रेजी सेना भारत वापस लौट आयी।

ऐलनबरो ने अंग्रेजों की सफलता को काफी बढ़ा-चढ़ाकर बताया। एक घोषणा के द्वारा उसने लॉर्ड ऑकलैण्ड की अफगान नीति की आलोचना की और कहा कि वह अफगानिस्तान में किसी भी उस सरकार को स्वीकार कर लेगा जिसे अफगानों का समर्थन प्राप्त हो। एक दूसरी घोषणा में उसने कहा : "हमारी विजयी सेना अफगानिस्तान से सोमनाथ के मन्दिर का दरवाजा लेकर आयी है। अन्ततोगत्वा 800 वर्ष पुराने अपमान का बदला ले लिया गया है।"[2] इस प्रकार ऐलनबरो ने अपनी नीति और अंग्रेजी सेना की सफलता को प्रत्येक प्रकार से सिद्ध करने का प्रयास किया।

लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि प्रथम अफगान-युद्ध से कोई भी लाभ नहीं हुआ था। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अफगानिस्तान में एक मित्र-शासक को गद्दी पर बैठाना था। इस उद्देश्य की पूर्ति अंग्रेज न कर सके। शाहशुजा को अफगानों ने कत्ल कर दिया था और जब युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने दोस्त मुहम्मद को छोड़ दिया तब वह पुनः अफगानिस्तान चला गया और वहाँ का शासक बन गया। उसने मृत्युपर्यन्त, 1863 ई. तक वहाँ शासन किया। इस प्रकार अफगानिस्तान का शासक युद्ध के पश्चात् भी वही रहा जो युद्ध से पहले था। इसके अतिरिक्त, दोस्त मुहम्मद के सम्बन्ध अंग्रेजों से वैसे ही रहे जैसे युद्ध से पहले थे। इस प्रकार अंग्रेजों ने

---

1 "The retreat became a rout, the rout a massacre." —*Sarkar and Dutta.*

2 "Our victorious army bears the gates of the temple of Somnath in triumph from Afghanistan....the insult of eight hundred years is at last avenged." —*Ellenborough's Proclamation.*

बिना किसी राजनीतिक या सैनिक उद्देश्य की पूर्ति किये वहाँ पर अपना धन और अपनी सेना को नष्ट किया। इस युद्ध में बिना किसी लाभ के अंग्रेजों ने 20,000 व्यक्तियों और एक करोड़ पचास लाख रुपये की क्षति उठायी। केयी ने लिखा है : "इतिहास के पृष्ठों में इतनी पूर्ण और गम्भीर असफलता का उल्लेख और कहीं नहीं मिलता। संसार के इतिहास में ऐसी महान् और प्रभावशाली शिक्षा कहीं नहीं मिलती।"[1]

3. प्रथम और द्वितीय अफगान-युद्ध के बीच के समय में अफगानों और अंग्रेजों के सम्बन्ध तथा अकर्मण्यता अथवा 'कुशल कार्यहीनता' की नीति का पालन

1864 से 1869 ई. तक लॉर्ड लॉरेन्स (Lord Lawrence) भारत का गवर्नर-जनरल रहा। 'कुशल कार्यहीनता' की नीति का आरम्भ उसी ने किया। उसका विश्वास था कि अफगानों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है और न वहाँ पर किसी अंग्रेज प्रतिनिधि को रखने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, जो भी व्यक्ति अफगानिस्तान का वास्तविक शासक हो उसे ही भारत सरकार को वहाँ का अमीर स्वीकार कर लेना चाहिए। इस नीति का पालन करते हुए उसने अफगानिस्तान के उत्तराधिकार के युद्धों में कोई भाग नहीं लिया जो 1863 ई. में दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् आरम्भ हुए। दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् उसके 16 लड़कों में गद्दी के लिए युद्ध आरम्भ हुआ और कभी एक ने तो कभी दूसरे ने गद्दी पर अधिकार किया। लॉर्ड लॉरेन्स ने जिस समय जो शासक बना उसी को शासक स्वीकार कर लिया। इस प्रकार 1864 ई. में शेरअली को, 1866 ई. में अफजलखाँ को, 1867 ई. में आजिमखाँ को और 1868 ई. में पुनः शेरअली को अफगानिस्तान का शासक स्वीकार किया गया। 1868 ई. में जब यह स्पष्ट हो गया कि शेरअली की सत्ता अफगानिस्तान में स्थापित हो गयी है तो लॉरेन्स ने 60,000 पौण्ड की धनराशि और 3,500 हथियार उसे भेंट-स्वरूप दिये। लॉरेन्स ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा : "हम अमीर के साथ कोई सन्धि नहीं चाहते लेकिन हम उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा अवश्य चाहते हैं। यदि बाह्य आक्रमण का कोई भय हुआ तो हम उसकी स्वतन्त्रतां की रक्षा का प्रयत्न अवश्य करेंगे।"

लॉर्ड लॉरेन्स की उपर्युक्त 'कुशल कार्यहीनता' की नीति के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही मत प्रकट किये गये हैं। इसके पक्ष में कहा गया है कि तत्कालीन सन्धियों का पालन करते हुए अफगानिस्तान के मामलों में हस्तक्षेप करना सम्भव न था। इस नीति का पालन करने से अंग्रेज बहुत से उत्तरदायित्वों, कठिनाइयों और धन के अपव्यय से बच गये थे और यदि अफगानिस्तान के मामलों में हस्तक्षेप किया गया होता तो, सम्भवतः, वह देश फारस या रूस के प्रभाव में चला जाता।

इसके विपक्ष में यह कहा जाता है कि इस नीति का पालन करने से अफगानिस्तान में एक शक्तिशाली मित्र-शासक को स्थापित किये जाने का अंग्रेजों का मूल उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता था और अफगान अमीर स्वयं इस नीति को शंका की दृष्टि से देखते थे। सरकार और दत्त लिखते हैं : "अफगान सरदारों की दृष्टि में यह नीति उदासीनता और स्वार्थ की थी। इसके कारण गवर्नर-जनरल और अमीर के बीच वास्तविक मित्रता के सम्बन्धों को बनाने में कठिनाई

---

1 "No failure, so total and so overwhelming as this, is recorded in the pages of history. No lesson so grand and impressive is to be found in all the annals of the world."
—*Kaye.*

हुई।"[1] शेरअली भी इस नीति से असन्तुष्ट था। उसने कहा : "अंग्रेज अपने स्वार्थ के अलावा किसी अन्य का ध्यान नहीं रखते और केवल समय को टालते हैं।"[2] इसके अतिरिक्त, इस नीति का पूर्णतः पालन सम्भव भी न था। स्वयं लॉरेन्स ने शेरअली को 1868 ई. में सहायता प्रदान की जो सिद्धान्ततः इस नीति के विरुद्ध थी।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यह नीति सावधानी की और अल्पव्ययी थी। लॉरेन्स ने इस नीति का प्रयोग किया और इस नीति का पालन करने के कारण भारत सरकार पर्याप्त कठिनाइयों से बच गयी। अंग्रेजों को मुख्य भय रूस से था जो पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ता आ रहा था। इस विषय में भी लॉरेन्स का मत था कि ब्रिटेन की सरकार को यूरोप में रूस से कोई समझौता कर लेना चाहिए जिससे उसके पूर्वी साम्राज्य की सुरक्षा हो सके। जब रूस ने 1865 ई. में ताशकन्द और 1868 ई. में बुखारा पर अधिकार कर लिया तब भी लॉरेन्स ने ब्रिटिश सरकार से यूरोप में ही रूस ने समझौता करने की माँग की। लेकिन इससे कोई लाभ न हुआ। लॉरेन्स यह भूल गया था कि जब तक अंग्रेज मध्य-एशिया में अपनी शक्ति को दृढ़ नहीं कर लेते तब तक रूस की प्रगति को रोकना उनके लिए असम्भव था।

1869 ई. में लॉरेन्स के जाने के पश्चात् लॉर्ड मेयो (Lord Mayo) गवर्नर-जनरल बना। उसने 1872 ई. तक इस पद पर कार्य किया। उसने भी अफगानिस्तान के प्रति लॉरेन्स द्वारा अपनायी गयी नीति का पालन किया। उसने शेरअली को 60,000 पौण्ड की धनराशि दी और 1869 ई. में उससे अम्बाला में भेंट की। शेरअली पाँच निश्चित उद्देश्यों को लेकर भारत आया था। वह चाहता था कि—

1. अंग्रेज उससे एक निश्चित सन्धि करें।
2. एक निश्चित धनराशि प्रति वर्ष अमीर को दी जाय।
3. आवश्यकता पड़ने पर अंग्रेज अमीर को सैनिक और शस्त्रों की सहायता दें।
4. अंग्रेज बाह्य आक्रमण से अफगानिस्तान की रक्षा का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व लें।
5. अंग्रेज शेरअली के छोटे बेटे अब्दुल्ला जान को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार करें।

लॉर्ड मेयो इन शर्तों को मानने के लिए तत्पर न था। उसने केवल सद्व्यवहार और सहायता के आश्वासन मात्र से अमीर को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। अमीर इन वायदों से सन्तुष्ट न हुआ। वह रूस की निरन्तर प्रगति के कारण भयभीत था। परन्तु सन्तोष प्रकट करने के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई मार्ग भी न था।

लॉर्ड मेयो के पश्चात् लॉर्ड नॉर्थब्रुक (Lord Northbrook) भारत का गवर्नर-जनरल बना। उसके समय (1872-76 ई.) में रूस की सीमाएँ अफगानिस्तान की सीमाओं के और अधिक निकट हो गयीं। इससे भयभीत होकर शेरअली ने अपना एक प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल से भेंट करने के लिए शिमला भेजा और रूसी आक्रमण के विरुद्ध अंग्रेजों से पूर्ण सहायता का आश्वासन माँगा। नॉर्थब्रुक यह आश्वासन देने के लिए तैयार न था। गवर्नर-जनरल ने यह स्पष्ट कर दिया कि अंग्रेज अफगानिस्तान के प्रति अपनायी गयी अपनी

---

1 "It seemed to the Afghan chiefs rather cold-blooded and selfish, and made it difficult to establish really friendly relations between the Governor-General and the Amir." —*Sarkar and Dutta.*

2 "English look to nothing but their own interests and bide their time." —*Sher Ali, Amir of Kabul.*

नीति में कोई परिवर्तन करने को तैयार नहीं हैं। अमीर शेरअली को अंग्रेजों के इस व्यवहार से बहुत असन्तोष हुआ और उसने निराश होकर रूस के साथ अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। जब शेरअली का झुकाव रूस की ओर हुआ और एक रूसी प्रतिनिधि का काबुल में स्वागत किया गया तब अंग्रेजों को चिन्ता हुई। उसी समय 1874 ई. में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में रद्दोबदल हुई। लॉर्ड ग्लेडस्टन के स्थान पर लॉर्ड डिजरैली का मन्त्रिमण्डल बना जो अग्रगामी और साम्राज्यवादी नीति का पालन करने वाला था। लॉर्ड नॉर्थब्रुक को आदेश दिये गये कि वह अमीर से अपने यहाँ एक अंग्रेज रेजीडेण्ट रखने की माँग करे। नॉर्थब्रुक इस नीति का पालन करने के लिए तैयार न हुआ और उसने त्यागपत्र दे दिया। अपनी नवीन अग्रगामी नीति का पालन करने के लिए डिजरैली नें लॉर्ड लिटन को भारत का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा। इस प्रकार 'कुशल कार्यहीनता' की नीति का समय समाप्त हुआ और अफगानिस्तान के प्रति पुनः अग्रगामी नीति अपनायी गयी जिसके परिणामस्वरूप द्वितीय अफगान-युद्ध हुआ।

4. द्वितीय अफगान-युद्ध (1878-80 ई.)

पूर्वी समस्या (Eastern Question) पर रूस और ब्रिटेन में गम्भीर मतभेद था। जबकि रूस टर्की के अशक्त राज्य (Sick Man of Europe) को छिन्न-भिन्न करके अपने राज्य का विस्तार उस दिशा में चाहता था, ब्रिटेन प्रत्येक स्थिति में टर्की की सुरक्षा के लिए तत्पर था। इस मतभेद को लेकर रूस और ब्रिटेन क्रीमिया के युद्ध में एक-दूसरे के विरुद्ध लड़े। इस युद्ध के पश्चात् जब टर्की की ओर रूस की प्रगति में बाधा उपस्थित कर दी गयी तो रूस ने अफगानिस्तान की उत्तरी सीमाओं की ओर बढ़ना आरम्भ किया। 1868 ई. तक रूस ने ताशकन्द, बुखारा आदि को जीतकर एक नवीन सूबा 'रूसी ताशकन्द' की स्थापना कर दी। अमीर शेरअली रूस की इस प्रगति से बहुत चिन्तित हुआ और उसने निरन्तर लॉरेन्स, मेयो और नॉर्थब्रुक के समय में अंग्रेजों से एक निश्चित सन्धि करने का प्रयत्न किया। परन्तु उस समय अंग्रेज 'कुशल कार्यहीनता' की नीति का पालन कर रहे थे। उन्होंने सहायता के आश्वासन मात्र से अमीर को प्रसन्न करना चाहा जिससे अमीर सन्तुष्ट न हुआ। इस कारण अंग्रेजों से निराश होकर अमीर शेरअली ने रूस से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया। अमीर के पास अपनी सुरक्षा के लिए इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी न था। सम्भवतः, उस समय भी वह रूस से सन्धि करने को उत्सुक न था। उसका झुकाव अंग्रेजों की तरफ था और केवल अंग्रेजों पर दबाव डालने के लिए ही उसने रूस की ओर अपना झुकाव प्रदर्शित किया था। इस कारण अमीर और रूसी ताशकन्द के गवर्नर-जनरल काफमैन (Kaufmann) में पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया और रूसी प्रतिनिधि अफगानिस्तान में आने आरम्भ हो गये। अमीर ने अंग्रेजों को यह सूचना देनी बन्द कर दी कि उसका रूसी प्रतिनिधियों से क्या पत्र-व्यवहार चल रहा है। यह भी विश्वास किया जाता था कि अमीर रूसी प्रतिनिधि से वार्तालाप करता था। ब्रिटेन ने रूस से माँग की कि वह अमीर से कोई पत्र-व्यवहार न करे परन्तु रूस ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार अमीर और अंग्रेजों के बीच सन्देह का वातावरण उत्पन्न हो गया।

इसी अवसर पर डिजरैली के ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री बनते ही अंग्रेजों की नीति में परिवर्तन हो गया। 'कुशल कार्यहीनता' की नीति को त्याग दिया गया और 'अग्रगामी नीति' का पालन करने के लिए लॉर्ड लिटन (Lord Lytton) को 1876 ई. में भारत का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा गया। लॉर्ड लिटन ने स्वयं कहा कि उसे अमीर से एक निश्चित, स्थायी और स्पष्ट सन्धि करने के लिए भारत भेजा गया है, 1873 ई. में अमीर जो कुछ चाहता

था उसे अंग्रेज अब स्वीकार करेंगे, अमीर को जो वार्षिक धनराशि सहायता के रूप में दी जाती थी उसमें वृद्धि कर दी जायगी, अब्दुल्ला जान को अमीर का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जायेगा और एक सन्धि के द्वारा अंग्रेज अमीर को विश्वास दिलायेंगे कि विदेशी आक्रमण की स्थिति में अंग्रेज पूरी तरह से अमीर की रक्षा करेंगे।

उपर्युक्त आधार पर लॉर्ड लिटन ने भारत आने के एक माह पश्चात् ही अमीर से सन्धि करने के लिए एक अंग्रेज प्रतिनिधि को काबुल भेजने की इच्छा प्रकट की। शेरअली ने उत्तर में अंग्रेज राजदूत को स्वीकार न करने की बात कही। उसने यह बात काबुल-दरबार में और लॉर्ड मेयो से अम्बाला में हुई भेंट में भी स्पष्ट कर दी थी। उसने कहा था कि वह स्वयं अपना एक प्रतिनिधि गवर्नर-जनरल के पास भेजेगा। उसने यह भी स्पष्ट किया कि निम्नलिखित कारणों से वह अंग्रेज राजदूत को स्वीकार नहीं कर सकेगा :

1. अफगान अंग्रेज राजदूत को शंका की दृष्टि से देखेंगे, इस कारण वह उसके जीवन की रक्षा का विश्वास नहीं दिला सकता।
2. यदि वह अंग्रेज राजदूत को स्वीकार कर लेगा तो उसे रूस के राजदूत को भी स्वीकार करना पड़ेगा।
3. सम्भव है कि अंग्रेज राजदूत ऐसी माँगें प्रस्तुत करें जिन्हें वह स्वीकार न कर सके। ऐसी स्थिति में अंग्रेज और अफगानों के सम्बन्ध खराब हो जायेंगे।

अमीर के इस उत्तर को लिटन ने अंग्रेजों का अपमान माना। उसने अमीर के पहले और तीसरे तर्क को बिल्कुल निराधार माना और दूसरे तर्क के विषय में कहा कि रूस एक सन्धि के कारण अंग्रेजों और अफगानों के सम्बन्धों के बीच में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। उसने अमीर को धमकी दी : "वह अफगानिस्तान को अंग्रेजों की सन्धि और सहायता से अलग कर रहा था।"[1] लॉर्ड लिटन और भारत-सचिव, लॉर्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) अमीर को अपने यहाँ एक अंग्रेज राजदूत रखने के लिए बाध्य करने पर तुले हुए थे। लिटन ने कहा : "वह अमीर को रूस के हाथों में एक पुर्जा कभी नहीं बनने देगा। अगर वह ऐसा पुर्जा बनेगा तो उसके प्रयोग से पहले ही उस पुर्जे को तोड़ देना उसका कर्तव्य होगा।"[2]

अफगानिस्तान में एक अंग्रेज राजदूत रखने के अतिरिक्त लॉर्ड लिटन अफगानिस्तान की सीमाओं पर अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए भी उत्सुक था। इस कारण 1877 ई. में कलात के खान से एक सन्धि करके उसने क्वेटा पर अधिकार कर लिया जो सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। लिटन ने अफगानिस्तान की सीमाओं के निकट की जातियों के विभिन्न सरदारों को भी अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार लिटन का उद्देश्य धीरे-धीरे अफगानों के प्रभाव और शक्ति को दुर्बल करना था, जैसाकि उसने स्वयं स्वीकार किया था।

उसी अवसर पर जबकि अमीर अंग्रेज राजदूत को अपने यहाँ रखने से इन्कार कर चुका था, यूरोप की राजनीति ने पुनः गम्भीरता से भारतीय राजनीति को प्रभावित किया। 1875 ई. में बोस्निया और हर्जीगोवीना ने टर्की के विरुद्ध विद्रोह किया था और रूस ने उसकी सहायता की थी। इस कारण रूस और टर्की में युद्ध हुआ। रूस ने टर्की को परास्त करके उसे

---

1 "He was isolating Afghanistan from the alliance and support of the British Government." —*Lord Lytton to Sher Ali.*

2 "A tool in the hands of Russia, I will never allow him to become such a tool. It would be my duty to break before it could be used." —*Lord Lytton.*

सान स्टीफैनो (San Stefano) की सन्धि करने के लिए बाध्य किया जिससे उसका प्रभाव टर्की, काला सागर और ऐजियन समुद्र पर बढ़ गया। यह सन्धि ब्रिटेन और आस्ट्रिया के हितों के विरुद्ध थी। इस कारण, मुख्यतः ब्रिटेन के प्रयत्नों के कारण, यूरोप के राज्यों की एक सभा बर्लिन में हुई। बर्लिन-सभा से रूस असन्तुष्ट था। ब्रिटेन द्वारा, इस प्रकार, उसके मार्ग में बाधा डालने से रूस बहुत अप्रसन्न हुआ और ब्रिटेन को सजा देने तथा उसके पूर्वी साम्राज्य के लिए भय उत्पन्न करने हेतु उसने अफगानिस्तान पर दबाव डालने का निश्चय किया। जिस दिन बर्लिन-सभा (Congress of Berlin) आरम्भ होने वाली थी उसी दिन रूसी-ताशकन्द से एक सेना अफगानिस्तान की ओर तथा दूसरी सेना पामीर और कश्मीर की ओर भेज दी गयी थी और रूसी गवर्नर को आदेश दिये गये थे कि वह अफगानिस्तान से एक सन्धि की माँग करे। अमीर के विरोध के बावजूद भी रूसी राजदूत स्टोलेटोफ (Stolietoff) काबुल पहुँच गया और यह विश्वास किया जाता है कि उसने अमीर को आश्वासन दिया कि रूस विदेशी आक्रमण के विरुद्ध अफगानिस्तान की सुरक्षा करेगा।

रूसी राजदूत को काबुल में स्वीकार किये जाने के कारण लिटन अमीर से बहुत असन्तुष्ट हो गया। यह भी विश्वास किया जाता है कि लिटन को शेरअली से व्यक्तिगत रूप से घृणा हो गयी थी। उसने शेरअली से अपने यहाँ अंग्रेज राजदूत रखने की माँग को स्वीकार करने के लिए कहा तथा चैम्बरलेन (Chamberlain) को राजदूत नियुक्त कर दिया। इसकी सूचना उसने अमीर को एक पत्र के द्वारा दी। जिस दिन अंग्रेजों का यह पत्र शेरअली के पास पहुँचा उसी दिन उसके प्रिय पुत्र अब्दुल्ला जान की मृत्यु हो गयी। इस कारण शेरअली पत्र का उत्तर शीघ्र न दे सका। यह भी विश्वास किया जाता है कि रूसी राजदूत ने भी अमीर को शीघ्र उत्तर न देने का ही परामर्श दिया था। इस बीच में लिटन ने चैम्बरलेन को काबुल की ओर बढ़ने के आदेश दे दिये और अलीमज्जिद तथा जलालाबाद के सूबेदारों को सूचना भेज दी कि यदि उन्होंने अंग्रेज राजदूत को रोकने का प्रयत्न किया तो उनका वह कार्य शत्रुतापूर्ण समझा जायेगा। अमीर ने अंग्रेजों को सूचित किया कि राजदूत को इस प्रकार जबरदस्ती भेजने का तरीका उसे पसन्द नहीं है। गुप्त रूप से अंग्रेजों को यह सूचना भी दी गयी कि रूसी राजदूत शीघ्र ही वापस जाने वाला है और उसके पश्चात् ईद के त्यौहार के बाद अमीर अंग्रेज राजदूत को काबुल आने की स्वीकृति प्रदान कर देगा। परन्तु लिटन ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसी अवसर पर बर्लिन की सन्धि हो जाने के कारण रूस ने अपने राजदूत को काबुल से वापस बुला लिया। परन्तु तब भी लिटन ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अलीमज्जिद पर जब चैम्बरलेन को आगे बढ़ने से रोक दिया गया तो लिटन ने 2 नवम्बर, 1878 ई. को अमीर से अंग्रेज राजदूत को रखने तथा अंग्रेजों से माफी माँगने की अन्तिम माँग की। 20 नवम्बर तक इन शर्तों को पूरा करने की माँग की गयी। जब इसका उत्तर समय से प्राप्त न हुआ तब 21 नवम्बर, 1878 ई. को लिटन ने युद्ध घोषित कर दिया और द्वितीय अफगान-युद्ध शुरू हो गया।

द्वितीय अफगान-युद्ध को आरम्भ करने का उत्तरदायित्व पूर्णतः अंग्रेजों पर था। लिटन के समर्थकों का कहना था कि शेरअली ने रूसी राजदूत को स्वीकार करके अंग्रेजों को चुनौती दी थी और उसी की सलाह से अंग्रेज राजदूत को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। इस कारण अफगानिस्तान में बढ़ते हुए रूसी प्रभाव को रोकने के लिए लिटन के पास युद्ध के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं रह गया था। परन्तु यह विचार सर्वथा गलत है। अंग्रेजों ने स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ बनायी थीं जिनसे शेरअली रूसी राजदूत का स्वागत करने के लिए बाध्य हुआ था। लॉरेन्स, मेयो और नॉर्थब्रुक की 'कुशल कार्यहीनता' की नीति से असन्तुष्ट होकर शेरअली ने रूस की ओर झुकाव प्रकट किया था अन्यथा वह निरन्तर अंग्रेजों से एक सन्धि

की माँग करता रहा था और स्वयं अंग्रेज ही उससे इन्कार करते रहे थे। यह भी उस समय के ऐतिहासिक तथ्यों से स्पष्ट होता है कि शेरअली ने रूसी राजदूत को बाध्यता में स्वीकार किया था। इसके अतिरिक्त, यह भी स्पष्ट है कि अमीर ने अन्त तक रूस से कोई सन्धि नहीं की थी। अमीर ने अंग्रेज राजदूत को काबुल जाने से इसलिए नहीं रोका था कि वह रूस के प्रभाव में था बल्कि इसलिए रोका था कि प्रथम अफगान-युद्ध का उदाहरण उसके सामने था। वह जानता था कि अफगान इसे कभी पसन्द नहीं करेंगे बल्कि उसे भी शंका की दृष्टि से देखेंगे। इस आधार पर वह लिटन के समय में ही नहीं बल्कि लॉरेन्स, मेयो तथा नॉर्थब्रुक के समय में सन्धि की माँग करते हुए भी अंग्रेज राजदूत को काबुल में रखने के लिए तैयार न था। लॉर्ड लॉरेन्स ने भी ब्रिटेन में यह कहा था : "यह देखते हुए भी कि ऐसे प्रतिनिधि-मण्डलों का क्या परिणाम हुआ है और 1837 ई. के बर्न्स के मिशन के कारण उन पर क्या मुसीबतें आयीं, क्या अफगानों को अंग्रेज राजदूत को रोकने का अधिकार न था ?"[1] रूसी ऐतिहासिक तथ्यों से यह भी स्पष्ट हो गया है कि "शेरअली न तो रूसी था और न अंग्रेज बल्कि एक अफगान था जो अपने देश की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने का इच्छुक था।"[2] इसके अतिरिक्त शेरअली एक स्वतन्त्र शासक था। वह अंग्रेजों से मित्रता करता या रूसियों से, इस विषय में हस्तक्षेप करने का कोई नैतिक अधिकार भारत सरकार को न था। रॉबर्ट्स के अनुसार भी "लॉरेन्स की पुरानी नीति दुर्बल और छोटे राज्यों के अधिकार को भी उदारतापूर्वक स्वीकार करने पर आधारित थी जबकि लिटन और उसके समर्थकों की नीति एक राजनीतिक स्वार्थ की नीति थी।"[3] अफगानिस्तान की दुर्बलता के कारण यह अनुभव करना कि हमें (अंग्रेजों का) उसके साथ प्रत्येक प्रकार का व्यवहार करने का अधिकार है, सर्वथा अनुचित था। यह केवल स्पष्ट साम्राज्यवाद ही स्वीकार किया जा सकता था।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस युद्ध का उत्तरदायित्व लिटन, डिजरैली और सेलिसबरी में से किस पर अधिक था। इसमें सन्देह नहीं कि ये तीनों ही अपनी अग्रगामी नीति के कारण इस युद्ध के लिए उत्तरदायी थे, परन्तु इसमें लॉर्ड लिटन का उत्तरदायित्व सर्वाधिक था। 1877 ई. में सेलिसबरी ने लिटन को अमीर पर बहुत अधिक दबाव न डालने के आदेश दिये थे। परन्तु उस अवसर पर लॉर्ड डिजरैली ने लिटन का समर्थन किया। उसने भारत-सचिव को लिखा : "हमें पूरी तरह और दृढ़ता से लिटन का समर्थन करना चाहिए। हमने उसे इसी कार्य के लिए चुना है।"[4] परन्तु एक स्थान पर डिजरैली ने यह भी लिखा : "लिटन को उस समय तक रुकने के आदेश दिये गये थे जब तक कि हमें रूस से हमारे विरोध-पत्र का उत्तर न मिल जाय। मैं इस विषय में पूर्णतः आश्वस्त था क्योंकि मेरे इस निश्चय के दृढ़ कारण थे। उसने हमारी आज्ञा का उल्लंघन किया। लॉर्ड सेलिसबरी ने मुझे यह भी विश्वास दिलाया था कि राजदूत खैबर के दर्रे से नहीं भेजा जायेगा। मैं किसी

---

1 "Have not the Afghans a right to resist our forcing a mission on them, bearing in mind to what such missions often lead and what Burn's mission in 1837 did actually bring upto them." —*Lord Lawrence.*

2 "Sher Ali was neither Russian nor English but an Afghan, desirous of preserving the independence of his country." —*Russian Records.*

3 "The old Lawrence policy was in truth based upon a generous recognition of the rights of small and weak states; the school of Lytton and his followers relied upon a cynical doctrine of political expediency." —*Roberts.*

4 "We must completely and unflinchingly support Lytton, we chose him for this very kind of business." —*Lord Disraeli to the Foreign Secretary.*

भी प्रकार से इस कार्य के लिए तत्पर न होता।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डिजरैली और सेलिसबरी ने समय-समय पर लिटन को रोकने का प्रयास किया था। वे रूस से समझौता करने पर भी निर्भर कर रहे थे। लेकिन लिटन ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उसने भारत-सचिव के आदेशों के विरुद्ध राजदूत को बोलन के दर्रे या कन्धार के मार्ग से न भेजकर खैबर के दर्रे से भेजा क्योंकि वह जानता था कि अफगान इससे अधिक असन्तुष्ट होंगे। इस प्रकार लॉर्ड लिटन ने ही ऐसी परिस्थितियों का निर्माण किया जिनके कारण युद्ध आवश्यक हो गया।

युद्ध की घोषणा होते ही अंग्रेज सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान पर आक्रमण किया। एक सेना सर सेमुअल ब्राउन (Sir Samuel Browne) के नेतृत्व में खैबर के दर्रे से, दूसरी मेजर जनरल रॉबर्ट्स (Major General Roberts) के नेतृत्व में खुर्रम की घाटी से और तीसरी सेना जनरल स्टीवर्ट (General Stewart) के नेतृत्व में क्वेटा होती हुई बोलन के दर्रे से भेजी गयी। कन्धार पर सरलता से अधिकार कर लिया गया। शेरअली रूसी तुर्किस्तान भाग गया और वहीं 1879 ई. में उसकी मृत्यु हुई। उसके पुत्र याकूबखाँ ने अंग्रेजों से सन्धि की बातचीत की और 26 मई, 1879 ई. को गंडमक (Gandmak) की सन्धि हो गयी। इस सन्धि के अनुसार—

1. याकूबखाँ को अफगानिस्तान का शासक स्वीकार किया गया।
2. उसने अंग्रेजों को खैबर और मिशनी के दर्रे तथा खुर्रम, पिशीन और सीबी के जिले दे दिये।
3. उसने अपनी विदेश-नीति का संचालन अंग्रेजों की सलाह से करना स्वीकार किया।
4. उसने एक अंग्रेज राजदूत काबुल में रखना स्वीकार किया।
5. अंग्रेजों ने विदेशी आक्रमण से अमीर की सुरक्षा करना तथा उसे छह लाख रुपये प्रति वर्ष सहायता के रूप में देना स्वीकार किया।

इस सन्धि के पश्चात् कुछ समय शान्ति रही और कवागनरी (Cavagnari) ने राजदूत का पद सँभाल लिया। परन्तु अफगानों में असन्तोष व्याप्त था और 3 सितम्बर, 1879 ई. को काबुल में विद्रोह हो गया। कवागनरी को उसी दिन उसके साथियों सहित मार दिया गया। लेकिन इस बार अंग्रेजों ने विद्रोह को दबाने के लिए शीघ्र कदम उठाया। काबुल और कन्धार पर शीघ्र अधिकार कर लिया गया। याकूबखाँ ने अंग्रेजों के पास शरण ली और एक प्रकार से अफगानिस्तान अंग्रेजों के हाथों में चला गया। अफगानों ने याकूबखाँ के पुत्र मुहम्मद जान को अमीर घोषित करके एक बार फिर अपने राज्य पर अधिकार करने का प्रयत्न किया परन्तु वे असफल हुए। याकूबखाँ ने अपने समस्त अधिकार त्याग दिये और उसे भारत भेज दिया गया।

प्रारम्भ में अंग्रेजों का विचार अफगानिस्तान को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँट देने का था। परन्तु उसी समय दोस्त मुहम्मद के ज्येष्ठ पुत्र अफजलखाँ का बेटा अब्दुल रहमान, जो उस समय तक रूस की कैद में था, सीमा पर आ पहुँचा और उसने अफगानिस्तान की गद्दी पर दावा किया। उसने अंग्रेजों से बातचीत की और एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, जिसके अनुसार—

---

1 "He (Lord Lytton) was told to wait until we had received the answer from Russia to our remonstrance. I was very strong on this, having good reasons for my opinion. He disobeyed us. I was assured by Lord Salisbury that, under no circumstances, was the Khyber to be attempted. Nothing would have induced me to consent to such a step. " —*Lord Disraeli.*

1. सीबी और पिशीन के जिले अंग्रेजों के पास रहे।
2. अंग्रेजों ने विदेशी आक्रमण होने पर अमीर को सहायता देना स्वीकार किया।
3. अमीर ने वायदा किया कि वह भारत सरकार की स्वीकृति के बिना किसी विदेशी शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा।
4. अंग्रेजों ने सहायता के रूप में अमीर को 12 लाख रुपया प्रति वर्ष देना स्वीकार किया।

इसके पश्चात् अंग्रेज अफगानिस्तान छोड़कर भारत आ गये और अब्दुल रहमान को अफगानिस्तान का शासक स्वीकार कर लिया गया।

द्वितीय अफगान-युद्ध के पक्ष और विपक्ष दोनों में ही मत प्रकट किये गये हैं। कुछ के अनुसार यह पूर्णतः आक्रमणकारी नीति का परिणाम था और इससे कोई लाभ नहीं हुआ। इस युद्ध में सैनिक और धन दोनों की ही क्षति हुई। परन्तु दूसरे पक्ष के अनुसार इस युद्ध से लाभ भी हुआ। अफगानिस्तान में एक विरोधी अमीर के स्थान पर एक मित्र अमीर बन गया। कोलार की खान अंग्रेजों के अधिकार में आ गयी। सीबी और पिशीन के जिले ब्रिटिश बिलोचिस्तान में सम्मिलित कर लिये गये। क्वेटा पर अधिकार हो जाने से बोलन का दर्रा भी एक प्रकार से अंग्रेजों के अधिकार में हो गया। इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजी साम्राज्य के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से यह युद्ध लाभदायक रहा।

5. तृतीय अफगान-युद्ध

द्वितीय अफगान-युद्ध के बाद भी ब्रिटेन को रूस के पूर्व की ओर बढ़ने का खतरा समाप्त नहीं हुआ। दोनों राज्यों में शंका और सन्देह के कारण उपस्थित होते रहे। 1885 ई. में रूस के पंजदेह पर अधिकार कर लेने से एक बार फिर गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी परन्तु जब रूस ने जुल्फिकार का दर्रा अफगानिस्तान को दे दिया तो झगड़ा समाप्त हो गया। अन्त में, 1895 ई. में और बाद में 1907 ई. में ब्रिटेन और रूस के समझौते द्वारा रूस और ब्रिटेन के झगड़ों का सभी स्थानों पर निर्णय कर लिया गया। इस प्रकार भारत पर रूस के आक्रमण की समस्या समाप्त हो गयी।

तृतीय अफगान-युद्ध का कारण अमीर हबीबुल्ला का दुस्साहस था। प्रथम महायुद्ध के समय में जर्मनी द्वारा भड़काये जाने पर उसने भारत की सीमाओं पर आक्रमण किया जिसमें उसे सफलता नहीं मिली। 1921 ई. में अफगानिस्तान से एक सन्धि करके मित्रता कर ली गयी। इसके पश्चात् अंग्रेजों के लिए अफगानिस्तान की ओर से कोई समस्या नहीं रही।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अफगानिस्तान के प्रति अपनायी गयी अग्रगामी नीति (Forward School) के बारे में आप क्या जानते हैं ? उसका क्या परिणाम हुआ ?
2. अफगानिस्तान के प्रति अपनायी गयी अकर्मण्यता की नीति (School of Masterly Inactivity) के बारे में आप क्या जानते हैं ? उसका पालन कब और किस प्रकार किया गया ? क्या उसे सफल माना जा सकता है ?
3. प्रथम अफगान-युद्ध के कारणों और परिणामों पर प्रकाश डालिए।
4. द्वितीय अफगान-युद्ध के कारणों पर विचार कीजिए। इस युद्ध का उत्तरदायित्व किस व्यक्ति पर अधिक स्वीकार किया गया है ?

20

लॉर्ड डलहौजी (1848-56 ई.)

1848 ई. में लॉर्ड डलहौजी (Lord Dalhousie) भारत का गवर्नर-जनरल बना। उस समय उसकी आयु 36 वर्ष थी। वह स्कॉटलैण्ड के एक कुलीन परिवार का वंशज था और व्यापार-बोर्ड के प्रधान की दृष्टि से उसने अपनी कार्यक्षमता एवं योग्यता का परिचय दिया था। अपने आठ वर्ष के शासन-काल में डलहौजी ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जिनके कारण उसे भारत के गवर्नर-जनरलों में श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया। राज्य-विस्तार और शासन-सुधार की दृष्टि से इतने अल्प-समय में जो कार्य उसने किये, उससे एक तरफ भारत में अंग्रेजी साम्राज्य का नक्शा बदल गया और दूसरी तरफ भारत के नागरिकों में असन्तोष इतनी तीव्रता से बढ़ा कि उसके जाने के एक वर्ष बाद ही भारत में विद्रोह हो गया।

डलहौजी को छितरे हुए और अव्यवस्थित राज्य से चिढ़ थी। वह एक सुसंगठित एवं शक्तिशाली आधुनिक राज्य का निर्माण चाहता था और उसकी सम्पूर्ण शक्ति इसी लक्ष्य की पूर्ति में लगी रही। उसे साधनों के औचित्य में विश्वास न था और न वह दूसरों की सलाह की परवाह करता था। उसका लक्ष्य भारत में एक विस्तृत, सुसंगठित एवं व्यवस्थित राज्य की स्थापना करना था और इसकी पूर्ति किसी भी तरह हो, यह उसकी मुख्य धारणा थी। इस कारण उसने खुले रूप में साम्राज्य-विस्तार की नीति को अपनाया। युद्ध, कुप्रबन्ध अथवा अन्य कोई भी साधन उसके लिए उचित था। परन्तु उसे केवल साम्राज्य के विस्तार मात्र से ही सन्तोष न था; वह शासन-व्यवस्था का आधुनिकीकरण भी चाहता था और इस लक्ष्य को लेकर जो सुधार उसने भारत में किये, उनके कारण कुछेक इतिहासकारों ने उसे 'आधुनिक भारत का निर्माता' भी पुकारा है। उसमें दोष भी थे जो मुख्यतः भारतीयों की दृष्टि से और भी गम्भीर थे। परन्तु डलहौजी परिश्रमी, दृढ़-निश्चयी एवं राष्ट्रप्रेमी था। ब्रिटेन उसकी मातृ-भूमि थी और उसके सम्मान व उसकी अजेयता में उसका विश्वास था। एक विदेशी होने के नाते उसके कार्यों से भारतीयों की भावनाओं को आघात पहुँचा हो अथवा उनके अधिकारों का अपहरण हुआ हो यह अन्य बात है, परन्तु जहाँ तक ब्रिटेन के हित व सम्मान की रक्षा तथा कम्पनी की शक्ति और दृढ़ता का प्रश्न है, डलहौजी ने अपने अल्प-शासनकाल में अद्वितीय कार्य किये। रैमजे म्योर (Ramsay Muir) ने लिखा है : "डलहौजी पर्याप्त योग्य और शक्तिवान, अथक परिश्रमी, दृढ़-निश्चयी, ध्येय की दृष्टि से पूर्ण ईमानदार और सत्य भक्तिभाव से अपने देश की महानता और अपनी भारतीय प्रजा के हित की देखभाल करने वाला था।"[1] परन्तु यह निश्चित है कि डलहौजी के सुधारों का मुख्य उद्देश्य भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ों को सुदृढ़ करना था।

---

1 "Dalhousie was a man of immense ability and energy, untiring industry, inflexible will, absolute honesty of purpose and real devotion to the greatness of his own country and the welfare of his Indian subject." —*Ramsay Muir.*

1. विदेश-नीति

भारतीय नरेशों और विदेशी राज्यों के प्रति डलहौजी की नीति स्पष्ट थी। अंग्रेज कम्पनी के साम्राज्य का विस्तार उसका एकमात्र लक्ष्य था। इन्स (Innes) लिखता है : "उससे पहले के गवर्नर-जनरलों ने साधारणतः इस सिद्धान्त के आधार पर कार्य किया था कि जहाँ तक सम्भव हो, राज्य-विस्तार से बचा जाय जबकि डलहौजी ने इस सिद्धान्त पर कार्य किया कि राज्य-विस्तार किया जाय बशर्ते उसके लिए कोई विधिसम्मत आधार उपस्थित हो।"[1] डलहौजी ने विभिन्न प्रकार से कम्पनी के राज्य-विस्तार हेतु जिन साधनों का प्रयोग किया, उनमें से निम्नलिखित मुख्य थे :

1. युद्ध द्वारा।
2. प्रशासनिक अव्यवस्था के आधार पर या अन्य किसी आधार पर।
3. पदों और पेंशनों की समाप्ति करके।
4. गोद की प्रथा को अस्वीकार करके।

1. युद्ध द्वारा साम्राज्य-विस्तार

(i) द्वितीय सिख-युद्ध और पंजाब पर अधिकार (इसके अध्ययन के लिए 'अंग्रेजों के सिखों के साथ सम्बन्ध' अध्याय देखिए)।

(ii) द्वितीय बर्मा-युद्ध और पेगू पर अधिकार (इसके अध्ययन के लिए 'अंग्रेजों के बर्मा के साथ सम्बन्ध' अध्याय देखिए)।

(iii) नेपाल और भूटान राज्यों के बीच में स्थित सिक्किम के छोटे से राज्य को भी डलहौजी ने दार्जिलिंग और आसपास के कुछ जिले देने के लिए बाध्य किया क्योंकि वहाँ के राजा ने अंग्रेज यात्री डॉक्टरों के साथ दुर्व्यवहार किया था।

2. प्रशासनिक अव्यवस्था या अन्य आधार पर प्राप्त किये गये राज्य

(i) 1856 ई. में अवध को शासन-प्रबन्ध की खराबी के आधार पर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया (इसके अध्ययन के लिए 'अवध के अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध और अवध का अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया जाना' अध्याय देखिए)।

(ii) 1853 ई. में बरार के प्रदेश को हैदराबाद के निजाम से छीन लिया गया। निजाम अंग्रेजी सेना के व्यय की पूर्ति नहीं कर पा रहा था और उस पर कर्जा बढ़ता जा रहा था। इस कारण कपास उत्पन्न करने वाले बरार के उपजाऊ प्रदेश को उससे छीनकर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

3. पदों और पेंशनों की समाप्ति

कुछ भारतीय नरेशों के पास अपने राज्य तो नहीं रह गये थे परन्तु उस समय तक भी वे राजा या नवाब के पद का उपयोग करते थे और पेंशन प्राप्त करते थे। मुख्यतः वैलेजली ने उनकी यह स्थिति बना दी थी। डलहौजी ने इसे पसन्द नहीं किया। 1853 ई. में कर्नाटक के नवाब की मृत्यु होने पर डलहौजी ने किसी को भी उसका उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया; यद्यपि 1867 ई. में उसके निर्णय में परिवर्तन कर दिया गया। 1855 ई. में तंजौर के राजा की मृत्यु

---

1 "His predecessors had acted on the general principle of avoiding annexation if it could be avoided, Dalhousie acted on the priuciple of annexing if he could do so legitimately." —*Innes.*

हो जाने पर डलहौजी ने किसी को भी उसका उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया। 1833 ई. में पेशवा बाजीराव द्वितीय की मृत्यु हो जाने पर उसके दत्तक पुत्र नाना साहब को उसके पिता को दी जाने वाली 8 लाख रुपया प्रति वर्ष की पेंशन नहीं दी गयी। कहा यह गया कि वह पेंशन बाजीराव द्वितीय को व्यक्तिगत रूप से दी गयी थी अतः नाना साहब को उसे प्राप्त करने का कोई अधिकार न था।

4. लॉर्ड डलहौजी की 'गोद की प्रथा' (विलय का सिद्धान्त)

लॉर्ड डलहौजी स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी था। उसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को विस्तृत करने के लिए सभी सम्भव प्रयत्न किये। अंग्रेजी राज्य को विस्तृत करने के लिए जो भी तरीका सम्भव था, उसने उसे अपनाया। जो तरीके उसने अपनाये, वे निम्नलिखित थे :

1. युद्ध के द्वारा, जैसे पंजाब और बर्मा।

2. भारतीय नरेशों के कुशासन के आधार पर उनके राज्य, पद, पेंशन आदि छीनकर, जैसे अवध, तंजौर, कर्नाटक, बरार आदि।

3. गोद की प्रथा या 'विलय का सिद्धान्त' (Doctrine of Lapse) की अस्वीकृति के आधार पर, जैसे सतारा, नागपुर, झाँसी, जैतपुर, सम्भलपुर आदि।

भारत में प्रत्येक हिन्दू को परम्परा और धर्म के अनुसार यह अधिकार है कि यदि अपनी पत्नी से उसके कोई सन्तान न हो तो वह किसी भी लड़के को गोद ले सकता है जिसे प्रत्येक प्रकार से उसका उत्तराधिकारी स्वीकार किया जाता है और जिसे अपने पिता की भाँति ही प्रत्येक प्रकार के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक अधिकार और उत्तरदायित्व प्राप्त हो जाते हैं। उसे प्रत्येक प्रकार से गोद लेने वाले पिता की सन्तान स्वीकार किया जाता है।

अंग्रेजों ने भी प्रारम्भ में इस अधिकार को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया था। 1825 ई. में ब्रिटिश सरकार ने एक घोषणा की : "प्रत्येक सत्ताधारी शासक को हिन्दू कानून के अनुसार लड़का गोद लेने का अधिकार है और अंग्रेज-सरकार इस अधिकार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है।"[1]

परन्तु कुछ समय पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अपनी इस नीति में परिवर्तन कर दिया। उसने घोषणा की कि अधीनस्थ राज्यों के नरेशों को किसी भी बच्चे को गोद लेने से पहले अंग्रेज-सरकार की स्वीकृति लेनी चाहिए। 1831 ई. में बम्बई की अंग्रेज-सरकार ने यह भी दावा किया : "परिस्थितियों के अनुसार अंग्रेजों को भारतीय नरेशों की बच्चा गोद लेने की प्रथा को स्वीकृत या अस्वीकृत करने का अधिकार है।"

अंग्रेज-सरकार अपने उपर्युक्त अधिकार का व्यावहारिक दृष्टि से किस प्रकार प्रयोग करेगी, यह स्पष्ट नहीं था। अनेक अवसरों पर उसने नरेशों के बच्चा गोद लेने के अधिकार को पूर्णतः स्वीकार कर लिया जबकि कुछ अन्य अवसरों पर उसने नरेशों के बच्चा गोद लेने के अधिकार का विरोध किया। अंग्रेज यह अवश्य चाहते थे कि शासक अपनी मृत्यु से पहले ही किसी बच्चे को गोद ले लें परन्तु बहुत-से अवसरों पर इसका पालन न होने की दशा में भी

---

1 "Sovereign princes in their own right have by Hindu law, a right to adopt and that the British government is bound to acknowledge the adoption."
—Declaration of British Government in 1825.

अंग्रेजों ने गोद लिये हुए बच्चे को स्वीकार कर लिया था। दौलतराव सिन्धिया की मृत्यु 1827 ई. में हुई थी और अपनी मृत्यु तक उसने किसी भी बच्चे को गोद नहीं लिया था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी बैजाबाई ने जानकोजी को गोद ले लिया। लेकिन 1843 ई. में जब जानकोजी की मृत्यु हो गयी तब दौलतराव की सबसे बड़ी विधवा ने जयाजीराव को गोद लिया। दोनों ही अवसरों पर अंग्रेजों ने गोद लिये हुए बच्चों को स्वीकार कर लिया। उस समय तक अंग्रेजों ने नरेशों के गोद लेने के अधिकार को यहाँ तक स्वीकारा कि तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि स्वयं अपने पिता की सन्तान होने के कारण शासक बनने वाले नरेशों की तुलना में गोद लिये हुए नरेश भारत में अधिक थे। जॉन सुलीवान (John Sullivan) का कथन है कि 1826 ई. के प्रस्ताव के आधार पर 1826-48 ई. के समय में कम से कम पन्द्रह गोद लिये गये नरेशों के उत्तराधिकार के अधिकार को अंग्रेजों ने स्वीकार किया था।

परन्तु दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जबकि अंग्रेजों ने गोद लेने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया। 1835 ई. में झाँसी के शासक रामचन्द्र राव ने अपनी मृत्यु से पहले ही एक बच्चे को गोद लिया लेकिन उसकी स्वीकृति अंग्रेजों से नहीं ली। उसकी मृत्यु के पश्चात् अंग्रेजों ने उसके गोद लिये हुए बच्चे को शासक स्वीकार नहीं किया और उसके स्थान पर मृतक शासक के चाचा रघुनाथ राव को शासक स्वीकार किया। लेकिन उस समय में गोद लिये हुए बच्चे को स्वीकार न करने का यह अर्थ कदापि नहीं था कि उस राज्य को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया जायेगा जैसा कि बाद में हुआ। 1832 ई. में जालौन के शासक को बच्चा गोद लेने की आज्ञा दे दी गयी थी परन्तु 1840 ई. में जब उस बच्चे की मृत्यु हो गयी तो लॉर्ड ऐलनबरो ने शासक को दूसरा बच्चा गोद लेने की आज्ञा नहीं दी और जालौन को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। 1822 ई. में कोलाबा के शासक राघोजी आंग्रिया ने एक सन्धि के द्वारा अंग्रेजों को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार कर लिया था। 1842 ई. में जब उसने अंग्रेजों से बच्चा गोद लेने की आज्ञा माँगी तो उसे अस्वीकार कर दिया गया और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया। इसी प्रकार माण्डवी के राज्य को भी अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उस समय तक अंग्रेजों ने भारतीय नरेशों के गोद लेने के अधिकार के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बनाया था। 1837 ई. में इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया गया परन्तु कोई निर्णय न हो सका। लॉर्ड डलहौजी ने भारत में भारतीय राज्यों को निम्नलिखित तीन श्रेणियों में विभाजित किया :

1. वे राज्य जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों द्वारा स्थापित किये गये थे;
2. वे राज्य जो अंग्रेजों के अधीन राज्य थे; और
3. वे राज्य जो स्वतन्त्र राज्य थे।

भारतीय राज्यों को उपर्युक्त आधार पर विभाजित करके उसने प्रतिपादित किया कि प्रथम श्रेणी के नरेशों को बच्चा गोद लेने का अधिकार नहीं दिया जायेगा; द्वितीय श्रेणी के नरेशों के लिए यह आवश्यक था कि वे बच्चा गोद लेने से पहले अंग्रेजों से स्वीकृति लें जिसे अंग्रेज अस्वीकार भी कर सकते थे; और तृतीय श्रेणी के नरेश किसी भी बच्चे को गोद लेने के लिए स्वतन्त्र थे।

इस प्रथा के आधार पर डलहौजी ने सतारा, झाँसी, सम्भलपुर, नागपुर और जैतपुर राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया। सतारा के राजा ने बिना अंग्रेजों की अनुमति

के एक बच्चा गोद लिया परन्तु राजा की मृत्यु (1848 ई.) के पश्चात् अंग्रेजों ने उस बच्चे को राजा का उत्तराधिकारी स्वीकार नहीं किया और सतारा को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया। झाँसी के राजा गंगाधर राव ने अपनी मृत्यु होने से पूर्व अंग्रेजों से बच्चा गोद लेने की अनुमति माँगी परन्तु उसकी प्रार्थना पर विचार होने से पहले ही उसकी मृत्यु हो गयी और डलहौजी ने राजा की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया तथा 1854 ई. में झाँसी को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। 1849 ई. में सम्भलपुर के राजा नरायनसिंह की मृत्यु हो गयी और उसकी विधवा रानी ने शासन अपने हाथों में ले लिया परन्तु डलहौजी ने गद्दी पर रानी के अधिकार को स्वीकार नहीं किया तथा सम्भलपुर को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया। 1843 ई. में नागपुर के राजा की मृत्यु हो गयी। उस समय तक उसने कोई बच्चा गोद नहीं लिया था, अतः डलहौजी ने नागपुर को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया।

डलहौजी ने जिस प्रकार भारतीय राज्यों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया था, उसे भारतीय विद्वान तर्कसंगत नहीं मानते। यह कहना सर्वथा अनुचित है कि अंग्रेजों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भारत में किन्हीं राज्यों का निर्माण किया था। प्रत्येक राज्य किसी न किसी रूप में अंग्रेजों से पहले ही भारत में विद्यमान था। दूसरे, यह कहना गलत था कि भारत में कुछ ऐसे भी राज्य थे जो अंग्रेजों के अधीन राज्य माने जा सकते थे। 1858 ई. तक जब तक कि मुगल बादशाह को भारत सम्राट के पद से नहीं हटा दिया गया तब तक कानूनी आधार पर भारत की सर्वोच्च सत्ता उसी के हाथों में थी। व्यावहारिक दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी कानूनी आधार पर भारत के सभी राज्य उसी के अधीन माने जाते थे। स्वयं अंग्रेज भी प्रारम्भ में मुगल बादशाह के इस अधिकार को स्वीकार करते थे। बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों ने मुगल बादशाह के आदेश-पत्र द्वारा ही प्राप्त की थी। फिर कब और कैसे अंग्रेज भारत की सर्वोच्च सत्ता बन गये, यह समझ में नहीं आता। स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने सर्वोच्च सत्ता का अधिकार केवल शक्ति के आधार पर ही प्राप्त किया था। उसके पीछे कोई नैतिक या कानूनी आधार न था। अन्त में यह कहना पड़ता है कि अंग्रेजों का अधीनस्थ राज्यों और स्वतन्त्र राज्यों में अन्तर करने का आधार स्पष्ट न था। डलहौजी ने करौली के राज्य को अधीन राज्य माना, उसके राजा को गोद लेने का अधिकार नहीं दिया तथा उसे अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना चाहा, परन्तु डायरेक्टरों की सभा ने करौली को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार करते हुए राजा को बच्चा गोद लेने की आज्ञा प्रदान कर दी। अतएव करौली-राज्य को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया।

उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त विभिन्न विद्वानों ने उपयुक्तता, नैतिकता और उपयोगिता के आधार पर गोद की प्रथा के पक्ष और विपक्ष में अपने मत प्रकट किये हैं। अनेक विद्वानों का कहना है कि हिन्दुओं में बच्चा गोद लेने का अधिकार परम्परा और धर्म, दोनों आधारों पर स्वीकृत था और ऐसा कोई उदाहरण या कारण न था कि इस अधिकार से किसी हिन्दू को वंचित किया जाता। हिन्दुओं की केवल एक धार्मिक पुस्तक *'वशिष्ठ संहिता'* में यह लिखा हुआ प्राप्त होता है कि एक व्यक्ति को बच्चा गोद लेने से पहले राजा को सूचना देनी चाहिए परन्तु इसका भी यह अर्थ न था कि बिना राजा की स्वीकृति के बच्चे का गोद लिया जाना अनुचित था। वास्तव में यह अधिकार इतना अधिक मान्य था कि हिन्दुओं की अन्य किसी भी धर्म-पुस्तक में इस पर विचार तक नहीं किया गया है। इस कारण धार्मिक आधार पर अंग्रेजों को हिन्दुओं का यह अधिकार स्वीकार करना चाहिए था।

परम्परा के आधार पर भी अंग्रेजों के पास कोई ऐसा उदाहरण न था जबकि किसी हिन्दू को इस अधिकार से वंचित किया गया हो। बैल (Bell) लिखंता है कि "दिल्ली के शासकों

या पेशवाओं ने कभी यह नहीं कहा कि उन्हें अपने ऊपर निर्भर करने वाले किसी भी सरदार को बच्चा गोद लेने से रोकने का अधिकार है। ऐसा कोई भी उदाहरण प्राप्त नहीं होता।"[1] बैल ने पुनः लिखा है : "भारत में किसी भी नरेश को बच्चा गोद लेने या न लेने की स्वीकृति या अस्वीकृति देने का विशेष अधिकार सर्वोच्च सत्ता का नहीं था। यह ऐतिहासिक दृष्टि से गलत है और किसी भी मान्य पुस्तक द्वारा इस सिद्धान्त अथवा परम्परा को अभी तक सत्य नहीं ठहराया जा सका है।"[2]

उपर्युक्त विचार के विपक्ष में ली वार्नर (Lee Warner) लिखता है कि पेशवा परम्परा के आधार पर उत्तराधिकार को स्वीकार करते थे और उसके बदले में नजराना या उत्तराधिकार-कर वसूल करते थे। इसी आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ब्रिटिश सरकार को यह अधिकार था कि वह पेशवाओं की भाँति इस अधिकार का प्रयोग करती अथवा किन्हीं अन्य तरीकों द्वारा इस अधिकार का प्रयोग करती। लेकिन ली वार्नर का यह निष्कर्ष आश्चर्यजनक है। पेशवाओं के इतिहास में ऐसे उदाहरण तो मिल जाते हैं जबकि बहुत निम्न श्रेणी के जागीरदारों के सम्बन्ध में इस अधिकार का प्रयोग किया गया हो परन्तु ऐसा कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता जबकि इसका प्रयोग किसी राजा के सम्बन्ध में किया गया हो। भारतीयों ने कभी भी इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया। सतारा, झाँसी और नागपुर का अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया जाना भारत में सर्वथा अन्यायपूर्ण माना गया था। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों ने जो सन्धियाँ भारतीय नरेशों से की थीं उनमें से किसी में भी यह उल्लेख नहीं किया गया था कि अंग्रेजों को भारतीय नरेशों को बच्चा गोद लेने या न लेने-देने के विषय में हस्तक्षेप करने का अधिकार है और न कभी इस प्रकार का कोई कानून ही बनाया गया था। इस प्रकार अंग्रेजों को भारतीय नरेशों को बच्चा गोद लेने से रोकने का न तो कोई नैतिक या कानूनी अधिकार था और न वे इस अधिकार का प्रयोग परम्परा के आधार पर कर सकते थे। इस अधिकार का प्रयोग डलहौजी ने केवल उपयोगिता और साम्राज्य-विस्तार की लालसा के कारण किया था।

परन्तु उपयोगिता के आधार पर भी डलहौजी का इस अधिकार का प्रयोग करना विवाद का विषय है। यह पूर्णतः सत्य है कि इससे कुछ मात्रा में अंग्रेजी राज्य का विस्तार अवश्य हुआ परन्तु जैसा कि कुछ अंग्रेज इतिहासकार कहते हैं कि इससे नागरिकों को प्रसन्नता भी हुई, सर्वथा गलत है। नागपुर, झाँसी व अवध को जब अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया तो डलहौजी ने कहा था : "महल की दीवारों के बाहर फुसफुसाहट तक नहीं हुई,"[3] क्योंकि नागरिकों ने अंग्रेजी शासन को भारतीय नरेशों के अत्याचारों से बचने का आधार माना। परन्तु आगे आने वाले इतिहास की घटनाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि डलहौजी का उपर्युक्त कथन सर्वथा गलत था। नागपुर और झाँसी के नागरिकों का असन्तोष और अवध के नागरिकों का 1857 ई. के विद्रोह में भाग लेना इस बात का प्रमाण है कि भारतीय इन राज्यों को अंग्रेजी राज्य में

---

1 "Neither the kings of Delhi nor the Peshwas ever exercised or claimed the right of forbidding adoption in the families of dependent chieftains. There is not a single case on record." —*Bell.*

2 "The prerogative of recognising or refusing to recognise the adopted son of a native prince never belonged to the paramount power in India. The assumption of such prerogative is historically false. Neither the doctrine nor the practice has yet been proved by any authentic record." —*Bell.*

3 "Not a murmur was heard beyond the palace walls." —*Lord Dalhousie.*

सम्मिलित किये जाने पर प्रसन्न नहीं हुए थे। विद्रोह ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि डलहौजी द्वारा 'गोद की प्रथा' के आधार पर भारतीय नरेशों के राज्यों का अपहरण अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ था। इसी कारण विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नरेशों द्वारा बच्चा गोद लेने के अधिकार को स्वीकार कर लिया। इसी आशय से सर चार्ल्स वुड ने 26 जुलाई, 1860 ई. को भारत-सरकार को लिखा कि हमें यह सिद्ध करना है कि "जिस प्रकार हम अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हैं, उसी प्रकार हम दूसरों के अधिकारों का सम्मान करने के भी इच्छुक हैं।"[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डलहौजी का 'गोद की प्रथा' के आधार पर भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना न तो कानूनी था, न न्यायपूर्ण, न व्यावहारिक और न ही उपयोगी।

2. डलहौजी के सुधार

डलहौजी केवल अंग्रेज कम्पनी के साम्राज्य-विस्तार से ही सन्तुष्ट न था। वह उस साम्राज्य को संगठित शासन-सूत्र में भी बाँधना चाहता था जिससे भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ें स्थायी हो सकें। इस उद्देश्य से उसने विभिन्न सुधार किये। शासन का कोई क्षेत्र ऐसा न था जिस तरफ उसने ध्यान न दिया हो। इन सुधारों को करते हुए उसने अनेक नवीन कार्यों को शुरू किया जिनके आधार पर भारत के आधुनिकीकरण की नींव पड़ी और जिसके कारण उसे 'आधुनिक भारत का निर्माता' भी पुकारा गया। डलहौजी ने मुख्यतः निम्नलिखित सुधार किये :

1. शासन-सुधार

गवर्नर-जनरल के शासन-भार को कम करने के लिए बंगाल के सूबे के शासन का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व उसके हाथों से ले लिया गया और बंगाल के शासन के लिए एक पृथक लेफ्टिनेण्ट-गवर्नर की नियुक्ति की गयी। जो नवीन भूमि अंग्रेजों ने प्राप्त की थी उसके शासन के लिए कमिश्नर नियुक्त किये गये, जैसे पंजाब में। ये कमिश्नर अपने भू-क्षेत्र के शासन के लिए प्रत्यक्ष रूप से केवल गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तरदायी थे।

चार बड़े नये प्रान्तों—पंजाब, बर्मा, नागपुर तथा अवध के प्रशासन के लिए डलहौजी ने आधार के रूप में पहले से चली आ रही परम्पराओं, प्रथाओं एवं शासन-विधियों को ही जारी रखा। केवल ऊपरी ढाँचा अंग्रेजी भारत में आरम्भ की हुई व्यवस्थाओं के आधार पर खड़ा किया गया। इससे यहाँ के नागरिकों के दैनिक जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उनका जीवन पूर्ववत् चलता रहा। वे उसी समय परिवर्तन का अनुभव करते थे जब उनका साक्षात्कार अंग्रेज लगान-अधिकारियों अथवा अंग्रेजी न्यायालयों से होता था। यह व्यवस्था पर्याप्त सफल रही।

डलहौजी के शासन की एक मुख्य विशेषता यह भी थी कि उसने जिले के प्रधान डिप्टी-कमिश्नरों को न केवल प्रशासनिक अपितु न्याय, राजस्व और पुलिस-व्यवस्था के उत्तरदायित्व भी सौंप दिये थे जिससे जिला-स्तर पर प्रशासन का केन्द्रीकरण हो गया। तत्कालीन परिस्थितियों में डलहौजी की यह व्यवस्था भी सफल रही यद्यपि, बाद में, इसमें परिवर्तन करना आवश्यक हो गया और हुआ भी। बाद के समय में जिला-अधिकारियों से पुलिस और फ़ौजदारी न्याय के अधिकार छीन लिये गये।

---

1 "We are as willing to respect the rights of others as we are capable of maintaining our own." —*Despatch of Sir Charles Wood to the Government of India.*

2. सैनिक-सुधार

डलहौजी की विस्तृत विजयों ने कम्पनी के साम्राज्य में अत्यधिक वृद्धि कर दी थी और पंजाब, सिन्ध तथा अवध के अंग्रेजी साम्राज्य में सम्मिलित हो जाने के कारण बंगाल कम्पनी के सैनिक-शासन का केन्द्र-स्थल बने रहने की स्थिति में नहीं रह गया था। इस कारण सेना को उत्तर में लाने की व्यवस्था की गयी। सेना का स्थायी केन्द्र-स्थल शिमला को बनाया गया, यद्यपि यह कार्य 1865 ई. में पूर्ण हो सका। इसी प्रकार बंगाल के तोपखाने को कलकत्ता से हटाकर मेरठ लाया गया। डलहौजी ने यह भी अनुभव किया था कि अंग्रेज सैनिकों की तुलना में भारतीय सैनिकों का संख्या में अधिक होना अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए खतरनाक था। इस कारण उसने भारतीय सैनिकों में कमी करके अंग्रेज सैनिकों में वृद्धि करने का प्रयत्न किया। उसने अंग्रेज सैनिकों की तीन नवीन रेजीमेण्ट तैयार कीं, अंग्रेज सैनिकों की रेजीमेण्ट को चीन और फारस के युद्ध में भेजने का विरोध किया तथा जहाँ तक सम्भव हो सका, भारतीय सैनिकों में कमी की। पंजाब में उसने पूर्णतः अंग्रेजों के नेतृत्व में एक नवीन सेना का गठन किया और गोरखों को कम्पनी की सेना में भर्ती करना आरम्भ किया। निस्सन्देह, उसके इन सुधारों ने 1857 ई. के विद्रोह के अवसर पर कम्पनी की सत्ता की सुरक्षा करने में विशेष सहायता दी।

3. शिक्षा-सुधार

डलहौजी ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। 1853 ई. में उसने प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में कई आदेश दिये। 1854 ई. में बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल (Board of Control) के सभापति चार्ल्स वुड (Charles Wood) ने शिक्षा के सम्बन्ध में भारत सरकार को अपने सुझाव (Woods Despatch) भेजे। इनके द्वारा प्रत्येक जिले में स्कूल और कॉलेज की स्थापना के साथ प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में एक विश्वविद्यालय की स्थापना का सुझाव प्रस्तुत किया गया था। व्यक्तिगत प्रयत्नों से स्कूल तथा कॉलेज खोलने को प्रोत्साहन देना और सरकार द्वारा उन्हें सहायता देने की व्यवस्था का भी इनमें सुझाव था। प्रत्येक जिले में शिक्षा-इंस्पेक्टरों की नियुक्ति तथा प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा के लिए एक डायरेक्टर की व्यवस्था भी इनके अन्तर्गत थी। डलहौजी ने, जहाँ तक सम्भव हो सका, इन सुझावों को कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में परीक्षा लेने वाले विश्वविद्यालय खोले गये, रुड़की में इन्जीनियरिंग कॉलेज खोला गया और कलकत्ता में एक कृषि-कॉलेज की स्थापना की गयी।

4. रेलवे, डाकखाने और तार की व्यवस्था

भारत में कम्पनी के साम्राज्य की सुरक्षा के लिए आवागमन तथा सूचना के साधनों में वृद्धि करने का प्रयत्न किया गया। भारत के महत्वपूर्ण भागों को परस्पर मिलाने के लिए रेलवे लाइनें बिछाने की योजना बनायी गयी और उनमें से कुछ को डलहौजी के समय में ही तैयार किया गया। 1853 ई. में बम्बई और थाना के बीच रेलवे लाइन डाली गयी और दूसरी रेलवे लाइन कलकत्ता और बिहार के रानीगंज क्षेत्र के बीच में डाली गयी। मद्रास में भी कुछ रेलवे लाइनें बनायी गयीं।

इसी प्रकार, 1852 ई. में सर्वप्रथम भारतीय तार-विभाग की स्थापना की गयी। पेशावर और कलकत्ता, बम्बई और मद्रास तथा भारत के अन्य महत्वपूर्ण भागों को मिलाने के लिए करीब 4,000 मील में तार की व्यवस्था की गयी। बर्मा में रंगून से माँडले तक तार की व्यवस्था की गयी।

एक कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर 1854 ई. में 'डाकखाना एक्ट' बनाया गया। डाक-व्यवस्था के लिए डायरेक्टर-जनरल की नियुक्ति की गयी, विभिन्न स्थानों पर डाकखाने स्थापित किये गये और भारत में एक स्थान से किसी भी दूसरे स्थान तक आधा आने (उस समय के दो पैसे) के टिकट के द्वारा पत्र भेजने की व्यवस्था की गयी।

ये सभी कार्य ऐसे थे जो शासन की सुविधा और मुख्यतः अंग्रेजी साम्राज्य की दृढ़ता के लिए किये गये थे परन्तु इन सभी से अन्त में सार्वजनिक लाभ भी हुआ और भारत में पहली बार विज्ञान की प्रगति से उत्पन्न लाभदायक साधनों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

5. लोक-सेवा विभाग

डलहौजी से पूर्व लोक-सेवा-निर्माण के कार्य सैनिक-बोर्ड के हाथों में थे। डलहौजी ने अपने समय में इसके लिए एक पृथक विभाग खोला और उसको पर्याप्त मात्रा में धन दिया। इस विभाग ने सार्वजनिक सड़कों व नहरों आदि का निर्माण अपने हाथ में लिया। उसी के समय में ग्राण्ड-ट्रंक रोड का पुनःनिर्माण किया गया, अनेक स्थानों पर पुल बनाये गये, गंगा नदी से नहर निकाली गयी और पंजाब में नहरों का जाल बिछाया गया। इस प्रकार लोक-हितकारी कार्यों को करने के लिए सरकार के उत्तरदायित्व में वृद्धि हुई।

6. व्यापारिक सुधार

डलहौजी ने स्वतन्त्र-व्यापार की नीति अपनायी और भारत के सभी बन्दरगाह व्यापार के लिए स्वतन्त्र कर दिये गये। कराँची, बम्बई और कलकत्ता के बन्दरगाहों को विस्तृत और ठीक किया गया जिससे बड़े और अधिक जहाज वहाँ आ सकें। उसने नाविकों की स्थिति में सुधार करने के लिए 'मर्चेण्ट सर्विस एक्ट' बनाया। उसने चाय, कपास आदि की खेती और व्यापार को प्रोत्साहन दिया। निस्सन्देह, यह कार्य ब्रिटेन की स्वतन्त्र-व्यापार की नीति और ब्रिटेन को अधिक मात्रा में तथा सस्ते मूल्य पर कच्ची उपयोगी वस्तुएँ प्रदान करने की सुविधा को देखकर किये गये थे। इससे भारत के आर्थिक शोषण में वृद्धि हुई।

इस प्रकार लॉर्ड डलहौजी ने विभिन्न प्रकार के सुधार किये। निश्चय ही इन सुधारों को करने का मूल कारण अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा और ब्रिटेन के हितों की पूर्ति करना था परन्तु फिर भी भारत को भी इससे कुछ लाभ हुआ और कई ऐसे नवीन कार्य आरम्भ हुए जिन्होंने भारत की भविष्य की प्रगति पर गम्भीर प्रभाव डाला। इसी कारण अंग्रेज इतिहासकारों ने डलहौजी की बहुत प्रशंसा की है। सर रिचार्ड टैम्पिल (Sir Richard Temple) ने लिखा है कि "एक साम्राज्यवादी शासन-प्रबन्धक की दृष्टि से भारत का शासन करने के लिए भेजे गये महान् व्यक्तियों में से कोई भी डलहौजी से श्रेष्ठ न था और कठिनाई से ही कोई उसकी समानता में आता है।"[1] पी. ई. रॉबर्ट्स ने लिखा है कि "उसने लॉर्ड वैलेजली के पश्चात् भारत के भाग्य को अपने व्यक्तित्व से सबसे अधिक प्रभावित किया।"[2]

निस्सन्देह, अंग्रेज गवर्नर-जनरलों में लॉर्ड डलहौजी श्रेष्ठ था परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उसने जिन व्यक्तियों पर शासन किया, उनकी भावनाओं का उसने कोई ध्यान नहीं

---

1 "As an Imperial administrator, Dalhousie has never been surpassed and seldom equalled to any of the illustrious men whom England has sent forth to govern India."
—*Sir Richard Temple.*

2 "He was destined to leave a personal impression on the destinies of India than any of his predecessors since Lord Welleseley."
—*P. E. Roberts.*

रखा था तथा सार्वजनिक हित और भारत के आधुनिकीकरण के लिए जो कार्य उसने किये थे, उनका मुख्य लक्ष्य अंग्रेज कम्पनी, अंग्रेजी साम्राज्य और ब्रिटेन का हित था। भारतीयों को जो लाभ प्राप्त हुआ वह तो उसकी नीति का अप्रत्यक्ष परिणाम मात्र था। इसी कारण उसने भारत में जो तीव्र असन्तोष उत्पन्न किया उसके कारण 1857 ई. के विद्रोह का एक कारण उसकी नीति को भी माना गया है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. डलहौजी की 'गोद की प्रथा' (Doctrine of Lapse) के बारे में आप क्या जानते हैं ? उसने भारत में अंग्रेजी राज्य के विस्तार में किस प्रकार सहयोग दिया ?
2. "डलहौजी आधुनिक भारत का निर्माता था।" उपर्युक्त कथन के आधार पर डलहौजी के सुधारों का विश्लेषण कीजिए।

21

अवध के साथ अंग्रेजों के सम्बन्ध और अवध का अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया जाना

अवध के साथ अंग्रेजों का सम्पर्क सर्वप्रथम क्लाइव के समय में हुआ। बक्सर के युद्ध के पश्चात् क्लाइव ने जो राजनीतिक समझौता किया था उसके अनुसार नवाब से इलाहाबाद और कड़ा के जिले लेकर मुगल बादशाह शाहआलम को दे दिये गये थे और 50 लाख रुपये लेकर अवध नवाब को वापस कर दिया गया था।

वारेन हेस्टिंग्स के समय में 1773 ई. में 50 लाख रुपया लेकर इलाहाबाद और कड़ा नवाब को पुनः वापस कर दिये गये और अंग्रेजों की सहायता पाकर नवाब ने रुहेलखण्ड पर अपना अधिकार किया। 1775 ई. में एक सन्धि के अनुसार अंग्रेजों ने अवध के बनारस का राज्य छीन लिया। वारेन हेस्टिंग्स से सहायता प्राप्त करके अवध के नवाब ने अपने पिता की बेगमों से धन का अपहरण किया। अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए नवाब से उसी समय से धन लिया जाने लगा।

जिस समय लॉर्ड कार्नवालिस भारत आया, अवध की शासन-व्यवस्था खराब थी। अवध को अंग्रेजी सेना के व्यय के लिए पर्याप्त धन देना पड़ता था और उसके शासन में अंग्रेज प्रतिनिधि का हस्तक्षेप था। स्वयं कार्नवालिस ने अवध के शासन की कटु शब्दों में आलोचना की। लेकिन अंग्रेजों के लिए अवध महत्वपूर्ण था। अंग्रेज चाहते थे कि अवध का राज्य उनके और मराठा-राज्य के बीच का राज्य बना रहे। इस कारण वे उसे सर्वथा निर्बल भी नहीं बनाना चाहते थे। इस प्रकार अवध उस समय तक अंग्रेजों के लिए मराठा आक्रमणों से बचने का आधार था। कार्नवालिस ने तत्कालीन नवाब के योग्य मन्त्री हैदरबेग से भेंट की। हैदरबेग ने माँग की कि अंग्रेजी सेना अवध से हटा ली जाय क्योंकि उसके व्यय का भार बहुत अधिक था। कार्नवालिस ने अंग्रेज सेना को हटाना तो स्वीकार नहीं किया परन्तु नवाब से प्रति वर्ष लिये जाने वाले धन में कमी कर दी। उस समय से 74 लाख रुपये के स्थान पर नवाब 50 लाख रुपये प्रति वर्ष अंग्रेजों को देने लगा।

1797 ई. में नवाब आसफउद्दौला की मृत्यु हो जाने के बाद उसके भाई सादतअली और उसके लड़के वजीरअली में गद्दी के लिए झगड़ा हुआ। सर जॉन शोर ने उस झगड़े में हस्तक्षेप किया और 1798 ई. में सादतअली को नवाब बना दिया। उसके साथ एक सन्धि की गयी जिसके अनुसार—

1. अंग्रेजों को प्रति वर्ष दी जाने वाली धनराशि 50 लाख से 76 लाख रुपये कर दी गयी।
2. इलाहाबाद का किला अंग्रेजों को दे दिया गया।
3. नवाब ने 12 लाख रुपये अंग्रेजों को इसलिए दिये कि उन्होंने उसे गद्दी पर बैठाने में सहायता दी थी।

4. नवाब ने वायदा किया कि वह बिना अंग्रेजों की आज्ञा के किसी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं रखेगा और न किसी यूरोपियन व्यक्ति को अपने यहाँ नौकरी देगा और न उसे अपने राज्य में बसने देगा।

5. नवाब मृतक नवाब आसफउद्दौला के पुत्र वजीरअली को पचास हजार रुपये प्रति वर्ष और उसके अन्य भाइयों को भी उचित धन पेंशन के रूप में देगा।

इस प्रकार इस सन्धि से नवाब का व्यय बढ़ा और अंग्रेजों की सत्ता का अवध में विस्तार हुआ। इससे शासन में बुराइयाँ बढ़ीं। लॉर्ड वैलेजली ने आते ही अवध की ओर ध्यान दिया। उसका लक्ष्य अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना था। उसने नवाब से माँग की कि वह अपनी सेना को भंग कर दे क्योंकि अंग्रेजी सेना उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करेगी और नवाब केवल उतनी ही सेना अपने पास रखे जितनी कर की वसूली के लिए आवश्यक है। नवाब ने एक बार गद्दी छोड़ने का निर्णय कर लिया परन्तु बाद में अपने निश्चय में परिवर्तन कर दिया और वैलेजली के हाथ से अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का एक अवसर निकल गया। लेकिन 1801 ई. में वैलेजली ने नवाब को एक सहायक-सन्धि स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार—

1. अंग्रेजों की सहायक-सेना के व्यय के लिए रुहेलखण्ड और निचले दोआब को सर्वदा के लिए अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया;

2. अवध का नवाब किसी भी अन्य राज्य से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता था;

3. अवध की सीमाओं में एक अंग्रेजी सहायक-सेना रखी गयी; और

4. एक अंग्रेज रेजीडेण्ट नवाब के दरबार में रखा गया।

इस प्रकार लॉर्ड वैलेजली के समय तक अवध का नवाब पूरी तरह से अंग्रेजों के हाथ में चला गया और उसका प्रायः आधा राज्य उससे छीन लिया गया। नवाब अपने आन्तरिक शासन में केवल नाममात्र के लिए स्वतन्त्र था। वस्तुतः उसे अंग्रेज रेजीडेण्ट की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। नवाब के हाथों में वास्तव में कोई सत्ता न थी, उसकी अपनी कोई सेना न थी, शासन में अंग्रेज हस्तक्षेप करते थे और विदेशी आक्रमण से उसकी सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व अंग्रेजों का था। ऐसी स्थिति में अवध का शासन निरन्तर खराब होता चला गया। नवाब और उसके ताल्लुकेदारों के अत्याचार जनता पर बढ़ते गये और उनसे बचने का कोई मार्ग न था क्योंकि आन्तरिक विद्रोह और विदेशी आक्रमण से अंग्रेज नवाब की सुरक्षा करते थे। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि शासन की दुर्व्यवस्था का उत्तरदायित्व बहुत कुछ अंग्रेजों पर था। अंग्रेज निरन्तर नवाब से धन की माँग करते थे और केवल अपने हितों की रक्षार्थ शासन में हस्तक्षेप करते थे। ऐसी स्थिति में कोई योग्य नवाब भी शासन की बुराइयों को दूर नहीं कर सकता था। अंग्रेजों ने कई बार नवाब को धमकी दी कि यदि उसने शासन में सुधार नहीं किया तो उसका राज्य उससे छीन लिया जायेगा। परन्तु अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया क्योंकि अवध का प्रत्येक नवाब सर्वदा अंग्रेजों के प्रति वफादार रहा। एक अंग्रेज इतिहासकार लिखता है : "इसमें सन्देह नहीं कि नवाब बुरे शासक थे परन्तु इसे भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वे अच्छे मित्र थे। अपनी मनुष्यता और अपनी प्रजा को धोखा देते हुए भी वह अंग्रेज सरकार के प्रति वफादार थे।"[1] इस कारण अवध को बहुत समय तक अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाया गया।

---

1 "Nawabs were, doubtless, bad rulers and bad men but it must be admitted that they were good allies. False to their people, false to their manhood, they were true to the British government."
—*A British Historian.*

लॉर्ड हेस्टिंग्स को युद्धों के कारण धन की आवश्यकता हुई और अवध के नवाब ने उसे दो करोड़ रुपये दिये। इसके बदले में उसे राजा का पद दिया गया। लॉर्ड एम्हर्स्ट के समय में नवाब से पचास लाख रुपये लिये गये और लॉर्ड विलियम बेन्टिक ने नवाब से 62 लाख रुपया प्राप्त किया।

लॉर्ड विलियम बेन्टिक ने नवाब से धन भी प्राप्त किया और उसे धमकी भी दी कि यदि उसने अपने शासन में सुधार नहीं किया तो उसका राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया जायेगा। नवाब और उसके योग्य मन्त्री हकीम मेहदी (Hakim Mehdi) ने शासन में सुधार करने का प्रयत्न किया और इस विषय में अंग्रेजों से सहायता माँगी। परन्तु बेन्टिक ने सहायता देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इस बात पर हकीम मेहदी ने अपने पद को छोड़ दिया। बेवरिज (Beveridge) ने इस विषय में लिखा है कि अवध के जागीरदारों का यह सोचना उचित था कि "गवर्नर-जनरल का मुख्य उद्देश्य अवध के शासन में सुधार करना न था; वह तो शासन की कुव्यवस्था को अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का आधार बनाना चाहता था।"[1]

1837 ई. में नवाब नासिरुद्दीन की मृत्यु हो जाने पर अंग्रेजों ने अवध के उत्तराधिकार के प्रश्न पर पुनः हस्तक्षेप किया और नासिरुद्दौला को गद्दी पर बैठा दिया। वह एक दुर्बल और वृद्ध व्यक्ति था तथा उसने अंग्रेजों को विश्वास दिलाया था कि यदि वे उसे नवाब बना देंगे तो वह किसी भी प्रकार की सन्धि पर हस्ताक्षर कर देगा। गद्दी पर बैठते ही उसने यही किया। एक नवीन सन्धि के द्वारा उसने स्वीकार किया कि नवाब अपनी पुरानी सेना को पूर्णतः समाप्त कर देगा और एक नवीन सेना की भर्ती करेगा जिसका संगठन अंग्रेज करेंगे लेकिन जिसका व्यय नवाब देगा। उसने यह भी वायदा किया कि वह अंग्रेजी रेजीडेण्ट की सहायता से शासन में सुधार करेगा और आवश्यकता होने पर सम्पूर्ण अथवा उसके किसी भी हिस्से का शासन अंग्रेजों को सौंप देगा। इस सन्धि को ब्रिटिश (इंगलैण्ड की) सरकार ने भी स्वीकार नहीं किया। यह इस बात का प्रमाण था कि यह सन्धि सर्वथा अनैतिक थी। परन्तु भारत-सरकार के सम्मान की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार ने इस सन्धि को समाप्त करने का अधिकार भारत-सरकार को ही दे दिया। परन्तु भारत-सरकार ने इस सन्धि की अस्वीकृति की सूचना नवाब को कभी नहीं दी।

अगले दस वर्षों तक भारत-सरकार पंजाब, अफगानिस्तान और सिन्ध के युद्धों में व्यस्त रही। इसी कारण उसे अवध की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं मिला। 1847 ई. में लॉर्ड हार्डिंज ने पुनः अवध की ओर ध्यान दिया। उसने तत्कालीन नवाब वाजिदअली शाह से भेंट की और उसे चेतावनी दी कि यदि नवाब ने अगले दो वर्षों में शासन में सुधार नहीं किया तो अवध उससे छीन लिया जायेगा। नवाब शासन में कोई सुधार न कर सका। लेकिन द्वितीय सिख-युद्ध के आरम्भ हो जाने के कारण अवध उस समय बच गया।

नवीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डलहौजी पूर्ण साम्राज्यवादी था। उसने अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने के लिए बहाने खोजने आरम्भ किये। अवध के नवाब पर युद्ध आरम्भ करने, विद्रोह करने या अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का दोष तो लगाया नहीं जा सकता था क्योंकि अवध के नवाब सर्वदा अंग्रेजों के प्रति वफादार रहे थे। इस कारण अवध के नवाब पर केवल शासन की अव्यवस्था का ही दोष लगाया जा सकता था। इसी आधार पर पिछले गवर्नर-जनरल भी निरन्तर अवध के नवाबों को उनसे उनका राज्य छीनने की धमकी देते रहे

1 "The object at which Governor-General was aiming was not so much to improve the government of Avadh, as to find in prevailing abuses a plausible pretext for usurping it."
—*Beveridge.*

थे। लॉर्ड डलहौजी ने भी इसी आधार का सहारा लिया। सर्वप्रथम, सर डब्ल्यू. एच. स्लीमैन (Sir W. H. Sleeman) को, जो अवध का रेजीडेण्ट था, आदेश दिया गया कि वह अवध में घूमकर शासन के बारे में एक रिपोर्ट तैयार करे। स्लीमैन के त्यागपत्र देने के पश्चात् जनरल आउट्रम (General Outram) को एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए कहा गया और इसकी रिपोर्ट के आधार पर तथा शासन की खराबी का आरोप लगाकर अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का निर्णय किया गया।

अवध को किस प्रकार अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया जाय, इस विषय में मतभेद था। इस विषय में स्वयं अंग्रेजों में दो मत थे। एक मत उदारवादियों का था जिनका कहना था कि अंग्रेजों को अवध का शासन अपने हाथों में लेना चाहिए लेकिन नवाब को हटाने की आवश्यकता नहीं है। शासन पर व्यय किये जाने के पश्चात् अवध की आय में से जो भी धन बचे उसे नवाब को दे देना चाहिए। स्वयं स्लीमैन जिसकी रिपोर्ट के आधार पर अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया, अवध को पूरी तरह से अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध था। उसकी राय थी : "अवध का शासन अपने हाथों में ले लो लेकिन उस देश की आय पर अधिकार न करो। अवध की सम्पूर्ण आय अवध के नवाब, उसके परिवार और वहाँ की सेना के हित में व्यय की जानी चाहिए।"[1] स्लीमैन राजनीतिक आधार पर भी अवध तथा अन्य भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध था। एक बार उसने कहा था : "देशी राज्य तो एक प्रकार से पानी पर लगे बाँधों के समान हैं। जब यह समाप्त हो जायेंगे तब हम भारतीय सेना की दया पर निर्भर हो जायेंगे जिसको अपने अधिकार में रखना सर्वथा असम्भव है।"[2] अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने के विषय में सर हेनरी लॉरेन्स (Sir Henry Lawrence) ने कहा था : "अन्ततोगत्वा अवध का शासन एक व्यक्ति अर्थात् नवाब के हित में नहीं अपितु उसके (नवाब) और उसकी प्रजा के हित में होना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो, शासन भारतीयों के ही हाथों में रखा जाये। एक रुपया भी कम्पनी के खजाने में नहीं आना चाहिए।"[3] इस प्रकार अनेक अंग्रेज भी नैतिक और राजनीतिक आधार पर अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के विरुद्ध थे। वे केवल अवध के शासन को अंग्रेजों के हाथों में लिये जाने के पक्ष में थे।

परन्तु दूसरा वर्ग उन व्यक्तियों का था जो पूर्णतः साम्राज्यवादी थे और स्पष्ट रूप से नवा . को हटाकर अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के पक्ष में थे। लॉर्ड डलहौजी भी पूर्ण साम्राज्यवादी था और उसी के हाथों में निर्णय था। इस कारण नवाब को हटाकर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने का निर्णय किया गया।

4 फरवरी, 1856 ई. को अंग्रेज रेजीडेण्ट ने नवाब वाजिदअली शाह से भेंट की और एक सन्धि पर हस्ताक्षर करने की माँग की जिसके अनुसार नवाब से माँग की गयी कि वह स्वेच्छा से अपनी गद्दी को त्याग दे और अवध को अंग्रेजों को सौंप दे। लेकिन उस अवसर पर

---

1 "Assume the administration, but do not grasp the revenues of the country, the whole revenues of Oudh should be expended for the benefit of the royal family and the people of Oudh." —*Sleeman.*

2 "The native states, I consider to be breakwaters and when they are all swept away, we shall be left to the mercy of our native army, which may not always be sufficiently under our control." —*Sleeman.*

3 "Let Oudh be at last governed, not for one man, the king, but for him and his people. Let the administration of the country, as far as possible, be native. Let not a rupee come into the Company's coffers. —*Sir Henry Lawrence.*

वाजिदअली शाह ने एक राजा के सम्मान के अनुकूल कार्य किया। उसने कहा : "सन्धियाँ बराबर वालों में हुआ करती हैं। इस कारण सन्धि पर उसके हस्ताक्षर आवश्यक नहीं हैं।"[1] उसने सन्धि करने से इन्कार कर दिया और अपनी पगड़ी उतारकर अंग्रेज रेजीडेण्ट के हाथों में रख दी। अंग्रेज उसे 12 लाख रुपया प्रति वर्ष देना चाहते थे। उसने उसे भी अस्वीकार कर दिया। उसने कहा : "अंग्रेजों ने उससे उसका सम्मान और देश छीन लिया है। जीवनयापन के लिए वह उनसे कुछ नहीं माँगेगा।"[2]

इस प्रकार सन्धि पर नवाब के हस्ताक्षर न हो सके। अंग्रेजों के एक घोषणा मात्र से अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया।

अवध का अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना न तो नैतिक कार्य था और न ही लाभदायक सिद्ध हुआ। अवध को शासन के दोषों के आधार पर अंग्रेजों ने अपने राज्य में सम्मिलित किया था लेकिन यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि वास्तव में अवध का शासन इतना खराब था। सर्वप्रथम, स्लीमैन ने अवध के शासन के बारे में रिपोर्ट दी थी। वह अवध के ताल्लुकेदारों के बारे में लिखता है : "चोरी और हत्याएँ उनका मुख्य कार्य और खेल था। वे उन पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की, जिन्होंने उन्हें कोई क्षति नहीं पहुँचायी होती थी, जिन्दगी लेने में और हिरनों व जंगली सूअरों की जिन्दगी लेने में कोई अन्तर नहीं मानते थे।"[3] लेकिन स्लीमैन ने अवध के शासन के दोषों के बारे में जो कुछ लिखा उसे पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। डलहौजी अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करना चाहता था, यह स्लीमैन को ज्ञात था। इस कारण डलहौजी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से अवध के शासन की खराब रिपोर्ट देना स्लीमैन के लिए स्वाभाविक था। इसके अतिरिक्त, तत्कालीन पत्रों के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि डलहौजी ने स्लीमैन को अवध का प्रथम शासन-प्रबन्धक बनाने का भी लालच दे रखा था। दो अंग्रेज अधिकारियों ने उसी समय लिखा था : "1849 में कर्नल स्लीमैन को रेजीडेण्ट बनाया गया और उसकी नियुक्ति ने अवध और उसके राजवंश के भाग्य का निर्णय कर दिया। कर्नल स्लीमैन उस कार्य की खोज के लिए भेजा गया था, जिसका निर्णय पहले ही हो चुका था। उसका कार्य देखभाल करके एक रिपोर्ट तैयार करना था परन्तु यह रिपोर्ट क्या होगी, इसका निर्णय उसके अवध में प्रवेश करने से पहले ही हो चुका था। उसने देखभाल का विश्वास दिलाया परन्तु उसे दण्ड देने के आदेश पहले ही मिल चुके थे। उसने कोशिश करने का दिखावा किया परन्तु उसे बुराई करने के आदेश मिले हुए थे।"[4] इस प्रकार स्लीमैन की रिपोर्ट विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। इसके अतिरिक्त, स्वयं स्लीमैन भी नवाब को

---

1 "Treaties were only between equals; that there was no need for him to sign it."
—*Wazid Ali Shah.*

2 "The British had taken his honour and his country and he would not ask them for the means of maintaining his life."
—*Wazid Ali Shah.*

3 "Robbery and murder became their diversion, their sport and they think no more of taking the lives of men, women and children, who never offended them than those of deer and wild hogs."
—*Sleeman s Report.*

4 "Col. Sleeman was appointed Resident in 1849, and his appointment sealed the doom of Oudh and of its dynasty. Col. Sleeman was the emissary of a foregone conclusion. He affected to inspect and make a report, but the character of the report was determined for him before he entered Oudh. He professed to examine but he was under order to sentence; he pretended to try, but he was instructed simply to condemn."
—*Writings of Englishmen.*

हटाकर अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के पक्ष में न था बल्कि अंग्रेजों द्वारा केवल शासन-प्रबन्ध किये जाने के पक्ष में था। 1854 ई. में जब स्लीमैन ने स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण त्यागपत्र दे दिया तब जनरल आउट्रम को रेजीडेण्ट बनाया गया और उससे भी एक रिपोर्ट माँगी गयी। उसने अपनी रिपोर्ट स्लीमैन की रिपोर्ट के आधार पर तैयार की। उसने लिखा था : "जबकि मुझे इस देश का कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं है, मैं अपनी सूचना के लिए पूर्णतः रेजीडेन्सी के रिकॉर्ड पर निर्भर हूँ और अपने से पहले कार्य किये हुए व्यक्ति के साधनों के आधार पर ही निर्णय ले सकता हूँ।"[1] इस प्रकार यह निश्चित है कि आउट्रम की रिपोर्ट भी पूर्णतः विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती।

इसके अतिरिक्त, जहाँ हमें अनेक तत्कालीन और बाद के अंग्रेज लेखकों द्वारा अवध के शासन की बुराइयों के बारे में बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है, वहीं हमें यह प्रमाण भी मिलते हैं कि अवध का शासन वास्तव में इतना खराब न था। अवध के शासन की अच्छाइयों के बारे में भी हमें अनेक लेख प्राप्त होते हैं। 1818 ई. में लॉर्ड हेस्टिंग्स ने स्वयं नवाब को देश की अच्छी खेती, बढ़ती हुई जनसंख्या और उसकी अच्छी स्थिति के बारे में बधाई दी थी। बिशप हीबर (Bishop Heber) ने जो 1824-25 ई. में अवध में अच्छी तरह से घूमा था, लिखा है : "अवध के बारे में बहुत कुछ सुनने के पश्चात् जब मैंने वहाँ की खेती की अच्छी स्थिति को देखा तो मुझे आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता भी। वहाँ की जनसंख्या और उद्योग को देखकर कोई यह विश्वास नहीं कर सकता कि वहाँ नागरिकों पर अत्याचार किया जाता है, जैसा कि अक्सर कहा गया है।"[2] हीबर ने लिखा है कि अनेक स्थानों पर जब उसने व्यक्तियों से पूछा कि "क्या वे अंग्रेजी राज्य को पसन्द करेंगे", तो सभी स्थानों से उसे यही उत्तर मिला कि वे यह कभी नहीं चाहेंगे। इसी प्रकार, कैप्टेन लोकिट (Captain Lockitt) का भी कथन है कि अवध के व्यक्ति अंग्रेजों के शासन में जाना पसन्द नहीं करते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अवध का शासन इतना खराब न था जितना कि अंग्रेज इतिहासकारों ने बताया है और जिसके आधार पर अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना उचित स्वीकार किया जा सके।

डलहौजी और उसके समर्थक इस बात पर अत्यधिक बल देते हैं कि अवध के नवाबों को निरन्तर शासन में सुधार करने के लिए कहा गया था। उन्होंने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इस कारण अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाया जाना आवश्यक हो गया था। परन्तु यह तर्क उचित नहीं माना जा सकता। लॉर्ड ऑकलैण्ड ने स्वयं 1839 ई. में नवाब नासिरुद्दौला के शासन की प्रशंसा की थी। इसके अतिरिक्त, जिन नवाबों ने सुधार का प्रयत्न भी करना चाहा, वे कोई सुधार इस कारण नहीं कर सके क्योंकि उन्हें अंग्रेजों का कोई सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। वजीर हकीम मेहदी ने जब बेन्टिक से सुधारों के लिए सहायता माँगी थी तो उसे अस्वीकार कर दिया गया था। इसी प्रकार, 1848 ई. में जब वजीर नवाब अली नुकूरखाँ ने सुधारों के लिए

---

1 "In the absence of any personal experience in this country, I am, of course, entirely dependent for my information on what I find in the Residency records, and can ascertain through the channels supplied by my predecessor."

—*General Outram.*

2 "I was pleased however, and surprised, after all which I had heard of Oudh, to find the country so completely under the plough; since, where the oppression so great, as is sometimes stated, I cannot think that we should witness so considerable a population or so much industry."

—*Bishop Heber.*

अंग्रेजों से सहायता माँगी तो उसे अस्वीकार कर दिया गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि अंग्रेज गवर्नर-जनरल अवध के विभिन्न नवाबों को धमकी तो देते रहते थे परन्तु शासन-सुधार में नवाबों को कोई सहयोग देना नहीं चाहते थे। यह भी स्पष्ट है कि अवध की उन परिस्थितियों में जबकि वहाँ वास्तविक शासक अंग्रेज ही बन गये थे, अवध के शासन में कोई सुधार उस समय तक सम्भव न था जब तक कि अंग्रेज नवाब के साथ सहयोग न करते। इस तर्क से यह निष्कर्ष निकलता है कि अंग्रेज वास्तव में अवध के शासन-सुधार के लिए इच्छुक न थे बल्कि शासन की खराबी को अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाने का आधार बनाना चाहते थे। यह देखते हुए कि अवध की भूमि बहुत उपजाऊ थी और अंग्रेजी राज्य के मध्य में थी, अंग्रेजों की ऐसी इच्छा रही हो, इसके विषय में अधिक सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में, यह भी विचारणीय है कि क्या अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से वहाँ के नागरिकों को कोई लाभ हुआ ? इस विषय में भी यह कहा जा सकता है कि अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के अन्तिम परिणाम कुछ भी हुए हों परन्तु जो प्रभाव अवध की स्थिति पर उस समय पड़ा वह अच्छा न था। केयी (Kaye) के अनुसार, "अंग्रेज अधिकारियों पर आरोप लगाया गया था कि उन्होंने लखनऊ के महलों को बरबाद कर दिया, खजाने को लूट लिया, दुर्बल स्त्रियों को बेघर करके अपमानित किया और नवाब की व्यक्तिगत वस्तुओं को बाजारों में बेचा। इसमें सन्देह नहीं कि अवध पर अंग्रेजों के अधिकार से दरबार के अनेक व्यक्ति, पेंशन पाने वाले, व्यापारी आदि बरबाद हो गये।" आर. सी. मजूमदार लिखते हैं : "अनेक परिवार जो कभी भी जनानखाने से बाहर नहीं गये थे, रात को घर से बाहर जाकर भीख माँगते थे।"[1] जमींदारों को अंग्रेजों की नवीन भूमि-व्यवस्था से हानि हुई और किसानों को अधिक लगान देने के कारण दुःख उठाना पड़ा। अवध की सेना के 60 हजार सैनिकों में से 50 हजार को नौकरी से अलग कर दिया गया, वस्तुओं की कीमतें बढ़ गयीं और नवीन न्याय-व्यवस्था में विलम्ब और अधिक व्यय होने लगा।

इस प्रकार यह निश्चित है कि अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने का मुख्य आधार नैतिक न होकर अंग्रेजों की साम्राज्यवाद की भावना थी और इसके परिणाम उस अवसर पर अच्छे न हुए थे। अवध के ताल्लुकेदारों और नागरिकों का 1857 ई. के विद्रोह में बड़े पैमाने पर भाग लेना इस बात का प्रमाण था।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अवध को कब और क्यों अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया ? क्या इस घटना ने किसी प्रकार 1857 ई. के विद्रोह को प्रभावित किया ?

---

1 "Families, which had never before been outside *Zenana*, used to go out at night and beg their bread."

—*R. C. Majumdar.*

22

भारतीय शक्तियों के विरुद्ध अंग्रेजों की सफलता के कारण

लॉर्ड डलहौजी के कार्यकाल (1848-56 ई.) में भारत में अंग्रेजों द्वारा राज्य-विस्तार का कार्य पूरा हो गया। 1857 ई. में विद्रोह करके भारतीयों ने अंग्रेजी राज्य को समाप्त करने का प्रयत्न एक विस्तृत आधार पर किया। परन्तु यह प्रयत्न असफल हुआ। विद्रोह के अवसर पर किसी भी बड़े भारतीय नरेश ने अंग्रेजों के विरुद्ध कोई कार्य नहीं किया। मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वितीय को तो बाध्य होकर विद्रोह में भाग लेना पड़ा था। इस कारण इस विचार-धारा को विद्रोह के पश्चात् ही समर्थन प्राप्त हुआ कि भारतीय नरेश-राज्य तो अंग्रेजी साम्राज्य को सुरक्षा प्रदान कर सकते हैं। 1857 ई. के विद्रोह से पहले ही अंग्रेज राजनीतिज्ञ भारतीय नरेश-राज्यों के प्रति अपनायी जाने वाली नीति के प्रश्न को लेकर दो वर्गों में बँट चुके थे। एक वर्ग पूर्णतः साम्राज्यवाद का समर्थन करते हुए सभी भारतीय नरेश-राज्यों को समाप्त करके सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना चाहता था। इसके विपरीत, दूसरा वर्ग उन व्यक्तियों का था ज़ो भारतीय नरेश-राज्यों को रेगिस्तान में कहीं-कहीं प्राप्त होने वाले जल-स्रोतों की भाँति मानते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार रेगिस्तान के जल-स्रोत ही रेगिस्तान में यात्रा करने वाले यात्रियों को सुरक्षा प्रदान करते हैं, उसी प्रकार भारत के अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा के लिए भारतीय नरेश-राज्य आवश्यक हैं। यदि सभी भारतीय नरेश-राज्य समाप्त कर दिये गये तो शासन के विरुद्ध नागरिकों के आक्रोश का मुकाबला मात्र अंग्रेजों को करना पड़ेगा। इस कारण इस पक्ष के विचारकों का मत था कि अंग्रेजों को राज्य-विस्तार की नीति को त्याग देना चाहिए और जो भारतीय नरेश-राज्य अब बच गये हैं, उन्हें अपने राज्य में सम्मिलित नहीं करना चाहिए। 1857 ई. के विद्रोह ने इस विचार के अंग्रेज राजनीतिज्ञों के पक्ष को सुदृढ़ कर दिया और जब 1858 ई. में भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से लेकर ब्रिटिश क्राउन को दिया गया तो रानी विक्टोरिया की एक घोषणा द्वारा अंग्रेजी राज्य के विस्तार की नीति को त्याग दिया गया और भारतीय नरेशों के राज्यों की सुरक्षा, उनके सम्मान की सुरक्षा और उनके बच्चा गोद लेने के अधिकार तक को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार, 1858 ई. में अंग्रेजों द्वारा भारत में राज्य-विस्तार की नीति स्वेच्छा से समाप्त कर दी गयी अन्यथा भारत में सम्भवतः एक भी भारतीय नरेश-राज्य न रह पाता। भारतीय नरेश-राज्यों की ऐसी स्थिति क्यों बनी थी अर्थात् अंग्रेजों के विरुद्ध सभी भारतीय राज्यों की ऐसी असम्मानित पराजय के क्या कारण थे ? यद्यपि 18वीं सदी के मध्य तक महान् मुगल-साम्राज्य समाप्त हो चुका था तदपि उसके अवशेषों पर निर्मित महान् मराठों के राज्य, टीपू सुल्तान, बंगाल व अवध के नवाबों के राज्य और नवोदित शक्तिशाली पंजाब का सिखों का राज्य अंग्रेजों के सम्मुख क्यों झुक गये ? इनमें से प्रत्येक के पास सैनिक और आर्थिक साधन

उपलब्ध थे तथा उनका संघर्ष भी एक व्यापारिक कम्पनी से था जिसका आधार और शक्ति का स्रोत उसका देश उससे हजारों किलोमीटर दूर था। परन्तु तब भी ये सभी उस व्यापारिक कम्पनी से क्यों पराजित हुए, यह इतिहास का एक विचारणीय विषय है। विभिन्न भारतीय शक्तियाँ किन कारणों से अंग्रेजों से पराजित हुईं इसका उल्लेख विभिन्न अध्यायों में किया जा चुका है। यहाँ हम केवल उन्हीं कारणों पर विचार करेंगे जो मूल आधार पर अंग्रेजों के विरुद्ध सभी भारतीय राज्यों की पराजय का कारण थे। विभिन्न इतिहासकारों द्वारा बताये गये भारतीय राज्यों की पराजय के कारणों में निम्नलिखित मुख्य माने गये हैं :

1. धार्मिक और सामाजिक दृढ़ता तथा एकता का अभाव—धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से उस काल में भारत दुर्बल था। हिन्दू धार्मिक दृष्टि से विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित थे और भक्ति-आन्दोलन द्वारा अन्धविश्वास, कर्मकाण्ड, जाति-विभेद आदि के नकारे जाने के बावजूद इन्हीं में उलझे हुए थे। मुसलमान भी इस अपवाद से मुक्त नहीं थे। वे भी अपने धार्मिक उन्माद और एकता को भूल चुके थे। हिन्दू तथा मुसलमानों में समन्वय करने का जो प्रयत्न किया गया था वह भी आंशिक रूप से ही सफल हुआ था। इस कारण धर्म भारतीयों को एकता एवं दृढ़ता प्रदान करने में असमर्थ था।

यही स्थिति सामाजिक क्षेत्र में थी। हिन्दू सर्वदा से ही जाति तथा उपजातियों में विभाजित रहे थे जिसके कारण हिन्दू-समाज कभी भी संगठित नहीं हो सका था। वही स्थिति मुसलमानों की थी। वे भी नस्ल के आधार पर ईरानी, तूरानी, अफगान आदि, धर्म-विभेद के आधार पर सुन्नी, शिया और सूफी, व्यवसाय के आधार पर किसान, जुलाहे, कारीगर आदि तथा हिन्दुओं से इस्लाम में परिवर्तित हुए मुसलमान जाति-भेद के आधार पर विभाजित थे। इस कारण भारतीयों में सामाजिक एकता का भी अभाव था जो उनकी दुर्बलता का एक कारण था। डॉ. ताराचन्द के अनुसार, भारतीयों की जाति-व्यवस्था और ग्राम-व्यवस्था ऐसी थीं जिनके कारण व्यक्ति की वफादारी केवल अपनी जाति और अपने गाँव तक ही सीमित रह जाती थी और उसका राजवंशों में होने वाले परिवर्तनों अथवा राजनीतिक उथल-पुथल से कोई लगाव नहीं रह पाता था। इन परिस्थितियों में एक राष्ट्र तो क्या एक समाज और एक धर्म के प्रति लगाव भी भारतीयों में नहीं रह गया था जो किसी आधार पर तो उन्हें एकता का भाव प्रदान करता। यह भारतीयों की एक बड़ी दुर्बलता रही।

2. शासक-वर्ग का नैतिक पतन—डॉ. ताराचन्द के मतानुसार 18वीं सदी के शासक-वर्ग के नैतिक पतन ने एक विदेशी कम्पनी को भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। उत्तरकालीन मुगल-सम्राटों की विलासिता को भारत के शासक-वर्ग ने विरासत में प्राप्त किया। 18वीं सदी में प्रायः सभी भारतीय नवाब, सरदार और प्रशासन अधिकारी स्वार्थी एवं विलासी सिद्ध हुए तथा उनमें से जो कुछ योग्य भी थे वे राजनीति में अंग्रेजों के प्रतिद्वन्द्वी बनने से पूर्व ही समाप्त हो गये; यहाँ तक कि मराठा सरदार भी उस समय तक अपने चरित्र, सादगी, कर्मठता और दृढ़ता को नष्ट कर चुके थे। अधिकांशतः अंग्रेजों का मुकाबला विलासी, षड्यन्त्रकारी एवं स्वार्थी शासकों से हुआ और ऐसी स्थिति में उनकी विजय आश्चर्यजनक नहीं कही जा सकती।

3. भारतीयों की तुलना में अंग्रेजों को योग्य नेतृत्व प्राप्त होना—तत्कालीन भारतीय प्रशासकों में हैदरअली, टीपू सुल्तान, महादजी सिन्धिया, पेशवा माधवराव, तुकोजी होल्कर, राजा रणजीतसिंह और निजाम-उल-मुल्क आसफजा के नाम उल्लेखनीय हैं। परन्तु अंग्रेजों से प्रत्यक्ष संघर्ष के अवसर पर टीपू सुल्तान के अतिरिक्त इनमें से कोई भी भारतीयों को

नेतृत्व प्रदान करने के लिए जीवित नहीं था। उनके उत्तराधिकारियों में से कोई भी योग्य नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत, अंग्रेजों को वैलेजली, लॉर्ड हेस्टिंग्स और डलहौजी जैसे योग्य गवर्नर-जनरल ही नेतृत्व के लिए प्राप्त नहीं हुए वरन् आर्थर वैलेजली व जनरल लेक जैसे सेनापति और माल्कम, एलफिन्स्टन, आउट्रम जैसे योग्य प्रशासक एवं कूटनीतिज्ञ भी प्राप्त थे। इस कारण यह माना गया है कि भारतीयों के विरुद्ध अंग्रेजों की विजय का एक कारण उन्हें निरन्तर योग्य एवं दृढ़ और स्पष्ट लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का नेतृत्व प्राप्त होना था।

4. अंग्रेजों की नौ-सेना की श्रेष्ठता—यूरोप में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व में उस काल में ब्रिटेन की नौ-सेना श्रेष्ठ थी जिसने ब्रिटेन को संसार का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य-वादी देश बनाने में सहायता दी। भारत में भी अंग्रेजों की सफलता के लिए वह बहुत बड़ी मात्रा में उत्तरदायी थी। भारतीय शासकों में से तो किसी के पास नौ-सेना थी ही नहीं और प्रतिद्वन्द्वी यूरोपीय शक्तियों में से फ्रान्सीसियों की नौ-सेना की शक्ति अंग्रेजों की तुलना में दुर्बल सिद्ध हुई, जो भारत में उनकी पराजय का भी एक कारण बनी थी। नौ-सेना की सहायता से अंग्रेज विभिन्न स्थानों पर सहायता पहुँचाने और सहायता प्राप्त करने की स्थिति में रहते थे जबकि इन लाभों से वे अपने प्रतिद्वन्द्वी को वंचित कर पाते थे। इस प्रकार, अंग्रेजों की नौ-सेना न केवल उनके व्यापार की समृद्धि में सहायता करती थी अपितु उनके सैनिक-अभियानों में भी बहुत सहायक सिद्ध होती थी।

5. सैनिक-शक्ति की दृष्टि से अंग्रेजों की श्रेष्ठता—राज्यों के निर्माण में सर्वदा सैनिक-शक्ति की श्रेष्ठता ही सबसे प्रमुख योगदान रहा है। अंग्रेज सैनिक-संगठन और शस्त्रों की दृष्टि से भारतीयों की तुलना में बहुत श्रेष्ठ थे। अंग्रेज अपने सैनिकों को न केवल उचित शस्त्र-प्रशिक्षण ही प्रदान करते थे अपितु उनमें अनुशासन, आज्ञापालन, खतरे से मुकाबला करने आदि की भावना को भी दृढ़ करते थे। इसके अतिरिक्त, उनके पास अच्छी तोपें और बन्दूकें थीं। वे अपनी रणनीति भी पहले से तैयार करते थे और अपनी विजय को निश्चित करने के लिए कूटनीति का भी सहारा लेते थे। इस प्रकार कौशल, शस्त्र, रणनीति आदि सभी प्रकार से अंग्रेज भारतीयों की तुलना में श्रेष्ठ थे। भारतीय शासकों में से कुछ ने अपने शस्त्रास्त्रों एवं सैन्य-प्रशिक्षण में यूरोपीय तरीकों को अपनाने का प्रयत्न अवश्य किया और इस हेतु फ्रान्सीसी अधिकारियों से सहायता भी ली, परन्तु वे इस क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त न कर सके।

6. ब्रिटेन में हुए आर्थिक, सामाजिक, बौद्धिक एवं राजनीतिक परिवर्तन—16वीं सदी में हुए पुनर्जागरण (Renaissance) और धर्म-सुधार (Reformation) ने यूरोपीय व्यक्तियों की बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रवृत्तियों और संगठनों में परिवर्तन करने आरम्भ कर दिये थे जिनके कारण यूरोप आधुनिक कहलाने के योग्य हुआ। इस आधुनिकता ने उसे वह शक्ति प्रदान की जिससे यूरोप विश्व के महाद्वीपों में श्रेष्ठता प्राप्त कर सका। लेकिन यूरोप में भी ब्रिटेन अन्य राज्यों से सभी क्षेत्रों में अग्रणी रहा जिसके कारण वह एक समय में विश्व की सर्वश्रेष्ठ शक्ति कहलाने के योग्य बन सका। भारत की विजय तो शक्ति के इस विस्तार का एक अध्याय था।

16वीं सदी में यूरोप में सामन्तवाद का पतन हो गया और उसका स्थान वाणिज्यवाद ने ले लिया। इससे कृषि के अपेक्षाकृत व्यापार का महत्व अधिक हो गया। व्यापार की उन्नति के लिए उद्योगों को प्रोत्साहन दिया गया, नवीन उद्योग स्थापित किये गये, राज्य को व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिए बाध्य किया गया तथा कर-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था में परिवर्तन किये गये। इससे पूँजी का निर्माण हुआ। पूँजी के निर्माण ने कृषि, उद्योग और

व्यापार की उन्नति में सहायता दी, सभी में विकास के लिए प्रयत्न किये गये, कच्चे माल के लिए कृषि-उत्पादन में वृद्धि आवश्यक हो गयी और व्यापारिक उन्नति के लिए उद्योगों का विकास आवश्यक हो गया। इनकी उन्नति के लिए नवीन साधन उपलब्ध कराये गये, विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न अन्वेषण किये गये, विदेशों से सम्पर्क स्थापित किया गया और नवीन देशों की खोज की गयी। इसके फलस्वरूप औद्योगिक क्रान्ति हुई तथा मशीनों का युग आरम्भ हुआ। उससे कच्चे माल की आवश्यकता बढ़ी, बने हुए माल को बेचने के लिए वाजार खोजने की आवश्यकता हुई, विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई और देश की पूँजी में भी वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में पूँजीवाद, सामाजिक व्यवस्था में मध्यम-वर्ग की उत्पत्ति और प्रशासन-व्यवस्था में केन्द्रीय शासन-व्यवस्था तथा आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। आर्थिक हितों की वृद्धि और सुरक्षा ने राष्ट्रवाद को साम्राज्यवाद का स्वरूप प्रदान किया तथा यूरोपीय राज्यों ने एशिया और अफ्रीका के विभिन्न भागों पर अपना स्वामित्व स्थापित कर लिया। ब्रिटेन इस क्रिया में अग्रणी था। उसने अपने आर्थिक हितों की पूर्ति करने के लिए व्यापार करते-करते भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया, क्योंकि अपने बढ़ते हुए साधनों और क्षमता के कारण वह भारत की तुलना में प्रत्येक दृष्टि से शक्तिशाली बन चुका था। भारत उसकी तुलना में इस कारण दुर्बल हो गया कि भारत में 18वीं सदी में भी सामन्तवादी-व्यवस्था थी और उसके पश्चात् भी भारतीयों ने अपनी अर्थव्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया जिसके कारण उसकी शासन-व्यवस्था, सामाजिक स्थिति और राजनीतिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हो सका। ए. आर. देसाई के अनुसार ब्रिटेन द्वारा भारत की विजय एक आधुनिक देश की एक सामन्तवादी देश पर विजय थी। निस्सन्देह, ब्रिटेन ने आर्थिक परिवर्तन करते हुए अन्य परिवर्तनों को भी ग्रहण कर लिया था जिसके कारण वह एक आधुनिक देश बन गया था। ब्रिटेन ने आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवादी व्यवस्था कर ली थी, शासन में केन्द्रीभूत राजकीय व्यवस्था को स्थापित कर लिया था तथा मध्यम-वर्ग का निर्माण हो जाने से बौद्धिक प्रगति भी कर ली थी। ये सभी कुछ एक देश को आधुनिक बनाने के लिए पर्याप्त था, जबकि भारत में ऐसा कुछ नहीं हुआ था। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि पूँजीवादी-व्यवस्था के अन्तर्गत न केवल राज्य की आर्थिक और उसके फलस्वरूप सैनिक-शक्ति में ही वृद्धि होती है, अपितु राष्ट्रीय एकता, देशभक्ति, अनुशासन की भावना आदि की भी वृद्धि होती है जो एक राज्य को अन्य दृष्टिकोणों से भी सबल बनाते हैं। इस कारण जब ब्रिटेन ने भारत की विजय की उस समय वह पूँजीवादी-व्यवस्था के अन्तर्गत एक शक्तिशाली आधुनिक देश था जबकि भारत एक मध्ययुगीन सामन्तवादी देश था। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन द्वारा भारत की सरल विजय कोई विस्मयजनक घटना नहीं मानी जानी चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय शक्तियों के विरुद्ध अंग्रेजों की सफलता के कारणों की समीक्षा कीजिए।

23

1857 ई. का विद्रोह

1. विद्रोह के कारण

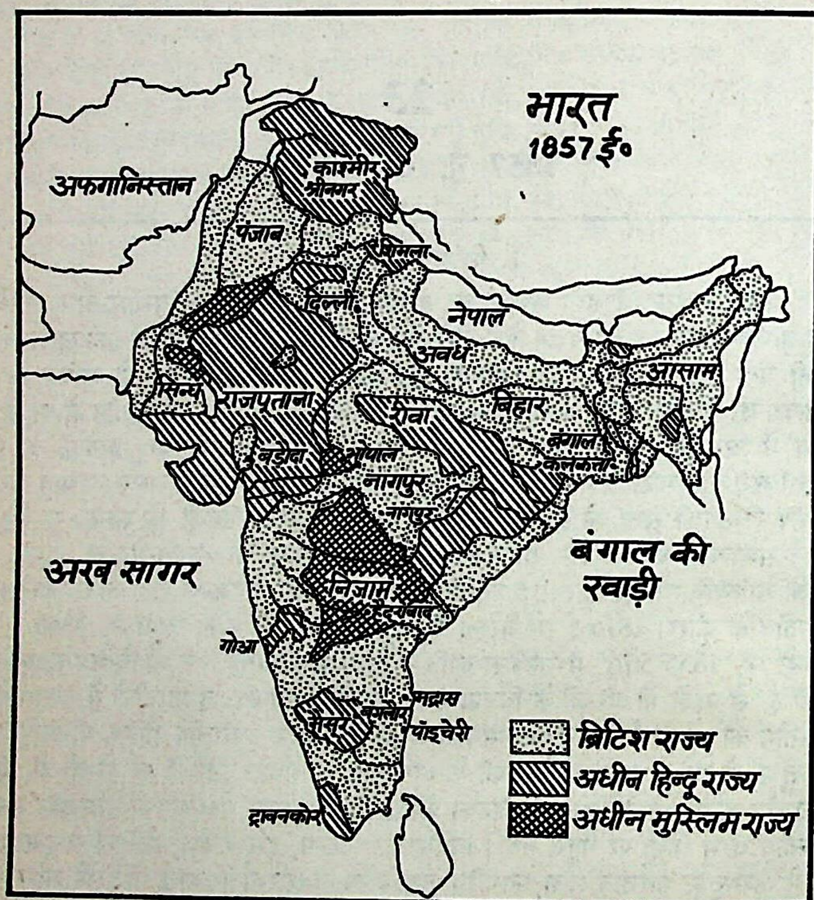
भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास निरन्तर साम्राज्य-विस्तार और आर्थिक लाभ प्राप्त करने का इतिहास है। जैसे-जैसे अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती गयी, उनकी लालसा भी बढ़ती गयी। अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करना और अधिक से अधिक अपने साम्राज्य का विस्तार करना कम्पनी का लक्ष्य बन गया था। 1857 ई. के विद्रोह से पहले के समय में अंग्रेजों ने बहुत तीव्रता से साम्राज्य का विस्तार किया था। अंग्रेजों के इस राज्य-विस्तार से भारतीय नरेशों को यह भय हो गया कि शीघ्र या कुछ समय पश्चात् अंग्रेज अवश्य ही उनकी सत्ता को समाप्त कर देंगे। भारतीय जनता अंग्रेजों की शासन-सम्बन्धी, लगान-सम्बन्धी, धार्मिक और सामाजिक नीति से असन्तुष्ट थी। जाति-भेद के आधार पर अंग्रेजों का व्यक्तिगत व्यवहार भी भारतीयों के प्रति बहुत असन्तोषजनक होता जा रहा था। इसी असन्तोष के कारण 1816 ई. में बरेली में, 1831-33 ई. में कोल जाति ने, 1848 ई. में काँगड़ा में, 1855-56 ई. में सन्थाल जाति ने तथा अन्य व्यक्तियों ने भी विभिन्न स्थानों पर 1857 ई. से पहले भी अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र उठाये थे। ये विद्रोह भारतीयों में व्याप्त तीव्र असन्तोष का प्रमाण थे। बाद के समय में, कुछ कारणवश, भारतीय सैनिक भी अंग्रेजों से असन्तुष्ट हो गये। भारतीय नागरिकों के असन्तोष का प्रभाव सैनिकों पर तो था ही, कुछ तत्कालीन कारण भी ऐसे हो गये जिनका प्रभाव सैनिकों पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ा और उनका असन्तोष चरम सीमा पर पहुँच गया। विद्रोह का आरम्भ, इस कारण, सैनिकों से हुआ और बाद में असन्तुष्ट भारतीय राजा, नागरिक तथा अन्य अवसरवादी व्यक्ति भी इसमें सम्मिलित हो गये। विद्रोह के कुछ कारण तत्कालीन थे, परन्तु अनेक ऐसे भी थे जो पर्याप्त समय पहले से बन रहे थे। 1857 ई. में यह असन्तोष फूट पड़ा।

1. राजनीतिक कारण

अंग्रेजों की साम्राज्य-विस्तार की नीति से भारतीय नरेशों को यह भय उत्पन्न हो गया था कि अंग्रेज धीरे-धीरे उन सभी के राज्यों को समाप्त कर देंगे। कुछ अंग्रेज पदाधिकारियों के विचार और नीतियों ने इस भय को और अधिक बढ़ा दिया था। सर चार्ल्स नैपियर (Sir Charles Napier) ने लिखा था : "यदि मैं 12 वर्ष के लिए भारत का बादशाह बन जाऊँ तो भारत में एक भी भारतीय नरेश नहीं रहेगा, निजाम का नाम भी कोई नहीं सुनेगा और नेपाल हमारा होगा।"[1] डलहौजी की साम्राज्य-विस्तार की नीति ने नरेशों के इस भय की पुष्टि की थी। इस कारण भारतीय नरेश अंग्रेजी शासन को समाप्त करने के लिए उत्सुक हो गये हों, इसमें

1 "Were I emperor of India for twelve years, no Indian prince should exist. The Nizam should be no more heard of; Nepal would be ours."
—*Sir Charles Napier.*

कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। इसी कारण उस समय ये अफवाहें फैलीं कि भारतीय नरेश अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए षड्यन्त्र कर रहे हैं। इन अफवाहों के विषय में सीताराम बाबा का बयान उल्लेखनीय है जो उसने 1848 ई. में मैसूर के एक मजिस्ट्रेट के सम्मुख दिया



था। उसके अनुसार अंग्रेजों के विरुद्ध सर्वप्रथम षड्यन्त्र दौलतराव सिन्धिया की विधवा पत्नी बैजाबाई ने 1837 ई. में आरम्भ किया। दूसरा षड्यन्त्र मैसूर के शासक ने आरम्भ किया जिसमें शोलापुर, सतारा और कोल्हापुर के शासक सम्मिलित थे। उसके अनुसार मैसूर के राजा ने लिखा था : "एक बड़ी सेना इस ओर आ रही है..........बाजीराव का पुत्र, होल्कर और सभी बड़े शासक संगठित हो गये हैं और जैसे ही वह आगे बढ़ेंगे, सभी उनसे मिल जायेंगे, पुराने राजवंश पुनः स्थापित कर दिये जायेंगे और सभी को उनकी गद्दियों पर बैठा दिया जायेगा।"[1] सीताराम बाबा का कथन था कि 1852 ई. में ही बैजाबाई, नाना साहब, होल्कर, सिन्धिया तथा असम, जयपुर, जोधपुर, रीवा, बड़ौदा, कच्छ, भुज, नागपुर,

1 "A great army is soon coming this way....Bajee Rao's son and Holkar and other princes had all joined together, and that as soon as they advanced all would join, the old dynasties would be restored, and all would be placed on their thrones."
—*Statement of Sitaram Baba.*

हैदराबाद, मैसूर, शोलापुर, कोल्हापुर, सतारा, इन्दौर आदि राज्यों के शासक अंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए षड्यन्त्र में सम्मिलित हो चुके थे। सीताराम बाबा का कथन था कि यह तथ्य सभी को ज्ञात था। कलकत्ता में हर बाबू इसे जानता था। सीताराम बाबा का कथन ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध नहीं होता और यह कहना सर्वथा गलत है कि भारतीय नरेशों ने अंग्रेजों के विरुद्ध ऐसा कोई संगठित षड्यन्त्र किया था। परन्तु यह कथन यह अवश्य बताता है कि भारतीय नरेशों में तीव्र असन्तोष था।

भारतीय प्रजा भी अंग्रेजों की नीति से असन्तुष्ट थी। झाँसी, अवध, सतारा, पेशवा, भौंसले आदि के राज्य समाप्त कर दिये गये, राजपरिवार के सदस्यों का अपमान हुआ तथा बड़े-बड़े सम्मानित व्यक्तियों को अपनी रोटी कमाने के लिए इधर-उधर भटकना पड़ा। इसे उनकी प्रजा पसन्द न कर सकी थी। नवीन शासन किस प्रकार का होगा, यह भय और शंका भी भारतीयों को थी।

भारतीय प्रजा अंग्रेजों से इसलिए भी असन्तुष्ट थी क्योंकि वे समझते थे कि उनके शासक उनसे हजारों मील दूर रहते हैं। पठान, अफगान और मुगल भी भारत में आक्रमणकारी थे परन्तु वे भारत में ही बस गये थे और इस देश को उन्होंने अपना देश बना लिया था। अंग्रेजों ने ऐसा कोई कार्य नहीं किया था। इस कारण भारतीयों के हृदय और मस्तिष्क से अंग्रेजों के प्रति विदेशी की भावना नहीं निकल सकी थी।

पिंडारियों और ठगों के दमन तथा भारतीय नरेशों की सेनाओं को समाप्त कर देने के कारण समाज में ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित हो गये थे जिनके पास जीविका कमाने के लिए लड़ना, लूटना और युद्ध करना ही एकमात्र साधन था। जब विद्रोह हुआ तब ये अवसरवादी व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक उसमें सम्मिलित हो गये।

भारतीय मुसलमान अंग्रेजों से इस कारण असन्तुष्ट थे क्योंकि अंग्रेज मुगल बादशाह बहादुरशाह के साथ दुर्व्यवहार करते थे। लॉर्ड कैनिंग ने यह निश्चित कर दिया था कि बहादुरशाह की मृत्यु के पश्चात् मुगल बादशाह का पद समाप्त कर दिया जायेगा और उससे उसका महल आदि भी छीन लिया जायेगा। भारतीय मुसलमान उस समय तक तैमूर-वंश के अन्तिम शासक बहादुरशाह के सम्मान और समृद्धि को अपना सम्मान और समृद्धि समझते थे। इस कारण बहादुरशाह के प्रति अंग्रेजों का दुर्व्यवहार भारतीय मुसलमानों के असन्तोष का कारण था। अंग्रेजों से मुसलमानों के अप्रसन्न होने का एक व्यावहारिक कारण भी था। सर सैयद अहमद खाँ ने अपनी पुस्तक *'भारतीय विद्रोह के कारण'* में लिखा है कि "मुसलमान कुछ समय पहले ही राजनीतिक शक्ति का उपयोग करने के कारण प्रतिष्ठित पद और सम्मान प्राप्त कर रहे थे। वे अंग्रेज-सरकार से भी अपनी प्रतिष्ठा और पद में वृद्धि किये जाने की आशा करते थे। परन्तु इसके लिए उनका मार्ग बन्द था। इस कारण वे अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे।"

2. शासन-सम्बन्धी कारण

अंग्रेजों के शासन से भारतीय सन्तुष्ट न थे। प्रथम, उन्हें नवीन शासन-पद्धति को समझने की कठिनाई थी। जिस शासन को वे सदियों से देखते आ रहे थे, वह समाप्त कर दिया गया था। नवीन शासन-पद्धति को वे शंका की दृष्टि से देखते थे। द्वितीय, नवीन शासन से अनेक व्यक्तियों और वर्गों की हानि हुई थी। जागीरदार, ताल्लुकेदार, राजवंश के व्यक्ति जो शासन से सम्बन्धित थे और उससे विभिन्न प्रकार के लाभ और विशेष अधिकार प्राप्त करते थे, हटा दिये गये थे क्योंकि अंग्रेजी शासन में उनकी आवश्यकता न थी। वे सभी अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे। तृतीय, अंग्रेजों ने लगान-व्यवस्था में जो परिवर्तन किये थे, उससे भारतीय असन्तुष्ट थे। किसानों को अधिक लगान देना पड़ता था और जमींदारों को विशेष अधिकारों

के उपभोग का अवसर न रहा था। चौथे, अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था भारतीयों के अनुकूल न थी। पाँचवें, अंग्रेजों की पुलिस-व्यवस्था उस समय तक उचित रूप से स्थापित नहीं हुई थी तथा नागरिकों को सर्वदा अपने धन और अपने जीवन की रक्षा का भय रहता था।

इनके अतिरिक्त अंग्रेजी शासन के कुछ अन्य दोष भी थे। भारतीय अंग्रेज अधिकारियों से नहीं मिल सकते थे जैसे कि वे अपने जमींदारों या ताल्लुकेदारों से मिल लेते थे। अंग्रेजी शासन एक मशीन की भाँति कार्य करता था जिसमें व्यक्ति विशेष का कोई महत्व न था। भारतीय सदियों से व्यक्तिगत शासन को देखते आ रहे थे। इस कारण यह शासन उनकी भावनाओं के अनुकूल न था। फारसी के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को शासन और न्यायालयों की भाषा बना देने से भी भारतीय असन्तुष्ट थे।

लगान-सम्बन्धी नीति पर दृष्टिपात करते हुए तथा विद्रोह के कारणों पर प्रकाश डालते हुए स्वयं सर हेनरी लॉरेन्स (Sir Henry Lawrence) ने कहा था : "ये जैक्सन, जॉन लॉरेन्स, थॉमसन और एडमेन्सटन जैसे व्यक्ति हैं जिन्होंने भारत को इस स्थिति में ला दिया है।"[1] अंग्रेजों की लगान-नीति के विरुद्ध इतना प्रबल विरोध था कि अनेक स्थानों पर बिना सेना की सहायता के लगान एकत्रित नहीं किया जा सकता था। पानीपत के जिले में 136 घुड़सवार लगान एकत्र करने के लिए रखे गये थे जबकि पुलिस का कार्य करने के लिए केवल 22 घुड़सवार थे। अनेक ऐसे व्यक्तियों से भूमि छीन ली गयी थी जो उस पर अपना कानूनी अधिकार सिद्ध नहीं कर सके थे। सबसे अधिक हानि अवध के ताल्लुकेदारों की हुई थी। अशोक मेहता ने लिखा है : "ताल्लुकेदारों के 25,543 गाँवों में से 13,460 गाँवों के साथ जो 35,06,319 रुपये लगान देते थे, ताल्लुकेदारों के द्वारा लगान-व्यवस्था की गयी, जबकि 11,903 गाँवों के साथ जो 32,08,319 रुपये लगान देते थे, ताल्लुकेदारों के अतिरिक्त व्यक्तियों द्वारा लगान-व्यवस्था की गयी। कुछ ताल्लुकेदारों ने अपने आधे गाँव खो दिये और कुछ ने समस्त।"

अंग्रेजों का भारतीयों को प्रशासनिक सेवाओं में सम्मिलित न करना एक अन्य बड़ी बुराई थी। सैनिक और असैनिक सभी सार्वजनिक सेवाओं में उच्च पद यूरोपियन व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित रखे गये थे। सेना में एक भारतीय का सबसे बड़ा पद सूबेदार का हो सकता था जिसे 60 या 70 रुपये प्रति माह वेतन मिलता था। असैनिक सेवाओं में एक भारतीय को मिल सकने वाला सबसे बड़ा पद सदर-अमीन का था जिसे 700 रुपये प्रति माह वेतन मिलता था। अंग्रेजों का विश्वास था कि कुछेक भारतीयों को उच्च पद देने से समस्त भारतीय असन्तुष्ट हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त, वे किसी भी भारतीय का उच्च पद पर आसीन होना सहन नहीं कर सकते थे। वे उसे अपने एकाधिकार का क्षेत्र मानते थे। जब राजा राममोहन राय के पुत्र राजाराम को एक बंगाल असैनिक सेवा (B. C. S.) के पद के समकक्ष पद दिया गया जो एक श्रेष्ठतम असैनिक सेवा का पद था तो सभी अंग्रेजी अखबारों में चिन्ता व्यक्त की गयी थी कि इस प्रकार तो भारतीय उच्च से उच्च पद को प्राप्त करने के अधिकारी हो जायेंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि अंग्रेज भारतीयों को कभी भी उच्च पद देने के पक्ष में न थे। 1833 ई. के कम्पनी के आदेश-पत्र में यह आश्वासन दिया गया था कि धर्म, वंश, जन्म, रंग या अन्य किसी भी आधार पर सार्वजनिक सेवाओं की भर्ती में व्यक्ति और व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं किया जायेगा। परन्तु अंग्रेजों ने इस सिद्धान्त का पालन भारत में नहीं किया। इससे शिक्षित

---

1 "It was the Jackson, the John Lawrence, the Thomson, the Edmonstone who brought India to this."
—*Sir Henry Lawrence.*

भारतीय असन्तुष्ट थे। भारतीय मुसलमान इससे इस कारण असन्तुष्ट थे क्योंकि वे प्रशासकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त करना अपना विशेष अधिकार मानते थे।

अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था को भारतीय पसन्द नहीं करते थे। अगर एक छोटा-सा किसान भी किसी जमींदार की शिकायत करता था तो जमींदार को न्यायालय में जाना पड़ता था। इस प्रकार सम्मानित व्यक्ति अंग्रेजी न्यायालयों से असन्तुष्ट थे। निर्धन व्यक्ति इसलिए असन्तुष्ट थे क्योंकि मुकदमे में धन आंर समय बेकार नष्ट होता था।

शिक्षित भारतीय भी अंग्रेजी शासन से असन्तुष्ट थे। शिक्षित भारतीयों को यह आशा थी कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उन्हें राजनीतिक व प्रशासनिक अधिकार प्राप्त हो जायेंगे। लेकिन अंग्रेजों की ऐसी कोई इच्छा न थी। शिक्षित भारतीयों को शासन में कहीं भी शामिल नहीं किया गया था इसलिए उन्हें अंग्रेजी शासन की सद्भावनाओं पर विश्वास नहीं रहा था।

3. आर्थिक कारण

भारत में अंग्रेजों के शासन का मूल आधार भारत का आर्थिक शोषण था। एक व्यापारिक कम्पनी से आशा भी यही की जा सकती थी। अंग्रेजों के शासन का प्रारम्भ सर्वप्रथम बंगाल में हुआ था और ऐतिहासिक तथ्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि 18वीं सदी के अन्त तक बंगाल की जनसंख्या एक-तिहाई रह गयी थी और सूबे की एक-तिहाई भूमि जंगलों में परिणत हो गयी थी जहाँ जंगली जानवरों के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। यही स्थिति धीरे-धीरे सम्पूर्ण भारत की हो गयी। अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक सत्ता का पूर्ण लाभ उठाया और प्रत्येक प्रकार से भारतीयों के हित के प्रति उदासीन रहकर अपने व्यापार और उद्योगों को बढ़ाया। इसी कारण संसार का सबसे धनवान देश सर्वाधिक निर्धन हो गया।

अंग्रेजों के भारत में आने से पहले भारत केवल कृषि-प्रधान देश ही न था बल्कि यहाँ के उद्योग और व्यापार भी बहुत उन्नतिशील दशा में थे, जिससे भारत विदेशों से अपार धन प्राप्त किया करता था। स्वयं अंग्रेज व्यक्तियों ने यह स्वीकार किया है कि "पश्चिम के व्यापारियों के भारत में आने के समय इस देश की औद्योगिक प्रगति किसी भी प्रगतिशील यूरोपीय राज्य से कम न थी।"[1]

अंग्रेजों की व्यापारिक नीति ने भारत के व्यापार और उद्योग-धन्धों को नष्ट किया, इसमें सन्देह नहीं है।

1769 ई. से अंग्रेजों ने यह नीति अपनायी थी कि वे भारत के बने हुए माल पर, जो इंगलैण्ड जाता था, बहुत अधिक कर लेते थे और भारत के कच्चे माल पर बहुत कम निर्यात-कर (export duty) था। इसके विपरीत, जो माल इंगलैण्ड से भारत आता था उस पर बहुत कम आयात-कर (import duty) था। 19वीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय मलमल और कैलीको सूती कपड़े पर इंगलैण्ड में क्रमशः 27% और 71% कर लिया जाता था। जब इसके द्वारा भी अंग्रेज भारतीय कपड़े के मुकाबले अंग्रेजी कपड़े के व्यापार को न बढ़ा सके तो उन्होंने इंगलैण्ड में भारतीय कपड़े का आयात ही बन्द कर दिया। इसी प्रकार, भारतीय रेशमी कपड़े पर इंगलैण्ड में 70% कर था। 1840 ई. की संसदीय रिपोर्ट के अनुसार, "जबकि भारत में आने वाले अंग्रेजी सूती और रेशमी कपड़े पर केवल 3-1/2% और गर्म कपड़े पर

---

1 "When merchant adventures from the West made their first appearance in India, the industrial development of this country was not at any rate inferior to that of the more advanced European nations."

2% कर था, भारत से इंगलैण्ड जाने वाले सूती, रेशमी और गर्म कपड़े पर क्रमशः 10%, 20% और 30% कर था।"[1] अंग्रेजों की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि इंगलैण्ड में भारत का सूती और रेशमी कपड़ा जाना बन्द हो गया। इससे भारत का कपड़े का उद्योग नष्ट होने लगा और लाखों व्यक्ति बेरोजगार हो गये। 1834-35 ई. में स्वयं गवर्नर-जनरल विलियम बेन्टिक ने लिखा था : "व्यापार के इतिहास में ऐसा कोई दूसरा कष्टप्रद उदाहरण नहीं। भारत का मैदान सूती कपड़ा बुनने वालों के अस्थि-पंजरों से भरा पड़ा है।"[2] इसी प्रकार का प्रभाव भारत के अन्य उद्योगों पर भी पड़ा। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हो जाने के कारण भारत के उद्योगों पर और भी अधिक बुरा प्रभाव पड़ा। भारतीय उद्योग जो अंग्रेजों की व्यापारिक नीति से पहले से ही जर्जरित थे, मशीनों से सज्जित अंग्रेजों के उद्योगों का मुकाबला न कर सके। भारत इंगलैण्ड के लिए सिर्फ कच्चा माल भेजने लगा और उसी माल से बनी हुई वस्तुओं को ऊँची कीमतों पर खरीदने लगा। इससे इंगलैण्ड के उद्योगों की तो उन्नति हुई परन्तु भारत आर्थिक दृष्टि से प्रायः नष्ट हो गया।

इस प्रकार, भारत अंग्रेजों का एक ऐसा कृषि-प्रधान उपनिवेश बन गया जो इंगलैण्ड के उद्योगों को कच्चा माल भेजता था और बने हुए माल को खरीदता था। कुछ उदार अंग्रेजों ने अपनी सरकार की इस नीति की आलोचना भी की। मार्टिन ने कहा था : "भारत उतना ही औद्योगिक देश है, जितना कृषि-प्रधान। वह एक औद्योगिक देश है और उसकी बनायी हुई विभिन्न वस्तुएँ सदियों से प्रचलित हैं और जहाँ कहीं भी उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार हुआ है, वहाँ दूसरे राष्ट्रों की वस्तुएँ उनसे मुकाबला नहीं कर सकी हैं। उसे कृषि-प्रधान देश बनाना भारत के साथ अन्याय होगा।"[3] परन्तु ऐसे उदारवादी विचारों के अंग्रेज बहुत कम थे और वे अंग्रेज शासकों की नीति में कोई परिवर्तन न करा सके। अंग्रेजों की विचारधारा का ठीक अनुमान तो मि. कोप (Mr. Cope) के उन विचारों से होता है जो उन्होंने 1840 ई. में संसद की समिति के सामने प्रकट किये थे। उसने कहा : "मैं भारतीय मजदूर पर दया करता हूँ, लेकिन मुझे भारतीय मजदूर के परिवार के मुकाबले अपने परिवार का अधिक ध्यान है। मैं समझता हूँ कि केवल इस आधार पर कि भारतीय मजदूर की स्थिति मुझसे खराब है, मेरा अपने परिवार के सुखों को छीनना भूल होगी।"[4] यह विचार उस समय के अंग्रेजों की भावना का सही प्रतीक है।

---

1 "While British cotton and silk goods imported into India paid a duty of 3-1/2% and woollen goods 2%, Indian cotton goods imported into Britain paid 10%, silk goods 20% and the woollen goods 30%." —*Parliamentary Report, 1840.*

2 "The misery hardly finds a parallel in the history of commerce. The bones of the cotton weavers are bleaching the plains of India." —*Lord William Bentinck.*

3 "India is as much a manufacturing country as an agricultural. She is a manufacturing country, her manufactures of various description have existed for ages and have never been able to be competed with by any nation wherever fair play has been given to them. To reduce her now to an agricultural country would be an injustice to India." —*Martin.*

4 "I certainly pity the East Indian labourer, but at the same time I have a great feeling for my family than for the East Indian labourer's family. I think it is wrong to sacrifice the comforts of my family for the sake of the East Indian labourer because his condition happens to be worse than mine."

—*Mr. Cope's Statement Before the Parliamentary Committee, 1840.*

अंग्रेजों की इस आर्थिक नीति के कारण भारत के जमींदार, ताल्लुकेदार, किसान, मध्यम-वर्ग, मजदूर, उद्योगपति और व्यापारी सभी नष्ट हो गये। अंग्रेज व्यापारिक कम्पनी ने भारत की राजनीतिक सत्ता प्राप्त करके उसका आर्थिक दृष्टि से पूर्ण शोषण किया। भारत की निर्धनता का मुख्य कारण अंग्रेजों की व्यापारिक और औद्योगिक नीति थी। अतः निश्चय ही भारतीय अंग्रेजों की इस नीति से घृणा करते थे और विदेशी अंग्रेजों की सत्ता समाप्त करने का अवसर खोज रहे थे।

4. सामाजिक और धार्मिक कारण

सामाजिक दृष्टि से अंग्रेज अपने को उच्च नस्ल का मानकर भारतीयों को बहुत हेय दृष्टि से देखते थे। भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार और उनके विचार बहुत ही अपमानजनक हुआ करते थे। अंग्रेज भारतीयों का स्थान-स्थान पर अपमान करते थे, उनकी स्त्रियों के सम्मान पर आक्रमण करते थे और उन्हें मारते-पीटते थे। रेलगाड़ी के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में भारतीय यात्रा नहीं कर सकते थे, अंग्रेजों के साथ उठ-बैठ नहीं सकते थे और न किसी प्रकार के सामाजिक उत्सवों में भाग ले सकते थे। यूरोपियन व्यवसायियों द्वारा संचालित होटलों और क्लबों में भारतीय प्रवेश नहीं पा सकते थे। उन पर लिखा हुआ होता था, "कुत्तों और भारतीयों के लिए प्रवेश वर्जित है।"[1] अंग्रेजों की मनोवृत्ति का ठीक अनुमान हम आगरा के एक अंग्रेज मजिस्ट्रेट के पुलिस-सम्बन्धी नियमों से लगा सकते हैं। उसने आदेश दिया था : "कठोर दण्ड के भय के आधार पर प्रत्येक भारतीय को, चाहे उसका पद कुछ भी हो, सड़क पर चलते हुए अंग्रेजों को सलाम करने के लिए और यदि वह घोड़े पर अथवा गाड़ी में हो तब उससे उतरकर और अंग्रेज व्यक्ति के निकल जाने तक चुपचाप खड़े रहकर प्रत्येक अंग्रेज के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए।"[2] अनेक ऐसे उदाहरण भी प्राप्त हैं, जबकि अंग्रेजों ने भारतीयों को छोटी-छोटी बातों पर जान से मार दिया परन्तु तब भी उनको कोई सजा न मिली। अंग्रेज न्यायाधीश भी अंग्रेजों के प्रति पक्षपात करते थे। इस कारण अंग्रेजों के अपमानजनक दुर्व्यवहार के विरुद्ध भारतीय न्याय भी नहीं पा सकते थे। समय के साथ-साथ अंग्रेजों का यह व्यक्तिगत अत्याचार कम होने के स्थान पर बढ़ता ही गया था। प्रत्येक दिन की ऐसी घटनाएँ भारतीयों में असन्तोष का एक मुख्य कारण थीं।

इसके अतिरिक्त एक अन्य भय भारतीयों को हो गया। 1813 ई. से पहले ईसाई पादरियों को भारत में आने की आज्ञा न थी। परन्तु 1813 ई. के कम्पनी के आदेश-पत्र द्वारा ईसाई पादरियों को आज्ञा प्राप्त करके भारत आने की सुविधा मिल गयी। तत्पश्चात् ईसाई पादरी बड़ी संख्या में भारत आने लगे। उनका एकमात्र लक्ष्य भारत में ईसाई धर्म का प्रचार था। प्रारम्भ में अंग्रेज शासकों ने पादरियों को धर्म-प्रचार में कोई सहायता देना पसन्द नहीं किया परन्तु बाद में शासक-वर्ग उनके साथ हो गया। इस कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही अपने-अपने धर्म के लिए खतरा हो गया।

धर्म के लिए सबसे पहला खतरा ईसाई पादरियों द्वारा संचालित स्कूलों से हुआ। पादरियों ने इस बात को छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि उनका उद्देश्य भारतीयों को न

---

1 **"Dogs and Indians are not allowed."**

2 **"Every native, whatever his pretended rank may be, ought to be compelled, under heavy penalties, to salaam English gentleman in the streets and if the native is on horse-back or in a carriage, to dismount and stand in a respectful attitude, until the European has passed him."** ***—Police Regulation at Agra.***

केवल शिक्षा प्रदान करना है बल्कि उनकी आत्माओं की रक्षा करना भी है जो केवल ईसाई धर्म को स्वीकार करने से सम्भव है। युवक पादरियों ने खुल्लमखुल्ला हिन्दू और मुस्लिम धर्म की आलोचना शुरू कर दी और भारतीयों को इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा कि अंग्रेजों द्वारा स्कूलों को स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार है। ईसाई पादरियों ने स्त्री-शिक्षा को भी आरम्भ किया और लड़कियों के स्कूलों में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य कर दी। इससे भारतीयों ने यह समझा कि अंग्रेज उनके घरों में भी ईसाई धर्म का प्रवेश करा रहे हैं। स्वयं अंग्रेजों ने इस बात को छिपाने का कोई प्रयत्न नहीं किया कि उनकी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार है। एक स्कूल में इस प्रकार की शिक्षा दी गयी थी : "कुछ अन्य व्यक्ति जो अभी तक मूर्ति-पूजा के हीन और गन्दे कार्य में लगे हुए थे, अब ईसाई और ईसा मसीह के सत्यज्ञान में लगाये जायेंगे।"[1] स्कूलों में बच्चों से यह प्रश्न पूछा जाता था : "तुम्हारा ईश्वर कौन है" और उनसे उत्तर भी दिलाया जाता था कि "ईसा मसीह"। अनेक स्कूलों में जिन्हें सरकार सहायता देती थी, लेकिन वास्तव में जिन्हें ईसाई पादरी चलाते थे, 'बाइबिल' का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया था। हिन्दू धर्म की मामूली-सी बुराई को भी पर्याप्त बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता था और ईसाई धर्म की अच्छाइयों का निरन्तर वर्णन किया जाता था।

स्कूलों को ही नहीं बल्कि खेलों को भी ईसाई धर्म के प्रचार का साधन बनाया गया था। गोपीनाथ नामक एक बंगाली हिन्दू जो ईसाई बन चुका था, लिखता है : "जेल में कैदियों को भी प्रतिदिन एक ईसाई अध्यापक ईसाई धर्म की शिक्षा देता था और मैं प्रतिदिन सुबह उन्हें बाइबिल के बारे में बताता था।"[2] ईसाई धर्म के इस प्रचार में अंग्रेज अधिकारी और न्यायाधीश सहायता करते थे। अपराधियों को मुक्त कर दिया जाता था, यदि वे ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे। 1845 ई. में एक नये नियम के अन्तर्गत जेल के सभी कैदियों का भोजन एक ब्राह्मण व्यक्ति के द्वारा सामूहिक रूप से बनाया जाना आरम्भ किया गया। उस समय तक प्रत्येक कैदी अपना भोजन स्वयं बनाता था। इस नवीन नियम से प्रत्येक कैदी को अपनी जाति को खो देने का भय हो गया क्योंकि अन्तर्जातीय खान-पान को हिन्दू स्वीकार नहीं करते थे। एक तत्कालीन लेखक ने लिखा है कि जेल से छूटे हुए व्यक्ति को हिन्दू अपने परिवार में शामिल नहीं करते थे।

अंग्रेज भारतीयों को पद, धन और सम्मान का लालच देकर ईसाई बनाते थे। ईसाई धर्म का यह प्रचार इतना अधिक हो गया था कि कलकत्ता के हिन्दू निवासियों ने ईसाई पादरियों के प्रचार के विरुद्ध गवर्नर के पास एक प्रार्थना-पत्र भेजा। मि. एडमण्ड (Mr. Edmund) ने उस समय में ईसाई धर्म के प्रचार के समर्थन में अनेक लेख प्रकाशित कराये और उन्हें जन-साधारण तथा अंग्रेज अधिकारियों में वितरित कराया। एक लेख में उसने लिखा : "क्योंकि सम्पूर्ण भारत एक सरकार की आज्ञा का पालन करता है, क्योंकि सम्पूर्ण देश का बिजली के तार द्वारा एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित हो गया है, और क्योंकि इस सम्पूर्ण देश को रेलों द्वारा मिला दिया गया है, अतएव यह आवश्यक है कि वहाँ एक ही धर्म हो और इस कारण यह उचित है

---

1 "Some others, now engaged in the degrading and polluting worship of idols, shall be brought to the knowledge of the true God and Jesus Christ."
—*Proceedings of a School.*

2 "The prisoners in the jail were also daily instructed in Christianity and general knowledge by a Christian teacher, and every Sabbath morning the Gospel was preached by me." —*Gopinath, a Convert to Christianity.*

कि हर व्यक्ति ईसाई धर्म को स्वीकार कर ले।"[1] यह लेख ईसाई धर्म के प्रचारकों की तत्कालीन भावनाओं को ठीक से प्रदर्शित करता है। इन लेखों के प्रचार ने भारतीयों को सशंकित कर दिया और वे तार, रेल आदि के प्रसार को शंका की दृष्टि से देखने लगे।

अंग्रेज सरकार ने जो अस्पताल बनवाये और जो नियम बनाये उनसे भी भारतीयों को शंका हुई। हिदायतअली ने लिखा : "1849 या 1850 ई. में सहारनपुर में प्रत्येक वर्ग और धर्म के व्यक्तियों के लिए एक बड़ा अस्पताल बनाया गया और अधिकारियों ने घोषणा की कि प्रत्येक स्त्री और पुरुष, उच्च और निम्न, पर्दानशीन या अन्य, इलाज के लिए अस्पताल आयें। भारतीय डॉक्टरों को मरीजों को देखने से रोक दिया गया। अज्ञानता में व्यक्तियों ने यही समझा कि अंग्रेजों की इच्छा सभी के सम्मान को समाप्त करने की है।"[2]

सर सैयद अहमद खाँ ने लिखा है कि 1837 ई. के अकाल के अवसर पर अनेक अनाथ बच्चों को ईसाई बनाया गया और सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिम प्रान्त में यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज देश को निर्धन बनाना चाहते हैं जिससे व्यक्ति ईसाई धर्म को स्वीकार करें।

1856 ई. में पैतृक सम्पत्ति से सम्बन्धित जो कानून बनाया गया उसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि धर्म-परिवर्तन करने पर किसी व्यक्ति को उसकी पैतृक सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा। उसे भी भारतीयों ने ईसाई धर्म को प्रोत्साहित करने का साधन समझा। उसी प्रकार विलियम बेन्टिक द्वारा सती-प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न और लॉर्ड कैनिंग द्वारा कानून की सहायता से विधवाओं को दुबारा विवाह करने का अधिकार देना भी भारतीयों द्वारा शंका की दृष्टि से देखा गया। इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेज सरकार ने जो कानून और सुविधाएँ भारतीयों को अपने शासन की भलाई के उद्देश्य से प्रदान की थीं, उनका एकमात्र उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार नहीं था। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि अंग्रेज सरकार की नीति को भारतीय शंका की दृष्टि से देखने लगे थे। सर सैयद अहमद खाँ ने लिखा : "इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह बुद्धिमान हो या अनभिज्ञ, सम्मानित हो अथवा नहीं, यह विश्वास करता था कि सरकार निस्सन्देह और विश्वास से जनता की परम्पराओं एवं धर्म में हस्तक्षेप करने के लिए तत्पर थी और उसका उद्देश्य, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित करना और उन्हें जबरदस्ती यूरोपीय आदतें और लोक-व्यवहार सिखाना था।"[3] अनेक तत्कालीन लेखकों ने इस विचार का समर्थन किया। इसमें सन्देह नहीं कि

---

1 "As all India obeyed one government, as all parts of the country kept up constant communication one with the other by means of the electric telegraph,—and as the Railway system united the extremes of this Peninsula, it was necessary that there should be but one religion also, and therefore, that every one should embrace Christianity." —*Letter of Mr. Edmund.*

2 "In 1849 or 1850, the authorities of Saharanpore caused a large hospital to be built up for sick of all creeds and persuasions. The principal authorities issued a proclamation, saying that all sick, men or women, high or low, 'Purdah Nasheen' or others, must resort to this hospital for treatment and all native practitioners were forbidden to prescribe or attend sick people...people imagined in their ignorance that it was the intention of the British to take away the dignity and honour of all." —*Hidayat Ali.*

3 "All persons, whether intelligent or ignorant, respectable or otherwise, believed that the Government was really and sincerely desirous of interfering with the religion and customs of the people, converting them all, whether Hindus or Mohammedans, to Christianity, and forcing them to adopt European manners and habits." —*Sir Syed Ahmad Khan.*

ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को ईसाई बनाने की नीति राज्य की सहायता के आधार पर स्पष्ट रूप से कभी नहीं अपनायी थी परन्तु यह भी विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि सरकार अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई पादरियों को सहायता देती थी। अंग्रेज सरकार की नीति चाहे किसी भी प्रकार की रही हो परन्तु यह पूर्णतः सत्य है कि भारतीयों में यह शंका व्याप्त हो गयी थी कि अंग्रेज उनके धर्म और संस्कृति को नष्ट करने पर तुले हुए हैं। इस कारण भारतीयों में अंग्रेजों के विरुद्ध तीव्र असन्तोष था।

5. सैनिक कारण

हिदायतअली ने सैनिकों के असन्तोष के निम्नलिखित कारण बताये हैं :

1. अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के कारण सैनिक असन्तुष्ट थे क्योंकि उनमें से पर्याप्त, मुख्यतः बंगाल की सेना के सैनिक उसी राज्य के निवासी थे।

2. पंजाब को जीतने के पश्चात् अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों को विश्वास दिलाया था कि उन्हें अपनी दाढ़ी या बाल साफ करने के लिए नहीं कहा जायेगा, परन्तु बाद में अंग्रेजों ने बाल साफ करने के आदेश जारी कर दिये थे।

3. सैनिकों को भय था कि अंग्रेज उनके धर्म को नष्ट करने पर तुल गये हैं।

4. 1856 ई. में जब नवीन सैनिकों से यह शपथ ली गयी कि वे युद्ध करने के लिए कहीं भी भेजे जा सकते हैं तब उनकी उपर्युक्त शंका अधिक बढ़ गयी।

5. चर्बी लगे हुए कारतूसों ने उनकी इस शंका को विश्वास का रूप प्रदान कर दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि अनेक कारणों से भयभीत सैनिक अंग्रेजी शासन से असन्तुष्ट हो गये थे। भारतीय नागरिकों के समान वे भी अपने धर्म-भ्रष्ट किये जाने के प्रति शंकालु थे। इसके अतिरिक्त उनकी अपनी कठिनाइयाँ भी थीं। भारतीय सैनिकों को बहुत कम वेतन मिलता था। उन्हें अपने खाने और कपड़ों के लिए धन देना पड़ता था। इस सारे व्यय को पूरा करने के पश्चात् एक सैनिक के पास पूरे माह के खर्च के लिए एक या डेढ़ रुपया बच पाता था। इसी प्रकार, घुड़सवारों की स्थिति भी अच्छी न थी। भारतीय सैनिकों की भावना का पता हमें विद्रोह के समय की गयी उनकी घोषणाओं से लगता है। एक घोषणा में कहा गया था : "हमने अपने विदेशी मालिकों की सेवा में बिना किसी हिचकिचाहट के खून बहाया है, हमने उनके लिए राज्य के बाद राज्य जीते हैं जब तक कि इस देश में जीतने के लिए कुछ भी बाकी नहीं रह गया लेकिन इसके बदले में हमें क्या मिला है—अपने आदमियों का शोषण, अपने राजाओं का असम्मान और सबसे बुरा, न सोचने के योग्य, अपने धर्म का अपमान।"[1]

बंगाल की सेना जो अंग्रेजों की मुख्य सेना समझी जाती थी, इसलिए असन्तुष्ट थी क्योंकि उसमें अंग्रेजों ने निम्न जातियों के व्यक्तियों को भी भर्ती करना आरम्भ कर दिया था। पहले उसमें केवल राजपूत और ब्राह्मण होते थे किन्तु बाद में जब निम्न जाति के व्यक्ति भी उसमें आये तो वे उसे पसन्द न कर सके। बंगाल की सेना का असन्तोष अवध को अंग्रेजी राज्य

---

1 **"We have ungrudgingly shed our blood in the service of our foreign masters, we have conquered for them kingdom after kingdom, until nothing remained to be annexed within the four corners of the country. But what has been the return—spoilation of our people, degradation of our princes and worst of all—inconceivable insult to our religion."**

—Proclamation of the soldiers issued during the mutiny.

में मिलाये जाने के कारण अधिक बढ़ गया क्योंकि उसमें 3/5 सैनिक अवध के नागरिक थे। मौलाना आजाद लिखते हैं : "अवध के अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने से सैनिकों में विद्रोह की भावना उत्पन्न हो गयी, मुख्यतः बंगाल की सेना में। इससे व्यक्तियों को बहुत बड़ा धक्का लगा—उन्हें अनायास आभास हुआ कि कम्पनी ने जो शक्ति उनकी सेवाओं और त्याग से प्राप्त की थी उसका उपयोग उनके राजा को समाप्त करने के लिए किया गया था।"[1]

इसके अतिरिक्त सैनिकों को बिना किसी भत्ते के दूर-दूर स्थानों पर युद्ध करने के लिए जाना पड़ता था तथा अपने पूर्ववर्ती शासकों की भाँति विजय के पश्चात् उन्हें भूमि, सम्मान और पद मिलने बन्द हो गये थे। सिन्ध और पंजाब की विजय के पश्चात् उनकी स्थिति अधिक खराब हो गयी थी। 1824 ई. में बैरकपुर के सैनिकों ने बर्मा जाने से इन्कार कर दिया था और 47वीं रेजीमेण्ट समाप्त कर दी गयी थी। 1844 ई. में बंगाल की सेना ने सिन्ध जाने से उस समय तक इन्कार कर दिया था जब तक कि उनकी विशेष भत्ता देने की माँग स्वीकार न कर ली गयी। 1849 ई. में 22वीं N. I. ने, 1850 ई. में 66वीं N. I. ने और 1852 ई. में 38वीं N. I. ने विद्रोह किये थे। यह सभी सैनिकों के गम्भीर असन्तोष के प्रमाण थे।

1856 ई. में कैनिंग ने सामान्य सेना-भर्ती अधिनियम बनाया जिसके अन्तर्गत निश्चित किया गया कि बंगाल की सेना में जितने भी नवीन सैनिक भर्ती किये जायेंगे उन्हें सैनिक सेवा के लिए कहीं भी भेजा जा सकता है। इस नियम का प्रभाव पुराने सैनिकों पर नहीं पड़ता था। परन्तु क्योंकि इस सेना में अधिकांश सैनिकों की भर्ती पैतृक आधार पर होती थी, अतएव अपने बच्चों के भविष्य की चिन्ता से सभी सैनिकों में असन्तोष बढ़ा। भारत में उस समय तक विदेश जाने वालों को जाति के बाहर कर दिया जाता था। इस कारण सैनिकों ने यह अनुभव किया कि इस नियम को मानने से उनके बच्चे जो सेना में भर्ती होंगे, वे जाति से बाहर कर दिये जायेंगे। इस नियम से यह भी निश्चित हुआ था कि जिन सैनिकों को विदेश जाने के योग्य नहीं समझा जायेगा उन्हें पेंशन देने के स्थान पर छावनियों में नौकरी देने की व्यवस्था की जायेगी। यह भी सैनिकों के असन्तोष का कारण था।

1854 ई. में एक कानून के द्वारा सैनिकों को प्राप्त मुफ्त पत्र-व्यवहार की सुविधा भी समाप्त कर दी गयी।।

सेना में अंग्रेजों की तुलना में भारतीयों की संख्या बहुत अधिक हो गयी थी। 1856 ई. में भारतीय सेना में 2,33,000 भारतीय और 45,322 अंग्रेज सैनिक थे। अंग्रेज अफसरों की संख्या भी सेना में कम हो गयी थी। बहुत-से योग्य अंग्रेज अफसरों को नवविजित प्रान्तों में प्रशासन-अधिकारी बनाकर भेज दिया गया था। क्रीमिया के युद्ध की कठिनाइयों को देखकर अंग्रेज सैनिकों का नैतिक स्तर भी कुछ कम हो गया था। उपर्युक्त सभी कारणों से भारतीय सैनिकों में यह भावना आने लगी थी कि यदि वे ठीक समय से आक्रमण करें तो वे अंग्रेजों को पराजित करके देश से बाहर निकाल सकते हैं। यह विश्वास सैनिकों में विद्रोह को प्रोत्साहन देने वाला था।

इस प्रकार भारतीय सैनिक न केवल उन सभी बातों से असन्तुष्ट थे जिनसे भारतीय नागरिक अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे बल्कि उनके असन्तोष के कुछ अन्य कारण भी थे। अंग्रेजों

---

1 "The annexation of Oudh marked the beginning of a rebellious mood in the army generally and in the Bengal army in particular. It gave a rude shock to the people—they suddenly realized that the power which the company had acquired through their service and sacrifice was utilized to liquidate their own king."

—*Maulana Azad.*

के विरुद्ध विद्रोह की भावना सैनिकों में आ चुकी थी। उसे केवल एक चिनगारी की जरूरत थी और वह चिनगारी चर्बी लगे हुए कारतूसों ने प्रदान कर दी। आर. सी. मजूमदार लिखते हैं : "कोई भी समझदार व्यक्ति यह देख सकता था कि सुरंग तैयार थी और गाड़ी भी तैयार थी तथा कोई भी सम्भावना बहुत सरलता से उसमें चिनगारी लगा सकती थी। चर्बी लगे कारतूसों की कहानी ने यह चिनगारी सुलगा दी और उससे जो धमाका हुआ उसने भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ें हिला दीं।"[1]

1856 ई. में भारत सरकार ने पुरानी बन्दूकों के बजाय नयी 'एनफील्ड राइफिल' (Enfield Rifle) का सेना में प्रयोग करना चाहा। उसके प्रशिक्षण का प्रबन्ध डमडम, अम्बाला और स्यालकोट में किया गया। उसके लिए जो कारतूस बनाये गये थे उन्हें राइफिल में भरने से पहले मुँह से खोलना पड़ता था। 1857 ई. में बंगाल की सेना में यह खबर फैल गयी कि इन कारतूसों के बनाने में सूअर और गाय की चर्बी का प्रयोग किया गया है। अंग्रेज अधिकारियों ने इस बात से इन्कार किया परन्तु सैनिकों को विश्वास न हुआ। उन्हें यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज हिन्दू और मुसलमान दोनों का ही धर्म-भ्रष्ट करने पर तुले हुए हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि चर्बी वाले कारतूस ही विद्रोह का मुख्य कारण थे। यद्यपि भारतीय सैनिक अन्य कारणों से असन्तुष्ट अवश्य थे किन्तु इससे पहले उन्होंने विद्रोह करने का निश्चय नहीं किया था। इन कारतूसों ने ही सैनिकों को विद्रोह करने पर मजबूर किया। वे अपना जीवन देकर भी अपने धर्म को बचाने के लिए तत्पर हो गये। अनेक इतिहासकारों का मत है कि यदि कारतूसों वाली घटना न हुई होती तो, सम्भवतः, भारत में विद्रोह न हुआ होता।

कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी का प्रयोग किया गया था अथवा नहीं, इस विषय में दो मत नहीं हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि चाहे भूल से ही हो परन्तु इन कारतूसों में गाय और सूअर की चर्बी का प्रयोग किया गया था। एक सैनिक अधिकारी ने विद्रोह के पश्चात् अपनी पुस्तक *'बंगाल के सैनिकों का विद्रोह'* में लिखा : "एनफील्ड राइफिल में एक विशेष प्रकार के कारतूस का प्रयोग किया जाता था जिसमें सूअर और गाय या भैंस की चर्बी का प्रयोग किया गया था।"[2] इसी प्रकार, फील्ड मार्शल लॉर्ड रॉबर्ट्स ने लिखा : "भारत सरकार के कागजों को देखकर मि. फौरेस्ट इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कारतूसों के बनाने में जिस चिकने पदार्थ का प्रयोग किया गया था उसमें निस्सन्देह सूअर और गाय की घृणित चर्बी का प्रयोग किया गया था और इन कारतूसों को तैयार करने में सैनिकों की धार्मिक भावना का बिल्कुल भी ध्यान नहीं रखा गया था।"[3]

इस कारण कारतूसों की घटना इस सैनिक विद्रोह का मुख्य कारण बनी। सैनिकों की प्रारम्भिक सफलता ने भारतीय नागरिकों को भी विद्रोह करने के लिए तत्पर कर दिया।

---

1 "A discerning eye could see that the mine was loaded and the train prepared, and the spark might be easily furnished by an inflammable passion. The story of the greased cartridge supplied the spark and caused an explosion which shook the British empire in India to its very foundations." —*R. C. Majumdar.*

2 "The Enfield Rifle required a particular species of cartridge which was greased with lard made from the fat either of hog or ox."
—*Mutiny of the Bengal Army by a Military Officer.*

3 "The recent researches of Mr. Forest in the record of the government of India prove that the lubricating mixture used in preparing the cartridges was actually composed of the objectionable ingredients, cow's fat and lard, and the incredible disregard of the soldier's religious prejudices was displayed in the manufacture of these cartridges." —*Field Marshall Lord Roberts.*

भारतीय नागरिक विभिन्न कारणों से अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे ही। जब सैनिकों ने मेरठ और दिल्ली में सफलता प्राप्त कर ली तो भारतीय जनता भी इस विद्रोह में सम्मिलित हो गयी। बिशप हीबर (Bishop Heber) ने 1824 ई. में ही लिखा था : "भारतीय हमें पसन्द नहीं करते, अगर अच्छा अवसर मिल जाये तो वे और मुख्यतः मुसलमान खुशी-खुशी हमारे विरुद्ध खड़े हो जायेंगे।"[1] वह अवसर भारतीय जनता को सैनिकों ने प्रदान कर दिया। इस कारण अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने का उपयुक्त अवसर जानकर भारतीय नागरिक भी इस विद्रोह में सम्मिलित हो गये। यह स्पष्ट है कि सैनिक विद्रोह से पहले जनता ने विद्रोह का कोई संगठन नहीं किया था और उस समय भारत में राष्ट्रीयता की भावना भी न थी। यह विचार इस बात से भी स्पष्ट होता है कि भारतीय नागरिकों के विद्रोह का केन्द्र-स्थान अवध और रुहेलखण्ड था जहाँ के शासक और ताल्लुकेदारों को कुछ समय पहले ही उनके अधिकारों से वंचित किया गया था।

2. विद्रोह का आरम्भ और विस्तार

जनवरी 1857 ई. के आरम्भिक दिनों में डमडम छावनी का एक ब्राह्मण सिपाही अपने लोटे में पानी लेकर आ रहा था। एक निम्न जाति के खलासी ने, जो डमडम की कारतूसों की फैक्टरी में कार्य करता था, उससे पीने के लिए पानी माँगा। ब्राह्मण सैनिक के इन्कार करने पर उसने ताना मारते हुए कहा कि तुम्हारा जाति-दम्भ अब शीघ्र ही भंग हो जायेगा क्योंकि अंग्रेज जिन कारतूसों को तुम्हें प्रयोग के लिए देंगे उनमें सूअर और गाय की चर्बी मिली होगी। क्योंकि वह खलासी कारतूस बनाने वाली फैक्टरी में कार्य करता था अतएव सैनिक को उसकी बात पर भरोसा हो गया और उसने यह सूचना अपने साथी सैनिकों को दी। यह सूचना शीघ्र ही बैरकपुर की छावनी में भी पहुँच गयी। 19वीं रेजीमेण्ट के सैनिकों ने उन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया, परन्तु बाद में सैनिक तो शान्त हो गये और इनके नेताओं को दण्डित किया गया। फिर भी गवर्नर-जनरल ने 19वीं रेजीमेण्ट को समाप्त करने के आदेश दे दिये। 29 मार्च को 34वीं रेजीमेण्ट के सैनिक मंगल पाण्डे ने अपने सार्जेण्ट-मेजर को गोली मार दी और सैनिकों को अपने धर्म की रक्षा के लिए ललकारा। लेकिन उसे और उसके एक साथी को पकड़ लिया गया और उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। तत्पश्चात् 34वीं रेजीमेण्ट भंग कर दी गयी। इसी प्रकार की घटनाएँ अम्बाला और लखनऊ में हुई तथा लखनऊ रेजीमेण्ट को भंग कर दिया गया।

यह स्पष्ट था कि सैनिक केवल उन कारतूसों को प्रयोग करने से इन्कार कर रहे थे और उस समय तक उनका निश्चय विद्रोह करने का न था। परन्तु भारत सरकार सैनिकों की भावनाओं की परवाह किये बगैर उन कारतूसों के प्रयोग पर अड़ी रही और जिन्होंने उन्हें प्रयोग करने से इन्कार किया उन्हें दण्ड देती गयी। 24 अप्रैल, 1857 ई. को मेरठ छावनी के 85 सैनिकों ने उन कारतूसों का प्रयोग करने से इन्कार कर दिया। उनको सश्रम 10 साल की कैद की सजा दी गयी। 9 मई को उन सैनिकों को सभी सैनिकों के सामने नंगा करके अपमानित किया गया। 10 मई को तीसरी घुड़सवार-सेना (Third Cavalry) ने विद्रोह कर दिया। उनके साथ भारतीयों की पैदल-सेना भी सम्मिलित हो गयी। बन्दियों को छुड़ाकर और अंग्रेजों को कत्ल करने के पश्चात् वे सैनिक उसी रात दिल्ली चल दिये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने मुगल बादशाह बहादुरशाह को विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए राजी कर लिया। अंग्रेज दिल्ली से भाग गये

---

1 "The natives of India do not really like us...if a fair opportunity be offered, the Musalmans, most particularly, would gladly avail themselves of it to rise against us."
—*Bishop Heber.*

और इस प्रकार मुगल बादशाह के नाम से 1857 ई. का विद्रोह आरम्भ हुआ। एक सप्ताह तक भारतीय नागरिक और विभिन्न स्थानों के सैनिक सोच-विचार में रहे परन्तु उसके पश्चात् अन्यान्य स्थानों पर सैनिकों एवं नागरिकों ने विद्रोह कर दिया और यह विद्रोह दिल्ली से बिहार तक फैल गया।

4 जून को लखनऊ में, 5 जून को कानपुर में और उन्हीं दिनों झाँसी में विद्रोह हुआ। कानपुर में नाना साहब ने और झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। नाना साहब के सेनापति ताँत्या टोपे और रानी लक्ष्मीबाई का विद्रोह में सबसे साहसपूर्ण नेतृत्व रहा। पंजाब में अंग्रेजों ने सभी भारतीय सैनिकों से शस्त्र छीन लिये। एक-दो स्थानों पर सैनिकों ने इसका विरोध भी किया परन्तु यह विरोध तुरन्त दबा दिया गया। ग्वालियर, इन्दौर और कहीं-कहीं राजस्थान के सैनिकों ने भी विद्रोह किया। बंगाल में एक-दो स्थानों को छोड़कर कहीं भी विद्रोह नहीं हुआ। बिहार में कई स्थानों पर विद्रोह हुआ परन्तु वह अधिक सफल न हुआ। दक्षिण-भारत में एक-दो स्थानों पर विद्रोह हुआ परन्तु अहमदाबाद, हैदराबाद, सिन्ध आदि में विद्रोह करने के प्रयत्नों को शुरू होते ही समाप्त कर दिया गया। विद्रोह के केन्द्र-स्थान दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, झाँसी और ग्वालियर रहे। भारतीय नरेशों ने इस विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया बल्कि पंजाब, राजस्थान और दक्षिण के नरेशों ने तो इस विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों का साथ दिया।

सैनिकों की प्रारम्भिक सफलता के कारण नागरिकों को विद्रोह में सम्मिलित होने का प्रोत्साहन मिला। इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक और मुख्यतः धार्मिक कारणों से भारतीय अंग्रेजों से असन्तुष्ट थे परन्तु उनमें विद्रोह करने का साहस नहीं था। यह साहस उन्हें सैनिकों के विद्रोह की सफलता ने प्रदान किया।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों के अतिरिक्त भारतीय नागरिकों के विद्रोह में सम्मिलित होने के अन्य कारण भी थे। अनेक ऐसे व्यक्ति जिनके पद, सम्मान, पेंशन आदि को अंग्रेजों ने छीन लिया था, विद्रोह में सम्मिलित हुए। अनेक व्यक्तियों ने जो महाजनों या साहूकारों से कर्ज लेते थे, इस विद्रोह में कर्ज आदि के इन कागजों को नष्ट करने का उपयुक्त अवसर पाया। कुछ मुसलमान नेताओं और मौलवियों ने इस अवसर को अंग्रेजी राज्य को समाप्त करके मुसलमान-राज्य को पुनः स्थापित करने की सुविधा समझा। फैजाबाद के मौलवी मुहम्मद अल्ला ने 1857 ई. के प्रारम्भ में ही अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचार आरम्भ कर दिया था। इन सभी कारणों से भारतीय नागरिकों ने विद्रोह में भाग लिया, यद्यपि इसका यह अभिप्राय नहीं है कि भारतीयों ने इस विद्रोह की तैयारी पहले से की थी। मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, बुलन्दशहर, दिल्ली, बरेली, फर्रुखाबाद, बिजनौर, शाहजहाँपुर, बदायूँ, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, बाँदा, हमीरपुर, झाँसी, लखनऊ, कानपुर, गोरखपुर तथा बिहार के अनेक स्थानों पर नागरिकों ने बहुत बड़ी संख्या में विद्रोही सैनिकों का साथ दिया।

3. विद्रोह का दमन

जिस समय भारत में विद्रोह की शुरूआत हुई उस समय भारतीय सैनिकों की संख्या 2,32,224 थी और अंग्रेजी सैनिकों की संख्या केवल 45,522 थी। कलकत्ता से दिल्ली के बीच में अनेक स्थानों पर भारतीय सेनिकों की छावनियाँ थीं जबकि अंग्रेजों की मुख्य छावनियाँ आगरा और धनबाद में ही थीं।

परन्तु इस स्थिति का सैनिकों ने पूर्ण लाभ नहीं उठाया। उन्हें दिल्ली की सुरक्षा करने के लिए पंजाब से आने वाली अंग्रेजी सेनाओं को रोकने की व्यवस्था करके पूर्व की ओर बढ़ना चाहिए था जिससे वे अंग्रेजों के केन्द्र-स्थान कलकत्ता पर अधिकार कर सकते थे। लेकिन

सैनिकों ने युद्ध की निश्चित योजना नहीं बनायी और न अपनी शक्ति को केन्द्रित करने का प्रयत्न किया जिसके कारण अंग्रेजों को उनसे अलग-अलग स्थानों पर युद्ध करने का अवसर मिला और वे सभी को धीरे-धीरे परास्त कर सके।

जैसे ही विद्रोह की सूचना लॉर्ड कैनिंग को प्राप्त हुई उसने बम्बई, मद्रास, बर्मा और श्रीलंका से सेना एकत्र करने के आदेश दिये। जो अंग्रेजी सेना चीन जा रही थी उसे भी उसने अपनी जिम्मेदारी पर कलकत्ता आने के आदेश दे दिये। पंजाब से भी वफादार सिख-सेना को दिल्ली की ओर बढ़ने के आदेश दिये गये। जनरल नील (General Neill) ने बनारस में विद्रोह को समाप्त किया। बाद में उसने इलाहाबाद को भी अपने अधिकार में कर लिया जहाँ उस समय तक सिख-सेना की सहायता से अंग्रेज किले की रक्षा करने में सफल रहे थे।

कानपुर में नाना साहब ने अपने को पेशवा घोषित कर दिया। वहीं पर आत्मसमर्पण किये हुए अंग्रेज़ों को नदी पर और बीबीगढ़ में कत्ल किया गया। ग्वालियर की विद्रोही सेना भी कानपुर पहुँच गयी। दिसम्बर में सर कैम्पबैल (Sir Campbell) कानपुर को जीत सका और नाना साहब भाग गया।

लखनऊ में विद्रोहियों ने बेगम हजरत महल तथा उसके अल्पवयस्क पुत्र विर्जिस कद्र को नवाब घोषित करके विद्रोह किया। हैवलॉक (Havelock), सर आउट्रम (Sir Outram) और सर कैम्पबैल (Sir Campbell) के प्रयत्नों से मार्च 1858 ई. में लखनऊ पर अधिकार किया जा सका।

दिल्ली पर अंग्रेज इससे पहले ही अधिकार कर चुके थे। निकलसन (Nicholson) के प्रयत्नों और कठिन संघर्ष के पश्चात् सितम्बर 1857 ई. में अंग्रेज दिल्ली पर अधिकार कर सके। बहादुरशाह के दो बच्चे अंग्रेजों द्वारा मार दिये गये और स्वयं उसे रंगून भेज दिया गया जहाँ 1862 ई. में उसकी मृत्यु हुई।

ताँत्या टोपे ने ग्वालियर की सेना को अपने साथ सम्मिलित कर लिया था और बाद में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई के साथ मिल गया था। सर ह्यू रोज (Sir Hugh Rose) ने झाँसी पर अधिकार कर लिया लेकिन रानी भागकर ताँत्या टोपे के पास काल्पी चली गयी। वहाँ से उन्होंने ग्वालियर पर आक्रमण किया। जून 1858 ई. में अंग्रेजों ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। रानी युद्ध में मारी गयी और ताँत्या टोपे को बाद में पकड़ कर कत्ल कर दिया गया।

बरेली में खान बहादुरखाँ ने अपने को नवाब नाजिम घोषित कर दिया था। बिहार में जगदीशपुर के जमींदार कुँवरसिंह ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया था। परन्तु ये विद्रोह भी शीघ्र दबा दिये गये। विद्रोह के अधिकांश नेता मारे गये अथवा भाग गये। नाना साहब और अवध की बेगम हजरत महल नेपाल भाग गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई। स्थानीय विद्रोह कुछ स्थानों पर नागरिकों के प्रयत्नों से चला परन्तु जुलाई 1858 ई. तक विद्रोह को प्रायः सभी स्थानों पर समाप्त कर दिया गया।

4. विद्रोह के समय के अत्याचार

विद्रोह के समय की मुख्य विशेषता दोनों पक्षों द्वारा किये गये भयानक अत्याचार हैं। ये अत्याचार इतने भयानक तरीकों से किये गये थे कि एक लेखक ने लिखा है कि वह युद्ध दो जंगली जातियों का युद्ध था जिसमें दया और औचित्य का कोई ध्यान नहीं रखा गया था और जिसमें दुश्मन का नाश करने की भावना ही प्रमुख थी, उसका तरीका चाहे कुछ भी हो।

अंग्रेज इतिहासकारों ने भारतीयों द्वारा अंग्रेजों पर किये गये अत्याचारों का उल्लेख तो काफी बढ़ा-चढ़ाकर किया है किन्तु अंग्रेजों ने भारतीयों के प्रति जो अत्याचार किये उनका

उल्लेख बहुत कम किया है। परन्तु ऐतिहासिक तथ्य और कुछ उदार अंग्रेजों के वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अंग्रेजों ने भी भारतीयों के प्रति अत्याचार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

जाति-भेद के आधार पर इन अत्याचारों का आरम्भ सर्वप्रथम मेरठ में हुआ जहाँ अंग्रेज स्त्रियों, बच्चों और पुरुषों को निर्दयता से कत्ल किया गया। इसी प्रकार दिल्ली में भारतीय सैनिकों या गुण्डों ने अंग्रेज स्त्रियों, बच्चों और पुरुषों पर अमानुषिक अत्याचार किये। "प्रत्येक उस मकान पर जिसमें कोई भी यूरोपियन या यूरेशियन रहता था, आक्रमण किया गया और जो भी ईसाई मिला उसे कत्ल कर दिया गया। उस समय बचाव का कोई मार्ग न था और मन में दया की भावना न थी।"[1]

विद्रोहियों ने अन्य स्थानों पर भी मेरठ और दिल्ली जैसी स्थिति उत्पन्न कर दी और इसमें सन्देह नहीं कि अंग्रेजों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया गया। कानपुर में सती चौराघाट पर अंग्रेज बन्दी पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों पर गोलियाँ चलायी गयीं और बचे हुए लोगों को बाद में बीबीगढ़ में कत्ल करके कुएँ में फिंकवा दिया गया।

परन्तु यह व्यवहार भारतीयों तक ही सीमित न था। अंग्रेजों ने भी अत्याचार करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। जनरल नील (General Neill) ने कलकत्ता से बनारस और इलाहाबाद आते हुए हजारों निरीह पुरुषों, स्त्रियों एवं बच्चों को कत्ल कराया। जनरल हैवलॉक (Havelock) ने भी अपने रास्ते से गुजरते हुए ऐसा ही व्यवहार किया। दिल्ली पर अधिकार करने के बाद भी अंग्रेजों ने इसी प्रकार नृशंसता का व्यवहार किया। *'टाइम्स'* के पत्रकार ने लिखा : "शाहजहाँ के शहर में नादिरशाह के कत्लेआम के उपरान्त ऐसा दृश्य नहीं देखा गया था।"[2] फ्रेडरिक कूपर के 26th N. I. के सैनिकों के साथ किये गये व्यवहार के सामने बीबीगढ़ की घटना फीकी पड़ जाती है। उजनाला के पुलिस थाने में 282 कैदी पकड़कर लाये गये। 140 को तुरन्त कत्ल कर दिया गया और शेष एक कमरे में बन्द कर दिये गये। जब उन्हें कमरे में से निकाला गया तो उनमें से अधिकांश मर चुके थे। कूपर (Cooper) ने गर्वोक्ति की : "यदि एक कुआँ कानपुर में है तो दूसरा उजनाला में भी है।"[3] इसी प्रकार का व्यवहार झाँसी और लखनऊ के नागरिकों के साथ किया गया। जिन व्यक्तियों का विद्रोह से कोई सम्बन्ध न था, उनके साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार किया गया था। अनेक स्थानों पर सैनिक-कानून (Martial Law) लागू कर दिया गया था। स्थान-स्थान पर अस्थायी न्यायालय स्थापित किये गये थे। उस समय रस्सियों से लटका कर गोली मार देना एकमात्र सजा थी। जिन-जिन मार्गों, गाँवों व शहरों से अंग्रेजी सेनाएँ गुजरीं वहाँ पर लाशों के अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं देता था।

5. विद्रोह की असफलता के कारण

जिस समय विद्रोह का आरम्भ हुआ, उस समय भारतीय सेना की संख्या अंग्रेजी सेना से सात गुना अधिक थी। भारतीय नागरिकों ने भी अनेक स्थानों पर विद्रोह कर दिया था। इस

---

1 "Every house, occupied by European or Eurasian, was attacked and every Christian upon whom hands could be laid was killed. There was no mercy and there was no quarter."

2 "No such scene has been witnessed in the city of Shah Jehan since the days of Nadir Shah." —*Correspondent, Times.*

3 "There is a well at Cawnpore, but there is also one at Ujnalla." —*Frederick Cooper.*

प्रकार अंग्रेजों को न केवल अपने से अधिक संख्या वाली भारतीय सेना से मुकाबला करना था बल्कि विद्रोही नागरिकों से भी लड़ना था और विद्रोह को फैलने से रोकना था। यातायात के समस्त साधन बेकार हो चुके थे। कलकत्ता और आगरा के बीच सभी स्थानों पर विद्रोहियों का अधिकार था और दिल्ली प्रारम्भ में ही विद्रोहियों के हाथों में चली गयी थी। फिर भी अंग्रेज इस विद्रोह को दबाने में सफल हुए, यह एक आश्चर्यजनक घटना थी।

विद्रोह की असफलता के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। यह विद्रोह सम्पूर्ण भारत में नहीं फैला था। सम्पूर्ण दक्षिण-भारत, पंजाब और उसके उत्तरी भाग, राजस्थान, गुजरात, मध्य-भारत और बंगाल इस विद्रोह में सम्मिलित नहीं हुए। दिल्ली, अवध, बिहार, रुहेलखण्ड और इनके निकटस्थ भागों में ही यह विद्रोह फैला था। अतः इसे सम्पूर्ण उत्तर-भारत का विद्रोह कहना भी अनुचित होगा। इस कारण अंग्रेजों को अपनी शक्ति सम्पूर्ण भारत में नहीं बिखेरनी पड़ी।

भारतीयों के मुकाबले अंग्रेजों के पास अच्छे शस्त्र थे। अधिकतर भारतीय तलवारों और भालों से युद्ध कर रहे थे जबकि अंग्रेज सैनिक नवीन राइफलों का प्रयोग कर रहे थे। अंग्रेजों के पास अच्छा तोपखाना था जबकि भारतीय तोपखाने का प्रयोग युद्ध में नहीं कर सके। ज़ो भी तोपखाना भारतीयों के पास था उसका प्रयोग केवल किलों की रक्षा के लिए किया गया।

तार-व्यवस्था से भी अंग्रेजों को बहुत लाभ था। सूचना भेजने और मँगाने में अंग्रेजों ने इसका विशेष उपयोग किया जबकि भारतीय इसके प्रयोग से सर्वथा अपरिचित थे।

अंग्रेजों को भारतीय नरेशों से बहुत सहायता मिली। पटियाला, जींद, ग्वालियर, हैदराबाद आदि के शासकों ने अंग्रेजों की पूरी सहायता की। नेपाल-राज्य ने अंग्रेजों की सहायता की और अफगानों को भी अंग्रेज सुविधा से सेना में भर्ती कर सके। एक तत्कालीन अंग्रेज ने लिखा था : "अगर हैदराबाद ने विद्रोह कर दिया होता तो हम सम्पूर्ण दक्षिण-भारत के विद्रोह से न बच पाते।"[1] स्वयं लॉर्ड कैनिंग ने कहा था : "अगर सिन्धिया विद्रोहियों के साथ सम्मिलित हो जाता है तो मुझे कल ही यहाँ से भागना पड़ेगा।"[2]

शिक्षित भारतीयों ने इस विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया। आधुनिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोई भी राजनीतिक आन्दोलन उस समय तक सफल नहीं होता जब तक उसे शिक्षित-वर्ग का सहयोग प्राप्त न हो जाय। राजनीतिक विद्रोहों की आधारशिला का निर्माण शिक्षित-वर्ग ही करता है, परन्तु भारत में उस समय ऐसा नहीं हुआ था। 1857 ई. के विद्रोह के पीछे ऐसा कोई आधार न था बल्कि देखा जाय तो यह विद्रोह शिक्षित-वर्ग की भावनाओं के विरुद्ध था। इस कारण विद्रोह को जीवित रखने का आधार तैयार नहीं हो सका था।

लेकिन इस विद्रोह की असफलता के मुख्य कारण किसी सुनिश्चित योजना का न होना, किसी भी केन्द्रीय संगठन का न होना और अंग्रेजों की अपेक्षा भारतीयों में सैनिक-संगठन, नेतृत्व, युद्ध-नीति आदि का अभाव था। विद्रोह का संगठन किसी एक योग्य व्यक्ति द्वारा या एक स्थान से नहीं किया गया। दिल्ली में बहादुरशाह, लखनऊ में बेगम हजरत महल, कानपुर में नाना साहब और झाँसी में रानी लक्ष्मीबाई ने विद्रोहियों का नेतृत्व किया। उनमें आपस में कोई सहयोग न था और न उन्होंने कोई सम्मिलित योजना ही बनायी। उनके मुकाबले अंग्रेजों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग एक निश्चित योजना के अनुसार एक विचार, एक दिमाग और एक लक्ष्य को लेकर दृढ़तापूर्वक किया। विद्रोह के समय घटित कई घटनाएँ

---

1 "If Hyderabad had risen we could not escape insurrection, practically over the whole of Deccan." —*A Contemporary Englishman.*

2 "If Sindhia joins the rebels, I will pack off tomorrow." —*Lord Canning.*

स्पष्ट रूप से इस बात का प्रमाण हैं। दिल्ली एक दीवार से घिरा हुआ शहर था, वहाँ का किला भी दृढ़ था और उसे आसपास से रसद सुविधा से मिल सकती थी। फिर भी केवल चार महीने के घेरे में अंग्रेजों ने उसे जीत लिया। कानपुर में अंग्रेजों के पास सुरक्षा का कोई विशेष स्थान न था। उनके पास कुछ भारतीय सैनिक, कुछ अंग्रेज असैनिक और 400 अंग्रेज सैनिक थे जिनमें से 70 घायल थे। इनके मुकाबले नाना साहब के पास 3,000 सैनिक थे जिनके पास अच्छे शस्त्र थे और जो अच्छी स्थिति में थे। फिर भी नाना उन मुट्ठी-भर अंग्रेजों को 20 दिन में भी न जीत सका और बाद में चालाकी से सुरक्षा का वायदा करके उन्हें आत्मसमर्पण करने को तैयार किया गया। इसी प्रकार, आरा (Arrah) में 50 सिख और 15 यूरोपियन सैनिकों ने एक छोटे-से अरक्षित कमरे से कँवरसिंह और उसके 2,000 सैनिकों तथा उससे भी बड़ी संख्या में एकत्र हुए हथियारबन्द व्यक्तियों से अपनी रक्षा करने में सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार, लखनऊ में रेजीमेण्ट के आवास की सुरक्षा 1,700 सैनिकों ने 3,000 सैनिकों के विरुद्ध की। बाद में ताल्लुकेदारों के सैनिकों के आ जाने से आक्रमणकारियों की संख्या एक लाख हो गयी थी। तब भी अंग्रेज बाहर से सहायता आने तक अपनी सुरक्षा करने में सफल रहे।

इसके विपरीत, अंग्रेजों ने किस प्रकार झाँसी और ग्वालियर के मजबूत किलों को अपने अधिकार में किया, यह उनकी बहादुरी और युद्ध-नीति का प्रमाण है। जिस समय सर ह्यू रोज (Sir Hugh Rose) ने झाँसी पर केवल 2,000 सैनिकों को लेकर आक्रमण किया उस समय किले में लगभग 1,500 प्रशिक्षित सैनिक और 10,000 बुन्देला सैनिक थे। इस पर भी जब ताँत्या टोपे ने 20,000 सैनिकों के साथ रोज पर आक्रमण किया तो रोज ने अपनी आधी सेना को लेकर ताँत्या का मुकाबला किया और केवल 1,000 सैनिक किले पर आक्रमण करने के लिए छोड़ दिये। फिर भी न तो ताँत्या टोपे अपने 20,000 सैनिकों के साथ रोज से युद्ध जीत सका और न किले के 10,000 सैनिक बाहर निकलकर 1,000 अंग्रेज सैनिकों पर आक्रमण कर सके। ताँत्या टोपे पराजित होकर भाग गया और अन्त में रानी लक्ष्मीबाई को भी किला छोड़ कर भागना पड़ा। इसी प्रकार भारतीय अच्छा तोपखाना और अधिक संख्या में होते हुए भी अंग्रेजों से हिण्डन, बदली की सराय और नजफगढ़ के युद्धों में पराजित हुए जबकि अंग्रेज दिल्ली को घेरने के लिए आगे बढ़ रहे थे। हैवलॉक (Havelock) ने अपनी सेना से नाना की बहुत बड़ी सेना को कानपुर के निकट परास्त किया जिससे कानपुर और नाना साहब के भाग्य का निर्णय हो गया। उसी प्रकार ताँत्या टोपे और लक्ष्मीबाई ने ग्वालियर के किले को प्राप्त करके भी उसे बहुत सरलता से खो दिया। ये घटनाएँ इस बात को स्पष्टतः सिद्ध करती हैं कि युद्ध-नीति और तरीकों में भारतीयों का अंग्रेजों से कोई मुकाबला न था; अंग्रेज भारतीयों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थे।

विद्रोह की असफलता का प्रमुख कारण किसी एक योग्य नेता का अभाव था जो विद्रोह के बिखरे हुए तत्वों को एकत्रित करके एक निश्चित योजना और तरीके से विद्रोह का नेतृत्व कर सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि ऐसे राष्ट्रीय संकट के अवसरों पर कोई न कोई व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व करने के लिए अवश्य प्रकट हो जाता है परन्तु यह भारत का दुर्भाग्य था कि उस अवसर पर भारतीयों में कोई योग्य नेता न हुआ। सम्भवतः, इसका मुख्य कारण यह था कि विद्रोह वास्तव में राष्ट्रीय आन्दोलन न था।

नाना साहब, बहादुरशाह, रानी लक्ष्मीबाई और कँवरसिंह इस विद्रोह के महान् नेता माने जाते हैं। परन्तु यथार्थ में उनमें से कोई भी न तो योग्य संगठनकर्ता था और न योग्य सेनापति। उनमें से एक भी विद्रोह को उचित नेतृत्व प्रदान न कर सका। वास्तव में उनमें से कोई भी महान् न था बल्कि महानता उन पर जबरदस्ती थोपी गयी थी। नाना ने विद्रोह का संगठन नहीं किया था। कानपुर में हैवलॉक के मुकाबले जिस प्रकार वह पराजित हुआ उससे उसे योग्य सेनापति

नहीं माना जा सकता और जिस प्रकार उसने भारतीय सैनिकों को दिल्ली जाने से रोका था उससे उसका संकीर्ण और स्वार्थी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है। मुगल बादशाह बहादुरशाह उससे भी अधिक अयोग्य सिद्ध हुआ। वह प्रारम्भ से ही विद्रोह के पक्ष में न था। जैसे ही सैनिकों ने दिल्ली पर अधिकार किया, उसने तुरन्त इस बात की सूचना अंग्रेजों के पास आगरा भेज दी। वह प्रारम्भ से अन्त तक अंग्रेजों से गुप्त मन्त्रणा करता रहा। वह विद्रोही सैनिकों पर नियन्त्रण रखने में भी असफल रहा। सैनिकों ने उसके सामने ही उसका अपमान किया। एक अवसर पर सैनिकों ने उसे सम्बोधित करते हुए "अरे बादशाह, अरे बुड्ढे सुन" तक कहा। एक सैनिक ने तो उसकी दाढ़ी तक पकड़ ली और एक ने उसका हाथ झटक दिया। सैनिकों ने निरन्तर शहर में लूटमार की और वे बहादुरशाह से निरन्तर अपनी तनख्वाह माँगते रहे। दिल्ली और मेरठ के सैनिकों में पारस्परिक मतभेद था। बहादुरशाह की बेगम जीनत महल और वजीर अंशानउल्ला अंग्रेजों से मिले हुए थे। हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध खराब थे। ये सभी घटनाएँ स्पष्ट करती हैं कि दिल्ली में न तो एकता थी, न व्यवस्था और न ही उसे योग्य नेतृत्व प्राप्त हुआ था। ताँत्या टोपे और कँवरसिंह ने, निस्सन्देह, गुरिल्ला-युद्ध में अपनी योग्यता प्रदर्शित की परन्तु आमने-सामने के युद्ध में वे भी असफल रहे। रानी लक्ष्मीबाई ने, निस्सन्देह, बहादुरी, दृढ़ता और योग्यता का परिचय दिया जिसका विद्रोह के अन्य नेताओं में अभाव था, परन्तु शुरू में वह विद्रोह के पक्ष में न थी और बाद में भी उसकी शक्ति एक निश्चित क्षेत्र में ही सीमित रही। विद्रोह का संगठन करने में या उसको नेतृत्व प्रदान करने में उसका कोई हाथ न था। उसकी महानता एक महान् सेनापति या एक राजनीतिक नेता के गुणों पर आधारित न थी बल्कि उसके व्यक्तिगत चरित्र की दृढ़ता और बहादुरी पर अवलम्बित थी।

विद्रोह की असफलता का एक मुख्य कारण उसके नेताओं, सैनिकों और नागरिकों में किसी भी उच्च आदर्श का न होना था। विद्रोह का कारण न तो राष्ट्र-भक्ति थी और न जन-कल्याण; यहाँ तक कि धर्म की सुरक्षा भी विद्रोहियों का लक्ष्य न रहा था। इस कारण वे कभी भी संगठित न हो सके। सन्देह, मतभेद, पारस्परिक झगड़े और व्यक्तिगत या स्थानीय हितों की सुरक्षा पर ही विद्रोह केन्द्रित रहा, जबकि अंग्रेज, निस्सन्देह, राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत अपने साम्राज्य की सुरक्षा और अपने बीबी-बच्चों को कत्ल करने वालों के प्रति प्रतिशोध की भावना को लेकर युद्ध कर रहे थे।

उपर्युक्त विभिन्न कारणों से 1857 ई. का विद्रोह असफल हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि यह पहला अवसर था जब अंग्रेजों को अपने साम्राज्य की सुरक्षा के लिए भयंकर खतरा उपस्थित हुआ था। अंग्रेज सरकार की एकता, संगठन, नीति और दृढ़ता ने इस विद्रोह को दबाने में सफलता पायी। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों की त्याग और देश-प्रेम की भावना तथा हैवलॉक, नील, निकलसन, ह्यू रोज जैसे अंग्रेज सेनापतियों का युद्ध-कौशल भी अंग्रेजों की सफलता का कारण बने। अंग्रेजों की कूटनीति भी उनकी सफलता का एक कारण थी। इसी के कारण उन सिखों से जिनसे दस वर्ष पूर्व युद्ध और चालाकी से उनका राज्य छीना गया था, अंग्रेज सहायता प्राप्त कर सके। इसी प्रकार, अंग्रेज उत्तर-पश्चिम सीमा की पठान और अफगान जातियों से सहायता पा सके जिनसे वे निरन्तर युद्ध करते आ रहे थे। एक जाति जो सफलतापूर्वक भारतीय सैनिकों को सिखों के विरुद्ध, सिखों को भारतीय सैनिकों के विरुद्ध, भारतीय सैनिकों को पठानों व गोरखाओं के विरुद्ध, और फिर गोरखा और पठानों को भारतीय सैनिकों के विरुद्ध अपने प्रयोग में ला सकती थी, निस्सन्देह, एक साम्राज्य स्थापित करने योग्य थी। इसी प्रकार अंग्रेज उस सिन्धिया की वफादारी पा सके जिसको लॉर्ड ऐलनबरो ने 1843-44 ई. में अपमानित किया था। वे निजाम का भी सहयोग प्राप्त कर सके जिससे 1853 ई. में ही उन्होंने बरार का उपजाऊ प्रदेश छीना था। यह सभी कार्य अंग्रेजों की कूटनीति की सफलता के कारण सम्भव हो

सके या भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना के अभाव के कारण, इसका निर्णय विवाद का प्रश्न हो सकता है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि विद्रोह के अवसर पर यह अंग्रेजों की सफलता और भारतीयों की असफलता का एक मुख्य कारण था।

6. विद्रोह की प्रकृति : क्या इसे प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता - संग्राम स्वीकार किया जा सकता है ?

विद्रोह की प्रकृति (Nature of the Revolt) के विषय में इतिहासकारों में मतभेद रहा है। कुछ इतिहासकार इसे केवल 'सैनिक-विद्रोह' मानते हैं जिसे जनसाधारण का कोई सहयोग प्राप्त नहीं था, जबकि कुछ अन्य इसे 'ईसाइयों के विरुद्ध धर्म-युद्ध' अथवा 'काली और सफेद जातियों के बीच सत्ता का संघर्ष' मानते हैं। कुछ अन्य इसे 'पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता का संघर्ष' तथा कुछेक इसे 'अंग्रेजी शासन के विरुद्ध हिन्दू और मुसलमानों का षड्यन्त्र' मानते हैं। आधुनिक भारतीय इतिहासकारों में से अनेक ने इसे 'भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम' कहकर पुकारा है।

सर जॉन लॉरेन्स (Sir John Lawrence) और सीले (Seeley) के अनुसार यह विद्रोह पूर्णतः सैनिक-विद्रोह था जिसमें भारतीय सेना ने अंग्रेजी शासन को भारत से समाप्त करने का प्रयत्न किया था। कुछ भारतीय राज्य इसमें सम्मिलित अवश्य हुए परन्तु यह वे राज्य थे जिन्हें डलहौजी ने अपनी साम्राज्यवादी नीति के अन्तर्गत अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया था। यद्यपि इस विद्रोह में भारतीय नागरिकों ने सेना के साथ कोई सहयोग नहीं किया तदपि लॉरेन्स तथा सीले का उपर्युक्त विचार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। विद्रोह का आरम्भ सैनिकों ने किया, इसमें कोई सन्देह नहीं है, परन्तु उसे केवल 'सैनिक-विद्रोह' नहीं माना जा सकता। सभी भारतीय सैनिक इसमें सम्मिलित नहीं थे बल्कि अनेक भारतीय सैनिक अंग्रेजों की तरफ से लड़े थे। भारतीय नागरिक बहुत बड़ी संख्या में इस विद्रोह में सम्मिलित हुए थे और हजारों असैनिकों को विद्रोह के पश्चात् दण्ड दिया गया था।

इतिहासकार एल. ई. आर. रीस (L. E. R. Reese) का यह कथन भी अनुपयुक्त है कि यह "ईसाई धर्म के विरुद्ध एक धर्म-युद्ध" था। विद्रोह के कारणों में धार्मिक कारण भी एक कारण माना गया है परन्तु भारतीयों ने अगर यह धर्म-युद्ध लड़ा तो केवल अपने धर्म की रक्षा के लिए। ईसाई धर्म के विरुद्ध यह विद्रोह किया गया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं है। और फिर बाद में तो धर्म का प्रभाव विद्रोह से समाप्त ही हो गया था। ऐसा भी नहीं था कि समस्त हिन्दू और मुसलमान धर्म के मानने वालों ने ईसाइयों से युद्ध किया हो। अंग्रेजी सेना के साथ हिन्दू और मुसलमान दोनों हीं धर्मों के मानने वाले थे। इस कारण इस विद्रोह को 'धर्म का संघर्ष' स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कुछ इतिहासकारों का यह कहना भी गलत है कि यह 'काली और गोरी जाति का संघर्ष' था। इसमें सन्देह नहीं कि सम्पूर्ण श्वेत जाति इस संघर्ष में एक ओर थी परन्तु काली जाति के विषय में यह बात स्वीकार्य नहीं है। अंग्रेज सेना के साथ अनेक नौकर भारतीय थे और सैनिकों में अनेक सैनिक भारतीय थे। जे. जी. मीडले (J. G. Medley) लिखता है : "वास्तव में कैम्प में प्रत्येक अंग्रेज के साथ बीस भारतीय थे।"[1] ऐसी स्थिति में इसे 'काली और गोरी जाति का सघर्ष' नहीं मांना जा सकता।

टी.आर. होम्स (T. R. Holmes) तथा उसके समर्थक इतिहासकार इस विद्रोह को 'सभ्यता और बर्बरता का संघर्ष' मानते हैं। यह विचार भी गलत है। विद्रोह के समय में यदि

---

1 "In fact with every white man in camp there were certainly twenty black ones."
—*J. G. Medley.*

भारतीयों ने अंग्रेजों के साथ बर्बरता का व्यवहार किया तो यह भी सत्य है कि अंग्रेजों ने भी उसी प्रकार का बर्बरता का व्यवहार भारतीयों के साथ किया और विद्रोह के पश्चात् भी अनेक अंग्रेजों ने भारतीयों से बदले की माँग की। जनरल नील, हडसन, हैवलॉक आदि अंग्रेज सेनापतियों ने जो अमानुषिक व्यवहार नागरिकों के साथ किया था, वह सभ्यता की परिभाषा से बाहर है।

सर जेम्स आउट्रम (Sir James Outram) और डब्ल्यू. टेलर (W. Taylor) जैसे व्यक्ति इस विद्रोह को 'अंग्रेजों के विरुद्ध हिन्दू और मुसलमानों का षड्यन्त्र' मानते हैं। परन्तु यह विचार भी गलत है। सर्वप्रथम, यह प्रमाणित हो चुका है कि इस विद्रोह का कोई संगठन नहीं किया गया था। द्वितीय, यह भी स्पष्ट हो चुका है कि विद्रोह के समय हिन्दू और मुसलमानों में मतभेद थे। अतएव हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर कोई षड्यन्त्र किया हो, यह सिद्ध नहीं होता।

अशोक मेहता ने अपनी पुस्तक '*महान् विद्रोह*' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इस विद्रोह का स्वरूप राष्ट्रीय था। इसी प्रकार, वीर सावरकर ने भी इस विद्रोह को 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए आयोजित युद्ध' सिद्ध करने का प्रयास किया है। इंगलैण्ड के शीर्षस्थ नेता डिजरैली (Disraeli) ने भी इसे 'राष्ट्रीय विद्रोह' के नाम से पुकारा था। परन्तु वास्तव में न तो यह राष्ट्रीय विद्रोह था और न आयोजित संघर्ष, जैसाकि आधुनिक भारतीय इतिहासकारों ने सिद्ध कर दिया है।

कुछ विद्वानों ने इसे सामन्त-वर्ग का विद्रोह भी पुकारा है क्योंकि विद्रोह का नेतृत्व राजाओं और ताल्लुकेदारों ने ही किया था तथा उनका उद्देश्य पुरानी राजनीतिक व्यवस्था को पुनः स्थापित करना था। परन्तु इस विचार को भी आंशिक रूप से सत्य माना गया है।

आधुनिक समय के इतिहासकारों में डॉ. एस. एन. सेन (Dr. S. N. Sen) और डॉ. आर. सी. मजूमदार (Dr. R. C. Mazumdar) के विचार इस विषय में उल्लेखनीय हैं। दोनों ही विद्वानों ने इस विषय में गम्भीर खोज की है और अपने विचारों को अपनी-अपनी पुस्तकों में स्पष्ट किया है। दोनों इतिहासकार अनेक तथ्यों के विषय में एकमत हैं, परन्तु दोनों विद्वानों के निष्कर्ष में अन्तर है। दोनों इतिहासकार इस बात में एकमत हैं कि विद्रोह की कोई योजना नहीं थी और वह अनायास ही आरम्भ हुआ। दोनों का यह भी कहना है कि उन्नीसवीं सदी के उस समय में राष्ट्रीयता की भावना का भारत में सर्वथा अभाव था। बंगाली, पंजाबी, मद्रासी आदि अपने को एक राष्ट्र का सदस्य नहीं मानते थे। विद्रोही नेता राष्ट्रीय नेता न थे और न बहादुरशाह राष्ट्रीय बादशाह था। बहादुरशाह विवशतावश विद्रोह में सम्मिलित हुआ था और नाना साहब पेंशन स्वीकार न होने के कारण विद्रोही बना था। रानी लक्ष्मीबाई का नारा 'मैं अपनी झाँसी नहीं दूँगी' था। अवध की बेगम और विभिन्न ताल्लुकेदार अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण विद्रोह में सम्मिलित हुए। किसी भी स्थान पर, किसी भी समय पर और किसी भी नेता के विचारों से यह सिद्ध नहीं होता कि इस विद्रोह का स्वरूप राष्ट्रीय था।

परन्तु इस प्रकार अनेक बातों पर एकमत होते हुए भी दोनों इतिहासकारों के निष्कर्ष अलग-अलग हैं। डॉ. मजूमदार के अनुसार यह विद्रोह 'भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम' न था जबकि डॉ. सेन के अनुसार यह विद्रोह राष्ट्रीयता के अभाव में भी 'भारतीय स्वतन्त्रता का संग्राम' था। डॉ. सेन के अनुसार प्रत्येक क्रान्ति में नागरिकों का अल्पांश ही सक्रिय भाग लेता है। यह स्थिति 'अमेरिका के स्वतन्त्रता-संग्राम' और 'फ्रान्स की महान् क्रान्ति' के अवसर पर भी थी। अनेक अमेरिकन इस अवसर पर अंग्रेजों का साथ दे रहे थे और फ्रान्स में भी क्रान्ति के समय अनेक व्यक्ति ऐसे थे जो क्रान्ति के विरुद्ध थे अथवा उसके प्रति उदासीन थे। भारत में भी यही स्थिति थी। अधिकांश भारतीयों ने इस विद्रोह में भाग नहीं लिया बल्कि अनेक

ने इस विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की सहायता की। इस कारण हम इसे राष्ट्रीय विद्रोह तो नहीं मान सकते परन्तु क्योंकि यह विद्रोह भारतीय सैनिकों और नागरिकों (चाहे उनकी संख्या कुछ भी हो) द्वारा विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए किया गया था, इस कारण इसे 'स्वतन्त्रता संग्राम' अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। डॉ. सेन लिखते हैं : "विप्लव विद्रोह बन गया और उसने उस समय से राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया जबकि मेरठ के विद्रोही सैनिकों ने अपने को दिल्ली के बादशाह के अधीन कर दिया और भूमिपति कुलीनों तथा जनता के एक भाग ने उसमें सहयोग देने का निर्णय कर लिया। जो युद्ध धर्म की रक्षा के नाम से आरम्भ हुआ था, वह स्वतन्त्रता-युद्ध में जाकर समाप्त हुआ, क्योंकि इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं कि विद्रोही विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त करके पुनः प्राचीन व्यवस्था को स्थापित करना चाहते थे जिसका "वास्तविक प्रतिनिधित्व दिल्ली का बादशाह करता था।"[1]

डॉ. मजूमदार इस विद्रोह को स्वतन्त्रता-संग्राम स्वीकार नहीं करते। यहाँ पर उनकी राय डॉ. सेन से भिन्न है। परन्तु फिर भी यह विद्रोह राष्ट्रीय था या नहीं, इसका संगठन पहले से किया गया था या नहीं, इस बारे में ज्ञान प्राप्त करने हेतु आवश्यक है कि हम उनके विचारों का विस्तृत रूप से अध्ययन करें। डॉ. मजूमदार का विचार है कि विद्रोह की प्रकृति के विषय में जो भी मत प्रकट किये गये हैं उनमें एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या यह केवल एक सैनिक-विद्रोह था या नागरिक भी इसमें साझीदार थे। एक मत के अनुसार यह विद्रोह केवल सैनिक-विद्रोह न था बल्कि वास्तव में नागरिकों का विद्रोह था। तत्कालीन लेखकों में से जॉन ब्रूस नॉर्टन (John Bruce Norton) ने अपनी पुस्तक '*भारतीय राजनीतिज्ञों के लिए कुछ विषय*' (*Topics for Indian Statesmen*) में इस मत के पक्ष में विस्तृत रूप से विचार प्रकट किये थे। दूसरे मत के अनुसार यह विद्रोह वास्तव में एक सैनिक-विद्रोह ही था, यद्यपि कहीं-कहीं पर यह नागरिकों का विद्रोह भी बन गया। इस दूसरे मत पर चार्ल्स राइक्स (Charles Raikes) ने अपनी पुस्तक '*भारत के उत्तर-पश्चिमी सूबे के विद्रोह पर कुछ पत्र*' (*Notes on the Revolt in North-Western Province of India*) में विस्तृत रूप से प्रकाश डाला था। दोनों ही पुस्तकें 1858 ई. में प्रकाशित हुईं।

तत्कालीन अंग्रेज इतिहासकारों और उच्च श्रेणी के भारतीयों ने इस विद्रोह को सैनिक-विद्रोह ही स्वीकार किया था। '*एडिनबरा समीक्षा*' के एक लेख (अप्रैल 1859 ई.) में लिखा था : "अपनी प्रगति के सम्पूर्ण समय में यह सैनिक-विद्रोह ही रहा—अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किये गये नवीन राज्य अवध के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर नागरिक इसमें सम्मिलित नहीं हुए।"[2] एक प्रसिद्ध बंगाली किशोरीचन्द मित्रा ने लिखा था : "विद्रोह मूलतः सैनिक-विद्रोह है। यह एक लाख सैनिकों का विद्रोह है। इसमें लोकप्रियता का कोई

1 "The mutiny became a revolt and assumed a political character when the mutineers of Meerut placed themselves under the king of Delhi and a section of the landed aristocracy and civil population declared in his favour. What began as a fight for religion ended as a war of Independence for there is not the slightest doubt that the rebels wanted to get rid of the alien government and restore the old order of which the king of Delhi was the rightful representative."

—*Dr. S. N. Sen.*

2 "Throughout its whole progress it has faithfully retained the character of a military revolt...Except in the newly annexed state of Oudh it has not been taken up by the population." —*Edinburgh Review*, April 1859.

चिह्न दिखायी नहीं देता।"[1] इसी प्रकार के विचार शम्भूचन्द्र मुखोपाध्याय, हरीचन्द्र मुकर्जी और सर सैयद अहमद खाँ ने व्यक्त किये थे। बंगाल में राष्ट्रीयता की भावना के जन्मदाता राजनारायण बसु तथा उत्तर-भारत में विद्रोह के समय में यात्रा करने वाले मराठी-यात्री गोडसे भट्ट जी आदि ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये थे। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि तत्कालीन सभी भारतीयों ने इस विद्रोह को केवल सैनिक-विद्रोह ही स्वीकार किया था।

परन्तु आधुनिक समय के भारतीयों ने इस विद्रोह को नागरिकों का विद्रोह ही नहीं बल्कि 'भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम' पुकारा है। वी. डी. सावरकर ने इस विचार का समर्थन करके इसे अधिक बल प्रदान किया है। आधुनिक भारतीयों के अनुसार यह विद्रोह नागरिकों द्वारा संगठित किया गया था और इसे लोकप्रियता प्राप्त थी।

इन विरोधी विचारों में से माननीय विचार यह है कि विद्रोह का आरम्भ सैनिक-विद्रोह के रूप में हुआ परन्तु बाद में नागरिकों ने इसे पर्याप्त सहयोग दिया।

एक अन्य विचारणीय बात यह है कि क्या विद्रोह का संगठन पहले से किया गया था ?

भारतीयों का उपर्युक्त विचार कि विद्रोह संगठित किया गया था और उसे लोकप्रियता प्राप्त थी, कुछ तत्कालीन लेखकों के विचार पर आधारित है। यह सर्वथा गलत धारणा है कि इस विद्रोह का संगठन किया गया था परन्तु यह आवश्यक है कि हम उन तथ्यों को देखें जिन पर इस धारणा का निर्माण हुआ था। इस धारणा का मुख्य आधार सीताराम बाबा का वह बयान है जो उसने मैसूर के न्याय-कमिश्नर एच.बी. डेवर्स (H. B. Devereuse) के सम्मुख दिया था। सीताराम बाबा के अनुसार भारत में चार षड्यन्त्रों का संगठन किया गया था जिसमें विभिन्न भारतीय नरेश शामिल थे। एक का संगठन सिन्धिया की दादी बैजाबाई ने 1836 ई. में, दूसरे का संगठन विद्रोह से कुछ समय पूर्व मैसूर के राजा ने, तीसरे का संगठन 1875 ई. में सतारा के राजा ने और चौथे का संगठन विद्रोह से कुछ समय पहले नाना साहब ने किया था। नाना साहब ने सभी भारतीय नरेशों को पत्र लिखे थे। अवध के अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किये जाने के पश्चात् सभी नरेशों ने नाना साहब के पत्रों का उत्तर दिया। ट्रावनकोर के राजा के अतिरिक्त होल्कर, सिन्धिया, असम, जयपुर, जोधपुर, जालौर, रीवा, बड़ौदा, कच्छ, भुज, नागपुर, गोंडा, हैदराबाद, शोलापुर, सतारा, कोल्हापुर, इन्दौर और कश्मीर के नरेशों ने विद्रोह के लिए अपनी सम्मति प्रकट की थीं।

लेकिन सीताराम बाबा का यह कथन सत्य नहीं माना जा सकता। यह षड्यन्त्र 20 वर्ष तक चला और इसके बारे में किसी को कुछ भी पता न लगा। इसके बारे में कोई अन्य प्रमाण भी प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त, इस बात का प्रमाण प्राप्त है कि बैजाबाई, जिसे सीताराम बाबा ने इस षड्यन्त्र का प्रथम संगठनकर्ता बताया है, ऐसी स्त्री न थी। जब विद्रोहियों ने ग्वालियर पर अधिकार किया तो उसे आमन्त्रित किया और बैजाबाई ने इस निमन्त्रण को स्वीकार करने की बजाय विद्रोहियों के उस पत्र को अंग्रेज सैनिक अधिकारी हैमिल्टन के पास भेज दिया। जहाँ तक नाना साहब का प्रश्न है, यह स्पष्ट हो चुका है कि उसका विद्रोह में उस समय तक कोई भाग नहीं था जब तक कि कानपुर के सैनिकों ने विद्रोह नहीं कर दिया। इसी प्रकार, बहादुरशाह के विषय में उसके वजीर अंशानउल्ला का कथन था कि विद्रोह के आरम्भ होने से पहले इस विषय में बहादुरशाह का कोई पत्र-व्यवहार नाना साहब, कँवरसिंह

---

1 "The insurrection is essentially a military insurrection. It is the revolt of a lac of sepoys. It has nothing of the popular element in it."

—*Kishori Chand Mittra*, 1858.

या रानी लक्ष्मीबाई से नहीं हुआ था। सीताराम बाबा का यह कथन कि इस विद्रोह का मुख्य संगठनकर्ता नाना साहब का गुरु दास बाबा था और उसे इस विद्रोह के बारे में प्रत्येक योजना का पता था, सर्वथा गलत है। किसी अन्य प्रमाण की अनुपस्थिति में उसके कथन को स्वीकार करना सर्वथा भूल होगी।

कुछ व्यक्तियों का यह भी कहना है कि मुगल बादशाह बहादुरशाह ने फारस के शाह से अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता माँगी थी। केयी (Kaye), डफ (Duff), नॉर्टन (Norton) आदि व्यक्तियों ने इसे पर्याप्त महत्व दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि बहादुरशाह अपने अपमान के कारण असन्तुष्ट और अपने वंश के भविष्य के प्रति शंकित था और उसने फारस के शाह से सहायता माँगी तथा बहुत से उच्च भारतीय यह विश्वास करते थे कि रूस की सहायता लेकर फारस का शाह भारत पर आक्रमण करेगा। परन्तु ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता कि फारस के शाह और बहादुरशाह में ऐसा कोई समझौता या सन्धि हुई थी। सर सैयद अहमद खाँ ने भी इस विचार को निराधार बताते हुए लिखा था : "इस बात को सोचने का कोई कारण नहीं है कि भारत के विद्रोहियों को रूस या फारस से कोई सहायता मिली थी। जिस प्रकार एक रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट में प्रेमपूर्ण सहयोग असम्भव है उसी प्रकार फारस और भारत के मुसलमानों में सहयोग असम्भव है।"[1]

कुछ व्यक्तियों का कहना है कि विद्रोह से पहले गाँव-गाँव में रोटियाँ बाँटी गयी थीं, जो विद्रोह के संगठन का प्रमाण है। परन्तु इस विषय में भी यह सिद्ध हो चुका है कि गाँव में रोटियों के वितरण या सैनिकों में कमल के फूल के बँटने का विद्रोह के संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं था। रोटियों के विषय में विभिन्न मत बताये गये हैं। किसी का कहना है कि ये रोटियाँ किसी संक्रामक बीमारी से बचने के लिए बाँटी गयी थीं, कुछ का कहना है कि नाना साहब के गुरु दास बाबा ने यह जादू की रोटियाँ नागरिकों को विद्रोह में सम्मिलित करने के लिए बँटवायी थीं, और कुछ अन्य का कहना है कि भारतीयों को ईसाई बनाने के उद्देश्य से सरकार ने इन्हें बँटवाया था। परन्तु इनमें से कोई भी विचार सर्वमान्य नहीं है और न इस बात का कोई प्रमाण है कि रोटियों का विद्रोह के संगठन से कोई सम्बन्ध था। यही निर्णय कमल के फूल के बारे में भी लिया गया है।

उपर्युक्त तथ्यों और तर्कों से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्रोह का कोई संगठन नहीं किया गया था। इस विषय में एक बात और विचारणीय है कि क्या भारतीय सैनिकों ने आपस में विद्रोह के लिए कोई संगठन किया था ? कुछ व्यक्तियों का कहना है कि सैनिकों ने आपस में ऐसा संगठन किया था। वजीर अंशानउल्ला ने कहा था, "दिल्ली के सैनिकों ने बताया था कि विद्रोह करने से पहले उन्होंने मेरठ के सैनिकों से मिलकर षड्यन्त्र किया था और मेरठ के सैनिकों ने अन्य स्थानों के सैनिकों से पत्र-व्यवहार किया था। इस कारण सभी छावनियों के सैनिक दिल्ली आयेंगे।" परन्तु दूसरी तरफ ऐसे व्यक्ति भी हैं जिनका कहना है कि सैनिकों ने पहले से कोई संगठन नहीं किया था। मुंशी मोहनलाल ने कहा था कि मेरठ के सैनिकों का दिल्ली आने का निश्चय पहले से न था। इस कथन की पुष्टि जॉन लॉरेन्स ने भी की थी। इन दो विरोधी विचारों से कोई निष्कर्ष नहीं निकल पाता, परन्तु अधिक विश्वास यह किया जाता है कि चर्बी लगे हुए कारतूसों के वितरण के बाद सैनिकों में संगठन का विचार आया

---

1 "Nor is there the slightest reason for thinking that the rebels in Hindustan received aid from Russia or Persia. As between Roman Catholics and Protestants, so between the Musalmans of Persia and Hindustan, cordial cooperation is impossible."
—*Sir Syed Ahmad Khan.*

था और जब कई रेजीमेण्ट इस प्रश्न पर भंग कर दी गयीं तो उन सैनिकों ने अन्य सैनिकों से सम्पर्क करने के प्रयत्न किये। इस प्रकार विद्रोह से पहले सैनिकों में विद्रोह के प्रश्न पर बाचतीत अवश्य आरम्भ हो गयी थी; यद्यपि विद्रोह की कोई निश्चित योजना या निश्चित समय निश्चित नहीं किया गया जा सका था। इस प्रकार, मेरठ का विद्रोह अनायास ही शुरू हुआ था।

कुछ अंग्रेज इतिहासकार विद्रोह के अनायास आरम्भ हो जाने को सौभाग्य मानते थे। उनके अनुसार यदि विद्रोह को संगठित करने का अवसर मिल जाता तो, सम्भवतः, उसे दबाना असम्भव होता। परन्तु दूसरा पक्ष यह भी है कि अगर मेरठ के सैनिकों ने विद्रोह आरम्भ न किया होता तो शायद विद्रोह होता ही नहीं। चर्बी लगे हुए कारतूसों की समस्या अधिक बड़ी न थी। उस असन्तोष के कारण को समाप्त करने और कुछ समय निकल जाने के बाद सैनिकों की भावनाएँ शान्त हो जातीं और, सम्भवतः, विद्रोह आरम्भ ही न होता। विद्रोह के अचानक आरम्भ होने से अंग्रेजों को लाभ हुआ या नहीं अथवा विद्रोह आरम्भ होता या नहीं, यह अनुमान का विषय है। परन्तु यह निश्चित है कि सैनिकों ने इस विद्रोह का न तो संगठन किया था और न ही इसकी कोई पूर्व-योजना तैयार की गयी थी।

विद्रोह के विषय में एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या यह स्वतन्त्रता के लिए एक राष्ट्रीय युद्ध था ? राष्ट्रीय युद्ध इसे स्वीकार ही नहीं किया जा सकता क्योंकि नागरिकों का विद्रोह बहुत सीमित क्षेत्र में था। उत्तर-प्रदेश का अधिकांश भाग और उसके निकट का क्षेत्र ही इस विद्रोह में सम्मिलित हुआ था। बंगाल, असम, उड़ीसा, राजस्थान, पंजाब का अधिकांश भाग, बिहार, मध्य-प्रदेश और नर्मदा नदी के दक्षिण का भारत इस विद्रोह में सम्मिलित न था। अनेक भारतीय नरेशों ने अंग्रेजों का साथ दिया। पटियाला, नाभा, जींद, भोपाल आदि के शासकों ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों का साथ दिया। अनेक ताल्लुकेदारों, जमींदारों तथा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों ने भी अंग्रेजों का साथ दिया। बंगाल की सेना के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजों का साथ दिया था और सिख एवं गोरखा सैनिकों ने तो अंग्रेजों की भरपूर सहायता की थी।

अधिकांश भारतीयों की भावनाएँ भी अंग्रेजों के विरुद्ध न थीं। आगरा के एक अंग्रेज न्यायाधीश राइक्स (Raikes) ने इसका समर्थन किया है। दो अंग्रेज असैनिक अधिकारी फिलिप और ब्रामली ने फर्रुखाबाद, एटा और बदायूँ में विद्रोह के समय में ही भ्रमण किया और उनकी कोई हानि नहीं हुई। आगरा पहुँचकर उन्होंने कहा : "कुछ मुसलमानों को छोड़कर सभी गाँव हमारे साथ हैं।" शिक्षित भारतीयों ने इस विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया बल्कि भारतीय सैनिक ऐसे व्यक्तियों को अपना शत्रु समझते थे। एक अनजान लेखक ने 1858 ई. में एक पुस्तक '*विद्रोह के समय में भारतीयों की वफादारी*' (*Native Fidelity During the Mutiny*) में अनेक ऐसे उदाहरण दिये हैं जबकि भारतीयों ने अपने जीवन को संकट में डालकर अंग्रेज पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के जीवन की रक्षा की। जुलाई 1857 ई. में '*लन्दनटाइम्स*' ने लिखा : "अधिकांश जनता ने विरोध के बजाय हमारे प्रति सहृदयता प्रदर्शित की है और अनेक अवसरों पर भागते हुए अंग्रेजों को सुरक्षा प्रदान की है।"[1] केयी (Kaye) ने भी भारतीयों द्वारा अंग्रेजों को सहायता देना स्वीकार किया है और उनकी प्रशंसा की है।

अनेक तत्कालीन भारतीय लेखकों ने यह भी लिखा था कि भारतीय नागरिक विद्रोहियों से अत्यधिक दुःखी हो गये थे। उन्होंने इतना दुःख उठाया था कि उनमें से अनेक

1 "The general population has exhibited rather goodwill than hostility towards us and in many cases effectual protection has been afforded to fugitives. "
—*Landon Times*, July 1857.

विद्रोह के समाप्त होने और पुनः अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते थे। इसमें सन्देह भी नहीं कि केवल गुण्डों ने ही नहीं बल्कि सैनिकों और अनेक सरदारों ने भी भारतीय नागरिकों पर अत्याचार किये थे, इस कारण अनेक भारतीय विद्रोहियों की असफलता चाहते हों, इस पर विश्वास किया जा सकता है।

इस विद्रोह में हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध अच्छे न थे। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू और मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा मिलाकर अंग्रेजों से युद्ध किया परन्तु यह भी स्पष्ट है कि दोनों धर्मों को मानने वाले एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते थे और ऐसी भावना का अभाव था जिसे हम राष्ट्रीय भावना कह सकें। अनेक अंग्रेज लेखकों ने लिखा है कि यह विद्रोह मुख्यतः मुसलमानों का विद्रोह था। रॉबर्ट्स (Roberts) ने कहा था : "यह इन मुसलमान गधों को दिखा देगा कि ईश्वर की सहायता से भारत के शासक अंग्रेज ही होंगे।"[1] कूपलैण्ड (Coupland) ने लिखा था : "क्योंकि यह पूर्णतः मुसलमानों का विद्रोह है, इस कारण बनारस के हिन्दुओं से डरने का कोई कारण नहीं है।"[2] कलकत्ता के सभी समाचार-पत्रों ने इसे मुसलमानों का विद्रोह बताया था। सर सैयद अहमद खाँ ने भी इसे स्वीकार किया : "हिन्दुओं की तुलना में मुसलमान प्रत्येक प्रकार से अधिक असन्तुष्ट थे। इस कारण अधिकांश जिलों में वे अधिक उत्तेजित थे।"[3]

विद्रोह में मुख्य भाग मुसलमानों का था, इसे अंग्रेज ही नहीं मानते थे बल्कि स्वयं मुसलमान भी मानते थे। मुसलमानों के इस दृष्टिकोण का आभास मुसलमान सरदारों की उन विभिन्न घोषणाओं से होता है जो विद्रोह के समय उन्होंने कीं। बरेली के खान बहादुरखाँ ने एक घोषणा में कहा था : "अगर हिन्दू इन विधर्मियों (ईसाइयों) को कत्ल करने और देश से बाहर निकालने में सहायता करेंगे तो उनकी वफादारी का इनाम गो-वध को समाप्त करके दिया जायेगा।"[4] मुसलमानों के इस दृष्टिकोण के कारण बरेली, मुरादाबाद आदि अनेक स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए।

धर्म-विभेद यहीं तक सीमित न रहे थे बल्कि वे जातीय मतभेद की सीमा तक पहुँच गये। हैदराबाद के मुसलमान मराठों से घृणा करने के कारण होल्कर और सिन्धिया से युद्ध करने को तत्पर थे। सिख मुसलमानों से घृणा करते थे अतः उन्होंने बहादुरशाह के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता की। राजपूत और मराठे भी ऐतिहासिक कारणों से पुनः मुगल-राज्य की स्थापना के पक्ष में न थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विद्रोह भारत के अधिकांश भागों में नहीं फैला था और जहाँ पर फैला भी था तथा जिन व्यक्तियों ने उसमें भाग लिया था उनमें एकता की भावना न थी। इस कारण इस विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह स्वीकार नहीं किया जा सकता।

---

1 "He would show these rascally Musalmans that, with God's help, Englishmen will be masters of India." —*Roberts.*

2 "As this is completely a Mohammedan rising, there is not much to be feared from the Hindoos of Benaras." —*Coupland.*

3 "The muslims were in every respect more dissatisfied than the Hindus and hence in most districts they were comparatively more rebellious." —*Sir Syed Ahmad Khan.*

4 "If the Hindoos shall exert themselves in the murder of these infidels and expel them from the country, they shall be rewarded for their patriotism by the extinction of the practice of the slaughter of the kine (cow)." —*Khan Bahadur Khan of Bareilly.*

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यद्यपि यह विद्रोह राष्ट्रीय न था तदपि क्या हम इसे 'स्वतन्त्रता का युद्ध' मान सकते हैं? कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो भारत के किसी भी वर्ग के युद्ध को, जो अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ा गया, स्वतन्त्रता-संग्राम मानने के लिए तैयार हैं। परन्तु क्या यह विचार स्वीकार किया जा सकता है? यदि हम इस मत को स्वीकार कर लेंगे तो हमें वहाबी-विद्रोह और पिंडारी-युद्ध को भी स्वतन्त्रता-संग्राम स्वीकार करना पड़ेगा। वहाबियों ने अंग्रेजों को भारत से निकालने और भारत में दारुल-ए-इस्लाम (Kingdom of Muslims) को स्थापित करने के लिए कट्टरता से युद्ध किया था। इसी प्रकार, पिंडारी भी अंग्रेजों के विरुद्ध कट्टरता से लड़े। परन्तु हम इन दोनों में से किसी भी युद्ध को स्वतन्त्रता-संग्राम नहीं मान सकते। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीयों का अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध 'भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम' स्वीकार नहीं किया जा सकता।

किसी संघर्ष को स्वतन्त्रता-संग्राम तभी स्वीकार किया जा सकता है जब विदेशियों को अपने देश से बाहर निकालने का एकमात्र आधार यही हो कि वे विदेशी हैं। रुहेलखण्ड और अवध में भी जो इस विद्रोह के केन्द्र-स्थान थे, यह विद्रोह विदेशियों को भारत से बाहर निकालने के आधार पर नहीं हुआ था, यह विद्रोह की घटनाओं से स्पष्ट है। जहाँ पर यह विद्रोह सफल भी हो गया था वहाँ भी नागरिक पूर्णतः विद्रोहियों के साथ न थे। यह भी स्पष्ट है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही केवल धर्म की रक्षा हेतु अंग्रेजों से लड़ने के लिए तैयार किया गया था। अंग्रेज विदेशी हैं और स्वदेश से उनको निकालना आवश्यक है, इस आधार पर विद्रोह को बढ़ाने या जीवित रखने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। वस्तुतः यह विद्रोह सैनिकों के अचानक विद्रोह आरम्भ कर देने के पश्चात् केवल स्वार्थ और व्यक्तिगत हितों की सुरक्षा करने के लिए ही जारी रखा गया। विदेशियों को भारत से बाहर निकालकर स्वराज्य स्थापित करने का लक्ष्य भारतीयों का था, यह किसी प्रकार प्रमाणित नहीं होता। अंग्रेजों से संघर्ष तो भारतीय पहले भी कर चुके थे। 1856 ई. में संथालों ने भी अंग्रेजों से कठोर संघर्ष क़िया था, परन्तु हम उसे स्वतन्त्रता-संग्राम स्वीकार नहीं करते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हम 1857 ई. के विद्रोह को स्वतन्त्रता-संग्राम भी स्वीकार नहीं कर सकते। यदि हम इसे स्वतन्त्रता-संग्राम स्वीकार करेंगे तो हमें भारतीयों द्वारा अंग्रेजों से किये गये प्रत्येक संघर्ष को स्वतन्त्रता-संग्राम स्वीकार करना पड़ेगा। अन्त में, डॉ. आर. सी. मजूमदार लिखते हैं : "इस निर्णय से इन्कार करना कठिन है कि तथाकथित 1857 ई. का प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम न तो प्रथम था, न राष्ट्रीय था और न ही स्वतन्त्रता-संग्राम था।"[1]

7. विद्रोह के परिणाम

1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् से भारत में अंग्रेजी शासनकाल का एक युग समाप्त और दूसरा युग आरम्भ होता है। आगे आने वाले समय में अंग्रेजों ने प्रशासन, सेना, भारतीय नरेशों के प्रति नीति, सामाजिक परिवर्तन, शिक्षा-नीति, आदि सभी में गम्भीर परिवर्तन किये जिसके कारण माना जा सकता है कि विद्रोह के पश्चात् भारत में अंग्रेजी शासनकाल का एक नवीन युग आरम्भ हुआ।

1 नवम्बर, 1858 ई. को ब्रिटेन की महारानी की एक घोषणा के द्वारा भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से लेकर ब्रिटेन के क्राउन के हाथों में दे दिया गया और भारत सरकार कानून (1858 ई.) के द्वारा इस परिवर्तन को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया।

---

1 "It is difficult to avoid the conclusion that the so-called first National War of Independence of 1857, is neither first, nor National, nor a war of independence."
—*Dr. R. C. Majumdar.*

अब कम्पनी के डायरेक्टरों के स्थान पर क्राउन की सहायता के लिए 15 सदस्यों की एक परिषद भारत-कौंसिल स्थापित की गयी जिसके सभापति को भारत-सचिव पुकारा गया तथा जो ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था। अंग्रेजों ने साम्राज्य-विस्तार की नीति त्याग दी तथा भारतीय नरेशों को उनके राज्यों की सीमा, उनके सम्मान और उनके अधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन दिया। नरेशों को स्वेच्छा से बच्चा गोद लेने का अधिकार भी प्रदान किया गया। अवध के ताल्लुकेदारों को उनकी भूमि वापस कर दी गयी। यह अंग्रेजों की नवीन नीति के कारण था। उन्होंने यह जान लिया कि राजा, उनके राज्य और भारतीय शासन तथा समाज के सभी प्रतिक्रियावादी तत्वों का पोषण करना उनके साम्राज्य को सुरक्षा प्रदान करेगा, क्योंकि जनता के विरुद्ध वे ही उनकी सुरक्षा करेंगे। परन्तु भारतीय नरेशों को सुरक्षा का आश्वासन देने का अर्थ उनको अधिक स्वतन्त्र बनाना नहीं था अपितु, इसके विपरीत, 'एकल उत्तरदायित्व' के सिद्धान्त का पालन करते हुए उन्हें अंग्रेजी सरकार पर और अधिक आश्रित किया गया। शासन के लिए भारत को एक इकाई माना गया और रेल, डाक, तार आदि के लिए नरेशों के राज्यों की सीमाओं का कोई ध्यान नहीं रखा गया। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि ब्रिटिश क्राउन ही भारत की एकमात्र सर्वोच्च सत्ता है। इस प्रकार, भारतीय नरेशों को पूर्णतः अंग्रेजों पर आश्रित कर दिया गया।

इस समय से ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारत के शासन में रुचि लेना प्रायः समाप्त कर दिया। पहले कम्पनी के शासन के कारण ब्रिटिश पार्लियामेण्ट भारतीय शासन पर नियन्त्रण रखने हेतु उसके कार्यों में रुचि लेती थी, परन्तु जब भारतीय शासन एक प्रकार से ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के अधीन हो गया तब पार्लियामेण्ट की रुचि उस तरफ से स्वतः ही समाप्त हो गयी।

भारत में अंग्रेजी शासन का एक दृढ़ स्तम्भ सरकारी सेवाओं और अंग्रेजों का एकाधिपत्य था। उसे यथावत् रखा गया। निस्सन्देह, 1861 ई. के 'असैनिक सेवा कानून' द्वारा असैनिक सेवाओं के लिए वार्षिक परीक्षा की व्यवस्था की गयी जिसमें भारतीय भी बैठ सकते थे, परन्तु परीक्षा का स्थान लन्दन रखा गया और सेवा सम्बन्धी नियम ऐसे बनाये गये जिससे वस्तुतः भारतीय सेवाओं में स्थान प्राप्त न कर सकें।

विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि संकुचित प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। 'फूट डालो और शासन करो' उनकी नीति का प्रमुख आधार बन गया। इसी कारण हिन्दू और मुसलमानों तथा हिन्दू और सिखों में वैमनस्य डालने का प्रयत्न किया गया; यहाँ तक कि भारतीय सेना का संगठन भी जाति और क्षेत्रीय आधार पर किया गया। भारतीयों को लड़ाकू और युद्ध की क्षमता न रखने वाले समूहों में बाँटा गया तथा विभिन्न रेजीमेण्टों के नाम जाति या क्षेत्र के आधार पर रखे गये, जैसे जाट रेजीमेण्ट, गोरखा रेजीमेण्ट, सिख रेजीमेण्ट आदि।

इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी सेना में वृद्धि की गयी, उसे श्रेष्ठ हथियार दिये गये और तोपखाने पर उसका एकाधिपत्य रखा गया।

विद्रोह के कारण अंग्रेजों और भारतीयों के सम्बन्ध और अधिक खराब हो गये। दोनों नस्लों में एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना तीव्र हो गयी। अंग्रेजों ने स्पष्ट रूप से अपने व्यवहार में इसे व्यक्त भी किया।

अंग्रेजों ने अब समाज और शिक्षा-सुधार की नीति को त्याग दिया। अंग्रेजों की उदारवादी और मानवतावादी विचारधारा तो 1840 ई. तक ही प्रभावहीन हो गयी थी, अब अंग्रेजों ने उसे अपने शासन के हित के विरुद्ध मानकर पूर्णतः त्याग दिया। उन्होंने अब कोई भी कानून

सामाजिक सुधार के लिए नहीं बनाया और अंग्रेजी शिक्षा को प्रोत्साहन देना समाप्त कर दिया। इसके विपरीत, उन्होंने प्रतिक्रियावादी धार्मिक और सामाजिक तत्वों एवं क्रियाओं को बढ़ावा दिया।

निस्सन्देह, शासक और शासितों में सम्पर्क बनाने की आवश्यकता को समझकर अंग्रेजों ने 1861 ई. का 'भारत कौंसिल एक्ट' बनाकर यहाँ व्यवस्थापिका-सभाओं की स्थापना की, परन्तु इसका उद्देश्य भारतीयों को प्रशासनिक शिक्षा प्रदान करने की बजाय अंग्रेजी शासन को दृढ़ करना था। वस्तुतः अंग्रेजों की भावना शक्ति के आधार पर ही भारत में अपने शासन को बनाये रखने की रही।

विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण की प्रक्रिया और अधिक तीव्र हुई। भारत अब कम्पनी के आर्थिक हितों की पूर्ति का साधन न रहकर ब्रिटेन के आर्थिक हितों की पूर्ति का साधन बन गया। इसका परिणाम भारतीयों की गम्भीर निर्धनता हुआ।

केवल एक दृष्टि से भारतीयों को विद्रोह से लाभ हुआ। आगे आने वाले समय में भारत के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भारतीय सेनाओं और जनसाधारण ने उससे प्रेरणा प्राप्त की और अपनी दुर्बलताओं, मुख्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक दुर्बलताओं, को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त अन्य सभी दृष्टिकोणों से विद्रोह दुष्परिणामपूर्ण रहा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 1857 ई. के विद्रोह के क्या कारण थे ?
2. 1857 ई. के विद्रोह के राजनीतिक, प्रशासनिक एवं आर्थिक कारणों पर विचार कीजिए।
3. 1857 ई. के विद्रोह के सामाजिक और धार्मिक कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. क्या 1857 ई. के विद्रोह का कारण सैनिकों का असन्तोष मात्र था ?
5. क्या 1857 ई. के विद्रोह को भारत का प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम स्वीकार किया जा सकता है ?
6. 1857 ई. के विद्रोह की प्रकृति के सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है ?
7. 1857 ई. के विद्रोह की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।
8. 1857 ई. के विद्रोह के परिणामों पर विचार कीजिए।

24

लॉर्ड लिटन और लॉर्ड रिपन

1. लॉर्ड लिटन (1876-80 ई.)

अप्रैल 1867 ई. में लॉर्ड नॉर्थब्रुक के स्थान पर भारत के गवर्नर-जनरल के पद पर लॉर्ड लिटन की नियुक्ति हुई। लॉर्ड लिटन ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रालय में पर्याप्त समय तक कार्य कर चुका था और आशा की जाती थी कि वह एक योग्य कूटनीतिज्ञ सिद्ध होगा। परन्तु लॉर्ड लिटन के सामने दो प्रमुख कठिनाइयाँ थीं और उन्हीं के कारण भारत में उसका शासन और नीति सफल न हो सकी। प्रथम, गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण करने से पूर्व उसे भारत और यहाँ की परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त करने का कोई अवसर प्राप्त नहीं हुआ था, और द्वितीय, ब्रिटेन के प्रतिक्रियावादी दल के प्रधानमन्त्री डिजरैली ने उसे मुख्यतः अफगानिस्तान की ओर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव की ओर से जाग्रत रहने और उसे रोकने के लिए भारत भेजा था। इस प्रकार लिटन को एक विशेष विचारधारा और एक विशेष नीति को कार्य-रूप में परिणत करने हेतु भारत भेजा गया था और उसकी असफलता का यह एक बड़ा कारण रहा।

लिटन का समय आन्तरिक और विदेश दोनों ही दृष्टियों से रोचक परन्तु परिणाम-रहित रहा। आन्तरिक दृष्टि से उसने भारतीयों के प्रति जो नीति अपनायी उससे भारत में असन्तोष बढ़ा यद्यपि उसने राष्ट्रीय भावना की प्रगति में अवश्य सहायता पहुँचायी। विदेश-नीति की दृष्टि से उसके समय का द्वितीय अफगान-युद्ध निरर्थक सिद्ध हुआ।

आन्तरिक नीति की दृष्टि से लॉर्ड लिटन ने काफी उत्साह से कार्य किया। व्यापार, अर्थव्यवस्था, शासन-प्रबन्ध, अकाल के प्रबन्ध आदि की दृष्टि से उसने निम्नलिखित कार्य किये :

(अ) आन्तरिक नीति

लिटन स्वतन्त्र-व्यापार की नीति का समर्थक था। औद्योगिक क्रान्ति के कारण ब्रिटेन उस समय उद्योग और व्यापार की दृष्टि से सम्पूर्ण संसार का नेतृत्व कर रहा था और स्वतन्त्र-व्यापार की नीति उसके हित में थी। भारत से ब्रिटेन को कच्चे माल की आवश्यकता होती थी और भारत उसके बने हुए माल के लिए एक अच्छा बाजार था। इस कारण, भारत का स्वतन्त्र-व्यापार की नीति को अपनाना ब्रिटेन के उद्योगों और व्यापार के हित में था। ब्रिटेन के व्यापारी भारत सरकार द्वारा लगाये गये विभिन्न आयात-निर्यात करों का विरोध कर रहे थे। अन्त में, भारत-सचिव के आदेश और अपनी सम्मति से लॉर्ड लिटन ने स्वतन्त्र-व्यापार की नीति अपनायी और प्रायः 29 वस्तुओं से आयात-निर्यात-कर समाप्त कर दिया और इस प्रकार ब्रिटेन के हितार्थ भारत के हितों का बलिदान किया गया।

आर्थिक सुधारों की दृष्टि से लॉर्ड लिटन ने लॉर्ड मेयो की प्रान्तों को आर्थिक अधिकार देने की नीति का अनुसरण किया। लॉर्ड मेयो द्वारा प्रान्तीय सरकारों को प्रोत्साहन

देने के लिए 'आर्थिक विकेन्द्रीकरण' की नीति अपनायी गयी थी। लॉर्ड लिटन ने इसे थोड़ा और आगे बढ़ाया तथा प्रान्तों को लगान, स्टाम्प, कानून, न्याय आदि कुछ विषयों पर स्वेच्छा से व्यय करने का अधिकार प्रदान किया। इस व्यय की पूर्ति हेतु उन्हें कुछेक करों का कुछ भाग देने को व्यवस्था भी की गयी।

भारतीय नरेशों से नमक बनाने का अधिकार छीनकर केन्द्रीय सरकार को दे दिया गया तथा नमक के अवैध व्यापार को रोकने हेतु सम्पूर्ण भारत में नमक पर समान कर लगाया गया।

1876 से 1878 ई. के समय में भारत में भयंकर अकाल पड़ा। मद्रास, बम्बई, मैसूर, हैदराबाद, पंजाब तथा मध्य-भारत का अधिकांश भाग इस अकाल की चपेट में थे। इस अकाल में लाखों व्यक्ति मारे गये और सरकार ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए जो व्यवस्था की वह पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई। 1878 ई. में अकालों की व्यवस्था की जाँच के लिए रिचार्ड स्ट्रेची (Richard Strachey) के सभापतित्व में एक कमीशन की नियुक्ति की गयी। इसने सिफारिश की कि अकाल के अवसर पर शारीरिक श्रम कर सकने योग्य व्यक्तियों को कार्य देना चाहिए, प्रत्येक प्रान्त में एक स्थायी अकाल-फण्ड की स्थापना होनी चाहिए और विभिन्न स्थानों पर रेलवे तथा नहरों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे अकाल की सम्भावना कम हो और अकाल पड़ने पर वहाँ शीघ्र सहायता पहुँचायी जा सके।

1876 ई. में **सम्राट-पद कानून** (The Royal Titles Act) के अन्तर्गत रानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी का पद प्रदान किया गया। इसकी घोषणा हेतु लॉर्ड लिटन ने 1 जनवरी, 1877 ई. को दिल्ली में एक बड़े एवं भव्य दरबार का आयोजन किया। दरबार की शान-शौकत पर अत्यधिक धन व्यय किया गया और वह भी उस समय जबकि भारत के अधिकांश भागों में अकाल पड़ा हुआ था। इससे भारत में असन्तोष तीव्र हुआ। इसी समय से लाला लाजपतराय और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने अपना जन-आन्दोलन शुरू किया।

1878 ई. में **प्रेस एक्ट** (The Vernacular Press Act) के द्वारा लॉर्ड लिटन ने भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगा दिया। उसके कारण प्रत्येक भारतीय प्रेस को सरकार के पास सुरक्षा-धन जमा करने के लिए कहा गया और एक मजिस्ट्रेट को किसी भी ऐसे समाचार-पत्र का प्रकाशन बन्द करने का अधिकार दिया गया जिसमें छपने वाली खबरों से राजद्रोह या नागरिकों में असन्तोष फैलने की आशंका हो। यह भारतीय नागरिकों के विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता पर एक बड़ा आघात था। उस समय तक भारत में ऐसे अनेक समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे थे जो शासन और अंग्रेजों के व्यक्तिगत व्यवहार की कटु आलोचना करते थे। इससे अंग्रेजों के विरुद्ध जनमत का निर्माण करने में सहायता मिली थी। लॉर्ड लिटन ने इसी कारण इस कानून के द्वारा इस स्वतन्त्रता को समाप्त कर दिया।

1878 ई. में एक **शस्त्र कानून** (The Arms Act) बनाया गया जिसके द्वारा भारतीयों को सरकार से लाइसेंस प्राप्त किये बिना किसी भी प्रकार के हथियार रखने, खरीदने अथवा बेचने का अधिकार न रहा। इस कानून को तोड़ने वाले को अधिक से अधिक 7 साल की कैद और जुर्माना देने की सजा दी जा सकती थी। यह कानून ऐंग्लो-इण्डियन और कुछ विशेष प्रकार के सरकारी कर्मचारियों पर लागू नहीं होता था। इस अन्तर से भारतीयों में तीव्र असन्तोष हुआ।

सरकारी सेवाओं के विषय में भी लॉर्ड लिटन के समय से कुछ परिवर्तन किया गया। 1833 ई. के कम्पनी के आदेश-पत्र द्वारा भारतीयों को बिना किसी भेदभाव के और केवल

योग्यता के आधार पर बड़ी से बड़ी नौकरी प्राप्त करने की सुविधा दी गयी थी। 1853 ई. के आदेश-पत्र द्वारा सरकारी सेना के उच्च पदों के लिए लन्दन में एक परीक्षा की व्यवस्था की गयी थी। इस प्रकार सिद्धान्ततः भारतीयों को उच्च से उच्च सरकारी सेवा में स्थान प्राप्त करने का अधिकार था; यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं हो पाया था और न अंग्रेज शासक इस बात को पसन्द करते थे। लॉर्ड लिटन ने भारतीयों की इस सुविधा को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उसने भारतीयों के लिए एक पृथक सार्वजनिक सेवा की व्यवस्था की। प्रान्तीय सरकारों की सिफारिश और भारत-सचिव की स्वीकृति के पश्चात् कुछ विशेष परिवारों के व्यक्तियों को इस सेवा में लिया जा सकता था। ये सेवाएँ 'Statutory Civil Services' कहलायीं। यद्यपि लॉर्ड लिटन की यह योजना आठ वर्ष के पश्चात् समाप्त कर दी गयी परन्तु उस अवसर पर उसने भारतीयों को उच्च सेवाओं में प्रवेश करने से रोक दिया। उसी अवसर पर लन्दन में होने वाली परीक्षा में बैठने वालों की अधिकतम आयु 21 से घटाकर 19 वर्ष कर दी गयी, जिससे भारतीयों के लिए उच्च सेवाओं में स्थान प्राप्त करना अधिक कठिन हो गया।

लॉर्ड लिटन ने उपर्युक्त कार्य भारत की आन्तरिक व्यवस्था हेतु किये और उन सभी से यह स्पष्ट होता है कि उसे भारतीयों के प्रति अविश्वास था और उसका एकमात्र लक्ष्य उन्हें दबाकर अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा करना था। इसी कारण उसके शासन से भारतीयों में तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई थी।

विदेश-नीति में लॉर्ड लिटन के समय की महत्वपूर्ण घटना द्वितीय अफगान-युद्ध है। (इसके अध्ययन के लिए 'आंग्ल-अफगान सम्बन्ध' अध्याय देखिए।)

(ब) विदेश नीति

1880 ई. में लॉर्ड लिटन भारत से वापस चला गया। भारतीयों की दृष्टि से वह अत्यन्त प्रतिक्रियावादी गवर्नर-जनरल था। इसी कारण भारत में उसकी नीति के प्रति तीव्र असन्तोष था, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अप्रत्यक्ष तरीके से इसी असन्तोष को उत्पन्न करके लॉर्ड लिटन ने भारतीयों की राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया और यही भारत के लिए उसका एकमात्र योगदान था।

2. लॉर्ड रिपन (1880-84 ई.)

1880 ई. में ब्रिटेन में ग्लेडस्टन के नेतृत्व में उदारदलीय सरकार की स्थापना हुई। उसने निम्नलिखित शब्दों में भारत के विषय में अपनी नीति को स्पष्ट किया : "भारत में हमारे रहने का अधिकार दो बातों पर निर्भर करता है। प्रथम, हमारा वहाँ रहना भारतीयों के लिए लाभदायक है, और द्वितीय, हम उन्हें यह विश्वास दिला सकें कि हमारा रहना उनके लिए लाभदायक है।"[1] अपनी इस नीति को कार्य-रूप में परिणत करने हेतु उसने लॉर्ड रिपन को भारत का गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा। लॉर्ड रिपन इस कार्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त व्यक्ति था। वह उदार और ईमानदार था। उसने कलकत्ता पहुँचते ही कहा था कि "आप मुझे मेरे शब्दों से नहीं बल्कि कार्यों से समझने का प्रयत्न करें।"[2] वह प्रारम्भ से ही एक सुधारवादी और

1 "Our title to be in India depends on a first condition that our being there is profitable to the Indian nation; and on a second condition, that we can make them see and understand it to be profitable." —*Lord Gladstone.*

2 "Judge me by my acts and not by my words." —*Lord Ripon.*

मानवीय दृष्टिकोण लेकर भारत आया था। जब वह भारत आया तब भारत में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से उथल-पुथल हो रही थी—मुख्यतः लॉर्ड लिटन के शासन से उत्पन्न तीव्र असन्तोष स्थान-स्थान पर प्रकट हो रहा था। लॉर्ड रिपन का मुख्य कार्य इस असन्तोष को समाप्त करना रहा। उसका समय आन्तरिक सुधारों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है और अपने समय के सुधारों द्वारा उसने न केवल लॉर्ड लिटन के समय में किये गये विभिन्न अन्यायपूर्ण कार्यों को ही समाप्त किया बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी उदारवादी कार्य किये। अपने समय में उसने मुख्यतः निम्नलिखित कार्य किये :

1881 ई. में **फैक्ट्री कानून (Factory Act)** बनाया गया। भारतीय मजदूरों की स्थिति में सुधार के लिए यह प्रथम कानून था। इसके द्वारा 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों के कार्य के घण्टे निश्चित कर दिये गये, मशीनों से मजदूरों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी और इस कानून के पालन की देखभाल के लिए इंस्पेक्टरों की नियुक्ति की गयी। इस कानून का एक आशय ब्रिटिश उद्योगपतियों का हित भी था। भारत में मजदूरी सस्ती थी और किसी भी मजदूर की सुरक्षा के कानून के अभाव में वह और भी अधिक सस्ती हो जाती थी। इस कारण ब्रिटिश उद्योगपति ही फैक्ट्री कानून की माँग कर रहे थे जिससे भारत में मजदूरी सस्ती न रहे और भारतीय उद्योगपति उनका मुकाबला न कर पायें।

1882 ई. में एक नवीन कानून बनाकर लॉर्ड लिटन के समय के **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को समाप्त कर दिया गया** और भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों को भी वही सुविधाएँ दी गयीं जो अन्य समाचार-पत्रों को प्राप्त थीं। इस कार्य से भारत का जनमत बहुत सन्तुष्ट हुआ।

रिपन ने **आर्थिक विकेन्द्रीकरण की नीति को आगे बढ़ाया** जिससे प्रान्तीय सरकारें आर्थिक मामलों में अपने उत्तरदायित्व को ठीक प्रकार समझ सकें। 1882 ई. में उसने आय के समस्त साधनों को तीन भागों में बाँट दिया : (1) केन्द्रीय—जिसके अन्तर्गत आयात-निर्यात-कर, डाकखाना, तारघर, अफीम, नमक, मुद्रा, लगान आदि थे। इनकी आय पर केन्द्रीय सरकार का पूर्ण अधिकार था। (2) प्रान्तीय—जिसके अन्तर्गत जेल, चिकित्सा, छपाई, सड़क-कर आदि थे। इनकी आय प्रान्तों को प्राप्त होती थी। परन्तु क्योंकि इनकी आय प्रान्तीय सरकारों के व्यय के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती थी, अतः प्रान्तीय सरकारों को भूमि के लगान का कुछ भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा देने की व्यवस्था की गयी; और (3) विभाजित (Divided Heads)—जिनके अन्तर्गत स्टाम्प, जंगल, रजिस्ट्रेशन फीस आदि थे। इसकी आय को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच बाँटने की व्यवस्था की गयी। इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रान्तों को आय के कुछेक साधन प्रदान करके यह आशा की गयी कि वे अपने व्यय में सावधानी बरतेंगे। लॉर्ड रिपन के इस विभाजन के आधार पर आगे भी कार्य किया गया और क्रमशः 1887, 1892 और 1897 ई. में प्रान्तीय सरकारों को अधिक आर्थिक उत्तरदायित्व दिया गया।

लॉर्ड रिपन के समय में स्थानीय स्वशासन की ओर एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। 1882 ई. में उसने **स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी एक कानून बनाया** जिसके आधार पर विभिन्न प्रान्तों ने 1883 से 1885 ई. के बीच के समय में स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी कानून बनाये। 1884 ई. के मद्रास के स्थानीय बोर्ड कानून द्वारा सर्वप्रथम स्थानीय बोर्डों को सड़कों की सफाई, रोशनी, प्राथमिक शिक्षा, पानी की व्यवस्था और सार्वजनिक स्वास्थ्य की देखभाल का उत्तरदायित्व दिया गया। यह कार्य लॉर्ड रिपन के स्थानीय स्वशासन कानून के कारण ही सम्भव हो सका। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी स्थानीय बोर्डों को कार्य दिये गये,

परन्तु लॉर्ड रिपन के इस प्रस्ताव का अर्थ केवल शासन और सार्वजनिक हित की भलाई मात्र न था। रिपन स्थानीय संस्थाओं को राजनीतिक और सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने का माध्यम समझता था। इस कारण उसने ऐसी व्यवस्था करने का प्रयत्न किया जिससे भारतीय स्वयं ही अधिक से अधिक मात्रा में स्थानीय कार्यों को करें और उनमें रुचि लें।

लॉर्ड रिपन के इस प्रस्ताव द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि प्रत्येक स्थान पर स्थानीय शासन की इकाइयाँ स्थापित की जायें। सबसे छोटी इकाई एक ताल्लुका-बोर्ड हो। सभी नगरों में म्यूनिसिपल-बोर्डों की स्थापना की जाये और जिलों में जिला-बोर्ड स्थापित किये जायें। इन स्थानीय इकाइयों में सरकारी सदस्य कम और गैर-सरकारी सदस्य अधिक हों। जहाँ तक सम्भव हो, सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की जाय और इन स्थानीय बोर्डों का सभापति गैर-सरकारी सदस्य हो। प्रान्तीय सरकारों से आशा की जाती थी कि वे स्थानीय बोर्डों के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करेंगे और उनको कुछ आर्थिक अधिकार भी प्रदान करेंगे। इस सिद्धान्त के आधार पर प्रान्तीय सरकारों का कर्तव्य इन स्थानीय इकाइयों को आदेश देने का नहीं बल्कि सुझाव और सहायता देने का था। हाँ, कुछ विषयों में इन स्थानीय इकाइयों के लिए प्रान्तीय सरकार से स्वीकृति लेना आवश्यक था; यथा—कर्जा लेने के लिए, नवीन कर लगाने के लिए, बोर्डों की सम्पत्ति को बेचने के लिए, आदि। इस प्रकार लॉर्ड रिपन का उद्देश्य भारतीयों को स्वशासन की शिक्षा प्रदान करना था और अपने प्रस्ताव से उसने इस दिशा में एक अच्छा कदम उठाया था। यद्यपि इसका एक मुख्य आशय यह भी था कि सार्वजनिक हित के कार्यों पर सरकार को व्यय न करना पड़े और स्थानीय संस्थाएँ ही इसके लिए धन जुटा सकें।

लॉर्ड रिपन कार्नवालिस द्वारा स्थापित **बंगाल की भूमि के स्थायी बन्दोबस्त में परिवर्तन करना चाहता था।** उसने प्रस्ताव रखा कि जमींदार साधारण स्थिति में किसानों को उनकी भूमि से पृथक न करें और जब तक वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि न हो तब तक जमींदार लगान में वृद्धि न करें। इसमें उसका मन्तव्य जमींदारों के अधिकारों में कमी करना था। जमींदारों ने इसका विरोध किया। किसान जमींदारों से भी अधिक सरकार से भयभीत थे। इस कारण उसका यह प्रस्ताव किसी को स्वीकार न हुआ और क्योंकि उसने स्वयं इसे जबरदस्ती किसी पर लादने का प्रयत्न नहीं किया, अतः उसका यह प्रस्ताव असफल रहा।

शिक्षा के क्षेत्र में लॉर्ड रिपन के समय में महत्वपूर्ण कार्य किया गया। 1882 ई. में सर विलियम हण्टर (Sir William Hunter) के सभापतित्व में एक शिक्षा-कमीशन की नियुक्ति की गयी। इस कमीशन का लक्ष्य था कि वह 1854 ई. के वुड (Wood) के शिक्षा-सुधारों का मूल्यांकन करे, इस आधार पर शिक्षा में हुई प्रगति का लेखा-जोखा तैयार करे तथा भविष्य के लिए कुछ आवश्यक सुधारों की ओर मार्ग-निर्देश करे। इस कमीशन ने प्राथमिक शिक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों को दिया और सुझाव दिया कि इस शिक्षा का प्रबन्ध सरकार के नियन्त्रण में स्थानीय स्वशासित संस्थाएँ करें। माध्यमिक विद्यालय दो प्रकार के होने चाहिए। एक, जो कला और विज्ञान की शिक्षा देकर विद्यार्थियों को विश्वविद्यालयीय शिक्षा के लिए तैयार करें, और दूसरे, विद्यालय इस प्रकार के होने चाहिए जो विद्यार्थियों को व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करें। कमीशन ने सरकार द्वारा विद्यालयों को आर्थिक सहायता दी जाने वाली पद्धति पर सन्तोष प्रकट किया परन्तु सुझाव दिया कि सरकार को शिक्षा के प्रत्यक्ष प्रबन्ध से शीघ्र अलग हो जाना चाहिए। कमीशन ने यह भी इंगित किया कि स्त्री-शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था अभी तक मुख्य नगरों के अतिरिक्त कहीं पर भी नहीं है, अतः इस ओर सरकार को ध्यान देना चाहिए। विश्वविद्यालयीय शिक्षा

के विषय में कमीशन ने कोई सुझाव नहीं दिया था क्योंकि उसके विषय में विचार प्रकट करना उसके कार्य-क्षेत्र से बाहर था। लॉर्ड रिपन ने कमीशन के प्रायः सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया और शिक्षा के विस्तार के लिए पर्याप्त प्रयत्न किये।

लॉर्ड रिपन के समय की एक मुख्य घटना **इलबर्ट बिल पर विवाद** था। सर सी. पी. इलबर्ट (Sir C. P. Ilbert) लॉर्ड रिपन की कार्यकारिणी-परिषद का कानूनी सदस्य था। रिपन की इच्छा से फरवरी 1883 ई. में उसने एक प्रस्ताँव प्रस्तुत किया जिसे 'इलबर्ट बिल' के नाम से पुकारा गया। मूलतः उसका आशय भारतीय न्यायाधीशों को अंग्रेज न्यायाधीशों के समान अधिकार प्रदान करना था जिससे एक ही पद के अधिकारियों के अधिकारों में केवल जाति-भेद के कारण कोई अन्तर न रहे। उस समय तक भारतीय न्यायाधीशों को फौजदारी के मामलों में यूरोपियन और अंग्रेजों के बारे में निर्णय करने का अधिकार न था। इस प्रस्ताव के द्वारा भारतीय न्यायाधीशों को यह अधिकार प्रदान करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु इस प्रस्ताव का भारत में निवास करने वाले यूरोपियनों ने डटकर विरोध किया। उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध करने के लिए एक समुदाय का निर्माण किया और प्रायः 1,50,000 रुपये अपने विरोध का प्रचार करने हेतु एकत्र किये। उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध भारत और ब्रिटेन दोनों ही स्थानों पर किया। उनका कहना था कि भारतीयों के न्याय और आदेश को मानने की अपेक्षा अंग्रेजों का भारत छोड़ना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। उन्होंने अपने विचारों में नग्न जातिवाद प्रकट किया जिसके परिणामस्वरूप भारतीयों में भी प्रतिक्रिया हुई और उन्होंने इस प्रस्ताव का समर्थन करना आरम्भ किया। इस वाद-विवाद से भारत में दंगों की सम्भावना हो गयी। यूरोपीय जाति के व्यक्तियों ने रिपन पर व्यक्तिगत आक्षेप करने शुरू किये। रिपन को जबदरस्ती पकड़कर भारत से वापस भेज देने तक के षड्यन्त्र किये गये। ब्रिटेन के समाचार-पत्रों ने रिपन की आलोचना आरम्भ कर दी और रानी विक्टोरिया को भी रिपन के इस कार्य में सन्देह होने लगा। अन्त में, रिपन को इस विरोध के सम्मुख झुकना पड़ा और इस प्रस्ताव में संशोधन कर दिया गया। 1884 ई. में जो नवीन कानून बना उसके द्वारा यह निश्चित किया गया कि भारतीय न्यायाधीश अंग्रेज अपराधियों के मुकदमों का निर्णय तो कर सकते थे, परन्तु उन्हें एक ऐसी जूरी-मण्डल की राय लेना आवश्यक था जिसमें 12 सदस्य हों और उन 12 में से कम से कम 7 सदस्य यूरोपियन हों। इस प्रकार 'इलबर्ट बिल' का मूल आशय पूरा न हो सका। परन्तु इस प्रस्ताव के विवाद से भारतीयों ने दो बातें सीखीं। प्रथम, अंग्रेज जाति के आधार पर भारतीयों को बहुत हेय दृष्टि से देखते थे, और द्वितीय, संगठित आन्दोलन द्वारा सरकार की नीति को प्रभावित करना सम्भव है तथा आन्दोलन को संगठित किस प्रकार किया जाता है।

लॉर्ड रिपन ने अपने समय में एक और सद्भावना का कार्य किया। विलियम बेन्टिक के समय में मैसूर-राज्य का शासन अंग्रेजों ने ले लिया था। लॉर्ड रिपन ने मृतक राजा के द्वारा गोद लिये हुए लड़के और राज्य के उत्तराधिकारी को कुछ शर्तों पर उसका राज्य उसे वापस लौटा दिया।

1882 ई. में भारत से एक अंग्रेजी सेना मिस्र पर अधिकार करने के लिए भेजी गयी थी और उसका व्यय भारत सरकार को देना पड़ा था। लॉर्ड रिपन ने इसका विरोध किया परन्तु उसकी बात को स्वीकार नहीं किया गया। रिपन इसे भारत के प्रति अत्याचार मानता था। इस कारण ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय से उसे बहुत दुःख हुआ। 'इलबर्ट बिल' पर वह पहले ही दुःखी हो चुका था। उसने अनुभव किया कि भारत में अब उसका कार्य समाप्त हो चुका है।

इस कारण अपना कार्यकाल समाप्त होने से पहले ही 1884 ई. में उसने अपना पद त्याग दिया और भारत से चला गया।

भारतीयों ने लॉर्ड रिपन को एक न्यायप्रिय और सज्जन गवर्नर-जनरल के रूप में याद किया। पण्डित मदनमोहन मालवीय ने 1909 ई. में कहा : "रिपन भारत के प्रख्यात गवर्नर-जनरलों में सबसे महान् और प्रिय था।"[1]

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लॉर्ड लिटन की आन्तरिक नीति के बारे में आप क्या जानते हैं ? उसके प्रशासकीय कार्य किस कारण भारतीयों के असन्तोष का कारण बने ?
2. "लॉर्ड रिपन निस्सन्देह एक उदार गवर्नर-जनरल था।" क्या आप इस विचार से सहमत हैं, और यदि हैं तो क्यों ?

---

1 "Ripon was the greatest and the most beloved Viceroy whom India has known."
—*Pt. Madan Mohan Malviya.*

25

लॉर्ड कर्जन (1899-1905 ई.)

जॉर्ज नैथानियल कर्जन भारत के योग्य और प्रभावशाली गवर्नर-जनरलों में स्थान रखता है। वह अपने उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिए योग्य भी माना जा सकता था। कहा जाता है कि लॉर्ड कर्जन भारत की परिस्थितियों से इतना अधिक परिचित था जितना उस समय में कोई भी यूरोपियन शायद ही हो। गवर्नर-जनरल का पद ग्रहण करने से पहले वह कई बार भारत का भ्रमण कर चुका था। इसके अतिरिक्त वह कोरिया, चीन, जापान, श्रीलंका, अफगानिस्तान, फारस आदि विभिन्न स्थानों का भ्रमण कर चुका था और उसने एशिया की समस्याओं के सम्बन्ध में तीन पुस्तकें भी लिखी थीं। इससे स्पष्ट है कि लॉर्ड कर्जन को भारतीय समस्याओं के बारे में ज्ञान था। वह परिश्रमी एवं दृढ़-निश्चयी भी था। उसने भारत आकर यहाँ के शासन में पूर्ण रूप से सुधार करने का प्रयत्न किया। शासन का कोई भी ऐसा भाग न था जिसको कर्जन ने अपने प्रभाव से मुक्त छोड़ा हो। परन्तु दुर्भाग्यवश उसे भारत की स्थितियों का व्यावहारिक ज्ञान अन्त तक न हो सका। वह सर्वदा एक ऐसे अंग्रेज अधिकारी की भाँति रहा जो एक विजेता द्वारा एक विजित राज्य के शासन की देखभाल के लिए भेजा गया था। इसी कारण उसने भारतीयों की भावनाओं को समझने का कोई प्रयत्न नहीं किया। उसकी सहानुभूति शासन की ओर थी, न कि उन व्यक्तियों की ओर जिन पर शासन करने के लिए उसे भारत भेजा गया था। उसे अंग्रेज जाति की श्रेष्ठता और योग्यता में अटूट विश्वास था। अतएव उसकी भाषा और उसके विचार भारतीयों के प्रति सर्वदा कटु रहे। इसी कारण उसके विभिन्न शासन-सुधार, उसकी कार्यकुशलता और भारतीय परिस्थितियों के उसके ज्ञान आदि के बावजूद वह भारत के उन गवर्नर-जनरलों में से रहा जिन्हें भारतीयों ने आक्रोश और घृणा की दृष्टि से देखा।

1. आन्तरिक सुधार

आन्तरिक नीति में कर्जन का एकमात्र लक्ष्य शासन के सम्पूर्ण ढाँचे में परिवर्तन करके उसे शक्तिशाली बनाना था। इस क्षेत्र में उसकी मुख्य नीति केन्द्रीकरण और सरकारी कर्मचारियों के अधिकारों में वृद्धि करने की थी। अपने शासन-काल में उसने विभिन्न सुधार किये। उनमें से अनेक शासन के लिए उपयोगी सिद्ध हुए परन्तु कई ऐसे भी रहे जिन्होंने भारतीय जनता में तीव्र असन्तोष उत्पन्न किया।

आर्थिक सुधार

1899 ई. में अंग्रेजी स्वर्ण-मुद्रा को भारत की कानूनी मुद्रा घोषित कर दिया गया और उसके विनिमय की दर 15 रुपये प्रति पौण्ड निश्चित कर दी गयी। इससे भारत की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ और कर्जन को कर के भार में कमी करने का अवसर प्राप्त हो सका। उसने नमक-कर को $2\frac{1}{2}$ रुपये प्रति मन से घटाकर $1\frac{1}{8}$ रुपये प्रति मन कर दिया। उसने आय-कर में भी कमी की। उस समय तक 500 रुपये से ऊपर की वार्षिक आय के सभी व्यक्तियों को

आय-कर देना पड़ता था। अब 1,000 रुपये से कम वार्षिक आय वाले व्यक्तियों को आय-कर से मुक्त कर दिया गया।

कर्जन ने आर्थिक विकेन्द्रीकरण की नीति का भी समर्थन किया और उसे थोड़ा आगे बढ़ाया। उस समय तक प्रान्तों की आय में जो बचत होती थी उसे केन्द्रीय सरकार ले लिया करती थी। इससे प्रान्त अपव्यय कर दिया करते थे। कर्जन ने निश्चित कर दिया कि प्रान्तों की बचत प्रान्तों के पास ही रहेगी जिसका उपयोग वह अगले वर्षों में कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त, उसने प्रान्तों को पुलिस, शिक्षा, कृषि आदि में उन्नति करने के लिए विशेष आर्थिक सहायता देनी आरम्भ की।

कृषि-सम्बन्धी सुधार

कर्जन ने किसानों की स्थिति में सुधार करने के प्रयत्न किये। उसने कृषि-बैंक खुलवाये। 1904 ई. में 'दि कोऑपरेटिव क्रेडिट सोसाइटीज एक्ट' बनाया गया जिसके द्वारा सहकारी-समितियों की स्थापना करके किसानों को उचित ब्याज पर रुपया कर्ज देने की व्यवस्था की गयी। साधारणतः, किसान महाजनों से भारी ब्याज पर रुपया उधार लिया करते थे। सहकारी-समितियों की स्थापना से इस विषय में उन्हें कुछ सहायता देने का प्रयत्न किया गया।

पंजाब के किसानों की स्थिति सुधारने के लिए 1900 ई. में कर्जन ने 'दि पंजाब लैण्ड एलिनेशन एक्ट' बनाया जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि बिना सरकार की अनुमति के कोई साहूकार कर्ज के बदले में किसी भी किसान की भूमि पर अधिकार नहीं कर सकता था।

लगान-व्यवस्था के दोषों को समाप्त करने हेतु कर्जन ने 1902 ई. में तीन सिद्धान्त निर्धारित किये। प्रथम, लगान में धीरे-धीरे वृद्धि की जाय; द्वितीय, लगान को वसूल करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि कृषि को किसी भी प्रकार की हानि न हो; और तृतीय, स्थानीय संकट के समय किसानों को तुरन्त सहायता दी जाय। इन सिद्धान्तों के आधार पर 1905 ई. में उसने 'सस्पेन्शन एण्ड रेमिशन्स रिजोल्यूशन' बनाया जिसके अनुसार प्रान्तीय सरकारों के लिए नियम निर्धारित किये गये। इनके अनुसार लगान की वसूली को स्थगित करने हेतु कम से कम आधी फसल का खराब होना आवश्यक था। यदि यह स्पष्ट हो जाय कि किसान स्थगित किये हुए लगान को भी देने की स्थिति में न थे तो लगान को माफ कर दिया जाय। जहाँ तक सम्भव हो, जिला-अधिकारी को ही लगान की वसूली को स्थगित करने का अधिकार दिया जाय तथा किसानों की चिन्ता को दूर करने के लिए यह व्यवस्था की गयी कि लगान की वसूली को स्थगित करने की सूचना किसानों की फसल खराब होते ही उन्हें दे दी जायेगी।

इसके अतिरिक्त, कृषि की उन्नति के लिए कर्जन ने वैज्ञानिक ढंग से कृषि करने को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बंगाल में पूसा में एक 'कृषि-अनुसन्धान संस्था' खोली गयी। इस प्रकार कर्जन ने कृषि और कृषकों की स्थिति में सुधार करने का प्रयत्न अवश्य किया, यद्यपि समस्या को देखते हुए उसके प्रयत्न अपर्याप्त थे।

सिंचाई-व्यवस्था में सुधार

कृषि की उन्नति के लिए कर्जन ने सिंचाई-व्यवस्था में सुधार करने का प्रयत्न किया। इस विषय की जाँच के लिए 1901 ई. में कॉलिन स्कॉट मानक्रोफ के सभापतित्व में एक

कमीशन की नियुक्ति की गयी। इस कमीशन ने सिंचाई के साधनों में विकास के लिए अगले बीस वर्षों में 44 करोड़ रुपया व्यय करने की सिफारिश की। कर्जन ने कमीशन के सुझावों को स्वीकार कर लिया और, सर्वप्रथम, उसने पंजाब में सिंचाई के साधनों का विकास किया। पंजाब में विभिन्न नहरों का जाल, जैसे चिनाब की नहर, झेलम की नहर, दोआब की नहर आदि उसी के समय में बिछाया गया। इससे पंजाब के कृषि-उत्पादन को अत्यधिक लाभ हुआ।

अकाल-सम्बन्धी सुधार

जिस समय लॉर्ड कर्जन ने शासन-भार सँभाला उस समय पूर्वी भारत को छोड़कर प्रायः सम्पूर्ण भारत में अकाल पड़ रहा था। कर्जन ने, जहाँ तक सम्भव हुआ, अकाल-पीड़ितों की सहायता की और उस पर प्रायः 7 करोड़ रुपया व्यय किया। जो व्यक्ति कार्य करने योग्य थे उन्हें कार्य दिया गया और बाकी सभी को सहायता दी गयी। किसानों को लगान में छूट दी गयी। सरकार ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए जो प्रबन्ध किया था उसकी जाँच उसने स्वयं घूम-घूमकर की। फिर भी कर्जन अपने प्रयत्नों से सन्तुष्ट नहीं हुआ और अकाल के कारणों एवं उनका स्थायी हल निकालने के लिए उसने मैक्डोनेल की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में कृषि, सिंचाई, अकाल-फण्ड आदि की उन्नति के विभिन्न सुझाव दिये। उसने यह भी कहा कि सरकार को सबसे अधिक प्रयत्न प्रजा में नैतिक साहस उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि सरकार अकाल-पीड़ितों को अकाल पड़ते ही सहायता और आश्वासन देना आरम्भ कर दे। कमीशन ने यह भी सुझाव दिया कि अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए गैर-सरकारी संस्थाओं की भी पूर्ण सहायता लेनी चाहिए। कर्जन ने कमीशन के सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया और कृषि, सिंचाई, लगान आदि से सम्बन्धित सुधारों को करते हुए उनका विशेष ध्यान रखा।

प्लेग

लॉर्ड कर्जन के शासन के प्रारम्भिक काल में भारत में भयंकर प्लेग फैली हुई थी। साधारण अनुमान के अनुसार लगभग एक लाख व्यक्ति इस महामारी में मारे गये। सरकार ने इसे रोकने का भरसक प्रयत्न किया और इस विषय में सेना की सहायता भी ली, परन्तु जिस प्रकार सैनिकों ने नागरिकों के घरों में घुस-घुसकर बीमारों को बाहर निकालकर अस्पताल आदि ले जाने का प्रबन्ध किया उससे भारतीयों में तीव्र असन्तोष हुआ। इसमें उन्होंने भारतीय परिवारों का मुख्यतः स्त्रियों का अपमान समझा। बाल गंगाधर तिलक ने कर्जन के इन सुधारों की आलोचना की। उसी समय दो प्लेग अधिकारियों की हत्या हुई। सरकार ने षड्यन्त्रकारियों का दमन किया तथा बाल गंगाधर तिलक को सन्देह में गिरफ्तार कर माँडले की जेल में भेज दिया।

सचिवालयों की कार्य-प्रणाली में सुधार

शासन के कार्यों में देर न हो, इसके लिए उसने प्रशासकीय सचिवालयों के कार्य करने की पद्धति में परिवर्तन किया। गवर्नर-जनरल को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि कभी-कभी किसी एक साधारण सी बात का निर्णय करने के लिए भी फाइलों के चक्कर में वर्षों लग जाते थे, यहाँ तक कि उस निर्णय को करने की आवश्यकता ही समाप्त हो जाती थी। इस पद्धति में सुधार करने के लिए तथा कार्य के शीघ्र निष्पादन हेतु कुछ नियम बनाये गये और विभिन्न विभागों के अध्यक्षों को आदेश दिये गये कि वे विभिन्न विषयों का निर्णय पारस्परिक विचार-विमर्श द्वारा कर लिया करें।

प्रेसीडेन्सियों के गवर्नरों की शक्ति को कम करने का प्रयत्न

मद्रास और बम्बई की प्रेसीडेन्सियों के गवर्नरों को अन्य प्रान्तों की तुलना में कुछ अधिक अधिकार प्राप्त थे और कुछ विषयों में वे गवर्नर-जनरल की सलाह के बिना भी निर्णय ले लिया करते थे। लॉर्ड कर्जन ने शासन-व्यवस्था को केन्द्रित करने के लक्ष्य को देखते हुए माँग की कि इन प्रान्तों के गवर्नरों के अधिकार सीमित करके अन्य प्रान्तों के गवर्नरों के समान ही कर दिये जायें परन्तु 'गृह सरकार' (Home Government) इसके लिए तैयार नहीं हुई।

पुलिस-सुधार

पुलिस-विभाग शासन का एक प्रमुख अंग था। परन्तु उसमें उस समय तक अनेक दोष थे। सिपाहियों और उनके अफसरों को न तो उचित वेतन मिलता था और न ही उन्हें उनके उत्तरदायित्वों की पूर्ति हेतु आवश्यक शिक्षा दी जाती थी। उस समय तक भारत में पुलिस के गुप्तचर-विभाग की स्थापना भी नहीं की गयी थी जबकि भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन को देखते हुए इसकी स्थापना सरकार के लिए अति आवश्यक थी। लॉर्ड कर्जन ने पुलिस-विभाग में सुधार हेतु सुझाव देने के लिए फ्रेजर की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने सिफारिश की कि छोटे पदों से बड़े अधिकारी प्रोन्नत न किये जायें बल्कि पुलिस के उच्च अधिकारियों की भर्ती प्रत्यक्ष हो, सिपाहियों और अफसरों की पर्याप्त शिक्षा के लिए विशेष प्रकार के प्रशिक्षण स्कूल खोले जायें, प्रान्तीय पुलिस की संख्या में वृद्धि की जाय, सिपाहियों को छानबीन के लिए गाँवों में जाने का अधिकार हो और पुलिस का गुप्तचर विभाग स्थापित किया जाय। भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कमीशन ने सिपाहियों और अधिकारियों के वेतन में वृद्धि, अपराधों की घटनास्थल पर जाँच और बिना किसी कानूनी आधार के किसी व्यक्ति को सन्देह मात्र में गिरफ्तार न करने आदि के सुझाव दिये। लॉर्ड कर्जन ने इस कमीशन की सभी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। पुलिस-विभाग के कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की गयी, प्रत्येक प्रान्त और केन्द्र पर पृथक गुप्तचर-विभागों की स्थापना की गयी, पुलिस की संख्या में वृद्धि की गयी, उच्च पुलिस अधिकारियों की नियुक्ति प्रत्यक्ष की जाने लगी और उनकी शिक्षा के लिए प्रशिक्षण स्कूल खोले गये।

रेल-सम्बन्धी सुधार

केन्द्रीय सरकार की आय में वृद्धि करने के लिए लॉर्ड कर्जन ने रेलों को आय का एक प्रमुख साधन बनाने का निश्चय किया। 1901 ई. में रेलों की व्यवस्था में सुधार करने हेतु रॉबर्टसन की अध्यक्षता में एक रेलवे आयोग की नियुक्ति की गयी। आयोग ने दो वर्ष के पश्चात् अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करते हुए सरकार को सुझाव दिया कि रेलों का प्रबन्ध व्यापारिक आधार पर होना चाहिए। कर्जन ने आयोग की सलाह को स्वीकार करते हुए रेलों की संख्या में वृद्धि की, रेलवे-विभाग को समाप्त कर दिया, सार्वजनिक निर्माण-विभाग से उनका उत्तरदायित्व छीन लिया और तीन सदस्यों के एक रेलवे-बोर्ड की स्थापना की। इन सुधारों से रेलों की स्थिति में सुधार हुआ और उनकी आय में वृद्धि हुई।

सैनिक-सुधार

मध्य-एशिया में रूस की कार्रवाइयों और ताशकन्द रेलवे की स्थापना से कर्जन भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा की सुरक्षा के प्रति चिन्तित हो उठा। उस समय तक सैनिक छावनियाँ भारत के विभिन्न भागों में फैली हुई थीं क्योंकि 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात्

आन्तरिक शान्ति की चिन्ता सरकार को अधिक थी। सैनिकों के आने-जाने और आवश्यक वस्तुओं को उन तक पहुँचाने की व्यवस्था का भी कोई ध्यान नहीं रखा गया था। लॉर्ड कर्जन ने इस ओर ध्यान दिया और 1901 ई. में 'दि इम्पीरियल केडेट कोर' की स्थापना की जिसके द्वारा राजवंश या प्रतिष्ठित परिवारों के भारतीयों की सैनिक-शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। 1902 ई. में लॉर्ड किचनर के भारत की सेना के सेनापति बनाये जाने से सेना में महत्वपूर्ण सुधार हुए। किचनर ने सम्पूर्ण सेना को दो भागों में बाँटा—एक, उत्तरी सेना जिसकी छावनी 'मरी' में स्थापित की गयी और दूसरी, दक्षिणी सेना जिसकी छावनी 'पूना' में स्थापित की गयी। प्रत्येक डिवीजन में तीन ब्रिगेड बनाये गये जिनमें दो ब्रिगेड भारतीयों के और एक ब्रिगेड अंग्रेजों का था। प्रत्येक ब्रिगेडियर को अपनी ब्रिगेड के सैनिकों की योग्यता को बढ़ाने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। सैनिक छावनियों को रेलवे-लाइनों के निकट रखा गया जिससे सैनिकों के आने-जाने और सामान के लाने तथा ले जाने में सुविधा हो, सेना को नवीन बन्दूकें व तोपें दी गयीं, गोला-बारूद बनाने की फैक्टरियाँ भारत में स्थापित की गयीं, ब्रिटेन के 'किम्बरले सैनिक स्कूल' के आधार पर भारतीय सैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिए क्वेटा में एक सैनिक स्कूल खोला गया, सैनिकों के वेतन में वृद्धि की गयी, उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी तथा सैनिकों की योग्यता की जाँच के लिए एक परीक्षा आरम्भ की गयी जिसे 'किचनर-टैस्ट' के नाम से पुकारा गया। इन सुधारों से भारतीय सेना की योग्यता व कार्यक्षमता में वृद्धि हुई।

कलकत्ता कॉरपोरेशन एक्ट, 1899 ई.

शासन की कार्यक्षमता के आधार पर लॉर्ड कर्जन ने रिपन द्वारा स्थानीय स्वशासन की स्थापित प्रणाली पर आघात किया और 1899 ई. में कलकत्ता कॉरपोरेशन कानून बनाया गया। इसके द्वारा कलकत्ता कॉरपोरेशन के निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम कर दी गयी जिसके कारण कॉरपोरेशन और उसकी विभिन्न समितियों में अंग्रेजों की प्रधानता हो गयी और कॉरपोरेशन एक प्रकार से अंग्रेजों तथा ऐंग्लो-इण्डियनों का सदन मात्र रह गया। भारतीय इस कानून से इतने असन्तुष्ट हुए कि कॉरपोरेशन के 28 सदस्यों ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके पश्चात् कलकत्ता कॉरपोरेशन केवल सरकारी विभाग का एक अंग मात्र बन गया क्योंकि उसमें सरकारी अधिकारियों का बहुमत हो गया।

प्राचीन स्मारक सुरक्षा कानून, 1904 ई.

लॉर्ड कर्जन शिक्षित और विद्वान था तथा इतिहास में उसकी विशेष रुचि थी। इस कारण भारत के प्राचीन स्मारकों की रक्षा के लिए उसने एक कानून बनाया और पहली बार भारत की ऐतिहासिक इमारतों की सुरक्षा एवं मरम्मत की ओर ध्यान दिया गया। इस कार्य की देखभाल के लिए डायरेक्टर-जनरल ऑफ आर्कोलॉजी की अध्यक्षता में पुरातत्व-विभाग की स्थापना की गयी। 50,000 पौण्ड की धनराशि इस कार्य के लिए स्वीकार की गयी और लॉर्ड कर्जन ने भारतीय नरेशों तथा प्रान्तीय सरकारों को इस कार्य की ओर ध्यान देने के लिए कहा।

शिक्षा-सम्बन्धी सुधार

लॉर्ड कर्जन ने शिक्षा में परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। उस अवसर पर राष्ट्रीय आन्दोलन की भावना तीव्र होती जा रही थी और कर्जन यह नहीं चाहता था कि कॉलेज और विश्वविद्यालय राजनीतिक आन्दोलनों के केन्द्र-स्थल बनें। 1901 ई. में उसने शिमला में एक सम्मेलन किया जिसमें शिक्षा-विभाग के बड़े-बड़े अधिकारी और विश्वविद्यालयों के सरकारी प्रतिनिधि बुलाये गये। इस सम्मेलन में केवल एक प्रतिनिधि गैर-सरकारी

सदस्य था और भारतीय सदस्य एक भी न था। इस सम्मेलन के पश्चात् एक विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की गयी। इसका सभापति टॉमस रैले था। प्रारम्भ में इसमें केवल एक भारतीय सदस्य सैयद हुसैन बिलग्रामी था परन्तु बाद में कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश गुरुदास बैनर्जी को भी इसमें सम्मिलित किया गया। इस कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर 1904 ई. में भारतीय विश्वविद्यालय कानून बनाया गया। गुरुदास बैनर्जी ने इस आयोग के सुझावों से अपना मतभेद प्रकट किया था और भारतीय उस कानून की धाराओं से असन्तुष्ट थे। परन्तु कर्जन का लक्ष्य भारतीय विश्वविद्यालयों में सरकार के अधिकार की स्थापना करना था। इस कारण उसने भारतीय जनमत की कोई परवाह नहीं की और उस कानून के द्वारा विश्वविद्यालयों की शासन-संस्थाओं का पुनर्गठन किया। सीनेट के सदस्यों की संख्या घटाकर कम से कम 50 और अधिक से अधिक 100 कर दी गयी। कुलपति (चान्सलर) द्वारा नियुक्त सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गयी तथा सीनेट में प्रान्तीय शिक्षा-संचालकों को भी स्थान दिया गया। निर्वाचित सदस्यों की संख्या कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में 20 तथा अन्य विश्वविद्यालयों के लिए केवल 15 कर दी गयी। उनकी अवधि भी जीवनपर्यन्त से घटाकर 5 वर्ष कर दी गयी। सरकार को सीनेट द्वारा निर्मित नियमों में संशोधन करने, परिवर्तन करने अथवा उन्हें रद्द करने का अधिकार दिया गया। सरकार स्वयं भी विश्वविद्यालयों के लिए नियम बना सकती थी। कॉलेजों के निरीक्षण की व्यवस्था की गयी और विश्वविद्यालयों के द्वारा उन पर सरकारी नियन्त्रण कठोर कर दिया गया। विश्वविद्यालयों को शिक्षा-स्तर में उन्नति करने तथा नवीन अनुसन्धान और अन्वेषण करने के लिए कहा गया।

इस कानून को बनाकर लॉर्ड कर्जन ने एक ओर शिक्षा की उन्नति का प्रयत्न किया परन्तु दूसरी ओर विश्वविद्यालयों को पूर्णतः सरकार पर आश्रित कर दिया। इस कारण इस कानून से भारत में तीव्र असन्तोष हुआ। इससे यह समझा गया कि सरकार शिक्षित भारतीयों के मस्तिष्क पर अंकुश लगाना चाहती है और कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों में स्वतन्त्र वातावरण को प्रोत्साहन नहीं देना चाहती जिस पर कि मस्तिष्क और बुद्धि का विकास, वास्तव में, निर्भर करता था। इस कानून से कर्जन भारतीय शिक्षित-वर्ग में बदनाम हुआ।

बंगाल का विभाजन, 1905 ई.

कर्जन का सबसे अधिक असन्तोष उत्पन्न करने वाला कार्य 1905 ई. का बंगाल का विभाजन था। इस विभाजन के द्वारा बंगाल प्रान्त को दो भागों में बाँटा गया—एक बंगाल, और दूसरा, पूर्वी बंगाल तथा असम। कर्जन का कहना था कि बंगाल का प्रान्त बहुत बड़ा था, अतः शासन की सुविधा की दृष्टि से यह विभाजन आवश्यक था। उस समय बंगाल प्रान्त में बिहार व उड़ीसा भी सम्मिलित थे। अब नवीन प्रान्त में असम और बंगाल के कुछ जिले जैसे ढाका, राजशाही और चटगाँव सम्मिलित कर दिये गये। बंगाल में पश्चिमी बंगाल; बिहार और उड़ीसा रहे।

बंगाल के इस विभाजन का भारत में तीव्र विरोध हुआ। इससे यह समझा गया कि सरकार बंगाल की राष्ट्रीय भावना और परम्पराओं की एकता को तोड़ना चाहती है और मुख्यतः बंगाल के हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालना चाहती है। बंगाल के शिक्षित-वर्ग ने इस विभाजन का विरोध किया। पहली बार स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल दिया गया और सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने भारतीय जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। इस आन्दोलन से राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिला और पहली बार राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप प्रदान करने का विचार उत्पन्न हुआ। स्वदेशी-आन्दोलन का सूत्रपात भी वहीं से हुआ और वह आन्दोलन भारत का पहला संगठित आन्दोलन सिद्ध हुआ।

परन्तु कर्जन ने अपने निश्चय में कोई परिवर्तन नहीं किया और इसी कारण वह भारतीयों की घृणा का पात्र बना। सम्भवतः, शासन के आधार पर बंगाल को दो भागों में बाँटना लाभदायक था परन्तु जिस प्रकार वह विभाजन किया गया था उससे स्पष्ट था कि भारतीयों की शंका निर्मूल न थी। लॉर्ड कर्जन ने कहा था कि उसका उद्देश्य भारत में एक ऐसे प्रान्त की स्थापना करना है जहाँ मुसलमानों का बहुमत हो। नवीन प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर ऐण्ड्रयू फ्रेजर ने भी कहा था : "मेरी दो पत्नियाँ हैं जिनमें से एक निस्सन्देह मुझे अधिक प्रिय है", और यह कहने में उसका इशारा हिन्दू और मुसलमानों की ओर ही था।

इस कारण बंगाल का विभाजन कर्जन को भारत में सबसे अधिक बदनाम करने वाला सिद्ध हुआ और जब 1911 ई. में यह विभाजन रद्द कर दिया गया तो भारतीयों ने अनुभव किया कि एक बहुत बड़े अन्याय को समाप्त किया गया है।

इस प्रकार कर्जन ने अपने समय में विभिन्न परिवर्तन और सुधार करने के प्रयत्न किये। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से अनेक शासन और भारतीयों की दृष्टि से लाभदायक थे, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि इनमें से अनेक को करने में भारतीयों के हित का ध्यान नहीं रखा गया था बल्कि अनेक अवसरों पर जैसे शिक्षा, स्थानीय स्वशासन, प्लेग से सुरक्षा और बंगाल-विभाजन आदि करते हुए भारतीयों की इच्छा के विरोध में कार्य किया गया था। इससे स्पष्ट है कि कर्जन का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी साम्राज्य को दृढ़ करना था, न कि भारतीयों का हित। वह भारतीयों की उभरती हुई राष्ट्रीय भावना को शंका की दृष्टि से देखता था और इसी कारण शासन-पद्धति को दृढ़ करने के पक्ष में था तथा प्रत्येक स्थान पर सरकार के अधिकार को स्थापित करना चाहता था। उसकी इस साम्राज्यवादी भावना के अतिरिक्त उसकी भाषा भी बहुत कटु थी। समय-समय पर भारतीयों के प्रति जो भावना और विचार उसने व्यक्त किये थे वे, निस्सन्देह, गलत ही नहीं बल्कि असम्मानपूर्ण भी थे। इसी कारण परिश्रमी और योग्य होते हुए भी लॉर्ड कर्जन भारत में सबसे अधिक बदनाम हुआ। उसकी ब्रिटिश भावना और कटु भाषा दो ऐसी दुर्बलताएँ थीं जो उसके प्रति भारतीयों के तीव्र असन्तोष का मुख्य कारण बनीं।

2. विदेश-नीति

कर्जन निश्चय ही साम्राज्यवादी था। उसके समय में पहली बार भारत की विदेश-नीति का निर्माण भारत के साम्राज्य के आधार पर किया गया। अनेक अवसरों पर उसने ब्रिटेन की सरकार को भारतीय सरकार के दृष्टिकोण से अपनी एशिया की नीति को निर्धारित करने के लिए बाध्य किया। कर्जन की विदेश-नीति का दृष्टिकोण भारत की निकटस्थ सीमाओं तक ही सीमित न था; वह मध्य-एशिया और सुदूर-पूर्व तक अपनी दृष्टि रखता था। उसका कहना था कि हम इन दूरस्थ प्रदेशों पर अधिकार तो नहीं कर सकते परन्तु यह अवश्य कर सकते हैं कि वहाँ हमारे मित्र-राज्य हों। इस कारण उसकी विदेश-नीति भारत के समीपवर्ती क्षेत्रों से ही सम्बन्धित न रही बल्कि उसने फारस और तिब्बत तक को भी अपनी नीति में सम्मिलित किया।

फारस की खाड़ी

फारस की खाड़ी में ब्रिटेन की रुचि 17वीं सदी से थी। वह वहाँ पर एक साम्राज्य की स्थापना नहीं चाहता था परन्तु वह यह भी नहीं चाहता था कि किसी अन्य यूरोपीय राज्य का प्रभाव उस क्षेत्र में बढ़े। 19वीं सदी में जर्मनी, रूस, टर्की और फ्रान्स ने उस ओर अपने कदम बढ़ाये जिससे ब्रिटेन को इस क्षेत्र में अपने प्रभाव को जमाये रखने की चिन्ता हुई। ब्रिटेन ने

इस दिशा में जो प्रयत्न किये कर्जन ने उन सभी में उसकी पूर्ण सहायता की और 1903 ई. में स्वयं वहाँ जाकर फारस की खाड़ी में भारत सरकार की रुचि को स्पष्ट किया।

सीस्तान का झगड़ा

1902 ई. में फारस और अफगानिस्तान में सीस्तान-प्रदेश को लेकर झगड़ा हो गया था। रूस इस मामले में हस्तक्षेप करके कुछ लाभ उठाने की तलाश में था। कर्जन ने अपने प्रतिनिधि मैकमहोन (MacMahon) को भेजकर इस झगड़े का निर्णय करा दिया।

तिब्बत

तिब्बत से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न वारेन हेस्टिंग्स के समय से आरम्भ किया गया परन्तु उससे कोई लाभ नहीं निकला था। 1890 ई. में चीन के साथ जो तिब्बत की सम्प्रभुता का दावा करता था, एक समझौता इस विषय में किया गया। परन्तु तिब्बत ने इस समझौते को मानने से इन्कार कर दिया था। इस प्रकार लॉर्ड कर्जन के आने के समय तक तिब्बत से कोई समझौता नहीं हुआ था। कर्जन ने जो पत्र तिब्बत के प्रधान दलाई लामा को लिखे उनको बिना खोले हुए वापस कर दिया गया। उसी अवसर पर रूस ने दलाई लामा से सम्बन्ध स्थापित कर लिये और रूस नें तिब्बत को कुछ शस्त्रों की सहायता भी दी। इससे कर्जन तिब्बत की ओर से आशंकित हो गया। उसी अवसर पर यह भी ज्ञात हुआ कि रूस तिब्बत की सम्प्रभुता के बारे में चीन से समझौता कर रहा है। रूस ने ब्रिटेन से इस बात का विरोध भी किया कि भारत सरकार तिब्बत में अपना कोई विशेष मिशन भेजे। 1904 ई. में गृह सरकार की सम्मति लेकर कर्जन ने कर्नल यंग हस्बैण्ड को एक गोरखा-सेना के साथ तिब्बत से बातचीत करने के लिए भेजा। तिब्बत ने उससे बातचीत करने से इन्कार कर दिया। यंग हस्बैण्ड अगस्त 1904 ई. में तिब्बत की राजधानी ल्हाशा पहुँच गया। दलाई लामा भाग गया और अंग्रेजों ने तिब्बत को एक सन्धि करने के लिए बाध्य किया जिसके अनुसार—

1. तिब्बत ने 75 लाख रुपया युद्ध-क्षति के रूप में देना स्वीकार किया। यह धन एक लाख रुपया प्रति वर्ष की किस्तों में देना था;

2. इस धन की प्राप्ति की सुरक्षा के लिए अंग्रेजों ने 75 वर्ष के लिए चुम्बी घाटी को अपने अधिकार में कर लिया;

3. तिब्बत ने अंग्रेजों को कुछ व्यापारिक सुविधाएँ प्रदान कीं; और

4. तिब्बत ने वायदा किया कि वह किसी भी विदेशी शक्ति को अपने यहाँ रेल, तार, सड़क आदि बनाने की सुविधा नहीं देगा।

बाद में गृह सरकार के हस्तक्षेप से युद्ध-क्षति की धनराशि घटाकर 25 लाख रुपये कर दी गयी और 1908 ई. में अंग्रेजों ने चुम्बी घाटी को छोड़ दिया, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कर्जन ने तिब्बत में दृढ़ता से कार्य किया, उससे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये और वहाँ रूसी प्रभाव को बढ़ने से रोका।

उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाओं पर जहाँ भारत की सीमाएँ अफगानिस्तान से मिलती थीं, शान्ति स्थापित रखने की समस्या सर्वदा विद्यमान रही थी। विभिन्न कबाइली जातियाँ सर्वदा अंग्रेजी शासन का विरोध ही नहीं अपितु पंजाब के मैदानों पर आक्रमण करके लूटमार भी करती थीं। वहाँ बन्दूकों का अवैध व्यापार भी चलता था। इस विषय में विभिन्न नीतियाँ अपनायी गयी थीं। इस विषय में सिन्ध की सीमा-नीति (Sindh School) और पंजाब की

सीमा-नीति (Punjab School) अलग-अलग थीं। सिन्ध में इन कबाइलियों के आक्रमण को रोकने के लिए चार्ल्स नेपियर ने सीमा पर क़िले बनवाये थे परन्तु बाद में जॉन जैकब ने किले तुड़वाकर सैनिकों द्वारा घूम-घूमकर सीमा की सुरक्षा की व्यवस्था की थी। इसमें उसे सफलता मिली। पंजाब की सीमा पर दूसरी नीति अपनायी गयी थी। प्रथम, अंग्रेजों द्वारा कबाइलियों की सीमा में घुसने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया; दूसरे, उन्हें चिकित्सा, व्यापार आदि की सुविधाएँ दी गयीं; तृतीय, उन्हें धन देकर सन्तुष्ट रखने की नीति अपनायी गयी; और चतुर्थ, अपराध करने पर उन्हें कठोर दण्ड देने की नीति अपनायी गयी। इसके अतिरिक्त, कबाइलियों से सम्बन्ध रखने के लिए राजनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति की गयी, सुरक्षा के लिए सीमा पर किले बनाये गये और गोरखों, पठानों तथा सिखों की एक विशेष पंजाब-पुलिस-सेना तैयार की गयी। इन उपायों से सीमा पर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। परन्तु तब भी सीमा की स्थिति कभी भी सन्तोषजनक नहीं रही।

कर्जन ने अपने समय में इस समस्या की ओर गम्भीरता से ध्यान दिया। उसने कबाइलियों की सीमा के निकट उन्हीं की एक सेना तैयार की, अपनी सीमा पर अपनी सेनाएँ एकत्र कीं और सेना के आवागमन के लिए अनेक सड़कें व रेलें बनवायीं। 1902 ई. में पेशावर में एक दरबार किया गया जिसमें सभी कबाइली सरदारों को बुलाकर समझाया गया कि अंग्रेज सरकार उनके प्रति शान्ति की नीति चाहती है परन्तु यदि उन्होंने इस नीति को स्वीकार न किया तो वह उनके विरुद्ध कठोर कदम उठायेगी। लॉर्ड कर्जन ने 'उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त' का एक नवीन प्रान्त बनाया और बन्दूकों के अवैध व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया। यद्यपि कर्जन की सीमा-नीति दोष-रहित न थी परन्तु फिर भी अपने समय में उसने उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त पर शान्ति स्थापित रखने में पर्याप्त सफलता पायी।

3. कर्जन का मूल्यांकन

गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सैनिक-सदस्य के अधिकारों के प्रश्न पर कर्जन का सेनापति किचनर से मतभेद हो गया जिसमें भारत-सचिव ने किचनर का पक्ष लिया। इससे असन्तुष्ट होकर अगस्त 1905 ई. में लॉर्ड कर्जन ने त्यागपत्र दे दिया। इंगलैण्ड द्वारा भेजे गये गवर्नर-जनरलों में कर्जन बहुत ही योग्य और परिश्रमी था, इसमें कोई सन्देह नहीं। वह अपने राष्ट्र का कट्टर भक्त और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का पोषक था। उसके विभिन्न सुधारों और उसकी विदेश-नीति से स्पष्ट है कि उसका एकमात्र लक्ष्य भारत के अंग्रेजी साम्राज्य की सुरक्षा और उसे दृढ़ करना था। परन्तु इसमें वह कहाँ तक सफल रहा, यह सन्देहजनक है। अपनी विदेश-नीति में वह सफल रहा परन्तु अपनी आन्तरिक नीति में वह असफल रहा। एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की दृष्टि से कर्जन की सबसे बड़ी असफलता यह थी कि विभिन्न उपयोगी सुधारों और परिवर्तनों को करते हुए भी वह भारतीयों को सन्तुष्ट करने में असफल ही नहीं रहा बल्कि उसने भारतीयों में तीव्र असन्तोष भी उत्पन्न किया जिससे भारत की राष्ट्रीय भावना बलवती हुई और भारत में अनेक क्रान्तिकारी संस्थाओं का निर्माण हुआ। कर्जन भारत के नागरिकों की भावनाओं को कभी नहीं समझ सका बल्कि भारतीयों के विषय में उसने अपने जो विचार प्रकट किये वह अपमानजनक थे। कर्जन और भारतीयों की भावनाओं में समझौता होना असम्भव था। कर्जन का एकमात्र उद्देश्य भारत में अंग्रेजी साम्राज्य को दृढ़ करना था जबकि भारतीय राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर दासत्व से मुक्त होने के सपने देखने लगे थे। इन दो विरोधी बातों में समझौता होने का प्रश्न न था। हाँ, व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव हो सकता था कि कर्जन अपने विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट न करता और परिस्थितियों

के अनुकूल भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए उनको स्वशासन की ओर ले जाने का प्रयत्न करता। परन्तु यह कार्य कर्जन के लिए असम्भव था। वह अखिल भारतीय काँग्रेस से चिढ़ता था, वह भारतीयों को हीन दृष्टि से देखता था और ब्रिटेन के अधिकार व सम्मान में उसका विश्वास था। इसी कारण वह योग्य और परिश्रमी होते हुए भी एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की दृष्टि से असफल और भारत में घृणा का पात्र बना।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लॉर्ड कर्जन के सुधारों का वर्णन कीजिए। उसके सुधारों में ऐसा क्या था जिससे भारतीय नागरिक असन्तुष्ट हुए ?
2. लॉर्ड कर्जन द्वारा बंगाल के विभाजन का क्या आधार था ? उसने राष्ट्रीय भावना की वृद्धि में क्या सहयोग दिया ?

26

अंग्रेजी-शासन का भारत की आर्थिक स्थिति पर प्रभाव

अंग्रेज भारत में व्यापारी बनकर आये और सर्वदा व्यापारी रहे। ब्रिटेन के आर्थिक हितों की पूर्ति करना उनका प्रमुख कर्तव्य रहा। उन्होंने भारत के सम्पूर्ण आर्थिक साधनों का प्रयोग ब्रिटेन के व्यापारी, उद्योगपति तथा धनाढ्य वर्ग के आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए किया। इस कारण अंग्रेजों के शासनकाल की एक मुख्य विशेषता भारत का आर्थिक शोषण तथा उसका एक गम्भीर परिणाम भारतीयों की अत्यधिक निर्धनता रहा। अंग्रेजों की नीति ने एक तरफ तो भारत के परम्परागत आर्थिक ढाँचे को नष्ट कर दिया और दूसरी तरफ आधुनिक साधनों के आधार पर नवीन आर्थिक ढाँचे को बनने का अवसर नहीं दिया। इस कारण भारतीय अर्थव्यवस्था न परम्परागत व्यवस्था का लाभ उठा सकी और न आधुनिक व्यवस्था का लाभ प्राप्त कर सकी। इसी का परिणाम भारतीय जन-साधारण की दयनीय आर्थिक स्थिति थी। भारतीय अर्थव्यवस्था का एक भी भाग ऐसा न था जिस पर ब्रिटिश शासन का कुप्रभाव न पड़ा हो।

कृषि

ब्रिटिश शासन का सबसे अधिक कुप्रभाव किसानों की आर्थिक स्थिति पर पड़ा। अंग्रेजों की लगान-व्यवस्था सर्वदा दोषपूर्ण रही। भारतीय कृषकों का शोषण उसी समय से आरम्भ हो गया जबकि अंग्रेज कम्पनी ने 1765 ई. में मुगल बादशाह के फर्मान द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी के अधिकारों को प्राप्त किया। कम्पनी ने भूमि को प्रति वर्ष लगान वसूल करने वाले उन ठेकेदारों को देना आरम्भ किया जो उसे अधिक से अधिक लगान देने को तैयार होते थे। ठेकेदार किसानों से अधिकाधिक लगान वसूल करते थे जिससे कम्पनी से निश्चित हुए लगान को देकर उनके पास अधिकतम धन बाकी रह जाय। क्योंकि वारेन हेस्टिंग्स के थोड़े समय को छोड़कर यह व्यवस्था वार्षिक ही रही, इस कारण वे ठेकेदार भूमि-उत्पादन की वृद्धि की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। इस कारण किसानों के पास कुछ बाकी नहीं बचता था। जब कार्नवालिस गवर्नर-जनरल बनकर भारत आया तो उसने स्वीकार किया कि इन सूबों की एक-तिहाई भूमि जंगल में परिवर्तित हो चुकी थी क्योंकि किसान खेती छोड़कर चले गये थे। **बंगाल के स्थायी बन्दोबस्त** (इसे बाद में उड़ीसा, मद्रास के उत्तरी जिलों और बनारस में भी लागू किया गया) द्वारा भी किसानों की स्थिति में सुधार सम्भव नहीं हुआ। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे अधिक लाभ जमींदारों को हुआ। किसानों को इससे इस कारण लाभ नहीं हुआ क्योंकि सरकार ने यह निश्चित नहीं किया कि जमींदार किसानों से कितना लगान लेंगे। किसानों से अधिकतम लगान लिया गया क्योंकि सरकार ने जमींदारों से उस समय अधिकतम लगान लेना निश्चित किया था। एक अन्य प्रकार से भी किसानों के भार में वृद्धि हुई। बहुत से पुराने जमींदार जो किसानों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में

थे और उनसे सहानुभूति भी रखते थे, सरकार की लगान की माँग की पूर्ति करने में असमर्थ रहे और उन्हें उनकी भूमि से वंचित कर दिया गया। उनका स्थान उन जमींदारों ने ले लिया जिन्होंने मुख्यतः शहर में रहते हुए व्यापार से धन कमाया था, जो शहरों में रहते थे, जिन्होंने भूमि को पुनः ठेकेदारों को दे दिया, अपनी व्यापारिक प्रवृत्ति के कारण अधिकतम लगान वसूल किया और जिनका न किसानों से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा और न उनसे कोई सहानुभूति। ऐसे जमींदार किसानों का अधिकतम शोषण करने वाले सिद्ध हुए। सरकार ने किसानों के शोषण को रोकने के लिए कोई कानून नहीं बनाया बल्कि जमींदारों के ही अधिकारों में वृद्धि की क्योंकि जमींदार के हित में उनका आर्थिक और राजनीतिक हित था। जमींदारों ने किसानों से अधिकतम लगान लिया, अन्य गैर-कानूनी कर भी लिये और उनसे उन्हें बिना मजदूरी दिये हुए शारीरिक श्रम (बेगार) भी लिया। इससे किसानों की स्थिति दिन-प्रतिदिन शोचनीय हुई। उनको अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी कठिन रहा। परन्तु सरकार उनके हितों की पूर्ति के प्रति सर्वदा उदासीन रही।

महलवारी और रैयतवारी भूमि-व्यवस्थाओं (महलवारी-व्यवस्था आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश, मध्य भारत और तत्कालीन सम्पूर्ण पंजाब में लागू की गयी थी, जबकि रैयतवारी-व्यवस्था को मद्रास और बम्बई प्रान्तों के कुछ क्षेत्रों में आरम्भ किया गया था। बाद में इन व्यवस्थाओं को देश के अन्य भागों में भी लागू किया गया) के अन्तर्गत भी किसानों की स्थिति किसी भी प्रकार जमींदारी-व्यवस्था से अच्छी न थी। महलवारी-व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार ने एक सम्पूर्ण गाँव अथवा ग्रामों के एक समूह (महल) को लगान वसूल करने का आधार बनाया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत लगान व्यक्तिगत रूप से किसान से नहीं अपितु ग्राम-सभा अथवा गाँवों के मुखियाओं के माध्यम से एक निश्चित समय के लिए तय और वसूल किया गया। रैयतवारी-व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से किसानों से ही लगान निश्चित किया और उन्हीं से वसूल किया। परन्तु इन दोनों ही व्यवस्थाओं के अन्तर्गत किसानों की स्थिति शोचनीय रही क्योंकि उन पर कर का भार अधिकतम रखा गया। प्रारम्भ में किसानों से उत्पादन का 1/3 से 1/2 भाग लगान के रूप में माँगा गया परन्तु धीरे-धीरे सरकार अपनी माँग में वृद्धि करती गयी जिससे किसानों पर अत्यधिक भार पड़ा। सरकार किसानों को एक निश्चित अवधि तक लगान देने के लिए बाध्य करती थी और यदि किसान ऐसा नहीं कर पाते थे तो उनकी जमीनों को बेच दिया जाता था। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत भी धनाढ्य व्यक्ति भूमि खरीद कर जमींदार बन बैठे। इसका दूसरा कुप्रभाव यह हुआ कि किसान स्थानीय बनियों के कर्जदार बने। एक निश्चित समय तक लगान न देने की स्थिति में बहुधा किसान स्थानीय बनिया, महाजन या साहूकार से कर्ज ले लेते थे। ये कर्ज देने वाले महाजन एक तरफ तो अत्यधिक ब्याज लेते थे और दूसरी तरफ किसानों की निरक्षरता का लाभ उठाकर उनको धोखा भी देते थे। इसका अन्तिम परिणाम यह होता था कि किसान की जमीन, मकान आदि सभी साहूकार के हाथों में चली जाती थी। सरकार के कानून साहूकारों के ही पक्ष में थे। प्राचीन परम्परा के अनुसार ग्राम-पंचायतें साहूकारों से किसानों के हितों की रक्षा कर लिया करती थीं परन्तु अंग्रेजी कानून-व्यवस्था में ग्राम-पंचायतों के इस अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया था। इस कारण अंग्रेजी न्याय और पुलिस-व्यंवस्था साहूकारों का ही समर्थन करती थी। जमींदारी-व्यवस्था के अन्तर्गत भी साहूकार इसी प्रकार किसानों का शोषण करते थे। इस कारण भारत की अधिकांश भूमि जमींदारों और साहूकारों के हाथों में चली गयी और अधिकांश किसान भूमिहीन मजदूर बनकर रह गये। तब भी किसानों की समस्या का हल न हुआ। दिन-प्रतिदिन उन पर कर्ज का भार

बढ़ता गया। 1911 ई. में भारतीय किसानों पर प्रायः तीन सौ करोड़ रुपये का कर्ज था। 1937 ई. में किसानों पर एक हजार आठ सौ करोड़ रुपये के कर्ज का अनुमान किया गया था।

किसानों की स्थिति एक अन्य बात से भी दुर्बल थी। फसल के तैयार होने पर वे उसे तुरन्त बेचने के लिए बाध्य होते थे क्योंकि उन्हें बनिये का कर्ज उतारना होता था या सरकार को लगान देना होता था। ऐसी स्थिति में वे अपनी वस्तु का उचित मूल्य प्राप्त नहीं कर पाते थे। स्थानीय साहूकार जो अधिकांशतः व्यापारी भी होता था, इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाता था।

भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो जाना किसानों की एक अन्य बड़ी समस्या थी। इस समस्या के उत्पन्न होने का एक कारण बढ़ती हुई जनसंख्या था। हिन्दू-उत्तराधिकार कानून ने भी इस समस्या को जन्म दिया क्योंकि उसके अनुसार पिता की सम्पत्ति उसके सभी पुत्रों में समान रूप से वितरित कर दी जाती थी। इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि अंग्रेजों की नीति ने भारत के लघु-उद्योगों को पूर्णतः नष्ट कर दिया जिसके कारण भारतीय दस्तकार, कारीगर आदि भी शहरों को छोड़कर जीवन-निर्वाह के लिए गाँवों में पहुँच गये और उनकी जीविका का साधन भी कृषि हो गया। इसके अतिरिक्त, एक अन्य कारण यह भी रहा कि भारतीय व्यापारी अंग्रेज व्यापारियों के मुकाबले में खड़े न हो सके क्योंकि वे उन सुविधाओं से वंचित थे जो अंग्रेज व्यापारियों को प्राप्त थीं। ऐसी स्थिति में उन्होंने भी अपनी पूँजी भूमि पर लगायी और जमींदारों की श्रेणी में आ गये जिससे किसानों को भूमि की समस्या को भुगतना पड़ा। इन सभी का कुप्रभाव यह हुआ कि एक तो अधिकांश भूमि जमींदारों, साहूकारों या व्यापारियों के हाथों में चली गयी जिसके कारण अधिकांश किसान भूमिहीन मजदूर बन गये और दूसरी हानि यह हुई कि जिन किसानों के पास अपनी भूमि रही भी वह इतनी कम रही जो आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं हो सकती थी। इससे जीवनयापन कठिन हो गया।

किसानों के शोषण का एक कारण किसान और सरकार के बीच कई बिचौलियों का हो जाना भी था। परिस्थितियाँ ऐसी बन गयी थीं कि एक जमींदार एक निश्चित धनराशि लेकर एक व्यक्ति को अपनी भूमि से लगान वसूल करने का अधिकार दे देता था। वह व्यक्ति इसी प्रकार किसी अन्य व्यक्ति को और फिर वह किसी अन्य को। बंगाल में ऐसे बिचौलियों की संख्या 50 तक पहुँच गयी थी। ये सभी बिचौलिये अपने लाभ को देखते और प्राप्त करते थे जिसका अन्तिम भार किसानों पर पड़ता था। सरकार ने किसानों को इस स्थिति से उबारने का कोई प्रयत्न नहीं किया और किसान इन बिचौलियों की धनलिप्सा का शिकार बने रहे।

इस प्रकार सरकार, जमींदार, साहूकार, स्थानीय बनिया, बिचौलिया आदि सभी किसानों का शोषण करते रहे। महामारी और अकाल उनकी स्थिति को अधिक दयनीय कर देते थे जिनमें व्यक्ति लाखों की संख्या में मारे जाते थे।

अंग्रेजों ने कृषि का वाणिज्यीकरण भी आरम्भ किया। जिन कच्ची वस्तुओं की ब्रिटेन के उद्योगों को आवश्यकता थी अथवा जिस वस्तु की विदेशों में माँग थी, उन वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने के प्रयत्न किये गये। उन वस्तुओं में कपास, नील, चाय, कॉफी, पटसन आदि प्रमुख रहे। परन्तु इन कृषि-वस्तुओं के वाणिज्यीकरण से भारतीयों को कोई लाभ नहीं था। इन सभी कृषि-फार्मों या बागानों में अंग्रेजों की पूँजी लगी हुई थी और वे ही उनके मालिक थे। उनका लाभ भी ब्रिटेन को ही जाता था जबकि इन फार्मों या बागानों में कार्य करने वाले भारतीय मजदूरों अथवा कृषकों की स्थिति सर्वदा दयनीय रही।

किसानों की दयनीय स्थिति के कारण भारतीय कृषि में कोई सुधार न हो सका। स्वयं किसानों के पास उत्पादन के साधनों में वृद्धि करने की शक्ति न थी और सरकार किसी भी प्रकार उनको संरक्षण प्रदान नहीं करती थी। सरकार ने न कृषि-शिक्षा की ओर यथेष्ट ध्यान दिया, न कृषि में आधुनिक प्रसाधनों के प्रयोग को आरम्भ किये जाने की व्यवस्था की, न सिंचाई के साधनों में वृद्धि की और न लगान-व्यवस्था में कोई परिवर्तन किया। इस कारण भारत कृषि-उत्पादन में बहुत पिछड़ गया। भारत अपनी जनसंख्या के अनुकूल उत्पादन न कर सका। इसी कारण स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत को वर्षों तक विदेशों से खाद्यान्न मँगाना पड़ा। किसानों और कृषि की इस दयनीय अवस्था का प्रमुख उत्तरदायित्व विदेशी अंग्रेजी सरकार पर था।

दस्तकारी, गृह-उद्योग, आदि

अंग्रेजों की शासन-नीति का दूसरा दुष्परिणाम भारतीय गृह-उद्योगों, लघु-उद्योगों, दस्तकारी आदि सभी का नष्ट हो जाना था जो भारत के विदेशी व्यापार और उसकी सम्पन्नता का प्रमुख कारण थे। यह क्रिया भी बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्रान्तों से आरम्भ हुई जहाँ से भारत में कम्पनी का शासन आरम्भ हुआ था। बंगाल अपने सूती और रेशमी कपड़े के लिए प्रसिद्ध था। कम्पनी के कर्मचारियों ने बंगाल में राजनीतिक सत्ता प्राप्त करते ही बंगाल के दस्तकारों का शोषण आरम्भ कर दिया। उन्होंने भारतीय दस्तकारों और जुलाहों को ऊँचे मूल्य पर कच्चा माल दिया, उनसे एक निश्चित समय में, निश्चित मात्रा में और निश्चित स्तर की बनी हुई वस्तुओं की माँग की तथा उसका मूल्य भी मनमाना दिया। इन नीतियों से कपड़ा बनाने का व्यवसाय कारीगरों के लिए लाभप्रद न रह गया। हजारों कारीगरों ने अपने इस पैतृक व्यवसाय को छोड़ दिया और बंगाल का वस्त्र-उद्योग नष्ट हो गया। भारत का यह आर्थिक शोषण बढ़ता ही गया। 1813 ई. के कम्पनी के आदेश-पत्र के द्वारा सभी अंग्रेज व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की आज्ञा प्रदान कर दी गयी जिससे शोषण करने वालों की संख्या में वृद्धि हुई। ब्रिटेन और अंग्रेज भारतीय सरकार ने अपनी-अपनी व्यापारिक नीतियों के द्वारा भारतीय व्यापार को नष्ट किया। ब्रिटेन ने भारत से आयात होने वाले माल पर अत्यधिक कर लगाये जिससे ब्रिटेन के उद्योगों को संरक्षण मिला; जबकि भारत सरकार ने भारत में आयात होने वाले माल पर कम से कम कर लिया जिससे वहाँ का बना हुआ माल भारत में भलीभाँति बिक सके। इस प्रकार दोनों ओर से भारतीय व्यापार पर दबाव पड़ा और वह नष्ट हुआ। विदेशी व्यापार के नष्ट होने से भारतीय उद्योग-धन्धे भी नष्ट हुए। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति के हो जाने से ब्रिटिश और भारतीय सरकार की नीति पर और अधिक प्रभाव पड़ा। ब्रिटेन को अपनी मशीनों से बढ़ते हुए उत्पादन के लिए भारत से कच्चे माल की अधिक मात्रा में आवश्यकता हुई और अपने बने हुए माल के लिए भारत में बाजार की आवश्यकता हुई। इस कारण 1833 ई. मे भारत सरकार ने स्वतन्त्र-व्यापार की नीति का अनुकरण किया और भारतीय आयात-निर्यात करों को समाप्त करना आरम्भ किया। इससे ब्रिटेन को सस्ता कच्चा माल मिला और भारत में उसकी बनी हुई वस्तुओं को सुविधापूर्ण बाजार। भारत में रेलवे की स्थापना से ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं को दूर-दूर गाँवों और कस्बों तक पहुँचाने में सुविधा हुई तथा देश के भीतरी भागों से अंग्रेजों को कच्चे माल को खरीदने की सुविधा प्राप्त हुई। इससे भारतीय व्यापार और उद्योग बहुत तीव्रता से नष्ट हुए। भारत की हाथ की बनी वस्तुओं का ब्रिटेन की मशीनों से बनी हुई वस्तुओं से मुकाबला करना स्वयं में ही दुष्कर था। ब्रिटेन और भारत सरकार की नीतियों ने इस मुकानले को असम्भव बना दिया। भारत के सभी उद्योग नष्ट हो गये, मुख्यतः भारतीय कपड़ा-उद्योग जं. संसार में सबसे अधिक विख्यात था, पूर्णतः नष्ट

हो गया। इससे भारत में निर्धनता आयी, भूमि पर दबाव पड़ा और किसानों की अतिरिक्त आय जो छोटे-छोटे उद्योगों, मुख्यतः सूत की कताई से हुआ करती थी, नष्ट हो गयी। इससे भारत का धन ब्रिटेन गया। वस्तुतः भारत ब्रिटेन के लिए कच्चे माल का उत्पादन करने वाला एक विशाल भू-खण्ड और ब्रिटेन के द्वारा बनाये गये माल की खपत के लिए एक विस्तृत बाजार बन गया। इस प्रकार भारत की निर्धनता का एक मुख्य कारण उसके उद्योगों का नष्ट हो जाना था और इसका उत्तरदायित्व भी विदेशी अंग्रेजी सरकार पर था।

बड़े उद्योग

भारत की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार सम्भव हो सकता था यदि सरकार ने यहाँ मशीनों से युक्त उद्योगों को आरम्भ करने में कुछ रुचि दिखायी होती। परन्तु भारत सरकार ने ऐसा नहीं किया। उसने तो 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में व्यक्तिगत प्रयत्नों से आरम्भ हुए भारतीय उद्योगों को भी संरक्षण नहीं दिया। बाद के समय में जब ब्रिटेन में बहुत पूँजी हो गयी और उस अतिरिक्त पूँजी को भारत में लगाया जाना लाभप्रद समझा गया तभी यहाँ कुछ उद्योगों को आरम्भ किया गया। इसी कारण भारत में उद्योगों का आरम्भ मुख्यतः ब्रिटिश पूँजीपतियों द्वारा किया गया। परन्तु इस क्षेत्र में भी भारत सरकार ने उन्हीं उद्योगों को संरक्षण दिया जो ब्रिटेन में आरम्भ नहीं किये जा सकते थे। भारतीय उद्योगपति इस क्षेत्र में, इसी कारण, देर से आये और उन्हें अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ा।

भारत में सर्वप्रथम 1850 ई. में उद्योगों का आरम्भ हुआ तथा कपड़ा, जूट और कोयला निकालने के उद्योग शुरू किये गये। उसके पश्चात् धीरे-धीरे लकड़ी, कागज, ऊन, चमड़ा, लोहा, चीनी, सीमेण्ट, काँच, आदि उद्योग आरम्भ हुए थे। ये सभी उद्योग अधिकांशतः ब्रिटिश पूँजीपतियों के हाथों में थे। भारतीयों का मुख्य भाग केवल कपड़ा और चीनी के उद्योगों में रहा। भारतीय उद्योगपतियों को सरकार कोई सुविधा प्रदान नहीं करती थी। इससे भारत में उद्योगों का विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ। भारत के उद्योगों के विकास में एक बड़ी बाधा आधारभूत उद्योगों की कमी भी रही, जैसे भारत ने इस्पात का उत्पादन 1913 ई. में आरम्भ किया। भारत धीमी औद्योगिक प्रगति के कारण अपनी आर्थिक स्थिति को ठीक करने में एक लम्बे समय तक समर्थ न हो सका। इसके अतिरिक्त, भारत के औद्योगिक विकास में एक और भी त्रुटि रही। भारतीय उद्योग कुछ विशेष क्षेत्रों में स्थापित हुए जिससे क्षेत्रीय आर्थिक असमानताओं में वृद्धि हुई और भारत को एक सूत्र में बाँधने में असुविधा हुई।

इस प्रकार, ब्रिटिश शासन में भारतीय कृषि नष्ट हुई, भारत के परम्परागत और श्रेष्ठ उद्योग नष्ट हुए, नवीन आधुनिक उद्योगों का विकास सम्भव न हुआ, भारत का व्यापार भारत के पक्ष में न रहा और भारत का धन विदेश गया। इससे भारतीय गरीबी की अन्तिम रेखा पर पहुँच गये। यह सभी कुछ सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप हुआ जिन्होंने भारत के हित को पूर्णतः भुलाकर ब्रिटेन के आर्थिक हितों की पूर्ति की। इसी कारण सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि अंग्रेजी शासन का सबसे बड़ा दोष ब्रिटेन द्वारा भारत का आर्थिक शोषण था।

भारतीय धन की निकासी (ब्रिटेन जाना)

ब्रिटेन के आर्थिक हितों को पूर्ण रक्षा प्रदान करने वाला व्यापार, उसके अनुकूल आयात-निर्यात व्यवस्था और कर-व्यवस्था, ब्रिटेन के उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भारत में कच्चे माल का उत्पादन और कृषि का व्यापारीकरण, रेल तथा यातायात के अन्य साधनों द्वारा ब्रिटेन की मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं को सम्पूर्ण भारत और उसके गाँवों तक

पहुँचाये जाने की व्यवस्था द्वारा व्यापार की प्रगति आदि ऐसे साधन थे जिनके माध्यम से भारत का धन ब्रिटेन जाता था। परन्तु इनके अतिरिक्त भी अन्य ऐसे साधन थे जिनके द्वारा भारत का धन बहुत बड़ी मात्रा में ब्रिटेन जाता था। इन सभी साधनों द्वारा भारत का धन जिस प्रकार ब्रिटेन जाता था, उस क्रिया को 'धन का निकास' (Drain of Wealth) पुकारा गया है।

अवकाश-प्राप्त ब्रिटिश सैनिक और असैनिक अधिकारी अधिकांशतः ब्रिटेन चले जाते थे। भारत सरकार उन्हें पेंशन प्रदान करती थी। सेवारत-कर्मचारी भी अपने परिवारों और सम्बन्धियों को यहाँ से धन भेजते थे। भारतीय नरेशों द्वारा अंग्रेज अधिकारियों को भेंट-स्वरूप प्रदान की गयी वस्तुएँ और धन भी अधिकांशतः ब्रिटेन जाता था। ब्रिटिश नागरिकों द्वारा भारत की कृषि, उद्योग, यातायात आदि में लगायी गयी पूँजी द्वारा प्राप्त हुआ लाभ भी ब्रिटेन जाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के विवरणों में अनेक ऐसे विवरण प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि कलकत्ता के बन्दरगाह से ही बहुत बड़ी मात्रा में हीरों, मोतियों और अन्य विभिन्न बहुमूल्य पत्थरों का निर्यात किया गया था। यह सभी धन ब्रिटिश नागरिकों ने भारत में रहते हुए प्राप्त किया था जिसे वे स्वदेश भेजते थे। 1758-65 ई. के मध्य के समय में ही ब्रिटिश नागरिकों ने प्रायः 60 लाख पौण्ड की धनराशि ब्रिटेन भेजी थी। इस धन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अर्जित लाभ सम्मिलित न था। यह धन ब्रिटिश नागरिकों द्वारा अपने व्यक्तिगत साधनों द्वारा अर्जित किया गया था। कम्पनी द्वारा अर्जित किया गया लाभ तो, निस्सन्देह, इस राशि से कई गुना अधिक होगा।

एक अन्य तरीके से भी भारत के धन का निकास हुआ। कम्पनी ने अपने राज्य-विस्तार के लिए जो धन व्यय किया वह इतना अधिक था कि समय-समय पर उसने ब्रिटेन की सरकार से कर्ज लिया। उस कर्ज को ब्याज-सहित कम्पनी ने ब्रिटेन की सरकार को लौटाया। वह धन भी भारत से ही एकत्रित किया गया। 1857 ई. में यह कर्ज 6 करोड़ 90 लाख था जो कम्पनी को ब्रिटेन की सरकार को देना था । दादाभाई नौरोजी के अनुसार, "भारत का धन भारत से बाहर जाता था और फिर वही धन भारत को कर्ज के रूप में दिया जाता था जिसके लिए उसे अतिरिक्त धन उस कर्ज और उस कर्ज की ब्याज के चुकारे के लिए जुटाना पड़ता था। यह एक ऐसा दुष्चक्र था जिसे तोड़ना कठिन था। "

इसके अतिरिक्त, भारत के धन का ब्रिटेन जाने का एक अन्य साधन 'व्यापार में लगी हुई पूँजी से प्राप्त लाभ' (Investment) का ब्रिटेन भेजना था। जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबों पर अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित की तब से उसने भारत में व्यापार हेतु खरीदी जाने वाली वस्तुओं के लिए ब्रिटेन से धन लाना बन्द कर दिया। प्लासी के युद्ध के पश्चात् ही कम्पनी ने बंगाल के नवाबों से भेंटस्वरूप धन प्राप्त करना शुरू कर दिया था। उसी धन से भारत में उन वस्तुओं को खरीदना आरम्भ किया गया जिन्हें कम्पनी निर्यात करके व्यापारिक लाभ अर्जित करती थी। बाद में अपने ऊपर निर्भर करने वाले सभी राजाओं और नवाबों से कम्पनी ने अपनी सैनिक और राजनीतिक सहायता के बदले में पर्याप्त धन प्राप्त किया और उसे व्यापार में लगाया। इस प्रकार कम्पनी ने भारत के धन को ही व्यापार में लगाया और उसे ब्रिटेन से धन लाने की आवश्यकता न रही। बक्सर के युद्ध के पश्चात् जब कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी (लगान वसूल करने का अधिकार) प्राप्त कर ली तब उसकी आय भारत में और भी अधिक हो गयी। इन सूबों से लगान के रूप में प्राप्त की गयी धनराशि को भी कम्पनी ने व्यापार में लगाया। बाद में जैसे-जैसे कम्पनी के राज्य का विस्तार होता गया अथवा उसके प्रभाव-क्षेत्र में वृद्धि होती गयी उसने अन्य भारतीय नरेशों और उनसे प्राप्त हुई भूमि से भी इसी प्रकार धन प्राप्त किया और उसे व्यापार में लगाया। इस

प्रकार, कम्पनी ने भारत से प्राप्त हुई पूँजी को ही अपने व्यापार में लगाया तथा उससे व्यापारिक लाभ प्राप्त किया और ऐसा करते हुए उसे ब्रिटेन की पूँजी को हाथ लगाने की आवश्यकता नहीं हुई। ऐसी लाभप्रद स्थिति, सम्भवतः, किसी भी व्यापारिक कम्पनी को प्राप्त नहीं हुई होगी। इससे प्रत्येक प्रकार से प्रचुर मात्रा में भारत का धन ब्रिटेन गया।

कम्पनी की भारत से प्राप्त धन को ही अपने व्यापार में लगाये जाने की नीति से भारत को एक अन्य प्रकार से भी आर्थिक हानि हुई। कम्पनी ने विभिन्न तरीकों से भारत में अपनी आय को अधिकाधिक बढ़ाने के प्रयत्न किये जिससे भारतीयों पर आर्थिक भार पड़ा। उस समय लगान कम्पनी की आय का एक प्रमुख साधन था। कम्पनी ने लगान की दर में निरन्तर वृद्धि की जिसका बोझा भारतीय किसानों पर पड़ा। कम्पनी की आय का एक अन्य प्रमुख साधन भारत में नमक के व्यापार पर उसका एकाधिकार था। कम्पनी ने नमक के मूल्य में निरन्तर वृद्धि की। 1883 ई. में ही बाजार में नमक का मूल्य उसके उत्पादन-मूल्य से 1,200 से 2,000 रुपये तक अधिक था। नमक एक अत्यन्त आवश्यक उपयोग्य वस्तु है। उसके मूल्य में इतनी अधिक वृद्धि भारतीय जन-साधारण के लिए, निस्सन्देह, अत्यधिक कष्टपूर्ण थी। 20वीं सदी में महात्मा गांधी ने इसी कारण अपने सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ नमक-कर को तोड़ने से ही किया था। इसी प्रकार, अंग्रेजों ने अन्य साधनों द्वारा भी अपनी आय में अधिकतम वृद्धि की, उससे प्राप्त धनराशि को भारत से क्रय की जाने वाली वस्तुओं पर व्यय किया और उन वस्तुओं को ब्रिटेन ले जाकर अपने उत्पादन का विकास किया या उन्हें विदेशों में बेचकर लाभ अर्जित किया। इससे भारत के आर्थिक साधनों से प्राप्त हुई धनराशि का उपयोग भारतीयों के लिए नहीं हुआ। उसका अधिकांश भाग ब्रिटेन पहुँच गया और ब्रिटेन के आर्थिक हितों की वृद्धि के लिए उसका उपयोग हुआ। दादाभाई नौरोजी के अनुसार 1894-95 ई. के मध्य भारत ने प्रति वर्ष 40 करोड़ रुपये का सामान ब्रिटेन भेजा जिसके बदले से उसे एक पैसे का भी लाभ नहीं हुआ।

इस प्रकार भारत का धन प्रचुर मात्रा में ब्रिटेन जाता रहा जिसका गम्भीर प्रभाव भारतीयों की आर्थिक स्थिति पर पड़ा। भारतीयों की असहनीय निर्धनता का एक बड़ा कारण भारतीय धन का निकास भी रहा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंग्रेजी शासन ने भारत की आर्थिक स्थिति को किस प्रकार प्रभावित किया ?
2. अंग्रेजी शासन द्वारा उत्पन्न भारतीय कृषक और कृषि-सम्बन्धी समस्याओं का वर्णन कीजिए।
3. अंग्रेजी शासन ने किस प्रकार भारत के उद्योग, गृह-उद्योग, लघु-उद्योग, दस्तकारी आदि को प्रभावित किया ?
4. भारतीय 'धन की निकासी' (Drain of Wealth) से आप क्या समझते हैं ? उसका क्या परिणाम हुआ ?

27

अंग्रेजी प्रशासन और आर्थिक नीतियाँ

1. लगान-व्यवस्था

भारत में अंग्रेजों का प्रमुख उद्देश्य सर्वदा आर्थिक लाभ प्राप्त करना रहा। भारत में उनके द्वारा स्थापित लगान-व्यवस्था भी इसी हित की पूर्ति का एक साधन थी। लगान प्राप्त करने के लिए जो विभिन्न व्यवस्थाएँ विभिन्न अवसरों पर विभिन्न स्थानों पर अंग्रेजों ने स्थापित कीं उनका मुख्य उद्देश्य कम्पनी की आय में अधिकतम वृद्धि करना था। उसी आय से कम्पनी के प्रशासन और युद्धों के व्यय की पूर्ति की जाती थी। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों ने अपनी नीतियों द्वारा भारत के हस्त-उद्योगों को भी नष्ट कर दिया जिससे कारीगर-वर्ग भी गाँवों में एकत्रित हो गया। इससे भूमि पर ज़नसंख्या का भार बढ़ा, भूमि का बँटवारा हुआ और किसानों की आय कम हुई। इस सभी का परिणाम भारतीय किसानों का निर्धन हो जाना था जो भारत की जनसंख्या का बहुसंख्यक वर्ग था।

अंग्रेजों की लगान-व्यवस्था का आरम्भ 1765 ई. में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा से हुआ जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने मुगल बादशाह से इन सूबों की दीवानी प्राप्त की। परन्तु उस समय में कम्पनी ने लगान-प्रशासन का उत्तरदायित्व प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथ में नहीं लिया; अपितु दो भारतीय उप-दीवानों की नियुक्ति करके अपने लिए अधिक से अधिक आय प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम **बंगाल का द्वैध-शासन** (1765-1772 ई.) था। द्वैध-शासन पूर्णतः असफल हुआ (द्वैध-शासन के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 7 देखिए)। 1772 ई. में जब वारेन हेस्टिंग्स कम्पनी का गवर्नर बनकर भारत आया तब डायरेक्टरों के आदेश पर उसने द्वैध-शासन को समाप्त करके लगान-व्यवस्था का दायित्व प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी के हाथों में ले लिया। वारेन हेस्टिंग्स ने **भूमि को पाँच वर्ष के लिए ठेकेदारों को देना आरम्भ किया** ; यद्यपि उनसे आश्वासन लिया कि वे किसानों को पट्टे (किसानों से लगान देने के बारे में समझौता) देंगे, प्रत्येक जिले में कलक्टरों की नियुक्ति की, समस्त जिले छह डिवीजनों में संगठित किये, प्रत्येक डिवीजन में एक लगान-बोर्ड की स्थापना की और लगान के हिसाब-किताब की जाँच के लिए एक राय-रायन नामक अधिकारी और एक आयलेखा-सचिव (ऑडीटर-जनरल) की नियुक्ति की। **1778 ई. में भूमि को पाँच वर्ष के स्थान पर प्रति वर्ष ठेके पर दिया जाना आरम्भ किया गया।** परन्तु वारेन हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित लगान-व्यवस्था भी किसानों के लिए हानिकारक थी। भूमि उन ठेकेदारों को दी जाती थी जो अधिकाधिक लगान देने का आश्वासन देकर भूमि को ठेके पर लेते थे। इस कारण वे किसानों से अधिकतम लगान वसूल करने का प्रयत्न करते थे जिससे किसानों की स्थिति खराब होती थी। यह सब होते हुए भी बहुत से ठेकेदार ठेके की राशि को कम्पनी को नहीं दे पाते थे और उनसे उनकी भूमि छीनकर उन व्यक्तियों को दे दी जाती थी जो कम्पनी को अधिक लगान देने का वायदा करते थे। इस प्रकार वारेन हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित लगान-

व्यवस्था भी सफल नहीं हुई। (वारेन हेस्टिंग्स की लगान-व्यवस्था के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 8 देखिए।) 1793 ई. में लॉर्ड कार्नवालिस ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा में लगान के लिए **स्थायी-बन्दोबस्त** किया जिसके द्वारा इस सूबे में जमींदारी-व्यवस्था को आरम्भ किया गया (स्थायी-बन्दोबस्त के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 9 देखिए)। स्थायी-बन्दोबस्त किसानों के हित के विरुद्ध तो सिद्ध हुआ ही, धीरे-धीरे यह भी स्पष्ट हो गया कि वह ब्रिटेन के बढ़ते हुए व्यापार के हित में भी न था। इस कारण, स्थायी-बन्दोबस्त की व्यवस्था दक्षिण-भारत में उत्तरी-सरकार के क्षेत्र में तथा उत्तर- भारत में केवल बनारस के जिले में ही लागू की गयी। बाद में भारत के अन्य भागों में 'महलवारी' अथवा 'रैयतवारी' व्यवस्था को लागू किया गया।

महलवारी-व्यवस्था—बंगाल का स्थायी-बन्दोबस्त बाद में कम्पनी के आर्थिक हितों की पूर्ति करने में असमर्थ हो गया। कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो जाने पर भी कम्पनी की आय इस व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं बढ़ सकती थी। ग्राम-समुदाय इसका विरोध करते थे क्योंकि किसानों के हित की पूर्ति भी इस व्यवस्था के अन्तर्गत सम्भव नहीं थी। यह भी विश्वास नहीं किया जा सकता था कि जमींदार सर्वदा अंग्रेजों के प्रति वफादार रहेंगे। परन्तु इस व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई यह थी कि यह ब्रिटेन के बढ़ते हुए व्यापार के हित में न था। 1813 ई. में भारत के व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया गया था और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति प्रगति पर थी जिसके कारण मशीनों से बने हुए ब्रिटेन के सामान के लिए एक विस्तृत बाजार की आवश्यकता थी। स्थायी-बन्दोबस्त द्वारा उत्पन्न किया गया अल्पसंख्यक जमींदार-वर्ग एक बड़े बाजार की सुविधा प्रदान करने में असमर्थ था। इस कारण आवश्यकता इस बात की थी कि धन का वितरण अधिकाधिक व्यक्तियों में हो। इसी कारण भविष्य की भूमि-व्यवस्था द्वारा छोटे जमींदारों, पट्टेदारों आदि के आर्थिक हितों की पूर्ति करने का प्रयत्न किया गया जिससे धन अधिकाधिक व्यक्तियों के हाथों में जाय जो ब्रिटेन की वस्तुओं को खरीदने में समर्थ हों।

उपर्युक्त विचारों का समर्थन होल्ट मेकेन्जी ने अपने प्रपत्र में किया जिसके आधार पर 1922 ई. में एक नवीन लगान-व्यवस्था 'महलवारी-व्यवस्था' को आरम्भ किया गया। यह व्यवस्था गंगा की घाटी, आधुनिक पश्चिमी उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत के कुछ भाग तथा तत्कालीन सम्पूर्ण पंजाब में लागू की गयी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार द्वारा लगान एक गाँव के स्थानीय जमींदार या पैतृक लगान-अधिकारियों से अथवा कुछ गाँवों के एक समूह (महल) के स्थानीय जमींदारों अथवा गाँवों के पैतृक लगान-अधिकारियों से एक निश्चित समय के लिए तय किया गया। उन जमींदारों अथवा लगान-अधिकारियों को भूमि का स्वामी स्वीकार नहीं किया गया। उनका अधिकार अपने क्षेत्र से केवल लगान वसूल करना था और उस अधिकार को सरकार कभी भी समाप्त कर सकती थी। इसके अतिरिक्त, सरकार निश्चित समय के पश्चात् लगान में परिवर्तन करने का भी अधिकार रखती थी।

इस महलवारी-व्यवस्था के अन्तर्गत भी किसानों के हित की सुरक्षा नहीं हुई। यह व्यवस्था जमींदारी-व्यवस्था का ही एक बदला हुआ स्वरूप थी और इससे केवल गाँवों के धनवान व्यक्तियों को ही लाभ था। सरकार की लगान की माँग भी बहुत थी। प्रारम्भ में यह माँग उत्पादन का दो-तिहाई भाग था। विलियम बेन्टिक ने इसे अधिक मानकर पैदावार का 65% कर दिया और बाद के समय में कुछ क्षेत्रों में इसे घटाकर उत्पादन का 50% कर दिया गया। परन्तु यह माँग भी बहुत अधिक थी और उसी के अनुकूल किसानों पर लगान का भार पड़ता था।

रैयतवारी-व्यवस्था—दक्षिण-भारत में बड़ी भूमियों के मालिक 'जमींदार' जैसा कोई वर्ग नहीं था जिससे अंग्रेज कम्पनी लगान के सम्बन्ध में कोई समझौता करती। अनेक अंग्रेज अधिकारियों का विचार था कि स्थायी-बन्दोबस्त से कम्पनी को आर्थिक हानि हो रही थी क्योंकि वह लगान में वृद्धि नहीं कर पा रही थी। कुछेक ने यह विचार भी प्रस्तुत किया था कि स्थायी-बन्दोबस्त के कारण जमींदार किसानों पर अत्याचार करते थे और कुछेक का कथन था कि किसानों से प्रत्यक्ष रूप से लगान निश्चित करना परम्परा के अनुकूल होगा, जैसा कि मुनरो ने कहा : "यह वह प्रथा है जो प्राचीन समय से चली आ रही है।" इस प्रकार रैयतवारी-व्यवस्था के समर्थन में विभिन्न विचार प्रस्तुत किये गये थे। परन्तु इस व्यवस्था को आरम्भ किये जाने का प्रमुख कारण कम्पनी के आर्थिक हितों की पूर्ति मात्र करना ही था। यह व्यवस्था मद्रास और बम्बई प्रेसीडेन्सियों के कुछ भागों में आरम्भ की गयी।

इस व्यवस्था के अन्तर्गत न तो किसानों के आर्थिक हितों की पूर्ति हुई और न ही उनके अधिकारों की रक्षा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि का स्वामी सरकार थी, न कि किसान। इस व्यवस्था में सरकार ने किसानों से प्रत्यक्ष रूप से लगान निश्चित किया, गाँव के पैतृक अधिकारियों को स्वीकृति प्रदान करके उनकी सहायता से ही लगान वसूल करने की व्यवस्था की। सरकार ने पैदावार का 50% लगान निश्चित किया। किसानों से एक निश्चित अवधि में लगान वसूल किया जाता था और यदि वह लगान नहीं दे पाता था तो सरकार उसकी भूमि को छीन सकती थी। सरकार को लगान में वृद्धि करने का भी अधिकार था। किसान को यह भी भरोसा नहीं था कि अधिक उत्पादन से अर्जित लाभ भी स्वयं प्राप्त कर पायेगा। किसान के लिए तो सरकार ही जमींदार थी जो स्थायी-बन्दोबस्त या महलवारी-बन्दोबस्त के अन्तर्गत जमींदार से अधिक शक्तिशाली थी।

इस प्रकार, भारत में अंग्रेजों द्वारा आरम्भ की गयी लगान-व्यवस्थाओं में से कोई भी लगान-व्यवस्था किसानों के हित में नहीं थी। सरकार की लगान की माँग निरन्तर बढ़ती गयी थी और लगान वसूल करने में लगे हुए मध्यस्थ अधिकारी या जमींदार किसानों का शोषण कर रहे थे। सरकारी कानून भी मध्यस्थ अधिकारियों और जमींदारों के पक्ष में थे। इस प्रकार यह निश्चित है कि अंग्रेजों की लगान-व्यवस्था सरकार और विशेष अधिकार-प्राप्त एक वर्ग के पक्ष में थी और उसमें किसानों के हित का कोई ध्यान नहीं रखा गया था जो कृषि-उत्पादन के लिए उत्तरदायी थे और इस दृष्टि से सही अर्थों में भूमि के मालिक थे।

2. न्याय और कानून-व्यवस्था

अंग्रेजों ने भारत में एक नवीन न्याय-व्यवस्था स्थापित की और छोटे एवं बड़े सभी प्रकार के दीवानी और फौजदारी न्यायालय स्थापित किये। वारेन हेस्टिंग्स ने विभिन्न न्यायालयों की स्थापना करके न्याय-व्यवस्था को आरम्भ किया (हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था के लिए अध्याय 8 देखिए)। कार्नवालिस ने हेस्टिंग्स द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था को और अधिक विस्तृत किया (कार्नवालिस द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था के लिए अध्याय 9 देखिए)। इसके अतिरिक्त, रेगूलेटिंग एक्ट के अनुसार एक उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) भी वारेन हेस्टिंग्स के समय में ही स्थापित की गयी थी जिसके कार्य-क्षेत्र और अधिकार-क्षेत्र को 1781 ई. के एक नियम द्वारा स्पष्ट किया गया। बाद में उसे केवल यूरोप-निवासियों के मुकदमों का निर्णय करने का अधिकार रहा। कार्नवालिस ने बंगाल के नवाब से फौजदारी मुकदमों का निर्णय करने का अधिकार छीन लिया। परन्तु इस क्षेत्र में कार्नवालिस के मुख्य कार्य विभिन्न प्रकार के कानूनों का

पृथक-पृथक संग्रह करना, कार्यकारिणी और न्यायपालिका को पृथक करना तथा सरकारी कर्मचारियों को उनके कार्यों के लिए न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी बनाना था। इस विषय में श्री एम.पी. जैन ने लिखा है : "कानून के शासन का सिद्धान्त और कानून के द्वारा शासन अर्थात् अन्य शब्दों में, कानून की संप्रभुता का सिद्धान्त, निस्सन्देह, इस देश में स्थापित किया गया।" वैलेजली ने 'सदर निजामत अदालत' के लिए तीन स्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति की। बाद में इन न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की गयी। विलियम बेन्टिक के काल में भी न्याय-प्रशासन में कुछ उपयोगी कार्य किया गया। उसके समय का मुख्य कार्य कानूनों का पृथक-पृथक पुनः संग्रह किया जाना था जो कार्य लॉर्ड कार्नवालिस के समय में आरम्भ किया गया था। उसके समय में उसकी कार्यकारिणी के विधि-सदस्य, लॉर्ड मैकॉले की अध्यक्षता में यह कार्य 1833 ई. में आरम्भ किया गया जिसके परिणामस्वरूप 'भारतीय पीनल कोड', 'सिविल कोड', 'फौजदारी नियम कोड' तथा अन्य कानूनों को भी विभिन्न कोड्स में संग्रह किया गया (विलियम बेन्टिक के न्याय-सुधार के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 15 देखिए)। 1859-61 ई. के मध्य फौजदारी तथा दीवानी कानून और उनको लागू किये जाने से सम्बन्धित विभिन्न अन्य कानून बनाये गये। 1861 ई. में 'हाई-कोर्ट' कानून बनाया गया जिसके द्वारा रेगूलेटिंग एक्ट के अनुसार स्थापित उच्चतम न्यायालय, 'सदर दीवानी अदालत' और 'सदर फौजदारी अदालत' समाप्त कर दिये गये और उनके स्थान पर बम्बई, कलकत्ता और मद्रास में उच्च न्यायालय (High Courts) स्थापित किये गये। 1866 ई. में एक उच्च न्यायालय आगरा में स्थापित किया गया जिसे 1875 ई. में इलाहाबाद ले जाया गया। तत्पश्चात् धीरे-धीरे लाहौर, पटना तथा अन्य सभी प्रान्तीय राजधानियों में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी। लॉर्ड कर्जन ने कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि की, सभी न्यायाधीशों के वेतनों में वृद्धि की तथा 'सिविल प्रोसीजर भारतीय कानून' में परिवर्तन किया। 1935 ई. के भारत-कानून के अनुसार दिल्ली में एक संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी, जो आज भारत का उच्चतम न्यायालय है।

इस प्रकार अंग्रेजों ने भारत में एक नवीन न्याय और कानूनी व्यवस्था स्थापित की। इस व्यवस्था के अन्तर्गत दीवानी और फौजदारी मुकदमों के लिए पृथक-पृथक न्यायालय स्थापित किये गये, नवीन कानूनी पद्धति आरम्भ की गयी, विभिन्न प्रकार के कानूनों का अलग-अलग संग्रह किया गया, कानून के सम्मुख समता और कानून के अनुसार शासन के सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया तथा न्यायपालिका को कार्यकारिणी से पृथक किया गया; यद्यपि विलियम बेन्टिक के समय में आर्थिक कठिनाइयों के कारण शासन के इन दो भागों को पुनः मिला दिया गया। यह सभी प्रयत्न सद्इच्छाओं का प्रतीक थे और इन्होंने साधारण व्यक्तियों की स्थानीय जमींदारों एवं निरंकुश शासकों के अन्याय तथा पण्डितों द्वारा परम्परागत शास्त्रों के नियमों तथा मौलवियों द्वारा शरीयत के कानूनों की व्याख्या किये गये अन्धविश्वासी कानूनों से रक्षा की। परन्तु तब भी अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। 1833 ई. में गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल को भारत के लिए कोई भी कानून बनाने का अधिकार दे दिया गया और इस प्रकार एक स्थानीय शासक की निरंकुशी शक्तियाँ एक विदेशी निरंकुश शक्ति के हाथों में चली गयीं। इस दृष्टि से कानूनों के स्रोत में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। परिवर्तन मात्र यह था कि निरंकुश शक्तियों को उपभोग करने वाला बदल गया। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी नौकरशाही और पुलिस भी निरंकुश शक्तियों का उपभोग करती थी और भारतीयों के अधिकारों एवं स्वतन्त्रता पर इच्छानुसार अंकुश लगाने की शक्ति रखती थी। अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था में भी भारतीयों और यूरोपियनों में वैसे ही भेद किया जाता था जैसे

भारतीय न्याय में हिन्दू और मुसलमानों में तथा ब्राह्मण और शूद्रों में अन्तर किया गया था। अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था महँगी भी थी। निर्धन व्यक्ति उस व्यवस्था से लाभ प्राप्त नहीं कर सकते थे। इस व्यवस्था में न्यायालय मुख्य शहरों में ही स्थापित किये थे जो जन-साधारण की पहुँच से दूर थे। न्याय करने में वर्षों लग जाते थे क्योंकि न्याय-व्यवस्था कुछ निश्चित नियमों के अनुसार चलती थी। ऐसी न्याय-व्यवस्था में जन-साधारण को न्याय प्राप्त होना प्रायः असम्भव होता था। इस कारण अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था के मूल उदेश्यों—कानून के सम्मुख समता और कानून द्वारा शासन—की पूर्ति किया जाना सम्भव नहीं हुआ।

3. पुलिस-व्यवस्था

सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स ने फौजदारों और थानेदारों की नियुक्ति करके पुलिस-व्यवस्था को आरम्भ करने का प्रयत्न किया। परन्तु वह सफल नहीं हुआ और 1781 ई. में उसने इस विचार को त्याग दिया। इस कारण उसके समय में पुलिस के कार्य की पूर्ति पहले की भाँति स्थानीय जमींदार ही करते रहे। परन्तु उसके उत्तराधिकारी गवर्नर-जनरल लॉर्ड कार्नवालिस ने जमींदारों को पुलिस के अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों से मुक्त कर दिया और एक पृथक पुलिस-विभाग की स्थापना की। उसने विभिन्न स्थानों पर दारोगाओं के नेतृत्व में थानों की स्थापना की और उनकी सहायता के लिए प्रत्येक थाने में 15-20 सिपाहियों की भी नियुक्ति की। दारोगाओं की नियुक्ति जिलाधीशों के द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गयी और दारोगाओं को उन्हीं के नियन्त्रण में रखा गया। लेकिन कार्नवालिस के ये प्रयत्न शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखने में असफल हुए। इसका मुख्य कारण यह रहा कि दारोगा अधिकांशतः भ्रष्टाचारी सिद्ध हुए और पुलिसकर्मियों की संख्या बहुत कम रही। 1807 ई. में पुलिस के कार्य पुनः स्थानीय जमींदारों को दे दिये गये। परन्तु यह प्रबन्ध भी सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हुआ। 1814 ई. में मद्रास और बम्बई में पुलिस-व्यवस्था को स्थापित किया गया तथा गाँव के स्थानीय पैतृक अधिकारियों से भी इस कार्य में सहयोग लिया गया। पुलिस-व्यवस्था को सर्वप्रथम 1843 ई. में सिन्ध में स्थापित करके सर चार्ल्स नैपियर ने सफल बनाया। उसने मजिस्ट्रेटों और पुलिस सुपरिन्टेण्डेण्ट के कार्यों को अलग-अलग किया, पुलिसकर्मियों की संख्या में वृद्धि की और उनमें अनुशासन स्थापित किया। बाद में अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार की पुलिस-व्यवस्था को स्थापित किया गया। पुलिस-व्यवस्शा में महत्वपूर्ण सुधार लॉर्ड कर्जन के समय में किये गये। उसके समय में सिपाहियों और पुलिस-अधिकारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की गयी, उनकी तनख्वाहों में वृद्धि की गयी, गुप्तचर-व्यवस्था (C. I. D.) की पहली बार स्थापना की गयी तथा अन्य सुधार भी किये गये (कर्जन के सुधारों के विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 25 देखिए)।

भारतीय पुलिस ने एक सीमित उत्तरदायित्व की ही पूर्ति की। जन-साधारण के जीवन और सम्मान की सुरक्षा करने में पुलिस की भूमिका प्रायः नगण्य रही। उसका मुख्य कार्य ब्रिटिश शासन की सेवा करना रहा और इस प्रकार स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व उसका मुख्य कार्य स्वतन्त्रता-आन्दोलन को दबाना ही रहा।

4. असैनिक सेवाएँ (नौकरशाही)

जिस समय से कम्पनी ने भारत में राजनीतिक अधिकार प्राप्त किये उसी समय से उसके उन कर्मचारियों ने जो व्यापार करने के लिए नियुक्त किये गये थे, प्रशासकीय कार्य करने भी शुरू किये। परन्तु वे कर्मचारी भ्रष्ट सिद्ध हुए। उन्होंने प्रशासन की ओर कोई ध्यान नहीं दिया अपितु उन्होंने भारतीय कारीगरों, व्यापारियों, जमींदारों आदि सभी वर्गों का

शोषण किया, भारतीय नवाबों और राजाओं से उपहार एवं रिश्वतें लीं तथा अपना ध्यान व्यक्तिगत व्यापार में लगाया। क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स दोनों ने असैनिक सेवाओं के भ्रष्टाचार को समाप्त करने के प्रयत्न किये परन्तु असफल रहे।

कार्नवालिस प्रथम गवर्नर-जनरल था जिसने अलग से प्रशासनिक कर्मचारी नियुक्त किये और इस प्रकार असैनिक सेवाओं का आरम्भ किया। उसने कम्पनी के कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को भी समाप्त करने के प्रयत्न किये और इसके लिए व्यक्तिगत व्यापार को रोकने हेतु बनाये गये नियमों को कठोरता से लागू किया, असैनिक अधिकारियों के वेतनों में वृद्धि की, उन्हें रिश्वत और उपहार लेने से रोका तथा वरीयता के आधार पर उनकी पदोन्नति करना आरम्भ किया। कार्नवालिस भारतीयों पर विश्वास नहीं करता था, इस कारण जहाँ तक सम्भव हुआ उसने अंग्रेजों को ही असैनिक सेवाओं में स्थान प्रदान किया। उसने अपनी व्यक्तिगत ईमानदारी के कारण और ईमानदार व्यक्तियों की नियुक्ति करके असैनिक सेवाओं के बढ़ते हुए भ्रष्टाचार को रोकने में कुछ सफलता प्राप्त की। लॉर्ड वैलेजली को भारत आने पर ही समझ में आया कि असैनिक अधिकारियों को प्रशासन के लिए विस्तृत क्षेत्र और अधिकार दिये गये थे, वे अधिकांशतः बहुत छोटी आयु (प्रायः 18 वर्ष) में भारत आये थे और बिना किसी प्रशिक्षण के आये थे, अतएव जिस कार्य के लिए वे नियुक्त किये जाते थे उसके लिए वे अपरिपक्व थे। इस कारण वैलेजली ने उनके प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम में एक कॉलेज खोला। परन्तु डायरेक्टरों ने उसके इस कार्य को अस्वीकृत कर दिया तथा 1806 ई. में भारत भेजे जाने वाले प्रशासकीय अधिकारियों की शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए इंगलैण्ड में हेलेबरी में एक 'ईस्ट इण्डिया कॉलेज' खोला जहाँ नवयुवक प्रशासकीय अधिकारियों को दो वर्ष का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की गयी। वैलेजली द्वारा स्थापित फोर्ट विलियम कॉलेज 1854 ई. तक अंग्रेजों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा देने के लिए चलता रहा। 1853 ई. तक सभी प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति कम्पनी के डायरेक्टर किया करते थे। इस कारण वे पक्षपातपूर्ण तरीके से उनके द्वारा मनोनीत किये जाते थे। 1853 ई. के कम्पनी के चार्टर एक्ट द्वारा डायरेक्टरों से यह अधिकार छीन लिया गया और निश्चित किया गया कि सभी प्रशासकीय अधिकारी एक प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से भर्ती किये जायेंगे। 1858 ई. में भारत की सत्ता कम्पनी के हाथों से लेकर ब्रिटिश क्राउन को दे दी गयी और सभी प्रशासकीय अधिकारी क्राउन के अधीन हो गये। उस समय यह निश्चित किया गया कि भारतीय प्रशासकीय अधिकारी प्रतियोगिता-परीक्षा के आधार पर ब्रिटिश असैनिक अधिकारी कमिश्नरों की सिफारिश के बाद भारत-सचिव के द्वारा नियुक्त किये जायेंगे।

कम्पनी के शासन-काल में भारतीयों को प्रशासकीय सेवाओं से वंचित रखने का प्रयत्न किया गया था। विलियम बेन्टिक के समय में आर्थिक संकट के कारण कुछ पदों पर भारतीयों को नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गयी थी। उसके समय में भारतीयों को प्रदान किया गया उच्चतम पद 'सदर अमीन' का था जिसे 700 रु. प्रति माह तनख्वाह मिलती थी। इस प्रकार योग्यता के आधार पर भारतीयों को भी प्रशासकीय सेवा में उच्च स्थान प्रदान किया जाना शुरू हो गया। कम्पनी के 1833 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि धर्म, जाति, रंग अथवा जन्म के आधार पर किसी भी व्यक्ति को कम्पनी की सेवा में प्रवेश करने से नहीं रोका जायेगा। परन्तु व्यवहार में इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया और ऐसी बाधाएँ डाली गयीं जिससे भारतीय उच्च सेवाओं में स्थान प्राप्त न कर सकें। जब प्रतियोगिता-परीक्षा प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति के लिए आरम्भ की गयी तब वह

परीक्षा इंगलैण्ड में (लन्दन) ली गयी थी जिससे साधारण भारतीय वहाँ जा ही नहीं सकता था। 1859 ई. में परीक्षार्थी की आयु 23 वर्ष निश्चित की गयी, तत्पश्चात् 21 वर्ष निश्चित की गयी और 1878 ई. में लॉर्ड लिटन के समय में यह आयु 19 वर्ष कर दी गयी। इस प्रकार आयु की योग्यता भी भारतीयों को इन सेवाओं में स्थान प्राप्त करने में एक बाधा थी। लॉर्ड लिटन ने भारतीयों को उच्च प्रशासकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त करने से रोकने के लिए 'स्टेट्यूटरी असैनिक सेवा' आरम्भ की, यद्यपि वह आठ वर्ष के पश्चात् समाप्त कर दी गयी [इसके विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 24 (लॉर्ड लिटन) देखिए]। रवीन्द्रनाथ टैगोर के भाई सत्येन्द्रनाथ टैगोर पहले भारतीय थे जिन्होंने 1863 ई. में लन्दन में हुई प्रतियोगिता-परीक्षा में उत्तीर्ण होकर असैनिक प्रशासकीय सेवा में स्थान प्राप्त किया था। उस अवसर पर अनेक अंग्रेजों ने इस घटना पर खेद प्रकट किया। उसके पश्चात् भी कतिपय भारतीय इस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर प्रशासकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त करने में सफल हुए परन्तु इनकी संख्या सर्वदा नगण्य रही।

भारतीय असैनिक प्रशासकीय सेवा (नौकरशाही) की विशेषता केवल यही नहीं थी कि उसमें भारतीयों की संख्या नगण्य रही अपितु उसकी एक मुख्य विशेषता यह भी थी कि वह संसार में सर्वाधिक वेतन-प्राप्त सेवाओं में से एक थी जिसका बोझ भारतीयों के कन्धों पर था। इसके अतिरिक्त, इस सेवा को बहुत ही योग्य और विश्वसनीय माना गया था जिसके कारण यह अंग्रेजी साम्राज्यवाद को भारत में दृढ़ बनाये रखने में प्रमुख भाग लेती रही। परन्तु साथ ही साथ यह भी माना गया है कि भारतीयों की उन्नति किसी भी मात्रा में इसका लक्ष्य नहीं रहा था। इस कारण भारतीय नेताओं ने सर्वदा इसकी आलोचना की। भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम में इस नौकरशाही की भूमिका इस आन्दोलन का दमन करने की रही। भारतीयों के प्रति अत्याचार किये जाने की भूमिका में भारतीय पुलिस और भारतीय प्रशासकीय सेवा अथवा नौकरशाही का सर्वप्रमुख हाथ रहा। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भी प्रशासन के ये दोनों भाग साधारण भारतीय जनता पर अत्याचार करने में पहले की अपेक्षा अधिक सक्षम हैं।

5. सेना

अंग्रेजी भारतीय सेना का निर्माण 1748 ई. में आरम्भ हुआ। उस समय मेजर स्ट्रिंजर लॉरेंस ने मद्रास में भारतीय सैनिकों की एक छोटी टुकड़ी का निर्माण किया। इसी कारण मेजर स्ट्रिंजर लॉरेंस को अंग्रेजी भारतीय सेना का जनक पुकारा गया है। धीरे-धीरे जैसे-जैसे अंग्रेज कम्पनी ने अपने राज्य की स्थापना एवं विस्तार किया और उसके लिए युद्ध किये वैसे-वैसे अंग्रेजी भारतीय सेना का विस्तार होता गया। इस सेना में तीन प्रकार के सैनिक थे—एक भारतीय सैनिक, दूसरे अंग्रेज सैनिक और तीसरे बादशाह के सैनिक। पहले दो प्रकार के सैनिक अंग्रेज कम्पनी के द्वारा भर्ती किये गये थे और तीसरे प्रकार के सैनिक ब्रिटिश क्राउन की तरफ से भर्ती किये गये थे। शुरू में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास की अंग्रेज सरकारों की सेनाएँ पृथक-पृथक थीं और प्रत्येक का कमाण्डर-इन-चीफ एक-दूसरे से पृथक और स्वतन्त्र होता था परन्तु बाद में बंगाल की सेना केन्द्रीय सरकार की सेना मानी गयी और उसका कमाण्डर-इन-चीफ भारत की अंग्रेजी सेना का प्रधान हो गया। इन प्रेसीडेन्सियों के अतिरिक्त बाद में विभिन्न स्थानीय सेनाएँ भी संगठित की गयीं, जैसे पंजाब और अवध की सेनाएँ। धीरे-धीरे इस अंग्रेजी भारतीय सेना में भारतीय सैनिकों की संख्या बहुत अधिक हो गयी जिसके कारण डलहौजी को सेना में अंग्रेजों और भारतीयों में सन्तुलन बनाये रखने के लिए भारतीय सैनिकों की संख्या में कमी करने और अंग्रेज सैनिकों की संख्या में वृद्धि करने की आवश्यकता अनुभव हुई।

अंग्रेजों ने प्रारम्भ से ही भारतीय और अंग्रेजी सैनिकों में भेद किया। उनकी तनख्वाहों, भत्तों आदि में बहुत अन्तर था। भारतीय सैनिकों को अंग्रेज सैनिकों की तुलना में बहुत कम वेतन, भत्ते और अन्य सुविधाएँ मिलती थीं। इस सेना में सभी अफसर अंग्रेज होते थे। एक भारतीय को इस सेना में ऊँचे से ऊँचा प्राप्त होने वाला पद सूबेदार का था। 1856 ई. तक इस सेना में केवल तीन अधिकारी ऐसे थे जिन्हें 300 रु. प्रति माह वेतन प्राप्त होता था। 1857 ई. में विद्रोह का आरम्भ भारतीय सैनिकों द्वारा किया गया। बाद में भी विद्रोह में मुख्य भाग उन्हीं का रहा।

विद्रोह की असफलता के उपरान्त सेना में अंग्रेज सैनिकों और पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि की गयी। बंगाल की सेना में भारतीयों और अंग्रेज सैनिकों का अनुपात 2 : 1 का रखा गया अर्थात् प्रत्येक दो भारतीय सैनिकों के अनुपात में एक अंग्रेज सैनिक अवश्य रखा गया। बम्बई और मद्रास की सेनाओं में यह अनुपात 5 : 2 का रखा गया।श्रेष्ठ शस्त्र जैसे तोपखाना और 20वीं सदी में टैंक अंग्रेज सैनिकों के लिए सुरक्षित रखे गये। पहले की भाँति भारतीयों को उच्च पदों से वंचित रखा गया। परन्तु विद्रोह के पश्चात् भारतीय सेना के संगठन की मुख्य विशेषता भारतीय सैनिकों को 'आपस में विभाजित करके सन्तुलन बनाये रखने की नीति' का पालन रही। इसके लिए सैनिकों की भर्ती जाति, क्षेत्र और धर्म के भेदों के आधार पर की गयी और बाद में भी इन भेदों को प्रोत्साहन दिया गया जिससे अवसर आने पर इन मतभेदों का लाभ अपने पक्ष में प्राप्त किया जा सके। इस कारण एक रेजीमेण्ट में विभिन्न जातियों के व्यक्ति भर्ती किये गये जिससे वे कभी भी जाति के आधार पर संगठित न हो सकें। परन्तु क्षेत्रवाद के बढ़ावे के लिए क्षेत्रीय आधार पर सेना का संगठन किया गया; यथा—कुमायूँ रेजीमेण्ट, गोरखा रेजीमेण्ट आदि। इसके अतिरिक्त, एक झूठा और भ्रामक विचार भारतीयों पर आरोपित करने का प्रयत्न किया गया। यह प्रचार किया गया कि भारतीय दो समूहों में बँटे हुए हैं—एक लड़ाकू जातियाँ और दूसरे जिनमें युद्ध करने की क्षमता नहीं है। बिहार, अवध तथा अन्य उन स्थानों के व्यक्तियों को जिन्होंने 1857 ई. के विद्रोह में भाग लिया था, गैर-लड़ाकू घोषित किया गया और सेना में उनकी संख्या कम कर दी गयी तथा सिख, गोरखा और पठानों को जिन्होंने 1857 ई. के विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की सहायता की थी, लड़ाकू जातियाँ घोषित किया गया और उन्हें बहुत बड़ी संखया में सेना में भर्ती किया गया। सैनिकों को जन-साधारण के विचारों और भावनाओं से पृथक रखा गया जिससे सैनिकों और जन-साधारण में कोई तालमेल न हो सके। यहं सब कुछ इसलिए किया गया था ताकि भविष्य में भारतीय अंग्रेजी शासन का विरोध न कर सकें और यदि करें भी तो सैनिक उनका साथ न दें। लॉर्ड कर्जन के समय में 'किचनर-परीक्षा' को सैनिक-प्रशिक्षण में शामिल करके सेना की युद्ध-क्षमता को बढ़ाया गया।

भारतीय सेना एक श्रेष्ठ सेना सिद्ध हुई। उसकी क्षमता प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों में सिद्ध हुई और भारतीय सैनिकों को विश्व के श्रेष्ठ सैनिकों में गिना जाने लगा। भारतीय सेना ने अपने अंग्रेज मालिकों की सेवा वफादारी से अपने देश में की और विदेशों में भी उनके हित की पूर्ति के लिए संघर्ष किया। भारत में उसने स्वतन्त्रता-आन्दोलन को दबाने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की और विदेशों में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की सुरक्षा की। वस्तुतः देखा जाय तो अंग्रेजों द्वारा भारत की विजय भारतीय सैनिकों द्वारा ही सम्भव हुई थी और अंग्रेजी राज्य की भारत में सुरक्षा भी भारतीय सैनिकों द्वारा की गयी थी। भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होने में अंग्रेजों द्वारा भारतीय सेना की वफादारी को खो देना भी एक प्रमुख कारण था। आजाद हिन्द फौज का अंग्रेजों से संघर्ष और 1946 ई. में भारतीय नौ-सेना के विद्रोह ने अंग्रेजों को सबक

दिया था कि अब वे भारतीय सेना की वफादारी पर निर्भर नहीं कर सकते थे जो भारत में उनके शासन की सुरक्षा का मुख्य आधार थी। भारतीय सैनिकों के अपने विदेशी मालिकों के प्रति इतना अधिक वफादार बने रहने के विभिन्न कारण थे। प्रथम, भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का अभाव था। यह देश हमारा है जो विदेशियों का गुलाम है, यह विचार भारतीय सैनिकों में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक भी पूर्णतः नहीं आ पाया था। द्वितीय, भारतीय सैनिकों की सांस्कृतिक परम्परा यह रही थी कि जो उनको वेतन देता है उसके प्रति वफादार रहना उनका कर्तव्य है। भारतीय सैनिकों का आदर्श इस कारण 'नमकहराम' होने का नहीं अपितु 'नमक-हलाल' होने का रहा। भारतीय सैनिकों की इस सरल प्रकृति का अंग्रेजों ने भरपूर लाभ उठाया।

6. आर्थिक नीतियाँ, मुख्यतः विदेशी व्यापार और उससे सम्बन्धित कर-व्यवस्था

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक लाभ प्राप्त करना था। अपने व्यापारिक हितों की पूर्ति करके उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयत्न किया। प्रारम्भ में कम्पनी के व्यापारिक हित भारतीयों के अहित में भी नहीं थे अपितु, इसके विपरीत, भारत के हित में थे। कम्पनी भारत से मुख्यतः सूती कपड़ा और गर्म मसाला खरीदती थी और उन्हें ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपियन देशों में ले जाकर बेचती थी तथा उसके बदले में भारत में सामान खरीदने के लिए सोना अथवा अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ लाती थी जिसके कारण भारत की सम्पदा में वृद्धि होती थी। इसके अतिरिक्त, उसने भारत की वस्तुओं के लिए यूरोप में विस्तृत बाजार बनाया जिससे भारतीय वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि हुई। इस प्रकार शुरूआत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार कम्पनी के लिए ही लाभदायक नहीं था अपितु भारत के लिए भी लाभप्रद था।

परन्तु कम्पनी के इस व्यापार से ब्रिटेन की हानि थी। ब्रिटेन में भारतीय सूती कपड़ा बहुत लोकप्रिय हो गया और उसकी माँग इतनी बढ़ गयी कि ब्रिटेन ने उसके आयात पर अंकुश लगाने के लिए आयात-कर में वृद्धि करने की आवश्यकता अनुभव की। 1720 ई. में एक कानून भी बनाया गया जिसके द्वारा ब्रिटेन में भारत के छपे हुए कपड़े के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। ब्रिटेन की भाँति अन्य विभिन्न यूरोपियन देशों को भी भारतीय सूती और रेशमी कपड़े के आयात को रोकने हेतु विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा। परन्तु इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी 18वीं सदी के मध्य तक भारतीय कपड़े की माँग यूरोप के बाजार में रही।

परन्तु धीरे-धीरे इस स्थिति में परिवर्तन हुआ और ब्रिटेन द्वारा भारत का आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ। इसके लिए मुख्यतः दो कारण उत्तरदायी थे—पहला अंग्रेजों द्वारा भारत की राजनीतिक सत्ता पर अधिकार और दूसरा ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति का होना। जैसे-जैसे अंग्रेजों की राजनीतिक शक्ति भारत में बढ़ती गयी तथा ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति प्रगति करती गयी, भारत का आर्थिक शोषण बढ़ता गया जिसके परिणामस्वरूप अन्त में भारत ब्रिटेन के उद्योगों के लिए कच्चे माल का उत्पादन करने वाला एक विस्तृत कृषि-फार्म और ब्रिटेन के उद्योगों द्वारा मशीन से बने हुए सामान को खरीदने वाला एक विस्तृत बाजार बनकर रह गया।

1757 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्लासी के युद्ध को जीता जिसके फलस्वरूप बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा में उसका राजनीतिक प्रभाव स्थापित हो गया। उस समय

से अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण आरम्भ हुआ। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के साथ-साथ यह शोषण भी विस्तृत होता गया। कम्पनी प्रारम्भ में बिना कोई व्यापारिक कर दिये अपने राजनीतिक प्रभाव-क्षेत्र में व्यापार करती रही, नमक, सुपारी और तम्बाकू के व्यापार पर उसने एकाधिपत्य रखा, धीरे-धीरे अपने इस व्यापारिक एकाधिपत्य को अन्य वस्तुओं पर बढ़ाती गयी और ऐसा करते हुए उसने सफलता से अपने भारतीय और विदेशी व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वियों को समाप्त करने में सफलता प्राप्त की। कम्पनी ने कच्चे सूत और रेशम के बेचने के व्यापार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित किया, भारतीय जुलाहों को अपनी इच्छानुसार कपड़ा बनाने के लिए बाध्य किया और उन्हें कम से कम कीमत दी जिससे वह अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर सकी। कम्पनी के कर्मचारियों ने अपने व्यक्तिगत व्यापार को लाभप्रद बनाने के लिए भी यही कार्य किये। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कारीगर पूर्णतः निर्धन हो गये, भारतीय व्यापारी नष्ट हो गये और बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के सूबा की आर्थिक सम्पन्नता नष्ट हो गयी। 1858 ई. में सर जॉर्ज कॉर्नवैल ने ब्रिटिश संसद के सम्मुख कहा था : "मैं यह विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि 1765-1784 ई. के मध्य की ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सरकार जैसी भ्रष्ट, लालची और स्वार्थी सरकार संसार में अन्यत्र कहीं नहीं पायी जा सकती।"

18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हो जाने से उसकी अर्थव्यवस्था गम्भीरता से प्रभावित हुई और इस कारण ब्रिटेन से भारत के आर्थिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन हुए। 1757 ई. में प्लासी के युद्ध की विजय के समय से ही ब्रिटेन में मशीनों का युग आरम्भ हुआ। ब्रिटेन यूरोप के राज्यों में सर्वाधिक शक्तिशाली औपेनिवेशिक शक्ति था। उसके उपनिवेश उसे उसकी वस्तुओं को विस्तृत बाजार प्रदान करते थे और पारस्परिक व्यापार द्वारा भी ब्रिटेन के लिए अत्यधिक लाभदायक थे। इस व्यापारिक लाभ द्वारा ब्रिटेन में पूँजी का संचय सम्भव हुआ था। ब्रिटेन ने उस पूँजी का प्रयोग वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के लिए किया जिसका परिणाम 18वीं सदी में हुई औद्योगिक क्रान्ति था। ब्रिटेन में मशीनों का युग आरम्भ हुआ जिनका प्रयोग उत्पादन के लिए किया गया जिससे विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई। ब्रिटेन के प्रगति करते हुए उद्योगों में प्रमुख स्थान कपड़ा-उद्योग का था तथा उसका उत्पादन एवं निर्यात ब्रिटेन के विदेशी व्यापार और आर्थिक लाभ का मुख्य साधन बन गया। इससे ब्रिटेन में पूँजीपति-वर्ग की उत्पत्ति हुई जिसने ब्रिटेन की सरकार की नीतियों को गम्भीरता से प्रभावित करना शुरू किया। इन परिवर्तनों ने भारत और उसके जन-जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया। भारत का मुख्य उद्योग कपड़ा-उत्पादन था जो हाथों द्वारा संचालित साधारण उपकरणों से तैयार किया जाता था। भारत में बनाया गया यह कपड़ा ब्रिटेन द्वारा मशीनों से बनाये गये कपड़े का मुकाबला न तो भारतीय बाजारों में कर सका और न विदेशी बाजार में। इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन की सरकार और भारत की अंग्रेजी सरकार की नीतियों का मुख्य उद्देश्य भारत से ब्रिटेन को उसके विभिन्न उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराना और ब्रिटेन के बने हुए सामान को भारत में बेचने की सभी सुविधाएँ पहुँचाना मात्र रह गया। ब्रिटेन के उद्योगपतियों ने अपने लाभ के लिए ब्रिटेन की सरकार पर दबाव डालना शुरू किया और ब्रिटेन की सरकार ने भारत की अंग्रेजी सरकार को उन नीतियों को अपनाने के लिए बाध्य किया जो ब्रिटेन के हित में थीं। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने कम्पनी की भारत सरकार को उदार आयात-नीति अपनाने के लिए बाध्य किया जिससे ब्रिटेन की वस्तुओं का आयात भारत में बहुत अधिक बढ़ गया। आर.सी. दत्त ने अपनी पुस्तक *'भारत का आर्थिक इतिहास'* में लिखा है : "1812 ई. में

ब्रिटिश संसद द्वारा नियुक्त की गयी विशेष समिति का उद्देश्य यह पता लगाना था कि ब्रिटिश उद्योगपति भारतीय उद्योगपतियों को और ब्रिटिश उद्योग भारतीय उद्योगों को किस प्रकार हटा सकते हैं।" इस प्रकार यह निश्चित था कि ब्रिटिश सरकार प्रत्येक प्रकार से ब्रिटेन के आर्थिक हितों की पूर्ति करने के लिए प्रयत्नशील थी। 1813 ई. में भारत के व्यापार पर से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया गया। इसका उद्देश्य ब्रिटेन के सभी उद्योगपतियों और उनकी वस्तुओं के लिए भारत के बाजार को खोलना था। इससे भारत का विदेशी व्यापार कम हुआ। 1814-1835 ई. के मध्य ब्रिटेन के सूती कपड़े का निर्यात भारत में प्रायः 1 मिलियन गज से बढ़कर 51 मिलियन गज हो गया जबकि ब्रिटेन को भारत के सूती कपड़े के निर्यात की मात्रा में अत्यधिक कमी हुई और यह कमी समय के साथ-साथ बढ़ती गयी। 1833 ई. में ब्रिटेन के आर्थिक हितों की रक्षा के लिए कम्पनी की भारत सरकार ने 'स्वतन्त्र-व्यापार' की नीति अपनायी जिसके अन्तर्गत ब्रिटेन की वस्तुओं से या तो आयात-कर पूर्णतः समाप्त कर दिया गया अथवा कम कर दिया गया। इससे ब्रिटेन के उद्योगपतियों को भारत में खुला बाजार प्राप्त हो गया और ब्रिटेन का निर्यात भारत में बहुत अधिक बढ़ गया। इसके विपरीत, भारत की वस्तुओं को ब्रिटेन में आयात किये जाने से रोकने के लिए ब्रिटेन की सरकार ने 'संरक्षण की नीति' अपनायी जिसके अन्तर्गत भारत की वस्तुओं पर लगाये गये आयात-कर में वृद्धि की गयी। उदाहरणार्थ, 1824 ई. में भारतीय कैलीको-कपड़े पर $67\frac{1}{2}\%$ और भारतीय मलमल पर $37\frac{1}{2}\%$ आयात-कर था। इस कारण यह कथन भी सर्वदा उचित है कि केवल मशीनों के कारण नहीं अपितु भारत की राजनीतिक सत्ता के अंग्रेजों के हाथों में चले जाने से भारत की वस्तुओं का ब्रिटेन में निर्यात कम हुआ और ब्रिटेन की वस्तुओं का भारत में आयात बढ़ा।

उपर्युक्त परिस्थितियों में भारत के उद्योग और विदेशी व्यापार नष्ट हुए। धीरे-धीरे भारत की वस्तुओं का निर्यात ब्रिटेन में समाप्त हो गया जबकि ब्रिटेन की वस्तुओं से भारत केबाजार पट गये। इससे भारत के लघु-उद्योग नष्ट हुए और कृषि पर भार बढ़ गया, क्योंकि उद्योगों के नष्ट हो जाने से कारीगरों ने भी कृषि को अपना व्यवसाय बनाया। इसके अतिरिक्त, भारत को ब्रिटेन के उद्योगों के लिए कच्चा माल भी उपलब्ध कराना पड़ा। भारत ने ब्रिटेन को सूती और रेशमी कपड़ा भेजने के स्थान पर रुई और कच्चा रेशम भेजना शुरू किया। यह भारत की एक आवश्यकता बन गया क्योंकि ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं के बदले में भारत के पास कच्चा माल भेजने के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं रह गया था। 1813 ई. में भारत ब्रिटेन को 9 मिलियन पौण्ड की रुई भेजता था, 1833 ई. में भारत ने 32 मिलियन पौण्ड की, 1844 ई. में 88 मिलियन पौण्ड की तथा इसी सदी के उत्तरार्द्ध में 963 मिलियन पौण्ड की रुई भेजी। यही स्थिति अन्य कच्ची वस्तुओं के निर्यात की रही। 1849 ई. में भारत का ब्रिटेन को जूट का निर्यात 68,000 पौण्ड की कीमत का था जबकि 1914 ई. में यह निर्यात 8.6 मिलियन पौण्ड का हो गया। ब्रिटेन के कच्चे माल की आवश्यकता की पूर्ति करने हेतु भारत की कम्पनी की सरकार ने कपास, कच्चे रेशम, नील, चाय आदि की कृषि पर बल दिया। भारत सरकार ने भारतीयों में ब्रिटेन की बनी हुई वस्तुओं का प्रयोग करने की रुचि उत्पन्न करने के लिए भी विभिन्न प्रयत्न किये ताकि ब्रिटेन के भारत से होने वाले व्यापार में वृद्धि हो। इन सभी परिस्थितियों ने ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण को सम्भव बनाया और भारतीयों को निर्धन बनाने में सहायता दी। रामगोपाल ने लिखा है : "ब्रिटेन और यूरोप के उत्पादकों ने प्राचीन भारतीय ग्राम-अर्थव्यवस्था को नष्ट कर दिया जिससे शहरों और गाँवों के अधिकांश निवासी बेरोजगार हो गये और उन्हें कृषि करने के लिए बाध्य होना पड़ा

जिसका अन्ततः परिणाम भूमि का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना और ऐसी बेरोजगारी का फैल जाना था जो भारत में ब्रिटिश शासन से पहले कभी नहीं देखी गयी थी।"

1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् जब भारत की राजसत्ता ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से छीनकर ब्रिटिश क्राउन को दे दी गयी, तब से ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण में वृद्धि हो गयी, क्योंकि अब भारत का आर्थिक शोषण एक व्यापारिक कम्पनी के आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए नहीं अपितु सम्पूर्ण ब्रिटेन के हितों की पूर्ति के लिए किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त, जब तक भारत में कम्पनी का शासन था तब तक उसकी आलोचना किया जाना और उसमें परिवर्तन किया जाना सम्भव था और कई अवसरों पर ऐसा हुआ भी, परन्तु ब्रिटिश क्राउन के द्वारा भारत की सत्ता का उपभोग आरम्भ किये जाने के पश्चात् ऐसा किया जाना प्रायः असम्भव हो गया। उसी समय तक अर्थात् 19वीं सदी के मध्य तक ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति भी अपनी पूर्णता तक पहुँच गयी थी। इस कारण आगे आने वाले समय में धीरे-धीरे भारत को ब्रिटेन के उद्योगों को कच्चा माल देने के लिए एक बड़ा कृषि-फार्म और ब्रिटेन के बने हुए सामान को खरीदने वाला एक विस्तृत बाजार बना दिया गया। भारत में ब्रिटेन की अतिरिक्त पूँजी को भी लाभप्रद उद्योगों या व्यवसायों में लगाने का सुअवसर भी तभी से अंग्रेज पूँजीपतियों को प्राप्त हुआ। ब्रिटिश पूँजीपतियों ने इस कारण रेलवे और स्टीमर जैसे उद्योगों तथा चाय और कॉफी जैसे कृषि-कार्यों में बहुत धन लगाया। इस प्रकार ब्रिटिश क्राउन द्वारा भारत की सत्ता को अपने हाथों में लेने के पश्चात् भी भारत को आर्थिक लाभ प्राप्त करने का साधन-मात्र मानना अंग्रेजों का प्रमुख लक्ष्य रहा। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु ब्रिटिश पूँजीपतियों की सुरक्षा, आयात-निर्यात कर, व्यापारिक नीतियाँ आदि भारत की अंग्रेजी सरकार और ब्रिटेन की सरकार के द्वारा समय-समय पर निश्चित की गयीं। भारत में अंग्रेजों को न केवल उद्योगपतियों अथवा व्यापारियों के रूप में ही लाभ प्राप्त हुआ अपितु एक बहुत बड़ी संख्या में वे सैनिक और असैनिक सेवाओं में भी स्थान प्राप्त कर सके। ऐसी स्थिति में सभी लाभ ब्रिटेन प्राप्त कर रहा था जबकि भारत को वह किसी प्रकार का लाभ नहीं दे रहा था। इससे भारत की स्थिति अत्यधिक निर्धनता की बनती चली गयी। हॉब्सन ने अपनी पुस्तक *'साम्राज्यवाद: एक अध्ययन'* में लिखा है : "हमने भारत में सम्पन्नता की स्थिति लाने में सफलता प्राप्त नहीं की है। हम भुखमरी और अकालों से भारत के जन-साधारण की सुरक्षा करने में असमर्थ रहे हैं। औद्योगीकरण ने भी भारत की भौतिक उन्नति में कोई भाग नहीं लिया है अपितु इसके विपरीत हमने वहाँ के बर्तन बनाने, कपड़ा बनाने सदृश उद्योगों और स्थापत्य-कला जैसे कला-कौशल को जिनके कारण भारत आदिकाल से विख्यात रहा है, नष्ट कर दिया है।" इस प्रकार 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गम्भीर दोष भारत में स्पष्ट हो गये। अंग्रेजों ने भारत के सम्पूर्ण राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे को ब्रिटेन के बढ़ते हुए औद्योगिक पूँजीवाद के विकास में लगाया। इसके अतिरिक्त, भारत के आर्थिक साधनों और जन-शक्ति का प्रयोग ब्रिटेन ने संसार में अपने साम्राज्य के विकास और उसकी सुरक्षा हेतु किया। वस्तुतः ब्रिटेन विश्व की सर्वाधिक शक्तिशाली औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी शक्ति भारत के आर्थिक साधनों और जनशक्ति के प्रयोग के कारण ही बन सका था। परन्तु भारत में उसकी नीतियों का परिणाम भारतीयों का अत्यधिक निर्धन हो जाना ही रहा था।

7. शासन-प्रबन्ध : केन्द्रीय और प्रान्तीय

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन-काल के प्रारम्भ में ब्रिटेन में भारत के शासन के लिए कम्पनी के डायरेक्टरों की सभा थी और भारत में बम्बई, मद्रास और कलकत्ता के गवर्नर थे। 1773 ई. में ब्रिटिश संसद ने रेगूलेटिंग एक्ट बनाया जिसके द्वारा बंगाल के गवर्नर को

गवर्नर-जनरल का पद देकर मद्रास और बम्बई के गवर्नर उसके अधीन कर दिये गये तथा उसकी सहायता के लिए चार सदस्यों की एक कौंसिल की स्थापना की गयी। 1784 ई. में ब्रिटिश संसद ने पिट्स इण्डिया एक्ट बनाया जिसके द्वारा गवर्नर-जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या चार से तीन कर दी गयी तथा ब्रिटेन में एक बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल की स्थापना की गयी जो भारत में कम्पनी के शासन पर नियन्त्रण रखता था और जिसके सदस्य ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों में से दो भारत-सचिव तथा अर्थ-मन्त्री भी थे। 1793 ई. के कम्पनी के चार्टर एक्ट द्वारा भारत के शासन में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। 1813 ई. के कम्पनी के चार्टर एक्ट द्वारा कम्पनी को भारत में शिक्षा-प्रसार के लिए एक लाख रुपया प्रति वर्ष खर्च करने के आदेश दिये गये। 1833 ई. के कम्पनी के चार्टर एक्ट द्वारा प्रान्तों से कानून बनाने का अधिकार छीन लिया गया, गवर्नर-जनरल की कौंसिल में एक चौथा सदस्य कानूनी-सदस्य के रूप में बढ़ा दिया गया तथा आगरा के जिलों और पश्चिमी अवध की सीमाओं को मिलाकर एक नवीन प्रान्त 'उत्तर-पश्चिमी प्रान्त' बनाया गया। 1853 ई. के कम्पनी के चार्टर एक्ट द्वारा बंगाल के लिए एक पृथक उप-गवर्नर की नियुक्ति की गयी, सार्वजनिक सेवाओं में स्थान प्राप्त करने के लिए लन्दन में प्रतियोगिता-परीक्षा आरम्भ की गयी और गवर्नर-जनरल की कौंसिल में छह अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति की गयी जो उसे कानून बनाने में सहायता प्रदान करने के लिए थे। 1858 ई. के भारत-सरकार कानून द्वारा भारत का प्रशासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से लेकर ब्रिटिश क्राउन को दे दिया गया जिससे भविष्य में भारत के शासन का उत्तरदायित्व ब्रिटेन की सरकार के हाथों में चला गया।

1858 ई. में कम्पनी का बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स समाप्त हो गया और उसका स्थान, भारत के शासन के लिए, ब्रिटेन में भारत-सचिव और भारत-परिषद ने ले लिया । शासन का यह भाग भारत के लिए 'गृह सरकार' कहलाया। 1935 ई. के भारत-सरकार कानून के द्वारा भारत-परिषद के स्थान पर कुछ कौंसिलरों की नियुक्ति की गयी। ब्रिटेन में, भारत के शासन के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक यही व्यवस्था रही यद्यपि भारत-परिषद के सदस्यों की संख्या में समय-समय पर घटा-बढ़ी अवश्य की गयी।

भारत में केन्द्र पर गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल (परिषद) और प्रान्तों में गवर्नर और उनकी परिषदें कानूनी और वस्तुतः शासन के प्रधान रहे। परन्तु 1857 ई. के विद्रोह ने भारत सरकार का ध्यान इस ओर दिलाया कि शासन में भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता है। 19वीं सदी के अन्तिम समय में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ हो जाने और धीरे-धीरे उसके शक्तिशाली हो जाने के कारण भारतीयों का शासन में सहयोग लेना भारत सरकार के लिए आवश्यक हो गया। इस कारण ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर केन्द्र और प्रान्तों में व्यवस्थापिका-सभाओं को आरम्भ करने, उनके सदस्यों की संख्या और योग्यता में परिवर्तन करने तथा उनकी शक्तियों में वृद्धि करने के लिए विभिन्न कानून (एक्ट) बनाये। 1861 ई. में केन्द्र एवं प्रान्तों में गवर्नर-जनरल और गवर्नरों द्वारा कानून बनाने के लिए कुछ व्यक्तियों को मनोनीत करके भारत में व्यवस्थापिका-सभाओं का आरम्भ किया गया। यह 'सहयोग की नीति' अथवा 'उदार निरंकुशता' की नीति का प्रारम्भ था। 1892 ई. के 'इण्डिया कौंसिल एक्ट' द्वारा केन्द्र और प्रान्तों की व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों की संख्या में कुछ वृद्धि की गयी, सदस्यों की योग्यता में कुछ कमी की गयी जिससे मतदाताओं की संख्या में कुछ वृद्धि हुई और उनकी शक्तियाँ भी कुछ बढ़ा दी गयीं। 1909 ई. के एक्ट द्वारा 'उदार निरंकुशता' की नीति को पूर्णता प्रदान की गयी, व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों में पुनः वृद्धि की गयी, सदस्यों के लिए योग्यता में कमी की गयी और उनकी शक्तियों में कुछ वृद्धि की गयी। परन्तु इस कानून के द्वारा ही 'विभाजित करो और शासन करो' की नीति के परिपालन हेतु 'पृथक

निर्वाचन प्रणाली' को भारत में आरम्भ किया गया। 1919 ई. के भारत-सरकार कानून की मुख्य विशेषता प्रान्तों में द्वैध-शासन की स्थापना था जिसके द्वारा केन्द्र और प्रान्तों के अधिकारों को अलग-अलग किया गया और उसके पश्चात् प्रान्तीय विषयों को दो भागों—सुरक्षित और हस्तान्तरित—में बाँटकर हस्तान्तरित विषयों को शासन के लिए भारतीय मन्त्रियों के हाथों में दे दिया गया। 1935 ई. के भारत-सरकार कानून द्वारा 'द्वैध-शासन' केन्द्र पर स्थापित किया गया और प्रान्तों में 'प्रान्तीय स्वशासन' की स्थापना करके सभी प्रान्तीय विषय शासन के लिए भारतीय मन्त्रियों के हाथों में दे दिये गये; यद्यपि गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को 'विशेष अधिकार' तथा 'अपने विवेक से कार्य करने की स्वतन्त्रता' देकर उनके अधिकारों में वृद्धि की गयी। इस प्रकार, 1947 ई. के 'भारतीय स्वतन्त्रता कानून' से पहले अंग्रेजों ने भारत में कुछ मात्रा में भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की थी। परन्तु यह अंग्रेजों की मेहरबानी का परिणाम न होकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति का परिणाम था।

(विस्तृत अध्ययन के लिए अध्याय 30 देखिए।)

8. प्रशासकीय नीतियाँ

कम्पनी के शासन के अन्तर्गत भारत में सभी प्रशासकीय नीतियों का मुख्य आधार भारत में अंग्रेजी राज्य का अधिकतम विस्तार, अंग्रेजी शासन को भारत में सुदृढ़ करना और प्रत्येक प्रकार से भारत को कम्पनी और ब्रिटेन के आर्थिक हितों की पूर्ति का साधन बनाना था। 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् राज्य-विस्तार की नीति को त्याग देने के अलावा अंग्रेजों की प्रशासकीय नीतियों के आधार और मूल उद्देश्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ अपितु थोड़ी बहुत उदारता जो कम्पनी के शासन के अन्तर्गत कभी-कभी अपनायी गयी थी, वह भी विद्रोह के पश्चात् समाप्त कर दी गयी और प्रत्येक प्रकार से भारत को स्थायी रूप से अपने शासन के अन्तर्गत रखना ही अंग्रेजी प्रशासकीय नीतियों का आधार बन गया। विद्रोह के पश्चात् शक्ति के आधार पर स्थायी रूप से भारत में अपना शासन स्थापित रखना, भारतीयों को सभी तरीकों से आपस में विभाजित रखना, विभिन्न वर्गों को एक-दूसरे के विरोध में रखते हुए शक्ति-सन्तुलन बनाये रखना, शिक्षित भारतीयों की अवहेलना और ऊँची नौकरियों से उनको वंचित रखना, भारतीय राजाओं, ताल्लुकेदारों एवं जमींदारों आदि जैसे वर्गों को सुरक्षा प्रदान करना जो भारत में अंग्रेजी शासन को दृढ़ बनाये रखने में सहायक थे, सामाजिक सुधार की नीति का परित्याग, अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा, प्रतिक्रियावादी विचारों एवं व्यक्ति-समूहों को समर्थन प्रदान करना, अपनी नस्ल की श्रेष्ठता में विश्वास प्रकट करना, प्रेस की स्वतन्त्रता पर बाधा डालना आदि भारत में 1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों की प्रशासकीय नीतियों के मुख्य आधार रहे।

अंग्रेजों ने 'विभाजित करो और शासन करो' की नीति का पालन सभी क्षेत्रों और समुदायों के बीच किया। परन्तु इसका मुख्य प्रयोग हिन्दू और मुसलमानों को विभाजित करने के लिए किया गया । इस नीति का प्रयोग 1909 ई. के कानून द्वारा 'साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली' को आरम्भ करने से पहले ही किया जा रहा था; चुनाव-प्रणाली में साम्प्रदायिकता को सम्मिलित करके तो उसे केवल बढ़ावा दिया गया था। इस नीति के प्रयोग का परिणाम हिन्दू-मुस्लिम दंगों का होना, मुस्लिम लीग का शक्तिशाली होना और अन्त में भारत का विभाजन था।

विद्रोह के पश्चात् भारत सरकार उच्च शिक्षा एवं अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के प्रसार के विरोध में हो गयी। शिक्षित भारतीय भारत के आधुनिकीकरण के पक्ष में थे, उन्होंने भारत की राष्ट्रीय भावना के विकास में सहयोग दिया तथा समाज और सरकारी सेवाओं में योग्यता

के आधार पर अंग्रेजों से समानता का दावा किया। यह सभी कुछ मूल आधार पर भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरोध में था। इस कारण अंग्रेजी शासकों ने अंग्रेजी-शिक्षित भारतीयों का विरोध करना आरम्भ किया, उन्हें उच्च सरकारी पदों को प्राप्त करने से रोकने का प्रयत्न किया और उच्च शिक्षा के प्रसार में कोई रुचि नहीं ली।

अंग्रेजों ने भारतीय नरेशों, ताल्लुकेदारों, जमींदारों और पुरोहित एवं मुल्ला-वर्ग के व्यक्तियों का समर्थन किया। ये सभी वर्ग भारत के प्रतिक्रियावादी वर्ग थे और ब्रिटिश शासन की सुरक्षा में ही अपनी सुरक्षा मानते थे तथा इस कारण भारत में अंग्रेजी शासन का समर्थन करने के लिए तत्पर थे।

विद्रोह से पहले अंग्रेजों ने सामाजिक सुधार की ओर कुछ ध्यान दिया था। बेन्टिक के समय में सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित करना और लॉर्ड डलहौजी के समय में 1856 ई. में विधवा-विवाह को कानूनी स्वीकृति प्रदान करना इसके प्रमुख उदाहरण थे। विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने इस नीति में पूर्ण परिवर्तन कर दिया क्योंकि इस नीति का पालन करना अंग्रेजी राज्य के लिए अहितकर समझा गया। अधिकांश भारतीय अंग्रेजों द्वारा किये गये सामाजिक सुधारों को भारतीय समाज और धर्म पर आघात मानते थे। अंग्रेजों ने ऐसे भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने के लिए सामाजिक सुधार के कार्य को न करना ही अपने हित में मान लिया। इसके अतिरिक्त, उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारतीयों का पिछड़ापन, सामाजिक दोषों की विद्यमानता, धर्म में अन्धविश्वास तथा भाग्यवादिता में आस्था आदि उनके साम्राज्य की सुरक्षा के हित में हैं। भारत का उदारवादी वर्ग ही अंग्रेजी शासन का विरोध कर रहा था। ऐसी स्थिति में भारत के प्रतिक्रियावादी वर्ग और प्रवृत्तियों का समर्थन करना ही अंग्रेजों ने अपने शासन के हित में समझा।

1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों ने अपनी नस्ल की श्रेष्ठता पर और अधिक बल दिया। उन्होंने भारतीयों को निम्न समझा, उसी प्रकार का व्यवहार उनके साथ किया और उनसे सामाजिक सम्पर्क न बनाने का प्रयत्न किया। उनका विश्वास था कि इस प्रकार अपनी नस्ल की श्रेष्ठता का प्रदर्शन करने से भारतीय दुर्बल और आज्ञाकारी बने रहेंगे जिससे अंग्रेजों के अधिकार और उनका शासन सुरक्षित रहेगा।

अंग्रेजों ने भारतीय प्रेस की स्वतन्त्रता को भी समाप्त करने का प्रयत्न किया। भारतीय समाचार-पत्रों ने अंग्रेजों की नीतियों और भारतीयों के प्रति उनकी उदासीनता की आलोचना करना आरम्भ कर दिया था। वे राष्ट्रीय भावना के निर्माण में भी सहायता प्रदान कर रहे थे। इस कारण अंग्रेजों ने उनकी स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना आवश्यक समझा। लॉर्ड लिटन के समय में 1878 ई. में बनाये गये 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' का आशय यही था। लॉर्ड रिपन के समय में 1882 ई. में इस कानून को समाप्त कर दिया गया। परन्तु 20वीं सदी के प्रारम्भ से ही, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ हो जाने से, प्रेस की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाया जाना शुरू हो गया और यह क्रिया धीरे-धीरे स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक बढ़ती चली गयी।

अंग्रेजों ने सार्वजनिक सेवाओं जैसे सफाई, शिक्षा, सड़कों, पुलों और नहरों आदि के निर्माण, स्वास्थ्य-सुरक्षा आदि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया क्योंकि इनमें धन का व्यय होता था और किसी भी प्रकार अंग्रेजी प्रशासन के लिए लाभदायक नहीं था। इन सेवाओं की ओर ध्यान उसी समय दिया जा सका जब 1919 ई. के भारत-सरकार कानून द्वारा प्रान्तों में द्वैध-शासन की स्थापना हुई और ये विषय भारतीय मन्त्रियों के हाथों में दिये गये।

अंग्रेजों ने भारतीय मजदूर-वर्ग के हितों की सुरक्षा का भी कोई प्रयत्न नहीं किया। 1881 ई. में बनाया गया प्रथम फैक्टरी कानून और 1891 ई. में बनाया गया दूसरा कानून भी मजदूरों

के अधिकारों की सुरक्षा करने में असमर्थ रहे। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजों ने चाय, कॉफी और नील की खेती में लगे हुए किसान-मजदूरों के हितों की पूर्ण उपेक्षा की।

9. स्थानीय स्वशासन

भारत में सर्वप्रथम स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ 1864-1868 ई. के मध्य स्थापित की गयीं। म्यूनिसिपल-बोर्ड तथा जिला-परिषदें जैसी स्थानीय स्वशासन की इकाइयों की आवश्यकता विभिन्न कारणों से उपस्थित हुई। साम्राज्यवाद के नवीन स्वरूप के कारण बढ़ते हुए भारत के शोषण ने प्राथमिक शिक्षा, स्वच्छता, पीने का पानी, सड़कों आदि की व्यवस्था करना सरकार के लिए आवश्यक हो गया। उग्र होते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण भारतीयों को जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति कराना भी सरकार द्वारा आवश्यक समझा गया। अनेक अंग्रेजों का यह विचार भी बना कि भारतीयों को स्थानीय शासन में भाग लेने देने से सम्भवतः वे राजनीतिक आन्दोलन से पृथक हो जायेंगे। सरकार इन स्थानीय नागरिक सुविधाओं पर धन व्यय करने के लिए भी तत्पर नहीं थी। उसका विचार बना कि शासन की इकाइयाँ स्वयं अपने व्यय के लिए कर वसूल कर पायेंगी और नागरिक उन करों को देना पसन्द करेंगे। इस कारण भारत में स्थानीय स्वशासन की इकाइयाँ स्थापित करने का निश्चय किया गया। इनकी स्थापना में अंग्रेजों का यह उद्देश्य कदापि नहीं था कि इनके माध्यम से भारतीय स्वशासन की शिक्षा ग्रहण करेंगे।

प्रारम्भ में स्थानीय स्वशासन की सभी इकाइयों में मनोनीत सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी और उन सभी का सभापति जिलाधीश होता था। इससे अगला कदम लॉर्ड रिपन ने 1882 ई. में उठाया। एक सरकारी आदेश के द्वारा यह निश्चित किया गया कि स्थानीय स्वशासन की सभी इकाइयों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा जाय और जहाँ कहीं सम्भव हो सदस्यों के निर्वाचन की व्यवस्था की जाय। इस आदेश द्वारा यह भी निश्चित किया गया कि इन इकाइयों के सभापति गैर-सरकारी सदस्य हो सकते थे। केन्द्रीय सरकार के इस आदेश का पालन किये जाने हेतु प्रान्तीय सरकारों ने कानून बनाये। परन्तु ये कानून अधिक लाभदायक सिद्ध नहीं हुए। इसके विभिन्न कारण रहे। सभी जिला-परिषदों में और प्रायः सभी म्यूनिसिपल-बोर्डों में निर्वाचित सदस्य अल्पमत में रहे, योग्यताएँ भी ऐसी रखी गयी थीं कि बहुत थोड़े व्यक्ति ही चुनाव में भाग ले सकते थे, जिला-बोर्डों में सरकारी अधिकारी ही सभापति रहे, यद्यपि धीरे-धीरे म्यूनिसिपल-बोर्डों में गैर-सरकारी सदस्य सभापति बन पाये, और सरकार इन स्थानीय शासन की इकाइयों पर अपना कठोर नियन्त्रण रखती थी। लॉर्ड कर्जन ने अपने समय में स्थानीय शासन की इकाइयों की स्वतन्त्रता पर और अधिक अंकुश लगाने का प्रयत्न किया। 1899 ई. में उसने 'कलकत्ता कॉर्पोरेशन एक्ट' इसी उद्देश्य से बनाया था जिससे कलकत्ता की कॉर्पोरेशन पर सरकार का स्वामित्व स्थापित हो गया। इस कारण स्थानीय स्वशासन की इकाइयों की स्थिति कभी भी ठीक नहीं रही और वे स्थानीय स्वशासन का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करने में असमर्थ रहीं। इस स्थिति में सुधार केवल उस समय हुआ जब 1919 ई. का भारत-सरकार कानून बना और उसके अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन का विभाग 'हस्तान्तरित विषय' बनाकर शासन के लिए भारतीय मन्त्रियों के हाथों में दे दिया गया।

10. आर्थिक विकेन्द्रीकरण

आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी प्रशासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया गया। सर्वप्रथम लॉर्ड मेयो ने 1870 ई. में इस दिशा में कदम उठाया। उस समय यह निश्चित किया गया कि केन्द्रीय सरकार की आय में से प्रान्तों को एक निश्चित धनराशि दी जायेगी जिससे वे पुलिस, जेल, शिक्षा, चिकित्सा आदि कुछ विभागों के शासन को इच्छानुसार चला

सकेंगे। 1877 ई. में लॉर्ड लिटन के समय में कुछ अन्य विभाग जैसे न्याय, लगान, सार्वजनिक प्रशासन आदि प्रान्तीय सरकारों को दे दिये गये और केन्द्र द्वारा उसके लिए उनको धनराशि दी गयी। उस समय प्रान्तों को उनको क्षेत्र से होने वाली आय में से कुछ निश्चित भाग भी दिया गया, जैसे स्टाम्प-कर, आय-कर और आबकारी-कर। लॉर्ड रिपन के समय में इस दिशा में और प्रगति हुई। सरकार की आय के साधन तीन भागों में बाँट दिये गये—केन्द्रीय, प्रान्तीय और समवर्ती (जिन पर दोनों का संयुक्त अधिकार था)। नमक-कर, अफीम-कर, टकसाल आदि की आय केन्द्रीय सरकार के अधीन रखी गयी; प्रान्तीय आय के साधनों में न्याय, कानून, शिक्षा, पुलिस, सार्वजनिक निर्माण आदि रखे गये; और समवर्ती आय के साधनों में जंगल, आबकारी, लाइसेन्स-कर आदि रखे गये। इसके अतिरिक्त, यह भी निश्चित किया गया कि लगान की आय यद्यपि केन्द्रीय सरकार के पास रहेगी परन्तु प्रान्तों को उसमें से एक निश्चित भाग प्राप्त होगा। यह व्यवस्था पाँच वर्ष के लिए सुनिश्चित की गयी और निश्चय हुआ कि प्रत्येक पाँच वर्ष के पश्चात् इस सम्बन्ध में पुनर्विचार होता रहेगा। 1904 ई. में लॉर्ड कर्जन ने प्रान्तों की आय के साधन पूरी तरह से निश्चित कर दिये, उनको इच्छानुसार अपनी आय को व्यय करने का अधिकार दिया तथा बचे हुए धन को अपने पास अगले वर्ष के व्यय के लिए रख लेने का अधिकार दिया। इसके अतिरिक्त, अकाल के अवसरों पर नागरिकों को सहायता देने के लिए एक निश्चित धनराशि भी प्रान्तों को देने की व्यवस्था की गयी। 1912 ई. में 'आर्थिक विकेन्द्रीकरण आयोग' की रिपोर्ट में यह विचार व्यक्त किया गया कि केन्द्रीय सरकार को प्रान्तों के साथ अर्थव्यवस्था के लिए एक स्थायी समझौता कर लेना चाहिए। सरकार ने उसकी रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया। 1919 ई. के भारत-सरकार कानून द्वारा केन्द्रीय सरकार पर प्रान्तों की निर्भरता को समाप्त कर दिया गया और आय के साधन स्पष्टतः केन्द्रीय और प्रान्तीय इन दो भागों में बाँट दिये गये ।उदाहरणार्थ, प्रान्तों की आय के साधन लगान, सिंचाई, आबकारी-कर, स्टाम्प-कर आदि निश्चित किये गये। प्रान्तों को स्वेच्छा से अपनी आय को व्यय करने का अधिकार दिया गया। परन्तु इस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार का व्यय उसकी आय के साधनों से पूरा नहीं हो सका जिसके कारण 1920 ई. में मेस्टन आयोग ने प्रान्तों द्वारा केन्द्रीय सरकार को आर्थिक सहायता देने की सिफारिश की। परन्तु यह व्यवस्था 1928 ई. में त्याग दी गयी। 1935 ई. के भारत-सरकार कानून ने आय के साधनों को पुनः तीन भागों में बाँट दिया—केन्द्रीय, प्रान्तीय और समवर्ती। इसके अतिरिक्त, कुछ सीमित मात्रा में धन उधार लेने और अतिरिक्त कर लगाने का अधिकार भी उन्हें दिया गया।

11. अकाल-नीति

भारत में कृषि-उत्पादन मुख्यतः मानसून से होने वाली वर्षा पर निर्भर करता रहा है। मानसून से होने वाली वर्षा की अनुपस्थिति में यहाँ सूखा और अकाल की स्थिति प्राचीन काल से उत्पन्न होती रही है जिसमें मनुष्य और पशुओं के जीवन की बहुत क्षति भी होती रही है। परन्तु प्राचीन और मध्यकालीन युगों में ऐसे अवसरों पर प्रजा को प्रत्येक प्रकार की सुविधा पहुँचाना शासक का कर्तव्य स्वीकार किया गया था जिसकी पूर्ति प्रत्येक शासक ने अपनी क्षमता के अनुसार की थी।

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता 1764 ई. में बक्सर के युद्ध के पश्चात् बंगाल से आरम्भ हुई और 1769-70 ई. में ही बंगाल, बिहार और उड़ीसा के सूबा में भयंकर अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसका उत्तरदायित्व बहुत कुछ कम्पनी के कुशासन पर था। कम्पनी ने उस अवसर पर अकाल-पीड़ितों की सहायता करना अपना उत्तरदायित्व नहीं माना।

उस समय बंगाल में क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध-शासन था। इस कारण कम्पनी ने अकाल-पीड़ितों की सहायता करने का उत्तरदायित्व बंगाल के नवाब पर डाल दिया जबकि वस्तुतः कम्पनी ही सूबा की सम्पूर्ण आय का उपभोग कर रही थी। ऐसी स्थिति में इस सूबा की प्रायः एक-तिहाई जनता समाप्त हो गयी और कृषि बर्बाद हो गयी।

कम्पनी के शासन के अन्तर्गत 1781 ई. और 1782 ई. में मद्रास-क्षेत्र में अकाल की स्थिति बनी और 1784 ई. में प्रायः सम्पूर्ण उत्तर-भारत में अकाल पड़ा। उस समय तक भी कम्पनी ने अकाल-पीड़ितों की सहायता करना अपना उत्तरदायित्व स्वीकार नहीं किया। 1792 ई. में मद्रास-क्षेत्र में पुनः अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। इस अवसर पर, सर्वप्रथम, कम्पनी ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ कार्य किये और इस प्रकार उसे अपना उत्तरदायित्व स्वीकार किया। 1803 ई. में आधुनिक उत्तर-प्रदेश में अकाल पड़ा। उस समय कम्पनी ने किसानों को लगान में छूट दी, जनता को कर्ज दिये और जिन व्यक्तियों ने उस समय वहाँ अनाज का आयात किया उन्हें इनाम भी दिये। 1833 ई. में दक्षिण-भारत के गुण्टूर जिले में और 1837 ई. में उत्तर-भारत के एक बड़े क्षेत्र में अकाल पड़े। दोनों अवसरों पर कम्पनी ने जनता की भलाई के लिए कुछ सार्वजनिक कार्य किये और लगान में छूट भी दी। इस प्रकार, कम्पनी के शासन के अन्तर्गत शासक-वर्ग ने अकाल-पीड़ितों की सहायता करना अपना उत्तरदायित्व तो स्वीकार कर लिया परन्तु अकाल न पड़े और अकाल पड़ने के अवसर पर क्या सहायता-कार्य किये जायें इसकी कोई निश्चित योजना नहीं बनायी। प्रत्येक प्रान्त की सरकार ने जिलाधीशों के माध्यम से अपने-अपने क्षेत्र में अकाल से निबटने के लिए विभिन्न तरीके अपनाये। परन्तु ये सभी प्रयत्न अपर्याप्त रहे और विभिन्न अकालों के अवसर पर मनुष्यों और पशुओं के जीवन की हानि होती रही। धर्मार्थ-संस्थाएँ अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए अवश्य कार्य करती रहीं परन्तु वे कार्य सहायता-कार्य ही थे। अकाल न पड़े, इस दिशा में कोई कार्य किया जाना सम्भव नहीं हुआ।

1858 ई. में ब्रिटिश क्राउन ने भारत की शासन-सत्ता कम्पनी के हाथों से अपने हाथों में ले ली। 1860-61 ई. में दिल्ली और आगरा के मध्य के क्षेत्र में अकाल पड़ा। उस अवसर पर प्रथम बार अकाल-पीड़ितों को केन्द्रीय सरकार की ओर से सहायता प्रदान की गयी और इस कार्य के लिए दरिद्रशालाएँ स्थापित की गयीं। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि अकाल न पड़ें और अकाल की स्थिति में जनता की सहायता की जाय, यह सरकार का उत्तरदायित्व है। तब भी सरकार ने अकालों को रोकने के लिए कोई निश्चित योजना नहीं बनायी। 1866 ई. में उड़ीसा, उत्तरी बंगाल, मद्रास और बिहार के विस्तृत क्षेत्र में अकाल पड़ा। उस समय सरकार ने स्वस्थ व्यक्तियों को कार्य देकर उनकी सहायता करने का प्रयत्न अवश्य किया परन्तु अकाल-पीड़ितों की देखभाल का उत्तरदायित्व मुख्यतः समाज-सेवी और धार्मिक संस्थाओं पर ही छोड़ा गया। परन्तु ये कार्य समुचित सिद्ध नहीं हुए और उस अकाल के समय में अनुमानतः लगभग 13 लाख व्यक्तियों की जानें तो उड़ीसा के क्षेत्र में ही गयीं। अन्य स्थानों पर भी प्रायः यही स्थिति रही। इस अकाल की भीषणता ने सरकार को इस सम्बन्ध में कुछ ठोस निर्णय लेने के लिए बाध्य किया। सरकार ने इस सम्बन्ध में सुझाव के लिए सर जॉर्ज कैम्पबेल की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की। उसकी सिफारिश पर सरकार ने निर्णय लिया कि अकालों को रोकने के लिए सरकार को रेलों और नहरों की स्थापना करनी चाहिए, अकाल की व्यवस्था की देखभाल करने का उत्तरदायित्व जिलाधीशों का है और जनता को सहायता देने का उत्तरदायित्व मात्र समाज-सेवी संस्थाओं का न होकर सरकार का भी है। इस कारण 1868 ई. में जब राजपूताना के कुछ भागों और मध्य-भारत में अकाल पड़ा तो सरकार ने अकाल-पीड़ितों की सुरक्षा करने का प्रयत्न किया, यद्यपि वह पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ।

जिस समय लॉर्ड लिटन ने भारत के गवर्नर-जनरल का कार्य-भार सँभाला, उस समय मद्रास, बम्बई, हैदराबाद, पंजाब और मध्य-भारत के अधिकांश भागों में अकाल पड़ा हुआ था। 1876-78 ई. के इस भयंकर अकाल में लगभग पचास लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई। इस कारण 1878 ई. में लॉर्ड लिटन ने रिचार्ड स्ट्रेची के सभापतित्व में एक कमीशन की नियुक्ति की जिसे अकालों को रोकने और अकाल पड़ने पर उससे सम्बन्धित व्यवस्था करने के लिए सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। इस कमीशन ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये :

1. भूखे मर जाने की स्थिति से पहले ही स्वस्थ व्यक्तियों को कार्य दिया जाना चाहिए और बीच-बीच में उनकी आवश्यकताओं का निरीक्षण करते हुए उनकी मजदूरी में वृद्धि की जानी चाहिए;

2. असहाय व्यक्तियों को कैम्पों या दरिद्रशालाओं में एकत्रित किया जाना चाहिए जहाँ उन्हें अन्न, भोजन या धन मिलना चाहिए;

3. अकाल से प्रभावित क्षेत्र में अन्न-व्यापारियों पर निगाह रखनी चाहिए जिससे वे अन्न के मूल्यों में वृद्धि न कर सकें तथा उस क्षेत्र से अन्न का निर्यात रोक देना चाहिए;

4. लगान और अन्य करों में छूट या राहत देनी चाहिए;

5. अकाल-पीड़ित क्षेत्र से पशुओं को भी स्थानान्तरित किया जाना चाहिए;

6. प्रत्येक प्रान्त में एक स्थायी अकाल-फण्ड स्थापित किया जाना चाहिए;

7. सरकार द्वारा विभिन्न स्थानों पर नहरों तथा रेलों की स्थापना की जानी चाहिए।

सरकार ने इस कमीशन के सुझावों को स्वीकार कर लिया। 1883 ई. में सरकार ने एक अकाल-संहिता (Famine Code) का निर्माण किया जिसमें अकाल को रोकने और अकाल की स्थिति में जनता को सुरक्षा प्रदान करने के लिए क्या कार्य किये जायें, इन नियमों का विस्तृत उल्लेख किया गया।

1896-97 ई. में अकाल से प्रायः सभी प्रान्त प्रभावित हुए। उस समय सरकार ने प्रायः आठ करोड़ रुपए व्यय किये तथा सभी सम्भव सहायता-कार्य किये जो पर्याप्त सफल भी रहे। 1899 ई. में जब लॉर्ड कर्जन ने गवर्नर-जनरल का कार्यभार सँभाला, पूर्वी भारत के अतिरिक्त भारत के प्रायः सभी भागों में अकाल पड़ रहा था। लॉर्ड कर्जन ने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए प्रायः सात करोड़ रुपए व्यय किये, स्वस्थ व्यक्तियों को मजदूरी पर कार्य दिया गया, असहायों को आर्थिक सहायता दी गयी, लगान में छूट दी गयी, और उसने स्वयं विभिन्न स्थानों पर घूम-घूमकर व्यवस्था की देखभाल की। इसके पश्चात् उसने मैक्डोनल की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की जिसे अकालों की रोकथाम करने और अकालों के समय में की जाने वाली व्यवस्था के सम्बन्ध में सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। इस कमीशन ने 1901 ई. में अपनी रिपोर्ट दी तथा कृषि, सिंचाई, अकाल-फण्ड आदि की उन्नति के लिए विभिन्न सुझाव दिये। उसने यह भी सुझाव दिया कि सरकार को सबसे अधिक प्रयत्न प्रजा में नैतिक साहस उत्पन्न करने के लिए करना चाहिए और इसके लिए आवश्यक है कि सरकार अकाल-पीड़ितों को अकाल की शुरूआत होते ही सहायता और आश्वासन देना आरम्भ कर दे। कमीशन का यह भी सुझाव था कि अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए गैर-सरकारी संस्थाओं से भी पूर्ण सहयोग और सहायता लेनी चाहिए। कर्जन ने कमीशन के सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया और कृषि, सिंचाई, लगान आदि से सम्बन्धित सुधार करते हुए उनका विशेष ध्यान रखा।

1906-7 ई. और 1907-8 ई. में भी भारत में गम्भीर अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। 1942-43 ई. में द्वितीय महायुद्ध के समय में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। इस प्रकार ब्रिटिश शासन-काल में भारत अकालों से छुटकारा नहीं पा सका। इसका उत्तरदायित्व सरकार की आर्थिक नीतियों, मुख्यतः लगान-नीति का रहा जिनके कारण भारत के अधिकांश व्यक्ति जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने मात्र से ऊपर नहीं उठ पाये तथा कृषि-उत्पादन में जरा भी कमी हो जाने की स्थिति में अकाल की पीड़ा से प्रभावित हुए। अंग्रेजी शासन का गम्भीरतम कुप्रभाव भारत की अर्थव्यवस्था पर पड़ा था। अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप भारत में न कृषि की स्थिति सुधरी और न उद्योगों का विकास हुआ तथा भारत की गिनती विश्व के निर्धनतम देशों में की जाने लगी। ऐसी स्थिति में अकाल की समस्या से छुटकारा पाना असम्भव था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत को खाद्यान्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने का प्रयत्न किया गया। बहुत वर्षों के पश्चात् यह प्रयत्न सफल हुआ अन्यथा स्वतन्त्रता के पश्चात् भी भारत वर्षों तक अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए विदेशों से अनाज मँगाता रहा अथवा सहायता के रूप में अन्न लेता रहा। परन्तु अब इस क्षेत्र में भारत आत्मनिर्भर है और आशा की जाती है कि भारत में अब कभी भी अकाल की स्थिति उत्पन्न नहीं होगी।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. निम्नलिखित के सन्दर्भ में अंग्रेजी प्रशासन की आर्थिक नीतियों की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए :

   (i) लगान, (ii) न्याय, (iii) पुलिस, (iv) नौकरशाही, और (v) सेना।

2. भारत के विदेशी व्यापार, शासन-प्रबन्ध, स्थानीय स्वशासन व आर्थिक विकेन्द्रीकरण की ओर अंग्रेजी प्रशासन का क्या योगदान रहा, संक्षेप में बताइए।

3. अंग्रेजी प्रशासन द्वारा भारत में अकालों की रोकथाम और अकाल-पीड़ितों की सहायतार्थ किये गये कार्यों की समीक्षा कीजिए।

28

शिक्षा और प्रेस का विकास

1. शिक्षा

1772 ई. में बंगाल से भारत में प्रत्यक्ष अंग्रेजी शासन का आरम्भ हुआ। परन्तु एक लम्बे समय तक कम्पनी के डायरेक्टरों ने भारतीयों की शिक्षा के लिए कोई भी कदम उठाना अपना उत्तरदायित्व नहीं माना। जो कुछ भी प्रयास हुआ वह भारत में निवास करने वाले अंग्रेज अधिकारियों के प्रयत्नों से हुआ। वारेन हेस्टिंग्स ने 1781 ई. में 'कलकत्ता मदरसा' की स्थापना की जहाँ फारसी और अरबी भाषा की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। 1791 ई. में अंग्रेज-रेजीडेण्ट जानेथन डंकन के प्रयत्नों से बनारस के संस्कृत कॉलेज की स्थापना हुई। वैलेजली ने अंग्रेज कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं एवं रीति-रिवाजों की शिक्षा प्रदान करने के लिए 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की, परन्तु 1802 ई. में डायरेक्टरों के आदेश के कारण इसे बन्द कर दिया गया। 1813 ई. के आदेश-पत्र में निश्चय किया गया कि भारतीयों की शिक्षा के लिए कम्पनी की सरकार प्रति वर्ष एक लाख रुपया व्यय करेगी, परन्तु उस धन का उपयोग पर्याप्त वर्षों तक नहीं किया गया। इसका मुख्य कारण यह रहा कि सरकार यह निश्चय न कर सकी कि इस धन का उपयोग भारतीय भाषाओं और ज्ञान की वृद्धि के लिए किया जाय अथवा भारत में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को आरम्भ किया जाय। अंग्रेज विद्वान और शासन-अधिकारी ही नहीं बल्कि भारतीय विद्वानों का भी इस बारे में पारस्परिक मतभेद था। राजा राममोहन राय भारत में अंग्रेजी शिक्षा को आरम्भ किये जाने के पक्ष में थे। विभिन्न ईसाई पादरी और उदार भारतीय भी इसी पक्ष में थे। उदार भारतीयों के स्वयं के प्रयत्नों से 1817 ई. में कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज की स्थापना की गयी थी तथा ईसाई पादरियों ने भी अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के लिए विभिन्न स्थानों पर स्कूल खोले थे। परन्तु अनेक भारतीय और अंग्रेज ऐसे भी थे जो भारतीय भाषाओं और ज्ञान की शिक्षा पर ही सरकारी धन का व्यय चाहते थे। पर्याप्त समय तक इन दोनों पक्षों में वाद-विवाद चलता रहा।

मैकॉले की शिक्षा-व्यवस्था

शिक्षा की ओर सर्वप्रथम एक महत्वपूर्ण कदम गवर्नर-जनरल विलियम बेन्टिक के समय में उठाया गया। पाश्चात्य और भारतीय शिक्षा के विषय में जो मतभेद चल रहा था उसका निर्णय उसी के समय में हुआ। इस विषय में निर्णय लेने के लिए जो समिति नियुक्त की गयी थी, वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकी थी। भारतीय शिक्षा के पक्ष का नेतृत्व विल्सन और प्रिन्सेप जैसे विद्वान कर रहे थे। उनको ओरिएण्टलिस्ट (Orientalists) पुकारा गया था। अंग्रेजी भाषा और शिक्षा का समर्थन ट्रेवेलियन और राजा राममोहन राय जैसे उदार भारतीय कर रहे थे। उन्हें ऐंग्लिसिस्ट्स (Anglicists) पुकारा गया था। बेन्टिक स्वयं पाश्चात्य शिक्षा को आरम्भ किये जाने के पक्ष में था। परन्तु उसने अपने विचार को लादने का प्रयत्न नहीं किया। उसने अपने कानूनी-सदस्य मैकॉले को शिक्षा-समिति का सभापति

नियुक्त किया और उससे निर्णय लेने के लिए कहा। 2 फरवरी, 1835 ई. को मैकॉले नें अपने विचारों को एक विशेष विवरण (Minutes) में प्रस्तुत किया। उसने भारतीय शिक्षा और ज्ञान को बहुत हीन बताया, पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का समर्थन किया और अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का समर्थन किया। 1836 ई. में उसकी रिपोर्ट के आधार पर अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम और पाश्चात्य शिक्षा को भारत की शिक्षा-प्रणाली का आधार स्वीकार कर लिया गया। मैकॉले का विश्वास था कि सरकार अपने सीमित साधनों से कुछ मात्रा में ही भारतीयों की शिक्षा की व्यवस्था कर सकती थी और वे शिक्षित भारतीय अन्य भारतीयों की शिक्षा अथवा भारतीय भाषाओं की शिक्षा और ज्ञान की देखभाल कर सकते थे। उस समय से सरकार ने भारतीय भाषाओं और ज्ञान के विकास की ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

परन्तु उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में लेफ्टिनेण्ट गवर्नर जेम्स थॉमसन ने स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए गाँवों और नगरों में शिक्षा के लिए एक भिन्न योजना को कार्यान्वित किया। उसे लगान और सार्वजनिक सेवा-विभाग में कुछ शिक्षित भारतीयों की आवश्यकता थी, इस कारण यद्यपि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा को ही रखा गया परन्तु माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था हेतु प्रादेशिक भाषा को ही माध्यम बनाया गया। तब भी मूल आधार पर शिक्षा का आधार मैकॉले द्वारा निर्धारित शिक्षा-व्यवस्था ही रहा।

1854 ई. के चार्ल्सवुड के शिक्षा-सुझाव

1854 ई. में बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल (अधिकार-सभा) के सभापति चार्ल्स वुड ने भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से अपने सुझाव (Wood's Despatch) भेजे। उसको भारत में अंग्रेजी शिक्षा का मैग्ना-कार्टा (Magna Carta) पुकारा गया है। उसके सुझावों की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

1. अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति पूर्ववत् रही, परन्तु भारतीय भाषाओं के ज्ञान को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से विकसित करने पर बल दिया गया।
2. गाँवों में प्राइमरी वर्नाक्यूलर स्कूल स्थापित किये जायें तथा जिले में ऐंग्लो-वर्नाक्यूलर माध्यमिक विद्यालय (Anglo-Vernacular High Schools) और कॉलेज (Affiliated Colleges) स्थापित किये जायें।
3. व्यक्तिगत प्रयत्नों से स्कूल और कॉलेज स्थापित किये जाने को प्रोत्साहन दिया जाय और सरकार उनको आर्थिक अनुदान प्रदान करे।
4. प्रत्येक प्रान्त में एक डायरेक्टर के अधीक्षण में एक शिक्षा-विभाग खोला जाय जो प्रान्त की शिक्षा-व्यवस्था की देखभाल करे और उस सम्बन्ध में सरकार को प्रति वर्ष अपनी रिपोर्ट दे।
5. लन्दन विश्वविद्यालय के समकक्ष कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय खोले जायें।
6. व्यावसायिक शिक्षा की वृद्धि के लिए अलग से स्कूल और कॉलेज खोले जायें।
7. इंगलैण्ड की भाँति अध्यापकों की शिक्षा के लिए अलग से ट्रेनिंग स्कूल खोले जायें।
8. स्त्री-शिक्षा का विस्तार किया जाय।

वुड के शिक्षा-सुझावों को तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डलहौजी ने कार्यरूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। 1855 ई. में एक पृथक शिक्षा-विभाग की स्थापना की गयी,

प्रान्तों में शिक्षा-डायरेक्टरों की नियुक्ति की गयी और अन्य सुझावों के आधार पर भी कार्य आरम्भ कर दिया गया। 1858 ई. में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किये गये जिनमें शिक्षा की व्यवस्था तो न थी परन्तु जिन्होंने परीक्षा लेने तथा डिग्री प्रदान करने के उत्तरदायित्व का निर्वाह करना आरम्भ कर दिया। आगे आने वाले कुछ दशकों में इन्हीं सुझावों के आधार पर कार्य किया गया जिसके फलस्वरूप भारत की शिक्षा का ढाँचा पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के आधार पर विकसित हुआ और प्राचीन शिक्षा-पद्धति नष्ट हो गयी।

1859 ई. में सरकार ने अपनी ओर से आर्थिक अनुदान दिये जाने की व्यवस्था को केवल स्कूलों और कॉलेजों तक ही सीमित कर दिया जिससे प्राथमिक शिक्षा का विकास कम हुआ। 1870 ई. में शिक्षा को प्रान्तीय विषय बना दिया गया जिससे सरकारी आर्थिक सहायता में कमी हुई और शिक्षा की उन्नति में बाधा आयी।

हण्टर कमीशन (1882-83 ई.)

1882 ई. में डब्लू. डब्लू. हण्टर की अध्यक्षता में 'वुड्स डिस्पेच' के कार्यों का मूल्यांकन करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की गयी। यद्यपि इसका मुख्य लक्ष्य प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए सुझाव प्रस्तुत करना था परन्तु इसने उच्च शिक्षा के लिए भी सुझाव दिये। इसके मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे :

1. सरकार को उच्च शिक्षण-संस्थाओं के प्रत्यक्ष संचालन तथा प्रबन्ध से अपना हाथ धीरे-धीरे हटा लेना चाहिए। इसके स्थान पर सरकार द्वारा कॉलेजों एवं माध्यमिक स्कूलों के लिए वित्तीय सहायता तथा विशेष अनुदान की व्यवस्था की जानी चाहिए। कॉलेजों और माध्यमिक स्कूलों की स्थापना मुख्यतः सामाजिक संस्थाओं एवं व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा की जानी चाहिए। सरकार उन पर नियन्त्रण रखे और उन्हें आर्थिक सहायता प्रदान करे।

2. सरकार को मुख्यतः प्राथमिक शिक्षा के विस्तार एवं सुधार पर ध्यान देना चाहिए। स्थानीय जिला-परिषदों और नगरपालिकाओं की देखरेख में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

3. माध्यमिक शिक्षा दो प्रकार की होनी चाहिए—(i) साहित्यिक, और (ii) व्यावसायिक। दोनों के लिए भिन्न शिक्षालय होने चाहिए।

4. स्त्री-शिक्षा पर बल दिया जाना चाहिए।

हण्टर कमीशन की रिपोर्ट के पश्चात् दो दशकों में माध्यमिक स्कूलों और कॉलेजीय शिक्षा का तीव्रता से विकास हुआ। उसी समय में ऐसे विश्वविद्यालय स्थापित हुए जो केवल परीक्षा ही नहीं लेते थे बल्कि जहाँ शिक्षण की व्यवस्था भी की गयी थी। 1882 ई. में पंजाब विश्वविद्यालय स्थापित हुआ और 1887 ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। परन्तु प्राथमिक शिक्षा पर सरकार ने अधिक ध्यान नहीं दिया। माध्यमिक स्कूलों और कॉलेजों की शिक्षा के विस्तार में भी सरकार का योगदान कम रहा। इनका विकास मुख्यतः सामाजिक संस्थाओं एवं व्यक्तिगत प्रयत्नों से हुआ।

भारतीय विश्वविद्यालय कानून, 1904 ई.

लॉर्ड कर्ज़न शिक्षालयों को सरकारी नियन्त्रण में लाने के लिए उत्सुक था। उसका विचार था कि भारत की शिक्षा-संस्थाएँ, मुख्यतः विश्वविद्यालय राजनीतिक दलबन्दियों अथवा षड्यन्त्रों के केन्द्र बन गये थे। निश्चय ही शिक्षित भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना

का प्रादुर्भाव हुआ था और वे अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकते थे। इस कारण लॉर्ड कर्जन का मुख्य उद्देश्य शिक्षा-संस्थाओं को सरकारी नियन्त्रण में लेकर भारतीयों की राजनीतिक क्रियाओं को दुर्बल करने का था, यद्यपि बहाना उसने यह लिया कि शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा था और उसमें सुधार की आवश्यकता थी। अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने 1901 ई. में शिमला में सरकारी शिक्षा-अधिकारियों और विश्वविद्यालय के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलायी। इस सभा ने शिक्षा के सम्बन्ध में 150 प्रस्ताव स्वीकार किये। कर्जन ने 1902 ई. में सर थॉमस रैले की अध्यक्षता में एक शिक्षा कमीशन की नियुक्ति की। इसका मुख्य कार्य भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा के सम्बन्ध में सुझाव देना था। इसकी रिपोर्ट के आधार पर 1904 ई. का भारतीय विश्वविद्यालय कानून बनाया गया जिसकी मुख्य धाराएँ निम्नवत् थीं :

1. विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा और अनुसन्धान पर ध्यान दें। वे योग्य प्रोफेसरों और अध्यापकों की नियुक्ति करें तथा उचित पुस्तकालयों एवं प्रयोगशालाओं की स्थापना का प्रबन्ध करें।

2. विश्वविद्यालयों की सीनेट के सदस्यों की संख्या कम से कम 50 और अधिक से अधिक 100 निश्चित की गयी। उनके कार्यालय की अवधि 6 वर्ष निश्चित की गयी। सीनेट के अधिकांश सदस्यों की नियुक्ति सरकार करने लगी। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की सीनेट के सदस्यों में 20 निर्वाचित सदस्य रखे गये और अन्य विश्वविद्यालयों में केवल 15। अन्य सभी सदस्य सरकार के द्वारा नियुक्त किये जाने लगे। इसके अतिरिक्त, सरकार को सीनेट द्वारा बनाये गये नियमों में परिवर्तन करने अथवा उनको अस्वीकार करने का भी अधिकार दिया गया।

3. विश्वविद्यालयों के अधिकार-क्षेत्र को निश्चित करने, उनके अन्तर्गत कॉलेजों को स्वीकृति प्रदान करने आदि का अधिकार भी सरकार ने अपने हाथों में ले लिया।

4. विश्वविद्यालयों का नियन्त्रण अपने अधीन कॉलेजों पर बढ़ा दिया गया।

इस प्रकार इस कानून के द्वारा सरकार ने विश्वविद्यालयों को पूर्णतः अपने अधीन कर लिया और उनके माध्यम से कॉलेजों को भी अपने अधीन कर लिया। कर्जन का उद्देश्य उच्च शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण में लाना था। इस कानून ने उसके इस उद्देश्य की पूर्ति कर दी। परन्तु भारतीयों ने इसका तीव्र विरोध किया। इस कानून से शिक्षा-पद्धति पर कोई लाभदायक प्रभाव नहीं पड़ा।

परन्तु एक अन्य दृष्टि से लॉर्ड कर्जन का समय शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति का रहा। कर्जन उच्च शिक्षा की बजाय प्राथमिक शिक्षा पर, शहरों में शिक्षा प्रदान करने की बजाय ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा-प्रसार पर और व्यावसायिक शिक्षा के स्थान पर कृषि-शिक्षा पर अधिक बल देता था। यद्यपि इसका मुख्य कारण नगरों के शिक्षित व्यक्तियों का अंग्रेजी प्रशासन के विरुद्ध बढ़ता हुआ असन्तोष था जिसे कर्जन रोकना चाहता था परन्तु तब भी उसकी शिक्षा-नीति से स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या में वृद्धि हुई।

1913 ई. का शिक्षा-प्रस्ताव

1906 ई. में बड़ौदा राज्य ने अपनी सीमाओं के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क और अनिवार्य कर दिया। भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने भारत सरकार से माँग की कि वह प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व इसी भाँति अपने हाथों में ले ले। भारत सरकार इस बात के

लिए तो तत्पर नहीं हुई परन्तु फरवरी 1913 ई. में उसने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसके द्वारा उसने निरक्षरता को समाप्त करना सरकार का दायित्व स्वीकार किया। इस प्रस्ताव में यह भी सुझाव दिया गया कि प्रत्येक प्रान्त में कम से कम एक विश्वविद्यालय अवश्य हो।

सेडलर विश्वविद्यालय कमीशन, 1917 ई.

1917 ई. में भारत सरकार ने विश्वविद्यालयीय शिक्षा में सुधार हेतु सुझाव देने के लिए सर माइकेल सेडलर की अध्यक्षता में एक कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने विश्वविद्यालय शिक्षा सम्बन्धी ही नहीं अपितु माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी सुझाव भी दिये। इसके मुख्य सुझाव निम्नवत् थे :

1. माध्यमिक शिक्षा 12 वर्ष में पूर्ण हो। हाईस्कूल की परीक्षा के पश्चात् विद्यार्थी दो वर्ष इण्टरमीडिएट में शिक्षा प्राप्त करें। इसके पश्चात् उसे विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त हो। इण्टरमीडिएट की शिक्षा हाईस्कूल के साथ सम्मिलित की जा सकती थी अथवा उसकी पृथक व्यवस्था भी हो सकती थी। इस शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक हाईस्कूल और इण्टरमीडिएट बोर्ड की स्थापना की जाय।

2. स्नातकीय शिक्षा (Degree Course) अधिकतम तीन वर्ष की हो तथा बी. ए. पास (Pass) और ऑनर्स (Honours) की शिक्षा अलग से दी जाय।

3. धीरे-धीरे विश्वविद्यालय ऐसे बनाये जायें जहाँ शिक्षकों और विद्यार्थियों के रहने की भी व्यवस्था हो।

4. स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा दिया जाय।

5. अध्यापकों की शिक्षा के लिए स्कूल तथा कॉलेज (Teacher's Training Institutes) खोले जायें।

6. वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा का विस्तार किया जाय।

सरकार ने इस कमीशन के सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया और 1920 ई. में प्रान्तीय सरकारों को भी इन सुझावों को कार्य-रूप में परिणत करने के आदेश दिये। 1887 ई. में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना के उपरान्त कोई नवीन विश्वविद्यालय 1916 ई. तक स्थापित नहीं किया गया था, अब 1916-21 ई. के मध्य में सात विश्वविद्यालयों (मैसूर, पटना, बनारस, ढाका, लखनऊ, अलीगढ़ तथा उस्मानिया) की स्थापना हुई। 1919 ई. के भारत-सरकार कानून के अन्तर्गत शिक्षा को प्रान्तीय विषय बनाकर भारतीय मन्त्रियों की देखरेख में दे दिया गया। परन्तु धन के अभाव में कोई महत्वपूर्ण सुधार सम्भव नहीं हुआ, केवल स्कूल और कॉलेजों की संख्या बढ़ती गयी जिसका श्रेय भी सार्वजनिक संस्थाओं एवं व्यक्तिगत प्रयत्नों को जाता है।

1921-37 ई. के मध्य पाँच अन्य विश्वविद्यालयों—दिल्ली, नागपुर, आन्ध्र, आगरा और चिदम्बरम (मद्रास) की स्थापना हुई। पुराने विश्वविद्यालयों के नियमों में कुछ सुधार किया गया जिससे वे उच्च शिक्षा और शोध-कार्यों में प्रगति कर सकें। साथ ही कलकत्ता, पंजाब और इलाहाबाद के विश्वविद्यालयों में विस्तृत अध्ययन का कार्य आरम्भ किया गया। 1925 ई. में जामिया-मिलिया विश्वविद्यालय को अलीगढ़ से दिल्ली स्थानान्तरित किया गया।

हार्टोग शिक्षा-समिति, 1929 ई.

1929 ई. में सर फिलिप हार्टोग की अध्यक्षता में शिक्षा सम्बन्धी सुझाव देने के लिए एक समिति की स्थापना की गयी। इस समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये :

1. प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किया जाय परन्तु इसमें जल्दबाजी न की जाय। शिक्षा के स्तर का ध्यान रखा जाय।

2. 8वीं कक्षा के पश्चात् विद्यार्थियों को उनकी रुचि और योग्यता के अनुकूल व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाओं में भेजा जाय। हाईस्कूल तथा उसके आगे की शिक्षा केवल योग्य और चुने हुए विद्यार्थियों को ही दी जाय।

3. विश्वविद्यालय की शिक्षा भी योग्य विद्यार्थियों तक सीमित की जाय।

सार्जेण्ट शिक्षा-सुझाव, 1944 ई.

1944 ई. में भारतीय शिक्षा-विभाग के सेक्रेटरी सर जॉन सार्जेण्ट ने शिक्षा के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये :

1. स्कूल की दो श्रेणियाँ हों। 6 से 11 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए जूनियर स्कूल हों। इस आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दी जाय। 11 से 17 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए सीनियर स्कूल हों। सीनियर स्कूल भी दो प्रकार के हों—(i) साहित्यिक शिक्षा हेतु, (ii) व्यावसायिक शिक्षा हेतु।

2. इण्टरमीडिएट शिक्षा समाप्त की जाय। सीनियर स्कूल की शिक्षा में एक वर्ष की वृद्धि की जाय तथा एक वर्ष की वृद्धि कॉलेज की शिक्षा में की जाय।

राधाकृष्णन् कमीशन, 1948-49 ई.

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने डॉ. राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा सम्बन्धी सुझाव देने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की। 1949 ई. में इस कमीशन ने अपने निम्नलिखित सुझाव दिये :

1. माध्यमिक शिक्षा 12 वर्ष की हो।

2. परीक्षा के दिनों को पृथक करके विश्वविद्यालयों में कम से कम 180 दिन शिक्षा के लिए होने चाहिए। ये 180 दिन तीन सत्रों में विभक्त हों और प्रत्येक सत्र (Term) 11 सप्ताह का हो।

3. उच्च शिक्षा की तीन श्रेणियाँ हों—(i) सामान्य शिक्षा (General Education); (ii) उदार शिक्षा (Liberal Education); (iii) व्यावसायिक शिक्षा (Occupational Education)। कृषि, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, कानून, कॉमर्स (Commerce) आदि की शिक्षा को अधिक महत्व दिया जाना चाहिए।

4. प्रशासकीय सेवाओं के लिए स्नातक डिग्री अनिवार्य न मानी जाय।

5. स्नातक डिग्री की शिक्षा तीन वर्ष की हो। उसकी परीक्षा अन्तिम वर्ष में ही न हो बल्कि उसे प्रत्येक वर्ष की परीक्षा में विभाजित कर देना चाहिए।

6. शिक्षा के स्तर में वृद्धि की जानी चाहिए और उसे समवर्ती सूची में सम्मिलित कर लेना चाहिए।

7. अध्यापकों के वेतन में वृद्धि की जानी चाहिए।

8. शिक्षा-व्यवस्था की देखभाल के लिए एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (University Grants Commission) की स्थापना की जानी चाहिए।

इस रिपोर्ट के आधार पर 1953 ई. में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना की गयी और 1953 ई. में पार्लियामेण्ट के एक कानून के द्वारा उसे एक स्वतन्त्र संस्था का रूप प्रदान किया गया। विश्वविद्यालयीय शिक्षा अब इसी आयोग की देखरेख में है।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव

अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव भारत पर लाभ और हानि दोनों ही रूपों में पड़ा। लाभ की दृष्टि से इसने भारतीयों के ज्ञान में वृद्धि की, विदेशों में उपलब्ध सभी प्रकार के ज्ञान से भारतीयों को परिचित कराया, भारतीयों में अपने समाज और धर्म में सुधार करने की भावना उत्पन्न की जिसका प्रमाण 19वीं सदी में हुए सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन थे, मध्यम-वर्ग और उसी में से एक ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग का जन्म हुआ जिसने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतीयों को नेतृत्व प्रदान किया तथा भारत के आधुनिकीकरण में सहायता प्रदान की। परन्तु इसके हानिकारक परिणाम भी हुए हैं। प्रारम्भ में और अब स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में ऐसी पीढ़ियों का निर्माण हुआ जो पश्चिमी सभ्यता से गम्भीरता से प्रभावित होकर अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं को भुला बैठीं। आरम्भिक काल में तो पाश्चात्यीकरण की लहर को रोकने में भारतीय समर्थ हुए थे परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् आरम्भ हुई इस पाश्चात्यीकरण की ओर हुई घुड़दौड़ को रोके जाने की न तो भारतीयों में इच्छा है और न क्षमता जिसके कारण भारतीय विकृत पाश्चात्य सभ्यता के गुलाम होते जा रहे हैं और उनमें से अनेक ऐसे हैं जो भारत की अक्षमता को समझकर विदेशों में जाकर बस रहे हैं। इससे भारत की बौद्धिक क्षमता नष्ट हो रही है। अन्धे होकर पाश्चात्य सभ्यता की नकल करने से भारतीयों का सांस्कृतिक पतन हो रहा है। इसने भारत में एक ऐसे वर्ग को भी जन्म दिया है जो जनसाधारण से अपने को पृथक मानता है और जिसका न भारतीय जन-मानस से कोई सम्पर्क है और न बौद्धिक और भावनात्मक एकता से। इससे एक बड़ी हानि यह भी हुई कि इसने स्वतन्त्रता से पूर्व ही हिन्दू और मुसलमानों में साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ावा दिया। वस्तुतः भारत-विभाजन का एक मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानों के शिक्षित मध्यम-वर्ग के पारस्परिक स्वार्थों की टकराहट था।

इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रश्न यह भी है कि क्या अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा के अभाव में भारत में राष्ट्रीय भावना का निर्माण और राष्ट्रीय आन्दोलन सम्भव था ? विभिन्न विद्वानों और मुख्यतः यूरोपियनों ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि अंग्रेजी शिक्षा ने ही भारतीयों को पाश्चात्य विचारों, यथा राष्ट्र, राष्ट्रीयता, जनतन्त्र, स्वतन्त्रता, समानता आदि विचारों से परिचित कराया, विदेशों से सम्पर्क कराया, विभिन्न प्रान्तों के शिक्षित भारतीयों को विचारों के आदान-प्रदान की सुविधा प्रदान की, संगठन का मार्ग बताया तथा राजनीतिक संगठन बनाने की प्रेरणा दी। इसी कारण भारत में राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति और राष्ट्रीय आन्दोलन सम्भव हुआ। परन्तु यह विचार आंशिक रूप से ही सत्य है। निस्सन्देह, भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा से उपर्युक्त सभी कुछ प्राप्त किया परन्तु यदि अंग्रेजी शिक्षा भारत में न भी दी गयी होती तब भी भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन होता। अनेक अन्य राज्यों जैसे चीन, टर्की, ईरान आदि देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन इसके प्रमाण हैं। वस्तुतः भारतीय राष्ट्रवाद के जन्म का कारण अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत उत्पन्न हुई विभिन्न सामाजिक एवं भौतिक परिस्थितियाँ थीं। अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण, भारतीयों की बढ़ती हुई निर्धनता, नवीन सामाजिक वर्गों का उदय और भारतीयों का यह विश्वास कि अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत उनका विकास जीवन के किसी भी क्षेत्र में सम्भव नहीं है, भारतीय राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय आन्दोलन का मूल कारण थे। अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का सहयोग इसमें गौण ही रहा।

2. प्रेस

भारत में प्रेस की स्थापना यूरोपियन जातियों के आने से हुई। भारत में सर्वप्रथम प्रेस की स्थापना 1550 ई. में पुर्तगालियों ने की और 1557 ई. में प्रथम छपी हुई पुस्तक ईसाई पादरियों

के द्वारा प्रकाशित की गयी। 1684 ई. में अंग्रेज कम्पनी ने बम्बई में एक प्रेस की स्थापना की। परन्तु अब भी प्रायः एक सदी तक भारत में किसी समाचार-पत्र को आरम्भ नहीं किया गया। कम्पनी द्वारा नौकरी से निकाले जाने पर एक अंग्रेज अधिकारी विलियम वोल्ट्स ने 1776 ई. में धमकी दी कि वह कम्पनी के दुराचार को प्रकट करने के लिए एक समाचार-पत्र का प्रकाशन करेगा। परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने उसके विरोध में शीघ्र कदम उठाये और उसका प्रयत्न सफल न हो सका।

1780 ई. में सबसे पहला समाचार-पत्र **बंगाल गजट** जेम्स अगस्टस हिक्की ने आरम्भ किया परन्तु उसने गवर्नर-जनरल, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों और कम्पनी के कर्मचारियों के दोषों को बहुत स्पष्ट रूप से प्रकाशित करना आरम्भ किया जिसके कारण 1782 ई. में उसके समाचार-पत्र को बन्द करा दिया गया। परन्तु उसके पश्चात् भारत में कई समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। 1784 ई. में **कलकत्ता गजट**, 1785 ई. में **ओरिएण्टल मैगजीन ऑफ कलकत्ता**, 1788 ई. में **मद्रास कैरियर**, 1789 ई. में **बम्बई हेरल्ड** आदि। इन समाचार-पत्रों ने कम्पनी या उसके अधिकारियों के कार्यों की आलोचना से अपने को पृथक रखा। प्रारम्भ में इन समाचार-पत्रों में कोई पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा न थी। वे पारस्परिक समझौते द्वारा अलग-अलग दिन भी प्रकाशित कर दिये जाते थे यद्यपि उनका प्रकाशन-स्थल एक ही होता था। इनकी प्रतिलिपियों की संख्या भी अधिक नहीं होती थी। अधिकांशतः इनका वितरण अंग्रेजों या ऐंग्लो-इण्डियनों तक ही सीमित था।

1799 ई. में लॉर्ड वैलेजली ने इन समाचार-पत्रों पर कुछ अंकुश लगाये। उसे फ्रान्सीसी आक्रमण का भय था, इस कारण वह नहीं चाहता था कि कोई ऐसा समाचार छपे जिससे भारतीय नरेशों और नागरिकों की निगाह में कम्पनी की प्रतिष्ठा कम हो। उसने निश्चित किया कि प्रत्येक अखबार की प्रतिलिपि पर उसके मालिक, सम्पादक और मुद्रक का नाम दिया जाना चाहिए और प्रत्येक समाचार की प्रतिलिपि छपने से पहले सरकार के सेक्रेटरी को देनी चाहिए। कानून तोड़ने वाले के लिए देश से निकाल दिये जाने की दण्ड-व्यवस्था की गयी। 1807 ई. में इस कानून के अन्तर्गत पुस्तकों, मैगजीन, पोस्टर आदि को भी सम्मिलित कर लिया गया।

20वीं सदी की शुरूआत में भारतीयों ने भी समाचार-पत्रों के प्रकाशन की ओर कदम उठाया। 1816 ई. में गंगाधर भट्टाचार्य ने **बंगाल गजट** नामक एक साप्ताहिक समाचार-पत्र को अंग्रेजी में निकालना आरम्भ किया। 1818 ई. में मार्शमेन की देखरेख में स्थानीय भाषा बंगाली में सबसे पहले समाचार-पत्र **दिग्दर्शन** को आरम्भ किया गया। परन्तु वह अधिक समय न चला। उसी वर्ष मार्शमेन द्वारा आरम्भ किया एक साप्ताहिक पत्र **समाचार-दर्पण** पर्याप्त समय तक प्रकाशित होता रहा। 1821 ई. में राजा राममोहन राय के प्रोत्साहन से एक साप्ताहिक पत्र **संवाद कौमुदी** आरम्भ हुआ। स्वयं राजा राममोहन राय ने फारसी भाषा में **मिरात-उल-अखबार** और अंग्रेजी में **ब्रह्मनिकल मैगजीन** का प्रकाशन आरम्भ किया। उनके विचारों का विरोध करने के लिए 1822 ई. में **समाचार-चन्द्रिका** नामक एक समाचार-पत्र को किन्हीं अन्य व्यक्तियों ने आरम्भ किया। इस प्रकार, भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में भी समाचार-पत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में इन पत्रों में धार्मिक और सामाजिक चर्चा अधिक की जाती थी परन्तु बाद में इनमें राजनीतिक समस्याएँ और अंग्रेज अधिकारियों से सम्बन्धित चर्चाएँ भी छपनी शुरू हुईं।

1823 ई. में सरकार ने समाचार-पत्रों पर पुनः प्रतिबन्ध लगाये। नवीन नियमों के अनुसार सरकार ने निश्चय किया कि प्रत्येक समाचार-पत्र के प्रकाशन के लिए सरकार से अनुमति ली जाय, ऐसा न करने वाले के लिए 400 रुपये जुर्माना और उसके प्रेस को जब्त

करने की व्यवस्था की गयी। गवर्नर-जनरल को अधिकार दिया गया कि वह किसी भी समय किसी भी समाचार-पत्र के छापने के अधिकार को समाप्त कर सकता था। राजा राममोहन राय ने इन कानूनों का विरोध किया परन्तु कोई परिणाम न निकला।

विलियम बेन्टिक के पश्चात् सर चार्ल्स मेटकाफ दो वर्ष के लिए (1835-37 ई.) गवर्नर-जनरल बना। उसने समाचार-पत्रों से सभी प्रतिबन्ध हटा दिये जिसके परिणामस्वरूप 1856 ई. तक भारत में समाचार-पत्रों का अत्यधिक विकास हुआ और उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हुई। इस समय में गुजराती भाषा में बम्बई से दो मुख्य समाचार-पत्रों **रफ्त-गोफ्तार** और **अखबारे सौदागर** का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इनमें से 'रफ्त-गोफ्तार' का सम्पादन उदार राष्ट्रीय नेता दादाभाई नौरोजी ने किया था। विद्रोह के कारण 1857 ई. में समाचार-पत्रों पर सरकार ने पुनः कुछ प्रतिबन्ध लगाये। समाचार-पत्रों को पुनः लाइसेन्स (आज्ञापत्र) लेने के लिए बाध्य किया गया। सरकार को उनके लाइसेन्सों को समाप्त करने का असीमित अधिकार दिया गया। परन्तु 1857 ई. का लाइसेंन्सिग कानून केवल एक वर्ष के लिए था। इस कारण 1867 ई. के रजिस्ट्रेशन कानून के द्वारा लाइसेन्स-व्यवस्था को स्थायी किया गया। यह भी निश्चित किया गया कि प्रत्येक पुस्तक की एक प्रतिलिपि प्रधान स्थानीय सहकारी अधिकारी को दी जायेगी। 1870 ई. में सरकार ने प्रेस सम्बन्धी नियमों को कुछ और कठोर किया और उनको 'इण्डियन पीनल कोड' में सम्मिलित कर लिया। इसके अतिरिक्त, इसी समय में सरकार का समर्थन करने हेतु अंग्रेजों द्वारा कुछ समाचार-पत्र आरम्भ किये गये। इनमें 1861 ई. में बम्बई से **टाइम्स ऑफ इण्डिया**, 1865 ई. में इलाहाबाद से **पायनियर**, 1868 ई. में मद्रास से **मद्रास मेल** और 1875 ई. में कलकत्ता से **स्टेट्समैन** आरम्भ किये गये थे।

1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् भारत में नस्लवाद की भावना तीव्र हो गयी। इसका प्रभाव समाचार-पत्रों पर भी पड़ा। जबकि अंग्रेजी समाचार-पत्रों ने अधिकांशतः सरकार का पक्ष लेना शुरू किया, भारतीयों द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्रों ने जो अधिकांशतः प्रादेशिक भाषाओं में थे, सरकार और अंग्रेज अधिकारियों के व्यवहार की आलोचना आरम्भ की। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों की संख्या में वृद्धि हुई, भारतीयों ने अंग्रेजी भाषा में भी समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ किया और उनमें से कुछ का स्वरूप राष्ट्रीय होने लगा। भारतीयों द्वारा अंग्रेजी में छापा गया प्रथम और प्रमुख समाचार-पत्र **हिन्दू पैट्रियट** था। बंगाली भाषा के समाचार-पत्रों में **अमृत बाजार पत्रिका, शोमप्रकाश, बंगवासी** और **संजीवनी** प्रमुख रहे। 'अमृत बाजार पत्रिका' को 1878 ई. से अंग्रेजी भाषा में भी छापा गया। मद्रास में **हिन्दू** अंग्रेजी भाषा में छपने वाला प्रमुख समाचार-पत्र बना। 1878 ई. में लाहौर में **ट्रिब्यून** का प्रकाशन आरम्भ किया गया। 1879 ई. में **इण्डियन हेराल्ड** का प्रकाशन आरम्भ किया गया जो उत्तर प्रदेश का मुख्य समाचार-पत्र बना। महाराष्ट्र में मराठी भाषा में **केसरी, इन्द्रप्रकाश, नेटिव ओपीनियन** और **दीनबन्धु** तथा अंग्रेजी में साप्ताहिक पत्र के रूप में **मराठा** अत्यन्त लोकप्रिय हुए। हिन्दी भाषा में उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक समाचार-पत्र **हिन्दुस्तान** प्रमुख था, जिसे मदनमोहन मालवीय और प्रतापनारायण मिश्र का सहयोग प्राप्त हुआ। अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना और 1905 ई. में बंगाल-विभाजन से उत्पन्न असन्तोष ने भी समाचार-पत्रों को लोकप्रिय बनाने और उनकी संख्या में वृद्धि करने में सहायता दी। महात्मा गांधी ने गुजराती भाषा में **नवजीवन** और अंग्रेजी में **यंग इण्डिया** का प्रकाशन शुरू किया। उसके पश्चात् भी विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में तथा अंग्रेजी में अनेक समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ जिन्होंने भारतीय जनमत के निर्माण में बहुत सहयोग दिया। **हिन्दुस्तान टाइम्स** का प्रकाशन 1923 ई. में शुरू किया गया था।

भारतीय भाषाओं में छपने वाले और भारतीयों द्वारा प्रकाशित समाचार-पत्रों पर सरकार निरन्तर प्रतिबन्ध लगाती गयी। इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कानून 1878 ई. का वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (Vernacular Press Act) था। भारतीय समाचार-पत्रों ने लॉर्ड लिटन की शासन-नीति की कटु आलोचना की। उसका परिणाम यह कानून था। इसके द्वारा प्रत्येक मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी भी समाचार-पत्र के प्रकाशक से एक निश्चित धनराशि सुरक्षा-धनराशि (Security) के रूप में जमा करा सकता था और यदि कोई समाचार-पत्र ऐसा कोई समाचार छापता, जिससे भारत में अशान्ति की सम्भावना होती या सरकार की हानि होती तो वह उसकी जमा की हुई धनराशि को जब्त कर सकता था। मजिस्ट्रेट की कार्रवाई के विरुद्ध कहीं पर भी प्रार्थना (अपील) नहीं की जा सकती थी। इस कानून को गैगिंग एक्ट (Gagging Act) पुकारा गया। इस कानून की सबसे बुरी बात यह थी कि अंग्रेजी समाचार-पत्रों को इससे मुक्त रखा गया। इसकी धाराओं के अन्तर्गत कई समाचार-पत्रों को दण्डित किया गया और भारतीय समाचार-पत्र स्वतन्त्रता से समाचार छापने की स्थिति में नहीं रहे। 1882 ई. में लॉर्ड रिपन ने इस कानून को समाप्त कर दिया। लॉर्ड कर्जन के समय में समाचार-पत्रों के सम्बन्ध में कोई नवीन कानून तो नहीं बनाया गया परन्तु 'इण्डियन पीनल कोड' के अन्तर्गत उनको दण्डित करने की व्यवस्था की गयी।

1908 ई. में सरकार ने एक अन्य कानून (The Newspaper Act) बनाया। भारत में उग्रवाद और आतंकवाद की विचारधारा फैल रही थी। इस कारण समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना आवश्यक समझा गया। इस कानून के द्वारा (i) प्रत्येक मजिस्ट्रेट को अधिकार दिया गया कि यदि कोई समाचार-पत्र ऐसा समाचार छापे जिससे हिंसा की कार्रवाई को प्रोत्साहन मिले, तो वह उसके प्रकाशन को बन्द कर दे और उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति को जब्त कर ले; (ii) स्थानीय सरकारों को ऐसे समाचार-पत्रों के प्रकाशन को रोकने का अधिकार दिया गया; और (iii) समाचार-पत्र का मालिक सरकार की ऐसी कार्रवाई के विरुद्ध 15 दिन के अन्दर ही अपील कर सकता था। इस कानून के द्वारा सरकार ने सात समाचार-पत्रों की सम्पत्ति को जब्त किया और नौ के प्रकाशन पर प्रतिबन्ध लगाया गया।

1910 ई. में एक अन्य कानून (Indian Press Act) के द्वारा समाचार-पत्रों से सुरक्षा-धन (Security) लेने और उसको जब्त करने की व्यवस्था को पुनः आरम्भ किया गया, यद्यपि उन्हें दो माह के अन्तर्गत ही उच्च न्यायालय की एक विशेष न्यायाधीश बैंच से अपील करने का अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक समाचार-पत्र को अपने प्रत्येक प्रकाशन की दो प्रतिलिपियाँ जमा करने के लिए कहा गया। बाहर से आने वाले समाचार-पत्रों और पुस्तकों पर भी प्रतिबन्ध लगाया गया। इस कानून के द्वारा सरकार ने 286 समाचार-पत्रों को चेतावनी दी , 705 समाचार-पत्रों से सुरक्षा-धन की माँग की तथा कई की धनराशि को जब्त किया।

तब भी 20वीं सदी के दूसरे और तीसरे दशक में समाजवादी और साम्यवादी विचारों से प्रभावित कई नवीन समाचार-पत्र आरम्भ हुए। समाजवादियों ने **काँग्रेस सोशलिस्ट** का प्रकाशन शुरू किया, जबकि साम्यवादी विचारधारा का नेतृत्व **न्यू स्पार्क**, **नेशनल फ्रण्ट** और **पीपुल्स वार** आदि ने किया।

1921 ई. में तेजबहादुर सप्रू के नेतृत्व में समाचार-पत्रों की स्थिति पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गयी। इसकी रिपोर्ट के आधार पर 1908 ई. और 1910 ई. के कानून समाप्त कर दिये गये।

महात्मा गांधी द्वारा सविनय अवज्ञा आन्दोलन को आरम्भ किये जाने पर सरकार ने समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर पुनः प्रतिबन्ध लगाये। 1930 ई. में इस सम्बन्ध में एक

अध्यादेश जारी किया गया और 1931 ई. में एक अन्य कानून (Indian Press Act) बनाया गया जिसके द्वारा सरकार ने समाचार-पत्रों के प्रकाशन पर अंकुश लगाने अथवा उनके प्रकाशन को रोकने के सम्बन्ध में विस्तृत अधिकार प्राप्त किये। 1932 ई. के एक अन्य प्रेस एक्ट के द्वारा इन अधिकारों में और वृद्धि की गयी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान सरकार ने भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत विशेष अधिकार प्राप्त किये और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता को पूर्णतः नष्ट कर दिया। इसके पश्चात् 1947 ई. में एक समिति की रिपोर्ट के आधार पर ही भारत में प्रेस की स्वतन्त्रता को पुनः स्थापित किया जाना सम्भव हुआ। परन्तु साम्प्रदायिक दंगों के कारण भारत सरकार को प्रेस की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाने की पुनः आवश्यकता हुई और उसने **1951 ई. में एक प्रेस एक्ट बनाया।** इस प्रेस-कानून ने प्रेस द्वारा सुरक्षा-धन जमा करने, उस धन को जब्त करने, आपत्तिजनक समाचार को छपने से रोकने, प्रेस को बन्द कर देने आदि के सम्बन्ध में सरकार को विस्तृत अधिकार प्रदान कर दिये, यद्यपि हानिग्रस्त प्रेस को एक जूरी-मण्डल से न्याय माँगने का अधिकार भी दिया गया। 'अखिल भारतीय समाचार-पत्र सम्पादक-मण्डल' तथा जर्नलिस्टों की 'अखिल भारतीय फेडरेशन' ने इस कानून का विरोध किया। भारत सरकार को उनकी माँगों को स्वीकार करना पड़ा और उसने 1952 ई. में न्यायाधीश जी. एस. राजाध्यक्ष के सभापतित्व में एक प्रेस-कमीशन की नियुक्ति की। इस कमीशन ने 1954 ई. में अपनी रिपोर्ट दी। इसके पश्चात् सरकार ने प्रेस को स्वतन्त्र बनाये रखने के लिए विभिन्न नियम बनाये। परन्तु तब भी प्रेस को नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न किया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंग्रेजी शासनकाल में विकसित हुई शिक्षा और उसकी पद्धति का वर्णन कीजिए ।
2. अंग्रेजी शासनकाल में प्रेस के विकास के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

29

अंग्रेजों के भारतीय राज्यों से सम्बन्ध

अंग्रेजों के भारतीय राज्यों के साथ सम्बन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण रहे। विभिन्न भारतीय राज्यों का उत्थान मुगल-साम्राज्य के पतन के पश्चात् हुआ। वे पूर्णतः स्वतन्त्र थे, यद्यपि नाममात्र के लिए वे मुगल बादशाह का आधिपत्य स्वीकार करते थे। ऐसे ही समय में वे एक विदेशी शक्ति—अंग्रेजों—के सम्पर्क में आये जिसने मुगल-साम्राज्य के पतन से उत्पन्न हुए शक्ति के केन्द्र-स्थान की पूर्ति की।

भारतीय राज्यों के अंग्रेजों के साथ सम्बन्धों पर विचार करते हुए हमें दो बातों का ध्यान रखना पड़ता है। प्रथम, हम सभी भारतीय राज्यों को एक श्रेणी में नहीं रख सकते। वे विभिन्न श्रेणी के थे। पणिक्कर (Pannikar) ने उन्हें निम्नांकित तीन श्रेणियों में विभाजित किया :

1. वे जो सन्धियों के आधार पर पूर्णतः स्वतन्त्र थे;

2. वे जो सन्धियों के आधार पर अपने अधिकारों का प्रयोग किसी अन्य बड़ी शक्ति के नियन्त्रण में करते थे; और

3. वे जिनके अधिकार सनद या घोषणा-पत्रों पर आधारित थे।

द्वितीय, हमें ध्यान रखना पड़ता है कि उनके सम्बन्धों में कुछ परिस्थितियों के कारण, कुछ अंग्रेज कम्पनी के अधिकारियों के विचारों के कारण, कुछ विभिन्न गवर्नर-जनरलों के विचारों और उनकी महत्वाकांक्षाओं के कारण तथा कुछ वैलेजली और उसके सदृश अन्य गवर्नर-जनरलों के इस विचार के कारण कि अंग्रेज भारत की सर्वोच्च सत्ता हैं, परिवर्तन होते रहे।

विलियम ली वार्नर (William Lee Warner) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'भारत की देशी रियासतें'* (*The Native States of India*) में 1919 ई. के सुधारों के समय तक अंग्रेजी सरकार के भारतीय राज्यों के साथ सम्बन्धों के विषय में निम्नलिखित तीन युगों का उल्लेख किया :

1. रिंग-फेन्स नीति (Ring-Fence Policy) का युग, जो 1765 से 1813 ई. तक रहा।

2. अधीनस्थ अलगाव की नीति (Policy of Subordinate Isolation) का युग, जो 1813 से 1858 ई. तक रहा।

3. अधीनस्थ संघ की नीति (Policy of Subordinate Union) का युग, जो 1858 से 1919 ई. तक रहा।

1. रिंग-फेन्स नीति (1765-1813 ई.)

ली वार्नर के अनुसार इस काल में अंग्रेज कम्पनी ने भारतीय नरेशों के साथ स्वतन्त्र नरेशों की भाँति व्यवहार किया और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया। परन्तु

कुछ अवसरों पर जैसे वारेन हेस्टिंग्स और लॉर्ड वैलेजली के समय में इन राज्यों के पारस्परिक मामलों में कम्पनी ने हस्तक्षेप किया। बनारस की सन्धि, रुहेला-युद्ध और मराठा-युद्ध, द्वितीय मैसूर-युद्ध, तृतीय मैसूर-युद्ध, चतुर्थ मैसूर-युद्ध और द्वितीय मराठा-युद्ध इसके उदाहरण हैं। वैलेजली ने अवध और हैदराबाद के राज्यों को भी सहायक-सन्धि मानने के लिए विवश किया। लॉर्ड मिण्टो ने भी इसी समय 1809 ई. में महाराजा रणजीतसिंह से अमृतसर की सन्धि की थी।

इस प्रकार इस युग में भी अंग्रेजों ने भारतीय राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति का पूर्णतः पालन नहीं किया। जहाँ कहीं और जब कभी अंग्रेजों के हितों की सुरक्षा के लिए हस्तक्षेप करना आवश्यक समझा गया, वहाँ अंग्रेजों ने हस्तक्षेप किया। वास्तविक कारण यह था कि अंग्रेज प्रारम्भ में इतनी दृढ़ स्थिति में न थे कि वे प्रत्येक स्थान पर हस्तक्षेप कर पाते। वे उस समय भारत की विभिन्न शक्तियों में से एक थे। इस कारण वे उस समय तक इन राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करना पसन्द नहीं करते थे जब तक कि वह उनकी सुरक्षा अथवा साम्राज्य-विस्तार के लिए आवश्यक न हो। वारेन हेस्टिंग्स ने मराठों के आक्रमणों से सुरक्षा पाने हेतु अवध और रुहेलखण्ड में हस्तक्षेप किया था। प्रथम मराठा-युद्ध और द्वितीय मराठा-युद्ध भी इसी आधार पर लड़े गये थे।

लॉर्ड वैलेजली ने अपनी सहायक-सन्धि की नीति और युद्धों से अंग्रेजों को भारत की एक प्रमुख शक्ति बना दिया। परन्तु उस समय में भी भारतीय राज्यों और अंग्रेजों के सम्बन्धों पर विचार करते हुए निम्नलिखित दो बातें स्पष्ट हैं :

1. मैसूर राज्य के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों से सन्धियाँ समता के आधार पर की गयी थीं। उनमें कम्पनी ने किसी प्रकार के बड़प्पन अथवा साम्राज्यवादी अधिकारों का दावा नहीं किया था और प्रत्येक सन्धि यह स्पष्ट करती थी कि जिन राज्यों को जीता नहीं गया था, उनसे लेने-देने (Give and Take) की भावना पर सम्बन्ध स्थापित किये गये थे।

2. प्रत्येक सन्धि यह स्पष्ट करती थी कि शासक का अपनी प्रजा पर पूर्ण अधिकार होगा और राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की भावना का प्रत्येक सन्धि खण्डन करती थी।

इस प्रकार वैलेजली के समय तक भी अंग्रेजों ने राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया था। वे ऐसे अधिकार का कोई दावा नहीं करते थे यद्यपि आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप करते रहे थे। 1809 ई. में अमृतसर की सन्धि भी रणजीतसिंह केसतलज नदी के इस पार बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के आशय मात्र से की गयी थी।

2. अधीनस्थ अलगाव की नीति (1813-1858 ई.)

1805 ई. में लॉर्ड वैलेजली ने अंग्रेजी सत्ता को भारत की सर्वश्रेष्ठ शक्ति बना दिया। उसकी सहायक-सन्धि के कारण अधिकांश भारतीय नरेश अपनी विदेश-नीति की स्वतन्त्रता को ही नहीं खो बैठे बल्कि अपनी आन्तरिक नीति पर भी उनका पूर्ण अधिकार न रहा। परन्तु जो भी कार्य उससे बाकी रह गया उसे लॉर्ड हेस्टिंग्स ने अपने समय में पूरा कर दिया और 1818 ई. तक अंग्रेज भारत की सर्वोच्च शक्ति बन गये। लॉर्ड हेस्टिंग्स ने भारतीय नरेशों से जो सन्धियाँ कीं उनके अनुसार भारतीय नरेशों ने अपनी विदेश-नीति पूर्णतः अंग्रेजों के हाथों में दे दी। आन्तरिक नीति के विषय में यद्यपि यह स्वीकार किया गया था कि अंग्रेज कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे फिर भी वास्तविकता में अंग्रेजों का हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता गया। अवध, मैसूर, नागपुर, उदयपुर, जयपुर आदि राज्यों में किये गये हस्तक्षेप इस बात के प्रमाण

थे। किस राज्य में कितना हस्तक्षेप किया गया, यह अंग्रेज रेजीडेण्टों के व्यक्तित्व और स्वभाव पर निर्भर करता था। लेकिन लॉर्ड हेस्टिंग्स के विषय में यह बात स्वीकार की जाती है कि यद्यपि उसकी नीति अग्रगामी थी परन्तु उसने भारतीय नरेश-राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। लॉर्ड एम्हर्स्ट को बर्मा-युद्ध के कारण राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर नहीं मिल पाया लेकिन फिर भी भरतपुर राज्य में उसे हस्तक्षेप करना पड़ा जबकि दुर्जनसाल ने राज्य के वास्तविक उत्तराधिकारी राजा बलदेवसिंह की गद्दी पर अधिकार कर लिया और अंग्रेजों के विरुद्ध मराठों और राजपूतों से मिलने का प्रयत्न किया।

लॉर्ड हेस्टिंग्स और 1857 ई. के विद्रोह के बीच के समय में अंग्रेजों और भारतीय शासकों के सम्बन्धों पर दृष्टिपात करते हुए निम्नलिखित दो बातें स्पष्ट होती हैं :

1. भारतीय नरेशों के आन्तरिक मामलों में अंग्रेज रेजीडेण्टों का हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता गया; और

2. इस समय के गवर्नर-जनरल स्पष्ट रूप से साम्राज्यवादी थे जो अंग्रेजी साम्राज्य का विस्तार करते गये।

अंग्रेजों की इस साम्राज्यवादी नीति के आधार राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही थे। राजनीतिक आधार पर उनकी लालसा अधिकाधिक भारतीय भूमि को प्रत्यक्ष रूप से अपने राज्य में सम्मिलित करने की थी। आर्थिक आधार पर वे जानते थे कि जितनी अधिक भूमि उनके पास होगी उतनी ही आवागमन की सुविधाएँ उन्हें प्राप्त होंगी, उतनी ही अधिक आय बढ़ेगी और उतनी ही उनके व्यापार की उन्नति होगी। इस कारण, इस समय में अंग्रेजों ने साम्राज्य-विस्तार और आर्थिक लाभ की आशा से भारतीय नरेशों की अधिक से अधिक भूमि पर अधिकार किया। अंग्रेजों के कथनानुसार भारतीय नरेशों के दोषपूर्ण शासन से भारतीय प्रजा की रक्षा करने तथा उन्हें अंग्रेजी शासन की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए अंग्रेजों ने साम्राज्य-विस्तार किया। परन्तु यह केवल बहाना मात्र था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय नरेशों का शासन दोषपूर्ण था परन्तु इसके लिए स्वयं अंग्रेज भी उत्तरदायी थे। अंग्रेज रेजीडेण्टों के विस्तृत अधिकारों और उचितानुचित हस्तक्षेप के कारण भारतीय नरेश अपने शासन में कोई सुधार करने की स्थिति में न थे। स्वयं हेनरी लॉरेन्स ने 1848 ई. में लिखा था : "अगर कुशासन की व्यवस्था के लिए कोई तरीका है तो वह यह है कि एक भारतीय नरेश और उसका मन्त्री एक अंग्रेज रेजीडेण्ट द्वारा चालित संगीनों पर निर्भर करे।"[1]

भारतीय नरेशों के कुशासन के आधार पर साम्राज्य-विस्तार की यह नीति, जो लॉर्ड विलियम बेन्टिक के समय से आरम्भ हुई, लॉर्ड ऑकलैण्ड के समय में सुदृढ़ की गयी। 1841 ई. में डायरेक्टरों की सभा (Board of Directors) ने घोषणा की : "न्याय और सम्मान के साधनों द्वारा किसी भी भूमि और आय को हस्तगत करने का अवसर नहीं छोड़ा जायेगा।"[2] लॉर्ड डलहौजी के समय में यह नीति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी जबकि युद्ध द्वारा ही नहीं बल्कि 'गोद की प्रथा' और 'दोषपूर्ण शासन-व्यवस्था' के आधार पर अधिकांश भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया। 'गोद की प्रथा' (Doctrine of Lapse) के अनुसार अंग्रेजों ने निश्चित किया कि यदि किसी भारतीय नरेश की मृत्यु हो जाय और

---

1 "If ever there was a device for insuring mal-government, it is that of a Native Ruler and minister both relying on foreign bayonets and directed by a British resident." —*Henry Lawrence*.

2 "No just and honourable accession of territory of revenue would be abandoned." —*Court of Directors*, 1841.

उसका स्वयं का कोई उत्तराधिकारी न हो तो उसके राज्य की सत्ता अंग्रेजों अर्थात् सर्वोच्च शक्ति के हाथों में चली जायेगी। उस समय में सन्तानहीन नरेशों को किसी बच्चे को गोद लेने का अधिकार नहीं दिया गया। इसके लिए अंग्रेजों की स्वीकृति आवश्यक थी। अंग्रेजों का कहना था कि उसका यह अधिकार उन राज्यों के सम्बन्ध में था जो अंग्रेजों पर निर्भर करते थे या जिन्हें अंग्रेजों द्वारा स्थापित किया गया था। परन्तु यह कहना कि अंग्रेजों ने भारत में कुछ राज्यों का निर्माण किया था, अंग्रेज मुगल बादशाह के पश्चात् सर्वोच्च सत्ता थे और भारतीय नरेशों को बच्चा गोद लेने के लिए उनकी स्वीकृति की आवश्यकता थी जिसे वे अस्वीकार भी कर सकते थे, विवादपूर्ण है। अंग्रेजों के इन अधिकारों का मुख्य आधार शक्ति था, न कि कोई नैतिक आधार। सत्यता यह है कि साम्राज्यवाद के सिद्धान्त का आरम्भ 1834 ई. से ही हो गया था परन्तु डलहौजी ने उसको विस्तृत रूप से कार्य-रूप में परिणत किया। डलहौजी के विषय में इन्स (Innes) ने लिखा है : "उससे पहले के गवर्नर-जनरल साधारणतः इस सिद्धान्त पर कार्य करते थे कि साम्राज्य का विस्तार न किया जाये, यदि वह टल सकता है। डलहौजी ने साधारणतः इस सिद्धान्त का पालन किया कि साम्राज्य-विस्तार करना चाहिए जहाँ कहीं ऐसा सम्भव हो।"[1] डलहौजी की नीति का समर्थन कम्पनी के डायरेक्टरों ने भी किया। करौली राज्य को छोड़कर डलहौजी द्वारा हस्तगत किये गये सभी राज्यों को डायरेक्टरों की स्वीकृति से अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया।

इस समय में सिन्ध, पंजाब, बर्मा और असम युद्ध द्वारा अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किये गये। इनके अतिरिक्त, समय-समय पर अन्य राज्यों को भी विभिन्न आधारों पर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया। 1831 ई. में दोषपूर्ण शासन के आधार पर उदयपुर और मैसूर के शासकों को हटाया गया और 1881 ई. तक वहाँ अंग्रेजों ने शासन किया। इसी आधार पर कछार, कुर्ग, मणिपुर और जैन्तिया के राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया। 1842 ई. में लॉर्ड ऑकलैण्ड ने कुर्नूल को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया। 1843 ई. में लॉर्ड ऐलनबरो ने ग्वालियर राज्य में सशस्त्र हस्तक्षेप किया। यद्यपि ग्वालियर को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया परन्तु एक सन्धि के द्वारा उसकी सेना कम कर दी गयी और उसे एक 'संरक्षित राज्य' (Protected State) घोषित कर दिया गया। डलहौजी से पहले भी 'गोद की प्रथा' के आधार पर 1839 ई. में माण्डवी, 1840 ई. में कोलाबा और जालौन तथा 1842 ई. में सूरत को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया था। डलहौजी के समय में इस आधार पर 1848 ई. में सतारा, 1850 ई. में जैतपुर, सम्भलपुर और बैजहॉट, 1852 ई. में उदयपुर, 1853 ई. में झाँसी और 1854 ई. में नागपुर को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया। डलहौजी ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा था : "जिन राज्यों की उत्पत्ति हमारी सनद या मेहरबानी से हुई थी, यदि वहाँ पर कोई उत्तराधिकारी नहीं है, तो हम अपनी सनद के आधार पर ही उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लेते हैं।"[2] लेकिन डलहौजी का यह विचार विवादपूर्ण है। अंग्रेजों ने भारत में किसी राज्य की स्थापना की थी, यह कहना गलत है। प्रत्येक राज्य किसी न किसी रूप में अंग्रेजों से पहले ही विद्यमान था। इस कारण डलहौजी का मुख्य आधार साम्राज्यवादी था। सतारा और नागपुर राज्यों को हस्तगत कर लेने के विषय में डलहौजी के समर्थक ली वार्नर (Lee Warner) ने भी लिखा है : "इसके लिए साम्राज्यवादी कारण

---

1 "His predecessors had acted on the general principle of avoiding annexation if it could be avoided; Dalhousie acted on the general principle of annexing if he could do so legitimately."
—*Innes.*

2 "In states owning their origin to our grant of gift, if heirs fail, according to the terms of our grant we annex."
—*Lord Dalhousie.*

प्रमुख थे। वे बम्बई और मद्रास तथा बम्बई और कलकत्ता के मार्ग में पड़ते थे। इन्हें अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करके अंग्रेजी राज्य को संगठित किया गया।"[1]

इसके अतिरिक्त, 1850 ई. में सिक्किम के राजा से 1,676 वर्गमील का भू-क्षेत्र प्राप्त किया गया और 1853 ई. में हैदराबाद से बरार का सूबा लिया गया। डलहौजी ने अनेक राजाओं की पेंशन आदि भी बन्द कर दी तथा 1856 ई. में शासन की खराबी के आधार पर अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

3. अधीनस्थ संघ की नीति (1858-1919 ई.)

1857 ई. के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों और भारतीय नरेशों के सम्बन्धों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। भारतीय नरेशों ने विद्रोह के समय में अंग्रेजों को बहुत सहायता दी थी जिसके उपलक्ष्य में उनमें से अनेक को पद, सम्मान और भू-क्षेत्र प्रदान किये गये। 1858 ई. में जब ब्रिटिश क्राउन ने भारत की राजसत्ता अपने हाथ में ली तब भारतीय नरेशों से कम्पनी द्वारा की गयी सन्धियों को पूर्णतः स्वीकार करा लिया गया। इस प्रकार कानूनी तौर पर तो अंग्रेजों और भारतीय नरेशों के सम्बन्धों में तुरन्त कोई परिवर्तन नहीं हुआ परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से धीरे-धीरे उनके सम्बन्धों में परिवर्तन आता गया। सर्वप्रथम, भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित करने की नीति को छोड़ दिया गया। 1858 ई. में महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में स्पष्ट किया कि "हमें अपने वर्तमान राज्य की सीमाओं में वृद्धि करने की कोई इच्छा नहीं है। हम अपनी सीमाओं और अधिकारों पर किसी अन्य के द्वारा अधिकार करना पसन्द नहीं करते और हम किसी अन्य की सीमा या अधिकारों को छीनने का प्रयत्न नहीं करेंगे।" द्वितीय, उसी अवसर पर यह भी स्वीकार किया गया कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपने धर्म के अनुसार किसी भी बालक को उत्तराधिकारी के रूप में गोद लेने का अधिकार है। परन्तु यह स्पष्ट कर दिया गया कि ऐसे प्रत्येक अवसर पर भारतीय नरेशों को अपने उत्तराधिकारी के लिए ब्रिटिश सरकार की अनुमति लेनी होगी।

इस प्रकार रानी की घोषणा द्वारा भारतीय नरेशों को उनकी सीमाओं और सम्मान की सुरक्षा का आश्वासन अवश्य दिया गया परन्तु भारतीय राज्य निश्चित रूप से ब्रिटिश सरकार के अधीन स्वीकार किये गये। आगे आने वाले समय में भारत सरकार की नीति का आधार था कि भारतीय राज्य स्वतन्त्र और विदेशी राज्य नहीं हैं बल्कि भारत के सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग हैं जिनकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर है। लॉर्ड कैनिंग ने 1862 ई. में घोषणा की : "इंगलैण्ड का क्राउन ही भारत की निर्विवाद सर्वोच्च सत्ता है।"[2] लॉर्ड कैनिंग से लॉर्ड कर्जन तक सभी गवर्नर-जनरलों ने निरन्तर इसी बात पर बल दिया कि अंग्रेज सरकार भारत की सर्वोच्च सत्ता है, और विभिन्न तरीकों व कारणों से अंग्रेज सरकार का अधिकार भारतीय राज्यों पर बढ़ता गया। 1875 ई. में प्रिन्स ऑफ वेल्स (Prince of Wales) इसी उद्देश्य से भारत आया तथा 1876 ई. में लॉर्ड लिटन ने दिल्ली-दरबार का आयोजन किया जिसमें महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित किया गया।

इस समय भारत सरकार ने 'भारत की राजनीतिक एकता के सिद्धान्त' (Theory of One Charge) को आरम्भ किया। भारत के समस्त महत्वपूर्ण स्थानों को रेल और तार द्वारा

---

1 "Imperial considerations weighted with him—they were placed right across the lines of communication between Bombay and Madras, and Bombay and Calcutta. Consolidation was, therefore, to be secured by their annexation."—*Lee Warner.*

2 "The Crown of England stood forward the unquestioned ruler and paramount power in India." —*Lord Canning.*

एक-दूसरे से जोड़ दिया गया और ऐसा करने में राज्य की सीमाओं का कोई ध्यान नहीं रखा गया। पोस्ट-ऑफिस की व्यवस्था भी भारत सरकार ने अपने हाथों में रखी। अंग्रेजों की मुद्रा सम्पूर्ण भारत में सर्वमान्य हो गयी। विश्वविद्यालय ऐसे स्थान बन गये जहाँ सम्पूर्ण भारत के विद्यार्थी पढ़ने के लिए जाने लगे। अंग्रेजों द्वारा स्थापित उच्च न्यायालय (High Courts) भारतीय नरेशों के न्यायालयों के लिए आदर्श बन गये। भारत सरकार ने अस्त्र-शस्त्रों पर अपना पूर्ण अधिकार रखा। राज्यों के दीवानों, मुख्य-मन्त्रियों तथा अन्य बड़े पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक हो गयी। अल्पवयस्क भारतीय नरेशों के लिए संरक्षक नियुक्त करने तथा उनके शासन की देखभाल करने का अधिकार भी भारत सरकार को प्राप्त हो गया। राज्य के लिए कोई भी महत्वपूर्ण कानून बनाने हेतु भारत सरकार की स्वीकृति आवश्यक हो गयी। इस प्रकार धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय में अब अन्तिम उत्तरदायित्व भारत की अंग्रेज सरकार का है और भारतीय नरेश पूर्णतः उसके अधीन हैं।

राजनीतिक एकता के इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से अंग्रेजों के अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों में वृद्धि हुई। 1860 ई. में लॉर्ड कैनिंग ने घोषणा की कि भारत सरकार को भारतीय नरेशों के कुशासन को ठीक करने का अधिकार है। लॉर्ड मेयो ने राजपूताना के शासकों के सामने कहा था : "अगर हम तुम्हारे अधिकारों और विशेष सुविधाओं का ध्यान रखते हैं तो तुम्हारा भी कर्तव्य है कि तुम उन व्यक्तियों के अधिकारों और विशेष सुविधाओं का ध्यान रखो जो तुम्हारे अधीन हैं। अगर हम तुम्हारी शक्ति स्थापित रखने में तुम्हें सहायता देते हैं तो तुमसे भी अच्छे शासन की अपेक्षा की जाती है।"[1]

लॉर्ड मेयो ने भारतीय राज्यों से अपने सम्बन्धों के विषय में निम्नलिखित तीन बातें स्पष्ट की थीं :

1. अंग्रेज भारतीय शासकों के कुशासन के अवसर पर उनके राज्यों में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार रखते हैं।

2. यदि किसी योग्य शासक के विरुद्ध राज्यों में कोई विद्रोह होता है तो अंग्रेज उस विद्रोह को दबायेंगे।

3. किसी भी राज्य में अंग्रेज गृह-युद्ध नहीं होने देंगे।

भारतीय राज्यों में विभिन्न समय पर अंग्रेजों ने हस्तक्षेप किया। इन हस्तक्षेपों में तीन उदाहरणस्वरूप लिये जा सकते हैं—बड़ौदा का मामला (1873-75 ई.), मणिपुर का मामला (1891-92 ई.), और हैदराबाद का मामला (1926 ई.)।

बड़ौदा राज्य के शासक मल्हारराव पर कुशासन का आरोप लगाया गया और इस पर विचार करने के लिए तीन व्यक्तियों के एक कमीशन की नियुक्ति की गयी। उसे शासन को ठीक करने के आदेश दिये गये। परन्तु एक वर्ष के उपरान्त उस पर आरोप लगाया गया कि उसने अंग्रेज रेजीडेण्ट को जहर देने का प्रयत्न किया था। 13 जनवरी, 1875 ई. को मल्हारराव को कैद कर लिया गया। उसका न्याय करने के लिए एक विशेष न्यायालय का गठन किया गया जिसमें तीन अंग्रेज और तीन भारतीय न्यायाधीश थे। भारतीयों में सिन्धिया, जयपुर का शासक और राजा सर दिनकर राव थे। भारतीय न्यायाधीशों ने मल्हारराव को निर्दोष पाया, फिर भी भारत सरकार ने उसे और उसके उत्तराधिकारियों को गद्दी से वंचित कर दिया।

---

1 "If we respect your rights and privileges, you should also respect the rights and privileges of those who are placed beneath your care. If we support you in your power, we expect in return good government."

—*Lord Mayo to the Princes of Rajputana.*

1891 ई. में मणिपुर में विद्रोह हुआ। इस कारण राजा शूरचन्द्रसिंह को गद्दी से हटा दिया गया, उसके भाई सेनापति को फाँसी दे दी गयी और एक अंग्रेज प्रतिनिधि के संरक्षण में राज्य एक बालक को सौंप दिया गया। इस झगड़े से अंग्रेज और भारतीय नरेशों के सम्बन्धों के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्त निर्धारित हुए :

1. अंग्रेजों को किसी राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न का निर्णय करने का अधिकार था।

2. अंग्रेजों की आज्ञा का पालन न करना राजा के विरुद्ध विद्रोह माना जा सकता था।

3. अंग्रेजों को भारतीय राजाओं अथवा अंग्रेजों के विरोधी राज्य के व्यक्तियों को कठोर से कठोर दण्ड देने का अधिकार था।

4. भारतीय राज्यों के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून स्वीकार नहीं किये जा सकते थे।

1926 ई. में हैदराबाद के राज्यों में हस्तक्षेप किया गया और उस समय यह स्पष्ट कर दिया गया कि भारतीय नरेश अंग्रेजों के संरक्षण में ही सुरक्षित हैं। इस कारण आन्तरिक अशान्ति या विद्रोह की स्थिति में अंग्रेजों को भारतीय नरेशों के राज्यों में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है।

लॉर्ड कर्जन ने सर्वोच्च सत्ता के अधिकारों पर बल दिया। परन्तु उसके समय में भारत में अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध जो असन्तोष फैला उससे अंग्रेजों ने अपने व्यवहार में कुछ परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। यद्यपि यह परिवर्तन कर्जन से पहले ही आरम्भ हो गया था परन्तु कर्जन के पश्चात् इस दिशा में कुछ निश्चित कदम उठाये गये। सर्वप्रथम, भारतीय नरेशों की सेना को भारतीय सेना का एक अंग स्वीकार किया गया और उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था अंग्रेज अफसरों द्वारा की गयी। द्वितीय, भारतीय नरेशों को आपस में सम्पर्क स्थापित करने का अवसर दिया गया। भारतीय नरेशों की एक सलाहकार-समिति बनाने का विचार लॉर्ड लिटन ने आरम्भ किया था। उसके पश्चात् लॉर्ड कर्जन, लॉर्ड मिण्टो आदि ने भी इस विचार को कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयास किया। परन्तु ब्रिटिश सरकार के विरोध के कारण यह कार्य सम्भव न हो सका। लेकिन प्रथम महायुद्ध के पश्चात् यह आवश्यक समझा गया कि भारतीय नरेशों को ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के कार्य में सम्मिलित किया जाय। लॉर्ड हार्डिंज ने भारतीय नरेशों को समय-समय पर विचार-विमर्श के लिए बुलाना आरम्भ किया। बाद में मोण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में सुझाव दिया गया कि भारतीय नरेशों की एक स्थायी परिषद होनी चाहिए और इस आधार पर 1921 ई. में एक 'राजाओं की परिषद' (Chamber of Princes) स्थापित की गयी।

4. 1919 से 1935 ई. तक का समय

यह समय भी अधीनस्थ संघ की नीति का ही रहा जिसमें एक तरफ राजाओं की परिषद के द्वारा भारतीय नरेशों से सम्पूर्ण भारत के शासन की एकता को स्थापित रखने हेतु सहयोग लेने का प्रयत्न किया गया और दूसरी तरफ भारत सरकार की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट किया गया। राजाओं की परिषद की स्थापना से दो बातें स्पष्ट हुई थीं—प्रथम, भारतीय नरेशों को अपने राज्यों के विषय में आपस में बातचीत करने का अधिकार है। दूसरे, सम्पूर्ण भारत के लिए किसी भी नीति को निश्चित करते समय भारतीय नरेशों से सलाह ली जायेगी। इससे भारतीय नरेशों के अधिकारों में कुछ वृद्धि अवश्य हुई परन्तु उसका प्रभाव भारत सरकार की सर्वोच्च सत्ता पर नहीं पड़ा। यह बात लॉर्ड रीडिंग के उस पत्र से स्पष्ट होती है जो उसने 17 मार्च, 1926 ई. को हैदराबाद के निजाम के पत्र के उत्तर में लिखा था। इस पत्र में स्पष्ट कर दिया गया था कि निजाम के कोई स्वतन्त्र अधिकार न थे और सर्वोच्चता के

आधार पर भारत सरकार उसके राज्य के आन्तरिक मामलों में कभी भी हस्तक्षेप कर सकती थी।

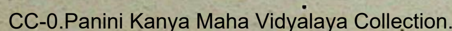
भारतीय नरेशों को इस पत्र की भावना और भाषा से बहुत चिन्ता हुई और उन्होंने अपने अधिकारों के स्पष्टीकरण की इच्छा व्यक्त की। इसके परिणामस्वरूप 1928 ई. में बटलर-समिति (Butler Committee) (उसके सभापति बटलर के नाम से विख्यात) की स्थापना हुई। इस समिति ने भारत सरकार की सर्वोच्चता के अधिकार (paramountcy must remain paramount) को ही स्पष्ट नहीं किया बल्कि एक और बात भी स्पष्ट की कि (1) सम्पूर्ण भारत की आर्थिक उन्नति, अथवा (2) शासन में परिवर्तन हेतु किसी भी जन-आन्दोलन की स्थिति में भारत सरकार भारतीय नरेशों के राज्यों में हस्तक्षेप करेगी।

5. 1935 से 1947 ई. तक का समय

इस समय तक भारतीय नरेशों के राज्यों को एकीकृत करके भारत में एक संघ-राज्य की स्थापना का विचार बन चुका था। नेहरू-समिति और भारतीय स्टेट्यूटरी कमीशन ने इसके पक्ष में अपने विचार प्रकट किये थे तथा भारतीय नरेशों ने इस सम्बन्ध में आयोजित विभिन्न गोलमेज-परिषदों में भाग ही नहीं लिया था वरन् संघ-राज्य के पक्ष में अपने विचार भी प्रकट किये थे। 1935 ई. में भारत-सरकार कानून के द्वारा भारत में संघ-राज्य की स्थापना की

भारत एवं बर्मा
1937 ई॰

ब्रिटिश साम्राज्य
अधीन भारतीय नरेशों के राज्य
ब्रिटिश संरक्षण में राज्य



व्यवस्था की गयी, यद्यपि देशी नरेशों के राज्यों का उसमें सम्मिलित होना उनकी इच्छा पर छोड़ दिया गया। 1937 ई. में नवीन एक्ट को कार्य-रूप में परिणत करने हेतु चुनाव हुए परन्तु विभिन्न कारणों और मुख्यतः द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ हो जाने से नवीन शासन-पद्धति की शुरूआत नहीं की जा सकी।

द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर अखिल भारतीय काँग्रेस ने भारत सरकार के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने हर सम्भव प्रयास किया और विभिन्न योजनाएँ प्रस्तुत कीं; जैसे—क्रिप्स-योजना (1942 ई.), वैवेल-योजना (1945 ई.), कैबिनेट मिशन योजना (1946 ई.) आदि। इन योजनाओं में इस बात पर विशेष बल दिया गया था कि भारत के स्वतन्त्र होने पर भारतीय नरेशों से ब्रिटिश सर्वोच्चता समाप्त हो जायेगी। 20 फरवरी, 1947 ई. की ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री एटली की घोषणा और 3 जून, 1947 ई. की भारत के गवर्नर-जनरल माउण्टबेटन की योजना में भी यही स्पष्ट किया गया कि भारत के स्वतन्त्र होने पर ब्रिटिश सर्वोच्चता समाप्त हो जायेगी और भारतीय राज्य भारत या पाकिस्तान में से किसी भी एक के साथ सम्मिलित होने के लिए स्वतन्त्र होंगे। कुछ भारतीय शासक यह भी चाहते थे कि ब्रिटिश सर्वोच्चता के समाप्त होने पर उन्हें इन दोनों राज्यों (भारत और पाकिस्तान) से पृथक रहने का भी अधिकार होना चाहिए परन्तु लॉर्ड माउण्टबेटन ने इस अधिकार को अव्यावहारिक मानकर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। ऐसी स्थिति में 1947 ई. का 'भारतीय स्वतन्त्रता एक्ट' बना जिसके परिणामस्वरूप भारत और पाकिस्तान नाम के दो राज्यों का निर्माण हुआ। भारतीय राज्यों से ब्रिटिश सर्वोच्चता समाप्त हो गयी और भारतीय नरेशों के राज्य इन दो राज्यों में से एक के साथ मिलने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिये गये।

6. भारतीय राज्यों का पुनर्गठन और विलय

15 अगस्त, 1947 ई. से पहले एक अस्थायी सरकार का निर्माण किया गया था जिसमें सरदार पटेल गृह-मन्त्री के रूप में कार्य कर रहे थे। उनके प्रयत्नों से भारतीय राज्यों के पुनर्गठन और भारत में उनको सम्मिलित किये जाने का कार्य आरम्भ हुआ। बहुत-से भारतीय राज्य भारत के विभिन्न प्रान्तों के साथ सम्मिलित कर दिये गये। उड़ीसा के विभिन्न भारतीय राज्य उड़ीसा प्रान्त में सम्मिलित कर दिये गये, कुछ राज्य मध्य-भारत में सम्मिलित कर दिये गये और गुजरात को बम्बई के साथ मिला दिया गया। कुछ अन्य छोटे-छोटे राज्यों के शासन को भारत सरकार ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया; जैसे—हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य-प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, भोपाल, बिलासपुर और कच्छ। कुछ ऐसे भी राज्य थे जिन्हें एक-दूसरे के साथ सम्मिलित करके संयुक्त राज्य बना दिया गया; जैसे—मत्स्य-यूनियन, पेप्सू (Pepsu), राजस्थान, काठियावाड़ यूनियन आदि। इस प्रकार अधिकांश भारतीय राज्य भारत के साथ सम्मिलित हो गये। कुछ राज्य पाकिस्तान के साथ भी सम्मिलित हुए। केवल दो बड़े राज्यों—कश्मीर और हैदराबाद—ने अपने को स्वतन्त्र राज्य बनाये रखने का प्रयत्न किया। परन्तु वे असफल रहे। 1948 ई. में कश्मीर और हैदराबाद दोनों ने ही भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंवश भारत के साथ सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय नरेशों के राज्य भारत से समाप्त हो गये। समय के अनुसार उनका पुनर्गठन भी किया गया है। उनमें और भारत के अन्य राज्यों में शुरू-शुरू में जो अन्तर थे उन्हें समाप्त कर दिया गया और अब सम्पूर्ण भारत के लिए एक संविधान, एक शासन-व्यवस्था और एक नागरिकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. अंग्रेजों द्वारा भारतीय नरेशों के प्रति अपनायी गयी 'रिंग-फेन्स नीति' को स्पष्ट कीजिए।
2. अंग्रेजों द्वारा भारतीय नरेशों के प्रति अपनायी गयी 'अधीनस्थ अलगाव' की नीति का वर्णन कीजिए।
3. क्या अंग्रेजों द्वारा भारतीय नरेशों के प्रति अपनायी गयी 'अधीनस्थ संघ' की नीति ने भारतीय नरेशों के अधिकारों में वृद्धि की ?
4. 1765-1919 ई. के मध्य अंग्रेजों द्वारा भारतीय नरेशों के प्रति अपनायी गयी नीति की समीक्षा कीजिए।
5. क्या अंग्रेजों द्वारा भारतीय नरेशों के प्रति 1919-1947 ई. के मध्य अपनायी गयी नीति उदार नीति स्वीकार की जा सकती है ?

30

भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन और उन्नीसवीं सदी के धार्मिक व सामाजिक आन्दोलन

भारतीय पुनरुद्धार अथवा पुनर्जागरण-आन्दोलन 19वीं सदी के भारत की एक महान् विशेषता है। 19वीं सदी के आरम्भ तक भारतीय सभ्यता पश्चिमी सभ्यता से आतंकित हो गयी थी। भारतीय अंग्रेजी भाषा, वेश-भूषा, साहित्य और ज्ञान को श्रेष्ठ मानने लगे थे। शिक्षित भारतीय अपनी सभ्यता में विश्वास खोते जा रहे थे। उस अवसर पर भारतीय सभ्यता में विभिन्न कारणों से एक नवीन चेतना आयी जिसने एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया और भारत के समाज, धर्म, साहित्य और राजनीतिक जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया। इसी चेतना, भावना और इससे प्रभावित विभिन्न प्रयत्नों को हम भारतीय पुनरुद्धार आन्दोलन (Indian Renaissance) के नाम से पुकारते हैं। जिस प्रकार 16वीं सदी में यूरोप में हुए पुनर्जागरण ने यूरोप के धर्म, समाज, कला, साहित्य, आदि को प्रभावित किया था उसी प्रकार भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन किया। यह भारत की एक नवीन जागृति थी जिसने पश्चिमी सभ्यता से तर्क, समानता और स्वतन्त्रता की भावना प्राप्त करके भारत के प्राचीन गौरव को स्थापित करने का प्रयत्न किया और साथ ही साथ प्राचीन भारतीय सभ्यता के दोषों को दूर करते हुए उसे प्रगति के लिए नवीन आधार और जीवन प्रदान किया। भारत की सभ्यता और संस्कृति श्रेष्ठ है, उसमें प्रगति करने का साहस है और वह पश्चिमी सभ्यता के मुकाबले खड़ी हो सकती है—यह पुनर्जागरण-आन्दोलन का आधार था, जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन और सुधार उसका व्यावहारिक स्वरूप था तथा भारत के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, साहित्यिक, धार्मिक एवं कलात्मक क्षेत्र में एक नवीन चेतना प्रदान करना उसका परिणाम था। भारत को पश्चिमी सभ्यता का अंग बनने से रोकना, भारतीयों में आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास उत्पन्न करना, परम्परागत धर्म और समाज में विभिन्न परिवर्तन करना तथा नवीन भारत का निर्माण करना भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन की आधुनिक भारत को देन है। प्रारम्भ में पुनरुद्धार-आन्दोलन एक बौद्धिक परिवर्तन था, बाद में वह अनेक सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों का आधार बना तथा अन्त में उसने भारत के राजनीतिक आन्दोलन को जीवन प्रदान करने में सहयोग दिया। भारतीय जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र बाकी न रहा था जिस पर इस आन्दोलन का प्रभाव न पड़ा हो।

(अ) कारण

19वीं सदी के आरम्भ में अनेक ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हुआ जिनके कारण भारत में यह आन्दोलन हुआ। मुगल-साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत की राजनीतिक एकता नष्ट हो गयी थी। अंग्रेजों ने पुनः भारत को राजनीतिक एकता प्रदान की। राजनीतिक एकता से उत्पन्न व्यवस्था, एकता और शान्ति ने भारतीयों को अपने बारे में सोचने का अवसर प्रदान

किया। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी शासन विदेशी था जिससे भारतीय अपनी दुर्बलताओं और दोषों के विषय में जानने के लिए उत्सुक हुए।

अंग्रेजी शासन-काल में भारत ने एक बार फिर **विदेशों से सम्पर्क स्थापित किया** और यूरोप के विभिन्न राज्यों के अतिरिक्त अमेरिका, चीन, जापान, रूस आदि राज्यों से भी उसका सम्पर्क हुआ। इससे भारत को विभिन्न व्यक्ति-समूहों की सामाजिक व्यवस्था, शासन, राजनीतिक विचार, आर्थिक व्यवस्था, औद्योगीकरण आदि के बारे में पता लगा। इससे भी भारत में अपने में सुधार करने तथा प्रगति करने की भावना आयी।

1813 ई. के पश्चात् ईसाई पादरियों ने पर्याप्त बड़ी संख्या में भारत आना आरम्भ किया था। उन **ईसाई धर्म-प्रचारकों** ने भारतीय धर्म का मजाक उड़ाया और भारत में ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का प्रचार किया। शिक्षा, दान, अस्पताल, सेना आदि सभी का उपयोग उन्होंने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए किया। भारत सरकार ने भी उनके कार्य में सहायता प्रदान की। उन प्रचारकों ने सामाजिक कुरीतियों को धर्म में सम्मिलित करके हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों पर कठोर प्रहार करने आरम्भ किये और भारतीय मुख्यतः हिन्दू, बहुत बड़ी संख्या में ईसाई धर्म को स्वीकार करने लगे। इस कारण हिन्दू और मुसलमान दोनों अपने धर्म की रक्षा के प्रति सजग हुए और इसी कारण 19वीं सदी के आरम्भ में अनेक सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलन हुए।

19वीं सदी में भारतीयों ने अपने भूतकाल के गौरव का ज्ञान सर्वप्रथम विदेशी विद्वानों के प्रयत्नों से प्राप्त किया। विलियम जोन्स और मैक्समूलर जैसे विभिन्न विदेशी विद्वानों ने प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का अध्ययन किया, अंग्रेजी में उनका अनुवाद किया और बताया कि ये ग्रन्थ संसार की सभ्यता की अमूल्य निधियाँ हैं। पश्चिम के विद्वानों ने भारत की अनेक कला-कृतियों और सभ्यता के केन्द्रों की खोज की तथा उससे प्राचीन भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित की। जब भारतीयों को यह पता लगा कि पश्चिम के विद्वान भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और कला को इतना श्रेष्ठ बताते हैं तब उन्हें अपने आत्म-सम्मान और गौरव का आभास हुआ, अपने धर्म और संस्कृति में उनका विश्वास उत्पन्न हुआ तथा उन्होंने उनकी श्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न किया।

भारतीय समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, साहित्य आदि ने इसमें सहयोग प्रदान किया। प्रेस (छापाखाना) की स्थापना हो जाने से विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा हुई। ऐसे समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें आदि छपने लगीं जिनमें न केवल अंग्रेजों के दुर्व्यवहार की घटनाएँ छपती थीं बल्कि भारतीय राष्ट्रवादियों के विचार भी छपते थे। भारतीयों के प्रति अंग्रेजों का व्यवहार हीनता, शोषण और क्रूरता का था। समाचार-पत्रों ने इनका ज्ञान भारतीयों को कराया जिससे उनमें आत्म-सम्मान की सुरक्षा की भावना जाग्रत हुई और उन्होंने अपने समाज व धर्म की रक्षा हेतु प्रयत्न आरम्भ किये।

अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का इसमें महत्वपूर्ण योगदान रहा। भारत में अंग्रेजी की शिक्षा का आरम्भ ईसाई पादरियों और स्वयं भारतीयों के प्रयत्नों से हुआ। 1835 ई. में यह भाषा शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर ली गयी। अनेक भारतीय शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंगलैण्ड गये और उन्होंने अन्य यूरोपीय देशों की यात्रा भी की। अंग्रेजी भाषा ने पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता के दरवाजे भारतीयों के लिए खोल दिये। पश्चिम के स्वतन्त्रता, समानता, जनतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचारों से भारतीय प्रभावित हुए, मैजिनी और गैरीबाल्डी की जीवनियाँ उनके लिए आदर्श बन गयीं तथा विज्ञान, भूगोल और राजनीतिशास्त्र उनके अध्ययन के

रोचक विषय-बन गये। सम्भवतः भारतीय विचारधारा पर इतना अधिक किसी अन्य का प्रभाव नहीं पड़ा। अंग्रेजी के अध्ययन ने आधुनिक भारत के निर्माण में अत्यधिक योग दिया और तत्कालीन समाज एवं व्यवस्था पर इसने क्रान्तिकारी प्रभाव डाला।

भारत के पुनर्जागरण का एक मूल कारण भारत में **पश्चिमी सभ्यता का प्रचार था।** भारतीय सभ्यता पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में ऐसे समय में आयी जब बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद यूरोप के विचारों पर आधिपत्य जमाये हुए थे। ऐसी स्थिति में एक बार तो पश्चिमी सभ्यता के सम्मुख भारतीय सभ्यता झुकती हुई प्रतीत हुई। भारत में अनेक व्यक्ति ऐसे हो गये जिनके लिए पश्चिमी सभ्यता आदर्श बन गयी। पश्चिमी विचार, वेशभूषा, खान-पान, समाज और धर्म से वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि वे उनकी नकल करने में अपना गौरव मानने लगे। भारतीय सभ्यता, धर्म और समाज में उनको विश्वास न रहा और एक समय ऐसा आया जब यह प्रतीत हुआ कि सम्पूर्ण भारत पश्चिमी सभ्यता का शिकार हो जायेगा। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रही। अनेक भारतीयों ने पश्चिम की ओर की इस घुड़दौड़ का विरोध किया और अपनी सभ्यता एवं धर्म में विश्वास रखने की प्रेरणा भारतीयों को प्रदान की।

पश्चिमी सभ्यता ने विश्वास के स्थान पर तर्क को श्रेष्ठ बताया, व्यक्ति की भावना को बाह्य बन्धनों से अधिक महत्व दिया और इस प्रकार सामाजिक न्याय एवं राजनैतिक अधिकारों की नवीन भावना को जन्म दिया। पश्चिमी सभ्यता की भारत को मूल देन यही थी जिसके द्वारा भारतीयों ने परम्परा और अन्धविश्वास के आधार पर सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक प्रथाओं को मानने से इंकार कर दिया तथा उन सभी को तर्क एवं बुद्धि के आधार पर जाँचना शुरू किया। प्राचीन परम्पराओं और विश्वासों के अत्याचार के विरुद्ध मस्तिष्क का यह विरोध ही स्वतन्त्र विचारों और कार्यों का मूल आधार है जिससे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति सम्भव है। मस्तिष्क की यह स्वतन्त्रता भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन का एक मुख्य कारण थी जिससे भारत में धर्म, समाज, कला, साहित्य, अर्थव्यवस्था, राजनीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन करने की भावना जाग्रत हुई और भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए।

(ब) धर्म और समाज-सुधार आन्दोलन

धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन

1. **ब्रह्म-समाज**—ब्रह्म-समाज की स्थापना 20 अगस्त, 1828 ई. को राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में की। राजा राममोहन राय का जन्म 1774 ई. में राधानगर नामक बंगाल के एक गाँव में हुआ। उन्होंने अपने जीवन में अरबी, फारसी, अंग्रेजी, ग्रीक, हिब्रू आदि भाषाओं का अध्ययन किया। हिन्दू, ईसाई, इस्लाम और सूफी धर्म का भी उन्होंने अध्ययन किया। 17 वर्ष की अल्पायु में ही वे मूर्ति-पूजा के विरोधी हो गये। वे अंग्रेजी भाषा और सभ्यता से प्रभावित थे। उन्होंने इंगलैण्ड की यात्रा की। धर्म और समाज-सुधार उनका मुख्य लक्ष्य था। वे ईश्वर की एकता में विश्वास करते थे और सभी प्रकार के धार्मिक अन्धविश्वासों और कर्मकाण्डों के विरोधी थे। उन्होंने अपने विचारों को लेखों और पुस्तकों में प्रकाशित कराया। कट्टर हिन्दुओं और ईसाई धर्म-प्रचारकों से उनका संघर्ष हुआ। परन्तु वे जीवनभर अपने विचारों का पक्षपोषण करते रहे और उनके प्रचारार्थ उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना की।

राजा राममोहन राय की मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म-समाज धीरे-धीरे कई शाखाओं में विभक्त हो गया। महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ने 'आदि-ब्रह्म-समाज' की स्थापना की, श्री केशवचन्द्र सेन

ने 'भारतीय ब्रह्म-समाज' स्थापित किया और उनके पश्चात् 'साधारण ब्रह्म-समाज' की स्थापना हुई। ब्रह्म-समाज के विचारों के समान ही डॉ. आत्माराम पाण्डुरंग ने 1867 ई. में महाराष्ट्र में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना की जिसे आर. जी. भण्डारकर और महादेव गोविन्द रानाडे जैसे व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त हुआ। इस प्रकार ब्रह्म-समाज यद्यपि विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो गया परन्तु उसका मूल आधार एक ही था। सभी का उद्देश्य हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म का सुधार करना था तथा सभी ने ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होते हुए भी हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों—मुख्यतः वेदों—को अपना मुख्य आधार बनाया था।

ब्रह्म-समाज 19वीं सदी का पहला धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन था जो धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भारतीय पुनर्जागरण का प्रतीक था और राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे जिन्होंने उस सदी में भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने के प्रयत्न किये। उनके समय में भारतीय समाज और धर्म बहुत बुरी स्थिति में थे। हिन्दू धर्म और समाज अपने यथार्थ को भूल चुके थे, धर्म का स्थान कर्मकाण्ड और अन्धविश्वास ने ले लिया था, दर्शन का स्थान अव्यावहारिक एवं अरुचिपूर्ण क्रियाओं ने ले लिया था और समाज में अनेक कुरीतियाँ आ गयी थीं। ऐसे समय में ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता ने हिन्दू धर्म और उसकी सभ्यता पर आक्रमण किया तथा ऐसा दिखायी देने लगा कि भारतीय सभ्यता और धर्म नष्ट हो जायेंगे। उस अवसर पर राजा राममोहन राय और उनके ब्रह्म-समाज ने भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने के प्रयत्न आरम्भ किये। वेदों और उपनिषदों के आधार पर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करने, सत्य हिन्दू धर्म का प्रचार करने तथा समाज की अनेक कुरीतियों को दूर करके उसे शक्तिशाली बनाने का कार्य ब्रह्म-समाज ने आरम्भ किया। इससे हिन्दू धर्म में हिन्दुओं का विश्वास बढ़ा, एक बार पुनः उन्हें अपने धर्म और दर्शन का ज्ञान हुआ तथा वे अपने समाज के दोषों को दूर करने के लिए तत्पर हो गये। इसी कारण हिन्दू समाज और धर्म ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता के आघात से बच सके।

ब्रह्म-समाज ने भारतीय समाज को जीवन के सभी क्षेत्रों में नवजीवन प्रदान किया। धर्म की दृष्टि से ब्रह्म-समाज ने अपने विचारों को उपनिषदों और वेदों पर आधारित करके यह बताया कि ईश्वर एक है, सभी धर्मों में सत्य है, मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड निरर्थक हैं तथा सामाजिक कुरीतियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। तर्क के आधार पर धर्म की व्याख्या करने का विचार सर्वप्रथम उसने ही भारत को प्रदान किया। इस कारण अपने उग्र स्वरूप को प्राप्त करने तक 'साधारण ब्रह्म-समाज' ने वेदों को अन्तिम ईश्वरीय वाक्य मानने से इन्कार कर दिया। धर्म की व्याख्या करते हुए उसने ईसाई धर्म के कर्मकाण्ड और ईसा मसीह के ईश्वरीय अवतार होने पर भी प्रहार किया तथा अनेक अवसरों पर राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन ने ईसाई धर्म-प्रचारकों से वाद-विवाद किया। इससे हिन्दू ईसाई धर्म में परिवर्तित होने से रुक गये। हिन्दू धर्म को अनेक कुरीतियों से बचाने और उसे साधारण एवं आधुनिक युग के अनुकूल बनाने में ब्रह्म-समाज ने पर्याप्त सफलता पायी। यह कहा गया कि ब्रह्म-समाज पर ईसाई धर्म का प्रभाव था। यह सत्य है, लेकिन ब्रह्म-समाज ने मूलतः ईसाई धर्म से प्रेरणा प्राप्त नहीं की थी। उसका मूल स्रोत भारतीय प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ ही थे। यह बात अवश्य स्वीकार की जा सकती है कि पश्चिमी सभ्यता की तर्क, स्वतन्त्रता और खोज की भावना से ब्रह्म-समाज अवश्य प्रभावित था। इसी कारण उसने तत्कालीन प्रचलित धर्म के अनेक सिद्धान्तों का विरोध किया और उसका विरोध करने में प्राचीन वेदों एवं उपनिषदों को अपना आधार बनाया। इस प्रकार हिन्दू धर्म को आधुनिक और सरल बनाने का श्रेय ब्रह्म-समाज को है। यही नहीं, बल्कि ब्रह्म-समाज ने भारत में अन्य धार्मिक सुधारों के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

ब्रह्म-समाज पहला संगठन था जिसने हिन्दू धर्म की प्राचीन दीवारों पर आक्रमण करने का साहस किया और उसमें दरारें बनायीं। इससे हिन्दू धर्म को नवजीवन प्राप्त हुआ और अन्य धार्मिक सुधारों को बल प्राप्त हुआ।

ब्रह्म-समाज का एक मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार भी था। हिन्दू समाज की कोई भी ऐसी कुरीति न थी जिस पर उसने प्रहार न किया हो। आधुनिक समय में जिन कुरीतियों का विरोध सभी सामाजिक और राजनीतिक नेताओं ने किया है तथा जिन्हें सम्पूर्ण भारतीय शिक्षित-वर्ग आज घृणा की दृष्टि से देखता है, उन कुरीतियों पर प्रथम आक्रमण ब्रह्म-समाज ने किया। ब्रह्म-समाज ने सती-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, अल्पायु-विवाह, जाति-प्रथा, पर्दा-प्रथा, अस्पृश्यता, नशा आदि सभी कुरीतियों का विरोध किया। इसके साथ-साथ समाज-सुधार के लिए स्त्री शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा-विवाह आदि क्रियात्मक कार्य भी ब्रह्म-समाज ने किये। भारतीय संविधान ने जिन कुरीतियों को अब अवैध घोषित कर दिया है उनके विरुद्ध संघर्ष का आरम्भ ब्रह्म-समाज ने ही किया था।

अपने धार्मिक और सामाजिक विचारों को फैलाने के लिए ब्रह्म-समाज ने आधुनिक सभय के सभी साधनों का प्रयोग किया था। विभिन्न समाजों की स्थापना, भाषण, लेख, समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, स्कूल और कॉलेज आदि की स्थापना, धार्मिक वाद-विवाद आदि सभी प्रकार के साधनों का उपयोग ब्रह्म-समाज ने किया। महर्षि देवेन्द्रनाथ की 'तत्व-बोधिनी सभा', केशवचन्द्र सेन की 'संगत-सभा' और 'भारतीय सुधार-समाज' जैसी सभाएँ ब्रह्म-समाज के विचारों के प्रचार के लिए सहायक सभाओं की भाँति कार्य करती थीं। राममोहन राय की *'A Gift to Mono-thesis', 'The Precept of Jesus', 'The Guide to Peace and Happiness', 'Brief Remarks Regarding Modern Encroachments to the Ancient Rights of Females'* जैसी पुस्तकें तथा अनेक धार्मिक ग्रन्थों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भारतीय धर्म और समाज के लिए स्थायी योगदान है। इसी प्रकार, राजा राममोहन राय के *'Appeals to the Christian Public'* और केशवचन्द्र सेन के *'Young Bengal', 'This is for You', 'An Appeal to the British Nation', 'The Destiny of Human Life'* जैसे लेखों और वक्तव्यों ने भारतीय जन-जागरण और निर्माण में बहुत सहयोग दिया। ब्रह्म-समाज द्वारा समय-समय पर विभिन्न पत्रिकाएँ और समाचार-पत्र निकाले गये, जैसे राजा राममोहन राय द्वारा 'संवाद-कौमुदी' और 'मिरातुल अखबार'; केशवचन्द्र सेन द्वारा *'Indian Mirror'* और 'वाम-बोधिनी'; साधारण ब्रह्म-समाज द्वारा 'तत्व-कौमुदी', *'Brahmo —Public Opinion'*, 'संजीवनी' आदि। इन समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं ने भारतीय विचारों को बदलने तथा विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक सुधार करने में महत्वपूर्ण योग दिया।

शिक्षा के क्षेत्र में राजा राममोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्म-समाज ने अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा का समर्थन किया। समाज ने विभिन्न स्थानों पर अनेक स्कूल और कॉलेज खोले। राजा राममोहन राय ने स्वयं 'वेदान्त कॉलेज', 'इंगलिश स्कूल' और 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना कलकत्ता में की थी। केशवचन्द्र सेन ने भी अनेक स्कूल स्थापित किये और 'साधारण ब्रह्म-समाज' ने 'ब्रह्म बालिका स्कूल' व 'City College of Calcutta' की नींव डाली। भारत के आधुनिकीकरण और समाज-सुधार में इन शिक्षा-संस्थाओं का कितना योगदान रहा होगा, इसका केवल अनुमान ही किया जा सकता है।

यद्यपि ब्रह्म-समाज का मुख्य प्रभाव बंगाल में हुआ परन्तु फिर भी समाज की स्थापना पंजाब, मद्रास और उत्तर प्रदेश जैसे प्रान्तों में भी की गयी। महाराष्ट्र का 'प्रार्थना-समाज' भी

ब्रह्म-समाज से प्रेरित था जिसने 'विधवा-विवाह संघ', 'दक्षिण शिक्षा-समिति' और 'दलित-उद्धार मिशन' की स्थापना की तथा समाज और धर्म-सुधार के लिए महाराष्ट्र में वही कार्य किये जो ब्रह्म-समाज ने बंगाल में किये थे।

इसके अतिरिक्त, ब्रह्म-समाज के नेताओं ने कृषकों की भलाई, प्रेस और समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता, कानूनों के निर्माण आदि विभिन्न कार्यों में भाग लिया। हिन्दू समाज को चेतना प्रदान करने में, उसकी कुरीतियों को दूर करने की ओर ध्यान दिलाने में और व्यावहारिक दृष्टि से उन कुरीतियों का खण्डन करने में ब्रह्म-समाज भारतीय सुधार-आन्दोलन का मार्ग-प्रदर्शक था। इसी कारण जिस समय 1828 ई. में ब्रह्म-समाज का शताब्दी-दिवस और 1933 ई. में राजा राममोहन राय का मृतक-दिवस मनाया गया तब उनमें जैन, बौद्ध, सिख, ईसाई, इस्लाम, आर्य-समाज, रामकृष्ण-मिशन आदि सभी के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। यह ब्रह्म-समाज की उदारता की भावना और भारतीय समाज द्वारा उसकी सेवाओं का स्वीकार किया जाना था। यहाँ तक कि महात्मा गांधी ने भी अपने राजनीतिक आन्दोलन में जाति-प्रथा का विरोध,स्त्री-समानता,अछूतोद्धार जैसे समाज-सुधार के लक्ष्य सम्मिलित किये।

राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में भी ब्रह्म-समाज ने योग दिया। भारत के प्राचीन गौरव का निर्माण और अपनी सभ्यता एवं धर्म में विश्वास राष्ट्रीयता के निर्माण में विशेष सहायक था और इस दिशा में ब्रह्म-समाज ने महत्वपूर्ण कार्य किया। केशवचन्द्र सेन ने पहली बार भारतीय आधार पर समाज का निर्माण करने का प्रयत्न किया जिससे भारत की एकता का विचार दृढ़ हुआ और उन्हीं का उदाहरण लेकर सर्वप्रथम सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने अपने राजनीतिक आन्दोलन को सम्पूर्ण भारत में फैलाने का प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक क्षेत्र में ब्रह्म-समाज का योगदान अप्रत्यक्ष और सीमित था, परन्तु फिर भी उसने उसमें सहायता प्रदान की। शिवनाथ शास्त्री ने 'साधारण ब्रह्म-समाज' की प्रार्थना में अपने देश और उसके नागरिकों के उद्धार की प्रार्थना को सम्मिलित किया। ब्रह्म-समाज ने तर्क और स्वतन्त्रता की भावना को जन्म दिया, यद्यपि उसका समर्थन वह पश्चिमी सभ्यता के आधार पर करता था। लेकिन उसी को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रचारकों ने मोड़ दे दिया। राजनारायन बोस जैसे व्यक्तियों ने कहा : "भारतीय धर्म और सभ्यता ईसाई धर्म और सभ्यता से श्रेष्ठ है।"

इस प्रकार ब्रह्म-समाज ने समाज-सुधार, धर्म-सुधार और आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया। उसने पहली बार भारतीय समाज की आवश्यकताओं और समस्याओं को भारतीयों के सम्मुख रखा तथा बौद्धिक जागृति की ओर एक साहसिक कदम उठाया जिससे आगे.आने वाले सुधारकों को सहायता प्राप्त हुई। धीरे-धीरे भारतीय और भारतीय धर्म-सुधारक पश्चिमी सभ्यता से प्रेरणा लेना भूल गये और उन्होंने अपनी प्रेरणा का आधार भारतीय संस्कृति और धर्म को बनाया। इससे भारत में और भी अधिक उग्रवादी धर्म एवं समाज-सुधारक हुए जिनकी पृष्ठभूमि का निर्माण भारतीय धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता ने किया। ब्रह्म-समाज का कार्य इन कार्यों को आरम्भ करने का था। पश्चिमी सभ्यता से उसे प्रेरणा प्राप्त हुई थी। इस कारण वह उसके प्रति अपनी श्रद्धा नं छोड़ सका था। परन्तु उसके पश्चात् आर्य-समाज और रामकृष्ण-मिशन को इसकी आवश्यकता नहीं रह गयी। भारतीय व्यक्तित्व निखर गया और उसमें पश्चिमी सभ्यता एवं धर्म से टक्कर लेने का साहस और आत्म-विश्वास आ गया। इस कारण आर्य-समाज और रामकृष्ण-मिशन शुद्ध भारतीय आन्दोलन हुए। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्म-समाज ने इनकी आधारशिला का निर्माण किया। उसने ऐसा वातावरण तैयार कर दिया था जिसमें भारतीय इस साहसपूर्ण कदम को

उठा सके। इसी कारण डॉ. जकारिया (Dr. H. C. E. Zacharia) ने लिखा है : "राममोहन राय और उनका ब्रह्म-समाज हिन्दू धर्म, समाज और राजनीति में उन सभी सुधार-आन्दोलनों को आरम्भ करने वाले थे जिन्होंने पिछले सौ वर्षों में भारत में उत्तेजना पैदा की और जिन्होंने हमारे समय में उसके अद्वितीय पुनर्जागरण को जन्म दिया है।"[1]

2. जवान बंगाल आन्दोलन—19वीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों और चौथे दशक के दौरान बंगाल में 'जवान बंगाल आन्दोलन' हुआ। उसका नेतृत्व एक ऐंग्लो-इण्डियन हेनरी विलियम डेराजिओ ने किया। डेराजिओ का जन्म 1809 ई. में हुआ और 1826-31 ई. के मध्य वह कलकत्ता के हिन्दू कॉलेज में अध्यापक रहा। वह फ्रान्स की महान् क्रान्ति से प्रभावित था। उसने अपने विद्यार्थियों को विवेक और स्वतन्त्र ढंग से सोचने एवं निर्णय लेने के लिए कहा। उसने उनको स्वतन्त्रता, समानता तथा सत्य से प्रेम करने का आह्वान किया। डेराजिओ और उसके अनुयायी बंगाल की तत्कालीन नवीनतम विचारधारा के प्रतीक थे। वे विचारों की दृष्टि से पूर्ण क्रान्तिकारी और सच्चे देशभक्त थे। अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण ही डेराजिओ को 1831 ई. में अपनी नौकरी खोनी पड़ी। बहुत शीघ्र ही 22 वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके समर्थकों ने उसके विचारों को फैलाने का प्रयत्न किया। उन्होंने नारी-शिक्षा और समानता, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के चार्टर में संशोधन, प्रेस की स्वतन्त्रता, ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों के प्रति न्याय, जूरी द्वारा मुकदमों की सुनवाई, किसानों को जमींदारों के शोषण से बचाने का प्रयत्न, भारतीयों को राजकीय सेवाओं में उच्चतम स्थान प्रदान करने आदि की माँग की। उन्होंने अपने विचारों को लेखों, समाचार-पत्रों, सामाजिक संस्थाओं और सार्वजनिक सभाओं द्वारा फैलाने का प्रयत्न किया। राष्ट्रीय आन्दोलन के एक प्रमुख नेता सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने डेराजिओ के अनुयायियों को 'बंगाल की सभ्यता के अग्रदूत', 'हमारी जाति के पिता' आदि कहकर सम्मानित किया। 'जवान बंगाल आन्दोलन', निस्सन्देह, पूर्ण आधुनिक विचारों का प्रतीक था। परन्तु यह आन्दोलन अधिक व्यापक न हुआ और न लम्बे समय तक चला। इसके उग्र विचार केवल कुछ बुद्धिजीवियों को ही आकर्षित कर सके। जनसाधारण उनको नहीं समझ सका। इस आन्दोलन के समर्थकों ने जनसाधारण से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न भी नहीं किया। परन्तु तब भी उसका महत्व था। उसने राजा राममोहन राय के विचारों को आगे बढ़ाया तथा ब्रह्म-समाज और अन्य धर्म एवं समाज-सुधारक आन्दोलनों को जीवित रखने में सहायता दी।

इस आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त करके बम्बई के एलफिन्स्टन कॉलेज के विद्यार्थियों ने 'यंग बम्बई' आन्दोलन चलाया। इसी प्रकार, मद्रास में 'यंग मद्रास' आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। यद्यपि ये आन्दोलन अधिक समय तक नहीं चले परन्तु तब भी ये भारत के नौजवानों के जागरण के प्रतीक अवश्य बने।

3. ईश्वरचन्द विद्यासागर— राजा राममोहन राय के पश्चात् समाज-सुधारकों में एक महान् सुधारक ईश्वरचन्द विद्यासागर हुए। उनका जन्म 1820 ई. में एक अत्यन्त निर्धन परिवार में हुआ। अत्यन्त संघर्षमय जीवन व्यतीत करते हुए वे कलकत्ता के संस्कृत कॉलेज के

---

1 "Ram Mohan Roy and his Brahmo-Samaj form the starting point for all the various reform movements whether in Hindu religion, society or politics—which have agitated India during the past hundred years and which have led to her wonderful renaissance in our own days." —*Dr. H. C. E. Zacharia.*

प्रधान अध्यापक के पद पर पहुँचने में सफल हुए। ईश्वरचन्द विद्यासागर भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के विवेकपूर्ण संयोग का प्रतिनिधित्व करते थे। वे महान् मानवतावादी थे तथा असहायों, निर्धनों एवं पीड़ितों से उन्हें अत्यधिक सहानुभूति थी। वह बहुत विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत पढ़ाने के लिए एक नवीन पद्धति को जन्म दिया, बंगला-वर्णमाला लिखी जिसका प्रयोग आधुनिक समय में भी होता है और अपनी रचनाओं के द्वारा आधुनिक गद्य-शैली के विकास में सहायता दी। समाज-सुधारक की दृष्टि से वह जाति-प्रथा के कट्टर विरोधी और स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के प्रबल समर्थक थे। इस क्षेत्र में वह राजा राममोहन राय के योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुए। उन्होंने शूद्रों को संस्कृत पढ़ने की आज्ञा दी और स्वयं उन्हें पढ़ाया। स्त्री-उद्धार के लिए भी उन्होंने सभी सम्भव प्रयत्न किये। इस दिशा में उनका मुख्य कार्य विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देना था। 1855 ई. में उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह के पक्ष में आवाज उठायी और सरकार से इसके लिए एक कानून बनाने की माँग की। उनके प्रयत्न सफल हुए। 1856 ई. में विधवा-पुनर्विवाह कानून बनाया गया। भारत में पहला कानूनी विधवा-विवाह कलकत्ता में 7 दिसम्बर, 1856 ई. को ईश्वरचन्द विद्यासागर की प्रेरणा और देख-रेख में सम्पन्न हुआ था। उन्होंने बाल-विवाह और बहु-विवाह प्रथा का भी तीव्र विरोध किया। नारी-शिक्षा के लिए उन्होंने स्वयं के प्रयत्नों से 25 बालिका विद्यालयों की स्थापना की। 'मेथ्यून स्कूल' के सचिव के रूप में उन्होंने स्त्रियों की उच्च शिक्षा की प्रगति में भी सहयोग दिया। इस कारण बंगाल के अग्रणी और तत्कालीन समाज-सुधारकों में राजा राममोहन राय के पश्चात् प्रमुख नाम ईश्वरचन्द विद्यासागर का आता है।

4. कण्डूकुरी वीरेसलिंगम (1848-1919 ई.)—स्त्री-शिक्षा और विधवा-विवाह के लिए आन्ध्र-प्रदेश में वीरेसलिंगम ने वही कार्य किया जो बंगाल में ईश्वरचन्द विद्यासागर ने किया। इसी कारण महादेव गोविन्द रानाडे ने उन्हें दक्षिण-भारत का ईश्वरचन्द विद्यासागर कहा था।

वीरेसलिंगम ने स्त्री-शिक्षा और सह-शिक्षा का समर्थन किया। वह पश्चिमी शिक्षा और समाज-सुधार के भी पक्षधर थे। उन्होंने अपने विचारों के प्रचारार्थ 1874 ई. में राजमुन्दरी से **विवेकवर्धनी** नामक एक पत्रिका का भी प्रकाशन किया। अपने लेखों और **ब्रह्म-विवाहम्** जैसे नाटकों के माध्यम से उन्होंने बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, अल्पायु लड़कियों के वृद्ध पुरुषों से विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों का मजाक उड़ाया। 1874 ई. में ही अपने विचारों को क्रियात्मक स्वरूप देने के लिए उन्होंने एक कन्या-स्कूल की स्थापना दवालेश्वरम् में की। उन्होंने हरिजनों की शिक्षा के लिए स्कूल और कामकाजी व्यक्तियों के लिए रात्रि-स्कूल खोले। सह-शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने अपने स्कूलों में लड़कियों को भी दाखिला दिया। 1878 ई. में उन्होंने **संघ-संस्कारन-समाजम्** (समाज-सुधार समाज) को राजमुन्दरी में स्थापित किया। उस समय तक उनका सम्पर्क समाज के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों से हो गया था। 1874 ई. में मद्रास में एक **विधवा-विवाह समाज** स्थापित हुआ था, यद्यपि वह अधिक क्रियाशील नहीं हो सका था। 1875 ई. में विशाखापटनम के महोपाध्याय परवस्तुवेंकट रंगाचारमूलू द्वारा लिखित **पुनर्विवाह संग्रहम्** पुस्तक पर विधवा-विवाह के पक्ष और विपक्ष में एक बड़ा विवाद खड़ा हो गया। 1879 ई. में वीरेसलिंगम ने विधवा-विवाह का खुला समर्थन आरम्भ किया और एक अन्य **विधवा-विवाह समुदाय** का संगठन किया। 1881 ई. में राजमुन्दरी में एक सवर्ण विधवा का विवाह उन्होंने कराया। वह आन्ध्र-प्रदेश में प्रथम विधवा-विवाह था। उन्होंने विधवाओं के निवास के लिए एक आवास-गृह 1897 ई. में मद्रास में और एक अन्य 1905 ई. में राजमुन्दरी में बनवाया। 1883 ई. में उन्होंने एक मासिक-पत्रिका **साथीहित-बोधिनी** को पूर्णतः स्त्री-हितों की पूर्ति के

लिए आरम्भ किया। उस समय तक उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी तथा उनकी प्रशंसा ईश्वरचन्द विद्यासागर, महादेव गोविन्द रानाडे, डी. के. कार्वे, एन. जी. चन्द्रावरकर जैसे महान् व्यक्तियों ने की थी। 1893 ई. में सरकार ने उन्हें रायबहादुर की पदवी दी। परन्तु इससे अधिक सम्मान उन्हें उस समय प्राप्त हुआ जब 1898 ई. में मद्रास में हुई 'अखिल भारतीय समाज-सुधार काँग्रेस' की बैठक में उन्हें उसका सभापति चुना गया। 1899 ई. में उन्हें मद्रास प्रेसीडेन्सी कॉलेज में तेलुगू के अध्यापक का पद दिया गया। इस पद को प्राप्त करने वाले आन्ध्र-प्रदेश के वह पहले व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी नौकरी से अवकाश प्राप्त करके एक अन्य आवास-गृह विधवाओं और अनाथ अथवा असहाय स्त्रियों के लिए बनवाया। अपने विद्यालयों की देखभाल के लिए 1905 ई. में उन्होंने एक समुदाय, **हितकारिणी-समाजम्** स्थापित किया जिसे 1908 ई. में सरकार से मान्यता प्राप्त हो गयी। उन्होंने देवदासी-प्रथा और वेश्या-वृत्ति का भी विरोध किया। इस प्रकार अपने जीवनपर्यन्त कण्डूकुरी वीरेसलिंगम ने स्त्री-सम्बन्धी कुरीतियों को दूर करने तथा उनकी शिक्षा और उनमें जागृति लाने का प्रयत्न किया। इस कारण दक्षिण-भारत के महान् समाज-सुधारकों में उनका नाम सम्मिलित किया जाता है।

5. **आर्य-समाज**—यद्यपि ब्रह्म-समाज ने हिन्दू धर्म और समाज-सुधार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया परन्तु फिर भी ब्रह्म-समाज आन्दोलन केवल रक्षात्मक था। ईसाई धर्म और पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर इसने हिन्दू धर्म और समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया था। इसने वेद और उपनिषदों से प्रेरणा प्राप्त की थी परन्तु इसने उनकी श्रेष्ठता को स्थापित करने का साहस नहीं किया था, अपितु इसने ईसाई और इस्लाम धर्म को भी समान पद प्रदान किया था। लेकिन हिन्दू धर्म और उसकी आत्मा इससे सन्तुष्ट न हो सकी थी। हिन्दू धर्म और समाज को एक उग्र और साहसी समर्थक की आवश्यकता थी और इस आवश्यकता की पूर्ति स्वामी दयानन्द ने की।

दयानन्द का बचपन का नाम मूलशंकर था। गुजरात-राज्य में टंकारा नामक एक छोटे-से नगर में एक रूढ़िवादी ब्राह्मण के घर उनका जन्म हुआ। अल्पायु से ही मूर्ति-पूजा में उनका विश्वास न रहा। 1845 ई. में वे विवाह होने से पहले ही अपना घर छोड़कर भाग गये और 1861 ई. तक वे एक ब्रह्मचारी साधु के रूप में भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करते रहे। 1861 ई. में उन्होंने मथुरा के स्वामी विरजानन्द को अपना गुरु बनाया और वहीं पर उन्होंने वेदों का अध्ययन किया। अपने गुरु से पृथक होकर उन्होंने हिन्दू धर्म, सभ्यता और भाषा के प्रचार का कार्य आरम्भ किया और सर्वप्रथम बम्बई में 1875 ई. में आर्य-समाज की स्थापना की। तत्पश्चात् वे भारत के विभिन्न स्थानों पर घूम-घूमकर अपने विचारों का प्रचार करते रहे और स्थान-स्थान पर उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की। आर्य-समाज ने शुरू-शुरू में केवल तीन सिद्धान्त प्रतिपादित किये :

(1) आर्य-समाज केवल वेदों को ही स्वतन्त्र और अन्तिम शब्द स्वीकार करेगा;

(2) समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आय का 1/100वाँ भाग आर्य-समाज, आर्य-विद्यालय और 'आर्य-प्रकाश' समाचार-पत्र को देगा; तथा

(3) आर्य-समाज के विद्यालयों में नवयुवक और नवयुवतियों को सत्य और उचित शिक्षा प्रदान करने के लिए वेदों के आधार पर ही शिक्षा दी जायेगी।

1877 ई. में इन तीन सिद्धान्तों के स्थान पर आर्य-समाज ने निम्नलिखित 10 सिद्धान्त निश्चित किये :

1. वेद ही सत्य-ज्ञान के स्रोत हैं, अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है।
2. वेदों के आधार पर मन्त्र-पाठ और हवन करना।

3. मूर्ति-पूजा का खण्डन।
4. तीर्थयात्रा और अवतारवाद का विरोध।
5. कर्म और पुनर्जन्म अथवा जीवन के आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास।
6. एक ईश्वर में विश्वास जो निराकार है।
7. स्त्री-शिक्षा में विश्वास।
8. बाल-विवाह और बहु-विवाह का विरोध।
9. कुछ विशेष परिस्थितियों में विधवा-विवाह का समर्थन।
10. हिन्दी और संस्कृत भाषा के प्रसार का प्रयत्न करना।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर आर्य-समाज ने हिन्दू धर्म और समाज के सुधार हेतु महत्वपूर्ण कार्य किये। स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज के निर्माण में समानता की जिस भावना को सम्मिलित किया, वह विभिन्न समाजों के संगठन और उनके प्रचार-कार्य में अत्यधिक सहायक सिद्ध हुई। आर्य-समाज की सफलता का एक अन्य मुख्य आधार आर्य-समाज की धार्मिक कट्टरता थी। हिन्दू धर्म सिद्धान्त और व्यावहारिक दृष्टि से सर्वदा उदार रहा है। ईश्वर की एकता और विचारों की विभिन्नता में स्वयं उसका विश्वास रहा है। स्वयं वेद भी अपनी श्रेष्ठता का दावा नहीं करते। इस कारण हिन्दू धर्म ने ईसाई, इस्लाम, बौद्ध, जैन आदि सभी धर्मों के प्रति सहनशीलता का व्यवहार किया है। लेकिन यही हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी दुर्बलता भी रही है। जबकि इस्लाम और ईसाई धर्म क्रमशः 'कुरान' और 'बाइबिल' को ही एकमात्र सत्य धार्मिक ग्रन्थ और 'मुहम्मद' या 'ईसा मसीह' को ही क्रमशः ईश्वर का एकमात्र दूत मानते हैं, तथा उसी धर्म का पालन करना सत्य-मार्ग और स्वर्ग जाने का मार्ग बताते हैं, हिन्दू धर्म सभी मार्गों को उचित मानता है और सभी महान् धार्मिक व्यक्तियों को ईश्वर का दूत स्वीकार करता है। इसी कारण हिन्दू धर्म की उदारता उसकी निर्बलता का कारण बनी और इसी कारण वह कट्टर इस्लाम और ईसाई धर्म का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। स्वामी दयानन्द ने इस दुर्बलता को समझा तथा इस्लाम और ईसाई धर्म की भाँति हिन्दू धर्म को कट्टरता प्रदान की। इसी कारण उन्होंने वेदों को सत्य-ज्ञान का एकमात्र आधार बताया। इसके कारण आर्य-समाज हिन्दू धर्म का कट्टर समर्थक बना और 'सैनिक हिन्दुत्व' (Militant Hinduism) कहलाया।

इस प्रकार समानता और धार्मिक कट्टरता की भावना को लेकर आर्य-समाज ने भारत में आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में जो कार्य किया उसकी तुलना किसी भी धार्मिक सुधार-आन्दोलन से नहीं की जा सकती। आर्य-समाज का कार्य उन्नीसवीं सदी के सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों की तुलना में अधिक सफल एवं स्थायी सिद्ध हुआ। आज भी भारत के गाँव-गाँव और नगर-नगर में आर्य-समाज और उसकी शिक्षा-संस्थाएँ मौजूद हैं।

धार्मिक क्षेत्र में आर्य-समाज ने मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड, बलि-प्रथा, स्वर्ग और नर्क की कल्पना तथा भाग्य में विश्वास का विरोध किया। उसने वेदों की श्रेष्ठता का दावा किया और उसी आधार पर मन्त्र-पाठ, हवन, यज्ञ, कर्म आदि पर बल दिया। आर्य-समाज ने हिन्दू धर्म को सरल बनाया और उसकी श्रेष्ठता में विश्वास उत्पन्न किया। वेदों की व्याख्या उसने इस प्रकार की जिससे वेद अनेक वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्तों के स्रोत माने जा सकते हैं। कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जिसे हम वेदों से प्राप्त नहीं कर सकते, यह उसका विश्वास है। हिन्दू केवल अपने सत्य-ज्ञान को भूल गये हैं और यदि वे वेदों का अध्ययन करेंगे तो उन्हें संसार का सम्पूर्ण ज्ञान वेदों में प्राप्त हो जायेगा। इस कारण हिन्दुओं को धर्म के विषय में ही नहीं अपितु राजनीतिक, आर्थिक एवं वैज्ञानिक धारणाओं के लिए भी इस्लाम

और ईसाई धर्म या सभ्यता की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। इस विश्वास तथा हिन्दू धर्म और वेदों की श्रेष्ठता के आधार पर आर्य-समाज ने हिन्दू धर्म को इस्लाम और ईसाई धर्म के आक्रमणों से बचाने में सफलता पायी। आर्य-समाज ने इस्लाम और ईसाई धर्म-प्रचारकों पर जो हिन्दू धर्म का मजाक उड़ाते थे, कठोरता से प्रहार किया। नवयुवक आर्य-समाजी विदेशियों के प्रति घृणा की भावना रखते थे, जैसा कि लिखा गया है : "नवयुवक आर्य-समाजियों ने खुली घोषणा की कि वे उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब वे मुसलमान और अंग्रेज दोनों से फैसला करेंगे।"[1]

सामाजिक क्षेत्र में भी आर्य-समाज का कार्य बहुत सफल रहा। उसने बाल-विवाह, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा, जाति-प्रथा, सती-प्रथा आदि सभी हिन्दू सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। स्त्री-शिक्षा, जाति-समानता और अछूतों के उद्धार के लिए उसने निरन्तर प्रयत्न किया। अन्तर्जातीय खान-पान और विवाह तथा पारस्परिक सम्पर्क आर्य-समाज के जीवन की दिनचर्या बन गया। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य आर्य-समाज ने शुद्धि-आन्दोलन को आरम्भ करके किया। जो भी व्यक्ति ईसाई या इस्लाम धर्म को छोड़कर हिन्दू धर्म को स्वीकार करना चाहता था, 'समाज' ने उसकी शुद्धि करके उसे हिन्दू धर्म में सम्मिलित करना आरम्भ कर दिया। अपने इस कार्य का पक्षपोषण आर्य-समाज ने वेद और ऐतिहासिक परम्पराओं के आधार पर किया। ईसाई धर्म के प्रचार का प्रभाव अधिकांशतः निर्धन, अशिक्षित और भारत की पिछड़ी हुई या अस्पृश्य जातियों पर पड़ा था और ऐसे हिन्दू बहुत बड़ी संख्या में ईसाई बन गये थे। एक बार ईसाई बनने के पश्चात् वे इच्छा होते हुए भी हिन्दू धर्म में वापस नहीं जा सकते थे। इस प्रकार हिन्दू धर्म निरन्तर अपने सदस्यों को केवल उनकी नादानी, भोलेपन या निर्धनता के कारण खोता जा रहा था। आर्य-समाज ने शुद्धि-आन्दोलन आरम्भ करके ऐसे व्यक्तियों के लिए हिन्दू धर्म के द्वार खोल दिये और बहुत बड़ी संख्या में ऐसे व्यक्तियों को हिन्दू बनाया।

आर्य-समाज ने सम्पूर्ण भारत में, मुख्यतः उत्तर-भारत में अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की। आर्य-समाज ने गुरुकुल, कन्या-गुरुकुल और डी. ए. वी. कॉलेज अनेक स्थानों पर स्थापित किये हैं। इन शिक्षा-संस्थाओं में अंग्रेजी, विज्ञान और आधुनिक समय में सभी विषयों की शिक्षा का प्रबन्ध है परन्तु संस्कृत और वेदों की शिक्षा पर यहाँ विशेष बल दिया जाता है। ये शिक्षा-संस्थाएँ न केवल हिन्दू धर्म और संस्कृति तथा आर्य-समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में सहायक सिद्ध हुई हैं बल्कि ज्ञान के विस्तार में भी इनका बहुत बड़ा योगदान है।

राजनीतिक जागृति में भी आर्य-समाज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। दयानन्द सरस्वती की जीवनी के एक लेखक ने उनके बारे में लिखा है : "दयानन्द का लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था। वास्तव में वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना सिखाया। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया।"[2] बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय और गोपालकृष्ण गोखले, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का

---

1 "The young Arya Samajists openly declared that they were waiting for the day when they would settle their account both with Muslims and the Britishers."

1 "Political independence was one of the first objective of Dayananda. Indeed, he was the first man to use the term *Swaraj*. He was the first to insist on people using only *Swadeshi* things manufactured in India and to discard foreign things. He was the first to recognize Hindi as the national language of India."

—*A Biographer of Dayanand.*

नेतृत्व किया, आर्य-समाज से प्रभावित थे। आर्य-समाज ने अनेक ऐसे कट्टर व्यक्तियों के निर्माण में सहयोग दिया जो कट्टर हिन्दू धर्म की भावना को लेकर भारतीय राष्ट्रीयता के समर्थक बने। काँग्रेस में उग्रवाद की भावना के आरम्भ होने का एक कारण हिन्दू धर्म की भावना थी और इसमें सन्देह नहीं कि आर्य-समाज ने उस भावना के निर्माण में सहयोग दिया था। डॉ. मजूमदार ने लिखा है : "आर्य-समाज प्रारम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था। उसका मुख्य स्रोत तीव्र राष्ट्रीयता था।"[1] इस प्रकार आर्य-समाज ने हिन्दू धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का दावा करके हिन्दू सम्मान और गौरव की रक्षा की तथा हिन्दू जाति में आत्मविश्वास और स्वाभिमान को जन्म दिया। इससे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में सहायता मिली।

इस प्रकार आर्य-समाज ने भारत को धर्म, समाज, शिक्षा और राजनीतिक चेतना के क्षेत्र में बहुत कुछ प्रदान किया है। इसी कारण जबकि ब्रह्म-समाज आन्दोलन प्रायः समाप्त हो गया है, रामकृष्ण-मिशन का प्रभाव समाज के शिक्षित और उदार-वर्ग तक सीमित है, आर्य-समाज अभी तक न केवल एक जीवित आन्दोलन है अपितु हमारे समाज के छोटे और निम्न से निम्न वर्ग तक उसकी पहुँच है और एक सीमित क्षेत्र में आज भी उसे एक जन-आन्दोलन स्वीकार किया जा सकता है।

6. **रामकृष्ण-मिशन**—रामकृष्ण-मठ की स्थापना 1887 ई. में स्वामी रामकृष्ण के शिष्य विवेकानन्द ने बारानगर में की। 1899 ई. में एक मठ वैल्लोर में स्थापित किया गया जो आज भी सम्पूर्ण भारत में फैले हुए मठों का केन्द्र-स्थल है। मठों के द्वारा रामकृष्ण-मिशन का संगठन और प्रचार स्वामी विवेकानन्द ने आरम्भ किया। उनकी मृत्यु के पश्चात् 1909 ई. में इसके प्रचार-कार्य हेतु रामकृष्ण-मिशन के नाम से एक समुदाय को पंजीकृत भी करा लिया गया।

वैल्लोर का रामकृष्ण-मठ संन्यासियों को अन्य मठों का संगठन करने और धर्म-प्रचार की शिक्षा प्रदान करने हेतु शिक्षालय की भाँति कार्य करता है। रामकृष्ण-मिशन के वे सदस्य, जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए जीवनभर धर्म-प्रचार की शपथ लेते हैं, इस मठ या अन्य मठों में निवास करते हैं। कोई भी वह व्यक्ति मिशन का साधारण सदस्य हो सकता है जो मिशन के सिद्धान्तों में विश्वास करता हो। रामकृष्ण-मिशन का संगठन रामकृष्ण-मठ से अलग है। मिशन समाज-सेवा का कार्य करता है। भूचाल, अकाल आदि के समय पर मिशन लोक-सेवा का कार्य भी करता है। इसके अतिरिक्त स्थायी रूप से मिशन ने विभिन्न स्थानों पर अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, होस्टल आदि स्थापित किये हैं। मिशन की शाखाएँ और मठ न केवल भारत में ही स्थापित किये गये हैं बल्कि पाकिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, मलाया, फीजी द्वीप, मौरीशस, उत्तरी व दक्षिणी अमरीका तथा यूरोप के विभिन्न देशों में भी स्थापित किये गये हैं। इसके अलावा मिशन ने श्री रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उनके आदर्शों पर अनेक पुस्तकें संसार की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित की हैं। इस प्रकार रामकृष्ण-मठ इस मिशन के लिए योग्य और आदर्श संन्यासी तैयार करते हैं जो धर्म-प्रचार के मुख्य आधार हैं और मिशन समाज-सेवा, शिक्षा, पुस्तकों आदि के माध्यम से स्वामी रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के विचारों का प्रचार सम्पूर्ण संसार में करता है तथा भारत के अध्यात्मवाद और धार्मिक एकता के सन्देश को स्थान-स्थान पर पहुँचाता है। रामकृष्ण-मिशन ने आध्यात्मिक उन्नति और सामाजिक सेवा के लिए न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी महत्वपूर्ण कार्य किया है।

---

1 **"Arya Samaj was a militant sect from the very beginning. Its chief inspiration came from its intense patriotism."** —***R. C. Majumdar.***

स्वामी रामकृष्ण का जीवन और विचार इस मिशन की आत्मा है। स्वयं स्वामी रामकृष्ण ने धर्म-प्रचार का कार्य नहीं किया परन्तु उन्होंने अपने व्यावहारिक जीवन से भारत की अध्यात्मवाद की भावना को झकझोर दिया और अपनी मृत्यु तक कुछ महान व्यक्तियों को इसके प्रचार के लिए तैयार कर दिया। महात्मा गांधी ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस के बारे में लिखा था : "रामकृष्ण परमहंस के जीवन की कहानी व्यावहारिक धर्म है। उनका जीवन हमें ईश्वर को हमारे समक्ष दिखाता हैं।"[1] रामकृष्ण परमहंस का बचपन का नाम गदाधर चट्टोपाध्याय था। पश्चिमी बंगाल के हुगली जिले में कमारमुकुर नामक एक गाँव में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में 1836 ई. में उनका जन्म हुआ। उन्होंने गाँव में साधारण शिक्षा प्राप्त की। वे शुरू से ही भक्ति-भावना से परिपूर्ण थे। 17 वर्ष की आयु में वह कलकत्ता आये और 21 वर्ष की आयु में वे देवी काली के दक्षिणेश्वर मन्दिर के पुजारी बन गये। उन्होंने विवाह किया था और अपनी पत्नी में भी वे देवी काली को देखते थे। उनका कहना था कि उन्होंने विभिन्न रूपों में भगवान से साक्षात्कार किया था। उनका अधिकांश जीवन देवी काली के मन्दिर में व्यतीत हुआ। 1866 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी।

स्वामी रामकृष्ण ने न कोई धर्म चलाया, न मठ बनाये और न नवीन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वह साधारण तरीके से अपने उपदेश दिया करते थे और उन्हीं से उनके धार्मिक विचारों का पता लगता है। उन्होंने वेदों का अध्ययन नहीं किया था लेकिन उनके विचार उन्हीं पर आधारित थे। उनका कहना था कि मनुष्य का मूल लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति होना चाहिए जो अध्यात्मवाद के द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए वे संसार को त्यागना आवश्यक नहीं मानते थे और न ही इच्छाओं के दमन में विश्वास करते थे। उनका कहना था कि संसार में रहो, कार्य करो और इच्छाओं का दमन करने की बजाय उनको ईश्वर की प्राप्ति में लगाओ। वह ज्ञान से अधिक चरित्र-निर्माण पर बल देते थे। उनका कहना था कि "बिना स्पष्ट और विकार-रहित बुद्धि के धर्मशास्त्रों का ज्ञान और पवित्र पुस्तकों का अध्ययन बेकार है। विवेक और वैराग्य के बिना कोई भी आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है।"[2]

संसार के लिए रामकृष्ण की सबसे बड़ी देन अध्यात्मवाद है। अपने सरल उपदेशों एवं अपने जीवन के उदाहरण से उन्होंने वेदों और उपनिषदों के जटिल ज्ञान को साधारण व्यक्तियों तक पहुँचाया तथा हिन्दुओं में अपने प्राचीन ज्ञान के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न किया। रामकृष्ण की दूसरी महत्वपूर्ण देन सभी धर्मों की एकता में विश्वास जाग्रत करना है। अपने उपदेशों से ही नहीं अपितु अपने जीवन के उदाहरण से भी उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सभी धर्म समान हैं, सभी धर्म ईश्वर-प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं और किसी भी मार्ग का सही अनुसरण करके ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। उनका कहना था : "ईश्वर को जिस शक्ल और नाम से तुम पुकारोगे, उसी नाम और स्वरूप में तुम उसे देखोगे।"[3] मनुष्य मात्र की सेवा और भलाई को धर्म बताना रामकृष्ण की संसार को तीसरी महत्वपूर्ण देन है। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान का स्वरूप है और इस कारण मनुष्य की सेवा करना भगवान की सेवा करना है। मनुष्य मात्र की सेवा करने से एक व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। मनुष्य की

---

1 "The story of Ram Krishna Paramhans's life is a story of religion in practice. His life enables to see God face to face." —*Mahatma Gandhi*.

2 "It is useless to pour over holy scriptures and sacred *sastras* without a discriminating and dispassionate mind. No spiritual progress can be made without discrimination (*viveka*) and dispassion (*vairagya*) —*Ramkrishna*.

3 "In whatsoever name or form you desire to call Him, in that very form and name you will see Him." —*Ramkrishna*.

सेवा करने का यह भाव बौद्ध और ईसाई धर्म की दया की भावना से श्रेष्ठ है। बौद्ध धर्म क्योंकि ईश्वर में विश्वास नहीं करता, अतएव मनुष्य की सेवा करना नैतिकता और अध्यात्मवाद की प्रगति के लिए आवश्यक मानता है। ईसाई धर्म कहता है : "अपने समान ही अपने पड़ोसी से प्यार करो।" परन्तु इसमें पड़ोसी का अर्थ ईश्वर से कभी नहीं है क्योंकि ईसाई धर्म यह विश्वास नहीं करता कि प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का ही स्वरूप है। इस कारण ये दोनों धर्म मनुष्य को मनुष्य मानकर दया की भावना से मनुष्य की सेवा और भलाई करने में विश्वास करते हैं जिसके कारण सेवा करने वाले व्यक्ति का स्थान अवश्य ही उस व्यक्ति से श्रेष्ठ हो जाता है जिसकी सेवा की जाती है। लेकिन रामकृष्ण परमहंस की भावना मनुष्य के प्रति दया की भावना न थी बल्कि वे मनुष्य को ईश्वरस्वरूप मानकर उसकी सेवा करने में विश्वास करते थे। उनके अनुसार सेवा करने वाला नहीं वरन् जिसकी सेवा की जाय उसका स्थान बड़ा होता है। इस कारण रामकृष्ण-मिशन का सेवा, करुणा और मनुष्य की सहायता करने का भाव छोटे, नासमझ, अशिक्षित अथवा निर्धन व्यक्तियों के प्रति दया की भावना का भाव नहीं बल्कि मनुष्य मात्र की सेवा करते हुए ईश्वर को प्राप्त करने का भाव है।

इस प्रकार रामकृष्ण परमहंस ने अपने व्यवहार और कर्म से उपनिषदों और वेदों के मूल विचारों को स्पष्ट करके हिन्दू-पुनरुद्धार आन्दोलन को उसकी श्रेष्ठता पर पहुँचा दिया। यही नहीं बल्कि उन्होंने मानव मात्र को यह सन्देश दिया कि वे धर्म और संस्कृति के विभेदों को भूलकर मानव-मात्र की भलाई का प्रयत्न करें। भौतिकवाद, संघर्ष और घृणा के इस युग में उन्होंने संसार को अध्यात्मवाद का उपदेश देकर संसार को एकता, प्रेम और सहयोग का मार्ग बताया।

रामकृष्ण के उपर्युक्त विचारों को संसार में फैलाने का कार्य उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने किया। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है : "शिष्य की आवाज द्वारा वास्तव में संसार गुरु की आवाज सुन रहा है। शिष्य गुरु का क्रियात्मक पूरक है। यदि गुरु का जीवन नवीन सिद्धान्तों की पुस्तक है तो शिष्य का जीवन उसके सिद्धान्तों की व्याख्या करते हुए उसका व्यावहारिक स्वरूप है।"[1] स्वामी विवेकानन्द का बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था। 1863 ई. में कलकत्ता के एक धनाढ्य क्षत्रिय परिवार में उनका जन्म हुआ। उन्होंने एक अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा प्राप्त की और स्नातक (B. A.) की डिग्री प्राप्त की। उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल, ह्यूम, हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे पाश्चात्य विद्वानों के दर्शन का विस्तृत अध्ययन किया। प्रारम्भ में वह ब्रह्म-समाज की ओर आकर्षित हुए थे। वे एक अवसर पर स्वामी रामकृष्ण से मिलने दक्षिणेश्वर के मन्दिर भी गये। उसके पश्चात् स्वामी रामकृष्ण से उनका सम्बन्ध धीरे-धीरे घनिष्ठ होता गया। अपनी मृत्यु के अवसर पर स्वामी रामकृष्ण ने अपने विचारों को फैलाने और अपने शिष्यों की देखभाल का उत्तरदायित्व उन्हीं को सौंपा। उन्होंने ही सर्वप्रथम बारानगर में एक टूटे हुए मकान में एक मठ की स्थापना की। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया और उसी अवसर पर उन्हें भारत की दरिद्रता, अज्ञान, अन्धविश्वास और पतन का परिचय हुआ। 1893 ई. में वह स्वयं के प्रयत्नों से अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित 'सर्व-धर्म सम्मेलन' में भाग लेने गये और वहाँ उनके प्रथम भाषण ने ही सब को प्रभावित कर दिया। वहाँ उन्होंने 'वेदान्त समाज' की स्थापना की। वहीं से वे पेरिस व लन्दन गये और वहाँ धर्म-प्रचार

---

1 "Through the voice of disciple, the world is really listening to the voice of the Master. The disciple is the dynamic counterpart of the Master. If the life of the master is a book of revelations, that of his worthy apostle is its appropriate commentary and a compendious guide-book of its practical application."

—*Swami Vivekananda.*

किया। वह एक बार पुनः अमेरिका गये। वहाँ से वापस लौटकर उन्होंने भारत की निर्धनता, जाति-प्रथा, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। उनका विश्वास था कि भारत में अपूर्व शक्ति है, केवल उसे जाग्रत करने की आवश्यकता है और यह जागृति केवल धर्म के द्वारा सम्भव है। 1897 ई. में उन्होंने रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की और 1899 ई. में अपने प्राचीन मठ को वैल्लोर में स्थापित किया। 1899 ई. में वह पुनः अमेरिका गये और उन्होंने सम्पूर्ण यूरोप का भ्रमण किया तथा विभिन्न स्थानों पर वेदान्त-सभाओं की स्थापना की। भारत वापस आने पर 1902 ई. में 36 वर्ष की अल्पायु में उनका देहान्त हो गया।

स्वामी विवेकानन्द उदार हिन्दू धर्म और अध्यात्मवाद की सजीव आत्मा थे। हिन्दू अध्यात्मवाद का सहारा लेकर उन्होंने जिस प्रकार हिन्दू धर्म, समाज और राष्ट्र के निर्माण में सहयोग दिया, वह अद्वितीय है। यही नहीं बल्कि सभी धर्मों की समानता और मनुष्य मात्र की सेवा का आधार लेकर जो सन्देश उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों को दिया, वह भी अद्वितीय है। उन्होंने हिन्दू धर्म के अध्यात्मवाद को पुनर्जन्म दिया और एक बार फिर हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित करके इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रहारों से उसकी रक्षा की। उनके उपदेशों से हिन्दुओं को केवल अपने धर्म और सभ्यता के प्राचीन गौरव व हिन्दू धर्म की श्रेष्ठ अध्यात्मवाद की भावना का ही पता नहीं लगा अपितु उन्हें यह भी ज्ञात हुआ कि वे पतन के किस स्तर तक जा पहुँचे थे। उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि उनकी शारीरिक दुर्बलता, आलस्य, नपुंसकता तथा गौरव, प्रेम, उदारता, आत्मविश्वास की कमी और भीरुता आदि ने उन्हें अत्यधिक हीन बना दिया था। अपने प्राचीन गौरव और तत्कालीन दुर्बलताओं की तुलना करने से उनमें प्रगति करने की भावना और आत्म-विश्वास आया। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का आह्वान किया कि यदि वह एक बार फिर अपने वेदान्तों के आदर्श पर चलेगा, उन दीवारों को तोड़ डालेगा जिसने मनुष्य को मनुष्य से पृथक कर दिया है, और अपनी आत्मा को समझेगा तो एक बार फिर वह गौरवशाली समाज एवं राष्ट्र का निर्माण कर सकेगा। हिन्दू अध्यात्मवाद का प्रचार करके पश्चिमी देशों में उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करके स्वामी विवेकानन्द ने न केवल हिन्दू धर्म को उसके अन्धविश्वासों और दुर्बलताओं से बचाया बल्कि उसमें एक गौरव और आत्म-विश्वास भी उत्पन्न किया जिसके कारण हिन्दू धर्म जाग्रत हो गया और हिन्दू धर्म का विकास हुआ जिसे सिस्टर निवेदिता (Sister Nivedita) ने उग्र हिन्दू धर्म (Aggressive Hinduism) कहा था। इसके उपरान्त हिन्दू अपने धर्म और दर्शन के बारे में लज्जित न रहे। हिन्दुओं ने खुले तौर से अपने धर्म और दर्शन के विषय में अपने विचार प्रकट करने आरम्भ किये तथा कॉलेजों, विद्यालयों और विद्वानों द्वारा हिन्दू धर्म का समर्थन किया गया।

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को न केवल प्रेरणा प्रदान की बल्कि सम्पूर्ण संसार में धर्म और अध्यात्मवाद के महत्व को बढ़ाया। वे धर्म को "देवत्व जो स्वतः ही मनुष्य में है" (the manifestation of the divinity that is already in man) मानते थे। उनका कहना था कि धर्म वास्तव में आत्म-ज्ञान है। मनुष्य अपनी प्रकृति पर अधिकार करके पूर्णता प्राप्त करता है और उसी के द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर सकता है। उनका कहना था : "धर्म न पुस्तकों में है, न बौद्धिक विकास में और न तर्क में। तर्क, सिद्धान्त, पुस्तकें, धार्मिक क्रियाएं आदि केवल धर्म के सहायक हैं। धर्म आत्म-ज्ञान में है।"[1] उन्होंने धर्म को प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक और आवश्यक बताया। उनके अनुसार धर्म प्रत्येक व्यक्ति और समाज की एक

1 "Religion is neither in books, nor in intellectual consent, nor in reason. Reason, theories, doctrines, books, religious ceremonies are all helps to religion; religion itself consists in realization." —*Swami Vivekananda.*

ऐसी आवश्यकता है जो उसकी स्वाभाविक प्रकृति की पूर्ति के लिए आवश्यक है। एक राष्ट्र की प्रगति का मापदण्ड भी उसकी धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति ही है। इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने सभी राष्ट्रों को धार्मिक और आध्यात्मिक प्रगति के लिए प्रेरित किया। परन्तु वह भौतिक क्षेत्र में भी मनुष्य की पूर्ण प्रगति चाहते थे। इसी आधार पर वे पूरब और पश्चिम के विचारों में आदान-प्रदान चाहते थे। उनका विश्वास था कि भारत पश्चिमी राष्ट्रों को अध्यात्मवाद की शिक्षा दे सकता है और स्वयं पश्चिम से भौतिक प्रगति की शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

स्वामी विवेकानन्द सभी धर्मों की एकता में विश्वास करते थे और उन्होंने सर्वदा धार्मिक उदारता, समानता और सहयोग पर बल दिया। उन्होंने कहा था : "सहायता करो, लड़ो नहीं; एक-दूसरे से ग्रहण करो, विनाश नहीं; मेल और शान्ति, विरोध नहीं।"[1]

उनका यह भी कहना था कि धर्मों की विभिन्नता स्वाभाविक है और आवश्यक भी। उन्होंने कहा था : "तुम सभी व्यक्तियों की विचारधारा को एक नहीं कर सकते, यह सत्य है और मैं इसके लिए ईश्वर को धन्यवाद देता हूँ। विचारों के अन्तर और संघर्ष से ही नवीन विचार जन्म लेते हैं।"[2]

स्वामी विवेकानन्द के धर्म में मानव-समाज की सेवा का महत्वपूर्ण स्थान था। वे शिक्षा, स्त्री-पुनरुद्धार और आर्थिक प्रगति के पक्षधर थे। निर्धनता, अशिक्षा, अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता पर उन्होंने कठोरतम प्रहार किये। वह मानव-सेवा को धर्म का प्रमुख अंग मानते थे। उन्होंने कहा था : "ईश्वर विभिन्न शक्लों में तुम्हारे सामने है। जो ईश्वर के बच्चों से प्यार करता है वह ईश्वर की सेवा करता है।"[3] उन्होंने एक पत्र में लिखा था : "ईश्वर की खोज में एक व्यक्ति को कहाँ जाना चाहिए ? क्या निर्धन, असहाय और निर्बल ईश्वर नहीं हैं।"[4] उन्होंने अपने एक साथी को लिखा था : "निर्धन, अज्ञानी, अशिक्षित और असहाय को अपना ईश्वर मानो। इनकी सेवा करना ही महान् धर्म है।"[5]

उन्होंने यह भी कहा : "जब तक करोड़ों व्यक्ति भूखे और अज्ञानी हैं तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को देशद्रोही मानता हूँ जो उन्हीं के खर्चे पर शिक्षा ग्रहण करता है परन्तु उनकी परवाह बिल्कुल नहीं करता।"[6] इस प्रकार समाज-निर्माण और सेवा स्वामी विवेकानन्द का प्रथम धर्म था। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से वह सामाजिक सुधार में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि अध्यात्मवाद से आत्म-निर्माण होगा और आत्म-निर्माण से देश की सामाजिक

---

1 "Help and not fight, assimilation and not destruction, harmony and peace and not dissension." —*Swami Vivekananda.*

2 "You cannot make all conform to the same ideas, that is a fact and I thank God that it is so. It is the clash of thought, the differentiation of thought, that awakes thought." —*Swami Vivekananda.*

3 "God is here before you in various forms, he who loves his creatures, serves God." —*Swami Vivekananda.*

4 "Where one should go to seek for God ? Are not all the poor, the miserable, the weak, God ?" —*Swami Vivekananda.*

5 "The poor, the ignorant, the illiterate, the afflicted—let these be your God; know that service to these is the highest religion." —*Swami Vivekananda.*

6 "So long as the millions live in hunger and ignorance, I hold every man a traitor who, having been educated at their expense, pays not the least heed to them." —*Swami Vivekananda.*

एवं आर्थिक प्रगति होगी। अध्यात्मवाद का प्रचार करके वे मनुष्य को पहले मनुष्य बनाना चाहते थे और उसी को सम्पूर्ण प्रगति का आधार मानते थे।

स्वामी विवेकानन्द ने राष्ट्रीयता के निर्माण में भी अत्यधिक सहयोग दिया। जिस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण संसार में हिन्दू धर्म और अध्यात्मवाद की श्रेष्ठता को स्थापित किया उससे हिन्दुओं में आत्म-विश्वास, आत्म-गौरव और देश-प्रेम उत्पन्न होना स्वाभाविक था। हिन्दुओं के लिए जो प्रार्थना उन्होंने बनायी थी, वह इस प्रकार थी : "ऐ गौरीपति, ऐ संसार की माता, मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। ऐ शक्ति की माँ, मेरी दुर्बलता को नष्ट करो, मेरी पुरुषत्वहीनता को नष्ट करो और मुझे पुरुष बनाओ।"[1] एक आधुनिक भारतीय इतिहासकार ने भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में उनके योगदान के विषय में लिखा है : "स्वामी विवेकानन्द को आधुनिक भारतीय राष्ट्रीयता का जनक पुकारा जा सकता है। उन्होंने बहुत कुछ अंशों में उसका निर्माण किया और साथ ही अपने जीवन में उसके श्रेष्ठतम और उच्चतम आदर्शों को आत्मसात किया।"[2]

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म, संस्कृति, सभ्यता, गौरव, समाज और राष्ट्रीयता के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। इस कारण रामकृष्ण-मिशन भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण भाग बन गया और आधुनिक समय में वह विभिन्न क्षेत्रों में भारत की सेवा कर रहा है।

7. थियोसोफीकल समाज (Theosophical Society)—'थियोसोफी' (Theosophy) शब्द ग्रीक भाषा के *'Theos'* और *'Sophia'* (Wisdom) शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ 'ईश्वर का ज्ञान' है। संस्कृत में इसके लिए 'ब्रह्मविद्या' शब्द का प्रयोग होता है। 'थियोसोफी' (Theosophy) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम तीसरी सदी में एलेक्जेण्ड्रिया के ग्रीक विद्वान इम्बीकस (Iambechus) ने किया था। उसने इस शब्द का प्रयोग 'ईश्वरीय ज्ञान' के लिए किया था। आधुनिक समय में इस शब्द का प्रयोग थियोसोफीकल समाज ने किया जिसकी स्थापना 1875 ई. में मैडम हेलन पेट्रोवना ब्लेवट्स्की (Madame H. P. Blavatsky) और एच. एस. अल्कॉट (H. S. Olcott) ने की। 1892 ई. में मद्रास के निकट अड्यार (Adyar) नामक स्थान पर इसकी एक शाखा स्थापित की गयी।

थियोसोफीकल समाज के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(1) भ्रातृ-भाव की भावना से सभी मनुष्यों के संगठन की स्थापना करना।

(2) प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन में सहयोग देना जो संसार में कहीं भी पाया जा सकता है।

(3) प्रकृति के नियमों की खोज तथा मनुष्य की दैवी शक्तियों का विकास। मुख्यतः ब्राह्मण और बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों ने थियोसोफीकल समाज के दर्शन और सिद्धान्तों को जन्म दिया था। सभी मनुष्यों को समान और भाई मानने का सिद्धान्त हिन्दू-दर्शन से लिया गया था, जो यह विश्वास करता है कि सभी मनुष्य ईश्वर का अंग हैं।

---

1 "Thou Lord of Gori, O thou mother of the Universe, vouchsafe manliness unto me. O, thou Mother of strength, take away my weakness, take away my unmanliness, and make me a Man." —*Swami Vivekananda*

2 "Swami Vivekananda might well be called the father of the modern Indian nationalism, he largely created it and also embodied in his own life its highest and noblest elements." —*A Modern Indian Historian.*

प्राचीन धर्म और दर्शन का अध्ययन इस धारणा पर आधारित था कि विभिन्न धर्म वास्तव में 'प्राचीन ज्ञान' (Ancient wisdom) के ही विभिन्न स्वरूप हैं। इस कारण सत्य की खोज के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न व्यक्तियों के दर्शन और धर्मों का अध्ययन किया जाय।

उसने प्रकृति के नियमों को खोजना और मनुष्य की दैवी-शक्तियों के विकास की निम्नलिखित मुख्य बातें बतायीं :

(1) ब्रह्म की कल्पना, जिससे सभी व्यक्तियों की उत्पत्ति होती है और जो सभी मनुष्यों में निवास करता है।

(2) धर्म के विभिन्न स्वरूप हैं परन्तु वे भी ब्रह्म के अंग हैं।

(3) ब्रह्म की देखभाल में उसके बड़े बच्चे जिन्हें सन्त, दार्शनिक, महात्मा, देवता आदि पुकारते हैं, संसार का शासन करते हैं।

(4) मनुष्य अपने कर्मानुसार धीरे-धीरे प्रयत्न करते हुए निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

थियोसोफीकल समाज के दर्शन से उसके निम्नलिखित सिद्धान्तों का भी पता लगता है :

(1) विभिन्न जातियों (races) का जन्म ईश्वर मनुष्य के विभिन्न गुणों के विकास के लिए करता है।

(2) मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है परन्तु निर्वाण-प्राप्ति का अर्थ कर्मों की समाप्ति न होकर आत्म-ज्ञान है।

(3) स्त्री और पुरुष समान हैं क्योंकि आत्मा कभी पुरुष-शरीर में जन्म लेती है तो कभी स्त्री-शरीर में।

(4) समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें संन्यासी, सन्त या महात्मा पुकारते हैं और जो मनुष्यों को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बताते हैं। उनका स्थान समाज में श्रेष्ठ होता है और मनुष्यों को उनके उपदेशों को सुनना चाहिए तथा उनके ज्ञान का अध्ययन करना चाहिए।

(5) संसार में जो कुछ होता है वह ईश्वर की इच्छा से होता है।

(6) मनुष्यों को पशुओं के प्रति दया का भाव रखना चाहिए।

(7) सभी धर्मों का महत्व है क्योंकि प्रत्येक धर्म किसी न किसी प्रकार मनुष्य को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बताता है।

(8) व्यक्तियों को केवल अपने ही निर्वाण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए बल्कि इस कार्य में सभी मनुष्यों की सहायता करनी चाहिए।

प्रारम्भ में थियोसोफीकल समाज ने भारतीय शिक्षित-वर्ग को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया। श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने, जो बाद में इस समाज की सभापति बनीं और जो होम-रूल लीग (Home-Rule League) के द्वारा भारतीय राजनीति में प्रविष्ट हुईं, इस समाज को अधिक लोकप्रिय बनाया। परन्तु धार्मिक दृष्टि से यह समाज भारत में अधिक लोकप्रिय न हो सका। धर्म से अधिक इस समाज ने ऐनी बेसेण्ट के नेतृत्व में भारत की राष्ट्रीय जागृति में सहयोग दिया।

8. महाराष्ट्र में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार—ब्रह्म-समाज से प्रभावित होकर डॉ. आत्माराम पाण्डुरंग ने महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज की स्थापना की जिसने 'विधवा-विवाह संघ',

'दक्षिण शिक्षा-समिति' और 'दलित-उद्धार मिशन' की स्थापना करके महाराष्ट्र में समाज-सुधार के लिए वही कार्य किया जो ब्रह्म-समाज ने बंगाल में किया था। उनके कार्यों में महादेव गोविन्द रानाडे और सर आर. जी. भण्डारकर ने बहुत सहयोग प्रदान किया। 'दक्षिण शिक्षा-समिति' के कार्य में गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक और गणेश अगरकर ने बहुत सहयोग दिया। 1905 ई. में गोखले ने अपने को इस समुदाय से अलग करके एक नवीन समुदाय 'भारत सेवक समाज' (Servants of India Society) की स्थापना की। इस समाज की एक शाखा ने हृदयनाथ कुंजरू के नेतृत्व में उत्तर प्रदेश में एक सेवा-समिति की स्थापना की जिसने धार्मिक मेलों और उत्सवों, अकाल, महामारी, बाढ़ आदि के अवसरों पर सेवा-कार्य करना आरम्भ किया। उसकी मद्रास शाखा ने गाँवों के सुधार की ओर ध्यान दिया। 1922 ई. में अमृतलाल विट्ठलदास ठक्कर ने 'भील-सेवा मण्डल' की स्थापना करके भीलों की शिक्षा और समाज-सुधार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। महाराष्ट्र में स्त्रियों की शिक्षा और उन्नति के लिए गोपाल कृष्ण देवधर और धोंधोकेशव कार्वे ने भी उपयोगी कार्य किया। मि. कार्वे ने इस कार्य हेतु भारतीय स्त्री विश्वविद्यालय की स्थापना की और मि. देवधर ने 'पूना सेवा-सदन' को स्थापित किया।

9. **अन्य धर्म-सुधार**—उपर्युक्त महत्वपूर्ण धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के अतिरिक्त भारत में अन्य बहुत से छोटे-छोटे और सीमित क्षेत्र में धार्मिक आन्दोलन हुए। पारसियों ने अपने धर्म और समाज के सुधार हेतु **धर्म-सुधार सभा** (Religion Reform Association) की स्थापना की। दादाभाई नौरोजी ने पारसी धर्म के सुधार के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये। माधव-सम्प्रदाय ने अपनी एक धर्म-सुधार सभा का निर्माण किया और रामानुज-सम्प्रदाय ने भी अपनी एक धर्म-सुधार सभा बनायी। इसके अतिरिक्त, चैतन्य के समर्थकों और शैव-धर्म के समर्थकों ने भी अपनी-अपनी सभाएँ बनायीं। शंकराचार्य के समर्थकों ने अपने मत का अलग से प्रचार किया। 1861 ई. में आगरा में श्री शिवदयाल खत्री ने **राधास्वामी सत्संग** की स्थापना की। वहीं दयालबाग नामक स्थान पर इनके समर्थकों ने एक मन्दिर का निर्माण किया है। दयालबाग अब इस सत्संग का तीर्थस्थान बन गया है तथा एक बड़ा औद्योगिक नगर भी। इस सम्प्रदाय के अनुसार राधास्वामी ईश्वर का नाम है और वे मनुष्य के रूप में अवतरित हुए हैं जो सन्त सद्गुरु हैं। इस प्रकार, इस सम्प्रदाय में गुरु-भक्ति पर बल दिया गया है और गुरु को ईश्वर का रूप माना गया है। इस सम्प्रदाय के अधिकांश उपदेश नानक, कबीर और दादू जैसे सन्तों के उपदेशों से लिये गये हैं। यह जाति-भेद अन्य सभी प्रकार के वर्ग-भेद के विरोध में है तथा प्रेम और गुरु के माध्यम से ईश्वर-भक्ति पर बल देता है। सिखों ने अपनी सामाजिक और शिक्षात्मक उन्नति के लिए एक केन्द्रीय संस्था **खालसा-दीवान** को स्थापित किया और अमृतसर में विख्यात खालसा कॉलेज की स्थापना की। धर्म-सुधार के लिए उन्होंने केन्द्रीकृत **शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति** का भी गठन किया।

10. **मुसलमानों के आन्दोलन**—19वीं सदी में धर्म और समाज-सुधार की जो लहर भारत में उठी उससे मुसलमान सम्प्रदाय भी मुक्त न रहा। उसमें भी विभिन्न धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन हुए। मुस्लिम आन्दोलनों का आरम्भ सैयद अहमद बरेलवी से हुआ जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के विरोध में कट्टर इस्लाम के सिद्धान्तों का प्रचार किया। बरेलवी ने इस्लाम में परिवर्तित व्यक्तियों में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों को नष्ट करने का प्रयत्न किया, ईश्वर की एकता पर बल दिया तथा सन्तों की पूजा का विरोध किया। उनका उद्देश्य इस्लाम की नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रगति तथा भारत में पुनः इस्लाम का राज्य स्थापित करना था।

इसके विपरीत, शेख करामतअली ने भारतीय मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा और विचारों की ओर प्रेरित किया, यद्यपि उनका प्रयास बहुत सफल नहीं हुआ।

19वीं सदी के अन्तिम समय में **अहमदिया-आन्दोलन** हुआ जिसे पंजाब में मिर्जा गुलाम अहमद के द्वारा आरम्भ किया गया। उन्होंने अपने आपको ईश्वर का पैगम्बर बताया जिसका उद्देश्य भारत में शुद्ध इस्लाम की स्थापना था। अहमदिया-आन्दोलन ने कुरान की आज्ञाओं का आध्यात्मिक और नैतिक आधार पर पालन करने पर बल दिया। परन्तु यह आन्दोलन हिंसा अथवा धर्म-युद्ध पर आधारित नहीं था। इसका उद्देश्य शुद्ध इस्लाम का प्रचार करना था। सामाजिक दृष्टि से इसने इस्लाम की प्राचीन परम्पराओं का पालन करना उचित बताया तथा इस आधार पर पर्दा-प्रथा, तलाक, बहु-विवाह आदि का समर्थन किया। अहमदिया-आन्दोलन आर्य-समाज के विरोध में रहा और इसने सर सैयद अहमदखाँ जैसे पाश्चात्य शिक्षा और विचारों के समर्थक मुस्लिम-सुधारकों का भी विरोध किया। 1914 ई. के लगभग इस आन्दोलन के अन्तर्गत नवीन लाहौरी दल का विकास हुआ जिसने मिर्जा गुलाम अहमद को पैगम्बर की बजाय एक समाज-सुधारक मात्र माना। परन्तु भारतीय मुसलमानों का सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन सर सैयद अहमदखाँ के नेतृत्व में 'अलीगढ़-आन्दोलन' हुआ।

अलीगढ़-आन्दोलन—यह कहा गया है कि जो कार्य हिन्दुओं के लिए राजा राममोहन राय ने किया वही कार्य सर सैयद अहमदखाँ ने भारतीय मुसलमानों के लिए किया। मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिकीकरण की ओर ले जाने का श्रेय सर सैयद अहमदखाँ को है और उनका 'अलीगढ़-आन्दोलन' इसका केन्द्रबिन्दु रहा। 1817 ई. में दिल्ली में सर सैयद अहमदखाँ का जन्म हुआ। 20 वर्ष की आयु में वह सरकारी सेवा में गये और विद्रोह (1857 ई.) के अवसर पर उन्होंने अंग्रेजों की विशेष सेवा की। इससे अंग्रेजों की जो सद्भावना उन्हें प्राप्त हुई उसका उपयोग उन्होंने भारतीय मुसलमानों के हित में किया।

भारतीय मुसलमानों ने उस समय तक अपने आपको न केवल अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता से पृथक रखा था बल्कि अंग्रेजों से उनके सम्बन्ध भी अच्छे न थे और यह उनकी अवनति का मुख्य कारण था। इस कारण सर सैयद अहमदखाँ ने अपने जीवन के दो प्रमुख उद्देश्य बनाये :

(1) अंग्रेजों और मुसलमानों के सम्बन्धों को ठीक करना; तथा

(2) मुसलमानों में आधुनिक शिक्षा का प्रसार करना।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने मुसलमानों को यह समझाया कि उनके हित की पूर्ति सरकार के प्रति वफादार रहने से ही हो सकती है और अंग्रेजों को उन्होंने यह समझाया कि मुसलमान हृदय से अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नहीं हैं और अंग्रेजों की थोड़ी-सी सहानुभूति से वे सरकार के प्रति वफादार हो जायेंगे। सर सैयद अहमदखाँ ने यह विचार उस समय व्यक्त किये जब अंग्रेज हिन्दुओं की उन्नति, शिक्षा और राजनीतिक विचारधारा के कारण उनकी तरफ से शंकित होते जा रहे थे। अंग्रेजों ने भी मुसलमानों के प्रति सद्भावना प्रकट करना उचित समझा क्योंकि हिन्दुओं की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के विरुद्ध वे मुस्लिम साम्प्रदायिकता का प्रयोग कर सकते थे। इस कारण, सर सैयद अहमदखाँ को अपने इस कार्य में शीघ्र ही सफलता मिल गयी।

अपने दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर सैयद अहमदखाँ ने सर्वप्रथम 1864 ई. में गाजीपुर में अंग्रेजी शिक्षा का एक स्कूल स्थापित किया, एक वर्ष बाद अंग्रेजी पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करने के लिए एक 'विज्ञान-समाज' (Scientific Society) की स्थापना की और 1869 ई. में की गयी अपनी लन्दन-यात्रा के पश्चात् 1877 ई. में अलीगढ़ में ऐंग्लो-ओरिएण्टल कॉलेज की स्थापना की जो बाद में मुस्लिम विश्वविद्यालय कहलाया और 'अलीगढ़-आन्दोलन' का केन्द्रबिन्दु बना। सर सैयद अहमदखाँ ने एक 'Mohammedan Educational Conference' की भी स्थापना की और उसके माध्यम से अनेक ऐसे मुसलमानों

को अपने साथ सम्मिलित कर लिया जो मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में लाने के उत्सुक थे और उसके लिए प्रयत्न करने को तत्पर थे।

'अलीगढ़-आन्दोलन' ने मुसलमानों की शिक्षा, सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति और आधुनिकीकरण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया। धीरे-धीरे भारतीय मुसलमान भी उस प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हुए जिसका अनुसरण हिन्दू पहले से ही कर रहे थे। परन्तु 'अलीगढ़-आन्दोलन', निस्सन्देह, भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति के विरोध में रहा। यह आन्दोलन धीरे-धीरे हिन्दुओं और अखिल भारतीय काँग्रेस का कट्टर विरोधी हो गया। इसके कई कारण थे। प्रथम, सर सैयद अहमदखाँ और 'अलीगढ़-आन्दोलन' प्रारम्भ से ही अंग्रेजों की सहानुभूति पर निर्भर थे और अंग्रेजों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए आवश्यक था कि राजनीति में प्रगतिशील हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमान अंग्रेजों की कूटनीति का समर्थन करें। द्वितीय, सर सैयद अहमदखाँ हिन्दू धर्म और समाज-सुधारकों के विपरीत पश्चिमी सभ्यता से आवश्यकता से अधिक प्रभावित थे और अधिकाधिक मात्रा में अंग्रेजों का समर्थन करने लगे थे। तृतीय, मुसलमान अल्पसंख्यक थे और सर सैयद अहमदखाँ को सर्वदा यह भय रहा कि मुसलमान बहुसंख्यक हिन्दुओं का मुकाबला कभी भी नहीं कर सकेंगे। इस कारण, मुसलमानों का अंग्रेजों का समर्थन करना और उनकी सहायता पर निर्भर करना उनके हितों की पूर्ति के लिए आवश्यक था।

कुछ अवसरों पर सर सैयद अहमदखाँ के विचार साम्प्रदायिकता से मुक्त अवश्य दिखायी देते हैं लेकिन अधिकांशतः ऐसा नहीं है। इसी कारण 'अलीगढ़-आन्दोलन' के निम्नलिखित चार आधार बने :

(1) हिन्दू और मुसलमान दो पृथक राजनीतिक इकाइयाँ हैं जिनके हितों और दृष्टिकोणों में बहुत अन्तर है।

(2) भारत के जनतन्त्र के आधार पर प्रतिनिधि-सभाओं की स्थापना करने तथा असैनिक सेवाओं (Civil Services) की परीक्षा भारत में करने से मुसलमानों के हितों की सुरक्षा सम्भव नहीं हो सकेगी क्योंकि वे हिन्दू-सत्ता के अधीन हो जायेंगे जो अंग्रेजी शासन से भी बुरा होगा।

(3) मुसलमानों को अंग्रेजी शासन की सुरक्षा में ही अपने हितों की सुरक्षा समझनी चाहिए और उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध किसी भी राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेना चाहिए।

(4) मुसलमानों के हित क्योंकि अंग्रेजों के हाथों में पूर्णतः सुरक्षित हैं अतएव मुसलमानों को स्वयं को राजनीति से अलग रखकर केवल अपने सांस्कृतिक विकास का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार राजनीति से पृथक रहकर वे हिन्दुओं के राजनीतिक आन्दोलन को भी दुर्बल कर सकेंगे।

अलीगढ़ का ऐंग्लो-ओरिएण्टल कॉलेज मुसलमानों की राजनीतिक कार्रवाई का केन्द्र-स्थल बना। इस कॉलेज के प्रथम प्रिन्सिपल थियोडोर बैक (Theodore Beck) ने न केवल सर सैयद अहमदखाँ के विचारों को ही गम्भीरता से प्रभावित किया अपितु उसने अंग्रेजी शासन की संरक्षकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता के प्रसार में भी पर्याप्त भाग लिया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने 1893 ई. में 'Mohammedan Anglo-Oriental Defence Association of India' की स्थापना की जिसके सदस्य केवल अंग्रेज और मुसलमान हो सकते थे तथा जिसका मुख्य लक्ष्य भारतीय मुसलमानों को राजनीति से पृथक रखना था। बैक (Beck) के पश्चात् उस कॉलेज का प्रिन्सिपल मौरीसन (Morrison) बना

और उसने भी हिन्दुओं और अखिल भारतीय काँग्रेस का विरोध किया तथा मुस्लिम-साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने की नीति अपनायी। उस समय तक स्वयं सर सैयद अहमदखाँ भी काँग्रेस के कट्टर विरोधी हो गये थे। जब मद्रास में काँग्रेस का अधिवेशन हो रहा था तब उन्होंने अपने एक भाषण में कहा : "अगर तुम्हें यह स्वीकार है कि यह देश बंगाली शासन के अत्याचारों तले दबे और यहाँ के व्यक्ति बंगालियों के जूतों को चूमें तो ईश्वर के नाम पर कूद कर गाड़ी में बैठ जाओ और मद्रास चले जाओ।"[1]

इस प्रकार, अलीगढ़-आन्दोलन मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में बहुत सहायक हुआ। वह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोध में रहा और पाकिस्तान के निर्माण में भी उसका बहुत बड़ा हाथ रहा। परन्तु इस आन्दोलन का दूसरा पहलू भी है। जहाँ तक मुसलमानों का प्रश्न है, यह आन्दोलन उनके लिए अवश्य लाभदायक था। जो कार्य भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन और हिन्दू सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दुओं के लिए किया वही कार्य अलीगढ़-आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानों के लिए किया। इस आन्दोलन ने मुस्लिम-सम्प्रदाय को अकर्मण्यता और निराशा से बचाया तथा उसे मध्य-युग से आधुनिक युग में लाने में सफलता प्राप्त की। इसी प्रकार यह भी स्वीकार किया जाता है कि मुसलमानों की शिक्षा, समाज-सुधार और जागृति के लिए जो कार्य सर सैयद अहमदखाँ ने किया वह उस समय तक किसी भी अन्य भारतीय मुसलमान ने नहीं किया था। उन्होंने मुस्लिम समाज और धर्म में सुधार करके उन्हें आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने ही मुसलमानों को पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता के सम्पर्क में लाकर उन्हें प्रगतिशील बनाने का प्रयत्न किया। अपने इस लक्ष्य में उन्होंने सफलता भी प्राप्त की। इस प्रकार यह स्वीकार करते हुए भी कि सर सैयद अहमदखाँ और अलीगढ़-आन्दोलन भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध थे, यह मानना पड़ता है कि भारतीय मुसलमानों की शिक्षा, सुधार और आधुनिकीकरण के लिए उन्होंने, निस्सन्देह, महत्वपूर्ण कार्य किया।

(स) पुनरुद्धार-आन्दोलन की प्रकृति और परिणाम

भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने न केवल विभिन्न सामाजिक और धार्मिक सुधार-आन्दोलनों को जन्म दिया बल्कि उसने आर्थिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में भारतीयों को प्रभावित किया और जीवन के सभी अंगों में एक नवीन जागृति को जन्म दिया जिसका प्रभाव 19वीं सदी के भारत पर ही नहीं अपितु 20वीं सदी के भारतीय जन-जीवन पर भी पड़ा।

1. धर्म

पुनरुद्धार-आन्दोलन का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव 19वीं सदी के धर्म-सुधार आन्दोलन थे। प्रायः सभी धर्मों में एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। ईसाई, पारसी, इस्लाम और मुख्यतः हिन्दू धर्म में जो जागृति की भावना आयी उसने भारतीय समाज और राष्ट्र को एक नवीन जीवन प्रदान किया। ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-समाज, रामकृष्ण-मिशन और थियोसोफीकल-समाज ने हिन्दुओं को अपने धर्म की श्रेष्ठता में विश्वास उत्पन्न करा दिया। यदि राजा राममोहन राय और उनके ब्रह्म-समाज ने सभी धर्मों की समानता को स्थापित किया तथा हिन्दू धर्म को ईसाई और इस्लाम धर्म के बराबर खड़ा कर दिया तो स्वामी दयानन्द और उनके

---

1 "If you accept that country should grow under the yoke of Bengali rule and its people lick the Bengali shoes then, in the name of God, jump into the train, sit down, and be off to Madras." —*Sir Syed Ahmad Khan.*

आर्य-समाज ने हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को स्थापित किया। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म को एक कदम और आगे बढ़ा दिया। भारतीय अध्यात्मवाद की भावना की पूर्ति स्वामी विवेकानन्द ने की।

हिन्दू धर्म को नवजीवन प्रदान करने में अनेक विदेशी विद्वानों जैसे मैक्समूलर, सर विलियम जोन्स, चार्ल्स विलकिन्स आदि ने भी महत्वपूर्ण योग दिया। इन विद्वानों ने हिन्दू धर्म-ग्रन्थों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके और उनकी महानता को स्पष्ट करके हिन्दू धर्म को श्रेष्ठ पद प्रदान करने में बड़ी सहायता दी। जब हिन्दुओं ने यह देखा कि विदेशी विद्वान उनके धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके धर्म की ओर आकर्षित हो रहे हैं तब उन्हें अपने धर्म में विश्वास उत्पन्न हुआ।

इन धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म को उसके दोषों से मुक्त किया और उसके सत्य-सिद्धान्तों को खोज निकाला। प्राचीन वेदों और उपनिषदों के सत्य की खोज करके अनेक धर्म-सुधारकों ने उसका प्रचार जनता में किया। स्वामी विवेकानन्द और उनके साथियों ने उस सत्यता के सन्देश को अमेरिका और यूरोप तक पहुँचाया। इन सुधारकों ने हिन्दू धर्म और दर्शन को निरर्थक कर्मकाण्डों एवं अनुपयुक्त क्रियाओं से मुक्त करके उसे शक्तिशाली बनाया जिसके कारण वह साहसपूर्वक अन्य धर्मों का मुकाबला करने के लिए तत्पर हो गया। जिस प्रकार हिन्दू धर्म मध्य-युग में भक्ति-आन्दोलन के कारण इस्लाम के प्रहारों से अपनी रक्षा कर सका था उसी प्रकार आधुनिक युग में इन धर्म-प्रचारकों के प्रयत्नों के कारण वह ईसाई धर्म के प्रहारों से बच सका। यही नहीं बल्कि हिन्दू धर्म संसार को अध्यात्मवाद का सन्देश दे सका। अध्यात्मवाद भारत की श्रेष्ठता का प्रतीक है और इस श्रेष्ठता की स्थापना 19वीं सदी के धार्मिक आन्दोलनों ने की।

2. समाज

19वी सदी के धार्मिक आन्दोलन केवल धर्म-सुधार तक ही सीमित न थे। समाज-सुधार इन आन्दोलनों का मुख्य लक्ष्य था। भारतीय समाज और मुख्यतः हिन्दू समाज में अनेक सामाजिक कुरीतियों का समर्थन धर्म के आधार पर किया जाता था जिसके कारण साधारण व्यक्ति इन कुरीतियों को तोड़ने का साहस नहीं कर पाते थे। इन धर्म-सुधारकों ने बताया कि इन सामाजिक कुरीतियों का स्थान हमारे धर्म में तो क्या समग्र समाज में भी न था। ये कुरीतियाँ मुख्यतः राजनीतिक परिस्थितियों या अन्धविश्वासों से उत्पन्न हुई थीं। अतएव इन सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करना धर्म का विरोध करना नहीं है बल्कि, इसके विपरीत, अपने धर्म और समाज को शक्तिशाली बनाना है। इसी आधार पर ब्रह्म-समाज, आर्य- समाज और रामकृष्ण-मिशन ने जाति-प्रथा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, अस्पृश्यता, अनमेल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि जैसी सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया और स्त्री-शिक्षा, स्त्री-अधिकार, अन्तर्जातीय विवाह और खान-पान, विधवा-विवाह आदि का समर्थन किया। ब्रह्म-समाज में स्त्रियों को समान अधिकार दिया गया और उसमें जाति-प्रथा का कोई स्थान न रहा। आर्य-समाज ने स्त्री-गुरुकुलों की स्थापना की और 'शुद्धि-आन्दोलन' का आरम्भ करके न केवल जाति-समानता पर बल दिया बल्कि ईसाई और इस्लाम धर्म के मतावलम्बियों के लिए भी हिन्दू धर्म और समाज के द्वार खोल दिये। स्वामी विवेकानन्द ने सभी मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूप बताकर न केवल जाति-प्रथा की जड़ पर प्रहार किया बल्कि स्त्री और पुरुष को भी पूर्ण समान पद प्रदान किया। आधुनिक समय में सभी राजनीतिक और सामाजिक नेताओं ने समाज-सुधार के कार्य को जो महत्व प्रदान किया है, उसका मूल कारण 19वीं सदी के ये धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन ही थे। अब सती-प्रथा और बाल-विवाह जैसी कुरीतियों से हमारा समाज पर्याप्त मुक्त है, विधवा-विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह सम्भव हैं, पर्दा-प्रथा

प्रायः समाप्त है, विदेश-यात्रा साधारण बात समझी जाती है तथा स्त्री-शिक्षा और सह-शिक्षा हमारी शिक्षा के अंग बन चुके हैं। इस प्रकार हिन्दू-समाज के अनेक प्रतिक्रियावादी तत्व समाप्त कर दिये गये हैं। मुसलमानों के आधुनिकीकरण तथा समाज एवं धर्म-सुधार के लिए प्रायः ऐसा ही कार्य अलीगढ़-आन्दोलन ने किया।

3. तार्किक दृष्टिकोण

भारतीय पर्याप्त समय से अन्धविश्वासी और परम्परावादी हैं। भाग्यवादी दृष्टिकोण ने उन्हें अत्यधिक अकर्मण्य बना दिया है। जीवन में बुद्धि के स्थान पर सिर्फ आस्था का स्थान रह गया है चाहे वह गलत हो अथवा ठीक। पश्चिमी सभ्यता, विचारधारा और अंग्रेजी शिक्षा ने उनकी इस जड़ता को समाप्त कर दिया। उन्होंने अपनी बुद्धि और तर्क का उपयोग करने का निर्णय किया तथा उसी की कसौटी पर धर्म, समाज और राजनीति के विचारों एवं सिद्धान्तों को जाँचना आरम्भ किया। तर्क के आधार पर अच्छाई और बुराई का निर्णय करने की भावना ने भारतीयों को जीवन के सभी क्षेत्रों में विकास करने की प्रेरणा प्रदान की। भारतीयों की प्रगति का एक बड़ा कारण इस तर्क और बुद्धिवादी भावना की उत्पत्ति थी।

4. इतिहास की खोज

भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण भावना भारत के गौरवपूर्ण अतीत की खोज करना था। अनेक यूरोपीय विद्वानों ने निःस्वार्थ भाव से इस कार्य को आरम्भ किया। जेम्स फर्गूसन, डॉ. फुलर, डॉ. क्लार्क, हैवेल, पर्सी ब्राउन और मार्शल जैसे व्यक्तियों ने प्राचीन स्मारकों की खोज की तथा प्राचीन भारत के गौरव को स्पष्ट किया। भारतीयों ने भी अपने इस प्राचीन भारत के गौरव को खोजने के प्रयत्न आरम्भ किये और उसका पता लगाकर उन्हें यह अनुभव हुआ कि प्राचीन काल में भारतीयों ने सभी क्षेत्रों में इतनी उन्नति की थी कि वे संसार की प्राचीनतम और गौरवपूर्ण सभ्यता से मुकाबला कर सकते हैं। अनेक नरेशों और सम्राटों के नाम और कार्य, जिन्हें भारतीय भूल चुके थे, पुनः प्रकाश में लाये गये। सिन्ध की सभ्यता की खोज, अशोक के शिलालेखों का वर्गीकरण, उनकी लिपि को पढ़ना, विभिन्न साम्राज्यों के निर्माण की गाथाओं की खोज, समुद्र-पार भारतीय संस्कृति के विकास की कथा, अजन्ता के चित्रों की खोज और अनेक स्थानों पर स्थापत्य-कला, मूर्ति-कला, आदि के नमूनों की खोज करने से भारतीयों में राष्ट्रीय गौरव की भावना आयी। डॉ. आनन्द कुमार, डॉ. भण्डारकर, सर जदुनाथ सरकार, हरप्रसाद शास्त्री, रानाडे, सरदेसाई, मैक्डोनल, रेपसन, स्मिथ, टॉड, ग्राण्ट डफ, एलफिन्स्टन जैसे इतिहासकारों तथा 'भण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट' और 'इतिहास-मण्डल' जैसी इतिहास-संस्थाओं ने न केवल भारतीय इतिहास का निर्माण किया बल्कि प्राचीन भारत के गौरवपूर्ण इतिहास को स्पष्ट करके भारतीयों को गौरव प्रदान किया। राष्ट्र के निर्माण में इतिहास का विशेष महत्व होता है। पुनरुत्थान-आन्दोलन ने भारतीय इतिहास को जीवित करके राष्ट्र-निर्माण में अमूल्य सहयोग दिया।

5. प्राचीन साहित्य की प्रगति

पुनरुत्थान-आन्दोलन के कारण भारतीय अपने प्राचान वैदिक और बौद्ध-साहित्य को पुनः प्राप्त कर सके। इनमें से अनेक ग्रन्थों की मूल लिपियाँ भारत में नहीं रही थीं और न इनका अध्ययन ही भारत में किया जाता था। इस प्रकार भारतीय अपने प्राचीन भारत को भूल चुके थे। इस दिशा में भी उन्हें यूरोपीय विद्वानों से सहायता प्राप्त हुई जिन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज की, देश-विदेशों से अनेक मूलप्रतियों को प्राप्त किया, उनका प्रकाशन कराया और संसार की विभिन्न भाषाओं में उनका अनुवाद कराया। सर चार्ल्स विलकिन्स, सर विलियम जोन्स, कोलब्रुक, विल्सन, म्योर, मॉनियर, विलियम्स और मैक्समूलर सदृश यूरोपीय विद्वानों के उत्साह के कारण भारत के प्राचीन ग्रन्थों और संस्कृत भाषा के अध्ययन में रुचि

उत्पन्न हुई। विलकिन्स ने 'गीता' का अनुवाद किया, जोन्स ने अन्य ग्रन्थों के साथ-साथ 'मनुस्मृति', 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' और संस्कृत के अनेक नाटकों का संकलन किया। कोलब्रुक ने पाणिनि के 'व्याकरण' और 'हितोपदेश' जैसे अनेक संस्कृत ग्रन्थों का संकलन किया। जर्मनी के ग्लोसेनहेप ने संस्कृत के अनेक ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं और माधवाचार्य पर भी एक ग्रन्थ लिखा। पोलैण्ड के महान् विद्वान स्टेनिसला ए. एफ. माइकेलक्सी ने अपना सम्पूर्ण जीवन संस्कृत भाषा और प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में व्यतीत किया। मैक्स-मूलर ने वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। तत्पश्चात् भारतीयों ने भी इस ओर ध्यान दिया। हिन्दू धार्मिक आन्दोलनों के सभी नेताओं ने इन प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन पर बल दिया। इस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज की गयी, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया गया तथा भारत के ज्ञान और दर्शन को पुनः प्राप्त किया गया। इससे न केवल भारतीयों को अपने धर्म, दर्शन, ज्ञान और राष्ट्र में श्रद्धा उत्पन्न हुई बल्कि पश्चिमी देशों में भी भारत का सम्मान बढ़ा।

6. प्रादेशिक भाषाओं का साहित्य

भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन के कारण संस्कृत के अतिरिक्त भारतीय प्रादेशिक भाषाओं जैसे हिन्दी, गुजराती, बंगाली, उर्दू, मराठी, तेलुगू, तमिल, मलयालम, कन्नड़ आदि का तीव्र विकास हुआ। इससे पहले इन भाषाओं में केवल कुछ धार्मिक गाथाओं और बहादुर व्यक्तियों के कार्यों का ही वर्णन प्राप्त होता था। गद्य (Prose) तो प्रायः नहीं के बराबर था। विचारों को मुख्यतः गीतों और भजनों द्वारा प्रकट किया जाता था। बच्चों के लिए पाठ्य-पुस्तकों का सर्वथा अभाव था। इस आन्दोलन की प्रेरणा के कारण इनके साहित्य का विकास आरम्भ हुआ। सर्वप्रथम, ईसाई धर्म-प्रचारकों ने 'बाइबिल' का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में किया तो इन भाषाओं के गद्य का निर्माण हुआ। छापेखाने की स्थापना, समाचार-पत्र, मासिक-पत्र आदि के आरम्भ और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन आदि ने इन भाषाओं की नवीन शैलियों के निर्माण में सहयोग प्रदान किया। इसके अतिरिक्त, विभिन्न भाषाओं के विद्वानों ने अपनी रचनाओं से उनके साहित्य का निर्माण किया। पश्चिम के नाटकों और उपन्यासों की नकल करते हुए भी भारतीयों ने बहुत कुछ सीखा। समालोचना की भावना भी भारतीयों ने पश्चिम से प्राप्त की। इन सभी ने विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण में बहुत सहायता दी।

7. वैज्ञानिक भावना का विकास

पुनरुद्धार की भावना के कारण विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी उन्नति के लिए प्रयत्न किये गये। अंग्रेजों ने स्वयं अनेक शिक्षा-केन्द्रों और अनुसन्धानशालाओं का निर्माण किया तथा भारतीयों ने उनका पूर्ण लाभ उठाया। गणित-शास्त्र में रामानुजम और विज्ञान के क्षेत्र में जगदीशचन्द्र की खोजों ने भारत की अन्वेषण-योग्यता का नेतृत्व किया। सी. वी. रमन, डॉ. मेघनाथ शाह, एस. चन्द्रासकर जैसे व्यक्तियों ने विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति की और बी. एन. सील तथा राधाकृष्णन जैसे व्यक्तियों ने भारतीय दर्शनशास्त्र की प्रगति में सहायता दी। इस प्रकार अनुसन्धान और अन्वेषण की भावना भी इस काल में उत्पन्न हुई जिससे ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में भारत ने प्रगति की।

8. औद्योगीकरण की भावना

पुनरुद्धार की भावना ने आर्थिक क्षेत्र में भी अपना प्रभाव दिखाया। भारतीयों ने अपनी दरिद्रता का अनुभव किया और उसका मूल कारण कृषि पर अपनी निर्भरता तथा उद्योगों की कमी को समझा। इस कारण, भारत में कारखानों और उद्योगों को स्थापित करने का प्रयत्न

किया गया। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर भारत को औद्योगिक विकास का अवसर मिला और धीरे-धीरे भारत ने आर्थिक प्रगति की ओर कदम बढ़ाया।

9. ललित-कलाओं की उन्नति

भारतीय पुनर्जागरण की भावना चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नृत्यकला आदि की प्रगति में प्रकट हुई। सिस्टर निवेदिता और हैवेल जैसे विदेशियों ने भारतीय कला की आत्मा को पहचान लिया था और उन्होंने भारतीय चित्रकला को पुनर्जीवित किया। अवनीन्द्र द्वारा 'The Indian Society of Orient Art' स्थापित की गयी। उनके शिष्य सुरेन्द्र गंगोली, नन्दलाल बोस और असितकुमार हलधर ने भारतीय चित्रकला के विकास में सहयोग दिया। अब्दुर्रहमान चुगताई, अमृत शेरगिल, रवीन्द्रनाथ टैगोर और डॉ. ए.के. कुमारस्वामी ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये। आधुनिक समय में 'शान्ति-निकेतन' तथा बम्बई, शिमला, बड़ौदा, कलकत्ता आदि के 'कला-मन्दिर' इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति कर रहे हैं।

भारतीयों ने अपने प्राचीन स्मारकों को प्राप्त करके वास्तुकला और स्थापत्यकला में प्रगति करने का उत्साह प्राप्त किया। पश्चिमी कला से भी भारतीयों ने बहुत कुछ सीखा और आधुनिक समय में अनेक भवनों एवं मूर्तियों का निर्माण किया।

संगीत और नृत्य की दृष्टि से भी भारत ने प्रगति की। सर्वप्रथम ग्वालियर में एक संगीत-शाला खोली गयी। 1916 ई. में बड़ौदा में एक 'अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन' भी स्थापित किया गया। आधुनिक समय में भारत के विभिन्न स्थानों पर संगीत-शिक्षालय स्थापित हैं।

10. मध्यम-वर्ग की उन्नति

पुनर्जागरण की भावना ने शिक्षा, उद्योग, कला, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में प्रगति को प्रोत्साहन दिया और उन सभी की प्रगति में नवीन शिक्षा-प्राप्त एवं प्रशासनिक या नवीन व्यवस्थाओं से उत्पन्न मध्यम-वर्ग ने सबसे अधिक सहयोग दिया। शिक्षक, वकील, डॉक्टर पत्रकार, वैज्ञानिक आदि ने मध्यम-वर्ग का निर्माण किया। डब्ल्यू. सी. बैनर्जी और फीरोजशाह मेहता जैसे वकील, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले और बालगंगाधर तिलक जैसे शिक्षक, आर. सी. दत्त जैसे प्रशासक और मोतीलाल घोष जैसे पत्रकार इसी मध्यम-वर्ग की देन हैं। इस मध्यम-वर्ग ने राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में भारत की उन्नति में सहयोग प्रदान किया।

11. राष्ट्रीयता का निर्माण

भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने राष्ट्रीय एकता के निर्माण और राजनीतिक आन्दोलन में भी भाग लिया। पुनर्जागरण की भावना ने भारतीयों में सांस्कृतिक एकता एवं गौरव का निर्माण किया। 'यह राष्ट्र महान् था' की भावना से 'यह राष्ट्र हमारा है' की भावना को प्रोत्साहन मिला। पुनरुद्धार-आन्दोलन के सभी नेता, चाहे वे धर्म-सुधारक हों या समाज-सुधारक, साहित्यकार हों अथवा कलाकार, राष्ट्र-प्रेमी भी थे। उन्होंने हमारे प्राचीन गौरव एवं भारतीय संस्कृति और धर्म की रक्षा की तथा भारतीयों को आत्म-विश्वास और राष्ट्र-प्रेम सिखाया। इस कारण राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में यह आन्दोलन, निस्सन्देह, सहायक था। इसी प्रकार इसने राजनीतिक आन्दोलन को भी जीवन प्रदान किया। 'यह देश मेरा है' के बाद अगला कदम था—'यह देश विदेशियों का गुलाम क्यों है ?' इस प्रकार राष्ट्र-प्रेम की प्रेरणा देकर इसने राष्ट्र को स्वतन्त्र कराने की भावना प्रदान की। इसके अतिरिक्त, इसने राजनीतिक

आन्दोलन की आधारशिला का भी निर्माण किया। भारतीयों को आत्मविश्वास, आत्म-गौरव और दृढ़ता प्रदान करके इसने उन्हें राजनीतिक आन्दोलन के योग्य बनाया।

इस प्रकार भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया। धर्म, समाज, राजनीति, कला, साहित्य आदि क्षेत्रों में यह भारतीयों के विकास का आधार बना। इसने उस आधारशिला का निर्माण किया जिस पर आधुनिक भारत की नींव है। परन्तु इस आन्दोलन की शक्ति अब समाप्त हो चुकी है। इसमें सन्देह नहीं कि इसने भारतीय जीवन को स्थायी रूप से प्रभावित किया और जो कार्य उसने किया वह अब भी हमारे राष्ट्रीय सामाजिक और धार्मिक जीवन का अंग है, लेकिन विकास और परिवर्तन की जो लहर और प्रेरणा इसने 19वीं सदी में भारतीयों को प्रदान की थी वह अब समाप्त हो चुकी है। नैतिक पतन, विभाजन, फूट, स्वार्थ, धन और शक्ति की लालसा से पूर्ण आधुनिक भारत में राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, तिलक, गोखले, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता, त्याग और आत्म-विश्वास की भावना का सर्वथा अभाव है। यदि भारत को पुनः अपना निर्माण करना है तो आवश्यक है कि वह एक बार फिर पुनर्जागरण की उस मूल भावना और स्रोत को प्राप्त करे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 19वीं सदी के भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. ब्रह्म-समाज के उद्देश्यों और कार्यों पर टिप्पणी कीजिए।
3. 19वीं सदी में भारतीय धर्म और समाज में हुए सुधारों में राजा राममोहन राय का क्या योगदान रहा ?
4. आर्य-समाज के उद्देश्यों तथा 19वीं सदी में भारतीय समाज और धर्म में सुधार किये जाने वाले प्रयत्नों में उसके योगदान को स्पष्ट कीजिए।
5. स्वामी रामकृष्ण के भारतीय अध्यात्मवाद की भावना के प्रसार में योगदान को स्पष्ट कीजिए।
6. स्वामी विवेकानन्द का भारतीय समाज और धर्म-सुधार के लिए क्या और किस प्रकार योगदान रहा ?
7. 'जवान बंगाल आन्दोलन' से आप क्या समझते हैं ? उसके महत्व को स्पष्ट कीजिए।
8. भारतीय समाज-सुधार के लिए ईश्वरचन्द विद्यासागर का क्या सहयोग रहा ?
9. थियोसोफीकल समाज के सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
10. 'अलीगढ़-आन्दोलन' से आप क्या समझते हैं ? भारतीय मुसलमानों की उन्नति में उसका क्या सहयोग रहा ?
11. सर सैयद अहमदखाँ के मुख्य उद्देश्य क्या थे ? क्या यह कहना ठीक है कि उनके विचारों ने राष्ट्रीय एकता के निर्माण में बाधा पहुँचायी ?
12. 19वीं सदी में हुए भारतीय पुनरुद्धार-आन्दोलन ने भारत की उन्नति में किस प्रकार सहयोग प्रदान किया ?

31

भारत का संवैधानिक विकास

1600 ई. में अंग्रेज ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने रानी ऐलिजाबेथ से भारत में व्यापार करने की आज्ञा प्राप्त की थी। अंग्रेजों के अतिरिक्त भारत में व्यापार करने के लिए पुर्तगाली, डच (हॉलैण्ड के रहने वाले) और फ्रान्सीसी भी आये। पर्याप्त समय तक पुर्तगाली भारत में सक्रिय रहे और डच भी भारत के व्यापार में प्रमुख भाग लेते रहे। परन्तु 18वीं सदी के मध्य तक पुर्तगाली और डच दोनों का प्रभाव भारत में नष्ट हो गया तथा केवल अंग्रेज और फ्रान्सीसी ही भारत में व्यापार व शासन के लिए संघर्ष करने हेतु बाकी रह गये।

उस अवसर पर भारत की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त दुर्बल थी। मुगल-साम्राज्य नष्ट हो चुका था। दुर्बल मुगल बादशाह दिल्ली और उसके समीपवर्ती भागों के ही शासक रह गये थे और उस पर भी वे अपने धूर्त वजीरों के हाथों में कठपुतली मात्र थे। दक्षिण में निजाम-उल-मुल्क ने स्वतन्त्र आसफजाही राज्य की स्थापना कर ली थी, अवध में सादतअली ने स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर लिया था, बंगाल जैसे दूरवर्ती सभी प्रान्त स्वतन्त्र हो चुके थे और राजपूत शासकों के छोटे-छोटे राज्य निरन्तर परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे। अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों ने भारत को और अधिक शक्तिहीन कर दिया था। उनमें सबसे प्रबल शक्ति मराठा थे जिन्होंने प्रथम तीन पेशवाओं के नेतृत्व में अपनी शक्ति सम्पूर्ण भारत में फैला ली थी। उनका शासक, शिवाजी का वंशज, सतारा में एक प्रकार से कैद था। परन्तु धीरे-धीरे पेशवाओं की शक्ति भी दुर्बल हो रही थी। मराठे पाँच शक्तिशाली वंशों के राज्यों में विभक्त हो गये थे—पूना के पेशवा, नागपुर के भौंसले, इन्दौर के होल्कर, गुजरात के गायकवाड़ और ग्वालियर के सिन्धिया। मराठा-संघ की सबसे बड़ी दुर्बलता इन मराठा सरदारों का पारस्परिक संघर्ष और भारत की एकता, संगठन और उचित शासन के लिए प्रयत्न न करना था। बाद में भारत में कुछ नवीन शक्तियों का भी जन्म हुआ, जैसे मैसूर में हैदरअली और उसका पुत्र टीपू तथा पंजाब में सिख-सरदार रणजीतसिंह। परन्तु यह ऐसी स्थिति थी जिसमें भारतीय एकता की भावना को खो चुके थे। भारत एक शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित न था। विभिन्न राज्य परस्पर संघर्ष करते रहते थे और कोई भी शक्तिशाली व्यक्ति तलवार के बल पर नवीन राज्य का निर्माण कर सकता था। भारत की राजनीति संघर्ष, ईर्ष्या, कुटिलता और षड्यन्त्रों से युक्त थी।

ऐसे समय में अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों ने भारत में व्यापार और राज्य के लिए संघर्ष आरम्भ किया। तीन युद्धों में फ्रान्सीसियों को परास्त करके अंग्रेजों ने उन्हें भारत की राजनीति से पृथक कर दिया और फिर धीरे-धीरे भारत में अंग्रेजी राज्य का विस्तार किया। 1856 ई. तक वे भारत की विजय को प्रायः पूर्ण कर चुके थे। उसके पश्चात् जो भी राज्य भारत में बच रहे वे पूर्णतः अंग्रेजों के अधीन राज्य थे। अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार में क्लाइव, वारेन हेस्टिंग्स, लॉर्ड कार्नवालिस, लॉर्ड वैलेजली, लॉर्ड हेस्टिंग्स और लॉर्ड डलहौजी के नाम उल्लेखनीय हैं। भारत का यह अंग्रेजी राज्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्राप्त किया था परन्तु

1857 ई. के विद्रोह के कारण यह कम्पनी से छीनकर ब्रिटिश सरकार को दे दिया गया और ब्रिटेन की पार्लियामेण्ट और कैबिनेट भारत के शासन के लिए उत्तरदायी हो गयी।

भारत के संवैधानिक विकास के इतिहास को हम, इस कारण, दो भागों में बाँटते हैं :

1. ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन के अन्तर्गत, और

2. ब्रिटेन की सरकार के शासन के अन्तर्गत ।

जिस समय तक (1855 ई.) ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन रहा, ब्रिटेन की संसद विभिन्न अवसरों पर विभिन्न कानून (Acts) अथवा आदेश-पत्र (Company's Charters) जारी करके कम्पनी के शासन पर नियन्त्रण रखती रही और जब उसने स्वयं भारत के शासन को अपने हाथों में लिया तब भी उसने भारत के शासन के लिए विभिन्न कानून बमाये। उन सभी आदेश-पत्रों और कानूनों को हम भारत के संवैधानिक विकास में सम्मिलित करते हैं।

1. रेगूलेटिंग एक्ट (Regulating Act, 1773 ई.)

भारत में कम्पनी का शासन बंगाल, बिहार और उड़ीसा से आरम्भ हुआ। 1764 ई. में बक्सर के युद्ध के पश्चात् उन्होंने मुगल बादशाह से इन सूबों की दीवानी प्राप्त की और क्लाइव ने इन सूबों में 'द्वैध-शासन' (Dual Government) स्थापित किया। उस शासन से न केवल इन सूबों की स्थिति दयनीय हो गयी बल्कि कम्पनी की आर्थिक स्थिति भी शोचनीय हो गयी जिसके कारण कम्पनी को अंग्रेज सरकार से कर्ज माँगना पड़ा। ब्रिटिश संसद ने 14,00,000 पौण्ड का कर्ज तो कम्पनी को दे दिया परन्तु साथ ही भारत में कम्पनी के शासन में सुधार हेतु 1773 ई. में एक कानून भी बनाया जिसे रेगूलेटिंग एक्ट पुकारा गया। इस एक्ट की निम्नलिखित धाराएँ थीं :

1. बंगाल के गवर्नर को भारत का गवर्नर-जनरल बनाया गया तथा मद्रास और बम्बई के गवर्नर उसके अधीन कर दिये गये।

2. गवर्नर-जनरल की सहायता के लिए चार सदस्यों की एक परिषद (Council) नियुक्त की गयी, जिसमें निर्णय बहुमत से होता था। गवर्नर-जनरल केवल उसी समय निर्णायक मत दे सकता था, जब परिषद के सदस्यों के मत बराबर संख्या में विभाजित हो जायें।

3. कलकत्ता में एक उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) की स्थापना की गयी।

4. प्रोप्राइटरों (Proprietors) की मत देने की योग्यता 500 पौण्ड से बढ़ा कर 1,000 पौण्ड कर दी गयी तथा मत देने का अधिकार केवल उन्हीं को दिया गया जो इस धनराशि को कम से कम एक वर्ष तक जमा रख सकते थे।

5. डायरेक्टर (Directors) चार वर्ष के लिए चुने जायेंगे जिनमें से एक-चौथाई सदस्य प्रत्येक वर्ष त्यागपत्र देते रहेंगे और कम से कम अगले एक वर्ष तक डायरेक्टर नहीं बनेंगे। डायरेक्टरों को कम्पनी की धन-सम्बन्धी रिपोर्ट ब्रिटिश अर्थ-मन्त्री (Chancellor of Exchequer) को तथा सैनिक और राजनीतिक कार्यों की रिपोर्ट अंग्रेज विदेश-मन्त्री (Secretary of State) को देनी होगी।

उपर्युक्त एक्ट में अनेक दोष थे। इसने गवर्नर-जनरल को उसकी परिषद की अपेक्षाकृत बहुत अधिक दुर्बल कर दिया था, उच्चतम न्यायालय के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या नहीं की थी और न यह बताया था कि उसे किन कानूनों के आधार पर न्याय करना था। इसमें मद्रास और बम्बई के गवर्नरों के गवर्नर-जनरल से सम्बन्ध भी स्पष्ट नहीं किये गये थे। फिर भी इस

कानून का पर्याप्त महत्व था। यह अंग्रेजी संसद का कम्पनी के शासन में प्रथम हस्तक्षेप था जिसके आधार पर आगे आने वाले कानूनों की रूपरेखा तैयार हुई।

2. पिट्स इण्डिया एक्ट (Pitts' India Act, 1784 ई.)

रेगूलेटिंग एक्ट के दोष उसके व्यवहार में आने से प्रकट हो गये। इस कारण उसके दोषों को दूर करने हेतु ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री पिट ने 1784 ई. में यह नवीन एक्ट बनाया। इस एक्ट की निम्नलिखित धाराएँ थीं :

1. भारत में कम्पनी के शासन की देखभाल के लिए छह सदस्यों की एक अधिकार-सभा (Board of Control) स्थापित की गयी। इसके सदस्यों को नियुक्ति और पदच्युति का अधिकार ब्रिटेन के राजा को था। ब्रिटेन का अर्थ-मन्त्री (Chancellor of Exchequer) तथा विदेश-मन्त्री (Secretary of State) इसके सदस्य थे।

2. कम्पनी के डायरेक्टरों की एक गुप्त-सभा बनायी गयी जो अधिकार-सभा के आदेशों को भारत भेजती थी। कम्पनी के प्रोप्राइटरों (Proprietors) को डायरेक्टरों के उन आदेशों को स्थगित करने का अधिकार न रहा जिन्हें अधिकार-सभा स्वीकृत कर चुकी होती थी।

3. भारत के गवर्नर-जनरल की परिषद (Council) के सदस्यों की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी। मद्रास और बम्बई के गवर्नर पूर्णतः गवर्नर-जनरल के अधीन कर दिये गये।

1786 ई. में कुछ अन्य कानून भी बनाये गये जिनमें से एक के अनुसार गवर्नर-जनरल को समय-समय पर अपनी परिषद की राय के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार दिया गया और उसे भारत की अंग्रेजी सेना का सेनापति भी नियुक्त किया गया।

इस कानून ने रेगूलेटिंग एक्ट के दोषों को पर्याप्त मात्रा में दूर किया। गवर्नर-जनरल अपनी परिषद तथा प्रान्तीय गवर्नरों की तुलना में अधिक शक्तिशाली हो गया जिससे शासन में एकता और दृढ़ता सम्भव हो सकी। अधिकार-सभा (Board of Control) के बनने और उसमें ब्रिटिश केबिनेट के दो सदस्यों के होने से भारतीय शासन में ब्रिटिश सरकार के अधिकारों में वृद्धि हुई और कम्पनी के डायरेक्टरों एवं प्रोप्राइटरों के अधिकार सीमित हो गये।

3. 1793 ई. का आदेश-पत्र (Company's Charter Act of 1793)

इस आदेश-पत्र द्वारा विशेष परिस्थितियों में गवर्नरों को भी अपनी परिषदों की राय के विरुद्ध काम करने का अधिकार दिया गया तथा कम्पनी का अगले बीस वर्षों के लिए पूर्वी देशों से व्यापार करने का एकाधिपत्य सुरक्षित हो गया।

4. 1813 ई. का आदेश-पत्र (Company's Charter Act of 1813)

इस आदेश-पत्र की धाराएँ निम्नलिखित थीं :

1. यह निश्चित कर दिया गया कि भारतीय अंग्रेजी राज्य की सम्प्रभुता ब्रिटेन के सम्राट में निहित है।

2. भारत से व्यापार करने का कम्पनी का एकाधिपत्य समाप्त कर दिया गया और सभी अंग्रेज व्यापारियों को भारत से व्यापार करने की आज्ञा दे दी गयी।

3. कम्पनी का चीन से अफीम और चाय के व्यापार का एकाधिपत्य सुरक्षित रहा।

4. ईसाई धर्म-प्रचारकों को आज्ञा प्राप्त करके भारत में धर्म-प्रचार के लिए आने की सुविधा प्राप्त हो गयी।

5. कम्पनी की आय में से भारतीयों की शिक्षा के लिए प्रति वर्ष एक लाख रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गयी।

इस आदेश-पत्र द्वारा भारत में कम्पनी के शासन पर ब्रिटिश संसद और राजा के अधिकार को मान्यता दी गयी। प्रथम बार कम्पनी को भारतीयों की शिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा गया। सभी अंग्रेजों को भारत से व्यापार करने की आज्ञा देने से भारत के आर्थिक शोषण में वृद्धि हुई। औद्योगिक क्रान्ति के कारण इंगलैण्ड के उद्योगों की जो प्रगति हो रही थी उनके लिए कच्चे माल की आवश्यकता थी और बने हुए माल के लिए बाजार की आवश्यकता थी। इसी कारण यह सुविधा अंग्रेज व्यापारियों को दी गयी थी। अंग्रेज धर्म-प्रचारकों को भारत आने की सुविधा प्रदान करके भारत में ईसाई धर्म के प्रचार की सुविधा प्रदान की गयी।

5. 1833 ई. का आदेश-पत्र (Company's Charter Act of 1833)

इस आदेश-पत्र की निम्नलिखित शर्तें थीं :

1. चीन से व्यापार करने का कम्पनी का एकाधिपत्य समाप्त कर दिया गया।

2. गवर्नर-जनरल और उसकी परिषद को सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया जिससे प्रान्तों के हाथों से विधि-निर्माण की शक्ति जाती रही।

3. गवर्नर-जनरल की परिषद (Council) में एक चौथा सदस्य विधि-विशेषज्ञ के रूप में बढ़ा दिया गया।

4. अंग्रेजों को भारत में भूमि खरीदने का अधिकार दिया गया।

5. यह घोषणा की गयी कि सरकारी सेवाओं में प्रत्येक व्यक्ति योग्यतानुसार स्थान प्राप्त कर सकेगा।

6. आगरा व पश्चिमी अवध को सम्मिलित करके एक नवीन प्रान्त 'उत्तर-पश्चिमी प्रान्त' की स्थापना की गयी।

इस आदेश-पत्र द्वारा केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाया गया तथा अंग्रेजों को भारत आने और यहाँ बसने की आज्ञा प्रदान की गयी।

6. 1853 ई. का आदेश-पत्र (Company's Charter Act of 1853)

इस आदेश-पत्र की शर्तें निम्नवत् थीं :

1. ब्रिटिश संसद को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि वह किसी भी समय अपनी इच्छानुसार कम्पनी से भारत का शासन अपने हाथों में ले सकती थी।

2. कम्पनी के डायरेक्टरों की संख्या 24 से घटाकर 18 कर दी गयी जिनमें से 6 की नियुक्ति ब्रिटेन के राजा (Crown) द्वारा होनी थी। गवर्नर-जनरल और गवर्नरों की परिषदों (Councils) के सदस्यों की नियुक्ति भी बिना ब्रिटिश क्राउन (Crown) की सम्मति के नहीं हो सकती थी।

3. सरकारी सेवाओं के लिए परीक्षा की व्यवस्था की गयी।

4. बंगाल के लिए पृथक लेफ्टिनेन्ट-गवर्नर की नियुक्ति की गयी।

5. गवर्नर-जनरल की परिषद (Council) में कानून-निर्माण में सहायता देने के लिए छह नवीन सदस्यों की नियुक्ति की गयी यद्यपि गवर्नर-जनरल उन सभी की राय को ठुकराने का अधिकार रखता था।

यह आदेश-पत्र केवल दो बातों के कारण महत्वपूर्ण माना गया है। प्रथम, इसके द्वारा ब्रिटिश संसद को किसी भी समय कम्पनी के शासन को भारत से समाप्त करने का अधिकार

मिल गया। द्वितीय, इसके द्वारा पहली बार भारत में, बहुत सीमित अधिकार देकर, केन्द्र पर व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना की गयी। गवर्नर-जनरल की बढ़ी हुई परिषद ने ही व्यवस्थापिका-सभा की तरह कार्य करना आरम्भ किया।

1853 ई. के आदेश-पत्र से भारत के संवैधानिक विकास का प्रथम चरण समाप्त हो गया। इस समय में विभिन्न आदेश-पत्रों द्वारा ब्रिटिश संसद ने न केवल भारतीय शासन के लिए कम्पनी को आदेश प्रदान किये थे अपितु कम्पनी के संचालकों सम्बन्धी नियम भी बनाये थे। परन्तु उसने भारत के शासन का प्रयत्क्ष उत्तरदायित्व ग्रहण नहीं किया था। 1857 ई. में भारत में एक विप्लव हुआ जिसे 1857 ई. के विद्रोह या प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के नाम से पुकारा गया। इसके पश्चात् 1858 ई. के कानून द्वारा भारत में कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और यह शासन ब्रिटिश क्राउन को प्राप्त हो गया। उस समय से भारत के संवैधानिक विकास का दूसरा चरण आरम्भ हुआ। उस समय भी संसद ने समय-समय पर भारतीय शासन के लिए विभिन्न नियम बनाये थे। इस द्वितीय-चरण की एक विशेषता है जो हमें प्रथम चरण में दिखायी नहीं दी। इस समय भारत में एक शक्तिशाली राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ और भारत में शासन-सुधारों तथा अन्त में पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग हुई। ब्रिटेन में शासन करने वालों के सम्मुख इस समय न केवल भारत के अच्छे शासन की समस्या थी बल्कि उन्हें किसी न किसी मात्रा में भारतीयों की स्वशासन की माँग को भी सन्तुष्ट करना था। इस कारण भविष्य में जो भी सुधार किये गये उनके अन्तर्गत भारतीयों को शासन में भाग लेने का अधिकार दिया गया। धीरे-धीरे व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों में वृद्धि, उनके अधिकारों में वृद्धि, उनमें अधिकाधिक भारतीयों का सहयोग, कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका-सभा का नियन्त्रण और भारतीयों का कार्यपालिका में प्रतिनिधित्व, मतदाताओं की संख्या में वृद्धि आदि विभिन्न कार्य किये गये जिससे भारतीय शासन की प्रजातान्त्रिक रूपरेखा का धीरे-धीरे विकास हुआ। इसी काल में भारतीयों ने प्रजातान्त्रिक व्यवस्था और उसकी संसदीय प्रणाली का ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया। विभिन्न सुधारों द्वारा अंग्रेजी शासन-पद्धति को धीरे-धीरे भारत में स्थापित किया गया जिसके परिणामस्वरूप भारत का नवीन संविधान उन्हीं सुधारों के शिलाखण्डों पर बना। इसी कारण भारत की नवीन शासन-पद्धति ब्रिटेन की शासन-पद्धति के समान है।

7. 1858 ई. का कानून (Act of 1858)

इस कानून की शर्तें निम्नवत् थीं :

1. इसके द्वारा भारत का शासन ब्रिटेन की संसद को दे दिया गया।

2. डायरेक्टरों की सभा (Court of Directors) और अधिकार-सभा (Board of Control) को समाप्त कर दिया गया तथा उनके समस्त अधिकार भारत-सचिव (Secretary of State for India) को दे दिये गये। भारत-सचिव अनिवार्यतः ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था।

3. भारत-सचिव की सहायता के लिए 15 सदस्यों की एक सभा—भारत-परिषद (India Council)—की स्थापना की गयी। इसके 7 सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार ब्रिटेन के क्राउन को तथा शेष सदस्यों के चयन का अधिकार कम्पनी के डायरेक्टरों को दिया गया परन्तु प्रत्येक स्थिति में यह आवश्यक था कि इसके आधे सदस्य ऐसे हों जो कम से कम दस वर्ष तक भारत में सेवा-कार्य कर चुके हों। शासन के इस भाग को (भारत-सचिव और भारत-परिषद को सम्मिलित करके) गृह-सरकार (Home Government) का नाम दिया गया।

4. अर्थव्यवस्था और अखिल भारतीय सेवाओं के विषय में भारत-सचिव भारत-परिषद की राय को मानने के लिए बाध्य था। अन्य सभी विषयों पर वह उसकी राय को ठुकरा सकता था। उसे अपने कार्यों की वार्षिक रिपोर्ट ब्रिटिश संसद के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती थी।

5. भारतीय गवर्नर-जनरल को भारत-सचिव की आज्ञानुसार कार्य करने के लिए बाध्य किया गया। गवर्नर-जनरल भारत में ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने लगा और इस कारण उसे वायसराय (Viceroy) भी कहा गया।

इस कानून ने भारत के शासन में कोई परिवर्तन नहीं किया। इसके द्वारा केवल गृह-शासन में परिवर्तन किये गये थे। थोड़े समय पश्चात् 1858 ई. में ही महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा (Queen's Proclamation) की जिसके द्वारा भारतीय नरेशों और नागरिकों को उनके सम्मान, सुरक्षा, धर्म और सरकारी सेवाओं आदि के विषय में आश्वासन दिया गया।

8. रानी विक्टोरिया की घोषणा (नवम्बर 1, 1858 ई.)

1 नवम्बर, 1858 ई. को ब्रिटेन की रानी विक्टोरिया ने एक घोषणा की जिसे भारत के प्रत्येक शहर में पढ़कर सुनाया गया। इस घोषणा में ब्रिटिश सरकार ने उन मुख्य सिद्धान्तों का विवरण दिया जिनके आधार पर भारत का भविष्य का शासन निर्भर करता था। इस घोषणा का कोई कानूनी आधार न था क्योंकि इसे ब्रिटिश संसद ने स्वीकार नहीं किया था। परन्तु तब भी इसमें दिये गये सिद्धान्त, आश्वासन आदि कानून के समकक्ष स्थान रखते थे क्योंकि इसे ब्रिटेन के मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति प्राप्त थी। इसमें मुख्यतः निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं :

इसके द्वारा घोषित किया गया कि भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा प्रशासित क्षेत्रों का शासन अब प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन के क्राउन द्वारा किया जायेगा।

इसके द्वारा गवर्नर-जनरल लॉर्ड कैनिग को वायसराय (क्राउन का प्रतिनिधि) का पद भी प्रदान किया गया।

इसके द्वारा कम्पनी के सभी असैनिक और सैनिक पदाधिकारियों को ब्रिटिश क्राउन की सेवा में ले लिया गया तथा उनके सम्बन्ध में बने हुए सभी नियमों को स्वीकार किया गया।

इसके द्वारा भारतीय नरेशों के साथ कम्पनी द्वारा की गयी सभी सन्धियों और समझौतों को ब्रिटिश क्राउन के द्वारा यथावत् स्वीकार कर लिया गया, भारतीय नरेशों को बच्चा गोद लेने का अधिकार दिया गया तथा उन्हें यह आश्वासन भी दिया गया कि ब्रिटिश क्राउन अब भारत में राज्य-विस्तार की आकांक्षा नहीं करता और भारतीय नरेशों के अधिकारों, गौरव एवं सम्मान का उतना ही आदर करेगा जितना कि वह स्वयं का करता है।

इसके द्वारा साम्राज्ञी ने अपनी भारतीय प्रजा को आश्वासन दिया कि उनके धार्मिक विश्वासों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा बल्कि उनके प्राचीन विश्वासों, आस्थाओं और परम्पराओं का सम्मान किया जायेगा।

इसके द्वारा भारतीयों को जाति या धर्म के भेदभाव के बिना उनकी योग्यता, शिक्षा, निष्ठा और क्षमता के आधार पर सरकारी पदों पर नियुक्त किये जाने का समान अवसर प्रदान करने का आश्वासन दिया गया।

इसके द्वारा यह आश्वासन दिया गया कि रानी की सरकार सार्वजनिक भलाई, लाभ और उन्नति के प्रयत्न करेगी तथा शासन इस प्रकार चलायेगी जिससे उसकी समस्त प्रजा का हितसाधन हो।

1857 ई. के विद्रोह में भाग लेने वाले अपराधियों में से केवल उनको छोड़कर जिन पर अंग्रेजों की हत्या का आरोप था, बाकी सभी को क्षमा प्रदान कर दी गयी।

रानी विक्टोरिया की उपर्युक्त घोषणा का मूल लक्ष्य भारत में स्थापित ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षा प्रदान करना था। इस उद्देश्य को लेकर भारतीय नरेशों के सम्मान और अधिकारों की सुरक्षा का आश्वासन दिया गया था। भविष्य में ब्रिटिश सरकार की नीति भारतीय नरेशों, जागीरदारों और प्रतिक्रियावादी तत्वों के संरक्षण की रही जिनका प्रयोग वह भारत के प्रगतिशील तत्वों के विरोध में करती रही। योग्यतानुसार पद की प्राप्ति का आश्वासन भारतीय शिक्षित वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए दिया गया था, यद्यपि इस आश्वासन की पूर्ति ब्रिटिश सरकार ने कभी नहीं की। भारतीयों को उनके धर्म, परम्पराओं आदि में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन भारतीय जन-साधारण को सन्तुष्ट करने के लिए दिया गया था क्योंकि इस प्रकार के हस्तक्षेप को विद्रोह के कारणों में से एक प्रमुख कारण समझा गया था। यही नहीं बल्कि विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने धर्मान्धता, अन्धविश्वास, जातीयता, क्षेत्रीयता आदि सभी को बढ़ावा दिया जिससे भारतीय आपस में बँटे रहें और प्रगतिशील विचारों के सम्पर्क में न आयें। इसी कारण, विद्रोह के पश्चात् भारत की अंग्रेजी सरकार ने भारत में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को भी बढ़ावा नहीं दिया। इस प्रकार, यह घोषणा किसी भी प्रकार भारतीयों के प्रति न्याय अथवा उनकी उन्नति की भावना से प्रेरित नहीं मानी जा सकती।

9. 1861 ई. का भारतीय कौंसिल कानून (Indian Council Act, 1861)

1861 ई. का यह कानून भारत के संवैधानिक विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था। इस कानून से अंग्रेजों की वह नीति आरम्भ हुई जिसे 'सहयोग की नीति' (Policy of Association) या 'उदार निरंकुशता' (Benevolent Despotism) का नाम दिया गया क्योंकि इसके द्वारा, सर्वप्रथम, भारतीयों को शासन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया गया था। 1857 ई. के विद्रोह से अंग्रेजों ने सबक लिया कि भारत जैसे विशाल देश का शासन भारतीयों की सहायता के बिना करना बुद्धिमानी नहीं है। प्रान्तों को कानून-निर्माण के जो अधिकार 1853 ई. के कानून से दिये गये थे, वे उससे सन्तुष्ट न थे। गवर्नर-जनरल की बढ़ी हुई परिषद (Council) भी जिस प्रकार व्यवस्थापिका-सभा के रूप में कार्य कर रही थी, उससे भी अंग्रेज-शासक सन्तुष्ट न थे। इस कारण शासन में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की गयी। 1858 ई. के कानून द्वारा भारत के शासन में क्योंकि कोई परिवर्तन नहीं किया गया था, अतएव तीन वर्ष पश्चात् ही इस नवीन कानून को पारित किया गया।

इस कानून की धाराएँ निम्नवत् थीं :

1. गवर्नर-जनरल को अपनी परिषद (Council) में 6 से 12 तक सदस्यों की वृद्धि करने का अधिकार दिया गया। ये सदस्य उसे कानून-निर्माण में सहायता करने के लिए थे। इनमें से कम से कम आधे सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था और इनका कार्यकाल दो वर्ष था। इन सदस्यों को कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखने का कोई अधिकार न था। गवर्नर-जनरल को इनकी राय को ठुकराने का पूर्ण अधिकार था।

2. गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी में एक पाँचवें सदस्य—अर्थ-मन्त्री—की नियुक्ति की गयी।

3. गवर्नर-जनरल को आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश (Ordinance) जारी करने का अधिकार दिया गया जो व्यवस्थापिका-सभा या भारत-सचिव द्वारा समाप्त न किये जाने की दशा में छह माह तक लागू रह सकता था।

4. प्रान्तों को स्थानीय या प्रान्तीय विषयों के सम्बन्ध में कानून-निर्माण का अधिकार दिया गया और इस कार्य के लिए गवर्नर को अधिकार दिया गया कि वह अपनी परिषद में 4 से 8 सदस्यों तक की नियुक्ति कर सकता था परन्तु इनमें से कम से कम आधे सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था। प्रान्तों द्वारा पारित प्रत्येक कानून पर गवर्नर-जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी।

इस कानून द्वारा केन्द्र में व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गयी थी और प्रथम बार गैर-सरकारी सदस्यों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी थी। इसी प्रकार प्रान्तों में भी व्यवस्थापिका-सभाओं की स्थापना की गयी थी। परन्तु इन व्यवस्थापिका-सभाओं का न तो संगठन उचित था और न इनकी कुछ शक्ति ही थी। इनमें अधिकांशतः राजा, महाराजा या धनवान व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे जो भारतीय जनमत को व्यक्त नहीं कर सकते थे जिसके कारण उस आशय की पूर्ति नहीं हो सकती थी जिसके लिए ये स्थापित की गयी थीं। इनके अधिकार भी सीमित थे। इन्हें कार्यकारिणी को नियन्त्रित करने का अधिकार न था, महत्वपूर्ण विषयों पर ये वाद-विवाद नहीं कर सकती थीं और इनकी सलाह को गवर्नर और गवर्नर-जनरल ठुकरा सकते थे। इस कारण भारतीय इस एक्ट से सन्तुष्ट न हो सके और कुछ समय पश्चात् ही उन्होंने व्यवस्थित तरीके से राजनीतिक आन्दोलन आरम्भ किया। 1885 ई. में इसी उद्देश्य से 'अखिल भारतीय काँग्रेस' की स्थापना की गयी। इस कारण ब्रिटिश संसद को 1892 ई. में एक अन्य नवीन कानून बनाना पड़ा।

10. 1892 ई. का भारतीय कौंसिल एक्ट (Indian Council Act, 1892)

1861 ई. के कानून से भारतीय सन्तुष्ट न हो सके। भारत सरकार भी गृह-सरकार के विरुद्ध अपने अधिकारों में वृद्धि करना चाहती थी और इसके लिए वह अधिकाधिक भारतीयों को शासन में सम्मिलित करना आवश्यक समझती थी। अंग्रेज व्यापारी अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए कुछ प्रतिनिधित्व चाहते थे और इस कारण व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों की संख्या में वृद्धि के इच्छुक थे। अतएव भारत सरकार की ओर से स्वयं सुधारों का सुझाव दिया गया जिसके परिणामस्वरूप 1892 ई. के कानून का निर्माण हुआ, जिसकी धाराएँ निम्नवत् थीं :

1. केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों की संख्या कम से कम 10 और अधिक से अधिक 16 निश्चित की गयी। इनमें से 10 सदस्यों का गैर-सरकारी होना आवश्यक था।

2. प्रान्तों में भी व्यवस्थापिका-सभा के गैर-सरकारी तथा कुल सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गयी। उत्तर प्रदेश में यह संख्या 15 और बम्बई व मद्रास में 20 निश्चित की गयी।

3. उस समय तक व्यवस्थापिका-सभाओं के सभी सदस्य गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के द्वारा नियुक्त किये जाते थे क्योंकि भारत में निर्वाचन-पद्धति आरम्भ नहीं हुई थी। परन्तु इस एक्ट के द्वारा इन सदस्यों की नियुक्ति कुछ प्रभावशाली संस्थाओं जैसे 'कलकत्ता चेम्बर ऑफ कॉमर्स' या केन्द्र में प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के गैर-सरकारी सदस्यों की सलाह से किये जाने की व्यवस्था की गयी।

4. इन व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों को वार्षिक बजट के आर्थिक प्रस्तावों पर बहस करने का अधिकार दिया गया, यद्यपि वे उन पर मतदान नहीं कर सकते थे। सार्वजनिक प्रश्नों के विषय में इन्हें कार्यकारिणी के सदस्यों से प्रश्न पूछने का अधिकार प्राप्त हुआ, यद्यपि इसके लिए उन्हें छह दिन पूर्व सूचना देनी पड़ती थी।

1892 ई. का कानून 1861 ई. के कानून से अधिक प्रगतिशील था। यद्यपि उस समय तक केन्द्र और प्रान्तों में सरकारी बहुमत रखा गया था, तदपि व्यवस्थापिका-सभाओं के भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई थी। सदस्यों के अधिकारों में भी कुछ वृद्धि हुई थी और सदस्यों के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था की गयी थी। यह कहा गया है : "वस्तुतः उत्तरदायी शासन की स्थापना 1861 ई. से नहीं बल्कि 1892 ई. से आरम्भ हुई।"[1]

परन्तु फिर भी ये सुधार भारतीयों की उग्र-राष्ट्रीयता की भावना को सन्तुष्ट न कर सके। सदस्यों के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली सर्वथा अनुपयुक्त मानी गयी, सदस्यों को आर्थिक प्रस्तावों पर मत देने का अधिकार न था, वह सहायक प्रश्न नहीं पूछ सकते थे और प्रत्येक व्यवस्थापिका-सभा में उस समय तक भी सरकारी सदस्यों का बहुमत था। इस प्रकार ये व्यवस्थापिका-सभाएँ किसी भी कार्य को जनमत के हितार्थ करने में असमर्थ थीं। लॉर्ड कर्जन के समय में 1905 ई. में बंगाल-विभाजन ने भारतीयों की भावनाओं को और भड़का दिया। बालगंगाधर तिलक ने उस समय घोषणा की थी : 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।'

11. भारतीय कौंसिल एक्ट, 1909 ई.

(Indian Council Act, 1909 or Morley-Minto Reforms)

1892 ई. का कानून भारतीयों को तो क्या अखिल भारतीय काँग्रेस के नरम दल को भी सन्तुष्ट न कर सका था। काँग्रेस अपने प्रत्येक वर्ष के अधिवेशन में कौंसिलों के विस्तार और उनके सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि की माँग कर रही थी। काँग्रेस में गरम दल का बहुमत होता जा रहा था। इस कारण सरकार ने नरम दल को सन्तुष्ट करने तथा काँग्रेस को गरम दल के प्रभाव से बचाने के लिए कुछ सुधार करना आवश्यक समझा। इसके अतिरिक्त, लॉर्ड कर्जन के व्यवहार और शासन तथा जापान के हाथों रूस की पराजय ने भारतीयों को अत्यधिक असन्तुष्ट और क्रान्तिकारी कार्रवाइयों के लिए प्रोत्साहित किया। सरकार ने जनता को क्रान्तिकारियों के प्रभाव से बचाने के लिए भी सुधार करना आवश्यक समझा। उस समय गवर्नर-जनरल मिण्टो और भारत-सचिव लॉर्ड मोर्ले था। अतः इन सुधारों को 'मोर्ले-मिण्टो सुधार' के नाम से पुकारा गया। इसकी शर्तें निम्नवत् थीं :

1. केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों की संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गयी।

2. प्रान्तों में भी व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गयी, यथा बंगाल, मद्रास और बम्बई में 50 सदस्य तथा अन्य प्रान्तों में 30 सदस्य।

3. इस एक्ट के अनुसार व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्य चार प्रकार के होने लगे : (1) पदेन-सदस्य (Ex-officio members) जैसे केन्द्र में गवर्नर-जनरल और उसकी कार्यकारिणी के सदस्य तथा प्रान्तों में गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी के सदस्य; (2) मनोनीत सरकारी अधिकारी (Nominated officials); (3) मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य (Nominated non-officials); और (4) निर्वाचित सदस्य (Elected members)।

4. इन सुधारों द्वारा भारत में प्रादेशिक चुनाव-पद्धति को आरम्भ नहीं किया गया वरन् व्यावसायिक और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली (Professional and Communal representation or Separate electoral system) को अपनाया गया। चुनाव-क्षेत्र प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं, जमींदार, व्यापारी-वर्ग, जिला-परिषद और मुसलमान

1 "The foundation of responsible form of government was really laid in 1892 and not in 1861."

आदि के आधार पर बनाये गये। उदाहरणार्थ, केन्द्र के 27 निर्वाचित सदस्यों में से 5 मुसलमानों द्वारा, 6 जमींदारों द्वारा, 1 मुसलमान जमींदारों द्वारा, 1 बम्बई की व्यापारी-सभा द्वारा, 1 बंगाल की व्यापारी-सभा द्वारा और 13 प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा चुने जाते थे। इसी प्रकार की व्यवस्था प्रान्तों में भी की गयी।

5. केन्द्र में सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा गया परन्तु प्रान्तों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रहा। परन्तु यह बहुमत केवल निर्वाचित सदस्यों का ही न था। इसमें मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य भी सम्मिलित थे।

6. व्यवस्थापिका-सभाओं के अधिकारों में वृद्धि की गयी। सदस्यों को आर्थिक प्रस्तावों पर वाद-विवाद करने, उनके विषय में संशोधन-प्रस्ताव रखने और उनके कुछ विषयों पर मतदान करने तथा अन्य साधारण प्रस्तावों के बारे में विवाद करने, प्रश्न पूछने, सहायक प्रश्न पूछने और मतदान करने एवं सार्वजनिक हित के लिए प्रस्तावों को प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया, यद्यपि प्रत्येक स्थिति में गवर्नरों और गवर्नर-जनरल को उनकी सलाह को ठुकराने का अधिकार था।

7. भारत-सचिव को मद्रास और बम्बई की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या को 2 से बढ़ाकर 4 कर देने का अधिकार दिया गया। गवर्नर-जनरल भारत-सचिव से स्वीकृति लेकर यही व्यवस्था बंगाल और अन्य प्रान्तों में भी कर सकता था।

8. भारत सरकार की परिषद (Council) में दो भारतीयों की नियुक्ति 1907 ई. में ही की जा चुकी थी। 1909 ई. में गवर्नर-जनरल को अपनी कार्यकारिणी में एक भारतीय सदस्य को लेने का भी अधिकार मिल गया। इसके प्रथम भारतीय सदस्य श्री एस. पी. सिन्हा थे जिन्हें बाद में लॉर्ड की उपाधि से विभूषित किया गया।

यह विश्वास किया जाता है कि लॉर्ड मोर्ले ने इन सुधारों को लागू करने से पहले इनके विषय में श्री गोपालकृष्ण गोखले से सम्मति ले ली थी और 1908 ई. में काँग्रेस ने इन प्रस्तावित सुधारों के प्रति सन्तोष प्रकट किया था। परन्तु वे बहुत लम्बे समय तक धोखे में न रहे। 1909 ई. में काँग्रेस और स्वयं गोखले ने इन सुधारों को असन्तोषजनक बताया। इन सुधारों में निम्नलिखित दोष थे :

1. निर्वाचन के लिए जो अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली अपनायी गयी थी वह सर्वथा असन्तोषजनक थी। मतदाताओं की योग्यता बहुत ऊँची रखी गयी थी जिसके कारण अधिक धनवान व्यक्ति ही मतदाता हो सकते थे। अयोग्यताओं के नियम भी ऐसे बनाये गये थे जिससे उग्र विचारों के व्यक्ति चुनावों में भाग नहीं ले सकते थे।

2. पृथक निर्वाचन-प्रणाली भारत के लिए बहुत हानिकारक थी। इसने भारत को विभिन्न वर्गों में बाँट दिया जिनमें आपस में द्वेष, ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा होने लगी। साम्प्रदायिकता का प्रश्न भारतीय राजनीति में उसी समय से आरम्भ हुआ। मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व प्रदान करके उन्हें सदा के लिए भारत के अन्य नागरिकों से पृथक कर दिया गया। इससे मुस्लिम साम्प्रदायिक भावना दिन-प्रतिदिन तीव्र होती गयी जिसका अन्तिम परिणाम भारत का विभाजन हुआ।

3. केन्द्र में तो सरकारी सदस्यों का बहुमत था ही, प्रान्तों में भी मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य सरकारी सदस्यों का ही साथ देते थे। इस कारण निर्वाचित सदस्यों की सलाह पर किसी भी कार्य के होने की सम्भावना नहीं हो सकती थी।

4. इसके अतिरिक्त गवर्नरों और गवर्नर-जनरल को उनकी किसी भी सलाह को ठुकराने का पूर्ण अधिकार था।

5. इन सुधारों द्वारा भविष्य के लिए कोई लक्ष्य निश्चित नहीं किया गया था। संसदीय संस्थाएँ तो स्थापित की गयी थीं किन्तु संसदीय शासन-व्यवस्था को लक्ष्य नहीं बनाया गया था।

फिर भी उपर्युक्त सुधार सर्वथा बेकार न थे। 1892 ई. के एक्ट की अपेक्षा यह, निस्सन्देह, एक प्रगतिशील कदम था। भारतीयों को संसदीय शासन-व्यवस्था का परिचय इन्हीं सुधारों से प्राप्त हुआ। संसदीय शासन की संस्थाओं को स्थापित करने के पश्चात् उत्तरदायी शासन की स्थापना को रोकना असम्भव था। अप्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति और व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों के अधिकारों में वृद्धि भी महत्वपूर्ण कदम थे। ये सुधार 'उदार निरंकुशता' (Benevolent Despotism) या 'सहयोग की नीति' (Policy of Association) की चरम सीमा थे।

12. भारत-सरकार कानून, 1919 ई.

(Government of India Act, 1919 or Montague-Chelmsford Reforms)

1909 ई. का सुधार-कानून भारत में नरम दल के व्यक्तियों को भी सन्तुष्ट न कर सका। भारतीय राष्ट्रवाद की भावना तीव्रतर होती गयी। 1914 ई. में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया। गवर्नर-जनरल लॉर्ड हार्डिंज की उदार नीति और सद्भावना के कारण भारतीयों ने युद्ध में अंग्रेजी सरकार को पूर्ण सहायता दी। स्वयं महात्मा गांधी ने भारतीय जनता से सरकार को सहायता देने की माँग की। युद्ध के अवसर पर मित्र-राष्ट्रों ने घोषणा की कि वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं वरन् संसार में जनतन्त्र की सुरक्षा के लिए युद्ध लड़ रहे हैं। इससे भी भारतीय आश्वस्त हुए कि युद्ध के पश्चात् उन्हें स्वशासन प्राप्त हो सकता है। युद्ध के समय मैसोपोटामिया में भारतीय सैनिकों को भारत सरकार की अयोग्यता के कारण जो कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं उसकी जाँच हेतु एक कमीशन की नियुक्ति की गयी और उस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि भारतीयों की वफादारी प्राप्त करने तथा भारत सरकार के शासन में सुधार के लिए आवश्यक है कि किसी न किसी मात्रा में शासन में भारतीयों का सहयोग प्राप्त किया जाये। इसके अतिरिक्त, काँग्रेस-मुस्लिम लीग का समझौता, भारत में स्वशासन (Home Rule) की माँग का तीव्र होना, काँग्रेस में उग्रवादियों का बहुमत और मि. मोण्टेग्यू सदृश उदार विचारों के व्यक्ति का भारत-सचिव होना आदि ऐसे अन्य कारण थे जिनसे नवीन सुधारों की सम्भावना हो सकी। 20 अगस्त, 1917 ई. को मि. मोण्टेग्यू ने एक घोषणा की जिसमें उसने भविष्य के सुधारों की ओर संकेत किया। इसी बीच 1917 ई. में गोपालकृष्ण गोखले ने सुधारों की अपनी योजना प्रस्तुत की जो 'Gokhale's Political Testament' के नाम से विख्यात हुई और अन्य 19 भारतीयों ने भी गवर्नर-जनरल चेम्सफोर्ड के सम्मुख सुधारों की एक अन्य योजना (Memorandum of Nineteen) प्रस्तुत की। एक अंग्रेज सदस्य मि. कर्टिस (Mr. Curtis) ने भी द्वैध-शासन की एक योजना का निर्माण कर लिया था जिससे मि. मोण्टेग्यू सहमत हो चुके थे और जिसका ज्ञान चेम्सफोर्ड को भी था। अपनी घोषणा के तीन माह पश्चात् मि. मोण्टेग्यू स्वयं भारत आये और छह माह यहाँ रहे। 1918 ई. में मोण्टेग्यू और चेम्सफोर्ड के संयुक्त हस्ताक्षरों से भारत में सुधारों के लिए एक रिपोर्ट प्रकाशित की गयी जिसके आधार पर 1919 ई. का भारत-सरकार कानून बनाया गया।

इस एक्ट के द्वारा न केवल भारत के शासन में ही परिवर्तन किये गये बल्कि गृह-सरकार (Home Government) में भी परिवर्तन किये गये। इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं :

1. भारत-सचिव की भारत-परिषद (India Council) के सदस्यों की संख्या 8 से 12 तक निश्चित कर दी गयी। इनमें से तीन सदस्यों का भारतीय होना आवश्यक था और कुल सदस्यों में से आधे ऐसे होने चाहिए थे जिन्होंने कम से कम दस वर्ष तक भारत में निवास किया हो। इन सदस्यों की अवधि पाँच वर्ष निश्चित की गयी।

2. भारत-सचिव का वेतन भारत की बजाय ब्रिटेन के राजकोष से दिया जाने लगा।

3. भारत सम्बन्धी कुछ कार्यों (जैसे व्यापार, ब्रिटेन में भारतीयों की शिक्षा) के लिए एक नवीन अधिकारी—भारतीय हाई कमिश्नर (Indian High Commissioner)—की नियुक्ति की गयी।

4. भारत-सचिव के अधिकारों में कुछ कमी की गयी। प्रान्त के हस्तान्तरित विषयों के बारे में उससे कम हस्तक्षेप की आशा की जाती थी और जिन विषयों में गवर्नर-जनरल और भारतीय व्यवस्थापिका-सभा एकमत हों उसमें भी उसे हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहा।

उपर्युक्त परिवर्तन गृह-सरकार में किये गये। भारत के शासन में निम्नलिखित परिवर्तन किये गये :

5. केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा को दो सदनों में विभाजित कर दिया गया : (i) भारतीय विधान-सभा में कुल 144 सदस्य रखे गये। इनमें 103 सदस्य निर्वाचित और शेष 41 सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत (नियुक्त) होंगे। (ii) भारतीय राज्य-परिषद के कुल सदस्यों की संख्या 60 रखी गयी जिनमें 33 सदस्य निर्वाचित और 27 सदस्य गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। दोनों सदनों को समान अधिकार दिये गये। दोनों सदन स्वयं अपने अध्यक्ष चुनते थे। यद्यपि गवर्नर-जनरल व्यवस्थापिका-सभा की सलाह को ठुकरा सकता था और केन्द्रीय कार्यकारिणी भी किसी प्रकार व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उत्तरदायी न थी परन्तु फिर भी सदस्यों से प्रश्न पूछने, मत देने और प्रस्तावों को आरम्भ करने आदि के अधिकारों में वृद्धि कर दी गयी।

6. गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या 8 निश्चित की गयी जिसमें से कम से कम 2 का भारतीय होना आवश्यक था।

7. प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों की संख्या में भी वृद्धि की गयी। इनमें से 70% सदस्य निर्वाचित और 30% सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत किये जाने थे। इनके अधिकारों में भी कुछ वृद्धि की गयी, यद्यपि गवर्नरों को इनकी सलाह को ठुकराने और अध्यादेश (Ordinances) जारी करने का अधिकार दिया गया।

8. गवर्नरों को प्रान्तों में किस प्रकार शासन करना था और नवीन व्यवस्था का किस प्रकार व्यावहारिक प्रयोग करना था, इसके लिए उन्हें कुछ आदेश (Instrument of Instructions) दिये गये।

9. 1919 ई. के एक्ट की मुख्य विशेषता प्रान्तों में द्वैध-शासन (Dyarchy) की स्थापना थी। इसके लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय विषयों को पृथक किया गया था। इसके पश्चात् प्रान्तीय विषयों को दो भागों में बाँटा गया—(i) सुरक्षित विषय (Reserved Subjects), जैसे अर्थ-व्यवस्था, शान्ति-व्यवस्था, पुलिस आदि, और (ii) हस्तान्तरित विषय (Transferred Subjects), जैसे स्थानीय स्वशासन, शिक्षा आदि। सुरक्षित विषयों का शासन गवर्नर

अपनी परिषद (Executive Council) के सदस्यों की सलाह से करता था और हस्तान्तरित विषयों का शासन गवर्नर भारतीय मन्त्रियों की सलाह से करता था। ये मन्त्री व्यवस्थापिका-सभा के सदस्यों में से लिये जाते थे और इनसे आशा की जाती थी कि वे उसी के प्रति उत्तरदायी भी होंगे, यद्यपि कानूनी तौर पर उनकी नियुक्ति और पदच्युति का अधिकार गवर्नर का था। इस व्यवस्था से गवर्नर की कार्यकारिणी भी दो भागों में बँट गयी—(i) गवर्नर और उसकी परिषद (Council), तथा (ii) गवर्नर और भारतीय मन्त्री। इससे प्रान्तीय शासन के दो भाग हो गये। पहला शासन का वह भाग जिसके अधिकार में सुरक्षित विषय थे अर्थात् गवर्नर और उसकी परिषद जो शासन का उत्तरदायित्वहीन भाग था; और दूसरा शासन का वह भाग जिसके अधिकार में हस्तान्तरित विषय थे, अर्थात् गवर्नर और भारतीय मन्त्री जो शासन का उत्तरदायित्वपूर्ण भाग माना जा सकता था। पहले भाग का व्यवस्थापिका-सभा के प्रति कोई उत्तरदायित्व न था परन्तु दूसरे भाग से आशा की जाती थी कि वह व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। शासन के इसी विभाजन के कारण इस व्यवस्था को द्वैध-शासन (Dyarchy) पुकारा गया।

10. केन्द्र की कार्यकारिणी उस समय भी व्यवस्थापिका-सभा के प्रति किसी भी प्रकार उत्तरदायी न थी।

11. चुनाव-पद्धति साम्प्रदायिक आधार पर ही रही बल्कि इस एक्ट के द्वारा सिखों, ऐंग्लो-इण्डियनों, ईसाइयों और यूरोपियनों को भी पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया, यद्यपि केन्द्र और प्रान्त दोनों ही स्थानों पर सदस्यों और मतदाताओं की योग्यताओं में कमी कर दी गयी थी।

1 अप्रैल, 1921 ई. से द्वैध-शासन बंगाल, मद्रास, बम्बई, उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, मध्य-प्रदेश और असम में आरम्भ किया गया। 1932 ई. में जब उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त की स्थापना हुई तब उसे भी द्वैध-शासन में सम्मिलित किया गया। थोड़े-थोड़े समय के लिए इनमें से कुछ प्रान्तों में यह शासन स्थगित भी हुआ अन्यथा इन नौ प्रान्तों में अप्रैल 1937 ई. तक द्वैध-शासन के आधार पर ही शासन चला।

परन्तु द्वैध-शासन न तो सफल हुआ और न भारतीयों को सन्तुष्ट ही कर सका। इसमें सैद्धान्तिक दोष तो थे ही, व्यावहारिक प्रयोग में भी इसमें अनेक दोष दिखायी दिये। यह दोष निम्नवत् थे :

1. भारतीय मन्त्रियों को धन की बहुत कठिनाई थी। इन्हें कृषि, शिक्षा, सार्वजनिक सेवा आदि के विभाग सौंपे गये थे जिनमें धन की बहुत आवश्यकता थी। परन्तु अर्थ-विभाग सुरक्षित विषय था जो कौंसिल के एक सदस्य के अधिकार में था। प्रत्येक वर्ष की शुरूआत में सुरक्षित और हस्तांन्तरित विषयों के लिए धन का बँटवारा किया जाता था और उसमें हस्तान्तरित विषयों के लिए बहुत कम धन प्राप्त होता था क्योंकि कौंसिल और गवर्नर सुरक्षित विषयों को अधिक मान्यता देते थे। इस कारण भारतीय मन्त्रियों को अपने विभागों पर व्यय करने हेतु सर्वदा धन की कमी रहती थी और वे अपना कार्य ठीक प्रकार से नहीं कर पाते थे।

2. भारतीय लोक-सेवा के उच्च पदासीन व्यक्तियों पर भारतीय मन्त्रियों का कोई अधिकार न था। यह पदाधिकारी अधिकांशतः अंग्रेज थे और शासन के विभागों की नीति को निर्धारित करने में भाग लेते थे। ये भारतीय मन्त्रियों के विचारों और नीतियों की अधिकांशतः अवहेलना कर दिया करते थे क्योंकि इनकी पदोन्नति, स्थानान्तरण, नौकरी

आदि के लिए गवर्नर उत्तरदायी था। भारतीय मन्त्री इनको किसी भी प्रकार अपने अधिकार में नहीं रख सकते थे। इन पदाधिकारियों को सीधे गवर्नर से मिलने का अधिकार था और यदि कोई भारतीय मन्त्री इनके विरुद्ध कुछ करना चाहता तो नहीं कर सकता था क्योंकि गवर्नर के अतिरिक्त इनकी सुरक्षा भारत-सचिव भी करता था। इस प्रकार भारतीय मन्त्रियों को अपने अधीन शासन- अधिकारियों पर नियन्त्रण का अधिकार न था। ऐसी स्थिति में मन्त्रीगण अपनी इच्छानुसार अपने विभाग का शासन करने में सर्वथा असमर्थ थे।

3. द्वैध-शासन द्वारा प्रान्तीय शासन को दो भागों में बाँट दिया गया था जिस पर व्यावहारिक रूप से कार्य करना असम्भव था। सुरक्षित विभाग कौंसिल के सदस्यों के हाथों में थे जो केवल गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे और हस्तान्तरित विभाग भारतीय मन्त्रियों के हाथों में थे जिनसे आशा की जाती थी कि वे प्रान्त की विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होंगे। इस प्रकार शासन को उत्तरदायित्वहीन और उत्तरदायित्वपूर्ण भागा में स्थापित किया गया था जिनमें सहयोग असम्भव था। कौंसिल के सदस्य और भारतीय मन्त्री मिलकर कार्य नहीं कर सकते थे क्योंकि दोनों की स्थिति पृथक थी और दोनों के दृष्टिकोणों में अन्तर था। एक लेखक ने लिखा है : "यह पानी और तेल को मिलाने का प्रयास था या दो ऐसे घोड़ों पर सवारी करने का प्रयत्न था जो भिन्न-भिन्न दिशाओं में दौड़ रहे थे।"[1] शासन एक इकाई है; उसे दो विरोधी भागों में बाँटने से शासन में सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

4. सुरक्षित और हस्तान्तरित विषयों के विभाजन में किसी सिद्धान्त का सहारा नहीं लिया गया था। इस कारण यह विभाजन सर्वथा गलत और दोषपूर्ण था। मद्रास के एक मन्त्री, के. वी. रेड्डी ने कहा था : "मैं जंगलों को छोड़कर विकास-मन्त्री था; मैं बिना सिंचाई विभाग के कृषि-मन्त्री था; मैं बिना फैक्टरी बॉयलर, बिजली, जल-शक्ति, खान, श्रम आदि के जो सभी सुरक्षित विषय थे, उद्योग-मन्त्री था।"[2] शिक्षा हस्तान्तरित विषय था परन्तु यूरोपियनों और ऐंग्लो-इण्डियनों की शिक्षा सुरक्षित विषय था। ऐसे गलत विभाजन की स्थिति में शासन में सुधार असम्भव था।

5. भारतीय मन्त्री अनेक बातों के लिए गवर्नर पर निर्भर करते थे। गवर्नर ही उनकी नियुक्ति करता था, गवर्नर ही उन्हें मनोनीत सदस्यों की सहायता दिला सकता था और गवर्नर ही उनके विभागों के लिए उन्हें पर्याप्त मात्रा में धन दिला सकता था। इस कारण भारतीय मन्त्री गवर्नर को प्रसन्न करने के लिए अधिकांशतः उसी का साथ देते थे और निर्वाचित सदस्यों का जो व्यवस्थापिका-सभा में थे, कम ध्यान रखते थे। यह 1919 ई. के सुधारों के लक्ष्य के विरुद्ध था जिसका उद्देश्य एक सीमित मात्रा में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था। इसके अतिरिक्त, मन्त्रियों के लिए यह अत्यन्त दुष्कर कार्य था कि वे एक तरफ तो गवर्नर और उसकी कौंसिल के सदस्यों को प्रसन्न रखते और दूसरी तरफ व्यवस्थापिका-सभा के निर्वाचित सदस्यों को भी प्रसन्न रखते।

6. भारतीय मन्त्री सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना पर भी कार्य नहीं करते थे। गवर्नरों ने मन्त्रियों का चुनाव विभिन्न दलों से किया था और वे स्वयं मन्त्रियों से सामूहिक रीति से

---

1 "It was an attempt to mix oil and water or ride two horses going in opposite directions."

2 "I was minister for development without forests. I was the minister for agriculture minus irrigation. I was minister for industries without factories, boilers, electricity and water-power, mines or labour, all of which are reserved subjects."

—*K. V. Reddy.*

कार्य नहीं कराना चाहते थे। इससे मन्त्री स्वयं एक-दूसरे का विरोध करते थे जिसके कारण उनकी स्थिति गवर्नर और कौंसिल के सम्मुख अधिक दुर्बल हो जाती थी।

उपर्युक्त कारणों से 1919 ई. के सुधार अपने लक्ष्य की पूर्ति करने में असमर्थ रहे। उसी अवसर पर भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने हेतु जो रौलट एक्ट (Rowlatt Act) बनाया गया और उसके विरोध के कारण जो घटनाएँ हुईं, मुख्यतः जलियाँवाला बाग की घटना, उन्होंने अंग्रेजों और भारतीयों के बीच एक बड़ी खाई बना दी। यद्यपि स्वराज्य दल ने श्री मोतीलाल नेहरू और श्री चित्तरंजनदास के नेतृत्व में सुधारों के प्रति सहमति प्रकट की परन्तु अधिकांश भारतीय इस योजना से असहमत थे। इसी कारण भारतीयों ने काँग्रेस और महात्मा गांधी के नेतृत्व में 'असहयोग आन्दोलन' और 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' आरम्भ किये। द्वैध-शासन भारतीयों पर जबरदस्ती लादा गया था। भारतीय उसे सिद्धान्ततः या व्यावहारिक रूप में स्वीकार न कर सके और न वह भारतीयों की स्वराज्य की माँग की पूर्ति कर सकता था। प्रो. कूपलैण्ड ने लिखा है : "द्वैध-शासन अपने निर्माताओं के उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल रहा। इसने उत्तरदायी शासन की कोई वास्तविक शिक्षा प्रदान नहीं की।"[1]

13. 1935 ई. का भारत-सरकार कानून (Indian Government Act, 1935)

1919 ई. के सुधार भारतीय नागरिकों को सन्तुष्ट न कर सके थे, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्रतर होता जा रहा था और गांधी-इर्विन समझौता या गोलमेज-सम्मेलन आदि कोई समाधान न ढूँढ़ सके। फिर भी गोलमेज-सम्मेलनों की वार्ता के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने सुधारों की एक अन्य योजना प्रस्तुत की जिसके फलस्वरूप 1935 ई. के कानून का निर्माण हुआ। इस कानून के द्वारा मुख्यतः निम्नलिखित बातें निश्चित की गयी थीं :

(1) एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना की जायेगी जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के अतिरिक्त देशी नरेशों के राज्य भी सम्मिलित होंगे।

(2) प्रान्तों को स्वशासन का अधिकार दिया जायेगा। शासन के समस्त विषयों को तीन भागों में बाँटा गया :

(i) संघीय विषय, जो केन्द्र के अधीन थे;

(ii) प्रान्तीय विषय, जो पूर्णतः प्रान्तों के अधीन थे; तथा

(iii) समवर्ती विषय, जो केन्द्र और प्रान्त के अधीन थे।

परन्तु यह निश्चित किया गया कि केन्द्र और प्रान्तों में विरोध होने पर केन्द्र का ही कानून मान्य होगा। प्रान्तीय विषयों में प्रान्तों को स्वशासन का अधिकार था और प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी थी अर्थात् गवर्नर व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उत्तरदायी भारतीय मन्त्रियों की सलाह से कार्य करेंगे। इसी कारण यह कहा जाता है कि इस कानून द्वारा प्रान्तीय स्वशासन (Provincial Autonomy) की स्थापना की गयी।

(3) केन्द्र या संघ-सरकार के लिए द्वैध-शासन (Dual Government) की व्यवस्था की गयी जैसी 1919 ई. के कानून के अन्तर्गत प्रान्तों में की गयी थी।

(4) एक संघीय न्यायालय (Federal Court) की स्थापना की गयी।

(5) एक केन्द्रीय बैंक (Reserve Bank of India) की स्थापना की गयी।

---

1 "Dyarchy failed in its primary purpose which its authors intended to serve. It did not provide a real training in responsible government" —*Prof. Coupland.*

(6) बर्मा तथा अदन को भारत के शासन से पृथक कर दिया गया।

(7) सिन्ध और उड़ीसा के दो नवीन प्रान्त बनाये गये और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त को गवर्नर के अधीन रखा गया।

(8) गवर्नर-जनरल और गवर्नरों को कुछ विशेष दायित्व (special responsibilities), जैसे भारत में अंग्रेजी राज्य की सुरक्षा, शान्ति, ब्रिटिश सम्राट और देशी नरेशों के सम्मान की रक्षा, विदेशी आक्रमण से रक्षा आदि प्रदान किये गये।

(9) इस कानून के द्वारा भी निर्वाचन में साम्प्रदायिकता प्रणाली का ही उपयोग किया गया परन्तु केन्द्र और प्रान्त दोनों के लिए मत देने की योग्यता में कमी कर दी गयी जिसके परिणामस्वरूप मतदाताओं की संख्या बढ़कर 13% हो गयी जबकि 1919 ई. के कानून के अन्तर्गत यह केवल 3% थी।

इस कानून के कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तनों पर विस्तारपूर्वक विचार करना आवश्यक है, क्योंकि भारत के नवीन संविधान की रूपरेखा का निर्माण बहुत कुछ इसी कानून ने किया।

(अ) गृह-सरकार

1. इसके द्वारा भारत-परिषद (India Council) को समाप्त कर दिया गया। उसके स्थान पर भारत-सचिव (Secretary of State for India) के लिए कुछ सलाहकारों की व्यवस्था की गयी। उनकी संख्या 3 से 6 तक हो सकती थी। इनमें आधे सदस्य ऐसे होने आवश्यक थे जिन्होंने कम से कम 10 वर्ष भारत में सेवा-कार्य किया हो और 2 वर्ष से अधिक उन्हें भारत छोड़े न हुए हों। इनका कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित किया गया। भारत-सचिव को कुछ मामलों में, जैसे सार्वजनिक सेवाओं के सम्बन्ध में, उनकी सलाह मानना अनिवार्य था।

2. भारत-सचिव उन कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था जिन्हें गवर्नर भारतीय मन्त्रियों की सलाह से करता था।

3. भारतीय हाई कमिश्नर (High Commissioner) की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर-जनरल को दिया गया। उसका कार्यकाल 5 वर्ष निश्चित हुआ। उसका कार्य भारतीय विद्यार्थियों को इंगलैण्ड में सुविधा प्रदान कराना और भारत व इंगलैण्ड के व्यापार के विषय में परामर्श देना था।

(ब) संघीय शासन

1. गवर्नर-जनरल संघ-शासन का प्रधान था। उसके प्रशासनिक, आर्थिक और व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकार विस्तृत थे। आर्थिक प्रस्ताव बिना उसकी अनुमति के व्यवस्थापिका-सभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। उसे विस्तृत विशेषाधिकार (special responsibilities) प्राप्त थे। उसे अध्यादेश (Ordinances) जारी करने और स्वेच्छा से (in his discretion) कानून बनाने का भी अधिकार था। इस एक्ट के द्वारा केन्द्र में द्वैध-शासन की स्थापना की गयी थी। संघीय विषयों को दो भागों में बाँटा गया था—(i) सुरक्षित विषय (Reserved Subjects), जिनका शासन गवर्नर-जनरल अपनी कौंसिल (Council) के सदस्यों की सलाह से करता था, और (ii) हस्तान्तरित विषय (Transferred Subjects), जिनका शासन गवर्नर-जनरल व्यवस्थापिका-सभा के प्रति उत्तरदायी और उसी में से चुने हुए भारतीय मन्त्रियों की सलाह से करता था। इस प्रकार संघीय कार्यकारिणी दो भागों में विभक्त की गयी थी—गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के सदस्य (Governor-

General-in-Council) तथा गवर्नर-जनरल और उसके भारतीय मन्त्री (Governor-General and his Indian Ministers)।

2. संघीय व्यवस्थापिका-सभा में दो सदनों की व्यवस्था की गयी—(i) राज्य-परिषद (Council of States), और (ii) संघ-सभा (Federal Assembly)। राज्य-परिषद के सदस्यों की संख्या 260 निश्चित की गयी थी जिनमें से 156 सदस्य ब्रिटिश-भारतीय प्रान्तों से और 104 सदस्य भारतीय नरेशों के राज्यों से आने की व्यवस्था थी। ब्रिटिश-भारत के सदस्यों के लिए निर्वाचन-प्रणाली अपनायी गयी जबकि नरेश-राज्यों के सदस्यों के लिए वहाँ के नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था थी। संघ-सभा के लिए 375 सदस्यों की व्यवस्था की गयी जिनमें से 250 सदस्य ब्रिटिश-भारत के और 125 सदस्य नरेश-राज्यों के होने थे। इनमें ब्रिटिश-भारत के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों द्वारा किया जाना था जबकि देशी राज्यों के सदस्यों की नियुक्ति राज्यों के नरेशों द्वारा किये जाने की व्यवस्था थी। राज्य-परिषद स्थायी सभा थी जिसके एक-तिहाई सदस्यों को प्रति वर्ष अपना पद छोड़ना पड़ता था। संघ-सभा की अवधि 5 वर्ष निश्चित की गयी थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा नाम के लिए तो सम्पूर्ण भारत के लिए कानून बनाने का अधिकार रखती थी परन्तु वास्तव में उसकी शक्ति नाममात्र की थी क्योंकि गवर्नर-जनरल उसकी सलाह को ठुकरा सकता था, स्वयं अध्यादेश जारी कर सकता था और उसके विशेष अधिकार भी विस्तृत थे। संघीय वार्षिक बजट (Budget) के तीन-चौथाई भाग पर व्यवस्थापिका-सभा को कोई अधिकार न था।

(स) प्रान्तीय शासन

1. प्रान्तीय शासन का प्रधान गवर्नर था जो अपने उत्तरदायित्वों की पूर्ति व्यवस्थापिका-सभा में चुने हुए और उसी के प्रति उत्तरदायी भारतीय मन्त्रियों के परामर्श से करता था। इस एक्ट के द्वारा शासन के समस्त विषय भारतीय मन्त्रियों के अधीन कर दिये गये। इसी कारण इस व्यवस्था को प्रान्तीय स्वशासन (Provincial Autonomy) के नाम से पुकारते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसी कोई बात न थी। गवर्नरों के अधिकार विस्तृत थे। विशेष उत्तरदायित्वों (special responsibilities) के अतिरिक्त वे अनेक समस्याओं का निर्णय 'स्वविवेक' से कर सकते थे। वैधानिक संकट उपस्थित होने पर वे सम्पूर्ण प्रान्त के शासन को स्वयं अपने हाथों में ले सकते थे।

2. कुछ प्रान्तों में व्यवस्थापिका-सभा के लिए द्विसदनीय व्यवस्था की गयी थी, जैसे उत्तर प्रदेश और बंगाल में। अन्य प्रान्तों में एकसदनीय व्यवस्था की गयी। प्रथम सदन का नाम विधान-सभा (Legislative Assembly) और द्वितीय सदन का नाम विधान-परिषद (Legislative Council) रखा गया। विधान-सभा के सभी सदस्य निर्वाचित होते थे परन्तु विधान-परिषद के कुछ सदस्यों को गवर्नर मनोनीत भी करता था। व्यवस्थापिका-सभा वार्षिक बजट (Budget) में परिवर्तन कर सकती थी, यद्यपि गवर्नर उसे पुनः यथावत् कर सकता था। अन्य प्रान्तीय विषयों के बारे में कानून-निर्माण करने, मन्त्रियों से प्रश्न पूछने, और अविश्वास-पत्र स्वीकार करके उन्हें उनके पद से हटाने का अधिकार व्यवस्थापिका-सभा को था। परन्तु उसके ये अधिकार वास्तव में गवर्नर के अध्यादेश बनाने और विशेष अधिकारों के प्रयोग के कारण बहुत सीमित थे।

इस प्रकार 1935 ई. के एक्ट द्वारा प्रान्तों में स्वशासन और केन्द्र में द्वैध-शासन की स्थापना की गयी। प्रथम बार सम्पूर्ण भारत के लिए संघ-शासन की स्थापना, जिसमें भारतीय नरेशों के राज्य भी सम्मिलित थे, एक संघीय न्यायालय की स्थापना, द्विसदनीय प्रणाली, आदि की स्थापना की गयी। परन्तु इसमें अनेक दोष थे। वास्तविकता में व्यवस्थापिका-

सभाओं के अधिकार बहुत सीमित थे। इसी प्रकार भारतीय मन्त्री गवर्नर-जनरल और गवर्नरों के विशेष अधिकारों के कारण अशक्त थे। साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली पहले की भाँति विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त, उसमें ऐसा कोई प्रबन्ध न था जिससे गवर्नर भारतीय मन्त्रियों की सलाह को मानने के लिए बाध्य होते। इस प्रकार प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना केवल नाम के लिए थी और एक सीमित क्षेत्र में भी भारतीयों को स्वतन्त्र अधिकार नहीं दिये गये थे। काँग्रेस, मुस्लिम लीग, भारतीय नरेशों आदि ने इस व्यवस्था का विरोध किया। इस कारण इस कानून की केन्द्रीय व्यवस्था को कार्य-रूप में परिणत किया जाना स्थगित कर दिया गया। लेकिन प्रान्तों में इसी व्यवस्था के आधार पर चुनाव हुए और छह प्रान्तों में काँग्रेस ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। गवर्नर-जनरल लॉर्ड लिनलिथगो के आश्वासन पर कि गवर्नर दिन-प्रतिदिन के शासन में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, 1937 ई. में मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया गया। भारतीय मन्त्रियों ने विविध प्रान्तों में कुछ लाभप्रद कार्य भी किये। 1939 ई. में द्वितीय विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ। गवर्नर-जनरल ने बिना भारतीय मन्त्रियों की सलाह के भारत को ब्रिटेन की ओर से युद्ध में सम्मिलित कर दिया। इससे असन्तुष्ट होकर सभी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये और इस कानून के द्वारा स्थापित आंशिक शासन-व्यवस्था भी समाप्त हो गयी।

14. 1947 ई. का भारतीय स्वतन्त्रता कानून

(Indian Independence Act, 1947)

द्वितीय महायुद्ध के दौरान भारत में प्रबल राष्ट्रीय आन्दोलन जारी रहा। जापान के युद्ध में सम्मिलित हो जाने और एशिया के पूर्वी भागों पर आक्रमण करने से अंग्रेजों की स्थिति अधिक खराब हो गयी। सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द फौज (Indian National Army—I. N. A.) का निर्माण करके जापान की सहायता से भारत की ओर बढ़ना शुरू किया। भारत में क्रिप्स-योजना (Cripps' Mission Plan) के असफल हो जाने के कारण महात्मा गांधी ने 1942 ई. में 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन शुरू किया। अंग्रेजों ने समझौते की विभिन्न योजनाएँ प्रस्तुत कीं। गवर्नर-जनरल लॉर्ड वैवेल (Lord Wavell) ने अपनी योजना रखी। उसके पश्चात् मन्त्रिमण्डल-योजना (Cabinet Mission Plan) प्रस्तुत की गयी और संविधान-सभा के निर्माण के लिए चुनाव हुए। 1946 ई. में एक अन्तरिम-सरकार की स्थापना की गयी। उसी समय में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की प्राप्ति हेतु प्रत्यक्ष कार्रवाई (Direct Action) की नीति अपनायी जिससे सम्पूर्ण भारत में भीषण हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। 20 जनवरी, 1947 ई. को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री एटली ने जून 1948 ई. तक भारत छोड़ देने की घोषणा की। लॉर्ड माउण्टबेटन (Lord Mountbatten) भारत का गवर्नर-जनरल बनकर आया और उसने भारत-विभाजन की योजना प्रस्तुत की जिसे अन्त में काँग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। इस योजना को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए ब्रिटेन की संसद ने 'भारतीय स्वतन्त्रता कानून' बनाया जिसके आधार पर भारत और पाकिस्तान नाम के दो राज्यों का निर्माण किया गया। इसके द्वारा भारत में अंग्रेजी राज्य समाप्त हो गया। इस कारण अंग्रेजी शासन-काल में 1947 ई. का भारतीय स्वतन्त्रता कानून भारत के संवैधानिक इतिहास में अन्तिम स्थान रखता है। इस एक्ट की धाराएँ निम्नलिखित थीं :

1. 15 अगस्त, 1947 ई. को भारत का विभाजन करके भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतन्त्र राज्य होंगे।

2. ये दोनों राज्य स्वेच्छा से निर्णय करेंगे कि उन्हें ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth of Nations) का सदस्य रहना है अथवा नहीं।

3. जिस समय तक दोनों राज्यों में संविधानों का निर्माण नहीं हो जाता, दोनों राज्यों की संविधान-सभाओं को 1935 ई. के कानून के अनुसार विधि-निर्माण के अधिकार होंगे।

4. ब्रिटिश सम्राट दोनों के लिए पृथक पृथक वायसराय (Viceroy) नियुक्त करेगा परन्तु यदि दोनों एक ही वायसराय रखना चाहें, तो रख सकेंगे।

5. ब्रिटिश सम्राट की भारतीय नरेशों पर से सर्वोच्च सत्ता (paramountcy) समाप्त हो जायेगी।

6. जब तक नवीन संविधानों का निर्माण नहीं हो जाता तब तक 1935 ई. के कानून के आधार पर शासन चलाया जायगा परन्तु गवर्नर-जनरल और गवर्नर पूर्णतः संवैधानिक प्रधान रहेंगे। मन्त्रिमण्डल पूर्णतः स्वतन्त्र होंगे। वे केवल व्यवस्थापिका-सभाओं के प्रति उत्तरदायी होंगे।

7. भारत-सचिव तथा उसके सहयोगी समाप्त कर दिये गये। भारत और पाकिस्तान से सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए कॉमनवेल्थ-सचिव (Commonwealth Secretary) को अधिकार दिये गये।

8. ब्रिटिश सम्राट की भारत सम्राट की उपाधि समाप्त कर दी गयी।

इस प्रकार भारत के संवैधानिक विकास का दूसरा चरण समाप्त हुआ। भारत के संवैधानिक विकास का तीसरा चरण भारत के नवीन गणतान्त्रिक संविधान से शुरू हुआ जिसे 1950 ई. से भारत में लागू किया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 1861 ई. के भारतीय कौंसिल कानून की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। क्या यह कहना ठीक है कि इससे अंग्रेजों ने भारत में 'उदार निरंकुशता' की नीति आरम्भ की ?
2. भारतीय कौंसिल एक्ट, 1909 ई. की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। क्या भारतीयों ने उसे सन्तोषजनक स्वीकार किया ?
3. 1919 ई. के भारत-सरकार कानून द्वारा प्रान्तों में स्थापित द्वैध-शासन से आप क्या समझते हैं ? उसकी असफलता के क्या कारण थे ?
4. 1935 ई. के भारत-सरकार कानून की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
5. 1935 ई. के भारत-सरकार कानून द्वारा प्रान्तों में स्थापित 'प्रान्तीय स्वशासन' से आप क्या समझते हैं ? वह किस सीमा तक सफल हुआ ?

32

राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक आन्दोलन

अनेक अंग्रेज विद्वानों का कथन है कि भारत में राष्ट्रीयता की भावना का उदय पूर्णतः अंग्रेजी शासन की देन है। भारत तो सर्वदा से विभिन्न भाषाओं, जातियों, रीति-रिवाजों, धर्मों, विचारधाराओं और राजनीतिक विभक्तीकरण वाला देश रहा है जिसकी तुलना सहज ही एक अजायबघर से की जा सकती है। ऐसे देश में राष्ट्रीय भावना के होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। इस कारण राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति का पूर्ण श्रेय अंग्रेजी शासन को है।

परन्तु अंग्रेज विद्वानों का उपर्युक्त विचार तर्कसंगत और मान्य नहीं है। निस्सन्देह, भारत विभिन्नताओं का देश रहा है, उसके विस्तृत आकार और उदार विचारधारा के अन्तर्गत विभिन्न धर्म, भाषाएँ, रीति-रिवाज आदि पनपते रहे हैं, परन्तु फिर भी इन विभिन्नताओं के पीछे मूल आधार पर हम भारत में एकता पाते हैं। राजनीतिक दृष्टि से विभक्त होते हुए भी सांस्कृतिक आधार पर भारत में मूलतः सर्वदा एकता रही। वैदिक धर्म, संस्कृत भाषा, हिन्दू रीति-रिवाज, समान तीर्थस्थान, वेश-भूषा और आचार-विचारों की समानता ने भारत को सर्वदा एकता प्रदान की है। समय-समय पर बड़े-बड़े शासकों जैसे अशोक महान् और मुगल-सम्राट औरंगजेब ने भारत को राजनीतिक एकता भी प्रदान की है। इस कारण भारतीयों में सर्वदा यह भावना रही है कि वे एक देश के नागरिक हैं। मुस्लिम-सम्प्रदाय भी भारत में इतना घुल-मिल गया था कि जब तक अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों के अन्तर पर बल नहीं दिया, भारतीय मुसलमान किसी पृथक राज्य का विचार तक नहीं कर सके और न भारत से बाहर किसी अन्य देश को अपना देश मानते थे। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना के निर्माण के सहायक तत्व भारत में पहले से ही विद्यमान थे, यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय भावना का निर्माण अंग्रेजी शासन-काल से पहले सम्भव नहीं हुआ। परन्तु यह स्थिति भारत में ही न थी। स्वयं यूरोप में भी राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति हमें 19वीं सदी में प्राप्त होती है। इस कारण यदि भारत में उसका आरम्भ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ तो कोई विशेष बात नहीं है। अतएव यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि राष्ट्रीय भावना के निर्माण के सहायक तत्व तो भारत में अंग्रेजी शासन-काल से पहले ही उपस्थित थे परन्तु अंग्रेजी शासन में अनेक कारणों से उस भावना को संगठित होने का अवसर प्राप्त हुआ जिसके कारण भारत में राजनीतिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ तथा यदि उसके कारणों में से कुछ महत्वपूर्ण कारणों को खोजा जाय तो यह कहना पूर्णतः उपयुक्त होगा कि सम्पूर्ण विश्व में उभरती हुई राष्ट्रवाद की भावना जिसका आरम्भ 1789 ई. में हुई फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से हुआ, भारत में 19वीं सदी में हुआ भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन तथा उसके फलस्वरूप हुए सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन व भारत का आधुनिकीकरण जो अंग्रेजी-शासन-काल में हुआ, अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीतियाँ मुख्यतः आर्थिक क्षेत्र में तथा भारतीय अंग्रेजी शिक्षित-वर्ग के बुद्धजीवी-वर्ग का नेतृत्व मूलतः भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आरम्भ के लिए उत्तरदायी थे।

1. राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति के कारण

राष्ट्रीय भावना के प्रादुर्भाव और विकास के कारणों में निम्नलिखित मुख्य हैं :

1. राजनीतिक एकता

अंग्रेजी शासन-काल में भारत एक राजनीतिक शक्ति के अधीन रहा। समान कानून, अधिकार और एक सत्ता इस समय में स्थापित हुई। यद्यपि इससे पहले भी बड़े शासकों के समय में भारत में राजनीतिक एकता स्थापित हुई थी परन्तु वह एकता अधिक समय न रह सकी थी। इस कारण वह अधिक प्रभावशाली भी सिद्ध न हो सकी थी।

2. अंग्रेजी भाषा

1835 ई. से अंग्रेजी भाषा को राजभाषा का स्थान दिया गया। शिक्षित-वर्ग की भाषा अंग्रेजी हो गयी जिसके कारण विभिन्न प्रान्तों के भारतीयों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने और एक-दूसरे के विचारों के समझने का अवसर प्राप्त हो सका। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के कारण भारतीयों को पश्चिमी साहित्य और विचारों के अध्ययन की सुविधा प्राप्त हुई। इसी अंग्रेजी-शिक्षित और बुद्धिजीवी वर्ग ने भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया।

3. पश्चिमी साहित्य और शिक्षा

भारतीयों ने पश्चिमी साहित्य का अध्ययन किया। स्वतन्त्रता, समानता, जनतन्त्र और राष्ट्रीयता के विचार भारतीयों ने पश्चिमी साहित्य से प्राप्त किये। बर्क, मिल, स्पेन्सर, जोसफ मेजिनी आदि विद्वानों के स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीयता के विचार भारतीयों को प्रोत्साहन प्रदान करने वाले थे। अनेक भारतीय अध्ययन करने के लिए यूरोप गये और वहाँ के स्वतन्त्र वातावरण से प्रभावित हुए तथा भारत के लिए भी उन्होंने उसी प्रकार की कल्पना की। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के प्रारम्भिक राष्ट्रीय नेताओं में से अधिकांश ऐसे थे जो पश्चिमी साहित्य और भाषा का अध्ययन कर चुके थे और जिन्हें विदेश जाने का अवसर प्राप्त हुआ था।

4. उन्नीसवीं सदी के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन

राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति में 19वीं सदी के सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का विशेष महत्व है। राजा राममोहन राय और ब्रह्म-समाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्य-समाज, स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण-मिशन, श्रीमती ऐनी बेसेण्ट और थियोसोफीकल समाज ने भारतीयों को सिखाया कि भारतीय धर्म और संस्कृति श्रेष्ठ है और हमें पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति के अनुकरण का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उन्होंने हिन्दू-समाज और धर्म के दोषों को ही दूर नहीं किया वरन् भारतीयों में अपने धर्म और संस्कृति के प्रति प्रेम व श्रद्धा उत्पन्न करके उन्हें अपने देश और राष्ट्र के प्रति प्रेम करना भी सिखाया। इस सम्बन्ध में कुछ विदेशी विद्वानों जैसे विलियम जोन्स (William Jones), मैक्समूलर (Max Muller) और चार्ल्स विलकिन्स (Charles Wilkins) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने भारतीय धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन और अनुवाद करके भारतीयों को बताया कि उनका धर्म और संस्कृति कितनी श्रेष्ठ है। इससे भारतीयों का अपने धर्म, संस्कृति तथा देश के प्रति प्रेम और अधिक प्रगाढ़ हुआ जिसने भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में सहयोग प्रदान किया।

5. अंग्रेजों द्वारा भारत का आर्थिक शोषण

अंग्रेज शासकों ने प्रारम्भ से अन्त तक भारत का आर्थिक शोषण किया। इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति और 1813 ई. से सभी अंग्रेज कम्पनियों को भारत में व्यापार करने की

सुविधा ने इस आर्थिक शोषण की गति को तीव्र कर दिया। भारतीय उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये, कृषि पर भार बढ़ा और भारत दिन-प्रतिदिन निर्धन होता गया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण राजनीतिक सत्ता के प्रति असन्तोष स्वाभाविक है और यह असन्तोष विदेशी सत्ता के विरुद्ध विरोध या विद्रोह का कारण बन जाय, यह स्वाभाविक है। यही स्थिति भारत में हुई। भारतीयों ने अपनी आर्थिक दुर्दशा का मूल कारण अंग्रेजी शासन को बताया।

6. यातायात और आवागमन के साधनों में वृद्धि

अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत रेल, डाक, तार, बेतार का तार, सड़कें, मोटर आदि यातायात की सुविधाओं में वृद्धि होने से नागरिकों को परस्पर सम्पर्क में आने का अवसर मिला और राष्ट्रीय आन्दोलन को संगठित करने में सुविधा हुई।

7. विदेशों से सम्पर्क

विदेशों से सम्पर्क स्थापित होने के कारण विदेशी विचारों और आन्दोलनों का प्रभाव भारत पर पड़ा। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर और उसके पश्चात् यह सम्पर्क और अधिक बढ़ा और उससे राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिला।

8. समाचार-पत्र और भारतीय साहित्य

भारत में विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में अनेक समाचार-पत्र प्रकाशित होने लगे थे। 1875 ई. में इनकी संख्या 498 थी। प्रायः ये सभी समाचार-पत्र अंग्रेजी शासन के विरुद्ध थे और अंग्रेजों के व्यक्तिगत दुर्व्यवहार, आर्थिक शोषण, जातीय दम्भ, रंग-विभेद की नीति और शसन के दोषों आदि को छापते रहते थे जिससे जनसाधारण में अंग्रेजी शासन के प्रति घृणा उत्पन्न हो रही थी। इस आधार पर भी भारतीय एक होते गये। इन समाचार-पत्रों में **संवाद कौमुदी, बॉम्बे-समाचार, बंगदूत, रास्त-गुफ्तार, अमृत बाजार पत्रिका तथा ट्रिब्यून** के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस काल में कुछ लेखक ऐसे भी हुए जिनकी रचनाओं ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सहयोग दिया। इसी काल में बंकिमचन्द्र ने 'आनन्दमठ' नामक उपन्यास और 'वन्देमातरम्' गीत लिखा तथा माइकेल मधुसूदन दत्त ने बंगाली में, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में, नर्मद ने गुजराती में, चिपलूणकर ने मराठी में, भारती ने तमिल में तथा अन्य अनेक साहित्यकारों ने विभिन्न भाषाओं में राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया। इस साहित्य ने भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में विशेष सहयोग दिया।

9. लॉर्ड लिटन का शासन-काल

लॉर्ड लिटन की अफगान-नीति, दुर्भिक्ष और महामारी के बीच दिल्ली-दरबार का आयोजन और रानी विक्टोरिया को भारत की महारानी घोषित करना तथा भारत के जन-आन्दोलन को समाप्त करने के लिए वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (Vernacular Press Act) तथा शस्त्र-कानून (Arms Act) का निर्माण भारतीयों के लिए असन्तोष का कारण बने।

10. इलबर्ट-प्रस्ताव का प्रतिरोध

लॉर्ड रिपन (Ripon) के समय में इलबर्ट-प्रस्ताव को लेकर भारत में एक विशिष्ट समस्या खड़ी हो गयी। लॉर्ड रिपन ने इस प्रस्ताव द्वारा भारतीय मजिस्ट्रेटों को यूरोपियन अपराधियों के मुकद्दमों का निर्णय करने का अधिकार देना चाहा था। इस बात पर सम्पूर्ण भारत और इंगलैण्ड में अंग्रेजों ने संगठित होकर ऐसा तीव्र आन्दोलन किया कि इस प्रस्ताव का संशोधित रूप ही कानून बन सका। इसमें काले और गोरे के प्रश्न को लेकर जो वाद-विवाद

हुआ उससे स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज रंग के आधार पर भारतीयों से कितनी घृणा करते थे। इससे भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त, भारतीयों को संगठित होकर आन्दोलन करने की शक्ति का प्रभाव भी स्पष्ट हो गया।

11. लॉर्ड कर्जन का शासन

लॉर्ड कर्जन का भारतीयों पर अविश्वास करना, उनको सम्मानित पदों से हटाना और उनके विरुद्ध निरन्तर कटु भाषा का प्रयोग करना भारतीयों के असन्तोष का कारण बना। इसके अतिरिक्त, उसका कलकत्ता विश्वविद्यालय कानून, स्थानीय संस्थाओं का कानून और मुख्यतः बंगाल का विभाजन भारत में गम्भीर असन्तोष का कारण बना। बंगाल-विभाजन के विरोध-स्वरूप भारत में सर्वप्रथम स्वदेशी-आन्दोलन और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार आरम्भ हुआ।

12. अंग्रेजों का व्यक्तिगत दुर्व्यवहार और रंगभेद की नीति

1857 ई. के विद्रोह के समय से अंग्रेजों का व्यवहार भारतीयों के प्रति अधिक कटु हो गया था। प्रतिदिन मारपीट, स्त्री-अपहरण आदि की घटनाएँ होती रहती थीं जिनसे भारतीय नागरिकों में असन्तोष पनपा।

13. 1904 ई. में जापान के हाथों रूस की पराजय

1904 ई. में एशिया के छोटे-से देश जापान ने यूरोप के एक बड़े देश रूस को युद्ध में पराजित कर दिया। यह पहला अवसर था जब एशिया के किसी देश ने यूरोप के एक देश को पराजित किया था। इससे पहले यूरोपीय राष्ट्र अजेय समझे जाते थे और इस कारण एशिया के देशों और नागरिकों में नैतिक साहस की कमी थी। इस युद्ध ने सम्पूर्ण एशिया में नैतिक साहस की वृद्धि की और भारत भी इस प्रभाव से मुक्त न रहा।

14. 1885 ई. में अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना

राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव उपर्युक्त विभिन्न कारणों से हो चुका था। परन्तु इस राष्ट्रीय भावना को एक सूत्र में बाँधकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जन-आन्दोलन करने और भारत के स्वराज्य के लिए प्रयत्न करने का श्रेय अखिल भारतीय काँग्रेस को है। काँग्रेस के आन्दोलन ने राष्ट्रीय भावना को तीव्र से तीव्रतर किया और बाद में स्वतन्त्रता-प्राप्ति में प्रमुख भाग लिया।

2. अखिल भारतीय काँग्रेस के निर्माण से पूर्व राजनीतिक संगठन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में शान्तिपूर्ण राजनीतिक गतिविधियाँ आरम्भ हुईं। 1857 ई. के विद्रोह में निस्सन्देह शिक्षित भारतीय वर्ग ने भाग नहीं लिया था परन्तु वह भारत की राजनीतिक दासता से अनभिज्ञ न था। उसी वर्ग ने संगठित राजनीतिक गतिविधियों को आरम्भ किया जिनका उद्देश्य भारत में प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना, प्रेस एवं विचार-अभिव्यक्ति आदि की स्वतन्त्रता, भारत के आर्थिक शोषण की समाप्ति आदि था। अन्त में यही गतिविधियाँ भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग में परिवर्तित हो गयीं। ये राजनीतिक गतिविधियाँ बंगाल, बम्बई और मद्रास के प्रेसीडेन्सी नगरों से आरम्भ हुईं। ये नगर ऐसे थे जहाँ अंग्रेजों ने सर्वप्रथम अपना प्रभाव और राज्य स्थापित किया था। इस कारण अंग्रेजों के सम्पर्क में आने, उनके विचारों को समझने और उनकी शिक्षा एवं सभ्यता के सम्पर्क में आने का प्रथम अवसर भी यहीं के भारतीयों को प्राप्त हुआ। यहीं के नागरिकों में सर्वप्रथम आधुनिक विचारों का प्रादुर्भाव हुआ जिसके कारण राजनीतिक गतिविधियों का आरम्भ भी यहीं से हुआ।

वोमेशचन्द्र बैनर्जी ने, जो बाद में अखिल भारतीय काँग्रेस के प्रथम सभापति बने, 1867 ई. में अपनी इंगलैण्ड यात्रा के अवसर पर अपने एक सार्वजनिक भाषण में भारत में एक प्रतिनिधि सभा तथा एक सीनेट के निर्माण की आवश्यकता को प्रकट किया। इसी प्रकार, 1873 ई. में आनन्दमोहन बोस ने इंगलैण्ड में ब्राइटन नामक स्थान पर हुई सभा में भारत में प्रतिनिधि सभा के निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया। 1874 ई. में बंगाल के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ क्रिश्तादास पाल ने 'हिन्दू पैट्रियट' नामक समाचार-पत्र में अपने एक लेख 'भारत में स्वशासन' में अन्य ब्रिटिश-उपनिवेशों की भाँति भारत में आन्तरिक स्वशासन की आवश्यकता को न्यायपूर्ण बताया। इस प्रकार शिक्षित भारतीयों ने राजनीतिक चेतना के कार्य को भारत और भारत से बाहर आरम्भ किया। परन्तु भारत में उस समय तक राजनीतिक विचारों को संगठित करने और उनको अभिव्यक्त किये जाने के लिए एक समुदाय की कमी थी। बंगाल में संगठित 'भूमिपतियों की सभा' और 'बंगाल ब्रिटिश इण्डिया सोसाइटी' इस कार्य को नहीं कर रही थीं। 1851 ई. में ये दो समुदाय मिलकर एक हो गये और नवीन समुदाय का नाम 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन' रखा गया। परन्तु ये समुदाय भूमिपतियों के अधिकारों के संरक्षक मात्र रहे; इनमें से कोई भी प्रगतिशील राजनीतिक आन्दोलन का समर्थन नहीं कर रहा था। 1875 ई. में इस कमी की पूर्ति हुई। उस वर्ष शिशिरकुमार घोष के नेतृत्व में एक समुदाय 'इण्डिया लीग' (India League) स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य नागरिकों में राष्ट्रवाद की भावना को जागृत करना तथा उन्हें राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना था। परन्तु उससे अगले वर्ष एक नवीन और अधिक प्रगतिशील समुदाय का निर्माण सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के नेतृत्व में हुआ। जुलाई 1876 ई. में स्थापित इस समुदाय को 'इण्डियन एसोसियेशन' (Indian Association) के नाम से पुकारा गया। इसके निर्माण से 'इण्डिया लीग' पृष्ठभूमि में चली गयी। बंगाल में राजनीतिक आन्दोलन को अग्रणी बनाने का श्रेय इस समुदाय को गया। इस समुदाय ने अपना दृष्टिकोण अधिक विस्तृत किया और निश्चित किया कि वह—

1. भारत में एक सशक्त राष्ट्रीय जनमत के निर्माण के लिए प्रयत्न करेगा।
2. सभी भारतीयों को सामूहिक राष्ट्रीय भावना और राजनीतिक हितों के आधार पर एक करने का प्रयत्न करेगा।
3. हिन्दू और मुसलमानों के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न करेगा।
4. राजनीतिक आन्दोलन में जन-साधारण को सम्मिलित करने का प्रयत्न करेगा।

निस्सन्देह, अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना से पूर्व 'इण्डियन एसोसियेशन' ही एक ऐसा समुदाय था जिसने राष्ट्रीय आधार पर अपना कार्य आरम्भ किया। इस समुदाय ने प्रशासकीय सेवाओं की परीक्षा में बैठने के लिए आयु को 21 वर्ष से 19 वर्ष कर दिये जाने का विरोध किया। इस सम्बन्ध में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने भारत के प्रायः सभी महत्वपूर्ण नगरों का भ्रमण किया और सार्वजनिक सभाएँ कीं। लॉर्ड लिटन के समय में बनाये गये 'वर्नाक्यूलर प्रेस कानून' और 'शस्त्र कानून' का भी इस समुदाय ने विरोध किया। इस हेतु इस समुदाय ने लालमोहन घोष को ब्रिटेन भेजा जिसने इन कानूनों के विरोध में ब्रिटिश जनमत को संगठित करने का प्रयत्न किया। लॉर्ड रिपन के समय में इलबर्ट-प्रस्ताव पर जो असन्तोष भारत में फैला उसे बढ़ाने में भी इस समुदाय ने भाग लिया; यहाँ तक कि सरकार को एक बार सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी को जेल में बन्द करना पड़ा। इस प्रकार इस समुदाय ने भारत में पहली बार भारतीय जनमत को जाग्रत करने में, उसे एक मंच पर एकत्रित करने में, प्रदर्शनों और सभाओं द्वारा

भारतीयों के असन्तोष को व्यक्त करने में तथा ब्रिटेन में भारतीय हित में ब्रिटिश जनमत को जाग्रत करने में पर्याप्त भाग लिया। इसी उद्देश्य से इस समुदाय ने 1883 ई. में कलकत्ता में प्रथम भारतीय 'राष्ट्रीय सभा' (National Conference) का गठन किया। 1885 ई. में इस राष्ट्रीय सभा का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में बुलाया गया। परन्तु उसी वर्ष और उसी समय बम्बई में अखिल भारतीय काँग्रेस का अधिवेशन बुलाया गया। बाद में 'इण्डियन एसोसियेशन' समाप्त हो गयी और राष्ट्रीय मंच पर 'अखिल भारतीय काँग्रेस' ही एकमात्र प्रभावपूर्ण समुदाय रह गया। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अखिल भारतीय काँग्रेस के कार्य को 'इण्डियन एसोसियेशन' प्रभावपूर्ण ढंग से आरम्भ कर चुकी थी।

बंगाल की भाँति बम्बई और मद्रास में भी राजनीतिक समुदायों का निर्माण हुआ, यद्यपि उनमें से कोई भी बंगाल की 'इण्डियन एसोसियेशन' के सदृश प्रभावपूर्ण न रहा। बम्बई में राजनीतिक विचारधारा का नेतृत्व प्रारम्भ में काशीनाथ त्रिम्बक तेलंग, फीरोजशाह मेहता और बदरुद्दीन तैयबजी ने किया। इनके प्रयत्नों से जनवरी 1885 ई. में 'बम्बई प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन' (Bombay Presidency Association) का निर्माण हुआ। परन्तु उसका प्रभाव और जीवन अधिक न रहा क्योंकि उसी वर्ष 'काँग्रेस' की स्थापना हो जाने से उसकी आवश्यकता नगण्य हो गयी। 1867 ई. में स्थापित 'पूना सार्वजनिक सभा' भी पर्याप्त समय तक सरकार और भारतीय जनमत में तालमेल बनाये रखने का कार्य करती रही। उसने 1878 ई. में एक *Quarterly Journal* भी इसी कार्य हेतु शुरू किया। 1884 ई. में इसी प्रकार के राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए मद्रास में 'महाजन सभा' आरम्भ की गयी। इनके अतिरिक्त भारत के विभिन्न भागों में स्थानीय आधार पर अनेक राजनीतिक दलों का निर्माण 1885 ई. में स्थापित 'अखिल भारतीय काँग्रेस' की स्थापना से पहले हो चुका था। ये सभी भारत की नवीन राजनीतिक चेतना का प्रमाण थे। बाद में अखिल भारतीय काँग्रेस ने इन सभी को अपने में आत्मसात कर लिया और भारतीय राजनीतिक आन्दोलन में अग्रणी बन गयी।

3. राष्ट्रीय आन्दोलम का सामाजिक आधार

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का सामाजिक आधार क्या रहा अर्थात् समाज के किन वर्गों अथवा तत्वों ने उसका पोषण किया, इस विषय में अभी तक अध्ययन और खोज की आवश्यकता है। इस विषय में विभिन्न मत प्रकट किये गये हैं। अखिल भारतीय काँग्रेस के सम्बन्ध में गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन ने 1888 ई. में विचार व्यक्त किया था कि "वह केवल पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की प्रतिनिधि सभा है और भारत के बहुत ही अल्पसंख्य व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है।" अधिकांश भारतीय और विदेशी विद्वानों ने इस विचार को स्वीकार किया है। यह कहना ठीक भी है लेकिन मात्र इतना ही कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों ने ही उसका निर्माण और नेतृत्व किया। परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि काँग्रेस केवल एक विशेष वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करती थी। 1886 ई. में काँग्रेस के दूसरे अधिवेशन में ही सम्मिलित होने वाले व्यक्ति एक वर्ग के नहीं बल्कि विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इस प्रकार अपने प्रारम्भिक समय से ही काँग्रेस ने भारत के विभिन्न सामाजिक वर्गों का प्रतिनिधित्व किया।

इस कारण डॉ. ए. आर. देसाई का विचार अधिक उपयुक्त है जिससे यह प्रकट होता है कि भारत में विभिन्न वर्गों ने उस समय तक राष्ट्रीय स्तर ग्रहण कर लिया था, सभी के हित निश्चित हो गये थे और इस कारण यद्यपि सभी अपने-अपने वर्ग-हितों की पूर्ति में लगे हुए थे तदपि सभी ने अपने हितों की सुरक्षा राष्ट्रीय हित में मानकर राष्ट्रीय आन्दोलन में एक झण्डे

के नीचे रहकर कार्य किया। उनके अनुसार केवल भारतीय नरेशों, प्राचीन जमींदारों और रईसों के अतिरिक्त, बाकी सभी वर्गों के हित आर्थिक हित में परिवर्तित हो गये थे और उन हितों की पूर्ति के लिए यह आवश्यक हो गया था कि भारत में विदेशी सत्ता नष्ट हो। इस कारण किसानों, भूमिहीन मजदूरों, नवीन व्यापारियों, कर्जा देने वाले साहूकारों, उद्योगपतियों, पूँजीपतियों, मध्यम शिक्षित वर्ग के व्यक्तियों, जैसे अध्यापक, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि सभी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। उद्योगपतियों और पूँजीपतियों ने अपना धन राष्ट्रीय आन्दोलन को सहयोग देने में लगाया क्योंकि उन्हें स्पष्ट हो गया था कि उनकी पूँजी और उद्योगों की उन्नति राष्ट्रीय सरकार के निर्माण के बिना सम्भव नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव, सर्वप्रथम, अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त बुद्धिजीवी-वर्ग में हुआ। इस कारण उसी वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया और उसी का प्रभाव उसमें सबसे अधिक रहा।

इसी प्रकार, डॉ. बिपिनचन्द्र का कहना है कि राष्ट्रीय आन्दोलन को किसी एक वर्ग तक सीमित कर देना भूल है। उनके अनुसार राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व मध्यम-वर्ग ने नहीं अपितु भारतीय बुद्धिजीवियों ने किया और उनको एक वर्ग मानना उचित नहीं है। भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने कभी भी वर्ग-हित की बात नहीं की; उन्होंने सर्वदा राष्ट्रीय हित और जनहित की बात की और उसी को अपना लक्ष्य बनाया। इसी कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त किया गया और सभी वर्गों ने उसमें योग दिया। परन्तु वह एक बात और बताते हैं। उनके अनुसार राष्ट्रीय नेताओं ने एक भूल अवश्य की। उन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था को ही भारत की आर्थिक समस्याओं का हल निकालने के लिए उचित माना। इस कारण उन्होंने पूँजीपतियों और उच्च वर्गों पर अपनी निर्भरता बनाये रखी। डॉ. बिपिनचन्द्र का मत सत्य के बहुत निकट है। स्वतन्त्रता के पश्चात् इसी कारण पूँजीवादी व्यवस्था राज्य से संरक्षण प्राप्त करके पनपती गयी है जबकि राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख योगदान शिक्षित-वर्ग, किसानों और मजदूरों का रहा था।

4. काँग्रेस का जन्म और उसके प्रारम्भिक उद्देश्य

1884 ई. में ए. ओ. ह्यूम (A. O. Hume) नामक एक अवकाश-प्राप्त अंग्रेज असैनिक अधिकारी के प्रयत्नों से एक संस्था 'इण्डियन नेशनल यूनियन' की स्थापना हुई। इसी यूनियन ने 1885 ई. में पूना में राष्ट्र के विभिन्न प्रतिनिधियों का सम्मेलन करने का निर्णय किया और इस कार्य का उत्तरदायित्व भी ए. ओ. ह्यूम को सौंपा। पूना में हैजा फैल जाने के कारण उस वर्ष यह सम्मेलन बम्बई में किया गया। यह सम्मेलन दिसम्बर 1885 ई. में हुआ और वहीं 'अखिल भारतीय काँग्रेस' नामक संस्था की स्थापना की गयी। इसके प्रथम सभापति वोमेशचन्द्र बैनर्जी चुने गये। इस प्रकार 1885 ई. में लॉर्ड डफरिन के समय में इस राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ।

यह कहना कठिन है कि अखिल भारतीय काँग्रेस के संगठन का विचार किस प्रकार उत्पन्न हुआ। कुछ विद्वानों का कथन है कि 1877 ई. में हुए दिल्ली-दरबार से यह विचार उत्पन्न हुआ। परन्तु अधिकांश विद्वान इस विचार को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार दिल्ली-दरबार ने अधिक से अधिक सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी द्वारा स्थापित 'राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स' के निर्माण की प्रेरणा दी। यह विचार भी मान्य नहीं है कि थियोसोफीकल समाज के मद्रास में हुए वार्षिक अधिवेशन ने इसके निर्माण की प्रेरणा प्रदान की। इस कारण अधिकांश विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि ए. ओ. ह्यूम ने ही एक अखिल भारतीय राजनीतिक समुदाय के

निर्माण में मुख्य भाग लिया, यद्यपि यह विचार कई व्यक्तियों के मस्तिष्क में था। ह्यूम ने कलकत्ता में स्थापित राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स से प्रेरणा प्राप्त की थी, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है।

ह्यूम ने 'काँग्रेस' की स्थापना क्यों की, इस विषय में भी विवाद है। कुछ विद्वानों के अनुसार तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डफरिन ने ह्यूम को इसकी प्रेरणा प्रदान की। लॉर्ड डफरिन चाहता था कि भारत में भी ब्रिटेन की भाँति एक विरोधी राजनीतिक दल हो जो शासन के लिए लाभदायक होगा। ह्यूम ने उसकी इस बात को स्वीकार कर लिया। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ह्यूम का विचार ब्रिटेन में भारत के समर्थन के लिए एक राजनीतिक संगठन स्थापित करने का था! डॉ. एन. एल. चटर्जी के अनुसार ह्यूम का उद्देश्य रूस के सम्भावित आक्रमण से भारत की सुरक्षा के लिए इसकी स्थापना करना था। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ह्यूम ने काँग्रेस की स्थापना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को उग्रवादियों के नेतृत्व में जाने से रोकने के लिए की थी। सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी कलकत्ता में एक 'राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स' का संगठन कर रहे थे और वह, निस्सन्देह, उस समय उग्रवादी विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे। इस कारण ह्यूम ने उसी समय 'काँग्रेस' का अधिवेशन बुलाया जबकि 'राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स' के अधिवेशन का समय निश्चित हो गया था।

इन विचारों में पारस्परिक मतभेद है। परन्तु एक निर्णय सभी मतों से निकलता है। काँग्रेस की स्थापना में ह्यूम का उद्देश्य निश्चय ही भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा था। इसी कारण उसने स्वयं काँग्रेस की स्थापना को ब्रिटिश-साम्राज्य के लिए एक 'सुरक्षा यन्त्र' (Safety valve) स्वीकार किया था। परन्तु 'सुरक्षा यन्त्र' का सिद्धान्त सत्य का एक अंश है। निस्सन्देह, ह्यूम और अन्य अनेक अंग्रेज अधिकारी यह जान गये थे कि एक राजनीतिक दल के अभाव में भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन हिंसा के मार्ग पर अग्रसर हो जायेगा। वे चाहते थे कि भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन उस मार्ग पर न जाय अपितु संवैधानिक मार्ग पर जाये। इसके लिए एक अखिल भारतीय राजनीतिक दल की आवश्यकता थी। ह्यूम ने इसी कारण काँग्रेस की स्थापना की। परन्तु, इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि ह्यूम एक आदर्शवादी और सद्भावनाओं से युक्त व्यक्ति था। वह उन अंग्रेज व्यक्तियों में से एक था जिन्हें भारत और भारतीयों से सहानुभूति थी। इसी कारण भारतीय हित की पूर्ति करना भी उसका एक लक्ष्य था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने काँग्रेस की स्थापना का प्रयत्न किया और भारत के बुद्धिजीवियों का उसमें सहयोग प्राप्त किया।

काँग्रेस के प्रारम्भिक उद्देश्य निम्नलिखित थे :

(1) भारत के सभी नागरिकों का सहयोग प्राप्त करना।

(2) जातीयता, प्रान्तीयता और धार्मिक मतभेदों को समाप्त करके राष्ट्रीय एकता का निर्माण करना।

(3) सामाजिक समस्याओं पर विचार करना और उस पर निर्णय लेना।

(4) आगामी वर्ष का कार्यक्रम निश्चित करना।

(5) सरकार से भारतीयों को शासन में सम्मिलित करने की माँग करना।

इस प्रकार काँग्रेस का प्रारम्भ बहुत ही साधारण उद्देश्यों का लेकर हुआ। परन्तु धीरे-धीरे काँग्रेस के उद्देश्यों में परिवर्तन होता गया। नौकरियों की माँग से शुरू होकर उसकी माँग स्वराज्य की माँग में परिणत हो गयी और सरकार में विश्वास करने व उससे सहयोग करने की नीति सरकार से संघर्ष करने मे बदल गयी। वास्तव में देखा जाय तो भारत के राष्ट्रीय

आन्दोलन का इतिहास काँग्रेस का इतिहास है क्योंकि प्रारम्भ से अन्त तक भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन इसी संस्था के नेतृत्व में लड़ा गया। इस राजनीतिक और राष्ट्रीय आन्दोलन को सुविधा की दृष्टि से हमने निम्नलिखित भागों में बाँटा है :

(अ) आन्दोलन का प्रथम चरण (1885-1905 ई.);

(ब) उग्र-राष्ट्रवाद और आन्दोलन का द्वितीय चरण (1905-1919 ई.);

(स) आन्दोलन का तृतीय चरण (1919-1929 ई.);

(द) आन्दोलन का चतुर्थ चरण (1929-1939 ई.);

(इ) आन्दोलन का अन्तिम चरण और स्वतन्त्रता-प्राप्ति (1939-1947 ई.)।

5. आन्दोलन और स्वतन्त्रता-प्राप्ति

(अ) आन्दोलन का प्रथम चरण (1885-1905 ई.)

यह समय उदार राष्ट्रीय आन्दोलन का माना जाता है। भारतीय नेताओं को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास था और वे सोचते थे कि यदि प्रार्थना-पत्रों के रूप में वे अपनी माँग सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करते रहेंगे तो वह उन्हें अवश्य स्वीकार करेगी। उदार नेताओं में फीरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, वोमेशचन्द्र बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, दादाभाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानाडे, मदनमोहन मालवीय, रमेशचन्द्र दत्त, बदरुद्दीन तैयबजी, रासबिहारी घोष आदि प्रमुख थे।

इस समय में काँग्रेस पूर्णतः वैधानिक कार्य-प्रणाली में विश्वास करती रही। उसका कार्य प्रस्ताव स्वीकार करना, सरकार से प्रार्थना करना और अपने विचारों का प्रचार करना, इन तीन बातों तक ही सीमित रहा। सरकार का विरोध करने का उसका कोई उद्देश्य न था। इसी प्रकार, उस समय तक काँग्रेस की माँगें भी बहुत सीमित थीं। उन्होंने सरकार से निरन्तर माँग की कि—

(1) भारत में प्रतिनिधि-सभाएँ स्थापित की जायें;

(2) इण्डिया कौंसिल समाप्त की जाय;

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान की जाय;

(4) विदेशी वस्तुओं पर अधिक कर लगाया जाय;

(5) अफ्रीका में प्रवासी भारतीयों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाय;

(6) भारतीयों को उच्च से उच्च सरकारी पद प्राप्त हों;

(7) शासन और सैनिक व्यय में कमी की जाय, आदि।

काँग्रेस इस प्रकार सरकार से निरन्तर प्रार्थना करती रही। उस समय के उदार राष्ट्रीय नेताओं का ब्रिटेन के न्याय में विश्वास था। वे समझते थे कि भारत और ब्रिटेन दोनों स्थानों पर अपनी न्यायपूर्ण माँगों के औचित्य को बताकर वे ब्रिटेन और भारत में ब्रिटिश शासकों की सहानुभूति प्राप्त कर सकते थे और उनसे न्याय पा सकते थे। इसी कारण उस समय में काँग्रेस ने अपने विभिन्न प्रतिनिधिमण्डल ब्रिटेन भेजे जिनका उद्देश्य ब्रिटिश शासकों, ब्रिटिश संसद और ब्रिटिश जनमत को भारतीयों की माँग के औचित्य में विश्वास दिलाना था। उस समय में काँग्रेस ने सरकार से विरोध करने की नीति को नहीं अपनाया। कुछेक अवसरों पर उसने सरकार के कुछ कार्यों का विरोध भी किया, जैसे वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट और शस्त्र-कानून। परन्तु यह विरोध भी पूर्णतः संवैधानिक था। काँग्रेस के इस समय के कार्यों के विषय में अनेक विद्वानों की राय रही है कि काँग्रेस कोई कार्य सफलतापूर्वक न कर सकी। सरकार ने उसकी किसी भी माँग की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। 1892 ई. का कानून

भी जो बहुत कुछ काँग्रेस की माँगों के आधार पर बनाया गया था, सन्तोषजनक न था। प्रार्थना-पत्रों पर अत्यधिक निर्भरता के कारण काँग्रेस के उस समय को राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political mendicancy) का समय पुकारा गया। लाला लाजपतराय ने उसे अवसरवादी आन्दोलन कहा। उनके अनुसार उससे पाखण्ड और देशद्रोह को बढ़ावा मिला और कुछ लोगों को देशभक्ति के नाम पर व्यापार करने का अवसर मिला। इस प्रकार, उदारवादियों के प्रयत्नों को अनेक व्यक्तियों ने असफल बताया। डॉ. बिपिनचन्द्र ने उनकी असफलताओं के कारणों पर भी प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि "सम्भवतः, उनकी राजनीतिक कार्यविधि उनकी असफलता के लिए उत्तरदायी थी, परन्तु इससे कहीं अधिक उनका ब्रिटिश शासन की अजेयता में विश्वास और पूँजीवादी व्यवस्था को ही भारत के हित में स्वीकार करना उनकी असफलता के लिए उत्तरदायी थे।" निस्सन्देह, काँग्रेस के प्रारम्भिक नेता अधिकांशतः धनी बुद्धिजीवी-वर्ग के थे। उनकी शिक्षा और सामाजिक स्तर ने उनकी बुद्धि और नीतियों पर सीमाएँ लगायीं। उनका विश्वास था कि भारत का हित ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध बनाये रखने में है, अंग्रेज उन्हें स्वशासन के योग्य बना देंगे, अंग्रेज भारतीयों के साथ न्याय करेंगे, आदि। परन्तु यह विश्वास करना उनकी भूल थी और यही उनकी असफलता का मूल कारण बना। परन्तु काँग्रेस और उसके उदारवादी नेताओं के कार्यों का मूल्यांकन इस प्रकार करना उपयुक्त नहीं है। यह समय काँग्रेस का शैशवकाल था और काँग्रेस सरकार से विरोध करने की स्थिति में न थी। उसका प्रथम कार्य अपनी शक्ति को दृढ़ करना और राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए जनमत तैयार करना था। इस कार्य की पूर्ति काँग्रेस ने सफलतापूर्वक की और भविष्य के आन्दोलन के लिए शक्तिशाली पृष्ठभूमि तैयार करने में सफलता प्राप्त की। इसके अतिरिक्त, उदारवादियों की मुख्य सफलता यह रही कि उन्होंने अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक शोषण की ओर भारतीयों का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक पहलुओं की कड़ी आलोचना की और उनकी माँगों में भारत का औद्योगीकरण करना, सरकार द्वारा भारत के आर्थिक विकास के लिए प्रयत्न करना और भारतीय उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना, आदि सम्मिलित की गयीं। काँग्रेस ने इसी कारण वार्षिक औद्योगिक प्रदर्शनियाँ लगाना आरम्भ किया। सरकार का काँग्रेस के प्रति शंकालु हो जाना ही इन उदारवादियों की सफलता का प्रमाण था। सरकार ने इसी समय में सरकारी कर्मचारियों को काँग्रेस के अधिवेशनों में दर्शकों की भाँति जाने से भी रोका और सर सैयद अहमदखाँ तथा राजा शिवप्रसाद जैसे ब्रिटिश-समर्थकों को काँग्रेस-विरोधी आन्दोलन आरम्भ करने के लिए उकसाना शुरू कर दिया। इस दृष्टिकोण से काँग्रेस का यह समय भी कम महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

(ब) उग्र-राष्ट्रवाद और आन्दोलन का द्वितीय चरण (1905-1919 ई.)

काँग्रेस की प्रार्थना-पत्रों की नीति से अंग्रेज सरकार पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ा और वह शासन में मनमानी करती रही। इसके प्रतिक्रियास्वरूप भारत में इस भावना का जन्म हुआ कि स्वराज्य माँगने से नहीं बल्कि संघर्ष करने से प्राप्त होगा। संवैधानिक आन्दोलन से भारत के नागरिकों का विश्वास उठ गया। संघर्ष द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने की भावना को ही हम उग्र-राष्ट्रवाद के नाम से पुकारते हैं, जिसका जन्म इस समय में हुआ और जिसकी उत्पत्ति के निम्नलिखित कारण माने जाते हैं :

(1) अंग्रेजों का शासन में मनमानी करना—अंग्रेजों ने काँग्रेस के प्रार्थना-पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दिया था और 1892 ई. के सुधार भारतीयों को सन्तुष्ट करने में सर्वथा असफल रहे थे। व्यक्तिगत व्यवहार की दृष्टि से भी अंग्रेजों में कोई परिवर्तन नहीं आया था और अपमान,

मारपीट, स्त्री-अपहरण आदि की घटनाएँ निरन्तर हो रही थीं जिन्हें रोकने के लिए शासन की ओर से कोई समुचित व्यवस्था नहीं की जा रही थी।

(2) आर्थिक असन्तोष—भारत के नागरिकों की आर्थिक कठिनाइयाँ निरन्तर बढ़ती जा रही थीं। शिक्षित-वर्ग, मजदूर-वर्ग, कृषक और पूँजीपति सभी अंग्रेजों की आर्थिक नीति से असन्तुष्ट थे। सरकार ने सूती कपड़े पर आयात-कर कम कर दिया था जिससे भारत के सूती कपड़े के उद्योग की अत्यधिक हानि हुई थी। ऐसी अरक्षित स्थिति में भारतीय पूँजीपति भी राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हो गये। डॉ. बिपिनचन्द्र के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था में किसी भी प्रकार का सुधार न होना उग्र-राष्ट्रवाद की उत्पत्ति का सबसे बड़ा कारण था। निस्सन्देह, अधिकांश बुद्धिजीवी यहाँ तक कि उदार राष्ट्रीय नेता भी यह विश्वास करने लगे थे कि भारत की बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था का मुख्य कारण अंग्रेजी शासन है और यह अवस्था कभी नहीं सुधर सकती क्योंकि ब्रिटिश शासन में कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। अंग्रेजों का शासन ब्रिटेन के आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए होता था। उनका भारत को अपने आधिपत्य में रखने का मूल आशय भी यही था। ऐसी स्थिति में प्रार्थना-पत्रों द्वारा अंग्रेजी शासन में परिवर्तन किये जाने की आशा करना पूर्णतः निरर्थक था। इस नवीन विचार ने उग्र-राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में, निस्सन्देह, महत्वपूर्ण भाग लिया।

(3) धार्मिक और सामाजिक प्रगति—धार्मिक और सामाजिक प्रगति का प्रवाह अभी तक समाप्त नहीं हुआ था बल्कि अब उसका प्रयोग राष्ट्रवाद को तीव्र करने के लिए किया जा रहा था। महाराष्ट्र में बाल गंगाधर तिलक, बंगाल में बिपिनचन्द्र पाल तथा पंजाब में लाला लाजपतराय धार्मिक राष्ट्रीयता के पोषण में लगे हुए थे और गणेश-पूजा, शक्ति-पूजा, आदि के सहारे भारतीयों को जाग्रत कर रहे थे।

(4) 1897 ई. और 1898 ई. का अकाल और प्लेग—इन वर्षों में गुजरात और दक्षिण-भारत में भीषण अकाल पड़ा तथा महाराष्ट्र व बम्बई में भीषण रूप से प्लेग फैली। सरकार ने इनकी रोकथाम के लिए जो व्यवस्था की उससे भारतीयों में और अधिक असन्तोष हुआ। प्लेग के अवसर पर सरकार ने सैनिकों को जनसाधारण के घरों में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी थी। इसका तीव्र विरोध हुआ। तिलक ने भी इसके विरोध में आवाज उठायी। दो प्लेग-अधिकारी कत्ल भी कर दिये गये। सन्देह में तिलक को जेल की सजा दी गयी।

(5) लॉर्ड कर्जन का शासन—लॉर्ड कर्जन की नीति, मुख्यतः बंगाल-विभाजन और उसकी कटु भाषा ने भारतीयों में तीव्र असन्तोष उत्पन्न कर दिया। बंगाल-विभाजन के विरोध में भारत में एक तीव्र आन्दोलन उठा। बंगाल-विभाजन के अवसर पर 'विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार' और 'स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग' आन्दोलन आरम्भ हुए जिनका काँग्रेस ने भविष्य में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने में मुख्य साधन के रूप में प्रयोग किया। बंगाल में विभिन्न स्थानों पर विदेशी वस्तुओं को जलाया गया, धोबियों ने विदेशी वस्त्रों को धोने से इन्कार कर दिया, सार्वजनिक सभाएँ की गयीं तथा सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने बंगाल-विभाजन न करने की माँग के प्रति सहानुभूति प्राप्त करने हेतु भारत का भ्रमण किया। वस्तुतः भारतीयों ने अपने संघर्ष की शुरूआत बंगाल-विभाजन के अवसर पर आरम्भ की। निस्सन्देह, इससे उग्र-राष्ट्रवाद को बढ़ावा मिला।

(6) विदेशी प्रभाव—इसी अवसर पर 1905 ई. में जापान ने रूस को परास्त किया जिससे एशिया में नैतिक साहस का विकास किया। भारत पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त, रूस, टर्की, मिस्र और ईरान के जन-आन्दोलनों के प्रभाव से भारत भी मुक्त न रहा।

(7) ब्रिटेन में 1905 ई. में उदार दल की सरकार बनी। इससे नरम दल के नेताओं को पुनः आशा हुई कि वे ब्रिटेन से भारत के लिए कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने में अवश्य सफल होंगे। गरम दल के नेता इससे सहमत न थे। उनके अनुसार ब्रिटेन की सरकार से किसी भी प्रकार की आशा करना राष्ट्रीय आन्दोलन को दुर्बल बनाना था। इसी कारण उन्होंने 1906 ई. में काँग्रेस के सभापति पद को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु जब नरम दल ने वयोवृद्ध दादाभाई नौरोजी को सभापति पद के लिए चुना तब उन्होंने संघर्ष करना पसन्द नहीं किया। परन्तु 1907 ई. में उन्होंने नरम दल के नेता रासबिहारी घोष के सभापति पद के लिए खड़े होने पर लाला लाजपतराय को उसके विरुद्ध खड़ा किया, यद्यपि बाद में उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया। परन्तु बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्नों को लेकर सूरत में उसी वर्ष काँग्रेस का विभाजन हुआ।

उपर्युक्त कारणों से भारत में उग्र-राष्ट्रवाद की उत्पत्ति हुई परन्तु उग्र-राष्ट्रवाद दो शाखाओं में विभक्त हो गया : 1. अतिवादी या गरम दल, और 2. राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी।

1. अतिवादी या गरम दल—गरम दल का उत्थान काँग्रेस के अन्तर्गत ही हुआ। 1906 ई. में हमें इस दल का प्रादुर्भाव दिखायी देता है। इसके नेता बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, बिपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष थे। इनका कार्यक्रम सरकार से संघर्ष करने का था। तिलक अपने समाचार-पत्र 'केसरी' और बिपिनचन्द्र अपने समाचार-पत्र 'न्यू इण्डिया' के द्वारा निरन्तर इसी प्रकार के विचारों का प्रचार कर रहे थे। इसके अतिरिक्त, नरम दल की तरह उनका लक्ष्य अंग्रेजों की अधीनता में स्वशासन प्राप्त करना न था बल्कि वे 'पूर्ण स्वराज्य' को अपना लक्ष्य मानते थे। परन्तु फिर भी गरम दल का तरीका हिंसात्मक न था। वे सरकार से अहिंसात्मक विरोध करना चाहते थे। वस्तुतः गरम दल की नीति 'निष्क्रिय-विरोध' की थी। अरविन्द घोष ने *वन्देमातरम्* नामक पत्रिका में 1907 ई. में दिये गये अपने लेखों द्वारा 'निष्क्रिय-विरोध' की नीति को स्पष्ट किया। उन्होंने लिखा : "सक्रिय-विरोध का अर्थ ऐसा कार्य करना है जिससे सरकार की कुछ निश्चित हानि होती है; जबकि 'निष्क्रिय विरोध' का अर्थ है कि ऐसा कोई कार्य न किया जाय जिससे सरकार की किसी प्रकार की सहायता होती हो। दोनों का लक्ष्य एक है कि सरकार को अपना लक्ष्य मनवाने के लिए बाध्य किया जाय परन्तु दोनों के साधन उसके लिए भिन्न हैं।" इसी कारण सरकार से खुला विरोध करना, अपने असन्तोष को प्रकट करना, प्रार्थना न करना वरन् स्वराज्य को अधिकार की तरह माँगना उनका कार्यक्रम था। उनके यथार्थ कार्यक्रम में स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, सरकार के साथ किसी भी कार्यक्षेत्र में सहयोग न करना तथा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली का विकास करना आदि सम्मिलित था। उसमें हिंसा का कोई स्थान न था। तिलक ने घोषित किया कि "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।" गरम दल के कारण 1907 ई. में काँग्रेस का 'सूरत-विभाजन' हुआ जिसके परिणामस्वरूप गरम दल वाले काँग्रेस से अलग कर दिये गये। यह विभाजन 1916 ई. तक रहा। परन्तु फिर भी उग्र या गरम दल का काँग्रेस के उद्देश्यों और कार्यक्रम पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। अन्त में, काँग्रेस गरम दल वालों के ही नेतृत्व में आ गयी और संघर्ष द्वारा पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति उसका उद्देश्य बना।

2. राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी—अंग्रेजों की नीतियों से असन्तुष्ट होकर भारत में एक वर्ग ऐसा भी हुआ जिसका विश्वास हिंसा में हो गया। वह भारत में नवयुवकों का क्रान्तिकारी वर्ग था जिसके केन्द्र-स्थान पंजाब, महाराष्ट्र और बंगाल थे। वे संगठित हिंसात्मक साधनों द्वारा अंग्रेजी शासन को नष्ट करके स्वतन्त्रता चाहते थे और इस कार्य के लिए विदेशी सहायता तक लेने को प्रयत्नशील थे। इन व्यक्तियों में दामोदर सावरकर, खुदीराम बोस, प्रफुल्ल चाकी, जतीन्द्रनाथ मुखर्जी (जतीन बाघा), सूर्यसेन जो 'चटगाँव आर्मरी रेड' के नेता थे, भूपेन्द्रनाथ

दत्त, गणेश सावरकर, सरदार अजीतसिंह, लाला हरदयाल और उनकी गदर पार्टी, सरदार भगतसिंह, राजगुरु, सुखदेव, रामप्रसाद बिस्मिल और चन्द्रशेखर आजाद के नाम उल्लेखनीय हैं। क्रान्तिकारियों ने अनेक स्थानों पर गुप्त समितियों की स्थापना की, हत्याकाण्ड किये, गोलियाँ चलायीं, धन लूटा, रेल की पटरियाँ उखाड़ीं तथा अनेक प्रकार से अंग्रेजी शासन को आतंकित किया।

डॉ. आर. सी. मजूमदार के अनुसार सशस्त्र क्रान्ति के लिए एक गुप्त संस्था का निर्माण सर्वप्रथम महाराष्ट्र में वासुदेव बलवन्त फड़के ने किया। उसके पश्चात् वी. डी. सावरकर ने 1904 ई. में महाराष्ट्र में 'अभिनव भारत' नामक एक क्रान्तिकारी दल का निर्माण किया। बंगाल में इस कार्य का आरम्भ अरविन्द घोष के छोटे भाई बरिन्द्रकुमार घोष और पुलिनबिहारी दास ने किया। उन्होंने दो पुस्तकें 'भवानी-मन्दिर' तथा 'वर्तमान राजनीति' छापीं। इनमें से प्रथम पुस्तक ने क्रान्तिकारी दलों को एक स्थान पर अपने संगठन बनाने की आवश्यकता बतायी और दूसरी पुस्तक में विदेशी सत्ता से सशस्त्र युद्ध करने के तरीकों को बताया गया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप 'अनुशीलन समिति' नामक क्रान्तिकारी दल की स्थापना कलकत्ता और ढाका में हुई। इस दल ने प्रायः 115 शाखाएँ खोलीं और समाचार-पत्र 'युगान्तर' प्रकाशित किया जिसमें अंग्रेजों के विरुद्ध खुला सशस्त्र विद्रोह किये जाने का प्रचार किया गया। इसी प्रकार के क्रान्तिकारी दल बिहार, उड़ीसा, पंजाब और भारत के अन्य भागों में भी बने। उनमें से कुछेक ने पारस्परिक सम्पर्क बनाने का प्रयत्न किया परन्तु अधिकांशतः वे पृथक-पृथक दलों के रूप में ही कार्य करते रहे जिसके कारण उनकी शक्ति संगठित न हो सकी। 1907 से 1917 ई. के मध्य में इन दलों ने प्रायः 64 ब्रिटिश अधिकारियों की हत्याएँ कीं और प्रायः 112 डकैतियाँ डालीं। इसी काल में अप्रैल 1908 ई. में बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के जिलाधीश किंग्सफोर्ड की हत्या का असफल प्रयास किया गया जिसमें प्रफुल्ल चाकी और खुदीराम बोस पकड़े गये। प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली और खुदीराम बोस को फाँसी की सजा दी गयी। सरकार ने इसी सम्बन्ध में मानिकटोला बाग और कलकत्ता में तलाशियाँ लीं और 34 व्यक्तियों को बन्दी बनाया जिनमें अरविन्द घोष और उनके छोटे भाई बरिन्द्र घोष भी सम्मिलित थे। इन व्यक्तियों पर 'अलीपुर षड्यन्त्र काण्ड' नामक मुकदमा चलाया गया और अधिकांश व्यक्तियों को कड़ी सजाएँ दी गयीं। 1912 ई. में दिल्ली में चाँदनी चौक में वायसराय लॉर्ड हार्डिंज पर बम फेंका गया यद्यपि वह उस आक्रमण से बच गया। इस षड्यन्त्र के नेता रासबिहारी बोस तो भागने में सफल हो गये परन्तु इस षड्यन्त्र में सम्मिलित अमीचन्द, अवधबिहारी, बालमुकुन्द और बसन्तकुमार विश्वास को फाँसी की सजा दी गयी तथा चरनदास एवं कुछ अन्य व्यक्तियों को आजीवन कारावास या अन्य कठोर सजाएँ दी गयीं। प्रथम महायुद्ध के अवसर पर कुछेक क्रान्तिकारियों ने जर्मनी से सहायता लेकर 1915 ई. में भारत में सशस्त्र विद्रोह करने का भी प्रयास किया किन्तु वह असफल हुआ। उस समय में अनेक क्रान्तिकारी पकड़े भी गये। उन्हें फाँसी की सजा दी गयी। उनमें से कुछेक संघर्ष में मारे भी गये।

क्रान्तिकारियों ने भारत से बाहर भी जैसे अमेरिका, जर्मनी, इण्डोचीन, सिंगापुर, मध्य-पूर्व और निकट-पूर्व में अपने दलों का निर्माण किया। विदेश में, लन्दन में, 1905 ई. में श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'इण्डिया हाउस' की स्थापना की और 'इण्डियन सोसियोलोजिस्ट' नामक एक अखबार का प्रकाशन किया। दामोदर सावरकर, लाला हरदयाल और मदनलाल धींगरा जैसे क्रान्तिकारी भी उनके सहयोगी बने। मदनलाल धींगरा ने 1909 ई. में विलियम कर्जन वाइली की हत्या की जिसके अपराध में उसे फाँसी की सजा दी गयी। श्यामजी के सहयोगी, पेरिस में, एस. आर. राना और श्रीमती भीखाजी रुस्तम कामा बनीं। उन्होंने वहाँ

क्रान्तिकारी साहित्य के निर्माण में सहायता दी। 1913 ई. में सेनफ्रान्सिसको (U. S. A.) में गठित 'गदर दल' भी उन्हीं में से एक था। लाला हरदयाल ने उसे स्थापित किया। वहाँ उन्होंने 'गदर' नामक साप्ताहिकी को अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, मराठी और गुरुमुखी में चलाया तथा अमेरिका में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए सहानुभूति अर्जित करने में महत्वपूर्ण भाग लिया। परन्तु 1914 ई. में उसे अमेरिका छोड़ना पड़ा। बाद में रामचन्द्र ने इस दल का नेतृत्व किया। 1915 ई. में गदर पार्टी के भारतीय सदस्यों ने भारत पहुँचकर पंजाब में सशस्त्र विद्रोह का प्रयास किया। परन्तु सरकार को इसकी सूचना प्राप्त हो गयी थी। इस कारण उस प्रयत्न को असफल कर दिया गया। वी. डी. सावरकर ने ब्रिटेन से भारत में शस्त्र लाने का प्रयत्न किया परन्तु असफल हुआ। राजा महेन्द्रप्रताप ने भी विदेशी सहायता लेकर भारत को स्वतन्त्र कराने का प्रयत्न किया। 1915 ई. में एक भारत-जर्मन मिशन उनके नेतृत्व में अफगानिस्तान पहुँचा जहाँ उन्होंने 'आजाद हिन्दुस्तान सरकार' की स्थापना की और अफगानिस्तान की सहायता लेने का प्रयत्न किया। परन्तु यह प्रयत्न भी असफल रहा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भी क्रान्तिकारी अपनी कार्यवाइयाँ करते रहे परन्तु उनका प्रभाव महात्मा गांधी द्वारा आरम्भ किये गये सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के कारण भारतीय राजनीति में कम हो गया। सरकार ने भी कठोरता से उनको दबाने में सफलता पायी। बाद के क्रान्तिकारियों में सरदार भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, रामप्रसाद बिस्मिल और चन्द्रशेखर आजाद (जिन्होंने 1928 ई. में 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन' समुदाय की स्थापना की और जो 1931 ई. में इलाहाबाद में पुलिस से लड़ते हुए मारे गये) के नाम प्रमुख रहे। वे सभी शहीद हुए। 1929 ई. में सरदार भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त केन्द्रीय विधानसभा में बम फेंकने के अपराध में पकड़े गये। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को 'लाहौर षड्यन्त्र काण्ड' में सम्मिलित करके 1931 ई. में फाँसी की सजा दे दी गयी। पूर्वी बंगाल में 'चटगाँव आर्मरी रेड' नामक एक महत्वपूर्ण कार्य क्रान्तिकारियों ने सूर्यसेन के नेतृत्व में किया। उन्होंने चटगाँव के शस्त्रागार को लूटने में सफलता पायी यद्यपि बाद में क्रान्तिकारियों को घेर लिया गया और वे सभी मारे गये, जिनकी संख्या 57 थी। सूर्यसेन बाद में पकड़े गये और उन्हें फाँसी की सजा दी गयी। 'चटगाँव आर्मरी रेड' का क्रान्तिकारी घटनाओं में प्रमुख स्थान है। बंगाल के एक प्रमुख क्रान्तिकारी ज्योतिन्द्रनाथ मुकर्जी भी हुए जिन्होंने कलकत्ता की 'मैसर्स रांडा एण्ड कम्पनी' की 50 पिस्तौलों और 40,000 कारतूसों को चुराने में सफलता पायी। वे एक बाघ को मारने के कारण जतीन बाघा नाम से भी प्रसिद्ध हुए। 1915 ई. में वे एक पुलिस-मुठभेड़ में मारे गये। उसके पश्चात् 1942 ई. का 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन भी वस्तुतः हिंसात्मक और राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन था यद्यपि उसे किसी समुदाय ने संगठित नहीं किया था। इसके अतिरिक्त, द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर सुभाषचन्द्र बोस द्वारा 'आजाद हिन्द सेना' (I.N.A.) का निर्माण तो, निस्सन्देह, क्रान्तिकारी था। उसका उद्देश्य शक्ति द्वारा भारत को स्वतन्त्रता दिलाना थां। परन्तु वह प्रयत्न भी असफल हुआ। 1946 ई. में भारतीय नौ-सेना के विद्रोह को भी राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों के प्रयत्नों में सम्मिलित किया गया है। उसने भी भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति में सहायता दी यद्यपि वह भी शीघ्र समाप्त हो गया।

इस प्रकार भारत का क्रान्तिकारी आन्दोलन भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में असफल हुआ। इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता यह रही कि वह कभी लोकप्रिय जन-आन्दोलन न बन सका। लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इसने भारतीय जनमत को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। इन देशभक्तों का खून बेकार नहीं गया बल्कि इनके त्याग ने भारतीय नागरिकों को अदम्य उत्साह, कष्ट सहने का साहस और अंग्रेजी शासन के प्रति घृणा प्रदान की जिसकी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अत्यधिक आवश्यकता थी। इस दृष्टि से स्वतन्त्रता-प्राप्ति में उनका योगदान

महत्वपूर्ण रहा। इससे यह धारणा गलत सिद्ध होती है कि भारत का स्वतन्त्रता-आन्दोलन पूर्णतः अहिंसात्मक रहा था।

उग्र-दल और काँग्रेस का सूरत-विभाजन—काँग्रेस के अन्तर्गत ही एक गरम दल स्थापित हो गया था जो पूर्ण स्वराज्य की माँग के पक्ष में था। नरम दल और गरम दल के नेताओं के मतभेद बढ़ते जा रहे थे। 1909 ई. में सभापति दादाभाई नौरोजी की कुशलता के कारण उस वर्ष दोनों दलों में संघर्ष होने से रुक गया लेकिन 1907 ई. में सूरत-अधिवेशन के अवसर पर दोनों में झगड़ा हो गया। उसी वर्ष सभापति के पद के लिए रासबिहारी बोस चुने गये जबकि गरम दल वाले लाला लाजपतराय को जिन्होंने बाद में अपना नाम वापस ले लिया, सभापति बनाना चाहते थे। परन्तु मुख्य झगड़ा बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रश्न पर था जिन्हें काँग्रेस अपने कलकत्ता-अधिवेशन में स्वीकार कर चुकी थी। गरम दल के व्यक्ति इनके पक्ष में थे जबकि नरम दल के व्यक्ति इन्हें पुनः स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इसी कारण दोनों में खुला झगड़ा हो गया तथा तिलक और उनके साथी काँग्रेस से अलग कर दिये गये। काँग्रेस से अलग होकर भी तिलक का सम्मान पूर्ववत् रहा और वे निरन्तर अपने संघर्षज विचारों का प्रचार करते रहे। इसी कारण अपने समाचार-पत्र 'केसरी' में एक लेख लिखने के अपराध में उन्हें छह वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। 1909 ई. में मिण्टो- मोर्ले सुधारों की घोषणा की गयी और काँग्रेस ने जिस पर नरम दल का आधिपत्य था, इन सुधारों के प्रति अपनी सहमति प्रकट की तथा सरकार को सहयोग देने का निर्णय किया। इस समय तक गरम दल का प्रभाव काँग्रेस से लुप्त हो चुका था। तिलक को जेल भेज दिया गया था, बी.सी. पाल राजनीति से पृथक हो गये थे, 1910 ई. में अरविन्द घोष पाण्डिचेरी चले गये थे और 1914 ई. में लाजपतराय भी अमेरिका के दौरे पर जा चुके थे।

प्रथम महायुद्ध—कुछ वर्षों के उपरान्त यूरोप में प्रथम महायुद्ध (1914-18 ई.) आरम्भ हो गया और भारत को भी इंगलैण्ड की ओर से युद्ध में सम्मिलित कर दिया गया। काँग्रेस ने युद्ध के पश्चात् स्वशासन-प्राप्ति की आशा से सरकार को पूर्ण सहयोग दिया। परन्तु युद्ध के समय में भारत की राजनीति में कुछ महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। उनमें से प्रमुख थीं—1. स्वशासन (Home Rule) की माँग और उसके हेतु नवीन समुदायों का निर्माण तथा काँग्रेस पर गरम दल का बर्चस्व, और 2. लखनऊ समझौता।

स्वशासन की माँग (Home Rule)

1914 ई. में तिलक जेल से छूटकर वापस आ गये और उन्होंने 'होम-रूल लीग' की स्थापना की। इसी प्रकार श्रीमती ऐनी बेसेण्ट ने भी एक 'होल-रूल लीग' की स्थापना की। बाद में इन दोनों संस्थाओं को मिलाकर एक कर दिया गया। 1916 ई. में ऐनी बेसेण्ट के प्रयत्नों से काँग्रेस के दोनों दलों को मिलाने का प्रयत्न किया गया। उन्हें इस कार्य में सफलता प्राप्त हुई। उसी समय से काँग्रेस में गरम दल वालों का प्रभाव बढ़ता गया। 1917 ई. में जबकि श्रीमती ऐनी बेसेण्ट जेल में थीं, कलकत्ता में अपने वार्षिक अधिवेशन में उन्हें सभापति चुना गया और स्वशासन को उसने अपना लक्ष्य घोषित कर दिया। नरम दल वाले धीरे-धीरे समाप्त हो गये। उनमें से कुछ ने अन्त में 1918 ई. में एक अलग संस्था 'इण्डियन लिबरल फैडरेशन' स्थापित की लेकिन उसने भारतीय राजनीति को किसी भी रूप में प्रभावित नहीं किया। काँग्रेस पर पूर्णतः गरम दल का प्रभाव हो गया और स्वराज्य अर्थात् स्वशासन उसका लक्ष्य बन गया।

लखनऊ समझौता (1916 ई.)

1916 ई. में काँग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ एक समझौता किया जो लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) के नाम से विख्यात है। इसके अनुसार काँग्रेस ने लीग और उसके सभापति

मुहम्मदअली जिन्ना की अल्पसंख्यकों को उनकी जनसंख्या से अधिक अनुपात में व्यवस्थापिका-सभाओं में स्थान (Weightage) देने, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली को अपनाने और साम्प्रदायिक निषेधाधिकार (Communal Veto—अर्थात् यदि कोई प्रस्ताव किसी विशेष सम्प्रदाय पर प्रभाव डालता है तो उसे तब तक स्वीकार न किया जाय जब तक कि उस सम्प्रदाय की व्यवस्थापिका-सभा के सदस्य उसे स्वीकार न कर लें), आदि माँगों को स्वीकार कर लिया। उस अवसर पर तो यह समझौता हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए लाभदायक समझा गया परन्तु बाद की घटनाओं से स्पष्ट हुआ कि वह काँग्रेस की एक बड़ी राजनीतिक भूल थी। इससे मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिला।

मोण्टेग्यू की घोषणा—1917 ई. के युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी। इधर भारत में अंग्रेजी शासन के निरन्तर प्रयत्नों के बावजूद भी राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन समाप्त न हो सका। गरम दल और नरम दल के संयुक्त हो जाने के पश्चात् काँग्रेस की स्वशासन की माँग तथा काँग्रेस एवं मुस्लिम लीग में लखनऊ समझौता हो जाने से भी ब्रिटिश सरकार को अपनी नीति में परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव हुई। उस अवसर पर भारतीय नागरिकों को सन्तुष्ट रखना अत्यन्त आवश्यक समझा गया और इस आशय से भारत-मन्त्री मोण्टेग्यू ने ब्रिटिश संसद के निम्न सदन में घोषणा की कि **"सम्राट की सरकार की नीति है कि शासन के प्रत्येक भाग में भारतीयों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त किया जाय और भारत में ब्रिटिश स्वशासित संस्थाओं का क्रमिक विकास किया जाय।"** इस आधार पर 1919 ई. के सुधारों की योजना की नींव डाली गयी। प्रथम महायुद्ध 1919 ई. में समाप्त हुआ।

(स) आन्दोलन का तृतीय चरण (1919-1929 ई.)

काँग्रेस ने उस महायुद्ध में अंग्रेजी शासन के साथ पूर्ण सहयोग किया था और वह आशा करती थी कि युद्ध के पश्चात् भारत को भी वही राजनीतिक स्तर प्राप्त हो जायेगा जो ब्रिटेन के अधीन अन्य उपनिवेशों (Dominions) को प्राप्त था। परन्तु अंग्रेजी शासकों का विचार इससे भिन्न था। वे सुधार तो करना चाहते थे परन्तु साथ ही युद्धकाल में भारतीय राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों द्वारा की गयी कार्यवाइयों को भुलाने के लिए तत्पर न थे। इस कारण जहाँ 1919 ई. के सुधारों की योजना को कार्यरूप में परिणत किया गया वहीं उन्होंने एक अंग्रेज अधिकारी रौलट की अध्यक्षता में भारतीय क्रान्तिकारियों के दमन हेतु सुझाव देने के लिए एक समिति की नियुक्ति की और उसके आधार पर 1919 ई. में रौलट एक्ट का निर्माण किया। इस कानून के द्वारा न्यायाधीशों के एक बोर्ड की सिफारिश पर किसी भी व्यक्ति को सन्देहात्मक कार्यवाई के अपराध में पकड़ा जा सकता था और बिना न्यायालय में हाज़िर किये उसे सजा दी जा सकती थी। 1919 ई. के सुधार और रौलट-एक्ट साथ-साथ कार्य-रूप में परिणत किये गये।

प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन (मार्च-अप्रैल 1919 ई.) और अमृतसर-हत्याकाण्ड—रौलट एक्ट की स्वीकृति ने महात्मा गांधी को भारतीय राजनीति में आगे ला दिया। मोहनदास करमचन्द गांधी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 ई. को गुजरात में पोरबन्दर नामक स्थान पर एक सम्पन्न परिवार में हुआ। वह कानून की शिक्षा प्राप्त करने इंगलैण्ड गये। वापस आकर उन्होंने राजकोट और तत्पश्चात् बम्बई में वकालत आरम्भ की। 1893 ई. में वह बम्बई की एक फर्म के कार्य हेतु अफ्रीका में नैटाल गये। वहाँ भारतीयों की दुर्दशा और स्वयं के प्रति असम्मान ने उन्हें पीड़ित किया। वहीं पर उन्होंने दमनकारी सरकार का विरोध करने के लिए 'सत्याग्रह' अर्थात् 'सत्य के लिए आग्रह' का साधन अपनाया। उसके द्वारा वहाँ उन्हें आंशिक सफलता भी प्राप्त हुई। 1915 ई. में वह भारत वापस आ गये और उन्होंने साबरमती (अहमदाबाद) में एक आश्रम

स्थापित किया। 1917 ई. में बिहार में चम्पारन क्षेत्र के नील की खेती में कार्यरत किसानों ने अपनी सहायता के लिए गांधीजी को आमन्त्रित किया। वह वहाँ गये और सत्याग्रह के माध्यम से किसानों को कुछ सुविधाएँ दिलाने में सफल भी हुए। 1918 ई. में उन्होंने अहमदाबाद के मिल-मालिकों और मजदूरों के झगड़े में हस्तक्षेप किया। आमरण अनशन की धमकी देकर वह उनमें एक समझौता करा सके जिससे मजदूरों को कुछ लाभ हुआ। तत्पश्चात् गुजरात में खेड़ा के किसान-आन्दोलन में भी उन्होंने भाग लिया। वहाँ उनका साथ सरदार वल्लभभाई पटेल ने दिया। 1919 ई. में वह काँग्रेस के सदस्य बन गये। वे सत्य और अहिंसा के पुजारी थे तथा उनका विश्वास था कि केवल इन्हीं दो सिद्धान्तों का पालन करते हुए वे स्वराज्य प्राप्त कर सकते थे। महात्मा गांधी ने पहले ही घोषित कर दिया था कि अगर 'रौलट प्रस्ताव' कानून बनाया गया तो वे सत्याग्रह करेंगे। उसकी स्वीकृति से सम्पूर्ण भारत में असन्तोष फैल गया क्योंकि इससे भारतीयों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया गया था। 30 मार्च, 1919 ई. को भारत में सर्वत्र सत्याग्रह-दिवस मनाया गया। यह सत्याग्रह 18 अप्रैल तक चलता रहा। पंजाब और दिल्ली के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर सत्याग्रह शान्तिपूर्ण रहा क्योंकि इसके अन्तर्गत केवल शान्तिपूर्वक जुलूस निकालने और सार्वजनिक सभाएँ करके रौलट एक्ट के विरुद्ध असन्तोष व्यक्त करने का ही कार्यक्रम रखा गया था। परन्तु दिल्ली और अमृतसर में कुछ हिंसात्मक कार्य भी हुए। यह आन्दोलन सम्पूर्ण भारत में फैल गया। इसकी लोकप्रियता के कुछ कारण थे। युद्ध से भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त खराब हो गयी थी और कृषक, मजदूर एवं शिक्षित-वर्ग आदि सभी शासन से असन्तुष्ट थे। मुस्लिम-वर्ग खिलाफत के प्रश्न को लेकर अंग्रेजों के विरुद्ध था और हिन्दुओं के साथ सहयोग करने को तत्पर था। भारतीय सैनिक, जो युद्ध के पश्चात् नौकरियों से अलग कर दिये गये थे, शासन से असन्तुष्ट थे। इन परिस्थितियों में महात्मा गांधी का यह प्रथम सत्याग्रह-आन्दोलन बहुत लोकप्रिय हुआ। दिल्ली और मुख्यतः अमृतसर की घटनाओं ने राष्ट्रीय भावना को और अधिक प्रभावित किया। पंजाब में गवर्नर ओ'डायर ने डॉ. सत्यपाल और डॉ. किचलू नामक दो नेताओं को पकड़कर पंजाब से बहिष्कृत कर दिया। महात्मा गांधी भी दिल्ली जाते हुए रास्ते में रोक लिये गये और उन्हें बम्बई भेज दिया गया। इन घटनाओं ने भारतीयों को और अधिक उत्तेजित कर दिया। भारत के विभिन्न भागों में उपद्रव हो गये जिनका सरकार ने कठोरता से दमन किया। अमृतसर में एक अन्य भीषण घटना घटी। 13 अप्रैल, 1919 ई. को अमृतसर के जलियाँवाला बाग में तीन दिन पहले पुलिस द्वारा चलायी गयी गोलियों के विरोध में एक सार्वजनिक सभा की गयी जिसमें करीब 20,000 पुरुष, स्त्री और बच्चे सम्मिलित हुए। उसी अवसर पर गवर्नर ओ'डायर सैनिकों को लेकर वहाँ पहुँच गया और उसने बाग के दरवाजे को रोक दिया तथा बिना किसी चेतावनी के तब तक मशीनगनों और बन्दूकों से गोलियाँ चलवायीं जब तक कि वे समाप्त न हो गयीं। तत्पश्चात् वह मृतकों और घायलों को उसी स्थिति में छोड़कर वहाँ से चला गया। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार वहाँ 400 व्यक्ति मारे गये और करीब 2,000 व्यक्ति घायल हुए; वास्तविक संख्या तो उससे अधिक ही रही होगी। बाद में पंजाब में सैनिक कानून (Martial law) लागू कर दिया गया और नृशंसता का ताण्डव शुरू हुआ जिसमें सार्वजनिक स्थानों पर व्यक्तियों के कोड़े लगाये जाना, पेट के बल गलियों को पार करना और सन्देह में ही व्यक्तियों को कारागार में बन्द किया जाना आदि शामिल थे। सम्पूर्ण देश इन घटनाओं से आतंकित हो गया। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी और श्री शंकरराम नागर ने वायसराय की कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया। परन्तु 18 अप्रैल को गांधीजी ने सत्याग्रह को समाप्त घोषित कर दिया, जिसका कारण सत्याग्रहियों द्वारा कुछ स्थानों पर हिंसात्मक कार्य करना था। गांधीजी ने कहा कि ऐसे व्यक्तियों से सत्याग्रह आरम्भ कराकर, जो अहिंसा का पालन नहीं कर सकते थे, उन्होंने एक 'महान् भूल' की थी। सरकार ने प्रत्येक स्थान पर अपने अधिकारियों

का पक्ष लिया और अंग्रेज नागरिकों ने ओ'डायर को पुरस्कारस्वरूप धन अर्पित किया। इस प्रकार गांधीजी का सत्याग्रह-आन्दोलन असफल हुआ। 1919 ई. में काँग्रेस के अमृतसर-अधिवेशन में निर्णय लिया गया कि 1919 ई. के सुधारों में सरकार के साथ सहयोग किया जाय, यद्यपि यह कार्यरूप में सम्भव न हो सका।

खिलाफत-आन्दोलन—इसी वर्ष 1919 ई. में भारतीय मुसलमानों ने खिलाफत-आन्दोलन आरम्भ किया। युद्ध के पश्चात् टर्की के खलीफा के पद को अंग्रेजों द्वारा समाप्त किये जाने के कारण भारतीय मुसलमान उत्तेजित हो उठे। मौलाना मोहम्मदअली और मौलाना शौकतअली के नेतृत्व में भारत में एक आन्दोलन—खिलाफत-आन्दोलन—आरम्भ किया गया और अंग्रेजों से माँग की गयी कि वे मुसलमानों के धार्मिक प्रधान के कार्यों या उसकी स्थिति में कोई हस्तक्षेप न करें। 31 अगस्त, 1919 ई. को खिलाफत-दिवस मनाया गया। काँग्रेस ने भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने हेतु खिलाफत-आन्दोलन में सहयोग किया। इस आन्दोलन का प्रभाव खलीफा की स्थिति पर तो न पड़ा परन्तु इससे काँग्रेस को असहयोग-आन्दोलन में मुसलमानों का सहयोग अवश्य प्राप्त हुआ।

असहयोग-आन्दोलन (1920-1922 ई.)—महात्मा गांधी का यह निश्चय दिन-प्रतिदिन दृढ़ होता जा रहा था कि अंग्रेजों के साथ सहयोग करना निरर्थक है। इस कारण उन्होंने काँग्रेस से सरकार के प्रति असहयोग करने की आज्ञा चाही। काँग्रेस के 1919 ई. के कलकत्ता-अधिवेशन और 1920 ई. के नागपुर-अधिवेशन में महात्मा गांधी के इस प्रस्ताव को स्वीकृति प्राप्त हो गयी। खिलाफत-समिति ने भी असहयोग का निर्णय लिया। उसने भी काँग्रेस के आन्दोलन को समर्थन का आश्वासन दिया। इस कारण गांधीजी ने काँग्रेस और खिलाफत-समिति की माँगों को मिला दिया और सरकार से माँग की कि—

(1) सरकार अमृतसर-हत्याकाण्ड के लिए खेद प्रकट करे,

(2) टर्की के प्रति अपने व्यवहार को नम्र करे; और

(3) भारतीयों को सन्तुष्ट करने के लिए कोई नवीन योजना प्रस्तुत करे।

साथ ही उन्होंने चेतावनी दी कि यदि सरकार उपर्युक्त माँगों को स्वीकार नहीं करेगी तो वे असहयोग-आन्दोलन शुरू कर देंगे। सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया और अगस्त 1921 ई. में असहयोग-आन्दोलन (Non-Cooperation Movement) आरम्भ कर दिया गया। इसके अनुसार निम्नलिखित कार्यक्रम रखा गया :

(1) सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों का त्याग;

(2) सरकारी और अर्द्ध-सरकारी उत्सवों का बहिष्कार;

(3) सरकारी स्कूलों का बहिष्कार और राष्ट्रीय स्कूलों की स्थापना;

(4) अंग्रेजी न्यायालयों का बहिष्कार और झगड़ों का राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा निर्णय;

(5) सैनिकों, क्लर्कों और मजदूरों का मैसोपोटामिया कार्य करने के लिए न जाना;

(6) सरकार द्वारा आयोजित चुनावों में किसी रूप में भाग न लेना;

(7) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग।

सम्पूर्ण आन्दोलन अहिंसा पर आधारित था। असहयोग-आन्दोलन अत्यन्त तीव्रता से सम्पूर्ण भारत में फैल गया। सरकार ने दमन-नीति का आश्रय लिया और करीब 30,000 व्यक्ति जेल भेजे गये। नवीन सुधारों का श्रीगणेश करने हेतु भारत आये हुए इंगलैण्ड के

राजकुमार प्रिंस ऑफ वेल्स (Prince of Wales) का स्वागत शान्त शहरों ने किया और कर्मचारियों की हड़ताल के कारण अनेक विदेशी होटल तक बन्द रहे। सरकार ने समझौते का प्रयत्न किया परन्तु गांधीजी ने यह जानकर कि सरकार नागरिकों की इच्छा का सम्मान करने के लिए तत्पर नहीं है, समझौते को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने वायसराय लॉर्ड रीडिंग को 9 फरवरी, 1921 ई. को एक पत्र भेजकर चेतावनी दी कि यदि एक सप्ताह की अवधि में उनकी माँगों को स्वीकार न किया गया तो वह बारदोली से 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' आरम्भ कर देंगे। लेकिन उसी अवसर पर गोरखपुर जिले में चौरीचौरा नामक स्थान पर एक दुर्घटना हो गयी। वहाँ काँग्रेस का एक जुलूस अनियन्त्रित हो गया और भीड़ ने एक पुलिस थाने को आग लगा दी जिसके परिणामस्वरूप एक थानेदार और 21 सिपाही मारे गये। इस हिंसात्मक कार्य से दुःखी होकर महात्मा गांधी ने असहयोग-आन्दोलन को तुरन्त स्थगित कर दिया। इस प्रकार फरवरी 1922 ई. में यह आन्दोलन समाप्त हो गया।

यह आन्दोलन स्वराज्य-प्राप्ति में सफल न हो सका। टर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में एक क्रान्ति हुई जिसने सुल्तान को हटा दिया और खलीफा का पद स्वतः समाप्त हो गया। उससे खिलाफत-आन्दोलन का मुख्य मुद्दा ही समाप्त हो गया। हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने में भी यह आन्दोलन असफल रहा। इसके विपरीत, इससे साम्प्रदायिक भावना को बढ़ावा मिला और मुसलमानों को संगठित होने का अवसर मिला। परन्तु तब भी इस आन्दोलन का महत्व है। इसने काँग्रेस के आन्दोलन को जन-आन्दोलन का रूप प्रदान किया। इसी ने काँग्रेस के आन्दोलन को संवैधानिक पद्धति से अलग करके संघर्ष के पथ पर अग्रसर किया। इसी ने सर्वप्रथम बिखरी हुई राष्ट्रीय आशाओं को एकीकृत किया और जन-संगठन एवं जन-शक्ति को स्पष्ट किया। इस दृष्टिकोण से यह आन्दोलन सफल माना जा सकता है।

आन्दोलन की समाप्ति के तुरन्त पश्चात् गांधीजी को कैद कर लिया गया और उन्हें छह वर्ष का कारावास दिया गया, यद्यपि दो वर्ष बाद बीमारी के कारण उन्हें छोड़ दिया गया।

स्वराज्य-दल—असहयोग-आन्दोलन की समाप्ति के पश्चात् यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 1919 ई. के सुधारों के अन्तर्गत काँग्रेस को व्यवस्थापिका-सभाओं केचुनावों में भाग लेना चाहिए अथवा नहीं ? काँग्रेस का बहुमत कौंसिलों में प्रवेश करने के पक्ष में न था। परन्तु पण्डित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चित्तरंजनदास इस निर्णय के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि वे कौंसिलों में प्रवेश सरकार से सहयोग करने के लिए नहीं वरन् असहयोग को कौंसिलों तक ले जाने के लिए चाहते हैं। जब काँग्रेस इस तर्क से सहमत न हुई, तब उन्होंने एक नवीन दल—स्वराज्य-दल—की स्थापना कर ली और 1923 ई. के चुनावों में भाग लिया। महात्मा गांधी और काँग्रेस भी स्वराज्य-दल से सहमत हो गये और उन्होंने भी चुनाव में स्वराज्य-दल का समर्थन किया।

1923 ई. के चुनावों में स्वराज्य-दल ने आशा से अधिक सफलता प्राप्त की। केन्द्र की विधान-सभा की 148 सीटों में से उसने 48 सीटें प्राप्त कीं, मध्य-भारत में उसका बहुमत रहा, बंगाल में वह सबसे बड़ा दल रहा तथा बम्बई, उत्तर प्रदेश और असम में भी उसके सदस्य प्रायः बहुमत में रहे। पाँच वर्षों तक स्वराज्य-दल कौंसिलों में सक्रिय रहा। प्रारम्भ में उन्होंने सरकार से विरोध की नीति अपनायी और सरकारी प्रस्तावों का विरोध किया। निस्सन्देह, गवर्नर-जनरल और गवर्नर अपनी स्वेच्छा से कार्य कर सके परन्तु उसकी कार्यवाइयों ने मुख्यतः प्रान्तों में द्वैध-शासन के खोखलेपन को स्पष्ट किया। बाद के समय में उन्होंने विरोध की नीति को प्रभावहीन मानकर कुछ सीमा तक सरकार के साथ सहयोग आरम्भ कर दिया। 1925 ई. में उसके नेता चित्तरंजनदास की मृत्यु हो जाने से उसकी शक्ति और क्षीण हो गयी। 1926 ई. के चुनावों में उस दल को विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। उसका प्रभाव धीरे-धीरे नष्ट होने

लगा और उसके सदस्य पुनः कांग्रेस में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार स्वराज्य-दल का अस्तित्व समाप्त हो गया।

स्वराज्य-दल अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहा। उसका मुख्य उद्देश्य 'असहयोग' को कौंसिलों तक पहुँचाना था। परन्तु ऐसा करते हुए वह भारतीयों के लाभार्थ कोई महत्वपूर्ण कार्य न कर सका और बाद में उसे अपनी इस नीति को त्यागना पड़ा। परन्तु तब भी भारतीय राजनीति में उसका महत्व स्वीकार किया जाता है। उसने 'असहयोग आन्दोलन' की असफलता के बावजूद जन-जागृति को बनाये रखने में सहायता दी तथा द्वैध-शासन के दोषों को स्पष्ट किया। इसके अतिरिक्त 'गोलमेज परिषद्' की माँग, मुडीमैन-समिति की नियुक्ति और उसके दो वर्ष पश्चात् भारतीय विधान में परिवर्तन के लिए साइमन कमीशन की नियुक्ति उसी की माँगों का परिणाम थे।

साइमन कमीशन—1927 ई. में अंग्रेज सरकार ने नवीन सुधारों की रूपरेखा का निर्माण करने हेतु एक पूर्ण श्वेत सदस्यों के कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की जिसका अध्यक्ष सर जॉन साइमन (Sir John Simon) था। सम्पूर्ण भारत में उसके विरुद्ध प्रदर्शन किये गये क्योंकि उस कमीशन में एक भी सदस्य भारतीय नहीं था जो भारतीयों के लिए अपमानसूचक था। लाला लाजपतराय, पं. जवाहरलाल नेहरू, पं. गोविन्दवल्लभ पन्त को लाठियों की चोटें आयीं। उसी अवसर पर सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में बारदोली में किसान-सत्याग्रह आरम्भ किया गया, दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन किया गया और पं. मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में एक समिति की नियुक्ति की गयी जिसका कार्य भारत के लिए एक संविधान की रूपरेखा का निर्माण करना था।

नेहरू-समिति और स्वराज्य की घोषणा—नेहरू-समिति ने, जिसकी नियुक्ति दिल्ली के सर्वदलीय सम्मेलन में की गयी थी, एक संविधान का निर्माण किया। समिति की रिपोर्ट के आधार पर सुधारों की माँग बेकार समझी गयी और भारत के लिए डोमीनियन स्टेटस (ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहते हुए आन्तरिक स्वतन्त्रता) की माँग रखना उपयुक्त माना गया। सरकार से 31 दिसम्बर, 1929 ई. तक उस संविधान को स्वीकार करने की माँग की गयी और कहा गया कि यदि सरकार ने उसे अस्वीकार किया तो काँग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित कर देगी और उसकी प्राप्ति के लिए आन्दोलन शुरू करेगी। वायसराय लॉर्ड इर्विन ने उसके उत्तर में 'गोलमेज-परिषद्' का आयोजन करने और राजनीतिक बन्दियों को छोड़ देने का आश्वासन मात्र दिया जिससे काँग्रेस सन्तुष्ट न हुई। 31 दिसम्बर, 1929 ई. को लाहौर के अधिवेशन में काँग्रेस ने 'पूर्ण स्वराज्य' का प्रस्ताव स्वीकार किया और प्रत्येक 26 जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जाना निश्चित किया। 31 दिसम्बर, 1929 ई. की मध्य-रात्रि को रावी नदी के तट पर काँग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता का झण्डा फहरा दिया।

(द) आन्दोलन का चतुर्थ चरण

काँग्रेस के लाहौर-अधिवेशन के उपरान्त घटनाक्रम और अधिक तीव्र हो गया। महात्मा गांधी ने वायसराय को पत्र लिखकर ग्यारह माँगें प्रस्तुत कीं, जिन्हें स्वीकार न किये जाने पर उन्होंने 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' को आरम्भ करने का निश्चय किया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन (Civil Disobedience Movement)—गांधीजी ने वायसराय के सम्मुख निम्नलिखित माँगें प्रस्तुत कीं :

(1) मादक वस्तुओं का निषेध किया जाय;

(2) रुपये और स्टर्लिंग (ब्रिटेन की मुद्रा) के अनुपात में संशोधन किया जाय;

(3) लगान में कमी की जाय;

(4) नमक-कर समाप्त किया जाय;

(5) सैन्य-व्यय में कमी की जाय;

(6) शासन के व्यय में कमी की जाय;

(7) विदेशी कपड़े पर कर लगाया जाय;

(8) पोस्टल रिजर्वेशन प्रस्ताव (Postal Reservation Bill) को स्वीकार किया जाय;

(9) उन सभी राजनीतिक बन्दियों को छोड़ा जाय जिन पर हिंसात्मक कार्यों का आरोप न था;

(10) गुप्तचर विभाग समाप्त कर दिया जाय अथवा उस पर नागरिकों का अधिकार हो;

(11) स्वरक्षा के लिए हथियारों के लाइसेन्स दिये जायें।

वायसराय ने उपर्युक्त माँगों पर कोई विचार नहीं किया। इस कारण काँग्रेस कार्यकारिणी ने गांधीजी को 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' आरम्भ करने की आज्ञा प्रदान कर दी। 12 मार्च, 1930 ई. को गांधीजी ने अपने 78 समर्थकों के साथ डाँडी के लिए पदयात्रा आरम्भ कर दी और 24 दिन में 200 मील की यात्रा करके अप्रैल में डाँडी पहुँचकर स्वयं नमक तैयार किया। गांधीजी, सरदार पटेल, जवाहरलाल नेहरू आदि सभी नेता गिरफ्तार कर लिये गये। विभिन्न स्थानों पर भारतीयों ने नमक-कानून तोड़ा, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया और शराब की दुकानें बन्द करायीं। सरकार का भी दमन-चक्र आरम्भ हो गया और उस अवसर पर करीब एक लाख व्यक्तियों को कारावास दिया गया। इस आन्दोलन में खान अब्दुल गफ्फारखाँ और उनके समर्थक 'खुदाई खिदमतगार' सबसे आगे रहे। इस अवसर पर श्री तेजबहादुर सप्रू और डॉ. जयकर ने समझौता कराने का प्रयत्न किया। लेकिन यह सम्भव न हो सका क्योंकि सरकार बिना किसी शर्त के आन्दोलन की समाप्ति चाहती थी जिसके लिए काँग्रेस सहमत न हुई।

सरकार ने ब्रिटेन में 12 दिसम्बर, 1930 ई. को प्रथम गोलमेज-परिषद का आयोजन किया। लेकिन काँग्रेस ने उसमें भाग नहीं लिया। भारत में उसी प्रकार आन्दोलन और दमन-चक्र चलता रहा परन्तु 1931 ई. के आरम्भ में सरकार ने अचानक राजनीतिक कैदियों को छोड़ना शुरू कर दिया। इस बार फिर श्री तेजबहादुर सप्रू, डॉ. जयकर और भोपाल के नवाब ने समझौते का प्रयत्न किया और 1931 ई. में निम्नलिखित शर्तों पर गांधी-इर्विन समझौता (Gandhi-Irwin Pact) हो गया।

सरकार ने वायदा किया कि—

(1) हिंसात्मक कार्यों में लिप्त अपराधियों के अतिरिक्त अन्य सभी राजनीतिक कैदी रिहा कर दिये जायेंगे।

(2) अपहृत की गयी सम्पत्ति वापस कर दी जायेगी।

(3) समुद्र-तट की एक निश्चित सीमा के अन्तर्गत नमक तैयार करने की अनुमति दी जायेगी।

(4) मदिरा, अफीम और विदशी वस्तुओं की दुकानों के सम्मुख शान्तिपूर्ण विरोध-प्रदर्शन की आज्ञा दी जायेगी।

काँग्रेस की ओर से गांधीजी ने आश्वासन दिया कि—

(1) आन्दोलन स्थगित कर दिया जायेगा;

(2) पुलिस के अत्याचारों की जाँच की माँग नहीं की जायेगी; और

(3) काँग्रेस द्वितीय गोलमेज-परिषद में भाग लेगी।

इस समझौते के विषय में विरोधी मत प्रकट किये गये हैं। श्री के. एम. मुंशी के मतानुसार, "यह समझौता भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है।" फिशर ने लिखा : "एक राष्ट्र के नेता ने बराबरी के स्तर पर दूसरे राष्ट्र के नेता से वार्ता की और यह स्पष्ट हो गया कि इंगलैण्ड के द्वारा भारत पर गांधीजी की इच्छा के बिना या उसके विरुद्ध शासन नहीं किया जा सकता।" परन्तु इस समझौते के विरोध में श्री रजनी पामदत्त ने लिखा : "काँग्रेस की माँग पूर्ण न हुई, यहाँ तक कि नमक-कानून भी नहीं हटाया गया। सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और काँग्रेस ने उस गोलमेज-सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया जिसका बहिष्कार करने की उसने शपथ ली थी। स्वराज्य की दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया।"

उपर्युक्त समझौते के लगभग एक वर्ष बाद तक सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित रहा। परन्तु समझौते की सद्भावना उसी समय नष्ट हो गयी जब सरकार ने सरदार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को पंजाब विधान-सभा में बम फेंकने के अपराध में फाँसी की सजा दे दी। कुछ समय पश्चात् लॉर्ड इर्विन के स्थान पर लॉर्ड वैलिंगटन वायसराय बनकर भारत आया। 1931 ई. में गांधीजी काँग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि बनकर द्वितीय गोलमेज-परिषद में भाग लेने के लिए लन्दन गये। परन्तु वे वहाँ से निराश वापस आये। इस बीच में भारत में दमन-चक्र फिर से शुरू हो गया था। काँग्रेस ने पुनः आन्दोलन आरम्भ कर दिया। इस अवसर पर शासन ने पहले से अधिक कठोरता से कार्य किया। 1931 ई. लन्दन में तृतीय गोलमेज-परिषद हुई परन्तु उसमें काँग्रेस ने भाग नहीं लिया। भारत में काँग्रेस अवैध घोषित कर दी गयी।

साम्प्रदायिक निर्णय (Communal Award)— उसी अवसर पर ब्रिटेन के प्रधान-मन्त्री मैक्डोनल ने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की जिसके द्वारा अस्पृश्य जातियों को हिन्दुओं से पृथक प्रतिनिधित्व दिया गया। गांधीजी ने इसके विरोध में आमरण अनशन कर दिया। अन्त में, डॉ. अम्बेडकर तथा अन्य हिन्दू नेताओं के प्रयत्नों से सवर्ण हिन्दुओं और अछूतों में एक समझौता हुआ जिसके द्वारा व्यवस्थापिका-सभाओं में अछूतों के लिए स्थान हिन्दुओं के अन्तर्गत ही सुरक्षित रखे गये। सरकार से इस समझौते को स्वीकार कर लेने की माँग की गयी। सरकार द्वारा इसे स्वीकार कर लिये जाने पर गांधीजी ने अनशन तोड़ दिया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने आत्मशुद्धि के लिए पुनः इक्कीस दिन का उपवास किया। स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण वह जेल से छोड़ दिये गये और सविनय अवज्ञा आन्दोलन भी छह माह के लिए स्थगित कर दिया गया। लेकिन बाद में आन्दोलन पुनः आरम्भ हो गया, जो 1934 ई. तक चलता रहा।

1935 ई. का कानून और कौंसिल-प्रवेश—1935 ई. के कानून द्वारा भारत में प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना की गयी और सरकार के इस आश्वासन पर कि गवर्नर दिन-प्रतिदिन के शासन में भारतीय मन्त्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, काँग्रेस ने चुनावों में भाग लिया। छह प्रान्तों में काँग्रेस ने मन्त्रिमण्डलों का निर्माण किया। काँग्रेस ने मुस्लिम लीग के समक्ष प्रस्ताव रखा कि यदि वह विधान-सभाओं में अपने पृथक अस्तित्व की माँग को त्याग दे तो वह अपने बहुमत-प्राप्त प्रान्तों में भी मुस्लिम लीग के सदस्यों को अपने मन्त्रिमण्डलों में सम्मिलित कर लेगी। परन्तु मुस्लिम लीग इसके लिए तत्पर न हुई। इसके पश्चात् काँग्रेस ने अपना 'जन-सम्पर्क' कार्यक्रम आरम्भ किया जिसका लक्ष्य मुसलमानों में काँग्रेस की

लोकप्रियता को बढ़ाना था। इसके अतिरिक्त, मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के पश्चात् काँग्रेस ने अपने प्रान्तों में राजनीतिक बन्दियों को जेल से मुक्त किया, हरिजन-उद्धार और नशाबन्दी का प्रयत्न किया तथा प्रारम्भिक शिक्षा को सभी प्रान्तों में प्रमुखता दी। इस प्रकार, काँग्रेस द्वारा बहुमत-प्राप्त प्रान्तों में सार्वजनिक हित और निर्माण के कार्य आरम्भ किये गये।

1939 ई. में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया और अंग्रेज सरकार ने बिना भारतीय मन्त्रियों की सलाह लिये ब्रिटेन की ओर से भारत को युद्ध में सम्मिलित कर दिया। सरकार ने काँग्रेस का समर्थन प्राप्त करने के प्रयत्न किये और वायसराय ने गांधीजी से शिमला में बातचीत की। गांधीजी ने ब्रिटेन के प्रति अपनी व्यक्तिगत सहानुभूति तो प्रकट की परन्तु युद्ध में सरकार के साथ सहयोग करने के निर्णय को काँग्रेस की कार्य-समिति के अधीन बताया। काँग्रेस कार्य-समिति ने सरकार से युद्ध के उद्देश्यों को स्पष्ट करने की माँग की। वायसराय लिनलिथगो ने कोई स्पष्टीकरण न देकर केवल एक घोषणा की कि अंग्रेजी सरकार युद्ध के पश्चात् सभी राजनीतिक दलों और देशी नरेशों के परामर्श से 1935 ई. के कानून में परिवर्तन करने का प्रयत्न करेगी। इससे असन्तुष्ट होकर 1939 ई. के अन्तिम दिनों में काँग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया।

(इ) आन्दोलन का अन्तिम चरण और स्वतन्त्रता की प्राप्ति (1939-1947 ई.)

युद्ध के समय काँग्रेस ने पुनः अंग्रेज सरकार के साथ सहयोग करने का वायदा किया परन्तु सरकार से आश्वासन माँगा कि युद्ध के तत्काल बाद भारत को स्वतन्त्र कर दिया जायेगा और उस अवसर पर केन्द्र में एक अस्थायी सरकार की स्थापना कर दी जायेगी। लेकिन काँग्रेस की यह माँग ठुकरा दी गयी। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने घोषणा की कि वह अंग्रेजी साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने के लिए ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री नहीं बना है। परन्तु 8 अगस्त, 1940 ई. को वायसराय लिनलिथगो ने एक घोषणा (August Offer) की जिसमें निम्नलिखित बातें थीं :

(1) अल्पसंख्यकों को आश्वासन दिया गया कि अंग्रेज किसी ऐसी संस्था को शासन नहीं सौंपेगे जिसके विपक्ष में सुदृढ़ मत होगा;

(2) संविधान बनाने के भारतीयों के अधिकार को स्वीकार कर लिया गया;

(3) युद्ध के बाद एक संविधान-सभा के निर्माण का आश्वासन दिया गया;

(4) एक युद्ध-सलाहकार समिति स्थापित की जायेगी जिसमें भारतीय भी होंगे;

(5) भारतीय उक्त आधारों पर सरकार को युद्ध में सहयोग देंगे।

काँग्रेस ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और व्यक्तिगत सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। आचार्य विनोबा भावे प्रथम सत्याग्रही थे जिन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया गया। इसके पश्चात् सत्याग्रह फैलता गया। केवल उत्तर प्रदेश में ही 20,000 व्यक्ति गिरफ्तार किये गये, परन्तु गांधीजी उस समय तक जेल से बाहर थे।

1940 ई. में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की माँग प्रस्तुत की। 1909 ई. में पृथक प्रतिनिधित्व की प्राप्ति तथा काँग्रेस की नम्रता और अंग्रेजों का प्रोत्साहन प्राप्त करके मुस्लिम साम्प्रदायिकता तीव्रतर होती जा रही थी। नवाब सलीमउल्ला ने 1906 ई. में लीग की स्थापना की थी और ब्रिटेन में शिक्षा प्राप्त करने हेतु गये एक साधारण विद्यार्थी के मस्तिष्क में उत्पन्न पाकिस्तान की माँग धीरे-धीरे मुस्लिम लीग का प्रमुख लक्ष्य बन गयी थी।

जापान के युद्ध में सम्मिलित हो जाने से 1941 ई. में युद्ध में अंग्रेजों की स्थिति खराब हो गयी। सरकार ने अचानक सत्याग्रहियों को छोड़ना आरम्भ कर दिया और काँग्रेस ने उस

अवसर पर सत्याग्रह स्थगित कर दिया। उस अवसर पर सर स्टेफर्ड क्रिप्स को समझौता करने के लिए भारत भेजा गया।

क्रिप्स-मिशन (Cripps' Mission)—अप्रैल 1942 ई. में क्रिप्स-मिशन भारत आया और भारतीय नेताओं से बातचीत करके उसने समझौते के लिए निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किये :

1. ब्रिटिश-राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य दिया जाय। भारत को राष्ट्रमण्डल से पृथक् होने का भी अधिकार दिया जाय।

2. युद्ध के पश्चात् राज्य के विधान-मण्डलों के निम्न सदनों द्वारा आनुपातिक प्रणाली के आधार पर एक संविधान-सभा का निर्माण किया जाय। उस सभा में भारतीय नरेश भी अपने प्रतिनिधि भेजें। इस संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान को अंग्रेज सरकार द्वारा निम्न-लिखित शर्तों पर स्वीकार किया जायेगा :

(i) जो प्रान्त उसे स्वीकार न करे, वह अपनी यथावत् स्थिति में रह सकता था।

(ii) संविधान-सभा और ब्रिटिश सरकार में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा हेतु एक सन्धि की जायेगी।

(iii) जब तक संविधान-सभा का निर्माण न हो, अंग्रेज ही भारत की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होंगे।

कुछ विद्वानों के अनुसार क्रिप्स-योजना अगस्त-योजना से अधिक प्रगतिशील थी। परन्तु गांधीजी के शब्दों में, "यह एक आगे की तारीख का चैक था जिसका बैंक दिवालिया होने वाला था" (It was a post-dated cheque on a crashing bank)। द्वितीय, यह अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग को स्वीकार करती थी ; और तृतीय, भारत की रक्षा की व्यवस्था काँग्रेस के अनुकूल न थी। इस कारण काँग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग ने भी इसे मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि इसमें पाकिस्तान की माँग को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया गया था।

क्रिप्स-मिशन के असफल हो जाने पर भारतीयों में यह भावना उत्पन्न हुई कि अंग्रेज उन्हें जापानियों से अपने देश को बचाने का भी अवसर प्रदान नहीं करेंगे। इस कारण भारत में संघर्ष की भावना पुनः बलवती हो उठी।

'भारत-छोड़ो' आन्दोलन ('Quit-India' Movement)—8 अगस्त, 1942 ई. को काँग्रेस कार्य-समिति ने 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव स्वीकार किया। काँग्रेस का आशय इसके लिए आन्दोलन शुरू करने का था। परन्तु उससे पूर्व ही अंग्रेजी सरकार का दमन-चक्र आरम्भ हो गया। 9 अगस्त को प्रातःकाल समस्त नेता गिरफ्तार कर लिये गये। इसके विरोध में सम्पूर्ण भारत जाग उठा और अनेक स्थानों पर जुलूस, हड़ताल और सार्वजनिक सभाओं के अतिरिक्त हिंसात्मक कार्रवाइयाँ भी हुईं। विद्यार्थियों ने इस आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। किसानों तथा निम्न मध्यम-वर्ग ने भी इसमें सहयोग दिया। जयप्रकाश नारायण, डॉ. राममनोहर लोहिया और श्रीमती अरुणा आसफअली ने भूमिगत होकर इस आन्दोलन का संचालन किया। अनेक स्थानों पर रेल की पटरियाँ उखाड़ी गयीं, विद्युत तार और टेलीफोन के तार काटे गये और सरकारी अधिकारियों पर आक्रमण किये गये। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार 250 स्टेशन और 500 डाकघर जलाये गये। बिहार, बलिया, बस्ती, सूरत आदि स्थानों पर अंग्रेजी शासन प्रायः समाप्त हो गया। गांधीजी ने इन हिंसात्मक कार्यों की कोई जिम्मेदारी स्वीकार नहीं की तथा अपनी व काँग्रेस की स्थिति को स्पष्ट करने हेतु इक्कीस दिन का उपवास किया।

साम्यवादियों ने इस अवसर पर काँग्रेस से 'भारत-छोड़ो आन्दोलन' को वापस लेनें की माँग की। उन्होंने मुस्लिम लीग के साथ समझौता करके पाकिस्तान की माँग को स्वीकार कर लेने की माँग की। बिना किसी नेतृत्व के यह आन्दोलन तीन सप्ताह तक चलता रहा। सरकारी अधिकारियों ने इस आन्दोलन के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी अत्याचार किये। इस आन्दोलन ने भारतीयों के उत्साह और साहस को प्रकट किया। यह कहना भूल होगी कि 1942 ई. का यह आन्दोलन प्रभावहीन रहा। यह आन्दोलन भारतीय राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन का भाग बन गया। निस्सन्देह यह असफल रहा परन्तु इस प्रकार तो गांधीजी के नेतृत्व में लड़ा गया अहिंसात्मक आन्दोलन भी असफल हुआ था। भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में उस समय दोनों ही प्रकार केआन्दोलन असफल रहे थे, यद्यपि अपने-अपने तरीके से दोनों का ही महत्व था। वस्तुतः देखा जाय तो 1942 ई. के इस आन्दोलन ने भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम को गम्भीर रूप प्रदान किया। यथार्थ में यह संग्राम का प्रारम्भ था यद्यपि संग्राम का स्थान बदल गया। वह स्थल भारत की सीमाओं के बाहर हो गया और उसका प्रमाण सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द फौज का भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष था।

आजाद हिन्द फौज (I. N. A.)—सुभाषचन्द्र बोस दो बार अखिल भारतीय काँग्रेस के सभापति चुने गये। परन्तु नीति के आधार पर गांधीजी से उनका मतभेद था। अन्त में, उन्होंने काँग्रेस छोड़ दी और एक नवीन समुदाय 'फॉरवर्ड ब्लॉक' (Forward Bloc) की स्थापना की। सरकार उन पर क्रान्तिकारी कार्यवाइयों में लिप्त रहने का सन्देह करती थी। इस कारण 1940 ई. में उन्हें जेल भेजा गया। बाद में स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण उन्हें जेल से मुक्त करके उनके घर में नजरबन्द कर दिया गया। 1941 ई. में वह छुपकर भारत से बाहर जाने में सफल हो गये। अफगानिस्तान और रूस होते हुए वे जर्मनी पहुँचे जहाँ हिटलर ने उन्हें भारतीय युद्ध-बन्दियों की एक सेना का गठन करकेब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध करने की सुविधा प्रदान की। इसी समय पर जापान ने सिंगापुर को जीत लिया और उसने भी अपने द्वारा पकड़े गये भारतीय युद्धबन्दियों को वैसी ही सुविधा प्रदान की। उन सैनिक युद्धबन्दियों की सहायता से एक भारतीय सैनिक अधिकारी मोहनसिंह ने 'आजाद हिन्द फौज' का गठन किया। रासबिहारी बोस द्वारा संगठित 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' ने इसका समर्थन किया। इस प्रकार सैनिक और दक्षिण-पूर्वी एशिया में निवास करने वाले भारतीय नागरिकों की सहायता और सहयोग से 1942 ई. में 'आजाद हिन्द फौज' का गठन हुआ। सुभाषचन्द्र बोस को उस अवसर पर दक्षिण-पूर्व में बुलाया गया। वे वहाँ गये और उन्हें 'आजाद हिन्द फौज' का मुख्य सेनापति बना दिया गया। उस सेना की संख्या 50 हजार से भी अधिक हो गयी। उस सेना ने जापानी सेना के साथ सहयोग किया और असम में इम्फाल तक पहुँच गयी। इसके पश्चात् उसे पीछे हटना पड़ा तथा 1945 ई. में जापान के आत्मसमर्पण के पश्चात् उसे भी आत्मसमर्पण करना पड़ा। उसके सैनिक और अधिकारी भारत लाये गये तथा उनके मुख्य अधिकारी शाहनवाज खाँ, गुरुदयाल सिंह ढिल्लो, लक्ष्मीबाई आदि सभी पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमा चलाया गया। सभाषचन्द्र बोस पकड़े नहीं गये । विश्वास किया जाता है कि जब वह हवाई जहाज से टोकियो जा रहे थे तब हवाई जहाज में आग लग जाने से उनकी मृत्यु हो गयी।

'आजाद हिन्द फौज' का भारतीय स्वतन्त्रता के लिए किया गया प्रयत्न भी असफल हुआ। परन्तु उसका प्रयत्न पूर्णतः बेकार नहीं गया। उसके अधिकारियों के मुकदमे में भारतीय जनता इतनी सक्रिय और भावुक हो गयी थी कि सरकार उनको मृत्युदण्ड देकर भी उस दण्ड को कार्यरूप में परिणत न कर सकी। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारत में जो तीव्र जन-आन्दोलन फैला तथा जिसका प्रभाव भारतीय वायुसेना तथा जल-सेना पर भी आया, उसके निर्माण में आजाद हिन्द फौज का बहुत बड़ा भाग रहा। निस्सन्देह, इस दृष्टि से उसने भी भारत की स्वतन्त्रता में अपना योगदान दिया।

राजगोपालाचार्य फार्मूला और देसाई-लियाकतअली समझौता—23 मार्च, 1943 ई. के दिन मुस्लिम लीग ने 'पाकिस्तान दिवस' मनाया। उसने घोषित किया कि भारतीय मुसलमानों का अन्तिम उद्देश्य पाकिस्तान का निर्माण करना है। उस समय तक यह स्पष्ट हो गया था कि काँग्रेस और मुस्लिम लीग में किसी न किसी प्रकार का समझौता होना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए गांधीजी की सम्मति से चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने एक फार्मूला (दस्तावेज) तैयार किया। उसके अनुसार काँग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौते के लिए निम्नलिखित शर्तें रखी गयीं :

(1) मुस्लिम लीग को काँग्रेस की भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दिये जाने की माँग का समर्थन करना चाहिए;

(2) युद्ध के पश्चात् जनमत द्वारा मुस्लिम-बहुल क्षेत्रों के नागरिक यह निश्चय करें कि क्या वे एक प्रथक राज्य चाहते हैं ;

(3) यदि दो राज्यों के निर्माण का निश्चय हो जाय तो दोनों राज्यों को रक्षा, यातायात आदि जैसे समान हितों के सम्बन्ध में एक समझौता कर लेना चाहिए; और

(4) यह योजना उस समय कार्यरूप में परिणित की जायेगी जब भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायेगी।

गांधीजी ने उपर्युक्त शर्तों पर मुहम्मदअली जिन्ना से बातचीत की, परन्तु मुस्लिम लीग ने इस फार्मूला को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

काँग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता कराने का एक प्रयत्न केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा के सदस्य भूलाभाई देसाई के द्वारा भी किया गया। उसने सभा में मुस्लिम लीग के उप-नेता लियाकतअली से भेंट की और प्रस्ताव रखा कि केन्द्र पर एक अन्तरिम-सरकार की स्थापना की जाय जिसमें सेना और अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि तथा मुस्लिम लीग और काँग्रेस के प्रतिनिधि बराबर की संख्या में हों। मुस्लिम लीग ने दोनों नेताओं द्वारा स्वीकृत इस प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं किया।

वैवेल-योजना और शिमला-सम्मेलन—1943 ई. में लॉर्ड वैवेल (Lord Wavell) वायसराय बनकर भारत आया। 1944 ई. में गांधीजी और उसके पश्चात् अन्य भारतीय नेता भी जेल से छोड़ दिये गये। उस अवसर पर युद्ध में अंग्रेजों की स्थिति अधिक खराब हो गयी थी। सुभाषचन्द्र बोस के नेतृत्व में आजाद हिन्द फौज (I. N. A.) कोहिमा तक आ पहुँची थी। 1945 ई. में वैवेल-योजना प्रस्तुत की गयी और शिमला में सभी भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन किया गया। एक अस्थायी भारतीय मन्त्रिमण्डल की स्थापना का प्रस्ताव किया गया जिसमें काँग्रेस और मुस्लिम लीग के बराबर-बराबर सदस्य हों और विदेश-वार्ता को छोड़कर सभी विषय उसके अधिकार में हों। परन्तु यह योजना भी असफल हुई क्योंकि मि. जिन्ना ने मौलाना अबुलकलाम आजाद का काँग्रेस के सदस्य के रूप में मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किया जाना स्वीकार नहीं किया।

शिमला-सम्मेलन की असफलता के उपरान्त सम्पूर्ण भारत में चुनाव हुए। काँग्रेस ने सभी गैर-मुस्लिम सीटों पर और लीग ने सभी मुस्लिम सीटों पर अधिकार किया। केवल उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में मुस्लिम सीटें भी काँग्रेस को प्राप्त हुई। काँग्रेस और लीग ने अपने-अपने बहुमत वाले प्रान्तों में मन्त्रिमण्डलों का गठन किया। लॉर्ड वैवेल ने घोषणा की कि चुनावों के पश्चात् संविधान-सभा का निर्माण किया जायेगा और केन्द्रीय कार्यकारिणी का संगठन दुबारा होगा। उसी अवसर पर कैबिनेट-मिशन के भारत आने की घोषणा की गयी। परन्तु कैबिनेट-मिशन के भारत पहुँचने से पहले भारत में कुछ ऐसी घटनाएँ घटीं जिन्होंने

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को अत्यधिक तीव्र कर दिया। उनमें से एक था नौ-सेना का विद्रोह।

नौ-सेना का विद्रोह—भारतीय नौ-सेना का विद्रोह उस भारतीय जन-आन्दोलन का ही एक भाग था जो भारत के कोने-कोने में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् फैल गया था। 18 फरवरी, 1946 ई. को 'तलवार' जहाज के नाविकों ने अंग्रेजों के जाति-व्यवहार और खराब भोजन दिये जाने के विरोध में भूख-हड़ताल की। अगले दिन बम्बई बन्दरगाह के 22 जहाजों और स्थलीय नौ-सेना की कुछ बैरकों में भी यह हड़ताल फैल गयी। हड़तालियों ने मि. एम. एस. खान के नेतृत्व में एक हड़ताल समिति का गठन किया और माँग की कि भारतीय नौ-सैनिकों को अच्छा भोजन दिया जाये, उनकी तनख्वाहें अंग्रेज सैनिकों के समान हों, आजाद हिन्द फौज के सैनिक व अफसर और सभी राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये जायें तथा भारतीय सैनिकों को इण्डोनेशिया से वापस बुलाया जाये। इस प्रकार उनकी माँगों में वे माँगें भी सम्मिलित थीं जिनकी माँग उस समय राष्ट्रीय नेता भी कर रहे थे। हड़तालियों को शक्ति से दबाने का प्रयत्न किया गया जिसके कारण कुछ हिंसा भी हुई। इसके परिणामस्वरूप यह विद्रोह अन्य बन्दरगाहों और कुछ समुद्री जहाजों में भी फैल गया। इस प्रकार, इस विद्रोह में प्रायः 78 जहाज, नौ-सेना की 20 स्थलीय छावनियाँ और 20,000 नौ-सेना के व्यक्ति सम्मिलित हो गये। बम्बई के नागरिकों ने हड़ताली सैनिकों का समर्थन किया और उन्हें वस्त्र तथा भोजन पहुँचाया। 22 फरवरी को बम्बई की प्रायः सभी मिलें बन्द हो गयीं और मजदूर तथा नागरिक सड़क पर निकल आये। पुलिस और नागरिकों में दो दिन संघर्ष हुआ। बम्बई शहर में शान्ति स्थापित करने के लिए सैनिकों की दो बटालियनों की सहायता ली गयी। नौ-सेना के विद्रोही सैनिकों ने भी अंग्रेज सैनिकों से सात घण्टे युद्ध किया। बाद में, सभी प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं ने विद्रोही सैनिकों से विद्रोह को समाप्त कर देने की माँग की। तब नौ-सेना के सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। आजाद हिन्द फौज के निर्माण से अंग्रेजों का विश्वास भारतीय स्थल-सेना से उठ गया था। नौ-सेना के इस विद्रोह ने उनकी आशंका में वृद्धि की। उन्हें यह भय हुआ कि अब वे भारतीय नौ-सैनिकों पर भी विश्वास नहीं कर सकते थे।

जन-आन्दोलन (1945-46)—1945-46 ई. का वर्ष राष्ट्रीय आन्दोलन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जबकि भारत के राष्ट्रीय नेता अंग्रेज सरकार से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए वार्तालाप में लिप्त थे, भारतीय नागरिक बिना किसी नेतृत्व के अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध अपना असन्तोष प्रकट कर रहे थे। उस समय विभिन्न प्रश्नों पर जन-समुदाय अथवा उसके संगठित विभिन्न वर्गों ने विभिन्न प्रबल आन्दोलन किये और एक ऐसे संघर्ष को जन्म दिया जिससे अंग्रेजों को विश्वास हो गया कि वे शक्ति के द्वारा भारत को और अधिक समय अपने अधिकार में नहीं रख सकते थे। इन जन-आन्दोलनों का आरम्भ हुआ सरकार द्वारा आजाद हिन्द फौज के सैनिकों और अधिकारियों पर मुकदमा चलाने से। आजाद हिन्द फौज़ के अधिकारियों पर दिल्ली के लाल किले में मुकदमा चलाया गया। भारतीयों ने इसका विरोध किया। सम्पूर्ण भारत में उनको छोड़ दिये जाने की माँग की गयी और इस पक्ष में सार्वजनिक जुलूस, प्रदर्शन और सभाएँ की गयीं। यह मुकदमा अंग्रेज सरकार और भारतीय जनता के मध्य एक निर्णयात्मक युद्ध बन गया। सैनिक अदालत ने उन अधिकारियों को दोषी घोषित किया, परन्तु सरकार को जन-आक्रोश के सम्मुख झुकना पड़ा और वे अधिकारी छोड़ दिये गये। यह ब्रिटिश सरकार की पराजय थी जिसने अन्ततोगत्वा उसे भारत छोड़ने पर विवश कर दिया। 1946 ई. में नौ-सेना का विद्रोह हुआ, भारतीय वायु-सेना ने असन्तोष व्यक्त किया, जबलपुर में स्थित 'इण्डियन सिगनल कोर' ने हड़ताल की और भारतीय पुलिस ने दिल्ली

और बिहार में हड़ताल करके विदेशी सरकार की सेवा करने से अनिच्छा प्रकट की। इस प्रकार, अंग्रेज सरकार की सत्ता के दो प्रमुख स्तम्भ—सेना और पुलिस—नष्ट हो गये क्योंकि दोनों पर ही सरकार अब विश्वास नहीं कर सकती थी।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत में अन्य विभिन्न जन-आन्दोलन हुए; यहाँ तक कि भारतीय नरेशों के राज्यों में भी जन-आन्दोलन हुए। हैदराबाद, कश्मीर और ट्रावनकोर राज्यों में बहुत बड़ी संख्या में सार्वजनिक सभाएँ, जुलूस, हड़तालें आदि की गयीं। आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों को छोड़ देने की माँग और भारतीय नौ-सेना की सहानुभूति में हुए विरोध और जन-आन्दोलनों के अतिरिक्त पहली बार असैनिक सरकारी सेवाओं में भी असन्तोष प्रकट हुआ। 1946 ई. में डाक और तार कर्मचारियों ने अखिल भारतीय हड़ताल की और दक्षिण-भारत में रेल के कर्मचारियों ने। किसानों ने भी स्थान-स्थान पर अपना असन्तोष प्रकट किया। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, महाराष्ट्र, मलाबार और हैदराबाद राज्य में किसानों ने बढ़ते हुए लगान के विरुद्ध प्रदर्शन किये और अनेक अवसरों पर हिंसात्मक संघर्ष की स्थिति बन गयी। भारतीय विद्यार्थी भी इन आन्दोलन से अलग न रहे। उन्होंने स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय नेताओं की माँग की पूर्ति के लिए जुलूस, सभाएँ और हड़तालें कीं। ऐसा प्रतीत हुआ कि भारत का युवा-आन्दोलन पुनः क्रान्तिकारी बन जायेगा। इन आन्दोलनों का कारण अनेक स्थानों पर आर्थिक था। परन्तु यह भी स्पष्ट था कि सभी के पीछे राष्ट्रीय आक्रोश था। भारतीय जनसाधारण यह निश्चय कर चुका था कि यदि इस बार सरकार ने राष्ट्रीय नेताओं से कोई समझौता न किया तो वह निश्चय ही उससे संघर्ष करेगा। राष्ट्रीय नेताओं द्वारा बिना किसी आन्दोलन का आह्वान किये भारतीय जन-साधारण के संघर्ष का यह दृष्टिकोण सर्वथा नवीन था। इस कारण, भारत के इस समय के जनसाधारण के आन्दोलनों ने भारत की स्वतन्त्रता को निकट लाने में अति महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

कैबिनेट-मिशन योजना (Cabinet Mission Plan)—1946 ई. में कैबिनेट-मिशन भारत आया। उस समय युद्ध के पश्चात् ब्रिटेन में मि. एटली के नेतृत्व में मजदूर-दल की सरकार स्थापित हो चुकी थी। भारत में जल-सेना पर अंग्रेजों का विश्वास नहीं रह गया था और स्वयं ब्रिटेन भी संसार की तीसरी शक्ति बन गया था। इस कारण भारत में समझौते की आवश्यकता अनुभव की गयी। कैबिनेट-मिशन ने विभिन्न राजनीतिक दलों से वार्तालाप करके निम्नलिखित सुझाव रखे :

1. भारत में एक संघ-राज्य की स्थापना की जाय जिसमें देशी नरेशों के राज्य भी सम्मिलित हों। यातायात, विदेश-वार्ता और रक्षा उसके हाथों में हो।
2. साम्प्रदायिक प्रश्न उस सम्प्रदाय के सदस्यों द्वारा ही निर्धारित किया जाये।
3. शेष सभी शक्तियाँ प्रान्तों के हाथों में हों।
4. प्रान्त आपस में मिलकर गुट बना सकते थे।
5. योजना में संविधान-सभा के सदस्यों की संख्या और निर्वाचन का तरीका भी निर्धारित किया गया था। संविधान-सभा को तीन भागों में विभक्त किया गया था।
6. एक अन्तरिम-सरकार का गठन किया जाय जिसमें सभी राजनीतिक दलों के सदस्य हों।
7. संविधान-सभा ब्रिटेन से एक सन्धि करेगी।

उपर्युक्त योजना की विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा विभिन्न प्रकार से आलोचना की गयी परन्तु अन्त में सभी राजनीतिक दलों ने इसे स्वीकार कर लिया। इस आधार पर संविधान-सभा के चुनाव हुए। काँग्रेस ने 199 सीटें और मुस्लिम लीग ने 73 सीटें प्राप्त कीं। काँग्रेस ने इस सभा को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न मांना जबकि मुस्लिम लीग ने उसे ऐसा मानने से इन्कार कर दिया।

माउण्टबेटन-योजना, भारत का विभाजन और 1947 ई. का स्वतन्त्रता अधिनियम—इस प्रकार जब संविधान-सभा के गठन के प्रश्न को लेकर काँग्रेस और मुस्लिम लीग में मतभेद हो गया तो लीग ने 1946 ई. के मध्य में इस योजना को अस्वीकृत कर दिया। सितम्बर 1946 ई. में काँग्रेस ने सरकार का गठन किया। प्रारम्भ में लीग ने इसमें भाग नहीं लिया। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए 'प्रत्यक्ष कार्रवाई' (Direct Action) का सहारा लिया जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण भारत में साम्प्रदायिक दंगे हुए। पंजाब, नोआखाली, त्रिपुरा, बिहार आदि स्थानों पर भयंकर अत्याचार हुए। अक्टूबर में मुस्लिम लीग के भी पाँच सदस्य अन्तरिम-सरकार में सम्मिलित कर लिये गये। परन्तु मुस्लिम लीग का रुख सहयोगपूर्ण न था और उसने संविधान-सभा के कार्यों में भाग लेने से मना कर दिया। ऐसी स्थिति में भारत के विभिन्न भागों में साम्प्रदायिक दंगे होते रहे। गांधीजी ने अंग्रेजों को तुरन्त भारत छोड़ने की राय दी। अंग्रेज सरकार इससे पूर्व फरवरी 1947 ई. में घोषणा कर चुकी थी कि अंग्रेज जून 1948 ई. से पूर्व ही भारत छोड़ देंगे। इस अवसर पर लॉर्ड वैवेल के स्थान पर लॉर्ड माउण्टबेटन को वायसराय बनाकर भारत भेजा गया और उसकी योजना (जून योजना, 1947 ई.) तथा सलाह से काँग्रेस भारत-विभाजन के लिए तैयार हो गयी, यद्यपि गांधीजी इससे सहमत न थे। इस आधार पर अंग्रेजी संसद ने 'भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, 1947 ई.' पारित किया जिसके आधार पर भारत और पाकिस्तान दो स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण हुआ।

इस प्रकार भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को 1947 ई. में सफलता प्राप्त हुई। भारत की स्वतन्त्रता में कुछ सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी भाग लिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन विश्व में द्वितीय श्रेणी के राज्यों में हो गया। उसमें यह क्षमता न रही कि वह शक्ति द्वारा भारत पर अपने अधिकार को सुरक्षित रख पाता। सम्पूर्ण विश्व में साम्राज्यवाद के विरुद्ध आवाज खड़ी हो गयी थी और ब्रिटेन भी इससे अछूता न था। ब्रिटेन में अनेक बुद्धिजीवी और वहाँ का मजदूर-दल साम्राज्यवाद के विरुद्ध होता जा रहा था। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन ने भारत की स्वतन्त्रता को अनिवार्य समझकर उसे स्वेच्छा से स्वीकार करना ही श्रेयष्कर समझा। अमेरिका भी भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में था। आदर्श के आधार पर उसने इसका समर्थन करना सम्मान का विषय समझा और व्यावहारिक आधार पर स्वतन्त्र भारत उसके लिए आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभदायक हो सकता था। रूस भी भारतीय स्वतन्त्रता का पक्षधर था। सम्भवतः, आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ भारत समाजवादी विचारधारा के अनुकूल सिद्ध हो सकता था। महायुद्ध के पश्चात् इन देशों के अतिरिक्त, एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में उभरती हुई राष्ट्रीय भावना भी साम्राज्यवाद के विरोध में तीव्र होती जा रही थी जिससे यह सम्भावना बढ़ रही थी कि शान्ति से परिवर्तन की अनुपस्थिति में इन राज्यों में परिवर्तन के लिए हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ उग्र हो जायेंगी। इन बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी भारत की स्वतन्त्रता में योगदान दिया। इसके साथ-साथ यह भी सर्वस्वीकृत है कि भारत की स्वतन्त्रता ने सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका के विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पक्ष में और यूरोपीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलनों को तीव्र किया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में राष्ट्रीय भावना की उत्पत्ति के कारणों को स्पष्ट कीजिए।
2. "अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्य के लिए एक 'सुरक्षा यन्त्र' के रूप में की गयी थी।" इस कथन के आधार पर काँग्रेस की स्थापना के प्रयोजन को स्पष्ट कीजिए।
3. 1885-1905 ई. के मध्य काँग्रेस के उद्देश्य और कार्यों को स्पष्ट कीजिए तथा उदार अथवा काँग्रेस के नरम दल की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।
4. राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्रवादी विचारधारा की उत्पत्ति के कारणों का विवेचन कीजिए।
5. राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन के उद्देश्यों, कार्यों और उनके परिणामों पर विचार कीजिए।
6. काँग्रेस के नरम दल और गरम दल के सैद्धान्तिक मतभेदों पर प्रकाश डालते हुए उसके सूरत-विभाजन के कारणों को स्पष्ट कीजिए।
7. प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन के कारणों और परिणामों पर विचार कीजिए।
8. खिलाफत-आन्दोलन से आप क्या समझते हैं ? क्या वह सफल हुआ ?
9. असहयोग-आन्दोलन के कारण, कार्यक्रम और उसकी सफलता एवं असफलता को स्पष्ट कीजिए।
10. सविनय अवज्ञा आन्दोलन के कारण, कार्यक्रम तथा उसकी सफलता और असफलता पर विचार कीजिए।
11. 'भारत छोड़ो' आन्दोलन पर एक टिप्पणी लिखिए।
12. 1919-1929 ई. के मध्य हुए राष्ट्रीय आन्दोलन पर प्रकाश डालिए।
13. 1929-1939 ई. के मध्य हुए राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति स्पष्ट कीजिए।
14. 1939-1947 ई. के मध्य हुए राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख चरणों पर प्रकाश डालिए।
15. राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गांधी के योगदान को स्पष्ट कीजिए।

33

मुस्लिम साम्प्रदायिकता और भारत-विभाजन के कारण

1. साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और भारत-विभाजन

"हिन्दू और मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं। उनके धार्मिक दर्शन, सामाजिक रीति-रिवाज और साहित्य अलग-अलग हैं। वे आपस में विवाह नहीं करते, भोजन नहीं करते और वास्तव में ऐसी अलग-अलग सभ्यताओं से सम्बन्धित हैं जिनका आधार एक-दूसरे की विरोधी विचारधारा है। उनके राष्ट्रीय नेता अलग-अलग हैं तथा उनका इतिहास एवं परम्पराएँ भी अलग-अलग हैं। अतः इस उप-महाद्वीप में शान्ति स्थापित करने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है कि इसको बाँटकर पाकिस्तान की स्थापना की जाय।" मुहम्मदअली जिन्ना के द्वारा व्यक्त किये गये ये विचार भारतीय मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना के प्रतीक थे। अंग्रेजों ने उनकी इस भावना को निरन्तर प्रोत्साहित किया, जो भारत-विभाजन का मुख्य कारण बना। एक लम्बे समय तक अंग्रेजों और मुसलमानों के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। मुसलमान यह विश्वास करते थे कि अंग्रेजों ने उनसे उनका भारत का साम्राज्य छीन लिया था और अंग्रेज मुसलमानों को अपने साम्राज्य का प्रमुख शत्रु मानते थे। मुसलमानों ने अंग्रेजी भाषा के अध्ययन में कोई रुचि नहीं ली और इस कारण वे शासन की सेवाओं से वंचित रहे। बहावी-विद्रोह बहुत लम्बे समय तक अंग्रेजी सत्ता के लिए खतरा बना रहा और अंग्रेजों ने उसे दबाने में क्रूरता से काम लिया। 1857 ई. के विद्रोह के समय अंग्रेजों और मुसलमानों के सम्बन्ध अधिक खराब हुए। मुसलमान नेताओं के भिन्न-भिन्न वक्तव्यों और मुगल बादशाह बहादुरशाह द्वारा विद्रोहियों का नेतृत्व स्वीकार करने के कारण अंग्रेज मुसलमानों के प्रति अधिक शंका करने लगे। परन्तु आगे आने वाले समय में यह स्थिति बदल गयी। अंग्रेजों ने अनुभव किया कि मुसलमानों के स्थायी असन्तोष को दूर करना उनके हित में होगा। शिक्षित हिन्दुओं द्वारा राजकीय सेवाओं में स्थान प्राप्त करना, उनमें स्वतन्त्रता और समानता की भावना का आना तथा धीरे-धीरे उनमें राष्ट्रीय भावना का जाग्रत होना अंग्रेजों के लिए अधिक संकट-पूर्ण होता गया। इस कारण हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों को संरक्षण देना उन्होंने अधिक उपयुक्त समझा। यह आवश्यक समझा गया कि हिन्दू और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्धों को खराब किया जाय और उनके धार्मिक मतभेदों का लाभ उठाकर उन्हें आपस में लड़ाया जाय। विद्रोह के अवसर पर भी अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमानों को एक-दूसरे से लड़ाने का प्रयत्न किया था। विद्रोह के समय में बरेली के ठाकुरों को कटेहर के खान बहादुरखाँ के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भड़काया गया। उसी समय राजपूताना में नियुक्त गवर्नर-जनरल के प्रतिनिधि लॉरेन्स ने राजपूत शासकों को इंगित करते हुए अपनी घोषणा में कहा था : "क्या यह सर्वविदित नहीं है कि पहले बादशाह आलमगीर (औरंगजेब) ने और बाद

में हैदरअली ने असंख्य हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान बनाया था, उनके धार्मिक उत्सवों को अपवित्र किया था और उनके मन्दिरों को नष्ट किया था ?"[1] विद्रोह के कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया कि मुसलमानों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाना आवश्यक है जिससे वे शक्तिशाली बनें और हिन्दुओं के विरुद्ध उनका प्रयोग किया जाना सम्भव हो। अंग्रेजों की नीति में यह परिवर्तन 1870 ई. से स्पष्ट हो गया। उसी समय से इलाहाबाद, बनारस, बलिया, गाजीपुर, आजमगढ़ आदि विभिन्न स्थानों पर हिन्दू और मुसलमानों के साम्प्रदायिक दंगे आरम्भ हुए। अंग्रेजों ने इनका पूर्ण लाभ उठाया और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। हिन्दी और उर्दू भाषा की शिक्षा के प्रश्न को साम्प्रदायिकता का रूप दिया गया और प्रत्येक अवसर पर अंग्रेजों ने मुसलमानों को सुविधा एवं संरक्षण प्रदान किया। 1871 ई. में सर विलियम हण्टर के द्वारा *'भारतीय मुसलमान'* (*The Indian Mussalmans*) नामक पुस्तक प्रकाशित की गयी। इससे अंग्रेजों के परिवर्तित दृष्टिकोण का पता लगता है। इस पुस्तक में यह विचार प्रस्तुत किया गया था कि मुसलमान विद्रोह करने की शक्ति नहीं रखते थे और "यह अधिक उचित होगा कि उन्हें निरन्तर असन्तुष्ट किये जाने की बजाय मित्र बनाया जाय।"[2]

मुसलमानों को अंग्रेजों के सानिध्य में लाने में सर सैयद अहमदखाँ (1817-1898) ने महत्वपूर्ण योग दिया। वह पहले भारतीय मुसलमान थे जिन्होंने मुसलमानों को संगठन, अंग्रेजी भाषा की शिक्षा, आधुनिकीकरण और अंग्रेजी शासन की सहानुभूति प्राप्त करने का निर्देश दिया। प्रारम्भ में उनका लक्ष्य साम्प्रदायिक न था परन्तु अंग्रेजों की कृपा प्राप्त करने हेतु जो प्रयत्न उन्होंने किये उनके कारण वह स्वयं और उनके द्वारा आरम्भ किया गया 'अलीगढ़-आन्दोलन' धीरे-धीरे साम्प्रदायिक हो गया। अलीगढ़-आन्दोलन का प्रारम्भिक उद्देश्य मुसलमानों की शिक्षात्मक, सामाजिक और आर्थिक प्रगति करना था परन्तु क्योंकि सर सैयद अहमदखाँ ने इन कार्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेजों की सहायता ली, अतएव अलीगढ़-आन्दोलन राजनीति से पृथक न रह सका तथा अन्त में उसने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को जन्म दिया। सर सैयद अहमदखाँ ने 1864 ई. में गाजीपुर में अंग्रेजी शिक्षा का एक स्कूल स्थापित किया; एक वर्ष पश्चात् उन्होंने एक वैज्ञानिक सभा (Scientific Society) की स्थापना की जिसका उद्देश्य अंग्रेजी की पुस्तकों का उर्दू में अनुवाद करना था; 1877 ई. में अलीगढ़ में 'ऐंग्लो-ओरिएण्टल कॉलेज' की स्थापना की जो बाद में मुस्लिम विश्वविद्यालय (Muslim University of Aligarh) बना; 1886 ई. में एक 'मुस्लिम शिक्षा-सभा' (Mohammedan Education Conference) की स्थापना की; 1888 ई. में 'भारतीय वफादार समुदाय' (Indian Patriotic Association) की स्थापना की तथा 1893 ई. में 'उच्चतर भारतीय मुस्लिम-सुरक्षा समुदाय' (The Mohammedan Defence Association of Upper India) की स्थापना की। निस्सन्देह, सर सैयद अहमदखाँ और उसके 'अलीगढ़-आन्दोलन' ने मुसलमानों की शिक्षा, सामाजिक सुधार, आर्थिक प्रगति और आधुनिकीकरण के लिए महत्वपूर्ण कार्य किये, परन्तु वह और उसका आन्दोलन भारतीय राष्ट्रीयता के विरोध में रहा। वह धीरे-धीरे हिन्दुओं और 1885 ई. में स्थापित अखिल भारतीय काँग्रेस के कट्टर विरोधी बन गये। एक बार सर सैयद अहमदखाँ ने कहा था : "काँग्रेस का

---

1 "Is it not known to all, that the Emperor Alamgir in former times, and Hyder Ali in latter days, forcibly converted thousands and thousands of Hindoos, desecrated their fairs, and demolished their temples." —*Lawrence's Proclamation.*

2 "It was expedient now to take them (Muslims) into alliance rather than continue to antagonise them." —Sir William Hunter, *The Indian Mussalmans.*

अन्तिम लक्ष्य इस देश पर शासन करना है और यद्यपि वे इस शासन को सभी भारतीयों के नाम से करना चाहते हैं परन्तु मुसलमान ऐसे शासन में असहाय होंगे क्योंकि वे सर्वदा अल्पसंख्यक होंगे।"[1] एक अन्य अवसर पर उसने कहा था : "राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना ऐसे दो राष्ट्रों से मिलकर नहीं हो सकती जिनमें परस्पर इतने मतभेद हैं और जो केवल कुछ छोटे मामलों में ही एकमत हैं।"[2] काँग्रेस के मद्रास-अधिवेशन के अवसर पर अपने एक भाषण में उसने कहा : "यदि तुम यह स्वीकार करते हो कि यह देश बंगाली शासन के अत्याचारों तले दबे और यहाँ के व्यक्ति बंगालियों के जूते चूमें तो खुदा के नाम पर कूद कर गाड़ी में बैठ जाओ और मद्रास चले जाओ।"[3] अपने इन विचारों को मुसलमानों में फैलाकर सर सैयद अहमदखाँ ने मुसलमानों को अखिल भारतीय काँग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखने में सफलता पायी। उनके द्वारा स्थापित अलीगढ़ विश्वविद्यालय मुस्लिम साम्प्रदायिकता का केन्द्र-स्थल बन गया और उसके प्रिन्सिपल बैक (Theodore Beck) तथा दूसरे प्रिन्सिपल मौरीसन (Morrison) ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भाग लिया। इस कारण मुसलमानों की शिक्षा, जागृति और समाज-सुधार में सर सैयद अहमदखाँ और अलीगढ़-आन्दोलन के महत्व को स्वीकार करते हुए भी यह माना गया है कि उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों को विभाजित करने, मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक रखने, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ावा देने तथा अन्त में पाकिस्तान के निर्माण में बहुत सहायता दी।

अंग्रेजों ने हिन्दू एवं मुसलमानों के मतभेदों का पूरा लाभ उठाया और 'फूट डालो व शासन करो' (Divide and Rule) उनकी नीति का प्रमुख आधार बन गया। 1906 ई. में शासन में नवीन सुधारों के लिए एक योजना विचाराधीन थी। उस अवसर पर गवर्नर-जनरल लॉर्ड मिण्टो के निजी सचिव मि. स्मिथ (Mr. Smith) ने मुसलमानों को सलाह दी कि वे अपना एक प्रतिनिधिमण्डल गवर्नर-जनरल से मिलने के लिए भेजें। सर आगा खाँ के नेतृत्व में यह प्रतिनिधिमण्डल लॉर्ड मिण्टो से मिला और इसने मुसलमानों के लिए पृथक चुनाव-क्षेत्रों तथा सरकारी सेवाओं, शिक्षा-संस्थाओं आदि में विशेष अधिकारों की माँग की। लॉर्ड मिण्टो ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को ध्यान में रखते हुए उसकी माँगों का स्वागत किया और भारत-सचिव (Secretary of State for India) लॉर्ड मोर्ले को इसके लिए सहमत कर लिया। 1909 ई. में भारतीय कौंसिल कानून में लॉर्ड मिण्टो की इस नीति को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया। इस नवीन कानून के द्वारा भारत में पृथक निर्वाचन-पद्धति (Separate Electorates) अथवा साम्प्रदायिक निर्वाचन-पद्धति (Communal Electorates) का सूत्रपात हुआ। इससे हिन्दू और मुसलमानों के मतभेदों को बढ़ावा मिला क्योंकि इस पद्धति के द्वारा हिन्दू हिन्दुओं को और मुसलमान मुसलमानों को कौंसिल के लिए सदस्य चुनने लगे।

---

1 "The ultimate object of the Congress was to rule the country and although they wished to do it in the name of all people of India, the Muslims would be helpless as they would be in a minority." —*Sir Syed Ahmad Khan.*

2 "A National Congress could not be composed of two nations who had such different opinions and only happened to agree on some small points." —*Sir Syed Ahmad Khan.*

3 "If you accept that the country should groan under the yoke of Bengali rule and its people lick the Bengali shoes; then in the name of God, jump into the train, sit down and be off to Madras." —*Sir Syed Ahmad Khan.*

30 दिसम्बर, 1906 ई. को नवाब सलीमउल्ला खाँ ने भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना की। निस्सन्देह, मुस्लिम लीग की स्थापना में प्रमुख योगदान मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध दिये जाने वाले अंग्रेजों के प्रोत्साहन का था। मुस्लिम लीग ने अंग्रेजी सरकार की नीति का समर्थन करने, मुसलमानों के अधिकारों की सुरक्षा करने, अखिल भारतीय काँग्रेस के प्रभाव को बढ़ने से रोकने और शिक्षित मुसलमानों को सार्वजनिक जीवन में भाग लेने की सुविधा का उद्देश्य निश्चित किया। जकाउल्ला के अनुसार, "मुस्लिम लीग ने सर सैयद अहमदखाँ की सलाह को पूर्ण रूप से स्वीकार किया था।"[1] लीग ने शुरू से ही अंग्रेजों का समर्थन करने और काँग्रेस का विरोध करने की नीति अपनायी। लीग ने बंगाल-विभाजन (1905 ई.) का समर्थन किया तथा स्वदेशी-आन्दोलन और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की काँग्रेस की नीति का विरोध किया। इस प्रकार लीग की नीति प्रारम्भ से ही अंग्रेजी शासन के समर्थन और राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध थी। लीग के संगठन का एक प्रमुख आधार मुस्लिम धर्म था। 1907 ई. में लीग का वार्षिक अधिवेशन कराँची में हुआ और उसके सभापति ने अपने भाषण में कहा : "यदि एक लड़के (मुहम्मद बिन-कासिम) के नेतृत्व में थोड़े-से व्यक्ति सिन्ध की सीमाओं के अन्तर्गत 'कलमा' की शिक्षा प्रदान कर सके थे और खुदा एवं उसके रसूल की सत्य-शरियत के कानूनों को लागू कर सके थे, तो क्या सात करोड़ मुसलमान अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन को आनन्दमय नहीं बना सकते ?"[2] इस प्रकार लीग ने प्रारम्भ से ही मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावनाओं को बढ़ावा देने की नीति को अपनाया। इसमें सन्देह नहीं कि शुरू-शुरू में अनेक मुसलमान और उनके नेता, जैसे नवाब सैयद अहमद, मौलाना मुहम्मद उल हसन और मुहम्मदअली जिन्ना लीग की इस साम्प्रदायिकता की नीति से सहमत न थे, परन्तु लीग की यह नीति स्थायी रही। लीग ने 1909 ई. के सुधारों के प्रति भी अपना सन्तोष प्रकट किया जबकि काँग्रेस ने उन्हें असन्तोषजनक बताया।

अंग्रेजों, सैयद अहमदखाँ और बाद में मुहम्मदअली जिन्ना को मुस्लिम साम्प्रदायिकता को विकसित एवं संगठित करने में क्यों सफलता मिली ? इस सम्बन्ध में एक विचार यह प्रकट किया गया है कि उग्र-राष्ट्रवादियों जैसे तिलक, अरविन्द आदि ने हिन्दू धर्म के विचारों और कुछ क्रियाओं जैसे गणेश-पूजा, शिवाजी-जयन्ती आदि को राजनीति में सम्मिलित करके भूल की। बाद में महात्मा गांधी ने भी यही भूल की। उनका आदर्श 'राम-राज्य' रहा। इस कारण मुसलमानों की शंकाएँ बढ़ीं और वे राष्ट्रीय धारा से अलग हो गये। एक अन्य विचार यह है कि काँग्रेस की मुस्लिम लीग के प्रति तुष्टिकरण की नीति ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बलवती किया। इन विचारों में सत्य का अंश अवश्य है परन्तु इन्हें अधिक से अधिक व्यावहारिक भूलें स्वीकार किया जा सकता है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के कुछ मूलभूत कारण थे। डॉ. बिपिनचन्द्र ने अपनी पुस्तक *'कम्यूनलिज्म इन मॉडर्न इण्डिया'* में इनका विश्लेषण किया है। उनके अनुसार हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर सामाजिक आदान-प्रदान न होना, मुसलमानों का हिन्दुओं की तुलना में शिक्षा, व्यापार, उद्योग आदि में पिछड़ा होना जिसके कारण उनका प्रतिक्रियावादी तत्वों जैसे नवाबों, जमींदारों आदि के प्रभाव में रहना, भारत का आर्थिक पिछड़ापन जिसके कारण व्यक्तियों की प्रगति के मार्ग अवरुद्ध हो गये और सभी वर्गों एवं समुदायों में प्रतिस्पर्धा बढ़ी, मध्यम-वर्ग का

---

1 "The All-India Muslim League was in complete accord with the advice of Sir Syed Ahmad Khan." —*Zakaullah.*

2 "If a handful of men under a boy (Muhammad Bin Qasim) could teach *Kalma* to the territory of Sind and promulgate the law of true Shariat of God and His Rasul, can seven crores of Musalmans not make their social and political life pleasant ? " —*The President of Muslim League in 1907.*

साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने को अपने आर्थिक हितों की पूर्ति में सहायक समझना, जनसाधारण द्वारा अपने हितों को ठीक प्रकार निश्चित न कर पाना, अंग्रेजों द्वारा साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली का आरम्भ करना, ब्रिटिश साम्राज्य-विरोधी भावना का धीरे-धीरे विकसित होना, राष्ट्रीय नेताओं का साम्प्रदायिकता को नष्ट करने के लिए कोई ठोस कदम न उठाना, अंग्रेजों द्वारा प्रत्येक प्रकार से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना आदि इसके कारण थे। डॉ. बिपिनचन्द्र के विचार पर्याप्त माननीय हैं। मूल रूप में, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और विकास में ये कारण उपस्थित थे।

लीग और काँग्रेस में शुरू से ही मतभेद थे। परन्तु 1911 ई. से कुछ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण हुआ जिनके कारण ये दोनों राजनीतिक दल एक-दूसरे के निकट आने के लिए बाध्य हुए। 1911 ई. में इटली ने ट्रिपोली को लेने के लिए टर्की पर आक्रमण किया, 1912-13 ई. के बाल्कान-युद्ध में भी टर्की की स्थिति खराब हुई, और प्रथम महायुद्ध (1914-18 ई.) में टर्की ने जर्मनी का साथ देते हुए ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। इन सभी अवसरों पर यह स्पष्ट हुआ कि भारतीय मुसलमान संसार के सभी मुस्लिम राज्यों और मुख्यतः टर्की के राज्य के प्रति विशेष सहानुभूति रखते थे तथा अंग्रेज सरकार से भी ऐसी ही आशा रखते थे। परन्तु अंग्रेज सरकार की नीति का आधार यह नहीं था। टर्की के सुल्तान और खलीफा के सम्मान के प्रति अंग्रेजों की उदासीनता ने मुस्लिम लीग के रुख में कुछ परिवर्तन कर दिया। ऐसी स्थिति में 1916 ई. में मुहम्मदअली जिन्ना (जो अब मुस्लिम लीग के सभापति बन चुके थे) के नेतृत्व में लीग ने काँग्रेस से एक समझौता किया जो लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) कहलाया। इस समझौते के द्वारा काँग्रेस ने मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक प्रतिनिधित्व (weightage in representation) देने का वायदा किया और यह भी स्वीकार कर लिया कि उनके साम्प्रदायिक हित उनके सदस्यों की सम्मति से ही स्वीकार किये जायेंगे। इस समझौते की शर्तों के अनुसार 1919 ई. के कानून के आधार पर गठित अधिकांश प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपात से दुगुने और केन्द्रीय व्यवस्थापिका-सभा में उसके कुल सदस्यों के एक-तिहाई सदस्य भेजने का अधिकार मिला। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् खलीफा के पद और सम्मान के प्रश्न को लेकर भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से महात्मा गांधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने खिलाफत-आन्दोलन में मुसलमानों को सहयोग दिया और 'असहयोग-आन्दोलन'(Non-Cooperation Movement) शुरू किया। यह प्रथम एवं अन्तिम अवसर था जब हिन्दू और मुसलमानों ने एक-दूसरे के साथ सहयोग किया।

1921 ई. में मलाबार में हुए मोपला-विद्रोह ने हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को चिनगारी प्रदान की और उससे भारत में साम्प्रदायिकता की आग फैल गयी। 1922 ई. में विभिन्न स्थानों पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए और 1924 ई. में दिल्ली, गुलबर्ग, नागपुर, लखनऊ, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद, जबलपुर, कोहात आदि स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे हुए।

1927 ई. में अंग्रेज सरकार ने नवीन सुधारों की रूपेरखा के निर्माण हेतु एक कमीशन —साइमन कमीशन (Simon Commission)—भारत भेजा जिसके सभी सदस्य अंग्रेज थे। काँग्रेस ने इस कमीशन के भारत-आगमन के विरोध में प्रदर्शन और हड़तालें संगठित कीं। परन्तु लीग ने काँग्रेस का साथ नहीं दिया। 1928 ई. में पं. मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में गठित एक समिति ने अपनी योजना—नेहरू-रिपोर्ट (Nehru Report)—प्रस्तुत की। इस योजना में सिन्ध और उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त को पृथक प्रान्त बनाये जाने की लीग की माँग को स्वीकार किया गया था। केन्द्र और उन प्रान्तों में जहाँ मुसलमान अल्प-संख्या में थे, मुसलमानों के स्थान सुरक्षित रखे गये थे। परन्तु इस योजना के अनुसार केन्द्र में एकात्मक

सरकार की व्यवस्था की गयी थी तथा पंजाब और बंगाल में मुसलमानों के स्थान सुरक्षित नहीं रखे गये थे। इस योजना के आधार पर काँग्रेस ने लीग से माँग की कि वह उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग का समर्थन करे। परन्तु लीग ने इस योजना को मानने से इन्कार कर दिया और मुहम्मदअली जिन्ना ने अपनी चौदह सूत्री योजना (Fourteen Points Plan) को लीग की ओर से प्रस्तुत किया। 1930 ई. में लन्दन में हुई प्रथम गोलमेज-परिषद में काँग्रेस ने भाग नहीं लिया, 1931 में हुई द्वितीय गोलमेज-परिषद में मुहम्मदअली जिन्ना ने लीग की माँगों को काफी बढ़ा-चढ़ाकर रखा जो गांधीजी को स्वीकार न हुई और 1932 ई. में हुई तृतीय गोलमेज-परिषद में भी काँग्रेस ने भाग नहीं लिया। इस प्रकार लीग और काँग्रेस में कोई समझौता न हो सका। उस समय तक लीग में मुहम्मदअली जिन्ना का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था और उसकी विचारधारा ऐसी बन चुकी थी कि लीग और काँग्रेस में समझौता होना असम्भव था। मि. जिन्ना का यह विचार बन गया था कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग राष्ट्र हैं, काँग्रेस केवल हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है और मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का उसे कोई अधिकार नहीं है तथा केवल मुस्लिम लीग ही भारतीय मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का अधिकार रखती है। काँग्रेस इस विचार से सहमत नहीं थी। उसका विश्वास दो राष्ट्रों के सिद्धान्त में न था, वह अपने को राष्ट्रीय संस्था मानती थी और इस आधार पर मुसलमानों का ही नहीं वरन् ईसाई, ऐंग्लो-इण्डियन, पारसी आदि सभी का प्रतिनिधित्व करने का दावा करती थी। ऐसी स्थिति में लीग और काँग्रेस में समझौता होना असम्भव था। परिणामस्वरूप मि. जिन्ना का हठ निरन्तर बढ़ता गया। लीग मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देती गयी और हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्ध निरन्तर खराब होते गये।

1940 ई. में अपने लाहौर-अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की माँग रखी। पाकिस्तान की पृष्ठभूमि का निर्माण पर्याप्त समय पहले से हो रहा था। 1924 ई. में हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगों के पश्चात् विभिन्न व्यक्तियों ने यह सोचना आरम्भ कर दिया था कि, सम्भवतः, हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्ध कभी ठीक नहीं होंगे। लीग की प्रवृत्ति इस दिशा की ओर जा रही थी कि मुसलमान हिन्दुओं से पृथक होकर ही सुखी रह सकते थे। 1930 ई. में सर मुहम्मद इकबाल लीग के सभापति बने और उन्होंने अपने भाषण में कहा : "मुस्लिम हितों की सुरक्षा एक पृथक राज्य की स्थापना के द्वारा ही सम्भव है।" इकबाल ने एक पत्र में मि. जिन्ना का ध्यान इस ओर दिलाया था। उन्होंने कहा था : "यदि भारत में यह बात (मुसलमानों के लिए एक या एक से अधिक राज्यों की स्थापना) असम्भव है तो गृह-युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रह जाता जो वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की शक्ल में कुछ समय से चल रहा है। मुझे भय है कि देश के कुछ भागों, जैसे उत्तर-पश्चिमी भारत में फिलिस्तीन की पुनरावृत्ति हो जायेगी।·····क्या तुम यह नहीं समझते कि इस प्रकार की माँग के लिए उचित समय आ गया है ? सम्भवतः जवाहरलाल नेहरू के नास्तिक समाजवाद का सबसे उपयुक्त उत्तर तुम इसी प्रकार दे सकते हो।"[1] अपने इन विचारों से इकबाल ने उन सभी मुसलमान बुद्धिजीवियों को गम्भीरता से प्रभावित किया जिन्होंने पाकिस्तान बनाये जाने की माँग की, यद्यपि इकबाल ने 'पाकिस्तान' शब्द को जन्म नहीं दिया था। इस शब्द का

---

1 "If such a thing is impossible in India, the only other alternative is civil war which as a matter of fact has been going on for some time in the shape of Hindu-Muslim riots. I fear that in certain parts of the country, *e.g.*, N. W. India, Palestine may be repeated... Don't you think that a time for such a demand has already arrived ? Perhaps this is the best reply you can give to the atheistic socialism of Jawaharlal Nehru." *—Letter of Mr. Iqbal to Mr. Jinnah.*

सर्वप्रथम प्रयोग लन्दन में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी चौधरी रहमतअली और उसके तीन साथियों ने जनवरी 1933 ई. में प्रकाशित किये गये एक पैम्पलेट—'अब या फिर कभी नहीं' (*Now or Never*)—में किया और दक्षिण में हैदराबाद (उस्मानिस्तान), उत्तर-पूर्व में बंगाल और असम (बंग-ए-इस्लाम) तथा पश्चिम में पंजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त, कश्मीर आदि (पाकिस्तान) के तीन मुसलमानी राज्यों को एक संघ-राज्य में सम्मिलित करके उसका नाम पाकिस्तान रखने का विचार व्यक्त किया। 1935 ई. के कानून के आधार पर 1937 ई. में जब प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के सदस्यों के लिए चुनाव हुए तब लीग और काँग्रेस के सम्बन्ध अधिक खराब हो गये। लीग ने काँग्रेस को तानाशाही दल बताया और काँग्रेस के 'जन-सम्पर्क आन्दोलन' (Mass Contact Movement) का विरोध करते हुए लीग के संगठन को कठोर एवं विस्तृत बना दिया। 1937 ई. के लीग के लखनऊ-अधिवेशन में पंजाब के मुख्य-मन्त्री सर सिकन्दर हयात खाँ, बंगाल के मुख्य-मन्त्री फजलुल हक और असम के मुख्य-मन्त्री सर मुहम्मद सादुल्ला ने मि. जिन्ना को पूरा-पूरा साथ देने का वायदा किया। यद्यपि लीग को चुनावों में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई परन्तु लीग ने निरुत्साहित हुए बिना अधिक कट्टरता से कार्य किया। काँग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के कार्यों के विरुद्ध प्रचार करने से उसे अपने कार्य में सफलता मिली और लीग ने झूठा प्रचार करके मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया। नवम्बर 1939 ई. में जब काँग्रेस-मन्त्रिमण्डल ने अपने पदों से त्यागपत्र दिये तो 22 दिसम्बर, 1939 ई. को लीग ने सम्पूर्ण भारत में 'स्वतन्त्रता-दिवस' (The Deliverance Day) मनाया। उस समय में जो पत्र-व्यवहार मि. जिन्ना का काँग्रेस के विभिन्न नेताओं से हुआ उसका उपयोग मि. जिन्ना ने अपने महत्व को बढ़ाने और काँग्रेस के नेताओं के उद्देश्य के बारे में झूठा प्रचार करने के लिए किया। लीग का प्रचार सफल रहा। धर्म का आधार लेकर लीग मुसलमानों के अधिकांश वर्ग को अपने पक्ष में करने में सफल हो गयी। उसी समय में द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ हो जाने से लीग को अधिक सुविधा मिली। अंग्रेजों ने यह आश्वासन देना आरम्भ कर दिया कि उनका अन्तिम लक्ष्य ब्रिटेन के संरक्षण में भारत को स्वतन्त्रता (Dominion Status) प्रदान करना है। ऐसी स्थिति में लीग ने अपनी माँग को दृढ़ता से प्रस्तुत करना उपयुक्त समझा। इसके परिणामस्वरूप 1940 ई. में लीग ने अपने लाहौर-अधिवेशन में स्पष्ट रूप से पाकिस्तान की माँग प्रस्तुत की। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि लीग ने अपने लाहौर-अधिवेशन से पहले अपनी माँग में 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग नहीं किया था। मुसलमानों के पृथक राज्य के लिए 'पाकिस्तान' शब्द का प्रयोग कुछ भारतीय और ब्रिटिश समाचार-पत्रों ने आरम्भ किया था और लीग ने 1940 ई. में इस नाम को स्वीकार किया।

1940 ई. में लॉर्ड लिनलिथगो ने 'अगस्त-घोषणा' (August Offer) के द्वारा मुसलमानों को आश्वासन दिया कि ब्रिटेन और भारत के बीच किसी भी समझौते की स्थिति में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का पूर्ण ध्यान रखा जायेगा। 1942 ई. में 'क्रिप्स-योजना' (Cripps' Plan) प्रस्तुत की गयी परन्तु लीग और काँग्रेस दोनों ने उसे अस्वीकार कर दिया। 8 अगस्त, 1942 ई. को काँग्रेस ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' शुरू किया। लीग ने इसका विरोध किया और जबकि काँग्रेस के प्रायः सभी नेता जेल में थे, उसने पाकिस्तान के पक्ष में जबर्दस्त प्रचार किया। धर्म का आधार लेकर लीग के नेताओं ने मुसलमानों को लीग का साथ देने और पाकिस्तान की माँग का समर्थन करने के लिए उकसाया। इस प्रचार में पीर और उलेमा-वर्ग (धार्मिक मुसलमानों का वर्ग) का सहयोग लिया गया। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को इसमें प्रशिक्षित करके दूर-दूर के प्रान्तों में प्रचार के लिए भेजा गया और प्रख्यात वक्ताओं जैसे नवाब बहादुर यारजंग, मौलाना जफरअली खाँ को घूम-घूम कर प्रचार

करने के लिए कहा गया। लीग के नेताओं ने गृह-युद्ध तक की धमकी दी। उस समय लीग की प्रवृत्ति क्या थी, यह स्वयं मि. जिन्ना के शब्दों से पता लगता है। उन्होंने पठानों के सम्मुख दिये अपने एक भाषण में कहा : "तुम पाकिस्तान चाहते हो अथवा नहीं ? यदि तुम पाकिस्तान चाहते हो तो लीग के समर्थकों को अपना मत दो। यदि हम आज अपने कर्तव्य की पूर्ति में असफल हो गये तो तुम्हारी स्थिति शूद्रों के समान हो जायेगी और इस्लाम भारत से समाप्त हो जायेगा। मैं मुसलमानों को कभी भी हिन्दुओं का गुलाम नहीं बनने दूँगा।"[1] अनेक समाचार-पत्रों ने भी पाकिस्तान के बनाये जाने का समर्थन किया। दिल्ली से अंग्रेजी में 'डॉन' (Dawn) और उर्दू में 'अंजाम', 'जंग' तथा 'मंसूर', लाहौर से उर्दू में 'इन्कलाब', 'नवा-ए-वक्त' और 'जमींदार', लखनऊ से उर्दू में 'हमदम', कलकत्ता से अंग्रेजी में 'स्टार ऑफ इण्डिया' (Star of India), बंगाली में 'आजाद' और उर्दू में 'असरे-जदीद' आदि अखबारों ने पाकिस्तान के समर्थन में उत्साहपूर्ण प्रचार किया। लीग का प्रचार बेकार नहीं गया। मुसलमानों का अधिकांश वर्ग लीग के पक्ष में हो गया। अस्पृश्य जातियों के नेता डॉ. बी. आर. अम्बेडकर तथा काँग्रेस के नेताओं में से चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य पाकिस्तान के पक्ष में हो गये। मार्च 1944 ई. में राजगोपालाचार्य ने अपना एक प्रस्ताव (Rajgopalacharya's or Rajaji's Formula) समझौते के लिए लीग के सम्मुख रखा। परन्तु इससे भी जिन्ना की पाकिस्तान की माँग की पूर्ति नहीं होती थी अतएव मि. जिन्ना ने इसे ठुकरा दिया। 1945 ई. में गवर्नर-जनरल लॉर्ड वैवेल ने शिमला में एक सम्मेलन (Simla Conference) का आयोजन किया तथा अपनी योजना (Wavell's Plan) प्रस्तुत की और एक अन्तरिम सरकार के निर्माण का प्रयत्न किया। परन्तु मि. जिन्ना की इस हठ पर कि उस सरकार के सभी मुसलमान सदस्य लीग के द्वारा मनोनीत किये जायें, यह सम्मेलन असफल हो गया। जुलाई 1945 ई. में ब्रिटेन में मि. एटली के नेतृत्व में मजदूर-दल की सरकार का गठन हुआ। उसी वर्ष 1935 ई. के कानून के आधार पर केन्द्रीय व प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओं के चुनाव हुए, जिसमें लीग को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। मार्च 1946 ई. में 'कैबिनेट-मिशन' भारत आया और मई में उसने अपनी योजना (Cabinet Mission Plan) लीग और काँग्रेस के समक्ष रखी। इस योजना के अन्तर्गत एक दुर्बल केन्द्रीय सरकार, शक्तिशाली प्रान्तीय सरकारों तथा उनके आपस में मिलने की सम्भावना, एक संविधान-सभा का निर्माण और अन्तरिम-सरकार (Interim Government) के निर्माण की व्यवस्था की गयी थी। प्रारम्भ में लीग ने इसे स्वीकार कर लिया परन्तु काँग्रेस ने केवल इसके एक भाग अर्थात् संविधान-सभा के निर्माण को ही स्वीकार किया। बाद में काँग्रेस ने अन्तरिम-सरकार के गठन में योग देना स्वीकार कर लिया परन्तु लीग ने उसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। लीग ने इसके विरोध में 16 अगस्त, 1946 ई. को 'प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस' (Direct Action Day) मनाया जिसके परिणामस्वरूप बंगाल, बिहार और पंजाब में भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। सितम्बर में पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अन्तरिम-सरकार का गठन हुआ और अक्टूबर में लीग ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु उसमें सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया तथा उसके पाँच सदस्य सरकार में ले लिये गये। दिसम्बर में संविधान सभा की पहली बैठक हुई। काँग्रेस ने उसे भारत के संविधान का निर्माण करने हेतु पूर्ण शक्तिशाली सभा माना परन्तु लीग ने उसके कार्यों में भाग लेने से इन्कार कर दिया। उस समय हिन्दू-मुस्लिम दंगे बढ़ गये, हजारों व्यक्ति कत्ल कर दिये गये, स्त्रियों

---

1 "Do you want Pakistan or not ? Well, if you want Pakistan, vote for the League candidates. If we fail to realize our duty today you will be reduced to the status of Sudras (low castes) and Islam will be vanquished from India. I shall never allow Muslims to be slaves of Hindus." *—Muhammad Ali Jinnah.*

को अपमानित किया गया, करोड़ों की सम्पत्ति बरबाद कर दी गयी और हिन्दू व मुसलमानों ने अपने-अपने घर छोड़कर सुरक्षित स्थानों पर जाना आरम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में 20 फरवरी, 1947 ई. को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि वह प्रत्येक स्थिति में जून 1948 ई. तक भारत को छोड़ देगा। उस समय लॉर्ड माउण्टबेटन को गवर्नर-जनरल बनाकर भारत भेजा गया। 27 मार्च को लीग ने 'पाकिस्तान-दिवस' मनाया। मार्च में पंजाब में भीषण दंगे हुए और सरकार उनकी रोकथाम के लिए कुछ न कर सकी। हिन्दू-मुस्लिम दंगों की भीषणता इतनी विकराल हो गयी कि लॉर्ड माउण्टबेटन ही नहीं बल्कि पं. जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटेल जैसे काँग्रेसी नेता भी भारत-विभाजन के लिए सहमत हो गये। तब तक यह भी स्पष्ट हो गया कि लीग के सदस्य अन्तरिम-सरकार में स्थान प्राप्त करके अपनी स्थिति का दुरुपयोग कर रहे थे और अर्थ-विभाग को मि. लियाकतअली खाँ को देकर काँग्रेस ने एक गम्भीर भूल की थी। भारत-विभाजन की एक योजना श्री वी. पी. मेनन ने प्रस्तुत की और ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति लेकर लॉर्ड माउण्टबेटन ने उसे 'जून-योजना' के रूप में प्रस्तुत किया। जून-योजना को काँग्रेस और लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया। इसके आधार पर ब्रिटिश संसद ने जुलाई 1947 ई. में 'भारतीय स्वतन्त्रता कानून' बनाया तथा भारत का विभाजन करके 15 अगस्त को भारत और पाकिस्तान नाम के दो राज्यों का निर्माण किया।

2. विभाजन के कारण

भारत-विभाजन भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है और जिन परिस्थितियों में यह घटना घटी वह अत्यन्त दुःखदायी हैं। **इसका प्रमुख कारण मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता और उनकी साम्प्रदायिक भावना थी।** सदियों तक साथ-साथ रहने के बावजूद भी हिन्दू और मुसलमान अपने धार्मिक मतभेदों को भुला नहीं सके थे। **शिक्षा और आधुनिक विचारों की कमी तथा अंग्रेजों की दासता के कारण धर्म से अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी आदर्श उनके सम्मुख नहीं बन सका।** ऐसी स्थिति में सर सैयद अहमदखाँ के नेतृत्व में आरम्भ हुए अलीगढ़-आन्दोलन ने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया। धीरे-धीरे भारतीय मुसलमान यह विश्वास करने लगे कि उनका हित न केवल बहुसंख्यक हिन्दुओं से भिन्न है अपितु उनके विरोध में भी है। सर मुहम्मद इकबाल ने साम्प्रदायिकता की इस भावना का पोषण किया और उनके साथ अन्य बहुत से मुसलमान नेता सम्मिलित हो गये। मुस्लिम लीग और उसके नेता मुहम्मदअली जिन्ना का इसमें सबसे बड़ा योगदान था। मि. जिन्ना के नेतृत्व में लीग की नीति दृढ़ और स्पष्ट हो गयी तथा वह मुसलमानों को प्रभावित करने में सफल हुई जिसका अन्तिम परिणाम पाकिस्तान का निर्माण था।

अंग्रेज शासकों ने इस साम्प्रदायिकता की भावना को निरन्तर प्रोत्साहन दिया। 1870 ई. से अंग्रेजों ने मुसलमानों की सहानुभूति प्राप्त करने की नीति अपनायी, हिन्दू और मुसलमानों में अन्तर करना आरम्भ किया, मुसलमानों को सुरक्षा प्रदान की, हिन्दुओं की राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध उन्हें प्रयोग में लाने का प्रयत्न किया और 'फूट डालो व शासन करो' की नीति को अपने शासन का अंग बनाया। अंग्रेजों के सहयोग और प्रोत्साहन से मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना सफल हुई। 1909 ई. के चुनावों में साम्प्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को इसी आधार पर अपनाया गया और उसके पश्चात् अंग्रेज निरन्तर मुसलमानों की माँगों का समर्थन करते रहे। यह कहना अनुचित न होगा कि मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग से बहुत पहले ही अंग्रेज सरकार भारत में दो राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार कर चुकी थी और उसका प्रत्येक कार्य इसी आधार पर होता था। अंग्रेजों ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध एक प्रमुख हथियार के रूप में प्रयोग किया जिसके कारण मुसलमानों में यह भावना दृढ़ हुई तथा पाकिस्तान का निर्माण सम्भव हो सका।

भारत-विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण में काँग्रेस की मुसलमानों के प्रति सन्तुष्टीकरण की दुर्बल नीति भी उत्तरदायी थी। समय-समय पर काँग्रेस ने लीग की अनुचित माँगों को स्वीकार करके उसे बढ़ावा दिया। अनेक अवसरों पर काँग्रेस ने अपने सिद्धान्तों तक को त्याग दिया। ऐसी एक गम्भीर भूल 1916 ई. के 'लखनऊ-समझौते' में की गयी थी जिसके अन्तर्गत काँग्रेस ने मुसलमानों के पृथक प्रतिनिधित्व और उनको उनकी जनसंख्या से अधिक अनुपात में व्यवस्थापिका-सभाओं में सदस्य भेजने के अधिकार को स्वीकार कर लिया। 1932 ई. में साम्प्रदायिक निर्णय के विषय में काँग्रेस ने अस्पृश्य जातियों के अलग हो जाने के भय से जिस दुर्बलता का परिचय दिया, उससे भी मुस्लिम साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिला। समय-समय पर लीग से समझौता करने के प्रयत्न और मि. जिन्ना से भेंट आदि भी मि. जिन्ना और लीग के मनोबल को बढ़ावा देने वाले सिद्ध हुए। काँग्रेस ने अपने राष्ट्रीय स्वरूप को सिद्ध करने के प्रयत्न में हिन्दुओं से निरन्तर त्याग की माँग की लेकिन मुसलमानों से हठ करके कुछ नहीं माँगा। काँग्रेस ने मुसलमानों के उग्र और वैयक्तिक चरित्र को समझने का प्रयत्न नहीं किया और न उनके व्यवहार को सत्यता की कसौटी पर परखा। धर्म पर आधारित कट्टर और दृढ़ अल्पसंख्यकों से व्यवहार करने का सफल मार्ग सन्तुष्टीकरण का नहीं हो सकता था, इस सत्य को काँग्रेस न समझ सकी। काँग्रेस की इस सन्तुष्टीकरण की नीति से न केवल मुस्लिम साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला अपितु इसकी प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दू साम्प्रदायिकता भी पनपी। 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई' के नारे, 'ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम' की प्रार्थना तथा हिन्दू और मुसलमानों द्वारा अपने धार्मिक मतभेदों को भुलाये जाने के वे सभी प्रयत्न वैसे ही असफल हुए जैसे मध्य-युग में भक्ति और सूफी धर्म-प्रचारकों के प्रयत्न असफल हुए थे। **काँग्रेस की सबसे बड़ी असफलता यह रही कि वह एक ऐसा नारा, एक ऐसा आदर्श और एक ऐसा लक्ष्य प्रस्तुत न कर सकी जिसके सम्मुख हिन्दू और मुसलमानों को अपने धार्मिक मतभेदों का ध्यान ही न रहता और वह उस एक नारे, आदर्श और लक्ष्य की पूर्ति के लिए एक हो जाते। धार्मिक मतभेदों को भुलाने के चक्कर में वह धार्मिक मतभेदों पर बल देती गयी। काँग्रेस इस प्रश्न का उत्तर न दे सकी कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय मुसलमानों का भविष्य क्या होगा ? मि. जिन्ना ने मुसलमानों के सम्मुख यह प्रश्न रखा और उसका उत्तर भी दे दिया—वह था मुसलमानों के लिए हिन्दुओं की गुलामी। काँग्रेस इसका प्रत्युत्तर न दे सकी। ऐसी स्थिति में मुसलमानों की पाकिस्तान की माँग दृढ़ हो गयी। समय निकल जाने के पश्चात् मूर्ख भी समझदार हो जाता है, यह ठीक है, परन्तु फिर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि काँग्रेस धर्म-निरपेक्षता, समाजवाद और आर्थिक व सामाजिक न्याय पर आधारित भारत के निर्माण का लक्ष्य अपने देशवासियों के सम्मुख रखने में असमर्थ और असफल हो गयी थी।** ऐसी स्थिति में भारत में साम्प्रदायिकता का पनपना स्वाभाविक था।

अन्तरिम-सरकार में लीग के सदस्यों का सम्मिलित किया जाना, मुस्लिम लीग की 'प्रत्यक्ष कार्रवाई', लीग और काँग्रेस के मन्त्रियों के परस्पर मतभेद के कारण अन्तरिम-सरकार की दुर्बलता, अंग्रेज सरकार की घोषणा कि वह जून 1948 ई. से पहले ही भारत छोड़ देगी तथा हिन्दू-मुस्लिम दंगों की भयंकरता आदि भी भारत-विभाजन के कारण बने, इसमें सन्देह नहीं है। 3 जून, 1947 ई. को पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था : **"देश के विभिन्न भागों में लज्जाजनक, घृणित और असहनीय हिंसा हुई है। यह समाप्त होनी चाहिए।"** [1] सरदार पटेल ने कहा था : **"मैंने यही अनुभव किया कि यदि हम विभाजन स्वीकार**

---

1 "There has been violence, shameful, degrading and revolting violence, in various parts of this country. This must end." —*Pt. Jawahar Lal Nehru.*

नहीं करते हैं तो भारत कई टुकड़ों में बँटकर बिल्कुल बरबाद हो जायेगा।"[1] द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटेन की दुर्बलता, भारत का उसके लिए आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद न होना और अमेरिका की सरकार का ब्रिटेन पर भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने का दबाव ऐसे कारण थे जिनसे भारत को शीघ्र स्वतन्त्रता देना आवश्यक हो गया। ऐसी स्थिति में लीग की हठ और हिन्दू-मुस्लिम दंगे भारत-विभाजन के कारण बन गये।

भारत का विभाजन लाभदायक रहा या हानिकारक, इस विषय में मतभेद हैं। प्रो. पर्सीवल स्पीयर का कहना है : "यदि विभाजन न हुआ होता तो आपस के झगड़ों के कारण देश की औद्योगिक प्रगति रुक जाती, भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ सफल न होतीं, केन्द्रीय सरकार दुर्बल होती और नेहरू के आदर्शों का आधुनिक भारत न बन पाता।" अन्त में, वह लिखते हैं : "सैद्धान्तिक रूप से विभाजन के लिए कितना भी अफसोस क्यों न किया जाय परन्तु यह, सम्भवतः, आवश्यक था और इस आधार पर देश के बड़े हितों के पक्ष में भी।"[2] इसी प्रकार, डॉ. लालबहादुर लिखते हैं : "यदि विभाजन न होता तो मुसलमान सर्वदा प्रधान स्थिति में रहते और अपने अधिकार से अधिक जीवन की सुविधाएँ प्राप्त करते, क्योंकि काँग्रेस के इतिहास को देखने से यही स्पष्ट होता है। देश की अखण्डता उसी समय लाभप्रद हो सकती थी जब मुसलमानों को सन्तुष्ट करने की नीति के स्थान पर सभी के साथ समान व्यवहार करने की नीति अपनायी जाती। काँग्रेस ऐसा नहीं कर सकती थी। इस कारण देश के विभाजन पर अधिक दुःख नहीं होना चाहिए।" उनके कथनानुसार, "सम्पूर्ण देश में मुस्लिम प्रभुता अथवा भारत माँ का विभाजन—हमें इन दो बुराइयों में से एक बुराई को चुनना था, और इस दूसरी स्थिति को चुनकर, सम्भवतः, हमने एक अपेक्षाकृत अच्छी बुराई को चुना।"[3] इस प्रकार बहुत-से व्यक्ति भारत-विभाजन को आवश्यक और लाभप्रद मानते हैं। परन्तु ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्होंने भारत-विभाजन को कभी ठीक नहीं माना और सीमा-सुरक्षा, विदेश-नीति आदि के व्यावहारिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त भावनात्मक आधार पर भी इसे उचित नहीं माना। ठीक कुछ भी हो परन्तु भारत-विभाजन एक सत्य है और भारतवासियों की भूल अथवा विवशता का परिणाम है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता की उत्पत्ति और विकास पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. भारत-विभाजन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

---

1 "I felt that if we did not accept partition, India would be split into many bits and would be completely ruined." —*Sardar Patel.*

2 "However partition may be regretted much in principle, it was perhaps necessary, on this account, in the larger interests of the country." —*Prof. Percival Spear.*

3 "It was choosing between the two evils—Muslim domination over the whole of the country and vivisecting of Mother India, and in accepting the latter position, perhaps a better evil was chosen." —*Dr. Lal Bahadur.*

34

भारत में किसान और मजदूर आन्दोलन

1. किसान-आन्दोलन

भारत का बहुसंख्यक वर्ग किसान है और ब्रिटिश-काल में भी था। अंग्रेजों की लगान-व्यवस्था, व्यापारिक नीति और भारतीय उद्योगों के विनाश के प्रति उदासीनता की नीति ने किसानों की संख्या में वृद्धि की। भारत का बहुसंख्यक किसान-वर्ग सर्वदा से ही अधिकतम शोषित रहा। ब्रिटिश-काल में उनके शोषण की प्रक्रिया अधिक तीव्र हुई। सरकार, जमींदार, स्थानीय साहूकार, स्थानीय अधिकारियों आदि सभी ने उनके शोषण में भाग लिया। अधिकांशतः भारतीय किसान इस शोषण को सहन करते रहे। उनकी निर्धनता, अज्ञानता, भाग्यवादिता, विस्तृत क्षेत्र में बिखरे होना, स्थान-परिवर्तन करने की क्षमता आदि ने न उनको संगठित होने दिया और न उन्हें शोषण के विरुद्ध संघर्ष करने का साहस प्रदान किया। इस कारण 20वीं सदी के प्रथम चतुर्थांश से पहले हमें किसानों का कोई संगठित आन्दोलन भारत में प्राप्त नहीं होता। परन्तु संगठन के अभाव के होते हुए भी इस समय से पहले कई अवसरों पर किसानों ने बाध्य होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया। ऐसे सभी संघर्ष उनके अतीव आक्रोश के परिणाम थे। इस कारण वे सभी हिंसात्मक थे। उन सभी का क्षेत्र सीमित रहा, सभी प्रायः संगठन-रहित थे और सभी के पीछे संघर्ष का कोई मूल दर्शन न था। इस कारण वे सभी असफल रहे। सरकार की अपार संगठित शक्ति ने उन सभी को कुचल दिया। ऐसे संघर्षपूर्ण आन्दोलनों में निम्नलिखित प्रमुख थे :

1. आदिवासियों के विद्रोह—आदिवासियों में से असम की खासी जाति ने, मणि-पुर-त्रिपुरा की कूकी जाति ने, छोटा नागपुर की कोल जाति ने और उड़ीसा की खोल जाति ने अंग्रेजी-शासन, उनके द्वारा अपने दैनिक जीवन में हस्तक्षेप तथा अपनी भूमि को उनके द्वारा हस्तगत किये जाने के विरोध में विद्रोह किये। उनके विद्रोह यद्यपि किसान-विद्रोह नहीं माने जा सकते परन्तु तब भी यह निश्चय है कि इन विद्रोहों का एक कारण उन जातियों की भूमियों पर अंग्रेजों द्वारा अधिकार किया जाना था।

ऐसे ही विद्रोहों में एक **विद्रोह 1855-56 ई. में संथाल जाति का था** जिसका मुख्य कारण जमींदारों और साहूकारों द्वारा उनकी भूमि का अपहरण किया जाना था। इस कारण उनके विद्रोह को, निस्सन्देह, किसान-विद्रोह माना जा सकता है। बिहार में बंगाल की सीमा के निकट राजमहल की पहाड़ी भूमि को संथालों ने स्वयं के परिश्रम से कृषि-योग्य बनाया। उस भूमि को जब साहूकारों ने चालाकी से अपने अधिकार में करने का प्रयत्न किया तब संथालों ने विद्रोह कर दिया। विद्रोह तो दबा दिया गया परन्तु सरकार ने उनकी रक्षा के लिए पृथक संथाल परगनों की स्थापना कर दी ताकि अन्य व्यक्ति उनकी भूमि पर अधिकार न कर सकें।

2. बंगाल में नील की खेती में कार्यरत किसान-मजदूरों का विद्रोह—बहुत से अवकाश-प्राप्त यूरोपियनों ने बंगाल और बिहार में नील की खेती करनी शुरू कर दी थी। उनमें से कुछ अपनी भूमि पर खेती करते थे और कुछ किसानों की भूमि पर ठेके से काम कराया

करते थे। उनका व्यवहार किसान-मजदूरों और किसानों के प्रति दासों जैसा हो गया था। उनकी इच्छानुसार कार्य न होने पर वे किसानों की फसलों को जला देते थे, उनके घरों को नष्ट कर देते थे, उनकी स्त्रियों से दुर्व्यवहार करते थे और उनके पशुओं को छीन लेते थे। नील के किसानों की दुर्दशा का विवरण सर्वप्रथम 'हिन्दू पेट्रियट' नामक समाचार-पत्र में छपा। उसके पश्चात् दीनबन्धु मित्रा ने उनकी दुर्दशा को 'नील-दर्पण' नामक अपने एक ड्रामे में व्यक्त किया तथा रामगोपाल घोष ने अपनी एक पुस्तक में उनके बारे में लिखा। परन्तु सरकार ने किसानों की स्थिति पर कोई ध्यान नहीं दिया। अन्त में, विष्णुचरण विश्वास और दिगम्बर विश्वास नामक दो भाइयों ने किसानों को संगठित करके उन्हें खेती न करने के लिए तैयार कर लिया। बाद में यह 'खेती न करने का आन्दोलन' 12 गाँवों में फैल गया। 1858-60 ई. के वर्षों में यह आन्दोलन कई जिलों में फैल गया और किसानों ने उस समय तक नील की खेती करने से इन्कार कर दिया जब तक कि उन्हें पर्याप्त सुविधाएँ प्रदान न की जायें। अन्त में, 1860 ई. में सरकार ने इस सम्बन्ध में एक आयोग के गठन की घोषणा की। परन्तु उसकी सिफारिशें भी किसानों को स्वीकार न हुईं और नील की खेती बंगाल से नष्ट हो गयी। इसी प्रकार नील की खेती में कार्यरत किसानों का यह विद्रोह स्थानीय क्षेत्र में संगठित हुआ। इसकी सफलता भी सीमित रही। वे सरकार से अपने लिए सुविधाएँ प्राप्त न कर सके परन्तु वे अपने ठेकेदारों की दासता से अवश्य मुक्त हो गये। उनमें से अधिकांश अन्य व्यवसायों में चले गये।

3. 1870 ई. में बंगाल का किसान-विद्रोह—1870 ई. में बंगाल में किसानों ने लगान देने से इन्कार कर दिया और अपनी भूमियों को छीने जाने का सशस्त्र विरोध किया। उस विद्रोह को दबा दिया गया। इसका एक परिणाम 1885 ई. का 'बंगाल टेनेन्सी कानून' (Bengal Tenancy Act) था।

4. दक्षिण के किसानों का विद्रोह (1875 ई.)—1875 ई. में महाराष्ट्र में मारवाड़ी साहूकारों के विरुद्ध किसानों ने विद्रोह किया। ये साहूकार धीरे-धीरे चालाकी से उनकी भूमियों पर अधिकार करते चले आये थे और सरकार ने किसानों के संरक्षण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। 1874 ई. में पूना जिले के एक गाँव में एक स्थानीय साहूकार के अत्याचार के विरुद्ध यह संघर्ष आरम्भ हुआ। गाँव के किसानों ने साहूकार को गाँव छोड़ने के लिए बाध्य किया। बाद में यह आन्दोलन प्रायः 33 गाँवों में फैल गया। किसानों ने मारवाड़ी साहूकारों को विभिन्न प्रकार से तंग किया और उनकी सम्पत्ति को लूटा। साहूकारों ने पुलिस की सहायता ली। इस कारण यह झगड़ा हिंसात्मक हो गया। बाद में सेना की सहायता से यह विद्रोह दबा दिया गया। इसका एक परिणाम Deccan Agriculturists Relief Act का बनना था।

5. पंजाब में कृषक-आन्दोलन—1896-1900 ई. के मध्य पंजाब में सरकार के लगान सम्बन्धी कानूनों और साहूकारों के शोषण के विरुद्ध कई स्थानों पर किसानों ने संघर्ष किया। सरकार ने उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए 1902-3 ई. में 'Punjab Land Alienation Act' बनाया जिसके अनुसार निश्चित हुआ कि साहूकार किसान की भूमि को खरीद अथवा गिरवीं नहीं रख सकता था। तब भी किसानों का आन्दोलन चलता रहा। सरकार ने उसे दबाने का प्रयत्न किया। बाद में यह आन्दोलन पंजाब में राष्ट्रीय आन्दोलन का एक हिस्सा बन गया।

6. महात्मा गांधी का चम्पारन और खेड़ा सत्याग्रह—बिहार में चम्पारन के क्षेत्र में भी यूरोपियनों द्वारा नील की खेती करायी जाती थी। उसमें संलिप्त किसानों का भी बंगाल में कार्यरत किसानों जैसा ही शोषण किया जाता था। 1917-18 ई. में वहाँ के किसानों ने महात्मा गांधी से सहायता माँगी। गांधीजी सरकारी आज्ञा की अवज्ञा करके वहाँ गये और किसानों को

शान्तिपूर्ण आन्दोलन चलाने में सहयोग दिया। किसानों ने नील की खेती करनी बन्द कर दी। अन्त में, एक सरकारी समिति की स्थापना की गयी जिसकी रिपोर्ट के आधार पर किसानों को कुछ सुविधाएँ प्रदान की गयीं।

1919 ई. में खेड़ा (महाराष्ट्र) के किसानों ने लगान देने से इन्कार कर दिया क्योंकि सूखे के कारण उनकी फसल पर्याप्त नष्ट हो गयी थी। सरकार इस बात को नहीं मान रही थी क्योंकि उसके अनुसार 25% खेती नष्ट नहीं हुई थी जिसके आधार पर किसानों को लगान से मुक्त किया जाता। वहाँ पर भी गांधीजी ने किसानों को नेतृत्व प्रदान किया। अन्त में, सरकार ने लगान से किसानों को मुक्त कर दिया।

7. राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों का सहयोग—गांधीजी ने अखिल भारतीय काँग्रेस के आन्दोलन को मध्यमवर्गीय आन्दोलन के स्थान पर जन-आन्दोलन में बदल दिया। भारतीय किसानों की भूमिका इसमें प्रमुख रही। स्वतन्त्रता की प्राप्ति द्वारा ही उनकी समस्याओं का हल सम्भव है, यह मानकर किसानों ने काँग्रेस के सभी आन्दोलनों में भाग लिया। गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन और सविनय अवज्ञा आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाने में मुख्य योगदान कृषकों का रहा। 1928-29 ई. और 1930-31 ई. में गुजरात के बारदोली जिले में हुए किसान आन्दोलनों का नेतृत्व सरदार वल्लभभाई पटेल और गांधीजी ने ही किया। काँग्रेस ने अपने उद्देश्यों में जमींदारी-उन्मूलन, चकबन्दी, किसान-मजदूरों के लिए न्यूनतम वेतन आदि की माँगों को भी सम्मिलित कर लिया। इस कारण 1919 ई. के पश्चात् के सभी कृषक- आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा बन गये। परन्तु इससे किसानों की समस्याओं का समाधान नहीं हुआ। इसी कारण बाद में किसानों को अपनी पृथक सभाएँ और समुदाय बनाने की आवश्यकता हुई।

8. काँग्रेस से पृथक हुए आन्दोलन—किसानों ने राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग देने के अतिरिक्त कुछ स्वतन्त्र आन्दोलन भी शुरू किये। किसानों ने दक्षिण में गुण्टूर और कर्नाटक तथा उत्तर प्रदेश में अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया। 1922 ई. का मोपला-विद्रोह भी एक दृष्टि से मुसलमान किसानों का अपने जमींदारों के विरुद्ध संघर्ष था। परन्तु इनमें से कोई भी संघर्ष सफल न हुआ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व साम्यवादियों के प्रभाव के कारण किसानों के कुछ सशस्त्र विद्रोह हुए। इनमें तेलंगाना-आन्दोलन, तेभागा-आन्दोलन और वर्ली-विद्रोह प्रमुख थे। तेलंगाना (हैदराबाद-दक्षिण) का सशस्त्र आन्दोलन 1946-51 ई. तक चला। परन्तु यह असफल रहा। तेभागा-आन्दोलन 1942-47 ई. में बंगाल में हुआ। 1947 ई. में महाराष्ट्र में वर्ली के बँधुआ-मजदूरों ने उस समय तक कार्य करने से इन्कार कर दिया जब तक कि उनकी मजदूरी निश्चित नहीं कर दी गयी और उन्हें साहूकारों के कर्जे से मुक्त नहीं मान लिया गया। ये आन्दोलन अंशतः सफल रहे।

इस प्रकार भारतीय किसानों द्वारा विभिन्न आन्दोलन स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले हुए। ये किसानों को कुछ मात्रा में ही सुविधा प्रदान कर सके। उनमें से कोई भी किसानों की मूलभूत समस्याओं का हल न निकाल सका। इस कारण स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जमींदारी-उन्मूलन के अतिरिक्त किसानों के हित की पूर्ति के लिए अनेक कार्यों की आवश्यकता बनी रही। कुछ कार्य इस दिशा में किये भी गये हैं, तब भी किसानों की समस्याओं का पूर्ण समाधान अभी तक सम्भव नहीं हुआ है।

किसानों के संगठन—राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेते हुए किसानों ने यह अनुभव किया कि काँग्रेस द्वारा किसानों के हित की पूर्ति सम्भव नहीं है। एन. जी. रंगा ने गांधीजी के चम्पारन-आन्दोलन की भी आलोचना की क्योंकि उसमें किसानों की मुख्य समस्याओं,

जैसे उनके कर्ज और लगान में कमी किये जाने की समस्या को सम्मिलित नहीं किया गया था। इस कारण किसानों के पृथक संगठन की आवश्यकता अनुभव की गयी। 1923 ई. में आन्ध्र-प्रदेश में किसानों ने अपने कुछ स्वतन्त्र समुदाय बनाये। 1926-27 ई. में पंजाब, बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में किसानों के कुछ समुदाय बने। 1928 ई. में आन्ध्र में प्रान्तीय रैयत-सभा की स्थापना हुई। उसी वर्ष उत्तर प्रदेश और बिहार के किसान-प्रतिनिधियों ने मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में आयोजित 'सर्वदलीय सम्मेलन' के समक्ष अपनी माँगें प्रस्तुत कीं। किसानों के इन संगठनों और काँग्रेस द्वारा उनकी माँगों का समर्थन किये जाने के कारण सरकार ने कुछ कानून किसानों की सुविधा के लिए बनाये; जैसे—1934 ई. का उत्तर प्रदेश का Debt Relief Act, 1934 ई. का पंजाब का Regulation of Accounts Act तथा बंगाल के क्रमशः 1933 ई. और 1935 ई. के Moneylenders Act और Relief of Indebtedness Act। परन्तु इनमें से कोई भी कानून किसानों के लिए विशेष लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ।

सर्वप्रथम 1935 ई. में किसानों का एक अखिल भारतीय समुदाय बनाया गया जिसे 'अखिल भारतीय किसान काँग्रेस' के नाम से पुकारा गया। परन्तु यह काँग्रेस भी किसानों के हितवर्द्धन के लिए कोई विशेष कार्य न कर सकी। 1937 ई. में प्रान्तों में गठित काँग्रेस-मन्त्रिमण्डलों ने भी किसानों के हितार्थ कोई ठोस कार्य नहीं किया। परन्तु किसानों की इस काँग्रेस ने किसानों को अपनी माँगें सरकार के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक संयुक्त मंच अवश्य प्रदान किया।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले किसानों के संगठित या असंगठित शान्तिपूर्ण अथवा हिंसात्मक आन्दोलनों में से कोई भी किसानों को न्याय नहीं दिला सका। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है परन्तु किसानों के लिए न्यायपूर्ण व्यवस्था अभी भी नहीं हुई है। इसका बहुत कुछ दोष किसानों की अज्ञानता, भटकी हुई जीवन की मान्यताएँ और एक क्रान्तिकारी एवं उद्देश्यपूर्ण विचारधारा की कमी है। योग्य नेतृत्व का अभाव भी इसका एक बड़ा कारण है।

2. मजदूर-आन्दोलन

उद्योगों के विकास द्वारा मजदूर-वर्ग का निर्माण होता है। भारत का औद्योगीकरण बहुत देर से हुआ। इस कारण मजदूर-वर्ग का निर्माण और उससे भी अधिक अपने अधिकारों के प्रति उनमें चेतना का आरम्भ बहुत देर से हुआ। भारत के मजदूर-वर्ग का निर्माण भूमिहीन किसानों और नष्टप्राय गृह-उद्योगों में कार्यरत मजदूरों ने किया। एक लम्बे समय तक उद्योग-पतियों ने उनकी दुर्बलता से लाभ उठाया। न्यूनतम वेतन, कार्य के घण्टों का आधिक्य, मजदूर-बच्चों और स्त्रियों का शोषण, अरक्षित और गन्दगी से पूर्ण परिस्थितियों में कार्य करना, अनिश्चित और अनियमित वेतन, नौकरी की अस्थिरता आदि सभी समस्याएँ भारतीय मजदूरों को लम्बे समय तक भुगतनी पड़ीं। सरकार ने उनके सम्बन्ध में कुछ कानून बनाये; जैसे—1931 ई. का Indian Ports Act, 1934 ई. का Workmen's Compensation Act, 1934 ई. का Factories Act, 1935 ई. का Mines Act और 1936 ई. का Payment of Wages Act । परन्तु इन कानूनों से कोई लाभप्रद परिणाम न निकला क्योंकि उद्योगपति इनके नियमों को लागू नहीं करते थे। मजदूर उस समय तक संगठित न थे, इस कारण वे भी कुछ नहीं कर सकते थे।

मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए कुछ अन्य कानूनों का निर्माण ब्रिटेन के उद्योगपतियों के दबाव के कारण हुआ। भारत में मजदूरी सस्ती थी। इस कारण भारतीय उद्योगपति मुख्यतः कपड़ा मिल-मालिक उसका लाभ उठाकर ब्रिटेन के कपड़ा मिल-

मालिकों का मुकाबला कर रहे थे। ब्रिटेन के उद्योगपतियों ने इसका हल भारतीय मजदूरों के कार्य के घण्टों में कमी और उनके वेतन में वृद्धि करना निकाला। इसके परिणामस्वरूप 1881 ई. में भारत सरकार ने एक फैक्टरी कानून बनाया। उसके द्वारा 7 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में कार्य करने से रोक दिया गया और 7 से 12 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए 9 घण्टे प्रतिदिन कार्य के लिए निश्चित किये गये। 1891 ई. में एक नवीन फैक्टरी कानून बनाया गया जिसके अनुसार 9 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए कार्य करने की अवधि 7 घण्टे प्रतिदिन निश्चित की गयी और स्त्रियों के लिए यह अवधि 11 घण्टे प्रतिदिन रखी गयी। इसके अतिरिक्त, सप्ताह में एक दिन मज ग की छुट्टी का निश्चित किया गया। 1911 ई. के एक अन्य फैक्टरी कानून के द्वारा पुरुष-मजदूर के लिए 12 घण्टे प्रतिदिन कार्य की अवधि निश्चित की गयी। परन्तु इन कानूनों से भी कोई लाभ नहीं हुआ क्योंकि उद्योगपति उनके नियमों का पालन नहीं करते थे और उन्हें बाध्य किये जाने की कोई व्यवस्था न थी।

मजदूरों में संगठन के अभाव के कारण 1918 ई. तक कोई आन्दोलन उनके हितों के लिए आरम्भ नहीं किया जा सका। 1908 ई. में बम्बई के कपड़ा मजदूरों ने सर्वप्रथम एक हड़ताल की। वह सफल भी हुई परन्तु यह हड़ताल बालगंगाधर तिलक को छह साल की जेल की सजा दिये जाने के विरोध में थी। इसका सम्बन्ध मजदूरों की समस्या से न था।

प्रथम महायुद्ध के समय में भारतीय उद्योगों की प्रगति हुई। उससे मजदूरों की संखया में वृद्धि हुई। परन्तु उद्योगपतियों ने अपने बढ़ते हुए लाभ में से मजदूरों को हिस्सा नहीं दिया। युद्ध के समय और उसके पश्चात् बढ़ती महँगाई ने मजदूरों की आर्थिक स्थिति दयनीय कर दी। इससे मजदूरों में चेतना आयी। राष्ट्रीय आन्दोलन में मजदूरों ने भी भाग लेना शुरू किया। इससे उनके आत्मविश्वास में वृद्धि हुई। इन कारणों से 1918 ई. से मजदूर-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 1918-20 ई. के मध्य भारत के विभिन्न औद्योगिक नगरों, जैसे बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, अहमदाबाद, कानपुर, शोलापुर और जमशेदपुर में मजदूरों ने अपनी माँगों की स्वीकृति के लिए हड़ताल का सहारा लिया। इसी अवसर पर उन्हें अपने संगठनों की आवश्यकता अनुभव हुई तथा विभिन्न मजदूर-संगठनों का निर्माण किया गया। इसका अन्तिम परिण:म 1920 ई. में 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन' (A. I. T. U.) की स्थापना था। इसके निर्माण में मुख्य भाग एन.एम. जोशी, लाला लाजपतराय और जोसेफ बेप्टिस्टा ने लिया। ये नेता उदारवादी थे। प्रायः अगले दस वर्षों तक इसमें एन. एम. जोशी का प्रभुत्व रहा यद्यपि वी. वी. गिरि और सी. आर. दास जैसे राष्ट्रीय नेता भी बाद में इसमें सम्मिलित हो गये।

1922 ई. से भारत में समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराएँ फैलनी आरम्भ हुईं। अखिल भारतीय काँग्रेस में भी एक वर्ग ऐसा बन गया जो समाजवाद का समर्थक था। उसका नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस जैसे राष्ट्रीय नेताओं ने किया। परन्तु काँग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी विचारधारा के व्यक्ति मजदूर-संगठनों को पृथक नेतृत्व प्रदान न कर सके। वे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रमुखता देते रहे। इस कारण 1927 ई. में मजदूर-संगठनों में साम्यवादी और समाजवादी विचारधाराएँ फैलीं। अनेक व्यक्तियों ने इन विचारों से युक्त मजदूर-संगठन स्थापित किये, जिनका उद्देश्य केवल मजदूरों की समस्याओं पर ही विचार करना था। इन विचारधाराओं के व्यक्तियों ने 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन' (A. I. T. U.) पर भी आधिपत्य जमा लिया जिसके कारण उदारवादियों ने एन. एम. जोशी के नेतृत्व में इस संगठन से पृथक होकर एक अलग संगठन 'इण्डियन ट्रेड यूनियन फैडरेशन' (I. T. U. F.) की स्थापना 1929 ई. में की। 1931 ई. में 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन' (A. I. T. U.) में पुनः एक विभाजन हुआ और वह दो भागों में बँट गयी। परन्तु 1935 ई. में ये दोनों पुनः संयुक्त हो

गये। 1938 ई. में 'इण्डियन ट्रेड यूनियन फैडरेशन' (I. T. U. F.) भी इस संगठन में सम्मिलित हो गयी जिससे मजदूर-संगठन पर्याप्त दृढ़ हुआ।

ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन (A. I .T. U.) ने शक्तिशाली बनकर अपने उद्देश्यों को विस्तृत तथा स्पष्ट किया। उसने भारत में समाजवादी राज्य की स्थापना, उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण, मजदूरों के आर्थिक और सामाजिक स्तर में वृद्धि तथा भाषण, समुदाय-निर्माण और हड़तालें करने की स्वतन्त्रता और अधिकार आदि को अपना उद्देश्य बनाया।

1927 ई. से मजदूर-समुदायों ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष को तीव्र किया। उन्होंने अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की रक्षा करते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। 1928-30 ई. के मध्य कई स्थानों पर मजदूरों ने हड़तालें कीं, जैसे बम्बई के कपड़ा मिलों के मजदूरों ने। उन्होंने साइमन कमीशन का विरोध किया और सविनय अवज्ञा आन्दोलन में काँग्रेस का साथ दिया।

1924 ई. में साम्यवादी दल की स्थापना हुई। उसने एक क्रान्तिकारी मजदूर-संगठन होने का दावा किया और मजदूरों के संगठनों को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया। सरकार उसके कार्यों से शंकित हुई। उसने Trade Disputes Act बनाकर मजदूरों के हड़ताल करने के अधिकार को सीमित कर दिया और Public Safety Act के द्वारा अवांछित व्यक्तियों को देश से बाहर निकाल दिये जाने की व्यवस्था की। उस समय साम्यवादियों के कुछ नेताओं को पकड़कर उन पर मुकदमा चलाया गया जिसे 'मेरठ-षड्यन्त्र' के नाम से पुकारा गया है।

1937 ई.. में काँग्रेस-मन्त्रिमण्डलों के गठन पर मजदूरों को आशा हुई कि उन्हें कुछ लाभ और अधिकार मिलेंगे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ बल्कि बम्बई में हड़ताली मजदूरों पर गोलियाँ चलायी गयीं और Bombay Trade Disputes Act बनाकर पूँजीपतियों के हितों को सुरक्षित किया गया। इसी प्रकार, 1946 ई. में कानपुर में हुई कपड़ा और चमड़ा उद्योगों के मजदूरों की हड़ताल, उसी वर्ष कोलार की खान में हुई मजदूरों की हड़ताल तथा 1947 ई. में कानपुर और कलकत्ता में हुई हड़तालों को सरकार ने शक्ति से कुचला।

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले भारत में स्वतन्त्र मजदूर-संगठनों का निर्माण हुआ, उनमें चेतना आयी और उन्होंने अपने अधिकारों के लिए जुलूस, प्रदर्शन तथा हड़तालों का सहारा लेकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी किया। परन्तु इससे भारतीय मजदूरों की स्थिति पर कोई विशेष लाभदायक प्रभाव नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त, भारतीय मजदूर-संगठन और आन्दोलन की एक प्रमुख दुर्बलता यही रही कि इसमें किसान-मजदूरों को संगठित करने के प्रयत्नों का अभाव रहा और उनके हितों के लिए संघर्ष भी नहीं किया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में किसान-आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में मजदूर-आन्दोलन की उत्पत्ति और विकास पर एक टिप्पणी लिखिए।

35

भारत में वामपन्थी आन्दोलनों का विकास

भारत में वामपन्थी आन्दोलन का विकास 20वीं सदी के दूसरे दशक में आरम्भ हुआ। 1917 ई. में हुई रूस की साम्यवादी राज्यक्रान्ति की सफलता ने भारतीय उग्र-राष्ट्रवादियों की भावना को समाजवाद की ओर मोड़ दिया। असहयोग-आन्दोलन की असफलता ने उनके इस विचार को दृढ़ता प्रदान की कि गांधीजी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति की आशा नहीं की जानी चाहिए। स्वराज्य-दल के उद्देश्यों ने भी उन्हें आकर्षित नहीं किया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बढ़ती हुई महँगाई और बेरोजगारी ने भी समाजवादी विचारधारा के पनपने में सहायता दी। इन कारणों से भारत में अनेक ऐसे व्यक्ति हो गये जिन्होंने आर्थिक समानता, वर्ग-संघर्ष, शोषण के विरुद्ध विद्रोह, आदि की बातें आरम्भ कीं। इनमें से कुछ ऐसे व्यक्ति थे जो साम्यवाद से प्रभावित हुए और जिन्होंने रूस के साम्यवादियों से सहायता लेकर भारत में साम्यवाद के प्रसार का प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय साम्यवादी दल का निर्माण किया। परन्तु अन्य ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने वर्ग-संघर्ष और हिंसा में विश्वास तो नहीं किया किन्तु जिनकी यह धारणा बन गयी कि भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम का मुख्य उद्देश्य भारत में समाजवादी समाज की स्थापना होना चाहिए। वे बहुत समय तक अखिल भारतीय काँग्रेस के साथ रहे, परन्तु अन्त में उन्होंने काँग्रेस से पृथक होकर समाजवादी दल की स्थापना की। ये दोनों विचारधाराएँ वामपन्थी विचारधाराएँ कहलायीं और दोनों के नेतृत्व में जो प्रयत्न साम्यवाद और समाजवाद की स्थापना के के लिए किये गये, वे वामपन्थी आन्दोलन कहलाये।

1. समाजवादी दल—प्रारम्भ में अखिल भारतीय काँग्रेस के अन्तर्गत ही समाजवादी वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। उसके सदस्यों का विश्वास था कि राष्ट्रीय आन्दोलन का उद्देश्य भारत में प्रजातन्त्रात्मक साधनों द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना करना है। वे वर्ग-संघर्ष और हिंसा में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में काँग्रेस के साथ रहकर उसे सहयोग प्रदान किया। उन्होंने विभिन्न स्थानों पर मजदूरों और किसानों के संगठन बनाये तथा उनके वर्ग-हितों की पूर्ति के लिए संघर्ष के मार्ग को भी चुना परन्तु उनका संघर्ष जुलूस और हड़तालों तक सीमित रहा। राष्ट्रीय नेताओं में से जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने उनका समर्थन किया। परन्तु इन समाजवादियों का समाजवाद के प्रचार में योगदान नगण्य रहा। सुभाषचन्द्र बोस को काँग्रेस छोड़कर एक अलग संस्था 'फॉरवर्ड ब्लाक' बनानी पड़ी जबकि जवाहरलाल नेहरू ने गांधीजी के विचारों के सम्मुख झुकना पसन्द किया।

परन्तु काँग्रेस के अन्तर्गत ही प्रजातन्त्रीय समाजवाद में विश्वास करने वाले ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने समाजवादी विचारधारा के प्रसार हेतु काँग्रेस से पृथक होना स्वीकार किया। उन्होंने अनेक अवसरों पर गांधीजी की नीति में अविश्वास प्रकट किया। 1934 ई. में उनके नेता जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्रदेव ने एक पृथक दल 'काँग्रेस समाजवादी दल' की स्थापना की। यह दल न तो काँग्रेस की सहानुभूति प्राप्त कर सका और न ही साम्यवादियों की। निस्सन्देह, इसने हिन्दू और मुसलमानों में एकता के लिए आर्थिक हितों की समानता पर बल दिया, 1935 ई. के भारत-कानून का विरोध किया, मुस्लिम लीग से समझौता करके भारत के

विभाजन की नीति का विरोध किया तथा अन्य भी विभिन्न राष्ट्रीय हित के कार्य किये। परन्तु तब भी यह दल न तो लोकप्रिय हो सका और न ही भारत में समाजवादी विचारधारा के फैलाने में अधिक सफल रहा। इसके नेता क्रान्तिकारी कम और आदर्शवादी अधिक रहे और यही उनकी असफलता का मूल कारण रहा। तब भी समाजवादियों ने विभिन्न स्थानों पर मजदूरों एवं किसानों के समुदायों को संगठित करने और उनको नेतृत्व प्रदान करने में भाग लिया।

2. साम्यवादी दल—स्वतन्त्रता से पहले भारत में समाजवादी विचारधारा को फैलाने में प्रमुख भाग 'भारतीय साम्यवादी दल' (Communist Party of India) ने लिया। सर्वप्रथम, एम. एन. रॉय ने साम्यवादी दल के निर्माण का प्रयत्न किया। उनके प्रयत्नों से बम्बई, बंगाल, पंजाब और उत्तर-प्रदेश में पृथक-पृथक मजदूरों एवं किसानों के चार दलों का निर्माण हुआ तथा 1924 ई. में साम्यवादी दल का निर्माण हुआ परन्तु इन समुदायों को अपने कार्य में कोई विशेष सफलता न मिली। कुछ समय पश्चात् इन दलों को ब्रिटेन में आये हुए कुछ साम्यवादियों की सहायता मिली। उन्हीं में से एक व्यक्ति फिलिप स्प्राट था जो दिसम्बर 1926 ई. में भारत पहुँचा। उसे मास्को से आर्थिक सहायता मिली। उसने अपने प्रयत्नों से साम्यवादी दल की लोकप्रियता में वृद्धि की। इसके अतिरिक्त बम्बई में एस. ए. डाँगे और उसके साप्ताहिक समाचार-पत्र 'सोशलिस्ट' ने, बंगाल में मुजफ्फर अहमद और फजलुल हक तथा उनके समाचार-पत्र 'नवयुग' ने तथा पंजाब में गुलाम हुसैन और उनके मासिक उर्दू-पत्र 'इन्कलाब' ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योग दिया।

सरकार साम्यवादियों की कार्रवाई को अत्यधिक सन्देह से देखती थी। इस कारण उसने प्रारम्भ में ही उनके दमन की तैयारी की तथा साम्यवादियों को हिंसा के कुछ मुकदमों में फँसाया। मुकदमे तीन थे—**1. पेशावर षड्यन्त्र केस** (1922-23 ई.), **2. कानपुर षड्यन्त्र केस** (1924 ई.) **और मेरठ षड्यन्त्र केस** (1919-33 ई.)। पेशावर षड्यन्त्र के मुकदमे में उन व्यक्तियों को पकड़ा गया था जो खिलाफत-आन्दोलन के समय भारत से बाहर चले गये थे और जिन्होंने रूस में प्रशिक्षण प्राप्त करके भारत में प्रवेश किया। उन पर पेशावर में मुकदमा चलाया गया कि वे सरकार के विरुद्ध हिंसात्मक कार्रवाई करना चाहते थे। उसमें पकड़े गये व्यक्तियों को 1 से 2 वर्ष तक की सजा दी गयी। कानपुर षड्यन्त्र केस के मुकदमे में शौकत उस्मानी, मुजफ्फर अहमद, एस. ए. डाँगे और नलिनि गुप्त पर हिंसात्मक तरीके से सरकार उलटने का आरोप लगाया गया। इनमें से प्रत्येक अभियुक्त को चार वर्ष का कठोर कारावास दिया गया। इस मुकदमे की चर्चा भारत में ही नहीं अपितु विदेशों में भी हुई। मेरठ षड्यन्त्र केस में सरकार ने सभी प्रमुख साम्यवादी नेताओं को सम्मिलित कर लिया और उनको कैद करके उन पर सरकार को पलटने के प्रयत्न का दोष लगाया। सभी अभियुक्तों को लम्बी कैद की सजाएँ दी गयीं यद्यपि बाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने उनकी सजा की अवधि में कमी कर दी। इस मुकदमे ने एक तरफ साम्यवादी दल को कुछ समय के लिए दुर्बल अवश्य किया क्योंकि उसके सभी नेता जेल में बन्द कर दिये गये थे परन्तु उसने दल की लोकप्रियता में बहुत वृद्धि की क्योंकि प्रायः साढ़े चार वर्ष तक यह मुकदमा चर्चा का विषय बना रहा। इस प्रकार सरकार की दमन-नीति ने साम्यवादी दल को लोकप्रिय बनने में सहायता दी।

साम्यवादी दल ने अपनी इस लोकप्रियता का लाभ नहीं उठाया। इसका मुख्य कारण उसका रूस के साम्यवादी दल के आदेशों का पालन करना था। भारतीय साम्यवादी दल रूस द्वारा स्थापित कोमिण्टर्न (अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सभा) का सदस्य था। कोमिण्टर्न से उसे सभी पूँजीपति वर्गों से अपने सम्बन्धों को समाप्त कर देने के आदेश प्राप्त हुए। इसी सन्दर्भ में उसे काँग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद करने और जवाहरलाल नेहरू व गांधीजी जैसे राष्ट्रीय नेताओं की आलोचना करने के आदेश भी मिले। 1928-34 ई. के मध्य साम्यवादी दल ने इसी नीति का पालन किया जिसके कारण वह केवल भारत के सभी अन्य राजनीतिक दलों से ही पृथक नहीं

हुआ बल्कि जनसाधारण की सहानुभूति तक खो बैठा। एम. एन. रॉय जैसे साम्यवादियों ने भी इस नीति का विरोध किया और साम्यवादी दल से पृथक हो गये। जब साम्यवादी दल ने गांधीजी द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन के विरोध में कार्य किया तो उसकी लोकप्रियता और भी कम हो गयी। इस समय में उसने केवल एक सफलता प्राप्त की। उसने मजदूरों के भारतीय संगठन 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन' (A. I. T. U.) पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। 1934 ई. में कपड़ा मिल मजदूरों की हड़ताल होने पर सरकार ने साम्यवादी दल को इसके लिए जिम्मेदार ठहराकर उसे गैर-कानूनी घोषित कर दिया।

1934 ई. के पश्चात् साम्यवादियों ने अपनी नीति में परिवर्तन किया। उन्होंने अपने सदस्यों को काँग्रेस, समाजवादी दल, सुभाषचन्द्र बोस द्वारा स्थापित 'फॉरवर्ड ब्लाक' और विभिन्न विद्यार्थी समुदायों में प्रवेश कराया। सभी ने उनका स्वागत किया। इससे साम्यवादियों ने इन दलों के अनेक महत्वपूर्ण पदों को प्राप्त कर लिया जिससे वे इनकी नीतियों को प्रभावित कर सके। परन्तु उनकी नीति के समझ में आते ही सभी ने उनको अपनी सदस्यता से अलग कर दिया।

इसके पश्चात् साम्यवादी दल भारतीय राष्ट्रीय भावना और आन्दोलन से पृथक होता चला गया। द्वितीय महायुद्ध के समय में उनकी विदेश अर्थात् रूस पर निर्भरता अधिक स्पष्ट हुई। प्रारम्भ में रूस ब्रिटेन के विरोध में था। उस समय साम्यवादी दल ने महायुद्ध को साम्राज्यवादी शक्तियों का षड्यन्त्र बताकर भारत में ब्रिटिश सरकार का विरोध किया। परन्तु जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण किये जाने के कारण जब रूस ब्रिटेन के साथ हो गया, तो साम्यवादी दल ने सरकार के साथ सहयोग करना आरम्भ कर दिया। उसने 1942 ई. के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन का भी विरोध किया। इससे भारतीय जनता में साम्यवादी बदनाम हो गये। देश की स्वतन्त्रता के अवसर पर भी साम्यवादियों ने न केवल मुस्लिम लीग का समर्थन करते हुए पाकिस्तान की माँग का समर्थन किया अपितु भारत को विभिन्न राष्ट्रों से मिलकर बना हुआ देश स्वीकार किया। इससे भारतीय जनमत उससे और अधिक असन्तुष्ट हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता के अवसर पर साम्यवादी दल की यही भूमिका रही।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् साम्यवादी दल में फूट पड़ गयी। उसके एक वर्ग ने भारतीय संविधान के अन्तर्गत कार्य करने की नीति का समर्थन किया और दूसरे वर्ग ने साम्यवादी समाज की स्थापना हेतु कार्य करते रहने का समर्थन किया। चीन के साम्यवादी राज्य बन जाने, उसके और रूस के बढ़ते हुए मतभेद तथा 1962 ई. में हुए भारत-चीन युद्ध ने साम्यवादियों को और अधिक विभाजित कर दिया तथा अन्त में 1964 ई. में एक अन्य दल—साम्यवादी मार्क्सवादी दल—का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् भी साम्यवादियों के अन्तर बढ़ते गये और अब वे कई दलों में विभाजित हो गये हैं जिनमें, निस्सन्देह, साम्यवादी मार्क्सवादी दल (CPM) सर्वाधिक प्रभावशाली है।

इस प्रकार भारत में स्वतन्त्रता से पहले वामपन्थी विचारधारा और आन्दोलनों का प्रभाव उत्पन्न हुआ और बढ़ा। भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन में उनका योगदान हानिकारक रहा और भारतीय जनमत पर उनका प्रभाव प्रायः नगण्य। परन्तु तब भी मजदूर-आन्दोलनों को संगठित करने, उनके अधिकारों के लिए संघर्ष करने, भारत को समाजवादी विचारधारा की ओर ले जाने तथा भारतीय बुद्धिजीवी-वर्ग का ध्यान आर्थिक एवं सामाजिक न्याय की ओर आकर्षित करने में उसकी भूमिका, निस्सन्देह, सराहनीय है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व हुए वामपन्थी आन्दोलनों और उनके महत्व को स्पष्ट कीजिए।

36

स्वाधीनता के बीस वर्ष (1947-1967 ई.)

1947 ई. में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीयों को स्वयं अपने देश का शासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। अंग्रेजों ने भारतीयों को संसदीय शासन का मार्ग बता दिया था परन्तु अनेक ऐसी समस्याएँ थीं जिनके बारे में उन्होंने सोचा तक न था और अनेक ऐसी बातें थीं जिनमें निर्माण-कार्य को आरम्भ भी नहीं किया गया था। अन्तरिम-सरकार दुर्बल सिद्ध हुई थी, स्थान-स्थान पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे, लाखों की संख्या में हिन्दू शरणार्थी पश्चिमी पंजाब और बंगाल से भारत आ गये थे और आ रहे थे, कुछ देशी नरेश-राज्य अपने राज्यों को स्वतन्त्र रखकर भारत को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटने के लिए तत्पर थे, अपने देशवासियों के लिए भारत को विदेशों से खाद्यान्न मँगाना पड़ रहा था, खेती करने के साधन प्राचीन थे, विदेशी व्यापार न्यूनतम था, उद्योगों की स्थापना न के बराबर थी, सामाजिक प्रगति रुकी हुई थी, विदेशी राज्यों से भारत के स्वतन्त्र सम्बन्ध न थे और विस्तृत भारतीय सीमाओं की सुरक्षा के लिए भारत के पास न तो अस्त्र-शस्त्र थे और न ही वह अस्त्र-शस्त्र बनाता था। न उसके पास वायु-सेना थी, न नौ-सेना और न उसकी स्थल-सेना पर्याप्त और साधन-सम्पन्न कही जा सकती थी।

स्वतन्त्रता के पश्चात् इन सभी कठिनाइयों को दूर करने तथा उन्नति के लिए नवीन मार्गों की खोज करने का दायित्व भारतीयों पर आया। भारतीयों ने इस चुनौती को स्वीकार किया और पं. जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद, रफी अहमद किदवई सदृश अपने सुयोग्य नेताओं के नेतृत्व में भारत का निर्माण-कार्य शुरू किया। आधुनिक भारत के निर्माण में भारतीयों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने पर्याप्त सफलता प्राप्त की। प्रारम्भिक बीस वर्षों का भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ने अपने नवनिर्माण की ओर कदम उठाये। भारत के जनतन्त्रीय संविधान का निर्माण, वयस्क मताधिकार पर आधारित जनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था, धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना, समान राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक अधिकारों की स्थापना का प्रयत्न, पंचवर्षीय योजनाएँ और उद्योग, कृषि, व्यापार, शिक्षा, लोक-सेवा आदि की उन्नति का प्रयत्न, देशी राज्यों का विलयीकरण और उनमें जनतन्त्रीय शासन की स्थापना, विदेशी राज्यों से सम्बन्धों की स्थापना, कश्मीर की सुरक्षा और एक निश्चित विदेश-नीति का आरम्भ आदि विभिन्न कार्य प्रारम्भिक बीस वर्षों में आरम्भ किये गये जिनसे भारत का नव-निर्माण हुआ। भारत ने अपने इन प्रयत्नों में पूर्ण सफलता प्राप्त की हो, ऐसा नहीं है। परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये प्रयत्न असफल रहे। भारत ने धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से प्रगति की ओर कदम बढ़ाये।

1. आन्तरिक परिवर्तन

1. नवीन संविधान

(i) निर्माण—1946 ई. में कैबिनेट-मिशन की योजना के आधार पर भारतीय संविधान-सभा का निर्माण हुआ। प्रारम्भ में इसके सदस्यों की संख्या 389 थी। मुस्लिम लीग ने इस सभा के कार्यों में भाग लेने से इन्कार कर दिया और पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात् लीग के सदस्य इसके सदस्य न रहे। इस कारण बाद में इसके सदस्यों की संख्या 310 रह गयी। प्रारम्भ में इसके सभापति श्री सच्चिदानन्द सिन्हा चुने गये थे परन्तु बाद में डॉ. राजेन्द्रप्रसाद इसके स्थायी सभापति चुने गये। इस सभा ने प्रायः तीन वर्ष कार्य किया। 26 नवम्बर, 1949 ई. को इस सभा ने संविधान के निर्माण हेतु विभिन्न समितियों का गठन किया। एक विशेष समिति को सम्पूर्ण संविधान की रूपरेखा तैयार करने का दायित्व सौंपा गया। इस समिति के प्रधान डॉ. भीमराव अम्बेडकर नियुक्त किये गये जो मूलतः इस नवीन संविधान का मसविदा तैयार करने के लिए उत्तरदायी हुए। संविधान का मसविदा तैयार हो जाने के पश्चात् उसे जनता की प्रतिक्रियाएँ जानने हेतु प्रकाशित किया गया। उसके पश्चात् उसे संविधान-सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया जिसने प्रस्तावित लगभग दो हजार संशोधनों पर विचार किया। तत्पश्चात् इस संविधान को स्वीकार कर लिया गया। 26 जनवरी, 1950 ई. से भारत के इस नवीन संविधान को लागू किया गया।

(ii) प्रस्तावना—नवीन संविधान की प्रस्तावना संविधान के स्रोत और उद्देश्यों को स्पष्ट करती है। यह प्रस्तावना इस प्रकार है :

> **"हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए तथा उन सभी में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए, दृढ़-संकल्प होकर अपनी इस संविधान-सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"**

(iii) विशेषताएँ—भारत का संविधान एक लिखित संविधान है। यह एक विशाल आकार का संविधान है जिसमें 395 धाराएँ और 8 अनुसूचियाँ हैं। यह जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बनाया गया संविधान है। इसके द्वारा भारत में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य की स्थापना की गयी है। इसने भारत में एक ऐसे संघ-राज्य की स्थापना की है जिसमें एकात्मक शासन के गुणों को भी सम्मिलित किया गया है। इसने एक ऐसे शासन की स्थापना की है जिसमें राज्य-सरकारों की तुलना में केन्द्रीय सरकार अधिक शक्तिशाली है। इस संविधान में सुपरिवर्तनशील और दुष्परिवर्तनशील संविधानों का अद्भुत मिश्रण है। इस संविधान के द्वारा भारत में संसदीय या सभात्मक शासन-व्यवस्था को स्थापित किया गया है। इसके अन्तर्गत दोहरी नागरिकता का अभाव है, अर्थात् प्रत्येक नागरिक केवल भारतीय संघ-राज्य का ही नागरिक है। इसके द्वारा चुनावों में संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली के प्रयोग की व्यवस्था की गयी है। इसके द्वारा भारत में वयस्क मताधिकार को स्थान दिया गया है अर्थात् प्रत्येक 21 वर्ष की आयु के स्त्री और पुरुष को चुनावों में मतदान का अधिकार है। इस संविधान

के द्वारा भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गयी है अर्थात् भारत राज्य का कोई धर्म नहीं है। इसने पिछड़े हुए क्षेत्रों और जन-जातियों के हितों की सुरक्षा का विशेष प्रबन्ध किया है। इसके द्वारा देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया गया है। इसके द्वारा भारत में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रजातन्त्र की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया है। इसके अन्तर्गत नागरिकों के स्वतन्त्रता, समानता, धार्मिक विश्वास, सांस्कृतिक तथा शिक्षात्मक राजनीतिक समता, सम्पत्ति-सुरक्षा, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आदि के अधिकारों को मौलिक या मूल अधिकारों के रूप में सम्मिलित किया गया है। इसके अन्तर्गत 'राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों' का उल्लेख करके राज्यों को भविष्य में नागरिकों की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार की उन्नति करने तथा विश्व-शान्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों के सम्बन्ध में मार्ग-निर्देश किया गया है। इस संविधान ने एक स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की है। इसने भारत में एक लोकमंगलकारी राज्य की स्थापना की है। इसने राज्य को विश्व-शान्ति के समर्थन में कार्य करने का निर्देश दिया है।

भारत के संविधान की उपर्युक्त विशेषताएँ उसे संसार के संविधानों में एक विशेष स्थान प्रदान करती हैं। वह यह स्पष्ट करती हैं कि संविधान-निर्माताओं ने संसार के सभी संविधानों के गुणों को इसमें सम्मिलित करके भारत के लिए एक सर्वश्रेष्ठ संविधान बनाने का प्रयत्न किया है।

परन्तु फिर भी परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण इस संविधान में विभिन्न संशोधन किये जा चुके हैं और अन्य परिवर्तन भी सम्भव हैं।

2. नरेश-राज्यों का भारतीय संघ-राज्य में सम्मिलित होना, उनका प्रजातन्त्रीयकरण और राज्यों का पुनर्गठन

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर भारत में प्रायः 140 राज्य ऐसे थे जहाँ जनतन्त्रीय शासन-व्यवस्था न थी बल्कि वहाँ के नवाब अथवा राजा वहाँ का शासन करते थे। वे अंग्रेजी शासन की प्रभुसत्ता के अधीन थे, यद्यपि आन्तरिक शासन में वे स्वतन्त्र थे। अन्तरिम-सरकार का गठन होने और ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को छोड़ने के निश्चय को जानकर इन राज्यों को अपने विषय में चिन्ता हुई। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से इस सम्बन्ध में वार्ता की, परन्तु वे एक निश्चित आश्वासन पाने में असफल रहे। जब ब्रिटिश संसद ने 1947 ई. का भारतीय स्वतन्त्रता कानून बनाया तब उसमें इन राज्यों के विषय में उल्लेख किया गया कि ब्रिटिश प्रभुसत्ता भारतीय राज्यों पर से समाप्त हो जायेगी और उनसे की गयी सन्धियाँ और समझौते उसी दिन समाप्त हो जायेंगे जिस दिन भारत व पाकिस्तान के स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण होगा। इससे यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटेन ने इन राज्यों के बारे में कोई निर्णय नहीं किया था। इस कारण इन राज्यों के सम्मुख दो विकल्प थे—भारत या पाकिस्तान में से किसी एक राज्य से समझौता करके उसके साथ मिल जाना अथवा अपने को स्वतन्त्र बनाने का प्रयत्न करना। भारत की ओर के इन राज्यों से बातचीत करने का दायित्व अन्तरिम-सरकार के गृह-मन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल पर था। उन्होंने प्रयत्न किया कि भारत की सीमाओं के निकट अथवा उसके अन्तर्गत जितने भी राज्य थे, वे भारत के साथ सम्मिलित हो जायें। उनके दृढ़-निश्चय और लॉर्ड माउण्टबेटन तथा वी. पी. मेनन के सहयोग ने उनके कार्य में सहायता दी। राजाओं की परिषद (Chamber of Princes) के चान्सलर महाराजा पटियाला ने भी इस कार्य में भारत सरकार को पूर्ण सहयोग दिया। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप 15 अगस्त, 1947 ई. तक प्रायः 136 भारतीय राज्यों ने भारत में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर तीन राज्य ऐसे थे जिन्होंने भारत के साथ सम्मिलित होने में कठिनाई प्रस्तुत की। सितम्बर 1947 ई. में जूनागढ़ ने पाकिस्तान में सम्मिलित होना स्वीकार किया। परन्तु इस राज्य की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी तथा यह भारतीय सीमाओं से घिरा हुआ था। राज्य के नागरिकों ने अपने नवाब के निश्चय का विरोध किया और एक 'स्वतन्त्र अस्थायी हुकूमत' की स्थापना कर ली। नवाब अपने राज्य को छोड़कर पाकिस्तान भाग गया और बाद में फरवरी 1948 ई. में जनमत-संग्रह करके जूनागढ़ को भारत में सम्मिलित कर लिया गया। इसी प्रकार, हैदराबाद भी भारतीय सीमाओं से घिरा हुआ था तथा वहाँ की बहुसंख्यक जनता हिन्दू थी परन्तु हैदराबाद के निजाम ने अपने लिए स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करने का प्रयत्न किया। लॉर्ड माउण्टबेटन के प्रयत्नों से नवम्बर 1947 ई. में भारत और हैदराबाद में एक अस्थायी समझौता हो गया। परन्तु निजाम ने उस समझौते का पालन नहीं किया और मुस्लिम रजाकारों को प्रोत्साहन दिया। राज्य में हिन्दुओं पर अत्याचार होने आरम्भ हो गये, हिन्दू-मुस्लिम दंगे होने लगे, आवागमन के साधनों को हानि पहुँचाई गयी और रजाकारों के नेता कासिम रिजवी ने यहाँ तक धमकी दी कि वह सम्पूर्ण भारत को विजय करके दिल्ली के किले पर निजाम का आसफजाही झण्डा फहरायेगा। जून 1948 ई. में लॉर्ड माउण्टबेटन के भारत से चले जाने के पश्चात् स्थिति अधिक गम्भीर हो गयी। अन्त में, हैदराबाद के रुख को देखकर भारत ने 'पुलिस कार्रवाई' करने का निर्णय लिया और सितम्बर 1948 ई. में भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। पाँच दिन में ही हैदराबाद के भाग्य का निर्णय हो गया। 18 सितम्बर, 1948 ई. को मेजर-जनरल जे. एन. चौधरी ने हैदराबाद के सैनिक-गवर्नर का पद सँभाला और हैदराबाद को भारत में सम्मिलित कर लिया गया। निजाम ने इसे स्वीकार कर लिया। जम्मू-कश्मीर के सम्बन्ध में अधिक गम्भीर समस्या उत्पन्न हुई। वहाँ के शासक राजा हरीसिंह ने अपने को स्वतन्त्र रखने का प्रयत्न किया। कश्मीर का राजा हिन्दू था परन्तु बहुसंख्यक निवासी मुसलमान थे। जूनागढ़ और हैदराबाद के सम्बन्ध में भारत ने उन राज्यों पर इसलिए दबाव डाला था क्योंकि वहाँ की बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा अपने राज्य को भारत में सम्मिलित करना चाहती थी। इस कारण भारत कश्मीर के सम्बन्ध में भी वहाँ की जनता की राय जानना चाहता था। अतएव कश्मीर पर भारत ने कोई दबाव नहीं डाला। परन्तु पाकिस्तान ने कश्मीर पर दबाव डाला। कश्मीर ने पाकिस्तान से एक अस्थायी समझौता कर लिया। बाद में पाकिस्तान के व्यवहार से राजा हरीसिंह को चिन्ता हुई। पाकिस्तान ने अस्थायी समझौते की शर्तों को पूरा नहीं किया और राजा पर दबाव डालने के लिए सीमा पर झगड़े करने आरम्भ कर दिये। 22 अक्टूबर, 1948 ई. को पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों के नेतृत्व में कबाइली जातियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया। राज्य के मुस्लिम सैनिकों नें कबाइलियों का साथ दिया और कबाइली कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के निकट तक पहुँच गये। 24 अक्टूबर को राजा हरीसिंह ने भारत से सैनिक सहायता माँगी और उसने कश्मीर को भारत में सम्मिलित करना स्वीकार कर लिया। 26 अक्टूबर को कश्मीर के मुख्यमन्त्री मेहरचन्द महाजन ने पं. जवाहरलाल नेहरू से भेंट की। परन्तु पं. नेहरू तब तक कश्मीर को सहायता देने के लिए सहमत न हुए जब तक कि राज्य के मुख्य राजनीतिक दल—नेशनल कान्फ्रेन्स—के नेता शेख अब्दुल्ला ने पं. नेहरू को यह आश्वासन नहीं दिया कि राज्य में संवैधानिक शासन की शर्त पर वह और उनका दल कश्मीर को भारत के साथ सम्मिलित किये जाने के पक्ष में है। अन्त में, कश्मीर को भारत में सम्मिलित करने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि बाद में कश्मीर में इस विषय पर जनमत-संग्रह कराया जायेगा। इस समझौते के पश्चात् 27 अक्टूबर को हवाई-

मार्ग से भारतीय सेना श्रीनगर भेजी गयी जिसने श्रीनगर को बचा लिया। कश्मीर को अपने हाथ से निकलते देखकर पाकिस्तान की सेना ने कबाइलियों के नाम से युद्ध द्वारा हस्तक्षेप किया। यह संघर्ष जनवरी 1949 ई. में समाप्त हुआ जबकि संयुक्त राष्ट्र-संघ के हस्तक्षेप के कारण भारत और पाकिस्तान दोनों ने युद्ध बन्द करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार कश्मीर को भारत में सम्मिलित किया गया यद्यपि पाकिस्तान के आक्रमण के कारण कश्मीर का बहुत बड़ा क्षेत्र आज भी पाकिस्तान के अधिकार में है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र-संघ से भी इस झगड़े को समाप्त करने में सहायता ली परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ और कश्मीर आज तक भारत और पाकिस्तान के बीच विवाद का एक कारण बना हुआ है।

भारतीय नरेशों के राज्यों का भारत में सम्मिलित होना एक गम्भीर समस्या का केवल एक पहलू था। उसका पुनर्गठन जिससे वे शासन की उपयोगी इकाइयाँ बन सकें और वहाँ प्रजातन्त्रात्मक शासन की स्थापना हो सके, इस समस्या के अन्य पहलू थे। सरदार पटेल ने इन कार्यों की पूर्ति भी साथ-साथ की। बड़े-बड़े राज्यों जैसे कश्मीर, मैसूर, हैदराबाद आदि की सीमाएँ यथावत् रहने दी गयीं। कुछ छोटे-छोटे राज्यों को भारतीय राज्यों (पहले के प्रान्तों) में सम्मिलित कर लिया गया, जैसे उड़ीसा के छोटे-छोटे राज्य उड़ीसा में, कुछ अन्य राज्य मध्य-भारत में तथा गुजरात को बम्बई में सम्मिलित कर दिया गया। कुछ अन्य राज्यों को एक-दूसरे के साथ संयुक्त करके नवीन राज्य बना दिये गये, जैसे मत्स्य, पेप्सू, राजस्थान, काठियावाड़ यूनियन आदि। कुछ छोटे राज्यों का शासन भारत सरकार ने अपने हाथों में ले लिया, जैसे हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य-प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर, भोपाल, बिलासपुर और कच्छ। इस प्रकार भारत में भारतीय नरेशों के राज्यों का अस्तित्व समाप्त हो गया और ये राज्य भारत में सम्मिलित हो गये। इन्हें शासन की विभिन्न इकाइयों में बाँट दिया गया और इनमें से अधिकांश के नाम भी बदल गये। इस कार्य के साथ-साथ सभी राज्यों में प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी। भारतीय नरेशों को अपने राज्यों में शासन करने का अधिकार न रहा। उनमें से अधिकांश नरेशों को धन (Privy Purse) देकर शासन से अलग कर दिया गया और कुछ को 'राजप्रमुख' का पद देकर उन्हें राज्यों के शासन का संवैधानिक प्रधान मात्र बना दिया गया। सम्पूर्ण भारत की शासन-व्यवस्था एक कर दी गयी और भारत का नवीन संविधान भारत की सम्पूर्ण सीमाओं में समान रूप से लागू किया गया।

नवीन संविधान के लागू होने के अवसर पर भारत में चार प्रकार के राज्य थे। इनमें दस राज्य A, आठ राज्य B, दस राज्य C और एक राज्य D श्रेणी के थे। राज्यों का यह विभाजन ब्रिटिश शासन-काल की देन था। इस विभाजन को उपयोगी नहीं समझा गया। इसके अतिरिक्त काँग्रेस प्रादेशिक भाषाओं के आधार पर राज्यों का निर्माण करने का आश्वासन स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व दे चुकी थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् इस माँग की पूर्ति की आशा की गयी। आन्ध्र-प्रदेश में यह माँग तीव्रतर होती गयी और वहाँ के नागरिकों ने एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। इस आन्दोलन के बीच आमरण-अनशन के कारण श्री रामुलू की मृत्यु हो जाने से स्थिति गम्भीर हो गयी और आन्ध्र को एक राज्य स्वीकार किया गया। बाद में भारत सरकार ने एक 'राज्य पुनर्गठन आयोग' (States Reorganization Commission) की स्थापना की। मि. फजल अली इसके सभापति थे और पं. हृदयनाथ कुंजरू व सरदार के.एम. पन्निकर इसके सदस्य थे। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर भारत सरकार ने 1956 ई. में 'राज्य पुनर्गठन कानून' बनाया। इस कानून द्वारा A, B, C और D राज्यों के अन्तर को समाप्त कर दिया गया, राजप्रमुख का पद समाप्त कर दिया गया और भारत में 14 राज्यों तथा 6 केन्द्रशासित इकाइयों की स्थापना की गयी। यह 14 राज्य जम्मू-कश्मीर, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, असम, मद्रास, केरल, राजस्थान, आन्ध्र, मध्य

प्रदेश, मैसूर और बम्बई थे। दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, लक्षद्वीप, मणिपुर, त्रिपुरा और अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह केन्द्रशासित इकाइयाँ थीं। यह विभक्तिकरण 1956 ई. में किया गया था। अब तक इस स्थिति में बहुत परिवर्तन हो चुका है। इस समय भारत में पच्चीस (25) राज्य और छह (6) केन्द्रशासित इकाइयाँ हैं। राज्य हैं—जम्मू-कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, असम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, सिक्किम, नागालैण्ड, त्रिपुरा, उड़ीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, केरल, कर्नाटक, गोआ, दमन और दीव, आन्ध्र-प्रदेश और तमिलनाडु। केन्द्रशासित इकाइयाँ हैं—अण्डमान-निकोबार, लक्षद्वीप, चंडीगढ़, दिल्ली, दादरा एवं नागरहवेली और पाण्डिचेरी।

भारतीय नरेशों के राज्यों का भारत संघ-राज्य में विलय, उनका प्रजातन्त्रीकरण और पुनर्गठन स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् की एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसकी सफलता का श्रेय सरदार वल्लभभाई पटेल को था।

3. आर्थिक निर्माण तथा पंचवर्षीय योजनाएँ

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत पिछड़ी हुई स्थिति में था। कृषि, उद्योग, व्यापार आदि सभी दृष्टियों से भारत बहुत दुर्बल था। खाद्यान्नों के लिए उसे विदेशों पर निर्भर करना पड़ रहा था और उद्योगों में लगाने के लिए उसके पास धन नहीं था। इसके परिणामस्वरूप भारत की जनता निर्धन और जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से वंचित थी। भारत-विभाजन ने इस समस्या को और अधिक गम्भीर बना दिया। आरम्भ के कई वर्षों तक भारत सरकार को पाकिस्तान से भागकर आये हुए लाखों व्यक्तियों को जीवन की आवश्यकताएँ प्रदान करने और उन्हें पुनः स्थापित करने की समस्या का मुकाबला करना पड़ा। द्वितीय विश्व-युद्ध ने भी भारत की आर्थिक स्थिति को गम्भीरता से प्रभावित किया था। रुपये के मूल्य में कमी किये जाने से वस्तुओं के मूल्यों पर प्रभाव पड़ा और कई वर्षों तक उसका प्रभाव भारत की आर्थिक स्थिति पर दृष्टिगोचर हुआ। ऐसी स्थिति में योजनाबद्ध आर्थिक प्रगति की आवश्यकता स्पष्ट थी। इस कारण 1950 ई. में प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में एक 'योजना आयोग' की नियुक्ति की गयी और भारत ने पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण आरम्भ किया।

(i) प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951-1956 ई.)—इस योजना के निम्नवत् उद्देश्य रखे गये :

(अ) भारत की जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना तथा जनता को आर्थिक उन्नति के अवसर प्रदान करना।

(ब) राज्य और नागरिकों के कार्य-क्षेत्र को स्पष्ट करने का प्रयत्न करना। राज्य का कार्य पूँजी का निर्माण करना, उत्पादन को प्रोत्साहन देना, समाज में उत्पादन-शक्तियों तथा वर्ग-सम्बन्धों को एक सूत्र में बाँधना तथा सिंचाई, सड़क, बिजली और यातायात के साधनों का प्रबन्ध करना था। कृषि और उद्योग व्यक्तिगत कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत रखे गये थे, यद्यपि राज्य की ओर से उन्हें सहायता देने का प्रबन्ध किया गया था।

(स) वस्तुओं के मूल्यों और उत्पादन पर नियन्त्रण रखना।

(द) आर्थिक असमानता को दूर करने के प्रयत्न करना।

(इ) राष्ट्रीय आय में 11 से 12% तक वृद्धि करना।

इस योजना में कृषि, सिंचाई और विद्युत-उत्पादन के विकास को प्राथमिकता दी गयी थी। इस योजना में सरकारी व्यय का वितरण इस प्रकार था :

	व्यय (करोड़ रुपयों में)	व्यय (प्रतिशत)
1. कृषि और सामुदायिक विकास	361	17.5
2. सिंचाई	168	8.1
3. बहु-उद्देश्यीय सिंचाई और विद्युत-शक्ति	266	12.9
4. शक्ति (बिजली)	127	6.1
5. यातायात और संचार-व्यवस्था	497	24.0
6. उद्योग	173	8.4
7. सामाजिक सेवाएँ	340	16.4
8. पुनर्वास	85	4.1
9. अन्य	52	2.5
कुल व्यय	2,069	100

इस व्यय के लिए निम्न प्रकार से पूँजी एकत्रित करने की व्यवस्था की गयी :

	करोड़ रुपये
1. केन्द्रीय सरकार द्वारा	726.00
2. राज्य सरकारों द्वारा	532.00
3. विदेशी सहायता (जो प्राप्त हो चुकी थी)	156.00
4. विदेशी सहायता, करों में वृद्धि, आदि	365.00
5. घाटे के बजट द्वारा	290.00
कुल	2,069.00

उपर्युक्त सरकारी व्यय के अतिरिक्त इस बात की आशा की जाती थी कि इन पाँच वर्षों में निजी क्षेत्र (Private Sector) से भी 1,700 करोड़ रुपया व्यय किया जायेगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने आशातीत सफलता प्राप्त की। जनसंख्या में वृद्धि होने पर भी व्यक्तिगत औसत आय में वृद्धि हुई। इस योजना ने राष्ट्रीय आय में 11 से 12% वृद्धि करने का उद्देश्य रखा था, परन्तु इसमें वृद्धि 17.5% की हुई। खाद्य-पदार्थों का उत्पादन 54 मिलियन टन से बढ़कर 61.6 मिलियन टन हो गया। गन्ने का उत्पादन 4.9 मिलियन टन से बढ़कर 5.9 मिलियन टन हो गया। सिंचाई के छोटे साधनों से 10 मिलियन एकड़ भूमि और बड़े साधनों से 6.3 मिलियन एकड़ भूमि की सिंचाई का प्रबन्ध किया गया। बिजली का उत्पादन 2.3 मिलियन किलोवाट से बढ़कर 3.4 मिलियन किलोवाट हो गया। औद्योगिक विकास 38% अधिक हुआ। सामुदायिक विकास-योजना के अन्तर्गत 1,40,000 गाँव सम्मिलित किये गये और 1,000 विकास-केन्द्रों की स्थापना की गयी। प्राथमिक स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या 22 मिलियन से बढ़कर 30 मिलियन हो गयी। तकनीकी शिक्षा में स्नातक श्रेणी (Degree Course) में विद्यार्थियों की संख्या 2,200 से बढ़कर 3,700 और सर्टीफिकेट श्रेणी (Diploma Course) में विद्यार्थियों की संख्या 2,400 से बढ़कर 3,900 हो गयी। अस्पताल, डिस्पेन्सरी और मेडिकल कॉलेजों की संख्या 8,600 से बढ़कर 10,000 हो गयी। 11 नयी रेलवे लाइनें बिछाई गयीं और पुरानी रेलवे लाइनों में सुधार किया

गया। बिजली और सिंचाई के लिए भाखड़ा-नांगल, हीराकुड बाँध-योजना तथा दामोदर घाटी-योजना को आरम्भ किया गया। अमेरिका की सहायता से रासायनिक खाद के उत्पादन के लिए सिन्दरी का कारखाना स्थापित किया गया। रेल के इंजिनों के निर्माण के लिए चित्तरंजन का कारखाना और पानी के जहाजों के निर्माण के लिए स्टीम-नेवीगेशन कम्पनी की स्थापना की गयी।

इस प्रकार यह स्वीकार किया जाता हैं कि भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना ने आशा से अधिक सफलता प्राप्त की।

(ii) द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-1961 ई.)—प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होते ही 1956 ई. में द्वितीय पंचवर्षीय योजना आरम्भ कर दी गयी। इस योजना के निम्न-लिखित उद्देश्य रखे गये :

1. राष्ट्रीय आय में 25% की वृद्धि करना जिससे प्रति व्यक्ति औसत आय में वृद्धि हो और नागरिकों का जीवन-स्तर ऊँचा हो;

2. औद्योगीकरण की प्रगति को तीव्र करना तथा लोहा व इस्पात जैसे मूल और भारी उद्योगों का अधिकाधिक विकास करना;

3. बेकारी को दूर करने के लिए एक करोड़ व्यक्तियों को रोजगार दिलाने की व्यवस्था करना;

4. सम्पत्ति और आय की असमानता को कम करके समाजवादी समाज (Socialistic Pattern of Society) की स्थापना करना;

5. योजना की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा नागरिकों का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करना;

6. बड़े उद्योगों के साथ-साथ लघु उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों के विकास का प्रयत्न करना;

7. भूमि-सुधार तथा कृषि-उत्पादन पर बल देना; और

8. नागरिकों के लिए अच्छे मकान, अच्छी स्वास्थ्य-सेवा और उचित शिक्षा की व्यवस्था का प्रयत्न करना।

इस योजना पर कुल 7,200 करोड़ रुपये व्यय किये जाने का प्रावधान किया गया था। इसमें से 4,800 करोड़ रुपया सरकार द्वारा और 2,400 करोड़ रुपया व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योग-पतियों द्वारा व्यय किये जाने की व्यवस्था थी। सरकारी व्यय निम्नवत् किये जाने की योजना थी :

मद	व्यय (करोड़ रुपयों में)
1. कृषि तथा सामुदायिक विकास-योजना	565
2. सिंचाई तथा बाढ़ को रोकने की योजनाएँ	458
3. बिजली	440
4. उद्योग तथा खनिज	891
5. यातायात तथा संचार-व्यवस्था	1,384
6. सामाजिक सेवाएँ	946
7. विविध	116
कुल व्यय	4,800

उपर्युक्त व्यय की पूर्ति करने की व्यवस्था सरकार ने 2,400 करोड़ रुपये अपनी आय से और 2,400 करोड़ रुपये विदेशी सहायता तथा घाटे के बजट से की।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना अपने निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में पूर्ण सफल न हो सकी। विदेशी सहायता पर निर्भरता और घाटे की अर्थव्यवस्था इसके मुख्य दोष रहे। विदेशी सहायता आशा के अनुरूप प्राप्त न हो सकी और घाटे की अर्थव्यवस्था के कारण वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हुई जिसका प्रभाव योजना-व्यय पर पड़ा। परन्तु फिर भी योजना ने पर्याप्त अंशों में सफलता प्राप्त की। कोयला, लोहा, इस्पात, रेल-निर्माण, लघु उद्योग, सड़क-निर्माण, बिजली-उत्पादन, सिंचाई, समुद्री जहाज-निर्माण, यातायात, कृषि आदि में पर्याप्त प्रगति हुई। लोहा और इस्पात के उत्पादन के लिए ब्रिटेन की सहायता से दुर्गापुर का कारखाना, रूस की सहायता से भिलाई का कारखाना और पश्चिमी जर्मनी की सहायता से रूरकेला का कारखाना आदि इसी योजना के अन्तर्गत स्थापित किये गये।

(iii) तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-1966 ई.)—इस योजना के निम्नलिखित उद्देश्य रखे गये :

1. राष्ट्रीय आय में 5% से अधिक वृद्धि करना;

2. खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता तथा कृषि-उत्पादन में वृद्धि जिससे उद्योग और निर्माण की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें;

3. इस्पात, रासायनिक उद्योग, ईंधन तथा शक्ति जैसे आधारभूत उद्योगों का विस्तार करना तथा मशीन-निर्माण की क्षमता बनाना जिससे आगामी प्रायः दस वर्षों में औद्योगिक आवश्यकताएँ अधिकांशतः स्वदेशी साधनों द्वारा ही पूरी की जा सकें;

4. देश के जन-शक्ति साधनों का अधिकतम उपयोग करना तथा रोजगार के अवसरों में वृद्धि करना; और

5. आय और धन की असमानताओं को घटाना तथा आर्थिक शक्ति का अधिक समानता से वितरण करना।

तृतीय योजना के अन्तर्गत 7,500 करोड़ रुपये का अनुमान किया गया था जिसमें से 2,200 करोड़ रुपये विदेशी सहायता से प्राप्त होने थे। परन्तु वस्तुतः व्यय इससे अधिक हुआ। विभिन्न योजनाओं पर जो धन वस्तुतः व्यय हुआ, वह निम्नवत् है:

मद	व्यय (करोड़ रुपयों में)
1. कृषि तथा सामुदायिक विकास	1088.9
2. सिंचाई	644.7
3. बिजली	1252.3
4. ग्राम तथा लघु उद्योग	240.8
5. उद्योग तथा खनिज	1726.3
6. परिवहन तथा संचार	2111.7
7. सामाजिक सेवाएँ तथा विविध	1491.8
कुल व्यय	8576.5

तृतीय योजना अपने निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति करने में समर्थ न हुई, मुख्यतः कृषि और उद्योगों का उत्पादन आशा के अनुरूप न हुआ। मौसम की प्रतिकूल परिस्थितियों, योजनाओं की पूर्ति में विलम्ब, वस्तुओं के मूल्यों में अनुमान से अधिक वृद्धि और विदेशी युद्ध इस असफलता के कारण बताये गये। परन्तु तब भी तृतीय योजना ने भारत की आर्थिक समृद्धि में योगदान दिया तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई। परन्तु इस योजना की एक मुख्य असफलता आर्थिक समानता की ओर भारतीयों को न ले जाने की थी जो उसका मुख्य उद्देश्य निश्चित किया गया था।

(iv) वार्षिक योजनाएँ (1966-1969 ई.)—चतुर्थ पंचवर्षीय योजना 1966 ई. से शुरू होनी थी। परन्तु विभिन्न आर्थिक दबावों के कारण 1969 ई. से पहले उसे लागू नहीं किया जा सका और तीन वर्षों (1966-1969 ई.) तक वार्षिक योजनाओं के आधार पर कार्य किया गया। इन तीन वर्षों पर निम्न प्रकार व्यय किया गया :

मद	व्यय (करोड़ रुपयों में)
1. कृषि	1107.1
2. सिंचाई तथा बाढ़-नियन्त्रण	471.0
3. बिजली	1212.5
4. ग्राम तथा लघु उद्योग	126.1
5. उद्योग तथा, खनिज	1510.4
6. परिवहन तथा संचार	1222.4
7. सामाजिक सेवाएँ तथा विविध	975.9
कुल व्यय	6625.4

यद्यपि प्रतिवर्षीय यह तीन योजनाएँ भी अपने निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति में असमर्थ रहीं परन्तु तब भी इनके समय में कृषि-उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई, व्यापारिक मन्दी पर ि;यन्त्रण सम्भव हो सका तथा आर्थिक तनाव कम हो गये जिसके कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को आरम्भ किया जाना सम्भव हो सका।

इस प्रकार स्वाधीनता के बीस वर्षों में सरकार ने देश के आर्थिक निर्माण के लिए विभिन्न कार्य किये। पंचवर्षीय योजनाएँ इस आर्थिक निर्माण का सबसे महत्वपूर्ण भाग हैं। कृषि, सिंचाई, यातायात, संचार-व्यवस्था, बिजली, लघु उद्योग, बड़े उद्योग, शिक्षा आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में कार्य किये गये। इनके परिणाम सन्तोषजनक रहे। सभी क्षेत्रों में उत्पादन में वृद्धि हुई और देश की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ तथा भारत ने अपने आर्थिक निर्माण के लिए ठोस कदम उठाने में सफलता प्राप्त की। परन्तु इस आर्थिक निर्माण में एक कमी रही। इसमें सम्पत्ति के न्यायपूर्ण वितरण का समुचित ध्यान नहीं रखा गया और आर्थिक प्रगति का लाभ निर्धन-वर्ग प्राप्त न कर सका। इसमें धनिक और शक्ति-सम्पन्न वर्ग ने देश के आर्थिक विकास से सर्वाधिक लाभ प्राप्त किया जबकि इस पर अधिकार निर्धन-वर्ग का था। प्रारम्भिक स्थिति में, सम्भवतः, धनिक-वर्ग का यह अपराध क्षम्य माना जा सकता है, परन्तु एक लम्बे समय तक यह अपराध क्षम्य नहीं हो सकता। न्यायपूर्ण आर्थिक वितरण, जिससे देश के सभी नागरिकों को जीवन की सुविधाएँ प्राप्त हो सकें, प्रत्येक राज्य की आवश्यकता है और उसी पर प्रत्येक राज्य की स्थायी प्रगति, शान्ति तथा शक्ति निर्भर करती है।

4. सामाजिक और लोक-हितकारी कार्य

भारत ने आर्थिक निर्माण के साथ-साथ सामाजिक और लोकहितकारी कार्यों को भी आरम्भ किया। किसानों के लिए सभी राज्यों ने कानून बनाया, जमींदारी-प्रथा को समाप्त कर दिया, चकबन्दी के कानून बनाये, ग्राम-स्वशासन की स्थापना की, गाँवों में सिंचाई और बिजली की व्यवस्था की, पशुओं की नस्ल में सुधार किया, आवागमन के साधनों में वृद्धि की, सहकारिता-आन्दोलन, 'वन-महोत्सव', 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन आदि को आरम्भ किया, कम ब्याज पर कर्ज और पूँजी की उपयुक्त व्यवस्था की, क्रय-विक्रय और खाद्यान्नों के संग्रह की व्यवस्था की, रासायनिक खाद के प्रयोग और वैज्ञानिक तरीकों से खेती के उत्पादन में सहायता दी। किसानों की बहुमुखी उन्नति के लिए 'सामुदायिक विकास योजना' (Community Development Project) और 'राष्ट्रीय विकास योजना' (National Extension Service) को प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत 1952 ई. में आरम्भ किया गया। 1956 ई. तक इस योजना के अन्तर्गत 1,200 केन्द्र स्थापित किये गये जबकि प्रत्येक केन्द्र के अन्तर्गत 100 गाँव थे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत इन योजनाओं में 200 करोड़ रुपये व्यय किये जाने थे और 3,800 राष्ट्रीय विस्तार-केन्द्रों तथा 1,120 सामुदायिक विकास-केन्द्रों की स्थापना की योजना बनायी गयी थी। किसानों और साधारण मजदूरों की स्थिति में सुधार करने के लिए कुटीर उद्योगों की प्रगति का प्रयत्न भी किया गया। 1948 ई. में एक 'कुटीर उद्योग बोर्ड' स्थापित किया गया। परन्तु कुछ समय पश्चात् उसके स्थान पर दो बोर्ड स्थापित किये गये—'अखिल भारतीय कुटीर उद्योग बोर्ड' (All India Handicrafts Board) तथा 'अखिल भारतीय खादी एवं ग्राम-उद्योग बोर्ड' (All India Khadi and Village Industries Board)। 1952 ई. में एक 'अखिल भारतीय दस्तकारी बोर्ड' (All India Handloom Board) भी स्थापित किया गया। लघु उद्योगों के प्रशिक्षण हेतु सरकार ने बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और दिल्ली में चार 'लघु उद्योग सेवा इन्स्टीट्यूट' (Small Industries Service Institutes) स्थापित किये।

कृषकों, कृषक-मजदूरों तथा अन्य मजदूरों की सुरक्षा के लिए केन्द्रीय और राज्य-सरकारों द्वारा अनेक कानून बनाये गये, जैसे 1948 ई. का न्यूनतम वेतन अधिनियम, 1951 ई. का प्लाण्टेशन एक्ट, 1952 ई. का खान-कानून और 1951 ई. और 1953 ई. में निर्मित विभिन्न औद्योगिक कानून।

शिक्षा के क्षेत्र में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में स्पष्ट उल्लेख है कि राज्य 10 वर्षों में ही 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा। भारत सरकार इस उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल रही। परन्तु फिर भी 20 वर्षों में उसने इस दिशा में प्रगति की। प्राथमिक विद्यालयों में पर्याप्त प्रगति हुई। 1952 ई. में 'अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा कमीशन' (All India Secondary Education Commission) की रिपोर्ट के आधार पर माध्यमिक शिक्षा में सुधार किया गया तथा स्कूलों की संख्या में वृद्धि हुई। सभी प्रकार के कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई। 1948 ई. में 'भारतीय विश्वविद्यालय शिक्षा कमीशन' (Indian University Education Commission) की नियुक्ति की गयी जिसकी रिपोर्ट के आधार पर विश्वविद्यालय-स्तर की शिक्षा में सुधार किया गया। उसी रिपोर्ट के आधार पर 'विश्वविद्यालय अनुदान कमीशन' (University Grants Commission) की स्थापना की गयी जो विश्वविद्यालयों की आर्थिक आवश्यकताओं और उनके शिक्षा-स्तर की देखभाल करता है। विभिन्न स्थानों पर तकनीकी, इंजीनियरिंग, चिकित्सा-शास्त्र आदि के स्कूल और कॉलेज

खोले गये। बंगलौर का विज्ञान स्कूल, खड़गपुर का इंजीनियरिंग कॉलेज, राष्ट्रीय भौतिक रसायनशाला (N. P. L.) आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। यद्यपि शिक्षा अभी भी भारत की आवश्यकताओं के अनुकूल और पर्याप्त नहीं हो सकी है परन्तु फिर भी प्रथम बीस वर्षों में भारत सरकार ने शिक्षा-क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया।

स्वास्थ्य एवं चिकित्सा के क्षेत्र में भारत सरकार ने अनेक उपयोगी कार्य किये। भारत की एक मुख्य समस्या 'महामारी' रोकने की थी। मलेरिया, तपैदिक, कोढ़, प्लेग, हैजा आदि बीमारियाँ प्रत्येक वर्ष भारत के किसी न किसी क्षेत्र में महामारी के रूप में फैलती रहती थीं। इनमें से प्रायः सभी बीमारियों को महामारी के रूप में फैलने से रोक दिया गया और स्वच्छता व सफाई के लिए राष्ट्रीय आधार पर कार्य किया गया। बढ़ती हुई जनसंख्या भारत के लिए एक बहुत बड़ा अभिशाप है। इसके लिए सरकार ने 'परिवार-नियोजन' की योजना को विस्तृत रूप से अपनाया, यद्यपि इसमें उसे सफलता आंशिक रूप से ही प्राप्त हुई। इन कार्यों में सरकार ने 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' (World Health Organization) और 'ब्रिटिश चिकित्सा-अन्वेषण परिषद' (British Medical Research Council) की भी सहायता ली। सरकार ने चिकित्सा-शास्त्र के विद्यालयों में वृद्धि की, सरकारी अस्पतालों में वृद्धि की, दिल्ली में 'अखिल भारतीय चिकित्सा आयुर्विज्ञान संस्थान (All India Institute of Medical Sciences) की स्थापना की और विभिन्न स्थानों पर दवाइयाँ बनाने के कारखाने स्थापित किये अथवा उनकी स्थापना में सहायता दी। होम्योपैथिक और आयुर्वेदिक चिकित्सा को भी सरकार ने प्रोत्साहन दिया। इन प्रयत्नों के कारण भारत में औसत मृत्यु-दर में कमी हुई।

सामाजिक सेवा और सुधार की ओर भी भारत सरकार ने ध्यान दिया। अस्पृश्यता संविधान के द्वारा गैर-कानूनी घोषित की गयी है। मूल अधिकारों के द्वारा सभी स्त्री-पुरुषों को समान अधिकार दिये गये हैं। संविधान-निर्माताओं के इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सरकार ने विभिन्न कार्य किये—मुख्यतः निम्न और दुर्बल वर्गों की रक्षा और सहायता के लिए विभिन्न कानून बनाये तथा समाज-सेवी संस्थाएँ स्थापित कीं। 1953 ई. में 'केन्द्रीय समाज-हितकारी बोर्ड' (The Central Social Welfare Board) की स्थापना की गयी और उसने सभी राज्यों में अपनी शाखाएँ स्थापित कीं। समाज-हितकारी संस्थाएँ देश के विभिन्न स्थानों में स्थापित की गयीं और सरकार ने इस विषय पर 547 करोड़ रुपया प्रथम पंचवर्षीय योजना में तथा 400 करोड़ रुपया द्वितीय पंचवर्षीय योजना में व्यय किया। तृतीय पंचवर्षीय योजना में और उसके पश्चात् भी इन कार्यों के लिए सरकार ने पर्याप्त धन व्यय किया है। सरकार ने एक 'भारतीय आदिम जाति सेवा-संघ' की स्थापना की जिसकी देखभाल में प्रायः 30 सेवा-संघ आदिम जातियों के हितों की देखभाल करने लगे। समाज-सेवा को सरकार ने इतना महत्व दिया कि समाज-सेवा का एक पृथक विभाग स्थापित किया गया तथा उसका अनुकरण करते हुए विभिन्न राज्यों की सरकारों ने भी अपने राज्यों में इसी प्रकार के विभाग स्थापित किये। सरकार ने 'शिशु-हितकारी भारतीय परिषद' (The Indian Council for Child Welfare) की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की। समाज-सेवा के लिए 'भारत सेवक समाज' ने भी उल्लेखनीय कार्य किया। स्त्रियों, बच्चों, अन्धों तथा समाज के अन्य असहाय सदस्यों के लिए अनेक केन्द्रों का निर्माण किया गया, समाज-सेवा शिक्षा की व्यवस्था की गयी और अनेक ऐसे कानून बनाये गये जिनसे अस्पृश्य, पददलित एवं दुर्बल वर्गों को सुरक्षा प्राप्त हुई।

भारतीय स्त्रियों की सुरक्षा और प्रगति के लिए सरकार ने सराहनीय कार्य किया। 1958 ई. में फैक्टरी कानून (Factories Act) ने स्त्रियों के कार्य के घण्टे निश्चित किये, 1951 ई. के खान-कानून (Mines Act) ने स्त्रियों से खानों में काम लेना वर्जित कर दिया और गृह-सेवा कानून (Domestic Servants Act) ने कार्य के लिए आठ घण्टे निश्चित

किये तथा रहने के लिए जगह और एक वर्ष में एक माह की सवेतन छुट्टी की व्यवस्था की। स्त्रियों को योग्यतानुसार बड़े से बड़े सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार है और समान कार्य के लिए उन्हें समान वेतन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त बच्चा पैदा होने की स्थिति में उन्हें वेतन-सहित तीन माह की छुट्टी लेने का भी अधिकार है। अल्पायु-विवाह और दहेज-प्रथा गैर-कानूनी घोषित कर दिये गये हैं। विधवा-विवाह को कानूनन स्वीकार किया गया है। परन्तु इस समय में सबसे महत्वपूर्ण कार्य 'हिन्दू कोड बिल' के अन्तर्गत स्वीकार किये गये विभिन्न कानूनों का निर्माण था। 1955 ई. में 'हिन्दू-विवाह कानून' (Hindu Marriage Act) बनाया गया जिसके द्वारा बहु-विवाह को गैर-कानूनी ठहराया गया, एक पुरुष को एक ही पत्नी रखने का अधिकार दिया गया और तलाक देने की सुविधा स्त्री तथा पुरुष दोनों को दी गयी। 'हिन्दू-उत्तराधिकार कानून' (Hindu Succession Act) द्वारा 'स्त्री-धन' पर स्त्री का अधिकार और पुत्री को बच्चों सहित पिता की सम्पत्ति में उसके भाइयों और उनके बच्चों को समान अधिकार दिया गया। 1956 ई. में 'हिन्दू अल्पवयस्क और संरक्षण कानून' (Hindu Minority and Guardianship Act) तथा 'बच्चा गोद लेने और भरण-पोषण का अधिकार कानून' (Hindu Adoption and Maintenance Act) बनाये गये जिनके द्वारा माँ को अपने बच्चों का संरक्षक होने, स्त्री को बच्चा गोद लेने और उसके अपना भरण-पोषण लेने के अधिकार को स्वीकार किया गया। 1956 ई. में ही नवयुवक (हानिकारक प्रकाशन) कानून (Young Persons Act), स्त्री और लड़कियों के अनैतिक व्यापार को रोकने का कानून (Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act) तथा स्त्री और बच्चों सम्बन्धी लाइसेन्स कानून (Women and Children's Institutions Licensing Act) बनाये गये। प्रथम के द्वारा नवयुवकों में अनैतिकता के विचारों को फैलाने वाले प्रकाशन को रोकने की व्यवस्था की गयी, द्वितीय के द्वारा स्त्रियों और लड़कियों के अनैतिक व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया गया तथा तीसरे के द्वारा स्त्री और बच्चों के हितों सम्बन्धी समुदायों को सरकार से लाइसेन्स अथवा अनुमति लेना आवश्यक कर दिया गया। 1961 ई. में एक कानून बनाकर दहेज-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। इन कानूनों से मुख्यतः स्त्रियों के अधिकारों की सुरक्षा में अत्यधिक सहायता मिली। स्त्रियों ने बहुत बड़ी संख्या में शिक्षा प्राप्त की तथा सरकारी एवं गैर-सरकारी सेवाओं में स्थान प्राप्त किया। 1960 ई. के एक कानून (Children Act) के द्वारा अनाथ और अपाहिज बच्चों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी।

1955 ई. में एक कानून (Untouchability Offences Act) के द्वारा अस्पृश्यता का पालन करने वाले व्यक्ति के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी।

इस प्रकार इन बीस वर्षों में आन्तरिक दृष्टि से भारत में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिन्होंने आधुनिक भारत के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लिया। इन परिवर्तनों का प्रभाव युवा-पीढ़ी पर स्पष्ट है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में जो हलचल आज दृष्टिगोचर हो रही है, उसकी आधारशिला स्वाधीनता के प्रथम बीस वर्षों में ही रखी गयी। यह सभी परिवर्तन लाभदायक अथवा पर्याप्त हों, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि नवनिर्माण शुरू हुआ।

2. विदेश-नीति

(i) विदेश-नीति का निर्माण और पंचशील का सिद्धान्त

भारत की विदेश-नीति विश्व-शान्ति और सभी राज्यों के साथ मित्रता करने की है। संसार के सभी राज्य समान हैं, सभी राज्य स्वतन्त्र हों और सभी राज्यों में पारस्परिक सहयोग और मित्रता हो—यह भारत की विदेश-नीति का मुख्य आधार है। भारत की यह नीति उसकी

भौगोलिक परिस्थितियों, आर्थिक आवश्यकताओं तथा प्राचीन परम्पराओं के अनुकूल है। भारत एशिया के बड़े राज्यों में से एक है और भौगोलिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति में है। इस कारण सभी राज्यों से मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना उसके हित में है। स्वतन्त्र भारत की प्रमुख आवश्यकता उसका आर्थिक विकास है। इस कारण सभी राज्यों से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करना और विश्व-शान्ति उसके लिए आवश्यक है। भारत की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि उसे शान्तिपूर्ण नीति की प्रेरणा देती है। भारतीय इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत ने कभी भी साम्राज्यवादी नीति का पालन नहीं किया। महात्मा बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक अनेक महान् व्यक्तियों ने भारत को सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ाया। इस कारण **भारत विश्व-शान्ति का समर्थक है। वह साम्राज्यवाद का विरोधी है तथा रंगभेद और छोटे-बड़े राज्यों में अन्तर किये जाने की नीति का विरोधी है।**

स्वतन्त्रता-प्राप्ति से लेकर 1964 ई. में अपनी मृत्यु के समय तक प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने भारत की विदेश-नीति का संचालन किया और उसे एक निश्चित आधार प्रदान किया। 1964 ई. में पं. नेहरू ने विदेश-नीति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा : "अन्तर्राष्ट्रीय सभाओं में हम किसी अन्य राज्य की कठपुतली बनकर नहीं बल्कि अपनी स्वयं की नीति को लेकर एक स्वतंन्त्र राष्ट्र की तरह पूरा-पूरा भाग लेंगे। हम अन्य राष्ट्रों के साथ घनिष्ठ और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने और विश्व-शान्ति व स्वतन्त्रता को आगे बढ़ाने के लिए उनके साथ सहयोग करने की आशा करते हैं।"[1] उन्होंने आगे कहा : "जहाँ तक सम्भव हो सकेगा, हम उन विरोधी गुटों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा से बचने का प्रयत्न करेंगे जिसने भूतकाल में विश्व-युद्ध को जन्म दिया और जो आगे उससे भी अधिक विनाश का कारण बन सकती है।"[2] उन्होंने फिर कहा : "हम मुख्यतः उपनिवेशों और दूसरों पर निर्भर रहने वाले देशों तथा उनके नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा सिद्धान्त और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से प्रत्येक जाति के व्यक्तियों के लिए समान सुविधाओं की स्वीकृति में रुचि रखते हैं।"[3] अपने इन विचारों के आधार पर पं. नेहरू ने, जो निरन्तर भारत के विदेश-मन्त्री भी रहे, भारत की विदेश-नीति का व्यावहारिक प्रयोग किया। भारत ने सभी देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया, भारत ने सभी स्थानों से साम्राज्यवाद और जातिवाद को समाप्त करने का समर्थन किया, भारत ने राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को युद्ध के स्थान पर शान्ति और पारस्परिक वार्तालाप द्वारा सुलझाने पर बल दिया और भारत ने प्रत्येक बार युद्ध होने के कारणों को रोकने का प्रयत्न किया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विश्व दो शक्तिशाली गुटों में बँट गया था। एक तरफ अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और जनतन्त्रीय राज्य थे तथा दूसरी तरफ रूस (U.S.S.R.) व अन्य साम्यवादी राज्य थे। इन दो

---

1 "We shall take full part in international conferences as a free nation with our own policy and not merely as a satellite of another nation. We hope to develop close and direct contacts with other nations and to cooperate with them in the furtherance of world peace and freedom." —*Pt. Jawahar Lal Nehru.*

2 "We propose as far as possible to keep away from the power politics of groups aligned against one another which have led in the past to world war and which may again lead to disasters on an even vaster scale." —*Pt. Jawahar Lal Nehru.*

3 "We are particularly interested in the emancipation of colonial and dependent countries and peoples, and in the recognition in theory and practice of equal opportunities for all races." —*Pt. Jawahar Lal Nehru.*

गुटों में शक्ति तथा अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए जो पारस्परिक प्रतिस्पर्धा हुई उसे शान्ति-युद्ध (Cold War) ने नाम से पुकारा गया। भारत ने इन दो गुटों में से किसी भी ९रु के साथ मिलने से इन्कार कर दिया। इस नीति को 'तटस्थता की नीति' कहा गया। पं. नेहरू इसे 'सक्रिय तटस्थता' (dynamic neutrality) के नाम से पुकारते थे। उनका कहना था : "भारत विदेशी मामलों में उदासीन नहीं है, बल्कि उसने दो गुटों से तटस्थ रहकर स्वतन्त्र रीति से विश्व-शान्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न किये हैं। इस कारण भारत की नीति विश्व में गुटबन्दी की न होकर विश्व-शान्ति के लिए सक्रिय प्रयत्न करने की है जो, निस्सन्देह, अधिक उपयोगी है परन्तु अधिक गम्भीर और खतरनाक भी। ऐसी स्थिति में भारत की तटस्थता की नीति निष्क्रियता की कभी नहीं मानी जा सकती बल्कि 'सक्रिय तटस्थता' की है।" भारत ने इण्डोनेशिया और लीबिया की स्वतन्त्रता के लिए सक्रिय प्रयत्न किये, दक्षिण अफ्रीका की सरकार की रंग-भेद की नीति का तीव्र विरोध किया, ब्रिटेन के द्वारा स्वेज नहर पर किये गये आक्रमण का विरोध किया और प्रत्येक अवसर पर संयुक्त राष्ट्र-संघ (U.N.O.) को सक्रिय सहायता प्रदान की। उपर्युक्त सिद्धान्त और कार्यों के अतिरिक्त पंचशील का सिद्धान्त भी भारत की नीति का एक प्रमुख अंग है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भारत और साम्यवादी चीन के बीच अप्रैल 1954 ई. में हुए समझौते के अवसर पर हुआ। इसके अन्तर्गत विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये जो निम्न प्रकार हैं :

1. एक दूसरे की सीमा और सम्प्रभुता का सम्मान (Respect for each other's territory and sovereignty);

2. अनाक्रमण (Non-aggression);

3. एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करना (Non-interference in each other's internal affairs);

4. समानता और पारस्परिक लाभ (Equality and mutual benefit); तथा

5. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful co-existence)।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को भारत ने अपनी विदेश-नीति का हिस्सा बना लिया।

पं. नेहरू की विदेश-नीति भारत की उन परिस्थितियों में लाभदायक रही और पं. नेहरू ने विश्व में ख्याति अर्जित की। यह नीति आदर्श की ही नहीं बल्कि व्यावहारिक उपयोगिता की भी थी। भारत की उस दुर्बल परिस्थिति में यह नीति भारत के लिए श्रेष्ठ और विश्व के लिए आदर्श थी। यूरोप और एशिया के कई राष्ट्रों ने इसे स्वीकार किया। मिस्र और यूगोस्लाविया ने इसका पूर्ण समर्थन किया और एक समय ऐसी आशा की गयी कि तटस्थ राज्यों के एक ऐसे शक्तिशाली गुट का निर्माण सम्भव हो सकेगा जो विश्व-शान्ति की स्थापना में अत्यन्त उपयोगी होगा, परन्तु अमेरिका और रूस पर्याप्त समय तक भारत की इस नीति से असन्तुष्ट रहे क्योंकि भारत ने उनके द्वारा बनाये गये गुटों (अमेरिका द्वारा बनाये गये N.A.T.O. और S.E.A.T.O. तथा रूस द्वारा बनाये गये Warsaw Pact) में से किसी में भी सम्मिलित होना स्वीकार नहीं किया बल्कि इस गुटबन्दी का विरोध किया। फिर भी पं. नेहरू की नीति सफल रही और उन्होंने किसी राज्य के दबाव को स्वीकार नहीं किया। इस नीति की एकमात्र दुर्बलता यह रही कि इस नीति के प्रवाह के कारण भारत युद्ध करने की शक्ति संचित न कर सका जो बाद में उसके लिए हानिकारक सिद्ध

(ii) भारत के यूरोपीय देशों तथा अमेरिका से सम्बन्ध

केवल पुर्तगाल को छोड़कर भारत ने सभी यूरोपीय देशों से मित्रता के सम्बन्ध रखे हैं। पुर्तगाल से दादर, नागरहवेली, दामन, ड्यू और मुख्यतः गोआ पर अधिकार के प्रश्न को लेकर अच्छे सम्बन्ध नहीं रह सके। स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत ने पुर्तगाल से इन भारतीय भूक्षेत्रों पर अपने अधिकार का दावा किया और आशा की कि पुर्तगाल स्वेच्छा से इन्हें भारत को सौंप देगा। परन्तु पुर्तगाल ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। 1954 ई. में भारतीय नागरिकों ने दादर और नागरहवेली पर अधिकार कर लिया। (1961 ई. में भारत ने कानूनी तौर पर उन्हें भारत में सम्मिलित किया और उसी वर्ष गोआ के नागरिकों का समर्थन करते हुए उस पर आक्रमण करके उसे भारत में सम्मिलित कर लिया। दामन और ड्यू को भी उसी वर्ष भारत का अंग बनाया गया।) इस कारण पुर्तगाल भारत से असन्तुष्ट रहा।

फ्रान्स ने व्यावहारिकता से काम लिया। उसके अधिकार में चन्द्रनगर, पाण्डिचेरी, कारीकल, माही और यनाम थे। उसने भारत से समझौता करके चन्द्रनगर को 1950 ई. में और बाकी अन्य स्थानों को 1954 ई. में भारत को सौंप दिया। इस कारण फ्रान्स और भारत के सम्बन्ध अच्छे रहे।

रूस (U.S.S.R.) शुरूआत में भारत की तटस्थता की नीति को समझने में असमर्थ रहा। 1953 ई. तक जब तक स्टालिन जीवित रहा, यह सम्बन्ध सन्देहास्पद रहे। परन्तु रूस ने चीन के प्रति भारत की नीति और कोरिया-युद्ध के सम्बन्ध में भारत के व्यवहार की सराहना की। जब पाकिस्तान अमेरिका के सैनिक गुट (SEATO) में सम्मिलित हो गया (1954 ई.) और अमेरिका ने पाकिस्तान को शस्त्र-सहायता देना आरम्भ कर दिया (1955 ई.) तो भारत रूस के निकट हो गया। 1955 ई. में प्रधानमन्त्री बुल्गानिन तथा सचिव ख्रुश्चेव भारत की यात्रा पर आये जिससे भारत और रूस के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध आरम्भ हुए। 1957 ई. तक भारत और रूस एक-दूसरे के अधिक निकट हो गये। रूस और भारत के आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध निरन्तर दृढ़ होते गये। भिलाई और राँची के इस्पात के कारखाने रूस की सहायता से आरम्भ किये गये, राजस्थान में सूरतगढ़ का 35 एकड़ का कृषि-फार्म रूस ने आरम्भ किया। रूस की सलाह पर ही भारत ने 'तेल और प्राकृतिक गैस कमीशन' की स्थापना की तथा रूसी वैज्ञानिकों की सहायता से 1958 ई. में, सर्वप्रथम, भारत में तेल (पैट्रोल) के कुएँ की खोज हुई। भारत और रूस ने विश्व-राजनीति में भी अनेक विषयों पर अपनी सहमति प्रकट की, यथा—निशस्त्रीकरण, उपनिवेशवाद की समाप्ति, एशिया और अफ्रीका से विदेशी सैनिक अड्डों की समाप्ति आदि। संयुक्त राष्ट्र-संघ की विभिन्न समितियों में भी भारत और रूस ने सहयोग से कार्य किया। 1961 ई. में जब भारत ने गोआ पर अधिकार किया तब रूस ने भारत का समर्थन किया। कश्मीर-समस्या के बारे में रूस का दृष्टिकोण भारत के समर्थन का रहा है और समय-समय पर उसने संयुक्त राष्ट्र की 'सुरक्षा परिषद' में भारत के पक्ष में निर्णयात्मक मत (Veto) दिया है। परन्तु रूस यह भी प्रयत्न करता रहा है कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध ठीक हो जायें। 1965 ई. में कश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान में पुनः युद्ध शुरू हुआ। 1966 ई. में रूस के प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने इस युद्ध को समाप्त करने के अथक प्रयत्न किये और पाकिस्तान के प्रेसीडेण्ट जनरल अयूब और भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री की भेंट ताशकन्द में करायी जिसके फलस्वरूप 'ताशकन्द समझौता' हुआ तथा भारत और पाकिस्तान का युद्ध समाप्त हुआ। इस प्रकार न केवल पं. जवाहरलाल नेहरू अपितु लालबहादुर शास्त्री के प्रधान-मन्त्रित्वकाल में भी भारत और रूस के सम्बन्धों में सुधार हुआ जो आगे आने वाले समय में अत्यधिक प्रगाढ़ हुए हैं।

अमेरिका ने ब्रिटेन को भारत को स्वतन्त्रता प्रदान करने की सलाह दी थी और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् उसने भारत को पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान की। परन्तु अमेरिका भारत की तटस्थता की नीति को न समझ सका। भारत ने प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना की थी और अमेरिका यह विश्वास करता था कि भारत इसी आधार पर उसके द्वारा बनाये सैनिक-गुट में सम्मिलित हो जायेगा। भारत ने ऐसा नहीं किया। इसके अतिरिक्त अमेरिका साम्यवादी चीन को अपना कट्टर शत्रु मानता था। भारत ने 1949 ई. में साम्यवादी चीन की सरकार को मान्यता दे दी और उसे संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता दिलाने का प्रयत्न किया। अमेरिका इससे असन्तुष्ट हुआ। कोरिया के सम्बन्ध में अमेरिका द्वारा प्रेरित संयुक्त राष्ट्र-संघ में प्रस्तुत 'शान्ति के लिए एकता' (Uniting for Peace) प्रस्ताव को भारत का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ, भारत ने साम्यवादी चीन को आक्रामक राज्य स्वीकार करने से इन्कार किया और चीन की सीमाओं में संयुक्त राष्ट्र-संघ की सेनाओं के प्रवेश का विरोध किया। मध्य-एशिया के सम्बन्ध में घोषित 'आइजनहॉवर-घोषणा' को भी भारत ने पसन्द नहीं किया। केवल स्वेज नहर के झगड़े के अवसर पर अमेरिका के व्यवहार को भारत ने पसन्द किया। राष्ट्रपति आइजनहॉवर की भारत-यात्रा और पं. नेहरू की अमेरिका-यात्रा ने भारत को अमेरिका से सम्बन्धों को सुधारने में सहायता दी परन्तु उनका प्रभाव स्थायी न रहा। पाकिस्तान द्वारा अमेरिका के सैनिक गुटों (सीटो : South-East Asia Treaty Organisation और बगदाद-समझौता) में सम्मिलित होने और अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना आरम्भ करने से (1954 ई.) भारत और अमेरिका के सम्बन्ध स्थायी रूप से सन्देहास्पद बन गये। इस प्रकार भारत और अमेरिका के सम्बन्धों में दरार पड़ गयी यद्यपि यह स्थिति तनावपूर्ण न बनी। 1962 ई. में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया तो अमेरिका ने भारत को पूर्ण सहायता देने का आश्वासन दिया तथा शस्त्रों की सहायता भी प्रदान की। परन्तु बाद में अमेरिका चीन के निकट हो गया। पाकिस्तान और चीन के निकट के सम्बन्धों के विषय में भी अमेरिका का दृष्टिकोण भारत के पक्ष में नहीं रहा है। अमेरिका ने दिन-प्रतिदिन पाकिस्तान को शस्त्रों की सहायता देने में वृद्धि की है। इन कारणों से भारत और अमेरिका में घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं हो सके हैं अपितु, इसके विपरीत, इसी कारण भारत रूस के अधिक निकट होता गया है।

ब्रिटेन से भारत के सम्बन्ध अच्छे रहे। भारत राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Nations) का सदस्य रहा और इस प्रकार पारस्परिक वार्तालाप तथा सहयोग का द्वार खुला रहा। ब्रिटेन द्वारा स्वेज नहर पर आक्रमण करने के अवसर पर इन सम्बन्धों में कुछ तनाव अवश्य आया परन्तु इसका प्रभाव स्थायी न रहा। परन्तु कश्मीर और दक्षिण-पूर्वी एशिया की सुरक्षा के प्रश्न को लेकर भारत और ब्रिटेन के विचारों एवं नीतियों में सर्वदा गम्भीर मतभेद रहा है। अमेरिका के साथ मिलकर जब ब्रिटेन ने भारत पर 'सीटो' और 'बगदाद-समझौते' में सम्मिलित होने के लिए दबाव डाला और इनके सम्मेलनों में कश्मीर-विवाद पर विचार किया तब भारत ब्रिटेन से पृथक हुआ। ब्रिटेन ने इस कठिनाई को समझकर भारत को सन्तुष्ट करने के प्रयत्न किये। उसने संयुक्त राष्ट्र-संघ के माध्यम से कश्मीर-विवाद को समाप्त करने का प्रयत्न किया, भारत और पाकिस्तान को समस्तर पर रखने का आश्वासन दिया तथा 1965 ई. में 'कच्छ की रान' में भारत और पाकिस्तान में युद्ध हो जाने पर मध्यस्थ का कार्य किया। ब्रिटेन ने उस अवसर पर पाकिस्तान के राष्ट्रपति अयूब और भारत के प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री में परस्पर वार्ता लन्दन में हो रही राष्ट्रमण्डल की बैठक के अवसर पर करायी और दोनों में युद्ध-विराम कराने में सहयोग दिया। 1962 ई. में हुए भारत-चीन के युद्ध के अवसर पर भी

ब्रिटेन ने भारत को सैनिक सहायता दी। इस प्रकार भारत और ब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्ध तो अच्छे रहे हैं परन्तु पाकिस्तान और अमेरिका से उसके सम्बन्धों की निकटता ने भारत को उसकी ओर से शंकित भी किया है।

(iii) भारत और एशिया तथा एशिया के राज्य

दक्षिण अफ्रीका की श्वेत-सरकार को (उसकी रंग-भेद की नीति के कारण) छोड़कर अफ्रीका के सभी राज्यों से भारत के सम्बन्ध अच्छे रहे। भारत ने सभी अफ्रीका-निवासियों की स्वतन्त्रता का पक्ष लिया, वहाँ के राज्यों का समर्थन किया और उन्हें सहयोग एवं सहायता प्रदान की। मिस्र (Egypt) के साथ भारत के सम्बन्ध बहुत अच्छे रहे। पं. नेहरू ने मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर को स्वेज नहर तथा फिलिस्तीन की समस्या के प्रश्न पर पूर्ण सहायता दी। मिस्र भी भारत का मित्र रहा और उसने भारत की तटस्थता की नीति का पूर्ण समर्थन किया।

भारत ने एशिया के सभी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया। अफगानिस्तान, बर्मा, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, जापान, अरब-राष्ट्रों आदि सभी से उसके सम्बन्ध अच्छे रहे। 1941 ई. और 1955 ई. में दिल्ली में एशिया की सभाएँ बुलायी गयीं और 1955 ई. में भारत ने एशियाई राष्ट्रों द्वारा आयोजित 'बांदुंग सम्मेलन' में भाग लिया।

साम्यवादी चीन को भारत ने मान्यता प्रदान की और उसे संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता दिलाने के लिए प्रयत्न किये। 1951 ई. में जब संयुक्त राष्ट्र-संघ में चीन द्वारा कोरिया के गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करने की आलोचना की गयी तब भारत ने उस प्रस्ताव का विरोध किया। उसने संयुक्त राष्ट्र-संघ के चीन और उत्तरी कोरिया को किसी भी राज्य द्वारा शस्त्र-सहायता न दिये जाने के प्रस्ताव का भी विरोध किया। इस प्रकार भारत ने शुरू से ही चीन से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखने का प्रयत्न किया। 1954 ई. में भारत ने तिब्बत के प्रश्न पर भी चीन से एक सन्धि कर ली और एक प्रकार से तिब्बत पर चीन के अधिकार को स्वीकार कर लिया। अगले पाँच वर्ष तक भारत और चीन के सम्बन्ध मधुर रहे। 1954 ई. में चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई भारत आये और उन्होंने 'पंचशील' के सिद्धान्त का समर्थन किया। चीन के नक्शों में भारत के बड़े भूक्षेत्र को चीन का भाग दिखाया गया था, उसने तिब्बत पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया था और उसने 1954 ई. से ही सीमा-विवाद खड़े करने आरम्भ कर दिये थे। फिर भी उसी वर्ष पं. नेहरू चीन गये, 1956 ई. तथा 1957 ई. के आरम्भ में चाऊ-एन-लाई भारत आये और सीमा सम्बन्धी झगड़ों को साधारण मानकर कोई महत्व नहीं दिया गया तथा 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' के नारे लगाये गये। इस कारण 1959 ई. तक सन्देह और विवाद के विभिन्न कारण होते हुए भी भारत ने चीन से अच्छे सम्बन्ध रखे। 1959 ई. से चीन और भारत के सम्बन्ध खराब होने लगे जबकि चीन ने भारत और चीन की तत्कालीन सीमाओं को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। 1960 ई. में दिल्ली में हुई चाऊ-एन-लाई और पं. जवाहरलाल नेहरू की भेंट भी सीमा-विवाद का कोई हल न निकाल सकी। अक्टूबर 1962 ई. में चीन ने सहसा भारत की उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम की सीमाओं पर आक्रमण किया तथा भारत के एक विस्तृत भूक्षेत्र पर अधिकार कर लिया। 21 नवम्बर को चीन ने सहसा अपनी सेनाओं को पीछे हटाकर युद्ध को समाप्त भी कर दिया परन्तु तब भी भारत की भूमि के एक बड़े भाग पर अधिकार जमाये रखा। अफ्रीका और एशिया के छह राज्यों ने कोलम्बो में समझौते का एक प्रस्ताव बनाया जिसे भारत ने स्वीकार किया परन्तु चीन ने नहीं माना। पं. नेहरू और उनके पश्चात् 1964 ई. में लालबहादुर शास्त्री ने भी चीन से समझौते के प्रयत्न किये परन्तु सफल नहीं हुए। चीन ने जो भूमि भारत से छीनी है वह उसी से सन्तुष्ट नहीं है अपितु

प्रायः 90,000 वर्ग किलोमीटर भूमि पर अधिकार माँगता है। इसके अतिरिक्त, चीन की पाकिस्तान और अमेरिका से मित्रता ने भी भारत और चीन के सम्बन्धों को खराब कर दिया है जिनके सुधरने की सम्भावना अब कम है।

पाकिस्तान से भारत के सम्बन्ध कभी भी अच्छे न रह सके। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, मुस्लिम साम्प्रदायिकता की भावना और कश्मीर पर अधिकार का विवाद पाकिस्तान और भारत के मतभेद का मुख्य कारण रहे हैं। इनके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के अवसर पर हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगे, एक राज्य से दूसरे राज्य में गये हुए शरणार्थियों की सम्पत्ति का प्रश्न, पंजाब की नदियों के जल में साझेदारी आदि ऐसी अन्य समस्याएँ रहीं जिन्होंने भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में विषमता उत्पन्न की है। 1947 ई. में कबाइली जातियों ने पाकिस्तानी सेना की सहायता से कश्मीर पर आक्रमण किया। जब भारत ने कश्मीर के रक्षार्थ अपनी सेना भेजी तब एक प्रकार से भारत और पाकिस्तान में अप्रत्यक्ष युद्ध हुआ। संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा हस्तक्षेप किये जाने के कारण यह युद्ध रुक गया। परन्तु कश्मीर के सम्बन्ध में भारत तथा पाकिस्तान विवाद समाप्त न हो सका। पाकिस्तान का यह भी कहना रहा है कि उसे भारत की सैनिक शक्ति से खतरा है। इसी आधार पर उसने विदेशों से सैनिक सहायता ली है। भारत ने कई बार यह प्रयत्न किया कि पाकिस्तान से उसका 'कभी भी युद्ध न करने का' एक समझौता हो जाय, परन्तु पाकिस्तान ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार पं. नेहरू के विभिन्न आश्वासन, समझौते के प्रयत्न और प्रारम्भिक काल में पाकिस्तान को करोड़ों रुपया सद्-भावना के रूप में देना आदि व्यर्थ रहा तथा पाकिस्तान व भारत के सम्बन्धों गें कोई सुधार न हो सका अपितु, इसके विपरीत, दोनों राज्यों में दो युद्ध (1965 और 1971 ई.) हो चुके हैं। कच्छ की रान पर सीमा-विवाद को लेकर भारत और पाकिस्तान में 1965 ई. में युद्ध आरम्भ हुआ। उसी समय लन्दन में राष्ट्रमण्डल की एक बैठक हुई जिसमें ब्रिटेन ने मध्यस्थता की तथा जनरल अयूब और लालबहादुर शास्त्री ने युद्ध-विराम को मान लिया। परन्तु कुछ समय पश्चात् ही पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया जिसके कारण भारत और पाकिस्तान की पश्चिमी सीमा पर एक बड़ा युद्ध आरम्भ हो गया। इस युद्ध की समाप्ति रूस की मध्यस्थता के द्वारा हुई जब जनरल अयूब और लालबहादुर शास्त्री ने 'ताशकन्द-समझौता' किया। 1971 ई. में पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान के मतभेदों को लेकर परस्पर युद्ध हुआ जिसमें भारत ने हस्तक्षेप किया, जिसके फलस्वरूप 'बंगलादेश' का निर्माण हुआ। इस प्रकार, भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध शुरू से ही खराब रहे हैं जिनके सुधरने की कोई सम्भावना अब नहीं है।

(iv) भारत और संयुक्त राष्ट्र-संघ

भारत ने सर्वदा संयुक्त राष्ट्र-संघ को सफल बनाने में सहयोग दिया। संयुक्त राष्ट्र-संघ का प्रमुख उद्देश्य विश्व-शान्ति है और विश्व-शान्ति भारत के हित और उसकी विदेश-नीति के अनुकूल है। भारत किसी भी सैनिक गुट में सम्मिलित नहीं हुआ और उसने अपनी नीति का निर्माण शान्ति, निष्पक्षता, न्याय और सहयोग के सिद्धान्तों पर किया। संयुक्त राष्ट्र-संघ में विश्वास रखने के कारण ही उसने कश्मीर के विवाद को संयुक्त राष्ट्र-संघ के सम्मुख प्रस्तुत किया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र-संघ के अनुरोध पर कोरिया और हिंन्दचीन में तटस्थ निरीक्षण-कमीशन (Supervisory Neutral Commission) के अध्यक्ष पद पर कार्य किया और अपने सैनिकों को भेजकर वहाँ शान्ति स्थापित करने में सहयोग दिया। भारत ने मोरक्को और अबीसीनिया की सुरक्षा के लिए आवाज उठायी, स्वेज नहर पर ब्रिटेन व फ्रान्स आदि के आक्रमण का विरोध किया और साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता दिलाने का निरन्तर प्रयत्न किया। इन सभी का उद्देश्य विश्व-शान्ति की सुरक्षा और संयुक्त राष्ट्र-संघ को सफल बनाने के लिए प्रयास करना था। इस प्रकार पं. नेहरू के समय में भारत

ने संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रति विश्वास प्रकट किया और इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को शक्तिशाली बनाने में पूर्ण सहयोग दिया।

स्वाधीनता के बीस वर्षों तक भारत का इतिहास भारतीयों की पूर्ण सफलता का इतिहास तो नहीं है, परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि भारत ने अपनी आन्तरिक और विदेश-नीति में अपनी प्रगति के लिए ठोस कदम उठाये जिससे भारत का नवनिर्माण सम्भव हो सका। परन्तु इस समय का उससे भी अधिक महत्व यह है कि भारत ने दुर्बल होते हुए भी शक्तिशाली राष्ट्रों के विरोध में प्रजातन्त्र, नैतिकता, न्याय, निष्पक्षता, समाजवाद, प्रेम, सहयोग, विश्व-शान्ति आदि के महान् आदर्शों को स्पष्टतः विश्व के सम्मुख रखा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?
2. भारतीय नरेश-राज्यों के भारत में विलय और पुनर्गठन एक टिप्पणी लिखिए।
3. भारत के आर्थिक निर्माण में पंचवर्षीय योजनाओं के महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. भारत की विदेश-नीति में पंचशील सिद्धान्तों का क्या महत्व है ? भारत ने इस सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रयोग किस प्रकार किया है ?

परिशिष्ट 1

कुछ वस्तुनिष्ठ प्रश्न और उनके उत्तर

निम्न प्रश्नों के सही उत्तरों के सम्मुख बॉक्स में (×) लगाइए :

1. अंग्रेजों के विरुद्ध फ्रान्सीसियों की असफलता के निम्न कारणों में से कौन सा कारण ठीक नहीं है ?
   (अ) अंग्रेजों की तुलना में फ्रान्सीसियों की नौ-सेना का दुर्बल होना ☐
   (ब) आर्थिक दृष्टि से फ्रान्सीसी कम्पनी का दुर्बल होना ☐
   (स) भारत में साम्राज्य-विस्तार की ओर फ्रान्सीसी गवर्नरों का ध्यान न देना ☐
   (द) बंगाल पर अधिकार करके अंग्रेजों का धन और जन-शक्ति से शक्तिशाली हो जाना ☐

2. बक्सर का युद्ध हुआ था—
   (अ) 1761 ई. में ☐
   (ब) 1762 ई. में ☐
   (स) 1763 ई. में ☐
   (द) 1764 ई. में ☐

3. प्रथम मराठा-युद्ध समाप्त हुआ—
   (अ) सूरत की सन्धि द्वारा ☐
   (ब) पुरन्दर की सन्धि द्वारा ☐
   (स) वादगाँव के समझौते द्वारा ☐
   (द) सालबाई की सन्धि द्वारा ☐

4. 'वैलेजली ने कुशासन अथवा शासक के अल्पायु होने पर कुछ राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया था।' निम्न राज्यों में से कौन सा राज्य उनमें से एक न था ?
   (अ) कर्नाटक ☐
   (ब) झाँसी ☐
   (स) तंजौर ☐
   (द) सूरत ☐
   (इ) फर्रुखाबाद ☐

5. तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध समाप्त हुआ था—
   (अ) तंजौर की सन्धि के द्वारा ☐
   (ब) अर्काट की सन्धि के द्वारा ☐
   (स) मंगलौर की सन्धि के द्वारा ☐
   (द) श्रीरंगपट्टम की सन्धि के द्वारा ☐

6. निम्न में से किस लगान-व्यवस्था को अंग्रेजी शासनकाल में नहीं अपनाया गया था ?
   (अ) स्थायी बन्दोबस्त ☐
   (ब) रैयतवारी व्यवस्था ☐
   (स) दहसाला व्यवस्था ☐
   (द) महलवारी व्यवस्था ☐
7. निम्न में से कौन पिण्डारियों का नेता न था ?
   (अ) करीमखाँ ☐
   (ब) अमीरखाँ ☐
   (स) वासिल मुहम्मद ☐
   (द) चीतू ☐
8. 'विलियम बेन्टिक ने कई भारतीय सामाजिक कुरीतियों को कानून की सहायता से समाप्त करने का प्रयत्न किया।' निम्न सामाजिक कुरीतियों में से वह कौन सी थी जिसको समाप्त करने के लिए उसने कानून नहीं बनाया ?
   (अ) सती-प्रथा ☐
   (ब) बाल-हत्या ☐
   (स) मनुष्य-बलि ☐
   (द) विधवा को पुनः विवाह की स्वीकृति देना ☐
9. अंग्रेजी भाषा को भारत में शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया था—
   (अ) 1935 ई. में ☐
   (ब) 1936 ई. में ☐
   (स) 1937 ई. में ☐
   (द) 1938 ई. में ☐
10. निम्न में से किसे प्रथम अफगान-युद्ध का परिणाम माना गया है ?
   (अ) शाहशुजा अफगानिस्तान का शासक बन गया ☐
   (ब) दोस्त मुहम्मद ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली ☐
   (स) दोस्त मुहम्मद ने अपनी विदेश-नीति का संचालन अंग्रेजों की सहायता से करना स्वीकार कर लिया ☐
   (द) कोई परिणाम नहीं निकला ☐
11. 'डलहौजी ने गोद की प्रथा का आधार लेकर कई भारतीय राज्यों को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया।' निम्न में से कौनसा राज्य ऐसा था जिसे इस आधार पर अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित नहीं किया गया था ?
   (अ) सतारा ☐
   (ब) झाँसी ☐
   (स) नागपुर ☐
   (द) अवध ☐
12. निम्न में से कौन अवध का अन्तिम नवाब था ?
   (अ) सादतअली ☐
   (ब) नासिरुद्दीन ☐

(स) नासिरुद्दौला ☐
(द) वाजिदअली शाह ☐

13. निम्न में से किसे 1857 ई. के विद्रोह की असफलता का कारण स्वीकार नहीं किया गया है ?
(अ) योग्य नेतृत्व का अभाव ☐
(ब) भारतीय जन-साधारण का विद्रोह में असहयोग ☐
(स) केन्द्रीय संगठन का न होना ☐
(द) भारतीयों की दुर्बल युद्ध-नीति और शस्त्र ☐

14. अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना हुई—
(अ) 1884 ई. में ☐
(ब) 1885 ई. में ☐
(स) 1886 ई. में ☐
(द) 1887 ई. में ☐

15. गांधीजी का जन्म हुआ था—
(अ) पोरबन्दर में ☐
(ब) पूना में ☐
(स) सूरत में ☐
(द) बम्बई में ☐

16. निम्न में से किस व्यक्ति ने आदि-ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी ?
(अ) राजा राममोहन राय ☐
(ब) महर्षि देवेन्द्रनाथ टैगोर ☐
(स) केशवचन्द्र सेन ☐
(द) आर. जी. भण्डारकर ☐

17. निम्न में से किस सिद्धान्त को आर्य समाज ने स्वीकार नहीं किया था ?
(अ) मूर्ति-पूजा का खण्डन ☐
(ब) तीर्थयात्रा और अवतारवाद का विरोध ☐
(स) जीव के आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास ☐
(द) ईश्वर में अविश्वास ☐

18. निम्न में से किसके द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से भारत का शासन छीनकर ब्रिटिश संसद को सौंपा गया था ?
(अ) रानी विक्टोरिया की घोषणा के द्वारा ☐
(ब) 1858 ई. के ब्रिटिश संसद के कानून के द्वारा ☐

19. निम्न में से किस कानून के द्वारा अंग्रेजी शासनकाल में साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को भारत में आरम्भ किया गया था ?
(अ) 1861 ई. के भारतीय कौंसिल कानून के द्वारा ☐
(ब) 1892 ई. के भारतीय कौंसिल एक्ट के द्वारा ☐
(स) 1909 ई. के भारतीय कौंसिल एक्ट के द्वारा ☐
(द) 1919 ई. के भारत-सरकार कानून के द्वारा ☐

20. निम्न में से किसे 1907 ई. में हुए काँग्रेस के सूरत-विभाजन का कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता ?
   (अ) काँग्रेस के सभापति के चुनाव के सम्बन्ध में नरम दल और गरम दल के सदस्यों का मतभेद ☐
   (ब) विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का प्रश्न ☐
   (स) स्वदेशी वस्तुओं के उपभोग का प्रश्न ☐
   (द) राष्ट्रीय शिक्षा का प्रश्न ☐
21. आजाद हिन्द फौज का संगठन किया था :
   (अ) सुभाषचन्द्र बोस ने ☐
   (ब) मोहनसिंह ने ☐
   (स) शाहनवाज खाँ ने ☐
   (द) गुरुदयालसिंह ढिल्लो ने ☐
22. निम्न में से किस व्यक्ति ने मुस्लिम लीग की स्थापना की थी ?
   (अ) सर सैयद अहमद खाँ ने ☐
   (ब) नवाब सलीमउल्ला खाँ ने ☐
   (स) मुहम्मदअली जिन्ना ने ☐
23. किसानों के प्रथम पृथक संगठित समुदाय 'अखिल भारतीय किसान काँग्रेस' की स्थापना हुई थी :
   (अ) 1927 ई. में ☐
   (ब) 1931 ई. में ☐
   (स) 1933 ई. में ☐
   (द) 1935 ई. में ☐
24. निम्न में से कौन प्रथम अखिल भारतीय मजदूर संगठन 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन' की स्थापना के लिए उत्तरदायी नहीं था ?
   (अ) बाल गंगाधर तिलक ☐
   (ब) एन. एम. जोशी ☐
   (स) लाला लाजपतराय ☐
   (द) जोसेफ बेप्टिस्टा ☐
25. 'भारतीय साम्यवादी दल' की स्थापना हुई थी :
   (अ) 1921 ई. में ☐
   (ब) 1922 ई. में ☐
   (स) 1923 ई. में ☐
   (द) 1924 ई. में ☐

उत्तर—1. (स), 2. (द), 3. (द), 4. (ब), 5. (द), 6. (स), 7. (ब), 8. (द), 9. (अ), 10. (द), 11. (द), 12. (द), 13. (ब), 14. (ब), 15. (अ), 16. (ब), 17. (द), 18. (ब), 19. (स), 20. (अ), 21. (ब), 22. (ब), 23. (द), 24. (अ), 25. (द)।

परिशिष्ट 2

आधुनिक भारत के इतिहास की प्रमुख तिथियाँ

14 जनवरी, 1761 ई.	पानीपत का तृतीय युद्ध
1498 ई.	वास्को-डि-गामा का भारत में प्रथम प्रवेश
1746-1748 ई.	प्रथम कर्नाटक युद्ध
1749-1754 ई.	द्वितीय कर्नाटक युद्ध
1757-1763 ई.	तृतीय कर्नाटक युद्ध
22 जनवरी, 1760 ई.	वाण्डीवाश का युद्ध
23 जून, 1757 ई.	प्लासी का युद्ध
23 अक्टूबर, 1764 ई.	बक्सर का युद्ध
1766-1769 ई.	प्रथम आंग्ल-मैसूर युद्ध
1780-1784 ई.	द्वितीय आंग्ल-मैसूर युद्ध
1790-1792 ई.	तृतीय आंग्ल-मैसूर युद्ध
1799 ई.	चतुर्थ आंग्ल-मैसूर युद्ध
1775-1782 ई.	प्रथम मराठा युद्ध
17 मई, 1782 ई.	सालबाई की सन्धि (प्रथम मराठा युद्ध समाप्त)
1803-1805 ई.	द्वितीय मराठा युद्ध
1809 ई.	अंग्रेजों और रणजीतसिंह में अमृतसर की सन्धि
1814-1816 ई.	नेपाल युद्ध
1817-1818 ई.	तृतीय मराठा युद्ध
1824-1826 ई.	बर्मा का प्रथम युद्ध
1826 ई.	याण्डबू की सन्धि (प्रथम बर्मा-युद्ध समाप्त)
1829-1830 ई.	सती-प्रथा गैर-कानूनी घोषित
1835 ई.	अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा-पद्धति का आरम्भ
1839-42 ई.	प्रथम अफगान युद्ध
1843 ई.	अंग्रेजों द्वारा सिन्ध की विजय
1845-1846 ई.	प्रथम सिख-युद्ध
1848-1849 ई.	द्वितीय सिख-युद्ध
1852 ई.	बर्मा का द्वितीय युद्ध
1856 ई.	अवध को अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित किया गया
1857 ई.	विद्रोह अथवा प्रथम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का प्रारम्भ
1878-1880 ई.	द्वितीय अफगान युद्ध



1883 ई.	इलबर्ट प्रस्ताव का प्रस्तुत किया जाना
1885 ई.	अखिल भारतीय काँग्रेस की स्थापना
1885-1886 ई.	बर्मा का तृतीय युद्ध
1905 ई.	बंगाल का विभाजन
1906 ई.	मुस्लिम लीग की स्थापना
1907 ई.	काँग्रेस का सूरत-विभाजन
1914 ई.	होम-रूल लीग की स्थापना
1916 ई.	काँग्रेस और मुस्लिम लीग में हुआ लखनऊ समझौता
मार्च-अप्रैल 1919 ई.	प्रथम सत्याग्रह आन्दोलन
1919 ई.	खिलाफत-आन्दोलन का प्रारम्भ
1920 ई.	ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन की स्थापना
1920-1922 ई.	असहयोग आन्दोलन
1924 ई.	साम्यवादी दल की स्थापना
1927 ई.	साइमन कमीशन की नियुक्ति
31 दिसम्बर, 1929 ई.	काँग्रेस द्वारा अपने लाहौर-अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा
12 मार्च, 1930 ई.	गांधी की डाँडी-यात्रा और सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रारम्भ
12 दिसम्बर, 1930 ई.	प्रथम गोलमेज परिषद
1931 ई.	गांधी-इर्विन समझौता
1931 ई.	द्वितीय गोलमेज परिषद
1932 ई.	तृतीय गोलमेज परिषद
1934 ई.	काँग्रेस समाजवादी दल की स्थापना
1935 ई.	अखिल भारतीय किसान काँग्रेस की स्थापना
1938 ई.	इण्डियन ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना
8 अगस्त, 1940 ई.	वायसराय लिनलिथगो की अगस्त-घोषणा
1940 ई.	मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान की माँग
1942 ई.	क्रिप्स-मिशन का भारत आना
1942 ई.	'भारत छोड़ो' आन्दोलन
1942 ई.	'आजाद हिन्द फौज' का गठन
1945 ई.	वैवेल-योजना प्रस्तुत की गयी
1946 ई.	नौ-सेना का विद्रोह
1946 ई.	कैबिनेट मिशन योजना
16 अगस्त, 1946 ई.	मुस्लिम लीग द्वारा 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' मनाया जाना
1947 ई.	माउण्टबेटन-योजना प्रस्तुत
15 अगस्त, 1947 ई.	भारत को स्वतन्त्रता की प्राप्ति

SUGGESTED READINGS

1. Sarkar, J. N., *Shivaji and His Times.*
2. Sinha, H. N., *Rise of the Peshwas.*
3. Spear, T. G. P., *The Oxford History of Modern India.*
4. Sarkar and Dutta, *Modern Indian History,* Vol. II.
5. Roberts. P. E., *History of British India.*
6. Dodwell, H. H. (ed.), *Cambridge History of India*, Vol. V.
7. Dodwell, H. H. (ed.), *Cambridge History of India*, Vol. VI.
8. Majumdar, R. C. (ed.), *British Paramountcy and Indian Renaissance*, Part I.
9. Majumdar, R. C. (ed.), *British Paramountcy and Indian Renaissance*, Part II.
10. Majumdar, R. C. (ed.), *Struggle for Freedom.*
11. Bipin Chandra, *Modern India.*
12. Bisheshwar Prasad, *Bondage and Freedom*, Vols. I and II.
13. Bipin Chandra, *Communalism in Modern India.*

